

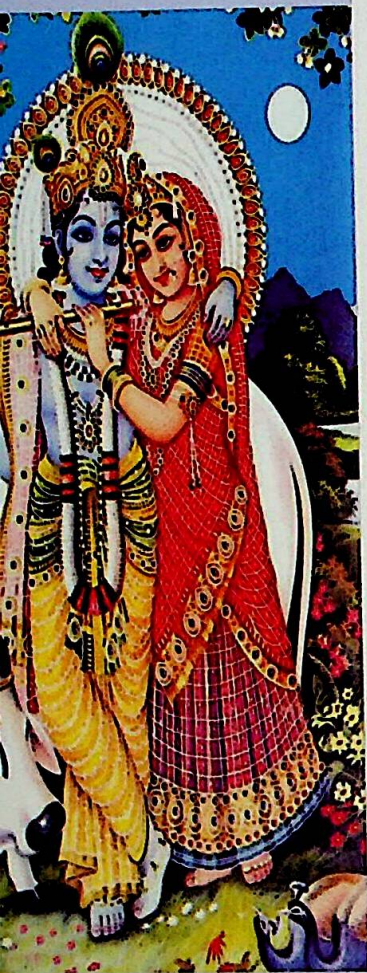


# श्रीमद्भागवत-हृदय

( साप्ताहिक - कथा )

डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी







तर्क-विन्द्याटवी के स्वच्छन्द पञ्चानन,  
 अकारण-सुहृद्,  
 मानवता की प्रतिमा,  
 प्रो० डॉ० ब्रिजिन्द्र निधारी को,  
 सप्रेम

भेंट,

रमेश चन्द्र निधारी

महाविद्यालय

१०/३/२०१३







॥ श्रीः ॥

चौखम्भा संस्कृत भवन ग्रन्थमाला

१०१



# श्रीमद्भागवत-हृदय

( साप्ताहिक-कथा )

व्याख्याकार :

डॉ. रमाशङ्कर त्रिपाठी

व्याकरणाचार्य (योग्यता-छात्रवृत्ति-प्राप्त), पुराणेतिहासाचार्य (लब्धस्वर्णपदक),

सांख्य-योगाचार्य (लब्धस्वर्णपदक), एम.ए. (संस्कृत),

पी-एच.डी. (यू.जी.सी. स्कालरशिप-प्राप्त),

“काशी-रत्न”

अवकाशप्राप्त उपाचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

सहलेखक एवं सम्पादक :

डॉ. श्रीकृष्ण त्रिपाठी, एम.ए. (संस्कृत),

पुराणेतिहासाचार्य (लब्धस्वर्णपदक), पी-एच.डी., वरिष्ठ-प्रवक्ता, पुराणेतिहास,

वैदिक-दर्शन-विभाग, संस्कृतविद्या-धर्मविज्ञान-सङ्घाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।



चौखम्भा संस्कृत भवन

वाराणसी-२२१००१ (भारत)



प्रकाशक :

## चौखम्भा संस्कृत भवन

संस्कृत, आयुर्वेद एवं इण्डोलॉजिकल पुस्तकों के प्रकाशक एवं वितरक

पोस्ट बाक्स नं. ११६०

चौक, चित्रा सिनेमा के सामने (बैंक ऑफ बड़ौदा बिल्डिंग)

वाराणसी - २२१००१ (भारत)

टेलीफोन : +९१-५४२-२४२०४१४, टेलीफैक्स : +९१-५४२-२४००७५५

E-mail : c\_sktbhawan@yahoo.com

ISBN - 978-81-89986-22-3

सर्वाधिकार लेखकाधीन

संस्करण : द्वितीय, वि०सं० २०६९

मूल्य : ५७५.००

वितरक :

## चौखम्भा संस्कृत भवन

पोस्ट बाक्स नं. ११६०

चौक, चित्रा सिनेमा के सामने (बैंक ऑफ बड़ौदा बिल्डिंग)

वाराणसी - २२१००१ (भारत)

मुद्रक : श्रीगोकुलेश प्रेस, वाराणसी एवं मितल आफसेट, वाराणसी।



THE  
CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN SERIES  
101



# SRĪMADBHĀGVAT-HRĪDAYA

by :

**Dr. Ramāshankar Tripāthi**

Vyākaraṇāchārya, Purāṇetiḥāsāchārya,  
Sāṅkhya-Yogāchārya, M.A. (Sanskrit), Ph.D.,  
Ex Reader, Banaras Hindu University  
'Kāshi Ratna'

&

**Dr. Srikrishna Tripāthi**, M.A. (Sanskrit),  
Purāṇetiḥāsāchārya, Ph. D., Department of Vaidic Darshan  
Faculty of S.V.D.V.,  
Banaras Hindu University



**CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN**  
**VARANASI-221001 (INDIA)**



*Publisher*

**CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN**

*Sanskrit, Ayurveda & Indological Publishers & Distributors*

**Post Box No. 1160**

**Chowk, Opp. Chitra Cinema, (Bank of Baroda Building)**

**Varanasi-221001 (India)**

**Telephone : +91-542-2420414**

**Telefax : +91-542-2400755**

**E-mail : c\_sktbhawan@yahoo.com**

**ISBN - 978-81-89986-22-3**

*All Rights Reserved*

**© Dr. Ramashankar Tripathi**

**Edition : Second 2012**

*Distributor*

**CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN**

**Post Box No. 1160**

**Chowk, (Opp. Chitra Cinema)**

**Varanasi-221001 (India)**

---

**Printed at : Sri Gokulesh Press, Varanasi, Mittal Offset, Varanasi**



## समर्पण

जिसकी परम पावन कुक्षि से जन्म का

सौभाग्य मिला,

गोलोकवासिनी,

करुणा की मूर्ति, उसी जननी

“अञ्जना”

को

यह कृति

सादर सविनय श्रद्धा-सहित

समर्पित ।

रमाशङ्कर त्रिपाठी

‘आञ्जनेय’

३१-१-२००९

वसन्त पञ्चमी २०६५







## अनुशंसा

“विद्यावतां भागवते परीक्षा” यह वचन ही श्रीमद्भागवत की जटिलता को समझने के लिए पर्याप्त है। श्रीमद्भागवत में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनको समझना समस्त उपनिषद्, समग्र पौराणिक वाङ्मय तथा समस्त दर्शनों के गहन अध्ययन एवं आलोचन के बिना सम्भव नहीं है। मुझे हर्ष है कि श्रीमद्भागवत के उद्भट अधिकारी विद्वान् आचार्य रमाशङ्कर त्रिपाठी ने ऐसे जटिल ग्रन्थ की सहज-सुबोध लोकभाषा हिन्दी में ललित शैली में व्याख्या कर इसे सर्वजनसुलभ बनाया है। यह कार्य आप जैसे समग्र पौराणिक वाङ्मय तथा भारतीय दर्शनों के निष्णात विद्वान् द्वारा ही सम्भव है। आपकी इस व्याख्या को पढ़ कर ऐसा अनुभव होता है मानों हम आचार्य त्रिपाठी जी के समक्ष बैठकर आपके मुखारविन्द से भागवत-कथा का श्रवण कर रहे हों।

मैं स्वयं को भाग्यवान् मानता हूँ कि मुझे अनेक बार आप जैसे श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ विद्वान् से श्रीमद्भागवत कथा सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। कथा के समय आप श्रीमद्भागवत के एक-एक श्लोक के एक-एक पद का जो स्वारस्य प्रस्तुत करते थे तथा एक-एक कथा के जिन गूढ़ रहस्यों को आप उद्घाटित करते थे उनमें से अनेक प्रमुख पदों के स्वारस्य को तथा अनेक कथाओं के रहस्यों को अपनी इस व्याख्या में भी उद्घाटित किया है। उदाहरणार्थ दशम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में ही ‘सोमसूर्ययोः’ पद के स्थान पर अभ्यर्हित होने के कारण ‘सूर्यसोमयोः’ होना चाहिये था, परन्तु भगवान् व्यास ने ऐसा नहीं किया, इसका क्या कारण है ? इस प्रश्न को उठाते हुए आपने इसका बहुत ही उचित समाधान किया है कि जिस वंश में उनके आराध्य ने जन्म लिया है उसी वंश का नाम पहले लेना उचित है। इससे अपने आराध्य के प्रति अनन्य भक्ति भी परिलक्षित हो रही है और भक्ति ही भागवत का हृदय है।

पदों की भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियों के आधार पर पदों के अर्थ किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उनमें से कौन-सी व्युत्पत्ति के आधार पर कौन-सा अर्थ ग्राह्य है—इसका भी आपने युक्तिपूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ दशम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के चतुर्थ श्लोक में आये ‘पशुघ्नात्’ पद की उपलब्ध अनेक व्याख्याओं में से दो चार व्याख्याओं की चर्चा करते हुए “पशव आहन्यते = ताड्यन्ते येन तत्” इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूखा दण्डा अथवा “पशव आहन्यन्ते = घात्यन्ते यस्मिन्” अर्थात् कसाई जिस काठ पर पशु काटते हैं वह काठ पशुघ्न है। यह अर्थ ही प्रशस्त क्यों है इसका विवेचन करते हुए आपने कहा है कि वही भगवान् के चरित से विमुख हो सकता है।

जगह-जगह पर पादटिप्पणियों में आपने ऐसे अनेक रहस्यों को उद्घाटित किया है जो अन्य किसी व्याख्या में उपलब्ध नहीं हैं। अनेक ऐसे प्रसंगों का भी उल्लेख किया है जो लोक में प्रचलित हैं पर श्रीमद्भागवत में नहीं हैं। इस प्रकार की टिप्पणियों से यह व्याख्या और भी अधिक समृद्ध हुई है। उदाहरणार्थ श्रीशुकदेव जी द्वारा राजा परीक्षित से भोजन के लिए आग्रह करने का रहस्य, क्रूर कंस के मन में भी सद् विचारों के आने का कारण, दधिमन्थन में संलग्न यशोदा मैया की शारीरिक स्थिति के वर्णन में कमर में लटका लहंगा किसका प्रतीक है ? मैया के हाथ के कंगन और कान के कुण्डल के हिलने का तात्पर्य क्या है ? आदि अनेक ऐसे रहस्य हैं जिनका उद्घाटन आपने पादटिप्पणियों में किया है।

एक बार ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज से एक भक्त ने पूछा था कि महाराज श्रीमद्भागवत की भाषा संस्कृत है और वह भी क्लिष्ट है, ऐसी स्थिति में श्रीमद्भागवत को हम कैसे समझे ? तब स्वामी जी ने उस भक्त को कहा था कि रामचरितमानस का अध्ययन करो, तो श्रीमद्भागवत की पङ्क्तिर्याँ अपने आप स्पष्ट होने लगेंगी। यह एक कथन मात्र नहीं अपितु तथ्य है। यही कारण है कि ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज एवं



स्वामी करपात्री जी महाराज भी जब श्रीमद्भागवत की कथा कहते थे तो उसके अनेक प्रसंगो को मानस से समझाते थे। फलतः सामान्य जनों को भी वह प्रसंग सहजतया हृदयङ्गम हो जाता था। मुझे प्रसन्नता है कि आचार्य त्रिपाठी जी ने अपनी इस व्याख्या में स्थल-स्थल पर रामचरित मानस में आये प्रसंगों से भी भागवत के रहस्यों को समझाने का स्तुत्य प्रयास किया है। इससे यह व्याख्या न केवल संस्कृत के विद्वान्, विद्यार्थी या शोधार्थियों के लिए अपितु आम जनों के लिए भी सर्वथा उपादेय होगी ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

सच्चे व्याख्याकार वे ही होते हैं जो किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से रहित हों, न्यायप्रिय हों और तटस्थ भाव से विचार करनेवाले हों। आचार्य त्रिपाठी जी में ये गुण स्वभावतः विद्यमान हैं। अपने पूर्वाचार्यों, रचनाकारों एवं व्याख्याकारों के प्रति श्रद्धावनत होते हुए भी आचार्य त्रिपाठी जी किसी बात को तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक वह युक्तियुक्त न हो और जब तक वह हृदयग्राह्य न हो। यही कारण है कि आचार्य त्रिपाठी जी ने स्थल-स्थल पर रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य जैसे आचार्यों की तथा स्वयं भागवतकार व्यासजी की भी आलोचना की है। इससे इस व्याख्या की प्रामाणिकता द्विगुणित हुई है। मुझे विश्वास है कि यह व्याख्या विद्वज्जनों तथा भागवतानुरागी भक्तजनों में समान रूप से समादृत होगी। मैं भगवान् विश्वनाथजी के चरणकमलों में प्रार्थना करता हूँ कि आचार्य त्रिपाठी जी स्वस्थ रहें और इसी प्रकार अपनी सारस्वत-साधना से संस्कृत-वाङ्मय को समृद्ध करते हुए लोक-कल्याण का कार्य करते रहें।

वसन्त पञ्चमी

विक्रम संवत् २०६५

प्रो. डॉ. कृष्णकान्त शर्मा

‘विभागाध्यक्ष’ - वैदिक-दर्शन-विभाग,

‘सङ्काय-प्रमुख’, संस्कृत-विद्या धर्म-विज्ञान सङ्काय,

पूर्व मानित निदेशक, मालवीय भवन,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५



श्रीमद्भागवते शास्त्रे कृतभूरिपरिश्रमः ।  
एष पौराणिकः ख्यातः श्रीरमाशङ्करः सुधीः ॥



आचार्य प्रो. डॉ. रमाशङ्कर त्रिपाठी









गृहस्थीरूपी रथ को, श्रीकृष्ण की भाँति,  
बुद्धिमत्तापूर्वक सञ्चालित करने वाले, चतुर्थ  
**चिरञ्जीवी राधाकृष्ण त्रिपाठी**







## आत्म-निवेदन

मुझे प्रकृति के स्नेह भरे उन्मुक्त चञ्चल अञ्चल की छाया में शैशव व्यतीत करने का सौभाग्य मिला। यह प्रभु का बेजोड़ वरदान था। अभी प्राइमरी की चतुर्थ कक्षा का छात्र था, संयोग से 'सुखसागर' पढ़ने का अवसर मिला। उसे पास के गाँव से मांग कर लाया था। उसके पढ़ते ही 'कृष्ण' कण्ठ से लिपट गये और आज भी छोड़ाये छोड़ते नहीं हैं। इसे उनकी कृपा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? धन्य है करुणा श्रीकृष्ण की !

कालान्तर में विश्व-विश्रुत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पुराण पढ़ाने का सुअवसर सुलभ हुआ। श्रीमद्भागवत पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में निर्धारित था। प्रारम्भ हुआ विविध व्याख्याओं का सङ्कलन एवं शुरू किया आलोडन उन आचार्यों के मतों का, जिनकी भागवत-सम्प्रदाय में अपनी एक छवि है। भागवत ने मन और बुद्धि को इस प्रकार वशीभूत किया कि खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते सर्वदा इसी का चिन्तन और मनन चलने लगा, नित नूतन भाव मन में आने लगे। प्रायः पूरे उत्तर भारत में, यथावसर भागवत का व्याख्यान किया, सप्ताह-कथा कही। लोगों को भागवत के नव-नवायमान भावों से अवगत कराया। लोगों ने कथा-माता की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। धीरे-धीरे, डरते-डरते मन ने अकल्प सङ्कल्प लिया "भागवत-हृदय" लिखने का, सप्ताह-कथा के गागर में सागर भरने का। कहा जाता है—भागवत के रसज्ञों को, भागवत-चिन्तन छोड़कर भोजन भी अच्छा नहीं लगता—“भागवतरसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते”। भागवत के आनन्द-महासागर का जिसने एक बार भी आनन्द ले लिया उसका चित्त अन्यत्र रम ही नहीं सकता—“भागवतरसतृप्तस्य नान्यत्र स्यात्स्वचिद्व्रतिः”।

“भागवत-हृदय” की पूर्णता और पूर्ण नवीनता के लिये आधुनिक महात्माओं, चिन्तकों और विद्वान् विचारकों की भागवत-व्याख्याओं को सावधानी से पढ़ा, उनके आकर्षक भावों को आत्मसात् किया, उनकी प्रभावोत्पादनी भाषाओं को यथावसर ग्रहण किया। पश्चाद्वर्ती का पूर्ववर्ती से प्रेरणा लेना स्वाभाविक है, उचित है। एतदर्थ मैं उनका अधमर्ण हूँ। इस प्रकार के व्याख्याकारों में ब्रह्मलीन पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज, वैकुण्ठवासी पूज्य डोंगरे जी महाराज, आराध्य अखण्डानन्द जी महाराज, 'कल्याण' गोरखपुर, आचार्य पण्डितप्रवर श्री राममूर्ति पौराणिक प्रमुख हैं। यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि “भागवत-हृदय” इन सबसे प्रभावित है। नित नव-नव भावों की कारयित्री प्रतिभा के महासागर शङ्करावतार-करपात्री जी महाराज जी का सारा विद्वत्समाज ऋणी है, आभारी है। उनके सामने सब वामन प्रतीत होते हैं। शुकावतार सन्त रामचन्द्र डोंगरे जी महाराज का 'भागवत-रहस्य' भी भागवत के भावों के विषय में यत्र-तत्र नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। अध्येता उनके ग्रन्थ से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। पूज्य अखण्डानन्द महाराज एवं आदरणीय राममूर्ति पौराणिक जी भागवत के तलस्पर्शी विद्वान् रहे हैं। एक श्रीधरी से प्रभावित हैं तो दूसरे वंशीधरी से। प्रातः स्मरणीय तुलसीदास की भाँति, मधुमक्षिका की वृत्ति का आश्रय लेकर, मैंने सबके सार को ग्रहण कर अपने 'भागवत-हृदय' को हृद्य बनाया है।

इतना सब होने पर भी यहाँ मैं यह बतला देना अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ कि—भावों के अवगाहन में, तात्पर्यों के निर्धारण में और रूपकों के पर्यालोचन में मैंने न तो अपने विवेक को किसी के हाथों गिरवी रक्खा है, न प्रज्ञा को किसी का ऋणी बनाया है एवं न स्वतन्त्र चिन्तन-सरणि को किसी की अनुगामिनी होने दिया है। मैं साधिकार एवं साभिमान यह कह सकता हूँ कि 'श्रीमद्भागवत-हृदय' को प्राणवान् तथा मौलिक बनाने के लिये जिन तथ्यों की आवश्यकता होती है, वे सब मेरे हैं, अपने हैं और हैं अपनी निजी बुद्धि की ठोस कमाई। इसके लिये भले ही मुझे वर्षों व्यास की उपासना करनी पड़ी हो, श्री शुक्रदेव जी की समाराधना करनी पड़ी हो और सूत जी की प्रार्थना करनी पड़ी हो। 'श्रीमद्भागवत-हृदय' का अवलम्बन लिये बिना भागवत के हृदय का यथार्थ दर्शन करना किसी



के लिये भी सम्भव नहीं है—यह मेरा दावा है, विनम्र निवेदन है। इसके विषय में मुझे विशेष कुछ कहना नहीं है, एतदर्थ निर्मत्सर गुणग्राही विद्वज्जन प्रमाण हैं, निर्णायक हैं।

“श्रीमद्भागवत-हृदय” को वर्तमान रूप देने में वर्षों की साधना, दशकों का चिन्तन सहायक हुआ है। समय-समय पर कठिनाइयों के अम्बार ने कार्य में अवरोध किया। किन्तु आराध्य राधाकृष्ण की कृपा ने सबको धता बताते हुए इसे पूर्णता के द्वार तक पहुँचा ही दिया। धन्य है, कृष्ण-कृपा ! जिसके अभाव में इस कार्य की पूर्णता की कल्पना ही संभव नहीं थी। इसके लिये मैं बारम्बार श्रीकृष्ण-चरणों में प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ, राधा-चरण-चारण-चक्रवर्ती के चरणों की विभूति को मस्तक पर धारण कर रहा हूँ।

इस ग्रन्थ को तैयार करने में परम सेविका अर्द्धाङ्गिनी शान्ति त्रिपाठी समवाय कारण रही हैं, उनकी सहायता, सेवा के अभाव में मैं इस महान् कार्य को पूर्ण न कर पाता। हाँ! यदा-कदा अशान्ति मचा देना भी उनका स्वभाव है—“स्वभावो हि दुरतिक्रमः”। इस सहयोग के लिये तो मैं केवल उन्हें इतना ही कह सकता हूँ—“भगवान् तुम्हारा औचल खुशियों से भर दें”। यथावसर विविध प्रकार से सहायता करने वाले बालक डॉ. बालकृष्ण त्रिपाठी एडवोकेट, आनन्द कृष्ण त्रिपाठी, डॉ. श्रीकृष्ण त्रिपाठी वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत-विद्या धर्म-विज्ञान सङ्घाय, का.हि.वि.वि., प्रिय राधाकृष्ण त्रिपाठी और गोपाल कृष्ण त्रिपाठी आशीर्वाद के पात्र हैं। उनके लिये मेरा यही कहना है—‘सफल मनोरथ होंहि तुम्हारे’।

अपने सहयोगात्मक कृत्यों के लिये चौखम्भा संस्कृत भवन के भूतपूर्व सञ्चालक गोलोकवासी श्री ब्रजरत्न दास जी गुप्त के द्वितीय आत्मज ब्रजेन्द्र कुमार एवं उनकी धर्मपत्नी सुश्री नीता गुप्त साधुवाद एवम् आशीर्वाद के पात्र हैं।

संशोधन में समर्थ सहायक अग्रज कपिल देव गिरी जी भी मेरे साधुवाद के सत्पात्र हैं। सबके अन्त में, ग्रन्थ में अनुशंसालिखकर मेरा सम्मान बढ़ाने वाले अनुज आचार्य - प्रवर प्रो. डॉ. कृष्णकान्त शर्मा के प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना परम पावन कर्तव्य समझता हूँ। अन्त में मैं राधाकृष्ण के चरणों में प्रणति-पुरःसर भक्ति-गङ्गा का यह अगाध स्रोत मानव-समाज के परम कल्याण के लिये समर्पित करते हुए अमन्द परमानन्द का अनुभव कर रहा हूँ।

## ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

निर्जला एकादशी

वि.सं. २०६६

३ जून २००९

श्रद्धावनत—

रमाशङ्कर त्रिपाठी





## राधाकृष्णाभ्यां नमः

### हृदय-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण महर्षि बादरायण व्यास की तपस्या का निर्गलित अखण्ड फल है, उनकी सारस्वत साधना का सर्वस्व है, उनकी लेखनी का अमृत-निष्यन्द है। विश्ववन्द्य इस पुराण-रत्न को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि व्यास की लेखनी कल्पतरु की सुकुमार शाखा की बनी थी। वे कामधेनु के नवनीत को जलाकर मसी बनाते थे। उसमें अमृत की धार उड़ेल कर उसे तरल करते थे फिर भूर्जपत्र के अतिपावन खण्डों पर शारदी कौमुदी के पुनीत वितान के नीचे बैठकर श्रीमद्भागवत का 'श्रीगणेशाय नमः' किये थे। यदि यह बात न होती तो इस पुराण में द्राक्षा की माधुरी, ज्योत्स्ना की स्निग्धता तथा कुन्द की मादक सुरभि की उमड़ती पवित्र त्रिवेणी का पावन सङ्गम कैसे होता ? यदि हिमगिरि के उत्तुङ्ग शृङ्ग की उँचाई और सागर की गहराई का एकत्र आकलन करना हो तो आप श्रीमद्भागवत को, भागवत-हृदय को, अवश्य पढ़ें।

महर्षि व्यास ने पुराणों की रचना त्रिविध भाषाओं में की है— लौकिक-भाषा, विचित्र अथवा परकीय-भाषा और समाधिभाषा। लौकिक-भाषा साधारण भाषा को, विचित्र-भाषा अध्यात्म-प्रधान भाषा को और समाधि-भाषा ब्रह्मानन्दमय भाषा को कहते हैं। इसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं—साधारण भावों की अभिव्यक्ति लौकिक भाषा के द्वारा, अध्यात्म-प्रधान भावों का प्रकाशन विचित्र भाषा द्वारा और ब्रह्मानन्दमय भावों का प्रकटन समाधि-भाषा द्वारा किया गया है। भागवत समाधि-भाषा-प्रचुर पुराण है— "समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम्"।

श्रीमद्भागवत समस्त वेद-वेदाङ्ग का सार है, ब्रह्मसम्मित है<sup>१</sup>। "गीताभाष्यभूतोऽसौ" के अनुसार यह श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य है। इसकी रचना संसार-सागर में डूबते-उतरते प्राणियों के उद्धार के लिये हुई है<sup>२</sup>। यदि साहित्यिक, परिमार्जित एवं स्निग्ध भाषा की छिटकती छटा का दर्शन करना हो<sup>३</sup>, समाधि-भाषा की अगाध गम्भीरता की अनुभूति करनी हो और शैली की शीतल सरिता में अवगाहन का अमन्द आनन्द लेना हो तो बादरायण व्यास की इस कृति का सेवन अवश्य करें। भागवत में आकण्ठ निमग्न मेरा यह साधिकार साभिमान दावा है कि संसार में प्रचण्ड मार्तण्ड के प्रकाश-पुञ्ज में अन्वेषण करने पर भी कहीं ऐसा ग्रन्थ-रत्न नहीं मिल सकता।

श्रीमद्भागवत तो दार्शनिक सिद्धान्तों का आकार ग्रन्थ है। द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सारे दार्शनिक अपने मतों की पुष्टि के लिये इसी ग्रन्थ की शरण में जाते हैं। सभी मतावलम्बी भागवत-कथा-माता की अङ्गुलि पकड़ कर चलना सीखें हैं। भगवान् शङ्कराचार्य का सारा अद्वैत-सिद्धान्त श्रीमद्भागवत पर ही अवलम्बित है— यह मैं साधिकार सिद्ध कर सकता हूँ। षड्दर्शनों का तो यह समन्वय ग्रन्थ है। इन दर्शनों के सिद्धान्तों को ठीक-ठीक हृदयङ्गम किये बिना गर्भ-स्तुति और वेद-स्तुति में तो व्यक्ति का सम्यक् प्रवेश सम्भव ही नहीं है। इसके

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अ. ५, श्लोक १३
२. ग्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। भाग. २।८।२८  
सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्। भाग. १२/१३/१२  
सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते। भाग. १२/१३/१५
३. भागवत १२।४।४०
४. भागवत १२।१३।२



इसी वैशिष्ट्य के कारण चिरकाल से यह प्रवाद प्रचलित है कि—वैदुष्य का निकष है—श्रीमद्भागवत—“विद्यावतां भागवते परीक्षा” ।

श्रीमद्भागवत ग्रन्थ निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग की त्रिवेणी का पावन सङ्गम प्रयाग है। भक्तियोग का जैसा उमड़ता हुआ सागर श्रीमद्भागवत में दृष्टि-गोचर होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भागवत का यह डिण्डिम-घोष है कि केवल भक्ति-योग के सहारे भगवत्शरणागति के बल पर व्यक्ति गोलोकधाम का अधिकारी बन सकता है। भक्ति वह अकेला साधन है जो ज्ञान और वैराग्य का परम साधक है। भक्ति दो प्रकार की होती है—अनुराग-भक्ति और वैर-भक्ति। गोपों की गोपियों की नन्द तथा यशोदा आदि की कृष्ण के प्रति अनुरक्ति भक्ति थी, रागानुगा भक्ति थी। रावण, कंस, शिशुपाल और दन्तवक्त्र की वैर-भक्ति थी। वैर-भक्ति की यह विशेषता है कि व्यक्ति खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते प्रत्येक क्षण शत्रुका, भगवान् का ही ध्यान करता है, वह स्वप्न में भी भगवान् को देखता है। फलतः शरीर छूटते ही वह भगवान् में मिल जाता है—

जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया

धिया ।

ध्यायन्तस्तमयतां यातो भावो हि भवकारणम् ॥ भाग. १०/७४/४६॥

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।

येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ वही ११/१२/८

यदि मैं यह कहूँ कि ब्रह्मसूत्र, महाभारत और श्रीमद्भागवत के लिये ही व्यास महाराज का अवतरण हुआ था तो कोई अत्युक्ति न होगी। इन्हीं ग्रन्थ-रत्नों के प्रकाश से संसार का कल्याण करने के लिये ही महर्षि पराशर जैसे तपस्वी ने अपने शिर पर अपयश का मुकुट बाँधा था।

**महर्षि व्यास का अवतरण**— भगवान् भास्कर दिन के मध्य में विराजमान थे। यमुना का पावन पुलिन था। मल्लाह दासराज की बेटी घर से भोजन लाई थी। भूखा दासराज भोजन कर रहा था। बेटी ‘सत्यवती’ बगल में बैठी थी। वह निर्निमेष नयनों से यमुना की उभरती-विलीन होती हुई लहरियों को निहार रही थी। यमुना आज उसे अत्यधिक नयनाभिराम प्रतीत हो रही थी। वस्तुतः ‘सत्यवती’ दासराज की पुत्री नहीं, पालिता पुत्री थी। बाप-बेटी का यह सम्बन्ध पालन-पोषण के नाते था। एक बार की घटना है। उपरिचर वसु विमान से यात्रा कर रहे थे, उनकी दृष्टि किसी अनिन्द्य देवसुन्दरी पर पड़ी। काम के वेग के कारण उनका वीर्य स्खलित होकर यमुना के जल में गिर पड़ा। एक विशाल मछली ने उसे निगल लिया। भगवान् की इच्छा बड़ी विचित्र होती है, उसके आगे किसी का तर्क-वितर्क नहीं चलता। समय आने पर मछली के गर्भ से एक कन्या का जन्म हुआ। कन्या के शरीर से मछली जैसी दुर्गन्ध निकलती थी, बहुत दूर तक फैलती थी। यही कारण है कि उसे ‘मत्स्यगन्धा’ अथवा ‘योजनगन्धा’ कहा जाता था। दासराज की दृष्टि उस अबोध शिशु पर पड़ी। उसका हृदय करुणा से भर आया। फलतः उसने उसे उठा लिया और घर लाकर उसका पालन-पोषण किया अतः वह दासराज की बेटी कही जाती थी।

भगवान् के मर्म को कोई जान नहीं सकता। उनकी इच्छा सबसे प्रबल होती है। उसी समय महर्षि पराशर वहाँ पहुँचे। उनका भाल तप से उद्दीप्त हो रहा था। उन्होंने दासराज से यमुना पार कराने के लिये कहा। भोजन करते हुए दासराज ने सत्यवती से कहा— “बेटी, महर्षि को आदर के साथ नैया पर बैठा कर यमुना पार करा दो। सत्यवती ने तट से बँधी हुई नैया खोली। ऋषि को नम्रता के साथ उस पर बैठाया और चल पड़ी मझधार की ओर। अभी नैया यमुना के मध्य में पहुँची ही थी कि पराशर की दृष्टि सत्यवती के उभरते यौवन पर पड़ी। दोनों हाथों से चप्पू चलाते समय उसके उचकते, उछलते, मचलते उरोजों ने मुनि के मन को क्षण भर में मोह लिया। काम का भूत



उनके मन पर सवार हो चुका था। मन की इस अधीरता का कारण उनकी समझ में नहीं आया। ध्यान लगाकर देखा। प्रभु-प्रेरणा हो रही थी—“पराशर सम्प्रति कुछ क्षणों तक अत्युत्तम मुहूर्त चल रहा है। यदि तुम इस समय गर्भाधान कर दोगे तो अद्भुत प्रतिभा का धनी बालक उत्पन्न होगा। उसकी कृतियों से संसार का महान् कल्याण होगा। भगवान् का अंश ही तुम्हारा पुत्र बनकर भूतल पर ज्ञान की रश्मियाँ बिखरेगा। मुनिवर, इस समय को हाथ से निकल जाने देना भारी भूल होगी”<sup>१</sup>।

इस पर ऋषि पराशर को कुछ सुझाई न पड़ा वे सोच रहे थे—वसिष्ठ के वंशधर का चारित्रिक पतन शोभा नहीं देता। कुटिया में बैठी अर्द्धाङ्गिनी दूर है। शुभ मुहूर्त २, ४ क्षणों में ही व्यतीत हो रहा है। थोड़ी देर तक मुनिवर के मन में कामवेग और धर्म-विचार का भीषण संघर्ष चलता रहा। अन्त में प्रभु की प्रेरणा से काम की विजय हुई। फलतः पराशर ने सत्यवती की कोमल कलाई पकड़ ली। “मत्स्यगन्धा” काँप उठी। इस समय नैया यमुना के मध्य में पहुँच चुकी थी। उसने काँपते स्वर से कहा—“ऋषिवर, यह क्या कर रहे हैं?” उन्होंने अनुनय भरे शब्दों में उत्तर दिया—“तरुणी, इस समय मैं तुम्हारे शरीर का उपभोग करना चाहता हूँ। इस काम में तुम्हारा पूर्ण सहयोग अपेक्षित है अतः आओ, कुछ क्षणों के लिये मेरी बाहुओं में सिमट जाओ। विलम्ब मत करो तरुणी! देरी होने पर काम बिगड़ जायेगा”। ऋषि के शब्दों में कोमलता और दृढता दोनों का सम्मिश्रण था। तपस्वी के स्पर्श से धार्मिक विचारों की लहरियाँ और पुरुष के छूने से काम-विकारों की तरङ्गे सत्यवती के मन में उठने लगीं। इस समय उसके मन में विचारों की शृङ्खला घूम रही थी, उसने कहा—“ऋषिवर! कुछ तो ध्यान दें। इस समय दिन की बेला है। दिनमणि जन-जन के काम को देख रहे हैं अतः बुद्धिमान् व्यक्ति दिन में काम-क्रीडा नहीं करते”। “लो सुन्दरी! मैं दिन को घोर अन्धकार में परिवर्तित कर दे रहा हूँ”—ऋषि पराशर ने कहा। उनके ऐसा कहते ही घोर कुहासे से आकाश-मण्डल भर गया। न यमुना दिखती थीं और न नैया ही फिर मत्स्यगन्धा ने कहा—“महाराज, मेरे शरीर से मरी मछलियों की भयङ्कर दुर्गन्ध निकल रही है, फिर आप कैसे इस शरीर से रमण करेंगे?” “देवी, अब तुम्हारी देह-यष्टि से मत्स्य-गन्ध के स्थान पर कमल की खुशबू निकलेगी”। ऋषि पराशर ने उसके ऊपर हाथ फेरते हुए कहा। आश्चर्य! परम आश्चर्य! ऋषि के ऐसा कहते ही सारा वातावरण मनोहर खुशबू से भर गया। पराशर का ऐसा ऐश्वर्य देखकर सत्यवती अभिभूत थी। उसने अनुनय भरे शब्दों में पुनः कहा—“मुनिवर, यम-तनया यमुना की यह परम पावन धारा है, इसमें काम-क्रीडा क्या धर्म-विरुद्ध नहीं होगा?” फिर ऋषि ने तप-बल का प्रभाव प्रदर्शित करते हुए यमुना के बीचोबीच एक टापू (द्वीप) पैदा कर दिया। नैया द्वीप से जा सटी। पराशर और सत्यवती नैया से उतर कर द्वीप में पहुँच गये। ऊपर नील गगन में काला कुहरा। नीचे मखमल-सी सुकोमल बालुका। वहाँ पहुँच कर सत्यवती ने अन्तिम प्रश्न किया—“महाराज, आप रमण करके चले जायेंगे। आप का वीर्य अमोघ है। मैं गर्भवती हो जाऊँगी, पेट फूलेगा, स्तन बढ़ेंगे, मेरा कुँवारीपन (कौमार्य) बिगड़ जायेगा। चारों ओर बदनामी होगी फिर क्या होगा?” पराशर जी ने इसका समाधान किया—“गर्भ रह जाने पर भी गर्भ का कोई भी लक्षण तुम्हारे शरीर पर नहीं

१. व्यास त्रिकालदर्शी थे। उन्हें भूत, भविष्य और वर्तमान-सब कुछ ज्ञात था अतः पराशर के लिये भगवत्प्रेरणा का रहस्य महर्षि व्यास को विदित था तभी तो आगे घटित होनेवाली घटना का वर्णन उन्होंने निःसङ्कोच बेझिझक बेहिचक किया है अन्यथा ऐसा कौन पुत्र होगा जो अपने जनक के निन्दित कार्य का उल्लेख स्पष्ट रूप से करेगा? वह भी द्वैपायन व्यास जैसा बेटा! उल्लेख भी उन ग्रन्थों में जिनके पारायण से पुण्य होता है। यदि ऋषि-प्रवर पराशर के सत्यवती-सङ्गम में वासना की बात होती तो वे उस तरुणी के तारुण्य-जाल में फँसकर आगे भी बार-बार उससे मिलते रहते। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। सम्भोग के अनन्तर जब वे उसे छोड़कर गये तो फिर उसकी ओर मुड़कर देखा भी नहीं। धन्य है महर्षि का जगत्कल्याण के लिये अपनी अमल-विमल कीर्ति का बलिदान!



उभरेगा न तुम्हारी योनि बिगड़ेगी और न यौवन ही। तुम्हारा कौमार्य अक्षत बना रहेगा”। ऋषि के वचनों से सन्तुष्ट हुई सत्यवती ने पराशर के गले में अपनी बाहु-लतिका डाल दी और फिर वह निढाल होकर लेट गई ऋषिवर की गोद में। इसके बाद तो वही हुआ जो होना था।

कार्य पूरा कर महर्षि अपने गन्तव्य की ओर पधारे। सत्यवती अपलक नयनों से उन्हें तब तक देखती रही जब तक कि वे दृष्टि से ओझल नहीं हो गये फिर सत्यवती नैया लेकर दासराज के पास पहुँची। दासराज ने देखा सत्यवती की दैहिक स्थिति बदल चुकी थी। उसके शरीर से मत्स्य-गन्ध के स्थान पर कमल-सी सुगन्ध निकल रही थी। देह की कर्कशता कोमलता में परिवर्तित हो चुकी थी। एक अद्भुत आभा उसके शरीर से निकल रही थी। भोले-भाले दासराज ने इसे महर्षि की सेवा का अद्भुत फल माना। वह मन-ही-मन उनकी महिमा का बखान कर रहा था। अब यमुना का श्याम तट सत्यवती के सौन्दर्य-माधुर्य की आभा-प्रभा से दमक रहा था।

समय पूरा हुआ, आषाढ़ का प्रथम दिवस था। मेघमालायें पर्वत की शृङ्खलाओं से टकराकर स्वच्छ जल बिन्दुओं की वर्षा कर रही थीं। धरती की तपती छाती शनैः शनैः शीतल हो रही थी। पूर्णिमा अपनी पूर्ण प्रौढता पर थी। भगवान् के ज्ञान के पूर्णावतार के लिये यह सर्वोत्तम पावन बेला थी। उसी समय सत्यवती नैया लेकर यमुना पार से आ रही थी। उसे प्रसव-पीडा उत्पन्न हुई। उसने यमुना के मध्य उसी द्वीप पर लाकर नैया लगा दी जहाँ कभी उसका कौमार्य-हरण हुआ था, पराशर ने गर्भाधान किया था। सत्यवती अभी बैठी ही थी कि बिजली-सी कौंधी। उसके शरीर से एक तेजःपुञ्ज-सा निकला, उसने आँखें खोली तो देखा कि एक श्मश्रुल (केश-दाढ़ी वाला) तरुण तपस्वी सामने खड़ा है। उसकी कटि में मृगचर्म और हाथ में कमण्डलु था, वर्ण उसका कृष्ण था, उसने हाथ जोड़कर सत्यवती से कहा—माँ, मैं तेरा पुत्र हूँ। तू मेरी जननी है। मैं तुम्हें प्रणाम कर तपस्या के लिये जा रहा हूँ। जब कभी तुम्हें कोई सङ्कट पड़े तो तू मेरा स्मरण करना। स्मरण करते ही मैं तेरी सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा”। इतना कहकर कृष्ण मुनि ने सत्यवती को प्रणाम कर हिमालय की ओर प्रस्थान किया। वहाँ बदरी-वन में बेर खाकर उन्होंने घोर तप किया। सिद्धि मिली फिर सरस्वती को प्रणाम कर, गणेश को साक्षी बनाकर उन्होंने लेखनी उठाई और खड़ा कर दिया ग्रन्थ-रत्नों का अम्बार। भावों की प्रगाढता, भाषा की स्निग्धता-मधुरता तथा शैली की विशिष्टता को देखते हुए प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्र, महाभारत एवं गीता की रचना के बाद उन्होंने विश्वबन्ध ग्रन्थ श्रीमद्भागवत की रचना की और फिर सरस्वती को प्रणाम कर ले लिया कलम-संन्यास, इसीलिये तो यह ग्रन्थ-रत्न बेजोड़ कहा जाता है—  
“न अस भयठ न होवनि हारा”।

निर्जला एकादशी

वि.सं. २०६६

३ जून २००९

—रमाशङ्कर त्रिपाठी



# माहात्म्य-सहित श्रीमद्भागवत-हृदय (साप्ताहिक कथा) की विषयानुक्रमणिका

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	देवर्षि नारद जी का भक्ति से वार्तालाप	१
२.	भक्ति का दुःख दूर करने के लिए नारद जी का उद्योग	६
३.	ज्ञान-वैराग्य सहित भक्ति के कष्ट की निवृत्ति	९
४.	सप्ताहकथा में श्रीहरि का प्रादुर्भाव तथा गोकर्ण का उपाख्यान	११
५.	प्रेत-योनि से धुन्धुकारी की मुक्ति	१६
६.	सप्ताह कथा के श्रवण की विधि	२०
<b>प्रथम स्कन्ध</b>		
<b>सप्ताह के पहले दिन की कथा का प्रारम्भ</b>		
१.	नैमिषारण्य में सूतजी से शौनक आदि ऋषियों द्वारा छः प्रश्न	२५
२.	सूतजी के द्वारा चार प्रश्नों के उत्तर और भक्ति का महत्त्व	२८
३.	शेष दो प्रश्नों—अवतार और धर्म—स्थिति के उत्तर	३१
४.	व्यासजी के आश्रम में नारद जी का आगमन	३३
५.	व्यास जी के अपरितोष का कारण और नारदजी के द्वारा अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त का कथन	३५
६.	अपना वृत्तान्त पूर्ण कर नारद जी का गमन	३८
७.	श्रीमद्भागवत की रचना, द्रौपदी के सोये हुए पाँच पुत्रों का वध तथा अर्जुन द्वारा अश्वत्थामा का निग्रह	३९
८.	गर्भ में परीक्षित की रक्षा, कुन्ती द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति और युधिष्ठिर का शोक	४४
९.	पाण्डवों का भीष्म के पास गमन, उनके उपदेश से युधिष्ठिर की शोक-निवृत्ति, भीष्म द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति कर महाप्रयाण करना	४८
१०.	युधिष्ठिर का राज्याभिषेक और भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका-गमन	५२
११.	द्वारका में श्रीकृष्ण का प्रवेश तथा उनका राजोचित सम्मान	५३
१२.	महाराज परीक्षित का जन्म और उनकी जन्म-कुण्डली का प्रभाव	५४
१३.	विदुरजी के उपदेश से धृतराष्ट्र और गान्धारी का हिमालय की ओर गमन	५६
१४.	अपशकुनों के होने से युधिष्ठिर का चिन्तित होना और अर्जुन का द्वारका से प्रत्यागमन	५९
१५.	श्रीकृष्ण के विरह से व्यथित पाण्डवों का परीक्षित को राज्य देकर स्वर्ग सिंधारना	६०
१६.	राजा परीक्षित की दिग्विजय तथा धर्म और पृथिवी का संवाद	६३
१७.	महाराज परीक्षित द्वारा कलियुग का दमन	६४
१८.	राजा परीक्षित को श्रृङ्गी ऋषि का शाप	६७
१९.	गङ्गा के तट पर राजा परीक्षित का अनशन, शुकदेव जी का आगमन और उनके द्वारा प्रियमाण पुरुष के कर्तव्यों का वर्णन	६९



## द्वितीय स्कन्ध

१.	ध्यान-विधि और भगवान् के विराट् रूप में मन की धारणा का वर्णन	७२
२.	भगवान् के सूक्ष्मरूप में मन की धारणा तथा सद्योमुक्ति एवं क्रम-मुक्ति का वर्णन	७४
३.	देवताओं की उपासना के अलग-अलग फल तथा भगवान् से विमुख इन्द्रियों की निरर्थकता	७६
४.	परीक्षित् के सृष्टि-विषयक प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मा और नारद के संवाद का उपक्रम उपस्थित करते हुए शुकदेव जी का कथारम्भ	७८
५.	नारद के सृष्टि-विषयक प्रश्न का उत्तर और अण्ड से विराट् पुरुष की उत्पत्ति	८१
६.	विराट् पुरुष की विभूतियों का वर्णन	८२
७.	भगवान् के २४ लीलावतारों का वर्णन	८३
८.	जीव और ईश्वर के शरीर-धारण के विषय में परीक्षित् की आशङ्का तथा पुराण-विषयक विविध प्रश्न	८५
९.	ब्रह्माजी का भगवान् के धाम का दर्शन और भगवान् के द्वारा उन्हें चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश	८७
१०.	महापुराण के दश लक्षण, विराट् सृष्टि और मैत्रेय-विदुर-संवाद की भूमिका	९०

## तृतीय स्कन्ध

१.	विदुर के द्वारा कौरवों का त्याग और विदुर-उद्धव-संवाद	९२
२.	उद्धव जी के द्वारा भगवान् की लीलाओं का वर्णन	९४
३.	मथुरा और द्वारका की लीलाओं का वर्णन तथा यदुकुल को ऋषियों का शाप	९७
४.	उद्धव के द्वारा यदुकुल के विनाश को सुनकर विदुर का मैत्रेय के पास जाना	९८
५.	विदुर जी का प्रश्न और मैत्रेय जी के द्वारा सृष्टि के क्रम का वर्णन	१००
६.	महदादि तत्त्वों से विराट्-शरीर की रचना और उसमें अधिदेव आदि भेदों की कल्पना	१०२
७.	विदुर के नानाविध प्रश्न और उनके उत्तर	१०४
८.	शेष सनकादि का संवाद, नारायण की नाभि-कमल से ब्रह्मा का प्रादुर्भाव तथा उन्हें शेषशायी भगवान् का दर्शन	१०६
९.	ब्रह्मा जी के द्वारा नारायण की स्तुति और उन्हें संसार की रचना का वरदान	१०७
१०.	दस प्रकार की सृष्टि का वर्णन	१०९
११.	मन्वन्तर आदि काल-विभाग का वर्णन	११०
१२.	ब्रह्मा की मानसी सृष्टि से प्रजा का विस्तार न होने पर यौन-सृष्टि का प्रारम्भ	११२
१३.	भगवान् वाराह के द्वारा पृथिवी का उद्धार	११४
१४.	सार्यकाल की बेला में दिति के हठ से कश्यपद्वारा गर्भाधान और फलस्वरूप आदि दैत्यों का जन्म	११७
१५.	जय-विजय को सनकादि कुमारों का शाप	११९
१६.	जय-विजय का वैकुण्ठ से पतन	१२२



अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
१७.	हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष का जन्म तथा हिरण्याक्ष की दिग्विजय	१२४
१८.	हिरण्याक्ष के साथ भगवान् वराह का युद्ध	१२६
१९.	वराह द्वारा हिरण्याक्ष का वध	१२८
२०.	ब्रह्मा जी के द्वारा रची गई अनेक प्रकार की सृष्टियाँ	१२९
२१.	सृष्टि के लिये कर्दम की तपस्या और स्वायम्भुव मनु का उनके विवाह के लिये आगमन	१३१
२२.	मनु और कर्दम का संवाद तथा कर्दम और देवहूति का विवाह	१३३

सप्ताह के दूसरे दिन की कथा का प्रारम्भ

२३.	कर्दम और देवहूति का विहार	१३६
२४.	भगवान् कपिल का जन्म, कन्याओं का विवाह और कर्दम जी का संन्यास-ग्रहण	१३९
२५.	कपिल के द्वारा माता के लिये योग का वर्णन	१४१
२६.	सांख्य के भिन्न-भिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन	१४४
२७.	प्रकृति-पुरुष के विवेक से मोक्ष की प्राप्ति	१४६
२८.	स्वरूप-ज्ञान के लिये अष्टाङ्ग-योग की विधि	१४८
२९.	भक्ति का मर्म और काल की महिमा	१४९
३०.	देह-गेह में आसक्त कामी पुरुषों की अधोगति का वर्णन	१५१
३१.	माता के गर्भ में पड़े हुए जीव की भगवान् से प्रार्थना	१५३
३२.	धूम-मार्ग और अर्चिरादि मार्ग से जानेवालों की गति का और भक्ति-योग की श्रेष्ठता का वर्णन	१५५
३३.	कपिल जी का प्रस्थान, देवहूति को तत्त्व-ज्ञान और मोक्षपद की प्राप्ति	१५७

चतुर्थ स्कन्ध

१.	स्वायम्भुव मनुकी कन्याओं के वंश का वर्णन	१५९
२.	भगवान् शिव और दक्ष का परस्पर मनोमालिन्य और शाप	१६३
३.	दक्ष-यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए सती का आग्रह और शिव के द्वारा मना करना	१६५
४.	सती का दक्ष के यज्ञ में जाना और योगाग्नि द्वारा शरीरत्याग	१६७
५.	वीरभद्रकृत दक्ष-यज्ञ-विध्वंस और दक्ष वध	१६९
६.	ब्रह्मा आदि देवताओं का कैलास जाकर श्री महादेव जी को मनाना	१७०
७.	शिवजी के प्रसन्न होने पर यज्ञ में विष्णु का प्रादुर्भाव, उनकी स्तुति और दक्ष-यज्ञ की पूर्ति	१७२
८.	विमाता के निर्मम वचनों से विद्ध ध्रुव का वन-गमन	१७६
९.	ध्रुव को भगवान् का दर्शन और वर पाकर उनका घर लौटना	१८१
१०.	यक्षों के द्वारा उत्तम का मारा जाना और ध्रुव का उनके साथ युद्ध	१८४
११.	स्वायम्भुव मनु का ध्रुव जी को युद्ध बन्द करने के लिये समझाना	१८५
१२.	ध्रुव को कुबेर का वरदान और विमान द्वारा उनका ध्रुवलोक को गमन	१८७
१३.	ध्रुव के वंश में वेन का जन्म, उसके अत्याचारों से दुःखी पिता अङ्ग का वन-गमन	१८९
१४.	अधार्मिक, प्रजा-विध्वंसक वेन का ऋषियों द्वारा वध और उससे निषाद की उत्पत्ति	१९१



अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
१५.	वेन की भुजाओं से अर्चि के साथ महाराज पृथु का प्रादुर्भाव और उनका राज्याभिषेक	१९४
१६.	वन्दी-जनों के द्वारा महाराज पृथु की स्तुति	१९५
१७.	पृथु का अन्न के लिए गोरूप-धारिणी पृथिवी पर क्रोध करना और पृथिवी के द्वारा पृथु की स्तुति	१९६
१८.	पृथु के नेतृत्व में पृथिवी से अन्न आदि पदार्थों का दोहन	१९८
१९.	पृथु के सौवें अश्वमेध यज्ञ में इन्द्र द्वारा यज्ञीय अश्व का अपहरण	१९९
२०.	यज्ञशाला में प्रादुर्भूत भगवान् के ज्ञानोपदेश से पृथु और इन्द्र की मित्रता	२०२
२१.	महाराज पृथु का अपनी प्रजा को धर्मोपदेश	२०४
२२.	पृथु के लिए सनत्कुमार का उपदेश	२०६
२३.	राजा पृथु की तपस्या और उनका वैकुण्ठ-गमन	२०९
२४.	पृथु के प्रपौत्र प्राचीनबर्हि से प्रचेताओं का जन्म और उन्हें श्रीरुद्र का उपदेश	२१२
२५.	प्राचीनबर्हि को पुरञ्जनकथा कहकर नारद द्वारा तत्त्व-ज्ञान का उपदेश	२१४
२६.	राजा पुरञ्जन का मृगयार्थ वनगमन और रानी का कोप	२१६
२७.	रानी का प्रसन्न होना, पुरञ्जन का उसके साथ विहार, नगर पर चण्डवेग का आक्रमण और कालकन्या जरा का चरित्र	२१८
२८.	पुरञ्जन को स्त्री-योनि की प्राप्ति और अविज्ञात के उपदेश से उसकी मुक्ति	२१९
२९.	पुरञ्जनोपाख्यान का आध्यात्मिक अभिप्राय और राजा प्राचीनबर्हि की मुक्ति	२२२
३०.	प्रचेताओं को श्रीविष्णु भगवान् का वरदान और उनका वांर्क्षी से विवाह	२२५
३१.	नारदजी के उपदेश से प्रचेताओं की मुक्ति	२२७

### पञ्चम स्कन्ध

१.	प्रियव्रत को नारद से ज्ञान की प्राप्ति, ब्रह्मा के समझाने से राज्य का उपभोग और अन्त में वैकुण्ठ गमन	२३०
२.	प्रियव्रत के पुत्र आग्नीध्र का चरित्र	२३३
३.	नाभि के राजप्रासाद में भगवान् ऋषभदेव का अवतार	२३५
४.	ऋषभदेव का चरित्र और उनके सौ पुत्रों का जन्म	२३६
५.	ऋषभदेव जी का अपने पुत्रों को उपदेश देना और स्वयं अवधूत-वृत्ति ग्रहण करना	२३८
६.	ऋषभदेवजी की शरीर का वनाग्नि में तिरोहित होना	२४१

### सप्ताह के तीसरे दिन की कथा का प्रारम्भ

७.	भरत-चरित्र	२४३
८.	भरत जी का मृग के मोह में फँस कर मृगयोनि में जन्म लेना और उससे छूटना	२४४
९.	भरतजी का ब्राह्मण-वंश में जन्म और भद्रकाली के द्वारा उनकी रक्षा	२४७
१०.	जडभरत और राजा रघूगण की भेंट	२४९



अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
११.	राजा रहूगण को जडभरत जी का ज्ञानोपदेश	२५२
१२.	रहूगण का प्रश्न और भरत जी का समाधान	२५४
१३.	भवाटवी का वर्णन और रहूगण के सन्देश की निवृत्ति	२५५
१४.	भवाटवी का स्पष्टीकरण	२५८
१५.	भरतवंशीय राजाओं में महाराज गय का चरित्र	२६०
१६.	भुवनकोश का वर्णन, जम्बूद्वीप के खण्ड, सुमेरु पर्वत की स्थिति और परिमाण	२६१
१७.	गंगा का भूतल पर अवतरण और शिव द्वारा संकर्षण का स्तवन, गंगा की महिमा	२६३ २६४
१८.	भद्राश्व आदि छः खण्डों के उपास्य एवं उपासकों का वर्णन	२६५
१९.	किम्पुरुषवर्ष और भारतवर्ष के उपास्य और उपासकों का वर्णन और भारत की महत्ता	२६६
२०.	बाकी छः द्वीपों और लोका लोक पर्वत का वर्णन	२६९
२१.	सूर्य के रथ और उसकी गति का वर्णन	२७१
२२.	भिन्न-भिन्न ग्रहों की स्थिति और गति का वर्णन	२७२
२३.	ध्रुवलोक और शिशुमार-चक्र का वर्णन	२७३
२४.	राहु आदि की स्थिति और अतल आदि नीचे के सात लोकों का वर्णन	२७४
२५.	पाताल के नीचे स्थित भगवान् शेष का वर्णन	२७६
२६.	पापियों को प्राप्त होने वाले नरकों का वर्णन	२७८

षष्ठ स्कन्ध

१.	अजामिल का उपाख्यान	२८२
२.	विष्णु के दूतों के द्वारा भागवत धर्म का निरूपण और अजामिल का भगवन्नाम से उद्धार,	२८६
३.	यम और यमदूतों का संवाद	२८८
४.	सृष्टि के लिए दक्ष के द्वारा भगवान् की आराधना	२९१
५.	श्रीनारद जी के उपदेश से दक्ष-पुत्रों की विरक्ति तथा नारद जी को दक्ष का शाप	२९३
६.	प्रजापति दक्ष की साठ कन्याओं का वंश-विवरण और अदिति के पुत्र त्वष्टा से विश्वरूप का जन्म	२९६
७.	बृहस्पतिजी के द्वारा देवताओं का परित्याग और विश्वरूप का देव-पुरोहित के रूप में वरण	२९७
८.	विश्वरूप के द्वारा इन्द्र को नारायण-कवच का उपदेश	३००
९.	इन्द्र द्वारा विश्वरूप का वध और वृत्रासुर की उत्पत्ति	३०२
१०.	देवताओं के द्वारा दधीचि ऋषि की अस्थियों से वज्र का निर्माण और वृत्रासुर की सेना पर आक्रमण	३०४
११.	वृत्रासुर की अद्भुत वीरता और उसकी भगवन्निष्ठा	३०६



अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
१२.	वृत्रासुर का वध	३०९
१३.	इन्द्र पर ब्रह्महत्या का आक्रमण	३१०
१४.	वृत्रासुर के पूर्व जन्म का वृत्तान्त	३१२
१५.	अङ्गिरा एवं नारद जी के उपदेश से चित्रकेतु के शोक की निवृत्ति	३१४
१६.	चित्रकेतु को शेषतोषिणी विद्या का उपदेश तथा उन्हें सङ्कर्षण का दर्शन	३१५
१७.	पार्वती जी के शाप से चित्रकेतु का वृत्रासुर होना	३१८
१८.	अदिति और दिति की सन्तानों की तथा मरुद्गणों की उत्पत्ति का वर्णन	३२०
१९.	पुंसवन-व्रत की विधि	३२३

### सप्तम स्कन्ध

१.	नारद-युधिष्ठिर-संवाद और जय-विजय के तीन जन्मों का कथन	३२५
२.	हिरण्यकक्ष के वध से सन्तप्त अपनी माता और परिवार को हिरण्यकशिपु का समझाना	३२८
३.	हिरण्यकशिपु की भीषण तपस्या और ब्रह्मा से वर-प्राप्ति	३३१
४.	वर के प्रभाव से उद्दीप्त हिरण्यकशिपु का अत्याचार और प्रह्लाद की भगवन्निष्ठा	३३३
५.	हिरण्यकशिपु के द्वारा प्रह्लाद के वध का प्रयत्न	३३६
६.	प्रह्लाद का असुर-बालकों को भागवत-धर्म का उपदेश	३४०
७.	प्रह्लाद जी द्वारा माता के गर्भ में प्राप्त हुए नारद जी के उपदेश का वर्णन	३४२
८.	प्रह्लाद की रक्षा के लिए नृसिंह भगवान् का प्राकट्य और हिरण्यकशिपु का वध	३४४
९.	प्रह्लाद जी के द्वारा नृसिंह भगवान् की स्तुति	३४७
१०.	प्रह्लाद जी का राज्याभिषेक और त्रिपुर-दहन की कथा	३४९
११.	मानव धर्म, वर्ण-धर्म और स्त्री-धर्म का निरूपण	३५३
१२.	ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमों के नियम	३५५
१३.	यति-धर्म का निरूपण और अवधूत-प्रह्लाद-संवाद	३५७
१४.	गृहस्थ-सम्बन्धी सदाचार	३५९
१५.	गृहस्थों के लिए मोक्षधर्म का वर्णन और नारद जी के पूर्वजन्म का वृत्तान्त	३६१

### सप्ताह के चौथे दिन की कथा का प्रारम्भ

### अष्टम स्कन्ध

१.	स्वायम्भुव, स्वरोचिष, उत्तम और तामस—इन चार मन्वन्तरों का वर्णन	३६७
२.	ग्राह के द्वारा गजेन्द्र का पकड़ा जाना	३६९
३.	गजेन्द्र द्वारा भगवान् की स्तुति और उसकी संकट से मुक्ति	३७१
४.	गज और ग्राह का पूर्वचरित्र तथा उनका उद्धार	३७४
५.	रैवत और चाक्षुष मन्वन्तर का वर्णन	३७५



अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
६.	देवों की असुरों के साथ सन्धि और अमृत के लिए उद्योग करना	३७७
७.	समुद्र का मन्थन और भगवान् शंकर द्वारा विषपान	३७९
८.	अमृत-कलश के साथ धन्वन्तरि का प्रादुर्भाव, लक्ष्मी का स्वयंवर और मोहिनी अवतार	३८२
९.	मोहिनी द्वारा देवताओं को अमृतपान कराना और राहु का शिरच्छेदन	३८४
१०.	देवासुर-संग्राम	३८७
११.	देवासुर-संग्राम की समाप्ति	३८९
१२.	मोहिनी के सौन्दर्य को देखकर भगवान् शिव का मोहित होना	३९१
१३.	आगामी आठ मन्वन्तरों का वर्णन	३९४
१४.	मनु आदि के पृथक्-पृथक् कर्मों का निरूपण	३९५
१५.	राजा बलि की स्वर्ग पर विजय	३९६
१६.	कश्यप द्वारा देवमाता अदिति को पयोव्रत का उपदेश	३९८
१७.	भगवान् का प्रकट होकर अदिति को वर देना	३९९
१८.	वामन भगवान् का प्रकट होकर राजा बलि की यज्ञशाला में पधारना	४०१
१९.	भगवान् वामन का बलि से तीन पग पृथिवी माँगना, बलि का वचन देना और शुक्राचार्य का निषेध	४०३
२०.	बलि के दान देने पर वामन जी का विराटरूप धारण कर दो ही पग से पृथिवी और स्वर्ग को नाप लेना	४०७
२१.	गरुड के द्वारा बलि का बन्धन	४०९
२२.	बलि की स्तुति से प्रसन्न हुए भगवान् का बलि का द्वारपाल बनना	४१०
२३.	बलि को सुतललोक और इन्द्र को स्वर्ग का आधिपत्य प्रदान करना	४१४
	१. बलि के पूर्व जन्म का वृत्तान्त	४१५
	२. नारायण की पहरेदारी से मुक्ति	४१७
२४.	भगवान् के मत्स्यावतार की कथा	४१८

नवम स्कन्ध

१.	वैवस्वत मनु के पुत्र राजा सुद्युम्न को स्त्रीत्व की प्राप्ति	४२१
२.	वैवस्वत मनु के दस पुत्रों में पाँच के वंशों का वर्णन	४२३
३.	महर्षि च्यवन और सुकन्या का चरित्र तथा राजा शर्याति का वंश	४२४
४.	नभग, नाभाग और अम्बरीष की कथा	४२६
५.	अम्बरीष की प्रार्थना पर सुदर्शन चक्र से दुर्वासा की प्राण-रक्षा	४३०
६.	इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन, मान्धाता और सौभरि ऋषि की कथा	४३२
७.	मान्धाता के वंशज राजा त्रिशङ्कु और हरिश्चन्द्र की कथा	४३४
८.	रोहित की कुल परम्परा में सगर का जन्म और कपिलदेव के अनादर से उनके पुत्रों का भस्म होना	४३६



अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
९.	भगीरथ-चरित्र और गङ्गावतरण	४३७
१०.	खट्वाङ्ग की वंश परम्परा में भगवान् श्रीराम का अवतार और उनकी लीलाओं का वर्णन	४४०
११.	भगवान् श्रीराम के द्वारा सीता का निर्वासन और चारों भाइयों के वंश का वर्णन	४४४
	रजक के पूर्व-जन्म का वृत्तान्त	४४५
१२.	इक्ष्वाकुवंश के शेष राजाओं का वर्णन	४४६
१३.	राजा निमि के वंश का वर्णन	४४६
१४.	चन्द्रवंश का वर्णन एवं पुरुरवा का उपाख्यान	४४८
१५.	ऐल-वंश में गांधि का जन्म तथा ऋचीक, जमदग्नि और परशुराम जी का चरित्र	४५०
१६.	परशुराम जी के द्वारा इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार और विश्वामित्र के वंश का कथन	४५२
१७.	पुरुरवा के ज्येष्ठ पुत्र आयु तथा अन्य पुत्रों के वंश का वर्णन	४५४
१८.	नहुष-पुत्र ययाति का चरित्र	४५५
१९.	विषय-भोग से विरक्त ययाति का गृहत्याग	४५८
२०.	पुरु के वंश, राजा दुष्यन्त और भरत के चरित्र का वर्णन	४५९
२१.	भरतवंश का वर्णन और राजा रन्तिदेव की कथा	४६१
२२.	दिवोदास के वंश का वर्णन, जरासन्ध तथा पाण्डव आदि की जन्म-कथा	४६३
२३.	ययाति के पुत्र अनु, द्रह्म, तुर्वसु और यदु के वंश का वर्णन	४६५
२४.	यदुवंशी विदर्भ आदि राजाओं के वंश का वर्णन	४६६

### दशम स्कन्ध

#### पूर्वाब्धि

१.	भगवान् के द्वारा भूमि को आश्वासन, वसुदेव-देवकी का विवाह और कंस के द्वारा देवकी के छः पुत्रों का वध	४६९
२.	देवकी के गर्भ में स्थित भगवान् की ब्रह्मादि देवों के द्वारा स्तुति	४७४
३.	भगवान् श्रीकृष्ण का प्राकट्य, उनका गोकुल के लिए प्रस्थान और वहाँ से कन्या का आगमन	४७७

#### सप्ताह के पाँचवें दिन की कथा का प्रारम्भ

४.	कंस के हाथ से छूटकर योगमाया का आकाश-गमन	४८३
५.	गोकुल में भगवान् का जन्म-महोत्सव और मथुरा में नन्द और वसुदेव का मिलन	४८५
६.	पूतना के उद्धार की कथा	४९०
७.	शकटासुर एवं तृणावर्त का उद्धार एवं यशोदा को विश्वरूप का दर्शन	४९६
८.	नामकरण-संस्कार, माखन-चोरी और मृद्भक्षण-लीला	५०१
९.	श्रीकृष्ण का ऊखल से बन्धन	५१०
१०.	यमलार्जुन का उद्धार	५१६



अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
११.	गोकुल से वृन्दावन-गमन, फल विक्रयिणी पर अनुग्रह और वत्सासुर तथा बकासुर का उद्धार	५१९
१२.	अघासुर का मोक्ष	५२५
१३.	ब्रह्माजी के द्वारा बछड़ों और ग्वालबालों का अपहरण एवं कृष्ण की, उनका रूप धारणकर वर्षपर्यन्त, क्रीड़ा	५२८
१४.	ब्रह्माजी के द्वारा भगवान् की स्तुति और अपहरण किये गये बालकों और बछड़ों का ब्रज में पुनः आना	५३३
१५.	धेनुकासुर का उद्धार और ग्वालबालों को कालिय नाग के विष से बचाना	५३८
१६.	कालिय नाग का दमन	५४२
१७.	कालिय नाग के यमुना के हृद में आने की कथा तथा भगवान् का ब्रजवासियों को दावानल से बचाना	५४६
१८.	प्रलम्बासुर का उद्धार	५४८
१९.	गायों और गोपों की दावानल से रक्षा	५५०
२०.	वर्षा और शरद् ऋतु का वर्णन	५५१
२१.	वेणुगीत	५५३
२२.	चीरहरण लीला	५५९
२३.	भोजन माँगने के बहाने यज्ञपत्तियों पर भगवान् की कृपा	५६५
२४.	इन्द्रयज्ञ का निवारण	५६९
२५.	गोकुल पर मूसलाधार वर्षा और श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण	५७१
२६.	नन्द बाबा से गोपों की कृष्ण के प्रभाव के विषय में बातचीत	५७४
२७.	इन्द्र के द्वारा श्रीकृष्ण का अभिषेक	५७५
२८.	वरुणलोक से नन्द जी को छुड़ाकर लाना और गोपों को वैकुण्ठधाम का दर्शन कराना	५७७

रासपञ्चाध्यायी प्रारम्भ

२९.	वंशी बजाकर गोपियों का आह्वान और उनके साथ रास-विहार का आरम्भ	५७९
३०.	श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों का वन-वन में भटकना	५८५
३१.	गोपी-गीत	५८८
३२.	भगवान् का प्रकट होकर गोपियों को सात्वना प्रदान करना	५९१
३३.	महारास अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ मल्ल-युद्ध में काम की पराजय	५९३
३४.	शङ्खचूड एवं सुदर्शन का उद्धार	५९८
३५.	युगलगीत	६००
३६.	अरिष्टासुर का उद्धार और कंस का अक्रूरजी को ब्रज जाने का आदेश देना	६०१
३७.	केशी और व्योमासुर का उद्धार तथा नारद द्वारा भगवान् की स्तुति	६०४
३८.	अक्रूर जी का गोकुल-गमन	६०५



अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
३९.	श्रीकृष्ण और बलराम का मथुरा के लिए प्रस्थान और गोपियों का विलाप	६०८
४०.	अक्रूर जी के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति	६१२
४१.	श्रीकृष्ण का मथुरा में प्रवेश, रजकवध, दर्जी और माली पर अनुग्रह	६१३
४२.	कुब्जा पर भगवान् की कृपा, धनुष-भङ्ग तथा दुःस्वप्न-दर्शन से कंस का भयभीत होना	६१८
४३.	कुवलयापीड का उद्धार कर कृष्ण और बलराम का अखाड़े में प्रवेश	६२१
४४.	चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लों के साथ कंस का उद्धार	६२३
४५.	श्रीकृष्ण और बलराम का यज्ञोपवीत-संस्कार और उनका गुरुकुल में विद्याध्ययन	६२७
४६.	श्रीकृष्ण का संदेश लेकर उद्धव जी की व्रजयात्रा	६३०
४७.	उद्धव तथा गोपियों का वार्तालाप और प्रमरगीत	६३५
४८.	भगवान् का कुब्जा और अक्रूरजी के घर जाना और अक्रूरजी को हस्तिनापुर गमन का आदेश	६४१
४९.	अक्रूर का हस्तिनापुर गमन और वहाँ से लौटकर भगवान् को पाण्डवों का समाचार देना	६४४

### दशमस्कन्ध

#### उत्तरार्ध

५०.	श्रीकृष्ण का जरासन्ध से भ्रांषण युद्ध और दुर्ग के रूप में द्वारकापुरी का निर्माण	६४६
५१.	मुचुकुन्द के देखने में अयवन का भस्म होना और उनके द्वारा भगवान् की स्तुति	६५०
५२.	भगवान् का 'द्वारकागमन', श्रीबलरामजी का विवाह तथा श्रीकृष्ण के पास रुक्मिणी का संदेश लेकर ब्राह्मण का आगमन	६५२
५३.	श्रीकृष्ण जी के द्वारा रुक्मिणी जी का हरण	६५५
५४.	युद्ध में शिशुपाल के साथी राजाओं की पराजय तथा श्रीकृष्ण-रुक्मिणी विवाह	६५८

#### सप्ताह के छठवे दिन की कथा का प्रारम्भ

५५.	प्रद्युम्न का जन्म और शम्बरासुर का वध	६६१
५६.	स्यमन्तकमणि की कथा, जाम्बवती और सत्यभामा के साथ श्रीकृष्ण का विवाह	६६२
५७.	स्यमन्तक-हरण, शतधन्वा का वध और भागे हुए अक्रूर को पुनः द्वारिका बुलाना	६६५
५८.	भगवान् कृष्ण का कालिन्दी आदि पाँच कन्याओं से विवाह	६६९
५९.	भौमासुर का वध, सोलह हजार एक सौ राजकन्याओं के साथ भगवान् का विवाह	६७१
६०.	परिहास से भयभीत एवं कुपित रुक्मिणी जी को भगवान् के द्वारा सान्त्वना प्रदान करना	६७४
६१.	भगवान् की सन्ततियों का वर्णन तथा अनिरुद्ध के विवाह में रुक्मी का वध	६७७
६२.	ऊषा-अनिरुद्ध-मिलन	६७९
६३.	श्रीकृष्ण का शोणितपुर पर आक्रमण और बाणासुर के साथ युद्ध	६८१
६४.	प्रमवश ब्राह्मण का धन ग्रहण करने से राजा नृग को गिरगिट-योनि की प्राप्ति और पुनः उनका उद्धार	६८३



अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
६५.	श्री बलराम जी का व्रज-गमन और क्रीडार्थ यमुना का आकर्षण	६८६
६६.	पौण्ड्रक-वध, कृत्या से सुदक्षिण का नाश और सुदर्शन चक्र से काशीपुरी का दहन	६८७
६७.	बलराम जी के द्वारा द्विविद वानर का वध	६८९
६८.	कौरवों पर बलराम जी का कोप और साम्ब का विवाह	६९०
६९.	देवर्षि नारद जी का भगवान् की गृहचर्या देखना	६९२
७०.	भगवान् श्रीकृष्ण की दैनिक-चर्या, उनके पास जरासन्ध द्वारा कैदी राजाओं के दूत तथा युधिष्ठिर के संदेश को लेकर नारद का आना	६९४
७१.	श्रीकृष्ण भगवान् का इन्द्रप्रस्थ पधारना	६९६
७२.	पाण्डवों की दिग्विजय के प्रसंग में भीम द्वारा मगधाधिप जरासन्ध का वध	६९७
७३.	जरासन्ध की जेल से मुक्त हुए राजाओं की विदाई और भगवान् का इन्द्रप्रस्थ लौट आना	७०१
७४.	भगवान् की अग्र पूजा और शिशुपाल का वध	७०२
७५.	राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर युधिष्ठिर का अवभृथ-स्नान और दुर्योधन का अपमान	७०५
७६.	शाल्व के साथ यादववीरों का युद्ध	७०६
७७.	श्रीकृष्ण द्वारा मायावी शाल्व का वध	७०८
७८.	श्रीकृष्ण द्वारा दन्त्रवक्त्र और विदूरथ का वध तथा तीर्थयात्रा के लिए निकले बलराम जी के हाथ से सूत जी का वध	७०९
७९.	बल्लल का वध और बलराम जी का तीर्थाटन	७१२
८०.	श्रीकृष्ण के द्वारा सखा सुदामा जी का स्वागत	७१३
८१.	सुदामा जी को ऐश्वर्य की प्राप्ति	७१७
८२.	सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम से गोप-गोपियों की भेंट	७१९
८३.	भगवान् की पटरानियों के द्वारा द्रौपदी से अपने-अपने विवाह की घटना का वर्णन	७२२
८४.	वसुदेव जी का यज्ञमहोत्सव	७२४
८५.	श्रीभगवान् के द्वारा वसुदेव जी को ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश तथा देवकी के छः मृत पुत्रों को लौटा लाना	७२६
८६.	अर्जुन के द्वारा सुभद्रा का हरण तथा भगवान् का जनकपुरी में राजा जनक और श्रुतदेव ब्राह्मण के घर एक ही साथ जाना	७२९
८७.	वेद-स्तुति, वेदों के द्वारा ब्रह्म श्रीकृष्ण की स्तुति	७३२
८८.	शिवजी का सङ्कट-मोचन, भस्मासुर की कथा	७३४
८९.	महर्षि भृगु के द्वारा त्रिदेवों की परीक्षा तथा भगवान् का मरे हुए ब्राह्मण बालकों को वापस लाना	७३६
९०.	द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण के लीला-विहार का वर्णन	७४०

एकादश स्कन्ध

१.	यदुवंश को ऋषियों का शाप	७४४
----	-------------------------	-----



अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
२.	वसुदेव जी के पास नारद का आगमन और राजा जनक तथा नौ योगीश्वरों का संवाद सुनाना	७४६
३.	माया, माया से पार होने के उपाय तथा ब्रह्म और कर्म-योग का निरूपण	७४९
४.	भगवान् के कतिपय मनोरम अवतारों का वर्णन	७५३
५.	भक्तिहीन पुरुषों की गति और भगवान् की पूजा-विधि का वर्णन	७५४
६.	देवताओं की भगवान् से स्वधाम सिधारने के लिए प्रार्थना तथा यादवों को प्रभास क्षेत्र जाने की तैयारी करते देखकर उद्धव का भगवान् के पास आना	७५८
७.	अवधूतोपाख्यान-पृथिवी से लेकर कबूतर तक आठ गुरुओं की कथा	७६१
८.	अवधूतोपाख्यान-अजगर से लेकर पिङ्गलातक नौ गुरुओं की कथा	७६४
९.	अवधूतोपाख्यान-कुरर से लेकर भृङ्गी तक सात गुरुओं की कथा	७६७
१०.	लौकिक तथा पारलौकिक भोगों की असारता का निरूपण	७६९
११.	बद्ध, मुक्त और भक्त-जनों के लक्षण	७७१
१२.	सत्सङ्ग की महिमा और कर्म तथा कर्मत्याग की विधि	७७४
१३.	हंसरूप से सनकादि को दिये हुए उपदेश का वर्णन	७७७
<b>सप्ताह के सातवें दिन की कथा का प्रारम्भ</b>		
१४.	भक्तियोग की महिमा तथा ध्यान-विधि का वर्णन	७८०
१५.	भिन्न-भिन्न सिद्धियों का वर्णन	७८२
१६.	भगवान् की दिव्य विभूतियों का वर्णन	७८३
१७.	वर्ण-आश्रम-धर्म का निरूपण	७८४
१८.	वानप्रस्थ और संन्यासी के धर्म	७८७
१९.	भक्ति, ज्ञान और यम-नियमादि साधनों का संक्षिप्त वर्णन	७८९
२०.	ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग	७९१
२१.	देश, काल आदि के अनुसार कामी पुरुषों के गुण-दोषों का विवेचन	७९३
२२.	तत्त्वों की संख्याओं का विरोध-परिहार और प्रकृति-पुरुष-विवेक	७९५
२३.	अपमान सहन करने में एक सहनशील ब्राह्मण का इतिहास	७९८
२४.	मनोभ्रम का सांख्य-योग द्वारा निवारण	८०१
२५.	तीनों गुणों की वृत्तियों पर विजय के उपाय	८०२
२६.	पुरूरवा की वैराग्यपूर्ण उक्ति (ऐल-गीत)	८०४
२७.	क्रिया-योग का वर्णन	८०६
२८.	परमार्थ-निरूपण	८०७
२९.	भक्ति का पुनः निरूपण और उद्धव का बदरिकाश्रम-गमन	७१०
३०.	यदुकुल-संहार	८१३
३१.	भूतल-लीला का संवरण क भगवान् श्रीकृष्ण का सशरीर गोलोक-गमन	८१५



द्वादश स्कन्ध

१.	कलियुग के राजाओं का वर्णन	८१६
२.	कलियुग के दोषों का वर्णन, भगवान् का कल्कि के रूप में अवतार तथा सत्ययुग का आगमन	८१८
३.	राज्य, युगधर्म और कलियुग के दोषों से बचने का उपाय—नाम-सङ्कीर्तन	८२०
४.	चार प्रकार के प्रलयों का वर्णन	८२२
५.	श्रीशुकदेव जी का अन्तिम हितोपदेश	८२४
६.	शुकदेव जी का प्रस्थान, राजा परीक्षित की मुक्ति, जनमेजय का सर्प-यज्ञ और वेदों के शाखा-भेद	८२५
७.	पुराणों का विभाजन तथा उनके लक्षण	८२८
८.	मार्कण्डेय जी की तपस्या और वर-प्राप्ति	८२८
९.	मार्कण्डेय जी द्वारा माया और मायापति का दर्शन	८२९
१०.	मार्कण्डेय मुनि को भगवान् शंकर का वरदान	८३१
११.	भगवान् के अङ्ग-उपाङ्ग और आयुधों का रहस्य तथा सूर्य के व्यूह का वर्णन	८३२
१२.	श्रीमद्भागवत् की संक्षिप्त विषय-सूची	८३३
१३.	विभिन्न पुराणों की श्लोक-संख्या और भागवत-दान की महिमा	८३५
	श्रीमद्भागवत-हृदय-कर्तुः का परिचय	८३८



## सप्ताह-पारायण के विश्राम-स्थान

दिन	पृष्ठ संख्या
प्रथम दिन	२५-१३५
द्वितीय दिन	१३६-२४२
तृतीय दिन	२४३-३६६
चतुर्थ दिन	३६७-४८२
पञ्चम दिन	४८३-६६०
षष्ठ दिन	६६१-७७८
सप्तम	७७९-८३७

सप्ताहे पाठनियमं शृणु शौनक संयतः ।  
 मनुकर्दमसंवादपर्यन्तं प्रथमेऽहनि ॥१॥  
 ऋषभाख्यानपर्यन्तं द्वितीये दिवसे वदेत् ।  
 तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम् ॥२॥  
 कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थेऽहनि वाचयेद् ।  
 रुक्मिण्युद्वाहपर्यन्तं पञ्चमेऽहनि वदेत् सुधीः ॥३॥  
 श्रीहंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽहनि वाचयेद् ध्रुवम् ।  
 सप्तमे दिवसे कुर्याच्छ्रीभागवतपूरणम् ॥४॥  
 मासश्रवणपक्षे तु नित्यमध्यायधूर्जटिम् ।  
 पञ्चाध्यायीं पठेद् विद्वान् समाप्तिदिवसेऽन्तिमाम् ॥५॥  
 पाठं कुर्वन्न विरमेद् यावदध्यायपूरणम् ।  
 विरामे च तदध्यायं पुनरादित आरभेत् ॥६॥  
 स्कन्धस्याद्यन्तिशमश्लोकौ द्विरावृत्त्या सदा पठेत् ।  
 पाठं शनैः शनैः कुर्याच्छ्रोतृहर्षविवर्धनम् ॥७॥



॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

## श्रीमद्भागवत-माहात्म्य

### पहला अध्याय

( देवर्षि नारदजी का भक्ति से वार्तालाप )

सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे । तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नमः ॥१॥

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के कारण तथा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों प्रकार के तापों को विनष्ट करने वाले, सत्, चित् एवम् आनन्द स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को हम प्रणाम करते हैं ॥१॥

यं प्रब्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।

पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥२॥

श्रीशुकदेव जी माँ के गर्भ से निकले । अभी उनका यज्ञोपवीत संस्कार भी नहीं हुआ था । यज्ञोपवीत न होने से उन्हें लौकिक-वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अवसर भी नहीं मिला था । तभी वे संन्यासी की मुद्रा में, सब मोह-माया छोड़कर, वन के लिये निकल पड़े । पिता व्यासजी ने यह देखा । अतः विरह से व्याकुल होकर—‘बेटा, बेटा’ रूको-रूको, तुम कहाँ जा रहे हो ?—यह कहते हुए वे शुकदेव जी के पीछे-पीछे दौड़े । उस समय वृक्षों ने, पर्वतों ने तन्मय होने के कारण श्री शुकदेव जी की ओर से उत्तर दिया था । ऐसे, सभी प्राणियों के हृदय में विराजमान श्री शुकदेव मुनि को मैं प्रणाम कर रहा हूँ ॥२॥

हृदय—श्रीशुकदेव जी माता के पेट में बारह वर्ष तक रहे । वहाँ से वे निकलते ही नहीं थे । व्यास ने कहा—“पुत्र, तुम्हारी माता को कष्ट हो रहा है, अतः बाहर निकलो” । शुकदेव जी ने गर्भ में से ही उत्तर दिया—“महाराज, हम यहाँ बड़े सुखी हैं । मुझे भगवत्तत्त्व का ज्ञान है अतः मायामोह कुछ भी नहीं व्याप रहा है । यद्यपि गर्भवास कष्टकर होता है । तो भी बाहर निकलने में माया-मोह लग जायेगा । यहाँ मैं माया-मोह से मुक्त हूँ । गर्भवास का कुछ कष्ट अवश्य है । किन्तु माया-मोह से विमुक्त रहने के कारण यहाँ सुखी हूँ । अतः मैं यहीं रहूँगा, निकलूँगा नहीं ।”

इस पर व्यासजी ने उन्हें आश्वासन दिलाया—“नहीं, नहीं आओ । पुत्र तुम आओ । तुम्हें यहाँ माया-मोह नहीं लगेगा” ।

पिता के बार-बार मनाने पर गर्भ से बाहर आ तो गये, किन्तु जन्म लेते ही सब को छोड़कर जंगल की ओर चल पड़े । व्यासजी की प्रबल लालसा थी । बेटा होगा । खेलाऊँगा । दुलारूँगा । पढ़ाऊँगा । परन्तु निराश हो गये । विरह-वेदना से पीड़ित होकर पुत्र के पीछे-पीछे चलने लगे । पुत्र-पुत्र पुकारने लगे । ‘पुत्र-पुत्र’ कहते ही वहाँ के वृक्षों से भी प्रतिध्वनि के रूप में पुत्र-पुत्र की आवाज आने लगी । विन्ध्याचल में, अष्टभुजा के पास सीता-कुण्ड के नीचे खड़े होकर कहो—‘दुर्गे, प्रतिध्वनि होगी दुर्गे । ऐसे ही व्यासजी पुत्र-पुत्र कहते थे, पर्वतों और वृक्षों से पुत्र-पुत्र की प्रतिध्वनि आती थी । कहते हैं—यह प्रतिध्वनि नहीं थी । प्रतिध्वनि के बहाने से यह तथ्य प्रमाणित होता था कि श्री शुकदेवजी सब के अन्तरात्मा हैं । शुकदेव जी ब्रह्मज्ञानी थे । ब्रह्मज्ञानी सबका अन्तरात्मा होता है । शुकदेव जी वृक्षों के भी अन्तरात्मा हो गये थे । पर्वतों के भी अन्तरात्मा बन गये थे । वृक्षों पर्वतों के अन्तरात्मा होकर शुकदेव जी स्वयं अपने पिता जी को कहते थे—“पुत्र !” अर्थात् पिता जी, पिता-पुत्र का यह सम्बन्ध तात्त्विक नहीं है, सच्चा नहीं है । कभी मैं आप का पुत्र था तो कभी आप मेरे पुत्र होते आये हैं, इस दृष्टि से आप भी मेरे पुत्र हैं । कहने का



अभिप्राय यह है कि तत्-तत् वृक्षों का अन्तरात्मा होकर 'पुत्र' ऐसी प्रतिध्वनि के बहाने से शुकदेव ने अपने पिता जी को तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया ॥१॥

एक समय महान् बुद्धिमान श्री सूत जी नैमिषारण्य में विराजमान थे । उन्हें वहाँ उपस्थित देखकर भगवत्कथारूपी अमृतरस के आस्वादन में कुशल मुनिवर शौनक जी ने प्रणाम कर, पूछा—

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम् । कथामृतरसास्वादकुशलः शौनकोऽब्रवीत् ॥ १/३

सूत जी, आप अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने में करोड़ों सूर्यों के समान हैं । आप हमारे कानों को प्रिय लगने वाली, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को बढ़ानेवाली, माया के फन्दे को काटनेवाली एवं विवेक का उदय कराने वाली सारगर्भित कथा सुनाने की कृपा करें । वैष्णव लोग किस प्रकार माया-मोह से अपना पीछा छुड़ाते हैं—यह भी बतलावें—

अज्ञानध्वान्तिध्वंसकोटिसूर्यसमप्रभ । सूताख्याहि कथासारं मम कर्णरसायनम् ॥

भक्ति-ज्ञान-विरागाप्तो विवेको वर्धते महान् । माया-मोह-निरासश्च वैष्णवैः क्रियते कथम् ॥

१/४-५

इस घोर कलिकाल में जीव प्रायः आसुरी स्वभाव के हो गये हैं । अनेक प्रकार से पीड़ित इन जीवों को शुद्ध, दैवी शक्ति से सम्पन्न बनाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय क्या है ? संसार में भगवान् को प्राप्त करने का जो उत्तम साधन हो उसे कृपा कर आप हमें बतलाइये । चिन्तामणि से केवल लौकिक सुख की प्राप्ति होती है । कल्पवृक्ष स्वर्गीय सम्पत्ति मात्र प्रदान कर सकता है । किन्तु गुरुदेव प्रसन्न होकर भगवान् का परम दुर्लभ वैकुण्ठधाम दे देते हैं ।

सूत जी ने कहा—शौनक जी, आप के हृदय में भगवान् के प्रति प्रेम है, श्रद्धा है । इसलिये मैं विचारकर आप को सम्पूर्ण सिद्धान्तों का सार सुनाता हूँ, जो प्राणी के जन्म-मृत्यु का नाश कर देता है—

प्रीतिः शौनक चित्ते ते ह्यतो वच्मि विचार्य च । सर्वसिद्धान्तनिष्पन्नं संसारभयनाशनम् ॥

१/९

जो भक्ति-रूपी गङ्गा को बढ़ाने वाला तथा कृष्ण की प्रसन्नता का कारण है, वही उपाय मैं आपको बतला रहा हूँ । आप सावधान होकर इसका श्रवण करें । कलियुग के लोगों को कालरूपी महासर्प के भय से बचने के लिये श्री शुकदेव जी ने श्रीमद्भागवत का प्रवचन किया है । अतः मनको पवित्र बनाने के लिये इससे बड़ा साधन दूसरा नहीं है । पूर्वजन्म का पुण्य-पुञ्ज जब उदित होता है, तभी भागवत के श्रवण का सौभाग्य व्यक्ति को प्राप्त होता है । भागवत-कथा अमृत से भी बढ़ कर कल्याणकारिणी है । जब शुकदेव महाराज परीक्षित जी को भागवत-कथा का रसपान कराने व्यास-गद्दी पर बैठे तब अपना स्वार्थ सिद्ध करने में निपुण देवता लोग अमृत का कलश लेकर उनके पास आये और बोले—शुकदेव महाराज, आपको हम प्रणाम करते हैं । आप अमृत का यह कलश लेकर राजा को पिला दीजिये और इसके बदले में हमें कथामृत का दान कर दीजिये, जिससे कथामृत का पानकर हम भी कृतार्थ हो जायें ।

शुकं नत्वावदन् सर्वे स्वकार्यकुशलाः सुराः । कथासुधां प्रयच्छस्व गृहीत्वैव सुधामिमाम् ॥

एवं विनिमये जाते सुधा राज्ञा प्रीयताम् । प्रपास्यामो वयं सर्वे श्रीमद्भागवतामृतम् ॥

१/१४-१५

देवताओं की बात सुनकर शुकदेव जी को हँसी आ गई । उन्होंने सोचा कहाँ काँच और कहाँ बहुमूल्य मणि ? कहाँ सुधा और कहाँ श्रीमद्भागवत की कथा ? दोनों में पसेरी प्रसंगे का अन्तर है । देवताओं को भक्ति-शून्य जानकर श्रीशुकदेवजी ने उन्हें कथामृत का दान नहीं किया । इस प्रकार यह श्रीमद्भागवत की कथा देवताओं को भी दुर्लभ है ।



भागवत-कथा के श्रवण से राजा परीक्षित को मुक्ति मिली। यह देखकर ब्रह्मा जी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सत्यलोक में तराजू बाँधकर सब साधनों को तौलना प्रारम्भ किया। किन्तु श्रीमद्भागवत के समक्ष सारे साधन हल्के पड़ गये। अपने महत्त्व के कारण श्रीमद्भागवत ही सबसे भारी रहा। यह देख कर सारे ऋषि-गण भी आश्चर्य से चकित हो उठे। उन्होंने सोचा कि कलियुग में भगवद्रूप भागवत-शास्त्र के पठन-श्रवण से सद्यः मुक्ति की उपलब्धि होती है। देवर्षि नारद ने पहले ब्रह्माजी से इसका श्रवण किया था। किन्तु इसके सप्ताह-श्रवण की विधि तो उन्होंने सनकादि महर्षियों से ही सुनी थी।

सूत जी की बात को सुनकर शौनक जी ने पूछा—नारदजी सांसारिक प्रपञ्च से मुक्त हैं। वे स्थिर होकर एक स्थान पर रहते भी नहीं हैं। इधर-उधर घूमते ही रहते हैं\*। ऐसी स्थिति में उन्हें सप्ताह-विधि के सुनने का अवसर कैसे मिला ? और उनका सनकादि के साथ संयोग कहाँ हुआ ?

इस पर सूत जी ने कहा—मुझे मेरे गुरु शुक्रदेव जी ने बतलाया था कि एक समय सनकादि चारों महर्षि सत्सङ्ग के लिये बदरिकाश्रम में पधारे। वहाँ उन लोगों ने नारद जी को देखा। नारद जी का चित्त व्यग्र था अतः उन लोगों ने नारद जी से पूछा—ब्रह्मन्, आपका मुख उदास क्यों है ? आपकी चिन्ता का कारण क्या है ? बहुत जल्दी-जल्दी में कहाँ जा रहे हैं ? और आपका आगमन कहाँ से हो रहा है ? इस समय आप उस पुरुष के समान व्याकुल प्रतीत हो रहे हैं, जिसका सारा धन लुट गया हो। आप आसक्ति से रहित हैं अतः आपके लिये यह स्थिति उचित नहीं है। आप अपनी इस उदासी का कारण बतलाइये।

नारदजी ने कहा—मैं कर्मक्षेत्र होने के कारण पृथिवी को सर्वोत्तम लोक समझकर यहाँ आया था। यहाँ आकर शान्ति की खोज में पुष्कर, प्रयाग, काशी, गोदावरी, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र आदि कई तीर्थों में इधर-उधर विचरता रहा किन्तु मुझे कहीं भी मन को सन्तोष देनेवाली शान्ति नहीं मिली। इस समय अधर्म के मित्र कलियुग ने सारी पृथ्वी को पीड़ित कर रक्खा है। अब इस भूतल पर सत्य, तप, शौच, दया, दान आदि कुछ भी नहीं है। बेचारे सारे प्राणी किसी-किसी प्रकार अपना पेट पालने में लगे हुए हैं। वे असत्यभाषी, आलसी, मन्दबुद्धि, भाग्यहीन और उपद्रवग्रस्त हो गये हैं। साधु-सन्त पाखण्डी बन गये हैं। विरक्त लोग अपनी कुटिया में स्त्री-धन आदि विलासिता की सामग्रियों का संग्रह करते हैं। घरों में स्त्रियों का राज्य है, साले मन्त्रदाता बन बैठे हैं। लोभवश लोग कन्याओं का विक्रय करते हैं। पति-पत्नी में कलह मचा रहता है—

तरुणीप्रभुता गोहे श्यालको बुद्धिदायकः ।

कन्याविक्रयिणो लोभाद्विपत्तीनां च कल्कनम् ॥१३३॥

महात्माओं के आश्रम, तीर्थ और पवित्र नदियों पर यवनों (विधर्मियों) का अधिकार हो गया है। उन दुष्टों ने बहुत से देवालयों को भी नष्ट कर दिया है। इस समय भ्रूमण्डल पर न कोई योगी है, न सिद्ध है, न ज्ञानी है और न सत्कर्मकर्ता ही है। सारे-के-सारे साधन इस समय कलिरूप दावानल से जलकर भस्म हो गये हैं—“कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गतम्” ॥३५॥

इस कलियुग के दोषों को देखकर घूमते हुए मैं यमुना जी के तट पर पहुँचा। यह वही यमुना का तट है, जहाँ कभी भगवान् श्री कृष्ण ने अपनी लीलाएँ की थीं। वहाँ मैंने एक महान् आश्चर्य देखा। मुनिवरों, आप उसे सुनें—

१. दक्ष के पुत्रों को नारदजी ने ज्ञान का मार्ग दिखाकर उन्हें निवृत्ति-परायण कर दिया था। इस पर क्रुद्ध होकर दक्ष ने नारद को शाप दे दिया कि—जाओ, आज से तुम सर्वदा भ्रमण ही करते रहोगे। तुम्हारे पैर एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकेंगे।



वहाँ एक तरुणी बैठी हुई थी, उसका मन खिन्न था। उसके पास में दो वृद्ध पुरुष अचेत अवस्था में लेटे हुए थे। उनकी साँसें जोर-जोर से चल रही थीं। वह तरुणी उनकी सेवा करती हुई उन्हें होश में लाने का प्रयास कर रही थी। कभी-कभी वह उनके आगे रोने भी लगती थी। उसकी दृष्टि चारों ओर घूमकर अपने रक्षक को खोज रही थी। सैकड़ों स्त्रियाँ उसे पंखा झल रही थी और बार-बार समझा भी रही थी। मैंने दूर से उसे देखा। मेरे मन में कौतूहल उत्पन्न हुआ अतः जानने की इच्छा से मैं उसके पास चला गया। मुझे देखकर वह युवती खड़ी हो गई और बड़ी व्याकुल होकर कहने लगी—महात्मा जी, आप क्षण भर ठहरें। मेरी चिन्ता भी दूर करते जाइये। आप का दर्शन तो संसार के सारे पापों का विनाशक है। आपके वचनों से मेरे भी दुःख दूर हो जायेंगे। मनुष्यों के महान् भाग्य का जब उदय होता है तब आपका दर्शन होता है।

नारद ने पूछा—देवि, तुम कौन हो ? ये दोनों वृद्ध पुरुष कौन हैं ? और ये स्त्रियाँ कौन हैं ? तुम्हारे दुःख का कारण क्या है ? मुझे विस्तारपूर्वक बतलाओ।

नारद के प्रश्नों को सुनकर तरुणी ने कहा—मुनिवर, मेरा नाम भक्ति है। ये दोनों पुरुष ज्ञान और वैराग्य नामक मेरे पुत्र हैं। समय के फेर से ये ऐसे जर्जर हो गये हैं। ये स्त्रियाँ गङ्गा आदि नदियाँ हैं, जो मेरी सेवा में उपस्थित हैं। इनके द्वारा सेवित होने पर भी मुझे सुख-शान्ति नहीं मिल रही है। तपोधन, अब ध्यान देकर मेरा वृत्तान्त सुनिये। मैं द्रविड देश में पैदा हुई। कर्णाटक में बड़ी। कहीं-कहीं महाराष्ट्र में भी मुझे सम्मान मिला। किन्तु गुजरात में पहुँचते ही मुझे बुढ़ापा ने आ घेरा। वहाँ घोर कलियुग के प्रभाव से पाखण्डियों ने मुझे अङ्ग-भङ्ग कर दिया। चिर काल तक यह अवस्था रहने के कारण मैं पुत्रों के साथ दुर्बल और निस्तेज हो गई। परन्तु यहाँ आने पर वृन्दावन के प्रभाव से मैं तो तरुणी हो गई। किन्तु मेरे इन पुत्रों का वृद्धत्व नहीं गया। अब यह स्थान छोड़कर मैं अन्यत्र जाना चाहती हूँ। ये दोनों बूढ़े हो गये हैं—इसी दुःख से मैं दुःखी हो रही हूँ। मैं कैसे तरुणी हो गई और मेरे ये दोनों बेटे बूढ़े ही क्यों रह गये ? हम तीनों साथ-साथ रहने वाले हैं फिर यह उल्टी बात कैसे हो गई ? होना तो यह चाहिये कि माता बूढ़ी हो और पुत्र तरुण। संसार में यही देखा जाता है।

घटते जरठा माता तरुणौ तनयाविति ॥५३

आप योगनिधि हैं। आपको सब ज्ञात है अतः इसका क्या कारण हो सकता है, बतलाइये। भक्ति की शङ्का को सुनकर नारद जी ने कहा—मैं आँख बन्दकर अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा तुम्हारे दुःख के कारण को जानने का प्रयास कर रहा हूँ। तुम दुःखी मत बनो, भगवान् श्रीहरि तुम्हारा कल्याण करेंगे।

सूत जी ने कहा—शौनक आदि ऋषियों, मुनिवर, नारद जी ने एक क्षण में ही इसका कारण जानकर कहा—देवि, सावधान होकर सुनो। यह महाभयंकर कलियुग आ गया है इसी के प्रभाव से सदाचार, योगमार्ग और तप आदि सभी लुप्त हो गये हैं। लोग शठता और दुष्कर्म में लग कर अघासुर बन गये हैं। संसार में सर्वत्र सज्जन दुःखी और असज्जन सुखी हो रहे हैं। आज न कोई भक्ति कर रहा है और न ज्ञान-वैराग्य की ही बात सोच रहा है। यही कारण है कि तुम और तुम्हारे बेटे—दोनों ही जर्जर हो गये हैं। वृन्दावन के संयोग से तुम फिर नवीन तरुणी हो गई अतः यह वृन्दावन धन्य है, जहाँ भक्ति सर्वत्र नृत्य कर रही है—

वृन्दावनस्य संयोगात् पुनस्त्वं तरुणी नवा। धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च ॥१/६१  
किन्तु तुम्हारे पुत्रों—ज्ञान-वैराग्य—का यहाँ कोई ग्राहक नहीं है इसलिये इनका बुढ़ापा नहीं छूट रहा है। यहाँ इन्हें कुछ आत्म-सुख की अनुभूति हुई है अतः ये सोते से जान पड़ रहे हैं।

भक्ति ने कहा—राजा परीक्षित ने इस पापी कलियुग को क्यों रहने दिया ? इसी के कारण सब कुछ निःसार हो गया है। करुणामय भगवान् श्रीहरि भी अधर्म को कैसे देख पा रहे हैं ?



नारद जी ने कहा—बाले, यदि तुमने पूछा है तो प्रेम से सुनो । इससे तुम्हें परम शान्ति मिलेगी । जिस दिन भगवान् श्रीकृष्ण इस भूतल को छोड़कर अपने परमधाम को गये, उसी दिन से अनर्थ का कारण यह कलियुग आ गया । महाराज परीक्षित् दिग्विजय कर रहे थे । उस समय उनकी दृष्टि कलियुग पर पड़ी । कलियुग भय के मारे उनके चरणों पर गिर पड़ा । राजा भ्रमर के समान सारग्राही थे । उन्होंने सोचा कि मुझे इसका वध नहीं करना चाहिये क्योंकि जो फल तपस्या, योग और समाधि से भी नहीं मिलता, वही फल कलियुग में श्रीहरि के नाम-कीर्तन से प्राप्त होता है<sup>१</sup>—

न मया मारणीयोऽयं सारङ्ग इव सारभुक् ।।

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना । तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात् ।। १/६७-६८

कलियुग की इसी विशेषता के कारण, इस युग के प्राणियों के सुख के लिये, परीक्षित् ने उसे रहने दिया । यद्यपि उसने तप, तीर्थ, ध्यान और कथा आदि सारे सत्कर्मों के सार को खींच लिया है । पृथिवी के सारे पदार्थ बीज-विहीन भूमी के समान हो गये हैं । ब्राह्मण लोग धन के लोभ से घर-घर एवं जन-जन को भागवत की कथा सुनाने लगे हैं, इसलिये कथा का सार चला गया । तीर्थों में बड़े-बड़े नास्तिक और पापी प्राणी डेरा डालकर बैठ गये हैं । इसलिये तीर्थों का महात्म्य समाप्त हो गया—

विप्रैर्भागवती वार्ता गेहे गेहे जने जने । कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः ।।

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः । तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः ।।

१/७१-७२

बड़े-बड़े कामी, क्रोधी तथा लोभी आदि व्यक्ति तपस्या का ढोंग रचते हैं । अतः तपस्या का सार भी समाप्त हो गया । मन को वश में बिना किये, शास्त्र का अभ्यास न करनेवाले व्यक्ति ध्यान लगाने का बहाना करते हैं । अतः ध्यान भी महत्त्वहीन हो गया । पण्डितों की यह दशा है कि वे अपनी स्त्रियों के साथ भैंसों की तरह रमण करते हैं । बच्चे पैदा करने में वे बड़े निपुण हैं, किन्तु मुक्ति के साधन में वे सर्वथा अकुशल ही बनें रहते हैं—

पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव । पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने ।। १/७५

यह तो इस युग का स्वभाव ही है । इसमें किसी का दोष नहीं । इसी से भगवान् यह सब बर्दास्त कर रहे हैं ।

सूत जी ने कहा—इस प्रकार नारद के वचन को सुन कर भक्ति को महान् आश्चर्य हुआ । उसने महर्षि नारद से कहा—मुनिवर, आप धन्य हैं । यह मेरा सौभाग्य है कि आप यहाँ पधारे । सचमुच इस संसार में साधुओं का दर्शन सारी सिद्धियों का मूल है । आपके केवल एक बार के उपदेश से ही कयाधु का बेटा प्रह्लाद माया को पार कर गया । ध्रुव ने भी आप की कृपा के फलस्वरूप ही ध्रुव-पद प्राप्त किया है । आप सारे मङ्गलों की खान हैं और साक्षात् ब्रह्मा जी के बेटे हैं । मैं आप को प्रणाम कर रही हूँ—

जयति जगति मायां यस्य कायाध्वस्ते वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य ।

ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतास्मि ।। १/८०

॥ पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्य का यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १॥



१. कलियुग सम नहीं आन युग, जौ नर कर विश्वास । गाई राम गुनगन विमल, भवतर विनति प्रयास ॥

रामचरित मानस, उ.का. १०३ क



## दूसरा अध्याय

( भक्ति का दुःख दूर करने के लिये नारद जी का उद्योग )

नारद जी ने कहा—बाले, तुम व्यर्थ में खिन्न हो रही हो। तुम्हें चिन्तित होने का कोई कारण नहीं है। तुम भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमल का स्मरण करो। इसी से तुम्हारे सारे दुःख समाप्त हो जायेंगे—

वृथा खेदयसे बाले अहो चिन्तातुरा कथम् । श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर दुःखं गमिष्यति ॥२/१

जिन्होंने कौरवों के अत्यचार से द्रौपदी की रक्षा की थी और गोपियों को सनाथ किया था, वे श्रीकृष्ण कहीं चले नहीं गये हैं। फिर तुम तो उनकी प्राण-प्रिया भक्ति हो। तुम्हारे बुलाने पर वे नीचों के घरों में भी चले जाते हैं—

त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका । त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि ॥२/३

सतयुग, त्रेता और द्वापर—इन तीनों युगों में ज्ञान एवं वैराग्य मुक्ति के मुख्य साधन थे; किन्तु कलियुग में तो एकमात्र भक्ति ही मोक्ष प्राप्त करानेवाली है। यही कारण है कि तुम भगवान् श्रीकृष्ण की परमप्रिया हो। कभी तुमने भगवान् से पूछा था कि—“मैं क्या करूँ ?” इस पर उन्होंने तुमसे कहा था कि मेरे प्यारे भक्तों का भरण-पोषण करो। इसीलिये उन्होंने तुम्हें यहाँ भेजा है। वस्तुतः तुम तो अपने असली रूप से वैकुण्ठ में निवास करती हो, यहाँ तो तुम्हारी छाया है। भगवान् के आदेश को तुमने अङ्गीकार कर लिया। अतः प्रसन्न होकर उन्होंने तुम्हारी सेवा करने के लिये मुक्ति को दासी रूप में दे दिया और इन ज्ञान-वैराग्य को पुत्रों के रूप में। कहने का भाव यह है कि भगवान् की भक्ति करने से ज्ञान-वैराग्य और मुक्ति—सब अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु इस कलियुग में पाखण्डरूपी रोग से पीडित होकर मुक्ति वैकुण्ठ लोक में चली गई। वह तुम्हारे बुलाने पर आती-जाती रहती है। लोगों की उपेक्षा के कारण ज्ञान और वैराग्य भी बूढ़े हो गये हैं फिर भी देवि, तुम चिन्ता मत करो। सुन्दरि, कलि के समान दूसरा युग नहीं है। इस कलियुग में मैं तुम्हें जन-जन और घर-घर में स्थापित करूँगा। यदि संसार में मैं तुम्हारी स्थापना न कर सका तो हरि का दास नहीं—“तदा नाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये” । १४। भक्ति करने वाले महापापी प्राणी भी निर्भय होकर कृष्ण के गोलोक धाम में पधारेंगे।

भगवान् की कृपा न तप से, न वेदाभ्यास से, न ज्ञान और कर्मों से उतनी सरलता से प्राप्त हो सकती है जितनी सरलता से भक्ति से प्राप्त होती है। इस विषय में गोपियाँ प्रमाण हैं। भक्ति करनेवाले व्यक्ति के सामने साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण आकर खड़े हो जाते हैं। भक्त और भक्ति से द्रोह करनेवाले व्यक्ति दुःख के भागी बनते हैं। भक्त की निन्दा करनेवाले दुर्वासा को महान् कष्ट का सामना करना पड़ा था। मुक्ति देनेवाले सारे साधनों में भक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

सूत जी कहते हैं—ऋषियों, नारद जी के द्वारा इस प्रकार अपनी प्रशंसा सुन कर भक्ति गद्गद हो उठी। उसके सारे अङ्ग हृष्ट-पुष्ट हो गये। उसने नारद से सादर इस प्रकार कहा—मुनिवर, आप धन्य हैं। आपकी मेरे प्रति निश्चल प्रीति है। मैं आपके चित्त में सर्वदा निवास करूँगी, कभी आप का त्याग न करूँगी। आपने बड़ी कृपा करके क्षण भर में मेरी सारी बाधा दूर कर दी है। मेरे पुत्रों को भी होश में लाने का आप उपाय करें। तभी मुझे वास्तविक प्रसन्नता होगी।

१. नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ गीता, ११-५३-५४

अर्थ—अर्जुन जिस रूप में तुमने मुझे देखा है, इस रूप में मैं न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ। अनन्य भक्ति के द्वारा ही मैं इस चतुर्भुज रूप में जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ और तत्त्वतः एकीभाव से प्राप्त किया जा सकता हूँ।



सूत जी कहते हैं—इस प्रकार भक्ति के वचन को सुनकर नारद जी को बड़ी करुणा आई। वे अपनी हथेलियों से मल-मल कर उन्हें होश में लाने का प्रयास करने लगे। उनके कान के पास अपना मुँह लगाकर जोर-जोर से कहने लगे—‘अरे, ज्ञान-वैराग्य शीघ्र चेतना में आ जाओ, शीघ्र चेतना में आ जाओ’ फिर उन्होंने वेद, वेदान्त और गीता के पाठ से उन्हें उठाने का प्रयास किया। इससे वे किसी-किसी तरह उठे तो अवश्य, किन्तु आँखें बन्द किये जँभाई ही लेते रहे फिर वे भूतल पर लुढ़क कर सो गये। उनके बाल बगुलों की भाँति सफेद हो गये थे, अङ्ग सूखे काष्ठ की भाँति निस्तेज और कठोर हो गये थे। यह देखकर ऋषि को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने उनकी निद्रा तथा वृद्धता को दूर करने का बहुत प्रयास किया। किन्तु जब नारद को अपने प्रयास में सफलता न मिली तो उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण किया। उनसे सहायता की प्रार्थना की। उनके स्मरण करते ही आकाशवाणी हुई—ऋषि नारद, खेद मत करो। आप का यह प्रयास अवश्य सफल होगा। मुनिवर, इसके लिये आप ‘सत्कर्म’ करो। ‘सत्कर्म’ क्या है ? इसका उपदेश आप को महात्मा लोग करेंगे—

**उद्यमः सफलस्तेऽयं भविष्यति न संशयः ।।**

एतदर्थं तु सत्कर्म सुरर्षे त्वं समाचर । तत्ते कर्माभिधास्यन्ति साधवःसाधुभूषणाः ।।२/३१-३२

सत्कर्म करने से इन दोनों की वृद्धता भी दूर हो जायेगी और भक्ति का प्रचार भी सर्वत्र होगा। इस आकाशवाणी को सुनकर नारद जी को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने कहा इस आकाशवाणी ने तो गोपनीय ढंग से ही बात कही है। उसने यह नहीं बतलाया कि यह ‘सत्कर्म’ क्या है ? वे सन्त कहाँ मिलेंगे जो इस साधन को बतलायेंगे। ऐसा सोच कर वे उन तीनों को वहीं छोड़कर तीर्थों में धूम-धूम कर सत्कर्म के विषय में महात्माओं से पूछने लगे। किन्तु किसी ने भी नारद के प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर न दिया। प्रश्न सुनकर कुछ लोग मौन हो जाते थे। कुछ लोग इसे असाध्य बतलाते थे और कोई-कोई वहाँ खिसक ही जाते थे। इस चर्चा को लेकर चारों ओर महान् हा-हाकार मच गया। लोग आपस में कानाफूसी करने लगे कि—जब वेदघोष, वेदान्तध्वनि और गीतापाठ से ज्ञान-वैराग्य का कल्याण नहीं हो सका तो अब और कोई उपाय नहीं है। कुछ लोग यह भी कहते थे कि—जब महर्षि नारद को ही इसका अभिप्राय नहीं विदित है तो फिर दूसरे लोग क्या बतला सकेंगे।

इस प्रकार ऋषियों-मुनियों का सत्कर्म क्या है ? इसका उत्तर देने में असमर्थ जानकर नारद जी बदरिकाश्रम चले गये। वहाँ उन्होंने सत्कर्म का रहस्य जानने के लिये तपस्या करने का निश्चय किया। वे तपस्या में बैठने जा ही रहे थे कि सामने से सनकादि महर्षियों को आते देखा। वे करोड़ों सूर्य के समान चमक रहे थे। नारद जी ने उन्हें प्रणाम किया और आदर के साथ कहा—मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आप लोगों के दर्शन हुए। समूची सृष्टि में आप जैसे महात्मा दुर्लभ हैं। आप कृपा करके बतलायें कि वह ‘सत्कर्म’ क्या है, जिसका निर्देश आकाशवाणी ने किया है। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को किस प्रकार सुख मिल सकता है ? तथा संसार में इनकी सब वर्णों में कैसे प्रतिष्ठा हो सकती है ?

सनकादि कुमारों ने कहा—देवर्षे, आप चिन्ता न करें, मन प्रसन्न रखें। आप कृष्णदासों के अग्रणी और भक्ति के भास्कर हैं। भक्ति की सर्वत्र स्थापना करना आप जैसे भक्तशिरोमणि के लिये उचित ही है। जिस सत्कर्मरूप साधन को आकाशवाणी ने बतलाया है वह तो अत्यन्त सरल और सुख-साध्य है। वैसे तो संसार में इसके लिये ऋषियों ने बहुत से उपायों को बतलाया है किन्तु वे सभी श्रमसाध्य और स्वल्पफल देनेवाले हैं। अभी तक तो भगवान् की प्राप्ति करानेवाला मार्ग तो प्रायः गुप्त ही है। उसका उपदेश करने वाला पुरुष बड़े भाग्य से ही मिलता है। आपको



आकाशवाणी ने जिस सत्कर्म का संकेत किया है, हम बतला रहे हैं, आप प्रसन्नचित्त से सावधान होकर सुनें । पण्डितों ने ज्ञानयज्ञ को ही सत्कर्म (मुक्तिदायक कर्म) बतलाया है । यह ज्ञानयज्ञ श्रीमद्भागवत का पारायण है, जिसका गान शुक आदि महानुभावों ने किया है—

सत्कर्मसूचको नूनं ज्ञानयज्ञः स्मृतो बुधैः । श्रीमद्भागवतालापः स तु गीतः शुकादिभिः ॥ २/६०  
 श्रीमद्भागवत के पारायण मात्र से ज्ञान-वैराग्य को बल मिलेगा, जिससे उनका कष्ट समाप्त हो जायेगा और भक्ति को परमानन्द की अनुभूति होगी । सिंह के गर्जन से जैसे भेड़िये भाग जाते हैं, वैसे ही भागवत की ध्वनि से कलियुग के सारे दोष नष्ट हो जायेंगे । तब भक्ति ज्ञान और वैराग्य को साथ लेकर प्रत्येक प्राणी के घर और मन में क्रीड़ा करेगी ।  
 कुमारों की बात सुनकर नारद जी ने कहा—मुनीश्वरों, जब वेद, वेदान्त और गीता के पाठ से ज्ञान और वैराग्य की मूर्च्छा नहीं समाप्त हो सकी, तब भागवत की कथा से कैसे वे जाग जायेंगे ? क्योंकि उस कथा के प्रत्येक श्लोक और प्रत्येक पद में भी वेदों का ही तो सारांश भरा हुआ है । आप मेरे इस संशय को दूर करने की कृपा करें—  
 वेद-वेदान्त-घोषैश्च गीतापाठैः प्रबोधितम् । भक्ति-ज्ञान-विरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं यदा ॥  
 श्रीमद्भागवतालापात्तत्कथं बोधमेष्यति । तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे ॥

२/६४-६५

कुमारों ने कहा—देवर्षे, श्रीमद्भागवत की कथा वेद और उपनिषदों के सार से बनी है, इसी कारण से यह सर्वोत्तम है । जिस प्रकार रस वृक्ष की जड़ से लेकर शाखा के अन्तिम छोर तक व्याप्त रहता है । किन्तु उसका आस्वादन नहीं किया जा सकता । वह मधुर नहीं, विरस होता है, कसैला होता है । परन्तु वह रस जब अलग होकर फल के रूप में आ जाता है, तब संसार में वह सभी को प्रिय लगने लगता है । दूध में घी रहता ही है, किन्तु उस समय उसका अलग स्वाद नहीं मिलता; वही जब उससे अलग हो जाता है, तब देवताओं के लिये भी स्वादवर्धक बन जाता है, सुगन्धित और स्वादिष्ट हो जाता है । नीनी ईख के पोर-पोर में व्याप्त है, तथापि अलग होने पर उसकी मिठास कुछ और ही होती है । ऐसी ही यह भागवत की कथा है । यह साररूप होने से अत्यन्त मधुर है । इसका निर्माण ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की स्थापना के लिये हुआ है । आप स्मरण करें उस समय को जब वेद-वेदान्त के पारगामी और गीता की रचना करने वाले व्यास महाराज अज्ञान-सागर में डूबकर खिन्न हो रहे थे तब आप ने ही उन्हें चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश देकर उनके मोह को दूर किया था । उसे सुनते ही उनकी सारी चिन्ता दूर हो गई थी फिर आज उस की महत्ता में आप को सन्देह क्यों हो रहा है ? आप भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को श्रीमद्भागवत-कथा सुनाइये । इससे उनका सारा कष्ट दूर हो जायेगा—

तत्र ते विस्मयः केन यतः प्रश्नकरो भवान् । श्रीमद्भागवतं श्राव्यं शोकदुःखविनाशनम् ॥ २/७४  
 नारद जी ने कहा—महानुभावों, आप का दर्शन जीव के सम्पूर्ण पापों को तत्काल नष्ट कर देता है । संसार के दुःखरूपी दावानल से सन्तप्त प्राणियों पर शान्ति की वर्षा करता है । आप निरन्तर शेष जी के मुख से गाये गये भागवत के रस का दान करते रहते हैं । मैं प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रकाश करने के उद्देश्य से आप की शरण ग्रहण करता हूँ । जब जन्म-जन्मान्तर के सञ्चित पुण्य का उदय होता है तभी मनुष्य को सत्सङ्ग मिलता है । सत्सङ्ग से प्राणी का अज्ञान से होनेवाला मोह और मदरूप अन्धकार समाप्त हो जाता है तथा विवेकरूपी सूर्य का उदय होता है—

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै ।

अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥ २/७६

॥ पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्य का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २॥



## तीसरा अध्याय

## ( ज्ञान-वैराग्य के सहित भक्ति के कष्ट की निवृत्ति )

श्री नारद जी ने कुमारों से कहा—अब मैं प्रयत्नपूर्वक भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को स्थापित करने के लिये श्री शुकदेव जी के द्वारा कहे गये भागवतशास्त्र की कथा द्वारा उज्ज्वल ज्ञानयज्ञ करूँगा—

ज्ञानयज्ञं करिष्यामि शुकशास्त्रकथोज्ज्वलम् । भक्ति-ज्ञान-विरागाणां स्थापनार्थं प्रयत्नतः ॥३/१॥  
मुनीश्वरों, भागवत के श्रवण के लिये कोई समुचित स्थान बतलाइये । आप लोग सकल शास्त्र के पारगामी विद्वान् हैं, अतः आप ही मुझे भागवत-शास्त्र की महिमा सुनाने की कृपा करें । यह भी बतलाइये कि भागवत की कथा कितने दिनों में सुननी चाहिये और उसके सुनने की विधि क्या है ?

नारद के प्रश्नों को सुनकर कुमारों ने कहा—हरिद्वार के पास 'आनन्द' नाम का एक वन है । वहाँ ऋषि, मुनि, सिद्ध और देवता सर्वदा निवास किया करते हैं । वहाँ वन लुभावना और मिट्टी बालुकामय कोमल है । वन के प्रभाव से वहाँ हिंसक प्राणी भी आपस का वैर-भाव भुलाकर बड़े प्रेम के साथ रहते हैं । आप वहीं ज्ञान-यज्ञ का आयोजन कीजिये । उस स्थान पर कथा में अपूर्व रस का उदय होगा । भक्ति भी अपने जराजीर्ण पुत्रों—ज्ञान और वैराग्य को लेकर आ जायेगी; क्योंकि जहाँ भागवत की कथा होती है, वहाँ ये भक्ति आदि तीनों पहुँच जाते हैं । वहाँ कानों में कथा के शब्द पड़ने से ये तीनों तरुण हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्न हो जायेंगे ।

सूतजी ने कहा—शौनक जी, यह कहकर सनक आदि महर्षि भी नारद जी के साथ गंगा के तट पर, श्रीमद्भागवत के कथामृत का पान करने के लिये, वहाँ से सद्यः चले आये । जिस समय वे वहाँ पहुँचे, त्रिलोकी में इस कथा का हल्ला हो गया । सारे भगवद्भक्त, भृगु, वसिष्ठ, च्यवन, गौतम, परशुराम, विश्वामित्र, व्यास, पराशर, मार्कण्डेय तथा दत्तात्रेय आदि ऋषि-महर्षि अपने शिष्यों, पुत्रों तथा स्त्रियों के साथ कथा का पान करने के लिये बड़े प्रेम से वहाँ पहुँच गये । वेद, वेदान्त, तन्त्र, मन्त्र और पुराण आदि सारे शास्त्र भी मूर्ति धारण करके वहाँ उपस्थित हुए । गङ्गा आदि पुण्य नदियाँ, पुष्कर आदि पवित्र सरोवर एवं कुरुक्षेत्र आदि क्षेत्र और तीर्थ भी रूप धारण कर कथापान करने के लिये, पधारे । देवों, गन्धर्वों के साथ दानव भी भगवान् की लीला का श्रवण करने के लिए वहाँ सादर उपस्थित हुए । जो लोग अपने को बड़ा भारी एवं महत्त्वशाली समझ कर नहीं आये थे, उन्हें भृगु महाराज समझा-बुझा कर लाये । इस प्रकार एक अतिविशाल समारोह का वहाँ समायोजन हो गया ।

कथा सुनाने के लिये नारद जी के द्वारा प्रदत्त श्रेष्ठ आसन पर सनक आदि कुमार विराजमान हुए । श्रोताओं में वैष्णव, विरक्त, संन्यासी और ब्रह्मचारी आगे बैठे और उनके भी आगे बैठे प्रधान श्रोता नारद जी । जय शब्द, नमः शब्द तथा शंख-ध्वनि के साथ सुगन्धित अबीर, गुलाल एवं धान के लावा की वर्षा होने लगी । विमानों पर आरूढ देवगण भी आकाश से पारिजात पुष्पों की वृष्टि करने लगे ।

इस प्रकार पूजा समाप्त होने पर जब सभी लोग स्थिर आसन से एकाग्रचित्त होकर बैठ गये तब कुमारों में श्रेष्ठ-ज्येष्ठ सनत्कुमार ने भागवत-कथा का माहात्म्य कहना प्रारम्भ किया । उन्होंने कहा—अब हम आप को इस भागवत-शास्त्र की महिमा सुनाते हैं । इसके श्रवण करते ही मुक्ति हाथ में आ जाती है । इस कथा का सर्वदा सेवन और श्रवण करना चाहिये । इसके श्रवणमात्र से श्रीहरि व्यक्ति के चित्त में आकर विराजमान हो जाते हैं—

अथ ते वण्यन्तेऽस्माभिर्महिमा शुकशास्त्रजः । यस्य श्रवणमात्रेण मुक्तिः करतले स्थिता ॥

सदा सेव्या सदा सेव्या श्रीमद्भागवती कथा । यस्याः श्रवणमात्रेण हरिश्चित्तं समाश्रयेत् ॥

३/२४-२५

प्राणी इस संसार में अज्ञानवश तभी तक भ्रमण करता रहता है, जब तक उसके कानों में भागवत के शब्द



नहीं पड़ जाते। नाना पुराणों और शास्त्रों के श्रवण से तो भ्रम ही पैदा हो जाता है। इनके श्रवण से क्या लाभ ? मुक्ति प्रदान करने के लिये तो एकमात्र भागवतशास्त्र ही गरज रहा है। जहाँ प्रति दिन भागवत की कथा होती है, वह घर तीर्थरूप हो जाता है और जो लोग उसमें रहते हैं, उनके सारे पाप विनष्ट हो जाते हैं—

कथा भागवतस्यापि नित्यं भवति यद्गृहे। तद्गृहं तीर्थरूपं हि वसतां पापनाशनम् ॥३/२९  
बड़े-बड़े यज्ञ-यागादि भी भागवत-कथा की सोलवीं कथा की भी बराबरी नहीं कर सकते। गङ्गा, गया, काशी, पुष्कर तथा प्रयाग आदि कोई तीर्थ शुकशास्त्र की फल की दृष्टि से समता नहीं कर सकता। यदि प्राणी अपनी मुक्ति चाहता हो तो उसे अपने मुख से श्रीमद्भागवत के आधे अथवा चौथाई श्लोक को भी नियम-पूर्वक पाठ करना चाहिये। इतने से ही वट मुक्ति का पात्र बन जाता है। जो व्यक्ति प्रतिदिन जनता के समक्ष सरल भाषा में भागवत का अर्थ सुनाता है उसके कोटि-कोटि जन्मों के पाप-ताप समाप्त हो जाते हैं, उसे भगवान् सीधे वैकुण्ठ धाम में पहुँचा देते हैं—

अन्तकाले तु येनैव श्रूयते शुकशास्त्रवाक्। प्रीत्या तस्यैव वैकुण्ठं गोविन्दोऽपि प्रयच्छति ॥३/४०  
जो मनुष्य सुवर्ण के सिंहासन पर रखकर भागवत ग्रन्थ का वैष्णव को दान करता है उसे भगवान् श्रीकृष्ण सायुज्य मुक्ति प्रदान करते हैं। वह श्रीकृष्णके श्रीविग्रह में समा जाता है, कृष्ण बन जाता है। जिस मूर्ख ने अपने पूरे जीवन में, चित्तको एकाग्र करके, श्रीमद्भागवत कथामृत का स्वल्प भी रसास्वादन नहीं किया, उसने चाण्डाल और गधे के समान अपना सारा जीवन व्यर्थ ही गँवा डाला। उसका जन्म अपनी माता को प्रसव-पीडा पहुँचाने के लिये ही हुआ है—

आजन्ममात्रमपि येन शठेन किञ्चिच्चित्तं विधाय शुकशास्त्रकथा न पीता।

चाण्डालवच्च खरवद् बत तेन नीतं मिथ्या स्वजन्म जननीजनिदुःखभाजा ॥३/४२

जिसने शुकशास्त्र के वचनों का स्वल्प भी श्रवण नहीं किया, वह पापी जीते-जी मुर्दे के समान है। पृथिवी के भारस्वरूप उस पशु-तुल्य मनुष्य को धिक्कार है—ऐसा स्वर्ग के इन्द्रादि देवता कहा करते हैं—

जीवच्छवो निगदितः स तु पापकर्मा येन श्रुतं शुककथावचनं न किञ्चित्।

धिक् तं नरं पशुसमं भुवि भाररूपमेवं वदन्ति दिवि देवसमाजमुख्याः ॥३/४३

श्रीमद्भागवत की कथा इस संसार में अतिदुर्लभ है। जिस व्यक्ति के करोड़ों जन्मों का पुण्य उदित होता है, उसे ही इसके श्रवण का सौभाग्य प्राप्त होता है। अतः प्रयत्नपूर्वक इसका श्रवण करना चाहिये। यही कारण है कि इसके सुनने में दिनों का कोई नियम नहीं है। श्रद्धा-भक्ति के साथ सर्वदा ही इसका श्रवण करना चाहिये। सप्ताह-श्रवण की अपूर्व महिमा है। कलियुग सारे दोषों का खजाना है। उस पर मनुष्यों की आयु भी थोड़ी है। विघ्न विशाल हैं। यम, नियम आदि साधन अति कठिन हैं। इनका आचरण सब के लिये संभव नहीं है अतः श्रीशुकदेवजी ने सप्ताह-श्रवण का विधान किया है।

सप्ताह-श्रवण यज्ञ से बढ़कर है, व्रत से अधिक महत्त्वपूर्ण है, तप से कहीं बढ़कर है, तीर्थ-सेवन से तो सर्वदा ही बड़ा है, योग से बढ़ कर है, यहाँ तक कि ध्यान और ज्ञान से भी बढ़ कर है, और भाई, इसकी विशेषता का कहाँ तक वर्णन करें, यह तो सभी से बढ़-चढ़कर है।

भागवत की इतनी विशाल महिमा सुन कर शौनक जी ने पूछा—सूत जी, श्रीमद्भागवत पुराण का इतना महत्त्व कैसे है ?

इस पर सूत जी ने कहा—शौनक जी, जब भगवान् श्रीकृष्ण इस धरा-धाम को छोड़कर अपने गोलोक धाम जाने लगे, तब उनके मुख-कमल से एकादश स्कन्ध का ज्ञानोपदेश सुनकर उद्धव जी ने उनसे पूछा—प्रभो, भयङ्कर कलि-काल आने वाला है। युग के प्रभाव से प्राणी खल बन जायेंगे, पापपरायण हो जायेंगे। अच्छे लोग भी दुष्टों की संगति से दूष्ट हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में आप का यहाँ रहना परमावश्यक है।



उद्धव की बात सुनकर, कलियुग के प्राणियों के उद्धारार्थ, भगवान् अपना दिव्य तेज श्रीमद्भागवत में स्थापित कर स्वयं भी भागवतरूपी महासागर में प्रविष्ट हो गये—

स्वकीयं यद भवेत्तेजस्तच्च भागवतेऽदधात् । निरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम् ॥ ३/६१

नारायण के अन्य अवतार अन्त में क्षीरार्णव में प्रवेश करते हैं । किन्तु भगवान् कृष्ण, क्षीरार्णव में न जाकर, भागवतार्णव में प्रवेश कर गये । इसीलिये यह श्रीमद्भागवत भगवान् की साक्षात् शब्दमयी मूर्ति है । इसके सेवन, श्रवण, पाठ अथवा दर्शन से ही मानव के सारे पाप धुल जाते हैं—

तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः । सेवनाच्छ्रवणात्पाठाद्दर्शनात् पापनाशिनी ॥ ३/६२

कलियुग में सारे साधनों से बढ़कर सप्ताह-श्रवण ही कल्याणकारक माना गया है । सूत जी ने कहा—शौनक जी, जिस समय सनकादि मुनीश्वर इस प्रकार सप्ताह की महिमा का वर्णन कर रहे थे, उस समय एक महान् आश्चर्य घटित हुआ—उसे आप सुने । वहाँ भागवत की महिमा के वर्णन से तरुण हो गये अपने दोनों पुत्रों—ज्ञान और वैराग्य को लिये हुए विशुद्ध प्रेम रूपा भक्ति बार-बार श्रीकृष्ण, गोविन्द, हरे, मुरारे, हे नाथ, नारायण, वासुदेव—यह कहती हुई सभा में सहसा प्रकट हो गई—

भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा प्रेमैकरूपा सहसाऽऽविरासीत् ।

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे नाथेति नामानि मुहुर्वदन्ती ॥ ३/६७

सुन्दरी भक्ति को, अपने तरुण पुत्रों के साथ वहाँ सभा के मध्य में अचानक आई हुई देखकर लोग परस्पर कहने लगे—यह यहाँ किधर से आई ? कैसे प्रविष्ट हुई ? तब सनक आदि ने कहा—“यह भक्ति देवी अभी-अभी कथा के अर्थ में से निकली हैं ।” उनके वचनों को सुनकर भक्ति ने विनम्रता के साथ कहा—मैं कलियुग में प्रायः नष्ट ही हो गई थी । आपने कथामृत से सींचकर मुझे हृष्ट-पुष्ट बना दिया । अब आप बतलाइये कि मैं कहाँ रहूँ ?

सनत्कुमार जी ने कहा—देवि, तुम भक्तों को भगवान् का रूप प्रदान करनेवाली हो, भक्तों के हृदय में अगाध भगवत्प्रेम का सञ्चार करने वाली हो, संसार-रोग को नष्ट करनेवाली हो, अतः तुम धैर्य धारण कर नित्य निरन्तर विष्णु के भक्तों के हृदय में निवास करो । उनकी आज्ञा मिलते ही भक्ति भक्तों के हृदय में प्रवेश कर गई । संसार के वे प्राणी धन्य हैं, जिनके हृदय में भक्ति-देवी का निवास होता है । भक्तिरूपी डोरी से बँधकर भगवान् भी भक्तों के हृदय में ही आकर विराजमान हो जाते हैं ।

नारद, इस लोक में यह भागवत साक्षात् परब्रह्म का शरीर है, विग्रह है । हम इसकी महिमा का पार नहीं पा सकते । भागवत के वक्ता और श्रोता—दोनों ही भगवान् श्रीकृष्ण की समता प्राप्त कर लेते हैं अतः इसे छोड़कर अन्य धर्मों से क्या मतलब है ?—

यत्संश्रयान्निगदिते लभते सुवक्ता श्रोताऽपि कृष्णसमतामलमन्य धर्मैः ॥ ३/७४

॥ पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्य का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

## चौथा अध्याय

( सप्ताहकथा में श्रीहरि का प्रादुर्भाव तथा गोकर्ण का उपाख्यान )

सूतजी ने कहा—मुनिवर, भक्ति कथा-मण्डप में आई और सनत्कुमार के कहने से भक्तों के हृदय में बैठ गई । उस समय भक्तों के हृदय में अलौकिक भक्ति का प्रादुर्भाव देखकर भक्त-वत्सल भगवान् मुरलीधर अपने भक्तों के निर्मल हृदय में आकर विराजमान हो गये—



अथ वैष्णवचित्तेषु दृष्ट्वा भक्तिमलौकिकीम् । निजलोकं परित्यज्य भगवान् भक्तवत्सलः ॥४/१  
आविवेश स्वभक्तानां हृदयान्यमलानि च ॥२/४

वैकुण्ठवासी भक्त उद्धव आदि भी उस कथा का रसास्वादन करने के लिये गूढरूप से वहाँ आकर बैठ गये । उस समय सभा-मण्डप में भगवान् को देखकर जनता हर्ष के मारे नाच उठी । चारों ओर जय-जय कार होने लगा । शङ्ख-ध्वनि से वातावरण पवित्र हो उठा । सुगन्धित अबीर, गुलाल एवं फूलों की वर्षा से कथा-स्थल मनोरम हो गया । उस समय लोग आनन्द में इस प्रकार निमग्न हो गये कि उन्हें अपने देह-गेह की भी विस्मृति हो गई । सभी सुध-बुध खो बैठे—“तत्सभासंस्थितानां च देह-गेहात्मविस्मृतिः” ॥७॥

नारद ने लोगों की इस अपूर्व तन्मयता को देखकर आश्चर्य के साथ कहा—मुनिवरों, आज मैंने सप्ताह-श्रवण की यह बड़ी ही अलौकिक महिमा देखी । यहाँ तो जो बड़े मूर्ख, दुष्ट और पशु-पक्षी भी हैं, वे सभी पापमुक्त हो गये हैं—

अलौकिकोऽयं महिमा मुनीश्वराः सप्ताहजन्योऽद्य विलोकितो मया ।

मूढाः शठा ये पशुपक्षिणोऽत्र सर्वेऽपि निष्पापतमा भवन्ति ॥४/८

अतः मैं यह निःसन्देह कह सकता हूँ कि—इस कलिकाल में चित्त की शुद्धि के लिये भागवत-कथा के समान इस भूतल पर, पाप-पुञ्ज का विनाशक, दूसरा कोई उपाय नहीं है । मुनियों, आप लोग कृपा के सागर हैं । आप ने संसार के कल्याण के लिये यह बिलकुल निराला ही मार्ग निकाला है अतः आप यह बतलाने की कृपा करें कि इस कथारूप महायज्ञ से कैसे-कैसे पापी विशुद्ध होते हैं ।

नारद के प्रश्न पर कुमारों ने कहा—जो लोग सर्वदा भौति-भौति के पाप किया करते हैं, निरन्तर दुराचार में ही निरत रहते हैं, जो सन्मार्ग का परित्याग करके चलते हैं, जो हमेशा क्रोधाग्नि से जलते रहते हैं, जो कुटिल और कामी हैं—वे सब के सब इस कलियुग में भागवत-सप्ताह के श्रवण से पवित्र हो जाते हैं—

ये मानवाः पापकृतस्तु सर्वदा सदा दुराचाररता विमार्गगाः ।

क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥४/११

जो सत्य से रहित, माँ-बाप को कष्ट देनेवाले, लालची, आश्रमधर्म से रहित, कुल को दूषित करने वाले, दूसरों की उन्नति को बर्दास्त न करने वाले तथा हिंसक हैं—वे सब-के-सब सप्ताह-यज्ञ से पवित्र तो जाते हैं—

सत्येन हीनाः पितृमातृदूषकास्तृष्णाकुलाश्चाम्रमधर्मवर्जिताः ।

ये दाम्भिका मत्सरिणोऽपि हिंसकाः सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥४/१२

मदिरापान, ब्रह्महत्या, सुवर्ण की चोरी, गुरुस्त्रीगमन और विश्वासघात ये पाँच प्रकार के महापाप हैं । जो उन महापापों को करनेवाले, छलछद्मपरायण, क्रूर, पिशाचों के समान निर्दयी, ब्राह्मणों के धन से पुष्ट होनेवाले और व्यभिचारी हैं—ये सभी कलियुग में सप्ताह के श्रवण से पवित्र बन जाते हैं—

पञ्चोग्रपापाश्छलछद्मकारिणः क्रूराः पिशाचा इव निर्दयाश्च ये ।

ब्रह्मस्वपुष्टा व्यभिचारकारिणः सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥४/१२

**गोकर्ण और धुन्धुकारी की कथा—**

नारदजी, अब हम आप को इस विषय में एक प्राचीन इतिहास सुनाने जा रहे हैं, जिसके श्रवण से प्राणी समस्त पापों से मुक्त हो जाता है—पूर्वकाल की बात है । तुङ्गभद्रा नदी के तट पर ‘उत्तम’ नामक एक नगर था । उसमें

१. ब्रह्मघ्नश्चैव गोघ्नश्च स्वर्णस्तेयी च मद्यपः । तत्संसर्गं पञ्चमश्च ह्युग्रपापः कीर्तिताः ॥

अर्थात् ब्राह्मण का हत्या, गोघाती, सोना की चोरी करनेवाला, मदिरा पीनेवाला और इनका संग करनेवाला—ये पाँच प्रकार के पापी उग्रपापी कहे गये हैं ।



“आत्मदेव” नाम के एक तेजस्वी ब्राह्मण निवास करते थे। वे श्रौत एवं स्मार्त कर्मों में पारङ्गत थे। वे धनी होने पर भी शिक्षा-वृत्ति से अपने जीवन का निर्वाह करते थे। उनकी एक सुन्दरी, कुलीन, प्यारी पत्नी थी। उसका नाम था—धुन्धुली। वह बड़ी जिद्दी थी। लोगों के विषय में बात करने में उसे बड़ा मजा मिलता था। वह बोलती भी बहुत थी। गृह-कार्य में निपुण थी। कृपण और कलहप्रिय थी। इस प्रकार गृहस्थी में रमण करते हुए उन दोनों का बहुत-सा समय बीत गया। किन्तु उन्हें कोई पुत्र नहीं हुआ। अतः इसके लिये उन्हें चिन्ता सताने लगी। पुत्र पैदा करने के लिये उन लोगों ने विविध उपायों का आश्रय लिया। यज्ञ किया। अनुष्ठान किया। दान-धर्म किया। पर सब निष्फल। चिन्ता के मारे एक दिन आत्मदेव घर छोड़कर जंगल में चले गये। दोपहर की बेला थी। अतः उन्हें प्यास सताने लगी। फलतः वे खोजते-खोजते एक जलाशय के तट पर पहुँचे। वहाँ जल पिया और एक वृक्ष की छाया में दुःखी मन से बैठ गये। उन्हें यही दुःख सता रहा था कि मेरे कोई बेटा नहीं है। यह एक दैव्य-संयोग था कि दो घड़ी बीतने पर वहाँ एक संन्यासी महात्मा आये। जब आत्मदेव ने देखा कि महात्मा जल पी चुके हैं तो वे उनके पास गये। चरणों पर अपना मस्तक रक्खा और लम्बी-लम्बी साँसें लेते हुए उनके सामने खड़े हो गये। उस समय उनके मुँह से सिसकियाँ निकल रही थीं।

संन्यासी ने पूछा—कहो, ब्राह्मण देवता, क्यों रो रहे हो ? किस बात की तुम्हें चिन्ता है ? शीघ्र तुम मुझे अपने दुःख का कारण बतलाओ।

ब्राह्मण ने कहा—महाराज, मैं अपने पूर्व जन्म के पाप के कारण उत्पन्न दुःख का कारण क्या कहूँ ? हमारे पूर्वज इस समय तर्पण के जल को लम्बी-लम्बी साँसों के कारण गरम कर पी रहे हैं। वे सोचते हैं कि अब हमारे कुल में आगे तर्पण करनेवाला कोई नहीं होगा। मेरे हाथ की दी हुई वस्तु न तो देवता लेते हैं और न ब्राह्मण ही। पुत्र न होने के कारण मैं चेतना-शून्य-सा हो गया हूँ और यहाँ जलाशय में डूब कर मरने के लिये आया हूँ। सन्तान के बिना जीवन को धिक्कार है। सन्तान के बिना घर भी श्मशान जैसा लगता है। मैं इतना अभाग्य हूँ कि जिस गाय को पालता हूँ, वह भी वन्ध्या हो जाती है और जिस वृक्ष को लगाता हूँ वह भी बाँझ हो जाता है। घर में आया फल भी शीघ्र सूख जाता है। मैं अभाग्य हूँ, निःसन्तान हूँ अतः मेरे जीवन को धिक्कार है। ऐसा कहकर वह ब्राह्मण फफक-फफक कर रो पड़ा। उसकी यह स्थिति देख कर संन्यासी का हृदय करुणा से भर उठा। वे योगी थे। उन्होंने उसके मस्तक की रेखाओं को पढ़ा और सारा वृत्तान्त जान कर कहा—ब्राह्मण-देवता, पुत्र का यह मोह छोड़ दीजिये। कर्म की गति बड़ी प्रबल होती है उसे टालना किसी के लिये संभव नहीं है। विवेक के सहारे संसार-वासना का परित्याग कर दीजिये। मैंने आप का प्रारब्ध देख लिया है, उसके अनुसार आप को सात जन्मों तक सन्तान का सुख नहीं मिलेगा। पूर्वकाल में राजा सगर और अङ्ग को सन्तान के कारण दुःख भोगना पड़ा था, अतः सन्तान की कामना छोड़ दो। सब कुछ त्यागने में ही सुख है। ब्राह्मण ने कहा—महाराज, विवेक से मेरा क्या होगा ? आप चाहे जैसे हो मुझे पुत्र दीजिये, नहीं तो मैं आप के सामने ही अपने प्राणों को छोड़ दूँगा। पुत्र आदि के सुख से रहित संन्यास भी नीरस ही है। संसार में सरस तो पुत्र-पौत्रादि से भरापूर परिवार ही है।

ब्राह्मण के इस प्रकार हठ को देखकर उस संन्यासी ने कहा—ब्रह्मा की लेख को मिटाने का हठ करने से राजा चित्रकेतु को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था। तुम्हें भी पुत्र से सुख नहीं मिलेगा। किन्तु क्या कहूँ ? तुम हठ पकड़ कर याचक के समान मेरे सामने खड़े हो। जब महात्माजी ने देखा कि यह ब्राह्मण हठ नहीं छोड़ रहा है, तो उन्होंने अपनी झोली में से एक फल निकाला और उसे देते हुए कहा कि ‘तुम इसे अपनी पत्नी को खिला देना इससे उसे एक पुत्र होगा’। तुम्हारी स्त्री को एक वर्ष तक सत्य, शौच, दया, दान और एक समय एक ही अन्न खाने का नियम रखना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगी तो बालक बहुत निर्मल स्वभाव वाला होगा<sup>१</sup>—

१. प्रत्येक गर्भवती स्त्री को इन नियमों का पालन करना चाहिये। ऐसा करने से सन्तति धार्मिक और सच्चरित्र होगी।



सत्यं शौचं दया दानमेकभक्तं तु भोजनम् ।

वर्षाविधि स्त्रिया कार्यं तेन पुत्रोऽतिनिर्मलः ॥४/४२॥

इस प्रकार कह कर वे योगी चले गये । ब्राह्मण खुशी-खुशी घर पहुँचे । पत्नी के हाथ पर फल रखवा । नियम आदि की सारी बातें बतलाई और कार्य से कहीं अन्यत्र चले गये । उसकी स्त्री कुटिल स्वभाव की थी ही उसने रो-रो कर अपनी एक सखी से कहा—सखि, मुझे तो बड़ी चिन्ता हो गई । मैं यह फल नहीं खाऊँगी । फल खाने से गर्भ रहेगा । गर्भ से पेट बढ़ जायेगा फिर कुछ खाया-पीया नहीं जायेगा । इससे मेरी शक्ति क्षीण हो जायेगी फिर घर का धन्धा कैसे होगा ? कहीं गाँव में डकैत आ गये तो फिर भागना कठिन होगा । प्रसव की पीड़ा से कभी-कभी प्राण भी निकल जाते हैं । बच्चे का लालन-पालन भी कठिन होता है । यह सब हमसे नहीं होगा । सहायता करने के लिये आई हुई ननद हमारा सारा सामान उठा ले जायेगी अतः मैं फल नहीं खाऊँगी । मेरे विचार से तो वन्ध्या अथवा विधवा स्त्रियाँ ही सुखी हैं ।

इस प्रकार तर्क-कुतर्क करके उसने वह फल नहीं खाया । जब पति ने पूछा कि—“फल खा लिया” ? तो उसने उत्तर दिया—“हाँ फल खा लिया है” ।

एवं कुतर्कयोगेन तत्फलं नैव भक्षितम् । पत्या पृष्ठं फलं भुक्तं भुक्तं चेति तथेरितम् ॥४/५०

एक समय धुन्धुली की छोटी बहन उसके घर आई । उसने उससे भी सारा वृत्तान्त सुनाकर कहा कि—“मेरे मन में इससे बड़ी चिन्ता है । इस दुःख के कारण मैं प्रतिदिन दुबली होती चली जा रही हूँ । अब तुम्हीं बतलाओ कि मैं क्या करूँ” ?

उसकी बहन ने कहा—“मेरे पेट में बच्चा है, पैदा होने पर वह मैं तुझे दे दूँगी । तब तक तुम गर्भवती होने का नाटक कर घर में ही रहो । मेरे पति को तुम कुछ धन दे देगी तो वे अपना बच्चा तुझे दे देंगे । बाद में मैं यह बात प्रचारित कर दूँगी कि “मेरा छः माह का गर्भ गिर गया” । उसके बाद मैं प्रतिदिन तुम्हारे घर आकर बच्चे को दूध पिला कर उसका पालन-पोषण कर दूँगी । परीक्षा करने के लिये तुम यह फल गाय को खिला दो । स्त्री-स्वभाव के कारण धुन्धुली ने बहन की बात मान कर वैसा ही किया, समय आने पर बच्चा पैदा हुआ । उसकी बहन ने वह बालक अपने पतिसे उसके पास चुपचाप भेज दिया । धुन्धुली ने अपने पति आत्मदेव से कह दिया कि रात्रि में मुझे बिना किसी कष्ट के यह पुत्र पैदा हुआ है । पुत्र के उत्पन्न होने की बात सुनकर आत्मदेव को बड़ी प्रसन्नता हुई, उन्होंने बालक का जातकर्म संस्कार किया । बड़ी तत्परता से अपने घर पर माङ्गलिक गाने-बजाने का आयोजन किया । ब्राह्मणों को प्रचुर धन दान में दिया ।

धुन्धुली ने अपने पति से कहा—“मेरी छाती में दूध नहीं है तो फिर मैं इस बालक का पालन कैसे करूँगी ? मेरी बहन का बच्चा पैदा होकर मर गया है अतः उसे घर पर बुला लीजिये । वह मेरे बालक को अपना दूध पिला कर पालन-पोषण कर देगी” । पुत्र की रक्षा के लिये उसके पति ने वैसा ही किया । जब नाम रखने की बेला आई तो आत्मदेव ने कहा—मेरे बेटे का नाम होगा—ब्रह्मदेव । इस पर धुन्धुली ने कहा बेटा मैंने पैदा किया है अतः इसका नाम मेरे नाम पर होगा— धुन्धुकारी । आत्मदेव ने पत्नी के हठ को मानकर बालक का धुन्धुकारी नाम ही स्वीकार कर लिया ।

इसके बाद तीन महीने बीतने पर उस गाय को भी मनुष्य के आकार का एक बच्चा पैदा हुआ । बालक सर्वाङ्ग सुन्दर था, दिव्य था, निर्मल था और था सुवर्ण की भाँति गौरवर्ण । आत्मदेव उसे देखकर प्रसन्न हो उठे । उन्होंने स्वयं उसका जातकर्म आदि संस्कार किया । बात चारों ओर फैल गई, लोग दौड़-दौड़कर आये उसे देखने के लिये ।



सभी आश्चर्य-चकित थे गाय के द्वारा उत्पन्न मानव-शिशु को देखकर। लोग परस्पर बात करते हुए कह रहे थे—आत्मदेव के भाग्य को तो देखिये। इनकी गाय ने भी इतना दिव्य देवरूपी बालक पैदा किया है। यह महान् आश्चर्य है। भाग्यवश गाय को फल खिलाने का रहस्य किसी को ज्ञात नहीं था। गाय की तरह उस बालक के कान को देखकर आत्मदेव ने उसका नाम 'गोकर्ण' रक्खा।

न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापि विधियोगतः। गोकर्णं तं सुतं दृष्ट्वा गोकर्णं नाम चाकरोत् ॥४/६५  
कुछ ही समय में दोनों बालक तरुण हो गये। गोकर्ण तो महान् पण्डित और ज्ञानी हुआ, किन्तु धुन्धुकारी बड़ा ही दुष्ट निकला। स्नान-शौच से वह हीन था। ब्राह्मणोचित कर्म तो उस में था ही नहीं। खान-पान में उसे कोई परहेज नहीं था। दुराचारी था, जुआरी था और था वेश्या-गामी भी। संसार का ऐसा कोई दुष्कर्म न था जिसे वह न करता रहा हो। दीन-हीन, अन्धों को सताना, दूसरों का घर, खलिहान फूँकना उसकी आदत थी। उसने बहुत-से कुत्तों को पाल रक्खा था। दूसरों के बच्चों को खेलाने के लिये गोद में उठाकर वह उन्हें कुएँ में डाल देता था। वह महान् चाण्डाल निकला। वेश्याओं के सङ्ग में पड़ कर उसने पिता का सारा धन बर्बाद कर डाला। एक दिन वह माता-पिता को मार-पीट कर घर के सारे बर्तन-भाड़े उठा ले गया। जब घर का सारा धन स्वाहा हो गया तब एक दिन अत्यन्त दुःखी होकर उसका पिता फूट-फूट कर रोने लगा और बोला—“इससे तो इसकी माँ का बाँझ रहना ही अच्छा था; क्योंकि कुपुत्र तो महान् दुःखदायी होता है”—

तत्पिता कृपणः प्रोच्चैर्धनहीनो रुरोद ह। वन्ध्यत्वं तु समीचीनं कुपुत्रो दुःखदायकः ॥४/७१  
अब मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? मेरा दुःख कौन दूर करेगा ? हाय ! मेरे ऊपर तो विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा है। इस दुःख के कारण मुझे एक दिन अवश्य प्राण छोड़ने पड़ेंगे। उसी समय परम ज्ञानी गोकर्ण जी वहाँ आये। उन्होंने वैराग्य का उपदेश देते हुए पिता जी को समझाया—“पिता जी, यह संसार असार है। यह दुःख और मोह में डालने वाला है। इस संसार में धन और पुत्र किसके हुए हैं। इनसे स्नेह करनेवाला व्यक्ति रात-दिन, दीपक की भाँति, जलता रहता है—

असारः खलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः। सुतः कस्य धनं कस्य स्नेहवाङ्मलतेऽनिशम् ॥

४/७४

अतः धन, पुत्र और परिवार का मोह छोड़ कर आप वन-गमन करें और वहाँ निर्मल मन से भगवान् की आराधना करें। पिताजी, यह शरीर हड्डी, मांस, और रक्त से भरा हुआ है अतः आप इसे अपना मान कर इस पर अभिमान कभी न करें और पत्नी-पुत्र के साथ ममता का व्यवहार छोड़ दें। इस संसार को सर्वदा क्षणभङ्गुर ही समझें। इसलिये वैराग्य धारण कर भगवान् की भक्ति में लीन हो जाँय—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।

पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥ ४/७९

भगवान् का भजन ही सबसे बड़ा धर्म है, निरन्तर इसी का आश्रय करें। अन्य सारे लौकिक धर्मों का परित्याग कर दें। सदा साधु-सन्तों की सेवा करें। काम-भोग की वासना को छोड़ दें। आप जल्दी-से-जल्दी दूसरों के गुण-दोषों का विचार करना छोड़ कर एकमात्र भगवान् की आराधना में तल्लीन हो जाँय और भागवत की कथा का ही रस-पान करें—

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान् सेवस्व साधु पुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।

अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥४/८०॥



सूत जी कहते हैं—शौनक जी, इस प्रकार पुत्र के उपदेश को सुनकर आत्मदेव वन में चले गये। यद्यपि इस समय उनकी आयु साठ वर्ष की हो चुकी थी फिर भी बुद्धि में पूरी दृढ़ता थी। वहाँ उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण जी की सेवा-शुश्रूषा तथा भागवत के दशम स्कन्ध के नित्य पाठ<sup>१</sup> से भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर लिया—

एवं सुतोक्तिवशतोऽपि गृहं विहाय यातो वनं स्थिरमतिर्गतषष्टिवर्षः ।

युक्तो हरेरनुदिनं परिचर्ययाऽसौ श्रीकृष्णमाप नियतं दशमस्य पाठात् ॥४/८१

॥ पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्य का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

## पाँचवाँ अध्याय

(प्रेत-योनि से धुन्धुकारी की मुक्ति)

सूत ने कहा—शौनक जी, पिता के वन चले जाने पर एक दिन धुन्धुकारी ने अपनी माता को बहुत पीटा और कहा “बता धन कहाँ गाड़कर रक्खा है ? नहीं तो अभी लातों से पीट-पीट कर तुझे मार डालूँगा”—

पितर्युपरते तेन जननी ताडिता भृशम् । क्व वित्तं तिष्ठति ब्रूहि हनिष्ये लत्तया न चेत् ॥५/१

इस प्रकार पुत्र के भय से संतस्त होकर उसने रात्रि की बेला में कुएँ में कूद कर आत्महत्या कर ली। योगनिष्ठ गोकर्ण जी पहले ही तीर्थ-यात्रा पर निकल गये थे, उनके लिये दुःख-सुख समान थे<sup>२</sup>। इस संसार में न उनका कोई शत्रु था और न मित्र ही। धुन्धुकारी ने अपने घर में पाँच वेश्याओं को लाकर रख लिया। वह उन्हीं के साथ रहने लगा। वह उन्हें प्रसन्न रखने के लिये नाना प्रकार के कुकर्मों से धन संग्रह करने लगा। एक दिन उन वेश्याओं ने उससे बहुत-से आभूषणों की माँग की। वह कामान्ध अतः विमूढ था। उसे अपनी मृत्यु की भी चिन्ता न थी इसलिये वह उन्हें जुटाने के लिये रात्रि की बेला में घर से निकल पड़ा। जहाँ-तहाँ से चोरी कर उसने आभूषण और वस्त्रों को एकत्रित किया फिर उसने उन्हें उन वेश्याओं को प्रदान कर दिया। चोरी का बहुत-समान देखकर उन वेश्याओं ने आपस में विचार किया—यह चोरी का सामान लाता है। किसी दिन राजा के सिपाही इसे पकड़ेंगे। वे सारा धन छीन लेंगे और इसे मार डालेंगे तथा हमें भी दण्डित करेंगे। ऐसी स्थिति में हम लोग ही गुप्तरूपसे इसे क्यों न मार डालें और सारा धन लेकर चम्पत हो जाँय। ऐसा निश्चय कर उन्होंने सोये हुए धुन्धुकारी को रस्सियों से कस दिया और उसके गले में फाँसी लगाकर उसे मारने का प्रयत्न किया, किन्तु वह पापी मरता ही नहीं था।

तब उन कुलटाओं को बड़ी चिन्ता हुई, फिर उन्होंने उसके मुख में दहकते हुए अंगारों को ठूस दिया जिससे वह छटपटा-छटपटा कर मर गया। स्त्रियाँ प्रायः बड़ी साहसी होती हैं। उन लोगों ने उसके शव को घर के भीतर ही गड्ढा खोद कर गाड़ दिया। इस रहस्य का किसी को पता न चला—

तप्ताङ्गारसमूहांश्च तन्मुखे हि विचिक्षिपुः । अग्निज्वालातिदुःखेन व्याकुलो निधनं गतः ॥

तं देहं मुमुचुर्गतिं प्रायः साहसिकाः स्त्रियः । न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापीदं तथैव च ॥५/११-१२

लोग जब पूछते थे कि—धुन्धुकारी जी कहाँ गये तो वे कहती थीं कि—“हमारे प्रियतम पैसा कमाने की लालच से कहीं दूर चले गये हैं। एक वर्ष के भीतर ही लौट आयेंगे”।

इस पर सूत महाराज टिप्पणी करते हैं कि—बुद्धिमान् पुरुष को कभी भी दुष्टा स्त्रियों का विश्वास नहीं करना

१. इससे भागवत के दशम स्कन्ध के पाठ की महिमा सूचित की गई है।

२. सुख हरषहिं नहिं दुख बिलखाहीं। दोठ सम धीर धरहिं मन माहीं ॥ रामचरित मानस



चाहिये। जो मूर्ख इनका विश्वास करता है उसे दुख-ही-दुख भोगना पड़ता है। दुष्ट स्त्रियों के वचन अमृत के समान मधुर होते हैं। इन्हें सुनकर कामियों का हृदय रस से भर जाता है। किन्तु इनका हृदय छूरे की धार के समान तीक्ष्ण होता है। इस दुनियाँ में इनका कोई भी प्यारा नहीं है।

वे कुलटाएँ धुन्धुकारी का सारा धन समेट कर चंपत हो गईं, धुन्धुकारी जैसे उनके न जाने कितने पति थे<sup>१</sup>। धुन्धुकारी अपने कुकर्मों के कारण बड़ा भयङ्कर प्रेत बना। वह बवण्डर के रूप में सर्वदा दशों दिशाओं में भटकता रहता था। वह शीत-धाम से सन्तप्त और भूख-प्यास से व्याकुल होकर सर्वदा चिल्लाता रहता था। कुछ काल बीतने पर गोकर्ण ने लोगों से सुना कि धुन्धुकारी मर गया, अतः वे गया में जाकर उसके निमित्त से, विधि-विधान के साथ, श्राद्ध कर दिये। वे जिस-किसी तीर्थ में जाते वहीं उसके लिये पिण्डदान करते थे।

एक दिन की बात है। गोकर्ण तीर्थाटन करते हुए अपने गाँव वापस आये। रात्रि की बेला थी। अतः चुपचाप अपने घर में गये और वहाँ आँगन में सो गये। आधी रात की बेला में प्रेत धुन्धुकारी ने उपद्रव शुरू किया। वह कभी भेंड़, कभी हाथी, कभी भैंसा, कभी राजा, और कभी अग्नि का रूप धारण कर प्रकट होता था। कभी-कभी वह साधारण पुरुष के वेश में दिखलाई पड़ता था—

निशीथे दर्शयामास महारौद्रतरं वपुः ।।

सकृन्नेषः सकृद्धस्ती सकृच्च महिषोऽभवत् । सकृदिन्द्रः सकृच्चाग्निः पुनश्च पुरुषोऽभवत् ।। ५/२१-२२

इन विभिन्न विपरीत अवस्थाओं को देखकर गोकर्ण ने सोचा कि निश्चय ही यह कोई दुर्गति को प्राप्त हुआ जीव है, तब उन्होंने उससे धैर्यपूर्वक पूछा—“तू कौन है” ? रात्रि के समय में ऐसा भयङ्कर स्वरूप क्यों दिखला रहा है ? तेरी यह दशा कैसे हुई ? हमें ठीक-ठीक बतलाओ—“तू प्रेत है, पिशाच है अथवा कोई राक्षस है” ? यह पूछने पर वह बार-बार जोर-जोर से रोने लगा। वह कुछ बोल नहीं पा रहा था अतः उसने केवल सङ्केत मात्र किया। तब गोकर्ण ने अञ्जलि में जल लिया उसे अभिमन्त्रित कर उस पर छिड़क दिया। इससे उसके पापों का कुछ शमन हुआ और वह इस प्रकार कहने लगा—“मैं आप का भाई हूँ। मेरा नाम है—धुन्धुकारी, मैंने जीवन भर कुकर्म करके अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया”।

अहं भ्राता त्वदीयोऽस्मि धुन्धुकारीति नामतः । स्वकीयेनेव दोषेणे ब्रह्मत्वं नाशितं मया ।। ५/२७

मेरे कुकर्म अनन्त हैं। मैं महान् अज्ञान में चक्कर काट रहा हूँ, अन्तमें वेश्याओं ने मेरे मुँह में तपते अङ्गार भर कर तड़पा-तड़पा कर मुझे मार डाला, इसी से इस समय प्रेत-योनि में पड़कर यह दुर्दशा भोग रहा हूँ। इस समय केवल वायु पीकर मैं जीवित हूँ। बन्धुवर, आप दया के सागर हो, किसी प्रकार इस प्रेत योनि से मेरा उद्धार करो।

गोकर्ण ने प्रेत की बात ध्यान से सुनी और कहा—भाई, मैंने विधि-विधान से तुम्हारा गया श्राद्ध कर दिया था तो भी तुम क्यों नहीं मुक्त हुए। इससे मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है। यदि गया श्राद्ध से भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हुई, तब तुम्हारी मुक्ति का अन्य उपाय नहीं है। प्रेत, तुम सारी बातें साफ-साफ बतलाओ कि मुझे अब क्या करना चाहिये ?

१. हृदय—धुन्धुकारी कामान्ध पापी प्राणी का और पाँच वेश्याएँ अनियन्त्रित उच्छृङ्खल भोगपरायण पाँच ज्ञानेन्द्रियों की सूचक हैं। इन्द्रियों के वशीभूत प्राणी की धुन्धुकारी जैसी ही गति होती है। इन्द्रियों को तृप्त करने में लगा संसारी भोगी प्राणी अन्त में छटपटा-छटपटा कर मर जाता है। यही है हृदय, रहस्य धुन्धुकारी के पाँच रखैल स्त्रियों का।



प्रेत ने कहा—मेरे भइया, मैं इतना बड़ा पापी हूँ कि मेरी मुक्ति सैकड़ों गया श्राद्ध से भी नहीं हो सकती। अब आप ही इसका कोई और उपाय सोचो। यह सुनकर गोकर्ण को महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—“भैया, तब तो तुम्हारा प्रेत-योनि से उद्धार अत्यन्त कठिन है, असाध्य है। अच्छा, अभी तो तुम निर्भय होकर अपने स्थान में रहो; मैं विचार करके तुम्हारी मुक्ति के लिये कोई दूसरा उपाय करूँगा—

शतश्राद्धैर्न मुक्तिश्चेदसाध्यं मोचनं तव ॥५/३४

त्वन्मुक्तिसाधकं किञ्चिदाचरिष्ये विचार्य च ॥५/३५

गोकर्ण के कहने से धुन्धुकारी अपने स्थान पर चला गया। इधर गोकर्ण रात्रि भर जाग कर उसकी मुक्ति का उपाय सोचते रहे किन्तु उन्हें कुछ सुझाई नहीं पड़ा। सबेरा हुआ। गोकर्ण को आया देखकर सारे ग्रामवासी उनके पास एकत्रित हो गये। गोकर्ण ने उनसे रात्रि की सारी घटना का वर्णन किया। किन्तु बड़े-बड़े विद्वानों को भी प्रेत के उद्धार का कोई उपाय न सूझा। इस पर सबकी सम्मति से गोकर्ण ने सूर्य का स्तम्भन किया<sup>१</sup> और उन्हीं से धुन्धुकारी के उद्धार का उपाय पूछा—गोकर्ण की बात सुन कर सूर्यदेव ने दूर से ही साफ-साफ शब्दों में कहा—“श्रीमद्भागवत” से मुक्ति हो सकती है इसलिये तुम उसका सप्ताह-परायण करो—

गोकर्णः स्तम्भनं चक्रे सूर्यवेगस्य वै तदा ॥५/३९

तच्छ्रुत्वा दूरतः सूर्यः स्फुटमित्यभ्यभाषत ॥५/४०

श्रीमद्भागवतान्मुक्तिः सप्ताहं वाचनं कुरु ॥५/४१

सूर्य के इस धर्म-वचन को वहाँ सभी ने सुना। इससे गोकर्ण बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने धुन्धुकारी के उद्धारार्थ सप्ताह वाचने का निश्चय कर लिया। चारों ओर यह बात फैल गई। दूर-दूर से लोग सप्ताह का श्रवण करने के लिये वहाँ एकत्रित हो गये। प्रेत भी अपने बैठने के लिये स्थान ढूँढते हुए वहाँ एक सात गाँठ वाले बाँस के छेद में आकर बैठ गया। गोकर्ण ने एक वैष्णव ब्राह्मण को मुख्य श्रोता बनाकर प्रथम स्कन्ध से कथा आरम्भ की। सायंकाल की बेला में जब कथा का विश्राम हुआ, उस समय एक अद्भुत घटना घटी। वहाँ श्रोताओं के देखते-देखते उस बाँस की एक गाँठ, जिसमें धुन्धुकारी बैठा था, तड़-तड़ाकर फट गई। इसी प्रकार दूसरे दिन सायंकाल में दूसरी गाँठ फटी और तीसरे दिन उसी समय तीसरी फटी, इसी प्रकार सात दिनों में बाँस की सातों गाँठें फट गईं। पूरी भागवत की कथा सुनने से धुन्धुकारी सारे पापों से मुक्त होकर सबके सामने दिव्य रूप से प्रकट हो गया उसका शरीर श्यामवर्ण का था। शरीर पर पीताम्बर शोभा पा रहा था। कानों में कुण्डल, शिर पर मुकुट झिलमिला रहे थे। गले में तुलसी की माला लटक रही थी। विष्णु के पार्षदों जैसा रूप उसने धारण कर रक्खा था। उसने अपने भाई गोकर्ण को प्रणाम कर कहा—“भैया, आपने कृपाकर प्रेत-योनि से मेरा उद्धार कर दिया। यह प्रेत-योनि अत्यन्त पीड़ा-दायक है। सप्ताह भी धन्य-धन्य है। इसके श्रवण से कृष्ण-लोक की प्राप्ति हो जाती है। सप्ताह के आयोजन को सुनते ही सारे पाप थर्रा उठते हैं। वे सोचते हैं कि अब पृथिवी पर से पापों की सत्ता ही समाप्त हो जायेगी। कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रकार के पाप भागवत-सप्ताह श्रवण से, उसी प्रकार भस्म हो जाते हैं, जैसे आग से शुष्क काष्ठ जलकर राख बन जाते हैं।

विद्वानों ने देवाताओं की सभा में कहा है कि जो लोग इस भारतवर्ष में जन्म पाकर श्रीमद्भागवत की कथा नहीं

१. यह ब्राह्मणों के मन्त्रों का तेज था कि उसके द्वारा सूर्य की गति का भी स्तम्भन कर दिया जाता था। उनकी गति कुछ क्षणों के लिये रोक दी जाती थी।



सुनते उनका जन्म निरर्थक ही है। बड़े यत्न के साथ जिस शरीर को पालापोषा जाता है, वह शरीर भी अध्रुव है, नश्वर है। इस अस्थिर किन्तु दुर्लभ मानव-शरीर को पाकर भी जो धर्म का उपार्जन नहीं करता वह निरा पशु ही है। इस लोक में सप्ताह-श्रवण करने से भगवान् अतिशीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं, अतः सब प्रकार के दोषों को समाप्त करने के लिये एकमात्र यही साधन है। भला, जिसके प्रभाव से जड़ एवं सूखे हुए बाँस की गाँठें फट सकती हैं, उस भागवत कथा का श्रवण करने से चित्त की गाँठों का खुल जाना कौन बड़ी बात है। सप्ताह-श्रवण करने से मनुष्य के हृदय की गाँठ खुल जाती है, उसके समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं—

जडस्य शुष्कवंशस्य यत्र ग्रन्थिविभेदनम् । चित्रं किमु तदा चित्तग्रन्थिभेदः कथाश्रवात् ॥  
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि सप्ताहश्रवणे कृते ॥

५/६४-६५॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत का माहात्म्य बतलाते हुए सनत्कुमारजी ने नारदजी से कहा—मुनिवर, दिव्यरूपधारी धुन्धुकारी के इस प्रकार कहने पर वैकुण्ठवासी भगवान् के पार्षदों के सहित चमचमाता हुआ एक दिव्यविमान भूतल पर उतरा। सब लोगों के देखते-ही-देखते धुन्धुली का बेटा धुन्धुकारी उस विमान पर चढ़ गया। तब उस विमान को लेकर आये हुए भगवान् के पार्षदों से सनत्कुमारजी ने कहा—विष्णु के पार्षदों, आप कृपा करके यह बतलायें कि—यहाँ हमारे बहुत-से निर्मल-हृदयवाले श्रोता-गण हैं, उन सबके लिये भी आपलोग विमान क्यों नहीं लाये ? सबके समानरूप से कथा सुनने पर भी फल में इस प्रकार का भेद क्यों हुआ ? सबके लिये भी विमान क्यों नहीं आया ?

भगवान् के पार्षदों ने उत्तर दिया जिस प्रकार प्रेत ने उपवास कर सात दिनों तक एकाग्रचित्त से कथा का श्रवण कर मनन किया है, उस प्रकार दूसरों ने नहीं किया है। यही कारण है कि फल में भेद हुआ है। यदि ये श्रोता पुनः कथा का श्रवण करेंगे तो अवश्य इन्हें भी वैकुण्ठ की प्राप्ति होगी और गोकर्णजी, आप को तो भगवान् स्वयं आकर गोलोक धाम में ले जायेंगे, ऐसा कह कर वे विष्णु-पार्षद हरिकीर्तन करते हुए वैकुण्ठ लोक को चले गये।

श्रावण-मास में गोकर्णजी ने पुनः उसी प्रकार सप्ताह के क्रम से कथा कही और उन श्रोताओं ने उसे फिर से सुना, मनन किया। कथा की समाप्ति होते ही सैकड़ों विमानों के साथ वहाँ स्वयं भगवान् विष्णु प्रकट हो गये। भगवान् को देखते ही चारों ओर जय-जयकार और नमस्कार की ध्वनियाँ होने लगीं। प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्ण भी पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि करने लगे। उन्होंने प्रेमवश गोकर्ण को अपनी छाती से लगा कर अपने ही समान रूप-रङ्गवाला बना दिया। दूसरे सभी श्रोता भी पार्षदों जैसा दिव्य रूप धारणकर अलग-अलग विमानों पर आरूढ़ होकर भगवान् के धाम में चले गये। उस गाँव में कुत्ते और चाण्डाल पर्यन्त जितने भी प्राणी थे, वे सभी गोकर्ण जी की कृपा से विमानों पर चढ़ा लिये गये और उस दुर्लभ धाम में चले गये जहाँ योगिजन जाया करते हैं। बाद में गोकर्णजी को साथ में लिये हुए स्वयं भगवान् गोलोक धाम में पधारे।

यह सारा प्रकरण सुनाकर सनत्कुमार ने नारद जी से कहा—मुनिवर, सप्ताह-यज्ञ के द्वारा कथा का श्रवण करने से जैसा उज्ज्वल फल सञ्चित होता है, उसके विषय में अरे भाई क्या कहें ? जिन्होंने अपने कर्ण-पुट से गोकर्णजी की कथा का एक अक्षर भी पान किया था, उन्हें फिर माता के गर्भ में नहीं जाना पड़ा, वे भी मुक्त हो गये। जिस गति को व्यक्ति वायु-पान कर, जल पीकर तथा सूखे पत्ते चबाकर बहुत दिनों तक घोर तप करके भी नहीं प्राप्त कर सकते, उसे सप्ताह-श्रवण से सहज में ही प्राप्त कर लेते हैं—

वाताम्बुपर्णाशनदेहशोषणैस्तपोभिरुग्रैश्चिरकालसञ्चितैः ।

योगैश्च संयान्ति न तां गतिं वै सप्ताहगाथाश्रवणेन यान्ति याम् ॥५/८८



इस इतिहास का पाठ शाण्डिल्य मुनि भी चित्रकूट में निवास करते हुए, आनन्द में निमग्न होकर, सर्वदा किया करते हैं। यह कथा परम पवित्र है। एक बार के श्रवण से भी यह व्यक्ति के समस्त पाप-राशि को भस्म कर देती है। श्राद्ध के समय इसके पाठ से पितरों को परम सन्तुष्टि होती है। जो व्यक्ति इस का नित्य पाठ करता है, उसे मुक्ति अवश्य मिलती है—

श्राद्धे प्रयुक्तं पितृपुत्रिमावहेन्नित्यं सुपाठादपुनर्भवं च ॥५/९०  
॥ पद्मपुराणान्तर्गते श्रीमद्भागवत-माहात्म्य का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

## छठा अध्याय

### ( सप्ताह-कथा के श्रवण की विधि )

कुमारों ने कहा—नारदजी, अब हम आपको सप्ताह-श्रवण की विधि बतला रहे हैं। यह प्रायः कई मनुष्यों की सहायता और धन से साध्य कही गई है अथवा यदि कोई व्यक्ति अकेले स्वतन्त्र रूप से सप्ताह-श्रवण के लिये धन लगाने में समर्थ न हो तो आठ सहायक मिलकर इस शुभ कार्य का सम्पादन करें—

अथ ते सम्प्रक्ष्यामः सप्ताहश्रवणे विधिम् । सहायैर्वसुभिश्चैव प्रायः साध्यो विधिः स्मृतः ॥

६/१

सप्ताह-श्रवण की इच्छा होने पर सर्वप्रथम ज्योतिषी को बुलाकर मुहूर्त पूछना चाहिये। विवाह में जितना धन व्यय किया जाता है, उतना ही धन सप्ताह-श्रवण में भी लगाना चाहिये। सप्ताह-श्रवण के लिये भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, आषाढ़ और श्रावण—ये छः महीने श्रोताओं के लिये मोक्ष-प्राप्ति के कारण हैं। इन महीनों में भी भद्रा-व्यतीपात आदि कुयोगों को सर्वथा त्याग देना चाहिये<sup>१</sup>।

कथा-श्रवण का मुहूर्त निश्चित हो जानेपर देश-देशान्तरो में यह समाचार भेजना चाहिये कि यहाँ भागवत की कथा होगी, सब लोगों को सपरिवार पधारना चाहिये। स्त्री और शूद्रों को भी कथा-श्रवण के निमित्त बुलाना चाहिये। देश-देश में स्थित वैष्णवों, हरिकीर्तन के प्रेमियों और सम्बन्धियों को पत्र प्रेषित कर सूचित करना चाहिये कि—यहाँ सत्पुरुषों के समागम में अपूर्व रसमयी भागवत-कथा का आयोजन हो रहा है। आप लोगों को सपरिवार इसमें सम्मिलित होना चाहिये। यदि आप को विशेष अवकाश न हो तो भी एक दिन के लिये पधारने की अवश्य कृपा करनी चाहिये; क्योंकि यहाँ तो एक क्षण भी दुर्लभ है। इस प्रकार आमन्त्रित करके आये हुए लोगों के लिये ठहरने और भोजन की समुचित व्यवस्था करनी चाहिये।

१. सप्ताह-श्रवण के लिये चैत्र और पौष—इन दो महीनों को छोड़ कर बाकी सारे महीने शुभ बतलाये गये हैं। कौषीतकी संहिता के अनुसार मलमास, शुक्र, गुरु एवं चन्द्र के अस्त रहने पर, गुर्वादित्य अर्थात् खरमास अर्थात् चैत्र तथा पौष में और क्षय-तिथि में सप्ताह प्रारम्भ करने का विधान नहीं है। पद्मपुराण का कथन है कि—दिनों में शनि और मङ्गल त्याज्य हैं। ध्रुव और मृदु नक्षत्रों में तथा शुभ योग, शुभलग्नों और शुभ नक्षत्रों में कथारम्भ प्रशस्त कहा गया है। द्वादशी को सूत जी की मृत्यु हुई थी। उस दिन सूत-सूतक रहता है अतः नित्य की कथा में द्वादशी को अवकाश रहता है। सप्ताह में द्वादशी को कथा बन्द करने का विधान नहीं है—

भैमाकिर्वर्जिता वारा भानि ध्रुव-मृदूनि च । शुभयोगे तिथौ लग्ने कथारम्भः प्रशस्यते ॥  
नित्यायां च कथायां च पुराणानां मुनीश्वर । द्वादशीं वर्जयेत् प्राज्ञः सूत-सूतकसंभवात् ॥

सप्ताहे न निषेधोऽस्ति ग्राहुरेव पुराविदः ।—पद्मपुराण



कथा का आयोजन तीर्थ में, वन में अथवा अपने घर पर भी अच्छा माना गया है। हाँ, लम्बे-चौड़े स्थान का अवश्य ध्यान रखना चाहिये। कथा-स्थल को साफ-सुथरा करके उसे अलङ्कृत करे। केले के खम्भों से मण्डित एक ऊँचा मण्डप तैयार कराये। उसे फल-पुष्प आदि से सुसज्जित करे। वक्ता को आसानी से बैठने के लिये, गद्दा-मसनद से युक्त, एक सुन्दर आसन की व्यवस्था करे, जो सबसे ऊँचा हो। वक्ता के आसन के बराबर या उससे ऊँचा किसी का भी आसन नहीं होना चाहिये। यदि वक्ता का मुख उत्तर की ओर रहे तो श्रोता पूर्व की ओर मुख करके बैठे और यदि वक्ता पूर्वाभिमुख रहे तो श्रोता को उत्तर की ओर मुख करके बैठना चाहिये—

**उदङ्मुखो भवेद्वक्ता श्रोता वै प्राङ्मुखस्तदा । प्राङ्मुखश्चेद्वेद्वक्ता श्रोता चोदङ्मुखस्तदा ॥६/१८**

अथवा वक्ता और श्रोता—दोनों को पूर्व की ओर मुख करके बैठना चाहिये। सामने श्रोताओं को बैठने की यथायोग्य व्यवस्था करनी चाहिये। स्त्रियों की पंक्ति अलग रखे। वक्ता विद्वान् हो, दृष्टान्त देने में निपुण हो, व्याख्या करने में प्रवीण हो और हो निलोभी भी। वक्ता का वैष्णव होना आवश्यक है। भगवान् के मुख से प्रादुर्भूत होने के कारण ब्राह्मण को यहाँ वैष्णव कहा गया है\*। जो ब्राह्मण नहीं हैं, उनके मुख से कथा का श्रवण नहीं करना चाहिये। श्रीमद्भागवत का श्रवण तो अब्राह्मण से बिल्कुल नहीं कराना चाहिये। महान् से महान् पण्डित होने पर भी किसी पाखण्डी को व्यासासन पर न बैठाये। प्रधान वक्ता की सहायता के लिये एक वैसा ही विद्वान् वक्ता और स्थापित करना चाहिये। कथा प्रारम्भ करने के एक दिन पूर्व ही व्रत ग्रहण करने के लिये वक्ता को क्षौर करा लेना चाहिये। वक्ता और श्रोता—दोनों को अरुणोदय के समय शौच-स्नान से निवृत्त होकर नित्य-कर्म का सम्पादन करना चाहिये। श्रोता को चाहिये कि वह कथा प्रारम्भ होने के पूर्व विघ्नविनाशक गणेश का पूजन अवश्य सम्पन्न करे। तर्पण, सर्वप्रायश्चित्त करके मण्डल बनाना चाहिये और श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिये फिर प्रदक्षिणा, नमस्कार और स्तुति करनी चाहिये। उस समय कहना चाहिये—मैं संसार-सागर में डूब रहा हूँ। कर्म-मोह रूपी ग्राह में पाँव पकड़ लिया है। हे करुणानिधे, मुझे बचा लीजिये—

**संसारसागरे मग्नं दीनं मां करुणानिधे । कर्म-मोह-गृहीताङ्गं मामुद्धर भवार्णवात् ॥६/२७**

इसके बाद भागवत की पूजा कृष्ण-बुद्धिसे करनी चाहिये। धूप, दीप, श्रीफल आदि समर्पित कर नमस्कार करना चाहिये। इसके बाद वक्ता की पूजा करनी चाहिये। उनको वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत करे और उनसे यह प्रार्थना करे—हे शुक्लस्वरूप वक्ता महाराज, आप ज्ञान के सागर हैं, समझाने की कला में पारङ्गत हैं। सब शास्त्रों से इसकी संगति लगा सकते हैं—समझ सकते हैं। आप इस कथा को प्रकाशित करके मेरे अज्ञानरूपी अन्धकार को मिटाइये—

**शुक्लरूप प्रबोधज्ञ सर्वशास्त्रविशारद । एतत्कथाप्रकाशेन मदज्ञानं विनाशय ॥६/३३**

वक्ता के अतिरिक्त पाँच ऐसे ब्राह्मणों का वरण करना चाहिये, जो कथा में विघ्न-विनाश के लिये द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करें—

**वरणं पञ्च विप्राणां कथाभङ्गनिवृत्तये । कर्तव्यं तैर्हरिर्जाप्यं द्वादशाक्षरविद्यया ॥६/३५**

उनके अतिरिक्त जो ब्राह्मण, विरक्त, वैष्णव और कीर्तनकारी वहाँ उपस्थित हों उनका भी मान-सम्मान करके और उनसे आदेश लेकर कथा-श्रवण के निमित्त आसन पर बैठाना चाहिये। श्रवण की बेला में लोक-चिन्ता, वित्त-चिन्ता, धन-चिन्ता, गृह-चिन्ता, पुत्र-चिन्ता आदि संसार की सारी चिन्ताओं को मन से निकालकर स्वस्थ चित्त से कथा-रस का पान करे, तभी उत्तम फल की प्राप्ति होती है—

**लोकवित्तधनागारपुत्रचिन्तां व्युदस्य च । कथाचित्तः शुद्धमतिः स लभेतफलमुत्तमम् ॥६/३७**

वक्ता को चाहिये कि वह कहीं-कहीं कथा की व्याख्या को कुछ सङ्कुचित भले ही कर दे, किन्तु किसी कथा को

१. वैष्णवोऽत्र स विज्ञेयो यो विष्णोर्मुखमुच्यते । ब्राह्मणोऽस्य मुखमिति श्रुते ब्राह्मण एव सः ॥ कौ०सं० ६/२०



छोड़ना नहीं चाहिये। मध्याह्न की बेला में दो घड़ी का विश्राम आवश्यक है। आवश्यकता पड़ने पर लोगों को समझाने के लिये ही बाह्य प्रसङ्गों का आश्रय लेना चाहिये। अप्रासङ्गिक बातें न आने पावें इसका ध्यान रखना चाहिये। कथा के समय आसानी के लिये लघु आहार ही अपेक्षित है। श्रोताओं को चाहिये कि यदि वे रह सकें तो सात दिनों तक दुग्ध या फल का ही आहार करें। यदि बिना भोजन के कथा-श्रवण में विघ्न हो तो सार्यकाल कथा-समाप्ति के बाद एक बार पत्तल पर हविष्यान्न—क्षीर आदि का भोजन कर ले। यही उत्तम पक्ष है। यदि इतने से भी काम न चले तो भोजन करके भी कथा सुनने में कोई हानि नहीं है। ब्रह्मचर्य से रहे। भूमि पर शयन करे। गरिष्ठ, बासी, भावदूषित तथा निषिद्ध शाकों का परित्याग कर देना चाहिये। काम-क्रोध आदि मनोविकारों से बचे। किसी की निन्दा न करे। रजस्वला, म्लेच्छ, पतित, गायत्रीहीन द्विज और नास्तिकों से बात नहीं करनी चाहिये। दरिद्र, क्षय रोगी, भाग्यहीन, सन्तानहीन, पापी तथा मोक्ष चाहनेवाला व्यक्ति इस कथा का श्रवण अवश्य करे। जिस स्त्री को मासिक धर्म न होता हो, जिसे कभी प्रसव न हुआ हो, जिसके बच्चे मर जाते हों, जिसका गर्भ गिर जाता हो ऐसी स्त्रियों को प्रयत्नपूर्वक भागवत का श्रवण अवश्य करना चाहिये।

अपुष्या काकवन्ध्या च वन्ध्या या च मृतार्भका । स्रवद्गर्भा च या नारी तथा श्राव्या प्रयत्नतः ॥

६/५२

कथा के प्रारम्भ और अन्त में भागवत की आरती उतारने का विधान कभी भी न भूले। ब्राह्मण से ही इस कथा का श्रवण करना चाहिये। इस प्रकार विधि-विधान से कथा सुनने पर अक्षय फल की प्राप्ति होती है।

सप्ताह की पूर्ति पर, जन्माष्टमी व्रत की भाँति, उद्यापन करे। किन्तु जो भगवान् के अकिञ्चन भक्त हैं उनके लिये उद्यापन का आग्रह नहीं है। वे कथा के सुनने मात्र से कृतकृत्य हो जाते हैं। सप्ताह-यज्ञ की समाप्ति पर श्रोताओं को अत्यन्त भक्ति के साथ पुस्तक और वक्ता की पूजा करनी चाहिये। उस समय अपनी शक्ति के अनुसार कृपणता छोड़कर वस्त्र, आभूषण और द्रव्य समर्पित करना चाहिये। पूजा कर लेने पर प्रसाद, तुलसी-पत्र ग्रहण करके ही घर जाना चाहिये। प्रसाद का अनादर अनुचित ही नहीं धर्मविरुद्ध भी है।

दैनिक-कथा की समाप्ति पर कीर्तन का आयोजन करना चाहिये। ब्राह्मणों और याचकों को धन और अन्न प्रदान करना चाहिये। किसी को कठोर वचन न बोले। सप्ताह समाप्त होने पर, विरक्त श्रोता को गीता-पाठ और गृहस्थ श्रोता को हवन करने का विधान है। हवन में दशम-स्कन्ध का एक-एक श्लोक पढ़कर विधिपूर्वक खीर, मधु, घृत, तिल और अन्नादि सामग्रियों से आहुति दे। अथवा गायत्री मन्त्र से हवन का विधान है क्योंकि भागवत गायत्री-स्वरूप ही है। न्यूनता आदि दोषों को दूर करने के लिये विष्णुसहस्रनाम का पाठ करना चाहिये। बारह ब्राह्मणों को खीर, हलवा और पूड़ी का उत्तम भोजन करावे। गौ और सुवर्ण का दान करे। सामर्थ्य हो तो तीन तोले सोने के सिंहासन पर भागवत की पुस्तक रखकर, विधि-विधान से पूजा कर, दक्षिणा के साथ, विद्वान् आचार्य को समर्पित कर दे। ऐसा करने वाला बुद्धिमान् दाता जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत-सप्ताह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का दाता है, बड़े भाग्य से सप्ताह-श्रवण का अवसर उपलब्ध होता है।

सनकादि ने कहा—नारद जी, इस प्रकार हमने तुम्हें सप्ताह-श्रवण की पूरी-पूरी विधि सुना दी। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? इस श्रीमद्भागवत से भोग और मोक्ष—दोनों ही सुलभ हो जाते हैं—

श्रीमद्भागवतेनैव भुक्तिमुक्ती करे स्थिते ॥ ६/६९ ॥

सूत ने कहा—शौनक जी, इस प्रकार कह कर कुमारों ने एक सप्ताह तक श्रीमद्भागवत की सर्वपापविनाशिनी परम पवित्र श्रीमद्भागवत की कथा का प्रवचन किया। श्रोताओं ने बड़ी तन्मयता से इस प्रवचन को सुना। इसके पश्चात् उन्होंने गद्गदवाणी से भगवान् पुरुषोत्तम की स्तुति की।



कथा के अन्त में ज्ञान, वैराग्य और भक्ति को बड़ी पुष्टि मिली और वे तीनों एकदम तरुण होकर सब जीवों को अपनी ओर आकर्षित करने लगे। अपना मनोरथ पूरा होने से नारदजी को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके सारे शरीर में रोमाञ्च हो आया और वे आनन्द से गद्गद हो उठे। उन्होंने हाथ जोड़कर सनकादिकों से कहा—“मुनिवरों, आज मैं धन्य-धन्य हो गया। तपोधनों, मैं भागवत की कथा को सारे धर्मों से श्रेष्ठ समझता हूँ; क्योंकि इसके श्रवण से गोलोकविहारी श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है—

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः । वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणादस्य लभ्यते ॥६/७६

नारद अभी इस प्रकार कह ही रहे थे कि षोडशवर्षीय योगेश्वर श्री शुकदेव जी, हनुमान् चालीसा की भाँति, शनैः-शनैः श्रीमद्भागवत के श्लोकों को पढ़ते हुए वहाँ आ पहुँचे—

तत्राययौ षोडशवार्षिकस्तदा व्यासात्मजो ज्ञानमहाब्धिचन्द्रमाः ।

कथावसाने निजलाभपूर्णः प्रेम्णा पठन् भागवतं शनैः शनैः ॥६/७८

उन्हें देखकर सारे श्रोता उठकर खड़े हो गये। प्रणाम कर उनका सम्मान किया और भक्तिपूर्वक उनका पूजन कर एक दिव्य सिंहासन पर उन्हें बैठाया। सुखपूर्वक आसन पर बैठकर श्रीशुकदेव की ने कहा—हे रसिक एवं भावुक सज्जनों, यह श्रीमद्भागवत वेदरूपी कल्पवृक्ष का पका हुआ सुमधुर फल है। शुकरूप मेरे मुख का संयोग होनेसे अमृत-रस से परिपूर्ण है। यह रस-ही-रस है। इस में छिलका और गुठली जैसा कुछ भी त्याज्य अंश नहीं है। यह इसी लोक के मानवों को सुलभ है। जब तक शरीर में चेतना रहे, प्राण रहें, तब तक आप लोग इसका बार-बार पान करें—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।

पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥६/८०

इसमें निष्कपट-निष्काम भक्तिरूप परम धर्म का निरूपण किया गया है। इसमें वास्तविक वस्तु का, यथार्थ तत्त्व का, वर्णन है। इससे त्रिविध तापों की निवृत्ति होती है। इसका आश्रय लेने पर किसी अन्य शास्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। भागवत-श्रवण की इच्छा होते ही ईश्वर हृदय में आकर अवरुद्ध हो जाते हैं। यह सारे पुराणों में श्रेष्ठ है। वैष्णवों का परम धन है। इसका भक्तिपूर्वक मनन करने वाला व्यक्ति बन्धन से मुक्त हो जाता है। भागवतरूपी रस स्वर्गलोक, सत्यलोक, कैलास और वैकुण्ठ में भी सुलभ नहीं है इसलिये भाग्यवान् श्रोताओं, तुम इसका खूब पान करो, इसे कभी भी मत छोड़ो—

स्वर्गे सत्ये च कैलासे वैकुण्ठे नास्त्ययं रसः ।

अतः पिबन्तु सद्भग्या मा मा मुञ्चत कर्हिचित् ॥६/८३

सूतजी ने कहा— मुनियों, अभी शुकदेव महाराज इस प्रकार कह ही रहे थे कि सभा के मध्य में भगवान् श्रीहरि प्रकट हो गये। उनके साथ प्रह्लाद, बलि, उद्धव और अर्जुन आदि पार्षद हाथ जोड़े खड़े थे। देवर्षि नारद ने भगवान् और उनके भक्तों की यथोचित पूजा की। भगवान् को भव्य सिंहासन पर बैठाया और उनके चारों ओर खड़े होकर सभी बड़े प्रेम से कीर्तन करने लगे। तन्मय होकर सभी नाच रहे थे। वीणा, ताल, मृदङ्ग आदि सुमधुर वाद्य बजाये जा रहे थे। भगवान् के जय-जयकार से आकाश-मण्डल गूँज उठा। चतुर्दिक् आनन्द का सागर लहराने लगा। लोग इस प्रकार कीर्तन में तल्लीन थे कि उन्हें अपनी भी सुध-बुध न रही। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य भी भाव-विभोर हो नटों के समान नाचने लगे। भक्तों की इस प्रकार की तन्मयता को देखकर भगवान् प्रसन्न होकर बोले—“मैं तुम्हारी इस कथा और कीर्तन से बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारे भक्ति-भाव ने मुझे अपने वश में कर लिया है अतः तुम लोग अपनी इच्छा के अनुसार मुझ से वर माँग लो”। भगवान् की वाणी को सुनकर सभी भक्तों ने एक स्वर से कहा—“भगवन्, सप्ताह-कथा में इसी प्रकार प्रकट होकर आप भक्तों का मनोरथ सर्वदा पूरा करते रहें—यह हमें वरदान दीजिये”। भक्तवत्सल भगवान् ने ‘तथाऽस्तु’ कहा और अन्तर्धान हो गये—“तथेति चोक्तवान्तरधीयताच्युतः” ॥८९॥



नारदजी ने भगवान् उनके पार्षदों और कुमारों को बड़े भक्ति-भाव से प्रणाम किया। सप्ताह-श्रवण से सभी परमानन्द निमग्न थे। उसके बाद सनकादि के सहित नारद जी ब्रह्मलोक चले गये।

सूत जी ने आगे कहा—शौनक जी, भगवान् तो श्रीमद्भागवत में रहते ही हैं, किन्तु श्रीशुकदेव महाराज की आज्ञा से भक्ति और ज्ञान-वैराग्य भी इसी में बैठ गये। इसलिये भागवत का सेवन करने से श्रोता और वक्ता—दोनों के ही चित्त में भगवान् का अवतरण होता है। जो लोग दरिद्रता के दुःखज्वर से दग्ध हो रहे हैं, जिन्हें माया-पिशाची ने रौंद डाला है तथा जो संसार-सागर में डूब रहे हैं, उनका कल्याण करने के लिये श्रीमद्भागवत सदा गर्जन करता रहता है—

दारिद्र्यदुःखज्वरदाहितानां

मायापिशाचीपरिमर्दितानाम् ।

संसारसिन्धौ परिपातितानां क्षेमाय वै भागवतं प्रगर्जति ॥६/९२

शौनक जी ने पूछा कि सूतजी, इस श्रीमद्भागवत को श्री शुकदेव जी परीक्षित जी को, गोकर्ण ने अपने भाई धुन्धुकारी को तथा सनकादि ने नारद जी को किस-किस समय सुनाया था—यह मेरा संशय दूर कीजिये।

सूत जी ने कहा—शौनक जी, भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधाम-गमन के तीस वर्ष बाद भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि से श्री शुकदेव जी ने यह कथा प्रारम्भ की थी। उसके दो सौ वर्ष के बाद आषाढ मास में शुक्ल पक्ष की नवमी को ही गोकर्ण ने यह कथा धुन्धुकारी को सुनाई थी। उसके बाद तीस वर्ष और बीत जाने पर कार्तिक शुक्ल नवमी से ही सनकादि ने कथा प्रारम्भ की थी। शौनक जी, आप नें जो कुछ पूछा था, उसका उत्तर मैंने आपको दे दिया। इस कलियुग में भागवत की कथा भवरोग को विनष्ट करने के लिये राम-बाण औषध हैं—

“कलौ भागवती वार्ता भवरोगविनाशिनी” ॥६/९७

श्रीमद्भागवत श्रीकृष्ण का प्रिय है, सकल पाप-ताप का विनाशक है, मुक्ति का कारण है और भक्ति को बढ़ाने वाला है। आप आदर के साथ इसका सेवन कीजिये। संसार में तीर्थ आदि का सेवन इसके सामने अकिञ्चित्कर हैं। जब यमदूत यमपुरी से हाथ में फन्दा लेकर चलते हैं तब यमराज उन्हें बुलाकर कहते हैं—जो भागवत कथा में, भगवान् की कथा में आकण्ठ डूब कर रसपान करने वाले हैं, उनका मैं स्वामी नहीं हूँ अतः बड़ी सावधानी से ऐसे लोगों से दूर रहना। इस संसार में विषयरूप विष की आसक्ति के कारण व्याकुल बुद्धि वाले पुरुषों, अपने कल्याण के लिये, आधे क्षण के लिये भी इस शुक-कथारूप अनुपम सुधा का पान करो। अरे भाइयों, निन्दित कथाओं से भरे हुए कुमार्ग में क्यों भटक रहे हो? इस कथा के कान में प्रवेश करते ही प्राणी मुक्त हो जाता है, इस बात के साक्षात् साक्षी राजा परीक्षित हैं—

असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः क्षणार्थं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम् ।

किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे परीक्षित साक्षी यच्छ्रवणगतमुत्तयुक्तिकथने ॥

६/१००

श्री शुकदेव महाराज ने रस-प्रवाह में स्थित होकर यह कथा कही है। जिसके कण्ठ से इस कथा का सम्बन्ध हो जाता है, वह वैकुण्ठाधिपति बन जाता है—“कण्ठे सम्बद्ध्यते येन स वैकुण्ठप्रभुर्भवेत्” ॥१०१॥

मैंने परम गोपनीय, सारे शास्त्रों के सार से भरी हुई, शास्त्र-पुञ्ज देखकर, यह कथा आप को सुनाई है। संसार में शुककथा से बढ़कर निर्मल कोई वस्तु नहीं है। इसके बारह स्कन्ध सारे वेद-शास्त्रों के सार हैं, आप इनका सार-सार पीजिये। जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक नित्य इसका श्रवण करता है और जो विष्णु के एकान्त भक्तों के सामने इसे सुनाता है, उन दोनों को भागवत-श्रवण-श्रावण के फलस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति होती है। सच कहा जाय तो सत्य का आश्रय लेने पर संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। श्रीमद्भागवत के आश्रय से संसार में सब कुछ प्राप्त हो जाता है ॥६॥

॥ पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्य का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

॥ हरिः ओम् ।



॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

श्रीमन्महागणाधिपतये नमः

## श्रीमद्भागवत-हृदय

कथा-सप्ताह

सप्ताह के पहले दिन की कथा का प्रारम्भ

प्रथम स्कन्ध

पहला अध्याय

( नैमिषारण्य में सूतजी से शौनक आदि ऋषियों द्वारा छः प्रश्न )

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराद् तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः ।

तेजोवारिमृदाम् यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्त्वं परं धीमहि ॥१॥

अन्वयः—अर्थेषु, अन्वयात्, च, अकार्येभ्यः, इतरतः (हेतोः), यतः, (परमेश्वरात्), अस्य, जन्मादि, (भवति); च, यः, अभिज्ञः, स्वराद्, यः, हृदा, आदिकवये, ब्रह्म, तेने, यत्, (यत्र), सूरयः, अपि, मुह्यन्ति; यथा, तेजोवारिमृदाम्, विनिमयः, (भासते), (तथा), यत्र, (मृषा, अपि), त्रिसर्गः (अधिष्ठानसत्तया), अमृषा, (इव), भासते, स्वेन, धाम्ना, सदा, निरस्तकुहकम्, तम्, परम्, सत्यम्, धीमहि ॥१॥

शब्दार्थः—अर्थेषु = कार्यों में, परमेश्वर के सत् रूप से, अन्वयात् = अनुगत होने से, च = और, अकार्येभ्यः = असत् अकाश-कुसुम आदि पदार्थों से, इतरतः = पृथक् होने के, (हेतोः = कारण), अथवा—अन्वयात् = उपादान कारण, च = तथा, इतरतः = निमित्त कारण, यतः = जिस, (परमेश्वरात् = परमेश्वर से), अस्य = इस विश्व-प्रपञ्च का, जन्मादि = सृष्टि, स्थिति और संहार आदि, (भवति = होता है); च = और, यः = जो, अभिज्ञः = चैतन्यस्वरूप, अथवा—अर्थेषु = बनाई जानेवाली वस्तुओं के विषय में, अभिज्ञः = अभिज्ञ, च = तथा, स्वराद् = स्वप्रकाश, स्वतः सिद्धज्ञान, (अस्ति = है); यः = जिसने, हृदा = मन से, सङ्कल्प से, आदिकवये = ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ को, ब्रह्म = वेद अथवा अपने तत्त्व को, तेने = प्रकाशित किया है, प्रदान किया है, यत्र = जिसके सम्बन्ध में, सूरयः = बड़े-बड़े विद्वान्, अपि = भी, मुह्यन्ति = मोहित हो जाते हैं; यथा = जैसे, तेजोवारिमृदाम् = तेज, जल और मिट्टी का, विनिमयः = एक दूसरे में दूसरे की प्रतीति, (भासते = भासित होती है, अर्थात् जैसे तेजोमय सूर्य-रश्मियों में जल का<sup>१</sup>, जल में स्थल का और स्थल काच आदि में जल का भ्रम होता है<sup>२</sup>, (तथा = वैसे ही), यत्र = जिसमें (मृषा = मिथ्या, अपि = भी), त्रिसर्गः = त्रिगुणात्मक भूत, इन्द्रिय और देवता रूप सर्ग, (अधिष्ठानसत्तया = अधिष्ठान की सत्ता से, आश्रय की सत्ता से), अमृषा = सत्य, (इव = सा), भासते = प्रतीत होता है<sup>३</sup>; स्वेन = अपने स्वरूपभूत, धाम्ना = तेज से, प्रकाश से, सदा = सर्वदा और सर्वथा, निरस्तकुहकम् = माया तथा माया के कार्य से पूर्णरूप से मुक्त, माया के कार्य को निरस्त कर देनेवाले, काट देनेवाले, तम् = उस, परम = प्रकृष्ट, परम, सत्यम् = त्रिकाल में भी बाधित न होनेवाले, सत्यम् = सत्यस्वरूप परमेश्वर का, धीमहि = हम ध्यान करते हैं ॥१॥

१. इसे ही मृगमरीचिका या मरुमरीचिका कहते हैं ।

२. जैसे युधिष्ठिर के राजप्रासाद में दुर्योधन को स्थल में जल-बुद्धि तथा जल में स्थल-बुद्धि हो गई थी ।

३. माया के जो तीन गुण हैं, वे भी परमात्मा के ही स्वरूप हैं, अतः वे भी परमात्मा ही हैं, इसलिये अमृषा = सत्य हैं । परन्तु परमात्मा से पृथक् रूप में वे बिल्कुल सत्य नहीं हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि इस सृष्टि-प्रपञ्च में परमात्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है । सर्वत्र सब कुछ परमात्मा-ही-परमात्मा है ।



**अर्थ:**—कार्यों में परमेश्वर के सत् रूप से अनुगत होने से और असत् आकाश-कुसुम आदि पदार्थों से पृथक् होने के कारण, अथवा उपादान कारण तथा निमित्त कारण—उभयरूप जिस (परमेश्वर) से इस विश्व-प्रपञ्च का सर्ग, पालन और संहार आदि होता है; तथा जो चैतन्य स्वरूप अथवा बनाई जानेवाली वस्तुओं के विषय में अभिज्ञ तथा स्वप्रकाश है; जिसने सङ्कल्पमात्र से ब्रह्मा को वह वेद प्रदान कर दिया है, जिसके सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं; जैसे तेज, जल और मिट्टी की एक दूसरे में प्रतीति भासित होती है, अर्थात् जैसे तेजोमयी सूर्य-रश्मियों में जल का, जल में स्थल का और स्थल काच आदि में जल का भ्रम होता है, (वैसे ही) जिसमें मिथ्या भी त्रिगुणात्मक भूत, इन्द्रिय और देवतारूप सर्ग सत्य-सा प्रतीत होता है; अपने स्वरूपभूत तेज से सर्वदा और सर्वथा माया और माया के कार्य को काट देनेवाले अर्थात् माया तथा माया के कार्य से सर्वदा मुक्त उस परम सत्यरूप परमेश्वर का हम ध्यान करते हैं॥१॥

**धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।**  
**श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥२॥**

**अन्वयः**—महामुनिकृते, अत्र, श्रीमद्भागवते, निर्मत्सराणाम्, सताम्, प्रोज्झितकैतवः, परमः, धर्मः, (निरूप्यते); अत्र, तापत्रयोन्मूलनम्, शिवदम्, वास्तवम्, वस्तु, वेद्यम्; परैः, (शास्त्रैः), ईश्वरः, सद्यः, हृदि, किं वा, अवरुध्यते ?; अत्र, शुश्रूषुभिः, कृतिभिः, तत्क्षणात्, (अवरुध्यते) ॥२॥

**शब्दार्थः**—महामुनिकृते = महामुनि व्यासदेव के द्वारा निर्मित, अत्र = इस, श्रीमद्भागवते = सुन्दर भागवत में, श्रीमद्भागवत में, निर्मत्सराणाम् = ईर्ष्या डाह से रहित, शुद्ध अन्तःकरणवाले, सताम् = भगवद्भक्तों का, प्रोज्झितकैतवः = फल की आकांक्षा से रहित, फल के आकांक्षारूप कपट से रहित, परमः = सर्वोत्कृष्ट, धर्मः = भक्तिरूप धर्म, (निरूप्यते = प्रतिपादित किया गया है); अत्र = इस श्रीमद्भागवत में, तापत्रयोन्मूलनम् = तीनों तापों को जड़ से नष्ट करने वाला, शिवदम् = परम कल्याणकारी, परमानन्ददायक, वास्तवम् = परमार्थरूप, वास्तविक, वेद्यम् = सरलता से जानने योग्य, वस्तु = ब्रह्म, परमात्मा, (निरूपितम् = प्रतिपादित किया गया है); परैः = दूसरे, (शास्त्रैः = शास्त्रों से) ईश्वरः = ईश्वर, परमात्मा, सद्यः = शीघ्र, हृदि = हृदय में, किं वा = क्या, अवरुध्यते = अवरुद्ध हो जाता है, आकर बैठ जाता है; बन्दी बन जाता है ? अर्थात् नहीं, विलम्ब से अवरुद्ध होता है । अत्र = इस पुराण के, शुश्रूषुभिः = श्रवण की इच्छावाले, कृतिभिः = पुण्यशाली जनों के द्वारा, तत्क्षणात् = उसी समय, अविलम्ब, (अवरुध्यते = ईश्वर हृदय में बन्दी बना लिया जाता है) ॥२॥

**अर्थ:**—महामुनि व्यासदेव के द्वारा निर्मित इस सुन्दर भागवत में, ईर्ष्या-डाह से रहित, शुद्ध अन्तःकरणवाले भगवद्भक्तों का, फलकी आकांक्षा से रहित अथवा फलके आकांक्षारूप कपट से रहित, सर्वोत्कृष्ट, भक्तिरूप धर्म प्रतिपादित किया गया है । इस श्रीमद्भागवत में तीनों तापों को जड़ से नष्ट करने वाला, परम कल्याणकारी, परमानन्ददायक, वास्तविक, सरलता से जानने योग्य, परमात्मा निरूपित किया गया है । दूसरे शास्त्रों से परमात्मा शीघ्र हृदय में क्या अवरुद्ध हो जाता है ? अर्थात् नहीं, विलम्ब से अवरुद्ध होता है । इस पुराण के श्रवण की इच्छावाले पुण्यशाली जनों के द्वारा श्रवण-काल में उसी समय, अविलम्ब ईश्वर हृदय में बन्दी बना लिया जाता है ॥२॥

१. अधिष्ठान की सत्ता से अधिष्ठित भी सत्य प्रतीत होने लगता है ।

२. इस श्लोक में 'सत्यं परं' इन दो पदों से ब्रह्म के स्वरूप लक्षण का और बाकी जन्मादि पदों से तटस्थ लक्षण का कथन किया गया है । दूसरे से दूसरे को बतला देना, लखा देना तटस्थ लक्षण है और तत्त्व के रूप से उसे बतलाना स्वरूप लक्षण है ।

३. दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों को ।

४. यदि भगवद्भक्त भागवत के उत्कट श्रवण की इच्छा से सम्पन्न हो तो परमात्मा श्रवण-काल में ही श्रोता भक्त के हृदय में आकर बैठ जाता है । यह भागवत में उही है, दूसरे शास्त्रों में नहीं है ।



निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।

पिबत भागवतं रसमालयं, मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥३॥

अन्वयः—हे भावुकाः, हे रसिकाः, निगमकल्पतरोः, फलम्, शुकमुखात्, अहो भुवि, गलितम्, अमृतद्रवसंयुतम्, भागवतम्, रसम्, आलयम्, मुहुः, पिबत ॥३॥

शब्दार्थः—हे भावुकाः = हे कल्याण की कामना करने वाले, हे रसिकाः = रस के मर्मज्ञ भक्तजन ! निगमकल्पतरोः = वेदरूप कल्पवृक्ष के, फलम् = फल, गलित फल, शुकमुखात् = शुक के मुख से, अहो = भक्तों के भाग्यवश, भुवि = भूतल पर, गलितम् = गिरे हुए, निर्गत, अमृतद्रवसंयुतम् = परमानन्दरूप अमृत के घोल से परिपूर्ण, लबालब भरे हुए, भागवतम् = भागवत, रसम् = रस को, आलयम् = जब तक शरीर में चेतना रहे तब तक, मरणपर्यन्त, मुहुः = बार-बार, पिबत = पान करते रहो ॥३॥

अर्थः—हे कल्याण की कामना करने वाले रस के मर्मज्ञ भक्तजन, वेदरूप कल्पवृक्ष के सुपक्व फल, शुक के मुख से, भक्तों के भाग्यवश, भूतल पर गिरे हुए, परमानन्दरूप अमृत के घोल से परिपूर्ण भागवत रस को, जब तक शरीर में चेतना रहे तब तक बार-बार पान करते रहो ॥३॥

एक समय देवताओं के क्षेत्र नैमिषारण्य में शौनक आदि ऋषि परमात्मा की प्राप्ति के लिये सहस्र वर्षव्यापी विशाल सत्र<sup>१</sup> का अनुष्ठान कर रहे थे। एक दिन की घटना है। ऋषि-जन प्रातःकाल अग्नि में हवन कर भगवान् के ध्यान में निमग्न थे, उसी समय व्यासजी के परमज्ञानी शिष्य सूत जी वहाँ पधारे। ऋषियों ने उठकर उनका स्वागत किया, सत्कार किया और आदरपूर्वक आसन पर बैठाया। सूत जी जब आनन्द से बैठ गये तब उन्होंने उनसे विनम्रता पूर्वक प्रश्न किया—भगवन्, आपने समस्त इतिहास-पुराणों का अध्ययन और उनका प्रवचन भी किया है। जो व्यास जानते हैं, मुनि-जन जानते हैं, सगुणवादी-निर्गुणवादी जानते हैं, वह सब आप जानते हैं। सद्गुरुओं का यह स्वभाव है कि वे श्रद्धालु एवं स्नेही शिष्य को गुप्त-से-गुप्त बात भी बतला देते हैं अतः बतलाइये आप नें सब कुछ पढ़ कर (१) मनुष्यों के एकान्त श्रेय के विषय में क्या निश्चय किया है ? अर्थात् मनुष्यों के लिये मुख्य श्रेय का साधन क्या है ? पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तत्रः शंसितुमर्हसि ।

आप सन्त-समाज के भूषण हैं। इस कलियुग में प्रायः लोगों की आयु कम हो गई है। साधन करने में लोगों की रुचि एवं प्रवृत्ति भी नहीं है। लोग आलसी हो गये हैं। उनका भाग्य तो मन्द है ही, समझ भी स्वल्प है; इसके साथ ही वे नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं से घिरे हुए भी रहते हैं (२) संसार में शास्त्रों का अम्बार है। उनमें एक निश्चित साधन का वर्णन न होकर अनेक प्रकार के कर्मों का निर्धारण है। इसके साथ ही वे इतने विशाल हैं कि उनके एक अंशका सुनना भी कठिन है। आप परोपकारी हैं। अपनी बुद्धि से उनका सार निकाल कर प्राणियों के परम कल्याण

१. इस श्लोक को लिखने के समय, निश्चय ही, व्यासदेव की दृष्टि में आम्र का वृक्ष रहा होगा। आम्र का फल पक कर जब पूर्ण पीला हो जाता है तब रस-लोलुप शुक उसे काट कर रस-पान करने लग जाता है। उस स्थिति में कभी-कभी गला हुआ फल भूतल पर गिर जाता है। पता नहीं शुक के मुख में कैसा द्रव होता है जिससे संयुक्त होकर मधुर आम्र-फल अतिशय मधुर हो जाता है। इसी प्रकार निगमरूप कल्पतरु का सुपक्व फल भागवत, जो केवल रसस्वरूप है, शुकदेव जी के मुख से निर्गत होकर सौभाग्य वश भूतल पर टपका है, आया है। इस प्रक्रिया में भागवत की मधुरिमा अतिशय बढ़ गई है। “भागवतं रसं” इन दोनों पदों में समान विभक्ति के द्वारा यह सूचित किया गया है कि—भागवत रस से अभिन्न है, रस भागवत से अभिन्न है। इसमें त्याज्य अंश कुछ भी नहीं है। सब पेय ही पेय है।
२. ‘स्वर्गाय लोकाय’ का अर्थ है—परमात्मा के लोक की प्राप्ति के लिये। ‘स्वः = स्वर्ग गीयते = कीर्त्यते इति स्वर्गायः = विष्णुस्तस्य लोकाय ।’
३. जिस यज्ञ में बहुत-से यजमान होते हैं उसे ‘सत्र’ कहते हैं। एक ही यजमान जिसमें होता है उसे ‘यज्ञ’ कहते हैं जैसे—अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि।



के लिये हम श्रद्धालुओं को सुनाइये, जिससे हमारे अन्तःकरण की शुद्धि हो। प्यारे सूत जी, हमारा तीसरा प्रश्न यह है कि (३) यदुर्वेशियों के रक्षक भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण जी वसुदेव की धर्मपत्नी देवकी के गर्भ से किस कार्य को करने के लिये अवतार धारण किये थे। (४) वे लीला से ही अवतार धारण करते हैं। नारदादि महात्माओं ने उनके उदार कर्मों का गान किया है। हम श्रद्धालुओं के लिये आप उनका वर्णन कीजिये। (५) आप लीलाविहारी श्रीहरि की मङ्गलमयी अवतार-कथाओं का भी वर्णन कीजिये। हम भगवान् का चरित-गान सुनने के लिये लालायित बैठे हैं। यह संसार सागर है। इससे पार पाना कठिन है अतः इससे पार पाने की इच्छा रखने वाले हम के लिये ब्रह्माजी ने आप को कर्णधार बना कर भेजा है। हमारा अन्तिम और (६) प्रश्न यह है कि— धर्मरक्षक, ब्राह्मण-भक्त, योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के आपने धाम में चले जाने पर धर्म किसकी शरण में गया—

ब्रूहि योगेश्वर कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि। स्वां काष्ठामधुनोपेतै धर्मः कं शरणं गतः ॥२३॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

## दूसरा अध्याय

(सूत जी के द्वारा चार प्रश्नों के उत्तर और भक्ति का महत्त्व)

कृष्णभक्तिः परं श्रेयः शास्त्रसारश्च सैव हि। प्रयोजनं सतो रक्षा कर्म सृष्ट्यादिलक्षणम् ॥

अवतारा असंख्येया धर्मो भागवते स्थितः। चतुर्णामत्र शेषस्य तृतीये चोत्तरं कृतम् ॥

(कृष्ण की भक्ति ही परं श्रेय है। वही शास्त्रों का सार है। भक्तों की रक्षा ही भगवान् के अवतार का प्रयोजन है। सृष्टि, पालन और संहार रूप ही भगवान् का कार्य है। परमात्मा के अवतार असंख्येय हैं और भागवत में वर्णित विषय ही धर्म है अथवा धर्म भगवद्भक्तों में स्थित है। प्रारम्भ के चार प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में ही तथा शेष दो का उत्तर तृतीय अध्याय में दिया गया है।

ऋषियों के इस प्रकार के प्रश्नों को सुनकर रोमहर्षणनन्दन उग्रश्रवा बड़े प्रसन्न हुए। रोमहर्षण का अर्थ है— अपने प्रवचन से श्रोताओं के रोयें खड़ा कर देनेवाला। वे जब पुराणों की कथा कहते तो श्रोताओं के रोयें खड़े हो जाते थे। सब रोमाञ्चित हो जाते थे। अतः ऋषियों ने सोचा कि जब सूत जी प्रवचन करेंगे तो हम लोग पुलकावलि से मण्डित हो जायेंगे, क्योंकि पिता के गुण-पुत्र में भी होने चाहिये। इसी से यहाँ यह नाम दिया। उग्रश्रवा का अर्थ है—जरा ऊँचा सुननेवाला।

उन्होंने ऋषियों के प्रश्न का आदर किया तथा अभिनन्दन किया और कहा कि आपने बहुत बढ़िया प्रश्न किया है। इसके बाद उन्होंने अपने गुरु शुकदेव की वन्दना करते हुए कहा—

१. उक्त छः प्रश्नों का एक स्थान पर सङ्कलन इस प्रकार किया गया है—

किं श्रेयः ? शास्त्रसारः कः ? स्वावतारप्रयोजनम्। किं कर्म ? केऽवताराश्च ? धर्मः कं शरणं गतः ? ॥

इत्येते सूतमुद्दिश्य षट् प्रश्ना मुनिभिः कृताः।

अर्थ—प्राणियों का परम कल्याण क्या है ? सारे शास्त्रों का सार क्या है ? भगवान् के अवतार का प्रयोजन क्या है ? भगवान् का कर्म क्या है ? उनके कितने अवतार हैं ? और उनके धराधाम छोड़ने पर धर्म किसकी शरण में गया ? यद्यपि इन प्रश्नों का उत्तर प्रकरणानुसार सारा श्रीमद्भागवत ही है, किन्तु इनमें से प्रथम चार का उत्तर आगे द्वितीय अध्याय में और शेष दो का तृतीय अध्याय में संक्षेप से प्रस्तुत किया गया है।



उपनयन आदि संस्कार न किये गये। अतः तदुचित कर्मकाण्ड से रहित श्रीशुकदेव सब कुछ छोड़कर घर से विरक्त होकर जाने लगे। उनकी यह दशा देखकर ब्रह्मसूत्र और गीता के कर्ता व्यास-सरीखे महात्मा विरह से व्याकुल होकर पुकारने लगे—बेटा, वत्स, पुत्र, तुम कहाँ जा रहे हो ? उस समय वृक्षों ने तन्मय होकर श्री शुकदेव जी की ओर से उत्तर दिया था<sup>१</sup> ऐसे सर्वभूतहृदय-स्वरूप श्री शुकदेव मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ—

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।

पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥१/२/३

यह जो श्रीमद्भागवत है, अत्यन्त गोपनीय और रहस्यों से भरा हुआ पुराण है। एकमात्र भगवान् के स्वरूप का अनुभव कराने वाला है, समस्त वेदों का सार-सर्वस्व है। संसार में फँसे हुए, घोर अज्ञानरूप अन्धकार के पार जाना, चाहने वालों के लिये आध्यात्मिक तत्त्वों को प्रकाशित करने वाला अद्वितीय दीपक है। संसारियों पर करुणा करके बड़े-बड़े मुनियों के आचार्य श्री शुकदेव जी ने इसका वर्णन किया है। इन्हीं व्यासपुत्र की मैं शरण ग्रहण करता हूँ—

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितीक्ष्णं तमोऽन्यम् ।

संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥१/२/३

मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ भगवान् के अवतार नर-नारायण ऋषियों को, सरस्वती देवी को और व्यासदेव जी को नमस्कार करके तब संसार और अन्तःकरण के समस्त विकारों पर विजय प्राप्त करानेवाले इस श्रीमद्भागवत महापुराण का पाठ करना चाहिये—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥१/२/३

आगे पुनः सूतजी ने कहा—शौनक जी, आपके प्रश्न संसार का मङ्गल करनेवाले हैं। उनके लिये आप को धन्यवाद है। कृष्ण-सम्बन्धी प्रश्नों से लोगों का महान् कल्याण होता है और आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। वस्तुतः पुरुषों का सबसे महान् धर्म वही है जिससे भगवान् की भक्ति हो। भक्ति भी ऐसी हो जिसमें कोई हेतु न हो, फल की कामना न हो, और वह अप्रतिहत हो, कभी टूटे नहीं, जिससे हृदय सुप्रसन्न हो जाता है। भगवान् वासुदेव में किया गया भक्ति-योग हृदय में शीघ्र संसार से वैराग्य और शुष्क तर्कादि से रहित विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न कर देता है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः । जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥१/२/७

धर्म का भली-भाँति अनुष्ठान करने पर भी यदि भगवान् की कथा में रुचि नहीं उत्पन्न हुई तो उसे धर्म नहीं केवल श्रम ही समझना चाहिये—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥१/२/८

धर्म अपवर्ग—मोक्ष का साधक है, उसका प्रयोजन केवल अर्थ—धन कमाना नहीं है। अर्थ—धन का प्रधान प्रयोजन है धर्मोपार्जन, विषय-सुख, इन्द्रिय-लालन नहीं। विषय भी शरीर के निर्वाह के लिये हैं, इन्द्रियों की तृप्ति उनका प्रयोजन नहीं है। संसार में तत्त्व की जिज्ञासा ही जीवन का प्रयोजन है, केवल कर्मजाल में फँसा रहना नहीं। तत्त्व तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—

१. पहाड़ की घाटी में या वृक्षों के वन के पास यदि आप जोर से पुकारते हैं तो पहाड़ की घाटी और वृक्षों की ओर से वैसी ही प्रतिध्वनि आती है जैसी कि ध्वनि होती है। परमात्मा के स्वरूप श्रीशुक जी सबके हृदय में विराजमान हैं—सर्वेषां भूतानां हृदि अयते प्रविशति इति सर्वभूतहृदयः ? अतः मानो वे ही वृक्षों के बहाने व्यास को उत्तर दे रहे हैं—पुत्र, पुत्र ! अर्थात् व्यास महाराज, यह पिता-पुत्र का भाव अनिश्चित है। संभव है कभी मैं ही आप का पिता था और आप मेरे पुत्र थे अतः इस संसार में कौन किसका बाप है और कौन किसका बेटा ? बेटा-बाप का सम्बन्ध काल्पनिक है, तात्त्विक नहीं इसलिये आप लौट जाइये। कहने का अभिप्राय यह है कि तत्त्व वृक्षों का अन्तरात्मा होकर, तत्त्व पर्वतों का अन्तरात्मा होकर 'पुत्र' ऐसी प्रतिध्वनि के व्याज से शुकदेव जी ने अपने पिता जी को तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया।

२. शुकदेव जी के जन्म की कथा इसी स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में, प्रसङ्ग के अनुसार, वर्णित है।



धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थोपकल्पते । नार्थस्य धर्मेकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥  
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥

१/२/९-१०

अतः सर्वदा निश्चल भाव से, एकाग्र मन से उन्हीं का श्रवण, कीर्तन, ध्यान तथा पूजन करना चाहिये—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥१/२/१४

अद्वय ज्ञान का नाम तत्त्व है । जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञेय, अलग-अलग नहीं प्रतीत होते, जहाँ जड़ और चेतन भिन्न-भिन्न नहीं मालूम पड़ते, जीव और ईश्वर, प्रकाश्य और प्रकाशक पृथक् नहीं ज्ञात होते उसी का नाम अद्वय ज्ञान है । उपनिषदों में उसी को 'ब्रह्म' कहा है । उसी को हिरण्यगर्भ 'परमात्मा' कहते हैं । पञ्चरात्र के उपासक उसी को 'भगवान्' कहते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्धते ॥१/२/११

परमात्मा की उपासना से मानव के बन्धन का कारण अहङ्कार निवृत्त हो जाता है और उनकी कथा में दृढ रुचि उत्पन्न हो जाती है । श्रीकृष्ण के यश का श्रवण और कीर्तन—ये दोनों ही बातें पवित्र करनेवाली हैं । वे अपनी कथा सुननेवालों के हृदय में आकर बैठ जाते हैं और उनकी अशुभ वासनाओं को नष्ट कर देते हैं; क्योंकि वे सन्तों के नित्यसुहृद् हैं—

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः । हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥१/२/१७

भगवान् के हृदय में बैठते ही, उनका साक्षात्कार होते ही, हृदय की गाँठ छिन्न-भिन्न हो जाती है, सारे के सारे सन्देह मिट जाते हैं और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥१/२/२१

फिर चित्त कभी काम, क्रोध आदि शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता । उसमें सत्त्व का ही साम्राज्य सर्वदा विराजमान रहता है । चित्त में सत्त्व गुण के स्थित होने के कारण वह परम शान्ति का अनुभव करता है । प्रकृति से परे एक ही भगवान् श्रीकृष्ण सृष्टि, पालन और संहार के हेतु ब्रह्मा, विष्णु और महेश जैसे नाम, गुणों के अनुसार, धारण करते हैं । फिर भी मानव का परम कल्याण तो सत्त्व गुण को धारण करनेवाले श्रीहरि से ही होती है<sup>१</sup> ।

वेद, यज्ञ, जप और तप आदि सारी क्रियाएँ इन्हीं वासुदेव का आश्रयण करती हैं, इन्हीं का प्रतिपादन करती हैं । सारे धर्मों की विश्रान्ति वासुदेव श्रीकृष्ण में ही होती है । ये ही सम्पूर्ण लोकों की रचना करते हैं और देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि योनियों में लीला के लिये अवतार धारण करके सत्त्वगुण के द्वारा जीवों का पालन-पोषण करते हैं—

भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः । लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥१/२/३४

अतः आप लोग भी इन्हीं का ध्यान, पूजन और आराधन करें ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

●

१. जिसका विवाह होता है, गीत उसी का गाया जाता है । भागवत श्रीहरि की लीलाओं का वर्णन करता है अतः उन्हीं को सर्वप्रधान बतलाया गया है । इसी प्रकार ब्रह्मपुराण में ब्रह्मा की, शिवपुराण में शिव की तथा विष्णुपुराण में विष्णु की प्रधानता का वर्णन किया गया है । किन्तु सत्य तो यह है कि तीनों एक ही सत्ता के तीन रूप हैं, न कोई छोटा है और न कोई बड़ा—“केहि बड़ छोट कहत अपराधू ।”



## तीसरा अध्याय

( शेष दो प्रश्नों-अवतार और धर्म-स्थिति के उत्तर )

सूत जी ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा—शौनक जी, आपने भगवान् के अवतार<sup>१</sup> के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया था उसका उत्तर अब सुनें। पहले सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने लोक-निर्माण की इच्छा से पुरुषरूप ग्रहण किया था इसी को पुरुषावतार कहते हैं। नारायण भी इन्हीं को कहा जाता है। उस समय भगवान् अपनी योग-निद्रा का विस्तार कर सागर में शयन कर रहे थे। उन्हीं की नाभि से निकले कमल-कोश पर ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई और उन्हीं के शरीर के अवयवों से सारे लोकों की रचना सम्भव हुई। योगिजन अपने ज्ञानचक्षु से भगवान् के इसी विशुद्ध सत्त्वमय प्रधान स्वरूप का दर्शन करते हैं। भगवान् का यह षोडश कलावाला रूप है—“संभूतं षोडशकलमादौ”। दर्शन करनेवाले ज्ञानी यह देखते हैं कि भगवान् का यह रूप अनन्त पैर, ऊरु, भुजा, मुख, शिर, कर्ण, नेत्र और नासिका से अलङ्कृत है। वह हजारों मुकुट, वस्त्र और कुण्डल आदि आभूषणों से सुशोभित हो रहा है—

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजानान्द्रुतम् ।

सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥१३/४

भगवान् का यही रूप उनके अनन्तानन्त अवतारों का अक्षय कोश है—इसी से सारे अवतार प्रकट होते हैं। इस रूप के छोटे-से-छोटे अंश से देवता, पशु-पक्षी और मानव आदि योनियों की सृष्टि होती है<sup>२</sup>—

सतन्नावावताराणां निधानं बीजमव्ययम् । यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः ॥१३/५

इसी रूप से जिन २४ अवतारों का प्रादुर्भाव हुआ था, उनका क्रमशः विवरण इस प्रकार है—(१) सनकादि महर्षियों का अवतार, (२) वाराहावतार, (३) नारदावतार, (४) नर-नारायणावतार, (५) कपिलावतार, (६) दत्तात्रेयावतार, (७) यज्ञावतार, (८) ऋषभावतार, (९) पृथु-अवतार, (१०) मत्स्यावतार, (११) कूर्मावतार, (१२) धन्वन्तरि-अवतार, (१३) मोहिनी अवतार, (१४) नृसिंहावतार, (१५) वामनावतार, (१६) परशुरामावतार, (१७) व्यासावतार, (१८) रामावतार, (१९) बलदेवावतार, (२०) श्रीकृष्णावतार, (२१) हरि-अवतार, (२२) हंसावतार, (२३) बुद्धावतार और (२४) कल्कि-अवतार<sup>३</sup>।

१.(क) अवतार के कई भेद होते हैं जैसे—व्यूहावतार, विभु अवतार, अन्तर्यामी अवतार, अर्चावतार। इनमें मुख्य अवतार विभु अवतार होता है। इसके दो भेद हैं—मुख्य और गौड। गौड के तीन भेद होते हैं—शक्ति अवतार, आवेशावतार और विभूति अवतार। मुख्य अवतार के भी तीन ही भेद होते हैं—पूर्णावतार, अंशावतार और कलावतार। कृष्ण पूर्णावतार थे—“कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥”

(ख) ऊपर के लोक से नीचे के लोक में उतरने को अवतार कहते हैं। जैसे कूर्प में गिरे हुए बेटे का उद्धार करने के लिये पिता स्वयं कूर्प में उतर जाता है और बेटे को बाहर निकाल ले आता है। वैसे ही कृपालु परमात्मा अपने बेटे भक्तों के उद्धार के लिये अपने लोक से भूतल पर आ जाता है और उनका उद्धार करता है। इसी भाव को श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस में इस प्रकार कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥—श्री०गीता, ४/७-८

जब जब होइ धर्म की हानी । बाढ़इ असुर महा अभिमानी ॥ तब तब प्रभु धरि मनुज शरीरा । हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ॥मानसा॥

२. जैसे वाष्प आदि के रूप में अनन्त सागर से निकला जल अन्त में जाकर सागर में ही समाहित हो जाता है, विलीन हो जाता है, ऐसे ही नारायण से निर्गत सारे अवतार, प्रयोजन पूर्ण कर, नारायण में ही विलीन हो जाते हैं।

३. नारायण के प्रधान दश अवतार इस प्रकार हैं—१. मत्स्य, २. कूर्म, ३. वाराह, ४. नृसिंह, ५. वामन, ६. परशुराम, ७. राम, ८. कृष्ण, ९. बुद्ध, और १०. कल्कि।  
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः । रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥ वाराहपुराण, ४/२



उपर्युक्त सारे अवतार तो भगवान् के अंशावतार अथवा कलावतार हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् (अवतारी) ही हैं। जब लोग दैत्यों के अत्यचार से व्याकुल हो जाते हैं, तब युग-युग में अनेक रूप धारण करके भगवान् उनकी रक्षा करते हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् । इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥१/३/२८  
यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है। भगवान् के असंख्य अवतार हैं। वे समय-समय पर प्रकट होकर संसार की रक्षा किया करते हैं। जो मानव भक्ति-भाव के साथ सायं-प्रातः इन नामों का श्रवण और कीर्तन करता है, वह जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है।

जैसे बादल वायु का आश्रय लेकर रहते हैं और धूसरपना धूलि में होता है, परन्तु अल्पबुद्धि मानव बादलों का आश्रय आकाश को और धूसरपना वायु में बतलाते हैं—वैसे ही अविवेकी पुरुषों ने सब के साक्षी आत्मा में स्थूल शरीर (दृश्यरूप जगत्) और सूक्ष्म शरीर का आरोप किया है। ये दोनों ही शरीर जीव के बन्धन हेतु संसार के कारण हैं। जब मानव के निर्मल हृदय में प्रेमलक्षणा भक्ति के द्वारा ज्ञानरूपी सूर्य का उदय होता है, तब ये दोनों शरीर ज्ञानग्नि में भस्म हो जाते हैं। उस समय भगवान् का साक्षात्कार कर व्यक्ति परम आनन्द का अनुभव कर कृतार्थ हो जाता है।

प्रेमलक्षणा भक्ति उसके हृदय में प्रकट होती है जो भगवान् के जन्म, कर्म, लीला का श्रवण, मनन और कीर्तन करता है तथा नित्य-निरन्तर निष्कपट भाव से उनके चरण-कमलों की दिव्य गन्ध का सेवन करता है—सेवा-भावसे उनके चरणों का चिन्तन करता रहता है—

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।

योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥१/३/३८

शौनकादि ऋषियों, आप लोग बड़े ही सौभाग्यशाली तथा धन्य हैं जो इस जीवन में और बहुत-से विघ्नों से भरपूर इस संसार में त्रिलोकी के स्वामी श्रीकृष्ण से अनिर्वचनीय अनन्य प्रेम करते हैं। इस प्रकार का प्रेम करने वाला व्यक्ति पुनः इस संसार में जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता—“न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः” ॥३९॥ यद्यपि आप सब मुक्त ही हैं फिर भी आप की कथा-श्रवण की लालसा धन्य है, स्पृहणीय है। अब मैं आप लोगों को भागवत का श्रवण कराने जा रहा हूँ। भगवान् वेदव्यास ने इस भागवत को वेदों के समान भगवच्चरित्र से पूरिपूर्ण बनाया है—

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् । उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥१/३/४०

पूज्य व्यासजी ने लोक-कल्याण की भावना से इसका निर्माण किया है। यह धन्य है, स्वस्त्ययन है। इसी को व्यास जी महाराज ने संयमियों के शिरोमणि अपने पुत्र शुक्रदेवजी महाराज को ग्रहण कराय़ा है, पढ़ाय़ा है—

तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ॥१/३/४१

यह भागवतमहापुराण सम्पूर्ण वेद-इतिहास का सार-सार है, मखन है, क्रीम है—

सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ॥१/३/४२

शुक्रदेवजी ने यह भागवत राजा परीक्षित को सुनाया था। वे उस समय अन्न-जल का परित्याग कर शरीर छोड़ने के लिये गङ्गा के पावन दक्षिण तट पर बैठे थे। ऋषि-मुनि उन्हें घेरे हुए थे। वहीं मैंने भी इसका अध्ययन उनकी कृपा से किया है। इस कलियुग में जिन लोगों के नेत्र, धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध में नष्ट हो गये हैं, फूट गये हैं, उन अन्धों को दृष्टि-प्रदान करने के लिये इस भागवतरूपी सूर्य का उदय हुआ है—

“कलौ नष्टदशामेष पुराणाकोऽधुनोदितः” ॥१/३/४४

उस समय जैसा मैंने पढ़ा और जितना मेरी बुद्धि ने ग्रहण किया वह मैं आप लोगों को सुना रहा हूँ—“यथाधीतं



यथामति"। ४५।<sup>१</sup> धर्म भी अब इसी भागवत के आश्रय में रहता है। यह "धर्मः कं शरणं गतः" ? इस प्रश्न का भी उत्तर हो गया।।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

## चौथा अध्याय

( व्यासजी के आश्रम में नारदजी का आगमन )

सूत की बात सुनकर ऋषि शौनक ने आदर के साथ कहा—महाराज सूतजी, आप वक्ताओं के शिरोमणि हैं। आप कृपा कर हमें भागवत की वही कथा सुनायें जो शुकदेवजी ने महाराज परीक्षित जी को सुनाई थी। वह कथा किस युग में, किस स्थान पर और किस कारण से हुई थी ? मुनिवर कृष्णद्वैपायन ने किस की प्रेरणा से परमहंसों की संहिता इस भागवत का निर्माण किया था ? उनके पुत्र शुकदेव समदर्शी और योगी थे। वे निर्विकल्प थे, एकान्तमति थे। माया-निद्रा का उन पर कोई प्रभाव न था। वे उन्निर थे। उनकी कहीं आसक्ति और भेद-दृष्टि न थी। उनकी महिमा यह है कि जब उत्पन्न होते ही वे सब कुछ त्याग कर वन में जा रहे थे तब उन्हें मार्ग में एक सरोवर मिला। उसमें नित्यतरुणी सुन्दर अप्सरायें नग्न होकर जल-विहार कर रही थीं। उन लोगों ने शुकदेवजी को देखा, ध्यान से देखा। किन्तु उन्हें न तो लज्जा की अनुभूति हुई और न वस्त्र ही धारण किया। शुकदेव जी आगे बढ़ गये। विरह-व्याकुल व्यास जी उनके पीछे-पीछे पुत्र-पुत्र पुकारते हुए जा रहे थे। व्यासजी बूढ़े थे, पूर्ण बूढ़े। वे वस्त्र भी धारण किये हुए थे। जब वे सरोवर पर पहुँचे तो उन्हें देखकर अप्सराएँ लज्जा के मारे गड़ गईं। झट-पट निकल कर उन लोगों ने वस्त्र से अपने अङ्गों को ढक लिया, आच्छादित कर लिया। यह देख कर व्यास जी को महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने सुन्दरियों से पूछा—“दैवियों, क्या बात है ? अभी-अभी आगे-आगे तरुण, तमाल की तरह श्याम सुन्दर मेरा बेटा जा रहा है। वह निर्वस्त्र है, गंगा-धड़ङ्गा है। किन्तु उसे देख कर तुम लोगों को लज्जा की अनुभूति न हुई। किन्तु बूढ़े और वस्त्र पहने हुए मुझे देख कर तुम लोगों को इस प्रकार की लज्जा क्यों हुई ? इस पर उन तरुण सुन्दरियों ने उत्तर दिया—“भगवन् आप संसारी हैं। आप की दृष्टि में स्त्री-पुरुष का भेद है। आप यह जानते हैं कि स्त्री क्या है और पुरुष क्या है ? किन्तु आप के पुत्र की पवित्र दृष्टि में वह भेद नहीं है”। यह सुनकर व्यासजी चकित होकर मौन हो गये—

१. प्रथम स्कन्ध में तीन प्रकरण हैं—(१) सूत-शौनक संवाद, (२) नारद-व्यास संवाद और (३) शुक-परीक्षित संवाद। प्रथम और द्वितीय में तीन-तीन अध्याय हैं। तीसरे में तेरह अध्याय हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर उन्नीस अध्यायों में यह प्रथम स्कन्ध पूरा होता है।

सूत-शौनक कनिष्ठ वक्ता और श्रोता हैं। नारद-व्यास मध्यम वक्ता और श्रोता हैं तथा शुक-परीक्षित उत्तम वक्ता और श्रोता हैं। शौनक आदि ऋषि यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ धर्म है। उसी यज्ञ में सूत जी आ गये और वे धर्म के अङ्ग रूप से भागवत सुना रहे हैं। यज्ञ से खाली होनेपर सब भागवत सुनते हैं अतः ये लोग अधम वक्ता और अधम श्रोता हैं। नारद चलायमान वक्ता और व्यास चिन्ताकुल श्रोता हैं। व्यास नारद की बार-बार प्रेरणा से भागवत रचना में प्रवृत्त हुए हैं अतः ये लोग मध्यम वक्ता और मध्यम श्रोता हैं।

शुकदेव निर्गुण वक्ता हैं और परीक्षित निर्गुण श्रोता हैं। दोनों संसार से ऊपर उठ चुके हैं। दोनों का मातृ-पितृ कुल प्रशस्त एवं महनीय है। दोनों ही भागवत सुनाने एवं सुनने के लिये आतुर हैं अतः दोनों उत्तम कोटि के वक्ता अथ च श्रोता हैं।

२. शुकः—शु = शुद्धं शुक्लं कायति = गायति इति शुकः। जो शुद्ध— माया से परे परमात्मा का गान करते हैं वे शुक हैं। राधा रानी के नित्य लीलानिकुञ्ज में शुक रूप से यह विराजमान रहते हैं। इसलिये भी इन्हें शुक कहते हैं। शुक जैसा सुनता है, ठीक वैसा ही बोलता है।



दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।

तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥१४/५

अन्वयः—आत्मजम्, (शुकम्), अनुयान्तम्, अनग्नम्, अपि, ऋषिम्, (व्यासम्), दृष्ट्वा, (जले, क्रीडन्त्यः), देव्यः, ह्रिया, वासांसि, परिदधुः, तु, नग्नस्य, अपि, सुतस्य, (ह्रिया), न, दधुः; तत्, चित्रम्, वीक्ष्य, मुनौ, पृच्छति सति, (ताः), जगदुः, तव, स्त्रीपुंभिदा, अस्ति, (किन्तु) विविक्तदृष्टेः, तव, सुतस्य, नास्ति ॥१४/५॥

शब्दार्थः—आत्मजम् = अपने बेटे, (शुकम् = शुकदेव जी के) अनुयान्तम् = पीछे-पीछे जाते हुए, अनग्नम् = वस्त्रधारण किये हुए, अपि = भी, (व्यासम् = भगवान् व्यास को) दृष्ट्वा = देखकर, (जले = जल में, क्रीडन्त्यः = विहार करती हुई), देव्यः = अप्सरायें, ह्रिया = लज्जा के मारे, वासांसि = वस्त्र, परिदधुः = धारण कर लीं; तु = किन्तु, नग्नस्य = नंगे-धड़ङ्गे, अपि = भी, सुतस्य = पुत्र शुकदेव की, ह्रिया = लज्जा से, न = नहीं, दधुः = धारण कीं; तत् = उस, चित्रम् = आश्चर्य को, वीक्ष्य = देखकर, मुनौ = मुनि व्यास के, पृच्छति सति = पूछने पर, (ताः = उन लोगों ने), जगदुः = उत्तर दिया, तव = आप को, स्त्री-पुं-भिदा = स्त्री-पुरुष का भेद, अस्ति = है, (किन्तु = परन्तु), विविक्तदृष्टेः = निर्विकार दृष्टिवाले, तव = आपके, सुतस्य = बेटे को, नास्ति = नहीं है, वह निर्विकार दृष्टि है ॥१४/५॥

तो ऐसे निर्लिप्त, अनासक्त शुकदेव जी के साथ महाराज परीक्षित का संवाद कैसे हुआ ? जो उन्नत, मूक और जड़ के समान अवधूत के वेश में 'हस्तिनापुर' के आस-पास जङ्गलों में इधर-उधर विचरण किया करते थे। उन्हें लोगों ने कैसे पहचाना—“कथमालक्षितः पौरैः” ? इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि शिक्षा के लिये जब वह घूमते-फिरते कभी किसी गृहस्थ के घर पहुँच जाते थे तो वे वहाँ उतनी ही देर ठहरते थे जितनी देर में एक गाय दुही जाती है—

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥१४/८

ऐसी स्थिति में सात दिनों तक एक स्थान पर रुक कर परीक्षित को उन्होंने कथा कैसे सुनाई ? हमारे इस सन्देह को कृपा कर आप दूर करें।

इस संसार में शुकदेव-सा वक्ता और परीक्षित-सा श्रोता होना दुर्लभ है। अभिमन्यु के पुत्र महाराज परीक्षित परम भगवद्भक्त हैं। उनके जन्म-कर्म आश्चर्य से भरे हुए हैं। वे क्यों अपने विशाल साम्राज्य और लक्ष्मी का परित्याग करके गङ्गा के तट पर मृत्युपर्यन्त अनशन का व्रत लेकर बैठे थे ? राजा-महाराजा अपना धन ला-लाकर उनके चरणों पर समर्पित कर साक्षात् दण्डवत् किया करते थे। वे एक वीर युवक थे। उन्होंने दुस्त्यज लक्ष्मी और अपने प्राणों को त्याग देने की भला क्यों इच्छा की ? महात्माओं का जीवन अपने लिये तो होता नहीं। वे दूसरों के कल्याण के लिये जीवित रहते हैं—“जीवन्ति नात्मार्यम् ।” फिर वे अपना शरीर छोड़ भी कैसे सकते थे ? आप हमारे इन सभी प्रश्नों का उत्तर देने की कृपा करें, क्योंकि आप वेदों के अतिरिक्त सकल शास्त्रों के पूर्ण ज्ञाता हैं।

इन प्रश्नों को सुन कर सूत जी ने कहना प्रारम्भ किया—शौनक जी, व्यास जी का जन्म द्वापर के अन्त में हुआ था। वे महर्षि पराशर के पुत्र थे। उनकी जननी थी वसु-कन्या सरस्वती। वे भगवान् विष्णु के कलावतार थे। एक दिन वे सरस्वती नदी के तट पर एकान्त में आचमन कर बैठे थे। पूर्व दिशा में रविमण्डल उदित हो रहा था। इसी समय व्यास जी के मन में आया कि आगे कलियुग आनेवाला है। कलियुग के प्रभावसे मनुष्य अल्पायु, अश्रद्धालु, नास्तिक और शक्तिहीन होंगे। उनकी बुद्धि ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पायेगी। व्यास जी ने यह सब अपनी दिव्य-दृष्टि से देख लिया था। अतः उन्होंने सारे वर्णों एवं आश्रयों के हित की कामना से एक वेद-संहिता को चार



भागों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप—में विभक्त कर उन्हें क्रमशः अपने चार शिष्यों—पैल, वैशम्पायन, जैमिनि तथा सुमन्तु को पढ़ा दिया। उन्हीं की कृपा से मेरे पिता रोमहर्षण इतिहास-पुराण के ज्ञाता हुए। इतिहास-पुराण को पञ्चम वेद कहा जाता है—

इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥१/४/२०

स्त्री, शूद्र एवं पतित द्विजाति—ये तीनों ही वेद-श्रवण के अधिकारी नहीं हैं। अतः उनके कल्याण के लिये व्यास जी ने महाभारत की रचना की—

इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥१/४/२५

यह सब करने पर भी प्राणियों के कल्याण में निरन्तर निरत रहनेवाले महर्षि व्यास के हृदय में सन्तोष नहीं हुआ। वे मन-ही-मन सोचने लगे कि मैंने निष्कपट भाव से ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करते हुए वेद, गुरुजन और अग्नि की शुश्रूषा करते हुए सदा इनका सम्मान और आज्ञापालन किया है। महाभारत की रचना के व्याज से मैंने वेद के अभिप्राय को सबके लिये प्रकट कर दिया है। फिर भी, खेद है कि मेरे मन को सन्तोष की अनुभूति नहीं हो रही है। इसका क्या कारण है ?—

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः। कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥१/४/३२

व्यासजी इस प्रकार अपने को अपूर्ण-सा मान कर खिन्न बैठे थे। उनका मन उदास था। उसी समय उनके आश्रम पर देवर्षि नारद आ पहुँचे। उन्हें देखकर व्यास जी तुरन्त उठकर खड़े हो गये। उन्हें सादर प्रणाम किया और आसन पर बैठा कर अर्घ्य-पाद्य से उनकी विधिवत् पूजा की—

पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ॥१/४/३३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

## पाँचवाँ अध्याय

( व्यासजी के अपरितोष का कारण और नारदजी के द्वारा  
अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त का कथन )

व्यास जी ने नारदजी की पूजा-अर्चना की। सत्कार किया और बड़ी विनम्रता के साथ उनके पास में बैठ गये। फिर मुस्कराते हुए नारदजी ने व्यासजी से पूछा—महाभाग व्यासजी, आप का शरीर स्वस्थ है और मन प्रसन्न है न ? आप को जो कुछ करना था वह सब आपने कर लिया है। जो बातें जानने योग्य थीं उन्हें आप ने जान भी लिया है। अब आपके लिये कुछ करना बाकी नहीं है। फिर भी आप अपने को अपूर्ण-सा मान कर असन्तुष्ट क्यों हैं ? उदास क्यों हैं ?

महर्षि नारद के प्रश्न को व्यासजी ने सुना और फिर विनम्रतापूर्वक कहना प्रारम्भ किया—नारदजी, आपने मेरे विषय में जो कुछ कहा है वह सब ठीक है। फिर भी पता नहीं क्यों मेरा मन अन्तुष्ट है। आप सूर्य के समान त्रिलोकी में भ्रमण करते हैं। ब्रह्मा के मानस-पुत्र हैं। आप के लिये कुछ अज्ञेय नहीं है। अतः मैं आप से ही इसका कारण पूछना चाहता हूँ। कृपा कर मेरी कमी को आप बतलायें।

महर्षि ने व्यास की जिज्ञासा को सुना और फिर कहना प्रारम्भ किया—‘व्यासजी, आप ने भगवान् के निर्मल यश का प्रधान रूप से वर्णन नहीं किया है। यही कारण है कि आप की आत्मा को सन्तुष्ट नहीं हो रही है—यही आप में सबसे बड़ी कमी रह गई है। यही आप की न्यूनता है—



भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् । येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥१५/८८॥  
मुनिश्रेष्ठ व्यासजी, आपने महाभारत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का जैसा निरूपण किया है वैसा निरूपण श्रीकृष्ण की महिमा का नहीं किया है । व्यासजी, कोई कविता भले ही बहुत उत्तम कोटि की हो, चित्र-काव्य हो, विचित्र पदों का विन्यास हो, परन्तु यदि उसमें भगवान् के यश का वर्णन नहीं है तो वह वैसे ही है, जैसे वायसतीर्थ<sup>१</sup> । मानसरोवर के वासी हंस वहाँ नहीं जाते—

तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्युश्चिक्षयाः ॥१५/१०॥

भगवान् के गुणों का गान करनेवाली रचना अच्छी न हो, व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हो, छन्दोभंग भी हो, तो भी वह जनता की पापराशि को भस्म कर देती है । इसका कारण यह है कि उसमें भगवान् के मंगलमय यश का वर्णन होता है । इसीलिये साधु लोग हृदय से उसका अभिनन्दन करते हैं । अधिक कहने से क्या लाभ ?—  
“मोक्ष देनेवाला नैष्कर्म्य ज्ञान भी यदि भगवान् की भक्ति से रहित है तो उसका भी कुछ विशेष मूल्य नहीं है, क्योंकि वह बन्धन की निवृत्ति नहीं कर सकता है । ऐसी स्थिति में भगवान् की भक्ति से रहित सकाम और निष्काम कर्म का, तो कहना ही क्या है” ?—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।

कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥१५/१२॥

अन्वयः—निरञ्जनम्, नैष्कर्म्यम्, अपि, ज्ञानम्, (चेत्), अच्युतभाववर्जितम्, (तदा, तत्), अलम्, न शोभते; शश्वत्, अभद्रम् (यत् काम्यम्), च, यदपि, अकारणम्, कर्म, (अस्ति), तत्, ईश्वरे, न, अर्पितम्, तत्, कुतः ? ॥१५/१२॥

शब्दार्थः—निरञ्जनम् = अविद्या का निवर्तक, नैष्कर्म्यम् = मोक्ष का साधनभूत, अपि = भी, ज्ञानम् = ज्ञान, (चेत् = यदि), अच्युतभाववर्जितम् = भगवान् की भक्ति से रहित है, (तदा = तो, तत् = वह), अलम् = भली-भाँति, पर्याप्त, न = नहीं, शोभते = शोभित होता; शश्वत् = साधन-काल और फलकाल दोनों ही स्थितियों में, अभद्रम् = दुःखरूप, (यत् = जो, अकारणम् = अहेतुक, निष्काम, कर्म = कर्म, कार्य, (अस्ति = है), तत् = वह, ईश्वरे = भगवान् के लिये, न = नहीं, अर्पितम् = अर्पित किया गया है, तत् = तो वह, कुतः = कैसे सुशोभित हो सकता है ? ॥१५/१२॥

इसलिये हे महाभाग, यद्यपि आपका सांसारिक बन्धन छूट चुका है, फिर भी दूसरों का भव-बन्धन काटने के लिये—अखिलबन्धमुक्तये (१३) समाधि द्वारा भगवान् के चरित्रों का साक्षात्कार कर उनका वर्णन करें—समाधिनानुसारतद्विचेष्टितम्<sup>२</sup> (१३) । जो मनुष्य भगवान् की लीला के अतिरिक्त सांसारिक बातों का वर्णन करने की इच्छा करता है, उसकी बुद्धि वायु के वेग से डगमगाती हुई छोटी नैया की भाँति कहीं भी सुस्थिर नहीं हो पाती । संसारी लोग स्वभाव से ही विषयों में फँसे हुए हैं । धर्म के नाम पर आप ने उन्हें निन्दित, पशुओं की हिंसा से युक्त सकाम कर्म करने की भी आज्ञा दे दी है । यह बहुत ही विपरीत बात हुई; क्योंकि मूर्ख लोग आपके वचनों से निन्दित

१. 'वायसतीर्थ' घूर को कहते हैं, जहाँ जूठन कूड़ा-कबाड़ा फेंका जाता है । वहाँ कौओं की भीड़ लगी रहती है ।

२. लौकिक, विचित्र और समाधि भाषाओं में पुराणों की रचना हुई है । साधारण भाषा को लौकिक भाषा, अध्यात्मप्रधान भाषा को विचित्र भाषा और ब्रह्मानन्दमय भाषा को समाधि भाषा कहते हैं । श्रीमद्भागवत की रचना समाधि भाषा में की गई है । समाधि लगाकर दिव्य ज्ञान से भगवान् की लीलाओं का साक्षात्कार कर व्यासजी ने फिर अपनी भाषा में उनका वर्णन किया है अतः समाधि-भाषा के रहस्य को ठीक-ठीक समझना सरल नहीं है ।



कर्म को ही धर्म मान कर—‘यही प्रधान धर्म है, ऐसा निश्चय करके उसका निषेध करनेवाले वचनों को ठीक नहीं मानते—

**जुगुप्सितं धर्मं कृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।**

**यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥१/५/१५**

मानव का परम धर्म है कि वह भगवान् की भक्ति के लिये ही प्रयास करे । सांसारिक वस्तुओं की उसे कामना नहीं करनी चाहिये । मनुष्य को जिस प्रकार न चाहते हुए भी, बिना प्रयास के, दुःख प्राप्त हो रहा है, उसी प्रकार उसे विषय सुख भी प्राप्त हो जाता है । उसके लिये प्रयास करना उचित नहीं है । निवृत्ति का मार्ग अति कठिन है । इसके द्वारा कोई विरला ही व्यक्ति भगवत्सम्बन्धी सुख की अनुभूति कर सकता है । सभी इसके अधिकारी नहीं हैं । अतः साधारण प्राणियों के कल्याण के लिये आप भगवान् की लीलाओं का ही मुख्यरूप से वर्णन करें ।

“विद्वानों ने इस बात का निरूपण किया है कि मानव की तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञों के अनुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान और दान का एकमात्र प्रयोजन यही है कि पुण्य-कीर्ति श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओं का वर्णन किया जाय—”

**इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।**

**अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥१/५/२२**

आप तो भगवान् के साक्षात् कलावतार उठे । संसार का कल्याण करने के लिये ही आपका अवतार हुआ है । अतः अब आप ऐसे ग्रन्थ की रचना करें जिसमें मुख्यरूपसे भगवान् की लीलाओं का ही वर्णन हो । इससे जगत् का महान् कल्याण होगा और आप के मन को भी परमशान्ति की अनुभूति होगी ।

व्यास के मन में अपनी बात का गहरा प्रभाव डालने के लिये नारद जी ने आगे कहा—“व्यास जी, इस विषय में मैं अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुना रहा हूँ” उसे ध्यान से सुनें—

वेदवादी ब्राह्मणों के घर एक विधवा दासी थी<sup>१</sup> । मैं उसी दासी का बेटा था । वर्षा ऋतु में चातुर्मास्य करने के लिये वहाँ कुछ महात्मा लोग आये । यद्यपि मैं पाँच वर्ष का ही बालक था फिर भी गृहस्वामी ने मुझे महात्माओं की सेवा-शुश्रूषा में नियुक्त कर दिया । मैं किसी प्रकार की चञ्चलता नहीं करता था, जितेन्द्रिय था, खेलकूद से दूर रहता था, स्वल्पभाषी था और आज्ञानुसार उन महात्माओं की सेवा किया करता था । मेरे इस शील स्वभाव को देखकर समदर्शी मुनियों ने मुझ सेवक पर अत्यन्त अनुग्रह किया—

**ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।**

**चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥१/५/२४**

उनकी अनुमति प्राप्त करके बरतनों में लगा हुआ और उनके द्वारा ग्रास निकाला गया भोजन मैं दिन में एक बार खा लिया करता था<sup>२</sup>, इससे मेरे सारे पाप धुल गये । इस प्रकार उनकी सेवा करते-करते मेरा हृदय शुद्ध हो गया । वे लोग जैसा भजन-पूजन करते थे उसी में मेरी रुचि हो गई—“ममाऽभवद्बुधिः” (२६) । उन महात्माओं

१. दासी गोपजाति की विधवा स्त्री थी । इसका नाम था कलावती । इसका पति था—गोपराज द्रुमिल । कलावती ने मुनिवर कश्यप के स्थलित शुक्र को ग्रहण कर लिया था । उससे इसको पुत्र की प्राप्ति हुई थी । नारद के कलावती के गर्भ में आने पर द्रुमिल ने बदरिकाश्रम में जाकर योगधारणा के द्वारा अपने शरीर का परित्याग कर दिया था । ब्रह्मवैवर्तमहापुराण, ब्रह्मखण्ड, अध्याय ॥१३॥

२. यद्यपि भागवत में उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करने की बात है । किन्तु शास्त्र का वचन है कि ‘नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यात्’ ‘उच्छिष्टभोजिनः श्वानाः’ । अतः मैंने उपर्युक्त अर्थ लिखा है । अथवा “उत् उत्कृष्टं शिष्टम् उच्छिष्टम्” ग्रास निकाल कर रखा गया भोजन ही ‘उच्छिष्ट’ है ।



का प्रतिदिन सत्सङ्ग होता था। उसमें कृष्ण की मनोहर लीलाओं की चर्चा हुआ करती थी। उसे अतिशय प्रेम और तन्मयता से मैं सुना करता था। उससे कृष्ण के प्रति मेरी प्रगाढ़ रुचि हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि चराचर जगत् को मैं अपने स्वरूपमें ही देखने लगा। वे महात्मा वर्षा और शरद् दो ऋतुओं में वहाँ निवास किये। उनके इस चातुर्मास्य में निरन्तर कृष्ण-कथा के श्रवण का फल यह हुआ कि रजोगुण एवं तमोगुण को नष्ट करनेवाली भगवद्भक्ति का मेरे हृदय में प्रादुर्भाव हो गया। मैं उनका बड़ा ही अनुरागी था, विनयी था। उन लोगों की सेवा से मेरे पाप धुल चुके थे। मेरे हृदय में श्रद्धा थी, इन्द्रियों में संयम था। वाणी और मन से मैं उनका आज्ञाकारी था। जाते समय महात्माओं ने मुझे गुप्त ज्ञान का उपदेश दिया। वह इस प्रकार है—

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि । प्रद्युम्नायानुरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥

इति मूर्त्याभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम् । यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥ १/५/३८-३८

इसे भागवत गायत्री कहते हैं। इस मन्त्र में कहा गया है कि—हम भगवान् वासुदेव का ध्यान करते हैं। केवल भगवान् को ही नमस्कार ध्यान नहीं करते उनके बेटे प्रद्युम्न को भी नमस्कार करते हैं, ध्यान करते हैं। पौत्र अनिरुद्ध को भी नमस्कार करते हैं और बड़े भाई सङ्कर्षण बलराम को भी प्रणाम-ध्यान करते हैं। ये चारों मिल कर चतुर्व्यूह कहलाते हैं। इस प्रकार जो पुरुष चतुर्व्यूहरूपी भगवान् की मूर्तियों के नाम द्वारा प्राकृत-मूर्ति-रहित अप्राकृत मन्त्रमूर्ति भगवान् यज्ञपुरुष का पूजन करता है, उसी का ज्ञान पूर्ण एवं यथार्थ है।

नारदजी कहते हैं कि इस प्रकार महात्माओं ने मुझे उपासना की पद्धति बतलाई। इससे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे ऐश्वर्य, भक्ति, भाव सब कुछ दे दिया। अतः व्यास जी आप भी भगवान् की आराधना करें, भगवान् के गुणानुवाद का वर्णन करें। और उनकी प्रेममयी लीला का उल्लेख करें। उसी से बड़े-बड़े ज्ञानियों की जिज्ञासा पूर्ण होती है। जो लोग दुःखों के द्वारा बार-बार आक्रान्त किये जा रहे हैं, उनके दुःख की शान्ति इसी से हो सकती है। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

## छठा अध्याय

( अपना वृत्तान्त पूर्ण कर नारद जी का गमन )

इस प्रकार देवर्षि नारद के जन्म और साधना की बात व्यास जी ने सुनी। उन्होंने आगे पुनः प्रश्न किया—नारद जी, जब आप को उपदेश देकर महात्मा लोग चले गये तब आप ने क्या किया ? आप की बाकी आयु किस प्रकार व्यतीत हुई ? अन्त समय में आपने शरीर का परित्याग कैसे किया ? आप को अपने पूर्व जन्म की स्मृति कैसे बनी हुई है ? नारद जी ने व्यास के जिज्ञासा-भरे प्रश्नों को सुना और फिर कहना प्रारम्भ किया—

व्यासजी, मैं अपनी जननी का एकमात्र पुत्र था। एक तो वह स्त्री थी, दूसरे मूढ़ और तीसरे दासी। मुझे भी उसके अतिरिक्त कोई सहारा न था। उसने अपने आप को मेरे स्नेहपाश में आबद्ध कर रक्खा था। मैं भी अपनी माता के स्नेहपाश में उपनिबद्ध हो उस ब्राह्मण-वस्ती में ही रहा। उस समय मेरी अवस्था पाँच वर्ष की थी। दिशा, देश और काल के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी ज्ञात न था। एक दिन की घटना है। मेरी माता गाय दुहने के लिये रात्रि की बेला में घर से बाहर निकली। सर्प ने उसे डँस लिया। वह भगवान् को प्यारी बन बैठी। मैंने इसे भी भगवान् का बहुत बड़ा अनुग्रह ही माना। माता से विमुक्त हो जाने के बाद मैं उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा—



तदा तदहमीशस्य भक्तानां शममीप्सतः । अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥१/६/१०  
 मैं चलता रहा । लम्बा मार्ग तय कर एक विजन वन में पहुँचा । वहाँ एक पीपल का वृक्ष था । उसी के नीचे  
 आसन लगाकर मैं बैठ गया । महात्माओं से जैसा मैंने सुना था, हृदयस्थ परमात्मा के उसी रूप को मन-ही-मन ध्यान  
 करने लगा । यह प्रभु-कृपा थी । भगवान् मेरे हृदय में शनैः शनैः प्रकट हो गये । हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥१७॥ वह  
 क्षण और आनन्द अवर्णनीय है । वस्तुतः मैं आनन्द के सागर में इस प्रकार निमग्न हो गया कि मेरी ध्याता, ध्यान  
 और ध्येय के भेद की प्रतीति ही समाप्त हो गई । भगवान् का वह अनिर्वचनीय स्वरूप समस्त-शोक-भञ्जक और मनोरञ्जक  
 था । यह रूप केवल क्षण भर मेरे हृदय में विराजमान था । उसके अन्तर्हित होते ही मैं विकल हो उठा । आसन से  
 उठ खड़ा हुआ । मैंने उस स्वरूप के ध्यान की बार-बार चेष्टा की । किन्तु सफलता हाथ न लगी । मेरी विकलता  
 आकाश का स्पर्श करने लगी । इसी समय आकाश-वाणी हुई—‘खेद है कि इस जन्म में तुम मेरा दर्शन नहीं कर  
 सकोगे । जिनकी वासनाएँ पूर्णतया शान्त नहीं हो गई हैं, ऐसे अधकचरे योगियों को मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है’—  
 हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान् न मां, द्रष्टुमिहार्हसि । अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥

१/६/२२

निष्पाप बालक, तुम्हारे हृदय में मुझे प्राप्त करने की लालसा जाग्रत करने के लिये ही मैंने एक बार तुम्हें अपने  
 रूप की झाँकी दिखलाई है । अल्पकालिक सन्त-सेवा से ही तुम्हारी चित्त-वृत्ति मुझमें स्थिर हो गई है । अब तुम इस  
 प्राकृत मलिन शरीर को छोड़कर मेरे पार्षद बन जाओगे । इतना कहकर आकाशवाणी शान्त हो गई । फिर तो मैं  
 सानन्द भगवल्लीलाओं का वर्णन करता हुआ विचरण करने लगा । समय पर काल आया और मेरी मृत्यु हो गई ।  
 मैं भगवान् का पार्षद बना । कल्प के अन्त में ब्रह्मा के साथ नारायण के हृदय में निवास किया और दूसरे कल्प के  
 प्रारम्भ में सिसृक्षु ब्रह्मा की इन्द्रियों से, मरीचि आदि ऋषियों के साथ, मैं भी प्रकट हो गया । तभी से मैं त्रिलोकी में,  
 बिना किसी अवरोध के, सर्वदा विचरण करता रहता हूँ । यह वीणा भगवान् ने अनुग्रह करके मुझे प्रदान की है ।  
 इसी पर उनकी अमल विमल लीला का गान करता रहता हूँ—

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् ।

मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥१/६/३३॥

इतना कहकर नारद जी वहाँ से चले गये ।

अहा ! ये देवर्षि नारद धन्य हैं; क्योंकि ये भगवान् श्रीकृष्ण की कीर्ति को अपनी वीणा पर गा-गाकर स्वयं तो  
 आनन्दित होते ही हैं, साथ-साथ त्रिताप-तप्त इस जगत् को भी आनन्दित करते रहते हैं ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

## सातवाँ अध्याय

( श्रीमद्भागवत की रचना, द्रौपदी के सोये हुए पाँच पुत्रों का वध और  
 अर्जुन द्वारा अश्वत्थामा का निग्रह )

नारद जी परम हितकर बात कह कर इच्छानुसार चले गये । फिर शौनक जी को जिज्ञासा हुई कि मुनि के जाने  
 के बाद व्यास जी ने क्या किया ? इस पर सूत जी ने कहना प्रारम्भ किया—



ब्रह्मनदी सरस्वती के पावन पश्चिम तट पर शम्याप्राश<sup>१</sup> नाम का एक आश्रम है। वहाँ ऋषियों के यज्ञ निरन्तर चलते रहते थे। वहीं व्यासजी का अपना एक आश्रम था। वह वेर के सुन्दर वनों से घिरा हुआ था<sup>२</sup>। वहीं अपने आश्रम में बैठकर व्यास जी ने आचमन कर मन को समाहित किया। उन्होंने भक्ति-योग के द्वारा अपने मन को पूर्ण एकाग्र और निर्मल कर आदि पुरुष परमात्मा और उनके आश्रय से रहनेवाली माया को देखा। यही माया सारे अनर्थों की जड़ है। इसी से मोहित होकर त्रिगुणातीत भी जीव अपने को संसारी समझ कर सारे अनर्थों को भोगता है। इन अनर्थों की शान्ति का साक्षात् साधन है—केवल भगवान् का भक्तियोग। परन्तु संसारी लोग इस तथ्य को समझ नहीं पाते। इसी बात को ध्यान में रखकर व्यास जी ने परमहंसों<sup>३</sup> की संहिता श्रीमद्भागवत की रचना की। इसके श्रवण-मात्र से भगवान् कृष्ण के प्रति परम प्रेममयी भक्ति हो जाती है। इससे जीव के शोक, मोह और भय नष्ट हो जाते हैं—

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥  
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णो परमपुरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥

१/७/६-७

उन्होंने इस भागवत-संहिता का निर्माण और संशोधन कर इसे अपने परमविरागी, सर्वत्यागी पुत्र शुकदेवजी<sup>४</sup> को पढ़ाया—

१. 'शम्या' गदा के आकार का एक यज्ञीय आयुध होता था। यज्ञ की समाप्ति पर उसे जहाँ फेंका जाता था उसे 'शम्याप्रास' कहते थे—शम्या गदाकारो यज्ञायुधं प्रास्यते = प्रक्षिप्यते यस्मिन् देशे स शम्याप्रासः। अथवा शम-दम आदि से सम्पन्न महात्मा जन जहाँ विशेषरूप से रहते थे उस स्थान को शम्याप्रास कहते हैं—शमिनः शमदमादिसम्पन्ना मुनय आ समन्तात् प्रकर्षेण आसते = निवसन्त्यत्रेति शम्याप्रासः।
२. कुछ लोग इस आश्रम की स्थिति गन्धमादन पर्वत पर मानते हैं। किन्तु यह आश्रम सिन्धुवन के अन्तर्गत है। आज आदिबदरीवन के नाम से यही प्रसिद्ध है। बदरीवन एवं सरस्वती नदी भी यहीं उपलब्ध है।
३. साधु ४ प्रकार के होते हैं—'हंस, परमहंस, कुटीचक और बहूदक। मधुकरवृत्ति से किसी को कष्ट न देकर जीविका चलानेवाले को 'हंस' कहते हैं। पाँच घरों से मांग कर खानेवाला एकवस्त्रधारी सर्वत्यागी 'परमहंस' कहलाता है। एक ही घर से अन्न लेकर खानेवाला 'कुटीचक' है और दिन में ८ ग्रास खाकर निर्वाह करनेवाले को 'बहूदक' कहते हैं।
४. शुक-जन्म-कथा—कभी पार्वतीजी ने प्राण-प्रिय शिवजी से कहा—'नाथ, मुझे ऐसी कोई कथा सुनाइये जिसके प्रभाव से मेरा आप से कभी वियोग न हो और मुझे सर्वदा आत्मज्ञान बना रहे।' ठीक है, इसके लिये पूर्ण एकान्त स्थान होना चाहिये। बाहर जाकर निरीक्षण करो कहीं कोई यहाँ है तो नहीं। पार्वतीजी ने निरीक्षण कर कहा—'पूर्ण एकान्त है।' तब भगवान् शिव ने सानन्द ध्यानस्थ मुद्रा में 'अमरकथा' का अमृतप्रवाह प्रवाहित करना प्रारम्भ किया। यह 'अमरकथा' भागवत-कथा ही है। पार्वती जी हुंकारी भरती रहीं। यह क्रम अनवरत दशम स्कन्ध तक चलता रहा। एकादश स्कन्ध के प्रारम्भ होते ही देवी निद्रा के वशीभूत हो गईं। वे द्वादश स्कन्ध की समाप्ति पर जब जगीं तो कहा—'नाथ, क्षमा कीजिये। मुझे निद्रा आ गई थी। अतः कृष्णोद्धव-संवाद तो मैंने सुना ही नहीं।' इस पर शिवजी ने कहा—'फिर हुंकारी कौन भरता रहा?' जब वास्तविकता का पता लगाने के लिए वे स्वयं बाहर आये तो उन्हें एक सुन्दर स्वस्थ शुक-शावक दिखलाई पड़ा। पार्वती से उन्होंने पूछा—प्रिये, यह कहाँ से आ गया? विनम्र पार्वती ने उत्तर दिया 'देव यह तो यहाँ विगलित अण्डे के रूप में पड़ा था। ज्ञात होता है यह भागवतामृत पान से जीवित हो गया। आप इस पर क्रोध न करें, किन्तु शिव जी माने नहीं। वे शुक-शावक का निग्रह करने के लिए उस पर झपटे। शुक-शिशु भागा। व्यास पत्नी पिङ्गला (अरणी) सूर्यार्ध देकर ध्यान कर रही थीं। उन्हें जम्हाई आ गई। बच्चा झटपट उनके मुख में प्रविष्ट हो गया। निराश शंकर अपने आश्रम पर लौट आये। वही शुकशावक व्यास जी के पुत्र शुकदेव के रूप में प्रकट हुआ।



स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् । शुक्रमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम् ॥ १/७/८  
शुकदेव जी परम विरक्त थे । फिर उन्होंने किसके लिये इस विशाल ग्रन्थ का अध्ययन किया ? ऋषियों के इस प्रश्न को सुनकर सूत जी ने कहा— व्यास जी से भागवत का अध्ययन कर श्री शुकदेव जी ने इसे राजा परीक्षित को सुनाया ।

जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्या की गाँठ खुल गई है और जो सर्वदा आत्मा में ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान् की भक्ति, बिना किसी कामना के भी, किया करते हैं । वस्तुतः भगवान् के गुण ही ऐसे हैं जो सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया करते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्यम्भूतगुणो हरिः ॥ १/७/१०  
फिर शुकदेवजी तो भगवान् के भक्तों के अत्यन्त प्रिय और स्वयं वेदव्यास के पुत्र हैं । भगवान् के गुणों ने उनके हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया तथा उन्होंने उससे विवश होकर ही इस विशाल ग्रन्थ का अध्ययन किया—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः । अध्यगन्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥ १/७/११  
व्यासजी से भागवत का अध्ययन कर श्रीशुकदेव जी ने इसे राजा परीक्षित को सुनाया ।  
ऋषियों के प्रश्नों के उत्तर में आगे सूत जी ने कहा—शौनक जी, अब हम महाराज परीक्षित के जन्म, कर्म, मुक्ति और पाण्डवों के महाप्रमाण का वर्णन करेंगे । सावधान होकर आप लोग सुनें । इस पर ऋषियों ने कहा—महाराज, हम तो आप से कृष्ण कथा सुनना चाहते हैं और आप हमें परीक्षित और पाण्डवों की कथा सुनाने जा रहे हैं । ऐसा क्यों ? इस पर सूत जी ने कहा कि—इसी से कृष्ण-कथा निकलती है, जैसे कि बीज से वृक्ष का प्रादुर्भाव होता है—‘वक्ष्ये कृष्णकथोदयम्’ । (१२)

श्रीशुकदेव जी की कथा अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होती है । उसके अनुसार शुकदेव जी गोलोकधाम में श्रीराधाजी के लीला शुक थे । राधारानी ने अपने अवतरण के समय अपने लीला शुक से भी भूमण्डल पर अवतरित होने के लिये कहा । वही शुक राधा के वियोग में विकल होकर विगलित अण्डे के रूप में शिव के आश्रम के निकट पड़ा था । उसे इस अमृतमयी कथा का अनुपम रसास्वाद स्वयं भगवान् शिवके श्रीमुख से प्राप्त हुआ था । शुकदेव जी व्यास-पत्नी अरुणी के गर्भ में १२ वर्षों तक रहे । वे वहाँ से निकलते ही न थे । गर्भ से वेद-ध्वनि आ रही थी । व्यासजी ने पुत्र को गर्भ से बाहर आने के लिये कहा, किन्तु वे निकलते ही न थे । सांसारिक माया की अपेक्षा विष्ठा और मूत्र से भरा हुआ माँ का उदर उन्हें प्रिय था । व्यास के बार-बार समझाने पर शुकदेव ने कहा—‘पिताजी, द्वारकाधीश जब यह कहेंगे कि संसार में माया का कुछ भी प्रभाव तुम्हारे ऊपर नहीं होगा तभी मैं माँ की कोख से बाहर निकलूँगा, अन्यथा नहीं । जब व्यासजी की प्रार्थना से द्वारकाधीश श्रीकृष्णने उन्हें यह आश्वासन दिया कि माया का कोई भी प्रभाव तुम पर नहीं पड़ेगा, तभी शुकदेव गर्भ से बाहर आये । बाहर आते ही भगवान् को और माता-पिता को प्रणाम कर वे जङ्गल में जाकर पाषाण-प्रतिमा की तरह निश्चल होकर निर्विकल्पक समाधि में विलीन हो गये । व्यास की प्रेरणा से जङ्गल में समिधा लाने के लिये गये हुए उनके शिष्यों ने शुकदेव के अगल-बगल बार-बार भागवत के श्लोकों का सस्वर गान किया । उनमें दो श्लोक प्रमुख थे—“अहो बकीर्यं” (३/२/२३) तथा “बर्हापीडं नटवरवपुः” (१०/२१/१५) । इनकी व्याख्या यथास्थान की जायेगी । इन्हें सुनकर शुक की समाधि टूट गई । उन्होंने पूछा ये श्लोक कहाँ के हैं । शिष्यों ने विनम्रता से कहा कि ऐसे बहुत-से श्लोकों की एक विशाल भागवत-संहिता का व्यासजी ने निर्माण किया है । उसी के ये श्लोक हैं । फिर तो विकल शुकदेवजी व्यास के पास पहुँचे और प्रार्थना कर पूरी भागवत संहिता पढ़ी तथा कण्ठस्थ की ।



तो बात उन दिनों की है, जब महाभारत युद्ध समाप्त हो चुका था। भीमसेन ने अपनी गदा के प्रहारों से दुर्योधन की जाँघ तोड़ दी थी। अश्वत्थामा ने दुर्योधन का प्रिय करने के उद्देश्य से द्रौपदी के सोये हुए पाँचों पुत्रों का शिर काट कर दुर्योधन के सामने रख दिया<sup>१</sup>। बड़ा निन्दित कर्म किया उसने। इससे दुर्योधन को भी प्रसन्नता नहीं हुई। उसने, इस कर्म की निन्दा की और ग्लानिपूर्वक कहा कि—‘हाय-हाय इसने हमारे वंश का ही लोप कर दिया’।

इधर सबेरा हुआ। द्रौपदी ने अपने पुत्रों का वध जाना। उसे महान् कष्ट की अनुभूति हुई। वह रोने लगी<sup>२</sup>। अर्जुन ने उसे समझाते हुए प्रतिज्ञा की कि द्रौपदी ! मैं तुम्हारे आँसू तब पोछूँगा जब अश्वत्थामा का शिर काट कर लाऊँगा और तुम्हारे सामने रख दूँगा। तुम उसके शिर पर पैर रखकर स्नान करना। इस प्रकार सान्त्वना देकर अर्जुन ने अश्वत्थामा का पीछा किया। उस समय भक्त की रक्षा का व्रत लिये हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का रथ हाँक रहे थे। अश्वत्थामा ने देखा अर्जुन हमारा पीछा कर रहे हैं। वह व्याकुल हो गया। रथ पर आरूढ़ होकर बड़ी तेजी से भागा, जैसे रुद्र के भयसे सूर्य भागे थे—रुद्रभयाद्यथार्कः<sup>३</sup>॥१८॥

भागते-भागते अश्वत्थामा के अश्व थक गये। उसने सोचा अब पकड़ लिया जाऊँगा। अतः अर्जुन को लक्ष्य कर उसने ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया। ब्रह्मास्त्र छोड़ने की कला तो उसे ज्ञात थी, किन्तु उसको लौटाने की विद्या वह स्वयं नहीं जानता था। अर्जुन ने ब्रह्मास्त्र का प्रतिकार करने के लिये ब्रह्मास्त्र छोड़ा। दोनों अमोघ अस्त्रों की टकराहट से संसार व्याकुल हो उठा। चतुर्दिक् हाहाकार मच गया। तब भगवान् के आदेश से अर्जुन ने दोनों अस्त्रों को खींचकर शान्त कर दिया<sup>४</sup>। उस समय अर्जुन के दोनों नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे। उन्होंने झपट कर उस क्रूर अश्वत्थामा को पकड़ लिया और जैसे कोई रस्सी से पशु को बाँध ले, वैसे ही बाँध लिया—

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम् । बबन्धामर्षताप्राक्षः पशुं रशनया यथा ॥१६/३३

१. महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। भगवान् कृष्णने पाण्डवों से कहा—‘आज रात हम लोग गङ्गा के तट पर बितायेंगे। भगवान् की बात मान कर पाण्डव और सात्यकि—सभी गङ्गा के तट पर चले गये। द्रौपदी के पाँचों पुत्रों ने कहा—‘हम लोग १८ दिन महाभारत-युद्ध कर श्रान्त हैं, थके हैं। अतः यहीं शिविर में ही शयन करेंगे। द्रौपदी के ये पुत्र एक-एक कर पाँचों पतियों से उत्पन्न हुए थे। सभी की आकृति अपने बाप जैसी थी। यही कारण है कि रात्रि की बेला में अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पुत्रों को पाँच पाण्डव समझ कर उनका शिर काट डाला।
२. द्रौपदी कृष्ण की प्रबल भक्त थी। भगवान् पर उसे प्रगाढ़ विश्वास था। अतः अपने लिये उसके रोने का प्रश्न ही नहीं होता। हाँ, वह रोई इसलिये कि बच्चों पर भगवान् की कृपा हो जाय, जिससे उनकी दुर्गति न हो; क्योंकि वे ब्राह्मण के अस्त्र से सुप्तावस्था में मारे गये थे।
३. एक राक्षस था। उसका नाम था—विद्युन्माली। वह भगवान् रुद्र का महान् भक्त था। रुद्र उसकी तपस्या से प्रसन्न हो उठे। उन्होंने उसे एक सोने का चमचमाता हुआ रथ दिया। वह रथ पर बैठ कर सूर्य के पीछे-पीछे चलने लगा। उसके रथ की प्रभा से रात्रि समाप्त हो गई। यह देखकर सूर्य क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अपने तीव्र तेज से विमान को गला कर भूतल पर गिरा दिया। इस बात के ज्ञात होने पर शंकर कुपित हो उठे। वे त्रिशूल लेकर सूर्य की ओर दौड़े। भय के मारे सूर्य भागे। हड़बड़ी में वे पृथिवी पर गिर पड़े। जहाँ सूर्य गिरे थे वहाँ एक विशाल गड्ढा बन गया। यह स्थान वाराणसी में ‘लोलार्ककुण्ड’ के नाम से विख्यात है। यह वाराणसी के एकदम दक्षिण में है। वामनपुराण।
४. गुरुद्रोणाचार्य ने अपने पुत्र अवश्वत्थामा को तो केवल ब्रह्मास्त्र छोड़ने की विद्या बतलाई थी। किन्तु योग्य शिष्य अर्जुन को ब्रह्मास्त्र छोड़ने और शान्त करने की—दोनों कलायें बतलाई थी। धन्य है भारतीय आचार्यों का योग्य शिष्य के प्रति निरपेक्ष पक्षपात !



अश्वत्थामा को बाँधकर अर्जुन उसे शिविर की ओर लेकर चले । मार्ग में भगवान् ने अर्जुन की परीक्षा के लिये आततायी अश्वत्थामा के वध की सलाह दी । किन्तु गुरुपुत्र जान कर उन्होंने उसका वध नहीं किया—

एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः । नैच्छन्दन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान् ॥१७/४०

पशु की तरह बाँधा हुआ अश्वत्थामा द्रौपदी के सामने उपस्थित किया गया । उसकी दशा देखकर द्रौपदी को दया आ गई । उसने अश्वत्थामा को प्रणाम किया—

निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं, वामस्वभावा कृपया ननाम च ॥१७/४२

गुरुपुत्र का इस प्रकार बाँध कर लाया जाना सती द्रौपदी को सहन नहीं हुआ । उसने चिल्ला कर कहा—‘छोड़ दो उन्हें, छोड़ दो । ये ब्राह्मण हैं, हम लोगों के अत्यन्त पूजनीय हैं । गुरुपुत्र हैं । जिन गुरु द्रोणाचार्य से आपने सारी अस्त्र-शस्त्र विद्याओं को सीखा है, वे ही पुत्ररूप में सम्प्रति यहाँ विराजमान हैं । इनकी माता इन्हीं के कारण सती नहीं हुई । अपने बच्चों के वियोग में जैसा दुःख हमें हो रहा है, वैसा ही दुःख इनकी माता को भी इनके मरने पर होगा । ब्रह्म-हत्या का दोष भी हमारे वंश को लगेगा । अतः इन्हें छोड़ दो ।’

द्रौपदी की बात धर्म और न्याय के अनुकूल थी । अतः युधिष्ठिर के साथ सभी ने उसका अनुमोदन किया, समर्थन किया । किन्तु भीम को यह बात सहन न हुई । क्रोध से काँपते हुए उन्होंने कहा इस दुष्ट आततायी का तो बध कर देना ही श्रेयस्कर है—‘तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः ।’ ५१ । ऐसा कहकर वे गदा लेकर अश्वत्थामा पर झपटे । द्रौपदी उन्हें बचाने दौड़ी । इस स्थिति को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ चतुर्भुज हो गये—‘चतुर्भुजः’ ५२ । उन्होंने दो हाथों से द्रौपदी को और दो हाथों से भीम को पकड़ा । फिर मुस्कराते हुए अर्जुन की ओर देखकर उन्होंने कहा—“अर्जुन, पतित ब्राह्मण का भी वध नहीं करना चाहिये और आततायी को मार ही डालना चाहिये”—शास्त्रों में मैंने ही ये दो बातें कही हैं । अतः मेरी दोनों आज्ञाओं का पालन करो ।”

अर्जुन भगवान् के मित्र भक्त हैं, लँगोटिया यार हैं । वे उनके हृदय के भाव को समझ गये । उन्होंने अपनी तलवार निकाली । अश्वत्थामा के शिर में विराजमान जन्मजात मणि को, बालों के साथ, काट लिया—

अर्जुनः सहसाऽऽज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना । मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सहमूर्धजम् ॥१७/५५

बालों को मूड़ देने के बाद, मणि को काट लेने के बाद, अर्जुन ने अश्वत्थामा को धक्का देकर शिविर से बाहर निकाल दिया । शास्त्रों के अनुसार अधम ब्राह्मण का यही वध कहा गया है, प्राणदण्ड नहीं । इस प्रकार सबके वचनों की रक्षा हो गई । अश्वत्थामा के प्राण बच गये और उसका वध भी हो गया—

वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्वापणं तथा । एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः ॥१७/५७

बाल मूड़ देना, सम्पत्ति छीन लेना तथा स्थान से निकाल देना—यही अधम ब्राह्मणों का वध कहा गया है, प्राणदण्ड नहीं । अश्वत्थामा को भगा देने के बाद पुत्र-शोक से व्याकुल पाण्डवों ने मृत पुत्रों के दाहसंस्कार आदि पारलौकिक कर्म किये ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥



## आठवाँ अध्याय

( गर्भ में परीक्षित की रक्षा, कुन्ती के द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति और युधिष्ठिर का शोक )

इसके बाद पाण्डव श्रीकृष्ण के साथ मृत बन्धुओं को तिलाञ्जलि देने के लिये पावन गङ्गा-तट पर गये। साथ में द्रौपदी और कुन्ती आदि स्त्रियाँ भी थीं। गङ्गा जी का जल भगवान् के चरण-कमलों की धूलि के स्पर्श के कारण परम पावन बन गया है। वहाँ सब लोगों ने तिलाञ्जलि दी। विलाप कर गङ्गा के जल में स्नान किया। श्रीकृष्ण ने शोक-सन्तप्त धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर, विदुर, गान्धारी और कुन्ती आदि जनों को, काल की गति बतलाते हुए, नाना दृष्टान्तों से समझाया। वहाँ से सभी फिर अपने-अपने भवनों को वापस आये।

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को राज्य दिला कर तीन अश्वमेध यज्ञों का आयोजन करवाया<sup>१</sup>। इससे युधिष्ठिर का यश चारों दिशाओं में फैल गया। युधिष्ठिर का सर्वविध हित-साधन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वारका जाने का विचार किया<sup>२</sup>। इसके लिये उन्होंने पाण्डवों से विदा ली। व्यास आदि ब्राह्मणों को प्रणाम किया और सात्यकि तथा उद्धव के साथ जा बैठे रथ पर। रथ चलने ही वाला था। भगवान् श्रीकृष्ण की दृष्टि सामने उत्तरा पर पड़ी। वह विलाप करती हुई उनकी ओर दौड़ी चली आ रही थी<sup>३</sup>। वह कह रही थी—“देवों के भी देव, हे जगत् के स्वामी, आप महायोगी हैं। मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। आप के अतिरिक्त इस संसार में मुझे अभय, प्रदान करनेवाला कोई नहीं है; क्योंकि यहाँ सभी एक दूसरे की मृत्यु के कारण बन रहे हैं”—

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते। नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥१/८/९  
प्रभो, आप सर्वशक्तिमान् हैं। यह धधकता हुआ लोहे का बाण मेरी ओर दौड़ा हुआ चला आ रहा है। स्वामिन्, यह मुझे भले ही भस्म कर दे, किन्तु मेरे गर्भ को नष्ट न करने पावे<sup>४</sup>—

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायशो विभो। कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥१/८/१०  
भक्तवत्सल भगवान् ने उत्तरा की बात सुनी। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि अश्वत्थामा ने पाण्डवों के वंश के विनाश के लिये यह ब्रह्मास्त्र छोड़ा है। इस तथ्य को जान कर भगवान् तुरन्त उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट हो गये। गर्भ को अपनी माया के कवच से ढक दिया और सुदर्शन चक्र से उसकी रक्षा की<sup>५</sup>। दूसरी ओर पाण्डवों ने भी देखा कि उनकी ओर भी पृथक्-पृथक् प्रज्वलित पाँच बाण दौड़े चले आ रहे हैं। अतः उन लोगों ने भी उनका प्रतिकार

- वस्तुतः युधिष्ठिर ने एक ही अश्वमेध यज्ञ किया था। किन्तु उसमें दक्षिणा तीनगुनी दी थी। अतः कहा गया कि युधिष्ठिर ने तीन अश्वमेध यज्ञों का आयोजन किया था।
- इससे यह बात सिद्ध होती है कि संसारी लोग दुःख के साथ सुख के भी साथी होते हैं; किन्तु भगवान् दुःख में ही साथ देते हैं। सुखके क्षणों में वे वहाँ से चले जाते हैं।
- यद्यपि उत्तरा सुभद्रा की पुत्रवधू थी। किन्तु उसके कहने से उत्तरा सर्वदा द्रौपदी की सेवा में रहा करती थी। द्रौपदी ने उसे एक ही मन्त्र सिखाया था—‘बेटी, दुःख पड़ने पर द्वारकानाथ की शरण में जाना। अतः वह अर्जुन आदि को छोड़कर कृष्ण की शरण में भागी-भागी गई।
- ब्रह्मास्त्र वायु की गति से उत्तरा का पीछा कर रहा था। उत्तरा भाग रही थी। कृष्ण के पास पहुँचते-पहुँचते वह उसके गर्भ में प्रविष्ट हो गया था। यह भारतीय अस्त्र-विज्ञान की महिमा थी कि वह माँ को अक्षत रखते हुए भी उसका गर्भ विनष्ट कर सकता था।
- भक्तवत्सल भगवान् का यह प्रथम गर्भ प्रवेश था। इसके पूर्व वे कभी भी माँ के गर्भ में नहीं निवास किये थे। कौसल्या और देवकी आदि का गर्भाशय वायु से पूरित था। उन्हें गर्भ का आभासमात्र होता था। किन्तु आज जब भक्त पर विपत्ति पड़ी तो भगवान् उत्तरा के गर्भ में भी प्रवेश कर गये। धन्य है, भगवान् की भक्त-वत्सलता! गर्भवास कर्म के कारण होता है। कर्म से भगवान् का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—“न मे कर्माणि लिम्पन्ति।’ गीता ४/१४॥



करने के लिये अपने-अपने ब्रह्मास्त्र उठा लिये। किन्तु उनके सन्धान और प्रयोग में विलम्ब देखकर भगवान् ने सुदर्शनचक्र से उनकी रक्षा की। अनन्य भक्तों पर भगवान् की ऐसी ही कृपा हुआ करती है—

व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम् । सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः ॥१८/१३  
यद्यपि ब्रह्मास्त्र अमोघ हुआ करता है। फिर भी वैष्णव तेज सुदर्शन से वह सर्वथा शान्त हो गया—

“वैष्णवं तेज आसाद्य समसाम्यद्भृगूद्वह” ॥१५॥

भक्तों पर आई हुई विपत्ति भगवान् की कृपा से टल गई। पाण्डवों का बाल भी बाँका न हुआ। मानस में तुलसीदास ने ठीक ही कहा है—“सीम कि चापि सकई कोउ तासू । बड़ रखवार रमापति जासू” ॥ सब ठीक हो गया। भगवान् द्वारका जाने के लिये पुनः रथ पर आरूढ़ हुए। उस समय ब्रह्मास्त्र की ज्वाला से मुक्त अपने पुत्रों और द्रौपदी के साथ सती कुन्ती हाथ जोड़े रथ के सामने खड़ी हो गई। सबके नेत्र जल से भरे हुए थे।

कुन्ती ने प्रभु की स्तुति प्रारम्भ की—‘प्रभो, आप सकल प्राणियों के अन्तःकरण में विराजमान हैं। अपने ही मायारूपी पर्दे से ढके रहने के कारण साधारण व्यक्ति आप को नहीं देख सकते। वस्तुतः आप का अवतार अमलात्मा विमलात्मा ज्ञानी परमहंसों के हृदय में प्रेममयी भक्ति का सञ्चार करने के लिये ही हुआ है। ऐसी स्थिति में हम अल्पबुद्धि स्त्रियाँ भला आप को कैसे जान सकती हैं’—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥१८/२०

‘सकल प्राणियों की इन्द्रियों के मालिक, जैसे आपने दुष्ट कंस के द्वारा कैद की गई, शोकाकुल देवकी की रक्षा की है, वैसे ही पुत्रों के साथ मेरी भी आप ने बार-बार बड़ी-बड़ी आपत्तियों से रक्षा की है’। श्रीकृष्ण, कहाँ तक गिनाऊँ—विष से, लाक्षागृह की भयानक अग्नि से, हिडिम्ब आदि राक्षसों से, दुष्ट दुर्योधन आदि की घूत-सभा से, वनवास की विपत्तियों से और महाभारत के महान् युद्ध की बेला में अनेक महारथियों के शस्त्रास्त्रों से तथा अभी-अभी अवधत्त्यामा के द्वारा प्रयुक्त इस ब्रह्मास्त्र से भी आपने हमारी रक्षा की है’—

विषाम्महाग्नेः पुरुषाददर्शनादसत्सभाया वनवासकृच्छतः<sup>१</sup> ।

मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः ॥१८/२४

- देवकी की रक्षा कृष्ण ने की थी। वहाँ देवकी की रक्षा अकेले ही हुई है। उसके पुत्रों की रक्षा कृष्ण ने नहीं की थी। किन्तु कुन्ती की रक्षा, प्रभु ने उसके पुत्रों के साथ की है। यही दोनों में अन्तर है। यही देवकी से कुन्ती की विशेषता है।
- महर्षि दुर्वासा दुर्योधन के राजभवन में पधारे। दुर्योधन ने सेवा कर उन्हें प्रसन्न किया। चातुर्मास्य व्रत समाप्त कर जब वे जाने लगे तो बोले—“मांग लो दुर्योधन कोई वर”। दुर्योधन ने कहा—“महाराज, आप जंगल में युधिष्ठिर के अतिथि द्वादशी को उस समय बनें जब सभी एकादशी का पारण कर चुके हों और द्रौपदी भी भोजन कर ली हो।” दुर्वासा ने कहा ऐसा ही होगा। तदनुसार वे युधिष्ठिर के आश्रम पर, सहस्रों शिष्यों के साथ, उस समय पहुँचे जब सब के अन्त में द्रौपदी भी पारण कर अपनी बटलोई उलट कर रख दी थी। यह बटलोई सूर्य ने युधिष्ठिर को दी थी। इसका प्रभाव यह था कि जब तक द्रौपदी भोजन न करले तब तक चाहे जितने लोग भोजन करलें। किन्तु द्रौपदी के भोजन करते ही यह रिक्त हो जाती थी। इसीलिये दुर्योधन ने दुर्वासा को इस समय भेजा था। वह जानता था कि भोजन न मिलने पर क्रुद्ध दुर्वासा अपने शाप से पाण्डवों को भस्म कर देंगे। सहस्र शिष्यों के साथ दुर्वासा १२ बजे दिन में युधिष्ठिर के आश्रम पर पहुँचे। भोजन मांगा और स्नान करने के लिये नदी में चले गये। सब की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। क्या भोजन देंगे? द्रौपदी ने रोकर द्वारकाधीश को पुकारा। कृष्ण तुरन्त उपस्थित हुए। सभी प्रसन्न हो उठे। कृष्ण ने भोजन मांगा। द्रौपदी ने असमर्थता व्यक्त की। कृष्ण ने बटलोई मांगा। उसमें से एक साक का पत्ता खाकर कह दिया—‘अनेन त्रिलोकी तृप्यताम्’। दुर्वासा आदि का पेट भर गया, वे वहीं से भाग खड़े हुए।



प्रभो ! 'मैं आप की शरणागत हूँ' । कृष्ण ने कुन्ती की दैन्य-भरी प्रार्थना सुनी । हाथ जोड़े वे रथ से उतर पड़े । उन्होंने कहा—“कुन्ती, तू मेरी आदरणीया बुआ हो । मैं प्रतिदिन तेरा चरण छूता हूँ । तू क्यों मेरी प्रार्थना कर रही हो ? बोलो बुआ क्या चाहती हो ?” कुन्ती ने मानो कहा—“कन्हैया, मैं जो चाहूँगी वह मुझे दे दोगे” ? कृष्ण ने उत्तर दिया—“हाँ-हाँ बुआ, तुझे सब कुछ दे सकता हूँ । तेरे लिये मेरे पास कुछ भी अदेय नहीं है” । इस पर कुन्ती ने कहना प्रारम्भ किया—“तो दो कन्हैया, मैं मांगती हूँ—

कन्हैया, इस संसार में मेरा बार-बार जन्म हो । मैं बराबर विपत्तियों के महासागर में डूबती-उतराती रहूँ ।

“विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो” ।

कृष्ण—“अरे अरे, बुआ, यह क्या माँग रही हो ? जब से जन्म लिया तब से आज तक तो विपत्तियों को ही भोगती चली आ रही हो । क्या तुम्हारा मन इनसे अभी नहीं भरा ? छोड़ो इन्हें और कुछ माँग लो” ।

कुन्ती—नहीं नहीं कन्हैया, मुझे यही वर दो, क्योंकि विपत्तियों में ही निश्चित रूप से आपके दर्शन हुआ करते हैं और आप के दर्शन हो जाने पर प्राणी को फिर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता—

भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥१/८/२५

ऊँचे कुल में जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और सम्पत्ति के अभिमान में आकण्ठ जो निमग्न है ऐसा महाभिमानी व्यक्ति आप का नाम भी नहीं ले सकता यही कारण है कि आप को वे ही लोग प्रिय हैं जो अकिञ्चन हैं, जिनके पास कुछ नहीं है—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् । नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥१/८/२६  
योगेश्वर; आप की लीला अपार है । मैं क्या कहूँ ? मेरी तो मति-गति मन्द पड़ जाती है । आपके बचपन की घटना है । भैया वसुदेव ने आप का समाचार लेने के लिये मुझे एक बार नन्द के घर भेजा था । मैं नन्दरानी के आँगन में पहुँची तो वहाँ देखती हूँ कि दही की मटकी फूटी पड़ी है । चारों ओर दही बह रही है । तमतमाई यशोदा खड़ी है । उसके हाथ में रस्सी है । आप डर के मारे जमीन पर बैठे हैं । आँखों से अश्रु की धार चल रही है । गालों पर काजल बह कर फैला है । निगाह नीची है । नेत्र घबराहट के कारण चञ्चल हो चले हैं । आपकी उस दशा का—लीला-छवि का ध्यान कर आज भी मैं मोहित हो जाती हूँ । भला, भय भी जिससे भयभीत होता है, उसकी यह दशा !—

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद् या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।

वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्विभेति ॥१/८/३१

केशव, आप के अवतार के विषय में भी विद्वानों की विभिन्न कल्पनाएँ हैं । कुछ लोगों का कहना है कि युधिष्ठिर की कीर्ति-पताका फहराने के लिये ही आप का अवतार है । कोई-कोई यह मानते हैं कि दुष्ट दैत्यों के वध के लिये ही आप ने जन्म धारण कर रक्खा है । कुछ ऐसे भी लोग हैं जिनका वक्तव्य है कि भू-मण्डल का भार उतारने के लिये ही आप का इस लोक में प्रादुर्भाव हुआ है । बात कुछ भी हो, जो लोग आपके निर्मल पावन चरित को सुनते या सुनाया करते हैं, उसका स्मरण कर आनन्द के महासागर में निमग्न होते रहते हैं, वे ही लोग आपके चरण-कमल का दर्शन कर पाते हैं, इसका फल यह होता है कि वे लोग फिर इस संसार में नहीं आते, मुक्त हो जाते हैं—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्षाशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।

त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥१/८/३६  
कन्हैया, आज आप हम लोगों को छोड़कर जा रहे हैं । आप के अतिरिक्त हम लोगों का दूसरा रक्षक नहीं है ।



श्रीकृष्ण, जैसे गङ्गा की अखण्ड धारा सागर में गिरती रहती है, वैसे ही मेरी बुद्धि किसी दूसरी ओर न जाकर सर्वदा आप से ही प्रेम करती रहे। मैं बार-बार आप को प्रणाम कर रही हूँ।

कुन्ती ने 'नमस्ते' से कृष्ण की स्तुति प्रारम्भ की थी और 'नमस्ते' से ही समाप्त भी की। उसने २६ भाव भरे श्लोकों से अपने कहँया की स्तुति की और फिर अश्रुपूरित नयनों से निहारती हुई चुप हो गई। कुन्ती मर्यादा-भक्ति है, साधन भक्ति है। कुन्ती के प्रेम भरे वचनों को सुनकर कृष्ण ने अपनी द्वारका-यात्रा स्थगित कर दी। वे रथ से उतरे और युधिष्ठिर के राज-भवन में वापस आ गये।

कुन्ती ने कहा—मार्ग रोककर मैंने कहँया की स्तुति की। वह मेरा भतीजा है। इसलिये वापस आया है। अर्जुन ने कहा भगवान् मेरे सखा हैं अतः मेरे लिये वापस आये हैं। द्रौपदी कहती है कि मुझ कृष्णा को कृष्ण का वियोग असह्य है अतः वे मेरे लिये वापस आये हैं। सुभद्रा ने कहा—मैं कृष्ण की दुलारी छोटी बहन हूँ इसलिये वे मेरे कारण वापस आये हैं। वस्तुतः शर शैया पर पड़े भीष्म कृष्ण के ध्यान में निमग्न थे अतः अन्तकाल में उनकी आँखों के समक्ष उपस्थित होने के लिये ही वे वापस आये हैं। क्योंकि भीष्म ने कृष्ण से यह वर माँगा था कि—प्रभो, मरने की बेला में आप मेरी आँखों के सामने उपस्थित रहना। युधिष्ठिर ने महाभारत जीत लिया था। अश्वमेध यज्ञ कर विश्वविजेता भी बन गये थे। उनका राज्य-सिंहासन पर अभिषेक भी हो चुका था। किन्तु उनके मन को शान्ति नहीं मिल रही थी। उनकी दशा विलक्षण थी। वे सोचते थे कि—मैंने इस नश्वर शरीर के लिये, सियार-कुत्तों के आहार बनने वाले शरीर के लिये व्यर्थ में ही अनेक अक्षौहिणी<sup>१</sup> सेनाओं का नाश कर डाला। कितना बड़ा अनर्थ किया—

अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रुढं दुरात्मनः । पारव्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥१८/४८

मेरी क्या गति होगी, मैंने स्वजनों से द्रोह किया है। करोड़ों वर्षों में भी नरक से मेरा छुटकारा नहीं हो सकेगा। इस प्रकार की बातों को सोचकर युधिष्ठिर उद्विग्न हो उठते थे। व्यास आदि महर्षियों एवं स्वयं श्रीकृष्ण ने भी उन्हें ऐतिहासिक उदाहरणों से बहुत समझाया कि युद्ध तो राजा का धर्म है। किन्तु इससे उनका शोक कम न हुआ। उनके हृदय को शान्ति न मिली। वे सोचते थे कि—

मैंने अनेक वंशों का लोप कर डाला है। इसका पाप कैसे छूटेगा ? यदि कोई कहता है कि ऐसे पाप यज्ञ-याग से छूट जायेंगे तो यह व्यर्थ है। क्या कीचड़ से कीचड़ छूट सकता है ? क्या मदिरा से मदिरा की अपवित्रता मिट सकती है ? इसी प्रकार हत्या का दोष यज्ञ में एक और हत्या कर देने से क्या मिट सकता है ? नहीं, कभी नहीं<sup>२</sup>।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥



१क. २१८७०० सैनिकों की एक अक्षौहिणी सेना होती है। इसमें २१८७० हाथी, २१८७० रथ, ६५६१० घोड़े और १०९३५० पैदल सैनिक हुआ करते थे।—महाभारत

ख. पाण्डवों की ७ अक्षौहिणी सेना थी और कौरवों की ११ अक्षौहिणी।

२. बड़े-बड़े ज्ञानियों के समझाने पर भी युधिष्ठिर का शोक दूर नहीं हुआ। इसका रहस्य यह था कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने अनन्य भक्त पितामह भीष्म की महिमा लोक में, यावच्चन्द्रदिवाकरी, फैलाने के लिये उनके मुख से अभिव्यक्त उपदेशों से युधिष्ठिर का मोह निवृत्त कराना चाहते थे। संसार को एक दिव्य उपदेश दिलाना चाहते थे।



## नवां अध्याय

( पाण्डवों का भीष्म के पास गमन, उनके उपदेश से युधिष्ठिर की शोक-निवृत्ति;  
भीष्म द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति कर महाप्रयाण करना )

युधिष्ठिर का शोक किसी प्रकार दूर नहीं हो रहा था अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें भीष्म जी के पास चलने की अन्तःप्रेरणा दी । इस प्रकार प्रजा का विनाश करने से भयभीत राजा युधिष्ठिर सारे धर्मों के सार को जानने की इच्छा से कुरुक्षेत्र में वहाँ गये जहाँ शरशैया पर भीष्म पितामह लेटे पड़े थे—

इति भीतः प्रजाद्रोहात् सर्वधर्मवित्सया । ततो विनशनं प्रागाद् यत्र देवव्रतोऽपतत् ॥११/९/१

युधिष्ठिर के साथ उनके सभी भाई भी रथों पर सवार होकर कुरुक्षेत्र के मैदान में गये । व्यास, नारद, अत्रि तथा विश्वामित्र आदि ऋषि-मुनि भी युधिष्ठिर का अनुगमन कर रहे थे । उस समय भी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का रथ हाँक रहे थे । सेवक रथ पर बैठा था और स्वामी रथ हाँक रहा था । भक्त रथारूढ था तथा भगवान् सारथि बने थे । सनातन धर्म को छोड़कर है कहीं और ऐसा उदाहरण ? नहीं, कहीं नहीं । धन्य है भगवान् की भक्तवत्सलता !

वहाँ जाकर लोगों ने देखा कि भीष्मपितामह स्वर्ग से भूतल पर गिरे हुए देव के समान पड़े हुए हैं । भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सभी पाण्डवों ने बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें प्रणाम किया—

प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ॥११/९/४

उसी समय भरतवंश के शिरोमणि भीष्मपितामह को देखने के लिये सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि भी वहाँ आये । भीष्म ने वहाँ पधारे हुए सब लोगों का, मन और वाणी से, यथायोग्य सत्कार किया । वे भगवान् श्रीकृष्ण का प्रभाव भी जानते थे अतः उन्होंने अपनी लीला से मानव-विग्रह धारण कर वहाँ बैठे हुए तथा जगदीश्वर के रूपमें अपने हृदय में विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण की बाहर तथा भीतर—दोनों स्थानों में पूजा की ।

कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम् । हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम् ॥११/९/१०

फिर क्रम से पाण्डवों के ऊपर उनकी दृष्टि पड़ी । उन्हें देखते ही ज्ञानी भीष्म के नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गई । पुनः उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—“आप लोग बड़े धर्मात्मा हैं । ब्राह्मणों और श्रीकृष्ण का आश्रय भी आप लोगों को प्राप्त है । आप लोगों के साथ बड़ा अन्याय हुआ । बार-बार दुःखों के महासागर में आप लोगों को धकेला गया । यह सब काल भगवान् का कराल कार्य है । नहीं तो जहाँ साक्षात् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हों, गदाधारी भीमसेन और धनुर्धर अर्जुन रक्षा का कार्य कर रहे हों, गाण्डीव धनुष हो और साक्षात् श्रीकृष्ण सहायक हों—भला वहाँ भी कैसी विपत्ति की सम्भावना ?—

यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः । कृष्णोऽस्त्री गाण्डीवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ॥११/९/१५

इतना सब रहने पर भी काल की दुर्लभ गति का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता और न उसका विधान ही कोई जान सकता है । बड़े-बड़े कवि विद्वान् भी इस स्थल पर विमोहित हो जाते हैं, किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं । युधिष्ठिर, संसार की ये सारी घटनाएँ ईश्वर की इच्छा के अधीन हैं । उसी का अनुसरण कर तुम सम्प्रति अनाथ प्रजा का पालन करो । देखो, यह सामने जो भगवान् श्रीकृष्ण खड़े हैं, ये साक्षाज्जगदीश्वर हैं । इनके प्रभाव को भगवान् शिव, कपिल और नारद ही जानते हैं । युधिष्ठिर ने कहा, कहाँ हैं ऐसे भगवान् ? भीष्मपितामह ने कहा—“जिन्हें तुम अपना ममेरा भाई, प्रिय मित्र और सबसे बड़ा हितकारी मानते हो तथा जिन्हें तुमने प्रेमवश अपना मन्त्री, दूत और सारथितक बनाने में संकोच नहीं किया है, वे स्वयं परमात्मा हैं—

यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् । अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ॥११/९/२०

१. कर्म और ज्ञान—दोनों से अलङ्घ्य विप्र ब्रह्मर्षि, कर्म की अप्रधानता तथा ज्ञान की प्रधानता से युक्त विप्र देवर्षि तथा तप करते हुए शास्त्रानुसार जो प्रजा की रक्षा करते हैं, वे क्षत्रिय राजर्षि कहलाते हैं ॥ संहिता ॥



यद्यपि इनमें भेद-भाव नहीं है, विषमता नहीं है फिर भी अनन्य प्रेमी भक्तों पर इनकी महती कृपा है। यही कारण है कि मेरे प्राण-प्रयाण की बेला में ये साक्षात् मेरे नेत्रों के सामने आ खड़े हुए हैं—

तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम् । यन्मेऽसूस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः ॥११/९/२२  
भगवत्परायण योगी पुरुष भक्तिभाव से इनमें अपना मन लगा कर वाणी से इनके नामों का कीर्तन करते हुए अपने शरीर का त्याग करते हैं। इसका फल यह होता है कि वे कामनाओं और कर्म के बन्धन से सर्वथा के लिये छूट जाते हैं। मेरी हार्दिक कामना है कि देवाधिदेव ये भगवान् तब तक मेरे सामने खड़े रहें जब तक मैं अपना यह शरीर न छोड़ दूँ। खड़े होने की मुद्रा में इनका मुख-कमल खिला रहे। अरुण-कमल के समान इनके बड़े-बड़े नेत्र विकसित रहें। इनका यह चतुर्भुज रूप<sup>१</sup> इसी समय मेरे ध्यान-पथमें भी आता रहे—

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम् ।

प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लसन्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥११/९/२४

युधिष्ठिर ने उनकी यह बात सुनकर शर-शय्या पर सोये हुए भीष्मपितामह से, ऋषियों के समक्ष ही, विविध प्रकार के प्रश्नों को पूछा। उन्होंने वर्णधर्म, आश्रमधर्म, दानधर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म, भगवद्धर्म और आपद्धर्म आदि के विषय में जिज्ञासा की। भीष्मपितामह ने विविध आख्यानों एवं इतिहासों द्वारा संक्षेप तथा विस्तार से युधिष्ठिर को समझाया। पितामह के उपदेशों से राजा के अशान्त मन को बड़ी शान्ति मिली। फिर तो उन्होंने सारे कर्मों के पीछे भगवत्प्रेरणा को कारण माना।

भीष्मपितामह के उपदेश करते-करते उत्तरायण का वह काल उपस्थित हो गया जिसे भगवत्परायण बड़े-बड़े योगी लोग चाहा करते हैं। उस समय सहस्रों रथियों के नेता भीष्मपितामह ने वाणी का संयम करके, मन, संसार के विविध विषयों से हटा कर अपने सामने खड़े हुए आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण में लगा दिया। भगवान् श्रीकृष्ण के सुन्दर चतुर्भुज श्रीविग्रह पर उस समय पीताम्बर पहना था। भीष्म जी ने अपनी आँखों को एकटक उसी पर लगा दिया। श्रीकृष्ण के इस चतुर्भुज रूप का बाहर और भीतर ध्यान करने से भीष्म के बाण-विद्ध शरीर की सारी व्यथा समाप्त हो गई। उनकी सारी अशुभ वासनायें बर्फ की तरह पिघल कर बह गईं, विगलित हो गईं। उन्होंने शरीर को छोड़ते समय जनार्दन की बड़ी मार्मिक स्तुति की—

“तुष्टाव जन्मं विसृजन् जनार्दनम्”<sup>२</sup> ।

भीष्मजी ने स्तुति करते हुए कहा—‘प्रभो, मैंने धर्म किया, यज्ञ किया, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया, अपने पिता को सुखी करने के लिये उनकी आज्ञाओं को शिरोधार्य किया। इन सभी साधनों को करने से मेरी मति किसी भी प्रकार की कामना से रहित हो गई—‘इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा’। ३२। ऐसी निर्मल बुद्धि मैं आपके चरणों में अर्पित कर रहा हूँ। आप जब प्रकृति से विहार करते हैं तब यह सृष्टि चलती है। आपका श्रीविग्रह कितना मनमोहक है, कितना चित्ताकर्षक है। त्रिभुवन सुन्दर, तमालपत्र की तरह श्यामवर्ण, सूर्य की किरणों के समान चमकता हुआ सुनहरा वस्त्र और कपोलों पर लटकती हुई मनोहारिणी अलकें। बस प्रभो, इसी रूप पर हमारे मन की रति हो, प्रीति हो<sup>३</sup> हमारी स्मृति में वह दृश्य आज भी बना हुआ है, जब युद्धभूमि में घोड़ों के टापों से उड़ी हुई धूल आप की अलकों

१. यद्यपि श्रीकृष्ण थे तो द्विभुज। किन्तु भीष्म भगवान् के चतुर्भुज रूप का ध्यान करते थे और श्रीकृष्ण को भी उसी रूप में देखते थे अतः उन्हें चतुर्भुज कह रहे हैं।
२. “जनयति निखिलं जगत्, जनयति संसारं या सा जना = माया ताम् अर्दयति = पीडयति इति जनार्दनः” । जो संसार को उत्पन्न करने वाली माया से, अविद्या से छुड़ा दे उसे जनार्दन कहते हैं।
३. इसे आलङ्कारिक भाषा में विद्वज्जन इस प्रकार भी कहते हैं—‘भीष्म ने कहा—‘प्रभो, हमारी दो बैठियाँ हैं—‘मति’ और ‘रति’। मैंने ‘मति’ का आप से जबर्दस्ती विवाह कर दिया है और अब आप कृपा कर मेरी ‘रति’ बेटी को स्वीकार करें।’ भीष्म के कहने का भाव यह है कि मेरी मति आप में लगी रहे और मेरी रति = प्रीति भी आपमें ही हो।



पर पड़ी हुई थीं। आप के मुख पर पसीने की बूंदें छल-छला आई थीं। प्रतीत हो रहा था मानों कमल-कोश पर ओस-कण झूल रहे हों। उस समय मैं बाण मारे जा रहा था। आप रक्तसे रञ्जित हो रहे थे। आप का कवच छूट गया था—“निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि” । ३४॥ भगवन्, मुझे ज्ञात था कि मेरे प्रहारों का आप पर कोई प्रभाव पड़नेवाला नहीं है। आप भक्तों के प्रबल पक्षपाती हैं। अर्जुन के कहने से आपने उनका रथ ले जाकर दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कर दिया और फिर प्रारम्भ कर दिया कौरव-सेना के सैनिकों का निरीक्षण। इससे आप उनकी आयु का अपनी आँखों से पान करने लगे। इतना बड़ा भक्त-पक्षपात कहीं देखा नहीं गया। हो भी क्यों न, आपने स्वयं कहा है—“ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्” । गीता, ४/११॥

अर्जुन की कुमति का हरण करने के लिये उन्हें आपने समरभूमि में गीता का दिव्य उपदेश दिया। प्रभो, मेरी बार-बार यही प्रार्थना है कि आप के चरणों में मेरी निरन्तर रति बनी रहे, भक्ति बनी रहे। देव, मैं क्या कहूँ? आप का मेरे ऊपर गजब का पक्षपात है। आप ने प्रतिज्ञा की थी कि महाभारत युद्ध में अस्त्र-शस्त्र नहीं ग्रहण करूँगा। अतिरथी गाण्डीवधारी अर्जुन के साथ मेरा युद्ध चल रहा था। एक दिन मेरे मन में मस्ती की लहर चल रही थी। मैंने भी प्रतिज्ञा कर डाली—“आज अवश्य ही श्रीकृष्ण को अस्त्र-शस्त्र ग्रहण करने के लिये बाध्य कर दूँगा। मैं स्वयं श्रीहरि की शपथ खाकर कहता हूँ कि, विजय के बिना, जीते जी समरभूमि में पीठ नहीं दिखलाऊँगा।” फिर क्या था? समर-भूमि में अर्जुन मेरे सामने था। बाणों की बौछार कर मैंने अर्जुन को विकल बना दिया। लगता था अर्जुन अब कुछ ही क्षणों का मेहमान है। आप ने अपने भक्त पर यह विपत्ति देखी। आप को यह बर्दास्त नहीं हुआ। आपने मेरी प्रतिज्ञा को सत्य सिद्ध करने के लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दी। झटपट दो रूप धारण किया। एक रूप से तो घोड़ों की बागडोर सभाली और दूसरा रूप कूद पड़ा रथ से। प्रभो, मैं बड़े ध्यान से देख रहा था। पास में रथ का टूटा हुआ पहिया पड़ा था। आप ने उसे उठाया और दौड़ पड़े मेरी ओर मारने के लिये। भक्त को बचाने के लिये, भीष्म को मारने के लिये। प्रभो, आप इतनी हड़बड़ी में थे कि आपका दुपट्टा गिर पड़ा और पृथिवी डगमगाने लगी उस समय लगता था हाथी को मारने के लिये सिंह झपट रहा है—

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।

धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुह्रिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥१९/३७

अन्वयः—स्वनिगमम्, अपहाय, मत्प्रतिज्ञाम्, ऋतम्, अधि, कर्तुम्, अवप्लुतः, च, रथस्थः, धृतरथचरणः, गतोत्तरीयः, चलद्गुः, हरिः, इभम्, हन्तुम्, हरिः, इव, अभ्ययात् ॥१९/३७॥

शब्दार्थः—स्वनिगमम् = अपनी प्रतिज्ञा को, अपहाय = छोड़कर, मत्प्रतिज्ञाम् = मेरी प्रतिज्ञा को, ऋतम् = सत्य, अधि = अधिक, ऊँची, कर्तुम् = करने के लिये, अवप्लुतः = रथ से कूद कर, च = और, रथस्थः = रथ पर बैठे हुए भी, धृतरथचरणः = रथ का पहिया लेकर, गतोत्तरीयः = स्थलित दुपट्टावाले, चलद्गुः = पृथिवी को कम्पित करते हुए, हरिः = श्रीकृष्ण अर्थात् आप, इभम् = हाथी को, हन्तुम् = मारने के लिये, हरिः = सिंह की, इव = तरह, अभ्ययात् = मेरी ओर दौड़ पड़े थे ॥१९/३७॥

मेरे स्वामी, क्या कहूँ? उस समय चतुर्दिक् हाहाकार मच गया। अर्जुन आप को पकड़ने दौड़े। मैं युद्ध से विरत होकर आप के छबि की बाँकी झाँकी निहारने लगा। आपकी वह झाँकी आज भी मेरे अन्तःकरण में विराजमान है। उसी में मेरी रति हो, निष्ठा हो—ऐसा वरदान मुझे आप दें। श्रीहरि जब भीष्म के पास पहुँचे तो उन्होंने देखा कि भीष्म के ललाट पर वैष्णवी तिलक विराजमान था। यह देखते ही हरि की क्रोध के कारण अङ्गार बनी आँखें शीतल हो गईं और फिर वे लौट आये अर्जुन के रथ पर<sup>१</sup>।

१. जाइ निकट श्रीनाथ निहाखो परी तिलक पर दीति। शीतल भई नेत्र की ज्वाला हरि हैंसि दीन्ही पीठि ॥



उस दिन सारी दुनियाँ में आप की भक्तवत्सलता को देखा था। प्रभो, आप की दयालुता का क्या वर्णन करूँ ? जिस समय आप अर्जुन के सारथि बन कर उनके रथ के अग्रभाग में विराजमान थे उस समय आप ने अपनी वह सारी मनोहरता, सुन्दरता प्रकट कर दी थी जिसे गोपियों के सामने प्रकट की थी। इस का परिणाम यह हुआ कि कौरवों के सारे सैनिक आपके भुवन-मोहन सौन्दर्य से मोहित हो गये और निर्निमेषनयनों से आप को ही निहारने लगे। वे बाण तो चला रहे थे किन्तु निशाना चूक जाता था। वे मारते थे कहीं और, बाण जाते थे कहीं, क्योंकि उनके नेत्र तो आप पर टिके थे। इसका फल यह हुआ कि उन सारे सैनिकों को आप की गति प्राप्त हुई—‘यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम्’ । ३९। भाव यह है कि महाभारत युद्धमें जितने भी सैनिक सम्मिलित हुए थे, वे सब मरते समय श्रीकृष्ण को निहार रहे थे अतः उन सबको भगवत्प्राप्ति हो गई, सारूप्य मुक्ति मिल गई। हे प्रभो, अब मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो रहा है। आप मुझे अपने चरणों में लगा लें। इस प्रकार भीष्मजी ने ग्यारह पुष्पिताग्रा छन्दों के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण को स्तुति-कुसुमाञ्जलि अर्पित की।

स्तुति समाप्त करते-करते भीष्म का श्वास अवरुद्ध हो गया। सबके देखते-देखते ही उनके शरीर से एक ज्योति निकली जो निष्कल ब्रह्म श्रीकृष्ण में प्रविष्ट कर गई—

सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले ॥१/९/४४

भीष्मपितामह के महाप्रयाण की बेला में दुन्दुभियाँ बजने लगीं। देवों ने आकाश से पुष्पों की वृष्टि की— ‘खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः’ । ४५। युधिष्ठिर ने दुःखित मन से भीष्म का दाह-संस्कार किया फिर सभी अपने-अपने आश्रमों को चले गये। युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र और गान्धारी को आश्वासन दिया और उनकी आज्ञा तथा भगवान् श्रीकृष्ण की अनुमति से, वंश-परम्परा से चले आ रहे, साम्राज्य का धर्मपूर्वक पालन किया ॥९॥

हृदय-भीष्म-प्रसङ्ग का रहस्य-भीष्म का अर्थ है—भयङ्कर। भयङ्कर कौन है ? मन ही भयङ्कर है। भगवती गीता कहती है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवददृढम् । तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥६/३४॥

अतः भीष्म का अर्थ है—मन। मन आवेशयुक्त होने पर बहुत संकल्प-विकल्प करता है। मन ही संकल्प-विकल्परूप बाणों की बौछार करता है अतः जीवरूपी अर्जुन घायल और मूर्च्छित होता है। ईश्वर जब मन को मारते हैं, तभी वह वश में होता है। भगवान् सुदर्शन चक्र से मन को मारते हैं तभी वह शान्त होता है। यह भी जान लेना चाहिये कि भगवान् जिस चक्र के पहिये को लेकर दौड़े थे उसमें सुदर्शन चक्र का प्रवेश हो गया था। सुदर्शन का अर्थ है—ज्ञान। ज्ञान से ही मन वश में किया जा सकता है। जीवात्मा जब परमात्मा की शरण ग्रहण करता है तभी वे मन को शान्त करते हैं, मारते हैं। यदि मन संकल्प-विकल्प करना छोड़ दे तो वह आत्मरूप में तदाकार हो सकता है। तभी जीवन में शान्ति मिलती है। बाणों की बौछार छोड़कर ही भीष्म श्रीकृष्ण में तल्लीन हुए थे।

भीष्म ने महाप्रयाण की बेला में जो स्तुति की थी वह अनुपम है, बेजोड़ है। उसे ‘भीष्म-स्तवराज’ कहते हैं। उत्तरायण—भीष्म इच्छा मृत्यु थे। अतः सूर्य के उत्तरायण होने पर ही उन्होंने शरीर छोड़ा था—‘यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तुत्तरायण’ । २९। वस्तुतः उत्तरायण में मृत्यु का रहस्य है—ज्ञान अथवा भक्ति की उत्तरावस्था में, परिपक्व दशा में मृत्यु। वैसे बहुत से पापी जन भी उत्तरायणकाल में मरते हैं, फिर भी उन्हें सद्गति नहीं मिलती और कतिपय योगीजन दक्षिणायन में मरते हैं फिर भी उनकी दुर्गति नहीं होती।

दक्षिण दिशा में यम की नगरी है, नरकलोक है। नरकलोक का अर्थ है—अन्धकार। जिन्हें परमात्मा के रूप का बोध नहीं, जिन्होंने परमात्मा का अनुभव नहीं किया है और वैसे ही मर जाते हैं, उनकी मृत्यु दक्षिणायन कहलाती है। श्रीभीष्मजी महाज्ञानी थे फिर भी प्रभु-प्रेम में तन्मय होकर मरे थे। इससे यह सिद्ध होता है कि भक्ति का दर्जा ज्ञान से ऊँचा है।

॥ श्रीमद्भगवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह नवौ अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥



## दसवाँ अध्याय

( युधिष्ठिर का राज्याभिषेक और भगवान् श्रीकृष्ण का द्वारका-गमन )

भीष्म के ज्ञानोपदेश से युधिष्ठिर को परम शान्ति की अनुभूति हुई। भगवान् ने युधिष्ठिर को राजगद्दी पर बैठा दिया। वे धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। उनके शासनकाल में समय पर वर्षा होती थी। धन-धान्य से भरी हुई पृथिवी कामधेनु बन गई थी। गायों के स्तनों से सर्वदा दुग्ध की धारा बहा करती थी, गोष्ठ भीग जाते थे। प्रजा क्लेश-रहित थी। राज्यकार्य सविधि चल रहा था। बन्धु-बान्धवों के आग्रह से भगवान् कुछ दिनों तक हस्तिनापुर में रहे। बाद में वे युधिष्ठिर की अनुमति लेकर द्वारका जाने के लिये रथ पर आरूढ हुए। गमन की बेला में किसी ने उन्हें छाती से लगाया और किसी ने विनम्र प्रणाम किया। उस समय कृष्ण के वियोग की कल्पना से सारी प्रजा व्याकुल हो उठी। सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती तथा उत्तरा आदि स्त्रियाँ और धृतराष्ट्र, कृपाचार्य, भीम और नकुल आदि पुरुष—सभी व्यग्र हो मूर्च्छित हो गये।

भगवान् की यात्रा की बेला में उनके प्रिय सखा घुँघराले बालोंवाले अर्जुन अपने प्रियतम श्रीकृष्ण का रत्नजटित छत्र स्वयं अपने हाथों में लिया। उद्धव और सात्यकि प्रभु को चँवर डलाने लगे। मार्ग में हस्तिनापुर नगर की कुलीन स्त्रियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के ऊपर पुष्प-वर्षा करती हुई कह रही थीं—“जो निर्गुण निराकार पुरुष अपने सनातन स्वरूप में निवास करते हैं, वहीं हम लोगों के भाग्य से स्वरूप धारण कर यहाँ पधारे हैं। यही समस्त सृष्टि की संरचना, पालन और संहार करते हैं। इन्हीं की सुन्दर लीलाओं का गान सारे वेद-शास्त्र किया करते हैं। योगी-जन इन्हीं के ध्यान में निमग्न रहते हैं। धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश के लिये ये ही प्रतियुग में अवतार ग्रहण करते हैं—‘अहो, यह यदुवंश परम प्रशंसनीय है; क्योंकि लक्ष्मीपति पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने जन्म ग्रहण करके इस वंश को सम्मानित किया है। यह ब्रज-मण्डल भी अत्यन्त धन्य है, जिसे इन्होंने अपने शैशव और किशोरावस्था में घूम-फिर कर सुशोभित किया है—

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलमहो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम्।

यदेव पुंसांमृषभः श्रियः पतिः स्वजन्मना चङ्क्रमणेन चाञ्चति ॥११/१०/२६

मथुरा और वृन्दावन के बाद हस्तिनापुर की नगर-निवासिनी स्त्रियों की दृष्टि द्वारका पर जा टिकी। उसकी महिमा की प्रशंसा करती हुई वे कहती हैं—“आज द्वारका स्वर्ग के यश को भी तिरस्कृत कर रही है। उसने भू-मण्डल की कीर्ति को अतिशय विस्तृत एवं पावन बना दिया है। वे स्त्रियाँ अत्यन्त धन्य हैं, जिनका श्रीकृष्ण ने पाणि-ग्रहण किया है। उन्होंने बड़ा धर्म किया है, जो इनके अधरामृत का पान करती हैं। कौरववंश की स्त्रियाँ कहती हैं कि—बेचारी गोपियाँ इनमें हृदय लगाकर मूर्च्छित हो गईं। वे आज भी इनके विरह में व्याकुल रहती हैं—“ब्रजस्त्रियः सम्मुहुर्दृष्टाशयाः” ॥२८॥ द्वारका की जनता मन्द मधुर मुस्कान से युक्त भगवान् श्रीकृष्ण के मुखकमल को नित्य निरखा करती है। दया कर भगवान् हमारी भी सेवा ग्रहण करें। स्त्रियाँ इस प्रकार भगवान् के गुणों का गान कर रही थीं। भगवान् भी अपने दृष्टिपातों से उनका मान बढ़ाते हुए, उन्हें आह्लादित करते हुए आगे बढ़ रहे थे—

निरीक्षणेनाभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः ॥११/१०/३१

महाराज युधिष्ठिर ने मार्ग में भगवान् श्रीकृष्ण की रक्षा के लिये एक सैन्य-दल भी साथ में भेज दिया था। श्रीकृष्ण क्रमशः कुरुजाङ्गल, पाञ्चाल, मरुधन्व तथा सौवीर आदि देशों में होते हुए आनर्त देश, द्वारका की भूमि पर पहुँचे। उस समय दिवस का अवसान हो चुका था। सूर्य अस्ताचल पर पहुँच चुके थे ॥१०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥



## ग्यारहवाँ अध्याय

( द्वारका में श्रीकृष्ण का प्रवेश तथा उनका राजोचित सम्मान )

श्रीकृष्ण आनर्त देश, द्वारका में पहुँचे। अपने आने की सूचना से लोगों के विषाद का उपशमन करने के लिये श्रीकृष्ण ने अपना पाञ्चजन्य शंख बजाया। भगवान् के हाथ में विराजमान शङ्ख का यहाँ बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया गया है—

दाध्मायमानः करकल्लसम्पुटे यथाब्जखण्डे कलहंस उत्स्वनः ॥१/११/२

जैसे कमल के दो लाल लाल पुष्प हों और उन दोनों के मध्य में बैठकर हंस कुछ बोल रहा हो। वैसे ही भगवान् के दोनों कर कमलों के मध्य धवल शङ्ख, हंस के समान, सुशोभित हो कर ध्वनि कर रहा है।

द्वारका-वासियों ने शङ्ख की ध्वनि सुनी। वे समझ गये कि श्रीकृष्ण आ गये। अतः उनकी अगवानी करने के लिये वे सब आगे बढ़े। लोगों ने प्रभु का दर्शन किया, उनके श्रीचरणों की वन्दना की और कहा—‘प्रभो, हमारे तो एक मात्र आप ही हैं। आपके अतिरिक्त हमारा किसी पर भरोसा नहीं है। आप के कारण ही हम सनाथ हैं। प्रभो, जब कभी आप अपने प्रेमियों से मिलने के लिये कुरुदेश अथवा मधुदेश अर्थात् मथुरा<sup>१</sup> की ओर चले जाते हैं तो हम लोगों के लिये एक-एक क्षण कोटि-कोटि वर्षों के समान हो जाते हैं। आपके बिना हम लोगों की आँखों के सामने उसी प्रकार अँधेरा छा जाता है, जैसे सूर्य के बिना आँखों की दशा हो जाती है—

यर्हाम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरुन् मधून् वाथ सुहृद्दृक्षया ।

तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेत् रविं विनाक्षणोरिव नस्तवाच्यत ॥१/११/९

इस प्रकार प्रजा-जनों के उद्गार सुनते हुए और उनके ऊपर अनुग्रह की वर्षा करते हुए भगवान् द्वारिका नगरी में पहुँचे। द्वारिका की शोभा अपूर्व थी। वह समस्त ऋतुओं के सम्पूर्ण वैभव से सम्पन्न एवं पवित्र वृक्षों तथा लताओं व कुञ्जों से शोभायमान थी। स्थान-स्थान पर फलों से लदे हुए उद्यान, पुष्प-वाटिकाएँ और क्रीडा-वन थे। जहाँ-तहाँ कमलयुक्त सरोवर नगरी की शोभा बढ़ा रहे थे—

सर्वर्तुसर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रमैः । उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम् ॥१/११/१२

वस्तुतः उस समय द्वारिका नई नवेली दुलहन की तरह सजाई गई थी। उसकी शोभा अनुपम थी। नगर के फाटकों, महल के दरवाजों और सड़कों पर भगवान् के स्वागतार्थ बन्दनवारें लगाई गई थीं। चतुर्दिक् रङ्ग-विरङ्गी पताकाएँ फहरा रही थीं। सारे राजमार्ग सुगन्धित केवड़े और गुलाब के जल से सींचे गये थे। उन पर फल, पुष्प और दुर्वा के अङ्कुर विखरे हुए थे। प्रत्येक घर पर कदली के स्तम्भ, माङ्गलिक कलश तथा प्रज्ज्वलित दीपमालिकाएँ सुशोभित हो रही थीं।

वसुदेव, अक्रूर, प्रद्युम्न, साम्ब आदि वीर अपने-अपने कार्यों को छोड़कर भगवान् के स्वागतार्थ आगे बढ़े। उनके आगे-आगे माङ्गलिक गज चल रहा था। विविध बाजे बजाये जा रहे थे। ब्राह्मण वेद-ध्वनि कर रहे थे। वेश्याएँ गान कर रही थीं। श्रीकृष्ण ने प्रणाम, आलिङ्गन, करस्पर्श (हैण्डशेक), मुस्कराहट तथा अवलोकन आदि द्वारा सभी नगर-निवासियों तथा बन्धु-बान्धवों का यथायोग्य सम्मान किया। जब वे राजमार्ग पर आगे बढ़ रहे थे तो, मार्ग के दोनों ओर के भवनों की अट्टालिकाओं पर सज-धज कर खड़ी हुई महिलायें भगवान् को अतृप्त नयनों से निहार रही

१. इससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण कभी-कभी मथुरा की यात्रा भी किया करते थे। किन्तु वृन्दावन की यात्रा का इस कथन से समर्थन नहीं होता।



थीं, निरख रही थीं। यद्यपि वे नित्य ही भगवान् को देखती थीं, किन्तु उनके नेत्र तृप्त नहीं होते थे। और देखने, और देखने की ललक उनमें बनी ही रहती थी।

चलते हुए भगवान् अपने राजभवन के पास पहुँचे। सब को सादर विदा किया और अपने पहुँच गये माता-पिता के भवन में। वहाँ उन्होंने देवकी आदि सातों माताओं को, चरणों पर शिर रख कर, प्रणाम किया और माताओं ने उन्हें अपने हृदय से लगाकर गोद में बैठा लिया। उनके हर्ष का सागर विविध प्रकार से हिलोरें ले रहा था।

माता-पिता का सम्मान कर भगवान् अपनी पत्नियों के भवनों में गये। उनका दर्शन करने के लिये वे सभी व्याकुल थीं। वे अपने-अपने पुत्रों को आगे कर भगवान् से मिलीं। उनके नयनों से प्रेमाश्रुओं की झड़ी लग गई। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण एकान्त में सर्वदा ही उनके पास रहते थे तथापि उनके चरण-कमल पग-पग पर नवीन ही प्रतीत होते थे। स्वभाव से ही चञ्चला लक्ष्मी जिन्हें एक क्षण के लिये भी कभी नहीं छोड़ती, उनके पास में रहने पर भी किस स्त्री को भला तृप्ति हो सकती है—

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्।

पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलापि यच्छीर्न जहाति कर्हिचित् ॥१/११/३३

भगवान् मुस्कुराने में तो माहिर उठे। उन्होंने अपनी दिव्य मुस्कान से सब को सान्त्वना प्रदान कर उनका वियोगजनित सन्ताप दूर किया। भगवान् की ये पत्नियाँ सौन्दर्य की खान थीं। उन्हें देखकर रति-पति काम के हाथों से भी पुष्प-चाप गिर पड़ा था। ऐसी त्रिभुवन-मोहिनी सुन्दरियाँ भी अपने हाव-भाव, हास-परिहास एवं विलासों से जिनके मन में तनिक भी क्षोभ नहीं उत्पन्न कर सकीं, उन असङ्ग भगवान् श्रीकृष्ण को संसारी जन अपने ही समान कर्म करते देखकर उन्हें भी आसक्त मानव समझते हैं—यह उनकी अल्पज्ञता है, मूर्खता है। भगवान् के इस दिव्य ऐश्वर्य को कोई विरला ही समझ सकता है—

उदामभावपिशुनःमलवल्गुहासव्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम्।

सम्मुह्य चापमजहातप्रमदोत्तमास्ता यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शुकुः ॥१/११/३६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## बारहवाँ अध्याय

( महाराज परीक्षित का जन्म और उनकी जन्म-कुण्डली का प्रभाव )

शौनक ने सूत जी से प्रश्न किया—“अश्वत्थामा ने जो अत्यन्त तेजस्वी ब्रह्मास्त्र चलाया था, उससे उत्तरा का गर्भ नष्ट हो गया था; किन्तु भगवान् ने उसे जीवित कर दिया था। उस गर्भ से पैदा हुए महाज्ञानी महात्मा परीक्षित के जन्म, कर्म और मृत्यु आदि का वर्णन करें। इसे हम लोग बड़ी श्रद्धा के साथ सुनने के लिये आतुर बैठे हैं”।

उत्तर में सूतजी ने कहना प्रारम्भ किया—“महर्षियों, धर्मराज युधिष्ठिर अपनी प्रजा को प्रसन्न रखते हुए, पिता के समान, उसका पालन करते थे। कृष्ण के चरण-कमल की सेवा-शुश्रूषा के कारण, सारे भोगों से, उनका मन निःस्पृह हो गया था। किसी भी प्रकार की कामना उनके मन में न थी। त्रिलोकी के सारे दुर्लभ पदार्थ उन्हें प्राप्त थे। किन्तु जैसे भूखे मानव को माला, फूल, चन्दन आदि नहीं सुहाते, वैसे युधिष्ठिर को भगवान् के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु सुख नहीं देती थी।



माता उत्तरा के गर्भ में परीक्षित जब अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जल रहे थे, तब वहाँ उन्होंने भगवान् को देखा था। उस समय उन्होंने अँगूठे के बराबर रूप धारण कर रक्खा था। उनका अत्यन्त सुन्दर श्याम शरीर था। उस पर बिजली के समान पीताम्बर झिल-मिला रहा था। उनके शिर पर मुकुट की प्रभा छिटक रही थी। उनकी सुन्दरता अवर्णनीय थी। भक्त पर पड़ी हुई पीडा को देखकर उनके नयन क्रोधवश लाल हो रहे थे। हाथ में विराजमान गदा को वे गर्भ की रक्षा के लिये चतुर्दिक् लूके के समान, घूम-घूम कर, घुमा रहे थे। जब चक्राकार घुमाई जाती हुई गदा के तेज से ब्रह्मास्त्र निष्प्रभ हो गया तब परीक्षित के देखते-ही-देखते वहाँ से भगवान् अन्तर्धान हो गये।

तदनन्तर शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त में परीक्षित का जन्म हुआ। उस समय सारे ग्रह अनुकूल थे तथा मङ्गलमयी घड़ी विराजमान थी। महाराज युधिष्ठिर ने पुरोहित धौम्य और कृपाचार्य के द्वारा स्वस्तिवाचन और पुण्याहवाचन करा कर बालक का जातकर्म संस्कार करवाया। वे दान देने के उत्तम काल को जानते थे। उन्होंने प्रजातीर्थ<sup>१</sup> नामक काल में ब्राह्मणों को सुवर्ण, गौ और पृथिवी आदि का प्रभूत दान किया। ज्योतिषियों ने बालक का भविष्य बतलाया—‘पुरुवंशशिरोमणे, काल की दुर्निवार गति से यह पवित्र पुरुवंश मिटना ही चाहता था, परन्तु तुम लोगों पर कृपा करने के लिये भगवान् विष्णु ने यह बालक देकर इसकी रक्षा कर दी। इसीलिये इसका नाम ‘विष्णुरात’ होगा। निःसन्देह यह बालक संसार में महान् यशस्वी, भगवान् का परम भक्त और महापुरुष होगा—

दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि। रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना॥

तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके बृहच्छ्रुवाः। भविष्यति न सन्देहो महाभागवतो महान्॥

१/१२/१६-१७

‘विष्णुरात’ को ही ‘परीक्षित’ कहते हैं। माँ के गर्भ में बालक ने अपने रक्षक कृष्ण को देखा था। बाहर निकलने पर उसकी आँखें चारों ओर घूम-घूम कर उसी पुरुष को देखने के लिये व्यग्र थीं। अतः उसका नाम ‘परीक्षित’ पड़ा।<sup>२</sup> यह इक्ष्वाकु के समान प्रजा का पालक, राम के समान सत्यप्रतिज्ञ, शिबि के समान शरणागत-रक्षक, भरत के समान विविध यज्ञों का कर्ता, अग्नि के समान असह्यतेज, सागर की भाँति गम्भीर, सिंह के तुल्य पराक्रमी, पृथिवी के समान क्षमाशील—‘तितिक्षुर्वसुधेवासौ’ १२१, महाराज रन्तिदेव के समान महान् उदार, ययाति की तरह धार्मिक, बलि के समान धैर्यशाली तथा प्रह्लाद के समान भगवान् का भक्त होगा। कृष्ण की तरह और बहुत-से उच्चकोटि के गुण इस में विराजमान होंगे। गोरूप धारिणी पृथिवी तथा वृषरूपधारी धर्म की रक्षा के लिये यह कलि का निग्रह करेगा—

निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात्॥१/१२/२६

ब्राह्मण-कुमार के शाप से तक्षक के द्वारा अपनी मृत्यु सुनकर सारी सांसारिक आसक्तियों का परित्याग कर यह भगवान् के चरणों की शरण ग्रहण करेगा—

तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात्। प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः॥१/१२/२७

“उस समय यह व्यास-पुत्र शुकदेव जी के द्वारा आत्मा के परमस्वरूपका, यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर अन्त में गङ्गातट पर अपने शरीर को छोड़कर निश्चय ही यह अभय-पद को प्राप्त करेगा”। यह भविष्य वाणी कर

१. नालच्छेदन से पहले सूतक नहीं होता। कहा भी गया है—“यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम्। छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधीयते॥” इसी काल को ‘प्रजातीर्थ’ काल कहते हैं। इस समय दिया गया दान अक्षय होता है। स्मृति कहती है—‘पुत्रे जाते व्यतीपाते दत्तं भवति चाक्षयम्।’ अर्थात् पुत्रोत्पत्ति और व्यतीपात के समय दिया हुआ दान अक्षय होता है।

२. परि = परितः = ईक्षते = अवलोकते गर्भे स्वप्नातारं यः सः परीक्षितः।

स एष लोके विख्यातः परिक्षिदिति यत्प्रभुः। गर्भे दृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरोब्बिह॥१/१२/३०॥



ज्योतिषी-जन, महाराज से, प्रभूत दक्षिणा प्राप्त कर अपने-अपने घर चले गये। इधर राजकुमार परीक्षित शुक्ल पक्ष के चन्द्र की भाँति दिनानुदिन बढ़ने लगे।

महाभारत संग्राम में युधिष्ठिर ने जाति के बहुत-से लोगों का वध किया था, करवाया था। अतः अश्वमेध यज्ञ कर वे इसका प्रायश्चित्त करना चाहते थे। किन्तु कर और प्रजादण्ड के अतिरिक्त अन्य उपाय से धन की प्राप्ति संभव न देखकर उन्हें चिन्ता हुई। भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेरणा से उनके भाई उत्तर दिशा में राजा मरुत्त और ब्राह्मणों द्वारा परित्यक्त प्रचुर धन ले आये<sup>१</sup>। उसी विशुद्ध धन से युधिष्ठिर ने तीन अश्वमेध यज्ञों द्वारा भगवान् का यजन किया—

वाजिमेधैस्त्रिभिर्भितो यज्ञैः समयजन्दरिम ॥१/१२/३४

युधिष्ठिर के यज्ञ में सादर आमन्त्रित होकर भगवान् श्रीकृष्ण पधारे थे। उन्होंने ब्राह्मणों के द्वारा महाराज का यज्ञपूर्ण करवाया फिर भाइयों सहित राजा युधिष्ठिर और द्रौपदी से अनुमति लेकर अर्जुन और यदुवंशियों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वारका के लिये प्रस्थान किया—

ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन् सार्जुनो यदुभिर्वृतः ॥१/१२/३६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१२॥

•

## तेरहवाँ अध्याय

( विदुरजी के उपदेश से धृतराष्ट्र और गान्धारी का हिमालय की ओर गमन )

महाभारत का युद्ध आसन्न था। दुर्योधन ने विदुर का अपमान कर दिया। अतः वे सब कुछ छोड़कर तीर्थ-यात्रा पर चले गये। इसी प्रसंग में उनकी भेंट महर्षि मैत्रेय से हुई। उन्होंने उनसे आत्मा के विषय में ज्ञान प्राप्त किया और फिर लौट आये हस्तिनापुर में। अब तक महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। राजसिंहासन पर महाराज युधिष्ठिर विराजमान थे। अपने परम हितैषी चाचा विदुर को आया देखकर धर्मराज युधिष्ठिर, उनके चारों भाई, धृतराष्ट्र, कृपाचार्य, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, शुभद्रा और उत्तरा आदि परम प्रसन्न हो गये उनके आगमन से। सबकी आँखों में प्रेम और आदर के आँसू छलछला आये। श्रद्धा के साथ सबने अगवानी की। मालूम पड़ता था मानो मेरे हुए शरीर में प्राण आ गया हो—“प्राणं तन्व इवागतम्” ॥५॥

महाराज युधिष्ठिर ने सादर उन्हें आसन पर बैठाया। सम्मान किया। भोजन कराया और फिर पूछा—“चाचा जी, आप हमें छोड़कर चले गये थे। जैसे पक्षी अपने अण्डों को पंखों की छाया के नीचे रखकर उन्हें सेते और बढ़ाते हैं, वैसे ही आपने अत्यन्त वात्सल्य से अपने कर-कमलों की छत्र-छाया में हम लोगों को पाला-पोसा है। बार-बार आपने हमें और हमारी माता को विषदान और लाक्षागृह के दाह आदि विपत्तियों से बचाया है। क्या आप कभी हम लोगों को भी याद करते रहे हैं ? तीर्थयात्रा की बेला में आपने शरीर का निर्वाह कैसे किया ? किन-किन तीर्थों का आपने सेवन किया ? सत्य तो यह है कि आप जैसे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप होते हैं। भगवान् को अपने हृदय-सिंहासन पर विराजमान करा कर आपके समान भक्त तीर्थों को भी महातीर्थ बनाते हुए विचरण किया करते हैं—

१. घटना अति प्राचीन है। एक बार महाराज मरुत्त ने ऐसा यज्ञ किया था, जिसमें सभी पात्र सुवर्ण के थे। यज्ञ की समाप्ति पर उन्होंने उन पात्रों को उत्तर दिशा में फेंकवा दिया था। उन्होंने ब्राह्मणों को भी इतना प्रचुर धन दिया था कि वे उसे न ले जा सके। वे भी उसे उत्तर दिशा में छोड़कर चले गये। परित्यक्त धन पर राजा का अधिकार हुआ करता है। इसलिये उस धन को सँगवा कर भगवान् ने युधिष्ठिर का यज्ञ करवाया था।



भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥

१/१३/१०

अच्छा, तीर्थ-भ्रमण के क्रम में आप द्वारिका भी गये होंगे, यदि नहीं गये होंगे तो वहाँ के हमारे भाई-बन्धुओं के समाचार अवश्य प्राप्त किये होंगे ? हमें सब कुछ बतलाने की कृपा करें । हमारे परमहितैषी यदुवंशी द्वारिका में सुखपूर्वक तो हैं ? विदुर जी ने युधिष्ठिर के प्रश्नों को सुना । अपनी तीर्थ-यात्रा का सारा वर्णन किया । किन्तु यदुकुल के विनाश का वृत्तान्त बरका दिया, नहीं कहा । इसका कारण यह था कि उसे सुन कर पाण्डवों को अपार कष्ट होता । पाण्डवलोग देवता के समान विदुर का सत्कार करते थे । वे कुछ दिनों तक अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र के कल्याण की कामना से, सब लोगों को प्रसन्न करते हुए, सुखपूर्वक हस्तिनापुर में रहे । विदुर जी साक्षात् धर्मराज थे, माण्डव्य ऋषि के शाप से वे सौ वर्षों के लिये शूद्र बन गये थे<sup>१</sup> । उतने समय तक धर्मराज का कार्य अर्यमानामक सूर्य करते थे—

माण्डव्यशापाद् भगवान् प्रजासंयमनो यमः । भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात् ॥

१/१३/१५

राज्य प्राप्त हो जाने पर युधिष्ठिर प्रेम-पूर्वक प्रजा का पालन कर रहे थे । वे अपने वंशधर पौत्र परीक्षित को देखकर प्रसन्नता की अनुभूति करते थे । वस्तुतः विदुर आये थे अपने भाई धृतराष्ट्र का उद्धार करने के लिये । अतः एक दिन एकान्त में विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा—“राजन्, बड़ा भयङ्कर समय आने वाला है । इस को टालने का कोई उपाय नहीं है । अतः आप झटपट यहाँ से निकल चलिये । अब काल सामने आ गया है । जब अपना ही शरीर छूट जाता है तो सम्बन्धियों की तो बात ही क्या है ? आपके सभी सम्बन्धी चले गये । शरीर में बुढ़ापा आ गया । दूसरे के घर में निवास कर रहे हैं, फिर भी आप को जीने की लालसा बनी हुई है । क्या आप यह अनुभव नहीं करते कि घर के लोग कितने तिरस्कार से आप को रोटी देते हैं ? जैसे कुत्ते को रोटी का टुकड़ा डाला जाता है, वैसे ही भीम लाकर आप को भोजन देते हैं—

भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत् ॥ १/१३/२२

जिनको आप के बच्चों ने आग से जलाया, विष दिया, जिनकी पत्नी को दूषित करने का प्रयास किया, जिनका खेत और धन लूट लिया, उन्हीं के प्रदत्त भोजन पर आप अपना जीवन चला रहे हो । फिर भी आप का यह शरीर रहने वाला नहीं है, यह तो जा रहा है, क्षरित हो रहा है । अब तो शरीर को ऐसे ढङ्ग से छोड़ो कि यह सार्थक हो जाय । यदि लोगों को रुलाकर शरीर छोड़ा तो क्या छोड़ा ? शरीर इस प्रकार छोड़ना चाहिये कि लोगों को पता ही न चले कि व्यक्ति कब इस संसार से चला गया—

१. एक समय किसी राजा के अनुचरों ने कुछ चोरों को माण्डव्य ऋषि के आश्रम पर पकड़ा । उन्होंने समझा कि ऋषि भी चोरी में सम्मिलित होंगे । अतः वे भी पकड़ लिये गये । राजा की आज्ञा से चोरों के साथ उन्हें भी शूली पर चढ़ा दिया गया । राजा को जब पता चला तो उन्होंने ऋषि को शूली पर से उतरवा कर क्षमा-याचना की । ऋषि ने उन्हें क्षमा-दान कर यमराज के पास जाकर पूछा—“मुझे किस पाप के फलस्वरूप यह दण्ड मिला ?” यमराज ने उत्तर दिया कि—“आपने बचपन में एक टिड्डी को कुश की नोक से छेद दिया था, इसलिये ऐसा हुआ ।” इस पर मुनि ने कहा—“मैंने अज्ञानवश ऐसा किया होगा, उस स्वल्प अपराध के लिये तुमने मुझे बड़ा कठोर दण्ड दिया । इसलिये तुम सौ वर्षों तक शूद्रयोनि में रहोगे ।” माण्डव्य जी के इस शाप से ही यमराज ने विदुर के रूप में अवतार लिया था ।



अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः ॥११३/२५

अतः सब कुछ परित्याग कर चुपचाप उत्तर दिशा की ओर निकल पड़ो ।

धृतराष्ट्र ने विदुर की बात मान ली । सांसारिक संबन्धों को तोड़कर वे रात्रि की बेला में, विदुर के हाथ की छोड़ी पकड़ कर घर से निकल पड़े—

निश्चक्राम भ्रातृसंदर्शिताध्या ॥११३/२८

उनके साथ ही उनकी पतिव्रता पत्नी गान्धारी भी थी । इस प्रकार आगे-आगे विदुर चल रहे थे । उनके पीछे-पीछे डण्डा पकड़े धृतराष्ट्र और फिर उनके पीछे चल रही थी गान्धारी ।

युधिष्ठिर का नियम था नित्यकृत्य से निवृत्त होकर नित्य गुरु वन्दन । प्रतिदिन की भाँति वे आज भी माता-पिता के चरण-वन्दन के लिये उनके भवन में गये । उन्होंने देखा कि वहाँ न धृतराष्ट्र हैं, न चाचा विदुर हैं और न हैं माता गान्धारी ही । इससे उन्हें महान् कष्ट हुआ, बड़ी चिन्ता हुई । सञ्जय वहाँ बैठे थे । अतः युधिष्ठिर ने पूछा—“सञ्जय जी, हमारे नेत्र-विहीन माता-पिता यहाँ नहीं हैं । क्या आप जानते हैं कि वे कहाँ चले गये ? पिता पाण्डु के इस संसार में न होने से उन्होंने ही सब प्रकार से हमारी रक्षा की थी । हमें छोड़कर वे कहाँ चले गये ? हमारे सब प्रकार से परम हितैषी चाचा विदुर भी यहाँ नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं । वे भी कहाँ चले गये ? कहीं मुझसे किसी अपराध की आशंका करके माता गान्धारी के साथ पिता धृतराष्ट्र गङ्गा जी में तो नहीं कूद पड़े ?” इतना कह कर दुःखी युधिष्ठिर रोने लगे । इस पर सञ्जय ने कहा—“राजन्, मुझे कुछ भी पता नहीं है कि वे कहाँ चले गये” ।

युधिष्ठिर और सञ्जय की वार्ता चल ही रही थी कि उसी समय नारद जी गन्धर्व तुम्बरु के साथ वहाँ आ पहुँचे—

अथाजगाम भगवान् नारदः सहतुम्बुरुः ॥११३/३७

मुनिवर को आया देख कर दुःखित युधिष्ठिर ने, भाइयों के साथ, उनकी अगवानी की, पूजन और प्रणाम किया । नारद जब बैठे गये तो युधिष्ठिर ने कहा—‘देवर्षि जी, हमारे माता-पिता पता नहीं कहाँ चले गये । आप उनका पता बतायें ।’ इस पर नारद जी ने कहा—‘राजन्, शोक मत करो । यह सारा संसार ही काल के वश में है । वही मनुष्यों को मनुष्यों से जोड़ता है, वही मनुष्यों को मनुष्यों से अलग करता है । प्राणियों के संयोग और वियोग का कारण वही है । जो स्वयं ही काल कर्म और गुणों के वश में है वह, अजगर के मुँह में पड़े हुए पुरुष के समान, भला दूसरों की क्या रक्षा कर सकता है ? इसलिये तुम अपनी विकलता छोड़ दो । यह मत सोचो कि तुम्हारे बिना उनका पालन-पोषण कैसे होगा ? धृतराष्ट्र अपनी पत्नी गान्धारी के साथ हिमालय के दक्षिण भाग में ऋषियों के आश्रम पर निवास कर रहे हैं । उनके साथ विदुर जी भी हैं—

धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया । दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः ॥११३/५०

वहाँ उन्होंने अन्न का परित्याग कर दिया है । केवल जल पीकर रह रहे हैं । उनकी सारी इच्छाएँ और एषणाएँ समाप्त हो गई हैं । सम्प्रति इन्द्रियों को वश में करके वे समाधि में स्थित हैं । तुम उनकी साधना में विघ्नकर्ता मत बनो । आज के पाँचवें दिन वे अपने शरीर का परित्याग कर देंगे और वह जलकर भस्म हो जायेगा । अपने पति के मृत देह को जलते देखकर बाहर खड़ी हुई साध्वी गान्धारी भी, पति का अनुसरण करती हुई, उसी आग में प्रवेश कर जायेगी । भाई और भौजाई का इस प्रकार आश्चर्यजनक मोक्ष देख कर विदुर जी तीर्थ-यात्रा पर चले जायेंगे ।” देवर्षि नारद इस प्रकार युधिष्ठिर को उपदेश देकर, तुम्बरु के साथ चले गये ॥१३॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥



## चौदहवाँ अध्याय

( अपशकुनों के होने से युधिष्ठिर का चिन्तित होना और अर्जुन का द्वारका से प्रत्यागमन )

महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् श्रीकृष्ण का समाचार लेने के लिये अर्जुन को द्वारका भेजा था । कई महीने बीत जाने पर भी अर्जुन वहाँ से लौट कर नहीं आये । इधर युधिष्ठिर को बड़े भयङ्कर अपशकुन दिखलाई पड़ने लगे । उन्होंने देखा, काल की गति अति विकट हो गई है । गर्मी में गर्मी नहीं पड़ती, सर्दी में सर्दी नहीं पड़ती, बरसात में वर्षा नहीं होती । लोग अपनी जीविका पाप से चलाने लगे हैं—“पापीयसीं नृणां वार्ता” ॥३॥ लोग बड़े क्रोधी, लोभी और असत्यपरायण हो गये हैं । पारिवारिक स्नेह-प्रेम के बन्धन टूट गये हैं । पति-पत्नी तक के सम्बन्ध कटु हो गये हैं । सर्वत्र छल-कपट का ही व्यवहार दिखलाई पड़ रहा है । यह सब देखकर युधिष्ठिर ने अपने लघु-बन्धु भीम को अपने पास बुला कर कहा—

“भीम, तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन कृष्ण का समाचार लेने के लिये द्वारिका गये थे । पूरे सात मास व्यतीत हो गये । वे अभी तक लौट कर नहीं आये । इसका क्या कारण हो सकता है ? कहीं देवर्षि नारद के द्वारा निर्दिष्ट वह समय तो नहीं आ पहुँचा है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने लीला-विग्रह का संवरण करना चाहते हैं, धरा-धाम छोड़ना चाहते हैं—

अपि देवर्षिणादिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः । यदाऽऽत्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्तिसुक्ष्मि ॥

१/१४/८

बार-बार मेरे अङ्ग फड़क रहे हैं । हृदय में कम्पन हो रहा है । श्वान हमारे सामने मुख करके भूँकते हैं, रोते हैं । मृत्यु की सूचना देनेवाला यह उल्लू भी दिन में भयङ्कर शब्द करता है । इसे सुनकर मन कम्पित हो उठता है । दिशाएँ धुँधली हो रही हैं । सूर्य और चन्द्र के चतुर्दिक् गोलाकार मण्डल बैठते हैं । मेघों से रक्त की वृष्टि होती है । ग्रह परस्पर टकरा रहे हैं । चारों ओर धूलभरी आँधी रह-रह कर चल रही है । आकाश से बिना बादलों के भी बिजली गिर रही है । बार-बार भू-कम्प के झटके आ रहे हैं । घृत की आहुति डालने पर भी अग्नि प्रज्ज्वलित नहीं होती । बछड़े दूध नहीं पीते । गायों की आँखों से निरन्तर आँसुओं की धाराएँ बह रही हैं । देवताओं की मूर्तियाँ रो-सी रही हैं । उनसे पसीना भी प्रवाहित होने लगता है । देश, गाँव, नगर, उद्यान, खानें और आश्रम श्रीहीन और आनन्दशून्य हो गये हैं । कहाँ तक कहूँ ? चारों ओर भीषण दृश्य दृष्टि-गोचर हो रहे हैं । पता नहीं ये बड़े-बड़े उत्पात किस अनिष्ट की सूचना दे रहे हैं—

भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः ॥१/१४/२०

कहीं पृथ्वी भगवान् के श्रीचरणों से रहित तो नहीं हो गई ? इस प्रकार युधिष्ठिर अपनी चिन्ता व्यक्त ही कर रहे थे कि अर्जुन द्वारिका से आ गये । उनकी आकृति मलिन थी । उनकी आँखों से अश्रु-बिन्दु टपक रहे थे । शरीर शिथिल था । नीचे मुख झुकाये हुए वे युधिष्ठिर के चरणों पर जा गिरे । उनकी स्थिति देखकर युधिष्ठिर घबरा गये । देवर्षि नारद की बातें याद करके उन्होंने सुहृदों के सामने ही अर्जुन से पूछा—‘अर्जुन, द्वारिका में यदुवंशी सकुशल तो हैं ? भगवान् श्रीकृष्ण, उनकी पत्नियाँ और परिवार के लोग सानन्द तो हैं ? तुम्हारी आकृति मलिन है । मुख-मण्डल पर तेज नहीं दिखलाई पड़ रहा है । क्या तुम्हारा वहाँ किसी ने अपमान कर दिया ? अथवा तुम किसी से पराजित हो गये हो ? आशा लेकर आये हुए किसी याचक को तुमने निराश तो नहीं कर दिया ? देने की प्रतिज्ञा करके तुम समय आने पर मुकर तो नहीं गये ? शरण में आये हुए किसी ब्राह्मण, बालक, अशक्त तथा स्त्री आदि



का तुमने परित्याग तो नहीं कर दिया ? कहीं तुमने अगम्या स्त्री से समागम तो नहीं किया ? कहीं मार्ग में तुम किसी से पराजित तो नहीं हो गये ? भोजन कराने योग्य बालक और वृद्ध को बिना भोजन कराये, तुमने खा तो नहीं लिया ? मुझे प्रतीत होता है कि अवश्य तुमसे कोई ऐसा निन्दित कर्म हो गया जो तुम्हारे योग्य नहीं था । तुम्हारी ऐसी दशा क्यों हो गई है ? हो-न-हो अपने परम प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण से तुम रहित हो गये हो । इसी से अपने को शून्य मान रहे हो । इसके अतिरिक्त अन्य दूसरा कारण नहीं हो सकता, जिससे तुम्हें इतनी मानसिक पीडा हो ॥१४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

## पन्द्रहवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण के विरह से व्यथित पाण्डवों का परीक्षित को राज्य देकर स्वर्ग सिधारना )

अपने बड़े भाई युधिष्ठिर के कई प्रकार की आशङ्काओं से भरे हुए प्रश्नों को सुनकर शोकाकुल अर्जुन का हृदय विषाद से भर गया । बराबर श्रीकृष्ण का ही स्मरण होने से वे कुछ भी उत्तर न दे सके । कुछ समय तक वे मौन ही रहे फिर किसी-किसी प्रकार अपने को सभाला आँसुओं को पोछा । उनका कण्ठ आँसुओं से अवरुद्ध हो गया था । पुनः वे धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—‘महाराज, आपने जितने कारण गिनाये हैं, उनमें एक भी नहीं है । किन्तु हमे हमारे मित्र ने ठग लिया इसी से मेरा तेज कम हो गया है, अब तो मेरा यह शरीर निष्पाण-सा हो गया है—

उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा ॥११/१५/६॥

जिनके आश्रय से द्रौपदी के स्वयंवर में राजा द्रुपद के यहाँ आये हुए कामोन्मत्त राजाओं का तेज मैंने हरण कर लिया था । धनुष पर बाण चढ़ा कर मत्स्य का बेध किया था । उसी का फल था कि द्रौपदी को प्राप्त किया—

यत्संश्रयाद् द्रुपदगोहमुपागतानां, राज्ञां स्वयम्वरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।

तेजो हतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः, सज्जीकृतेन धनुषाऽधिगता च कृष्णा ॥११/१५/७

उन्हीं की छात्रच्छाया रहने के कारण मैंने समस्त देवों के साथ इन्द्र को अपने पराक्रम से जीत कर अग्निदेव को उनकी तृप्ति के लिये खाण्डव वन का दान कर दिया था और मय नामक दानव के द्वारा बनाई गई अलौकिक कलाकौशल से युक्त मायामयी, भ्रम उत्पन्न करनेवाली सभा प्राप्त की थी । उन्हीं की कृपा से आपके यज्ञ में सब ओर से आ-आकर राजाओं ने विविध प्रकार की भेंटें समर्पित की थीं । यह उन्हीं की कृपा थी कि दस हजार हाथियों की शक्ति और बल से सम्पन्न आप के इन छोटे भाई भीमसेन ने राजाओं के शिर पर पैर रखने वाले महाभिमानी जरासन्ध का वध किया था । जरासन्ध के कारागार से छुड़ाये गये राजाओं ने आपके यज्ञ में प्रभूत सामग्री भेंट की थी । उन्हीं के बल से हमने द्रौपदी के तिरस्कार का चीरहरण का बदला लिया । उन्हीं के प्रभाव से हम वन में शत्रुओं के द्वारा भेजे गये महाक्रोधी दुर्वासा ऋषि के शाप से त्राण पा सके थे—

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद् दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग्यः ॥११/१५/११

महाभारत का युद्ध आसन्न था अतः अर्जुन तप से शङ्कर को सन्तुष्ट कर उनसे अस्त्र की प्राप्ति के लिये इन्द्रकील पर्वत पर गये । तप से सन्तुष्ट शङ्कर ने उनके बल की परीक्षा लेनी चाही अतः किरात के वेश में वे अर्जुन से मल्लयुद्ध करने लगे । अर्जुन ने शङ्कर को ऊपर उठा लिया । शङ्कर ने प्रसन्न होकर महाभारत जीतने के लिये उन्हें पाशुपतास्त्र

१. पीछे इस प्रसङ्ग का वर्णन किया जा चुका है ।



प्रदान किया। अर्जुन इन्द्र के आमन्त्रण पर इन्द्रकील पर्वत से इन्द्र की अमरावती में गये। वहाँ इन्द्र ने उन्हें अपने आधे आसन पर सन्नेह बैठाया। अर्जुन का कथन है कि यह सब कृष्ण के तेज का प्रताप था—

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणिर्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।

अन्येऽपि चाहममुनेव कलेवरेण प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्थम् ॥ १/१५/१२

बड़े भैया, मैं क्या कहूँ ? महाभारत युद्ध में कौरवसेना अपार थी। बड़े-बड़े शूरमा उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह भीष्म, कर्ण, द्रोणाचार्य और शल्य, सदृश बड़े-बड़े योद्धाओं के रथों से अलङ्कृत थी। मैं देखता था, खूब ठीक-ठीक देखता था। भगवान् श्रीकृष्ण मेरे आगे-आगे चलते थे। वे अपनी दृष्टि से ही उन महारथी सेनापतियों की आयु, मन, उत्साह और बल का हरण कर लिया करते थे अतः वे मेरा कुछ भी बिगाड़ सकने में समर्थ नहीं थे। द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, भूरिश्रवा, सुशर्मा, शल्य, जयद्रथ और बाह्लीक आदि वीर मुझे लक्ष्य कर अचूक अस्त्र प्रहार करते थे। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी बाँहों में मुझे इस प्रकार छिपा कर रक्खा था कि वे अस्त्र उसी प्रकार मेरा स्पर्श नहीं कर पाते थे जैसे कि दैत्यों के द्वारा फेंके गये विविध आयुध भक्त-प्रवर प्रह्लाद का स्पर्श नहीं कर सके थे—

यद्दोषु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्णनप्तुर्गिरिशलसैन्यवबाहिकाद्यैः ।

अस्त्राण्यमोघनिवहानि निरूपितानि नो पस्पृशुर्गुह्रिदासमिवासुराणि ॥ १/१५/१६

संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिये बड़े-बड़े मनीषी जिनके चरण-कमलों का भजन करते हैं। जो भक्तों पर प्रसन्न हो कर अपने आप को भी समर्पित कर देते हैं, उन्हीं भगवान् को मुझ दुर्बुद्धि ने अपना सारथि तक बना डाला। जयद्रथ-वध की बेला में भयङ्कर युद्ध चल रहा था। मेरे थके घोड़े प्यास से तड़प रहे थे। उस समय मैं रथ से उतरा। पृथिवी में बाण मारा। जल की धाराएँ बह निकलीं। घोड़े जल पीने लगे। मैं भूतल पर खड़ा था। मेरे शत्रु रथों पर आरूढ़ थे। किन्तु वे मेरे ऊपर प्रहार नहीं कर सके। इसका कारण था श्रीकृष्ण के प्रभाव से वे दिग्प्रमित हो गये थे—

सौत्ये वृतः कुमतिनाऽऽत्मद ईश्वरो मे, यत्पादपद्मभवाय भजन्ति भव्याः ।

मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं, न प्राहरन् यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥ १/१५/१७

हे महाराज, वही मैं आज अपने सखा, प्रिय मित्र, अपने साक्षात् हृदय पुरुषोत्तम भगवान् से रहित हो गया हूँ। भगवान् की पत्नियों को द्वारका से अपने साथ ला रहा था। परन्तु मार्ग में दुष्ट गोपों ने मुझे एक अबला की भाँति हरा दिया और मैं उनकी रक्षा न कर सका—

सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन, सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः ।

अध्यन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन् गोपैरसन्निह्रबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥ १/१५/२०

साधारण व्यक्तियों के द्वारा अर्जुन के पराजय की बात सुनकर युधिष्ठिर ने पूछा—‘अर्जुन, तुम्हारे पास उस समय वे साधन नहीं थे क्या, जिनसे तुमने महाभारत युद्ध जीता था’ ? इस पर अर्जुन ने उत्तर दिया—

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।

सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमृष्याम् ॥ १/१५/२१

अन्वयः—वै, (मे), तत्, धनुः, (आसीत्); ते, इषवः, (आसन्), सः रथः, (आसीत्); ते, हयाः, (आसन्); अहम्, सः, रथी, (आसम्), यतः, नृपतयः, आनमन्तिः, (किन्तु), ईशरिक्तं सत्, (एतत्), सर्वम्, भस्मन्, हुतम्, कुहकराद्धम्, ऊष्याम्, उप्तम्, इव, क्षणेन, असत्, अभूत् ॥ १/१५/२१॥



**शब्दार्थः**—वै = निश्चय ही, (मे = मेरा), तत् = वही, धनुः = धनुष, (आसीत् = था); ते = वे ही, इषवः = बाण, (आसन् = थे); सः = वही, रथः = रथ, (आसीत् = था), ते = वे ही, हयाः = घोड़े, (आसन् = थे); अहम् = मैं, सः = वही, रथी = रथी, रथ पर बैठकर युद्ध करने वाला, (आसम् = था), यतः = जिसके सामने, नृपतयः = राजा लोग, आनमन्ति = शिर झुका कर प्रणाम करते थे, (किन्तु = परन्तु) ईशरिक्तं सत् = भगवान् श्रीकृष्ण से रहित होकर, (एतत् = यह), सर्वम् = सब कुछ, भस्मन् = भस्म में, राख में, हुतम् = हवन की गई आहुति, कुहकराब्धम् = कपटी को दिया गया दान, ऊष्याम् = ऊसर में, उप्तम् = बोए हुए बीज की, इव = तरह, क्षणेन = क्षण भर में, असत् = निरर्थक, सारशून्य, अभूत् = हो गया ॥१/१५/२१॥

**अर्थः**—निश्चय ही (मेरा) वही गाण्डीव धनुष था, वे ही बाण थे, वही रथ था, वे ही घोड़े थे, मैं भी वही रथी अर्जुन था जिसके सामने बड़े-बड़े राजा लोग शिर झुका कर प्रणाम करते थे। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण से रहित होकर यह सब कुछ, राख में हवन की गई आहुति, कपटी को दिया गया दान तथा ऊसर में बोए हुए बीज की तरह, क्षणभर में निरर्थक हो गया, किसी काम न आया ॥१/१५/२१॥

राजन् आपने द्वारिकावासी अपने जिन सुहृद्—सम्बन्धियों की बात पूछी है वे सभी ऋषियों के शाप के कारण परस्पर लड़कर मर गये। केवल चार-पाँच ही शेष रह गये हैं—‘चतुःपञ्चावशेषिताः’ । २३। यह सब भगवान् की लीला है। इतना कहते-कहते अर्जुन व्याकुल हो गये। किन्तु यह प्रभु-कृपा थी कि उसी समय उनको गीता का स्मरण हो गया। वे श्रीकृष्ण के चरण-चिन्तन में निमग्न हो गये। इस से उनके हृदय का राग-द्वेष निवृत्त हो गया। उनका शोक मोह और संशय मिट गया। उनकी प्रकृति लीन हो गई और वे जन्म-मरण से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्म से एकाकार हो गये।

भगवान् के स्वधाम-गमन और यदुवंश के संहार की बात सुनकर निश्चलमति युधिष्ठिर ने स्वर्ग-गमन का निश्चय किया। कुन्ती भी संसार के सम्बन्धों को मन से निकाल कर उसे भगवान् के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया। फलस्वरूप वह भगवान् के धाम में चली गई। जिस दिन से भगवान् भूतल का परित्याग कर चले गये थे, उसी दिन से मनुष्यों में कलि का प्रवेश हो गया था। युधिष्ठिर ने जन-मानस में कलि के प्रवेश को देखा। अतः उन्होंने अपने पौत्र परीक्षित को पृथिवी-पति के रूप में हस्तिनापुर की राजगद्दी पर अभिषेक कर दिया। अनिरुद्ध के पुत्र वज्रनाभ को मथुरा में शूरसेनों का अधिपति बनाया। फिर वे विरक्त उन्मत्त की भाँति विचरण करते हुए हिमालय की ओर चले गये। भाइयों ने भी उनका अनुगमन किया। विदुर भी प्रभास क्षेत्र में शरीर का परित्याग कर अपने लोक को चले गये। द्रौपदी ने देखा कि अब पाण्डव लोग निरपेक्ष हो गये हैं; उनका किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है; तब वे अनन्य प्रेम से भगवान् कृष्ण का ही चिन्तन करके उन्हीं में विलीन हो-गई।

जो व्यक्ति श्रद्धा के साथ भगवान् के प्रिय पाण्डवों का मङ्गलमय यह महाप्रयाण सुनता है, वह निश्चय ही भगवान् की भक्ति को प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी बनता है—

यः श्रद्धयैतत् भगवत्प्रियाणां पाण्डोः सुतानामिति सम्प्रयाणम् ।

शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं लब्ध्वा हरी भक्तिमुपैति सिद्धिम् ॥ १/१५/५१

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥



## सोलहवाँ अध्याय

( राजा परीक्षित की दिग्विजय तथा धर्म और पृथिवी का संवाद )

कथा-क्रम को आगे बढ़ाते हुए सूत जी कहते हैं कि—“शौनक जी, परीक्षित उन सभी उच्च गुणों से अलङ्कृत थे, जिनका वर्णन ब्राह्मणों ने उनके जन्म-काल की बेला में किया था। उत्तर की बेटो इरावती से उनका विवाह हुआ था। उनके जनमेजय आदि चार पुत्र थे। परीक्षित ने कृपाचार्य को आचार्य बना कर गङ्गा के पावन तट पर तीन अश्वमेधयज्ञ किया था। उन यज्ञों में ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा प्रदान की गई थी। उनमें प्रत्यक्षरूप से प्रकट होकर देवताओं ने अपना भाग ग्रहण किया था। एक बार दिग्विजय की बेला में उन्होंने देखा कि शूद्र के रूप में कलियुग राजा का वेश धारण करके एक गाय और बैल के जोड़े को पैर से मार रहा है। तब उन्होंने उसे बलपूर्वक पकड़ कर दण्ड दिया”—

निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित् ।

नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ॥१/१६/४

सूत के वचन को शौनक ने सुना। उनकी जिज्ञासा बढ़ी। उन्होंने पूछा—“सूत जी, दिग्विजय के समय महाराज परीक्षित ने कलियुग को दण्ड देकर ही क्यों छोड़ दिया—मार क्यों नहीं डाला ? यदि इसका सम्बन्ध कृष्ण-कथा से अथवा उनके भक्तों की कथा से हो, तब तो सुनाइये अन्यथा सांसारिक बातों को सुनने का मन नहीं है। इनसे आयु व्यर्थ में ही बीत जाती है। क्षण-क्षण आयु छीज रही है। अतः हम लोग निश्चिन्त बैठकर यहाँ भगवान् की कथा सुनें और हरि-लीलामृत का सादर पान करें। आधी आयु रात्रि में निद्रा से और आधी आयु दिन में व्यर्थ के कामों में बीत जाती है। अतः भगवच्चर्चा के द्वारा अपने चित्त को राग-द्वेष आदि से निवृत्त कर लेना ही कल्याणकारी है। भगवान् की कथा सुनने से सब कुछ संभव हो जाता है” ।

महर्षि शौनक के जिज्ञासाभरे प्रश्नों को सुन कर सूत जी ने कहना प्रारम्भ किया—“जब राजा परीक्षित को पता चला कि हमारे राज्य में कलियुग का प्रवेश हो गया है, तब वे श्यामतुङ्गवाले रथ पर आरूढ़ होकर, चतुरङ्गिणी सेना के साथ, दिग्विजय के लिये निकले। उन्होंने भिन्न-भिन्न देशों में जाकर दिग्विजय की। वे जहाँ-जहाँ जाते थे वहाँ-वहाँ पाण्डवों का यश और श्रीकृष्ण की चर्चा सुनाई पड़ती थी। वे यह भी सुनते थे कि भगवान् ने गर्भ में परीक्षित की रक्षा की थी। जब लोग उन्हें बतलाते थे कि यदुवंशियों और पाण्डवों में महान् प्रेम था तथा वे सभी श्रीकृष्ण के प्रति अगाध भक्ति रखते थे, तब परीक्षित की प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती थी। वे बहुमूल्य वस्त्र और मणियों का हार सुनाने वालों को लुटा देते थे—

महाधनानि वासांसि ददौ हारान् महामनाः ॥१/१६/१५

जब वे सुनते थे कि भगवान् श्रीकृष्ण प्रेम के वशीभूत होकर पाण्डवों के सारथी बने थे, हमारे दादा अर्जुन का रथ हाँकते थे, उनके सभासद बने थे—यहाँ तक कि उनके मन के अनुसार उनकी सेवा भी की थी। उनके सखा तो थे ही, दूत भी बने थे। वीरासन से बैठकर उनकी पहरेदारी करते थे। वे युधिष्ठिर को प्रणाम करते थे, उनके पीछे-पीछे चला करते थे, तब राजा परीक्षित का हृदय द्रवित हो उठता था और उनके हृदय में भगवान् की भक्ति का सागर लहराने लगता था—

सारथ्य-पारषद-सेवन-सख्य-दौत्य-वीरासनानुगमनस्तवनप्रणामान् ।

स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णोर्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥१/१६/१६

इस प्रकार जब परीक्षित दिग्विजय करते हुए आगे बढ़ रहे थे तब एक दिन उनके सामने एक महान् आश्चर्यजनक घटना घटी। उन्होंने देखा कि धर्म बैल का रूप धारण करके एक पैर से चल रहा है। उसके तीन पैर कटे हुए हैं।



एक स्थान पर उसे गाय का रूप धारण की हुई पृथिवी मिली। उसकी कान्ति मलीन हो गई थी। आँखों से अश्रु बह रहे थे। रोती हुई गाय से वृषरूपधारी धर्म ने पूछा—“कल्याणि, बतलाओ तुम कुशल से तो हो न ? तुम श्रीहीन हो रही हो। तुम्हारे दुःख का कारण क्या है ? तुम्हारा मुख मलीन प्रतीत हो रहा है। क्या तुम्हारा कोई बन्धु दूर चला गया है ? क्या उसी के लिये शोक कर रही हो ? अथवा मेरी यह दशा देख कर दुःखी हो रही हो ? अथवा दुष्ट राजाओं के अत्याचार से पीडित हो ? या देवताओं के लिये दुःखी हो रही हो ? अथवा बिना विचारे जहाँ-तहाँ सबके हाथ का खाने-पीने वाले, लोभी, कामी जीव-लोक के बारे में शोक करती हो ? अथवा तुम्हें छोड़कर भगवान् चले गये हैं अतः उनके गुणों का स्मरण करती हुई शोकाकुल हो ? आखिर, तुम्हारे कष्ट का कारण क्या है ? बतलाओ।

पृथिवी ने धर्म की बात सुनी और कहा—“धर्म, तुम्हें सारी बातें विदित हैं फिर भी तुम अनजान की तरह पूछ रहे हो। जिन भगवान् के सहारे तुम सारे संसार को सुख पहुँचानेवाले अपने चारों चरणों से युक्त थे; जो सत्य, शौच, दया, शान्ति आदि सारे सद्गुणों की खान थे, वे भगवान् श्रीकृष्ण इस लोक से चले गये। फलतः सारा संसार कलियुग से आक्रान्त हो गया है। यही देखकर शोक कर रही हूँ। अब शूद्र, पतित और धर्म-कर्म से हीन राजा लोग मेरा उपभोग करेंगे, यह सोचकर अपने लिये भी दुःखी हो रही हूँ। देवता, पितर, ऋषि, साधु और समस्त वर्णों और आश्रमों के मनुष्यों के लिये भी मैं शोकग्रस्त हो रही हूँ। भगवान् की शरण को ग्रहण कर ब्रह्मा आदि जिस लक्ष्मी के कृपा-कटाक्ष को पाने के लिये चिर काल तक तपस्या किया करते हैं। वे लक्ष्मी जी अपने निवास-स्थान कमल को छोड़कर जिनके चरण-कमलों की सुभग छत्रच्छाया का सेवन करती हैं, वे भगवान् मुझ अभागिन को छोड़ कर चले गये, मेरे ऊपर से अपने चरणों को हटाकर चले गये। इसका मुझे अतिशय कष्ट है—

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।

सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभाग्यमलं भजतेऽनुरक्ता ॥ १/१६/३२

अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किससे कहूँ ? इस प्रकार पृथिवी और धर्म आपस में बातचीत कर ही रहे थे कि राजर्षि परीक्षित वहाँ पूर्ववाहिनी सरस्वती के तट पर पहुँच गये—

तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा। परीक्षित्राम राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम् ॥

१/१६/३६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

•

## सत्रहवाँ अध्याय

( महाराज परीक्षित द्वारा कलियुग का दमन )

वहाँ जाकर परीक्षित ने एक विचित्र दृश्य देखा। राजा के वेश को धारण किये हुए एक शूद्र हाथ में डंडा लेकर गाय-बैल के जोड़े को बेरहमी के साथ पीटता जा रहा है जैसे उनका कोई मालिक ही न हो। बैल डर के मारे थोड़ा-

१. धर्म को, सृष्टि के रहस्य को, देखने की शक्ति जन-सामान्य में नहीं होती। जिनका हृदय पूर्णतः शुद्ध होता है, जिनके हृदय में भगवान् की विशुद्ध भक्ति होती है, वे ही अलौकिक वस्तुओं का साक्षात्कार कर सकते हैं और उनका संवाद सुन सकते हैं। परीक्षित सब तरह से विशुद्ध थे। यही कारण है कि वे धर्म और पृथिवी का साक्षात्कार कर सकते थे और उनका संवाद सुन सकते थे।



थोड़ा मृत रहा था। उसका शरीर काँप रहा था। गाय को वह शूद्र पैर की ठोकड़ों से मार रहा था। वह अत्यन्त दीन हो रही थी। एक तो वह स्वयं दुर्बल थी, दूसरे उसका बछड़ा भी उसके पास नहीं था। उसे भूख लगी हुई थी और उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी।

रथ पर बैठे हुए महाराज परीक्षित ने इस बीभत्स दृश्य को देखा। उन्होंने अपने धनुष पर बाण चढ़ा लिया और डाटते हुए, बोले—“अरे, तू कौन है, जो बलवान् होकर भी मेरे राज्य के इन दुर्बल प्राणियों को बलपूर्वक मार रहा है ? तूने नट की भाँति वेश तो राजा का-सा बना रक्खा है, परन्तु कर्म से तू शूद्र प्रतीत होता है। हमारे दादा अर्जुन के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के परम धाम चले जाने पर इस प्रकार निर्जन स्थान में निरपराधों पर प्रहार करनेवाला तू अपराधी है अतः वध के योग्य है।” इसके साथ उन्होंने वृषभ और गाय से पूछा—“कमलनाल के समान आप का धवल स्वरूप है। तीन पैर न होने पर भी आप एक पैर से चलते फिरते हैं। आपके तीन पैरों को किसने काट डाला है ? यह देख कर मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। बतलाइये आप क्या बैल के रूप में कोई देवता हैं ? अभी यह भू-मण्डल कुरुवंशी राजाओं के बाहुबल से सुरक्षित है। इसमें आप के अतिरिक्त और किसी भी प्राणी के नेत्रों से आँसू बहते मैंने नहीं देखा है। धेनुपुत्र, अब आप शोक न करें। इस शूद्र से निर्भय हो जायँ। गोमाता, मैं दुष्टों को दण्ड देने वाला हूँ। अब आप रोये नहीं। आप का कल्याण हो। प्रजा की रक्षा न कर सकने वाले राजा की कीर्ति, आयु और ऐश्वर्य आदि नष्ट हो जाते हैं। हमारे राज्य में जो निरपराधों को सताता है, उसे मैं भयभीत करता हूँ। तुम्हें दुःख देनेवाले ने हमारे पूर्वजों की धवल कीर्ति को कलंकित किया है। मेरे रहते निरपराध प्राणी को दुःख देनेवाला साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, मैं उसकी भुजाओं को जड़ से काट डालने में समर्थ हूँ”—

अनागस्त्वह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः। आहर्ताऽस्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम्॥

१/१७/१५

महाराज परीक्षित की बात सुनकर वृषरूपधारी धर्म ने कहा—“आप भगवान् के भक्त हैं। प्रशस्त पाण्डव-वंश में पैदा हुए हैं। आपके पूर्वजों के विविध गुणों के वशीभूत होकर भगवान् उनके दूत बने थे, उनका रथ हाँका था। इसलिये इस प्रकार की बातें करना आप के लिये उचित ही है। किन्तु जीवन में दुःखों के आने के क्या कारण हैं, यह हम नहीं जानते। इस विषय में विभिन्न शास्त्रों के अलग-अलग मत हैं—“वाक्यभेदविमोहिताः”। १८। जो तार्किक और अभेदवादी हैं वे कहते हैं कि आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा दुःख का कारण नहीं है। नास्तिक स्वभाव को दुःख का हेतु मानता है। ज्योतिषी ग्रह आदि देवताओं को, मीमांस कर्म को, सांख्यवादी स्वभाव शब्द से गुणपरिणामको सुख-दुःख का कारण मानते हैं। अन्य कुछ लोगों का मत है कि कार्य-कारण का भाव तर्क-वितर्क का विषय नहीं है, निर्देश्य नहीं है, अनिवर्चनीय है। ऐसी परिस्थिति में राजन् आप स्वयं ही इसका विचार कर लीजिये कि हम को दुःख का दाता कौन है ?

राजा ने वृष की बात सुनी और कहा—“मैं पहचान गया। वृषभ के रूप में आप धर्म हो। आपने अपने को दुःख देने वाले का नाम इसलिये नहीं बतलाया है कि अधर्म करनेवाले को जो पाप लगता है, वही पाप चुगली करनेवाले को भी लगता है—“यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्वेत्” ॥२२॥ धर्मदेव, सतयुग में आपके चार चरण थे—तप, शौच, दया और सत्य। इस समय अधर्म के अंश—गर्व, आसक्ति और मद से तीन चरण नष्ट हो चुके हैं। अब आप का चौथा चरण केवल ‘सत्य’ ही बचा है। उसी से आप चल रहे हैं, जीवित हैं। असत्य से पुष्ट हुआ यह अधर्मरूप कलियुग उसे भी समाप्त कर देना चाहता है। यह गाय के रूप में साक्षात् पृथिवी है। इसके दुःख का कारण यह है कि यह सोच रही है कि—मैं भगवान् के चरण-चिन्हों से अब वञ्चित रहूँगी और आगे ब्राह्मण-द्रोही शूद्र मेरा भोग करेंगे।



इस प्रकार धर्म और पृथिवी को आश्वासन देकर महाराज परीक्षित ने कलि का वध करने के लिये हाथ में तीखी तलवार धारण की। कलि घबड़ा गया। उसने सोचा—यह तो अब मेरा वध करहीं देंगे। अतः राजचिह्न मुकुट आदि को बाहर फेंक कर राजा के चरणों पर जा गिरा<sup>१</sup>। उसे चरणों पर गिरा हुआ, शरण में आया हुआ देखकर शरणागतवत्सल राजा हँसते हुए बोले—“बस-बस, अब तुम्हें कोई भय नहीं है। अर्जुन के वंशज राजाकी शरण में आते ही व्यक्ति का सारा भय समाप्त हो जाता है। किन्तु तुम हमारे राज्य में नहीं रह सकते। अतः यहाँ से निकल जाओ, क्योंकि तुम अधर्म के भाई हो। इसलिये तुम्हारे आने पर अधर्म आता है, जिसके फलस्वरूप राजा प्रजा सभी लोभी हो जाते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं। छल, कपट, प्रपञ्च होता है। अतः तुम हमारे ब्रह्मावर्त क्षेत्र में बिल्कुल मत रहो। यह हमारा देश भारतवर्ष भगवान् की आराधना का स्थान है। इसमें तुम्हारे लिये कोई स्थान नहीं है—

न ते गुडाकेशयशोधराणां, बन्दाञ्जलेर्वै भयमस्ति किञ्चित्।

न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन, क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः॥१/१७/३१

परीक्षित की बात को कलियुग ने सुना। सुनते ही वह थर-थर काँपने लगा और हाथ जोड़कर बोला—“महाराज, आप जहाँ कहेंगे वहीं मैं रहूँगा। किन्तु महाराज, आपकी आज्ञा से जहाँ कहीं भी मैं रहने का विचार करता हूँ, वहीं धनुष पर बाण चढ़ाये खड़े आप दिखलाई पड़ते हैं। मुझे तो ऐसा कोई स्थान नहीं दिखलाई पड़ता जहाँ आप का शासन न हो। इसलिये मैं कहाँ जाऊँ ? कृपा करके आप मेरे लिये कोई स्थान तो नियत कर दीजिये।”

कलि की प्रार्थना को सुनकर महाराज परीक्षित ने पर्याप्त सोच-विचार कर कहा—“कलि- १. जहाँ जुआ हो वहाँ अर्थात् घूतस्थान, २. शराबखाना, ३. वेश्यालय और ४. कसाईखाना में तुम रहना—

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ। घूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः॥१/१७/३८

इन स्थानों में वह अनृत, मद, काम और रजोमूल हिंसा तथा वैर के साथ रहता है। फिर कलि ने कहा—‘राजन् आपके राज्य में कहीं घूत आदि तो होता नहीं। अतः मेरे लिये कोई और स्थान निर्धारित कर दीजिये।’ इस पर राजा ने उसे रहने के लिये एक और स्थान—‘सुवर्ण’ दिया। इस प्रकार कलियुग के पाँच स्थान हो गये। इन स्थानों में कलियुग झूठ, मद, काम, रजोगुण और वैर के साथ निवास करता है—

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः। ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम्॥१/१७/३९

सूत जी कहते हैं कि—‘ऋषियों, अपना कल्याण चाहनेवाले व्यक्ति को इन पाँचों स्थानों का सेवन कभी नहीं करना चाहिये। धार्मिक गुरुओं और राजाओं को तो बड़ी सावधानी के साथ इनका त्याग करना चाहिये।

इसके बाद राजा परीक्षित ने वृषरूप धर्म के तीनों चरण—तपस्या, शौच और दया को जोड़ कर उसके चारों पैर पूरे कर दिये तथा आश्वासन देकर पृथिवी का संवर्धन किया, उसे सन्तुष्ट किया। उन्हीं के शासन काल में सम्प्रति आप लोग इस दीर्घकालीन यज्ञ के लिये दीक्षित होकर बैठे हैं<sup>२</sup>।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

१. यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कलि राजा के चरणों पर गिर पड़ा। इस प्रकार उसने राजा को छू दिया। उसका फल यह हुआ कि राजा पर भी उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य आ गया होगा।
२. कलि को सुवर्ण में स्थान देने के समय राजा यह तो भूल ही गये कि मेरे भी शिर पर सुवर्ण का मुकुट विराजमान है। यहाँ ‘सुवर्ण’ का अर्थ धन भी होता है।
३. नौमिषारण्य में सूत के कथा कहने के पूर्व ही परीक्षित मुक्त होकर जा चुके थे। अतः यह कथन ‘वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा’ इस पाणिनिस्मृत के अनुसार निकटवर्ती भूतके अर्थ में समझना चाहिये।



## अठारहवाँ अध्याय

( राजा परीक्षित को श्रुद्धी ऋषि का शाप )

राजा परीक्षित पर भगवान् श्रीकृष्ण की बड़ी कृपा थी। यही कारण है कि वे माता की कोख में अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जल जाने पर भी मरे नहीं। जब उन्हें पता चला कि क्रुद्ध ब्राह्मण के शाप के कारण आज से सातवें दिन तक्षक डसेगा, जिससे उनकी मृत्यु हो जायेगी, तब भी वे भयभीत नहीं हुए; क्योंकि उस समय उन्होंने अपना चित्त भगवान् के चरणों में समर्पित कर रक्खा था। शाप की बात सुनने के बाद सांसारिक आसक्ति को छोड़कर, गङ्गा के परम पावन तट पर बैठकर उन्होंने श्रीशुकदेव जी से उपदेश ग्रहण कर अपने आप को ब्रह्म में विलीन कर दिया था। जो भगवान् के भक्त होते हैं, उनके चरणारविन्द का सतत स्मरण करते हैं, उन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं होता। वे किसी से भयभीत भी नहीं होते। जब तक राजा परीक्षित रहे तब तक पृथिवी पर कलि का प्रभाव नहीं रहा। 'महाराज परीक्षित ने कलियुग का वध ही क्यों नहीं कर दिया ? क्यों उसे जीवित छोड़ दिया ?'—ऋषियों के ऐसा प्रश्न करने पर सूत जी ने कहा—'कलियुग में मानसिक पुण्यों का तो फल मिल जाता है, किन्तु मानसिक पापों का कुछ भी फल नहीं होता। कलियुग का यह एक महान् गुण है'—यही सोच कर उन्होंने उसे छोड़ दिया। उसका वध नहीं किया<sup>१</sup>।

ऋषियों ने परीक्षित की कथा सुनी। प्रसन्न होकर उन लोगों ने सूत को आशीर्ष दिया—'सूत जी, आप सैकड़ों वर्ष जियें—'सूत जीव समाः सौम्य'। हम लोग तो मृत्यु से घिरे हुए हैं। आप सर्वदा श्रीकृष्ण कथामृत का पान करते-कराते रहते हैं। हम जो यह कर्मकाण्ड कर रहे हैं उसका कोई आश्वासन नहीं है। यज्ञ के धूम से हमारा अन्तःकरण भी धूमिल हो गया है—

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूमात्मनां भवान् । आपाययसि गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥१/१८/१२

ऐसी स्थिति में यदि गोविन्दचरणामृत के पान का सौभाग्य प्राप्त हो जाय, स्वल्पकाल के लिये भी भगवान् की कथा सुनने का सुअवसर सुलभ हो जाय, तो इसकी तुलना स्वर्ग और मोक्ष नहीं कर सकते। अब आप हम लोगों को वह कथा सुनाओ जिसे सुन कर परीक्षित का परम कल्याण हो गया।

सूत जी ने ऋषियों की बात सुनी। वे गदगद हो उठे। उन्होंने कहा—'अहो ! विलोम<sup>२</sup> जाति में उत्पन्न होने पर भी महात्माओं की सेवा करने के कारण आज हमारा जन्म धन्य-धन्य हो गया। क्योंकि महापुरुषों के साथ वातचीत करनेमात्र से ही नीच कुल में उत्पन्न होने की मनोव्यथा शीघ्र ही मिट जाती है। फिर जब भगवान् की चर्चा करने को मिले तो कहना ही क्या है ? भगवान् की महिमा के बारे में क्या कहा जाय ! स्वयं भगवती लक्ष्मी भी दूसरों को छोड़कर भगवान् की आराधना किया करती हैं, उनके चरण-कमलों में निवास करती हैं। भगवान् के चरणोदक गङ्गा जी की पावन धारा को स्वयं परमेश्वर शिव जी सादर शिर पर धारण करते हैं। ऐसी अवस्था में त्रिलोकी में मुकुन्द<sup>३</sup> के अतिरिक्त 'भगवान्' शब्द का और दूसरा अर्थ क्या हो सकता है ?

१. तुलसीदास जी ने इसी का अनुवाद इस प्रकार किया है—'कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होंहि नहिं पापा' ॥७/१०२/८॥

२. ऊच्चवर्ण की माता और निम्न वर्ण के पिता से उत्पन्न सन्तान को 'विलोमज' = विलोम से जन्मा हुआ कहते हैं। सूत जाति की उत्पत्ति इसी प्रकार ब्राह्मणी माता और क्षत्रिय पिता के द्वारा होने से उसे शास्त्रों में विलोम जाति माना गया है।

३. मुकुन्द—मुं मुक्ति कुं भक्ति ददातीति मुकुन्दः। जो अपने प्यारे भक्तों को मुं = मुक्ति और कुं = भक्ति प्रदान करते हैं, उन्हें 'मुकुन्द' कहा जाता है। श्रीकृष्ण ही मुकुन्द हैं। मुखे कुन्दवत् हासो यस्यासौ मुकुदः। जिसके मुख पर कुन्द पुष्प की तरह हास्य बिखरा रहता है, उसे मुकुन्द कहते हैं।



इस प्रकार भगवच्चर्चा की महिमा प्रकट करने के बाद मुख्य कथा को, परीक्षित-मोक्ष की कथा को, उपस्थित करते हुए सूत जी ने कहना प्रारम्भ किया—“एक दिन महाराज परीक्षित धनुष लेकर वन में शिकार खेलने के लिये निकल गये। वहाँ वे हरिणों के पीछे पीछे दौड़ते-दौड़ते थक गये। उन्हें बड़े जोर की भूख और प्यास लग गई। कहीं जल या जलाशय न मिलने पर वे शमीक मुनि के आश्रम पर जा पहुँचे। मुनि आँखें बन्द कर समाधि में लीन थे। उस समय उन्हें बाह्य जगत् का कुछ भी भान न था। वे ब्रह्मभाव की अवस्था में स्थित थे। राजा परीक्षित ने ऐसी ही अवस्था में उनसे जल की याचना की, क्योंकि प्यास से उनका गला सूखा जा रहा था—

शुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत ॥१/१८/२७

जब वहाँ उन्हें किसी प्रकार का कोई उत्तर न मिला तो वे अपने क्रो अपमानित अनुभव करने लगे। उन्हें एकाएक उन मुनि के प्रति क्रोध आ गया। उनके जीवन में इस प्रकार का यह प्रथम अवसर था। वहाँ से लौटते समय उन्होंने क्रोधवश धनुष की नोक से एक मरा सर्प<sup>१</sup> उठाकर शमीक ऋषि के गले में डाल दिया और अपनी राजधानी में चले आये शमीक ऋषि का बेटा था—शृंगी। वह कौशिकी नदी के तट पर मुनि-बालकों के साथ खेल रहा था। किसी ने राजा के द्वारा शमीक ऋषि के गले में मृत साँप डालने की बात शृंगी से कही। सुनते ही शृंगी की आँखें क्रोध के मारे लाल हो गई। उसने कहा ठीक है। “ऐसे कुमार्गगामी राजा को मैं दण्ड देता हूँ। आज सारी दुनियाँ मेरा बल देखे।” ऐसा कहकर शृंगी ने कौशिकी नदी के जल से आचमन करके वाणीरूपी वज्र का प्रयोग करते हुए शाप दे डाला—“कुलाङ्गार परीक्षित तूने मेरे पिता का अपमान करके मर्यादा का उल्लङ्घन किया है। अतः मेरी प्रेरणा से आज के सातवें दिन तक्षक तुझे डस लेगा”—

कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह ॥ इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि ।

दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्ब्रह्म ॥१/१८/३६-३७

इस प्रकार राजा को शाप देकर शृंगी आश्रम में आया। उसने देखा कि समाधिस्थ पिता के गले में मरा हुआ साँप लटक रहा है। इस दृश्य को देखकर वह जोर-जोर से रोने लगा। बेटे का रोना-चिल्लाना सुन कर मुनि ने धीरे-धीरे अपनी आँखें खोलीं और देखा कि उनके गले में एक मरा साँप पड़ा है। उसे फेंक कर उन्होंने अपने पुत्र से पूछा—‘बेटा, तुम क्यों रो रहे हो ? किसने तुम्हारा अपकार किया है ? उनके इस प्रकार पूछने पर बालक ने सारा वृत्तान्त कह डाला। ब्रह्मर्षि शमीक ने राजा के शाप की बात सुनकर अपने पुत्र की प्रशंसा नहीं की। उनकी दृष्टि में परीक्षित शाप के योग्य नहीं थे। उन्होंने कहा—‘अरे मूर्ख बालक, तूने बड़ा अनर्थ कर डाला। खेद है कि उनकी थोड़ी-सी गलती के लिये तूने उनको इतना बड़ा दण्ड दे दिया। तेरी बुद्धि अभी कच्ची है। राजा को साधारण मनुष्यों के समान नहीं समझना चाहिये। वह भगवान् का अंश होता है। उसके दुस्सह तेज से सुरक्षित और निर्भय रह कर ही प्रजा अपना कल्याण सम्पादन करती है। राजा के अभाव में प्रजा में अराजकता फैल जाती है। सर्वत्र मात्स्य-न्याय का ताण्डव होने लगता है। चारों ओर चोरी, और लूट-पाट होने लगती है। स्त्रियों का धर्म संकटग्रस्त हो जाता है। सनातन मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जाती है। वर्णसङ्कर सन्तानें उत्पन्न होती हैं। इस सब का पाप राजा के हन्ता को लगता है। बेटा, तूने बड़ा अन्याय किया, अनुचित किया।

सम्राट् परीक्षित तो बड़े ही यशस्वी और धर्म धुरन्धर हैं। वे भगवान् के प्यारे भक्त हैं। वे भूख और प्यास

१. हृदय-सर्प काल का प्रतीक है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि काल योगी के गले में मृत होकर और भोगी संसारी के गले में जीवित होकर लटकता है। योगी के सामने काल मृत है। वह उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। किन्तु भोगी को तो वह समय पर काटेगा ही, मारेगा ही।



से व्याकुल हो कर हमारे आश्रम पर आये थे। वे शाप के योग्य कदापि नहीं हैं। इस प्रकार दुःखी होकर शमीक महाराज भगवान् से प्रार्थना करने लगे—“इस नासमझ बालक ने हमारे निष्पाप सेवक राजा का अपराध किया है, उन्हें शाप दिया है। अतः सर्वात्मा भगवान् कृपा करके इसे क्षमा करें।”

अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना। पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति ॥१/१८/४७  
परीक्षित ने शमीक मुनि का अपमान किया था। किन्तु उस पर तो उन्होंने ध्यान नहीं दिया। महात्माओं का स्वभाव ही ऐसा होता है। सांसारिक सुख-दुःखादि द्वन्द्व उन्हें नहीं प्रभावित कर पाते।

॥ श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम स्कन्ध का यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥

## उन्नीसवाँ अध्याय

( गङ्गा के तट पर राजा परीक्षित का अनशन, शुकदेव जी का आगमन  
और उनके द्वारा प्रियमाण पुरुष के कर्तव्योंका वर्णन )

राजा राजधानी में लौट कर आये। अपना मुकुट<sup>१</sup> आदि राजपरिच्छद उन्होंने उतारा। तब उन्हें स्मरण आया कि मैंने वन में मुनि शमीक के गले में मृत सर्प डाल दिया था। अपने इस निन्दनीय कर्म के लिये उनके मन में महान् पश्चात्ताप उदित हुआ। उन्होंने सोचा—“अपना तेज छिपाए हुए एक निरपराध ब्राह्मण के साथ मैंने नीच पुरुष के समान व्यवहार किया है। अवश्य ही उन महात्मा के अपमान के फलस्वरूप अतिशीघ्र मेरे ऊपर कोई घोर विपत्ति आयेगी” और यह ठीक भी है। जिससे मैं पुनः इस प्रकार का कार्य करने का साहस नहीं करूँगा। ब्राह्मण देवता और गाय के प्रति ऐसी पाप बुद्धि न हो। वे इस प्रकार चिन्ता कर ही रहे थे कि उन्हें मालूम हुआ—“ऋषि शमीक के पुत्र शृङ्गी के शाप से तक्षक मुझे डसेगा।” उन्हें धक्कती हुई आग के समान तक्षक का यह डसना बहुत भला प्रतीत हुआ। उन्होंने सोचा कि मैं बहुत दिनों से राज्य में आसक्त हो गया था<sup>२</sup>। यह भगवान् की बड़ी कृपा है कि उन्होंने इसी बहाने मेरे सामने विरक्ति का कारण उपस्थित कर दिया<sup>३</sup>।

शृङ्गी के शाप की बात राजा ने सुनी। उन्होंने झटपट अपने राज्य का सारा भार अपने पुत्र जनमेजय को समर्पित कर दिया और स्वयं सब कुछ त्याग कर भगवती भागीरथी के तट पर चले गये। अन्न-जल का परित्याग कर वहाँ वे कुश के आसन पर बैठ कर भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का ध्यान करने लगे—

कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान उपाविशत् प्रायममर्त्यनद्याम् ॥१/१९/५

राजा के आमरण अनशन पर बैठने की बात, जंगल में आग की तरह, सर्वत्र फैल गई। अत्रि, वसिष्ठ, भृगु,

१. कहते हैं—भीम ने जब जरासन्ध का वध कर दिया तो उन्होंने विजय के चिह्न के रूप में उसका मुकुट ले लिया। लाकर उसे रख दिया। परीक्षित की इच्छा हुई उसे पहन लेने की। वे उसी को पहन कर शिकार खेलने, आज वन में गये थे। यही कारण था कि जरासन्ध के संस्कार से प्रभावित होकर वे अनर्थ कर बैठे थे।
२. शृङ्गी के शाप का सन्देश ऋषि शमीक ने अपने शिष्य गौरमुख से राजा को कहलाया था।
३. अब तक परीक्षित ६० वर्ष तक राज्य कर चुके थे।
४. अपने भक्त के कल्याण के लिये प्रभु ने यह शापावतार धारण किया था अतः शाप की बात सुन कर परीक्षित प्रसन्न थे।



अंगिरा, व्यास तथा नारद आदि महात्मा लोग वहाँ तीर्थ-यात्रा के बहाने से आने लगे। वस्तुतः महात्मा लोग स्वयं पवित्र होने के लिये तीर्थ में नहीं जाते हैं, अपितु तीर्थ<sup>१</sup> को पवित्र करने के लिये जाते हैं<sup>२</sup>।

तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना, महानुभावा मुनयः सशिष्याः ।

प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः, स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥ १/१९/८

राजा ने उठकर महात्माओं की सादर अगवानी की। विनम्रता के साथ उन्हें बैठाया। पाद्य अर्घ्य देकर उनका स्वागत किया। ऋषिमुनियों को देखकर राजा की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उन्होंने कहा—“मुनियों, आप लोगों के आने से आज मैं धन्य-धन्य हो गया। शमीक मुनि के पुत्र का शाप भी सम्प्रति मुझे वरदान बन गया है। महात्मा लोग, आप सब हमारे ऊपर कृपा कीजिये। गंगा देवी भी हमारे अनुकूल बन जाँय। अब हमें न तक्षक का डर है और न मृत्यु का भय है। आप लोग कृपा कर भगवान् की कथा का गान करें। हमारी तो यही उत्कट इच्छा है कि कर्मवश जब-जब हमारा जन्म हो, भगवान् के श्रीचरणों में मेरा अनुराग बना रहे। हमें महात्माओं और सन्तों का सङ्ग मिलता रहे।

इसके बाद कुशा बिछाकर राजा उत्तर मुख करके गङ्गा के तट पर बैठ गये। राज्य का भार तो पहले ही उन्होंने अपने बेटे को समर्पित कर दिया था। उस समय आकाश से उनके ऊपर फूलों की वर्षा होने लगी। देव-दुन्दुभियाँ बजने लगीं। महात्माओं ने राजा की प्रशंसा करते हुए कहा, राजन् आप जो कुछ कर रहे हैं, वह आप की प्रशस्त वंश परम्परा के अनुकूल ही है। आपके पूर्वजों ने भी कृष्ण के लिये राज्य छोड़ दिया था। आप धन्य-धन्य हैं, जो सब कुछ त्याग कर भगवान् की शरण में आ गये। जब तक आप अपना शरीर छोड़कर भगवान् के लोक में नहीं चले जाते, तब तक हम लोग यहीं आप के समीप ही बने रहेंगे। राजा ने बड़ी ही विनम्रता के साथ, शिर झुका कर, हाथ जोड़कर जिज्ञासा व्यक्त की—“मुनिवृन्द, आप कृपा कर यह बतलायें कि ग्रियमाण, मरणासन्न व्यक्ति को क्या करना चाहिये। जिस की मृत्यु पास में आ गई है, उसे क्या करना चाहिये ?

सर्वात्मना ग्रियमाणैश्च कृत्यं, शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ताः ॥ १/१९/२४

राजा के प्रश्न को मुनियों ने बड़ी सावधानी से सुना। फिर किसी ने यज्ञ को, किसी ने योग को, किसी ने जप को किसी ने तप को और किसी ने दान को साधन बतलाया। इस प्रकार की विभिन्नताओं के चलते उनमें परस्पर कोई निर्णय न हो सका। उसी समय श्रीशुकदेव जी वहाँ प्रकट हो गये। परम्परा कहती है कि भगवान् तो केवल तीस गुणों से अलङ्कृत हैं, किन्तु श्री शुकदेव जी अद्भुत तीस, छत्तीस गुणों से युक्त हैं। यह भी कहा जाता है कि गुरु गोविन्द से भी बड़ा होता है, क्योंकि वह गुरु को दिखला देता है<sup>३</sup>। कूर्मपुराण के अनुसार स्वयं भगवान् शङ्कर ही राजा परीक्षित का कल्याण करने के लिये शुकदेव के रूप में प्रकट हुए थे। भागवत का निर्देश है कि जिस प्रकार भगवान् अश्वात्थामा के ब्रह्मास्त्र से परीक्षित की रक्षा के लिये उत्तरा के गर्भ में प्रकट हुए थे, उसी प्रकार यहाँ ब्राह्मण के शापरूपी ब्रह्मास्त्र से रक्षा करने के लिये भी स्वयं भगवान् ही शुकदेव के रूप में प्रकट हो गये—

१. तीर्थ—तीर्थते इति तीर्थः। जिसके सेवन से व्यक्ति संसार-सागर को पार कर जाता है, उसे तीर्थ कहते हैं।

२. ब्रह्मा की प्रेरणा से भी गङ्गा भूतल पर आने के लिये तैयार नहीं थी। उनका कहना था कि पापी लोग अपना पाप मेरे जल में धोयेंगे। अतः मैं मलिन हो जाऊँगी। इस पर ब्रह्मा ने कहा कि जब ऋषि-मुनि स्पर्श करेंगे तो तुम्हारा यह पाप नष्ट हो जायेगा, क्योंकि ऋषि-मुनि तीर्थ को भी तीर्थ बनाते हैं।

३. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरुदेव की गोविन्द दियो बताय ॥ कबीर ॥



तत्राभवद् भगवान् व्यासपुत्रः ॥११/१८/२५

इसका अन्वय इस प्रकार से किया जायेगा—‘तत्र भगवान् व्यासपुत्रः अभवत् ।’ इसका अर्थ यही होगा कि भगवान् स्वयं व्यास-पुत्र बन कर आ गये । शुकदेव जी अवधूत का वेश धारण कर भूतल पर भ्रमण करते ही रहते थे । उनके ऊपर वासना का कोई वस्त्र नहीं था । वे निर्वसन थे । उनकी सोलह वर्ष की अवस्था थी । श्याम वर्ण था । अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त सुन्दर थे, दर्शनीय थे । मधुर-मधुर मुसकान एवं स्नेहभरी चितवन से आकृष्ट होकर बहुत-सी स्त्रियाँ और बालक उनके पीछे-पीछे चल रहे थे—“वृत्तश्च बालैरवधूतवेशः” ॥२५॥

महाराज शुकदेव जी को आया हुआ देखकर राजा नें विनम्रता के साथ उठकर उनकी अगंवानी की । उन्हें सादर आसन पर बैठाया । वे सब से आगे आसन पर विराजमान हुए । फिर उनका सविधि पूजन कर लेने के बाद राजा ने उनके आगे झुक कर कहा— आज हमारा जीवन धन्य हो गया, क्योंकि आप जैसे सन्त हमारा कल्याण करने के लिये पधारे हुए हैं । मैं एक अधम क्षत्रिय हूँ किन्तु यह मेरा परम सौभाग्य है कि आप मेरे अतिथि बनें । आपके तो स्मरण मात्र से ही व्यक्ति का कल्याण हो जाता है, मङ्गल हो जाता है फिर आप का दर्शन, स्पर्श और पादप्रक्षालन हो जाय तो कहना ही क्या है ? आपके सान्निध्य से ही सारे पाप विनष्ट हो जाते हैं । आज मेरा कुल पवित्र हो गया, जो मुझे आप का दर्शन प्राप्त हुआ । आज हमारे ऊपर भगवान् श्रीकृष्ण परम प्रसन्न हुए हैं । इसमें हमारा तो कोई श्रेय नहीं है किन्तु उनकी कृपा-दृष्टि की वृष्टि हमारे बाप-दादाओं के ऊपर सर्वदा होती रहती थी इसीलिये वे आपके रूप में हमारा उद्धार करने के लिये यहाँ पधारे हैं । नहीं तो आप कहाँ मिलते ? सम्प्रति मैं आप के श्रीमुख से यह सुनना चाहता हूँ कि प्रियमाण व्यक्ति का क्या कर्तव्य है—

अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् ।

पुरुषस्येह यत्कार्यं प्रियमाणस्य सर्वथा ॥११/१९/३७॥

भगवन्, साथ ही यह भी बतलाइये कि मनुष्यमात्र को क्या सुनना चाहिये ? वे किसका श्रवण, किसका जप, किसका स्मरण और किसका भजन करें ? प्रभो, आप का दर्शन परम दुर्लभ है; क्योंकि जितनी देर में एक गाय दुही जाती है, गृहस्थों के घर पर, उतनी देर भी तो आप नहीं ठहरते—

नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम् ।

न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित् ॥११/१९/३९॥

जब राजा ने अत्यन्त मधुर वाणी में इस प्रकार सम्भाषण एवं प्रश्न किया तो समस्त धर्मों के मर्मज्ञ व्यासनन्दन भगवान् श्री शुकदेव जी ने उनका उत्तर देना प्रारम्भ किया ॥१९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के प्रथम स्कन्ध का यह उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१९॥

॥ प्रथम स्कन्ध समाप्त ॥१॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥



## द्वितीय स्कन्ध

### पहला अध्याय

( ध्यान-विधि और भगवान् के विराट् रूप में मन की धारणा का वर्णन )

श्री शुकदेव जी ने राजा के प्रश्न को सुना फिर प्रसन्न होकर बोले—“राजन्, तुम्हारे द्वारा किया गया प्रश्न संसार का कल्याण करने वाला अतः अति उत्तम है। इस प्रश्न का सम्मान ज्ञानी जन भी करते हैं। भगवान् की प्राप्ति के जो श्रवण, मनन एवं चिन्तन आदि उपाय हैं उनमें यह सर्वश्रेष्ठ है। राजन्, जो गृहस्थ घर के काम-धन्धों में उलझे हुए हैं, अपने स्वरूप को नहीं जानते, उनके लिये संसार में सुनने के लिये अनेक शास्त्र हैं, किन्तु उनसे विशेष कल्याण की बात सोचना सङ्गत नहीं है, सम्भव नहीं है। मानव की आयु स्वल्प है। उसमें भी रात्रि निद्रा और स्त्री-प्रसङ्ग में व्यतीत हो जाती है। दिन धन की चिन्ता तथा परिवार के भरण-पोषण में बीत जाता है—

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यव्यायेन च वा वयः । दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा ॥२/१/३॥  
संसार में जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहा जाता है वे शरीर, पुत्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, मिथ्या हैं, असत् हैं। किन्तु जीव उनमें ऐसा लीन हो जाता है कि अपने सामने सबका मरण देखते हुए भी अपना मरण नहीं सुझाई पड़ता। इसलिये परीक्षित, जो अभय पद प्राप्त करना चाहते हैं, जो संसार से छुटकारा चाहते हैं उन्हें तो भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये—

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥२/१/५॥  
मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ लाभ यही है कि चाहे जैसे हो—ज्ञान से, भक्तिसे अथवा निष्ठापूर्वक अपने धर्म के पालन से अपने जीवन को इस प्रकार बना लिया जाय कि अन्त में मरने के समय नारायण का ही स्मरण हो—‘अन्ते नारायणस्मृतिः’ ॥६॥ “भगवान् के गुण-वर्णन में, उनकी लीलाओं के कथन में इतना आकर्षण है कि ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप में स्थित रहने वाले तथा विधि-निषेध की मर्यादा से ऊपर उठे हुए बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी उसके वशीभूत हो जाते हैं। ब्रह्म-चिन्तन छोड़कर कृष्ण की लीला के वर्णन एवं श्रवण में तल्लीन हो जाते हैं।”

इस सन्दर्भ में श्रीशुकदेव महाराज अपना ही उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि—‘राजन्, अपने जन्म के अनन्तर मैं निर्गुण, निराकार ब्रह्म के ध्यान में ही निमग्न रहा करता था। किन्तु जब मैंने उत्तम श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का श्रवण किया तो मेरा हृदय उसी के वशीभूत हो गया। फलतः मैं ब्रह्म-चिन्तन को छोड़कर भागवत के रचयिता अपने पिता व्यास जी के पास चला गया और उनसे सम्पूर्ण भागवत का सविधि अध्ययन किया—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया । गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥२/१/९॥  
राजन् आप भगवान् के परम भक्त हैं अतः पिता जी के श्रीमुख से सुनी हुई भागवत ही मैं आप को सुनाऊँगा। श्रद्धापूर्वक इसके श्रवण से व्यक्ति की मति शुद्ध हो करके भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में संलग्न हो जाती है। भगवान् के नामों का कीर्तन संसारी, विरक्त, योगी और ज्ञानी सबके परम कल्याण का साधन बतलाया गया है। प्रभु के नाम-कीर्तन से व्यक्ति सारे भय से निर्मुक्त हो जाता है।

जो समय व्यतीत हो गया, उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। असावधानी के साथ जिया गया वर्षों का समय व्यर्थ है। सावधानी के साथ व्यतीत की गई घड़ी, दो घड़ी की आयु भी परम कल्याण का कारण बन जाती है। राजर्षि खट्वाङ्ग अपनी आयु की समाप्ति का समय जान कर दो घड़ी में ही सब कुछ छोड़कर भगवान् के अभयकारक परम



पद को प्राप्त हो गये थे। परीक्षित अभी तो तुम्हारे जीवन की अवधि सात दिन की है। इस बीच में ही तुम अपने परम कल्याण के लिये जो कुछ कर्तव्य है, वह कर लो। मृत्यु किसी को समय देकर नहीं आती। किन्तु तुम भाग्यशाली हो कि उसने तुम्हें सात दिन का बहुमूल्य समय दिया है। अन्तकाल के आने पर व्यक्ति को घबड़ाना नहीं चाहिये। उसे चाहिये कि वह अपने शरीर घर और परिवार के प्रति आसक्ति को काट कर फेंक दे। आसक्ति ही बन्धन का कारण होती है। सब का परित्याग कर उसे किसी पुण्य तीर्थ में चले जाना चाहिये। वहाँ तीर्थ के पावन जल में स्नान आदि से शुद्ध होकर पवित्र एकान्त स्थान में बैठकर ओंकार का जप करना चाहिये। जप की बेला में मन को शनैः-शनैः सांसारिक विषयों से हटा कर भगवान् के स्वरूप में लगा देना चाहिये। प्राण-वायु को वश में करके मन का दमन करे और एक क्षण के लिये भी प्रणव को न भूले। इस प्रकार स्थिर चित्त से भगवान् के श्रीविग्रह में से किसी एक अङ्ग का ध्यान करे। इस प्रकार एक-एक अङ्ग का ध्यान करते-करते भगवान् के पूर्ण रूप में मन को ऐसा तल्लीन कर दे कि फिर और किसी विषय का चिन्तन ही न हो, मन और भगवान् दो न होकर भगवान् ही भगवान् रह जायँ।

आसन, श्वास, आसक्ति और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने के अनन्तर व्यक्ति को भगवान् के स्थूल रूप में अपना मन लगाना चाहिये। सकल ब्रह्माण्ड में जो चौदह लोक हैं वे सब भगवान् के श्रीविग्रह के अवयव कहे गये हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त तत्त्व को विराट् पुरुष कहा गया है। तत्त्वज्ञ पुरुष उनका इस प्रकार वर्णन करते हैं—“पाताल विराट् पुरुष भगवान् का पादमूल, तलवा कहा गया है। रसातल उनकी ऍड़ियाँ और पङ्के हैं। जाँघें तलातल हैं। दोनों घुटने सुतल हैं। जाँघें वितल और अतल हैं। जघन महीतल और नाभि नभस्तल है। स्वर्गलोक विराट् भगवान् का वक्षःस्थल है। जनलोक उनका मुख है। तपोलोक ललाट है। और सत्यलोक उनका शिरो भाग कहा गया है। इन्द्र आदि तेजस्वी देवगण भगवान् की भुजाएँ हैं। कान दिशाएँ हैं। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय, नासिकापुट अश्विनीकुमार, प्राणेन्द्रिय गन्ध तथा भगवान् का मुख अग्नि है। भगवान् के शरीर की नाड़ियाँ नदियाँ हैं। रोम वृक्ष, श्वास वायु, गति काल तथा कर्म संसार कहा गया है।

ब्राह्मण भगवान् विराट् के मुख, क्षत्रिय भुजाएँ, वैश्य जंघा और शूद्र पैर कहे गये हैं। इस प्रकार ग्रह, नक्षत्र, सागर, पर्वत, पशु, पक्षी तथा कीट-पतंग सब कुछ भगवान् के शरीर के अंग कहे गये हैं। भगवान् विराट् के स्थूल शरीर का यही स्वरूप है। मुमुक्षु मानव को इसी में अपने मन को स्थिर करना चाहिये। तुम भी भगवान् के इसी स्थूल रूप में अपने मन को स्थिर करो। इसके अतिरिक्त ध्यान करने की कोई अन्य वस्तु नहीं है<sup>१</sup>—

इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः सन्निवेशः कथितो मया ते।

सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥ २/१/३८

ध्यान की विधि का उपसंहार करते हुए भगवान् शुकदेव जी कहते हैं—‘परीक्षित, इस प्रकार की धारणा के द्वारा तुम इस असत्य जगत् में छिपे हुए आनन्दनिधि भगवान् को प्राप्त कर लो। फिर तो इस संसार में जन्मने और मरने के दुःसह दुःख से सर्वदा के लिये पार पा जाओगे, मुक्त हों जाओगे’।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वितीय स्कन्ध का यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

१. इसीलिये तुलसीदास कहते हैं—सीयराममय सब जग जानी।

करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥मानस॥



## दूसरा अध्याय

( भगवान् के सूक्ष्मरूप में मन की धारणा तथा सद्योमुक्ति एवं क्रम-मुक्ति का वर्णन )

श्री शुकदेव जी ने कहा—“राजन्, सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा जी ने इसी धारणा के द्वारा अपनी उस स्मृति को प्राप्त कर संसार की रचना की थी जो प्रलय-काल में विलुप्त हो गई थी। पञ्चभूतों का निर्माता तो हिरण्यगर्भ है। किन्तु पञ्चभूतों के भीतर जो छोटे-छोटे ब्रह्माण्ड होते हैं उनमें स्थित होकर संसार का निर्माण करने वाला ब्रह्मा होता है। पञ्चभूतों का प्रादुर्भाव हिरण्यगर्भ से होता है और हिरण्यगर्भ ईश्वर से निकलता है। ईश्वर की प्रतीति परमब्रह्म में माया के कारण होती है। वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञयागादि का वर्णन मिलता है। उन यज्ञों के फल हैं स्वर्ग के विविध भोग। किन्तु ये स्वर्ग के भोग भी नश्वर हैं, क्षणिक हैं। अतः कल्याणकामी व्यक्ति को उनमें आसक्ति नहीं करनी चाहिये। इस लोक में शरीर-निर्वाह के लिये जितने भोगों की अपेक्षा है, बस, उतने का ही संग्रह करना चाहिये, उससे अधिक का नहीं। माया-निर्मित वस्तुओं से सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती। शरीर-निर्वाह के लिये भोग यदि बिना परिश्रम के मिल जाँय तो उससे अधिक के लिये श्रम नहीं करना चाहिये—

सिद्धेऽन्यथाथै न यतेत तत्र, परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः ॥२/२/३

जैसे जब भूतल पर सोने से काम चल सकता है, तब पलङ्ग के लिये प्रयास करने की क्या आवश्यकता ? जब भुजाएँ अपने को भगवान् की कृपा से स्वयं मिली हुई हैं, तब तकिया की क्या आवश्यकता ? जब खाने-पीने का काम अञ्जलि से चल सकता है तो विविध बर्तनों को बटोरने की क्या जरूरत ? वृक्ष की छाल पहन कर अथवा बिना वस्त्र के भी यदि काम चलाया जा सकता है, तो विविध वस्त्रों की क्या आवश्यकता ?—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः, बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ।

सत्यञ्जलौ किं पुरुषात्रपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥२/२/४

पहनने के लिये क्या मार्ग में चिथड़े नहीं पड़े हैं ? खाने के लिये क्या वृक्ष फल-फूल नहीं देते ? नदियाँ क्या सूख गई ? निवास के लिये क्या पर्वत की गुफाएँ बन्द हो गई हैं ? अरे भाई ! यह सब न सही, क्या भगवान् भी अपने शरणागतों की रक्षा करना छोड़ दिये हैं ? ऐसी स्थिति में विद्वान् व्यक्ति भी लक्ष्मी के मद से अन्ये उन्मत्त धनिकों की चापलूसी फिर क्यों करते हैं ?—

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।

रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान् कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥२/२/५

राजन् तुम्हें संसार के सारे पदार्थों एवं सम्बन्धों को नश्वर समझ कर जीवों के प्रिय परम सुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण में दृढता के साथ मन को लगाना चाहिये। भगवान् सारे प्राणियों के हृदय में सर्वदा विराजमान रहते हैं। उनके ध्यान से ही व्यक्ति के जन्म-मरण का चक्कर समाप्त हो जाता है। उनके सौन्दर्य का क्या कहना ? उनकी चार भुजाएँ हैं। उनमें वे शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म (क्रमल) धारण किये रहते हैं। उनके मुख पर मुस्कराहट की छटा नित्य छिटकती रहती है। उनके बड़े-बड़े कमल-पत्र की तरह नेत्र हैं। उनके शरीर पर कदम्ब के केशर की तरह पीत वस्त्र शोभा पाता रहता है। उनके सारे अङ्गों में विविध और विचित्र आभूषण अलङ्कृत रहते हैं। उनकी चितवन अपूर्व स्नेहभरी है। उनके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न अर्थात् एक सुनहरी रेखा है। उनका स्कन्ध और वक्षःस्थल सदा प्रफुल्लित वनमाला से घिरा हुआ है। भगवान् के चरण से प्रारम्भ कर उनके मधुर मुस्कान से युक्त मुख तक के एक-एक अङ्ग का क्रमशः ध्यान करो। ध्यान करते हुए जब मुख तक पहुँच जाओ तब मधुर मनोहर मुस्कान से युक्त उनके मुख का ही ध्यान करो—“सुस्मितं भावयेन्मुखम्”। जब तक भक्ति पूरी न हो जाय तब तक भगवान् का ध्यान अवश्य करना चाहिये।



ऊपर बतलाई गई विधि के अनुसार एकमात्र भगवान् का ही ध्यान करना चाहिये, अन्य किसी का नहीं। मरणधर्मा प्रियमाण पुरुषों को इसी प्रकार बाहर और भीतर दो प्रकार का ध्यान करना चाहिये। ध्यान की धारा जब निरन्तर चलने लगती है तो उसी को धारणा कहते हैं।

श्री शुकदेव महाराज आगे वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि यदि यति में इस लोक का परित्याग करने की इच्छा हो तो उसे अपना मन देश-काल आदि में आसक्त नहीं करना चाहिये। उसे चाहिये कि वह आराम से स्थिर आसन पर बैठकर प्राणों को जीत कर मन के द्वारा इन्द्रियों का संयम करे फिर बुद्धि के द्वारा मन को नियमित करे। तदनन्तर मन के साथ बुद्धि को क्षेत्रज्ञ में<sup>१</sup> और क्षेत्रज्ञ को अन्तरात्मा में लीन कर दे फिर अन्तरात्मा को परमात्मा में लीन करके परम शान्ति की अवस्था में स्थित हो जाय। इसके आगे उसके लिये कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं रह जाता। वहाँ इन सत्त्वादि गुणों का और काल, देश आदि का कोई प्रभाव नहीं रह जाता। वहाँ न महत् तत्त्व है और न प्रकृति है। उस परम पद को वैष्णवपद कहते हैं—‘परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्’ ॥१८॥

ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति यदि स्वयं शरीर-त्याग की इच्छा करे तो वह पहले स्थिर आसन से बैठ कर एड़ी से गुदा के मूल भाग को दबाये और फिर नाभि आदि के छः चक्रों अर्थात् मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र, इनके क्रम से प्राणवायु को ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाय फिर ब्रह्मरन्ध्र का भी भेदन कर मुक्त हो जाय, परमात्मा में मिल जाय। यही सद्योमुक्ति कहलाती है।

इसके बाद क्रम-मुक्ति को बतलाते हुए कहते हैं कि यदि योगी को विहार करने की इच्छा हो, ब्रह्म-लोक आदि की सैर करने की इच्छा हो, तो उसे मन और इन्द्रियों के साथ ही सूक्ष्म शरीर से स्वर्ग लोक में चले जाना चाहिये। वहाँ कुछ दिनों तक दिव्य भोगों को भोग कर फिर महर, जन और तप लोकों से होता हुआ सत्य लोक में चला जाय वहाँ न शोक है, न बुढ़ापा है, न मृत्यु है, न आर्ति और उद्वेग ही है। ब्रह्मा के लोक को ही सत्यलोक कहते हैं।

यति ब्रह्मलोक = सत्य लोक में तब तक निवास करता है जब तक कि ब्रह्मा की आयु रहती है। वहाँ के भोगों का आनन्द लेकर फिर वह ब्रह्मा के साथ मुक्त हो जाता है। यह क्रम-मुक्ति है। सद्यो-मुक्ति तथा क्रम-मुक्ति—ये दोनों मुक्तियाँ वेद-वर्णित एवं सनातन हैं। इनका वर्णन ब्रह्मा के लिये स्वयं भगवान् ने किया था।

राजन् अब संक्षेप में तुम्हें वह मार्ग बतला रहा हूँ, जिससे बढ़ कर दूसरा कोई उत्तम मार्ग है ही नहीं—

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ॥३३

जिस साधन से भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाय वही सब से अच्छा मार्ग है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥२/२/३३

भगवान् ब्रह्मा ने तीन बार वेदों का आलोडन, अनुशीलन करके यही निष्कर्ष निकाला है कि—जिससे सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अन्य प्रेम, प्रगाढ़ भक्ति प्राप्त हो, वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, वही सर्वोत्तम साधन है—

भगवान् ब्रह्मा कात्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया। तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ॥२/२/३४

इसलिये राजा परीक्षित प्रियमाण मनुष्य को चाहिए कि सब समय और सभी परिस्थितियों में अपनी सम्पूर्ण शक्ति से भगवान् श्रीकृष्ण का ही श्रवण, कीर्तन और मनन करे—

१. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ गीता, १३/१॥

अर्थात् इस शरीर को क्षेत्र = खेत कहते हैं और इसे जो (जीवात्मा) जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।



तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम् ॥२/२/३६  
 राजन् संत पुरुष आत्मस्वरूप भगवान् की कथा का मधुर अमृत बाँटते ही रहते हैं, जो अपने दोनों कान में भर-भर कर उनका पान करते हैं, उनके हृदय से विषयों का विषैला प्रभाव पूर्णतः समाप्त हो जाता है, वह विशुद्ध हो जाता है और वे भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों की सन्निधि में पहुँच जाते हैं—

ब्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥२/२/३७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दूसरे स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

## तीसरा अध्याय

( देवताओं की उपासना के अलग-अलग फल तथा भगवान् से विमुख इन्द्रियों की निरर्थकता )

श्री शुक्रदेव महाराजने कहा—परीक्षित आपने मुझसे पूछा था कि मरते समय बुद्धिमान् मनुष्य को क्या करना चाहिये ? उसका उत्तर मैंने आप को दे दिया—

एवमेतन्निगदितं पृष्ठवान् यद् भवान् मम । नृणां यन्मृत्यमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम् ॥२/३/१

आप के पूछने पर मैंने योगियों के मत के अनुसार सद्योमुक्ति एवं क्रममुक्ति का वर्णन किया है । आप की भाँति विचारशील व्यक्तियों के कल्याण के लिये भगवान् के श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण का प्रतिपादन मैंने कर दिया । अब उन संसारी व्यक्तियों के मनोरथों की पूर्ति के लिये उपाय बतला रहा हूँ जो अपने आप को सीधे भगवान् से नहीं जोड़ सकते—

जो ब्रह्मतेज का इच्छुक हो, वह बृहस्पति की; जिसे अपनी इन्द्रियों की विशेष शक्ति की कामना हो, वह इन्द्र की और जिसे सन्तान की लालसा हो, वह प्रजापतियों की उपासना करे । जिसे लक्ष्मी चाहिये वह दुर्गादेवी की, जिसे तेज चाहिये वह अग्नि की, जिसे धन चाहिये उसे वसुओं की और जिस प्रभावशाली पुरुष को वीरता की चाह हो उसे रुद्रों की उपासना करनी चाहिये । जिसे बहुत अन्न प्राप्त करने की इच्छा हो वह देवमाता अदिति की; जिसे स्वर्ग की कामना हो, वह अदिति के पुत्र देवताओं की, जिसे राज्य की अभिलाषा हो वह विश्वेदेवों की और जो यह चाहता हो कि प्रजा सर्वदा मेरे अनुकूल बनी रहे उसे साध्य देवताओं की आराधना करना चाहिये । आयु की इच्छा से अश्विनीकुमारों का, पुष्टि की इच्छा से पृथिवी और आकाश का सेवन करना चाहिये । सौन्दर्य की चाह से गन्धर्वों की, पत्नी की प्राप्ति के लिये उर्वशी अप्सरा की और सबका स्वामी बनने के लिये ब्रह्मा की आराधना करनी चाहिये । जिसे यश की इच्छा हो वह यज्ञ-पुरुष की, जिसे खजाना भरने की लालसा हो वह वरुण की; जिसे विद्या प्राप्त करने की आकांक्षा हो उसे भगवान् शङ्कर की और पति-पत्नी में आपस में प्रेम बनाये रखने के लिये पार्वती जी की उपासना करनी चाहिये । सौन्दर्य चाहने वाले को गन्धर्वों की सेवा-पूजा करने का विधान है । भोगों के लिये चन्द्रमा का और निष्काम बनने के लिये परमपुरुष नारायण का भजन करना चाहिये । इस प्रकार यहाँ आठ श्लोकों से उनके उपास्य देवों का वर्णन किया गया है, जो मन्दबुद्धि हैं, संसारी हैं ।

शुक्रदेव जी महाराज अब अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए, संसार की सारी वस्तुओं की प्राप्ति के लिये एक ही अमोघ उपाय बतलाते हुए, कह रहे हैं कि—जो बुद्धिमान् पुरुष है—वह चाहे सारी कामनाओं से रहित निष्काम हो, चाहे समस्त कामनाओं से युक्त हो अथवा मोक्ष की कामना रखता हो—उसे तो तीव्र भक्ति के द्वारा एकमात्र पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की ही आराधना करनी चाहिये—‘एकहि साधे सब सधै’—



अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥२/३/१०

जितने भी उपासक हैं, चाहे वे जिस देवता के हों, उनका सबसे बड़ा हित इसी में है कि भगवान् के प्रेमी भक्तों की सङ्गति, सत्सङ्गति, करके भगवान् में अविचल प्रेम प्राप्त कर लें, भगवान् की दृढ भक्ति प्राप्त कर लें। भक्ति भगवान् से नहीं भक्तों से मिलती है। भक्त ही भक्ति के धनी होते हैं। जो जिस वस्तु का धनी है, उससे ही वह वस्तु प्राप्त होती है। भगवान् तो भक्ति का भिखारी है। वह तो भक्ति का प्रेमी है, लोगों से भक्ति पाने के लिये व्याकुल रहा करता है—

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः । भगवत्यचलो भावो यद् भागवतसङ्गतः ॥२/३/११

जहाँ सन्त एकत्रित होते हैं, जहाँ भक्त-समूह मिलता है वहाँ भगवान् की कथा-मन्दाकिनी का अविरल प्रवाह प्रवाहित होता है। कथा-श्रवण से दुर्लभ ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे संसार-सागर की त्रिगुणमयी तरङ्गमालाओं के थपेड़े शान्त हो जाते हैं। हृदय सारे वैर-विकारों से शुद्ध हो जाता है। बुद्धि निर्मल बन जाती है। इन्द्रियों की विषयासक्ति मिट जाती है। इस प्रकार केवलमोक्ष का सर्वसम्मत मार्ग भक्तियोग प्राप्त हो जाता है। भगवान् की ऐसी रसीली कथाओं का चस्का लग जाने पर भला कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो उनमें प्रेम न करे—

को निर्वृत्तो हरिकथासु रतिं न कुर्यात् ॥२/३/१२

शुकदेव महाराज का यह महावाक्य तो एक प्रकार से चुनौती है, ललकार है। जीवन्मुक्त ब्रह्मपरायण पुरुष ध्यान को छोड़कर, समाधि का त्याग कर, भगवान् के चरित्र का श्रवण करते हैं। शुकदेव जी इसी प्रकार के महापुरुष हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—‘जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनिहिं तजि ध्यान ।’ वस्तुतः संसार के पीछे पागल बने व्यक्तियों की बात अलग है। किन्तु शुद्ध-प्रसन्न-हृदय व्यक्तियों की हरिकथा में रति हुए बिना रह नहीं सकती।

सूत की बात सुन कर शौनक आदि ऋषियों की जिज्ञासा बढ़ गई। हरि-कथामृत को पान करने की उनकी लालसा हिलोरें लेने लगी अतः बड़ी विनम्रता से उन्होंने कहा—सूत महाराज, इसके अनन्तर परीक्षित जी ने महाराज शुकजी से जो पूछा था वही हम लोग भी सुनने के लिये उत्सुक हैं। परीक्षित परम भक्त हैं। वे अपने शैशव काल में खेलने की बेला में श्रीकृष्ण की लीला से ही खेला करते थे। शुकदेव महाराज के विषय में क्या कहना ? एक तो वे व्यास के पुत्र हैं, दूसरे वासुदेव-परायण हैं और तीसरे साक्षात् भगवान् हैं। एक श्रोता-शिरोमणि हैं तो दूसरे वक्ताओं के परमाचार्य\*। जब दो सन्त एकत्रित होते हैं तो परस्पर भगवान् की रसमयी चर्चा ही चलाते हैं। उनकी सभा में राग-द्वेष की चर्चा कभी नहीं होती। तो हमें वे ही असाधारण कथायें सुनायें जिन्हें शुकदेव जी ने परीक्षित को सुनाया था।

जिनका समय भगवान् की कथा के वर्णन और श्रवण में व्यतीत हो रहा है, वस्तुतः उन्हीं की आयु सार्थक है। जो भगवान् के लीला-वर्णन और श्रवण से विमुख हैं, उनकी आयु तो निरर्थक ही बीत रही है। कहते हैं सूर्य उदित हो रहा है, सूर्य अस्त हो रहा है। किन्तु सच तो यह है कि वह अपने उदय और अस्त के द्वारा लोगों की आयु का हरण कर रहा है। वृक्ष क्या जीते नहीं ? लोहार की भस्मा (भांथी, धौकनी) क्या साँस नहीं लेती ? ग्राम—पशु क्या खाते-पीते तथा बच्चे नहीं पैदा करते ? अवश्य करते हैं किन्तु जिसके कान में कभी भगवान् श्रीकृष्ण का मङ्गलमय नाम नहीं पड़ा, वह नर-पशु, कुत्ते, ग्राम-सूकर, ऊँट और गधे के समान पशु, नर-पशु, ही है—

१. श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षितभवद् वैयासकिः कीर्तने ।



तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत । न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपश्वोऽपरे ॥

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः । न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥ २/३/१८-१८

जो कान भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-कथा का श्रवण नहीं करते वे चूहों की बिल के समान हैं। जो जिह्वा भगवान् की लीलाओं का गायन नहीं करती वह मेढक की जीभ के समान व्यर्थ ही टर्-टर् करनेवाली है, निरर्थक है—

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।

जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत, न चोपगायत्पुरुगायगाथाः ॥ २/३/२०

जो शिर कभी भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में झुकता नहीं, श्रीकृष्ण को प्रणाम नहीं करता, वह रेशमी वस्त्र से सुसज्जित और मुकुट से अलङ्कृत होने पर भी भारस्वरूप ही है। जो हाथ भगवान् की सेवा-पूजा नहीं करते, वे सुवर्ण के कंकण से भूषित होने पर भी मुँद के हाथ के समान हैं। जो नेत्र भगवान् के श्रीविग्रह का दर्शन नहीं करते वे मोरों की पाँख में बने हुए आँखों के चिह्न के समान निरर्थक हैं। जो पैर भगवान् के क्षेत्र तथा तीर्थों की यात्रा नहीं करते वे निश्चल वृक्ष के समान हैं। भगवान् की मधुर-मधुर कथा के सुनने पर जिसकी आँखों से अश्रु नहीं टपक पड़ते और शरीर में रोमाञ्च नहीं होता उसका हृदय पत्थर की तरह कठोर है—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं, यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।

न विक्रियेताथ यदा विकारो, नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥ २/३/१८-१८

शौनक जी ने फिर कहा कि आप हमें भगवान् की वही कथा सुनाइये जिसे शुकदेव महाराज ने राजा परीक्षित को सुनाई थी ॥३॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वितीय स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

## चौथा अध्याय

( परीक्षित के सृष्टि-विषयक प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मा और नारद के संवाद का उपक्रम उपस्थित करते हुए शुकदेवजी का कथारम्भ )

ऋषियों-मुनियों के वचन को सुनकर सूत जी ने कहा—ऋषि-जनों, शुकदेव जी के वचन भगवत्तत्त्व का निश्चय करानेवाले थे। उन्हें सुनकर राजा परीक्षित ने अपनी मति को अनन्यभाव से भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर दी। श्रीकृष्ण ही भगवत्तत्त्व हैं। शरीर, पत्नी, पुत्र और निष्कण्टक राज्य से उन्होंने अपनी दृढ ममता को झटक कर तोड़ दिया। उनके मन में अब संसार की जगह केवल भगवान् थे। उनकी सारी लौकिक ममता मर चुकी थी। उन्हें अपनी मृत्यु का निश्चित समय ज्ञात हो गया था। अतः उन्होंने धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी कर्मों से संन्यास ले लिया था। संन्यास दो प्रकार का होता है—दण्डात्मक और त्यागात्मक। दण्डात्मक संन्यास विधिपूर्वक होता है, जो एकमात्र ब्राह्मणों का ही होता है। परीक्षित का त्याग तो त्यागात्मक संन्यास था। सब कुछ परित्याग कर देने में सब का अधिकार है। आप ने जैसा प्रश्न मुझसे किया है, ऐसा ही प्रश्न परीक्षित जी ने शुकदेव महाराज से किया था—

मन से संसार को ढकेल कर निकाल देने के बाद हाथ जोड़ कर परीक्षित जी ने कहा—

संस्थां विज्ञाय संन्यस्य कर्म त्रैवर्गिकं च यत् । वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः ॥ २/४/४

मन से संसार को ढकेल कर निकाल देने के बाद हाथ जोड़कर परीक्षित जी ने कहा—भगवत्स्वरूप मुनिवर, आप परम पवित्र और सर्वज्ञ हैं। आप का कथन पूर्ण सत्य एवं तथ्य से भरा हुआ है। आप की कथा सुन कर मेरा



अज्ञान विनष्ट हो रहा है। मुझे परमशान्ति की अनुभूति हो रही है। कृपा कर अब आप यह बतलायें कि—भगवान् अपनी माया के द्वारा इस संसार की सृष्टि कैसे करते हैं ? संसार की रचना रहस्यों से भरी हुई है। बड़े-बड़े महानुभाव भी इसे समझने में दिग्भ्रमित हो जाया करते हैं अतः आप हमारी इस शङ्का का निराकरण करें कि भगवान् सृष्टि, पालन और संहार कैसे करते हैं ? आप मेरे सन्देह को दूर करने में पूर्ण समर्थ हैं, क्योंकि आप शब्द-ब्रह्म और पर-ब्रह्म<sup>१</sup> के पूर्ण ज्ञाता हैं, अभिज्ञ हैं<sup>२</sup>।

इस प्रकार राजा परीक्षित का भगवत्कथा-श्रवण के प्रति प्रीति और श्रद्धा से भरा आग्रह देखकर श्रीशुकदेव जी महाराज ने भगवान् का स्मरण करके पहले मङ्गलाचरण किया<sup>३</sup>।

पुरुषोत्तम भगवान् के चरण-कमलों में मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है। ये भगवान् ही रजोगुणी ब्रह्मा, सत्त्वगुणी विष्णु और तमोगुणी शङ्कर का रूप धारण कर संसार की सृष्टि करते हैं, उसका पालन तथा संहार करते हैं। यह अनन्त हैं। इनकी लीलाएँ अनन्त हैं, महिमा अनन्त है। हम बारम्बार इनके चरण-कमलों में प्रणाम करते हैं। यह भगवान् सत्पुरुषों को भक्ति और असत्पुरुषों की वृद्धि रोकने के लिये उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं। उनके ज्ञान-दाता यही हैं। परमहंसों की सारी कामनाएँ पूरी करनेवाले यही भगवान् हैं। संसार के सारे प्राणी इन्हीं की सन्तानें हैं अतः इनका किसी से पक्षपात नहीं है। इन्हें मेरा बारम्बार प्रणाम है। भगवान् बड़े ही भक्तवत्सल हैं। भक्तों पर अनवरत इनकी कृपा-वृष्टि होती रहती है। जो हठपूर्वक भक्ति करते हैं ऐसे कुयोगियों से यह बहुत दूर रहते हैं। संसार में न इनके समान कोई है और न कोई इनसे अधिक ही है। यह अपने ही परमात्म-स्वरूप में निरन्तर रमण करने वाले हैं ऐसे भगवान् को मेरा बार-बार प्रणाम है—

**निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा<sup>४</sup> । स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥२/४/१४**

जिनके नामों का कीर्तन, जिनका स्मरण, जिनकी मूर्ति का अवलोकन, जिनका वन्दन, जिनकी लीलाओं का

१. वेद और वेदार्थ के प्रतिपादक उपनिषद् और पुराण आदि शब्द-ब्रह्म और राम-कृष्ण, विष्णु आदि परब्रह्म हैं।
२. राजा ने प्रियमाण मानव के कर्तव्य के बारे में पूछा था। शुकदेव जी ने उन्हें बतला दिया कि प्रियमाण मानव को भगवान् का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये। श्रवण भगवान् की लीलाओं का होता है। फिर राजा सृष्टि-विषयक प्रश्न क्यों कर रहे हैं ? इसका समाधान यह है कि भगवान् की लीला दो प्रकार की होती है—सर्ग-लीला और विसर्ग-लीला। सर्ग-लीला बुद्धि, अहङ्कार आदि कारण-सृष्टि को तथा विसर्ग-लीला कार्य-सृष्टि अर्थात् चराचर सृष्टि को कहते हैं। विसर्ग-लीला में ही सारे प्राणियों की गणना होती है। इसी विसर्ग लीला में ही भगवान् के अवतार कभी मत्स्य, कच्छप के रूप में, कभी नृसिंह के रूप में और कभी राम-कृष्ण के रूप में होते हैं। यही कारण है कि परीक्षित ने सृष्टि-श्रवण की इच्छा अभिव्यक्त की है।
३. शुकदेव जी श्रीकृष्ण-कथा के मनन में निरन्तर लीन रहा करते थे। अतः प्रारम्भ में बोलने के पूर्व मङ्गलाचरण करना वे भूल ही गये थे। अब जब राजा ने पुनः प्रश्न किया तो उन्हें व्यवहार में मङ्गलाचरण करने का स्मरण हुआ। अतः यहाँ आकर वे मङ्गलाचरण कर रहे हैं।
४. राधारानी शुकदेव की गुरु हैं। अतः पूरे भागवत में कहीं भी शुकदेव ने इनका नाम नहीं लिया है। धर्म-मर्यादा गुरु का नाम, अपना नाम, अत्यन्त कंजूस का नाम, पत्नी और ज्येष्ठ सन्तान का नाम न लेने की शिक्षा देती है। वस्तुतः शुकदेव यहाँ 'राधया' कहने जा रहे थे, किन्तु मर्यादा का स्मरण होते ही उन्होंने अपने को सभाल लिया, 'राधया' न कहकर 'राधसा' कह दिया। तत्त्वतः दोनों का अर्थ एक ही है। यहाँ 'राधसा' शब्द से राधा का ही कथन किया गया है। ऐसा ही वल्लभाचार्य का भी अभिप्राय है।



श्रवण, जिनका पूजन प्राणियों के पापों को तत्काल भस्म कर देता है, उन पुण्यकीर्ति भगवान् को मैं पुनः पुनः प्रणाम कर रहा हूँ—

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।

लोकस्य सद्यो विद्युनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥ २/४/१५

बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी, सदाचारी और मन्त्रवेत्ता जब तक अपनी साधनाओं को तथा अपने-आप को उनके चरणों में समर्पित नहीं कर देते तब तक उन्हें कल्याण की प्राप्ति नहीं होती। ऐसे भगवान् को मेरा बारम्बार प्रणाम है।

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलकस (कसाई), पुलिन्द (भील), आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियाँ तथा दूसरे भी पापी जिनके शरणागत भक्तों की शरण में जाने मात्र से पवित्र हो जाते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान् को मेरा बार-बार प्रणाम है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।

येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ २/४/१८

जो समस्त सम्पत्तियों की स्वामिनी लक्ष्मी देवी के पति हैं, समस्त यज्ञों के भोक्ता और फलदाता हैं, प्रजाके रक्षक हैं, सबके अन्तर्यामी और समस्तलोकों के पालन-कर्ता हैं तथा पृथिवी देवी के स्वामी हैं, भक्तों के मानदाता हैं, यदुवंशियों के मान्य एवं आश्रयदाता हैं, वे सर्वैश्वर्य-सम्पन्न भगवान् मुझपर प्रसन्न हों—

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिलोकपतिर्धरापतिः ।

पतिर्गीतिश्चान्यकवृष्णिसात्त्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥ २/४/२०

विद्वान् पुरुष जिनके चरण कमलों के चिन्तनरूप समाधि से निर्मल हुई बुद्धि के द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं एवं अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उनके महत्त्व का गान करते हैं, सारे सङ्कटों से मुक्ति देनेवाले वे भगवान् मुझ पर प्रसन्न हों। मैं उनको श्रद्धा के साथ प्रणाम करता हूँ—

यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिबौतया धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ।

वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥ २/४/२१

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी किंकर्तव्यविमूढ थे। उन्हें कुछ सुझाई न पड़ रहा था। भगवान् ने वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को प्रेरित किया ब्रह्मा की बुद्धि में बैठ जाने के लिये। बुद्धि में सरस्वती के बैठते ही ब्रह्मा के हृदय में पूर्वकल्प की स्मृति जागृत हो उठी। वे ज्ञान के मूल कारण भगवान् मेरे ऊपर कृपा करें, मेरे हृदय में प्रकट हो जाँय। जो महाभूतों के द्वारा नानाविध शरीरों की रचना कर, अन्तर्यामी रूप से उनमें निवास कर इन्द्रियों में शक्ति का सञ्चार करते हैं वे भगवान् मेरी वाणी को अपने गुणों से अलङ्कृत कर दें जिससे मैं प्रवचन करने में समर्थ बन सकूँ। मैं उन भगवान् के श्रीचरणों में बारम्बार प्रणाम कर रहा हूँ, नमन कर रहा हूँ।

इस प्रकार शुकदेव जी ने बारह श्लोकों के द्वारा भगवान् की स्तुति की, मङ्गलाचरण किया फिर अपने पिता व्यास महाराज को प्रणाम कर उन्होंने कहा— राजन्, सृष्टिविषयक जैसा प्रश्न आपने मुझसे किया है, ऐसा प्रश्न मुनि नारद ने अपने पिता ब्रह्मा जी से किया था। उत्तर में ब्रह्मा जी ने जो कुछ कहा, वही मैं आप को सुनाने जा रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनें ॥४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वितीय स्कन्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥



## पाँचवाँ अध्याय

( नारद के सृष्टि-विषय प्रश्न का उत्तर और अण्ड से विराट् पुरुष की उत्पत्ति )

संसार-भ्रमण के क्रम में एक बार महर्षि नारद अपने पिता ब्रह्मा जी के पास पहुँचे । ब्रह्मा जी आँखें बन्द किये समाधि में बैठे थे । मुनि ने उनके समाधि-भङ्ग की प्रतीक्षा की । कुछ समय के बाद ब्रह्मा जी ने आँखें खोलीं । मुनि ने उन्हें सादर प्रणाम कर पूछा—‘जगत्पिता, आप मुझे वह ज्ञान प्रदान कीजिये जिससे आत्म-तत्त्व का ज्ञान हो जाय । इसके साथ ही यह भी बतलाने की कृपा करें कि यह विश्व किस में रह रहा है ? इसका निर्माणकर्ता कौन है ? अन्त में यह किस में विलीन होता है ? और यह किसके अधीन है ? आप त्रिकाल के ज्ञाता हैं । आपके लिये तो विश्व करामलकवत् है । जैसे मकड़ी जाला-जाल बनाने में स्वतन्त्र है, वैसे ही विश्व-निर्माण में आप स्वयं समर्थ हैं । संसार के सारे पदार्थ आप से ही उत्पन्न होते हैं । आप सब से महान् देव हैं फिर भी मैं देखता हूँ कि आप भी समाधि लगा कर किसी तत्त्व का ध्यान करते हैं । इससे मेरे मन में यह शङ्का हो रही है कि क्या आप से भी बड़ा कोई देवता है ? पिता जी, आप सर्वज्ञ हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं अतः मैं जो कुछ पूछ रहा हूँ उसका उत्तर इस प्रकार दीजिये जिससे मैं ठीक-ठीक समझ जाऊँ ।

नारद की जिज्ञासा को सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—“बेटा नारद, तुम जानते तो सब हो, क्योंकि हो तो तुम मेरे ही बेटे । किन्तु सामान्य लोगों पर अत्यन्त करुणा करके, उनकी जानकारी के लिये, तुम मुझसे ऐसा प्रश्न कर रहे हो । तुम जो मुझे ही सर्वश्रेष्ठ, सबसे परे, समझ रहे हो, यह मिथ्या है, झूठ है । भगवान् की माया से मोहित लोग मुझ से भी परे जो तत्त्व है, उसे नहीं जानते हैं । इसी से उन्हें यह सन्देह होता है कि मैं ही सब कुछ हूँ, जगदगुरु हूँ—

यन्मामया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगदगुरुम् ॥२/५/१२

अतिशय प्रबल यह माया तो भगवान् की आँखों के सामने ठहर ही नहीं सकती, झेंप कर दूर से ही भाग जाती है । परन्तु संसार के अज्ञानी लोग उसी से मोहित होकर ‘यह मैं हूँ, यह मेरा है’ इस प्रकार की बकवास करते रहते हैं—

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया । विमोहिता विकल्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥२/५/१३

भगवत्स्वरूप नारद, द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव—वास्तव में भगवान् से भिन्न दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है । यज्ञ, देवता और समस्त प्राणी नारायण में ही कल्पित हैं । संसार की सृष्टि नारायण से ही होती है । वे द्रष्टा होने पर भी ईश्वर हैं, स्वामी हैं, निर्विकार होने पर भी सर्वस्वरूप हैं । उन्होंने ही मुझे बनाया है और उनकी ही दृष्टि से प्रेरित होकर मैं उनकी इच्छा के अनुसार सकल जगत् का निर्माण करता हूँ । उन्हीं भगवान् की इच्छा जब एक से अनेक होने की होती है—‘एकोऽहं बहु स्याम्’—तब वे अपने से प्रकृति और पुरुष को पृथक् कर देते हैं । उस समय पुरुष में काल, कर्म और स्वभाव—ये तीनों उद्भूत होते हैं । काल से प्रकृति के गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, स्वभाव से उसमें परिणाम होता है और कर्म से महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व) की उत्पत्ति होती है । महत्तत्त्व से अहङ्कार उत्पन्न होता है । इस अहङ्कार के सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन भेद होते हैं । इसी को क्रम से कहते हैं—वैकारिक अहंकार, तैजस अहङ्कार और तामस अहङ्कार—ये क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्तिप्रधान हैं—

सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत्रिया । वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यन्निदा ।

द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो<sup>१</sup> ॥२/५/२४

१. अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः । एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव ॥

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् । भूतादस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ सांख्यकारिका, २४-२५



यह अस्थि-मांस संवलित शरीर द्रव्य है। यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह घट है, वह पट है—यह ज्ञान है और मैंने यह किया, वह किया—यह क्रिया है। तामस अहङ्कार से शब्दगुण वाले आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश से स्पर्शवान् वायु की उत्पत्ति होती है। वायुसे रूपवान् तेज की उत्पत्ति होती है। तेज से रसात्मक जल की उत्पत्ति होती है और जल से गन्धवती पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार सात्त्विक अहङ्कार से मन और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं की उत्पत्ति होती है। राजस अहङ्कार दश इन्द्रियों का जनक है। तामस अहङ्कार से पञ्च तन्मात्रा तथा पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है।

भगवान् की शक्ति का संबल पाकर इन सब तत्त्वों ने मिलकर एक अण्ड का रूप धारण किया। वह अण्ड एक सहस्र वर्ष तक निर्जीव रूप से जल में पड़ा रहा फिर ब्रह्म ने उसमें प्रवेश कर उसे चेतन बनाया, जीवित किया। ब्रह्म के मिलने से ही वह अण्ड ब्रह्माण्ड कहलाता है। तदनन्तर अण्ड का भेदन कर वह ब्रह्म स्वयं विराट् रूप से प्रकट हुआ। उसमें जङ्घा, चरण, भुजाएँ, नेत्र, मुख और शिर सहस्रों की संख्या में थे। विराट् के अवयवों में ही सारे लोकों की कल्पना की गई है—चरणों में भूलोक, नाभि में भुवर्लोक और मस्तक में स्वर्गलोक। उन्हीं में सात भुवन और चौदह लोकों की कल्पना की गई है—

भूलोकः कल्पितः पदभ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।

स्वलोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना ॥२/५/३८, ४२

कहने का अभिप्राय यह है कि जगत् के मूल में परमात्मा है। सारा जगत् परमात्मा में ही समाहित है—ऐसा समझकर ध्यान करना चाहिये<sup>१</sup>।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वितीय स्कन्ध का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

## छठा अध्याय

### ( विराट् पुरुष की विभूतियों का वर्णन )

ब्रह्माजी कहते हैं—“नारद, भगवान् विराटरूप पुरुष का मुख वाणी और उसके अधिष्ठाता देवता अग्नि का उत्पत्ति-स्थान है। सातों छन्द<sup>१</sup> उनकी सात धातुओं से निकले हैं। मानवों, पितरों और देवताओं के भोजन करने योग्य अमृतमय अन्न, सब प्रकार के रस, रसनेन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता देवता वरुण विराट् पुरुष की जिह्वा से उत्पन्न हुए हैं। प्राणियों की सारी इन्द्रियाँ, मन प्राण, बुद्धि और इनके अधिष्ठाता देवता—ये सभी विराट् पुरुष से उत्पन्न हुए हैं। वृक्ष, वन, पर्वत, नद, नदी, निर्झर, सागर, स्थावर-जङ्गम जीव, देव, दानव, दैत्य, नाग, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारागण-समुदाय, सब के सब भगवान् विराट् के अङ्गों से उत्पन्न हुए हैं। कहाँ तक गिनायें, मैं, तुम, तुम्हारे बड़े भाई सनकादि और शङ्कर भी उन्हीं से उत्पन्न हैं। नभचर, थलचर और जलचर सारे-के-सारे जीव उन्हीं भगवान् से उत्पन्न हैं। यह सम्पूर्ण विश्व—जो कुछ कभी था, इस समय है और आगे होगा—

१. इसीलिये तुलसीदास ने कहा है— सीय-राम-मय सब जग जानी। करौ प्रणाम जोरि जुग पानी ॥

२. गायत्री, त्रिष्टुप, अनुष्टुप, उष्णिक्, बृहती, जगती और पंक्ति—ये सात छन्द हैं।



सबको यह परमात्मा घेरे हुए हैं और उसके अन्दर केवल दश अङ्गुल<sup>१</sup> के परिमाण में ही स्थित है अतः सब भगवान् ही भगवान् हैं—

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् । तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥२/६/१५  
नारद, मैं तुमसे क्या कहूँ ? जब मैं इस विराट् पुरुष के नाभि-कमल से उत्पन्न हुआ था तब मेरी इच्छा हुई कि मैं यज्ञ के द्वारा इस भगवान् का यजन करूँ । किन्तु उस समय मुझे भगवान् के अङ्गों के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं दिखलाई पड़ी अतः उन अङ्गों से ही यज्ञ-सामग्री, का निर्माण कर उन नारायण का यजन किया—

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः । नाविदं यज्ञसंभारान् पुरुषावयवाद्देते ॥२/६/२२  
पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया । इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैरहम् ॥

तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम् ॥२/६/२६-२७

ब्रह्माजी कहते हैं कि नारद, मेरे द्वारा परमात्मा का यजन सम्पन्न हो जाने के बाद तुम्हारे बड़े भाई प्रजापतियों ने अन्तर्यामी उस परमात्मा की आराधना की । फिर मनु, ऋषि तथा देवता आदि सबने उनका यजन सम्पन्न किया । यह सम्पूर्ण कार्य-कारणरूप सृष्टि भगवान् नारायण की है और उन्हीं में है । मेरे साथ विष्णु और महेश आदि भी सब-के-सब उन्हीं के अधीन हैं; उनसे पृथक् कुछ भी नहीं है—

नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भावं सदसदात्मकम् ॥२/६/३२

निगुण होते हुए भी वे भगवान् सृष्टि की बेला में सगुण हो जाते हैं । यह उन्हीं की प्रेरणा है कि हम त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और महेश संसार की सृष्टि, पालन तथा संसाररूप क्रिया करते हैं ।

ब्रह्मा जी कहते हैं—नारद, उन्हीं विराट् पुरुष का आश्रय लेने के कारण, उनको अपने हृदय में बैठा लेने के कारण मेरी वाणी कभी झूठी नहीं होती, मेरा मन कभी असत्य सङ्कल्प नहीं करता और मेरी इन्द्रियाँ भी कभी मर्यादा का उल्लङ्घन करके कुमार्ग में प्रवृत्त नहीं होती—

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।

न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्ये यन्मे हृदौत्कण्ठयवता धृतो हरिः ॥२/६/३३

वत्स नारद, अब मैं विराट् भगवान् के परम पावन प्रधान-प्रधान लीलावतारों का क्रमशः वर्णन करूँगा । उनके चरित्र सुनने में बड़े मधुर एवं चिरकाल के दोषों से दूषित श्रवणेन्द्रिय के दोषों को दूर करनेवाले हैं । तुम सावधान होकर एकाग्र मन से उनका श्रवण करो, रसास्वादन करो ॥६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वितीय स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

## सातवाँ अध्याय

( भगवान् के २४ लीलावतारों का वर्णन )

किसी भी तत्त्व का किसी भी आकृति के लिये आग्रह नहीं होता । किसी भी स्थिति में तत्त्व के मूल्य में अन्तर नहीं होता । सुवर्ण का सूअर बने अथवा हाथी इसमें सुवर्ण का कोई आग्रह नहीं है । सुवर्ण के सूअर अथवा हाथी

१. ब्रह्माण्ड के सात आवरणों का वर्णन शास्त्रों में इस प्रकार मिलता है— पृथिवी से दशगुना जल है, जल से दशगुना अग्नि, अग्नि से दशगुना वायु, वायु से दशगुना आकाश, आकाश से दशगुना अहङ्कार, अहङ्कार से दशगुना महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से दशगुनी मूल प्रकृति है । यह प्रकृति भगवान् के केवल एक पाद में है । इस प्रकार भगवान् की महत्ता प्रकट की गई है । यह दशाङ्गुल-न्याय कहलाता है ।



के सुवर्ण के मूल्य में भी कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार मिट्टी, पानी और अग्नि को भी आकृति के सम्बन्ध में कोई आग्रह नहीं है। भगवान् के सारे शरीर शाश्वत हैं, नित्य हैं। वे प्रकृति के भी कार्य नहीं हैं। किस विग्रह की पूजा करें और किसे छोड़ दें—यह भी नहीं सोचना चाहिये। भगवान् के सारे श्रीविग्रह आराधनीय हैं, पूज्य हैं। इस प्रकार भगवान् जगत् की रक्षा और सज्जनों के कल्याण के लिये प्रत्येक युग में अवतार धारण करते हैं। भगवान् अनन्त हैं, उनके अवतार अनन्त हैं और उनकी लीला-कथाएँ भी अनन्त हैं—“हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता”। सभी का वर्णन संभव नहीं है अतः यहाँ भगवान् के अत्यन्त प्रसिद्ध २४ अवतारों का वर्णन किया जा रहा है—

तत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत् क्रौडौ तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः ।

अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं तं द्रंष्टुयाद्रिमिव वज्रधरो ददार ॥ २/७/१

ब्रह्माजी ने कहा—बेटा नारद, (१) भगवान् अनन्त विराट् ने वाराह अवतार धारण कर जल में डूबी हुई पृथिवी का उद्धार किया और लड़ने के लिये आये हुए आदि दैत्य हिरण्याक्ष का वध किया। भगवान् का यह पहला अवतार था। (२) फिर उन्होंने प्रभु ने रुचि नामक प्रजापति की पत्नी आकृति के गर्भ से सुयज्ञ के रूप में अवतार ग्रहण किया। (३) पुनः वही भगवान् कर्दम जी के पुत्र कपिल के रूप में आकर सांख्य के उपदेश द्वारा अपनी माता देवहूति का उद्धार किये। (४) भगवान् ने चौथी बार अवतार ग्रहण किया अत्रि के पुत्र दत्तात्रेय के रूप में। दत्तात्रेय ने हैहय वंश के राजाओं को उपदेश देकर कृतार्थ किया। (५) पञ्चम अवतार की बेला में परमात्मा ने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार के रूप में अवतार ग्रहण किया। इस अवतार में उन्होंने प्राचीन कल्प के विस्मृत आत्म-ज्ञान का यथावत् उपदेश ऋषियों को दिया। (६) फिर धर्म की पत्नी मूर्ति के गर्भ से वे नर-नारायण के रूप में प्रकट हुए। यह अवतार तप के प्रभावं को प्रदर्शित करने के लिये था। (७) पाँच वर्ष के ध्रुव सौतेली माँ के वचन-बाणों से विद्ध होकर तपस्यार्थ वन में चले गये। भगवान् ने हरि अवतार धारण कर उन्हें सर्वोच्च ध्रुव लोक प्रदान किया। (८) आठवें अवतार में परमात्मा राजा वेन के पुत्र पृथु के रूप में प्रकट हुए। पृथु ने पिता वेन को नरकगामी होने से बचाया और सम्पूर्ण पदार्थों का पृथिवी से दोहन किया। (९) हरि के नवम अवतार थे—ऋषभ। ऋषभदेव राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। इन्होंने संसार को परमहंस का वास्तविक स्वरूप बतलाया और स्वयम् आचरण करके दिखलाया भी। (१०) भगवान् का दशवाँ अवतार था—हयग्रीव का। यह अवतार मेरे (अर्थात् ब्रह्मा के) यज्ञ में प्रकट हुआ था। वेदों का प्रादुर्भाव इन्हीं के श्वास से हुआ है। (११) मत्स्यावतार धारण कर परमात्मा ने, मेरे मुख से जल में गिरे हुए वेदों को लाकर मुझे प्रदान किया था और सत्यव्रत मनु को ब्रह्म का उपदेश भी दिया था। (१२) अमृत के लिये देव-दानव सागर का मन्थन कर रहे थे। मथानी बना मन्दरांचल जल में नीचे की ओर धँसा जा रहा था उस समय ईश्वर ने कच्छप का रूप धारण कर मन्दर को अपनी पीठ पर उठा लिया था। (१३) नरसिंह अवतार धारण कर उन्होंने हिरण्यकशिपु को मार कर भक्तप्रवर प्रह्लाद की रक्षा की थी। (१४) हरि अवतार धारण कर प्रभु ने चक्र से नक्र (ग्राह) का वदन विदीर्ण कर गजेन्द्र का उद्धार किया था—

चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्माद्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार ॥ २/७/१६

(१५) भगवान् का वामनावतार अद्भुत था। इस अवतार में उन्होंने बलि से तीन पग पृथिवी माँगी फिर छलकर के विराट् रूप धारण कर तीनों लोकों को नाप लिया और उसे इन्द्र को समर्पित कर दिया। (१६) हंसावतार में तुम्हें योग और ज्ञान का उपदेश दिया। (१७) मन्वन्तरों में मनु के रूप में अवतार लेकर दुष्ट राजाओं का दमन

१.CCO. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००. १०१. १०२. १०३. १०४. १०५. १०६. १०७. १०८. १०९. ११०. १११. ११२. ११३. ११४. ११५. ११६. ११७. ११८. ११९. १२०. १२१. १२२. १२३. १२४. १२५. १२६. १२७. १२८. १२९. १३०. १३१. १३२. १३३. १३४. १३५. १३६. १३७. १३८. १३९. १४०. १४१. १४२. १४३. १४४. १४५. १४६. १४७. १४८. १४९. १५०. १५१. १५२. १५३. १५४. १५५. १५६. १५७. १५८. १५९. १६०. १६१. १६२. १६३. १६४. १६५. १६६. १६७. १६८. १६९. १७०. १७१. १७२. १७३. १७४. १७५. १७६. १७७. १७८. १७९. १८०. १८१. १८२. १८३. १८४. १८५. १८६. १८७. १८८. १८९. १९०. १९१. १९२. १९३. १९४. १९५. १९६. १९७. १९८. १९९. २००. २०१. २०२. २०३. २०४. २०५. २०६. २०७. २०८. २०९. २१०. २११. २१२. २१३. २१४. २१५. २१६. २१७. २१८. २१९. २२०. २२१. २२२. २२३. २२४. २२५. २२६. २२७. २२८. २२९. २३०. २३१. २३२. २३३. २३४. २३५. २३६. २३७. २३८. २३९. २४०. २४१. २४२. २४३. २४४. २४५. २४६. २४७. २४८. २४९. २५०. २५१. २५२. २५३. २५४. २५५. २५६. २५७. २५८. २५९. २६०. २६१. २६२. २६३. २६४. २६५. २६६. २६७. २६८. २६९. २७०. २७१. २७२. २७३. २७४. २७५. २७६. २७७. २७८. २७९. २८०. २८१. २८२. २८३. २८४. २८५. २८६. २८७. २८८. २८९. २९०. २९१. २९२. २९३. २९४. २९५. २९६. २९७. २९८. २९९. ३००. ३०१. ३०२. ३०३. ३०४. ३०५. ३०६. ३०७. ३०८. ३०९. ३१०. ३११. ३१२. ३१३. ३१४. ३१५. ३१६. ३१७. ३१८. ३१९. ३२०. ३२१. ३२२. ३२३. ३२४. ३२५. ३२६. ३२७. ३२८. ३२९. ३३०. ३३१. ३३२. ३३३. ३३४. ३३५. ३३६. ३३७. ३३८. ३३९. ३४०. ३४१. ३४२. ३४३. ३४४. ३४५. ३४६. ३४७. ३४८. ३४९. ३५०. ३५१. ३५२. ३५३. ३५४. ३५५. ३५६. ३५७. ३५८. ३५९. ३६०. ३६१. ३६२. ३६३. ३६४. ३६५. ३६६. ३६७. ३६८. ३६९. ३७०. ३७१. ३७२. ३७३. ३७४. ३७५. ३७६. ३७७. ३७८. ३७९. ३८०. ३८१. ३८२. ३८३. ३८४. ३८५. ३८६. ३८७. ३८८. ३८९. ३९०. ३९१. ३९२. ३९३. ३९४. ३९५. ३९६. ३९७. ३९८. ३९९. ४००. ४०१. ४०२. ४०३. ४०४. ४०५. ४०६. ४०७. ४०८. ४०९. ४१०. ४११. ४१२. ४१३. ४१४. ४१५. ४१६. ४१७. ४१८. ४१९. ४२०. ४२१. ४२२. ४२३. ४२४. ४२५. ४२६. ४२७. ४२८. ४२९. ४३०. ४३१. ४३२. ४३३. ४३४. ४३५. ४३६. ४३७. ४३८. ४३९. ४४०. ४४१. ४४२. ४४३. ४४४. ४४५. ४४६. ४४७. ४४८. ४४९. ४५०. ४५१. ४५२. ४५३. ४५४. ४५५. ४५६. ४५७. ४५८. ४५९. ४६०. ४६१. ४६२. ४६३. ४६४. ४६५. ४६६. ४६७. ४६८. ४६९. ४७०. ४७१. ४७२. ४७३. ४७४. ४७५. ४७६. ४७७. ४७८. ४७९. ४८०. ४८१. ४८२. ४८३. ४८४. ४८५. ४८६. ४८७. ४८८. ४८९. ४९०. ४९१. ४९२. ४९३. ४९४. ४९५. ४९६. ४९७. ४९८. ४९९. ५००. ५०१. ५०२. ५०३. ५०४. ५०५. ५०६. ५०७. ५०८. ५०९. ५१०. ५११. ५१२. ५१३. ५१४. ५१५. ५१६. ५१७. ५१८. ५१९. ५२०. ५२१. ५२२. ५२३. ५२४. ५२५. ५२६. ५२७. ५२८. ५२९. ५३०. ५३१. ५३२. ५३३. ५३४. ५३५. ५३६. ५३७. ५३८. ५३९. ५४०. ५४१. ५४२. ५४३. ५४४. ५४५. ५४६. ५४७. ५४८. ५४९. ५५०. ५५१. ५५२. ५५३. ५५४. ५५५. ५५६. ५५७. ५५८. ५५९. ५६०. ५६१. ५६२. ५६३. ५६४. ५६५. ५६६. ५६७. ५६८. ५६९. ५७०. ५७१. ५७२. ५७३. ५७४. ५७५. ५७६. ५७७. ५७८. ५७९. ५८०. ५८१. ५८२. ५८३. ५८४. ५८५. ५८६. ५८७. ५८८. ५८९. ५९०. ५९१. ५९२. ५९३. ५९४. ५९५. ५९६. ५९७. ५९८. ५९९. ६००. ६०१. ६०२. ६०३. ६०४. ६०५. ६०६. ६०७. ६०८. ६०९. ६१०. ६११. ६१२. ६१३. ६१४. ६१५. ६१६. ६१७. ६१८. ६१९. ६२०. ६२१. ६२२. ६२३. ६२४. ६२५. ६२६. ६२७. ६२८. ६२९. ६३०. ६३१. ६३२. ६३३. ६३४. ६३५. ६३६. ६३७. ६३८. ६३९. ६४०. ६४१. ६४२. ६४३. ६४४. ६४५. ६४६. ६४७. ६४८. ६४९. ६५०. ६५१. ६५२. ६५३. ६५४. ६५५. ६५६. ६५७. ६५८. ६५९. ६६०. ६६१. ६६२. ६६३. ६६४. ६६५. ६६६. ६६७. ६६८. ६६९. ६७०. ६७१. ६७२. ६७३. ६७४. ६७५. ६७६. ६७७. ६७८. ६७९. ६८०. ६८१. ६८२. ६८३. ६८४. ६८५. ६८६. ६८७. ६८८. ६८९. ६९०. ६९१. ६९२. ६९३. ६९४. ६९५. ६९६. ६९७. ६९८. ६९९. ७००. ७०१. ७०२. ७०३. ७०४. ७०५. ७०६. ७०७. ७०८. ७०९. ७१०. ७११. ७१२. ७१३. ७१४. ७१५. ७१६. ७१७. ७१८. ७१९. ७२०. ७२१. ७२२. ७२३. ७२४. ७२५. ७२६. ७२७. ७२८. ७२९. ७३०. ७३१. ७३२. ७३३. ७३४. ७३५. ७३६. ७३७. ७३८. ७३९. ७४०. ७४१. ७४२. ७४३. ७४४. ७४५. ७४६. ७४७. ७४८. ७४९. ७५०. ७५१. ७५२. ७५३. ७५४. ७५५. ७५६. ७५७. ७५८. ७५९. ७६०. ७६१. ७६२. ७६३. ७६४. ७६५. ७६६. ७६७. ७६८. ७६९. ७७०. ७७१. ७७२. ७७३. ७७४. ७७५. ७७६. ७७७. ७७८. ७७९. ७८०. ७८१. ७८२. ७८३. ७८४. ७८५. ७८६. ७८७. ७८८. ७८९. ७९०. ७९१. ७९२. ७९३. ७९४. ७९५. ७९६. ७९७. ७९८. ७९९. ८००. ८०१. ८०२. ८०३. ८०४. ८०५. ८०६. ८०७. ८०८. ८०९. ८१०. ८११. ८१२. ८१३. ८१४. ८१५. ८१६. ८१७. ८१८. ८१९. ८२०. ८२१. ८२२. ८२३. ८२४. ८२५. ८२६. ८२७. ८२८. ८२९. ८३०. ८३१. ८३२. ८३३. ८३४. ८३५. ८३६. ८३७. ८३८. ८३९. ८४०. ८४१. ८४२. ८४३. ८४४. ८४५. ८४६. ८४७. ८४८. ८४९. ८५०. ८५१. ८५२. ८५३. ८५४. ८५५. ८५६. ८५७. ८५८. ८५९. ८६०. ८६१. ८६२. ८६३. ८६४. ८६५. ८६६. ८६७. ८६८. ८६९. ८७०. ८७१. ८७२. ८७३. ८७४. ८७५. ८७६. ८७७. ८७८. ८७९. ८८०. ८८१. ८८२. ८८३. ८८४. ८८५. ८८६. ८८७. ८८८. ८८९. ८९०. ८९१. ८९२. ८९३. ८९४. ८९५. ८९६. ८९७. ८९८. ८९९. ९००. ९०१. ९०२. ९०३. ९०४. ९०५. ९०६. ९०७. ९०८. ९०९. ९१०. ९११. ९१२. ९१३. ९१४. ९१५. ९१६. ९१७. ९१८. ९१९. ९२०. ९२१. ९२२. ९२३. ९२४. ९२५. ९२६. ९२७. ९२८. ९२९. ९३०. ९३१. ९३२. ९३३. ९३४. ९३५. ९३६. ९३७. ९३८. ९३९. ९४०. ९४१. ९४२. ९४३. ९४४. ९४५. ९४६. ९४७. ९४८. ९४९. ९५०. ९५१. ९५२. ९५३. ९५४. ९५५. ९५६. ९५७. ९५८. ९५९. ९६०. ९६१. ९६२. ९६३. ९६४. ९६५. ९६६. ९६७. ९६८. ९६९. ९७०. ९७१. ९७२. ९७३. ९७४. ९७५. ९७६. ९७७. ९७८. ९७९. ९८०. ९८१. ९८२. ९८३. ९८४. ९८५. ९८६. ९८७. ९८८. ९८९. ९९०. ९९१. ९९२. ९९३. ९९४. ९९५. ९९६. ९९७. ९९८. ९९९. १०००.



किया । (१८) धन्वन्तरि अवतार धारण कर भगवान् नें देवताओं को अमृत मिलाया था और आयुर्वेद का उपदेश भी दिया था । (१९) परशुराम का अवतार धारण कर दुष्ट क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार किया था । (२०) भगवान् का रामावतार अतिशय प्रसिद्ध है । इस अवतार में उन्होंने रावण का वध कर लङ्का के राज्य पर विभीषण को प्रतिष्ठित किया था । (२१-२२) बलराम और कृष्ण के रूप में अवतरित होकर भगवान् ने अनेक दैत्यों का संहार किया । कंस को मारा और अनेक प्रकार की रसीली लीलाएँ कीं । (२३) व्यास अवतार में वेदों का विभाजन और पुराण-वाङ्मय का निर्माण किया गया । (२४) बुद्धावतार द्वारा वेदों का खण्डन कर बहुत से उपधर्मों का उपदेश किया गया । (२५) विधर्मियों के संहारार्थ भगवान् का कल्कि अवतार होगा । ध्रुव और गजेन्द्र के लिये भगवान् का एक ही हरि अवतार हुआ है । अतः ऊपर कहे गये अवतारों की संख्या २५ नहीं २४ ही समझनी चाहिये । ये सारे के सारे अवतार भगवान् विराट् की विभूतियाँ हैं । भगवान् अनन्त हैं, भगवान् के गुण और नाम अनन्त हैं । आदि देव भगवान् अनन्त (शेष) सहस्र मुखों से उनके गुणों का गान करते आ रहे हैं, परन्तु वे अब भी उसके अन्त की कल्पना नहीं कर सके हैं—

गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनाऽपि समवस्यति नास्य पारम् ॥२/७/४१

जब शेष भगवान् की यह स्थिति है तो दूसरे के विषय में कहना ही क्या है ? जो निष्कपट भाव से अपना सर्वस्व और अपने आप को भी उनके चरण-कमलों में न्योछावर कर देते हैं, उन पर वे अनन्त भगवान् स्वयं ही अपनी ओर से दया करते हैं । भगवान् की दया के पात्र ही उनकी माया के स्वरूप को जानते हैं और उसके पार जा पाते हैं । अतः बेटा नारद, तुम उन्हीं की शरण ग्रहण करो । संसार में उनसे बड़ा रक्षक कोई दूसरा नहीं है । भगवान् नें मुझे जो उपदेश दिया था, वह यही भागवत है । उसीका सार-संक्षेप मैंने तुम्हारे सामने प्रस्तुत किया है । इसमें भगवान् की विभूतियों का संक्षिप्त वर्णन है । तुम इसका विस्तार करो । जिस प्रकार श्रीहरि में लोगों की प्रेममयी भक्ति हो, ऐसा निश्चय करके इसका वर्णन करो—

संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद् विपुलीकुरु ॥

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति । सर्वात्मन्यखिलाधारे इति संकल्प्य वर्णय ॥२/७/५१-५२

जो व्यक्ति भक्ति-भाव से भगवान् की लीलाओं का श्रवण करता है, वर्णन करता है तथा अनुमोदन करता है, उसका चित्त कभी माया से मोहित नहीं होता—

माययाऽऽत्मा न मुह्यति ॥२/७/५३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वितीय स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

•

## आठवाँ अध्याय

( जीव और ईश्वर के शरीर-धारण के विषय में परीक्षित  
की आशङ्का तथा पुराण-विषयक विविध प्रश्न )

राजा ने बड़ी श्रद्धा के साथ श्रीशुकदेव महाराज से पूछा, ब्रह्मा के द्वारा प्रेरणा मिलने पर नारद जी ने किसको-किसको किस रूप में उपदेश दिया ? भगवान् की लीला-कथाएँ सकल सुमङ्गलों की खान हैं । आप उनका वर्णन मेरे लिये कीजिये जिससे मैं अपने मन को सांसारिक आसक्तियों से हटाकर सर्वात्मा भगवान् में लगा कर शरीर का परित्याग कर सकूँ—



कृष्णो निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ॥२/८/३

जो लोग भगवान् की लीलाओं का श्रद्धा के साथ सर्वदा श्रवण और वर्णन करते हैं, उनके हृदय में भगवान् अतिशीघ्र प्रकट हो जाते हैं। भक्तों के भाव-भरे हृदय में भगवान् उनके कान के छिद्रों से प्रवेश करके आसन जमा कर बैठ जाते हैं। उनके बैठते ही भक्तों के मन की मैल उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे शरद् ऋतु के आगमन से जल का गँदलापन समाप्त हो जाता है—

भृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम् । कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ॥

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् । ध्रुवोति श्मलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥२/८/४-५

भगवान् की उपस्थिति से जिनका हृदय निर्मल हो चुका है, ऐसे भक्त भगवान् के चरण-कमल का एक क्षण के लिये भी परित्याग नहीं करते। उनके राग-द्वेष आदि समस्त क्लेश सर्वदा के लिये समाप्त हो जाते हैं। मन के निर्मल होते ही धीरे-धीरे उसमें भगवान् की बाँकी झाँकी का दर्शन होने लगता है, भगवान् की अनुभूति होने लगती है।

मुनिवर, “आप कृपा कर यह भी बतलाइये कि चेतन जीव का शरीर से सम्बन्ध सकारण है अथवा निष्कारण ? अथवा यह कर्म का परिणाम है ? ईश्वर भी जीवों की तरह शरीर के अवयवों को धारण करता है। यह कैसी बात है ? फिर तो जीव और ईश्वर का अन्तर ही क्या रहा ? पहले आप ने बतलाया था कि विराट् पुरुष के अङ्गों से लोकों और लोकपालों की रचना हुई है और फिर यह भी बतलाया कि लोकों और लोकपालों के रूप में उसके अङ्गों की कल्पना हुई है। ये दोनों बातें विरुद्ध-सी प्रतीत होती हैं। इन दोनों बातों का तात्पर्य क्या है ? महाकल्प और उनके अन्तर्गत अवान्तर कल्प कितने हैं ? काल एक ही है फिर उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान आदि का विभाग कैसे होता है ? मानव, पितर तथा देवों की आयु का परिमाण क्या है ? कर्मों से जिन स्थानों की प्राप्ति होती है वे कौन-कौन-से हैं और उनकी संख्या कितनी है ? पृथिवी, पाताल, दिशा, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, सरित्, समुद्र, द्वीप आदि और उनमें रहने वाले जीवों की उत्पत्ति कैसे होती ? ब्रह्माण्ड का बाहर तथा भीतर से परिमाण क्या है ? युग कितने हैं और उनका परिमाण क्या है ? मनुष्यों के साधारण एवं विशेष धर्म कौन-कौन-से हैं ? तत्त्वों की संख्या कितनी है ? प्रलय और महाप्रलय का स्वरूप क्या है ? योग, योग-सिद्धियाँ क्या हैं ? बन्ध और मोक्ष की परिभाषा क्या है ? मुनिवर, आप सर्वज्ञ हैं अतः मेरे द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दीजिये और जो प्रश्न मेरे द्वारा नहीं पूछे जा सके हैं—उन सबका भी उत्तर देने की कृपा करें जिससे मेरी जिज्ञासा समाप्त हो जाये। मैं आप की शरण में हूँ। महामुने, आप अनुग्रह करके क्रमशः इनका तात्त्विक निरूपण कीजिये” —

तत्त्वतोऽहं स्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महामुने ॥२/८/२४

शुकदेव महाराज ने राजा की श्रद्धा भरी जिज्ञासा सुनी उन्हें इससे प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—राजन, आप मेरी भूख-प्यास की चिन्ता न करें। मेरे प्राण कुपित ब्राह्मण के शाप के अतिरिक्त और किसी कारण से निकल नहीं सकते; क्योंकि मैं आप के मुख-कमल से निर्गत भगवान् की अमृतमयी लीला-कथा का पान कर रहा हूँ—

न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्नशनादमी । पिबतोऽच्युतपीयूषमन्यत्र कुपिताद् द्विजात् ॥२/८/२६

राजा के प्रश्नों को सुनकर भगवान् शुकदेव की प्रसन्नता का पारावार न रहा। उन्होंने उन्हें वही वेदतुल्य श्रीमद्भागवत-महापुराण सुनाया, जिसे ब्राह्मकल्प के प्रारम्भ में स्वयं भगवान् नारायण ने ब्रह्मा जी को सुनाया था—

प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम् । ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्मकल्प उपागते ॥२/८/२८



पाण्डुवंश के शिरोमणि परीक्षित ने उनसे जिन-जिन प्रश्नों को पूछा था, वे उन सबका क्रमशः उत्तर देने लगे ॥८॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वितीय स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

## नवाँ अध्याय

( ब्रह्माजी का भगवान् के धाम का दर्शन और भगवान् के द्वारा उन्हें चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, जैसे स्वप्न में दिखलाई पड़ने वाले पदार्थों के साथ स्वप्न देखने वाले व्यक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देह आदि से परे अनुभवस्वरूप आत्मा का, माया के बिना, संसार के पदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। विविध रूपवाली माया या अविद्या के कारण ही जीव (आत्मा) की बाल, युवा आदि अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं। वह अविद्या के कार्य शरीर आदि में आसक्ति के कारण ही बन्धन का अनुभव करता है—

आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः । न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाज्ञसा ॥

बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया । रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते ॥२/९/१-२

अविद्या के निवृत्त होते ही जीव मुक्त होकर आत्मरूप में विराजमान हो जाता है—“जीव पाव निज सहज सरूपा”। जीव का देह से सम्बन्ध माया के कारण, अविद्या के कारण, अज्ञान के कारण होता है। परमात्मा का विशुद्ध सत्त्वमय वपु, श्रीविग्रह से सम्बन्ध योगमाया के कारण होता है। भगवान् योगमाया का आश्रय लेकर शरीर धारण करते हैं। यही जीव और ईश्वर के शरीर धारण करने में अन्तर है। जीव को भगवान् के भजन से, उनकी उपासना से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञान होते ही जीव मुक्त हो जाता है। भगवान् की कृपा से ही ब्रह्मा को भी तत्त्व-ज्ञान हुआ था। इस सम्बन्ध में मैं एक इतिहास तुम्हें सुना रहा हूँ—

महाप्रलय की बेला थी। नारायण क्षीरसागर में शयन कर रहे थे। चतुर्दिक् जल ही जल व्याप्त था। नारायण की नाभि से एक अति विशाल कमल निकला। उस पर ब्रह्मा जी विराजमान थे। उनकी इच्छा सृष्टि करने की थी। किन्तु सृष्टि कैसे हो, यह उनकी समझ में नहीं आ रहा था। वे चिन्तामग्न होकर बैठे थे। उसी समय आकाशवाणी के द्वारा दो बार कहे गये दो अक्षर सुनाई पड़े जो स्पर्शसंज्ञक वर्णों में १६वें और २१वें अक्षर थे—‘तप, तप’। अर्थात् आकाशवाणी ने कहा—‘तपस्या करो, तपस्या करो’। यह तप ही तपोधन महापुरुषों का परम धन है। इसे सुनकर ब्रह्मा जी ने चतुर्दिक् दृष्टि दौड़ाई कि आखिर इन वर्णों को कहनेवाला कौन है ? किन्तु उन्हें कहीं कुछ दिखलाई नहीं पड़ा। हार मानकर फिर तो ब्रह्मा जी ने एक सहस्र दिव्य वर्ष तक घोर तप किया। उनकी तपस्या से परम सन्तुष्ट होकर भगवान् ने उन्हें अपने विशुद्ध सत्त्वमय वैकुण्ठलोक का दर्शन कराया। यह लोक सबसे श्रेष्ठ और सबके ऊपर था। वहाँ न काल की दाल गलती है और न माया की छाया ही दिखलाई पड़ती है। वहाँ भगवान् के वे पार्षद रहते हैं, जिनका पूजन देवता और दैत्य दोनों ही करते हैं।

ब्रह्मा जी ने वहाँ देखा कि एक मणिमय दिव्य सिंहासन है। उस पर पीताम्बर धारी, सजल जलद की तरह श्याम, विश्वपति भगवान् विष्णु विराजमान हैं। लक्ष्मी जी सुन्दर रूप धारण कर, अपनी विभूतियों के साथ, भगवान् के चरण-कमलों की विविध भाँति सेवा कर रही हैं। सुनन्द, नन्द आदि प्रमुख गण प्रभु की उपासना में तल्लीन हैं।



भगवान् का दर्शन करते ही ब्रह्माजी का हृदय आनन्द की लहरियों से लबालब भर गया। शरीर पुलकावलियों से मण्डित हो गया, नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछला आये। उन्होंने आनन्द में निमग्न हो प्रभु के चरणों में प्रणाम किया। भगवान् ने मुस्कराहट की छटा बिखेरते हुए प्रिय ब्रह्माजी से हाथ मिला कर कहा—

**बभ्राष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा, प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन् ॥२/९/१८**

ब्रह्मा जी, सृष्टि रचने की इच्छा से तप कर आप ने मुझे सन्तुष्ट कर दिया है, मैं आप पर परम प्रसन्न हूँ। आप अपनी इच्छा के अनुसार मुझसे मनचाहा वरदान मांग लीजिये। ब्रह्मा ने भगवान् की बात सुनी। उनकी कृतज्ञता का पारावार न रहा फिर उन्होंने कहा—‘प्रभो, मुझे सृष्टि का ज्ञान नहीं है। कृपया आप उसका ज्ञान प्रदान करें। और मेरे नाथ! यह भी कृपा करें कि सृष्टि-रचना की प्रक्रिया में मुझे कभी अपने को जन्म-कर्म से स्वतन्त्र मानकर अभिमान न हो जाय—

**मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः ॥२/९**

ब्रह्मा की बात को सुनकर भगवान् ने उन्हें उस भागवत का उपदेश दिया जो आगे चल कर जगत् में चतुःश्लोकी भागवत के नाम से विख्यात हुआ। चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश देने के बाद भगवान् ने कहा—‘ब्रह्मा जी, इसी के सतत मनन से आपको सृष्टि-रचना का और मेरा तत्त्वतः बोध हो जायेगा।

**‘चतुःश्लोकी भागवत**

**अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् । पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥२/९/३२**

**अन्वयः**—अग्रे, अहम्, एव, आसम्, यत्, सत्, असत्, परम्, च, यत्, अन्यत्, (तत्), न, (अभूत्); (अहम्, च, तदा, आसम्), एव; पश्चात्, (अपि), अहम्, (एव); यत्, एतच्च, (तत्, अपि, अहम्, एव); (प्रलये), यः, अवशिष्यते, सः, अपि, अहम्, अस्मि ॥२/९/३२॥

**अर्थः**—सृष्टि के पहले मैं ही था। जो स्थूल, सूक्ष्म और उन दोनों का कारण प्रकृति है उसकी भी उस समय सत्ता न थी। इनके अतिरिक्त भी और कुछ न था। मैं ही उस समय सत्तामात्र से था, कुछ कर नहीं रहा था। सृष्टि के बाद भी मैं ही रहता हूँ। जो यह विश्व दिखलाई पड़ रहा है वह भी मैं ही हूँ और प्रलय हो जाने पर भी जो बचा रहता है, वह भी मैं ही हूँ।

**ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि । तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥२/९/३३**

**अन्वयः**—(वास्तवम्), अर्थम्, ऋते, (अपि), यत्, (किमपि, मयि), आत्मनि, प्रतीयेत, यथा, (आकाशे), आभासः, (प्रतिभाति); (अथवा, सत्, अपि), आत्मनि, न, प्रतीयेत, यथा (आकाशे), तमः, (न, प्रतिभाति), तत्, आत्मनः, मायाम्, विद्यात् ॥३३॥

**अर्थः**—यथार्थ अर्थ के बिना भी जो कुछ मुझ आत्मा में प्रतीत होता है—जैसे आकाश में (कभी-कभी) दो चन्द्र मालूम पड़ते हैं; अथवा विद्यमान भी अर्थ मुझ आत्मा में नहीं मालूम पड़ता—जैसे आकाश में राहु नहीं दिखलाई पड़ता—उसे मेरी माया समझो ॥३३॥

**विशेषः**—आकाश में कभी-कभी दो चन्द्रमा मालूम पड़ते हैं। किन्तु सत्य यह है कि वहाँ दो चन्द्र होते ही नहीं। आकाश-मण्डल में बिखरे नक्षत्र-समूहों में अत्यन्त सूक्ष्मरूप से उपस्थित होने पर भी राहु की प्रतीति नहीं होती। यह

१. चतुःश्लोकी भागवत में ४ तत्त्वों का वर्णन है—पहले में परमात्मतत्त्व = ब्रह्मतत्त्व का वर्णन है। दूसरे में मायातत्त्व का वर्णन है। तीसरे में जगत्तत्त्व का वर्णन है और चौथे में आत्मतत्त्व का निरूपण है। इन चार श्लोकों में क्रमशः चार तत्त्वों का वर्णन है।



सब माया का कार्य है। इसी प्रकार आत्मा में अविद्यमान, दुर्बलता और दुःख आदि का जो ज्ञान होता है अथवा उसमें स्वरूपतः विद्यमान आनन्द आदि की जो प्रतीति नहीं होती—वह सब भगवान् की माया का कार्य समझना चाहिये। माया जो वस्तु नहीं है, उसे पैदा कर देती है और जो है उसे ढक देती है। यह माया का स्वरूप बतलाया गया ॥३३॥

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु । प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वाहम् ॥३४

अन्वयः—यथा, महान्ति, भूतानि, उच्चावचेषु, भूतेषु, अनुप्रविष्टानि, तथा, तेषु, अप्रविष्टानि, (अपि, भवन्ति), तेषु, (भूतभौतिकेषु, पदार्थेषु), अहम्, प्रविष्टः, तथा, तेषु, न, प्रविष्टः, (अस्मि) ॥३४॥

अर्थः—जैसे पञ्च महाभूत कारणरूप से छोटे-बड़े सभी प्राणियों के कार्यरूप शरीरों में प्रविष्ट रहते हैं, समाहित रहते हैं और कारण होने के कारण वे महाभूत उनसे बाहर भी रहते हैं, वैसे ही उन भूत-भौतिक पदार्थों में मेरा प्रवेश है और नहीं भी है—ऐसी मेरी सत्ता है। यह जगत्तत्त्व का वर्णन हुआ ॥३४॥

विशेष—जगत् में कारण-कार्य-भाव देखा जाता है। कारण कार्य को व्याप्त करके रहता है और कारण होने के कारण कार्य से बाहर भी रहता है; जैसे मिट्टी मिट्टी के बर्तनों में व्याप्त रहती है और उस से बाहर भी रहती है। ऐसे ही परमात्मा सारे भूतों और भूतों से बने पदार्थों में प्रविष्ट रहता है और नहीं भी प्रविष्ट रहता ॥३४॥

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः । अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥

२/९/३५

अन्वयः—अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्, यत्, सर्वत्र, सर्वदा, स्यात् (तदेव, आत्मा, च, सः, अहम्, एव, अतः, न, अस्य, बन्ध-मोक्ष कल्पना), आत्मनः, तत्त्वजिज्ञासुना, एतावत्, एव, जिज्ञास्यम् ॥३५॥

अर्थः—अन्वय और व्यतिरेक<sup>१</sup> से जो सर्वत्र और सर्वदा रहे, वही आत्मा है और वह आत्मा (परमात्मा) मैं ही हूँ अतः इसके बन्धन तथा मोक्ष की कल्पना नहीं करनी चाहिये। आत्मा के सम्बन्ध में जानने की इच्छावाले व्यक्ति को बस इतना ही जानना चाहिये। यह आत्म-तत्त्व का विवेचन हुआ ॥२/९/३५॥

ब्रह्माजी, हमारे इस उपदेश का पूरी निष्ठा के साथ तुम मनन करो, इसे हृदयङ्गम करो। इससे तुम्हें सृष्टि करते हुए किसी कल्प में कभी भी मोह नहीं होगा।

“कृष्णावतारं ब्रह्मा को मोह हुआ था वह सृष्टि-विषयक नहीं था। वह लीलार्थ कृष्ण की कृपा शक्ति से हुआ था”।

आगे शुकदेव जी कहते हैं—राजन्, ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश देकर भगवान् अन्तर्हित हो गये। भगवान् के अन्तर्हित हो जाने पर ब्रह्मा जी ने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और पूर्व कल्प की भौति विविध प्रकार की सृष्टि की। एक बार सकल जगत् के कल्याण की कामना से ब्रह्मा जी यम-नियम का अनुष्ठान कर रहे थे। उस समय उनके सर्वाधिक प्रिय पुत्र नारद जी ने मायापति भगवान् की माया का तत्त्व जानने की इच्छा से बड़ी तत्परता के साथ उनकी सेवा की। ब्रह्मा जी नारद पर प्रसन्न हो गये। नारद जी ने देखा कि लोकपितामह सम्प्रति मेरे ऊपर प्रसन्न हैं। तब उन्होंने सृष्टिकर्ता से वही प्रश्न किया जो तुम मुझसे कर रहे हो। पुत्र नारद के प्रश्न को सुनकर पिता ब्रह्मा को बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर उन्होंने यह दश लक्षणवाला भागवतपुराण उन्हें सुनाया, जिसका उपदेश उन्हें स्वयं भगवान् ने किया था। इससे नारद के सारे सन्देह निवृत्त हो गये।

१.क. अन्वय का अर्थ है—कार्य में कारण की स्थिति, कार्य में कारण की वर्तमानता और व्यतिरेक का अर्थ है—कारण की अवस्था में कार्य से पृथक् भाव अर्थात् सम्बन्ध का अभाव। इसको इस प्रकार समझना चाहिये—जैसे घड़ा, कसोरा, पुरवा और दिया आदि सब कार्यों में मिट्टी कारणरूप से विद्यमान है। यह हुआ अन्वय सम्बन्ध और अपने विशुद्ध मिट्टी रूप में, कारणरूप में, मिट्टी घट आदि से अलग भी है। यह हुआ व्यतिरेक, कार्य से कारण की पृथक् स्थिति।

ख. यह ब्रह्म नहीं, यह ब्रह्म नहीं—यह है निषेध-पद्धति, व्यतिरेक और यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है—यह है अन्वय-पद्धति, अन्वय। इन दोनों पद्धतियों से यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत और सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं तथा वही वास्तविक तत्त्व हैं।



राजन्, एक समय मेरे पिता व्यास जी सरस्वती नदी के पावन तट पर बैठे थे। उनका मन कुछ खिन्न था। उस समय देवर्षि नारद जी ने वही भागवत उन्हें सुनाया था। परीक्षित, सम्प्रति मैं भी उसी भागवत के द्वारा तुम्हारे सारे प्रश्नों का उत्तर दे रहा हूँ। एकाग्र मन से तुम इसका श्रवण करो ॥९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वितीय स्कन्ध का यह नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

## दसवाँ अध्याय

( महापुराण के दश लक्षण, विराट् सृष्टि और मैत्रेय-विदुर-संवाद की भूमिका )

शुकदेव जी ने कहा—राजन् इस श्रीमद्भागवत में दश लक्षण हैं—(१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थान, (४) पोषण, (५) ऊर्ति, (६) मन्वन्तर, (७) ईशानुकथा, (८) निरोध, (९) मुक्ति और (१०) आश्रय—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः । मन्वन्तरेऽशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥२/१०/१

आश्रयतत्त्व को भली-भाँति समझने के लिये ही ऋषियों ने प्रथम नौ लक्षणों का वर्णन किया है। अद्वैत वेदान्त में जिस तत्त्व को अधिष्ठान कहते हैं उसी को श्रीमद्भागवत में आश्रय तत्त्व कहा गया है। आश्रय और अधिष्ठान एक ही तत्त्व का नाम है। यह जो इन्द्रियों का, मन का, तत्त्वों का, पञ्च तन्मात्राओं का जन्म होता है उसे कहते हैं—सर्ग। जो प्राणियों की सृष्टि होती है इसको कहते हैं विसर्ग। भगवान् सृष्टि को किस प्रकार रक्खे हुए हैं और भूगोल-खगोल किस प्रकार स्थित हैं—इसका नाम है स्थिति। जब प्राणी अपने पाप-ताप से, सांसारिक दुःख-कष्ट से पीड़ित होते हैं तब भगवान् उन पर कृपा करने के लिये अवतार धारण कर स्वयं चले आते हैं। इसको कहते हैं—पोषण—  
“पोषणं तदनुग्रहः” । मन्वन्तरों में सद्धर्म की स्थापना होती है। जीवों में जो कर्म की वासना है, उसको कहते हैं—ऊर्ति। भगवान् और भगवान् के अनुयायियों का चरित्र ईशानुकथा है। भगवान् का अपनी शक्तियों के साथ शयन निरोध कहा गया है। देह गेह परिवार आदि में अहंभाव छोड़कर अपने शुद्ध चिन्मात्र रूप में स्थित हो जाना ही मुक्ति है। इस चराचर जगत् की उत्पत्ति और प्रलय जिस तत्त्व से प्रकाशित होते हैं, उसका नाम है—आश्रय। शास्त्रकारों ने आश्रय तत्त्व को ही परमात्मा कहा है। वही आध्यात्मिक पुरुष है। इन दोनों को अलग-अलग करने वाला भी वही है। हिरण्यगर्भ भी उसी को कहते हैं। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों में चैतन्य तत्त्व एक ही है।  
‘ परीक्षित, आप नें पहले जो प्रश्न किया था कि विराट् पुरुष से जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई ? उसका उत्तर सुनो— विराट् पुरुष जब २४ तत्त्वों के मेल से बने अण्ड का भेदन कर बाहर निकला, तब उसने अपने रहने के लिये निर्मल जल की सृष्टि की—

पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः । आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्त्राक्षीच्छुचिः शुचीः ॥

२/१०/१०

‘नार’ कहते हैं जल को। जल में निवास करने के कारण ही विराट् पुरुष का नाम नारायण पड़ा। नारायण हजार वर्ष तक उस जल में शयन करते रहे। नारायण की कृपा से ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव आदि की सत्ता है। उनके उपेक्षा कर देने पर किसी की भी सत्ता नहीं रहती।

सहस्र वर्ष बीतने पर योगनिद्रा का परित्याग कर नारायण ने एक से अनेक होने की इच्छा की फिर उन्होंने उस अण्ड के तीन विभाग किये—अधिभूत, अध्यात्म तथा अधिदैव। सृष्टि के लिये चेष्टा कर रहे भगवान् के शरीर में रहनेवाले आकाश से इन्द्रियबल, मनोबल और शरीर बल की उत्पत्ति हुई फिर उनसे सब इन्द्रियों का राजा प्राण पैदा हुआ। प्राण के प्रबल रहने पर ही शरीर और शरीर की इन्द्रियाँ कार्य करने में समर्थ रहती हैं। उसके निर्बल होने पर सारी इन्द्रियाँ सुस्त पड़ जाती हैं। जब प्राण जोर से आने-जाने लगा तब विराट् पुरुष को भूख-प्यास की अनुभूति हुई। खाने-पाने की इच्छा करने लगे। उसने अपने शरीर के मुख-मध्य-द्वारा मुख से तालु और तालु



से रसनेन्द्रिय प्रकट हुई। इसके बाद विविध प्रकार के रस उत्पन्न हुए, जिन्हें रसना ग्रहण करती है। जब उनकी बोलने की इच्छा हुई, तब वाक् इन्द्रिय, उसके अधिष्ठाता देवता अग्नि और उनका विषय बोलना—ये तीनों प्रकट हुए। जब उन्हें सूँघने की इच्छा हुई, तब उनकी नाक घ्राणेन्द्रिय आकर बैठ गई और उसके देवता गन्ध को फैलाने वाले वायुदेव प्रकट हुए। देखने की इच्छा होने पर नेत्रों के छिद्र, उनका अधिष्ठाता सूर्य और नेत्रेन्द्रिय प्रकट हो गये। इनका विषय है—रूप। जब वेदरूप ऋषि विराट् पुरुष को स्तुतियों के द्वारा जगाने लगे, तब उन्हें सुनने की इच्छा हुई। उसी समय कान, उनकी अधिष्ठाता देवता दिशाएँ और श्रोत्रेन्द्रिय प्रकट हुई। इनका विषय है—शब्द। जब उन्हें स्पर्श करने की इच्छा हुई तब उनके शरीर में चर्म प्रकट हुआ। उसमें त्वक् इन्द्रिय, वायु देवता और स्पर्श विषय हुआ। जब उन्हें कर्म करने की इच्छा हुई, तब दो हाथ निकल आये। उनमें ग्रहण करने की शक्ति हस्तेन्द्रिय तथा उनके अधिदेवता इन्द्र प्रकट हुए। आदान-प्रदान उनका विषय बना। जब उन्हें अभीष्ट स्थान पर जाने की इच्छा हुई, तब उनके शरीर में दो पैर निकल आये। उनमें गति इन्द्रिय, विष्णु देवता और गमनागमन विषय हुआ। मनुष्य इसी चरणेन्द्रिय से चलकर यज्ञ-सामग्री एकत्रित करते हैं—

गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम् । पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः ॥

२/१०/२५

जब सन्तान, रति और स्वर्ग-भोग की कामना हुई तब विराट् पुरुष के शरीर में लिङ्ग की उत्पत्ति हुई। उसमें उपस्थ इन्द्रिय, प्रजापति देवता और रति का आनन्द विषय हुआ। जब उन्हें मल-त्याग की इच्छा हुई, तब मलद्वार निकाला। उसमें पायु इन्द्रिय, मित्र देवता और मल-त्याग विषय हुआ। जब अपानमार्गद्वारा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने की इच्छा हुई तब नाभिद्वार प्रकट हुआ। उसमें अपान इन्द्रिय, मृत्यु देवता और मरण विषय हुआ। जब अन्न-जल ग्रहण करने की इच्छा हुई तब कोख, आँत और नाड़ियाँ उत्पन्न हुई। उनके देवता समुद्र और तुष्टि-पुष्टि विषय हुआ। ध्यान करने की इच्छा होने पर हृदय की उत्पत्ति हुई। उसमें मन इन्द्रिय, चन्द्र देवता और सङ्कल्प विषय हुआ। यह भगवान् का स्थूल रूप है, जो बाहर की ओर से पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्त्व और प्रकृति—इन आठ आवरणों से घिरा हुआ है।

इससे परे भगवान् का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है। वह अव्यक्त, निर्विशेष, आदि, मध्य और अन्त से रहित एवं नित्य है। वाणी और मन की वहाँ तक पहुँच नहीं है। भगवान् के ये दोनों स्थूल और सूक्ष्मरूप उनकी माया के द्वारा रचित हैं, मायिक हैं। अतः विद्वान् पुरुष इन दोनों को ही स्वीकार नहीं करते। राजन् इस प्रकार मैंने विराट् से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही किया है।

अब आगे शौनक जी ने सूत से पूछा—सूत जी, आपने हम लोगों से कहा था कि भगवान् के परम भक्त विदुर जी महाभारत प्रारम्भ होने के पूर्व अपने बन्धु-बान्धवों को छोड़कर पृथिवी के विभिन्न तीर्थों में विचरण करने के लिये चले गये थे। वहाँ उन्होंने मैत्रेय जी से अध्यात्म-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था। इन दोनों महानुभावों का संवाद कहाँ पर हुआ था ? सूत जी, आप का स्वभाव बड़ा सौम्य है। आप विदुर जी का वह चरित हमें सुनाइये। उन्होंने अपने कुटुम्बी-जनों को क्यों छोड़ा और फिर उनके पास क्यों लौट आये ?

सूत जी ने कहा—ऋषियों, ऐसा ही प्रश्न राजा परीक्षित ने महाराज शुकदेव जी से किया था, उन्होंने इसका जो उत्तर दिया था, वही मैं आप लोगों को सुना रहा हूँ। सावधान होकर सुनिये—

राज्ञा परीक्षिता पृष्ठो यदवोचन्महामुनिः । तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः ॥२/१०/५१

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वितीय स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

॥ द्वितीय स्कन्ध समाप्त ॥२॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥



## तृतीय स्कन्ध

### पहला अध्याय

[ तृतीय स्कन्ध में ३३ अध्याय हैं । इसमें पुराण के प्रथम लक्षण सर्ग का वर्णन किया गया है<sup>१</sup> । ]

( विदुर के द्वारा कौरवों का त्याग और विदुर-उद्धव-संवाद )

शौनक-सूत के संवाद के अनुसार श्री शुकदेव जी महाराज कहते हैं कि राजा परीक्षित ! आपने जैसा प्रश्न किया है, ऐसा ही प्रश्न मैत्रेय जी से विदुर जी ने किया था । श्री विदुर जी अपना सम्पत्ति से भरा घर छोड़ कर वन में चले गये थे, वहीं उनकी भेंट मैत्रेय जी से हुई थी । जब सर्वेश्वर भगवान् पाण्डवों के दूत बन कर, सन्धि के सम्बन्ध में गये थे, तब वे दुर्योधन के महलों को छोड़कर, उन्हीं विदुर जी के घर में, उसे अपना ही समझ कर, बिना बुलाये चले गये थे—

एवमेतत्पुरा पृष्ठो मैत्रेयो भगवान् किल । क्षत्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ॥

यद्वा अयं मन्त्रकृद्धो भगवानखिलेश्वरः । पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ॥३/१/१-२

राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से पूछा—‘प्रभो, यह तो बतलाइये कि मैत्रेय जी के साथ विदुर जी का समागम कहाँ और किस समय हुआ था ? विदुर जी ने मैत्रेय जी से कोई साधारण प्रश्न नहीं किया होगा । मैत्रेय जी के उत्तर से ही प्रतीत होता है कि विदुर का प्रश्न असाधारण रहा होगा ।’

राजा के प्रश्न करने पर शुकदेव जी ने कहना प्रारम्भ किया—‘राजन्, यह उन दिनों की बात है, जब अन्धे राजा धृतराष्ट्र ने अन्यायपूर्वक अपने दुष्ट पुत्रों का पालन-पोषण करते हुए अपने लघु बन्धु पाण्डु के अनाथ पुत्रों को लक्षा-भवन में भेजकर आग लगवा कर जीवित जलवाने का प्रयास किया था—

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून् पुष्पान्नधर्मेण विनष्टदृष्टिः ।

भातुर्यविष्टस्य सुतान् विबन्धून् प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह ॥३/१/६

जब कौरवों की बरी सभा में दुःशासन ने द्रौपदी के केश पकड़ कर उसे निर्वस्त्र करने का प्रयास किया, किन्तु धृतराष्ट्र ने शक्ति-सम्पन्न होने पर भी अपने अत्याचारी पुत्रों और उनके साथियों का निवारण नहीं किया । उस समय द्रौपदी की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली और उस प्रवाह से उसके वक्षःस्थल पर लगा हुआ केशर भी बह चला था—

यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः केशाभिमर्शं सुतकर्म गर्हम् ।

न वारयामास नृपः स्नुषायाः स्वास्त्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि ॥३/१/७

जब छल करके सत्यपरायण युधिष्ठिर को जुए में जीत कर उनका राज्य ले लिया और उन्हें वन में निर्वासित कर दिया फिर शर्त के अनुसार अवधि बिता कर जंगल से लौटने के अनन्तर मांगने पर भी उनका पैतृक भाग नहीं दिया । महाभारत न हो, यह चाहते हुए युधिष्ठिर ने जब भगवान् श्रीकृष्ण को, शान्ति-प्रस्ताव के साथ दूत बनाकर कौरवों की सभा में भेजा उस समय कृष्ण के वचन भीष्म आदि को अमृत की तरह हितकारी लगे किन्तु कुरुराज ने उनके वचनों की उपेक्षा की क्योंकि उनके तो सारे पुण्य समाप्त हो चुके थे—“क्षतपुण्यलेशः” ॥३/१/९ ॥ भगवान् कृष्ण के वापस चले जाने के बाद जब धृतराष्ट्र को रात्रि में नींद नहीं आई, तब उन्होंने विदुर को बुलाया । उस समय बड़े भाई धृतराष्ट्र के पूछने पर विदुर ने जो नीतिभरा उपदेश दिया, वह ‘विदुरनीति’ के नाम से प्रसिद्ध है । विदुर

१. प्रथम और द्वितीय स्कन्ध भागवतमहापुराण के उपोद्घात स्कन्ध हैं । अतः पुराण का लक्षण तृतीय स्कन्ध से प्रारम्भ हुआ ॥



ने कहा,—‘महाराज, आप अजातशत्रु युधिष्ठिर को उनका हिस्सा दे दीजिये जिसे आप पुत्र मान कर पाल रहे हैं, जिसकी प्रत्येक बात का समर्थन कर रहे हैं, उस दुर्योधन के रूप में तो साक्षात्, मूर्तिमान् पाप ही आप के घर में प्रविष्ट है। यह साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से द्वेष करने वाला है। इसी के कारण आप भगवान् श्रीकृष्ण से विमुख होकर श्रीहीन हो रहे हैं। अतः यदि आप अपने कुल का कुशल चाहते हैं तो इस दुष्ट का तुरन्त ही त्याग कर दीजिये—

स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते, गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या ।

पुष्पासि कृष्णाद्विमुखो गतश्रीस्त्यजाश्चशैवं कुलकौशलाय ॥ ३/१/१३

यद्यपि विदुर के वचन निर्भीक एवं सत्य थे। किन्तु उन्हें सुनते ही दुर्योधन क्रोध से काँपने लगा, उसके ओष्ठ क्रोध से फड़कने लगे। उसने कहा—‘अरे ! इस कुटिल दासीपुत्र को किसने बुलाया है ? यह जिनके टुकड़े खा-खाकर जीता है, उन्हीं के प्रतिकूल होकर शत्रु का कार्य सिद्ध करना चाहता है। इसके प्राण तो मत लो, किन्तु इसे हमारे नगर से शीघ्र बाहर निकाल दो ।’

भाई के सामने ही, कानों में बाण के समान लगने वाले, इन अत्यन्त कठोर वचनों से मर्माहत होकर भी विदुर जी ने कुछ बुरा न माना और भगवान् की माया को प्रबल समझ कर अपना धनुष राजद्वार पर रख वे हस्तिनापुर से तीर्थ-यात्रा के लिये चल दिये—

स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणैर्भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि ।

स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां, गतव्यथोऽयादुरु मानयानः ॥ ३/१/१६

अवधूत वेष धारण कर विदुर तीर्थों में भ्रमण करते हुए भगवान् की प्रसन्नता के लिये निरन्तर व्रत किया करते थे—“व्रतानि चरे हरितोषणानि”। क्रमशः तीर्थों में भ्रमण करते हुए विदुर जी प्रभास क्षेत्र में पहुँचे। उस समय महाभारत युद्ध समाप्त हो चुका था। भगवान् कृष्ण की सहायता से उस समय धर्मराज युधिष्ठिर अखण्ड-भूमण्डल पर एकक्षत्र शासन कर रहे थे। प्रभास-क्षेत्र में ही विदुर ने कौरवों के विनाश की बात सुनी। बन्धु-विनाश से उन्हें महान् कष्ट हुआ। वहाँ से वे चुपचाप सरस्वती नदी के तट पर आ गये। बहुत-से तीर्थों का दर्शन करते हुए वे वहाँ से यमुना के पवन तट पर पहुँचे। वहाँ उनकी भेंट श्रीकृष्ण के परमप्रिय भक्त उद्धव जी से हुई। उद्धव जी ने वृहस्पति से विद्या प्राप्त की थी। दोनों छाती से छाती लगाकर मिले और फिर एक-दूसरे से कुशल-मङ्गल पूछने लगे।

विदुर जी ने पूछा—उद्धव जी, बलराम और कृष्ण पृथिवी का मङ्गल करके आनन्द से तो हैं ? वसुदेव और देवकी का क्या समाचार है ? वसुदेव जी अपने बहनों का बड़ा ध्यान रखते थे। वे उन्हें बहुत-सा धन दिया करते थे। इसके बाद विदुर जी ने प्रद्युम्न, उग्रसेन, साम्ब, सात्यकि, अक्रूर, सबके विषय में एक-एक करके पूछा। फिर अनिरुद्ध, हृदीक, चारुदेष्ण, गद आदि का कुशल-क्षेम पूछने के बाद कहा—‘राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण और अर्जुन के साथ धर्म-मर्यादा का ठीक-ठीक पालन तो करते हैं ? दुर्योधन युधिष्ठिर की राज्य-लक्ष्मी को सहन न कर सका था। जिनके चरण-पात को रण-भूमि सह न सकी, उन महाबली, परमक्रोधी भीम का क्या समाचार है ?—

१क. विदुर इसलिये राजद्वार पर धनुष रख कर चले गये कि—यदि धनुष मेरे साथ रहेगा तो दुर्योधन यह आशङ्का कर सकता है कि कहीं विदुर पाण्डवों के पक्ष में तो नहीं चले जा रहे हैं।

ख. दूसरी बात यह है कि तीव्र वैराग्य की अवस्था में पूर्ण त्याग अपेक्षित ही है।

ग. भगवान् की यह प्रेरणा थी जिससे दुर्योधन ने विदुर का असह्य अपमान किया और वे नगर से निकल गये। यदि धर्मस्वरूप विदुर दुर्योधन के पक्ष में रहते तो उसकी हार न होती, विनाश न होता—“यतो धर्मस्ततो जयः।” ऐसी ही बात विभीषण के पक्ष में भी समझनी चाहिये।



‘यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे’ ॥३/१/३७॥ अर्जुन का क्या हाल-चाल है ? विदुर जी ने एक-एक कर पाण्डवों का समाचार पूछा ।

फिर विदुर जी ने शोक के साथ कहा—‘उद्धव जी, मुझे धर्म-मार्ग एवं लोकमर्यादा से विचलित हुए बड़े भाई धृतराष्ट्र पर बड़ी तरस आती है । उन्होंने अपने भतीजों युधिष्ठिर आदि के साथ द्रोह करके मानों अपने स्वर्गस्थ लघु बन्धु के साथ ही द्रोह किया है । वे अपने पुत्र दुर्योधन के मोह में इस प्रकार फँसे थे कि मुझे भी अपमानित करवाकर राज्य से निकलवा दिया—

सौम्यानुशोचे तमघःपतन्तं, भ्रात्रे परेताय विदुद्बहे यः ।

निर्यापितो येन सुहृत्स्वपुर्या, अहं स्वपुत्रान् समनुव्रतेन ॥ ३/१/४१

किन्तु उद्धव जी, इस पर मुझे न शोक है और न विषाद ही । इसे मैं भगवान् की लीला ही समझता हूँ । अतः सब से अलक्षित रह कर उनकी ही लीला का गान करता हुआ सानन्द तीर्थों में विचरण करता हूँ । भगवान् का जन्म-कर्म दुष्टों के विनाश के लिये और लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये ही हुआ करते हैं—

अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् ॥ ३/१/४४

अतः आप कृपा कर उन्हीं भगवान् की कथाएँ मुझे सुनाएँ जिससे मेरे मन को शान्ति की प्राप्ति हो—

वार्ता सखे कीर्तय तीर्थकीर्तैः ॥ ३/१/४५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

## दूसरा अध्याय

( उद्धव जी के द्वारा भगवान् की लीलाओं का वर्णन )

श्रीशुकदेव महाराज कहते हैं कि परीक्षित विदुर के इस प्रकार पूछने पर उद्धव को भगवान् का स्मरण हो आया । उनका हृदय उत्कण्ठा से भर गया । अतः एक क्षण तक तो वे कुछ बोल न सके । कारण, उद्धव जब पाँच वर्ष के बालक थे, तब बालकों की तरह खेल में ही श्रीकृष्ण की मूर्ति बना कर उसकी सेवा-पूजा में इस तरह निमग्न हो जाते थे कि माता के बार-बार बुलाने पर भी प्रातःकालीन जलपान के लिये नहीं जाते थे । भगवान् के लिये उनके हृदय में अनुपम अनुराग था—

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः । तन्नैच्छद्भयन् यस्य सपर्या बाललीलया ॥ ३/२/२

अब तो बहुत दिनों से उन्हीं की सेवा में रहते-रहते वृद्ध हो चले थे । अतः विदुर के पूछने से उन्हें अपने प्रियतम प्रभु के चरण-कमलों का स्मरण हो आया—उनका चित्त विरह से व्याकुल हो गया । ऐसी स्थिति में वे कैसे उत्तर दे सकते थे—

पृष्टो वार्ता प्रतिब्रूयाद् भर्तुः पादावनुस्मरन् ॥ ३/२/३

भगवान् का नाम सुनते ही उद्धव का चित्त आनन्द-सागर में निमग्न हो गया । उनका शरीर-रोमाञ्चित हो उठा । आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी । आँखें मुदी थीं । चित्त और कहीं अटक गया था । अतः एक क्षण उद्धव कुछ कह न सके । फिर धीरे-धीरे उद्धव का चित्त भगवान् के धाम से लौटकर इस संसार में आया । उन्होंने बहती हुई आँसुओं को पोंछा और विदुर से इस प्रकार कहने लगे—विदुर जी, श्रीकृष्णरूपी सूर्य के अस्त हो जाने से हमारे सारे वंश को कालरूपी अजगर ने निगल लिया । घरों में अब कोई शोभा-सौन्दर्य नहीं रहा अतः हम उनका कुशल-मङ्गल



क्या सुनायें ? यह सारा संसार अभागा है और यदुवंशी नितान्त अभागे हैं; क्योंकि वे भगवान् श्रीकृष्ण के साथ निवास करके भी उन्हें ठीक से पहचान नहीं सके ।

उद्धव जी ने कहा—समुद्र-मन्थन के पूर्व चन्द्रमा जल में डूबा रहता था । मछलियाँ भी वहीं रहती थीं । वे चन्द्रमा को भी मछली समझती थीं । वे सोचती थीं कि यह भी हमारी तरह हमारी ही जाति का है । अन्तर यह है कि यह कुछ ज्यादा चमकीला है किन्तु जब चन्द्रमा आकाश में जाकर अपनी किरणों से अमृत की वर्षा करने लगा और समुद्र चन्द्रमा को देखकर उछलने लगा, तब मछलियों ने कहा हमसे बड़ी भूल हो गई । हमने चन्द्रमा को ठीक-ठीक पहचाना नहीं, इसी प्रकार यदुवंशी लोग श्रीकृष्ण को मनुष्य समझते रहे । उनकी ऐसी माया कि उन्हें कोई पहचान न सका । भगवान् का शारीरिक सौन्दर्य इतना अद्भुत था कि वे उसे देखकर ही आश्चर्य से चकित रह जाते थे—  
“स्वबिम्बं लोकलोचनम्” ॥११॥ भगवान् ने अपनी योगमाया का बल दिखाने और मानव-लीला प्रदर्शित करने के लिये ही श्रीविग्रह धारण किया था । उस श्रीविग्रह का सौन्दर्य ऐसा था कि उसे देखकर सारा जगत् तो मोहित हो ही जाता था, कभी-कभी भगवान् भी उसे देखकर स्वयं आश्चर्यचकित हो जाते थे । सौभाग्य और सौन्दर्य की पराकाष्ठा थी उस रूप में । उनका प्रत्येक अङ्ग आभूषणों को भी भूषित करनेवाला था—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धैः, परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥३/२/१२

अहा ! भगवान् का वह अपूर्व सौन्दर्य देखने को अब कहाँ मिलेगा ? युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ था । विशाल जन-समूह उमड़ पड़ा था धर्मराज के यज्ञ-पण्डाल में । उस समय भगवान् श्रीकृष्ण जब वहाँ पधारे तो लोगों की दृष्टि उन पर पड़ी । वे एक टक भगवान् की रूपमाधुरी को देखते ही रह गये । उस समय उन्हें यही प्रतीत हुआ था कि—  
इस मूर्ति के निर्माण में ब्रह्मा की सारी रचना-चातुरी समाप्त हो गई है—

यद्धर्मसूनुर्बत राजसूये निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।

कात्स्न्येन चाद्येह गतं विधातुर्वाक्सुतौ कौशलमित्यमन्यत ॥३/२/१३

गोपियाँ जब कभी कार्यवश बाहर निकलतीं तो उनकी दृष्टि भगवान् को ही खोजती थी और भाग्यवश जब वे उन्हें देखपातीं, तब वे अपना कार्य छोड़कर निर्निमेष नयनों से भगवान् का अद्भुत सौन्दर्य ही निहारती रह जाती थीं—

व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्तधियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥३/३/१४

विदुर जी, आप से क्या कहूँ ? अजन्मा होकर भी वसुदेव जी के यहाँ जन्म लेने की लीला करना, सबके अभयदाता होकर भी कंस के भय से व्रज में जाकर छिपा रहना और अनन्त पराक्रम से सम्पन्न होने पर भी कालयवन के सामने मथुरापुरी को छोड़कर भाग जाना—भगवान् की ये लीलाएँ याद आ-आकर मुझे बेचैन कर डालती हैं ।

कंस के वध के अनन्तर वसुदेव-देवकी के पास जाकर कृष्ण ने उनके चरण की वन्दना की और कहा—“पिता जी, माता जी, कंस के महान् भय के कारण मैं आप लोगों की कोई सेवा न कर सका । आप मेरे इस अपराध पर ध्यान न देकर मुझ पर प्रसन्न हों । भगवान् की ये बातें जब-जब मुझे याद आती हैं, तब-तब मेरा हृदय व्यथित हो उठता है । कंस के मारे जाने पर श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को सादर राजसिंहासन पर बैठाया और स्वयं हाथ जोड़कर उनके बगल में खड़े होकर सेवक की भाँति उनसे आज्ञा मांगी । विदुर जी अधिक क्या कहूँ—युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ प्रारम्भ होने जा रहा था । किसकी सब से पहले पूजा की जाय यह प्रसङ्ग चल रहा था । सहदेव की सलाह और भीष्म पितामह के समर्थन से जब श्रीकृष्ण की अग्रपूजा का निर्णय लिया गया तो शिशुपाल तलवार लेकर खड़ा हो गया और कृष्ण के लिये दुर्वचनों की झड़ी लगा दी । सीमा पार कर जाने पर कृष्ण ने सुदर्शन चक्र से उसकी गर्दन उड़ा दी । सबके देखते-देखते शिशुपाल के शरीर से निकला तेज भगवान् के श्रीविग्रह में प्रविष्ट हो गया । बड़े-बड़े साधक योगी भी इस प्रकार की सिद्धि की कामना करते रहते हैं । ऐसे भगवान् का विरह भला कौन सह सकता है—



दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः ।

यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग् योगेन कस्तद्विरहं सहेत ॥३/२/१९

महाभारत का युद्ध चल रहा था । चतुर्दिक् बाणों की बौछार हो रही थी । अनन्त सौन्दर्य से सम्पन्न भगवान् अर्जुन के रथ पर सारथी बनकर बैठे थे । प्रतिपक्षी वीरों की दृष्टि कृष्ण के सौन्दर्य-रस का पान कर रही थी । इसी समय अवसर देखकर अर्जुन अपने बाणों से उनके प्राणों का हरण कर रहे थे । मरते समय भगवान् के दर्शन से पवित्र होकर वे सभी भगवान् के परम धाम में चले गये । कोई भगवान् श्रीकृष्ण के समान नहीं है, तो उनसे बड़ा कैसे होगा ? भगवान् की दयालुता तो अनुपम थी, बेजोड़ थी । उसका वर्णन भला कैसे किया जाय ? विदुर जी, पूतना की कथा तो आपने सुनी ही होगी । वह बकासुर-अघासुर की बहन थी । इसीलिये उसे बकी भी कहते थे । वह महान् पापिनी थी । उसने अपने स्तनों में हलाहल विष पोत कर, श्रीकृष्ण को मार डालने की नीयत से, उन्हें दूध पिलाया था, उनके मुख में अपने स्तन को डाला था; फिर भी भगवान् ने उसे माता की सद्गति प्रदान की<sup>१</sup> । उनसे बढ़कर ऐसा दयालु और कौन देवता है जिसकी शरण ग्रहण करें हम—

अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।

लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं ब्रजेम ॥३/२/२३

उद्धव जी, जरा सोचो तो यदि उस राक्षसी को प्रभु ने माता की गति प्रदान की तो फिर ब्रज की गायों को कौन गति मिलेगी ? ब्रज की स्त्रियों को कौन-सी गति मिलेगी ? जिन्होंने श्रीकृष्ण को प्रेम से दूध पिलाया । यशोदा मैया का तो कहना ही क्या है ! उनकी तो हम छाया का भी स्पर्श नहीं कर सकते<sup>१</sup> । विदुर जी, मैं असुरों को भी भगवान् का भक्त समझता हूँ, क्योंकि उन्होंने वैर-भाव के कारण सर्वदा कृष्ण का चिन्तन किया है और मरते समय उन्हें भगवान् का दर्शन भी हुआ था । गरुड पर सवार और हाथ में शङ्ख-चक्र-गदा लिये भगवान् इन असुरों के सामने खड़े हुए और अपने हाथ से इन्हें मारा । क्या भक्ति के बिना यह संभव है कि भगवान् मृत्यु के समय आकर सामने खड़े हों—

मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचिन्तान् ।

ये संयुगेऽक्षत तार्क्ष्यपुत्रमंसेसुनाभायुधमापतन्तम् ॥३/२/२४

भगवान् ने मथुरा में कंस के कारागार में जन्म लिया । उस समय कंस के भय से पिता वसुदेव जी ने उन्हें नन्दबाबा के ब्रज में पहुँचा दिया था । वहाँ वे बलराम जी के साथ ग्यारह वर्ष तक इस प्रकार छिप कर रहे कि उनका प्रभाव ब्रज के बाहर किसी पर प्रकट नहीं हुआ—

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता । एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ॥३/२/२६

वहाँ उन्होंने वंशी बजाते हुए गौएँ चराई, यमुना के हृद में निवास करनेवाले कालियनाग का दमन किया, बहुत-से मतवाले दैत्यों का संहार किया, क्रुद्ध इन्द्र के भीषण वर्षा करने पर गोवर्धन पर्वत को खेल-खेल में, छत्ते के समान, उठा लिया और शरद ऋतु की सुखदायिनी चाँदनी से चमकती हुई रात्रियों में गोपियाँ के साथ रास-विहार किया—

शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन् रजनीमुखम् । गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः ॥३/२/३४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २॥

१. गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।

मातु की गति दर्ई ताहि कृपालु यादव राइ ॥ तुलसीदास ॥

२. हृदय—विद्वानों का अभिमत है कि यशोदा मैया का माहात्म्य बतलाने के लिये ही भागवत में प्रयोगिनी पूतना की लीला का वर्णन किया गया है, जिससे लोग यशोदा मैया का गौरव समझ सकें ।



## तीसरा अध्याय

( मथुरा और द्वारिका की लीलाओं का वर्णन तथा यदुकुल को ऋषियों का शाप )

उद्धव ने कहा—विदुर जी, भगवान् श्रीकृष्ण व्रज की लीलाओं को पूरी कर, बलराम के साथ, मथुरा पधारे । वहाँ उनकी इच्छा थी माता-पिता देवकी-वसुदेव को सुख पहुँचाने की अतः उन्हें कारागार से छुड़ाया । भरी सभा में कंस की चोटी पकड़ कर उसे ऊँचे सिंहासन से धरती पर पटक दिया । कंस का हार्ट फेल हो गया । निष्पाण कंस को बहुत देर तक श्रीकृष्ण भूतल पर घसीटते रहे । माता-पिता ने दोनों भाइयों का यज्ञोपवीत संस्कार किया । फिर वे काशी में जन्में, उज्जयिनी-निवासी, सान्दीपनि गुरु के यहाँ विद्याध्ययन किये । गुरु के द्वारा पढ़ा देने पर सारी वेद-विद्या उन्हें कण्ठस्थ हो जाया करती थी<sup>१</sup> । गुरु-दक्षिणा में उन्होंने उनके मरे हुए पुत्र को पञ्चजन नामक राक्षस के पेट से (यमपुरी से) लाकर दिया—

सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम् । तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ॥३/३/२  
फिर मथुरा छोड़ कर द्वारका पहुँचे । वहाँ वे रुक्मिणी को हर कर लाये और उनके साथ गान्धर्व विवाह किया । स्वयंवर में परम दुर्दान्त बैलों को बलपूर्वक नाथ कर नाग्नजिती से विवाह किया । अपनी परम प्रिया सत्यभामा को प्रसन्न रखने के लिये, इन्द्र को पराजित कर, स्वर्ग से कल्पवृक्ष लाकर, उनके आँगन में लगा दिया । भौमासुर (नरकासुर) को संग्राम में मार कर, उसके द्वारा बन्दिनी बनाई गई सोलह सहस्र राजकन्याओं से, एक ही मुहूर्त में विवाह किया<sup>२</sup>—

आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम् । सविधं जगृहे पाणीनरूपः स्वमायया ॥३/३/८  
प्रत्येक पत्नी से अपने समान दस-दस पुत्रों को उत्पन्न किया । जब कालयवन, जरासन्ध तथा शात्व आदि ने अपनी सेनाओं से मथुरा और द्वारकापुरी को घेरा था, तब भगवान् ने अपने व्यक्तियों को अपनी अलौकिक शक्ति देकर उन्हें स्वयं मरवाया था और कइयों को स्वयं मारा भी था । शम्बर, द्विविद, बाणासुर, मुर, बल्लल एवं दन्तवक्त्र आदि अन्य योद्धाओं में से किसी को उन्होंने स्वयं मारा था और किसी को दूसरों से मरवाया था । कुरुक्षेत्र की भूमि को दहला देनेवाले विशाल सैन्य-समूह के साथ कौरवों का संहार करा कर युधिष्ठिर को राजसिंहासन पर बैठाया ।

युधिष्ठिर के राज्याभिषेक महोत्सव के बाद श्रीकृष्ण द्वारका लौटे । वहाँ उन्होंने सांसारिक व्यक्ति की भाँति पारिवारिकजनों को आनन्दित किया । इस तरह बहुत वर्षों तक विहार करते-करते उन्हें गृहस्थ आश्रम के भोगों से वैराग्य हो गया—

तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून् । गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ॥३/३/२२  
फिर उन्होंने सोचा कि—‘पृथिवी का बहुत-सा भार तो समाप्त हो गया । किन्तु यादवों का दुर्विषह भार तो अभी भूतल पर बना ही हुआ है । अतः उन्होंने ऋषियों से, यदुकुल के संहार के लिये, शाप दिलवाया । कुछ काल के अनन्तर, भगवत्प्रेरणा से, यदुवंशी प्रभास-क्षेत्र में गये । वहाँ उन्होंने स्नान किया, तर्पण किया और किया सविधि देवार्चन भी । ब्राह्मणों को गाय, सुवर्ण, चाँदी, पलङ्ग, वस्त्र, मृगचर्म, कम्बल, रथ, हाथी, घोड़े, कन्या, प्रभूत भूमि

१. गुरु गृह गये पढ़न रघुराई । अल्पकाल विद्या सब आई ॥ रामचरित मानस ॥

२. सोलह सहस्र राजकन्याओं से एक साथ एक ही मुहूर्त में विवाह करना वैसे ही था जैसे कि वनवास से लौटने पर श्रीराम सारे अयोध्यावासियों से एक ही क्षण में मिले थे—“क्षण मह सबहि मिले भगवाना । उमा मरमु यह काहु न जाना” ॥ मानस ॥



एवं अन्न-पान देकर भूतल पर मस्तक रख कर उन्हें प्रणाम किया। उनका यह सब दान भगवान् के लिये अर्पित था—

अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम् । गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः ॥३/३/२८

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

## चौथा अध्याय

( उद्धव के द्वारा यदुकुल के विनाश को सुनकर विदुर का मैत्रेय के पास जाना )

प्रभास क्षेत्र में ब्राह्मणों को भोजन दक्षिणा से सन्तुष्ट कर यादवों ने उन्हें प्रणाम किया। फिर ब्राह्मणों की आज्ञा पाकर वे भोजन किये तथा छक कर मदिरा पिये। मदिरा लोगों की बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाली है। अतः उन लोगों ने एक-दूसरे को दुर्वचन कहना प्रारम्भ किया। जैसे आपस की रगड़ से बाँसों में आग लग जाती है, उसी प्रकार सूर्यास्त होते-होते उनमें भीषण मार-काट होने लगी। भगवान् भी अपनी माया की विचित्र गति देखकर सरस्वती नदी के जल से आचमन किये और फिर पीपल के एक छोटे-से वृक्ष के नीचे बैठ गये।

उद्धव जी कहते हैं कि विदुर जी अपने कुल का संहार कराने की इच्छावाले भगवान् श्रीकृष्ण मुझे पहले ही ज्ञान देकर बदरिकाश्रम जाने की सलाह दे चुके थे। बदरिकाश्रम नर-नारायण की तपस्थली है। मैं उनके आशय को समझ गया। अपने स्वामी के चरणों का वियोग न सह सकने के कारण उनके पीछे-पीछे वहाँ चला गया जहाँ वे अपने बायें पैर पर दाहिना पैर रख वृक्ष के सहारे बैठे थे। उनका श्याम शरीर सकल शोभाओं की खान था। उनकी चारो भुजाएँ और रेशमी पीताम्बर देखकर मैंने उनको दूर से ही पहचान लिया। उसी समय भ्रमण करते हुए व्यास जी के प्रिय मित्र परम भागवत मैत्रेय जी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया और शिर नवाएँ एक तरफ बैठ गये। मैत्रेय के समक्ष ही मुसकानयुक्त चितवन से मुझे आनन्दित करते हुए भगवान् ने कहा—‘उद्धव जी, मैं आप का अभिप्राय जानता हूँ। संसार में तुम्हारा यह अन्तिम जन्म है। सम्प्रति मैं धराधाम को छोड़कर अपने धाम में जाना चाहता हूँ। तुम बड़े भाग्यशाली हो कि इन अन्तिम क्षणों में तुम्हें मेरा दर्शन प्राप्त हो रहा है। पूर्वकाल में ब्रह्मा को अपनी महिमा प्रकाशित करनेवाले जिस श्रेष्ठज्ञान का उपदेश दिया था, इस समय, वही ज्ञान मैं तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ। विवेकी लोग इसे ‘भागवत’ कहते हैं—

ज्ञानं परं मन्महिमावभासं, यत्सूरयो भागवतं वदन्ति ॥३/४/१३

विदुर जी, भगवान् के वचन को सुनकर मुझे रोमाञ्च हो आया। मेरी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। मैंने कहा—‘प्रभो, आप के सेवको को संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। फिर भी वे आप की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते। मेरी भी लालसा आप के चरण-कमलों की शुश्रूषा की ही रहती है। आप अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं; कालरूप होकर भी शत्रु के भय से भागते हैं तथा स्वात्माराम होकर भी सोलह सहस्र स्त्रियों के साथ रमण करते हैं— इन विचित्र चरित्रों को देखकर विद्वानों की भी बुद्धि चकरा जाती है। जब कभी-कभी आप मुझे बुलाकर सलाह लेते हैं तो मैं मुग्ध हो जाता हूँ। अब आप यदि मुझे तत्त्वज्ञान का अधिकारी समझते हों तो अपने रहस्यों का प्रकाशक केवल भागवत ज्ञान ही मुझे प्रदान करने की कृपा करें, जिससे मैं सर्वदा के लिये संसार-सागर के दुःखों से पार पा जाऊँ—

१. कंस के कारागार में चतुर्भुज ही नारायण प्रकट हुए थे और संसार छोड़ने की बेला में भी कृष्ण चतुर्भुज हो गये थे। इसका रहस्य यह है कि यशोदा के यहाँ उत्पन्न द्विभुज कृष्ण वृन्दावन को छोड़ कर कहीं नहीं गये—“वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति”। प्रबोधानन्द सरस्वती।



ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम् ।

अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्तवदाज्ञसा यद् वृजिनं तरेम ॥३/४/१८

विदुर जी, जब इस प्रकार अपने हृदय का भाव निवेदित किया, तब परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण ने मुझे अपने रहस्यमय ज्ञान का उपदेश दिया और परमा सामीप्य-स्थिति रूप मुक्ति भी एडवांस में प्रदान कर दी ।

इत्यावेदितहादायं मह्यं स भगवान् परः । आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ॥३/४/१९

भगवान् के ज्ञानोपदेश को ध्यान से सुना और उसे हृदय में धारण किया । विदा की बेला में भगवान् के चरणों पर मस्तक रखते ही मेरा हृदय विरह-वेदना से व्याकुल हो उठा फिर भगवान् से विलग होकर मैं यहाँ आया हूँ । यहाँ से नर-नारायण की तपस्थली बदरिकाश्रम जाऊँगा ।”

उद्धव की बात सुन कर विदुर जी ने उनसे प्रार्थना की—‘उद्धव जी, योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप के गूढ़ रहस्य को प्रकाशित करनेवाला जो परम ज्ञान आप से कहा था, वह आप मुझे भी सुनाइये; क्योंकि भगवान् के सेवक तो अपने सेवकों का कार्य सिद्ध करने के लिये ही विचरण किया करते हैं—

ज्ञानं परं स्वात्मरहः प्रकाशं यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते ।

वक्तुं भवान्नोर्हति यद्धि विष्णोर्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ॥३/४/२५

विदुर जी की जिज्ञासा सुन कर उद्धव जी ने कहा—‘विदुर जी, धरा-मण्डल छोड़ कर स्वधाम-गमन की बेला में स्वयं भगवान् ने आप को याद किया था’ और मैत्रेय जी से कहा था कि—‘मैत्रेय जी, मेरे द्वारा प्रदत्त इस तत्त्व ज्ञान का उपदेश आप विदुर जी के लिये अवश्य कीजियेगा’ अतः इसके लिये आप को मैत्रेय जी की सेवा करनी चाहिये, उन्हीं के पास जाना चाहिये—

ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्ति मे । साक्षाद्भगवतादिष्टो मर्त्यलोको जिहासता ॥३/४/२६

विदुर जी को मैत्रेय के पास जाने की सलाह देकर उद्धव जी बदरिकाश्रम के लिये चले गये । इसे सुनकर परीक्षित ने शुकदेव महाराज से पूछा—‘मुनिवर जी, बड़े-बड़े वीर-शिरोमणियों यदुर्वंशियों के नष्ट हो जाने पर तथा त्रिलोकी के एकमात्र स्वामी श्रीकृष्ण के भी अपना श्रीविग्रह छोड़ देने पर अकेले उद्धव जी ही कैसे बचे रह गये ?’ राजा की इस आशङ्का को सुन कर शुकदेव जी ने कहा—‘राजन्, इस लोक को छोड़ते समय भगवान् ने सोचा—इस लोक से मेरे चले जाने पर कोई तत्त्व-ज्ञान का उपदेशक नहीं रह जायेगा । उद्धव मेरे इस ज्ञान को ग्रहण करने के पूर्ण अधिकारी हैं, क्योंकि वे अणुमात्र भी मुझ से न्यून नहीं हैं । उनका मन कभी विषयों से विचलित नहीं होता । अतः उद्धव अभी कुछ समय यहाँ भू-मण्डल पर रहें । यही कारण था कि सबके संहार हो जाने के बाद भी उद्धव जी बचे रह गये ।”

यदुकुल के संहार और भगवान् के तिरोधान की बात सुन कर तथा यह जानकर परमधाम-गमन की बेला में भगवान् ने मुझे स्मरण किया था—विदुर जी प्रेम से विह्वल होकर रोने लगे । तदनन्तर वे यमुना के तट पर हरिद्वार जा पहुँचे जहाँ मैत्रेय जी रहते थे ।

॥ श्रीमद्भगवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

१. उद्धव जी के कहने का भाव यह है कि भगवान् जिसको याद करें वस्तुतः उसी का जीवन धन्य-धन्य है, कृतकृत्य है । और भगवान् ने स्वयं आप का स्मरण किया तथा आप को तत्त्व-ज्ञान प्रदान करने की भी बात कही है, यह कम नहीं है ।



## पाँचवाँ अध्याय

( विदुर जी का प्रश्न और मैत्रेय जी के द्वारा सृष्टि के क्रम का वर्णन )

शुकदेव महाराज जी कहते हैं कि परीक्षित ज्ञान के अगाध सागर मैत्रेय जी हरिद्वार में गङ्गा जी के तट पर विराजमान थे । भगवान् की भक्ति से विशुद्ध हृदयवाले विदुर जी उनके पास गये और उनके साधु-स्वभाव से सन्तुष्ट होकर विनम्रता के साथ उनसे पूछा—

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।

क्षत्तोपसृत्याच्युतभावशुद्धः प्रपच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥३/५/१

पूज्य मैत्रेय जी, संसार के सारे लोग सुख के लिये कर्म करते हैं; परन्तु उनसे न तो उन्हें सुख ही मिलता है और न उनका दुःख ही दूर होता है, बल्कि उससे भी उनके दुःख की वृद्धि ही होती है अतः इस विषय में क्या करना समीचीन है, यह आप मुझे कृपा करके बतलाइये—

सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा ।

विन्देत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः ॥३/५/२५

जो लोग दुर्भाग्य के कारण भगवान् श्रीकृष्ण से विमुख, अधर्मपरायण अतः अत्यन्त दुःखी हैं, उन पर कृपा करने के लिये ही आप-जैसे भाग्यशाली भगवद्भक्त संसार में विचरण किया करते हैं—

जनस्य कृष्णादिमुखस्य दैवादधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।

अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ॥३/५/३१

प्रभो, साधुशिरोमणे, आप मुझे उस शान्तिप्रद साधन का उपदेश दीजिये, जिसके अनुसार आराधना-साधना करने से भगवान् अपने भक्तों के भक्ति से पवित्र हृदय में आकर बैठ जाते हैं और अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करानेवाला सनातन ज्ञान-प्रदान करते हैं । भगवान् अवतार लेकर क्या-क्या लीलाएँ करते हैं ? कैसे योगमाया का आश्रय लेकर शयन करते हैं ? कैसे शयन समाप्त कर मत्स्य आदि रूप से क्रीड़ा करते हैं ? कैसे लोक-परलोक की सृष्टि करते हैं ? मैंने व्यास जी के श्रीमुख से बहुत कुछ सुना है और अनेक व्रतों को किया है उनसे तृप्ति भी हो गई है । परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य-नवीन, रसमयी, मधुमयी तथा लास्यभरी कथा से तृप्ति नहीं होती, क्योंकि इसमें तो अमृत की तरङ्ग-पर-तरङ्ग प्रवाहित होती रहती है । भगवान् के नामों से, चरित्र से, कीर्तन से भला किसको तृप्ति हो सकती है ? भगवान् के यश का गान नारद आदि महात्मा-गण भी आप-जैसे साधुओं के समाज में करते रहते हैं । कीर्तन के ये शब्द जब मनुष्यों के कर्ण-छिद्रों में पड़ते हैं तब उनकी संसार-चक्र में डालनेवाली घर-गृहस्थी की आसक्ति को काट डालते हैं—

कस्तृप्नुयातीर्थपदोऽभिधानात् सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात् ।

यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति ॥३/५/११

वे प्राणी अत्यन्त शोचनीय हैं, जो भागवान् की कथाओं से विमुख रहते हैं । काल उनकी आयु व्यर्थ नष्ट करता रहता है । मैत्रेय जी, आप दीनों पर कृपा करनेवाले हैं, अतः जितनी भी कथाएँ हैं उनमें भगवान् की कथा ही सार है । इसलिये आप हमारे कल्याण के लिये भगवत्कथाओं का ही कीर्तन करें—“हरेः कथामेव कथासु सारम्” ॥१५॥

विदुर की भक्तिभरी बातों को सुनकर मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, आप सचमुच साधु हैं । आप केवल अपने लिये ही नहीं अपितु संसार के कल्याण के लिये ही प्रश्न करते हैं । आपके प्रश्न के उत्तर से संसार का महान् कल्याण होगा । इससे संसार में आप का यश भी फैलेगा । आप साक्षात् धर्मराज हैं । बारह महाभागवतों में से एक हैं । माण्डव्य



ऋषि के शाप के कारण आप विदुर के रूप में प्रकट हुए हो<sup>१</sup> अतः इस प्रकार का प्रश्न करना आपके लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आपको को तो भगवान् बहुत प्यार करते हैं, वे इस धारा-धाम को छोड़ने की बेला में मुझसे कह गये थे कि—मैत्रेय जी, आप विदुर जी को भी मेरे इस ज्ञान का उपदेश कर देना अतः मैं आपसे सृष्टि प्रारम्भ कर प्रलय तक की भगवान् की सारी लीलाओं का वर्णन कर रहा हूँ—“यस्य ज्ञानोपदेशाय माऽऽदिशद्भगवान् ब्रजन्” ॥२१॥,

यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि जो लोग शरीर छोड़ने की बेला में भगवान् का स्मरण करते हैं वे भाग्यशाली हैं, पुण्यशाली हैं किन्तु धरा-धाम छोड़ने की बेला में भगवान् जिनको याद करते हैं, वे अत्यन्त भाग्यशाली हैं, पुण्यात्मा हैं। अन्तिम बेला में भगवान् ने विदुर का स्मरण किया इससे उनकी अतिशय महत्ता सूचित होती है। वाह रे विदुर का भाग्य !

विदुर जी, सृष्टि के प्रारम्भ में यह दृश्य प्रपञ्च नहीं था, संसार नहीं था। उस समय समस्त आत्माओं के आत्मा एकमात्र पूर्ण परमात्मा ही थे। द्रष्टा दृश्य सबका अभाव था। ऐसी अवस्था में वे अपने को असत् के समान समझने लगे। वस्तुतः वे असत् नहीं थे क्योंकि उनकी शक्तियाँ ही सोयी थीं। फिर उनकी इच्छा एक से अनेक होने की हुई। द्रष्टा-दृश्य के रूप में लीला करने की हुई। परमात्मा की यह इच्छा शक्ति ही कार्य-कारण-रूपा माया है। भावाभावरूप—सदसदात्मिका अनिर्वचनीय माया के द्वारा ही भगवान् इस विश्व का निर्माण किया करते हैं। भगवान् ने इस माया की सृष्टि करके उसमें अपने वीर्य का (चित् अंश का) आधान किया इससे महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई। इसे जड़ता की प्रधानता से महत्तत्त्व, चेतना की प्रधानता से हिरण्यगर्भ, बीज की प्रधानता से माया और चैतन्य की प्रधानता से ईश्वर कहते हैं। नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त चैतन्य को ब्रह्म कहते हैं। महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति हुई। अहङ्कार सात्त्विक, राजस और तामस-भेद ये तीन प्रकार का होता है। तामस अहङ्कार से पञ्च तन्मात्राएँ और उनसे पञ्च महाभूत उत्पन्न हुए। राजस अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हुई। सात्त्विक अहङ्कार से मन और इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता हुए। किन्तु पृथक्-पृथक् रहने के कारण जब ये तत्त्व और तत्त्वाभिमानी देवता ब्रह्माण्ड के निर्माण में समर्थ न हो सके, तब हाथ जोड़कर भगवान् की स्तुति करने लगे—“प्रभो, हम आप के चरण-कमल की वन्दना करते हैं जो आप की शरण का आश्रय लेता है, उसका ताप मिटाने के लिये आप के चरण छते का काम करते हैं। आपके चरणारविन्द की छत्रच्छाया में सारे दुःख एक क्षण में दूर हो जाते हैं। योगीजन आप के चरणों की शरण लेने के कारण संसार के अनन्त दुःखों को दूर से ही बाहर फेंक देते हैं—

नमाम ते देव पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्।

यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ॥३/५/३८

१. एक बार चोरों ने चोरी की। राजपुरुषों ने उनका पीछा किया। चोर चोरी का माल माण्डव्य ऋषि के आश्रम में फेंक कर भाग गये। राजपुरुषों ने माण्डव्य ऋषि को चोर समझ कर उन्हें माल के साथ राजा के सामने प्रस्तुत किया। राजा ने उन्हें शूली पर चढ़वा दिया। ऋषि ने प्राणायाम के द्वारा अपने प्राणों को रोके रक्खा वे मरे नहीं। राजा को महान् आश्चर्य हुआ। राजा ने ऋषि को शूली पर से उतरवाया और उनसे क्षमा मांगी। ऋषि ने कहा राजन्, मैं आप से नहीं, धर्मराज से अपना अपराध पूछूँ जिसके कारण मुझे शूली पर चढ़ना पड़ा। ऋषि के पूछने पर धर्मराज ने कहा—आप जब ४ वर्ष के बालक थे तब एक टिड्डी को पकड़कर उसे काँटे से नाथा था उसी का यह दण्ड आप को मिला है। ऋषि ने कहा ५ वर्ष के नीचे की वय का बालक जब अपराध करता है तब उसका दण्ड उसे स्वप्न में दिया जाता है। आप को इतना भी नहीं मालूम ? जाइये १०० वर्ष तक भूतल पर शूद्र के रूप में आप को रहना पड़ेगा। फलस्वरूप धर्मराज को विदुर के रूप में आना पड़ा। उस अवधि में धर्मराज का कार्य अर्यमा (सूर्य) करते थे।



जगत् के निर्माता जगदीश्वर, इस संसार में तीनों तापों से व्याकुल रहने के कारण जीवों को स्वल्प भी शान्ति नहीं मिलती। इसलिये भगवान्, हम आपके चरणों की छाया का आश्रय लेते हैं—

धातर्यदस्मिन् भव ईश जीवास्तापत्रयेणोपहता न शर्म ।

आत्मैल्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रिच्छायां सविद्यामत आश्रयेम ॥ ३/५/३९

हे विभो! बड़े-बड़े मुनि-जन एकान्त में वेदमन्त्रों के द्वारा जिनका अनुसन्धान करते हैं चिन्तन करते हैं, पापनाशिनी नदियों में सर्वश्रेष्ठ गङ्गा जी जहाँ से प्रकट होती है, वे आप के चरण-कमल हमें संसार की रचना करने का सामर्थ्य प्रदान करें।

जिन पुरुषों के मन में देह, गेह तथा अन्य संसारी तुच्छ पदार्थों में अहंता-ममता का दृढ़ दुराग्रह है उनसे दूर रहनेवाले आप के चरणारविन्दों को हम भजते हैं उन्हीं की शरण में हम जाते हैं।

मेरे प्रभो! आप के कथामृत का पान करने से उमड़ी हुई भक्ति के कारण जिन भक्तों का अन्तःकरण निर्मल हो गया है, वे लोग वैराग्यरूपी सार से भरे हुए आत्म-ज्ञान को प्राप्त करके जिस प्रकार अनायास ही आप के वैकुण्ठधाम को चले जाते हैं—

पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।

वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाज्ञसान्वीयुरकुण्ठधिष्यन् ॥ ३/५/४५

उसी प्रकार धीर पुरुष चित्त-निरोधरूप समाधि के बल से आप की प्रबल माया को जीत कर आप में ही लीन तो हो जाते हैं किन्तु उन्हें श्रम बहुत होता है—

तथापरे चात्मसमाधियोगबलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।

त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥ ३/५/४६

देवाधिदेव, “आपने सृष्टि-निर्माण की इच्छा से हमारी त्रिगुणमयी रचना की है। हमारा स्वभाव विभिन्न है अतः हम आपस में मिल नहीं पाते हैं यही कारण है कि हम आपकी लीलास्थली संसार की रचना करने में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। अब आप ही हमें ऐसी शक्ति प्रदान करें जिससे हम ब्रह्माण्ड की रचना कर आप को समर्पित कर सकें अतः प्रभो! हम पर अनुग्रह कर अब आप ही हमें क्रियाशक्ति के सहित अपनी ज्ञान-शक्ति भी प्रदान कीजिये। हम आप को बार-बार प्रणाम करते हैं”।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

•

## छठाँ अध्याय

( महदादि तत्त्वों से विराट्-शरीर की रचना और उसमें अधिदेव आदि भेदों की कल्पना )

मैत्रेय जी ने कहा—“विदुर जी, इस प्रकार महदादि २३ तत्त्व अलग-अलग भगवान् की स्तुति किये। कालशक्ति के साथ उनमें प्रविष्ट हुए भगवान् ने परस्पर विलग हुए उस तत्त्व-समूह को अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा आपस में मिला दिया—

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः । त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥ ३/६/२

इन तत्त्वों के मिल जाने से एक अण्ड (विराट् शरीर) की रचना हुई। उस अण्ड में हिरण्मय विराट् पुरुष,



सम्पूर्ण जीवों को साथ लेकर, एक हजार दिव्य वर्षों तक पड़ा रहा। यह विराट् पुरुष ही प्रथम जीव होने के कारण समस्त जीवों का आत्मा, जीवरूप होने के कारण परमात्मा का अंश और प्रथम अभिव्यक्त होने के कारण भगवान् का आदि अवतार है। सारा संसार इसी में प्रकाशित होता है—

एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः । आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामः विभाव्यते ॥३/६/८

उस अण्ड से (विराट् पुरुष से) सबसे पहले मुख प्रकट हुआ उसमें लोकपाल अग्नि वाक् इन्द्रिय के साथ प्रविष्ट हो गया, जिससे यह जीव बोलता है। फिर विराट् पुरुष से तालु उत्पन्न हुआ उसमें लोकपाल वरुण ने अपने अंश रसनेन्द्रिय के सहित प्रवेश किया, जिससे जीव रस ग्रहण करता है। इसके पश्चात् उसके नथुने प्रकट हुए उसमें दोनों अश्विनीकुमार, अपने अंश घ्राणेन्द्रिय के सहित प्रविष्ट हुए, जिससे जीव गन्ध ग्रहण करता है। इसी प्रकार जब उस विराट् देह में आँखें प्रकट हुईं तब उसमें अपने अंश नेत्रेन्द्रिय के सहित लोकपति सूर्य ने प्रवेश किया, जिस नेत्र इन्द्रिय से पुरुष को विविध रूपों का ज्ञान होता है—

निर्मिते अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः । चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥३/६/१५

पुनः उस विराट् विग्रह में त्वचा उत्पन्न हुई, उसमें अपने अंश त्वक् इन्द्रिय के सहित वायु स्थित हुआ, जिससे जीव को स्पर्श का ज्ञान होता है। जब इसके कर्ण छिद्र प्रकट हुए, तब उनमें अपने अंश श्रवणेन्द्रिय के सहित दिशाओं ने प्रवेश किया, जिससे जीव को शब्द का ज्ञान होता है। तदनन्तर चर्म उत्पन्न हुआ उसमें अपने अंश रोम-समुदाय के सहित औषधियाँ स्थित हुईं, जिनसे जीव को खुजली की अनुभूति होती है। इसके बाद उसके लिङ्ग उत्पन्न हुआ। अपने इस आश्रय में प्रजापति ने अपने अंश वीर्य के सहित प्रवेश किया, जिससे जीव संभोगरूप आनन्द का अनुभव करता है। तत्पश्चात् मलद्वार निकला जिसमें मित्र देवता ने पायु इन्द्रिय के साथ प्रवेश किया, जिससे जीव मल-त्याग करता है। इसके बाद दो हाथ निकले, उनमें अपनी ग्रहण और त्यागरूपा शक्ति के सहित देवराज इन्द्र ने प्रवेश किया, इस शक्ति से जीव अपनी जीविका प्राप्त करता है। जब इसके चरण उत्पन्न हुए, तब उनमें अपनी शक्ति गति के सहित लोकेश्वर विष्णु ने प्रवेश किया जिससे जीव चलता-फिरता है फिर इसी प्रकार बुद्धि उत्पन्न हुई, जिसमें वाणी के देवता ब्रह्मा ने अपने अंश बुद्धि-शक्ति के साथ प्रवेश किया। इस बुद्धि-शक्ति से जीव ज्ञातव्य विषयों को जान सकता है।

आगे इससे हृदय प्रकट हुआ उसमें अपने अंश मन के सहित चन्द्रमा स्थित हुआ। इस मनःशक्ति के द्वारा जीव सङ्कल्प-विकल्प करता है फिर विराट् में अहङ्कार जागृत हुआ इसमें क्रिया-शक्ति के सहित अभिमान (रुद्र) ने प्रवेश किया इससे जीव अहङ्कार करता है। बाद में चित्त निकला, इसमें वासुदेव ने चेतना-शक्ति के साथ प्रवेश किया, जिससे जीव को विज्ञान की उपलब्धि होती है।

विराट् पुरुष के शिर से स्वर्गलोक, पैरों से पृथिवी और नाभि से अन्तरिक्ष (आकाश) उत्पन्न हुआ। इनमें क्रमशः सत्ता, सत्त्व और तम—इन तीन गुणों के परिणामस्वरूप, देवता, मनुष्य और प्रेत आदि देखे जाते हैं। विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैरों से शूद्र अपनी-अपनी वृत्ति के साथ उत्पन्न हुए। मैत्रेय जी कहते हैं विदुर जी, भगवान् की योगमाया के प्रभाव से अस्तित्व में आये इस विराट् पुरुष का पूरा-पूरा वर्णन करने का साहस भला कौन कर सकता है ? तथापि प्यारे विदुर जी, अन्य सांसारिक विषयों की चर्चाओं से अपवित्र हुई अपनी वाणी को पवित्र करने के लिये भगवान् की पावन कीर्ति का वर्णन अपने बुद्धि-विवेक के अनुसार करता हूँ। महापुरुषों का कथन है कि पुण्यश्लोकशिरोमणि श्रीहरि के गुणों का वर्णन करना ही वाणी का फल है तथा विद्वानों के द्वारा वर्णित भगवान् की कथासुधा का पान करना ही कानों का मुख्य फल है—

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसा सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।

श्रुतेश्च

विद्वद्भिरुपाकृतायां

कथासुधायामुपसम्प्रयोगम् ॥३/६/३७



भगवान् की माया बड़े-बड़े मायावियों को भी मोहित कर देनेवाली है। सहस्रों वर्षों तक समाधि लगाकर ब्रह्मा जी भी जिन भगवान् की महिमा को ठीक-ठीक नहीं जान सके, मन और वाणी की पहुँच से भी जो परे हैं, रुद्र आदि देवगण भी जिनके यथार्थ महत्त्व को नहीं जान सकते, उन श्रीभगवान् को हम प्रणाम करते हैं—

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह । अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः ॥३६/४०

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

## सातवाँ अध्याय

( विदुर के नानाविध प्रश्न और उनके उत्तर )

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं कि मैत्रेय की बात सुनकर बुद्धिमान् विदुर जी अतिशय प्रसन्न हुए और मधुरवाणी से बोले—“प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत” ॥१॥ “ब्रह्मन्, भगवान् तो शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, निर्विकार और निर्गुण हैं उनके साथ लीला से भी गुण और कर्म का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? बालक में तो कामना और दूसरे के साथ खेलने की इच्छा रहती है इसीलिये वह खेलने के लिये प्रयत्न करता है; किन्तु भगवान् तो स्वतः नित्यतृप्त—पूर्णकाण और सर्वदा असङ्ग हैं। इस स्थिति में वे क्रीडा के लिये भी क्यों सङ्कल्प करेंगे ? भगवान् अपनी गुणमयी माया से जगत् का निर्माण, पालन और संहार करते हैं। देश, काल, अवस्था और अन्य निमित्त से भी जिनके ज्ञान का लोप नहीं होता, उनका माया के साथ कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? अतः परमात्मा में क्रीडा करने की बात समझ में नहीं आती—

देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः ।

अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम् ॥३७/५

जीव ब्रह्म का अंश है अतः वह भी ब्रह्मस्वरूप ही है<sup>१</sup>। आनन्द का अंश आनन्द स्वरूप होगा इसलिये उसे कर्मों से क्लेश और आनन्द-विघात क्यों होता है ? एक ही परमात्मा जब सब में है, तब कहीं सुख और कहीं दुख कैसे होगा ?

भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः । अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ॥३७/५

भगवन्, इस अज्ञानरूपी सङ्कट में पड़कर मेरा मन बड़ा खिन्न हो रहा है। आप मेरे मन के इस महान् मोह को दूर करने की कृपा करें—

एतस्मिन् मे मनो विद्वन् खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे । तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ॥३७/७

मैत्रेय जी ने विदुर के प्रश्नों को सुना। एक क्षण के लिये वे भगवान् के ध्यान में मग्न हो गये फिर उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—“विदुर जी, जो आत्मा सबका स्वामी है और है सर्वथा मुक्त—वह दीनता और बन्धन को प्राप्त हो—यह बात तो युक्ति और तर्क के विरुद्ध है। किन्तु देखने में साफ आती है इसी का नाम माया है। जादूगर जादू का खेल खेलता है किन्तु उसकी विचित्रता यही है कि आँख से तो वह खेल दिखलाई पड़ता है, किन्तु जब बुद्धि से विचार करते हैं तो कुछ सिद्ध नहीं होता। माया अनिर्वचनीय है, उसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता। परन्तु वह आवरण करती है। वह युक्ति से सिद्ध नहीं की जा सकती। किन्तु ज्ञान से निवृत्त हो जाती है। ईश्वर तो

१. ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी ॥ मानस ॥



नित्य शुद्ध है, नित्यबद्ध मुक्त है, उसमें दीनता और बन्धन कैसे संभव है ? बिना दुःख-दीनता के, बिना बन्धन के, जो दुःख-दीनता और बन्धन की प्रतीति हो रही है इसी का नाम माया है। जैसे स्वप्न में हम देखते हैं कि हमारा शिर कट गया। यदि वस्तुतः शिर कट गया होता तो हम मर गये होते फिर देखते कहाँ से ? निद्रादोष के कारण स्वप्न में कार्य करनेवाली, दीख पड़नेवाली यह माया ही है जैसे हिलता है जल और काँपता हुआ प्रतीत होता है चन्द्रमा। इसी प्रकार जो प्रतीति में कम्पन दीखता है, दुःख दीखता है, वह आत्मा में आरोपित हो जाता है। वस्तुतः सुख-दुःख आदि देह के धर्म हैं। ये देहाभिमानी जीव को होते हैं, ईश्वर को नहीं। जब भगवान् की कृपा होती है तब व्यक्ति निष्कामभाव से, फल की अपेक्षा के बिना कर्तव्यभाव से कर्म में प्रवृत्त होता है, फिर धीरे-धीरे इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति समाप्त हो जाती है, माया कट जाती है—

सैयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते । ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥  
यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः । प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥  
यथा जले चन्द्रमसः कम्पनादिस्तत्कृतो गुणः । दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥  
स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया । भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥

३/७/९-१२

जब प्राणी अपनी इन्द्रियों को अन्तः करण को विषयों से हटा कर भगवान् में स्थिर कर देता है तब उसके सारे-के-सारे क्लेश विलीन हो जाते हैं। भगवान् की लीलाओं का श्रवण-कीर्तन व्यक्ति के समस्त क्लेशों का शमन कर देता है। यदि हमारे हृदय में उनके चरण-कमल की सेवा की लालसा जग जाय तो फिर कहना ही क्या है—

अशेषसंकलेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।

कुतः

पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्ध्या ॥ ३/७/१४

भगवान् के चरण कमलों की सेवा के हृदय में जगते ही दिव्य माधुर्य रस की अनुभूति इसी संसार में होने लगती है।

महर्षि मैत्रेय के वचनों को सुनकर विदुर जी ने कहा कि—ब्रह्मन् आपके युक्तियुक्त वचनों की तलवार की धार ने तो मेरे सारे संशयों को छिन्न-भिन्न कर दिया। अब मेरा मन भगवान् की स्वतन्त्रता और जीव की परतन्त्रता को ठीक-ठीक समझ रहा है। अब आप मुझे यह बतलाने की कृपा करें कि ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में किन-किन प्रजापतियों की सृष्टि की ? जिनके पुत्र-पौत्रादि के सहित तरह-तरह की प्रजा उत्पन्न हुई और उससे यह सारा संसार भर गया। मनु कितने हैं ? भूगोल, खगोल तथा ऊपर नीचे के लोकों का परिमाण क्या है ? वर्ण-आश्रम का विभाग किस प्रकार का है ? श्राद्ध की विधि का, पितृ-गणों की सृष्टि का तथा काल-क्रम में ग्रह, नक्षत्र और तारा-गण की स्थिति का भी अलग-अलग वर्णन कीजिये। दान, तप, तथा इष्ट और पूर्त कर्मों का क्या फल है ? प्रवास और आपत्ति के समय मनुष्य का क्या कर्तव्य होता है ? भगवान् की सन्तुष्टि का उपाय क्या है ?

महर्षि मैत्रेय जी, मैंने जिन प्रश्नों को पूछा है और प्रष्टव्य होते हुए भी जिन्हें नहीं पूछ सका हूँ, उन सारे प्रश्नों का उत्तर देने की आप कृपा करें। शुक्रदेव महाराज कहते हैं कि राजन्, विदुर जी के प्रश्नों से मैत्रेय जी अतिशय प्रसन्न हो उठे और मुस्कराकर उत्तर देना प्रारम्भ किया ॥७॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥



## आठवाँ अध्याय

( शेष सनकादि का संवाद, नारायण की नाभि-कमल से ब्रह्मा का प्रादुर्भाव तथा उन्हें शेषशायी भगवान् का दर्शन )

मैत्रेय जी ने कहा—‘विदुर जी, राजा पुरु का वंश परम पावन और परम प्रशंसनीय है क्योंकि आप का जन्म इसी पुरुवंश में हुआ है। आप कोई साधारण व्यक्ति नहीं अपितु भक्त-शिरोमणि और साक्षात् धर्मराज हैं। आप धन्य हैं, जोकि अपने विविध प्रश्नों के द्वारा पग-पग पर भगवान् की कथा को नित नवीन बना रहे हैं—

सत्सेवनीयो बत पुरुवंशो यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः ।

बभूविथेहाजितकीर्तिमालां पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ॥३/८/१

अब मैं क्षुद्र विषय सुखों को पाने की कामना से महान् दुःखों को मोल लेने वाले मनुष्यों की दुःख-निवृत्ति के लिये वह श्रीमद्भागवत पुराण प्रारम्भ कर रहा हूँ, जिसे स्वयं भगवान् शेष जी ने सनकादि महर्षियों को सुनाया था—

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं महद्गतानां विरमाय तस्य ।

प्रवर्तये भागवतं पुराणं यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्यः ॥३/८/२

एक समय की घटना है। सनकादि महर्षियों ने आकाशगङ्गा में स्नान किया। उनके शिर की जटाएँ गङ्गा जी के निर्मल जल से आर्द्र हो गईं फिर वे भगवत्तत्त्व जानने की इच्छा से जा पहुँचे पाताल लोक में शेष जी के पास। उस समय शेष जी भगवान् वासुदेव के ध्यान में मग्न थे। उनके फणों पर मणि-जटित मुकुट जगमगा रहे थे। उस समय नाग-कन्याएँ मनोवांछित वर की प्राप्ति के लिये श्रद्धा-भक्ति के साथ अनेकों उपहार-सामग्रियों से उनकी पूजा कर रही थीं। सनत्कुमार आदि ने भी मन्दाकिनी के जल से भीगे अपने जटा-मण्डल से उनके पाद-पीठ पर प्रणाम किया और शुरू किया गद्गद वाणी से उनका स्तवन। उनके स्तवन से शेष जी का ध्यान छूटा। धीरे-धीरे उनके कमल-कोष के समान नेत्र खुले। उन्होंने महर्षियों की जिज्ञासा की शान्ति के लिये यह भागवत सुनाया था। इस से उन लोगों की सारी जिज्ञासाओं का समाधान हो गया था। सनत्कुमार ने उसे फिर सांख्यायन ऋषि को सुनाया था। बाद में सांख्यायन ने उसका उपदेश हमारे गुरु पराशर और वृहस्पति को दिया था। इसके पश्चात् परम दयालु पराशर जी ने पुलस्त्य मुनि के कहने से, वह आदिपुराण मुझ से कहा। वत्स, श्रद्धालु और सदा अनुगत देखकर वही पुराण अब मैं आप को सुनाने जा रहा हूँ। इससे आप की सारी शङ्काओं का अनायास समाधान हो जायेगा अतः सावधान होकर सुनो।

सृष्टि के पूर्व की बात है। चतुर्दिक् जल-ही-जल व्याप्त था। उस समय श्रीमन्नारायण, योगनिद्रा का आश्रय लेकर क्षीर-सागर में शयन कर रहे थे। सारे जीव, सारे पाञ्च-भौतिक पदार्थ, उस समय सूक्ष्म रूप से नारायण की कुक्षि (कोख) में विलीन थे। सृष्टि-काल की बेला उपस्थित होने पर, उन्हें जगाने के लिये, एकमात्र काल-शक्ति जागृत थी। इस प्रकार एक सहस्र चतुर्युगी पर्यन्त भगवान् क्षीर-सागर में शयन करते रहे फिर काल-शक्ति ने नारायण को उद्धोषित किया। उस समय उन्होंने अपने श्रीविग्रह में लीन हुए अनन्त लोकों को देखा। तदनन्तर श्री विग्रह में विलीन सूक्ष्म तत्त्व-गण काल से प्रेरित रजोगुण से क्षुभित होकर, सृष्टि रचना के निमित्त, उनके नाभि-देश से बाहर कमल के रूप में निकला। उस समय कमल की कान्ति से सारा जल देदीप्यमान हो उठा। उस कमल में स्वयं भगवान् विष्णु व्याप्त थे। कमल की कर्णिका से वेदमूर्ति ब्रह्मा प्रकट हो उसी पर विराजमान हो गये। चारों दिशाओं में गर्दन घुमा कर देखने के कारण ब्रह्मा चतुर्मुख बन गये—“चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि” ॥१६॥ उस समय वे सोचने लगे “मैं कौन हूँ ? यह कमल कहाँ से प्रकट हुआ है ?”



इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर वे कमल-नाल के सहारे आधार का पता लगाने के लिये जल में नीचे की ओर प्रवेश किये । बहुत काल तक वे नीचे की ओर जाते रहे । किन्तु उन्हें कमल के आधार का पता न लग सका फिर वे लौट आये वहीं कमल-कर्णिका पर जहाँ पहले बैठे थे । वहाँ उन्होंने श्वास रोक कर सौ वर्ष तक की अखण्ड समाधि लगाई । समाधि में उन्हें, अपने अन्तःकरण में, शेष-शायी श्रीमन्नारायण का दर्शन हुआ । कौस्तुभ मणि, पीत-पट तथा अत्यन्त चमकीली प्रभा से मण्डित विविध रत्न भगवान् के श्रीविग्रह पर विराजमान थे । उनके वक्षःस्थल पर सुनहरी रेखावाले श्रीवत्स चिह्न की अपूर्व शोभा हो रही थी ।

तब विश्व-रचना की इच्छावाले लोकविधाता ब्रह्माजी ने कमल, जल, आकाश, वायु और अपना शरीर इन्हीं पाँच पदार्थों को देखा । इनके अतिरिक्त और कुछ उन्हें दिखलाई न दिया । रजोगुण से व्याप्त ब्रह्मा जी प्रजा की रचना करना चाहते थे । जब उन्होंने सृष्टि के कारणरूप केवल ये पाँच ही पदार्थ देखे तब उन्होंने तन्मय होकर भगवान् की स्तुति प्रारम्भ की—

अस्तौद् विसर्गाभिमुखस्तमीड्यमव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥३/८/३३  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

## नवाँ अध्याय

( ब्रह्मा जी के द्वारा नारायण की स्तुति-और उन्हें संसार की रचना का वरदान )

ब्रह्मा जी ने कहा—प्रभो, आज बहुत समय के बाद मैं आप को जान सका हूँ । अहो ! कैसे दुर्भाग्य की बात है कि देहधारी जीव आप के स्वरूप को नहीं जान पाते । भगवन्, आप के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है । जो वस्तु प्रतीत होती है, वह भी स्वरूपतः सत्य नहीं है, क्योंकि माया के गुणों के क्षुभित होने के कारण केवल आप ही अनेक रूपों में प्रतीत होते हैं—

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरात्रनु देहभाजां न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम् ।

नान्यत्त्वदसि भगवन्नपि तत्र शुद्धं मायागुणव्यतिकराद्यदुर्बिभासि ॥३/९/१

देव, आप की चित्-शक्ति<sup>१</sup> के प्रकाशित रहने के कारण अज्ञान आप से सदा दूर रहता है । आप का यह रूप सैकड़ों अवतारों का मूल कारण है इसी की नाभि कमल से मैं पैदा हुआ हूँ । सत्पुरुषों पर कृपा करने के लिये ही आप ने इसे प्रकट किया है । परमात्मन्, आप का आनन्दमात्र, भेद-रहित, अखण्डतेजोमय स्वरूप इससे भिन्न नहीं है । यह सम्पूर्ण भूतों और इन्द्रियों का भी आश्रय है अतः सृष्टि करने की कामना से मैंने इसकी शरण ग्रहण की है ।

हे विश्व के कल्याण-कर्ता, मैं आपका उपासक हूँ । आप ने मेरे हित के लिये ही ध्यान में अपना यह रूप दिखलाया है । जो पापी विषयासक्त जीव हैं, वे ही इसका अनादर करते हैं । मैं तो आप के इसी रूप को बार-बार प्रणाम करता हूँ । प्रभो, जो भक्त-जन अपने कर्ण-कुहरों से आप के कथामृत का निरन्तर पान करते रहते हैं, उनके हृदय-कमल पर स्वयं आकर आप विराजमान हो जाते हैं और फिर वहाँ से कभी नहीं हटते, क्योंकि भक्त लोग आप के चरणों को प्रेम-रूपी रस्सी से कसकर अपने हृदय से बाँध देते हैं ।

१. चित्-शक्ति, चित्-शक्ति, ज्ञान-शक्ति ।



मेरे स्वामी, जब तक पुरुष आप के अभय-प्रद चरण-कमलों की शरण में नहीं जाता तभी तक उसे धन, घर और बन्धु-बान्धवों के द्वारा प्राप्त होने वाला भय, शोक, लोभ और दैन्य आदि परेशान करते हैं और तभी तक उसके हृदय में मैं—मेरेपन का दुराग्रह रहता है। व्यक्ति के दुःख का यही एकमात्र कारण है—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।

तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवणीत लोकः ॥ ३/९/७

मेरे प्रभो, उन बेचारों की मति को दैव ने हर लिया है, जो सारे अमङ्गलों को नष्ट करने वाले आप के श्रवण-कीर्तन से अपने मन को हटाकर, क्षणिक विषय-सुख के लिये दुष्कर्मों में लगे रहते हैं—

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्सर्वाशुभोपशमनाद्दिमुखेन्द्रिया ये ।

कुर्वन्ति काम-सुख-लेश-लवाय दीना लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥ ३/९/७

अच्युत, उरुकर्म, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि के कारण और क्रोध, लोभ एवं मोह से होने वाले प्रजा के दुःखों को देखकर मुझे महान् कष्ट होता है। माया के वशीभूत जीव जब तक अपने को आप से भिन्न मानते हैं, तब तक उनका दुःख निवृत्त नहीं हो सकता। देव, औरों की तो बात ही क्या—जो साक्षात् मुनि हैं, वे भी यदि आप की कथा से विमुख रहते हैं तो उन्हें भी संसार में फँसना पड़ता है। दिन के समय विविध व्यापारों में उनका चित्त विक्षिप्त रहता है और रात्रि में वे अचेत होकर निद्रा में पड़े रहते हैं; उस समय भी विविध मनोरथों के कारण उनकी निद्रा भङ्ग होती रहती है। उनके सारे अर्थ-सिद्धि के उद्योग भी निष्फल हो जाते हैं। न रात्रि में सुख और न दिन में चैन।

नाथ, आप का मार्ग एकमात्र आपके गुणों के श्रवण से ही जाना जाता है। आप निश्चय ही मनुष्यों के, भक्ति-योग के द्वारा पवित्र हुए हृदय-कमल में निवास करते हैं। प्रभो, आपके भक्त-जन माता-पिता और पुत्र आदि जिस भावना से आप का चिन्तन करते हैं, उन-उन साधु-पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिये आप वही-वही रूप धारण कर लेते हैं—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।

यद्यद्विधा त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥ ३/९/११

प्रभो, मन में कामना रखकर विपुल सामग्रियों से पूजा करने वाले बड़े-बड़े देवों के ऊपर आप उतना प्रसन्न नहीं होते जितना सब प्राणियों पर दया करने से होते हैं। जो कर्म आप को अर्पण कर दिया जाता है, उसका कभी नाश नहीं होता—वह अक्षय हो जाता है, अनन्त बन जाता है। जो लोग प्राण-त्याग की बेला में, विवश होकर भी, गुण एवं कर्मों को सूचित करनेवाले देवकीनन्दन, जनार्दन तथा कंसनिःसूदन आदि नामों का उच्चारण करते हैं, वे अनेक जन्मों के पापों को झटिति विनष्ट कर परमधाम ब्रह्म-पद को प्राप्त करते हैं। आप नित्य अजन्मा हैं। मैं आप का शरणागत हूँ—

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।

ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा संथान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥ ३/७/१५

१. गङ्गा के पावन तट पर एक महात्मा निवास करते थे। वे कृष्ण को अपना पुत्र समझकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करते थे। समय पर उनका देह छूटा। लोग उन्हें श्मशान घाट ले गये, चिता पर रक्खा। अब विचार होने लगा कि इनको तो कोई पुत्र आदि नहीं है। कौन मुखाग्नि देगा? तब तक लोगों ने देखा कि एक साँवला-साँवला पञ्च वर्षीय बालक हाथ में जलती लकड़ी लेकर दौड़ा आ रहा है। वह दूर से ही हाथ उठाए कहता आ रहा था—रुकिये, रुकिये। यह मेरे पिता हैं, मैं इन्हें मुखाग्नि दूँगा। सारा कार्य समाप्त कर बालक चला गया। लोग आपस में विचार करने लगे महात्मा ने विवाह नहीं किया था फिर यह बालक उनका कैसे पुत्र हुआ? निश्चय ही यह कृष्ण थे जिनकी उपासना महात्मा पुत्र-भाव से किया करते थे।



“आप सारे संसार के अकारण मित्र और आत्मा हैं। जो आपकी शरण में आ जाते हैं, आप उन पर कृपा की वर्षा करते हैं। अतः अपने जिस ज्ञान और ऐश्वर्य से सारे संसार को आप आनन्द प्रदान करते हैं, उसी से मेरी बुद्धि को भी प्रकाशित करने की कृपा करें जिससे मैं जगत् की रचना करने में समर्थ हो सकूँ”।

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर, इस प्रकार पच्चीस श्लोकों से परमात्मा की स्तुति कर ब्रह्मा जी मौन हो गये

“यान्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत्” ॥२६॥

ब्रह्मा की स्तुति से प्रसन्न हुए परमात्मा ने कहा—“वेदगर्भ, आप विषाद-अवसाद के वशीभूत होकर उदास न हों, आलस्य न करें। संसार की सृष्टि के लिये आप उद्योग में संलग्न हो जाइये। आप मुझसे जो कुछ चाहते हैं, उसे तो मैं पहले ही कर चुका हूँ। आप एक बार पुनः तप करें और भागवत का अनुष्ठान करें। इससे आप सम्पूर्ण लोकों को स्पष्टतया अपने अन्तःकरण में देखेंगे। सृष्टि-क्रिया के प्रारम्भ करने पर मेरी कृपा से आप का मन कभी भी मोहित नहीं होगा। आप सबसे पहले मन्त्र-द्रष्टा हैं। संसार की रचना करते समय भी आप का मन मुझ में ही लगा रहता है। यही कारण है कि पापमय रजोगुण आप को बाँध नहीं पाता है—

ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः। यन्मनो मयि निर्बन्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ॥

३/९/३५

ब्रह्मा जी, आपके द्वारा पढ़े गये इस स्तोत्र से जो व्यक्ति प्रतिदिन मेरी स्तुति करेगा उस पर मैं शीघ्र ही प्रसन्न होकर उसके सभी मनोरथों को पूर्ण कर दूँगा। अब आप मेरा ध्यान करते हुए प्रजा की सृष्टि में लग जाओ। मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, भगवान् इस प्रकार ब्रह्मा जी को सृष्टि-विषयक ज्ञान प्रदान कर अन्तर्धान हो गये ॥९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

## दसवाँ अध्याय

### (दस प्रकार की सृष्टि का वर्णन)

विदुर जी ने मैत्रेय जी से पूछा कि—‘मुनिवर, भगवान् के अन्तर्धान हो जाने के अनन्तर ब्रह्मा जी ने कितने प्रकार की सृष्टि की? भगवन्, इसके अतिरिक्त मैंने आप से और जो-जो बातें पूछी हैं, उन सबका भी क्रमशः समाधान कर मेरे संशय को दूर कीजिये क्योंकि आप बहुज्ञों में श्रेष्ठ हैं। इधर नैमिषारण्य में शौनक जी ने सूत जी से ऐसी ही जिज्ञासा प्रकट की।

विदुर के प्रश्न को सुनकर मुनिवर मैत्रेय जी बड़े प्रसन्न हुए और उत्तर देते हुए बोले—विदुर जी, भगवान् के चले जाने पर ब्रह्मा जी ने बड़ी भारी तपस्या की। फिर जब उन्होंने देखा कि हवा से कमल कम्पित हो रहा है, जल भी हिल रहा है, तब वे तपस्या और विद्या (आत्म-ज्ञान) के बल से जल के साथ वायु को पी लिये—

तपसा ह्यधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया। विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद् वायुं सहाम्भसा ॥३/१०/६

काल ईश्वर की शक्ति है। यह भगवान् में ही लीन रहती है। ईश्वर इसी काल के द्वारा विश्व का निर्माण करते हैं। काल, परमात्मा की तरह तीनों कालों में रहने वाला है। संसार की वस्तुओं के रूप-रङ्ग को बदलते रहना ही

१. ब्रह्मा के द्वारा, सृष्टि-सामर्थ्य के लिये, पच्चीस श्लोकों से की गई स्तुति सांख्य-शास्त्र के पच्चीस तत्त्वों का सूचक है। सांख्य के ये तत्त्व संसार-सृष्टि के परम उपकारक हैं।



काल का आकार है—“गुणव्यतिकराकारो” ॥११॥ इसमें दिन-रात आदि का कोई भेद नहीं होता—“निर्विशेषः” ॥११॥ यह अनादि और अनन्त है—“अप्रतिष्ठितः” ॥११॥ जैसे यह विश्व इस समय दिखलाई पड़ता है, वैसे ही यह पहले भी था और आगे भी वैसा ही रहेगा—“यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्” ॥१३॥

इस संसार की सृष्टि नौ प्रकार की होती है। प्राकृत-वैकृत भेद से एक दसवीं सृष्टि और भी है। (१) महत्तत्त्व, (२) अहङ्कार, (३) तन्मात्रायें, (४) इन्द्रियाँ, (५) इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता, (६) पञ्चपर्वा अविद्या की सृष्टियाँ—ये छः प्राकृतिक सर्ग कहे गये हैं—“षड्भिः प्राकृताः सर्गाः” ॥१७॥

अब वैकारिक सर्गों का वर्णन किया जा रहा है—स्थावर वृक्षों का सातवाँ सर्ग है। इसके छः भेद किये गये हैं—वनस्पति, ओषधि, लता, त्वक्सार (जिनमें छिलका ही सार हो, जैसे गिलोय), वीरुध् और द्रुम। इनका सञ्चार नीचे (जड़) से ऊपर की ओर होता है। इनमें प्रायः ज्ञान-शक्ति प्रकट नहीं रहती, ये भीतर-ही-भीतर केवल स्पर्श का अनुभव करते हैं तथा इनमें से प्रत्येक में कोई विशेष गुण रहता है। आठवीं सृष्टि तिर्यग्योनियों (पशु-पक्षियों) की है। यह अट्टाईस प्रकार की मानी जाती है। इन्हें काल का ज्ञान नहीं होता। तमोगुण की अधिकता के कारण ये केवल खाना-पीना, मैथुन करना, सोना आदि ही जानते हैं। इन्हें सूँघनेमात्र से वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। इनके हृदय में विचारशक्ति या दूरदर्शिता नहीं होती। पशुओं में कुछ दो खुरवाले (द्विशफ) और कुछ एक खुरवाले (एकशफ) होते हैं। विदुर जी, नवीं सृष्टि मनुष्यों की है जो यह एक ही प्रकार की है। मनुष्य रजोगुणप्रधान, कर्मपरायण और दुःखरूप विषयों में ही सुख मानने वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त सनत्कुमार आदि ऋषियों का जो कौमार सर्ग है, वह प्राकृत वैकृत दोनों प्रकार का है—“कौमारस्तु भयात्मकः” ॥२६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

## ग्यारहवाँ अध्याय

### (मन्वन्तर आदि काल-विभाग का वर्णन)

मैत्रेय कहते हैं—विदुर जी, संसार के किसी पदार्थ का खण्डन करते-करते जिसका खण्डन न हो सके, जिसके टुकड़े न किये जा सकें, उसी अन्तिम खण्ड को परमाणु कहते हैं। परमाणु अनेक होते हैं और असंयुक्त होते हैं। उनकी एकता भ्रम ही है—

चरमः सद्भिरोषाणामनेकोऽसंयुतः सदा । परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥३/११/१॥  
परमाणु से लेकर परम महान् तक सृष्टि चलती है। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कार्य परमाणुओं से बनता है। इसी से काल भी नापा जाता है। जितनी देर में सूर्य एक परमाणु को पार करते हैं, लांघते हैं, उसी काल को परमाणु-काल कहते हैं। दो परमाणु मिलकर एक अणु होता है और तीन परमाणुओं का त्रसरेणु बनता है। त्रसरेणु झरोखे में प्रविष्ट सूर्य की किरणों में उड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है, यह धरती पर नहीं गिरता है। तीन त्रसरेणुओं की एक त्रुटि होती है। सौ त्रुटियों का एक वेधकाल होता है। तीन वेध का एक लवकाल होता है। तीन लव का एक निमेष होता है। तीन निमेषों का एक क्षण होता है। पाँच क्षणों की एक काष्ठा होती है। पन्द्रह काष्ठाओं का एक लघु होता है। पन्द्रह लघु की एक ‘नाडिका’ (दण्ड, घड़ी) कही जाती है। दो नाडिका का एक मुहूर्त होता है। दिन के घटने-बढ़ने के अनुसार (दिन एवं रात्रि की दोनों सन्धियों के दो मुहूर्तों को छोड़कर) छः या सात नाडिका का एक प्रहर होता है, इसे याम भी कहते हैं। याम मनुष्य के दिन या रात का चौथा भाग होता है।



विदुर जी, अब जल घड़ी के द्वारा आप दण्ड के मान को सुनिये—छः पल ताँबे का एक ऐसा बर्तन (लोटा) बनाया जाय जिसमें एक प्रस्थ (प्रायः एक किलो) जल आ सके फिर चार मासे सोने की चार अंगुल लम्बी सलाई बनवाकर उसके द्वारा उस बर्तन की पेंदी में बीचो-बीच छेद करके उसे जल में छोड़ दिया जाय। जितने समय में वह बर्तन जल से भर जाय, वह बर्तन जल में डूब जाय, उतने समय को एक नाडिका कहते हैं। दण्ड और नाडिका एक ही है। चार पहर का एक दिन और चार पहर की रात होती है। पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष होता है। पक्ष शुक्ल और कृष्ण के भेद से दो प्रकार का होता है। दो पक्षों को मिलाकर एक महीना होता है। दो महीने की एक ऋतु होती है। छः मास का एक अयन होता है। अयन दो होते हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन। ये दोनों अयन मिलकर देवताओं के एक दिन-रात होते हैं। हमारे भू-लोक में दो अयन अर्थात् बारह महीने का एक वर्ष होता है। मनुष्यों की पूरी आयु सौ वर्षों की बतलाई गई है—“संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम्” ॥१२॥ वर्ष के अनेक भेद होते हैं। इन्हीं के आधार पर सूर्य की, ग्रहों की, गति का विवरण किया जाता है। सबकी आयु अलग-अलग होती है। देव, पितर आदि भी अपने-अपने मान से सौ वर्ष की आयु वाले कहे गये हैं।

सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये चार युग होते हैं। दिव्यमान से सतयुग का मान ४८०० वर्ष, त्रेता का मान ३६२० वर्ष, द्वापर का मान २४०० वर्ष तथा कलियुग का मान १२०० वर्ष का है। युग के आदि में सन्ध्या होती है और अन्त में सन्ध्यांश। सन्ध्या और सन्ध्यांश का काल १०० वर्ष का है। सन्ध्या और सन्ध्यांश के बीच का काल युग कहलाता है। सत्ययुग के मनुष्यों में धर्म अपने चारों चरणों से वर्तमान रहता है फिर अन्य युगों में अधर्म की वृद्धि होने से धर्म का एक-एक चरण क्षीण होता जाता है।

प्यारे विदुर जी, त्रिलोकी से बाहर महलोक से ब्रह्मलोकपर्यन्त यहाँ की एक सहस्र चतुर्युगी का एकदिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है। रात्रि में जगत्कर्ता ब्रह्माजी शयन करते हैं। ब्रह्मा की रात्रि के बीतने पर इस लोक का कल्प प्रारम्भ होता है। ब्रह्माजी के एक दिन के बराबर यहाँ का एक कल्प होता है। एक कल्प में चौदह मनु होते हैं। प्रत्येक मनु का काल ७१ चतुर्युगी से कुछ अधिक का होता है। मनु का राज्य-काल मन्वन्तर कहलाता है। मन्वन्तर में मनु, मनुपुत्र, ऋषि, देवता, इन्द्र और भगवान् का अंशावतार—ये छः होते हैं—

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः। ऋषयोंऽंशावतारश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥

ब्रह्मा के एक दिन की समाप्ति पर त्रिलोकी का प्रलय होता है। त्रिलोकी की प्रलय की बेला में भगवान् जल के भीतर शेष शय्या पर शयन करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा की आयु धीरे-धीरे बीतती है। ब्रह्मा जी की आयु के आधे भाग को परार्ध कहते हैं। अब तक पहला परार्ध बीत चुका है, दूसरा चल रहा है। परार्ध का काल श्रीहरि का एक निमेष माना जाता है। यद्यपि काल सकल ब्रह्माण्ड पर प्रभावी है, किन्तु भगवान् के सामने इसकी कुछ भी नहीं चलती है। वे काल के भी काल हैं। अनेकानेक ब्रह्माण्ड उनके शरीर के रोम-छिद्रों में समाहित रहते हैं<sup>१</sup>। यही भगवान् प्रधान आदि सभी कारणों के कारण, अक्षर ब्रह्म कहलाते हैं। इन्हें ही पुराण-पुरुष और परमात्मा श्रीविष्णु कहते हैं। मैं शिर से इन्हें प्रणाम कर रहा हूँ ॥११॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

१. इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस में इस प्रकार व्यक्त किया है—“ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति वेद कहै”। राम-जन्म-प्रसङ्ग ॥



## बारहवाँ अध्याय

( ब्रह्मा की मानसी सृष्टि से प्रजा का विस्तार न होने पर यौन-सृष्टि का प्रारम्भ )

मैत्रय जी ने कहा—विदुर जी, ब्रह्माजी ने जिस प्रकार जगत् की रचना की अब उसे सुनिये—सर्वप्रथम उन्होंने अज्ञान की पाँच वृत्तियाँ—तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र रचीं—

ससजग्रिऽन्यतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् । महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः ॥३/१२/२  
योग की भाषा में इन्हें क्रमशः—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश कहते हैं—“अविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः” योगसूत्र २-३ । किन्तु इस पापमयी सृष्टि को देखकर उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई फिर उन्होंने अपने मन से सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार की सृष्टि की । ये ऊर्ध्वरेता मुनि थे । इन्हें ब्रह्मा की मानसी सृष्टि कहा जाता है । ब्रह्मा जी ने अपने इन मानसिक पुत्रों से सृष्टि उत्पन्न करने के लिये कहा । किन्तु निवृत्ति-मार्ग के अनुयायी होने के नाते उन्होंने प्रपञ्च में पड़ना उचित नहीं माना, पिता की आज्ञा स्वीकार नहीं की । अतः उन्हें क्रोध आ गया । ब्रह्मा ने क्रोध को रोकने का प्रयास किया किन्तु उनके रोकने का बहुत प्रयास करने पर भी वह क्रोध प्रजापति ब्रह्मा की भौहों के बीच से एक नील-लोहित बालक के रूप में प्रकट हो गया—“सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः” ॥७॥ वह बालक रो-रोकर ब्रह्मा से कहने लगा—‘जगत्पिता, विधाता, आप मेरा नाम और मेरे लिये रहने का स्थान बतलाइये’ ॥

बालक की बात सुन कर ब्रह्मा ने कहा—“जन्म लेते ही तुम बालक की भाँति फूट-फूट कर रोने लगे अतः तुम्हारा नाम ‘रुद्र’ होगा—“रोदनाद्भुद्रः” ।” तुम्हारे रहने के लिये मैंने पहले से ही हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा और तप—ये स्थान बना दिये हैं । तुम्हारे शिव आदि अनेक नाम होंगे और उमा, अम्बिकादि तुम्हारी पत्नियाँ होंगी । तुम प्रजापति हो अतः प्रजाओं की सृष्टि करो । पिता की आज्ञा मानकर नीललोहित ने अपनी जैसी ही सृष्टि प्रारम्भ की । उनके तेज से सारा संसार सन्तप्त होकर जलने लगा । यह देखकर ब्रह्माजी घबराये और रुद्र को आगे सृष्टि करने से रोका और कहा—“तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम समस्त प्राणियों को सुख देने के लिये तप करो फिर उस तप के प्रभाव से तुम पूर्ववत् इस संसार की रचना करना । तप के प्रभाव से व्यक्ति अनायास भगवान् को प्राप्त कर लेता है—

तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम् । सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान् ॥३/१२/१९

ब्रह्मा जी के कथन को सुनकर रुद्र ने सृष्टि करना बन्द कर दिया और तप करने के लिये जल में प्रवेश किया—  
“विवेश तपसे वनम्” ॥२०॥

मानसिक सृष्टि, तामसी सृष्टि से असन्तुष्ट ब्रह्मा ने आङ्गिक सृष्टि करने का सङ्कल्प किया तब उनके विभिन्न अङ्गों से १० ऋषि पुत्र उत्पन्न हुए । इनमें नारद जी ब्रह्मा की गोद से, दक्ष अँगूठे से, वसिष्ठ प्राण से, भृगु त्वचा से, क्रतु हाथ से, पुलह नाभि से, पुलस्त्य कानों से, अङ्गिरा मुख से, अत्रि नेत्रों से और मरीचि मन से उत्पन्न हुए—

उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः । प्राणाद्वसिष्ठ सङ्गातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥

१. वस्तुतः रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति है—(दुष्टान् जनान् रोदयतीति रुद्रः) जो दुष्ट लोगों को रुलावे उसका नाम रुद्र है अथवा रुष्टान् (स्वविमुखान् द्रावयति भीषयति इति रुद्रः) जो अपने से विमुख लोगों को भयभीत करते हैं, उन्हें रुद्र कहा जाता है ।

२. ‘जीवनं भुवनं वनम्’ अमरकोश के इस वचन के अनुसार यहाँ ‘वन’ का अर्थ ‘जल’ ही करना समीचीन है; क्योंकि उस समय वृक्ष-वन आदि का अभाव था ।



पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः । अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मानसोऽभवत् ॥

३/१२/२३-२४

फिर उनके दक्षिण स्तन से धर्म उत्पन्न हुआ, धर्म की पत्नी मूर्ति थी । मूर्ति के गर्भ से नारायण अवतीर्ण हुए । ब्रह्मा की पीठ से अधर्म का जन्म हुआ, अधर्म का बेटा हुआ मृत्यु । यह संसार के प्राणियों को कैपाने वाला है । इसी प्रकार ब्रह्मा जी के हृदय से काम, भौंहों से क्रोध, अधरोष्ठ से लोभ, मुख से सरस्वती, लिङ्ग से समुद्र, गुदा से पाप का निवास-स्थान (राक्षसों का अधिपति) निर्र्ति और छाया से कर्दम उत्पन्न हुए । इस प्रकार ब्रह्मा के मन और शरीर से सारे संसार की सृष्टि हुई ।

एक समय की घटना है । ब्रह्माजी की एक पुत्री थी उसका नाम था—सरस्वती । उस सुकुमारी कुमारी का सौन्दर्य अद्भुत था । ब्रह्मा उसके सौन्दर्य पर आकृष्ट हुए, विमुग्ध हुए । इस अधर्म, अनय को देखा ब्रह्मा के पुत्र मरीचि आदि महर्षियों ने, वे चिन्तित हो उठे । उन्होंने ब्रह्मा जी को विविध भाँति से समझाया और भगवान् से प्रार्थना की धर्म की रक्षा के लिये पुत्रों की बात सुनकर ब्रह्मा लज्जित हो उठे । उन्होंने अपना वह शरीर छोड़ दिया उसे दिशाओं ने ग्रहण कर लिया वही कुहरा हुआ, जिसे अन्धकार भी कहते हैं<sup>१</sup> ।

एक बार ब्रह्मा जी सृष्टि के उपायों को सोच रहे थे । उस समय उनके मन में यह विचार आया कि—“कैसे मैं पहले की भाँति जगत् का निर्माण करूँ ? इसी समय उनके पूर्वादि चार मुखों से क्रमशः चार वेद प्रकट हुए । वेदों की ही भाँति इतिहास, पुराण, आगम, छन्द, वर्णमाला और स्वर आदि भी उत्पन्न हुए । आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और स्थापत्य (शिल्पविद्या)—ये चार उपवेद भी क्रमशः उन पूर्वादि मुखों से प्रकट हुए फिर सर्वदर्शी भगवान् ब्रह्मा ने अपने सभी चारों मुखों से इतिहास-पुराणरूप पाँचवें वेद की सृष्टि की<sup>२</sup>—

इतिहास-पुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः । सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥ ३/१२/३९

परन्तु इतने पर भी जब सृष्टि का कार्य आगे नहीं बढ़ा तो ब्रह्माजी के मन में बड़ी चिन्ता हुई । उसी समय अकस्मात् उनके शरीर के दो भाग हो गये । इनमें से एक भाग पुरुष और दूसरा भाग स्त्री बन गया । जो भाग सौर-शक्ति-प्रधान था वह पुरुष हो गया और जो चान्द्र-शक्ति, सोम-शक्ति-प्रधान था वह स्त्री बन गया । यही आदि पुरुष, मनु बना जो भारतवर्ष का प्रथम सार्वभौम सम्राट् हुआ और जो स्त्री थी, वह उसकी महारानी शतरूपा हुई । तभी से मिथुन-धर्म (स्त्री-पुरुष-सम्भोग) से प्रजा की वृद्धि होने लगी । महाराज मनु ने शतरूपा से पाँच सन्तानें पैदा कीं । उनमें

१क. इसीलिये अन्धकार कामोद्दीपक होता है शतः यह भी संसार की सृष्टि में सहायक बना ।

ख. ब्रह्माजी का पुत्री पर कामातुर होने का कारण—असुर तारक के अत्याचार से त्रिलोकी सन्नस्त थी । देव, मानव महर्षि—सभी शिव की शरण में गये । भगवान् शङ्कर की स्तुति की । प्रसन्न हुए शङ्कर से सभी तारक के विनाश की प्रार्थना कर रहे थे । उसी समय गरुड की दृष्टि एक सुन्दर हंसिनी पर पड़ी । वे उस पर विमुग्ध हो कामातुर हो उठे । ब्रह्मा ने इस दृश्य को देखा । वे भरी सभा में हँस पड़े । गरुड लज्जित हो गये । उन्होंने ब्रह्मा को शाप देते हुए कहा—“आप को अपने जितेन्द्रियत्व का बड़ा अभिमान है । मुझे अपनी सजातीय पक्षिणी के साथ काम-क्रीडा की इच्छा हुई, यह कोई विशेष अनुचित कार्य नहीं । आप अपनी बेटी पर ही कामातुर हो मोहित हो जायेंगे । जिससे संसार में आप की बड़ी अपकीर्ति होगी और उसी से आप का शरीरपात भी हो जायेगा” । गरुड के इसी शाप-प्रभाव के कारण ब्रह्मा की यह दुर्दशा हुई है । यहाँ इतना ध्यान रखना पड़ेगा कि गरुड के शाप की कथा पूर्व कल्प की है और ब्रह्मा का पुत्री पर मोहित होना उत्तर कल्प की घटना है । तभी कथानकों की संगति बैठ सकेगी । पुराणों में इस प्रकार की घटनाओं का वर्णन साधारण बात है ॥ शिवपुराण, उ०सं०॥

२. ब्रह्मा के एक-एक मुख से एक-एक वेद प्रकट हुए और पुराणेतिहास एक साथ ब्रह्मा के चारों मुखों से प्रकट हुए । इससे पुराणों की महिमा वेदों से अधिक द्योतित की गई है ।



प्रियव्रत और उत्तानपाद—दो पुत्र थे तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति—तीन कन्याएँ थीं। मनु ने आकूति का विवाह रुचि प्रजापति से किया, मझली कन्या देवहूति कर्दम को दी और प्रसूति दक्ष प्रजा-पति को। इन्हीं तीनों कन्याओं की सन्तानों से सारा संसार भर गया—

आकूतिं रुचये प्रादात् कर्दमाय तु मध्यमाम् । दक्षायादात्प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत् ॥३/१२/५६  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

•

## तेरहवाँ अध्याय

( भगवान् वाराह के द्वारा पृथिवी का उद्धार )

श्री शुकदेव जी महाराज राजा परीक्षित से कहते हैं कि मुनिवर मैत्रेय जी से भगवान् की कथा सुनकर विदुर जी ने अत्यन्त आदरभाव के साथ प्रश्न किया—“स्वायम्भुव मनु ने पत्नी प्राप्त करके फिर क्या किया” ? मैं बड़ी श्रद्धा के साथ उनका चरित्र सुनना चाहता हूँ क्योंकि वे भगवान् की शरण ग्रहण किये हुए थे, शरणागत थे—

स वै स्वायम्भुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः । प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने ॥

चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम । ब्रूहिमेश्रद्धधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ ॥३/१३/२-३

विद्वानों का मत है कि जिन भक्तों के हृदय में भगवान् मुकुन्द के चरणारविन्द विराजमान हैं उनके चरित को सुनना ही शास्त्राध्ययन का प्रधान प्रयोजन है। मैत्रेय ने विदुर के प्रश्न को सुना। उनका रोम-रोम खिल उठा फिर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—“जब अपनी भार्या शतरूपा के साथ मनु का जन्म हुआ, तब उन्होंने बड़ी नम्रता के साथ हाथ जोड़ कर ब्रह्मा जी से कहा—‘पूज्यपाद आप हमारे पिता हैं। जगत् के जन्मदाता हैं अतः बतलाइये मैं आपकी किस आज्ञा का पालन करूँ ? पिता की आज्ञा का पालन ही इस लोक और परलोक में पुत्र की सत्कीर्ति का कारण बनता है’।” मनु की बात ब्रह्मा ने प्रेम से सुनी और फिर कहना प्रारम्भ किया—“बेटा, मैं तुम्हारे ऊपर अतिशय प्रसन्न हूँ, क्योंकि तुमने निष्कपट भाव से मुझसे यह प्रश्न पूछा है और मेरी आज्ञा चाही है। पुत्रों को अपने पिता के प्रति ऐसा ही सम्मान प्रकट करना चाहिये। उन्हें अपनी शक्ति के अनुसार, प्रमाद और दोष-दृष्टि के बिना, आदर के साथ, पिता के वचन को स्वीकार कर लेना चाहिये—

शक्त्याग्रमतैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः ॥३/१३/१०

अब बेटा तुम्हारा एक कर्तव्य यह है कि तुम अपनी इस भार्या से अपने ही समान गुणशाली सन्तति उत्पन्न करो। दूसरा कर्तव्य यह है कि धर्म के अनुसार पृथिवी का पालन करो और तीसरा कर्तव्य यह है कि यज्ञों के द्वारा परमात्मा की आराधना करो। बस, यह मेरी सब से बड़ी सेवा है। प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करने वाले राजा के ऊपर भगवान् अतिशय प्रसन्न होते हैं”—

भगवांस्ते प्रजा भर्तुर्दधीकेशोऽनुतुष्यति ॥३/१३/१२

पिता की बात को श्रद्धा के साथ मनु ने सुना और कहा कि—“पिता जी, मैं आप के आदेश का पालन करने

- जीवतो वाक्यकरणात् क्षयाहे भूरि भोजनात् । गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥ देवी भागवत ॥  
जीवित पिता की आज्ञा का पालन करना, उनकी मृत्यु-तिथि पर प्रभूत लोगों को भोजन करना तथा गया तीर्थ में उनके उद्देश्य से पिण्डदान करना—इन्हीं तीन बातों के करने से पुत्र सच्चे अर्थ में पुत्र बनता है।



के लिये तैयार हूँ। किन्तु संसार की आधारभूत पृथिवी इस समय जल में निमग्न है, डूबी हुई है। किस पर मैं सृष्टि का कार्य करूँ ? देव, आप उसके उद्धार का उपाय करें” ।

**यदोकः सर्वसत्त्वानां मही मग्ना महाम्भसि । अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम् ॥३/१३/१५**

मैत्रेय जी ने कहा—“विदुर, पृथिवी को अगाध जल में डूबी हुई देख कर ब्रह्माजी को बड़ी चिन्ता हुई। वे बहुत देर तक सोचते रहे कि अब क्या करना चाहिये। पृथिवी का उद्धार कैसे हो ? उसी समय उनकी नासिका के छिद्र से अकस्मात् अँगूठे के बराबर आकार का एक शूकर-शिशु (वराह-शिशु) निकला<sup>१</sup>। वह देखते-ही-देखते हाथी के समान विशाल आकार का हो गया, थोड़ी ही देर में वह स्थूल पाषाण के समान बन गया। यह देखकर अपने मरीचि आदि पुत्रों के साथ ब्रह्माजी ने सोचा—अहो, मेरी नासिका से यह क्या उत्पन्न हुआ ? अवश्य ही यह यज्ञमूर्ति भगवान् हैं जो हम लोगों के मन को मोहित कर रहे हैं, यह सुन कर वराह भगवान् ने बड़े जोरों से गर्जना की। उनके गर्जन से सारी दिशाएँ-प्रतिदिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठीं। ब्रह्मा के हर्ष का पारावार न रहा। ब्राह्मणों, मुनियों एवं ऋषियों को भी बड़ा आनन्द आया। सब ने मिल कर वराह भगवान् की स्तुति की। स्तुति सुन कर भगवान् वराह बड़े प्रसन्न हुए। भगवान् स्वयं यज्ञपुरुष हैं तथापि वे अपनी घ्राणेन्द्रिय से सूँघ-सूँघ कर पृथिवी का पता लगा रहे थे। उनकी दाढ़ें बड़ी कठोर थीं। स्तुति करनेवाले मुनियों की ओर बड़ी सौम्य दृष्टि से देखते हुए उन्होंने जल में प्रवेश किया—

**घ्राणेन पृथिव्याः पदवीं विजिघ्रन् क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः ।**

**करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदग्भ्यामुद्वीक्ष्य चिप्रां गृणतोऽविशत्कम् ॥३/१३/२८**

पृथिवी जल में निमग्न थी अतः उसे खोजने के लिये वराह ने जल में प्रवेश किया। पृथिवी जल में ही डूब सकती है। पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही होने के कारण इसका लय भी जल में ही हो सकता है। सकल कार्य अपने कारण में ही विलीन हुआ करते हैं यह उपनिषदों का सिद्धान्त है। जिस समय भगवान् वराह का वज्र की तरह कठोर शरीर सागर के जल में कूदा उस समय जल फटने से बड़े जोर की ध्वनि हुई। विशाल उत्ताल तरङ्गें उठने लगीं मानों समुद्र हाथ उठा कर, चिल्ला कर कह रहा हो—

**उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्तश्चक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ॥३/१३/२९**

भगवान् ने रसातल में जाकर पृथिवी को देखा और अपनी दाढ़ से उसे उसी प्रकार ऊपर उठाया जैसे कोई प्रियतम अपनी प्रियतमा को गोद में उठाता है। वराह पृथिवी को लेकर जब ऊपर की ओर चलने लगे तो उनके मार्ग में भयानक गदा लिये हुए हिरणयाक्ष आ गया, वह असह्य-विक्रम दैत्य था। उसे भगवान् ने खेल-खेल में मार डाला और उसके रक्त से अपने थूथन को, तुण्ड को, रञ्जित कर धरती के साथ बाहर निकले। उस समय महात्माओं ने वराह भगवान् की बड़ी दिव्य स्तुति की—भगवान् अजित, आप की जय हो, जय हो। यज्ञों के स्वामी, आप अपने वेदत्रयीरूप विग्रह को कैपा रहे हैं, फटकार रहे हैं; आप को नमस्कार है। आप के प्रत्येक रोम-छिद्रों में यज्ञ लीन हैं। आप ने पृथिवी का उद्धार करने के लिये ही यह सूकर रूप धारण किया है, आप को बारम्बार प्रणाम है—

**जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।**

**यद्रोमगर्तेषु निलित्युरध्वरास्तस्मै नमः कारणसूकराय ते ॥३/१३/३४**

१क. वराह के नासिका से प्रकट होने का भाव पृथिवी का उद्धार करना है, पृथिवी गन्धवती है। गन्ध ग्रहण करने की शक्ति नासिका में ही होती है। वराह की घ्राण-शक्ति भी प्रबल होती है। वह सूँघ-सूँघ कर पृथिवी का पता लगा लेता है अतः भगवान् वराह ब्रह्मा की नासिका से प्रकट हुए।

ख. हिरणयाक्ष ने पृथिवी का हरण कर उसे रसातल में विष्ठा के मध्य रक्खा था। वराह विष्ठा-प्रिय होता है अतः विष्ठा-परिवेष्टित पृथिवी का उद्धार करने के लिये भगवान् को वराह का अवतार लेना पड़ा।



आपके रोम-रोम में यज्ञ की सारी सामग्रियाँ और सारे पात्र विराजमान हैं अतः आप यथार्थ में यज्ञमूर्ति हैं। कारणवश आपने इस सूकर<sup>१</sup> रूप को धारण किया है। आप के दाँतों के ऊपर स्थित यह पृथिवी उसी प्रकार शोभित हो रही है जैसे विशाल पर्वत की चोटी पर मेघ-माला हो। आप अपनी पत्नी इस जगन्माता पृथिवी को अब जल के ऊपर स्थापित कीजिये। जगत् को धारण करने के लिये आपने इसमें अपना तेज स्थापित किया है। आप के साथ इस पृथिवी माता को हम प्रणाम करते हैं। प्रभो, जल से भीगें हुए विग्रह को जब आप हिलाते हैं, तब हमारे ऊपर आप की गरदन के बालों से झरती हुई शीतल जल की बूँदें गिरती हैं। प्रभो, उससे हम जनलोक, तपलोक और सत्यलोक में रहने वाले मुनि-जन सर्वथा पवित्र हो जाते हैं। हम लोगों की विनती है कि आप इसी प्रकार सर्वदा जगत् का कल्याण करते रहें—

विश्वं समस्तं भगवन् विधेहि शम् ॥३/१३/४५

महात्माओं का कथन है कि जो आप के इस रूप और इस कर्म का समादर नहीं करता उसकी बुद्धि माया से मोहित अतः भ्रष्ट है। भगवान् तो भगवान् ही ठहरे चाहे शकल-सूरत कैसी ही हो। सोना तो सोना ही ठहरा उससे निर्मित आभूषण चाहे जैसा हो। एक दिन मैया यशोदा ने कन्हैया को नहला धुलाकर उनका दिव्य भ्रूंगारं कर दिया, चोटी कर दी नया पीताम्बर पहना दिया उस समय दिव्य छटा थी श्रीकृष्ण की। थोड़ी देर के बाद कन्हैया धूलमाटी में लथपथ होकर मैया के सामने आये। उन्हें इस रूप में देखकर हँसती हुई यशोदा ने कहा—‘कन्हैया, लगता है तू पिछले जन्म में सूकर था, तभी तो इस प्रकार धूल-माटी में लोटता-पोटता है—

पंकाभिषिक्तसकलावधवं निरीक्ष्य दामोदरं वदति कोपवशाद् यशोदा ।

त्वं सूकरोऽसि गतजन्मनि पूतनारे ॥ श्रीकृष्णकणामृत

एक दिन मैया कन्हैया को लेकर यमुना स्नान कर रही थी। कन्हैया यमुना-जल में इधर-से-उधर छपर-छपर करने लगे। मैया ने यह दृश्य देखा तो बरबश उनके मुख से निकल पड़ा—अरे कन्हैया ! तू पूर्वजन्म में मछली था क्या रे ! खैर ।

मैत्रयी जी ने कहा—‘विदुर जी, उन ब्रह्मवादी मुनियों, ऋषियों की इस प्रकार स्तुति सुन कर भगवान् वराह ने पृथिवी को जल के ऊपर स्थापित कर सबके देखते-ही-देखते अन्तर्धान हो गये। जो व्यक्ति भगवान् की इस कथा-सुधा का पान करता है, उसके सारे पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं। भगवान् अतिशीघ्र उसके ऊपर प्रसन्न हो जाते हैं। प्रसन्न हुए भगवान् भक्त के सारे मनोरथों को तो पूरा ही करते हैं उसे अपना दुर्लभ परम पद भी प्रदान कर देते हैं। अरे, संसार में पशुओं को छोड़कर, अपने पुरुषार्थ का सार जानने वाला ऐसा कौन पुरुष होगा, जो आवागमन को छुड़ा देनेवाली भगवान् की प्राचीन कथाओं में से किसी भी अमृतमयी कथा का, अपने कर्णपुटों से एक बार भी पान करके फिर उसकी ओर से मन हटाले, विरक्त हो जाय—

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्, पुराकथानां भगवत्कथासुधाम् ।

आपीय कर्णाङ्गलिभिर्भवापहामहो विरज्येत विना नरेतरम् ॥३/१३/५०

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥

१. सू-सू करोतीति सूकरः । जो सू-सू करता है, उसे सूकर कहते हैं ।

२. युद्ध के लिये गदा लेकर आये हुए क्रुद्ध हिरण्याक्ष को देखकर पृथिवी काँप उठी। वह भय-वश वराह से लिपट गई। वराह के शरीर का तेज पृथिवी पर पड़ा इससे वह गर्भवती हो गई। चूँकि गर्भाधान की बेला में हिरण्याक्ष भयभीत पृथिवी के सामने और मन में भी था अतः पृथिवी से राक्षस पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी भूमि-पुत्र का नाम है—भौमासुर, नरकासुर जिसका उद्धार श्रीकृष्ण ने किया था।



## चौदहवाँ अध्याय

( सायंकाल की बेला में दिति के हठ से कश्यपद्वारा गर्भाधान और फलस्वरूप आदि दैत्यों का जन्म )

श्री शुकदेव जी ने परीक्षित से कहा—हे राजन्, महर्षि मैत्रेय जी के द्वारा वर्णित यज्ञ-भगवान् वराह की कथा को सुनकर विदुर प्रसन्न तो बहुत हुए किन्तु उन्हें तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने बड़ी विनम्रता से हाथ जोड़ कर पुनः पूछा—‘महर्षि जी, भगवान् वराह के हाथों हिरण्याक्ष का वध तो आप ने हमें सुना दिया है। किन्तु आप यह भी बतलाने की कृपा करें कि हिरण्याक्ष के साथ वराह भगवान् का युद्ध क्यों हुआ ? दैत्य की उत्पत्ति कैसे हुई ? आप ने हिरण्याक्ष के वध के विषय में अत्यन्त संक्षिप्त कथा कही है। प्रभो, इसे विस्तार से कहने की कृपा करें।

विदुर जी की हरि-कथा-पिपासा को देखकर मैत्रेय जी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उन्होंने कहा—“विदुर जी, आप का प्रश्न बड़ा ही उत्तम है। आप ने श्रीहरि की कथा के विषय में पूछा है। श्रीहरि की कथा मनुष्यों के मृत्यु-पाश को काट देनेवाली है। देखिये नारद जी के द्वारा सुनाई गई इसी हरि-कथा के प्रभाव से उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव जी मौत के शिर पर पैर रखकर भगवान् के परमपद पर आरूढ़ हुए थे। इस विषय में पहले ब्रह्मा जी ने देवताओं को एक इतिहास सुनाया था। उसी को मैं आप से कह रहा हूँ, सावधान होकर सुनिये—

“दक्ष की बेटी दिति कश्यप की पत्नी थी। एक समय कश्यप जी अग्नि में हवन कर भगवान् का ध्यान करते हुए बैठे थे। उस समय भगवान् भास्कर अस्ताचल को जा चुके थे। सन्ध्या की बेला थी। उसी समय पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से, काम से पीड़ित, दिति यज्ञशाला में कश्यप जी के पास पहुँची। उसने अपने पतिदेव कश्यप के कन्धे को पकड़कर हिला दिया और कहा—“विद्वन्, जैसे मतवाला हाथी कदली के वृक्ष को मसल डालता है, वैसे ही यह प्रसिद्ध धनुर्धर कामदेव आप के आलिङ्गन-पाश में बँध जाने के लिये मुझे बेचैन बना रहा है—

एष मां त्वत्कृते विद्वन् काम आत्तशराशनः। दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः॥३/१४/९  
मेरी सौतें पुत्रवती हैं। उनकी सुख-समृद्धि को देखकर मेरा हृदय ईर्ष्या की आग से जल रहा है। अतः आप मुझ पर कृपा कीजिये, आपका कल्याण हो। बात हम लोगों की तरुणावस्था की है। एक बार मेरे पिता जी ने हम सभी बहनों से अलग-अलग पूछा कि हम लोग किससे विवाह करना चाहती हैं—“कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक्”॥१२॥ और जब हम तेरह लड़कियों ने आपका नाम बतला दिया तो उन्होंने हमारा विवाह आप से कर दिया इसलिये अब आप को हमारी इच्छा पूरी करनी चाहिये।

यहाँ दिति की गलती यह थी कि उसने देश और काल का विचार नहीं किया। वह काम के वेग से विवेक-शून्य हो चुकी थी। एकादशी हो, शिवरात्रि हो, रामनवमी हो तो व्यक्ति को संयम से रहना चाहिये। इसका विचार किये बिना यदि संभोग किया जाता है, फलतः सन्तान उत्पन्न होती है तो वह उच्छृङ्खल और अमर्यादित होती है।

कश्यप ने दिति की बात सुनी, उसका आग्रह देखा। उस समय वह कामदेव के वेग से अत्यन्त बेचैन और बेवश हो रही थी, उसकी यह स्थिति देखकर समझाते हुए कश्यप ने कहा—“मेरी भीरु प्रिये, घबड़ाओ नहीं। मैं तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूरा करूँगा भला, जिसके द्वारा अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों की सिद्धि होती है, अपनी ऐसी पत्नी की कामना कौन पूर्ण नहीं करेगा। पत्नी के सहारे पुरुष बड़े-बड़े झंझावातों को सरलता से झेल लेता है। विकराल संसार सागर को पार करने के लिये पत्नी वज्र जैसी सुदृढ नैया है। धर्म और मर्यादा की रक्षा के लिये ही विवाह किया जाता है। कामादि शत्रुओं को सरलता से जीतने के लिये पत्नी सुदृढ दुर्ग है। उसी के ऊपर गृहस्थी



का सारा भार डाल कर पुरुष निश्चिन्त रहता है तो ऐसी स्त्री का मनोरथ भला कौन व्यक्ति पूरा नहीं करेगा ? मैं तुम्हारे उपकारों से सौ वर्षों में भी उन्मत्त नहीं हो सकता परन्तु अभी तुम थोड़ी देर ठहरो, जिससे लोग मेरी निन्दा न करें। यह सन्ध्या (प्रदोष) की घोर बेला है इसमें तुम्हारे देवर<sup>१</sup> भगवान् शङ्कर बैल पर चढ़ कर अपने गणों के साथ चतुर्दिक् भ्रमण किया करते हैं वे तीन नेत्रों से देख रहे हैं—

एतस्यां साध्वि सन्ध्यायां भगवान् भूतभावनः । परीतो भूतपर्षद्विवृषिणाटति भूतराट् ॥३/१४/२३  
देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते ॥३/१४/२४

शङ्कर के लिये कोई अपना-पराया नहीं है, हम उन्हीं की इच्छा के वशवर्ती हो व्यवहार करते हैं। बड़ा पवित्र चरित्र है शङ्कर जी का जो मनीषी-गण अविद्या के पर्दे को फाड़ डालना चाहते हैं, वे शङ्कर जी के पावन चरित्र की स्तुति करते हैं—

यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः ॥३/१४/२६

उनसे बढ़कर तो क्या, उनकी बराबरी का भी कोई नहीं है। वे लोग भाग्यहीन हैं जो शङ्कर जी के चरित्र की हँसी उड़ाते हैं—

हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम् ॥३/१४/२७

अतः उनका अनादर मत करो, वे बड़े प्रभावशाली हैं अतः दो घड़ी ठहर जाओ।

कश्यप जी के इतना प्रेम और आदर के साथ समझाने पर भी दिति के ऊपर कोई प्रभाव न पड़ा। वह काम के आवेग से छटपटा रही थी अतः उसने वेश्या के समान निर्लज्ज होकर महर्षि कश्यप जी का वस्त्र पकड़ लिया—

सैवं संविदितो भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया । जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा ॥३/१४/२९

कश्यप जी ने पत्नी के हठ को देखा, उन्होंने इसे दैव का खेल समझा और उसे (दैव को) नमस्कार किया फिर उन्होंने जप-ध्यान को छोड़कर एकान्त में दिति के साथ काम-क्रीडा कर उसके काम से सन्तप्त मन को शान्त किया। काम-क्रीडा कर लेने के बाद कश्यप ने जल में स्नान किया। प्राण और वाणी का संयमन करके वे फिर ज्योतिर्मय ब्रह्म का ध्यान करने लगे। काम की गर्मी शान्त हो जाने के बाद दिति को भी उस निन्दित कर्म के कारण बड़ी लज्जा आई। जप-ध्यान समाप्त कर बैठे हुए महर्षि कश्यप के पास वह गई और लज्जा के मारे शिर नीचा किये हुए ही उनसे बोली—“हे भगवन्, उस समय मैं काम से व्याकुल थी, विवेक खो बैठी थी अतः मैंने रुद्र का बड़ा अपराध किया। स्त्रियों पर व्याध भी कृपा करते हैं। मैं उन्हें बार-बार प्रणाम करती हूँ। आप और मेरे जीजा भगवान् शङ्कर दोनों ही मुझे क्षमा करें”।

दिति काँप रही थी, उसकी पश्चात्तापभरी प्रार्थना को सुनकर कश्यप जी ने कहा—“उस समय तुम्हारा चित्त काम से मलिन था, मुहूर्त भी दोषपूर्ण था, मेरी भी बात तुमने नहीं मानी और देवताओं की भी अवहेलना की अतः अमङ्गलमयी चण्डी, तुम्हारी कोख से दो बड़े ही अमङ्गलमय और अधम पुत्र उत्पन्न होंगे जो त्रिलोकी को पीड़ित करेंगे निरपराध प्राणियों को सतायेंगे। उनके अत्याचार से ऋषि-मुनि भी सन्नस्त हो उठेंगे तब भगवान् अवतार लेकर उन दोनों का वध करेंगे”।

अपने पति कश्यप की बात को सुनकर दिति प्रसन्न हो उठी। उसने कहा—“प्रभो, यही मैं भी चाहती हूँ कि मेरे पुत्रों का वध केवल भगवान् चक्रपाणि के हाथों से ही हो, कुपित ब्राह्मणों के शापादि से न हो”—

१. जामाताओं (साढ़ुओं) में परस्पर भाई का व्यवहार होता है। यहलोक व्यवहार है। दक्ष के दामाद शङ्कर और कश्यप दोनों थे। सती दक्ष की बेटियों में सब से छोटी थी अतः शङ्कर दिति के देवर हुए।



वधं भगवता साक्षात् सुनाभोदारबाहुना । आशासे पुत्रयोर्महं मा कृन्दाद् ब्राह्मणाद्विभो ॥३/१४/४१  
कश्यपजी ने फिर दिति से कहा—“देवि, तुमने अपनी गलती पर शोक और पश्चात्ताप प्रकट किया है । भगवान् शिव, विष्णु और मेरे प्रति भी आदर-भावना व्यक्त की है अतः तुम्हारा एक पौत्र भगवान् का अनन्य भक्त होगा । सत्पुरुष भगवान् के गुणों के साथ उसके यश का गान करेंगे—

पुत्रस्यैव तु पुत्राणां भवितैकः सतां मतः । ग्रास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम् ॥३/१४/४४  
वह समदर्शी होगा, निर्वैर होगा और परमशीलवान् होगा । भगवान् उसके गुणों पर रीझकर उसे दर्शन देंगे” ।  
मैत्रेय जी कहते हैं—“विदुर जी, दिति ने जब इन बातों को सुना तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । कृष्ण के द्वारा दोनों पुत्रों के वध की बात जान कर वह महामना हो गई । सत्पात्रों को बुला-बुला कर दोनों हाथों से दान देना प्रारम्भ कर दिया—

श्रुत्वा भागवतं पौत्रममोदत दितिर्भृशम् । पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वाऽऽसीन्महामनाः ॥३/१४/५०  
क्यों न करती दिति ऐसा ? आखिर यही तो मातृत्व है ॥१४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

## पन्द्रहवाँ अध्याय

( जय-विजय को सनकादि कुमारों का शाप )

मैत्रेय जी ने कहा—“विदुर जी, दैत्यों का दमन करनेवाले भगवान् विष्णु हमारे देव-द्रोही पुत्र का विनाश कर देंगे इस भय से आशङ्कित दिति अपने गर्भ को सौ वर्षों तक धारण किये रही—

प्राजापत्यं तु ततेजः परतेजोहनं दितिः । दधार वर्षाणि शतं शङ्कमानाऽसुरार्दनात् ॥३/१५/१  
उस गर्भस्थ तेज से ही लोगों में सूर्य आदि का प्रकाश क्षीण होने लगा, उससे इन्द्र आदि लोक-पाल भी तेजोहीन हो गये फिर उन लोगों ने ब्रह्मा की शरण में जाकर कहा—“प्रभो, चतुर्दिक् अन्धकार के कारण सर्वत्र अव्यस्था फैल गई है, हम आपकी शरण में आये हैं । अन्धकार के कारण दिन-रात का भेद भी समाप्त हो गया है, अतः सारे सत्कर्मों के अनुष्ठान रुक गये हैं । आप हम सब प्रजा का कल्याण कीजिये । देखिये, आग जिस प्रकार ईंधन में पड़ कर बढ़ती रहती है, उसी प्रकार दिति की कोख में पड़ा हुआ यह कश्यपजी का तेज सम्पूर्ण दिशाओं को अंधकारमय करता हुआ क्रमशः बढ़ रहा है” ।

ब्रह्मा ने देवों की बातें सुनीं, उन्हें हँसी आ गई फिर देवताओं को अपनी मधुर वाणी से प्रसन्न करते हुए उन्होंने कहा— देवों, इस सङ्कट का पूरा रहस्य ही मैं तुम लोगों के सामने खोलकर रख दे रहा हूँ । बात बहुत पुरानी है । तुम्हारे पूर्वज और हमारे मानसपुत्र सनत्कुमार आदि समस्त लोकों में भ्रमण किया करते थे । उनके मन में किसी भी प्रकार की स्पृहा न थी, इच्छा न थी । एक बार भ्रमण करते हुए वे भगवान् विष्णु के लोक वैकुण्ठ में पहुँचे । यह लोक सारे लोकों से ऊपर है । इसकी आभा-प्रभा विलक्षण है । भगवान् लक्ष्मी जी के साथ इस लोक में सदा विराजमान रहते हैं । वैकुण्ठ में कल्प-वृक्षों की विशाल कतारें हैं । इसे नैःश्रेयस वन कहते हैं । वहाँ भ्रमर भी भगवत्कथा का सङ्गीत गुनगुनाते हैं—“भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने” ॥१८॥ सुगन्धित विविध पुष्पों की मनोहारिणी गन्ध चारों ओर वातावरण को आकर्षक बना रही है । हंस, कोकिल एवं मयूर आदि पक्षियों की सुमधुर ध्वनि यहाँ सर्वदा निनादित होती रहती है । वहाँ रहने वाले सभी लोगों का आकार-प्रकार, वेश-भूषा आदि सब कुछ भगवान् विष्णु के जैसा ही होता है । वे लोग निष्काम भाव से हरि की आराधना में तन्मय रहते हैं । वहाँ के आवास, वहाँ की भित्तियाँ



और भूमियाँ सब के सब मणियों से निर्मित हैं। परम सौन्दर्य से सम्पन्न लक्ष्मी जी, जिनके कृपा-कटाक्ष को पाने के लिये देवमण्डली भी लालायित रहती है, श्रीहरि के भवन में चञ्चलतारूप दोष को छोड़कर निवास करती हैं। जब वे हाथ में कमल घुमाती हुई, नूपुरों की झङ्कार करती हुई चलती हैं तो प्रतीत होता है कि वे वहाँ के मणिमय कुट्टिम को बुहार रही हों—

श्री रूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं लीलाम्बुजेन हरिसङ्घनि मुक्तदोषा ।

संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥३/१५/२१

सर्वाधिक ऊँचाई पर स्थित उस वैकुण्ठलोक में वे ही परम भागवत निवास करते हैं; जिनकी आँखों से, भगवत्कथा सुनने पर अविरल अश्रुधारा बहती रहती है और जिनका शरीर रोमाञ्च से भरा होता है। भगवान् वैकुण्ठनाथ के दर्शन की लालसा से भरे हुए, अतः अन्य दर्शनीय सामग्रियों की उपेक्षा करते हुए, वे सनकादि चारों कुमार छः ड्योढ़ियाँ पार कर सातवीं पर पहुँचे तो देखा कि दो सुन्दर तरुण अलङ्कृत व्यक्ति हाथ में गदा लिये हुए खड़े हैं। वैकुण्ठ के उन प्रतिहारों का नाम था—जय और विजय<sup>१</sup>।

सनत्कुमार आदि अवस्था में सभी ऋषियों, मुनियों और देवताओं से बड़े थे किन्तु देखने में वे पाँच वर्ष के बालक जैसे प्रतीत होते थे। जब वे सात ड्योढ़ी पार कर आठवें कक्ष में प्रवेश करने लगे तो जय-विजय ने द्वार पर छड़ी लगाकर उन्हें रोक दिया। यद्यपि वे पूज्य थे, समदृष्टि थे, तत्त्वज्ञ थे और थे दिगम्बर भी। अतः जय-विजय के द्वारा किये गये इस प्रकार के धृष्ट व्यवहार के योग्य नहीं थे। कुमारों में भगवान् के दर्शन की लालसा प्रबल थी अतः जय-विजय के द्वारा रोक दिये जाने पर उन्हें कुछ-कुछ क्रोध आ ही गया, उनकी आँखें लाल हो गईं। उन्होंने कहा—“यह तो समदर्शी लोगों के रहने का स्थान है। तुम लोगों का स्वभाव विषम है। जो भगवान् की सेवा में रहते हैं, उनको जान लेते हैं उनकी भेद-वृत्ति मिट जाती है। तुम लोग रहते हो भगवान् के पास और करते हो इतना भेद ? अतः तुम दोनों यहाँ रहने के योग्य नहीं हो। इसलिये तुम लोग उस लोक में जाओ जहाँ काम-क्रोध-लोभ रहते हैं—

लोकानितो ब्रजतमन्तरभावदृष्ट्या पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥३/१५/३४

जय-विजय मुनियों के शाप को सुनते ही काँपने लगे। उन्हें ज्ञात था कि ब्राह्मणों का शाप अनिवारणीय हुआ करता है। उन्हें यह भी विदित था कि उनके स्वामी ब्राह्मणों से बहुत डरते हैं अतः अत्यन्त कातर भाव से वे दोनों हरि-पार्षद मुनियों के चरणों पर गिर पड़े। बड़ी दीनता से हाथ जोड़कर उन लोगों ने अपने अविचारित कृत्य के लिये क्षमा-याचना की और कहा—“भगवान् की आज्ञा का ठीक-ठीक अभिप्राय, न जानकर हम लोगों ने आप का अपराध किया है अतः आप के द्वारा दण्ड देना सर्वथा उचित है। किन्तु प्रभो, मेरी एक प्रार्थना है। कृपापूर्वक आप उसे सुनें। ब्रह्मन्, आपके शाप के कारण अधमयोनियों में जाने पर भी हमें भगवत्स्मृति को नष्ट करनेवाला मोह न प्राप्त हो। भगवान् का स्मरण हमें सर्वदा बना रहे<sup>२</sup>—

१. योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ध्यान की सीमा पार करने के बाद ही समाधि में ईश्वर का साक्षात्कार होता है। वैकुण्ठ की ड्योढ़ियाँ भी योग के आठ अङ्गों के अनुकरण पर बनी हैं। वहाँ भी सातवीं ड्योढ़ी पार करने पर ही अष्टम कक्ष में नारायण के दर्शन होते हैं। दक्षिण में और वृन्दावन में भी श्रीरङ्ग जी का मन्दिर इसी तर्ज पर बना है। उसे वैकुण्ठ की अनुकृति कहते हैं। योग में जब साधक योगी सातों अङ्गों को पार कर आठवें में प्रवेश करना चाहता है तो उसे जय = अपने लोक में प्रसिद्धि की लालसा और विजय = विदेश में प्रसिद्धि की इच्छा, रोक देते हैं और फिर वह वहाँ से नीचे गिर जाता है।

२. यद्यपि इस स्थल से यह ज्ञात नहीं होता कि मुनियों का यह शाप जय-विजय के कितनी बार जन्म लेने के लिये था। किन्तु अन्य पुराणों से तथा श्रीमद्भागवत में शिशुपाल वध के प्रसङ्ग में कहे गये वचन—“जन्मत्रयानुगुणितवैरसंख्यया धिया । ध्यार्यस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम्” ॥१०.७४.४६ को देखने से यह विदित होता है यह शाप तीन जन्मों के लिये था।



मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरघोऽथः ॥३/१५/३६  
वैकुण्ठ में वैकुण्ठनाथ लक्ष्मी के साथ विराजमान थे। उनमें परस्पर कुछ हास-परिहास चल रहा था। इसी समय भगवान् को ज्ञात हुआ कि द्वारपालों ने सनकादि साधुओं का अनादर कर दिया है। अपने व्यक्तियों के द्वारा ब्राह्मणों का अनादर, साधुओं का असत्कार भगवान् को सह्य नहीं अतः वे लक्ष्मी जी के सहित अपने उन्हीं श्रीचरणों से चलकर ही वहाँ पहुँचें, जिन्हें परमहंस मुनिजन भी ढूँढते रहते हैं—सहज में पाते नहीं—

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।

तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीनामन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः ॥३/१५/३७

भगवान् का सौन्दर्य त्रिलोकी का अद्भुत निदर्शन है। संसार के सकल सदगुण श्रीहरि में विराजमान हैं। उनकी सौम्य सुभग मुखमुद्रा सब पर समानरूप से कृपा-सुधा की शीतल वर्षा करती रहती है। उनकी स्नेहमयी सुस्निग्ध चितवन से भक्तों का हृदय-कमल खिल उठता है। उनके विशाल वक्षःस्थल पर सुवर्ण-वर्ण श्रीवत्स सुशोभित रहता है। इससे वैकुण्ठधाम स्वयं शोभा को प्राप्त होता है। उस समय उनके पीताम्बर-मण्डित विशाल नितम्बों पर झिलमिलाती हुई करधनी और कण्ठ में भ्रमरों से गुञ्जायमान वनमाला विराज रही थी। उनकी कलाइयों में मणि-मण्डित कंगन सुशोभित हो रहे थे। उनका एक हाथ गरुड के कन्धे पर था। वे अपने दूसरे हाथ से कमल घुमा रहे थे—

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम, स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।

श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्वश्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्यम् ॥

पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या, काञ्चालिभिर्विकृतया वनमालया च ।

वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे, विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् ॥३/१५/३९-४०

कितने सुभग शब्दों में महर्षि व्यास ने भगवान् के स्वरूप एवं सौन्दर्य का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया यह देखते ही बनता है। इस प्रकार की कविता-कला की छाया यदि कोई स्पर्श कर सकता है तो वह है महाकवि कालिदास।

सनकादि मुनीश्वर निरन्तर ब्रह्मानन्द में निमग्न रहा करते थे। किन्तु जिस समय भगवान् कमलनयन के चरणारविन्दमकरन्द से मिली हुई तुलसी-मञ्जरी की गन्ध से सुवासित वायु ने नासिका के छिद्रों के द्वारा उनके अन्तःकरण में प्रवेश किया उस समय वे अपने शरीर को सँभाल न सके और उस दिव्य गन्ध ने उनके मन में भी खलबली उत्पन्न कर दी—

तस्यारविन्दनयनस्य

पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।

अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥३/१५/४३

भगवान् का दिव्य दर्शन कर मुनियों का क्रोध शान्त हो गया। इतना ही नहीं, वे अपने क्रोध के लिये मन ही मन पश्चात्ताप भी करने लगे। वे भगवान् के श्रीचरणों पर गिर पड़े और हाथ जोड़े हुए बोले—“प्रभो, आप सब के हृदय में सर्वदा विराजमान रहते हैं किन्तु आज आपका प्रत्यक्ष दर्शन कर हम कृतार्थ हो गये। प्रभो, आप का सुयश अत्यन्त कीर्तनीय और सांसारिक दुःखों को निवृत्ति करने वाला है। आपके चरणों की शरण में रहनेवाले जो महाभाग आपकी कथाओं के रसिक हैं, वे आप की परमकृपा से प्राप्त मोक्ष की भी परवाह नहीं करते। फिर तो आपकी भृकुटि के तनिक कुटिल होते ही जो भयाक्रान्त हो उठते हैं, उन स्वर्ग आदि लोकों की बात ही क्या है ?

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं, किन्त्वन्यदर्पितभयं भुव उन्नयैस्ते ।

येऽङ्गत्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥३/१५/४८॥  
पीछे जैसा निर्देश किया गया है, वैकुण्ठ लोक में और उसमें भी भगवान् के भक्तों पर क्रोध करके सनत्कुमार



आदि नें गलती कर दी थी, पाप कर दिया था। पाप का फल नरक होता है, नारकीय योनियाँ होती हैं अतः उन्होंने भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहा—“भगवन्, यदि हमारा चित्त भौर की तरह आप के चरण कमलों में ही रमण करता रहे, हमारी वाणी, तुलसी के समान, आपके चरण-सम्बन्ध से ही शोभा-सम्पन्न होती रहे और हमारे कान आपकी कीर्ति-सुधा से परिपूर्ण होते रहें तो अपने पापों के कारण भले ही हमारा जन्म नरकादि योनियों में हो जाय—इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है—

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ताच्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत ।

वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः, पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥ ३/१५/४९

आप ने सम्प्रति हम लोगों के समक्ष जो रूप प्रकट किया है, इससे हमारे नेत्रों को परम तृप्ति प्राप्त हो रही है। हम इस रूप को बार-बार प्रणाम करते हैं ॥१५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥

•

## सोलहवाँ अध्याय

( जय-विजय का वैकुण्ठ से पतन )

ब्रह्माजी ने कहा—“देवों, मुनियों के वचनों को सुन कर भगवान् ने उनका अभिनन्दन करते हुए, इस प्रकार कहा—जय और विजय हमारे पार्षद हैं, सेवक हैं। इन्होंने मेरी कुछ भी परवाह न करके आप का बड़ा अपराध किया है। आप लोग मेरे अनुगत भक्त हैं। भक्त मेरा अपना ही स्वरूप होता है अतः यह आपके प्रति नहीं, अपितु मेरे प्रति अपराध है। ब्राह्मण मेरे परम आराध्य हैं; मेरे अनुचरों के द्वारा आप लोगों का जो तिरस्कार हुआ है, उसे मैं अपने द्वारा ही किया गया मानता हूँ। सेवक का किया हुआ अपराध स्वामी का ही अपराध माना जाता है—इसलिये मैं आप लोगों से क्षमा-याचना कर रहा हूँ, प्रसन्नता की भिक्षा मांगता हूँ—

तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे । तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः ॥ ३/१६/४

सेवकों के अपराध करने पर संसार उनके स्वामी का ही नाम लेता है। वह अपकीर्ति स्वामी के यश को उसी प्रकार मलिन करती है, जैसे त्वचा को कोढ़। मेरी निर्मल सुयश-सुधा में गोता लगाने से चाण्डालपर्यन्त सारा जगत् तुरन्त पवित्र हो जाता है इसलिये मुझे ‘विकुण्ठ’ कहा जाता है। किन्तु सत्य तो यह है कि यह पवित्र कीर्ति मुझे आप लोगों से ही प्राप्त हुई है अतः जो कोई आप के विपरीत आचरण करेगा उसे मैं अवश्य काट डालूँगा, चाहे वह मेरी भुजा ही क्यों न हो। आप ब्राह्मणों की सेवा का ही यह फल है कि मेरे चरणों की धूलि अतिशय पावन बन गई है। उसमें सारे पापों को सद्यः विनष्ट करने का सामर्थ्य आ गया है। ब्राह्मणों की उपासना का ही यह फल है कि मुझे अत्यन्त सुन्दर स्वभाव प्राप्त हुआ है। मेरे इस स्वभाव के कारण ही लक्ष्मी जी मुझे एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़तीं। यद्यपि मैं उनकी ओर से उदासीन रहता हूँ। यह वही लक्ष्मी जी हैं जिनकी लेशमात्र कृपा-कटाक्ष प्राप्त करने के लिये ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता अनेक प्रकार के व्रतों एवं नियमों का पालन करते हुए घोर तप में रत रहते हैं—

यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाहः सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः ।

सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्तिश्छिन्नां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥



यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं सद्यः क्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।

न श्रीविरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षालवार्थमितरे नियमान् वहन्ति ॥३/१६/६-७

मुझे अग्नि की अपेक्षा ब्राह्मणों का मुख अधिक पवित्र लगता है । ब्राह्मणों के मुख में डाले गये घी से तर ग्रास से मैं जैसा सन्तुष्ट होता हूँ वैसा यज्ञाग्नि में डाली गई यजमान की आहुति से नहीं होता । मेरी योगमाया का अखण्ड और असीम ऐश्वर्य मेरे अधीन है । मेरे चरण की धोवनरूप गङ्गा जी, चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करने वाले भगवान् शङ्कर के सहित समस्त लोकों को पावन बनाती है । इस प्रकार का परम पवित्र और परमेश्वर होकर भी मैं ब्राह्मणों की पावन चरण-धूलि को अपने मुकुट पर धारण करता हूँ फिर तो ऐसे ब्राह्मणों के कर्म को कौन नहीं सहन करेगा ?—

येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोगमायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः ।

विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान् ॥३/१६/९

ब्राह्मणों, आप महान् हैं । आपका अपराध भला कौन कर सकता है ? आप तो हमारे साक्षात् शरीर हैं जो आप को मेरा रूप नहीं समझता उसकी महान् दुर्गति होती है । किन्तु जो आप सब महात्माओं की, ब्राह्मणों की, भगवान् समझ कर पूजा करता है, वह मुझे वश में कर लेता है । हमें महान् कष्ट यह है कि हमारे सेवक होकर भी जय-विजय हमारे अभिप्राय को नहीं समझ सके और इन लोगों ने इस पर भी ध्यान नहीं दिया कि मैं ब्राह्मणों का कितना आदर सम्मान करता हूँ । महात्माओं, आप से हमारी प्रार्थना है कि आप केवल इतनी कृपा कीजिये कि इनका यह निर्वासन-काल शीघ्र ही समाप्त हो जाय, ये अपने अपराध के अनुरूप अधम गति भोग कर शीघ्र ही मेरे पास लौट आयें—

तन्मे स्वभर्तुर्वसायमलक्षमाणौ यष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।

भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे यत्कल्पतामचिरतो भूतयोर्विवासः ॥३/१६/१२

ब्राह्माजी ने कहा—देवताओं, भगवान् की ऐसी वाणी सुन कर सनकादिकों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । भगवान् की रहस्यभरी गम्भीरवाणी का अभिप्राय वे न समझ सके । उनका शरीर रोमाञ्च से भर गया फिर वे हाथ जोड़ कर भगवान् से कहने लगे—“प्रभो, आप सबके अध्यक्ष हैं, स्वामी हैं, सबके आराध्य देव भी आप ही हैं । आप हम लोगों पर कृपा करें । आप का ऐसा कहना शोभा नहीं देता । आप ने कहा है कि—“ब्राह्मण हमारे आराध्य हैं, देव हैं ।” किन्तु देव, ब्राह्मणों के परमाराध्य, परम देवता भी आप ही हैं । यह सारा संसार आप से ही उत्पन्न है । इसके पालक भी आप ही हैं । शास्त्रों के अनुसार धर्म के गुह्य रहस्य भी आप ही हैं । बड़े-बड़े योगीजन आप की कृपा से ही अपार भव-सागर को अनायास ही पार कर जाते हैं फिर आप पर कोई क्या कृपा करेगा ? प्रभो, सारे संसार की परमाराधनीया लक्ष्मी जी भी आपके ही चरण-कमल का आश्रयण करती हैं । ब्राह्मणों का आप जो आदर करते हैं, पूजन करते हैं, वह संसार के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये है, जिसका अनुकरण कर दूसरे लोग भी ब्राह्मणों का आदर-सम्मान करें । सबके स्वामी, इन द्वारपालों को आप जैसा उचित समझें वैसा दण्ड दें अथवा इन्हें पुरस्कृत करें । सभी स्थितियों में हम आप से पूर्ण सहमत हैं । अथवा हमने आपके इन निरपराध अनुचरों को शाप दिया है, इसके लिये हमी को उचित दण्ड दें । हमें वह भी सहर्ष स्वीकार है—

यं वानयोर्दममधीश भवान् विधत्ते वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।

अस्मासु वा य उचितो घ्नियतां स दण्डो येऽनागसौ वयमयुद्धमहि किल्बिषेण ॥३/१६/२५

सनकादि की बात को भगवान् ने सुना और फिर कहा—मुनियों, आप ने इन्हें जो शाप दिया है—सच जानिये,



वह मेरी ही प्रेरणा से हुआ है। अब ये शीघ्र ही दैत्ययोनि में जन्म लेंगे और वहाँ क्रोधावेश के कारण निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए फिर शीघ्र ही मेरे पास लौट आयेंगे—

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबन्धयोगौ ।

भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः, शापो मयैव निमित्तस्तदवैत विप्राः ॥ ३/१६/२६

ब्रह्माजी कहते हैं—देवगण, भगवान् की वाणी को सुनकर और नेत्रानन्ददायक भगवान् के श्रीविग्रह का दर्शन कर मुनि-गण प्रसन्न हो उठे, उन्होंने प्रभु को प्रणाम किया। उनकी परिक्रमा की और फिर उनका आदेश लेकर वैकुण्ठ के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए प्रमुदित हो वहाँ से चले गये।

मुनियों के चले जाने पर भगवान् ने जय-विजय से कहा—“जाओ, मन में किसी प्रकार का भय मत करो; तुम्हारा कल्याण होगा, यद्यपि मैं ब्रह्म-शाप को मिटाने में समर्थ हूँ किन्तु मैं ऐसा करना नहीं चाहता। यह मुझे अभिमत नहीं है—“ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे” ॥२९॥ एक बार की घटना है, मैं योग-निद्रा में स्थित था उसी समय लक्ष्मी जी कहीं बाहर से आई, तुम लोगों ने उन्हें द्वार पर रोक दिया था फलतः वे क्रुद्ध हो उठीं। उन्होंने उस समय यही शाप तुम लोगों को दे दिया था। आज का शाप उसी का फल है। जाओ, भय मत करो। शीघ्र ही मेरे पास लौट कर आ जाओगे।” ऐसा कह कर भगवान् अपने दिव्य भवन में चले गये। तदनन्तर जय-विजय वैकुण्ठ लोक से नीचे गिर कर दिति के गर्भ में प्रविष्ट हुए हैं। देवों, उन्हीं के तेज से इस समय आप लोग निस्तेज हो गये हैं। जो आदि पुरुष परमात्मा संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं। जिनकी योगमाया के प्रभाव को बड़े-बड़े योगिजन भी बड़ी कठिनता से पार पाते हैं—वे श्रीहरि ही हम लोगों का कल्याण करेंगे अतः इसके विषय में अधिक सोचने से कुछ लाभ नहीं है—

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्धवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः ।

क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ॥ ३/१६/३७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥

## सत्रहवाँ अध्याय

( हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष का जन्म तथा हिरण्याक्ष की दिग्विजय )

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी ब्रह्मा जी की बात को सुनकर देवताओं की शङ्का समाप्त हो गई, वे सभी फिर स्वर्ग को ही लौट गये—

निशम्यात्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झिताः । ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः ॥३/१७/१

पूरे सौ वर्ष व्यतीत होने पर साध्वी दिति ने युगल सन्तान (जुड़वा बच्चे) उत्पन्न की—“पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ” ॥२॥ उनके उत्पत्ति के समय में स्वर्ग, भूतल तथा आकाश में नाना प्रकार के उत्पातों, अपशकुनों की झड़ी लग गई। इन्हें देखकर लोग भयभीत हो गये। जहाँ-तहाँ पृथिवी और पर्वत काँपने लगे। सारी दिशाओं में आग लग गई। स्थान-स्थान पर उल्कापात होने लगा, बिजलियाँ गिरने लगीं और आकाश में अनिष्ट-सूचक पुच्छल तारे दिखलाई पड़ने लगे। वृक्षों को उखाड़ फेंकने वाली प्रबल आँधी बहने लगी। चतुर्दिक् धूल से आकाश आच्छन्न



हो गया। सूर्य और चन्द्र के न दिखलाई पड़ने से चारों ओर अन्धकार छा गया। सागर में ज्वार-भाटा आ गया। जलाशयों के कमल सूख गये। सियार बोलने लगे। उल्लू चिल्लाने लगे। गधे रँकते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे। कुत्ते रोने लगे। गायों के थनों से रक्त टपकने लगा। देव-प्रतिमायें रोने लगीं। मेघ पीब की वर्षा करने लगे। कहीं-कहीं बिना वायु के भी वृक्ष जड़ से उखड़कर गिरने लगे—“व्यरुदन्देवल्लिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनाऽनिलम्” ॥१३॥ शनि, राहु आदि क्रूर ग्रह प्रबल होकर चन्द्र, वृहस्पति आदि ग्रहों को लांघ कर तथा फिर वक्रगति से वापस होकर उनसे युद्ध करने लगे। इस प्रकार के विविध उत्पातों को देखकर सनकादि के सिवा और सब प्राणी भयभीत हो गये तथा उत्पातों का मर्म न जानने के कारण उन्होंने यही समझा कि अब संसार का प्रलय होने वाला है—“ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसंप्लवम्” ॥१५॥

वे दोनों आदि दैत्य जन्म के अनन्तर शीघ्र ही अपने फौलाद के समान कठोर शरीरों से बढ़ कर पर्वत के समान विशाल बन गये उनका पराक्रम महान् था। उनका शरीर प्रतिदिन आश्चर्यजनक ढंग से बढ़ता था। वे इतने ऊँचे थे कि उनके सुवर्ण-निर्मित मुकुटों का अग्रभाग स्वर्ग को छूता था और उनके विशाल शरीरों से सारी दिशाएँ आच्छादित हो जाती थीं। उनकी भुजाओं में सुवर्ण के बाजूबन्द चमचमा रहे थे। उनके चलने पर धरणी डगमगाने लगती थी। खड़े होने पर सूर्य उनके कटि-भाग के नीचे हो जाता था। प्रजापति कश्यप ने उनका नामकरण किया। उनमें से जो उनके वीर्य से दिति के गर्भ में पहले स्थापित हुआ था, उसका नाम हिरण्य-कशिपु रक्खा और जो दिति के उदर से पहले निकला, वह हिरण्याक्ष के नाम से विख्यात हुआ—

प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षाद् यः प्राक् स्वदेहाद्यभयोरजायत।

तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः ॥ ३/१७/१८

हिरण्यकशिपु बड़ा उद्धत था। उसे मृत्यु का भय नहीं था। उसने ब्रह्मा के वर के प्रताप से, अपने बाहुबल से सकल त्रिलोकी को वश में कर रक्खा था। उसका लघुबन्धु हिरण्याक्ष अपने बड़े भाई को बहुत चाहता था। वह

१. हृदय—वस्तुतः हिरण्याक्ष और हिरण्य-कशिपु की कथा यहाँ प्रतीकरूप में कही गई है। इसे इस प्रकार से समझना चाहिये—‘हिरण्य’ का अर्थ होता है ‘सुवर्ण’, ‘कशिपु’ कहते हैं ‘शय्या’ को। ‘हिरण्य’ पर जिसकी निरन्तर आँख लगी रहे वह है—हिरण्याक्ष। लोभ की दो वृत्तियाँ होती हैं—१. भोगवृत्ति और २. संग्रह-वृत्ति। भोगवृत्तिवाला व्यक्ति सोने की शय्या पर सोता है। भोग-विलास करता है। संग्रह-वृत्ति वाला दूसरों के धन पर आँख लगाये रहता है। उसे लूट-पाट कर लाकर अपने घर में भरता रहता है। वह स्वयं भोग-विलास नहीं करता। वह संग्रहवृत्ति का होता है। हिरण्याक्ष दिग्विजय कर धन लाकर राजप्रासाद में भरता था और उसका बड़ा भाई हिरण्य-कशिपु छक कर भोग-विलास करता था, लोभ की कोई सीमा नहीं होती है। यह प्रतिदिन बढ़ता ही रहता है—“जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।” तुलसीदास। लोभ का विस्तार स्वर्गतक ही नहीं, अपितु ब्रह्मलोक तक होता है। सूर्य-चन्द्र उसकी कमर तक ही नहीं, अपितु बहुत नीचे तक आ जाते हैं। इस प्रकार हिरण्यकशिपु है लोभ की भोगवृत्ति का प्रतीक और हिरण्याक्ष है लोभ की संग्रह-वृत्ति का प्रतीक। इस प्रकार से व्याख्या करने पर किसी प्रकार की विसंगति नहीं रह जाती। हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु का शरीर फौलादी था। वज्र जैसा था। लोभ भी फौलादी होता है। न काटे कटता है और न मारे जल्दी मरता ही है। लोभ मरते दम तक प्राणी का पीछा नहीं छोड़ता।

२. भागवतकार यदि उसे इसे इस प्रकार कहते तो ज्यादा अच्छा होता—दिति के गर्भ में पहले हिरण्याक्ष आया फिर हिरण्यकशिपु आया। पैदा होने के समय में स्थिति बदल गई। हिरण्यकशिपु पहले पैदा हुआ फिर स्थान खाली मिलने पर हिरण्याक्ष उत्पन्न हुआ। गर्भ में प्रथम आने की दृष्टि से हिरण्याक्ष बड़ा हुआ और संसार में पहले आने से हिरण्यकशिपु बड़ा कहा गया।



उसका सर्वदा प्रिय किया करता था। एक दिन उसने अपनी लोहे की गदा उठाई और लड़ने का अवसर ढूँढता हुआ स्वर्ग जा पहुँचा। अपने मनोबल, शारीरिक बल और ब्रह्माजी के वर के कारण वह उन्मत्त होकर सर्वत्र निर्भय विचरण करता था। उसे देखते ही भयभीत देवता भाग कर छिप गये। कोई उसके समाने आया ही नहीं। वहाँ से लौट कर वह समुद्र के पास आया। यहाँ भी उसे देखते ही वरुण के दूत और सैनिक भाग खड़े हुए। अनेक वर्षों तक वह सागर के जल में गदा पीटता हुआ घूमता रहा। अन्त में वह वरुण की राजधानी 'विभावरी' में जा पहुँचा। वहाँ उसने वरुण को देखा। उपेक्षा प्रदर्शित करते हुए उन्हें प्रणाम कर वह बोला—अधिराज, आप हमसे युद्ध करें—

स्मयन् प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचवज्रजगाद मे देहाधिराज संयुगम् ॥३१७/२७

उस मदोन्मत्त शत्रु के इस प्रकार बहुत उपहास करने से वरुण को क्रोध तो बहुत आया, पर उसे वे रोक कर बोले—“दैत्यराज, अब हम युद्ध से विरत हो चुके हैं। भगवान् पुराणपुरुष नारायण के अतिरिक्त हमें और कोई दूसरा नहीं दिखलाई पड़ता जो तुम्हारे जैसे रणबाँकुरे को युद्ध में सन्तुष्ट कर सके। तुम उन्हीं के पास जाओ। वे ही तुम्हारी युद्ध-कामना पूरी कर सकते हैं अतः तुम खोजकर उन्हीं से भिड़ो” ॥३१७॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

## अठारहवाँ अध्याय

( हिरण्याक्ष के साथ भगवान् वराह का युद्ध )

मैत्रेय ने कहा—विदुर जी, वरुण के ऐसे वचन को सुनकर मदोन्मत्त दैत्य बड़ा प्रसन्न हुआ। वह वहाँ से चल पड़ा। मार्ग में उसे नारद मुनि मिले। उसने मुनि को प्रणाम कर उनसे, “श्रीहरि कहाँ मिलेंगे” ?—यह पूछा। नारद ने कहा—“भगवान् वराह का रूप धारण कर, पृथिवी का उद्धार करने के लिये इस समय रसातल में गये हुए हैं”। श्रीहरि का पता लगते ही वह तत्काल रसातल जा पहुँचा—

तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं, महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः ।

हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारादाद्, रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ॥ ३/१८/१

वहाँ उसने विश्व-विजयी वराह भगवान् को देखा। वे अपनी दाढ़ के अग्रभाग पर पृथिवी को उठाकर ऊपर की ओर आ रहे थे। वे अपने लाल-लाल नेत्रों से हिरण्याक्ष के तेज का हरण कर रहे थे। उन्हें देखकर वह खिलखिला कर हँस पड़ा और बोला—यह जंगली जानवर जल में कहाँ से आ गया ?—

ददर्श तत्राभिजितं धराधरं प्रोन्नयमानावनिमग्रदंष्ट्रया ।

मुष्णान्तमक्षणा स्वरुचोऽरुणश्रिया जहास चाहो वनगोचरो मृगः ॥ ३/१८/२

फिर वराह जी से कहा—“अरे ना समझ, इधर आ, छोड़ दे पृथिवी को। विधाता जी ने इसे हम रसातलवासियों के लिये बनाया है। सूकररूपधारी रे सुराधम, मेरे देखते-देखते तू इसे लेकर यहाँ से सकुशल नहीं जा सकता”—

आहैनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता ।

न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः सुराधमासादितसूकराकृते ॥ ३/१८/३

तू माया से लुक-छिपकर दैत्यों को जीतता और उनका वध करता है इसी से हमारे शत्रुओं ने हमारा नाश करने



के लिये ही तुझे पाला है। मूढ, तेरा बल तो योगमाया ही है। उसके अतिरिक्त कोई पौरुष तुम्हारे में थोड़े ही है। आज मैं तुझे मार कर अपने बन्धुओं का शोक समाप्त करूँगा—

त्वं नः सपत्नैरभवाय किं भूतो यो मापया हन्त्यसुरान् परोक्षजित् ।

त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं, संस्थाप्य मूढ प्रभृजे सुहृच्छुचः ॥ ३/१८/४

जब मेरे हाथ से चलाई गई गदा के प्रहार से शिर फट जाने के कारण तू मर जायगा, तब मेरी आराधना करनेवाले जो देवता और ऋषि हैं, वे सभी जड़ कटे हुए वृक्ष की भाँति अपने आप ही नष्ट हो जायेंगे। उन्हें मारने का प्रयास नहीं करना पड़ेगा” —

त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्षण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम् ।

बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ॥ ३/१८/५

हिरण्याक्ष भगवान् वराह को दुर्वचन-बाणों से छेदे जा रहा था। किन्तु उन्होंने दाँत के अग्रभाग पर विराजमान पृथिवी को भयभीत देखकर वह चोट सह ली और जल से उसी प्रकार बाहर निकल आये जैसे ग्राह की चोट खाकर हथिनी सहित गजराज बाहर निकल आता है। भगवान् वराह आगे-आगे चल रहे थे। हिरण्याक्ष दुर्वचन बोलता हुआ उनका पीछा कर रहा था। भगवान् चुपचाप ऊपर की ओर बड़े वेग से चले आ रहे थे। ऊपर आकर उन्होंने पृथिवी को जल के ऊपर रखवा। उसमें अपनी आधार-शक्ति स्थापित की। उस समय ब्रह्मा जी भगवान् की स्तुति कर रहे थे और देव-गण उन पर फूलों की वर्षा कर रहे थे। अपना काम पूरा कर लेने के बाद भगवान् ने क्रोधपूर्वक हँसते हुए कहा—“असुराधम, तुम सच कह रहे हो। हम जङ्गली जानवर हैं किन्तु हम तुम जैसे ग्राम-सिंहों (कुत्तों) को ढूँढते फिरते रहते हैं। वीर लोग मृत्यु-पाश में बँधे हुए तुम्हारे जैसे अभागे प्राणियों की आत्म-प्रशंसा (डींग) पर ध्यान नहीं देते हैं—

सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा युष्मद्विधान्मृगये ग्रामसिंहान् ।

न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र ॥ ३/१८/१०

तो आ जा तू पैदल चलनेवाले वीरों का सरदार है। मैं तुम्हारे सामने युद्ध के लिये तैयार खड़ा हूँ। मुझे मार कर अपने भाई-बन्धुओं के वध का बदला चुकाले। जो अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति नहीं करता वह नारकीय प्राणी है।”

मैत्रेय जी ने कहा—“विदुर जी, जब भगवान् ने उसे इस प्रकार ललकारा तो वह क्रोध के मारे तिलमिला उठा। उसकी आँखें क्रोध के मारे लाल हो गईं। वह उस समय लम्बी-लम्बी साँसे ले रहा था फिर उसने बड़ी विशाल गदा से भगवान् पर प्रहार किया। भगवान् तिरछे होकर उसकी गदा से बच निकले। इस प्रकार दोनों में भीषण गदा-युद्ध चल रहा था। वे एक दूसरे को जीतने का प्रयास कर रहे थे। उस समय उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो दो सांड भिड़े हों। इस युद्ध को देखने के लिये, उस समय देवों के साथ, ब्रह्मा जी आकाश में पधारे। उन्होंने वराह भगवान् से कहा—‘प्रभो, यह दैत्य गौ, ब्राह्मण, तथा ऋषियों-मुनियों के लिये महान् कष्टदाता है। इसके साथ बालक की भाँति खिलवाड़ न करें। सायंकाल की बेला में इसका बल बढ़ जायेगा अतः उसके पूर्व ही इसका काम तमाम कर देना ही कल्याणकारी होगा। नाथ, इस समय मंगलमय अभिजित् मुहूर्त चल रहा है। इसी मुहूर्त में इसका नाश कर संसार का कल्याण करें—“लोकानाघेहि शर्मणि” ॥२८॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध सर्ग का यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥



## उत्तरीसर्वां अध्याय

## ( वराह द्वारा हिरण्याक्ष का वध )

मैत्रेय जी ने कहा विदुर जी, कपटरहित अमृतमय वचन सुन कर भगवान् उनके भोलेपन पर मुस्करा कर अपनी प्रेमभरी चितवन के द्वारा उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली—

अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः । प्रहस्य प्रेम-गर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत् ॥३/१९/१

उस समय हिरण्याक्ष भगवान् के सामने निर्भय होकर विचर रहा था । उसकी टुड्डी पर भगवान् ने गदा से प्रहार किया । किन्तु आश्चर्य यह हुआ कि भगवान् की वह गदा हिरण्याक्ष की गदा से टकरा कर चक्कर काटती हुई जमीन पर गिर पड़ी । उस समय भगवान् शस्त्रहीन हो गये । यह हिरण्याक्ष को प्रहार करने का बड़ा अच्छा अवसर था । किन्तु धर्म-युद्ध का पालन करते हुए असुर-राज ने निःशस्त्र शत्रु पर प्रहार नहीं किया । भगवान् ने उसकी इस बुद्धि की प्रशंसा की और अपने सुदर्शन चक्र का स्मरण किया । सुदर्शन, तुरन्त उपस्थित होकर भगवान् के हाथ में घूमने लगा । भगवान् को सुदर्शन चक्र से विभूषित देखकर असुर के क्रोध की सीमा न रही । मारे क्रोध के वह अपना होठ दाँतों से चबाने लगा फिर उछल कर उसने वराह भगवान् पर जोर से गदा प्रहार किया । उसे भगवान् ने अपने बायें पैर से मार कर नीचे गिरा दिया । दूसरी बार जब उसने गदा चलाई तो वराह भगवान् ने उसे अपने बायें हाथ से पकड़ लिया । अब असुर का तेज समाप्त हो गया था फिर उसने भगवान् पर लपलपाता हुआ त्रिशूल छोड़ा । सुदर्शन चक्र ने उस त्रिशूल को आकाश में ही काट कर समाप्त कर दिया । अपने त्रिशूल को निष्फल देखकर दैत्यराज कुपित हो उठा । फिर उसने भगवान् की छाती पर मुष्टिका से प्रबल प्रहार किया और अन्तर्धान हो गया । विदुर जी, जैसे हाथी पर पुष्पमाला की चोट का कोई असर नहीं होता उसी प्रकार वराह भगवान् भी उसके घूसे से तनिक भी टस-से-टस नहीं हुए ।

आकाश में अन्तर्धान होकर वह मायावी दैत्य मायापति भगवान् पर माया का प्रयोग करने लगा । भीषण आंधी चलने लगी । हाथ में त्रिशूल धारण की हुई नंगी राक्षसियाँ मारो काटो कहती हुई युद्धभूमि में विचरण करने लगीं । दिशाओं से पत्थर बरसने लगे । मेष मल-मूत्र और पीब की वर्षा करने लगे । इस प्रकार प्रकट हुए उस माया-जाल का नाश करने के लिये भगवान् वराह ने अपना प्रिय सुदर्शन चक्र छोड़ा । सुदर्शन ने सारी आसुरी माया को क्षणभर में विनष्ट कर दिया । उस समय अपने पति का कथन स्मरण हो आने से दिति का हृदय काँप उठा और उसके स्तन से रक्त बहने लगा । माया-जाल के विनष्ट कर दिये जाने पर अत्यन्त कुपित हिरण्याक्ष ने चाहा कि यज्ञपति वराह को वह अपनी भुजाओं में भर कर रगड़कर चूर्ण बना दे । किन्तु उस समय उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने देखा कि वे तो बाहर ही खड़े हैं ।

भगवान् को पकड़ने में निष्फल हुए हिरण्याक्ष ने उन पर मुक्कों से प्रहारों की झड़ी लगा दी । तब इन्द्र ने जैसे वृत्रासुर पर प्रहार किया था, उसी प्रकार भगवान् ने उसकी कनपटी पर एक लात मारा—

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः । करेण कर्णमूलेऽहन् यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ॥३/१९/२५

विश्वविजयी भगवान् ने यद्यपि बड़ी उपेक्षा से थप्पड़ मारा था किन्तु थप्पड़ लगते ही वह दैत्य भूतल पर गिर पड़ा और भगवान् का श्रीमुख देखते-देखते उसने अपने प्राणों का परित्याग किया । उसकी इस प्रकार की दशा देखकर ब्रह्मादिक देवों ने उसकी बड़ी प्रशंसा करते हुए कहा—“अहो, ऐसी दुर्लभ मृत्यु किसको मिल सकती है ? बड़े-बड़े योगीजन समाधि के द्वारा जिसका ध्यान करते हैं, उन्हीं के चरण-प्रहार से, उनका मुख देखते-देखते, इस दैत्यराज ने अपना शरीर त्यागा—

क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं, करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम् ।

अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता, अहो इमां को नु लभेत संस्थितिम् ॥

मुखं प्रयश्यंस्तनुमुत्सर्ज ह ॥३/१९/२७-२८



हिरण्याक्ष के मारे जाने पर देवों ने भगवान् की स्तुति की। मैत्रेय जी ने कहा विदुर जी, हिरण्याक्ष का वध कर भगवान् अपने लोक में चले गये।

सूत जी कहते हैं—शौनक जी, भगवान् के द्वारा हिरण्याक्ष के वध की कथा सुनकर विदुर जी आनन्द में निमग्न हो गये। हिरण्याक्ष-वध के प्रसङ्ग में किये गये भगवान् वराह के पराक्रम को जो सुनता है, जो गाता है और जो अनुमोदन करता है—वह संसार से मुक्त हो जाता है। यह चरित्र अत्यन्त पुण्यप्राद, परम पवित्र, धन-यश की प्राप्ति कराने वाला, आयुर्वर्धक और कामनाओं की पूर्ति करनेवाला है। जो लोग इस कथा को सुनते हैं वे अन्त में भगवान् के धाम में पधारते हैं—

एतन्महापुण्यमलं पवित्रं धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम् ।  
 प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्धनं नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम् ॥३/१९/३८  
 ॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१९॥

## बीसवाँ अध्याय

( ब्रह्मा जी के द्वारा रची गई अनेक प्रकार की सृष्टियाँ )

ऋषिशौनक ने पूछा—“सूत जी, पृथिवीरूप आधार को पाकर स्वायम्भुव मनु ने आगे होने वाली प्रजाओं को उत्पन्न करने के लिये किन-किन उपायों का सहारा लिया ?—

महीं प्रतिष्ठामध्यस्थ सौते स्वायम्भुवो मनुः । कान्यन्वतिष्ठद् द्वाराणि मार्गाद्यावरजन्मनाम् ॥३/२०/१  
 विदुर जी की भगवद्भक्ति अनन्य एवम् अपूर्व थी इसीलिये उन्होंने, दुर्योधन के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अपराध करने पर, दुर्योधन के पिता अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का परित्याग कर दिया था। वे तीर्थों का सेवन करते हुए कुशावर्त क्षेत्र (हरिद्वार<sup>१</sup>) में मैत्रेय के पास जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने श्रीहरि की किन-किन कथाओं के बारे में प्रश्न किया आप हमें भगवान् की उन पवित्र कथाओं को सुनाने की कृपा करें—“ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः” ॥६॥

आगे सूत जी ने कहा—“मुनिगण, वराह भगवान् के द्वारा हिरण्याक्ष के वध को सुनकर विदुर को बड़ा ही आनन्द हुआ और उन्होंने मैत्रेय जी से पूछा—“प्रजा की वृद्धि के लिये ब्रह्मा जी मरीचि आदि प्रजापतियों को उत्पन्न करके फिर क्या किया ? मरीचि आदि मुनीश्वरों ने और स्वायम्भुव मनु ने भी ब्रह्मा जी की आज्ञा से किस प्रकार प्रजा की वृद्धि की ?”

विदुर के सृष्टि-विषयक प्रश्न को सुनकर मैत्रेय जी ने सांख्य-दर्शन के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए कहना प्रारम्भ किया—“जीवों के प्रारम्भ, प्रकृति के नियन्ता पुरुष और काल—इन तीनों हेतुओं से और भगवान् की सन्निधि से त्रिगुणमयी प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होने से उससे महत्तत्त्व (बुद्धि-तत्त्व) उत्पन्न हुआ। बुद्धि-तत्त्व से क्रमशः अहङ्कार आदि बाईस तत्त्वों की उत्पत्ति हुई। ये तत्त्व अलग-अलग रहकर ब्रह्माण्ड की रचना नहीं कर सकते थे इसलिये उन्होंने भगवान् की शक्ति से आपस में मिलकर एक सुवर्णमय अण्ड की रचना की। यह अण्ड बहुत दिनों तक निश्चेष्ट होकर सागर के जल में पड़ा रहा फिर उसमें भगवान् ने प्रवेश किया। उन अण्ड-प्रविष्ट नारायण की नाभि से एक देदीप्यमान कमल उत्पन्न हुआ। उसी से ब्रह्माजी का आविर्भाव हुआ। ब्रह्मा जी ने सर्वप्रथम अपनी छाया से तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह—इस प्रकार पाँच प्रकार की अविद्या उत्पन्न की—

१. हरिद्वार में कुशावर्त वह स्थान है, जहाँ दक्ष के यज्ञ में सती जी ने अपने शरीर का परित्याग किया था।



ससर्जच्छाययाविद्यां पञ्चपर्वणमग्रतः । तामिन्द्रमन्यतामिन्द्रं तमो मोहो महातमः ॥३/२०/१८

अविद्या-सर्ग को देखकर ब्रह्मा खिन्न हो उठे अतः उन्होंने अपने उस शरीर को त्याग दिया । त्यागी गई उस तमोमय ब्रह्माके शरीर से रात्रि उत्पन्न हुई । उसे यक्ष और राक्षसों ने ग्रहण किया । यक्ष-राक्षस रात्रिश्चर हैं । उन्हें रात्रि बहुत प्यारी है । रात्रि में ही उनका बल बढ़ता है । जब उन्हें भूख लगी, तब वे ब्रह्मा जी को ही खाने के लिये उद्यत हो गये और कहने लगे—“इस ब्रह्मा को ही खा जाओ । इसकी रक्षा मत करो ।” जिन लोगों ने कहा रक्षा मत करो, वे राक्षस कहलाये और जिन्होंने कहा ‘खा जाओ’ (जक्षध्वम्), वे यक्ष कहलाये । जब वे ब्रह्मा जी को खाने के लिये दौड़े तो उन्होंने घबराकर कहा यक्ष-राक्षसों तुम मेरी सन्तान हो अतः मुझे खाओ मत, मेरी रक्षा करो फिर ब्रह्माजी ने सात्त्विकी प्रभा से देवताओं की रचना कर वह शरीर भी त्याग दिया । वह प्रकाशमान दिवस बन गया । उसे देवताओं ने ग्रहण कर लिया । इसके बाद ब्रह्माजी ने अपने जघन से कामासक्त असुरों को उत्पन्न किया । उत्पन्न होते ही वे मैथुन के लिये ब्रह्माजी की ओर दौड़े । तब ब्रह्मा ने भगवान् के कहने से अपना वह शरीर त्याग दिया । वह सन्ध्यादेवी के रूप में परिणत हो गया । असुरों ने उस सन्ध्या-सुन्दरी के साथ विवाह कर लिया । सन्ध्या के सौन्दर्य पर असुर मोहित थे । बाद में ब्रह्मा जी ने अपनी कान्ति से गन्धर्वों और अप्सराओं की सृष्टि कर जो शरीर त्यागा, वह ज्योत्स्नारूपी स्त्री बन गई । उसे विश्वावसु आदि गन्धर्वों ने ग्रहण कर लिया ।

इसके अनन्तर ब्रह्माजी ने अपनी तन्त्रा से भूतपिशाच उत्पन्न किया । उन्हें नंगा और बिखरे हुए केशों वाला देखकर ब्रह्मा ने अपनी आँखें मूंद ली । ब्रह्मा जी के त्यागे हुए उस जैभाईरूप शरीर को भूत-पिशाचों ने ग्रहण किया इसी को निद्रा भी कहते हैं । यह इन्द्रियों को शिथिल बना डालती है । यदि कोई व्यक्ति जूटे मुँह सो जाता है तो उस पर भूत-पिशाचादि आक्रमण करते हैं । उसी को उन्माद कहते हैं फिर ब्रह्माजी ने भावना की कि मैं तेजोमय हूँ फिर उन्होंने अपने अदृश्य रूप से साध्य-गणों और पितरों को उत्पन्न किया । पितरों ने ब्रह्मा के उस अदृश्य शरीर को ग्रहण कर लिया । श्राद्ध में पितरों को पिण्ड (कव्य) और साध्य-गणों को हव्य अर्पण करने का विधान है । अपनी तिरोधानशक्ति से ब्रह्माजी ने सिद्धों और विधाधरों की सृष्टि की और उन्हें अपना वह अन्तर्धान नामक अद्भुत शरीर प्रदान कर दिया । तदनन्तर सृष्टिकर्ता ने किन्नरों और किम्पुरुषों की सृष्टि कर अपना वह शरीर त्याग दिया । वही उषा बेला हो गई जिसे किन्नरों और किंपुरुषों ने ग्रहण किया ।

इस प्रकार सृष्टि आगे बढ़ नहीं रही थी । ब्रह्मा जी को इसकी बड़ी चिन्ता थी । फलतः एक दिन उन्होंने शयन की मुद्रा में अपने शरीर का परित्याग कर दिया । इससे जो केश गिरे वे अहि हो गये । प्रसर्पण (सरकना) करने के कारण सर्प कहलाये ।

आगे कृतकृत्य होने की भावना से ब्रह्मा ने अपने मन से मनुओं और मनुष्यों की सृष्टि की—

स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः । तदा मनून् ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान् ॥३/२०/४९  
अन्त में सृष्टिकर्ता ने इन्द्रियसंयमपूर्वक तप, विद्या, योग और समाधि से सम्पन्न हो अपनी प्रिय सन्तति ऋषि-गणों की रचना की और प्रत्येक को अपने समाधि, योग, ऐश्वर्य, तप, विद्या तथा वैराग्यमय शरीर का अंश दिया ॥२०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२०॥

१. सर्गों का वर्णन दसवें, बारहवें और इस बीसवें अध्याय में किया गया है । सब में कुछ-न-कुछ भिन्नता है । अतः सबको एक साथ मिला कर, तारतम्य बैठ कर सृष्टि का क्रम निर्धारित करना चाहिये ।



## इक्कीसवाँ अध्याय

( सृष्टि के लिये कर्दम की तपस्या और स्वायंभुव मनु का उनके विवाह के लिये आगमन )

विदुर जी ने मैत्रेय जी से पूछा—“भगवान् स्वायम्भुव मनु का वंश बड़ा आदरणीय माना गया है। इस वंश में स्त्री-पुरुष के संयोग से सृष्टि हुई है। मैथुन-धर्म के द्वारा प्रजा की वृद्धि हुई है। बाकी सृष्टि जो है, वह तो मानस है। अब आप मुझे उसी वंश की कथा सुनाइये—

स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः । कथ्यतां भगवन् यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः ॥३/२१/१

स्वायंभुव मनु के दो पुत्र—प्रियव्रत और उत्तानपाद थे। उनकी तीन कन्याएँ थीं—आकूति (आकृति), देवहूति एवं प्रसूति। इस प्रकार स्वायम्भुव मनु की कुल पाँच सन्तानें थी। प्रियव्रत और उत्तानपाद सातों द्वीपवाली पृथिवी के मालिक थे, शासक थे। आप ने देवहूति को कर्दम की पत्नी बतलाया था। वह योग के लक्षण यम आदि से सम्पन्न थी। देवहूति का अर्थ है—सम्पूर्ण देवों को अपने अन्दर बुला लेनेवाली स्त्री। देवों की आह्वान-कारिणी होने के कारण उसका सार्थक नाम ‘देवहूति’ है। वह बुद्धिरूप है। भगवान् रुचि ने आकूति से तथा ब्रह्मपुत्र प्रजापति दक्ष ने प्रसूति से कितनी सन्तानें उत्पन्न की थीं—यह सब कुछ हमें सुनाने की कृपा करें।

मैत्रेय जी ने कहा—“विदुर जी, जब ब्रह्मा जी ने कर्दम को आज्ञा दी कि तुम सन्तान की उत्पत्ति करो तो उन्होंने दश हजार वर्षों तक सरस्वती नदी के तट पर तप किया। यह बात सत्ययुग के आरम्भ की है। उनके तप से प्रसन्न हो भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए। उनकी कान्ति निर्मल थी। वे सूर्य के समान प्रकाशमान थे। उनकी ग्रीवा में श्वेत कमलों की माला सुशोभित थी। उनकी अलकावलियाँ स्निग्ध नील थीं। उनके शरीर पर पीताम्बर झिलमिला रहा था। वे किरीटी, कुण्डली और शङ्ख-चक्र-गदाधारी थे। गरुड की पीठ पर उनके पाँव विराजमान थे। भगवान् को देखते ही कर्दम जी ने उनके समक्ष साक्षात् दण्डवत् प्रणाम किया और कहा—‘प्रभो, आज हमारे नेत्र सफल हो गये—“सांसिध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः” ॥१३॥ बड़े-बड़े योगी योग पर आरूढ़ होकर आपके दर्शन की इच्छा करते हैं। आप का चरण-कमल संसार-सागर को पार करने के लिये पोत है, नैया है—“पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम्” ॥१४॥ जिनकी बुद्धि आप की माया से मारी गई है, वे ही उन तुच्छ क्षणिक विषय-सुखों के लिये जो नारकीय सूकर-कूकर योनियों में मिल सकते हैं, आपके उन चरणों का आश्रय लेते हैं। परन्तु प्रभो, आप उन्हें विषय-भोग भी कृपा कर प्रदान कर देते हैं—

ये मायया ते हतमेघसस्त्वत् पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् ।

उपासते कामलवाय तेषां रासीश कामन्निरयेऽपि ये स्युः ॥३/२१/१४

कर्दम जी ने आगे कहा मैं सचमुच में कर्दम हूँ—कीचड़ हूँ क्योंकि मैंने अपने समान एक पत्नी से विवाह करने के लिये आप की आराधना की है। मेरा यह कार्य वैसे ही है जैसे कोई अल्पज्ञ व्यक्ति एक कानी कौड़ी प्राप्त करने के लिये कल्पवृक्ष का सेवन करे—

तथा स चाहं परिवोदुकामः समानशीलां गृहमेघधेनुम् ।

उपेयिवान्मूलमशेषमूलं दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥३/२१/१५

१. कर्दम, करदम—कर कहते हैं हाथ को। यह इन्द्रियों का प्रतीक है। अतः करदम का अर्थ हुआ—इन्द्रियों को वश में करनेवाला महात्मा। इन्द्रियों का दमन करने वाला ऋषि। जो इन्द्रियजयी है उसी का विवाह ‘देवहूति’ से होता है और उसी के घर भगवान् पुत्र बन कर पधारते हैं। ‘कर्दम’ का अर्थ होता है—कीचड़ भी।



महाराज, दुनियाँ तो आप के वेदरूप वचनों से बँधी हुई है। मैंने आप की पूजा करने के लिये ही तपस्या की है। यह विवाह भी मैं आप की पूजा करने के लिये ही करना चाहता हूँ। जो आपके चरण-कमलों के आश्रय में आ जाते हैं उनको काम का भय नहीं होता। आप के भक्तों पर काल-चक्र का प्रभाव भी कार्य नहीं करता। सृष्टि, स्थिति और प्रलय के स्वामी आप ही हैं। आप हमारे ऊपर कृपा करें हम आप के चरणों पर नतमस्तक हैं।”

अब भगवान् अपने वचनानुसार से कर्दम जी को स्नान कराने लगे। उन्होंने उनकी ओर प्रेम-भरी चितवन से देखकर मुस्करा दिया। भगवान् ने कहा—‘कर्दम जी, मैंने आप के मन की बात जानकर पहले से ही उसकी व्यवस्था कर दी है—“विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत्” ॥२३॥ प्रजापते, मेरी आराधना तो कभी भी निष्फल नहीं होती फिर एकाग्रचित्त निर्मल हृदयवाले आप जैसे महत्माओं की तपस्या तो और अधिक फलवती होती है—

न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् । भवद्विषेष्वातितरां मयि संगृभितात्मनाम् ॥३/२१/२४  
चतुर्द्वीपा वसुमती के एकच्छत्र सम्राट् महाराज मनु जी अपनी पत्नी शतरूपा और सुन्दरी बेटी देवहूति के साथ रथ पर आरूढ़ होकर परसों यहाँ आपके पास आयेंगे। वे रूप-यौवन, शील और गुणों से सम्पन्न अपनी श्यामलोचना बेटी का विवाह आप से करना चाहते हैं। वह राजकुमारी सब तरह से आप के योग्य है। आपकी सेवा-शुश्रूषा वह अपनी शक्ति भर करेगी। उससे आपको नव बेटियाँ पैदा होंगी। उनका विवाह आप ऋषियों-मुनियों के साथ कीजियेगा। वे ऋषि-मुनि-जन उनसे बहुत-सी सन्तानें उत्पन्न करेंगे। उनकी सन्तान परम्परा से यह सारा जगत् भर जायेगा। अन्त में आप अपने विशुद्ध कर्मों से मुझे ही प्राप्त करोगे। महामुने, मैं भी अपने अंश-कलारूप से आपके वीर्य द्वारा देवहूति के गर्भ में अवतार लेकर सांख्यशास्त्र की रचना करूँगा—

सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने । तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ट्ये तत्त्वसंहिताम् ॥३/२१/३२  
मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, कर्दम ऋषि से इस प्रकार सम्भाषण करके श्रीहरि सरस्वती नदी से घिरे हुए, बिन्दुसरोवर से, जहाँ कर्दम ऋषि तप कर रहे थे, अपने लोक को चले गये। कर्दम जी का यह आश्रम सिद्धपुर के नाम से विख्यात है। यहाँ कर्दम को सिद्धि मिली थी अतः इसे सिद्धपुर कहते हैं। सिद्धपुर गुजरात में स्थित है।

भगवान् के चले जाने पर कर्दम जी उनके द्वारा बतलाये गये समय की प्रतीक्षा करते हुए अपने आश्रम में बैठे थे। उसी समय मनुजी महाराज पत्नी-पुत्री के साथ स्वर्ण के रथ पर आरूढ़ होकर वहाँ आये। उन्होंने देखा कि भगवान् के स्नेह-भरे अवलोकन से कर्दम जी हृष्ट-पुष्ट होकर शान्त बैठे हैं। ऋषि का आश्रम बड़ा मनोहर था। वृक्ष और लताएँ फलों-फूलों से लदी थीं। विविध प्रकार के विहग कलरव कर रहे थे। मुनि के शरीर से तप के तेज की आभा निकल रही थी। उनका शरीर बड़ा ही सुन्दर प्रतीत हो रहा था। वे निकट से देखने पर सान पर, न खरादी गई बहुमूल्य मणि के समान, मलिन प्रतीत होते थे। मनु ने मुनि को सादर प्रणाम किया। मुनि ने उनका यथोचित सत्कार किया और बैठने के लिये तीन आसन बिछा दिये। मनु और शतरूपा भावी श्वसुर तथा सास बननेवाले थे। सास-श्वसुर माता-पिता के तुल्य होते हैं अतः वे दोनों तो कर्दम के द्वारा बिछाये हुए आसनों पर बैठ गये किन्तु देवहूति खड़ी रह गई। उसने सोचा—यह हमारे भावी पति हैं। इसलिये इनके द्वारा बिछाये गये आसन पर मेरा बैठना धर्म-विरुद्ध होगा अतः वह न बैठी, किन्तु जब कर्दम ने कहा—‘देवि, यह तीसरा आसन तुम्हारे लिये ही है। अतः इस

१. बिन्दुसरोवर—जब भगवान् श्रीविष्णु कर्दम ऋषि के पास पहुँचे तो वे तप में संलग्न थे। उनका शरीर अस्थि-पञ्जरमात्र रह गया था। भगवान् ने उनकी यह दशा देखी। करुणा के सागर भगवान् की आँखों से अश्रुबिन्दु टपक पड़े। वही परम पावन बिन्दु सरोवर बन गया फिर भगवान् ने कर्दम ऋषि के शरीर पर दृष्टि-पात किया। इससे उनका शरीर स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट बन गया ॥ श्रीमद्भागवत ३.२१.३८॥



पर बैठो तब ऋषि के वचन को सुनकर देवहूति ने सोचा—‘यदि इनकी आज्ञा न मानूँ तो अधर्म होगा और यदि इस पर बैठती हूँ तो भी अनुचित होगा ।’ ऐसा सोचकर उसने बीच का रास्ता निकाला । आसन पर अपना दाहिना हाथ रखकर जमीन पर बैठ गई । भावी पति के आदेश का पालन भी हो गया और धर्म की भी रक्षा हो गई । देवहूति की यह स्थिति देखकर कर्दम जी मन-ही-मन प्रसन्न हो सोचने लगे—‘कन्या तो गुणवती अतः ग्रहण करने के योग्य है फिर उन्होंने निश्चय कर लिया कि इसके साथ अवश्य विवाह करूँगा । यह मेरी परीक्षा में शत-प्रति-शत उत्तीर्ण हुई है’ ।

आसन पर आसीन हो जाने के बाद कर्दम ने कहा—‘राजन्, आप कां पर्यटन तो सत्पुरुषों की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिये हुआ करता है । भगवान् की पालन करनेवाली शक्ति आपके भीतर विराजमान रहती है । इसी से वर्णाश्रम की रक्षा और अधर्म की निवृत्ति हुआ करती है । आप का भू-मण्डल पर, सूर्य की भाँति भ्रमण, संसार के कल्याण के लिये हुआ करता है । तो भी वीरवर, मैं आप से पूछता हूँ कि इस समय यहाँ आपका आगमन किस प्रयोजन से हुआ है; मेरे लिये आप की जो आज्ञा होगी, उसे मैं निष्कपट भाव से सहर्ष स्वीकार करूँगा—

तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा ॥३/२१/५६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२१॥

## बाईसवाँ अध्याय

( मनु और कर्दम का संवाद तथा कर्दम और देवहूति का विवाह )

मैत्रेय जी ने कहना प्रारम्भ किया—“विदुर जी, ऋषि कर्दम ने जब इस प्रकार राजा की प्रशंसा की तब कुछ सङ्कुचित होकर मनु ने कहा—“ऋषिवर, ब्रह्माजी ने वेदों की रक्षा के लिये, तप, विद्या एवं योग से सम्पन्न आप ब्राह्मणों को अपने मुख से प्रकट किया है और आप की रक्षा के लिये हम क्षत्रियों को अपनी भुजाओं से उत्पन्न किया है । इस प्रकार ब्राह्मण उनके हृदय तथा क्षत्रिय शरीर कहलाते हैं । ऋषिवर, आप के दर्शन से मैं पवित्र हो गया । आप ने मेरी प्रशंसा के बहाने से प्रजापालक राजा के धर्म का बड़ा ही उत्तम वर्णन प्रस्तुत किया है” ।

मुने, यह मेरी बेटी है । इस पर मेरा अगाध स्नेह है अतः मैं इसके लिये चिन्तित हो रहा हूँ । आप कृपा कर मेरी प्रार्थना सुनें । यह बेटी प्रियव्रत और उत्तानपाद की बहन तथा मेरी कन्या है । यह अवस्था, शील और गुण आदि में अपने सदृश पति को पाने की इच्छा रखती है—

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम । अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः ॥३/२२/९

जब से इसने नारद जी के मुख से आप के शील, विद्या, रूप, आयु और गुणों का वर्णन सुना है, तभी से यह आप को अपना पति बनाने का निश्चय कर चुकी है । द्विजवर, मैं अपार श्रद्धा के साथ यह कन्या आपको प्रदान

१. सपर्यया पर्यगृह्णात् प्रतिनन्दानुरूपया ॥३/२१/४८॥

२. हृदय-मनु ने इस कथन के द्वारा यह सूचित किया है कि—यह मेरी बेटी है । जब तक भू-मण्डल के सम्राट् के रूप में मैं विराजमान हूँ तब तक इसे धन-वैभव की कमी न होने पायेगी । मेरे बाद सम्राट् उत्तानपाद और प्रियव्रत इसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखेंगे अतः आप को यह नहीं सोचना चाहिये कि इतने उच्च वैभव में पत्नी राजदुलारी सुकुमारी देवहूति का पालन-पोषण मेरे आश्रम में कैसे होगा ?



कर रहा हूँ। इसे आप स्वीकार कीजिये। यह गृहस्थोचित कार्यों के लिये सब प्रकार से आपके योग्य है, अनुरूप है। जो भोग स्वतः प्राप्त हो जाय उसकी अवहेलना करना विरक्त पुरुष के लिये भी उचित नहीं है; फिर विषयासक्त की तो बात ही क्या है? आप विवाह करना चाहते हैं—यह बात मुझे विदित है अतः अपनी इस बेटी को लेकर मैं आपके पास आया हूँ। यदि आप इसे स्वीकार नहीं करेंगे तथा विवाह के लिये दूसरे के सामने हाथ फैलायेंगे तो आप का यश क्षीण होगा। आप का ब्रह्मचर्य एक सीमा तक ही है। यह जान कर ही मैं अपनी इस बेटी को लेकर आप के पास आया हूँ अतः आप इसे स्वीकार कीजिये” —

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते । अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥३/२२/१२

अहं त्वाश्रयं विद्वन् विवाहार्थं समुद्यतम् । अतस्त्वमुपकुर्वाणः<sup>१</sup> प्रतां<sup>२</sup> प्रतिगृहाण मे ॥३/२२/१४

महाराज मनु की बात को सुनकर ऋषि कर्दम ने कहना प्रारम्भ किया—“महाराज, ठीक है। मैं विवाह करना चाहता हूँ और आप की यह कन्या भी दूसरे के लिये संकल्पित नहीं है, वाग्दत्त नहीं है अतः हम दोनों का ब्राह्मविधि<sup>३</sup> से विवाह होना उचित ही है। जहाँ तक इसके सौन्दर्य का प्रश्न है, उसके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। यह अपनी कान्ति से लक्ष्मी जी को भी मात देनेवाली है। एक समय की बात है। यह अपने महल की छत पर गेंद से खेल रही थी। उस समय इसके शारीरिक सौन्दर्य, नेत्रों की चञ्चलता को देखकर तथा पैर में झुन-झुनाते हुए पायलों की झंकार को सुनकर, विमान से जाते हुए, गन्धर्व विश्वासु मोहित हो अचेत होकर विमान से गिर पड़े थे—

स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम् ॥३/२२/१६

यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।

विश्वावसुर्न्यपतत्स्वादिमानाद्विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः ॥३/२२/१७

वही इस समय यहाँ स्वयं आकर विवाह की कामना व्यक्त कर रही है। ऐसी स्थिति में कौन समझदार व्यक्ति इसे स्वीकार नहीं करेगा? जिन्होंने कभी लक्ष्मी जी की उपासना नहीं की है उन्हें तो इसका दर्शन भी दुर्लभ है।

अतः मैं आपकी इस कन्या-रत्न को अवश्य स्वीकार करूँगा। किन्तु मेरी भी एक शर्त है—“जब तक इसके सन्तान नहीं हो जायेगी, तब तक मैं गृहस्थधर्म के अनुसार इसके साथ रहूँगा। इसके बाद मैं परमहंसों को अतिप्रिय संन्यास-मार्ग का ही आश्रयण करूँगा। गृहस्थी को त्याग कर संन्यासी बन जाऊँगा।” इतना कहकर कर्दम जी मौन हो गये। उस समय वे अपने हृदय में भगवान् का ध्यान कर रहे थे। उनके मुख-मण्डल पर मधुर मुस्कान की आभा छिटक रही थी। उसे देख कर देवहूति का मन लुभा गया।

मनु ने कर्दम की बात सुनी। उन्होंने अपनी पत्नी शतरूपा से कहा—“देखो, अभी विवाह हुआ नहीं और यह संन्यास की बात कहने लगे। सोच लो, और अपनी बेटी से भी पूछ लो, क्या वह ऐसे विरक्त के साथ विवाह करना पसन्द करेगी?” महाराज की बात को सुनकर शतरूपा ने अपनी बेटी से, एकान्त में, उसका मन्तव्य पूछा।

१. ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं—नैष्ठिक और उपकुर्वाण। नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवनभर ब्रह्मचर्य धारण करता है। वह कभी विवाह नहीं करता। किन्तु उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य अवस्था की समाप्ति पर विवाह कर अपनी गृहस्थी बसाता है।
२. प्रताम्—जो दूसरे को देने के लिये सङ्कल्पित न हो उस कन्या को ‘प्रता’ कहते हैं।
३. मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन है—(१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) प्राजापत्य, (५) आसुर, (६) गान्धर्व, (७) राक्षस और (८) पैशाच। इनका लक्षण इसी स्कन्ध के तीसरे अध्याय में बतलाया गया है। इनमें पहला सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इसमें पिता योग्य वर को कन्या दान करता है।



देवहूति ने कहा—“वस्तुतः ऐसे ही इन्द्रियजयी से मैं विवाह करना चाहती हूँ” । शतरूपा ने बेटी के विचार से अपनी सहमति व्यक्त की और महाराज को अपना और बेटी का विचार बतला दिया । फिर तो मनु महाराज प्रसन्न हो उठे । उन्होंने सहर्ष अपनी बेटी का दान कर्दम को कर दिया, हाथ पकड़ा दिया—

सोऽनुज्ञात्वा व्यवसितं महिष्याः दुहितुः स्फुटम् ।

तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः ॥३/२२/२२

कर्दम और देवहूति—दोनों ही सुन्दर थे । सारे गुणों के खजाने थे । “केहि बड़ छोट कहत अपराधू ।” अतः महर्षि को अपनी कन्या देकर मनु-शतरूपा प्रसन्न हो उठे । उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ ।

महारानी शतरूपा ने भी बेटी और दामाद को बड़े, प्रेम पूर्वक बहुत-से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण और गृहस्थी के योग्य पात्र आदि देहज में दिया । इस प्रकार सुयोग्य वर को अपनी कन्या देकर महाराज मनु निश्चिन्त हो गये । विदा होने की बेला में बेटी का वियोग न सह सकने के कारण वे उसे छाती से लगाकर ‘बेटी-बेटी’ कहकर रोने लगे । उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई । उनसे उन्होंने देवहूति के शिर के बालों को भिगो दिया—

आसिञ्चदम्ब<sup>१</sup> वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः ॥२५

अन्त में ऋषि कर्दम से आज्ञा लेकर शतरूपा के साथ, आश्रम से विदा होकर, महाराज मनु ब्रह्मावर्त होते हुए अपनी राजधानी बर्हिष्मतीपुरी<sup>२</sup> में आ गये । वहाँ फिर वे अपने दिव्य भवन में गये । इस भवन में निवास करनेवाले को दैहिक, दैविक और भौतिक ताप नहीं हुआ करते थे—

शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः । स एवं स्वान्तरं नित्ये युगानामेकसप्ततिम् ॥

३/२२/३५-३६

मनु जी निरन्तर समस्त प्राणियों के हित में लगे रहते थे । मुनियों के पूछने पर उन्होंने मनुष्यों के साधारण एवं विशेष धर्मों की व्याख्या की थी । यहाँ तक उनके चरित्र का कीर्तन किया गया । अब आगे उनकी कन्या देवहूति के वंश का वर्णन किया जायेगा ॥२२॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२२॥

॥ सप्ताह के पहले दिन की कथा समाप्त हुई ॥

॥ अध्याय-संख्या ५१॥

१. अम्ब मातरि पुत्र्याञ्चेति मेदिनी कोश के अनुसार पुत्री को ‘अम्ब’ भी कहा जाता है । ‘अम्ब’ और ‘बेटी’ समान अर्थ के वाचक हैं ।
२. यहीं पर पृथिवी को रसातल से ले आने के पश्चात् शरीर पर से पानी झटकते समय वाराह के रोम झर कर गिरे थे । वे रोम ही निरन्तर हरे-भरे रहनेवाले कुश और काश हुए । मुनियों ने कुश से दैत्यों-राक्षसों को भगा कर यज्ञ की रक्षा की थी । बहुत बर्हिष् होने के कारण इसी पुरी को बर्हिष्मती कहते हैं । दूसरी बात यह है कि पृथिवी प्राप्त होने पर मनु ने यहीं कुश की बर्हि (चटाई) बिछाकर भगवान् की पूजा की थी अतः इसे बर्हिष्मती कहते हैं ।



॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

## सप्ताह के दूसरे दिन की कथा का प्रारम्भ

॥ ऋषभाख्यानपर्यन्तं द्वितीये दिवसे वदेत् ॥

( ऋषमदेव की कथा तक दूसरे दिन की कथा कहनी चाहिये )

( तीसरे स्कन्ध के तेईसवें अध्याय से प्रारम्भ कर पञ्चम स्कन्ध के छठे अध्याय तक )

### तेईसवाँ अध्याय

( कर्दम और देवहूति का विहार )

मैत्रेय जी कहते हैं कि—“विदुर जी, माता-पिता के चले जाने पर देवहूति ने पूरी तन्मयता के साथ पति कर्दम की सेवा प्रारम्भ की। वह उनके अभिप्राय को समझ कर निरन्तर उनकी परिचर्या किया करती थी। जैसे पर्वतराज हिमालय की बेटी पार्वती अकिञ्चन अपने पति शङ्कर की सेवा अपनी पूरी शक्ति के साथ करती थीं, वैसे ही देवहूति भी अकिञ्चन कर्दम की शुश्रूषा किया करती थी। उसे सम्राट् की बेटी होने का स्वल्प भी अभिमान न था। वह काम-वासना, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप और मद का त्याग कर बड़ी सावधानी और लगन के साथ सेवा में तत्पर रह कर पति को प्रसन्न रखने का प्रयास किया करती थी। उसने अपने मधुर भाषण आदि गुणों से पतिदेव को सन्तुष्ट कर लिया—

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा । नित्यं पर्यचरन्तीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ॥३/२३/१  
 विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम् । अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत् ॥३/२३/२  
 दोनों पति और पत्नी एक कुटिया में रहते थे। साथ-साथ शयन करते थे, उठते-बैठते थे। किन्तु मन एवं शरीर पर इतना प्रबल संयम था कि उन लोगों ने बहुत दिनों १२ वर्षों तक यह जाना ही नहीं कि विवाह का मतलब क्या होता है। विवाह क्यों किया जाता है<sup>१</sup>। पति की सेवा में देवहूति ने शरीर की चिन्ता न की। वह अत्यन्त दुर्बल हो गई थी। उसकी इस दशा को देखकर कर्दम का हृदय करुणा से भर उठा। उन्होंने पत्नी से कहा—“हे मनुष्यकुमारी, तुमने मेरा बड़ा आदर किया है। मैं तुम्हारी उत्तम सेवा और परम भक्ति से प्रसन्न हूँ। सभी शरीर-धारियों को अपना शरीर परम प्रिय होता है। किन्तु तुमने मेरी सेवा के आगे उसके भी क्षीण होने की परवाह न की—

१. वाचस्पति मिथिला के थे। वे षड्दर्शन-पञ्चानन कहे जाते हैं। उनका विवाह हुए ३६ वर्ष व्यतीत हो गये थे। किन्तु उन्होंने पत्नी को पहचाना तक न था। एक दिन रात्रि की बेला में वे ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर भाष्य की व्याख्या लिख रहे थे। दीपक का तेल समाप्त हो गया था। तेज मन्द पड़ गया था। वे झुकते जा रहे थे कागज पर। उनकी पत्नी ने यह देखा। उसने बत्ती बढ़ा दी। प्रकाश बढ़ गया। श्रीमिश्र जी ने शिर उठाकर देखा। स्त्री सामने बैठी थी। उन्होंने पूछा—“देवि तुम कौन हो ?” स्त्री ने उत्तर दिया—“प्रभो, आप को कुछ स्मरण है ? आज से ३६ वर्ष पूर्व मेरे साथ विवाह किया था। वाचस्पति को स्मरण हुआ। वे कुछ सोचने लगे। उनके मन में दया आई। उन्होंने पूछा—“देवि, तुम्हारा नाम क्या है ?” स्त्री का उत्तर था—“भामती।” वाचस्पति मिश्र ने कहा—“देवि, मैंने तुम्हारे लिये कुछ किया नहीं। किन्तु शाङ्कर-भाष्य की इस व्याख्या का नाम “भामती” होगा। दुनियाँ अनन्त काल तक इस नाम को याद रखेगी।



तुष्टोऽहमद्य मानविमानदायाः शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या ।

यो देहिनामयमतीव सुहृत्स्वदेहो नावेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे ॥ २/२३/६

मेरी तपस्या, समाधि एवम् उपासना से तुम्हें वे दिव्य भोग प्राप्त हुए हैं जो मनुष्यों को सर्वदा दुर्लभ हैं । मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान कर रहा हूँ । उससे उन्हें तुम देखो—“दृष्टिं प्रपश्य वितराग्यभयानशोकान्” ॥७॥ मेरी अद्भुत सेवा करने के कारण तुम्हें अलौकिक सिद्धि प्राप्त हुई है । अब तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा ।” पतिदेव की बात को सुन कर तथा उनकी सिद्धियों को जान कर देवहूति की सारी चिन्ता समाप्त हो गई । लज्जा से उसकी दृष्टि नीचे झुक गई और उसका मुख मुस्कान से खिल उठा । उसने कहा—“द्विजश्रेष्ठ, मैं योग के बल से प्राप्त आपके समग्र ऐश्वर्य एवं सामर्थ्य को जानती हूँ किन्तु मेरे प्रभो, आपने विवाह के समय जो प्रतिज्ञा की थी कि गर्भाधान होने तक मैं तुम्हारे साथ गृहस्थ-सुख का उपभोग करूँगा उसकी अब पूर्ति होनी चाहिये क्योंकि श्रेष्ठ पति के द्वारा सन्तान प्राप्त होना पतिव्रता स्त्री के लिये महान् लाभ है—

यस्तेऽभ्यधाति समयः सकृदङ्गसङ्गो भूयाद्दरीयसि गुणः प्रसवः सतीनाम् ॥३/२३/१०

पतिदेव, हम दोनों के समागम के लिये, रति-रङ्ग के लिये, शास्त्र के अनुसार जो कर्तव्य हो, उसका आप उपदेश दीजिये । भोग में सहायक सामग्रियों तथा एक सर्व-साधन-सम्पन्न भवन का भी होना आवश्यक है । भोजन पान आदि की उपयोगी सामग्रियों को भी जुटा दीजिये जिससे आपके अंगों में लिपट-सिमट जाने के लिए आतुर दुर्बल मेरा यह शरीर आपके साथ सुरति-संग्राम के योग्य हो जाय । आपके द्वारा उत्पन्न की गई काम-वेदना से मैं पीड़ित हो रही हूँ ।

प्राणप्रिया की बात को सुनकर कर्दम जी ने उसी क्षण अपनी योग-शक्ति से एक कामग विमान (इच्छा के अनुसार चलनेवाले विमान) की रचना कर डाली । यह विमान पानी में भी चलता था, धरती पर भी चलता था और आकाश में भी उड़ता था । यह विमान यन्त्र से नहीं इच्छा से चलता था । यह कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि की तरह सब प्रकार के इच्छित भोगों को प्रदान करनेवाला, अत्यन्त सुन्दर, सब प्रकार के रत्नों से युक्त, सब सम्पत्तियों से भरपूर तथा मणिमय खम्भों से सुशोभित था—

सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम् । सर्वैर्द्रव्यपचयोदकं मणिस्तम्भैरूपस्कृतम् ॥३/२३/१३

भवन की भूमियाँ नीलम की बनी थीं । भित्तियों का निर्माण स्फटिक मणियों से हुआ था । लाल-लाल मूँगों से देहलियाँ निर्मित थीं । किवाड़ों में हीरे जड़े हुए थे । नीलमणियों से शिखरों का निर्माण हुआ था । उनके ऊपर स्वर्ण के सुन्दर कलश विराजमान थे । उस विमान में अलग-अलग कार्यों के लिये अलग-अलग कक्ष बने हुए थे । सभी कक्षों में मखमली सुख-दायिनी दिव्य शय्याएँ लगी थीं, दरवाजों पर रेशम के चमचमाते पर्दे टँगे हुए थे । जहाँ-तहाँ बने हुए कृत्रिम पक्षियों को देख कर उन्हें सजीव जानकर उनकी जाति के पक्षी आकर उनके पास बैठते एवं कलरव करते थे । उस विमान की संरचना को देखकर देवों के चीफ इञ्जीनियर विश्वकर्मा भी लजा जाते थे । कर्दम के विमान की समृद्धि के समक्ष इन्द्र का भवन भी झोपड़ी प्रतीत होता था । उसके उपभोग की सामग्रियों को देखकर कुबेर का वास-भवन भी तुच्छ प्रतीत होता था । रत्नों की आभा-प्रभा से सारा भवन सतत जगमगाता रहता था । उसमें सुन्दर-सुन्दर वापियाँ बनी थीं । जलशय्यों में विविध प्रकार के रङ्ग-विरङ्गे कमल खिले हुए थे । विमान की अद्भुत सुन्दरता को देखकर स्वयं कर्दम जी भी आश्चर्य से चकित थे ।

ऐसे सुन्दर घर को भी जब देवहूति ने बहुत प्रसन्न चित्त से नहीं देखा तो उसके हृदय के भाव को जान कर कर्दम जी ने कहा—“देवि, तुम इस बिन्दुसरोवर में स्नान करके विमान पर चढ़ जाओ । विष्णु भगवान् के द्वारा रचा गया यह तीर्थ प्राणियों की सकल कामनाओं को पूरा करने वाला है” । पति की बात को स्वीकार कर देवहूति ने बिन्दु-



सरोवर में प्रवेश किया। गोता लगाकर जब देवहूति निकली तो उसके शरीर की सारी मैल धुल गई थी। शरीर नवीन चमक-दमक की आभा से मण्डित हो गया था। वह नवीन स्फूर्ति का अनुभव कर रही थी, मानो उसे अभी-अभी अंगड़ाई लेती हुई नई तरुड़ाई मिली हो। उसी समय उसने यह भी देखा कि एक सहस्र तरुणियाँ हाथ जोड़े उसके सामने खड़ी थीं। उनके शरीर से कमल की सुगन्ध निकल रही थी। वे कह रही थीं—“हम आप की दासियाँ हैं। हमें आज्ञा दीजिये। हम आप की क्या सेवा करें?”—

तां दृष्ट्वा सहस्रोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः । वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम् ॥३/२३/२७

इसके बाद उन किशोरियों ने देवहूति को विविध वस्त्राभूषणों से इस प्रकार सजाया कि काम-पत्नी रति भी उसके सामने तुच्छ प्रतीत होने लगी। उन्होंने अमृततुल्य भोजन-पान से भी देवहूति को पूर्ण-तृप्त किया। पत्नी के काम-संग्राम की तैयारी को देखकर कर्दम जी ने भी बिन्दुसरोवर में स्नान किया। स्नान करने से उनके शरीर और बाल निर्मल हो गये फिर वे दासियों से घिरी हुई देवहूति के साथ विमान में प्रवेश किये। विमान में पहुँचते ही कर्दम और देवहूति की रंगरेलियाँ प्रारम्भ हो गईं। सहस्रों विद्याधरियाँ उनके शरीर की सेवा कर रही थीं। पति के इस प्रकार योग के प्रभाव को देखकर देवहूति का मन आश्चर्य और आनन्द से भर गया।

विमान में अपनी प्रियतमा के साथ कर्दम के आरूढ होते ही वह वहाँ से उड़ा और जा पहुँचा मेरु पर्वत की घाटियों में। वहाँ वे कुबेर जी के समान दीर्घकाल तक विहार करते रहे। मेरु पर्वत की घाटियाँ आठों लोकपालों की विहारभूमि हैं। इनमें कामदेव को बढ़ाने वाली शीतल, मन्द एवं सुगन्ध वायु बहती रहती है। आकाश-गङ्गा के कल-कल निनाद से वहाँ का वातावरण सर्वदा ध्वनित होता रहता है। उस समय सिद्ध गन्धर्व उनके गुणों का गान कर रहे थे। उसके बाद वे देवों के नन्दन आदि वनों में, कुबेर की भाँति, चिरकाल तक विहार करते रहे, रंगरेलियाँ मनाते रहे—

रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ॥३/२३/३९

उस कान्तिमान् और इच्छानुसार चलनेवाले श्रेष्ठविमान पर बैठकर कर्दम जी, वायु के समान सभी लोकों में विचरते हुए, विमान-विहारी देवताओं से भी आगे निकल गये—

प्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा । वैमानिकानत्यशेत चरैल्लोकान् यथानिलः ॥३/२३/४१  
दुनियाँ में किसी के भी पास ऐसा विमान नहीं था और न आज भी है, जो इसकी तुलना कर सके। कर्दम जी का यह वैभव शङ्का अथवा आश्चर्य का विषय नहीं है। जिन लोगों ने भगवान् के चरणों का आश्रय ले लिया है, उनको संसार का कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है—

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् । यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ॥३/२३/४२  
अपनी पत्नी को सारे भू-मण्डल एवं स्वर्ग की विहार-भूमियों में घुमाकर कर्दम जी पुनः अपने आश्रम में लौट आये। काम की महिमा गजब की होती है। इस प्रकार विहार करते हुए उन दोनों के सौ वर्ष मुहूर्त के समान बीत गये—

रामां निरमथन् रेमे वर्षपूगान् मुहूर्तवत् ॥३/२३/४४

अत्यन्त सुन्दर पति के साथ काम-क्रीडा करती हुई देवहूति को भी समय का कुछ आभास नहीं हुआ। इस अवधि में उन देवहूति से कर्दम को नौ कन्याएँ हुईं। वे सभी-की-सभी परम सुन्दरी थीं। कन्याओं की उत्पत्ति के अनन्तर कर्दम जी वन जाने के लिये हुए। सब कुछ छोड़कर उनका मन संन्यास लेने का हुआ। हो भी क्यों नहीं? आज भी जिसे नौ कन्यायें हो जाँय उसकी बुद्धि ठिकाने लग जाती है। वह भी जंगल में भाग जाने की सोचने लगता है। कर्दम जी जब संन्यास लेने के लिये तत्पर हुए तो देवहूति का हृदय व्याकुल हो गया। उसका मुख मलिन होकर



लटक गया फिर किसी प्रकार धैर्यधारण कर उसने कहा—“मेरे स्वामिन्, आप ने सब प्रकार से मेरी इच्छाओं की पूर्ति की है। आपने जो कहा था वह सब किया। किन्तु प्रभो, जाने के पूर्व आप इन कन्याओं का विवाह भी करके जाँय। इसके अतिरिक्त मुझे एक पुत्र भी होना चाहिये जो आपके चले जाने पर मेरा उद्धार करे—

ब्रह्मन् दुहितृभिस्तुभ्यं विमृश्याः पतयः समाः ।

कश्चित् स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥३/२३/५२

स्वामिन्, आपके परम प्रभाव को न जानने के कारण ही मैंने इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रह कर आपसे अनुराग किया। तो भी आप का संग मेरे संसार-भय को दूर करने वाला होना चाहिये क्योंकि असत्पुरुषों का संग संसार का कारण होता है और सत्पुरुषों का संग, अज्ञान से भी यदि किया जाय तो भी वह मोक्ष का कारण होता है। इस संसार में वह पुरुष जीते जी मुर्दे के समान है, जिसके कर्मों से न तो धर्म का सम्पादन होता है न वैराग्य उत्पन्न होता है और न भगवान् की सेवा ही सम्पन्न होती है—

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।

न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥३/२३/५६

अवश्य ही मैं भगवान् की माया के द्वारा ठगी गई हूँ, जो आप जैसे मुक्तिदाता पतिदेव को पाकर भी मैंने संसार-बन्धन से छूटने की इच्छा नहीं की, मुक्त होने का प्रयास नहीं किया—

साहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम् । यत्त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात् ॥३/२३/५७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२३॥

## चौबीसवाँ अध्याय

( भगवान् कपिल का जन्म, कन्याओं का विवाह और कर्दम जी का संन्यास-ग्रहण )

मैत्रेय जी ने कहा—“विदुर जी, जब मनु की बेटी देवहूति वैराग्य की बात करने लगी, तब महात्मा कर्दम जी को बड़ी दया आई। उन्होंने कहा हाँ-हाँ देवि, तुम खेद मत करो। भगवान् ने भी ऐसा ही कहा था कि मैं आप का बेटा बनूँगा अतः वे तुम्हारे गर्भ में आनेवाले हैं—

मा खिदो राजपुत्रीत्यमात्मानं प्रत्यनिन्दिते । भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात् सम्प्रपत्स्यते ॥३/२४/२

इधर भगवान् पहले कर्दम के वीर्य में और फिर देवहूति के गर्भ में प्रविष्ट होकर दशवे महीने में, काष्ठ में अग्नि की तरह, प्रकट हुए—

तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः । कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ॥३/२४/६

उस समय प्रकृति का सारा वातावरण आह्लाद से भर गया। मेघ जल बरसाते हुए गरज-गरज कर बाजे बजाने लगे, गन्धर्व-गण गान करने लगे और अप्सराएँ आनन्दित होकर नाचने लगीं। आकाश से देव-गण दिव्य पुष्पों की वर्षा करने लगे। जलाशयों का जल निर्मल हो गया। सभी प्राणियों के मन प्रसन्नता से खिल उठे। यह देखकर मरीचि

१. भगवान् के जन्म के प्रसङ्ग में यह बात लौकिक रीति का अनुकरण करके कहीं गई है। वस्तुतः भगवान् किसी के न वीर्य में आते हैं और न गर्भ में ही। भगवान् चिद्धन हैं, ज्ञानरूप हैं अतः वीर्य आदि में आना समीचीन नहीं है। वैष्णव-सिद्धान्त भी यही कहता है—उदेति भगवान् विष्णुः काले लोकं विडम्बयन् ॥



आदि ऋषियों के साथ, सरस्वती नदी के तट पर बसे कर्दम ऋषि के आश्रम में, ब्रह्मा जी पधारे। उन्होंने कर्दम जी से कहा—“बेटा, तुम दूसरों को मान-सम्मान देनेवाले हो। तुमने जो मेरी आज्ञा का पालन किया है, यह मेरी सबसे बड़ी सेवा है। पिता की आज्ञा का पालन करना ही पुत्रों का महान् धर्म है। देखो, तुम्हारे आश्रम पर ये मरीचि आदि ऋषि आये हुए हैं। इनके स्वभाव और रुचि के अनुसार अपनी कन्याएँ इन्हें समर्पित करो इससे सृष्टि बढ़ेगी और संसार में तुम्हारे सुयश का विस्तार होगा—

अतस्त्वभृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि । आत्मजाः परिदेहाद्य विस्तृणीहि यशो भुवि ॥३/२४/३५

उक्त बातें कर्दम जी से कह कर ब्रह्मा जी फिर मुझे देवहूति की ओर और कहा—“राजकुमारी, तेरे गर्भ में साक्षात् कैटभारि भगवान् नारायण पधारे हैं”। यह अपने इस अवतार के द्वारा न केवल अविवेक की, अपितु अविद्या की गाँठ को भी काट कर भूतल पर विचरण करेंगे। ये सिद्ध-गणों के स्वामी और सांख्याचार्यों के भी आदरणीय होंगे। लोक में यह तेरी कीर्ति का विस्तार करेंगे, इनका नाम होगा—‘कपिल’।

मैत्रेय जी ने कहा—‘विदुर जी, ब्रह्मा जी उक्त बातें दोनों से कहकर सनकादि ऋषियों के साथ अपने लोक को चले गये। सृष्टिकर्ता के चले जाने पर कर्दम जी ने उनकी आज्ञा के अनुसार अपनी बेटियों का विवाह मरीचि आदि प्रजापतियों के साथ सविधि कर दिया। उन्होंने अपनी कला नाम की कन्या मरीचि को, अनसूया अत्रि को, श्रद्धा अङ्गिरा को, हविर्भू पुलस्त्य को, गति पुलह को, क्रिया क्रतु को, ख्याति भृगु को, अरुन्धती वसिष्ठ को और शान्ति अथर्वा ऋषि को प्रदान कर दी। साथ में कर्दम जी ने उन्हें दहेज के रूप में बहुत-सी सामग्री भी प्रदान की। अनुरूप पत्नियों को पाकर मरीचि आदि ऋषि प्रसन्न हो गये और कर्दम की आज्ञा लेकर वे सभी अपने-अपने स्थान को चले गये—

विप्रर्षभान् कृतोद्वाहान् सदारान् समलालयत् । ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम् ।

प्रातिष्ठन्नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम् ॥ ३/२४/२४-२५

एक दिन की घटना है। कर्दम जी ने देखा कि त्रिलोकी के मालिक हमारे घर में अवतार लेकर पधारे हैं, तो वे एकान्त में उनके पास गये और प्रणाम कर कहना प्रारम्भ किया—“प्रभो, आप भक्तवत्सल हैं। भक्तों पर अहेतुक कृपा करनेवाले हैं। भक्तों का मान बढ़ानेवाले हैं। आपने अपने वचनों को सत्य करने के लिये और सांख्यशास्त्र का उपदेश करने के लिये ही हमारे घर अवतार लिया है। स्वामिन्, आप ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और श्री—इन छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। मैं आप का शरणागत हूँ—

ऐश्वर्य-वैराग्य-यशोऽवबोध-वीर्य-श्रिया पूर्तमहं प्रपद्ये ॥३/२४/३२

“आप की कृपा से सम्प्रति मैं सभी प्रकार के ऋणों से मुक्त हो चुका हूँ। मेरे मनोरथ भी पूर्ण हो चुके हैं। सम्प्रति मैं संन्यास लेकर, आपका चिन्तन करते हुए, संसार में निर्लिप्त भाव से विचरण करना चाहता हूँ। इसके लिये आप मुझे आज्ञा दीजिये।” कर्दम जी घर में पधारे भगवान् का परित्याग कर जङ्गल में जाकर उनका चिन्तन करना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि भगवान् के भक्तों को स्वयं भगवान् की अपेक्षा भगवान् की सेवा, उनका चिन्तन-ध्यान अधिक प्रिय है।

कर्दम जी की बात सुनकर कपिल जी ने कहा—“मुने, तत्त्वज्ञान का सांख्य-मार्ग बहुत दिनों से लुप्त हो गया था उसे फिर से प्रवर्तित करने के लिये ही मैंने यह शरीर धारण किया है। मुने, मैं आज्ञा देता हूँ, तुम इच्छानुसार जाओ और अपने सारे कर्मों को मुझे समर्पित करते हुए मेरा भजन करो। इस से आप मृत्यु को जीत कर मोक्ष के



भागी बनेगे। अब मैं माता देवहूति को भी सम्पूर्ण कर्मों से छुड़ानेवाला आत्मज्ञान प्रदान करूँगा। इससे यह संसाररूपी भय से सर्वदा के लिये मुक्त हो जायेगी”।

भगवान् कपिल के वचन को सुनकर प्रजापति कर्दम जी ने उनकी परिक्रमा की, प्रणाम किया और फिर प्रसन्नतापूर्वक वन के लिये चले गये। वहाँ उन्होंने अहिंसामय संन्यास धर्मों का पालन करते हुए अग्नि और आश्रम का भी परित्याग कर दिया। वे निःसङ्गभाव से पृथिवी पर विचरण करते थे। वें सब में भगवान् का दर्शन करते थे और भगवान् में सकल संसार की भावना करते थे—

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् । अपश्यत् सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥३/२४/४६

इस प्रकार इच्छा और द्वेष से रहित, सर्वत्र समबुद्धि और भगवान् की भक्ति से सम्पन्न होकर अन्त में श्री कर्दम जी ने भगवान् का परमपद प्राप्त किया—

भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥३/२४/४७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२४॥



## पच्चीसवाँ अध्याय

( कपिल के द्वारा माता के लिये योग का वर्णन )

शौनक जी ने कहा—“सूत जी, भगवान् कपिल जी साक्षात् अजन्मा नारायण थे। आत्म-ज्ञान का उपदेश देकर संसार के प्राणियों का उद्धार करने के लिये ही उन्होंने जन्म-धारण किया था। इनके चरित्रों को सुनकर मेरा अन्तःकरण तृप्त नहीं होता अतः उनकी लीलाओं का ही वर्णन करने की कृपा कीजिये”। तुलसीदास ने भी कहा है—

रामचरित जे सुनत अघाहीं । रसबिसेस जाना तिन नाहीं ॥

शौनक के प्रश्न को सुनकर सूत जी ने कहना प्रारम्भ किया—“मुनिवर, ऐसा ही प्रश्न विदुर जी ने मैत्रेय जी से किया था। श्री मैत्रेय जी ने विदुर जी से जो कुछ कहा वही मैं आप को सुना रहा हूँ।” मैत्रेय जी ने कहा—“पिता के वन में चले जाने पर भगवान् कपिल जी अपनी माता का प्रिय करने की इच्छा से बिन्दुसरोवर में ही रहने लगे। एक दिन कपिल भगवान् एकान्त में आसन पर विराजमान थे। उसी समय उनकी माता बड़ी श्रद्धा के साथ उनके पास जाकर बोली—“प्रभो, ये इन्द्रियाँ बड़ी दुष्ट हैं। जीवनभर मैंने विषयों को प्रदान कर इनकी लालसा पूर्ण करने का प्रयास किया। किन्तु सब निष्फल सिद्ध हुआ। बकरे के पेट की भाँति इन इन्द्रियों के पेट को भरना अत्यन्त दुष्कर है। मैं अज्ञानरूपी अन्धकार में डूबी हुई हूँ। आप मेरे जैसे संसारी प्राणियों का अज्ञानरूपी अन्धकार समाप्त करने के लिये सूर्य की भाँति उदित हुए हैं। अपने ज्ञान-प्रकाश के द्वारा आप हमारी अहन्ता एवं ममता को काट कर मेरा उद्धार कीजिये—

लोकस्य तमसान्यस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ॥ अथ मे देव सम्मोहमपाक्रुहुं त्वमर्हसि ।

योऽवग्रहोऽहं ममेतीत्येतस्मिन् योजितस्त्वया ॥ ३/२५/१-२०

आप अपने भक्तों के संसाररूप वृक्ष को काटने के लिये कुल्हाड़ी के समान हैं। प्रकृति और पुरुष का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये मैं आप की शरण में आई हूँ। भागवत-धर्म के जाननेवालों में आप सबसे श्रेष्ठ हैं। मैं आप को प्रणाम करती हूँ—



तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।

जिज्ञासयाऽहं प्रकृतेः पूरुषस्य नमामि सन्दर्भविदां वरिष्ठम् ॥३/२५/११

माता के इस प्रकार वैराग्य भरे वचन सुनकर कपिल जी मुस्कराये और माता की प्रशंसा करते हुए बोले—  
“माता जी, मेरा यह दृढ मत है कि अध्यात्मयोग ही अर्थात् आत्मा और अनात्मा का विचार ही मानव के परम कल्याण का मुख्य साधन है। इससे सुख एवं दुःख—दोनों की निवृत्ति हो जाती है, जिससे प्राणी को परम शान्ति की अनुभूति होती है। देवि, मैं वही योग तुम्हें बतला रहा हूँ। इसका वर्णन मैंने नारद आदि ऋषियों के लिये पहले किया था।

मातः, जीव के बन्धन और मोक्ष का परम कारण मन ही है। मन के द्वारा ही जीव बँधता और मुक्त होता है। जब मन विषयों में आसक्त हो जाता है, तब वह बन्धन का कारण बनता है और यदि वह परमात्मा में लीन होता है तो वही मोक्ष का हेतु हो जाता है—

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥३/२५/१५

जिस समय मानव का मन अहन्ता एवं ममता की आसक्ति से छूट कर, काम-लोभ आदि विकारों से निर्मुक्त निर्मल बन जाता है, उस समय यह सुख-दुःख से रहित होकर समभाव को प्राप्त हो जाता है। उस अवस्था में प्राणी ज्ञान-वैराग्य से युक्त, भक्ति से भरे हुए मन के द्वारा प्रकृति से परे एक, अखण्ड परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। उस समय प्रकृति उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती। योगियों के लिये भगवान् की प्राप्ति के हेतु भक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है। भगवान् की भक्ति मानव-मात्र का परम मङ्गल करनेवाली है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि । सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्ध्ये ॥

३/२५/१९

विवेकी पुरुष सङ्ग या आसक्ति को ही अच्छेघ बन्धन मानते हैं। किन्तु वही सङ्ग या आसक्ति जब सन्तों, महापुरुषों के प्रति हो जाती है, तो मोक्ष का खुला द्वार बन जाती है—

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥३/२५/२०

कपिल महाराज की बात को सुनकर माता ने कहा—“प्रभो, इस संसार में साधुओं की पहचान कैसे की जा सकती है ? कैसे जाना जाय कि यह व्यक्ति साधु है, सज्जन है ?” इस पर कपिल जी ने महात्माओं का लक्षण बतलाते हुए कहा कि—जो लोग सहनशील, दयालु, सभी प्राणियों के अकारण हितकारी, किसी के भी प्रति शत्रु-भाव न रखनेवाले, शान्त, सरलस्वभाव, सत्पुरुषों के सम्मानकर्ता, मुझ भगवान् में अनन्य दृढ भक्ति रखनेवाले, मेरे लिये सम्पूर्ण कर्मों तथा सम्बन्धियों का परित्याग कर देनेवाले, मेरे आश्रित रहकर मेरी कथाओं का जो निरन्तर श्रवण कीर्तन करते रहते हैं, वे ही सज्जन हैं, साधु पुरुष हैं। तुम्हें उन्हीं के सङ्ग की इच्छा करनी चाहिये क्योंकि सांसारिक सारी आसक्तियों के दोषों का वे हरण कर लेनेवाले हैं—

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः । सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सर्वदोषहरा हि ते ॥३/२५/२४

इस प्रकार के साधु जहाँ कहीं एकत्रित होते हैं, वहाँ कानों के लिये सुखदायी मेरी लीला-कथाएँ निरन्तर चला करती हैं। उन कथाओं के सुनने से व्यक्ति की क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति मेरे प्रति हो जाती है फिर वह मोक्ष-मार्ग का पथिक बन जाता है—

सतां प्रसङ्गानममं वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसामनाः कथाः ।

तज्जोषणादाश्चपवर्गवर्त्तिनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥३/२५/२५



माता जी, मेरी कथाओं, लीलाओं के श्रवण का ही यह माहात्म्य है कि व्यक्ति ऐहिक एवं पारलौकिक—उभयविध सुखों के प्रति विरक्त हो जाता है। उसकी सांसारिक कामनाएँ मर जाती हैं। इस प्रकार प्रकृति के गुणों से उत्पन्न हुए विषय-भोगों का त्याग करने से, वैराग्ययुक्त ज्ञान से, योग से और मेरे प्रति की गई सुदृढ भक्ति से मनुष्य इसी देह में मुझ परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि मैं सबके हृदय में अन्तरात्मा बन कर बैठा हूँ। अतः मुझे अन्यत्र अन्वेषण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मेरे मिलते ही प्राणी को परम शान्ति की अनुभूति हो जाती है और यही है जीवन का परम लक्ष्य।”

पुत्र की बात को सुनकर देवहूति ने कहा—“बेटे, मेरे करने योग्य जो भक्ति हो वह तुम मुझे बतलाओ, जिससे मुझे तुम्हारे यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो सके। योग का स्वरूप क्या है ? उसके कितने अङ्ग हैं ? यह सब भी समझाओ, जिससे मैं सरलता से इन रहस्यों को समझ सकूँ।”

मैत्रेय जी कहते हैं विदुर जी, देवहूति की कोख से जन्म लेनेवाले कपिलजी ने अपनी माता की बात सुनी। वे उसके अभिप्राय को समझ गये फिर उन्होंने उसे सांख्य-शास्त्र, भक्ति और योग का भी रहस्य समझाया। उन्होंने कहा—“माता जी, इन्द्रियों के सहित मन की भगवान् में जो निश्चल, निष्कारण वृत्ति है, उसे ही भक्ति कहते हैं। इस प्रकार की भक्ति मुक्ति से भी बढ़ कर है। जठराग्नि जिस प्रकार खाये हुए अन्न को गला-पचा डालती है, उसी प्रकार यह अहैतुकी भक्ति कर्म-संस्कारों के भण्डार लिङ्ग शरीर को नष्ट कर देती है।—

**अनिमिता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी । जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥३/२५/३३**  
जो मेरे भक्त हैं, जो मेरी भक्ति में ही निरत रहते हैं, उन्हें मेरे दिव्य स्वरूप का दर्शन निरन्तर होता रहता है। दिव्य भोग एवम् अणिमा आदि सिद्धियाँ भी स्वयं उनके आगे-पीछे घूमती रहती हैं। काल भी उनका नाश करने में समर्थ नहीं होता—“नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः” ॥३८॥ जो व्यक्ति सारी सांसारिक बातों को छोड़ कर अनन्य भक्ति के द्वारा सर्वव्यापी मेरा भजन-चिन्तन करते हैं, उन्हें मैं इस अपार संसार-सागर से निःसन्देह पार कर देता हूँ—

**विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् । भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥३/२५/४०**  
प्रकृति और पुरुष से भी परे, सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा, मुझ भगवान् की शरण में गये बिना प्राणियों का मृत्युरूप महाभय से छुटकारा असंभव है—

**नान्यत्र भङ्गवतः प्रधान-पुरुषेश्वरात् । आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते ॥३/२५/४१**  
मेरे भय से वायु चलती है, सूर्य तपता है, इन्द्र वर्षा करते हैं, अग्नि जलती है और मृत्यु भी मेरे डर से संसार का भक्षण करती हुई विचरण करती है—

१. बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग ।  
मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ अनुराग ॥  
मिलहि न रघुपति बिनु अनुराग । किए योग तप ग्यान बिराग ॥ रामचरित मानस, उ० का० ६१॥
२. इसलिये तुलसीदास ने कहा है—मुक्ति निरादरि भगति लुभाने ॥मानस॥
३. शरीर तीन प्रकार का होता है—(१) स्थूल शरीर । यह पाञ्चभौतिक शरीर है । (२) सूक्ष्मशरीर । यह स्रवह या अद्धारह तत्त्वों से बना हुआ होता है । इसी के सहारे आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है । इसके नष्ट होने पर ही मुक्ति मिलती है । और (३) तीसरा है कारण शरीर । इसे अज्ञान शरीर भी कहते हैं । इसके नष्ट होती ही आत्मा पूर्ण ब्रह्म बन जाता है ।
४. राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ । सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ ॥  
ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा । मिटहिं न जीवन केर कलेसा ॥मानस, उ०का०, ७८॥



मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् । वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चति मद्भयात् ॥३/२५/४३  
योगिजन ज्ञान-वैराग्य से युक्त भक्ति-योग के द्वारा शान्ति प्राप्त करने के लिये मेरे चरण-कमलों का आश्रय लेकर निर्भय बन जाते हैं । संसार में मनुष्य के लिये सर्वाधिक कल्याणकारी यही बात है कि उसका मन तीव्र भक्ति-योग के द्वारा मुझ में लगेकर स्थिर हो जाय—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः । तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥३/२५/४४  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२५॥

## छब्बीसवाँ अध्याय

( सांख्य के भिन्न-भिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति का वर्णन )

आगे कपिल भगवान् ने पुनः कहा—“माता जी, अब मैं तुम्हें प्रकृति आदि सब तत्त्वों के अलग-अलग लक्षणों को बतलाता हूँ । इन्हें जान कर मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है—

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् । यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ॥३/२६/१  
जिस ज्ञान से आत्मा का दर्शन होता है, वह ज्ञान ही मोक्ष का कारण है और वही अहङ्काररूप हृदय की गाँठ को काटने वाला है । उसी का वर्णन मैं तुमसे कर रहा हूँ । गुणों की साम्यावस्था, बराबर की अवस्था का नाम प्रकृति है—“गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः” ॥ सृष्टि के प्रारम्भिक काल में काल के प्रभाव के कारण प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है, हलचल पैदा हो जाती है । उस स्थिति में गुणों में कमी-बेशी आ जाती है । इसी को प्रकृति की वैषम्यावस्था कहते हैं । क्षुभित प्रकृति में जब भगवान् वीर्य (चित्-शक्ति) का आधान करते हैं, तब प्रकृति से महत्तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है । महत्तत्त्व को बुद्धि-तत्त्व भी कहते हैं । इसी में सारा जगत् अङ्कुररूप से स्थित रहता है । महत्तत्त्व चित्त भी कहलाता है । चित्त के अधिष्ठाता ‘वासुदेव’ हैं—

यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥३/२६/२१

चित्त अपने स्वाभाविक रूप में अत्यन्त स्वच्छ, विकाररहित एवं शान्त बतलाया गया है । पुनः महत्तत्त्व के विकृत होने पर उससे क्रियाशक्तिप्रधान अहङ्कार उत्पन्न हुआ । अहंकार वैकारिक, तैजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है । अहंकार के अधिष्ठाता देवता सङ्कर्षण हैं अतः अहङ्कार को ही ‘संकर्षण’ भी कहते हैं । वैकारिक अहङ्कार से मन की उत्पत्ति हुई, जिसके अधिष्ठाता देवता अनिरुद्ध हैं—“यद्विदुर्हानिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम्” ॥२८॥ फिर तैजस अहङ्कार में विकार होने पर उससे बुद्धि-तत्त्व उत्पन्न हुआ । यह बुद्धि तत्त्व ही प्रद्युम्न है ।

१. क. बुद्धि में अधिष्ठाता ब्रह्मा और उपास्यदेव प्रद्युम्नदेव ‘प्रद्युम्न’ है तथा मन के अधिष्ठाता ‘चन्द्रमा’ और उपास्यदेव ‘अनिरुद्ध’ है । यहाँ यह ध्यान रखना है कि सांख्यकारिका में प्रतिपादित सांख्य पच्चीस तत्त्वों वाला निरीश्वर सांख्य है । पुराणों में प्रतिपादित सांख्य सेश्वर सांख्य हैं । वहाँ ईश्वर को लेकर छब्बीस तत्त्व हैं ।
- ख. जिस काल के प्रभाव से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है, वह काल भी भगवान् का ही रूप है । एक ही ईश्वर-प्राणियों के भीतर पुरुष रूप से और बाहर कालरूप से भासता है—“अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।”
२. जिसे अध्यात्म में चित्त कहते हैं; उसी को अधिभूत में महत्तत्त्व कहा जाता है । चित्त के अधिष्ठाता ‘क्षेत्रज्ञ’ और उपास्यदेव ‘वासुदेव’ हैं । अहङ्कार के अधिष्ठाता ‘रुद्र’ और उपास्यदेव ‘सङ्कर्षण’ हैं ।
३. यहाँ यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि सांख्यकारिका में तत्त्वों की उत्पत्ति का जो क्रम बतलाया गया है, उससे यहाँ के तत्त्वों की उत्पत्ति के क्रम में भेद है ।



मन को दर्पण की भाँति अति स्वच्छ बतलाया गया है। मन ही सारे पदार्थों का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। मन का कार्य है—सङ्कल्प-विकल्प करना—“सङ्कल्पात्मकं मनः”। बुद्धि निश्चय करती है—“अध्यवसायो बुद्धिः”। तथा अहङ्कार अभिमान करता है—“अभिमानोऽहङ्कारः”। चित्त, मन, अहङ्कार और बुद्धि को ही अन्तःकरण-चतुष्टय कहते हैं—

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् । चतुर्था लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ॥३/२६/१४  
भगवान् की चेतनशक्ति की प्रेरणा से तामस अहङ्कार के विकृत होने पर उससे पञ्चतन्मात्राओं अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की उत्पत्ति हुई। इन्हीं तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी—इन पाँच महाभूतों का प्रादुर्भाव हुआ।

राजस अहङ्कार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई। इनमें श्रोत्रेन्द्रिय, त्वक् इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय और रसनेन्द्रिय—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, गन्ध, रूप और रस का ज्ञान होता है। वाक्, पाणि, पाद (पैर), पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा क्रमशः भाषण, आदान-प्रदान, गमनागमन, मलत्याग और विषयानन्द रूप कर्म किया जाता है। इनमें प्रथम पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता क्रमशः इस प्रकार हैं—दिक्, वायु, अश्विनीकुमार, सूर्य तथा वरुण। और कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता क्रमशः इस प्रकार हैं—वह्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र एवं प्रजापति।

पञ्च महाभूत, पाँच तन्मात्रा, चार अन्तःकरण और दश इन्द्रियाँ—इन चौबीस तत्त्वों के समूह को विद्वान् लोग प्रकृति का कार्य कहते हैं—

पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा । एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राथानिकं विदुः ॥३/२६/११  
इन्हीं चौबीस तत्त्वों से अण्ड की संरचना हुई, जो सात आवरणों से आवेष्टित है। सबसे पहला आवरण पृथिवी का है इसका मान ५० करोड़ योजन है। दूसरा आवरण जल का है इसका मान पहले की अपेक्षा दस गुना अधिक है। तीसरा आवरण तेज का है यह दूसरे आवरण से दस गुना बड़ा है। चौथा आवरण वायु का है यह तेज के आवरण से दस गुना अधिक है। पाँचवाँ आवरण आकाश का है इसका मान चौथे की अपेक्षा दस गुना अधिक है। आकाश से दस गुना अहङ्कार और अहङ्कार से दस गुना महत्तत्त्व का आवरण है। अन्तिम आठवाँ आवरण प्रकृति का है यह आवरण अनन्त है।

उक्त अचेतन अण्ड का नाम विशेष है। इसी के अन्तर्गत श्रीहरि के स्वरूपभूत चौदहों भुवनों का विस्तार है—

एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृन्दैर्दशोत्तरैः । तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः ॥

यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ॥

३/२६/५२

यह तेजोमय अण्ड बहुत दिनों तक जल में पड़ा रहा। उसमें विराट् पुरुष ने पुनः प्रवेश कर इन्द्रियों के लिये छिद्रों की रचना की। इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं ने अपने-अपने स्थानों में प्रवेश कर उसे उठाने का प्रयास किया, किन्तु वह उठा ही नहीं। अग्नि ने वाणी के साथ मुख में प्रवेश किया। परन्तु इससे विराट् पुरुष न उठा। वायु ने घ्राणेन्द्रिय के सहित नासिका छिद्रों में प्रवेश किया, फिर भी विराट् पुरुष न उठा। सूर्य ने चक्षु के सहित नेत्रों में प्रवेश किया, तब भी विराट् पुरुष न उठा। दिशाओं ने श्रवणेन्द्रिय के सहित कानों में प्रवेश किया, तो भी विराट् पुरुष न उठा—

वह्निर्वाचामुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट् । घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥

अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥

३/२६/६३-६४



इसी प्रकार तत् तत् देवताओं ने तत् तत् इन्द्रियों के साथ तत् तत् स्थानों में प्रवेश किया, किन्तु विराट् में कोई हल-चल नहीं हुई, वह उठा नहीं। किन्तु जब चित्त के अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ वासुदेव ने चित्त के सहित हृदय में प्रवेश किया तो विराट् पुरुष उसी समय जल से उठ कर खड़ा हो गया—

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा । विराट् तदैव पुरुषः सलिलदुदतिष्ठत् ॥३/२६/७०

अतः भक्ति, वैराग्य और चित्त की एकाग्रता से प्रकट हुए ज्ञान के द्वारा उस क्षेत्रज्ञ वासुदेव का इस शरीर में ध्यान करना चाहिये, जिसके बिना यह कुछ भी करने में असमर्थ है। वासुदेव का साक्षात्कार होने पर ही व्यक्ति के सारे बन्धन सर्वदा के लिये समाप्त हो जाते हैं अतः माँ, तुम वासुदेव का ही निरन्तर ध्यान करो, इसी से तुम्हारा परम मङ्गल होगा ॥२६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६॥

## सत्ताईसवाँ अध्याय

( प्रकृति-पुरुष के विवेक से मोक्ष की प्राप्ति )

श्रीभगवान् कपिल जी ने कहा—“माता जी, जल में सूर्य की परछाई पड़ती है। सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है किन्तु जल की शीतलता, चञ्चलता आदि गुणों का सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी प्रकार आत्मा प्रकृति के कार्य शरीर में स्थित रहने पर भी उस के सुख-दुःखादि धर्मों से लिप्त नहीं होता है, क्योंकि आत्मा स्वभाव से ही निर्विकार, अकर्ता और निर्गुण है—

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः । अविकारादकर्तृत्वाच्चिर्गुणात्वाज्जलार्कवत् ॥३/२७/१

किन्तु जब वही जीवात्मा प्रकृति के गुणों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब अहङ्कार से मोहित होकर “मैं कर्ता हूँ”—ऐसा मानने लगता है। उस अभिमान के कारण वह देह के संसर्ग से किए हुए पुण्य-पापरूप कर्मों के दोष से अपनी स्वाधीनता और शान्ति खो बैठता है तथा उत्तम, मध्यम और नीच योनियों में उत्पन्न होकर संसार चक्र में घूमता रहता है। जिस प्रकार स्वप्न में हम अपना शिर कटना और मरना आदि देखकर, स्वप्न के पदार्थों में आस्था हो जाने के कारण, अकारण ही शोक-ग्रस्त एवं दुःखी होते हैं उसी प्रकार भय-शोक, अहन्ता-ममता, जन्म-मरणरूप संसार की, कोई सत्ता आत्मा के साथ न होने पर भी, अविद्या के वशीभूत हो सुखी-दुःखी होकर हम संसार के चक्कर में पड़े रहते हैं—

स एव यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिषिज्यते । अहंक्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते ॥

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः । प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते । ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥३/२७/२-४

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह संसार के विषयों में फँसे हुए चित्त को भगवान् की तीव्र भक्ति और वैराग्य के द्वारा धीरे-धीरे अपने वश में लावे। यम-नियम का साधन करें। सच्ची श्रद्धा के साथ भगवान् की कथा का श्रवण करे। सारे प्राणियों में सम-भाव रखे। किसी के साथ भी वैर-भावना न करे। सर्वत्र आसक्ति का परित्याग करे। ब्रह्मचर्य का पालन करे। एकान्तवास करते हुए मौन का अवलम्बन करे। नपा-तुला हुआ मित भाषण करे। भगवद्-इच्छा से जो कुछ प्राप्त हो जाय उससे सन्तोष रखे। शरीर-निर्वाहमात्र के लिये स्वल्प भोजन करे। एकान्त में निवास करे। शान्त रहे। सभी के प्रति मैत्री एवं करुणा की भावना रखे। धैर्य का अवलम्बन करे। पुत्र-पौत्रादि सम्बन्धियों के सहित इस देह में मैं—मेरेपन का असत् आग्रह न करे। सर्वदा परमात्मा का चिन्तन करे।



प्रकृति और पुरुष के विवेक-ज्ञान के बिना इस संसार से मुक्ति नहीं मिल सकती अतः प्रकृति और पुरुष का विचार करे। प्रकृति के गुणों से निर्मित इस संसार और शरीर को अनित्य समझे। अपने हृदयरूपी आकाश में परमात्मा का वैसे ही दर्शन करे जैसे लोग अपने नेत्रों से सूर्य को देखते हैं—

उपलभ्यात्मनात्मानं चक्षुषेर्वार्कमात्मदृक् ॥३/२७/१०

इसी प्रकार के विचारों से साधक को आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। आत्म-दर्शन हो जाने पर परमात्मा का दर्शन सुकर हो जाता है। आत्मा परमात्मा का ही अंश है<sup>१</sup>। भगवान् की भक्ति करते हुए निरन्तर उनसे कृपा की भीख मांगनी चाहिये। इससे प्राणी का इस संसार से उद्धार हो जाता है।

कपिल महाराज के उपदेश को सुनकर देवहूति ने कहा—“बेटा, मेरे मन में एक सन्देह है, उसे मिटाने की कृपा करो। आप के कथनानुसार मुक्ति के लिये प्रकृति और पुरुष का अलग होना, परस्पर छोड़ना, आवश्यक है। प्रकृति एवं पुरुष का स्वतन्त्र ज्ञान मुक्ति के लिये अपेक्षित है किन्तु पुरुष एवं प्रकृति दोनों ही नित्य और एक दूसरे के आश्रय से रहनेवाले हैं इसलिये प्रकृति तो पुरुष को कभी छोड़ ही नहीं सकती—

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन् न विमुञ्चति कर्हिचित्। अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः प्रभो ॥३/२७/१७

जिस प्रकार गन्ध और पृथिवी तथा रस और जल की पृथक्-पृथक् स्थिति नहीं हो सकती, उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति भी एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकते अतः जिनके आश्रय से अकर्तापुरुष को यह कर्म-बन्धन प्राप्त हुआ है, प्रकृति के उन गुणों के रहते हुए उसे कैवल्य-पद कैसे प्राप्त होगा ? यदि तत्त्वों का विचार करने से कभी यह संसार-बन्धन का तीव्र भय निवृत्त भी हो जाय, तो भी संसार-बन्धन के कारण प्राकृत गुणों का अभाव न होने से वह भय फिर उपस्थित हो सकता है।

माता जी की शङ्का को सुनकर कपिल जी ने कहा— माता जी, जिस प्रकार अरणि से अग्नि की उत्पत्ति होती है और फिर वही अग्नि अपने कारणरूप अरणि को जला कर भस्म कर डालता है उसी प्रकार निष्कामभाव से किये हुए स्वधर्म के पालन द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध होने से, भगवत्कथा के श्रवण से पुष्ट हुई मेरी भक्ति से, तत्त्व-साक्षात्कार करनेवाले ज्ञान से, प्रबल वैराग्य से, व्रत-नियम के सहित ध्यान के अभ्यास से और चित्त की प्रगाढ एकाग्रता से पुरुष की प्रकृति (अविद्या) दिन-रात क्षीण होती हुई धीरे-धीरे लीन हो जाती है, असमर्थ हो जाती है फिर वह प्रकृति, पुरुष को अपनी ओर खींच नहीं पाती। इस प्रकार के निर्मल चित्तवाले साधक को ब्रह्मलोक-पर्यन्त सभी प्रकार के भोगों से वैराग्य हो जाता है। उसे योग से प्राप्त होनेवाली अणिमा आदि सिद्धियाँ भी अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पातीं। लिङ्गशरीर के नष्ट हो जाने से वह मृत्यु को जीत कर सीधे मेरे पास पहुँच जाता है। वहाँ पहुँच कर योगी फिर लौट कर नहीं आता है<sup>१</sup>—

यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥३/२६/२९

हमारे लोक में मृत्यु का भी कोई वश नहीं चलता, उसकी भी यहाँ दाल नहीं गलती ॥२६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

१. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। भगवद् गीता, १५/१७॥

ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥मानास, उ० का०, ११६-२

२. यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धम परमं मम ॥ भगवद् गीता, १५/६; ८/२१॥



## अष्टाईसवाँ अध्याय

( स्वरूप-ज्ञान के लिये अष्टाङ्ग-योग की विधि )

भगवान् कपिल जी ने कहा—“माता जी, अब मैं तुम्हें सबीज योग\* का लक्षण बतला रहा हूँ इसके आचरण से चित्त निर्मल होकर परमात्मा की ओर अग्रसर होता है—

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे । मनो येनेव विधिना प्रसन्नं याति सत्यथम् ॥३/२८/१

अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह अपनी शक्तिभर स्वधर्म का आचरण करे और विधर्म से अपने को दूर रखे । भाग्यवश जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी से सन्तोष कर ले । उसे चाहिये कि वह सदा आत्म-ज्ञानियों की चरणोपासना करता रहे । विषय-वासनाओं को बढ़ाने वाले कर्मों से दूर रहना, संसारबन्धन छुड़ाने वाले धर्मों से प्रेम करना, पवित्र और परिमित भोजन करना, निरन्तर एकान्त और निर्जन स्थान में निवास करना, मन, वाणी और शरीर से किसी प्राणी को न सताना, सत्य भाषण करना, चोरी न करना, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, तपस्या करना, बाहर भीतर से पवित्र रहना, शास्त्रों का अध्ययन करना, भगवान् की पूजा करना, वाणी का संयम करना, उत्तम आसनों का अभ्यास करके स्थिरता के साथ बैठना, प्राणायाम के द्वारा धीरे-धीरे श्वास को जीतना, इन्द्रियों को मन के द्वारा विषयों से हटाकर अपने हृदय में वापस लाना, एक स्थान में प्राण को समाहित करना, निरन्तर भगवान् की लीलाओं का चिन्तन और चित्त को समाहित करके परमात्मा के ध्यान में लगाना चाहिये\* ।

इस प्रकार परमात्मा का सम्पूर्ण अङ्गों के सहित तब तक ध्यान करे जब तक चित्त वहाँ से हटे नहीं—

ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥३/२८/१८

अपने हृदय में कल्याणकामी पुरुष को चाहिये कि वह खड़े हुए, चलते हुए, बैठे हुए, लेते हुए परमात्मा का, अपनी रुचि के अनुसार ध्यान करे । जब भगवान् के समस्त अङ्गों में, पूरे श्रीविग्रह में, चित्त लग जाय तो फिर वह उनके समस्त अङ्गों में लगे हुए उस चित्त को विशेषरूप से एक-एक अङ्ग में लगावे । ध्यान के क्रम में भगवान् के चरणों का बड़ा महत्त्व है अतः सर्वप्रथम चरणों का ही ध्यान करना चाहिये । वे वज्र, अङ्कुश, ध्वजा, और कमल के मङ्गलमय चिह्नों से युक्त हैं तथा अपनी नख-मणि-चन्द्रिका से ध्यान करने वाले के चित्त के अन्धकार को समाप्त कर देते हैं—

१. बीज कहते हैं आलम्बन को । जब चित्त भगवान् की प्रतिमा आदि आलम्बन को पकड़ कर ध्यान लगाता है तो उसे सबीज समाधि कहते हैं ।
२. पतञ्जलि के योगसूत्र में योग के आठ अङ्ग बतलाये गये हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि—यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्यहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ।\*

इनमें—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (दान न लेना)—ये पाँच यम कहे गये हैं—“अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः” । और शौच (बाहरी-भीतरी पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं—“शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः” । तथा जिसमें देर तक सुखपूर्वक बैठा जाय वह आसन है—“स्थिरसुखमासनम्” । पूरक, कुम्भक और रेचक—ये तीन प्राणायाम के भेद कहे गये हैं । मन के द्वारा इन्द्रियों को हठात् विषयों से हटा कर चित्त में वापस भेजना प्रत्याहार कहलाता है । भगवान् के स्थूल रूप में मन को स्थिर कर लगाना धारणा है । भगवान् में चित्त के एकाकार प्रवाह को ध्यान कहते हैं । ध्याता, ध्यान और ध्येय की अलग-अलग प्रतीति जिसमें न हो वही समाधि है । ध्यान और समाधि में अन्तर यह है कि ध्यान में ध्याता आदि की प्रतीति अलग-अलग होती है । किन्तु समाधि में तीनों में भेद नहीं रह जाता है ।



सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।

उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्स्नाभिराहतमहदधृदयान्धकारम् ॥ ३/२८/२१

तदनन्तर दोनों घुटनों का, जाँघों का, कटिभाग का, नाभिप्रदेश का, प्रशस्त वक्षःस्थल का, कण्ठ का तथा शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हुए चारों बाहुओं का ध्यान करे फिर इसके उपर कौस्तुभ मणि से विभूषित कण्ठ का, पुनः भगवान् के मुख-कमल का (वदनारविन्दम्), उनके नेत्रों की प्रसन्न चितवन का तथा अन्त में मधुर मुस्कान से मनोहर उनके मुख का ध्यान करे ।

इस प्रकार ध्यान में तन्मय होकर भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को देखने की इच्छा न करे । साधक जब इस प्रकार भगवान् का ध्यान करता है तब उस का श्रीहरि में प्रगाढ प्रेम हो जाता है और हृदय भक्ति से द्रवित हो जाता है, शरीर में आनन्दातिरेक के कारण रोमाञ्च हो जाता है । आँखों से आनन्दाश्रुओं की धारा प्रवाहित होने लगती हैं । वह परमात्मा की अनुपम दिव्य विभूतियों का अनुभव करता है । संसार के सारे दुःखों एवं सुखों से वह ऊपर जाता है । संसार में निवास करते हुए वह जीवन्मुक्त की अवस्था में विचरण करता है । उसे अपने शरीर की सुधि उसी प्रकार नहीं रहती जैसे मदिरा से मदान्ध व्यक्ति को अपने शरीर के वस्त्र का ख्याल नहीं रहता । शरीर के साथ ही पुत्र-कलत्र आदि से भी उसकी अहन्ता एवं ममता समाप्त हो जाती है । संसार उसे स्वप्न की भाँति प्रतीत होता है । अन्त में साधक इस अचिन्त्यशक्तिमयी माया को भगवान् की कृपा से ही जीतकर अपने वास्तविक स्वरूप-ब्रह्मरूप में स्थित हो जाता है—

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं देवीं सदसदात्मिकाम् । दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ३/२८/४४

॥ श्रीमद्भगवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह अष्टाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

## उन्तीसवाँ अध्याय

( भक्ति का मर्म और काल की महिमा )

देवहूति ने कहा—“प्रभो, आप ने सांख्य-शास्त्र के अनुसार प्रकृति, पुरुष और तत्त्वों का स्वरूप निरूपित किया है । भक्ति-योग का भी वर्णन आपने किया है । किन्तु अब आप भक्ति के मार्ग का मुझसे विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये । इसके साथ ही जीवों की जन्म-मरणरूप अनेक प्रकार की गतियों की भी व्याख्या कीजिये, जिसे सुनकर लोगों को वैराग्य हो जाय । संसार के संहारक काल का स्वरूप क्या है ? कहते हैं यह काल ईश्वर का स्वरूप है और ब्रह्मा आदि पर भी शासन करने वाला है—

कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते । स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः ॥ ३/२९/४

ज्ञान-दृष्टि के विनष्ट हो जाने से, देह आदि झूठी वस्तुओं में आत्मा की बुद्धि करने वाले, अनादि काल से बुद्धि के विविध कर्मों में आसक्ति के कारण, जो श्रान्त होकर चिरकाल से अपार अन्धकारमय संसार में सोये पड़े हैं, ऐसे जीवों को जगाने के लिये आप योग-प्रकाशक सूर्य की भाँति प्रकट हुए हैं—

लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुषश्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।

श्रान्तस्य कर्मस्वनुबिन्द्या धिया त्वमाविरासीः किल योगभास्करः ॥ ३/२९/५

मैत्रेय जी ने कहा—कुरुश्रेष्ठ विदुर जी, माता के इस प्रकार मनोहर वचनों को सुनकर कपिल जी प्रसन्न हो उठे, उनकी प्रशंसा की और जीवों के प्रति दयाभाव के कारण द्रवीभूत होकर कहना प्रारम्भ किया—“भक्तों के भाव के अनुसार



भक्तियोग का प्रकाश अनेक प्रकार से होता है क्योंकि स्वभाव और गुणों के भेद से मनुष्यों के भाव में भी भिन्नता आ जाती है जो व्यक्ति हृदय में हिंसा, दम्भ और मात्सर्य आदि भाव रखकर मेरा भजन करता है उसकी भक्ति तामसी है और वह तामस भक्त है। जो पुरुष विषय, यश एवं ऐश्वर्य की कामना से मूर्ति आदि में मेरा पूजन करता है, वह राजस भक्त है और उसकी भक्ति राजसी है। जो मानव पापों का क्षय करने के लिये अपना कर्तव्य समझ कर, अर्पण करने की भावना से, मेरा पूजन करता है, वह सात्त्विक भक्त है और उसकी भक्ति सात्त्विकी भक्ति है, इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद के द्वारा भक्ति नौ प्रकार की बतलाई गई है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन<sup>१</sup>। इसमें प्रत्येक भक्ति तामस, राजस और सात्त्विक भेद से ३-३ प्रकार की है। उनमें भी पुनः प्रत्येक ३-३ प्रकार की होने से भक्ति के कुल मिलाकर ८१ भेद हो जाते हैं।

भक्ति के पुनः दो भेद होते हैं—निर्गुण-भक्ति और सगुण-भक्ति। निर्गुण भक्ति सबसे उत्तम भक्ति होती है। यहाँ निर्गुण का अर्थ है, जो सत्त्व, रज और तम से रहित है—‘गुणेभ्यो निष्क्रान्तो निर्गुणो भक्तियोगः’। जो त्रिगुणों से ऊपर है, वह निर्गुण है। इसी बात का प्रतिपादन करते हुए भगवान् कपिल कह रहे हैं—जिस प्रकार गङ्गा का प्रवाह अखण्डरूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवणमात्र से मन की गति तेल की अविच्छिन्न धार की भाँति, मेरी ओर प्रवाहित होने लगती है। उस समय भक्त मुझ भगवान् से निष्काम प्रेम करता है। उसके प्रेम में किसी प्रकार की कामना नहीं होती। भगवान् भी यदि उसे सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य<sup>२</sup> मोक्ष देना चाहें तो भी वह उन्हें नहीं लेता। वह एकमात्र भगवान् की निष्काम सेवा करना ही अपना परम कर्तव्य मानता है, उसी में परम सुख समझता है—

मदगुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥  
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य हृदाहृतम् । अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥  
सालोक्य-सार्ष्टि-समीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

३/२९/११-१३

हमारे एकान्त भक्त सारे संसार के प्राणियों में एकमात्र मेरा ही दर्शन करते हैं। वे महापुरुषों का सम्मान, दीनों पर दया तथा समान स्थितिवालों के प्रति मित्रता का व्यवहार करते हैं। जो सभी प्राणियों में आत्मा के रूप में स्थित मुझे छोड़कर, मेरी उपेक्षा कर केवल प्रतिमा-पूजन में ही लगा रहता है, वह तो मानों राख में ही हवन करता है। ऐसे प्राणियों के मन को शान्ति नहीं प्राप्त होती। जीवों का अपमान करने वाला व्यक्ति यदि उत्तमोत्तम वस्तुओं से मेरी मूर्ति में पूजा करता है तो भी मुझे प्रसन्नता नहीं होती, सन्तुष्टि नहीं होती—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन् । ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति<sup>३</sup> ॥३/२९/३४  
काल भगवान् विष्णु का ही स्वरूप है। काल ही सारे संसार पर शासन करनेवाला, यज्ञों का फलदाता परमात्मा है। इसका

१.क. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥भाग०७/५/२३॥

ख. भगवद्गीता में भी श्रद्धा के तीन भेद किये गये हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी—  
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥१७/२॥

२. सालोक्य = भगवान् के नित्य धाम में निवास, सार्ष्टि = भगवान् के समान ऐश्वर्यभोग, सामीप्य = भगवान् की नित्यसमीपता, सारूप्य = भगवान् का-सा रूप और एकत्व = भगवान् के विग्रह में समाजाना, उनसे एक हो जाना या ब्रह्मरूप प्राप्त कर लेना।

३. सीय राम मय सब जग जानी । करै प्रणाम जोरि जुग पानी ॥मानसा॥



न कोई मित्र है और न कोई शत्रु और न कोई सगा-सम्बन्धी ही है। यह सर्वदा सावधान रहता है। भगवान् को भूलकर प्रमाद में पड़े हुए प्राणियों पर आक्रमण कर यह उनका संहार करता रहता है—

न चास्य कश्चिद् दयितो न द्वेष्टो न च बान्धवः । आविशत्यग्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत् ॥३/२९/३९  
इसी के भय से वायु चलता है, इसी के भय से सूर्य तपता है, इसी के भय से इन्द्र वर्षा करते हैं और इसी के भय से तारे चमकते हैं। इसी से भय-भीत होकर लता-वृक्ष आदि समय पर फल-फूल आदि धारण करते हैं। सारी प्रकृति और प्राकृतिक वातावरण इसके द्वारा सञ्चालित होते रहते हैं। यह अविनाशी काल स्वयं अनादि किन्तु दूसरों का आदिकर्ता (उत्पादक) है तथा स्वयं अनन्त होकर भी दूसरों का अन्त करने वाला है<sup>१</sup>।

अतः माँ, तुम उसी परमात्मा की शरण में जाओ। वही तुम्हारा परम कल्याण करेगा।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२९॥

## तीसवाँ अध्याय

( देह-गेह में आसक्त कामी पुरुषों की अधोगति का वर्णन )

कपिल जी ने कहा—“माता जी, जिस प्रकार वायु के द्वारा उड़ाया जाने वाला मेघ-मण्डल उसके बल को नहीं जानता उसी प्रकार यह जीव भी बलवान् काल की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा योनियों में भ्रमण करता रहता है किन्तु उसके बल-पराक्रम को नहीं जानता—

तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम् । कात्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः ॥३/३०/१  
जीव सुख मिलने की कामना से बड़े-बड़े कष्टों को सहकर धन का उपार्जन करता है किन्तु काल भगवान् जब उसे नष्ट कर देते हैं तो उसे बड़ा दुःख होता है, वह उसके लिये रोता है, विलाप करता है—

यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे । तं तं धुनोति भगवान् पुमाञ्छोचति यत्कृते ॥३/३०/२  
इसका कारण यह है कि यह मन्द मति जीव अपने इस नश्वर शरीर तथा उसके सम्बन्धियों घर, खेत और धन आदि को मोहवश नित्य मान बैठता है—

यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः । ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृह-क्षेत्र-वसूनि च ॥३/३०/३  
जीव इस संसार में जिन-जिन योनियों में जाता है, वहाँ भी उसे सुख की प्राप्ति नहीं होती। यह भगवान् की माया से ऐसा मोहित हो रहा है कि कर्मवश नारकीय योनियों में जन्म लेने पर भी, वहाँ के विष्ठा आदि भोगों में ही, सुख मानने के कारण उसे भी छोड़ना नहीं चाहता। सूअर-कूकर को भी अपना शरीर-परम प्रिय प्रतीत होता है—

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति । नारक्यां निर्वृती सत्यां देवमायाविमोहितः ॥३/३०/५  
यह मूर्ख अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन और बन्धु-बान्धवों में आसक्त रहकर नाना प्रकार के मनोरथों को करता हुआ अपने-आपको बड़ा भाग्यशाली समझता है। इनके पालन-पोषण की चिन्ता से इसके सम्पूर्ण अङ्ग

१. भीष्मास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीष्मास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति ॥ तै०उप०२/८/१॥

इस श्रुति के द्वारा भी भागवत के उक्त कथन का ही अनुवाद किया गया है। इसका भी अर्थ यही है कि परमात्मा के ही भय से वायु प्रवाहित होता है, सूर्य उदित होता है, इन्द्र और चन्द्र भी अपना-अपना कार्य करते हैं और मृत्यु भी उसी के भय से दौड़ती है।



जलते रहते हैं फिर भी दुर्वासनाओं से दूषित हृदय होने के कारण यह मूढ निरन्तर इन्हीं के लिये भाँति-भाँति के पाप करता रहता है। स्त्री के साथ एकान्त में उसके हाव-भावों से आकृष्ट होकर तथा शिशुओं की तोतली बोली सुनकर वह अपने आपको परम भाग्यशाली समझता है। बार-बार प्रयत्न करने पर भी जब इसकी कोई जीविका नहीं चलती तो यह लोभ के वशीभूत होकर दूसरों का धन हड़पने की इच्छा करता है। जब भाग्यहीनता के कारण इसका कोई प्रयत्न सफल नहीं होता और यह परिवार के भरण-पोषण में असमर्थ होकर शक्तिहीन होकर पड़ जाता है तब परिवार के स्त्री-पुत्रादि सदस्य पहले की भाँति इसका आदर नहीं करते जैसे कृपण किसान हल खींचने में असमर्थ बूढ़े बैल की उपेक्षा कर देता है वैसे ही परिवार के लोग इसकी उपेक्षा करना शुरू कर देते हैं—

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा । नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम् ॥३/३०/१३  
वृद्धावस्था में पहुँचने पर प्राणी का रूप बिगड़ जाता है। शरीर भाँति-भाँति के रोगों से ग्रस्त हो जाता है। जठराग्नि मन्द पड़ जाती है। भोजन और पुरुषार्थ दोनों ही कम हो जाते हैं। वह मरणासन्न होकर घर में पड़ा रहता है और कुत्ते की भाँति स्त्री-पुत्र आदि के द्वारा अपमानपूर्वक दिये गये रोटी के टुकड़े खाकर किसी-किसी प्रकार जीवन-निर्वाह करता है—

आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन् । आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥३/३०/१५  
मृत्यु का समय निकट आने पर वायु के ऊपर चढ़ने से मरणासन्न व्यक्ति की पुतलियाँ चढ़ जाती हैं, श्वास-प्रश्वास की नलिकाएँ कफ से रुद्ध हो जाती हैं तथा कफ के बढ़ जाने के कारण कण्ठ में घर्घराहट होने लगती है—  
“कण्ठे घुरघुरायते” ॥१६॥ भाई-बन्धु मरने की बेला में इसे घेर कर बैठ जाते हैं। यह बुलाने पर भी बोलता नहीं और पूछने पर भी किसी को नहीं पहचानता। इस प्रकार वह रोते-रोते इस घर और शरीर को बड़े कष्ट के साथ छोड़ता है। उस समय दो भयङ्कर क्रूद्ध, लाल-लाल आँखों वाले यम-दूत उसके प्राण को हठात् खींच कर ले जाने के लिये वहाँ आ जाते हैं उन्हें देख कर यह भय के मारे टट्टी-पेशाब कर देता है—

यमदूतौ तदा प्राप्ताौ भीमौ सरभसेक्षणौ । स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकुन्मूत्रं विमुञ्चति ॥३/३०/१९  
वे यमदूत उसे यातना<sup>१</sup> शरीर में डाल देते हैं और फिर जिस प्रकार सिपाही किसी अपराधी को ले जाते हैं उसी प्रकार गले में रस्सी बाँध कर घसीटते हुए उसे यम-लोक के लम्बे मार्ग पर ले जाते हैं। भूख-प्यास उसे बेचैन कर देती है। सूर्य के सन्ताप, दावानल एवं लू से वह सन्तप्त हो बेचैन हो जाता है। मार्ग में न कहीं जल मिलता है और न कहीं विश्राम-स्थल। तपे हुए बालुओं पर जब उससे एक पग भी नहीं चला जाता तब यमदूत उसकी पीठ पर कोड़े बरसाते हैं—

क्षुत्परीतोऽर्कदवानलानिलैः सन्तप्यमानः पथि तप्तबालुके ।

कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडितश्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके ॥३/३०/२२

बार-बार वह गिरता है कोड़ा लगने पर उठता है फिर गिरता है। इस प्रकार निन्यानवे हजार योजन-मार्ग लौंघकर २-३ मुहूर्त में उसे यम-लोक में पहुँचना पड़ता है। उसे देखते ही यमराज उसे नरक में डलवा देते हैं, यमदूत कहीं उसके शरीर को आग से जलाते हैं, कहीं तप्त तेल में पकाते हैं, कहीं उसे जहरीले साँप काटते हैं, कहीं बड़े-बड़े

१. इस पूरे अध्याय में लोक में चतुर्दिक् प्रत्यक्ष देखी जानेवाली और अनुभूत यथार्थ बात का वर्णन बड़ी ही मार्मिकता के साथ किया गया है।
२. स्थूल शरीर से जब पापी जीव को निकाला जाता है तो उसे एक यातना शरीर प्रदान कर दिया जाता है, जिससे वह मार्ग और नरक के कष्टों को भोगता है। यह भी एक प्रकार का सूक्ष्म शरीर ही है।



बिच्छू डङ्क मारते हैं, कहीं कुत्ते, गीध आदि उसकी अँतड़ियों को निकालते हैं। जिसने अपने जीवन में पशुओं का वध किया है उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं। पर्वत की चोटियों से नीचे ढकेला जाता है। उसे कहीं जल में डुबाया जाता है। जिसने अपने जीवन-काल में धर्म का अर्जन नहीं किया है, वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसे भयङ्कर यम-यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। अपने जीवन में पाप की कमाई से ही परिवार का भरण-पोषण करने वाला जीव अन्त में अन्धतामिस्र नामक नरक में गिरता है, जो नरकों में चरम सीमा का कष्टप्रद स्थान है। पापी प्राणी नरक का कष्ट भोगने के बाद सूकर, कूकर, कीट-पतङ्ग आदि चौरासी सहस्र योनियों में जन्म लेने के बाद फिर मनुष्य योनि में जन्म लेता है” —

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः । क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः ॥३/३०/३४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३०॥

## इकतीसवाँ अध्याय

( माता के गर्भ में पड़े हुए जीव की भगवान् से प्रार्थना )

कपिल जी ने अपना वक्तव्य जारी रखते हुए कहा—“माता जी, नरक भोग कर निकला हुआ जीव पिता के वीर्य द्वारा माता के गर्भ में प्रवेश करता है, वहाँ वह एक रात्रि में स्त्री के रज में मिलकर एकरूप हो जाता है उसे कलल कहते हैं। पाँच रात्रि में बुदबुदरूप हो जाता है। दस दिन में बेर के समान कुछ कठिन बन जाता है। पन्द्रह दिन में माँस-पिण्ड के आकार का हो जाता है। एक महीने में उसे शिर निकल आता है। दो मास में हाथ-पाँव आदि अङ्ग अलग-अलग प्रतीत होने लगते हैं। तीन मास में नख, रोम, अस्थि, चर्म, स्त्री-पुरुष के चिह्न (लिङ्ग-योनि) तथा अन्य छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं। चार मास में उसमें मांस आदि सातों धातुएँ पैदा हो जाती हैं और छठे मास में झिल्ली से लिपट कर वह दाहिनी कोख में घूमने लगता है, चलने लगता है। उस समय माता के खाये हुए अन्न-जल आदि से उसका शरीर पुष्ट होने लगता है। उस समय वह कृमि, मल-मूत्र आदि से भरे हुए गड्ढे में पड़ा रहता है। उसके कोमल शरीर को जब वहाँ के कीड़े काटते हैं तो वह क्षण-क्षण में बेहोश होने लगता है। माता के खाये हुए नमकीन, कड़वे, खट्टे आदि पदार्थों के स्पर्श से उसके शरीर में भयङ्कर पीडा होने लगती है। वह माँ के गर्भ में पिण्ड की भाँति कुण्डली मारे पड़ा रहता है। उस समय वह पिंजरे में बन्द पक्षी के समान पराधीन तथा अङ्गों को हिलाने-डुलाने में असमर्थ रहता है। इसी समय अदृष्ट की प्रेरणा से उसे स्मरण-शक्ति प्राप्त होती है। उस समय उसे सैकड़ों जन्मों का स्मरण होता है जिसे सोच-सोच कर वह बेचैन बन जाता है। सातवें महीने के प्रारम्भ होने पर उसमें ज्ञान-शक्ति का स्फुरण हो जाता है। उस समय वह अत्यन्त भय-भीत होकर अति दीन वाणी में भगवान् की स्तुति करने लगता है। वह कहता है—“प्रभो, मैं बड़ा अधम हूँ। आप ने मुझे जो यह गति दिखलाई है, वह मेरे योग्य ही है। प्रभो, आप इस नश्वर जगत् की रक्षा के लिये बार-बार अवतार धारण करते हैं अतः मैं भी भूतल पर विचरण करने वाले आप के चरणों की शरण ग्रहण कर रहा हूँ—

तस्योपसन्नमवितुं

जगदिच्छयात्तनानातनोर्भुवि

चलच्चरणारविन्दम् ।

सोऽहं ब्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे येनेदृशी गतिरदर्शयसतोऽनुरूपा ॥३/३१/१२



आगे वह कहता है कि—प्रभु की वन्दना करने से बन्धन की निवृत्ति होती है। जिस परमात्मा ने मुझे ज्ञान दिया है वही मेरा कल्याण करे। मैं माता के गर्भ में अत्यन्त सन्तप्त हो रहा हूँ। मेरे दुःखों का पारावार नहीं है इसलिये प्रभु के चरण-कमलों में बार-बार प्रणाम कर रहा हूँ। इन्हीं की माया से अपने सच्चे स्वरूप की स्मृति नष्ट हो जाने के कारण यह जीव इस संसार में नानाप्रकार के कष्टों को झेलता हुआ नाना योनियों में भटकता फिरता रहता है। इन्हीं अन्तर्यामी भगवान् को मैं पुनः-पुनः प्रणाम कर रहा हूँ। प्रभो, आप प्रकृति-पुरुष से परे हैं। मैं आप की वन्दना करता हूँ—“वन्दे परं प्रकृति-पुरुषयोः पुमांसम्” ॥१४॥ देव, मैं बन्धन-ग्रस्त हूँ। आप मुझे इन बन्धनों से मुक्त करें। इस घृणित गर्भ-वास में पड़ा हुआ मैं महीनों को गिन रहा हूँ। भगवान् इस दीन को आप यहाँ से कब निकालेंगे—“निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदा नु” ॥१७॥ देव, यदि इस बार आप ने मेरा उद्धार कर दिया, इस अन्धकूप से सकुशल बाहर निकाल लिया तो मैं वादा करता हूँ कि आप का भजन ही करूँगा।

भगवान्, अत्यन्त दुःख से भरे हुए इस गर्भाशय में यद्यपि मैं बड़े ही कष्ट से रह रहा हूँ फिर भी यहाँ से बाहर निकलने की मेरी इच्छा नहीं है क्योंकि यहाँ से निकलते ही आप की प्रबल माया जीव को घेर लेती है अतः वह देह-गेह में अहं बुद्धि कर लेता है। इसी का फल है कि वह बार-बार जन्मता-मरता रहता है—

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे ।

यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ॥३/३१/२०

प्रभो, अब मैं व्याकुलता को छोड़कर हृदय में भगवान् विष्णु के चरणों को धारण करूँगा, उन्हीं का चिन्तन करूँगा। इस प्रकार मैं अपना उद्धार स्वयं अपनी बुद्धि से करूँगा, जिससे मुझे बार-बार इस संसार में जन्मना मरना न पड़े—

तस्मादहं विगतविकलव उद्धरिष्ये आत्मानमाशु तमसः सुहृदात्मनैव ।

भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरञ्चं मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥३/३१/२१

आप मुझ पर अनुग्रह करें। मैं हाथ जोड़ कर बार-बार आप को प्रणाम कर रहा हूँ। कपिल जी कहते हैं कि माता जी, वह दश महीने का जीव गर्भ में ही जब इस प्रकार विवेकसम्पन्न होकर भगवान् की स्तुति करता है तब गर्भाशय में नीचे की ओर मुख किये हुए उस बालक को प्रसव-काल की वायु तत्काल बाहर आने के लिये ढकेलती है—

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवञ्चरिषिः । सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥३/३१/२२

यहाँ गर्भस्थ शिशु को ऋषि कहा गया है। इसका तात्पर्य यही है कि उस स्थिति में शिशु को जो निर्वेद होता है, संसार से जो वैराग्य होता है और भगवान् के चरणों में जो तल्लीनता होती है वह किसी ऋषि से कम नहीं होती। पृथिवी पर माता के रुधिर और मूत्र में पड़ा हुआ वह बालक विष्टा के कीड़े के समान छटपटाता है। उसका गर्भ-वास के समय का सारा ज्ञान-वैराग्य समाप्त हो जाता है और वह विपरीत गति (देहाभिमानरूप अज्ञान की दशा) को प्राप्त होकर बारम्बार जोर-जोर से रोता है—

पतितो भुव्यसृङ्मूत्रे विष्टाभूरिव चेष्टते । रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः ॥३/३१/२४

शैशवावस्था में उस जीव को विविध कष्ट होते हैं। खटमल, मच्छर, और भूख-प्यास आदि उसे परेशान करते हैं। वह विकल होकर रोने लगता है। लोग समझते हैं इसी प्रकार रो रहा है फिर उसे बहलाने फुसलाने का कार्य करते हैं। इसी प्रकार बाल्य (कौमार) और पौगण्ड अवस्थाओं के कष्ट को भोग कर वह जीव युवावस्था में पहुँचता है। वहाँ वह साथियों के चक्कर में पड़कर कामुक बन जाता है। इस संसार में दो इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं—एक रसनेन्द्रिय (जिह्वा) और दूसरी जननेन्द्रिय, इनको शिशुनोदर भी कहते हैं। इन इन्द्रियों के वशीभूत होकर मनुष्य सत्य, पवित्रता, दया, मौन, सुबुद्धि, श्री, ह्रीं, शम, दम सब कुछ त्याग देता है, फिर तो उसके पतन की सीमा नहीं रहती।



इसलिये यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता हो तो उसे विषयभोग के जो खिलौने हैं, क्रीडामृग हैं—उनका साथ नहीं करना चाहिये ।

मानव-जीवन में जो यौन-आकर्षण है, स्त्री-पुरुष की परस्पर आसक्ति है, वह सबसे अधिक बन्धन का हेतु है । किसी दूसरे में आसक्ति से इतना प्रबल बन्धन नहीं होता जितना कि स्त्री के प्रति आसक्ति से होता है, और स्त्रियों के सङ्ग्रियों का सङ्ग करने से होता है—

सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥ न तथाऽस्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।

योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥३/३१/३५

देखो, भगवान् की यह माया बड़े-बड़े दिग्विजयी सम्राटों को भी केवल अपनी भाँहों के इशारे से पदाक्रान्त करती रहती है । जो व्यक्ति योग के परम पद पर आरूढ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी आराधना के प्रभाव से आत्मा-अनात्मा का विवेक हो गया हो, वह स्त्रियों का सङ्ग कभी न करे क्योंकि स्त्रियों को नरक का खुला द्वार बतलाया गया है ।

अतः मुमुक्षु पुरुष को मरण आदि से भय, दीनता अथवा मोह नहीं होना चाहिये । उसे शरीर से निरपेक्ष रहकर उसे धरोहर की भाँति समझ कर, उसके प्रति अनासक्त रहते हुए विचरण करना चाहिये और निरन्तर भगवान् का भजन करना चाहिये—

सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया । मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम् ॥३/३१/४८

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह इकतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३१॥

## बत्तीसवाँ अध्याय

( धूम-मार्ग और अर्चिरादि मार्ग से जानेवालों की गति का और भक्ति-योग की श्रेष्ठता का वर्णन )

कपिल जी कहते हैं—“माता जी, जो लोग घर में रह कर सकाम भाव से गृहस्थ धर्मों का पालन करते हैं वे तरह-तरह की कामनाओं से मोहित रहने के कारण भगवान् की उपासना से विमुख हो जाते हैं । ऐसे लोग बड़ी श्रद्धा के साथ देवताओं और पितरों की आराधना करते रहते हैं । इसका फल यह होता है कि ऐसे लोग शरीर त्यागने के बाद चन्द्रमार्ग से चन्द्रलोक में जाकर सोमपान करते हैं और फिर पुण्य के क्षीण हो जाने पर इसी लोक में लौट कर आ जाते हैं—

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान् । गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥३/३२/३

और जो विवेकी जन निष्काम भाव से स्वधर्म का आचरण भगवान् की प्रसन्नता के लिये करते हैं, वे अनासक्त, प्रशान्त, शुद्धचित्त, निवृत्ति-धर्मपरायण, ममता से रहित, अहङ्कार-शून्य और शुद्धचित्त हो जाते हैं । ऐसे लोग अन्त में सूर्यमार्ग<sup>१</sup> (अर्चिमार्ग या देवयान) से जाकर संसार के नियन्ता श्रीहरि को प्राप्त होते हैं—

१. सकाम भाव से देवों एवं पितरों की उपासना करनेवाले लोग जिस मार्ग से चन्द्रलोक में जाते हैं, उसे चन्द्रमार्ग कहते हैं । ऐसे लोग पुण्य के क्षीण होने पर मृत्युलोक में ही वापस आ जाते हैं और जन्ममरण के चक्कर में पड़े रहते हैं । ‘क्षीणे पुण्ये मृत्यु-लोकं विशन्ति’ ॥ भगवद् गीता ॥ इसके अतिरिक्त जो निष्काम भाव से स्वधर्म का आचरण करते हुए भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं वे सूर्यमार्ग के द्वारा भगवान् श्री हरि के पास पहुँचते हैं । ये ही लोग मुक्ति के भागीदार होते हैं—“यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ भगवद् गीता ॥ “जहाँ गये नहीं लौटहि प्राणी” ।



स्वधर्माख्येन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा । सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतो मुखम् ॥३/३२/६-७

श्री कपिल देव जी ने अपनी माता को आगे समझाते हुए कहा—“माता जी, अब तुम भी अत्यन्त भक्ति-भाव से उन्हीं हरि के ही चरण-कमल का आश्रय लो, जो सारे प्राणियों के हृदय-कमल पर निवास करते हैं, जो सबके मन-मन्दिर में विराजमान रहते हैं। यह सबसे बड़ा मन्त्र है, यह सब से बड़ी सलाह है—

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालम्बम् । श्रुतानुभावं शरणं ब्रज भावेन भामिनि ॥३/२३/११

भगवान् श्री हरि ही सब के आदि हैं, मूल हैं। जो उनकी शरण का आश्रय लेता है, वह संसार से छूट जाता है। इसके लिये विविध साधनों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। जो लोग धर्म, अर्थ और काम में ही फँसे रहकर भगवान् की कथारूपी सुधा का पान नहीं करते, वे भाग्य के द्वारा मारे गये हैं। उन्हें भगवान् की कथा-सुधा की अपेक्षा संसार का विषयरूपी विष-वृक्ष ही अधिक शीतल और सुखकर प्रतीत होता है। ऐसे लोग गुबरैल के समान हैं, सूकर के समान हैं, जो शक्कर का परित्याग कर विष का ही अन्वेषण करता रहता है—

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम् । हित्वा शृण्वन्त्यसद्वाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ॥३/३२/१९

इसलिये माता जी, जिनके चरण-कमल सदा उपासना के योग्य हैं, भजने के लायक हैं, उन्हीं का तुम भजन करो, उन्हीं के गुणों का सतत चिन्तन करो। इससे निश्चय ही तुम्हारा परम कल्याण हो जायेगा। भगवान् वासुदेव के प्रति किया हुआ भक्तियोग संसार से वैराग्य और ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञान की प्राप्ति करा देता है—

तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम् । तद्गुणाश्रयथा भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः । जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम् ॥

३/३२/२२-२३

पूजनीय माता जी, मैंने तुम्हें ब्रह्म का साक्षात्कार करानेवाला यह ज्ञान सुनाया है। इससे प्रकृति और पुरुष का यथार्थ बोध हो जाता है। देवि, ज्ञानयोग और भक्तियोग में कुछ अन्तर नहीं है। दोनों का प्रयोजन एक ही है—भगवान् की प्राप्ति। देवि, अविद्याजनित कर्म के कारण जीव की अनेक गतियाँ होती हैं, उनमें जाने पर वह अपने यथार्थ रूप को नहीं समझ पाता—

जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः । यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः ॥३/३२/३८

इसलिये अब तुम एकान्त में मेरे द्वारा कही गई बातों का मनन करो। इससे तुम्हारे सारे सन्देह समाप्त हो जायेंगे। तुम्हें अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा और सब से बड़ी बात यह है कि तुम्हें भगवान् की प्राप्ति हो जायेगी। मेरे इस ज्ञान का उपदेश दुष्ट, दुर्विनीत, घमण्डी, दुराचारी और धर्मध्वजी पुरुषों को कभी न देना जो विषयी हो, गृहासक्त हो, मेरा भक्त न हो अथवा मेरे भक्तों से द्वेष करने वाला हो, उसे भी इसका उपदेश कभी भी न करना। जो भक्त, सदाचारी, विनयी, दयालु और परोपकारी हो, वही मेरे इस उपदेश का सच्चा पात्र है, उसे ही इसका उपदेश देना। माँ, जो पुरुष मुझ में चित्त लगाकर इसका श्रद्धापूर्वक एक बार भी श्रवण या कथन करेगा, वह मेरे परमपद को प्राप्त करेगा—

य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत् । यो वाभिषत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं च मे ॥३/३२/४३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३२॥



## तैत्तिरीयसर्वा अध्याय

( कपिल जी का प्रस्थान, देवहूति को तत्त्व-ज्ञान और मोक्षपद की प्राप्ति )

मैत्रेय जी ने कहा—“विदुर जी, भगवान् कपिल जी के इस उपदेश को सुनकर कर्दम की प्रिय पत्नी माता देवहूति के मोह का आवरण हट गया । वे सांख्य-शास्त्र के उपदेष्टा कपिल जी को प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगीं—

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः ।

विस्मस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम् ॥३/३३/१

आपके नाभि-कमल से उत्पन्न स्वयं ब्रह्माजी भी प्रलयकालीन जल में शयन करनेवाले आप को ध्यान ही करते रहे किन्तु दर्शन न पा सके । आप ही अपनी शक्तियों को विभक्त कर सारे संसार का सर्जन, पालन एवं संहार करते हैं । नाथ, यह कैसी विचित्र बात है कि प्रलय काल की बेला में यह सारा विश्व-प्रपञ्च जिनके उदर में लीन हो जाता है और जो कल्प के अन्त में मायामय बालक का रूप धारण कर अपने चरण का अँगूठा चूसते हुए अकेले ही वटवृक्ष के पते पर शयन करते हैं, उन्हें आपको मैंने अपने उदर में धारण किया है—

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ कथं नु यस्योदर एतदासीत् ।

विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः ॥३/३३/४

विभो, आप पापियों का दमन और अपने आज्ञाकारी भक्तों का कल्याण करने के लिये स्वेच्छा से देह-धारण किया करते हैं अतः जिस प्रकार लोक-कल्याण के लिये आप के वराह आदि अवतार हुए हैं, उसी प्रकार यह कपिलावतार भी मुमुक्षुओं को ज्ञान का मार्ग दिखलाने के लिये हुआ है । भगवन्, आपके नामों का श्रवण या कीर्तन करने से तथा भूले-भटके, यदा कदा, आपका वन्दन या स्मरण करने से ही कुत्ते का मांस खानेवाला चाण्डाल भी सोमयाजी ब्राह्मण के समान पूजनीय हो सकता है फिर आप का दर्शन करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है ?—

यज्ञामध्येयश्रवणानुकीर्तनाद् यत्प्रह्मणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।

श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥३/३३/६

आज-कल के समाज-सुधारक कहते हैं कि जो श्वपच हैं, चाण्डाल हैं, वे यज्ञ के अधिकारी नहीं हैं । ऐसी व्यवस्था से उनके साथ बड़ा अन्याय हुआ है । किन्तु ब्राह्मण आदि को जो फल बड़े-बड़े कष्ट-साध्य यज्ञों से मिलता है, वही फल चाण्डाल को भगवान् का नामकीर्तन करने से मिल जाता है—‘न हरेँ लगे न फिटिकिरी चोखा ही रंग होय ।’ अब आप ही सोचें कि यह न्याय हुआ या अन्याय ? उसके प्रति तो और बड़ा भारी अनुग्रह हुआ ।

अहो ! वह चाण्डाल भी इसी से सर्वश्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वा के अग्रभाग में आप का नाम विराजमान है । जो श्रेष्ठ पुरुष आप के नामों का कीर्तन करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्थान, सदाचार-पालन और वेदाध्ययन-सब कुछ कर लिया है उसके लिये कुछ भी बाकी नहीं है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मनुचुर्नाम गृहणन्ति ये ते ॥३/३३/७

भागवत के इस कथन का तात्पर्य यह भी हुआ कि चाण्डाल आदि को चाहिये कि वह स्वधर्म का पालन करते हुए भगवान्-कीर्तन के द्वारा अपना परम कल्याण कर ले । वह ब्राह्मण की समानता करने का प्रयास न करे नहीं तो निम्नजाति का वह पुरुष नरक की घोर यातनाओं को भोग कर अन्त में सूकर-कूकर आदि की निकृष्टतम योनियों में जन्म लेता है ।



आगे देवहूति कहती है—“कपिलदेव जी, आप साक्षात् परब्रह्म हैं। आप ही परमपुरुष हैं। चित्त-वृत्तियों का निरोध कर अन्तःकरण में आप का ही चिन्तन किया जाता है। आप के तेज से माया का कार्य शान्त हो जाता है। आप वेदगर्भ हैं। साक्षात् विष्णु हैं। मैं आप को प्रणाम कर रही हूँ”—

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।

स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥३/३३/८॥

मैत्रेय जी बोले—“हे विदुर, भगवान् कपिल माता जी के इस प्रकार के दैन्य-भरे वचनों को सुन कर गद्गद वाणी में बोले”—माता जी, मुक्ति का जो सुगम मार्ग मैंने तुम्हें बतलाया है उससे शीघ्र ही तुम अपना कल्याण करने में समर्थ होओगी। अविलम्ब तुम्हें परम पद की प्राप्ति होगी। तुम मेरे वचन में दृढ श्रद्धा रखो। बड़े-बड़े ब्रह्मवादी लोग इस मार्ग का अवलम्बन कर परम श्रेय के भागी बने हैं। जो लोग मेरे इस मत को नहीं जानते वे जन्म-मरण के चक्र में फँसे रहते हैं”—“मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः” ॥११॥

इस प्रकार अपने श्रेष्ठ आत्मज्ञान का उपदेश करके श्रीकपिलदेव जी अपनी ब्रह्मवादिनी जननी की अनुमति लेकर वहाँ से चले गये। देवहूति भगवान् कपिल का ध्यान करती हुई वहीं सरस्वती नदी के तट पर निवास करने लगीं। उन्होंने दूध के फेन के समान अपनी उज्ज्वल शय्या छोड़ दी। उन्होंने अपने उस भवन का भी परित्याग कर दिया जिसके लिये देवताओं की स्त्रियाँ भी ललचती थीं। निरन्तर समाधि में स्थित रहने के कारण वे अपने पुत्र का ही ध्यान करती रहती थीं—

तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम् । बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे ॥३/३३/२२॥

सांसारिक विषयों से विरक्त होकर अब वे तप में ही लीन रहने लगीं। उनको पहले पति का वियोग हुआ था क्योंकि कर्दम जी ने संन्यास ले लिया था। अब पुत्र भी छोड़कर चला गया। देवहूति ने अपने आत्मा को विशुद्धरूप में जान लिया। उनकी बुद्धि पर ब्रह्म परमात्मा में स्थिर हो गई। फलतः उनकी जीवापत्ति, जीवभाव निवृत्त हो गया था। उनके सारे क्लेश समाप्त हो गये थे। उन्हें देह-गेह किसी की भी सुधि न थी। इस प्रकार उनकी निरन्तर समाधि चलती रही। फलतः थोड़े ही दिनों में उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया फिर तो तत्काल उनका पाञ्चभौतिक शरीर भूतल पर गिर कर नदी के रूप में परिणत हो गया। जहाँ देवहूति ने सिद्धि प्राप्त की थी, उसे सिद्धपुर कहते हैं। वह पुण्य क्षेत्र आज भी विद्यमान है। वहीं सरस्वती नदी बहती है। कपिल देव जी वहाँ से चलकर पूर्वोत्तर दिशा में जहाँ सागर से गंगा का सङ्गम होता है, चले गये। समुद्र ने उनको रहने के लिये स्थान दिया। आज भी वहाँ कपिल देव जी का मन्दिर है। वहाँ वे तीनों लोकों की शान्ति के लिये निवास करते हैं। वहाँ सिद्ध-गन्धर्व उनकी स्तुति करते हैं।”

मैत्रेय जी कहते हैं कि विदुर जी, आप के पूछने पर मैंने कपिलदेवहूति के इस पावन सम्वाद का निरूपण किया जो इसका श्रवण-वर्णन करता है, उसकी बुद्धि भगवान् में लगती है और अन्त में उसे भगवच्चरणारविन्द की प्राप्ति होती है। यह उसकी फलश्रुति है—

य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते, कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम् ।

भगवति कृतधीः सुपणकितावुपलभते भगवत्पदारविन्दम् ॥३/३३/३७॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के तृतीय स्कन्ध का यह तैत्तिरीय अध्याय समाप्त हुआ ॥३३॥

॥ तृतीय स्कन्ध समाप्त ॥३॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥



## चतुर्थ स्कन्ध

**विशेष**—श्रीमद्भागवतरूपी कल्पवृक्ष के बारह स्कन्ध हैं। पहले स्कन्ध में अधिकार का निरूपण है। श्रोता और वक्ता कैसा होना चाहिये ? इसका निरूपण किया गया है। उत्तम, मध्यम और अधम भेद से श्रोता और वक्ता तीन प्रकार के होते हैं। परीक्षित एवं शुकदेव उत्तम श्रोता और वक्ता हैं। व्यास और नारद मध्यम श्रोता तथा वक्ता हैं। शौनक और सूत अधम श्रोता एवं वक्ता हैं। दूसरा स्कन्ध साधन निरूपण है। तीसरा सर्ग-निरूपण स्कन्ध है। और इस चतुर्थ स्कन्ध में विसर्ग का निरूपण किया गया है। इसमें ३१ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में मनु की कन्याओं के वंश का वर्णन है। २ से ७ अर्थात् ६ अध्यायों में दक्ष-यज्ञ-विध्वंस की कथा है। उसके बाद ४ अध्यायों में ध्रुव की कथा कही गई है। तदनन्तर ८ अध्यायों में पृथु-चरित्र का वर्णन है और अन्त के ११ अध्यायों के द्वारा प्रचेताओं का चरित वर्णित है।

### पहला अध्याय

#### ( स्वायम्भुव मनु की कन्याओं के वंश का वर्णन )

मैत्रेय जी ने कहा—“विदुर जी, मनु महाराज की पत्नी थी—शतरूपा। शतरूपा से मनु की तीन कन्याएँ थीं—  
१. आकूति (या आकृति), २. देवहूति और ३. प्रसूति।

मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे। आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः॥४/१/१  
देवहूति की कथा का वर्णन तीसरे स्कन्ध में किया जा चुका है। मनु महाराज ने अपनी दूसरी बेटी आकूति का विवाह प्रजापति रुचि के साथ इस शर्त पर कर दिया कि इसके जो पहला पुत्र होगा उसे हम ले लेंगे<sup>१</sup>। रुचि से आकूति को दो सन्तानें पैदा हुईं। एक था पुत्र और दूसरी थी पुत्री। पुत्र का नाम था—यज्ञ और पुत्री का दक्षिणा। ये दोनों क्रमशः विष्णु और लक्ष्मी के अंश थे। शर्त के अनुसार पुत्र यज्ञ मनु के पास चला गया और कन्या रुचि के पास रह गई फिर इन दोनों यज्ञ और रुचि का आपस में विवाह हो गया। यज्ञ के दक्षिणा से बारह पुत्र पैदा हुए। इनके नाम थे—तोष, प्रतोष, सन्तोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वह, सुदेव और रोचन। ये ही स्वायम्भुव मन्वन्तर में ‘तुषित’ नामक देवता हुए।

मनु ने अपनी तीसरी और सबसे छोटी बेटी प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापति के साथ कर दिया। आगे चल कर इस वंश का बहुत विस्तार हुआ। कर्दम जी की नौ कन्याओं का विवाह नौ महर्षियों से हुआ था। इस का वर्णन पीछे किया जा चुका है। उनकी वंश-परम्परा का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। कर्दम जी ने अपनी बेटी कला का विवाह मरीचि ऋषि से किया था। उसके दो पुत्र पैदा हुए—कश्यप और पूर्णिमा। इनके वंश से यह सारा जगत् भरा हुआ है। कश्यप के वंश का वर्णन षष्ठ स्कन्ध में किया जायेगा। पूर्णिमा के विरज और विश्वग नाम के दो पुत्र हुए तथा देवकुल्या नाम की एक कन्या हुई। यह देवकुल्या ही जन्मान्तर में गङ्गा हो गई—

देवकुल्या हरेः पादशौचाद्याभूत्सरिद्विः॥४/१/१४

ब्रह्मा के द्वितीय पुत्र थे अत्रि। अत्रि कहते हैं त्रिगुणातीत महापुरुष को। इनका विवाह अनसूया के साथ हुआ था। जो किसी में दोष न देखे, जो किसी से असूया = ईर्ष्या न करे उसको कहते हैं अनसूया। अनसूया के लिये ‘अनुसूया’ शब्द भी है। इसका अर्थ होता है—अनु = पश्चात् त्रिदेवान् सूते प्रसूते या सा अनुसूया। ब्रह्मा, विष्णु और शिव जिसके पुत्र बन जायें उसका नाम अनुसूया है।

१. ‘पुत्रिकाधर्म’ के अनुसार किये जानेवाले विवाह में यह शर्त होती है कि कन्या से जो पहला पुत्र होगा, उसे कन्या के पिता ले लेंगे। यही है पुत्रिका-धर्म का अभिप्राय।



अत्रि और अनसूया के तीन पुत्र पैदा हुए—“सोम, दत्तात्रेय और दुर्वासा । ये तीनों क्रम से ब्रह्मा, विष्णु और शिव के अंश से उत्पन्न हुए थे” । इस पर विदुर जी ने पूछा कि ये तीनों देवता किस कारण से अत्रि के पुत्र रूप में प्रकट हुए थे । मैत्रेय जी ने कहा कि ब्रह्मा ने अपने पुत्र अत्रि जी से सृष्टि करने की बात कही । पिता की बात को शिरोधार्य कर अत्रि सृष्टि-सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये ऋक्ष पर्वत पर तप करने चले गये । उनका लक्ष्य था कि जो संसार का स्वामी है, मैं उसकी शरण में हूँ वह मुझे अपने सदृश पुत्र दे—

शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः । प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ॥४/१/२०

वहाँ उन्होंने एक पैर के बल खड़े होकर वायु पीते हुए सौ वर्ष तक घोर तप किया । उनके तप के तेज से त्रिलोकी सन्तप्त होने लगी । इस बात को देखकर ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—तीनों जगत्पति उनके आश्रम पर आये । त्रिदेवों के तेज से मुनि की आँखें चौंधिया गई । उन्होंने नेत्र बन्द कर लिये फिर हाथ जोड़ कर उन्होंने प्रणाम करते हुए उनकी दिव्य स्तुति की और पूछा—प्रभो, अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये मैंने किसी एक सर्वेश्वर का चिन्तन किया था फिर आप तीनों यहाँ कैसे पधारने का कष्ट किये ? कृपया इसका रहस्य बतलाइये ।

अत्रि की बात सुनकर त्रिदेवों ने कहा—‘ब्रह्मन्, तुम सत्य-सङ्कल्प हो । आप के चिन्तन के विपरीत कैसे हो सकता था । आप जिस सर्वोत्कृष्ट एक तत्त्व का ध्यान करते थे वह एक तत्त्व हम तीनों हैं—

यथाकृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा । सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन् यद्वै ध्यायति ते वयम् ॥४/१/३०

प्रिय महर्षे, “तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हारे यहाँ हमारे ही अंशस्वरूप तीन जगद्धित पुत्र उत्पन्न होंगे और तुम्हारे यश का त्रिलोकी में विस्तार करेंगे” । इस प्रकार कह कर वे तीनों देव अन्तर्धान हो गये । विदुर जी, अत्रि के घर त्रिदेवों के पुत्ररूप में आने का यही कारण है ।

१. इस विषय में एक कथा और प्रचलित है, जिसका उल्लेख पूज्य रामचन्द्र डोगरे जी महाराज, स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज और पं० राममूर्ति शास्त्री जी ने अपने ग्रन्थों में किया है । कथा का सार इस प्रकार है—“नारायण की प्रेरणा से भगवान् की लीला का विस्तार करनेवाले नारद जी एक बार कैलास पार्वत पर पधारे । शङ्कर समाधि में बैठे थे । पार्वती जी पूजन कर रही थीं । नारद जी ने प्रसाद खाकर सन्तोष व्यक्त किया । पार्वती जी ने पूछा नारद जी लड्डू कैसे लगे ? मुनि ने उत्तर दिया—माता जी, लड्डूओं का क्या कहना ? एक तो भगवान् का प्रसाद, दूसरे आप के हाथ से बने हुए । किन्तु अनसूया जी के हाथ के लड्डूओं की बराबरी नहीं है । पार्वती जी ने पूछा कौन अनसूया जी ? नारद ने कहा माता जी, आप पतिव्रता हैं । किन्तु दुनियाँ अनसूया को पतिव्रता-शिरोमणि कहती है । इतना कह कर नारद जी चले गये । पतिव्रत्य के क्षेत्र में पार्वती को अपनी यह हेठी सख नहीं हुई । समाधि से शंकर उठे । वे पहुँच कर शंकर के चरणों में प्रणाम कर बोलीं—“प्रभो, आप मुझे प्राणप्रिया कहते हैं । मेरे पतिव्रत्य की प्रशंसा दुनियाँ करती है । किन्तु नाथ, अब मैं दूसरे नम्बर पर गिनी जाती हूँ । पहले नम्बर पर आज अनसूया गिनी जा रही है अतः चाहे जैसे हो आप को अनसूया का व्रत भंग करना होगा । शंकर जी ने समझाया—देवि, दूसरे को नीचा दिखलाने का प्रयास करनेवाला पछताता है अतः छोड़ी इस विचार को । किन्तु पार्वती अपने हठ पर डटी रहीं । फलतः शङ्कर को अत्रि-आश्रम की ओर जाना पड़ा ।

कैलास से प्रस्थान कर नारद जी वैकुण्ठ आये । लक्ष्मी जी को प्रणाम किया । आशीष देकर लक्ष्मी जी ने पूछा—नारद जी, आज इतने प्रसन्न क्यों हैं ? नारद जी ने कहा—माता जी, वैकुण्ठ की महिमा कभी रही । इस समय पतिव्रता-शिरोमणि अनसूया के व्रत के प्रताप से अत्रि-आश्रम का महत्त्व कुछ अदभुत है । वहाँ जो आनन्द मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है । मैं इस समय वहाँ से आ रहा हूँ । लक्ष्मी जी ने पूछा—क्या अनसूया जी मुझसे भी बड़ी पतिव्रता हैं ? नारद जी ने कहा—माता जी, कभी-बेशी की बात मैं नहीं जानता किन्तु अनसूया की महिमा न्यारी है । इतना कह कर नारद जी वहाँ से चल पड़े । लक्ष्मी जी ने भगवान् विष्णु से विनती करते हुए कहा—नाथ, चाहे जैसे हो । आप को अनसूया



वरदान स्वरूप ब्रह्मा के अंश से सोम, विष्णु के अंश से दत्त और रुद्र के अंश से दुर्वासा पैदा हुए। अत्रि पुत्र होने के कारण दत्त को दत्तात्रेय दत्त-आत्रेय कहा जाता है—

सोमोऽभूद्ब्रह्मणोऽंशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित् । दुर्वासाः शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः ॥४/१/३३  
अब अङ्गिरा ऋषि की सन्तानों का वर्णन सुनो—

ब्रह्मा के तीसरे पुत्र थे अङ्गिरा। उनकी पत्नी का नाम था—श्रद्धा। श्रद्धा की चार पुत्रियाँ और दो पुत्र थे। पुत्रियों में दो—सिनीवाली और कुहू अमावस्या की और दो अनुमति तथा राका पूर्णिमा की अधिष्ठात्री देवियाँ बनीं। दो पुत्र थे—‘उतथ्य और वृहस्पति। चतुर्थ पुत्र पुलस्त्य ने हविर्भू नाम की पत्नी से अगस्त्य को उत्पन्न किया। पुलस्त्य के दूसरे पुत्र थे—विश्रवा। इनमें अगस्त्य जी दूसरे जन्म में जठराग्नि हुए। विश्रवा की दो पत्नियाँ थीं—इडविडा और केशिनी। इडविडा से यक्षराज कुबेर का जन्म हुआ और केशिनी से रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण उत्पन्न हुए—

तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विडविडासुतः । रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः ॥४/१/३७

का पातिव्रत्य भंग करना ही होगा। विष्णु जी ने लक्ष्मी जी को समझाया—लक्ष्मी जी, दूसरे को नीचा दिखाने वाले को स्वयं नीचा का सामना करना पड़ता है। किन्तु लक्ष्मी जी नहीं मानी। फलतः विष्णु को अत्रि-आश्रम के लिये प्रस्थान करना पड़ा। धन्य है स्त्री-हठ !

इसी प्रकार नारद ब्रह्मा के लोक में पहुँचे। ब्रह्मा की पत्नी सावित्री से वैसी ही बातें की, जैसी की लक्ष्मी जी से की थी। सावित्री की जिद के सामने ब्रह्मा को झुकना पड़ा। बूढ़े पति, पत्नी की प्रसन्नता का ज्यादा ख्याल रखते हैं। शंकर विष्णु और ब्रह्मा—तीनों देवता चित्रकूट में एक साथ मिले।

नमस्कार-प्रणाम के बाद उन लोगों ने एक-दूसरे के आने का कारण पूछा। सबने अपनी-अपनी बात बतलाई। विष्णु ने पूछा—आप लोगों के यहाँ भी नारद गया था ? शङ्कर और ब्रह्मा ने उत्तर दिया—हाँ-हाँ, यह उसी की तो करतूत है फिर तीनों देवता संन्यासी के वेश में अनसूया के आश्रम में आये। अत्रि तपस्यार्थ चले गये थे। अनसूया आश्रम में थी। तीनों देवों ने दरवाजा खटखटाया। अनसूया ने कहा—कौन है ? देवों ने कहा, हम भिक्षा के लिये आये हैं। अत्रि-पत्नी पात्र में भिक्षा की सामग्री लेकर बाहर निकल कर बोलीं—लें महाराज भिक्षा। देवों ने कहा—हम ऐसे भिक्षा नहीं लेंगे नंगी होकर दें तभी हम लेंगे। भगवान् सबसे निरावरण मन की भिक्षा माँगा करते हैं अतः माया के पर्दे को हटाकर भगवान् से मिलना होता है। अनसूया ने सोचा ये लोग देखने में तो महात्मा मालूम पड़ते हैं और बात करते हैं—मर्यादाविहीन। क्षणभर के लिये उन्होंने आँखे बन्द कर ध्यान लगाया। ध्यान में उन्हें त्रिदेव दिखलाई पड़े फिर तो उन्होंने हाथ में जल लिया। अपने पातिव्रत्य धर्म की दुहाई देकर छिड़क दिया उन त्रिदेवों पर उस जल को। फलतः तीनों देव छः-छः माह के बालक बनकर माँ के सामने किलकारी मारने लगे। अनसूया ने तीनों को उठाया। पर्दा हटाकर अपनी छाती का दूध उन्हें पिलाकर पालने में लेटा दिया—“माता अनसूया ने डाल दिया पालना। तीन देव झूल रहे बन करके लालना।” आश्रम का वातावरण अदभुत बन गया।

सायंकाल ऋषि अत्रि आश्रम में आये। बालकों को देखा और पूछा—ये बालक किसके हैं। अनसूया ने हँसकर उत्तर दिया—ये आप ही के बालक हैं। ध्यान से सारी बातें जान कर अत्रि ने कहा—देवि, इन बालकों को सँभाल कर रखना। अनसूया बड़ी तन्मयता से उन बालकों की सेवा करने लगी।

इधर छः महीने बीत गये। पति जब वापस नहीं आये तो पार्वती आदि तीनों देवियाँ उन्हें ढूँढती अत्रि आश्रम के ऊपर पहुँची। तीनों ने एक-दूसरे से आने का कारण जाना। सबों ने नारद को जमकर कोसा। इतने में वीणा बजाते हुए नारद जी उधर से निकले। परिस्थिति को भाँप कर उन्होंने तीनों देवियों को दूर से ही प्रणाम किया और चल पड़े दूसरी ओर। देवियों ने कहा—अरे नारद सुनो-सुनो। किन्तु नारद आज सुनने वाले नहीं थे। रुकने में उन्होंने अपनी खैर न समझी। तब देवियों ने चिल्लाकर कहा—हमारे पति कहाँ हैं ? यह तो बतलाते जाओ। नारद ने कहा—सामने माता अनसूया का आश्रम है जाकर वहाँ देखिये। वहाँ तीनों बच्चे बने पालने पर झूल रहे हैं। तीनों देवियाँ डरती-



ब्रह्मा के पञ्चम पुत्र पुलह की भार्या गति ने तीन पुत्रों को उत्पन्न किया। इसी प्रकार ब्रह्मा के षष्ठ पुत्र क्रतु की भार्या क्रिया ने ब्रह्मतेज से देदीप्यमान बाल्यखिल्य आदि साठ हजार ऋषियों को जन्म दिया। सातवें पुत्र वसिष्ठ ने ऊर्जा (अरुन्धती) से चित्रकेतु आदि सात पुत्रों को उत्पन्न किया। वसिष्ठ की एक दूसरी पत्नी भी थी। उससे शक्ति आदि और कई पुत्र पैदा हुए। ब्रह्मा के अष्टम पुत्र अथर्वा ने अपनी पत्नी चित्ति से दधीचि ऋषि को उत्पन्न किया। ब्रह्मा के नवम पुत्र थे भृगु।

भृगु जी की पत्नी का नाम था ख्याति। ख्याति के दो पुत्र—धाता और विधाता थे। उसकी एक पुत्री भी थी। उसका नाम था—श्री। मेरु ऋषि ने अपनी आयति और नियति नाम की कन्याएँ क्रमशः धाता और विधाता को व्याहीं। उनसे उनके मृकण्ड और प्राण नामक पुत्र हुए। भृगु के एक कवि नामक पुत्र भी थे। उनके भगवान् उशना (शुक्राचार्य) हुए।

इस प्रकार कर्दम से देवहूति की जो नौ कन्याएँ पैदा हुई थीं, उनके वंश का वर्णन यहाँ तक किया गया। अब दक्ष के वंश का वर्णन किया जा रहा है—

ब्रह्मा जी के पुत्र दक्ष प्रजापति ने मनु की छोटी बेटी प्रसूति से विवाह किया। उससे उन्होंने सोलह सुन्दरी कन्याएँ उत्पन्न कीं। दक्ष ने उनमें से तेरह धर्म को, एक अग्नि को, एक समस्त पितृगण को और एक भगवान् शङ्कर को व्याही थी। धर्म की एक पत्नी का नाम था मूर्ति। मूर्ति ने नर-नारायण को पैदा किया। अग्नि की पत्नी स्वाहा से तीन पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम थे—पावक, पवमान और शुचि। ये तीन अग्नि के नाम हैं और हवन किये गये पदार्थों का भक्षण करनेवाले हैं। इनसे ४५ अग्नियों की उत्पत्ति हुई। इन तीन, पिता और पितामह को मिलाकर उच्चास अग्नियाँ कही जाती हैं। वैदिक यज्ञों में जिन उच्चास अग्नियों के नामों से आग्नेयी इष्टियाँ करते हैं, वे ये ही हैं।

पितरों की पत्नी का नाम था स्वधा। स्वधा ने धारिणी और वयुना नाम की दो कन्याओं को जन्म दिया था। महादेव की पत्नी सती को कोई पुत्र नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने पति के अपमान कर्ता पिता दक्ष के यज्ञ में, अप्रौढावस्था में ही, अपने शरीर को, योगाग्नि के द्वारा, जलाकर भस्म कर दिया था—

पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा। अप्रौढेवात्मनाऽऽत्मानमजहाद्योगसंयुता ॥४/१/६६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

सहमती वहाँ पहुँचीं। द्वार खटखटाया। अनसूया ने पूछा कौन ? देवियों ने उत्तर दिया—हम आप की बहुएँ हैं। द्वार खुला। देवियों ने माता जी का पैर छुआ। अनसूया को सारा रहस्य ज्ञात होते देर न लगी। उन्होंने प्रेम से बहुओं को रक्खा। सन्ध्या की बेला में अत्रि महाराज आये। उन्होंने पूछा—ये तीन देवियाँ कौन हैं ? अनसूया ने उत्तर दिया—ये तीनों आप की बहुएँ हैं। अत्रि ने कहा—बालक बिता भरके और बहुएँ पाँच-पाँच हाथ की। अनसूया ने कहा—बड़े भाग्य से बड़ी बहुएँ घर में आती हैं। अत्रि को ध्यान से सारी बातें मालूम हो गई। उन्होंने कहा देखना देवि, बहुओं को कष्ट न होने पाये।

एक दिन तीनों देवियाँ अनसूया का पैर दबा रही थीं। दुःख में उनके आँसू टपक कर अनसूया के पैरों पर लुढ़क गये। अनसूया ने कहा—अरे क्या बात है ? क्यों रो रही हो ? देवियों ने कहा माता जी हमारा अपराध क्षमा करें। अब हमारे पतियों को हमें दे दीजिये। हम बड़े कष्ट में हैं। इनका वियोग हमसे सहा नहीं जाता। यह सुन कर सती का हृदय पसीज गया। उन्होंने अञ्जलि में जल लिया। पतिदेव का स्मरण किया। पातिव्रत्य की दुहाई दी और छिड़क दिया जल बालकों के ऊपर। फिर क्या था ? तीनों देव अपने-अपने रूप में प्रकट हो गये। सती ने तीनों का पूजन-अर्चन किया। इस पर तीनों देवों ने प्रसन्न होकर सती से कहा—देवि, तुम्हारे पातिव्रत्य से हम बहुत प्रसन्न हैं। अनसूया ने कहा—यदि आप प्रसन्न हैं तो तीनों ही मेरे पुत्र हो जायें। देवताओं ने तथास्तु कह कर स्वीकार किया सती की प्रार्थना को। ये ही तीनों देव अनसूया के पुत्र बने थे।



## दूसरा अध्याय

( भगवान् शिव और दक्ष का परस्पर मनोमालिन्य और शाप )

विदुर जी ने पूछा—ब्रह्मन्, प्रजापति दक्ष तो अपनी बेटियों से बहुत प्यार करते थे फिर उन्होंने अपनी कन्या सती का अनादर कर शीलवानों में श्रेष्ठ भगवान् शिव से द्वेष क्यों किया ? महादेव जी भी सकल जगत् के गुरु, वैर-विहीन, शान्ति की मूर्ति और जगत् के परमाराध्य देव हैं। उनसे भला कोई क्यों वैर करेगा—

भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः । विद्वेषमकरोत्कस्मादनादृत्यात्मजां सतीम् ॥

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम् । आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत् ॥४/२/१-२

भगवन्, उन श्वसुर और दामाद में इतना वैर कैसे हो गया जिसके कारण सती को अपने प्राणों का परित्याग करना पड़ा कृपया यह प्रसङ्ग आप मुझे सुनाइये। इस पर मैत्रेय जी ने कहना प्रारम्भ किया— बात प्राचीन काल की है। एक बार गङ्गा और यमुना के पावन सङ्गम तीर्थराज में एक विशाल यज्ञ का आयोजन हुआ। उस यज्ञ में बड़े-बड़े ऋषि, देवता, मुनि और अग्नि आदि अपने-अपने अनुयायियों के साथ उपस्थित थे। सभापति के आसन पर आसीन थे ब्रह्मा। उनके बगल में भगवान् शङ्कर विराजमान थे। इसी समय वहाँ तेजोमण्डल से चमचमाते हुए प्रजापतियों में श्रेष्ठ दक्ष पधारे। उनके तेज से आक्षिप्त होकर सब ने उठ कर उनकी अगवानी की। उन्हें प्रणाम किया। केवल ब्रह्मा और शङ्कर बैठे रह गये। दक्ष जगत्पिता ब्रह्मा जी को प्रणाम कर उनकी आज्ञा से अपने लिये निर्धारित आसन पर बैठ गये।

ब्रह्मा जी दक्ष के पिता ठहरे अतः उनकी कोई बात न थी। किन्तु शङ्कर के द्वारा अगवानी प्रणाम आदि कुछ भी सम्मान न पाकर दक्ष क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने उनकी ओर टेढ़ी नजर से इस प्रकार देखना प्रारम्भ किया मानो उन्हें जला कर भस्म कर देंगे। जब उनकी सहनशीलता समाप्त हो गई तो उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—यहाँ उपस्थित सभी महानुभाव मेरी बात सुनें। मेरा यह कथन न तो अज्ञानतावश है और न द्वेष के ही कारण। यह निर्लज्ज महादेव समस्त लोकपालों की पवित्र कीर्ति को धूल में मिला रहा है। देखिये इस घमण्डी ने सदाचार की महिमा ही मिटा दी है। इसके नेत्र बन्दरों की तरह हैं। पिता ब्रह्मा जी के कहने से मैंने अपनी मृगनयनी सुन्दरी बेटी का विवाह इससे कर दिया अतः यह एक प्रकार से मेरे बेटे के समान है। उचित तो यह था कि यह उठकर मेरा स्वागत करता, मुझे प्रणाम करता। परन्तु इसने वचनमात्र से भी मेरा सम्मान नहीं किया—

गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचनः । प्रत्युत्थानाभिवादाहं वाचाप्यकृत नोचितम् ॥४/२/१२

मैंने इच्छा के न रहने पर भी भावीवश इसको अपनी सुकुमारी कन्या व्याह दी। इसने सत्कर्म को लोप कर दिया है। धर्म की मर्यादा भङ्ग कर दी है। यह प्रेतों के निवास-स्थान भयङ्कर श्मशानों में भूत-प्रेतों के साथ घूमता रहता है<sup>१</sup>। इसका नाम शिव है, किन्तु वेश अमङ्गल और अशिव ही है। इस प्रकार विविध भाँति से शिव की निन्दा

१. हृदय-व्यास भगवान् शङ्कर की निन्दा अपने भागवत ग्रन्थ में नहीं करेंगे अतः ऐसे स्थलों में एक प्रशंसापरक भी अर्थ रहता है, जो व्यास भगवान् का अभिप्रेत है। श्मशान का अर्थ है—सारा संसार। ब्रह्म होने के नाते शङ्कर सारे संसार में व्याप्त रहते हैं। संसार के सारे प्राणी मरणधर्मा होने के नाते मुर्दे के समान हैं। भूत और प्रेत का अर्थ है—मुक्त जीव। जो मरकर सर्वदा के लिये इस संसार से चले गये। अब उन्हें लौट कर यहाँ नहीं आना है। ऐसे मुक्तात्मा ही भूत अर्थात् 'न सन्ति, न च, भविष्यन्ति' हैं। प्रेत का अर्थ है—प्र = प्रकर्षण इताः = इतो गताः इति प्रेताः—सर्वथा मुक्ताः। ऐसे ही मुक्ताओं से शिव घिरे रहते हैं। भस्म शरीर और संसार की नश्वरता का द्योतक है, प्रकाशक है।



कर दक्ष ने शाप दिया कि—यज्ञ में देवताओं के साथ इसे भाग न मिले, क्योंकि यह देव गणों में अधम है<sup>१</sup> ।

अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः । सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः ॥४/२/१८

सभा में उपस्थित प्रधान-प्रधान लोगों ने उन्हें बहुत मना किया, परन्तु उन्होंने किसी की नहीं सुनी । महादेव जी को शाप देने के बाद वे वहाँ से उठे और अपने घर चले गये—

निषिध्यमानः स सदस्यमुख्यैर्दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम् ।

तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्युर्जगाम कौरव्य निजं निकेतनम् ॥४/२/१९

शङ्कर के शिर पर ज्ञान-गङ्गा बहती है अतः उन्हें क्रोध नहीं आया । किन्तु शङ्कर के प्रधान गण हैं—नन्दी । नन्दी ने दक्ष के शाप को सुना । उनके क्रोध का पारावार न रहा अतः बदले में दक्ष एवम् उनके अनुयायियों को शाप देते हुए उन्होंने कहा—दक्ष मूर्ख है । इसे इस मरणशील शरीर में ही महान् अभिमान है । यह सभी भूतों के हितैषी भगवान् शङ्कर से द्वेष करता है । इसलिये यह सर्वदा तत्त्व-ज्ञान से ही विमुख रहे—

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्वुहि । द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टितत्त्वतो विमुखो भवेत् ॥४/२/२१

यह महान् कामी है । कर्मकाण्ड में ही इसकी दृढ आसक्ति है । यह साक्षात् पशु के समान है अतः यह अत्यन्त स्त्री-लम्पट ही बना रहे और शीघ्र ही इसका मुख बकरे का हो जाय—

स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात् ॥४/२/२३

दक्ष को शाप देकर नन्दीश्वर अब मुड़े उसके अनुयायियों की तरफ और कहा—जिन्होंने दक्ष के द्वारा की गई शिव की निन्दा का अनुमोदन किया है वे ब्राह्मण सर्वभक्षी हों और याचक बन कर दर-दर भटकते फिरें—“याचका विचरन्तिवह” ॥२६॥ ब्राह्मणकुल का शाप सुन कर महर्षि भृगु भड़क उठे । उन्होंने शिव-भक्तों को शाप देते हुए कहा—शिव-व्रत धारण करनेवाले जन पाखण्डी बन जाँय । उनका आचरण सत्-शास्त्रों के विरुद्ध हो । जो लोग शौच, आचार से विहीन, मन्दबुद्धि, जटा, भस्म एवं हड्डियों को धारण करनेवाले हैं—ऐसे ही लोग शैव-सम्प्रदाय में दीक्षित हों । सुरा और आसव ही इनका मुख्य पान हो । फिर उन्होंने नन्दी को लक्ष्य करके कहा—तुम भी अपने आराध्य देव शङ्कर की भाँति पाखण्डी बन जाओ—“विगर्हा यात पाखण्डं दैवं यो यत्र भूतराट्” ॥३२॥

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, भृगुजी के इस प्रकार शाप देने पर भगवान् शङ्कर कुछ खिन्न-से होकर वहाँ से अपने अनुयायियों के सहित, उठकर चले गये—

तस्यैवं वदतः शापं भृगोः स भगवान् भवः ।

निश्चक्राम ततः किञ्चिद्विमना इव सानुगः ॥४/२/३३

यज्ञ की समाप्ति पर सारी देव-मण्डली त्रिवेणी में यज्ञान्त स्नान कर, ब्रह्मा और श्रीहरि के साथ, अपने-अपने स्थानों को चली गई—

विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः ॥४/२/३५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

१. हृदय-दक्ष ठीक ही कह रहा है कि यह यज्ञ में देवगणों के साथ भाग को न प्राप्त करे । सारे देवता देवता हैं और शङ्कर महादेव हैं । महाराजा की पूजा राजाओं के साथ कैसे हो सकती है ? देवगणाधमका अर्थ है—देव-गण जिससे, जिसकी अपेक्षा, अधम हैं—देवगणा अधमा यस्मादसौ देवगणाधमः ।



## तीसरा अध्याय

( दक्ष-यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये सती का आग्रह और शिव के द्वारा मना करना )

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, इस प्रकार दामाद शङ्कर जी और श्वसुर दक्ष में विद्वेष हो गया। यही स्थिति बहुत दिनों तक बनी रही। इसी बीच ब्रह्मा जी ने दक्ष को समस्त प्रजापतियों का अधिपति बना दिया। इससे उसका गर्व बहुत बढ़ गया<sup>१</sup>। उसने शङ्कर आदि ब्रह्मज्ञानियों को यज्ञ-भाग न देकर उनका अपमान करते हुए पहले तो वाजपेय यज्ञ किया और फिर बृहस्पतिसव नाम का महायज्ञ प्रारम्भ किया। उस यज्ञ में सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर और अपनी-अपनी पत्नियों के साथ देव-गण पधारे थे। यह वह काल था जब दण्डकारण्य में राम की परीक्षा सती ने सीता का रूप धारण कर की थी और शङ्कर ने मन-ही-मन सङ्कल्प कर लिया था कि सती के इस शरीर के साथ शारीरिक सम्बन्ध की स्थापना अब कभी नहीं होगी<sup>२</sup>। फलतः शङ्कर का अधिक समय समाधि में ही बीतता था। सती किसी प्रकार से अपना समय काटती थीं। इसी समय एक दिन वह कैलास की चोटी पर सखियों के साथ बैठी थीं। उन्होंने देखा कि सजी-धजी देवस्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के साथ गाती बजाती आकाश-मार्ग से जा रही थीं। पूछने पर पता चला कि वे सभी प्रजापात दक्ष के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये जा रही हैं। सती के हर्ष का ठिकाना न रहा। समाधि से उठने पर वे बड़ी उत्सुकता के साथ पति शङ्कर के पास पहुँची और कहा—वामदेव, सुना है, इस समय आप के श्वसुर प्रजापति दक्ष बड़ा भारी यज्ञ कर रहे हैं। देखिये, आकाश-मण्डल में, ये सभी देवता वहीं जा रहे हैं। यदि आप की इच्छा हो तो हम भी चलें—

प्रजापतेस्ते श्वसुरस्य साम्प्रतं निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल।

वयं च तत्राभिसराम वाम ते यद्यर्थात्तामी विबुधा व्रजन्ति हि॥४/३/८

महोत्सव स्वजनों से मिलने का बड़ा अच्छा अवसर होता है। इस समय अपने भाई-बन्धुओं से मिलने के लिये मेरी बहनें भी अपने-अपने पतियों के साथ वहाँ अवश्य आयेंगी। मैं भी चाहती हूँ कि आपके साथ वहाँ चलकर माता-पिता के द्वारा प्रदत्त उपहार को स्वीकार करूँ। वहाँ अपने पतियों से सम्मानित बहनों और माता-पिता को भी देखने का अवसर सुलभ होगा। ऋषियों-मुनियों के दर्शन होंगे तथा यज्ञ देखने का भी सौभाग्य मिलेगा—

तत्र स्वसृमै ननु भर्तृसम्मिता मातृष्वसृः क्लिन्नधियं च मातरम्।

द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभिरुन्नीयमानं च मृडाध्वरध्वजम्॥४/३/१०

स्वजनों से मिलने के लिये मैं बहुत दिनों से उत्सुक हूँ। स्त्री-जाति का होने के कारण मैं इस समय अपनी जन्म-भूमि को देखने के लिये बहुत आतुर हो रही हूँ—

दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम्॥११

सुरश्रेष्ठ, ऐसी अवस्था में अपने पिता के यहाँ उत्सव का समाचार पाकर बेटी का शरीर उसमें सम्मिलित होने के लिये क्यों नहीं छटपटायेगा ?—

कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते॥१३

भगवान् शङ्कर ने सती की बात को सुना। उन्होंने अभी तक दक्ष के साथ अपने वैमनस्य की बात सती को

१. नहीं कोठ अस उपजा जगमाहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥मानस॥

२. सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं। एहि तन सतिहि भेट अब नाहीं॥मानस बाल॥



नहीं बतलाई थी। आज धीरे-धीरे वे इस रहस्य पर से पर्दा हटा रहे थे। उन्होंने कहा—देवि, बिना आमन्त्रण-निमन्त्रण के कहीं उत्सव में सम्मिलित होने के लिये नहीं जाना चाहिये—अतः इस समय तुम्हारा और मेरा दक्ष के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये जाना उचित नहीं है।

सती—देव, आप का कथन ठीक है किन्तु पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृज्जनों के यहाँ तो बिना बुलाये भी जाना चाहिये—

अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम् ॥४/३/१३

शङ्कर—सुन्दरि, तुम्हारा कथन ठीक ही है। भाई-बन्धुओं के यहाँ बिना बुलाये भी जाना चाहिये किन्तु यदि वे अभिमान के वशीभूत होकर ईर्ष्या-द्वेष न करते हों तो—

त्वयोदितं शोभनमेव शोभने अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु।

ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो बलीयसाऽनात्ममदेन मन्युना ॥४/३/१६

शङ्कर जी ने आज विद्वेष की पुरानी बात को सती के सामने खोल कर रख दिया। उन्होंने सती जी को समझाते हुए कहा यदि हम लोग वहाँ जायेंगे दक्ष या दक्ष के व्यक्ति भौंहें टेढ़ी करके हमें देखेंगे और बाण की तरह कलेजे में छेद करनेवाले वचन बोलेंगे तो यह मरण से भी अधिक पीड़ादायक होगा—

स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभिर्दिवानिशं तप्यति मर्मताडिताः ॥४/३/१९

बाण लगने पर तो जिस-किसी तरह निद्रा आ भी जाती है, किन्तु स्वजनों के कुवाक्यों से मर्म-स्थान विद्ध हो जाने पर तो मनुष्य हृदय की पीडा से दिन-रात बेचैन रहता है। देवि, मैं जानता हूँ कि तुम दक्ष को अपनी सन्तानों में सर्वाधिक प्रिय हो किन्तु इस समय पिता के घर में सम्मान नहीं प्राप्त कर पाओगी क्योंकि वे मुझसे बहुत जलते हैं। हमारी दिव्य विभूतियों को देखकर वे जलते रहते हैं।

सती—महादेव, आप ने अपने श्वसुर की अगवानी नहीं की। उन्हें प्रणाम नहीं किया और न उन्हें सम्मान ही दिया। ऐसी दशा में उनका आप पर क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही है।

शङ्कर—देवि, तुम ठीक कह रही हो, किन्तु तत्त्वज्ञानी जन देहाभिमानी के देह को नहीं, किन्तु उनके हृदय में वर्तमान परमात्मा को हाथ जोड़ कर नहीं, मन से प्रणाम करते हैं। मैंने दक्ष के शरीर को नहीं किन्तु उनके अन्तःकरण में विराजमान नारायण को मन-ही-मन प्रणाम किया था। परन्तु मूर्ख दक्ष इस बात को समझ न सका और उसने मेरे साथ द्वेष कर लिया। ऐसे पिता के यहाँ तुम्हें भी नहीं जाना चाहिये। यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी तो तुम्हारे लिये अच्छा न होगा क्योंकि आत्मीयजनों के द्वारा किया गया अपना अपमान मरण का कारण बन जाता है—

यदि ब्रजिष्यस्यतिहाय मद्ब्रह्म भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति।

सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ॥४/३/२५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

१. जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा । जाइअ बिनु बोलेहुँ न संदेहा ।

तदपि विरोध मान जहँ कोई । तहाँ गये कल्यानु न होई ॥मानस, बाल०॥



## चौथा अध्याय

### ( सती का दक्ष के यज्ञ में जाना और योगाग्निद्वारा शरीरत्याग )

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, इतना कहकर भगवान् शङ्कर मौन हो गये। उन्होंने देखा कि दक्ष के यज्ञ में जाने देने अथवा जाने से रोकने—दोनों ही अवस्थाओं में सती के प्राण-त्याग की सम्भावना है। इधर सती जी बन्धु-जनों को देखने की इच्छा से जाने के लिये कभी आश्रम से निकलतीं और कभी, शङ्कर जी रुष्ट न हो जाँय, इस शङ्का से फिर अन्दर चली जातीं। इस प्रकार उनकी द्विविधा की स्थिति बनी रही। बाहर-भीतर, भीतर-बाहर यही उनका क्रम लगा रहा—

एतावदुत्तवा विरराम शङ्करः पत्यङ्गनाशं ह्यभयत्र चिन्तयन् ।

सुहृदिदक्षः परिशङ्किता भवान्निष्कामती निर्विशती द्विधाऽऽस सा ॥४/४/१

लम्बी-लम्बी सांसे भरती हुई सती शोक और रोष से बेचैन चित्त से भगवान् शङ्कर को छोड़कर अकेले ही यज्ञ के लिये चल पड़ीं।

शङ्कर ने देखा सती जा रही हैं। उन्होंने सती की प्रसाधनसामग्री, खेल के सामान कन्दुक आदि तथा मैना पक्षी को और उनके वस्त्रों को बाँधकर उनके साथ भेज दिया। शङ्कर ने सती की सारी सामग्री इसलिये भेज दी ताकि सती के न रहने पर उनकी वस्तुओं को देखकर कष्ट न हो। शङ्कर को यह ज्ञात था कि सती को अब लौट कर नहीं आना है। सवारी के लिये उन्होंने अपना बैल दे दिया। शङ्कर के सैकड़ों गण भी सती के साथ गये। सती बैल पर सवार हो शीघ्र ही कनखल में दक्ष की यज्ञशाला में पहुँचीं। वहाँ ब्राह्मण लोग सस्वर वेद-पाठ कर रहे थे। चतुर्दिक् यज्ञ की सामग्री रक्खी हुई थी। दक्ष के भय के कारण वहाँ किसी ने सती का सम्मान नहीं किया। केवल माता, बहनों और मौसियों ने आदर पूर्वक सती को गले लगाकर सम्मान किया और कुशल-समाचार आदि पूछा। बैठने के लिये प्रेम-पूर्वक आसन एवं नाना वस्तुओं को दिया। किन्तु सती जी ने पिता जी से अपमानित होने के कारण यह सब नहीं ग्रहण किया। यज्ञ-मण्डप में उन्होंने घूम-घूम कर देखा। उन्हें कहीं भी शङ्कर का भाग नहीं दिखलाई दिया। अपना और अपने पतिदेव का यह अपमान देख कर सती का शरीर क्रोध के मारे जलने लगा। ऐसा प्रतीत होता था मानो वे त्रिलोकी को भस्म कर देंगी। अपमान की इस स्थिति को देख कर सती के साथ आये हुए शङ्कर के गण दक्ष को मारने के लिये तैयार हो गये। सती ने उन्हें अपने तेज से रोक दिया और सब लोगों को सुनाकर पिता की निन्दा करते हुए क्रोध से लड़खड़ाती वाणी में कहना शुरू किया—

पिता जी, इस संसार में शङ्कर से कोई बड़ा देवता नहीं है। वे सभी देह-धारियों के प्रिय आत्मा हैं। उनका न कोई प्रिय है और न अप्रिय अतः उनका किसी भी प्राणी से वैरभाव नहीं है। वे सब के कारण और सर्वस्वरूप हैं। आप के सिवा और कौन है, जो उनसे विरोध करेगा ?

न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रियस्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः ।

तस्मिन् समस्तात्मनि मुक्तवैरके ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत् ॥४/४/११

शिव के वेश को अशिव अमङ्गलमय बतलाने वाला आपके अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं है। श्मशानभूमिवासी, नरमुण्डमालाधारी, चिताभस्मसेवी शिव के चरण से गिरे हुए निर्मात्य को आप के पिता ब्रह्मा भी बड़ी श्रद्धा के साथ शिर पर धारण करते हैं फिर तो दूसरों की बात ही क्या है ? यदि निरङ्कुश लोग मर्यादा का परित्याग कर अपने पूजनीय स्वामी की निन्दा करें तो अपने में उन्हें दण्ड देने की शक्ति न होने पर, कान बन्द कर वहाँ से भाग जाना चाहिये



और यदि शक्ति हो तो निन्दक की जीभ ही काट लेनी चाहिये। इस पाप को रोकने के लिये अपने प्राणों का भी परित्याग कर देना चाहिये—यही धर्म है<sup>१</sup>। आप भगवान् नीलकण्ठ की निन्दा करनेवाले हैं अतः आप से उत्पन्न इस शरीर को मैं नहीं रख सकती। यदि भूल या भ्रम से कोई निन्दित वस्तु खाली जाय, तो मुख में उँगली डालकर उसे वमन करके निकाल देने से ही मनुष्य की शुद्धि कही गई है—

अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः ।

जगद्यस्य मोहान्धि विशुद्धिमन्थसो जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते ॥४४/१८

जिस समय भगवान् शिव आप के साथ मेरे सम्बन्ध के सूचक 'दाक्षायणी' (दक्षपुत्री) इस शब्द से मुझे हँसी में पुकारेंगे, उस समय मुझे महान् खेद एवं लज्जा की अनुभूति होगी इसलिये ऐसा अवसर आने के पहले ही मैं आप के अङ्ग से उत्पन्न इस शवतुल्य शरीर का परित्याग कर दूँगी<sup>२</sup>।

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, उस यज्ञ-मण्डप में दक्ष से इस प्रकार कह कर देवी सती मौन होकर उत्तर दिशा की ओर मुख कर भूमि पर बैठ गई। उन्होंने आचमन करके पीला वस्त्र ओढ़ लिया और आँखें बन्द कर शरीर छोड़ने के लिये योगमार्ग में स्थित हो गई फिर उन्होंने अपने शरीर में वायु और अग्नि की धारणा की। उस काल में उनके शरीर से योगाग्नि की ज्वाला के साथ एक दिव्य ज्योति निकली, जो विद्युत की भाँति सबके आँखों को चकाचौंध करती हुई आकाश में अन्तर्हित हो गई और उनका शरीर भूतल पर गिर पड़ा<sup>३</sup>।

समाधि की बेला में सती जी सब कुछ भूल कर एकमात्र, शङ्कर के चरण का ही चिन्तन कर रही थीं। इस प्रकार सती के अद्भुत प्राण-त्याग की घटना को देखकर सभी हा-हा-कार करने लगे। लोगों ने दक्ष की निन्दा करते हुए उसे कठोर हृदयवाला पिता कहा। उनका कहना था कि—दक्ष की दुष्टता को तो देखिये, अग्नि में अपने शरीर को जलाने के लिये उद्यत अपनी बेटी को इसने रोका तक नहीं। इसके लिये संसार में इसकी महान् अपकीर्ति फैलेगी—“लोकेऽपकीर्तिं महतीमवाप्स्यति” ॥३०॥ जब ऐसी चर्चाएँ चल रही थीं तब रुद्र-गण दक्ष के वध के लिये उद्यत हो गये। उस समय महर्षि भृगु ने यज्ञ में विघ्नकर्ताओं के नाश के लिये “अपहतं रक्षः” इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दक्षिणाग्नि में आहुति डाली। तुरन्त यज्ञाग्नि से बहुत-से ऋभुनामक तेजस्वी देवता प्रकट हो गये। उन ब्रह्मतेज से सम्पन्न देवताओं ने जलती हुई लकड़ियों से आक्रमण कर शिव-गणों को मार भगाया ॥४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

•

१. सन्त संभु श्रीपति अपवाद। सुनिय जहाँ तहाँ असि मरजाद ॥  
काटिय तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूदि न त चलिय पराई ॥मानस, बालकाण्ड॥
२. यद्यपि भागवत में सती के शरीर के योगाग्नि में भस्म होने की बात कही गई है—“सद्यः प्रजज्ज्वाल समाधिजाग्निना” ॥२७॥ किन्तु स्कन्दपुराण के केदारखण्ड के अनुसार शिव जी के द्वारा कन्धे पर रक्खे सती के शव को भगवान् विष्णु अपने चक्र से खण्ड-खण्ड किये हैं—ऐसी बात कही गई है। सती के अंग जहाँ-जहाँ गिरे वहाँ-वहाँ पीठ तथा पुण्य क्षेत्र हो गये अतः सती के शरीर को भूमि पर गिरने की बात कहना ही ठीक होगा।



## पाँचवाँ अध्याय

( वीरभद्रकृत दक्ष-यज्ञ-विध्वंस और दक्ष-वध )

भगवान् शङ्कर कैलास पर बैठे कथा कह रहे थे । नारद वहाँ पहुँचे, शङ्कर को देखा । उन्होंने सोचा भगवान् शङ्कर को भगवती सती के शरीर-नाश की बात मालूम नहीं है । नारद ने शङ्कर को प्रणाम किया और आँखों में अश्रु भर कर दक्ष-यज्ञ में सती के भस्म होने की बात बतलाई । भगवान् एक क्षण मौन रह कर कुछ सोच रहे थे कि पुनः नारद ने कहा—प्रभो यज्ञवेदी से उत्पन्न ऋभुओं ने आप के गणों को पीट-पीट कर वहाँ से भगा दिया है । गणों के अपमान की बात जान कर शङ्कर को अपार क्रोध हुआ—

भवो भवान्या निधनं प्रजापतेरसत्कृताया अवगम्य नारदात् ।

स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरभुभिर्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे ॥४/५/१

उन्होंने उग्र रूप धारण कर क्रोध के मारे होठ चबाते हुए बिजली की तरह लपलपाती अपनी एक जटा उखाड़ कर अट्टहास करते हुए उसे भूतल पर पटक दिया । उससे विशालकाय वीरभद्र प्रकट हो गये । उनका शरीर इतना विशाल था कि वह स्वर्ग को छू रहा था । उनकी हजारों भुजाएँ थी । सूर्य के समान जलते हुए तीन नेत्र थे । अग्नि की ज्वाला की भाँति उनकी विकराल जटाएँ थीं । उनके गले में नरमुण्डों की माला थी । हाथ तरह-तरह के अस्त्र-शस्त्रों से विभूषित थे । उन्होंने हाथ जोड़कर भगवान् शङ्कर से पूछा—‘भगवन्, मैं क्या करूँ ? मेरे लिये क्या आदेश है ? तो भगवान् भूतनाथ ने कहा—‘वीरभद्र, तू मेरा अंश है । तू मेरे गणों का नायक बन कर जाओ यज्ञ को तहस-नहस कर दक्ष का विनाश कर दो—

तं किं करोमीति गृणन्तमाह बन्दाङ्गलिं भगवान् भूतनाथः ।

दक्षं सयज्ञं जहि मन्दानां त्वमग्रणी रुद्र भटांशको मे ॥४/५/४

भगवान् शङ्कर की आज्ञा पाकर वीरभद्र ने उनकी परिक्रमा की, उन्हें प्रणाम किया और फिर बड़े वेग से चल पड़े दक्ष-यज्ञ की ओर । उनके हाथ में लपलपाता हुआ त्रिशूल था । सहस्रों की संख्या में, अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित, गण उनके पीछे-पीछे चल रहे थे । वीरभद्र की विशाल रुद्र-सेना के चलने से आकाश-मण्डल धूलि से आच्छन्न हो गया ।

यज्ञशाला में बैठे हुए यजमान एवं सदस्यों ने देखा कि उत्तर की ओर धूलि का अम्बार उठ रहा है । वे लोग तर्क करने लगे क्या यह अन्धकार है अथवा धूलि है ? आँधी भी नहीं चल रही है । अभी गौओं को आने का समय भी नहीं हुआ है फिर यह धूलि कहाँ से उठ रही है ? क्या इसी समय संसार का प्रलय तो नहीं होनेवाला है ? तब दक्ष-पत्नी प्रसूति एवम् अन्य स्त्रियों ने व्याकुल होकर कहा—दक्ष प्रजापति ने अपनी सारी कन्याओं के समक्ष ही बेचारी सती का अपमान किया था । प्रतीत होता है यह उसी पाप का फल है । इन्होंने अपने आचरण से शङ्कर को कुपित किया है । असह्य तेजवाले भगवान् शङ्कर को बार-बार कुपित करनेवाला पुरुष साक्षात् विधाता ही क्यों न हो—उसका कभी कल्याण नहीं हो सकता—“स्यात् स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः” ॥११॥

यज्ञशाला में लोग इस प्रकार की चर्चा कर रहे थे कि इसी समय शङ्कर के अनुचरों की विशाल सेना ने आकर यज्ञ-मण्डप को चारों ओर से घेर लिया । किसी ने किनारे बँधे हुए बाँस को तोड़ डाला, किसी ने पत्नी शाला को नष्ट कर दिया, किसी ने अग्नियों को बुझा दिया । सारा यज्ञ-मण्डप तहस-नहस कर डाला गया । किसी ने खड़े होकर अग्निकुण्ड में पेशाब कर दिया तो किसी ने यजमान-पत्नियों को डराया-धमकाया । मणिमान् ने भृगु ऋषि को बाँध



लिया। वीरभद्र ने दक्ष को कैद कर लिया तथा चण्डी ने पूषा को और नन्दीश्वर ने भग देवता को पकड़ लिया। भृगु जी हाथ में सूवा लिये हवन कर रहे थे। वीरभद्र ने उनकी दाढ़ी-मूँछ नोच ली, क्योंकि इन्होंने प्रजापतियों की सभा में मूँछें ऐंठते हुए महादेव जी का उपहास किया था। पूषा के दाँत तोड़ डाले। भग की आँखों को निकाल लिया। दक्ष के पक्षधर तमाम देवताओं के अङ्गों को तोड़ दिया, मसल दिया।

वीरभद्र ने दक्ष को उठाकर जमीन पर पटक दिया। वे उसकी छाती पर चढ़ बैठे और निकाली तलवार। बार-बार प्रहार करने पर भी दक्ष की गर्दन जब नहीं कट सकी तो उन्होंने मरोड़ कर उसे तोड़ डाला और यज्ञकुण्ड में फेंक दिया—

आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना । छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशक्रोत् त्र्यम्बकस्तदा ॥४/५/२२

जुहावैतच्छिरस्तस्मिन् दक्षिणाग्नावमर्षितः ॥४/५/२६

वीरभद्र के इस कर्म को शङ्कर के गणों ने 'वाह-वाह' करके प्रशंसा की और दक्ष-दल में हाहाकर मच गया। यज्ञशाला की होलिका जला कर यज्ञ को विध्वस्त करके वीरभद्र कैलास को लौट गये—

तद्देवयजनं दग्ध्वा प्रातिष्ठद् गुह्यकालयम् ॥४/५/२६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

## छठा अध्याय

( ब्रह्मा आदि देवताओं का कैलास जाकर श्रीमहादेव जी को मनाना )

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, शङ्कर के गणों से पराजित छिन्न-भिन्न अङ्गवाले देवगण, भय से व्याकुल होकर, ब्रह्मा जी की शरण में पहुँचे और उन्हें प्रणाम कर दक्ष-यज्ञ की सारी घटना को कह सुनाया। भगवान् ब्रह्मा जी और सर्वान्तर्यामी नारायण पहले से ही इस भावी उत्पात को जानते थे, इसी से वे दोनों दक्ष के यज्ञ में नहीं गये थे—

उपलभ्य पुरैवैतद् भगवानब्जसम्भवः । नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः ॥४/६/३

देवताओं के मुख से दक्ष-यज्ञ की सारी घटनाओं को सुनकर ब्रह्मा जी ने कहा—“देवों, आप लोगों ने महान् अन्याय किया है, जो परम तेजस्वी शिव के भाग को यज्ञ में नहीं दिया। तेजस्वी व्यक्ति के प्रति अपराध करनेवाले का कल्याण नहीं होता। किन्तु भगवान् शङ्कर आशुतोष ठहरे, शीघ्र प्रसन्न होनेवाले हैं अतः आप सब उनके चरण को पकड़ कर उन्हें प्रसन्न करो—उनसे क्षमा-याचना करो। यज्ञ तो क्या, शङ्कर के कुपित होने पर सकल ब्रह्माण्ड का विनाश हो सकता है इसलिये यदि आप लोग यज्ञ की पूर्ति चाहते हो तो भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करो। भगवान् रुद्र परम स्वतन्त्र हैं। उनके तत्त्व और शक्ति-सामर्थ्य को कोई भी नहीं जानता। ऐसी अवस्था में उन्हें शान्त करने का उपाय कौन कर सकता है” ?

इस प्रकार कहकर ब्रह्मा जी, देवों, लोकपालों, ऋषियों और मुनियों आदि को लेकर भगवान् शङ्कर के प्रिय धाम कैलास पर्वत पर गये। कैलास का जो शृंग है, उसकी परछाई—प्रतिच्छाया मानसरोवर पर पड़ती है। इसी से उसको कहते हैं—केलास—के = जले लासः = नृत्यं यस्य स केलासः। जो पानी में नाचता है उसका नाम है—केलास 'केलास एव कैलासः' केलास को ही कैलास कहते हैं। कैलास की शोभा अद्भुत थी। उसके शिखरों पर मणियाँ झिलमिला रही थीं। विविध वृक्षों, निकुञ्जों, निर्मल निर्झरों से उसकी शोभा निरन्तर बढ़ रही थी। कन्दराओं



की विलक्षणता भी अवलोकनीय थी। सिद्धों की रमणियाँ अपने पतियों के साथ विहार कर रही थीं। विविध प्रकार के पक्षी अपने सुमधुर कूजित से चित्त को आह्लादित कर रहे थे। मन्दार, पारिजात, सरल, तमाल, शाल, ताड़, कचनार, असन और अर्जुन के वृक्षों से वह पर्वत अतिशय रमणीय प्रतीत हो रहा था। सती के स्नान करने से अतिशय पावन नन्दा और अलकनन्दा आस-पास कल-कल करती हुई बह रही थीं। वे तीर्थपाद श्रीहरि के चरण-रज के संयोग से अत्यन्त महिमा-मण्डित हैं। विदुर जी, रति-रङ्ग में श्रान्त हुई देवाङ्गनाएँ अपने पतियों के साथ इन्हीं नदियों में स्नान करती हैं, जल-क्रीडा करती हैं और उनके ऊपर जल के छीटे डालती हैं। वहीं पास में कुबेर की पुरी अलका और सौगन्धिक वन भी है। सौगन्धिक वन अनेकों कल्पवृक्षों से सुशोभित था। वहाँ विकसित कमलों से भरी हुई अनेक बावलियाँ थी। उनकी सीढियाँ वैदूर्य मणि की बनी हुई थीं। इन सबको देखते हुए देवता जब आगे बढ़े तो उन्होंने एक विशाल वट-वृक्ष<sup>१</sup> देखा। उसके नीचे भगवान् शङ्कर शान्तमुद्रा में विराजमान थे। सनकादि मुनीश्वर उनकी उपासना कर रहे थे। यक्षाधिपति कुबेर भी उनकी सेवा में संलग्न थे—

ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम् ॥

सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम् ।

उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम् ॥ ४/६/३३-३४

नारद ने भगवान् शङ्कर से कोई आध्यात्मिक प्रश्न कर दिया था। भगवान् शङ्कर उनके प्रश्न का उत्तर बड़ी ही शान्त मुद्रा में बैठ कर दे रहे थे। अनेक जन उनके वचनमृत का पान कर रहे थे। लोकपालों के सहित समस्त मुनियों ने मननशीलों में सर्वश्रेष्ठ भगवान् शङ्कर को हाथ जोड़ कर प्रणाम किया—

सलोकपाला मुनयो मनूनामाद्यं मुनं प्राञ्जलयः प्रणमुः ॥ ४/६/३९

शिव ने भी ब्रह्मा को प्रणाम कर सादर आसन पर बैठाया। तब ब्रह्मा ने भगवान् शङ्कर से कहना प्रारम्भ किया—  
“देव, मैं जानता हूँ, आप सकल जगत् के स्वामी हैं, साक्षात् ब्रह्म हैं। भगवन्, आप मकड़ी के समान ही अपने स्वरूपभूत शिव-शक्ति के रूप में क्रीडा करते हुए लीला से ही संसार की रचना, पालन और संहार करते रहते हैं। आपने ही वेद की रक्षा के लिये दक्ष को निमित्त बनाकर यज्ञ को प्रकट किया है। आपने ही वर्णाश्रम की मर्यादाओं की सृष्टि की है। नियमनिष्ठ ब्राह्मण इन्हीं का श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं। मङ्गलमय महेश्वर, आप ही शुभ कर्म करनेवालों को स्वर्गलोक अथवा मोक्ष प्रदान करते हैं। पापी आपकी ही प्रेरणा से नरकगामी बनते हैं”।

प्रभो, आप सर्वज्ञ हैं। भगवान् की दुस्तर माया की छाया भी आप की बुद्धि का स्पर्श नहीं कर पाती। कर्म-मार्ग में आसक्त व्यक्तियों से यदि कोई अपराध बन जाय तो भी उनपर आप को कृपा ही करनी चाहिये। भगवन्, आप सबके मूल हैं। आप ही सम्पूर्ण यज्ञों को पूर्ण करनेवाले हैं। यज्ञ-भाग के आप पूर्ण अधिकारी हैं। फिर भी दक्ष-यज्ञ में बुद्धिहीनों ने आप को भाग नहीं दिया, इसी से यह आप के द्वारा विध्वस्त किया गया है। अब आप इस अपूर्ण यज्ञ को पूर्ण करवाने की कृपा करें। प्रभो, ऐसा कीजिये जिससे यजमान दक्ष जीवित हो उठे, भग देवता को नेत्र मिल जाय, भृगु जी के दाढ़ी-मूँछ आ जाँय और पूषा के पहले की तरह दाँत निकल आयें। घायल जनों के छिन्न-भिन्न अङ्ग

१. गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि—अपने धर्म में अडिग श्रद्धा ही वटवृक्ष है—“वट विश्वास अटल निज धर्मा”। मानस। भागवत इस वटवृक्ष को महायोगमय और मुमुक्षुओं का आश्रयभूत बतलाता है—“तस्मिन् महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः” ॥३३॥



पूर्ववत् ठीक हो जाँय। यज्ञ सम्पूर्ण होने पर जो कुछ शेष रहे, वह सब आप का भाग होगा। यज्ञविध्वंसक, आज यह यज्ञ आप के ही भाग से पूर्ण हो—

एष ते रुद्रभागेऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै। यज्ञस्ते रुद्रभागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥४/६/५३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

•

## सातवाँ अध्याय

( शिवजी के प्रसन्न होने पर यज्ञ में विष्णु का प्रादुर्भाव, उनकी स्तुति और दक्ष-यज्ञ की पूर्ति )

मैत्रेय जी कहते हैं—“विदुर जी, ब्रह्मा जी के इस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान् शङ्कर प्रसन्न हो गये। हैंसते हुए उन्होंने कहा—ब्रह्मा जी, भगवान् की माया से मोहित हुए दक्ष जैसे नासमझों के अपराध की न तो मैं चर्चा करता हूँ और न याद ही। यह तो सुधार की दृष्टि से मैंने उसे थोड़ा-सा दण्ड दिया है—

नाथं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये। देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया ॥४/७/२

अब जैसी आप की इच्छा हो वैसा ही हो जायेगा। दक्ष का अपना शिर तो यज्ञ की अग्नि में जल कर राख हो गया। दक्षिणाग्नि में जिस शिर का हवन होना चाहिये था वह तो रह गया और जिस का नहीं होना चाहिये था उसका हो गया। अब जो बचा हुआ बकरे का शिर है, वह दक्ष के कन्धे से जुट जाय। वह अजमुख बन जाय।

हृदय—अब यहाँ एक बात सामने आती है कि शङ्कर जी ने दक्ष को बकरे का ही शिर क्यों दिया ? इसलिये दिया कि वह सर्वदा “मैं-मैं-मैं” बोलता रहता था, कहता रहता था कि यह मेरा है, वह मेरा है, यह मैं हूँ, वह मैं हूँ। इस प्रकार जो मे-मे माने मैं-मैं करने वाला है, मेरा-मेरा कहनेवाला है, वह तो बकरे की ही बोली बोलता है इसलिये मुँह भी बकरे का होना चाहिये। दूसरी बात यह है कि बकरा परम कामी होता है। दक्ष भी कामी ठहरा अतः उसके कन्धे पर बकरे का ही शिर लगना चाहिये। बकरा बकरी की योनि का उपासक होता है। भग देव अर्थात् भग नाम के सूर्यदेव मित्रदेवता के नेत्रों से अपना यज्ञभाग देखें। पूषा यजमान के दाँतों से भोजन करें अथवा पीस कर खायें और उन देवताओं के सारे छिन्न-भिन्न अङ्ग पूर्ण हो जायें जिन्होंने मुझे यज्ञ में भाग देना स्वीकार किया है। भृगु जी की ठोढ़ी में बकरे की दाढ़ी लगा दो। उसमें कोई बाल बड़ा और कोई छोटा रहेगा। ये अपनी दाढ़ी हिला-हिला कर गाली दिया करते थे अतः इनको बकरे की दाढ़ी लगनी चाहिये। यह दक्ष के बड़े हितैषी थे अतः दोनों में कुछ-न-कुछ समानता होनी चाहिये—एक में बकरे का मुख और दूसरे में बकरे की दाढ़ी।

इसके बाद सब देवता और ऋषि आदि शङ्कर जी को साथ लेकर यज्ञ-स्थान में गये। वहाँ भगवान् शिव के कथनानुसार बकरे का शिर दक्ष के धड़ से जोड़ दिया गया। वे शङ्कर जी की दृष्टि पड़ते ही सोकर जागने के समान जीवित होकर उठ बैठे। सामने उन्होंने देखा कि भगवान् शङ्कर खड़े हैं। दक्ष का शङ्करद्रोह की कालिमा से कलुषित हृदय, उनका दर्शन करने मात्र से, शरत्कालीन सरोवर की भाँति स्वच्छ हो गया। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा

१. “उच्छिष्टः स्विष्टकृन्दागः।” अग्नि में आहुति डालकर जो स्विष्टकृन्दाग अलग रक्खा जाता है वह उच्छिष्ट—‘उत् उक्तृष्टः शिष्टः उच्छिष्टः स्विष्टकृन्दागः’ है। वह शङ्कर का भाग है। उच्छिष्ट का अर्थ जूठन नहीं करना चाहिये। उच्छिष्ट के बिना यज्ञ अपूर्ण माना गया है।



बह निकली। अपनी प्राण-प्रिया पुत्री सती के स्मरण से उनका कण्ठ भर गया। हाथ जोड़ कर गद्गद वाणी से शङ्कर की स्तुति करते हुए उन्होंने कहा—

संदधु कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः ॥

सन्धीयमाने शिरसि दक्षो रुद्राभिवीक्षितः । सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम् ॥

तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः । शिवावलोकदभवच्छरद्गद इवामलः ॥

भवस्तवाय कृतधीर्नाशक्रोदनुरागतः । औत्कण्ठ्याद्वाष्पकलया सम्परेतां सुतां स्मरन् ॥

४/७/८-११

प्रभो, आपका मेरे ऊपर महान् अनुग्रह है। मैंने आप का प्रबल अपराध किया था किन्तु आपने दण्ड देकर मुझे शुद्ध कर दिया, नरक जाने से रोक लिया और दर्शन देकर कृतार्थ भी किया। ब्राह्मणों की सृष्टि आपने वेदों की रक्षा के लिये की है। आप नाममात्र के ब्राह्मणों को भी नहीं भूलते हैं—फिर हम जैसे यज्ञ-यागादि करनेवालों को क्यों भूलेंगे ? मैं आप की शरण में आया हूँ। आप मेरे अपराधों को क्षमा करें। आप को प्रसन्न करने के लिये मेरे पास कोई गुण नहीं है; बस, आप अपने ही उदारतापूर्ण बर्ताव से मुझ पर प्रसन्न हों—

दृष्ट्वाऽऽर्द्रया स भगवान् स्वकृतेन तुष्येत् ॥४/७/१५

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, इस प्रकार भगवान् शिव से बार-बार क्षमा मांग कर दक्ष ने ब्रह्मा की अनुमति से अपना यज्ञ पुनः प्रारम्भ किया। उस समय ब्राह्मणों ने, रुद्रगणों के संसर्ग से दूषित यज्ञ की विशुद्धि के लिये, तीन पात्रों में विष्णु भगवान् के निमित्त तैयार किये गये पुरोडाश नामक चरु का हवन किया, यज्ञमान ने हाथ जोड़ कर यज्ञपति भगवान् विष्णु का ध्यान किया। इससे साक्षात् भगवान् श्रीहरि गरुड पर सवार होकर वहाँ प्रकट हुए। उनका वर्ण श्याम था, वे पीताम्बर धारण किये हुए थे, कमर में सुवर्ण की करधनी विराजमान थी, सूर्य के समान चमकता हुआ मुकुट उनके शिर पर शोभायमान था, मुखकमल भौरों के समान नीली अलकावली से मण्डित था, कान्तिमय कुण्डल उनके कानों में लटक रहे थे। भुजाएँ सुवर्णाभूषणों से मण्डित थीं। वे अष्टभुजाधारी थे। हाथों में शङ्ख, चक्र आदि सुशोभित हो रहे थे। उनकी कान्ति फूले हुए कनेर के समान थी—

श्यामो हिरण्यरश्नोऽर्ककिरीटजुष्टो नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः ।

कम्बोजचक्रशरचापगदासिचर्मव्यग्रैर्हिरण्यभुजैरिव कर्णिकारः ॥४/७/२०

भगवान् श्रीहरि के आते ही सारी दिशाएँ प्रकाश से भर गईं। भगवान्, विष्णु का श्रीविग्रह निरख कर सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। भगवान् पधारे हैं—यह देख कर इन्द्र, ब्रह्मा और महादेव आदि देवैश्वरों के साथ सभी लोग सहसा उठ खड़े हुए और हाथ जोड़ कर उनकी स्तुति करने लगे—

सबसे पहले प्रजापति दक्ष एक उत्तम पात्र में पूजा की सामग्री लेकर नन्द-सुनन्द आदि पार्वदों से घिरे हुए, प्रजापतियों के परम गुरु, भगवान् यज्ञेश्वर के पास गये और अत्यन्त आनन्द में भर कर विनीत भाव से हाथ जोड़कर प्रभु के शरणपत्र हुए—

दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम् ।

सुनन्द-नन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा गृणन् प्रपेदे प्रयतः कृताञ्जलिः ॥४/७/२५

स्तुति करते हुए दक्ष ने कहा—आप चिन्मात्र अभय ब्रह्म हैं। आप में माया का लेश भी नहीं है। आज आप ने इस श्रीविग्रह के दर्शन से मुझे कृतार्थ किया है। मैं आप को प्रणाम कर रहा हूँ।

ऋत्विजों ने कहा—महाराज, हम तो बहुत दुराग्रही हैं। रुद्र के शाप से यह यज्ञ-कर्म बिगड़ गया था लेकिन आपने इसकी फिर से रक्षा कर दी हम आप को नमस्कार करते हैं।



सदस्यों ने कहा—प्रभो, यह अज्ञानी जीव-समूह देह-गेह और विषयों में आसक्त होकर इस घोर संसाररूपी जङ्गल में भटक रहा है। अनेक प्रकार के कष्ट इसे परेशान कर रहे हैं। इसका उद्धार कर आप इसे अपने चरण-कमलों की शरण में ग्रहण करें।

रुद्र ने कहा—स्वामिन्, मेरा मन-भ्रमर सकल मनोरथ सिद्ध करनेवाले आपके चरण कमल में नित्य लीन रहा करता है अतः अज्ञानी जन मुझे आचार-भ्रष्ट कहते हैं, तो कहा करें। आप के अनुग्रह से मैं उनके कहने-सुनने का कोई विचार नहीं करता, उस पर ध्यान नहीं देता।

भृगु जी ने कहा—आप की माया से मोहित ब्रह्मा आदि देहधारी भी आप के तत्त्व को ठीक-ठीक अभी तक नहीं समझ सके हैं। इस प्रकार मन और बुद्धि से परे होने पर भी आप अपने शरणागत भक्तों के आत्मा और सुहृद् हैं अतः आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये।

ब्रह्मा ने कहा—प्रभो, आप मायामय प्रपञ्च से परे हैं। आप माया के कार्य विषय और इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं—ये सब आपमें अध्यस्त हैं। आप कार्य से परे सब के मूल कारण हैं।

इन्द्र ने कहा—देव-द्रोहियों का संहार करनेवाला आप का यह श्रीविग्रह नाना आयुधों को धारण करनेवाली आठ भुजाओं से सुशोभित है। आप का रूप हमारे मन और नेत्र को परम आनन्द प्रदान करनेवाला है।

याज्ञिकों की पत्नियों ने कहा—स्वामिन्, आप की आराधना के लिये ही ब्रह्माजी ने इस यज्ञ की रचना की थी किन्तु भगवान् शङ्कर ने इसे तहस-नहस कर दिया है। अब आप अपने कमल-नयन से निहार कर इसे पवित्र कर दीजिये। हम आप को प्रणाम कर रही हैं।

ऋषियों ने कहा—प्रभो, आप की लीला अद्भुत है। कर्म करते हुए भी आप उनसे निर्लिप्त रहते हैं। सारा संसार विभूति की कामना से जिस लक्ष्मी जी की उपासना करता है, वे आप की पूजा में निरत रहती हैं फिर भी आप उन पर ध्यान नहीं देते हैं, उनसे निःस्पृह ही बने रहते हैं।

सिद्धों ने कहा—भगवान्, आप की लीला-चरित्र की उज्ज्वल सुधा-सरिता में हमारा मनोमयरूप हाथी सदा डूबता-उतराता रहता है। कथा सुनने की इसकी तृष्णा समाप्त ही नहीं होती। अतः अब उसका भवाग्नि का दाह समाप्त हो गया है और वह आनन्द-सिन्धु में डूबा हुआ है। इसीलिये वह वहाँ से निकलना नहीं चाहता है—

अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः ।

तृषातोऽवगाढो न सस्मार दावं न निष्कामति ब्रह्मासम्पन्नवन्नः ॥४/७/३५

यजमान की पत्नी ने कहा—सर्वसमर्थ परमेश्वर आप का स्वागत है। मैं आप को प्रणाम करती हूँ। आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये। लक्ष्मी जी के सहित आप हमारी रक्षा करें। सब प्रकार से परिपूर्ण भी यज्ञ आप के बिना वैसे ही सुशोभित नहीं होता जैसे शिर-विहीन धड़—

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः ।

त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्यजः शोभते शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः ॥४/७/३६

लोकोपालों ने कहा—वस्तुतः आप हैं तो पञ्चभूतों से पृथक् फिर भी पाञ्चभौतिक शरीरों के साथ जो आप का सम्बन्ध प्रतीत होता है, यह सब आप की माया ही है।

योगेश्वरों ने कहा—स्वामिन्, ज्ञानियों की भाँति आप अपने भक्तों पर भी कृपा कीजिये। आप ही विभिन्न रूप धारण कर संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं। इसी से लोगों में आप भेदबुद्धि पैदा कर देते हैं। वस्तुतः भेद-ज्ञान और गुणों से आप सर्वथा दूर हैं। आप को हमारा नमस्कार है।



ब्रह्मस्वरूप वेद ने कहा—निर्गुण होते हुए भी आप धर्म आदि की उत्पत्ति के लिये ही सत्त्व को स्वीकार करते हैं अतः आप का तत्त्व कोई नहीं जानता। हम आपको प्रणाम करते हैं।

अग्नि ने कहा—प्रभो, आप के तेज से समृद्ध होकर ही मैं द्रव्य को देवताओं के पास तक पहुँचाता हूँ। यज्ञ आप के स्वरूप हैं। यजुर्वेद के मन्त्रों से आपका ही पूजन होता है। मैं आप को प्रणाम करता हूँ।

देवताओं ने कहा—प्रलय काल में सारे विश्व को अपने उदर में धारण कर, प्रलयकालीन जल के भीतर शेष-शय्या पर जो शयन करते हैं वहीं आप आज हमारे नेत्रों के विषय बन कर भक्तों की रक्षा कर रहे हैं।

गन्धर्वों ने कहा—प्रभो, ऋषि तथा देव आप के अंश के अंश हैं। सम्पूर्ण विश्व आप की क्रीडास्थली है, खेल सामग्री है। ऐसे आप को हम सर्वदा प्रणाम करते हैं।

विद्याधरों ने कहा—मानव शरीर परम पुरुषार्थ का साधन है। इसे प्राप्त कर भी जीव मायावश मैं—मेरे पन का अभिमान कर बैठता है। आपका कथामृत अन्तःकरण के मोह का विनाशक है।

ब्राह्मणों ने कहा—यज्ञ में जितनी भी वस्तुएँ होती हैं, वह सब आप ही हैं। क्रतु आप हैं। हविष्म आप हैं। अग्नि आप हैं। मन्त्र आप हैं। समिधा आप हैं। दर्भपात्र आप हैं। सब कुछ आप ही हैं। जीवों के कल्याण के लिये रसातल से पृथिवी का उद्धार आपने ही किया है—

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च ।

त्वं सदस्यत्विजो दम्पती देवता अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः ॥

त्वं पुरा गां रसाया महामूकरो द्रंष्टृया पश्चिनीं वारणेन्द्रो यथा ।

स्तूयमानो नदेल्लीलया योगिभिर्व्युज्जहर्था त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः ॥४/७/४५-४६

ब्राह्मणों ने आगे कहा—यज्ञेश्वर, जब लोग आप के नाम का कीर्तन करते हैं, तब यज्ञ के समस्त विघ्न विनष्ट हो जाते हैं। हमारा यह सत्कर्मरूप यज्ञ नष्ट हो गया था अतः हम आप के दर्शनों की इच्छा कर रहे थे। अब आप हम लोगों पर प्रसन्न होइये। आप को हमारा प्रणाम है—

स प्रसीद त्वमस्माकमाकाक्षतां दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम् ।

कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ॥४/७/४७

ऊपर के पहले श्लोक से यज्ञ की सम्पूर्ण सामग्री को भगवत्स्वरूप बतलाया गया है। दूसरे श्लोक में पृथिवी के उद्धार की बात कह कर प्राणियों पर उनकी दयालुता की बात प्रकट की गई है और इस तीसरे श्लोक से याज्ञिकों की शान्ति की प्रार्थना की गई है। इस प्रकार दक्ष सहित उन्नीस स्तुति करनेवाले लोगों और लोगों के समूहों ने अलग-अलग भगवान् विष्णु की स्तुति की।

मैत्रेय जी कहते हैं—मैया विदुर, जब सभी लोग यज्ञ-रक्षक भगवान् विष्णु की इस प्रकार स्तुति करने लगे, तब परम चतुर दक्ष ने वीरभद्र के द्वारा ध्वंस किये गये यज्ञ को पुनः प्रारम्भ कर दिया। भगवान् विष्णु ने अपना यज्ञ-भाग ग्रहणकर दक्ष से कहा—देखो दक्ष, एक बात तुम अपनी बुद्धि में धारण कर लो। मैं, ब्रह्मा और शङ्कर ये तीनों एक ही हैं। एक ही तत्त्व सृष्टि, स्थिति और संहार रूप से, संसार के कारण, तीन रूपों को धारण करता है। वस्तु एक है, रूप तीन है। इसलिये जो इन तीनों देवों में भेद-बुद्धि करता है, वह अज्ञानी है—  
“भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति” ॥५२॥ जिस प्रकार मनुष्य अपने शिर-पाँव आदि अङ्गों में ‘ये मुझसे भिन्न हैं’ ऐसी धारणा कभी नहीं करता, उसी प्रकार मेरा भक्त प्राणिमात्र को मुझ से अलग नहीं देखता। हम तीनों में अभेद बुद्धि रखने वाला व्यक्ति परम शान्ति की अनुभूति करता है। यह कह कर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये फिर दक्ष ने सभी



देवों का पूजन किया। वे प्रसन्न होकर दक्ष को आशीष देते हुए अपने-अपने लोकों को चले गये। विदुर जी, यही सती अगले जन्म में हिमालय की पत्नी मेना के गर्भ से पार्वती के रूप में जन्मी। उन्होंने तप के प्रभाव से पुनः पति के रूप में भगवान् शङ्कर को ही प्राप्त किया।

जो व्यक्ति भक्ति-भाव से भगवान् शिव के इस चरित्र को प्रतिदिन सुनता और कहता है, उसकी पापराशि विनष्ट हो जाती है एवं और वह अपने सकल मनोरथों को पा लेता है, त्रिदेवों में उसकी समबुद्धि भी हो जाती है<sup>१</sup>—

इदं पवित्रं परमेशचेष्टितं यशस्यमामुष्यमघौघमर्षणम् ।

यो नित्यदाऽऽकर्ण्य नरोऽनुकीर्तयेद् ध्रुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः ॥४/७/६१

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

•

## आठवाँ अध्याय

( विमाता के निर्मम वचनों से विद्ध ध्रुव का वन-गमन )

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, ब्रह्मा के पुत्र सनकादि, नारद, ऋषु, हंस, अरुणि और यति नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। इन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया अतः उनके कोई सन्तान नहीं हुई। अब अधर्म के वंश की बात सुनो। अधर्म भी ब्रह्मा जी के शरीर से उत्पन्न होता है अतः यह भी उनका पुत्र ही है। ब्रह्माजी के स्तन से धर्म की उत्पत्ति हुई और पीठ से अधर्म पैदा हुआ। अधर्म की पत्नी का नाम था—मृषा। मृषा माने झूठ, असत्य। जहाँ अधर्म होगा वहाँ झूठ अवश्य रहेगा। पति-पत्नी दोनों ही साथ रहते थे। इनकी दो सन्तानें थी—एक दम्भ और दूसरी माया। दम्भ और माया का परस्पर विवाह भी हो गया अतः ये दोनों भाई-बहन थे और पति पत्नी भी। इनको निरुद्धि ने गोद ले लिया तो उनसे लोभ और कृपणता की उत्पत्ति हुई। उनसे क्रोध और हिंसा ने जन्म लिया। जब क्रोध और हिंसा का आपस में विवाह हुआ तो उनसे दुरुक्ति और कलि जन्मे। दुरुक्ति माने दुर्वचन और कलि माने कलह। इनका आपस में विवाह हुआ। उनसे भय और मृत्यु ने जन्म लिया। भय और मृत्यु से यातना और नरक की उत्पत्ति हुई यही है अधर्म की वंशावली। इसे सुनने से मन की मैल दूर होती है।

१.क. हृदय—दक्ष का शिव के साथ द्वेष का कारण—एक बार महर्षि दुर्वासा दक्ष के घर पधारे। दक्ष ने बड़ी तत्परता से उनका सत्कार किया। प्रसन्न हो ऋषि ने उन्हें प्रसादरूप में देवी की माला दी। इस माला को दक्ष ने अपनी पलंग पर रख कर रात्रि में पत्नी के साथ शयन किया। उसी रात्रि में सती प्रसूति की कोख में आई। देवी की माला के इस अनादर के कारण ही दक्ष के मन में शिव और अपनी बेटी सती के साथ दुर्भावना ने जन्म लिया।

१.ख. दक्ष का अज मस्तक होना—शिव से द्वेष की बेला में दक्ष 'अजमस्तक' था। उस समय 'अजमस्तक' का अर्थ था—अजा=माया मस्तके यस्यासौ अर्थात् जिसके शिर पर माया नाच रही थी वह दक्ष। माया के प्रभाव के कारण ही उसने शिव में तुच्छ बुद्धि बना ली थी। बकरे का शिर लग जाने पर वह 'अज-मस्तक' = बकरे का शिर वाला हो गया। दण्ड मिल जाने पर शिव में ब्रह्म-बुद्धि हो गई दक्ष की। उस समय इसका अर्थ होगा—अजः = ब्रह्मरूपः शिवो मस्तके यस्यासौ अजमस्तकः।



अब हम फिर से स्वायम्भुव मनु के वंश के वर्णन की ओर चलते हैं। स्वायम्भुव मनु के दो पुत्र थे—एक प्रियव्रत और दूसरे उत्तानपाद। प्रियव्रत की कथा पञ्चम स्कन्ध में आयेगी। ये दोनों भगवान् की कला से ही उत्पन्न हुए थे। उत्तानपाद का अर्थ है—जीव<sup>१</sup>। माँ के गर्भ में शिशु ऊपर की ओर पैर और नीचे की ओर शिर करके रहता है। प्रत्येक मानव-शिशु पैदा होने की बेला में शिर के ही बल पैदा होता है। इसका अपवाद कभी-कभी ही देखने में आता है। उत्तानपाद की दो पत्नियाँ थीं। बड़ी का नाम था सुनीति और छोटी का नाम था—सुरुचि। सुनीति ही प्रधान रानी थी। राजा को छोटी रानी ही अधिक प्रिय थी, सुनीति नहीं। सुनीति का ही बेटा था—ध्रुव<sup>१</sup>।

एक दिन की बात है। राजा उत्तानपाद राजसिंहासन पर बैठे हुए थे। सुरुचि राजा के पास में बैठी थी। राजा सुरुचि के बेटे उत्तम को गोद में लेकर दुलार कर रहा था। उसी समय महारानी सुनीति का बेटा ध्रुव वहाँ आया। उसने देखा कि उसका छोटा भाई महाराज की गोद में खेल रहा है। अतः वह भी राजा की गोद में चढ़ने का प्रयास करने लगा। किन्तु सुरुचि के डर के मारे राजा ने उसका आदर नहीं किया। राजा की गोद में बैठने का प्रयास करते हुए अपनी सौत के पुत्र ध्रुव को सुरुचि ने देखा। वह अपने यौवन और सौन्दर्य के मद से मतवाली थी। राजा मेरे सौन्दर्य का दास है—इसका उसे महान् अभिमान था। अतः उसने राजा को सुनाकर ध्रुव से कहा—‘बेटा, तुम मेरी कोख से जन्म नहीं लिये हो इसलिये राजा की गोद में बैठने का अधिकार तुम्हें नहीं है, यदि राजसिंहासन पर चढ़कर तुम राजा की गोद में बैठना चाहते हो तो तपस्या करो। तपस्या से जब भगवान् प्रसन्न हों तो उनसे मेरी कोख से जन्म लेने का वरदान मांगो<sup>१</sup>—

जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः । सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥  
 एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्गमारोप्य लालयन् । उत्तमं नारुक्षन्तं ध्रुवं राजाऽभ्यनन्दत ॥  
 तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्यास्तनयं ध्रुवम् । सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेष्यमाहातिगर्विता ॥  
 न वत्स नृपतेर्धिष्यं भवानारोढुमर्हति । तपसाराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रेहेण मे ।  
 गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम् ॥ ४/८/८, ९, १०, ११, १३

१. हृदय-उत्तानौ पादौ यस्यासौ उत्तानपाज्जीवः ।
२. संसारी जीव की दो प्रकार की बुद्धि-वृत्तियाँ होती हैं—सुनीति और सुरुचि, सुनीति का अर्थ है—सन्मार्ग पर ले चलने वाली बुद्धि। ध्रुव सन्मार्गगामिनी, बुद्धि का फल है, बेटा है। ध्रुव का अर्थ है अटल, ब्रह्म। सुरुचि जीव को मनमानी ढंग से ले चलानेवाली बुद्धि है। मनमानी मार्ग पर चलना ही जीव को प्रिय है। अतः सुरुचि उत्तानपाद को प्रिय थी। सुरुचि का बेटा था—उत्तम, यहाँ उत्तम का अर्थ है—उत् = ऊर्ध्व तमः = अन्धकारो यस्यासौ। जिसे ऊपर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखलाई पड़ता है, वह है उत्तम। उत्तानपाद को, संसारी जीव को सुरुचि और उत्तम अधिक प्रिय होते हैं। यह है इस कथा का गूढ़ अर्थ।
३. क. सुरुचि के कथन का अभिप्राय यह है कि मेरे पेट में आना भगवत्कृपा से बड़ी बात है। भगवत्कृपा से राज्यासन पर तुम नहीं बैठ सकते। उसके लिये तो मेरे पेट से जन्म लेना ही पड़ेगा।
- ख. उक्त बात कह कर सुरुचि ने भगवान् का अपराध कर दिया। इसका फल यह हुआ कि उसे पुत्र का मरण देखना पड़ा और वह भरी जवानी में मृत्यु का ग्रास बन गई।
- ग. शिशु भगवान् का रूप होता है। उसका अपमान भगवान् का अपमान है। यह दूसरी गलती थी सुरुचि की।
- घ. राजा जीव है। ध्रुव ब्रह्मानन्द है, भजनानन्द है। जब जीव ब्रह्म से मिलना चाहता है तब सुरुचि = इन्द्रियाँ, इन्द्रियों की लोलुपता उस में विघ्न करती है। यही कारण है कि सुरुचि ब्रह्मानन्द को जीव = राजा से मिलने में बाधा बन रही है।



ऐसा कह कर सुरुचि ने राजा के धौत-वस्त्र को पकड़े हुए ध्रुव के हाथ को झटक दिया। ध्रुव ने एक क्षण के लिये राजा के मुख को देखा। वह सोच रहे थे कि कदाचित् राजा सुरुचि को झिड़कें—“सुरुचि यह क्या कर रही हो। बालक का अपमान मत करो।” किन्तु राजा कुछ बोले नहीं, मानो उनकी जीभ को लकवा मार गया हो। वे सब कुछ सहन करते रहे फिर जिस प्रकार डंडे की चोट खाकर साँप फुफकार मारने लगता है, उसी प्रकार अपनी सौतेली माँ के दुर्वचनों से बिंधे हृदयवाले ध्रुव क्रोध के मारे लम्बी-लम्बी साँस लेते हुए पिता को छोड़ कर रोते हुए अपनी माँ सुनीति के पास चले गये। माँ का आँचल बालक के लिये सर्वोपधि का कार्य करता है—

मातुः सपत्न्याः स दुरुक्तिबिन्दः श्वसन् रुषा दण्डहतो यथाहिः ।

हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं जगाम मातुः प्ररुदन् सकाशम् ॥४/८/१४

उनके दोनों ओठ फड़क रहे थे वह सिसक-सिसक कर रो रहे थे। सुनीति ने बेटे को गोद में उठा लिया। वह पूछने लगी—‘बेटा, क्यों रो रहे हो?’ ध्रुव समझदार थे। वह देखते थे कि सुरुचि उनकी माँ महारानी को किसी-न-किसी बहाने रोज डाटा करती है। ध्रुव सोचने लगे कि यदि सौतेली माँ की बात बतलाऊंगा तो माँ को महान् कष्ट होगा अतः वे चुप ही रहे। किन्तु दास-दासियों ने धीरे से सारी घटना सुनीति को बतला दी। उसका धैर्य टूट गया। वह अपना कष्ट तो सह सकती थी किन्तु उसे अपने कलेजे के टुकड़े का अपमान बर्दास्त न था। वह दावानल से झुलसी हुई लता की भाँति भूतल पर गिर कर विलाप करने लगी। सौत की बात याद करके उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उस बेचारी को अपने दुःख-सागर का पार कहीं दिखलाई न पड़ रहा था। लम्बी-लम्बी साँसें लेती हुई उसने कहा—“मेरे लाल, तू दूसरों के किसी प्रकार के अमङ्गल की कामना मत कर। जो मनुष्य दूसरों को दुःख देता है उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है। सुरुचि ने जो कुछ कहा है, वह ठीक ही है। मुझ मन्दभागिनी की कोख से तू पैदा हुआ है और मेरी छाती के दूध से पला हुआ है। सुरुचि के रोकने से राज्य की ओर से तुझे स्वल्प भी दूध सुलभ न था। महाराज मुझे अपनी विवाहिता पत्नी भी कहने में लजाते हैं”।

बेटा, सुरुचि ने तेरी सौतेली माँ होने पर भी बात बिलकुल ठीक ही कही है अतः यदि राजकुमार उत्तम के समान राज-सिंहासन पर बैठना चाहता है तो द्वेष-भाव छोड़कर उसी का पालन कर। बस, भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमल की आराधना में लग जा। संसार का पालन करने के लिये मङ्गलमय सगुण मूर्ति को धारण करनेवाले श्रीहरि के चरणों की आराधना करके ही तेरे परदादा ब्रह्मा जी ने वह सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त किया है, जो मन और प्राणों को वश में करनेवाले मुनियों के लिये भी वन्दनीय है। इसी प्रकार तेरे दादा स्वायम्भुव मनु ने भी बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं वाले यज्ञों के द्वारा अनन्य भाव से उन्हीं भगवान् की आराधना की थी। इसका फल यह हुआ कि दूसरों के लिये अति दुर्लभ लौकिक और पारलौकिक सुखों को भोग कर उन्होंने मोक्ष-पद को प्राप्त किया।

इसलिये बेटा, तू भी उन्हीं भक्त-वत्सल भगवान् की शरण में जा। जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटने की इच्छावाले मुमुक्षु-जन निरन्तर उन्हीं के चरण-कमल के मार्ग का अन्वेषण किया करते हैं। तू अपने धर्म के पालन करने के कारण पवित्र मन में उन्हीं भगवान् को बैठा कर, अनन्य भाव से, एकमात्र उन्हीं का भजन-चिन्तन कर—

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं मुमुक्षुभिमृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।

अनन्यभावे निजधर्मभाविते मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥४/८/२२

बहुत सूक्ष्मरूप से विचार करने पर भी, कमलपत्र की भाँति विशाल लोचन वाले उन भगवान् को छोड़कर किसी



दूसरे को तेरा दुःख काटनेवाला नहीं देख पा रही हूँ। ब्रह्मादि बड़े-बड़े देवता जिसकी खोज किया करते हैं वह लक्ष्मी भी हाथ में पूजा का कमल लेकर निरन्तर उन्हीं भगवान् का अन्वेषण किया करती हैं अतः अपने कष्ट के निवारण के लिये तू उन्हीं भगवान् की शरण ग्रहण कर—

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद् दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन ।

यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया श्रियेतैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥४/८/२३

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, माता के कल्याणकारी वचन को सुनकर, अपने आप चित्त को ढाँढस बँधाकर ध्रुव पिता के नगर से तुरन्त निकल गये। मार्ग में प्रभु की कृपा से ध्रुव की नारद जी से भेंट हुई। ध्रुव नें संस्कारवश मुनि को प्रणाम किया। नारद ने ध्रुव के मस्तक पर अपना पापनाशक कर-कमल फेरते हुए मन-ही-मन विस्मित होकर कहा—“अहो, क्षत्रियों का कैसा अद्भुत तेज है। वे स्वल्प भी अपमान सहन नहीं कर सकते। देखो, यह अभी नन्हा-सा बच्चा है तो भी इसके हृदय में सौतेली माता के कटु वचन घर कर गये हैं। उन्होंने कहा—बेटा, अभी तो यह तुम्हारी खेलने-खाने की अवस्था है अतः तुम्हें मान-अपमान का विचार नहीं करना चाहिये। उन्होंने “स्थूणा-निखनन-न्याय”<sup>१</sup> से हिला-डुलाकर ध्रुव के मन को टटोलते हुए कहा—“बेटा, अभी तो तू बच्चा है। खेलने-कूदने में ही मस्त रहने की यह तेरी अवस्था है। हम नहीं समझते कि इस उम्र में किसी बात से तेरा सम्मान या अपमान हो सकता है। भगवान् की आराधना बड़ी कठिन है—“यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम” ॥३०॥ भविष्य में समय आने पर तुम उनकी आराधना करना। भाग्यवश सुख-दुःख जो कुछ आ पड़े उसे धैर्य के साथ सहना चाहिये, उससे विचलित होना समुचित नहीं है।

अपने से अधिक गुणशाली को देखकर प्रसन्न होना चाहिये। गुणहीन को देखकर उस पर दया करनी चाहिये। उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। अपने समान-शील व्यक्ति को पाकर उससे मित्रता करनी चाहिये, न कि स्पर्धा। ऐसा आचरण करने वाला व्यक्ति तापों से व्यथित नहीं होता—

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् । मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥४/८/३४

ध्रुव ने नारद के वचन को सुनकर विनम्रता से कहा—आप ने शान्ति की जो बातें कही हैं वे संन्यासियों के लिये हैं किन्तु मेरे जैसे लोगों की दृष्टि यहाँ तक नहीं पहुँच पाती। मैं क्षत्रिय हूँ। सुरुचि के दुर्वचनरूपी बाणों से छलनी हुए मेरे हृदय में आप का यह उपदेश एक क्षण के लिये भी नहीं उहरता है। ब्रह्मन्, मैं उस पद पर अधिकार करना चाहता हूँ जो त्रिलोकी में सबसे श्रेष्ठ है तथा जिस पर मेरे बाप-दादे और दूसरे कोई भी आरूढ नहीं हो सके हैं। आप मुझे उसी की प्राप्ति का मार्ग बतलाइये। आप संसार के कल्याण के लिय सूर्य की भाँति बीणा बजाते हुए सतत भ्रमण किया करते हैं।

मैत्रेय जी कहते हैं—ध्रुव की बात सुनकर नारद प्रसन्न हो उठे। कृपापूर्वक सदुपदेश देते हुए बोले—

प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया ॥४/८/३९

नारद ने कहा—बेटा, तेरी माता सुनीति ने तुझे जो कुछ बतलाया है, वही तेरे लिये कल्याण का सर्वोत्तम मार्ग है। भगवान् वासुदेव ही कल्याण के सबसे बड़े साधक हैं अतः एकाग्र चित्त से तू उन्हीं का भजन करो—

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते । भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना ॥४/८/४०

१. पशुओं को बाँधने के लिये खूँटा गाड़ा जाता है। गाड़ने वाला एक हाथ से खूँटे पर मुँगरी मारता जाता है और दूसरे से उसे हिलाता जाता है। हिलाता यह देखने के लिये है कि यह मजबूती से गड़ा या नहीं। इसी को कहते हैं—“स्थूणा-निखनन-न्याय” ।



धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं। जो व्यक्ति इनमें से किसी की भी अभिलाषा करता हो तो उसे चाहिये कि वह भगवान् श्रीहरि के चरण-कमल का सेवन करे—

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः । एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥४/८/४१

तो बेटा, यमुना के पवित्र तट मधुवन (वृन्दावन) में तुम चले जाओ। वहाँ भगवान् श्रीहरि का नित्य निवास रहता है। वहाँ श्री यमुना जी के पावन जल में तीनों समय स्नान कर, यम-नियमादि साधनों से मन को वश में करके, भगवान् की मूर्ति को हृदय में धारण कर, द्वादशाक्षर मन्त्र का जप करो। यह कहकर देवर्षि नारद ने ध्रुव को मन्त्र का उपदेश दिया, भगवान् के मधुर मनोहर रूप का वर्णन किया और पूजा की सारी विधि बतलाई। ध्रुव ने यह सोचा कि कहीं नारद यह न कहें कि—‘बेटा, तुम हमारे आश्रम पर चलकर रहो। वहीं हरि की आराधना करना’ अतः ज्यों ही नारद ने अपनी बात समाप्त की, ध्रुव ने झटपट उनकी परिक्रमा की, प्रणाम किया और चल पड़े श्रीहरि के चरण-चिह्नों से अलङ्कृत वृन्दावन के लिये—

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्धकः । ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम् ॥४/८/६२

ध्रुव के चले जाने पर नारद जी वहाँ से राजा उत्तानपाद के भवन में गये। देवर्षि नारद को आता देखकर राजा ने उनकी अगवानी की, सादर आसन पर बैठाया और की उनकी विधिवत् पूजा। कुशल-प्रश्न के बाद नारद ने राजा के मुख पर फैली हुई उनकी उदासी का कारण पूछा। इस पर दुःखित राजा ने कहा—‘भगवन् मैं बड़ा ही स्त्री-लम्पट और निर्दयी हूँ। मैंने अपने पाँच वर्ष के नन्हें से बच्चे को घर से निकाल दिया। मुनिवर, वह बड़ा ही बुद्धिमान् था। उसका कमल-सा मुख भूख से कुम्हला गया होगा। वह थक कर कहीं रास्ते में पड़ गया होगा। ब्रह्मन्, उस असहाय बच्चे को वन में कहीं भेड़िया न खा जाँय। अहो ! मैं कैसा स्त्री का गुलाम हूँ ! मेरी कुटिलता तो देखिये—वह बालक प्रेमवश मेरी गोद में चढ़ना चाहता था, किन्तु मुझ दुष्ट ने उसका तनिक भी आदर नहीं किया। अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ, उसे कैसे पाऊँ ?’

राजा के दुःख भरे वचनों को सुनकर नारद जी ने कहा—“राजन्, तुम अपने बालक की चिन्ता मत करो। इस समय उसकी रक्षा स्वयं भगवान् कर रहे हैं। तुम्हें उसके प्रभाव का पता नहीं है। शीघ्र ही उसका यश सारे संसार में फैल जायेगा। वह भगवान् को प्रसन्न कर शीघ्र ही तुम्हारे पास लौट आयेगा और तुम्हारी कीर्ति को संसार में फैलायेगा।” यह कहकर नारद जी चले गये। राजा उत्तानपाद राजलक्ष्मी का त्याग कर दिन-रात पुत्र का ही चिन्तन करने लगे। भगवान् के भक्त का चिन्तन व्यक्ति के सारे पापों को धो डालता है—

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः । राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥४/८/७०

उधर ध्रुव जी ने वृन्दावन में पहुँच कर यमुना जी में स्नान किया और नारद जी के उपदेशानुसार भगवान् की आराधना एकाग्रचित्त से प्रारम्भ कर दी। उसने पहले महीने को, तीन-तीन दिनों के बाद, कैथ और बेर खाकर, बिताया। दूसरे महीने में उन्होंने छः-छः दिनों के अन्तराल पर सूखी घास और पत्ते खाकर भगवान् का भजन किया। तीसरे महीने में नौ-नौ दिन पर केवल जल पीकर भगवान् की आराधना की। चौथे महीने में उन्होंने बारह-बारह दिनों पर वायु पीकर श्रीहरि की उपासना की। पाँचवाँ मास लगने पर ध्रुव श्वास को जीतकर ब्रह्म का चिन्तन करते हुए एक पैर पर निश्चल भाव से खड़े रहे। इस प्रकार ध्रुव के श्वास रोक कर समाधि में स्थित होने पर विश्वभर का प्राण रुक गया। त्रिलोकी काँप उठी। देव हा-हाकार कर भगवान् श्रीहरि की शरण में गये और अपना दुःख निवेदन कर प्राण-रक्षा की प्रार्थना की।

देवों की प्रार्थना सुनकर भगवान् ने कहा—तुम लोग डरो मत। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने अपने चित्त को मुझ



विश्वात्मा में लीन कर दिया है। इस समय मेरे साथ उसकी अभेदधारणा चल रही है। इसी से उसके प्राण-निरोध से तुम लोगों का भी प्राणावरोध हो गया है। अब तुम लोग अपने-अपने लोकों में जाओ। मैं उस बालक को इस दुष्कर तप से विरत करूँगा।

देवों ने भगवान् की बात सुनी। उन लोगों ने माया करके राक्षस, सिंह, व्याघ्र उत्पन्न कर, ध्रुव को डरा कर, तप से निवृत्त करने का प्रयास किया। किन्तु ध्रुव पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे अपने तप में अडिग बने रहे। हार कर देव भी वहाँ से चले गये<sup>१</sup>।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

## नवाँ अध्याय

( ध्रुव को भगवान् का दर्शन और वर पाकर उनका घर लौटना )

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, भगवान् के इस प्रकार आश्वासन देने पर निर्भय हो देवता, स्वर्ग को चले गये। उसके बाद भगवान् गरुड पर आरूढ होकर भक्त को देखने की इच्छा से वृन्दावन में पधारे—

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे कृतवनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम् ।

सहस्रशीर्षाणि ततो गरुत्मता मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः ॥४/९/१

भगवान् ध्रुव के सामने खड़े थे। उनकी समाधि ही न टूटती थी। तब भगवान् ने अपने उस स्वरूप को खींच लिया जो ध्रुव के हृदय में स्फुरित हो रहा था। ध्रुव ने व्याकुल होकर अपनी आँखें खोल दी। उस समय उन्होंने देखा कि जो भगवान् उनके हृदय में प्रकाशित हो रहे थे वह बाहर खड़े हैं। सौन्दर्य की राशि भगवान् के रूप को देखकर उन्हें महान् कुतूहल हुआ। वे भगवान् के चरणों पर दण्ड की भाँति लोट गये। वे इतनी तल्लीनता से भगवान् को देख रहे थे मानों पी जायेंगे, मुख से चूम लेंगे और भुजाओं में कस लेंगे। वे हाथ जोड़े प्रभु के सामने खड़े थे और उनकी स्तुति करना चाहते थे, परन्तु किस प्रकार करें यह नहीं जानते थे। भगवान् अन्तर्यामी ठहरे। वे ध्रुव के मन की बात जान गये। उन्होंने कृपापूर्वक अपने वेदमय शङ्ख को उनके कपोल (गाल) से छुआ दिया। शङ्ख का स्पर्श होते ही ध्रुव की जिह्वा पर विराजमान सरस्वती जागृत हो गई। फिर क्या था ? ध्रुव ने बारह श्लोकों से भगवान् की दिव्य स्तुति करते हुए कहा—सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न जो भगवान् मेरे अन्तःकरण में प्रवेश कर अपने तेज से मेरी इस सोई हुई वाणी को सजीव करते हैं, जागृत करते हैं तथा हाथ, पैर, श्रोत्र और त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियों तथा प्राणों में चेतना भरते हैं, मैं उन अन्तर्यामी भगवान् को सादर प्रणाम करता हूँ—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसृप्तां सङ्गीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।

अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥४/९/६

प्रभो, आप अकेले ही, माया के कारण, लकड़ी में आग की तरह, विभिन्न रूप धारण कर नाना प्रकार की लीलाएँ किया करते हैं। आप के दिये हुए ज्ञान से ही यह सम्पूर्ण विश्व भास रहा है। आप की कृपा से ही ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मा सृष्टिकार्य करते हैं। प्रभो, इन्द्रियों और शरीर से प्राप्त होनेवाला भोग तो जीव को नरक में भी, नारकीय योनियों में भी, प्राप्त हो सकता है। अतः जो लोग इस विषय-सुख के लिये, मोक्षदायक आपकी सेवा-उपासना करते

१. कथा का यह अंश विष्णुपुराण प्रथम अंश में वर्णित है। भागवत में इसकी चर्चा नहीं की गई है।



हैं, सचमुच उनकी मति मारी ही गई है। प्रसन्न हुए किसी राष्ट्राध्यक्ष से प्राइमरी स्कूल में चपरासी का पद माँगना कहाँ की बुद्धिमानी है ? ऐसे लोग सच्चे सुख से सर्वदा वञ्चित ही रहते हैं। नाथ, आपके चरण-कमलों का ध्यान करने से और आपके भक्तों की मनोहारिणी कथा के श्रवण से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्म में भी नहीं मिल सकता तो फिर कालरूपी तलवार से काट कर गिराए जानेवाले स्वर्ग के लोकों में कैसे मिल सकता है ?—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तवं पादपद्माध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा. स्यात् ।

सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत् किंत्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥४/९/१०

हृदय—यद्यपि ब्रह्मानन्द सब से ऊँचा है। किन्तु यहाँ कथानन्द को ब्रह्मानन्द से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। इसका कारण यह है कि—(१) ब्रह्मानन्द एक भोग्य है और कथानन्द, भजनानन्द अनेक भोग्य है। अनेक व्यक्ति एक साथ बैठकर कथानन्द के महासागर में गोते लगाया करते हैं। (२) ध्यान लगानेवाला योगी ही अकेले ब्रह्म की अनुभूति कर आनन्दित होता है, किन्तु कथा के श्रवण से लाखों लाख व्यक्ति एक साथ आनन्द की अनुभूति करते हैं और (३) ब्रह्मानन्द एक ही व्यक्ति को तारता है, किन्तु कथा के श्रवण से अनेक व्यक्ति एक साथ तर जाते हैं, भवसागर से पार हो जाते हैं। ये ही कारण हैं जिनसे कथानन्द को ब्रह्मानन्द से भी महान् बतलाया गया है।

अनन्त परमात्मन्, मुझे आप उन भक्तों की सङ्गति प्रदान कीजिये जो आप की भक्ति में आकण्ठ निमग्न रहा करते हैं। उनके द्वारा कही गई आप की कथा-सुधा को पीकर मैं अनायास ही इस दुस्तर भवसागर को पार कर जाऊँगा। आप विकार से रहित हैं। मैं आपको प्रणाम कर रहा हूँ। इस संसार में बार-बार आने-जाने से मुक्त कर आप मेरी रक्षा करें। मैं आप की शरण में हूँ।” इस प्रकार ध्रुव की स्तुति सुन कर भगवान् ने कहा—“राजकुमार, मैं तेरे हृदय के भाव को जानता हूँ। यद्यपि उस पद को पाना कठिन है फिर भी मैं तुम्हें वह प्रदान करता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। भद्र, जिस तेजोमय अविनाशी लोक को आज तक किसी ने नहीं प्राप्त किया है। जिसकी परिक्रमा ग्रह, नक्षत्र और तारा-मण्डल, दैवरी के बैलों की तरह, किया करते हैं। अवान्तर कल्पपर्यन्त स्थायी वह ध्रुवलोक तुझे प्राप्त होगा। अब तुम अपने घर लौट जाओ। पिता के जङ्गल चले जाने पर ३६ हजार वर्षों तक राज्यसुख का आस्वादन कर, यज्ञों के द्वारा मेरी आराधना कर, फिर अन्त में मेरे धाम में पधारोगे। वहाँ जाने पर व्यक्ति को फिर लौट कर इस संसार में नहीं आना पड़ता—“यतो नावर्तते गतः” ॥२५॥ यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

यद्यपि भगवान् का दर्शन होने पर ध्रुव की राज्य की लालसा समाप्त हो गई थी फिर भी भगवान् ने उन्हें राज्य-सुख भोगने का आदेश दिया। बालक नहीं चाहता, वह रोता है, इधर-उधर भागता है। फिर भी माता उसे पकड़कर उसका शृंगार करती ही है। क्योंकि अपने बालक को सजा-धजा देखकर माता को सुख होता है।

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, वर प्रदान कर भगवान् के चले जाने पर ध्रुव को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने सोचा—निश्चय ही ईर्ष्यालु देवों ने मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी। तभी तो मुक्तिदाता भगवान् के चरणों का दर्शन पाकर भी मैंने उनसे नाशवान् वस्तु की याचना की। मुझे धिक्कार है, धिक्कार है।” इस तरह विचार करते हुए ध्रुव अपने नगर को लौटे।

१.क. अपमान का फल भगवद्दर्शन हुआ यही ईक्षरेच्छा थी।

ख. नृसिंह पुराण में कहा गया है कि एक बार नारद ध्रुवलोक में गये। उन्होंने देखा कि ध्रुव वहाँ बैठे हुए रो रहे हैं। उनके रोने का कारण पूछने पर ध्रुव ने कहा—क्या बतलाऊँ महाराज, मेरा यह दुःख कभी मिटता ही नहीं कि भगवान् मुझे दर्शन देने के लिये पधारें और मैंने उनसे संसार की एक वस्तु मांग ली। जिनसे मैं अडिग भक्ति मांग सकता था, केवल्य मुक्ति मांग सकता था, उनसे मैंने ऊँचा पद मांगा। इससे महान् दुःख और क्या हो सकता है ?



विदुर के पूछने पर मैत्रेय जी ने कहा—ध्रुव का हृदय सौतेली माँ के बाणरूपी वचनों से विद्ध था। अतः उनका स्मरण करते हुए मुक्तिदाता भगवान् से उन्होंने मुक्ति नहीं माँगी। इसी पश्चात्ताप से उनका हृदय सन्तप्त था। ध्रुव सोचते थे कि—नैष्ठिक ब्रह्मचारी सनकादि अनेक जन्मों तक समाधि लगाकर जिसके दर्शन को करने में समर्थ होते हैं, उन्हीं मुक्तिदाता श्रीहरि की पाद-छाया को मैंने छः महीने में ही पा लिया। किन्तु फिर भी चित्त में दूसरी वासना रहने के कारण मैं उनसे दूर हो गया—

समाधिना नैकभवेन यत्पदं विदुः सनन्दादय ऊर्ध्वरेतसः ।

मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयोश्छायामुपेत्यापगतः पृथङ्मतिः<sup>१</sup> ॥४/९/३०

ध्रुव को घर की ओर लौटता देखकर एक व्यक्ति ने दौड़ कर राजा को समाचार दिया। राजा को पहले तो विश्वास ही नहीं हुआ, किन्तु नारद जी के कथन पर विश्वास कर उन्होंने समाचार देनेवाले को एक बहुमूल्य हार प्रदान कर दिया। फिर गाजे-बाजे के साथ ब्राह्मणों को आगे करके राजा ध्रुव की अगवानी के लिये बड़ी उत्कण्ठा के साथ आगे बढ़े। वे अलङ्कृत अश्व पर आरूढ़ थे। दोनों माताएँ उत्तम को लेकर पालकी में सवार होकर चलीं—

सुनीतिः सुरुचिश्चास्य महिष्यौ रुक्मभूषिते । आरुह्य शिबिकां सार्धमुत्तमेनाभिजग्मतुः ॥४/९/४१

जब ध्रुव राजधानी के उद्यान के पास पहुँचे तब राजा ने अपने रथ से उतर कर उन्हें बाहुओं में लेपेट कर छाती से लगा लिया। बेटे के शिर को सूँघा और प्रेम की आँसुओं से उसे नहला दिया। ध्रुव ने पिता को प्रणाम किया और पुनः दोनों माताओं के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। गद्गद वाणी से माताओं ने आशीष दिया—“चिरं जीव वत्स”। उत्तम और ध्रुव भी बड़े प्रेम से परस्पर लिपट गये। सुनीति का क्या कहना। अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र को पाकर उसके सारे दुःख दूर हो गये। आज सभी ध्रुव पर प्रेम की वर्षा कर रहे थे। जिस प्रकार जल स्वयं ही नीचे की ओर बहने लगता है—उसी प्रकार गुणों के कारण जिस पर भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, उसके सामने सभी झुकते हैं—

यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः । तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्<sup>२</sup> ॥४/९/४७

तदनन्तरं राजा ने ध्रुव को हथिनी पर बैठाया। ध्रुव ने हाथ पकड़कर अपने लघु बन्धु उत्तम को भी अपने साथ हथिनी पर चढ़ा लिया फिर राजा पुत्र ध्रुव को अपने राजमहल में लाये। महाराज उत्तानपाद अपने पुत्र के असाधारण प्रभाव को देखकर हर्ष से भर गये। विभूतियों से भरे हुए उस राजमहल में पिता के लाड़-प्यार का सुख भोगते हुए ध्रुव उसी प्रकार सानन्द रहने लगे जैसे स्वर्ग में देवता लोग रहते हैं। ध्रुव तरुण हुए। उनके प्रभाव को देखकर राजा को महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने देखा कि सारी प्रजा ध्रुव में अनुरक्त है और मैं भी वृद्ध हो चला हूँ अतः ध्रुव को राजगद्दी प्रदान कर राजा उत्तानपाद आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए, संसार से विरक्त होकर, वन में चले गये—

अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम् ॥

आत्मानं च प्रवयसमाकलय्य विशाम्यतिः । वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विभृशज्ञात्वनो गतिम् ॥४/९/६६-६७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह नवौ अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

१. हृदय-भागवतार्थप्रकरण में वल्लभाचार्य ने लिखा है कि—ध्रुव पूर्वजन्म में ही मुक्त हो गये थे। अब उनका दूसरा जन्म नहीं होना था किन्तु इसी समय एक घटना घटी। एक दिन ध्रुव के पास एक राजा अपनी रानी के साथ आये। रानी की गोद में राजकुमार था। बालक के लाड़-प्यार को देखकर महात्मा (ध्रुव) के मन में वासना जगी कि यदि मैं भी राजकुमार होता तो मेरा भी ऐसा ही सम्मान होता। यह वासना इतनी प्रबल थी कि मरते समय तक महात्मा के मन में बनी रही। फल यह हुआ कि उन्हें राजकुमार ध्रुव के रूप में जन्म लेना पड़ा।

२. तुलना कीजिये—जापर कृपा राम कै होई। तापर कृपा करै सब कोई ॥ मानस ॥



## दसवाँ अध्याय

( यक्षों के द्वारा उत्तम का मारा जाना और ध्रुव का उनके साथ युद्ध )

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, राजगद्दी पर आरूढ़ होने के बाद ध्रुव ने प्रजापति शिशुमार की पुत्री 'भ्रमि' के साथ विवाह किया। उससे उनके कल्प और वत्सर नामक दो पुत्र हुए—

प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः। उपयेमे भ्रमि नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ ॥४/१०/१  
महाबली ध्रुव की दूसरी स्त्री वायु की बेटी इला थी। उससे उनके उत्कल नाम के पुत्र और एक सुन्दरी कन्या का जन्म हुआ। उत्तम का अभी विवाह नहीं हुआ था। एक दिन वह शिकार खेलने के लिए हिमालय पर गया। वहाँ उसे एक बलवान् यक्ष ने मार डाला। बेटे के समाचार को सुनकर रोती-कलपती सुरुचि ने भी अपने प्राणों का परित्याग कर दिया—

उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा। हतः पुण्यजनेनाद्री तन्मातास्य गतिं गता ॥४/१०/३  
ध्रुव ने अपने भाई के वध की बात सुनी। उन्हें महान् क्रोध और शोक हुआ। भाई के वध का बदला लेने के विचार से वे विजयप्रद रथ पर आरूढ़ होकर यक्षों के देश में जा पहुँचे। वहाँ कुबेर-नगरी अलकापुरी के पास पहुँच कर उन्होंने अपना शङ्ख बजाया। शङ्ख की ध्वनि सुन कर यक्षों की स्त्रियाँ भय से व्याकुल हो उठीं। यक्ष-वीरों ने भी उस शंख-ध्वनि को सुना। उन्हें वह सह्य न हुआ। वे बहुत बड़ी संख्या में अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर निकल पड़े। दोनों ओर से बाणों की वर्षा होने लगी। ध्रुव ने सभी यक्षों को एक ही साथ तीन-तीन बाणों से बँध दिया। लोगों ने ध्रुव के इस कार्य की बड़ी प्रशंसा की फिर तो यक्षों ने मिलकर एक साथ ध्रुव पर आक्रमण कर बाणों से उन्हें ढँक दिया। एक क्षण के लिये लगा अब तो ध्रुव मारे गये। आकाश में खड़े होकर युद्ध देख रहे सिद्ध हाहाकार कर कहने लगे—मालूम पड़ता है कि आज मनुवंश का सूर्य अस्त हो जायेगा—

हाहाकारस्तदैवासीत् सिद्धानां दिवि पश्यताम्। हतोऽयं मानवः सूर्यो मनः पुण्यजनापवि ॥४/१०/१४  
किन्तु इसी समय, जैसे कुहरे से सूर्य-मण्डल निकलता है वैसे ही, ध्रुव का रथ बाणों के मध्य से ऊपर उठा फिर तो बाणों की झड़ी लगाकर उन्होंने जिस प्रकार युद्ध किया वह अभूतपूर्व था। उन्होंने यक्षों के अङ्गों को काट-काट कर समर-भूमि को पाट दिया। चारों ओर रक्त की धाराएँ बह चलीं। घायल होकर बहुत-से यक्ष रण-भूमि को छोड़कर भाग निकले। कुछ ही क्षणों में सारी युद्ध-भूमि शत्रुओं से खाली हो गई। ध्रुव ने अलकापुरी को देखने की इच्छा की। किन्तु वे उस समय वहाँ गये नहीं, क्योंकि मायावी यक्ष क्या करना चाहते हैं—इसका पता मनुष्य को नहीं लग सकता।

अपश्यमानः स तदाऽऽततायिनं महामृधे कंचन मानवोत्तमः।

पुरीं दिदृक्षन्नपि नाविशद् द्विषां न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः ॥४/१०/२१

उक्त बातें सारथी से कहकर ध्रुव रथ में ही बैठे रहे और शत्रुओं के भावी आक्रमण की आशङ्का से सावधान हो गये। इतने में ही उन्हें सागर के गर्जन के समान आँधी का भीषण शब्द सुनाई पड़ा। उन्होंने देखा कि दिशाएँ

१. हृदय—ध्रुव के उत्तानपाद की गोद में बैठने के प्रयास की बेला में सुरुचि ने यह कहकर भगवान् का तिरस्कार किया था कि—“तप करके भगवान् को प्रसन्न करो और उनसे वरदान माँगो कि मैं सुरुचि की कोख से पैदा होऊँ।” यह कहकर उसने भगवान् से अपनी कोख को बड़ी बतलाकर उनका अपमान कर दिया था। उसी का फल था कि सुरुचि को पुत्र के मरण का मुख देखना पड़ा।



धूलि से आच्छादित हो गई हैं। आकाश मेघों से आच्छादित हो गया। बिजलियाँ कौंधने लगीं। वज्रपात होने लगा। आकाश से रक्त, कफ, पीब, विष्टा और मूत्र आदि की वृष्टि होने लगी। ध्रुव के सामने ही बहुत-से धड़ धड़ाधड़ गिरने लगे फिर आकाश में एक पर्वत दिखलायी पड़ा। उससे पत्थरों की वर्षा के साथ गदा, परिघ, तलवार और मूसल आदि गिरने लगे। सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक पशु दहाड़ मारकर युद्ध-भूमि में दौड़ने लगे। सागर भी भयङ्कर गर्जन के साथ, चारों ओर से पृथिवी को डुबोने के लिये फैलने लगा। इस प्रकार क्रूर स्वभाववाले असुरों ने अपनी आसुरी माया से ऐसे ही बहुत-से कौतुक दिखलाये, जिनसे कायरों के मन काँप सकते थे। असुरों के द्वारा ध्रुव पर प्रयुक्त की गई दुस्तर माया को देखकर ऋषि-महर्षि-गण ध्रुव के कल्याण की कामना से भगवान् से प्रार्थना करने लगे—

निशाम्य तस्य मुनयः शमाशंसन् समागताः ॥४/१०/२९

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

## ग्यारहवाँ अध्याय

(स्वायम्भुव मनु का ध्रुव जी को युद्ध बन्द करने के लिये समझाना)

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, ऋषियों का ऐसा कथन सुनकर महाराज ध्रुव ने नारायणास्त्र को अपने धनुष पर चढ़ाया। उस बाण के चढ़ाते ही यक्षों के द्वारा फैलाई गई विविध प्रकार की माया, तत्काल उसी प्रकार नष्ट हो गई, जिस प्रकार ज्ञान का उदय होने पर अविद्या, अस्मिता आदि क्लेश विनष्ट हो जाते हैं—

निशम्य गदतामेवमृषीणां धनुषि ध्रुवः । संदधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम् ॥

संघीयमान एतस्मिन्माया गुह्यकनिर्मिताः । क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा ॥४/११/१-२

धनुष पर नारायणास्त्र के चढ़ाते ही बाणों की भीषण वर्षा होने लगी। बाणों की भीषण मार से घायल होकर यक्ष-गण इधर-उधर भागने लगे। बाकी बचे हुए यक्ष ध्रुव पर, एक साथ उसी प्रकार झपटे जैसे फण उठाकर बड़े-बड़े सर्प गरुड पर झपटते हैं। अपनी ओर झपटते हुए यक्षों को देखकर ध्रुव ने अपने बाणों से उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गों को काट कर रण-भूमि को पाट दिया। युद्ध में मारे गये वीर सत्यलोक को चले गये। युद्ध में मारे गये वीर उसी प्रकार सत्यलोक में जाते हैं जैसे ऊर्ध्वरता मुनि-गण सूर्यमण्डल का भेदन कर सर्वश्रेष्ठ लोक के लिये प्रस्थान करते हैं।

इस प्रकार निरपराध यक्षों के सामूहिक संहार को देखकर ध्रुव के पितामह मनु को बड़ी दया आई अतः बहुत-से ऋषियों के साथ वे वहाँ आये जहाँ ध्रुव यक्षों का निर्दय संहार कर रहे थे। मनु ने उन्हें समझाते हुए कहा—‘बेटा, तुम्हें ऐसा क्रोध नहीं करना चाहिये। पापी क्रोध नरक का द्वार है। इस क्रोध के वशीभूत होकर तुमने बहुत-से निरपराध यक्षों का वध कर दिया है। वत्स, इस प्रकार के कर्म की सज्जन लोग भर्त्सना किया करते हैं अतः यह हमारे कुल के अनुकूल नहीं है। पुत्र, तुम्हें अपना भाई बड़ा प्यारा था अतः उसके वध से तुम्हें महान् सन्ताप हुआ है किन्तु एक के अपराध के कारण तुमने बहुतों की हत्या कर दी—

नन्वेकस्यापराधेन प्रसङ्गाद् बहवो हताः । भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल ॥४/११/९

इस जड़ शरीर को ही आत्मा मान कर इसके लिये पशुओं की भाँति प्राणियों की हिंसा करना भगवान् की सेवा



में समर्पित रहने वाले साधुजनों का यह मार्ग नहीं है। तुमने भगवान् की आराधना की अतः विष्णु के परम पदके अधिकारी बने हो। तुम्हें प्रभु भी अपना प्रिय भक्त समझते हैं। भगवद्भक्त जन भी तुम्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। तुम साधुजनों के पथ-प्रदर्शक हो फिर भी तुमने ऐसा निन्दनीय कर्म कैसे किया—

स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि सम्मतः । कथं त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन् सतां व्रतम् ॥४/११/१४  
वत्स, तुम्हें तो यह विदित ही है कि सबके हृदय में निवास करनेवाले श्रीहरि सहनशीलता, करुणा, सारे प्राणियों के साथ समता का व्यवहार करने से ही प्रसन्न होते हैं। भगवान् के प्रसन्न हो जाने पर व्यक्ति प्राकृतिक गुणों से छूट कर परम आनन्दरूप ब्रह्म-पद को प्राप्त कर लेता है—

सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः । विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥४/११/१४  
बेटा, काल भगवान् का स्वरूप है। सारे जगत् में उसका न तो कोई शत्रु है और न मित्र ही। वह निष्पक्ष होकर अपना कार्य करता है जैसे वायु के बहने पर धूल उसके साथ-साथ उड़ती है, उसी प्रकार समस्त जीव, अपने-अपने कर्मों के अधीन होकर, काल की गति का अनुसरण करते हैं अर्थात् अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःखादि फल भोगते हैं। राजन्, इन परमात्मा को ही मीमांसक लोग कर्म, चार्वाक स्वभाव, वैशेषिक मत को मानने वाले काल, ज्योतिषी दैव और कामशास्त्री काम कहते हैं—

केचित् कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप । एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥४/११/२२  
भगवान् सबके आदि कारण हैं। वे किसी भी इन्द्रिय और प्रमाण के विषय नहीं हैं। ऐसे प्रभु को ठीक-ठीक जानना दुर्विभाव्य है, अति कठिन है। बेटा, इस संसार में न कोई किसी को मारनेवाला है और न तो जिलानेवाला ही। इस प्रकार कुबेर के अनुचर तुम्हारे भाई को मारने वाले नहीं हैं, क्योंकि मनुष्य के जन्म-मरण का वास्तविक कारण तो ईश्वर है—

न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः । विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥४/११/२४  
ईश्वर ही सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तरामा, नियन्ता और रक्षक हैं। वे ही अपनी माया शक्ति से युक्त होकर समस्त जीवों की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं—

एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः । स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च ॥४/११/२६  
बेटा, तुम उन्हीं परमात्मा की शरण सब प्रकार से ग्रहण करो। ध्रुव, जब तुम पाँच वर्ष के थे तब अपनी सौतेली माता के वाग्बाणों से मर्माहत होकर, माँ की गोद छोड़कर, वन में चले गये थे। वहाँ तपस्या करके जिन हृषीकेश भगवान् की आराधना करके तुमने त्रिलोकी से ऊपर ध्रुव-पद प्राप्त किया है, उन्हीं भगवान् को तुम अपने हृदय में देखो। तुम्हारे लिये इस प्रकार प्रतिशोध की भावना से युद्ध करना उचित नहीं है। तुम अपने क्रोध को शान्त करो। क्रोध कल्याणमार्ग का प्रबल विरोधी है। भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें। अभय की इच्छावाले व्यक्ति क्रोध के वशीभूत नहीं हुआ करते हैं—

संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम् ॥४/११/३१

न बुधस्तद्वशं गच्छेद्विच्छन्नभयमात्मनः ॥४/११/३२

तुमने जो यह समझ कर कि ये मेरे भाई के मारनेवाले हैं, इतने यक्षों का संहार किया है, इससे तुमने शङ्कर के सखा यक्षों के अधिपति कुबेर का बड़ा भारी अपराध किया है अतः अपने विनम्र संभाषण और विनयशील व्यवहार के द्वारा तुम उन्हें प्रसन्न करो। ऐसा करने से उनका तेज हमारे कुल को आक्रान्त नहीं करेगा।

इस प्रकार स्वायम्भुव मनु ने अपने पौत्र ध्रुव को शिक्षा दी। ध्रुव ने उन्हें सादर प्रणाम किया। इसके पश्चात्



मनु, महर्षियों के साथ अपने लोक को चले गये। मनु की शिक्षा का सम्मान करते हुए ध्रुव ने भी युद्ध बन्द कर दिया ॥११॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## बारहवाँ अध्याय

( ध्रुव को कुबेर का वरदान और विमान द्वारा उनका ध्रुवलोक को गमन )

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, ध्रुव का क्रोध शान्त हो गया है और वे यक्षों के वध से निवृत्त हो गये हैं, यह जान कर भगवान् कुबेर उनके पास आये। उस समय यक्ष, चारण और किन्नर लोग उनकी स्तुति कर रहे थे। उन्हें देखते ही ध्रुव जी हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। तब कुबेर ने कहा—

ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुद्ध्य वैशंसादपेतमन्युं भगवान् धनेश्वरः ।

तत्रागतश्चारणयक्षकिन्नरैः संस्तूयमानोऽभ्यवदत्कृताञ्जलिम् ॥४/१२/१

वत्स, तुम शुद्ध हृदय वाले क्षत्रिय-कुमार हो। तुमने अपने दादा मनु के उपदेश से दुस्त्यज वैर का परित्याग कर दिया, इससे मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ—

भो भो क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ । यस्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः ॥४/१२/२  
राजन्, न तो आपने यक्षों का वध किया है और न यक्षों ने तुम्हारे भाई का। वस्तुतः काल ही प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश का कारण है। मानव अज्ञानता के कारण अपने को कर्ता मानकर बन्धन में पड़ता है। ध्रुव, अब तुम जाओ। भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें। सर्वत्र समभाव से तुम भगवान् का भजन करो। उनके चरण-कमलों का भजन ही संसाररूपी बन्धन को काटनेवाला है। तुम भगवान् श्रीहरि के अनन्य भक्त हो अतः मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वह मुझसे मांग लो।

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, कुबेर के कथन को सुनकर ध्रुव ने यक्षाधिपति कुबेर से भगवान् श्री हरि के चरणों में अविचल भक्ति माँगी। इसी भक्ति के बल पर व्यक्ति संसार-सागर को अनायास पार कर लेता है—

स राजराजेन वराय चोदितो ध्रुवो महाभागवतो महामतिः ।

हरौ स वनेऽचलितां स्मृतिं यया तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ॥४/१२/८

कुबेर ने बड़ी प्रसन्नता से उन्हें वरदान दिया और अन्तर्धान हो गये। ध्रुव भी अपनी राजधानी को लौट आये। तदनन्तर ध्रुव ने बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं वाले विविध यज्ञों से यज्ञपति भगवान् की आराधना की। वे बड़े ही शीलसम्पन्न, ब्राह्मण-भक्त, दीनवत्सल और धर्ममर्यादा के रक्षक थे। उनकी प्रजा उन्हें साक्षात् पिता की भाँति मानती थी।

इस प्रकार तरह-तरह के भोगों द्वारा पुण्य का और यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान से पाप का क्षय करते हुए उन्होंने छत्तीस हजार वर्ष तक पृथिवी का शासन किया—

अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥४/१२/१०

षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं शशास क्षितिमण्डलम् । भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन्नभोगैरशुभक्षयम् ॥४/१२/१३

इसके बाद ध्रुव ने अपने पुत्र उत्कल को राजसिंहासन सौंप दिया फिर उन्होंने शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, सेना, भरा हुआ खजाना, अन्तःपुर, विहारभूमि और सम्पूर्ण भू-मण्डल को काल का ग्रास समझकर त्याग दिया और तप



करने के लिये बदरिकाश्रम को चले गये। ये जब बालक थे, तब वृन्दावन में यमुना के तट पर गये थे। अब वृद्धावस्था में गङ्गा के तट पर आये हैं। गङ्गा जी मुक्ति का सदाव्रत बाँटती रहती हैं, मृत्यु सुधारती हैं। भागवत की कथा प्रेम से सुनने से सभी यात्राओं का फल प्राप्त होता है। गङ्गा जी के तट पर बैठकर ध्रुव भगवान् का अखण्ड ध्यान करने लगे। गङ्गा जी के प्रवाह के निनाद से ध्रुव जी के ध्यान में विक्षेप होने लगा फिर तो वे गंगा-तट को छोड़ने के लिये उद्यत हो गये। उन्होंने गङ्गा जी से कहा—माता जी, तुम्हारा यह कल-कल निनाद मेरे मनन-ध्यान में विक्षेप करता है। गङ्गा जी ने कहा—ध्रुव, तू शान्ति से ध्यान करता है तो अब मैं भी शान्ति से बहूँगी, कल-कल ध्वनि नहीं करूँगी अतः तुम यहाँ से जाना नहीं। गङ्गा जी शान्त हो गईं। ध्रुवाश्रम के पास गङ्गा जी आज तक शान्त ही हैं और कहीं नहीं।

फिर तो ध्रुव जी ने गङ्गा के तट को ही अपना आश्रम बनाया। वहाँ वे अष्टाङ्ग योग के द्वारा मन को निश्चल कर भगवान् श्रीहरि के ध्यान में तल्लीन हो गये। ध्यानोद्रेक से उनका शरीर रोमाञ्चित हो उठा। आनन्द के अश्रु उनके नेत्रों से बहने लगे उन्हें अपने शरीर तक का भान नहीं रहा। धीरे-धीरे वे सम्प्रज्ञात समाधि से असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में पहुँच गये। उस समय उन्हें ध्याता, ध्यान और ध्येय में कुछ भी भेद प्रतीत नहीं होता था।

ध्रुव के ध्यान की यह प्रक्रिया चल ही रही थी कि एक दिन उन्होंने आकाश-मण्डल से एक बड़ा ही सुन्दर विमान उतरते देखा। वह अपने प्रकाश से दसों दिशाओं को आलोकित कर रहा था। उसमें भगवान् विष्णु के दो सुन्दर पार्षद सुनन्द और नन्द गदा लिये खड़े थे। ध्रुव ने उन्हें भगवान् का पार्षद जान कर हाथ जोड़कर सादर प्रणाम किया। मुस्कराते हुए श्रीहरि के पार्षदों ने कहा—आप का कल्याण हो। राजन्, हम दोनों भगवान् श्रीहरि के सेवक हैं और आप को भगवान् के धाम में ले जाने के लिये आये हैं। आपने अपने तप-बल से उस लोक को प्राप्त किया है, जहाँ परमज्ञानी सप्तर्षि भी नहीं पहुँच सके हैं। सूर्य, चन्द्र और ग्रह-नक्षत्र भी उस लोक की नित्य प्रदक्षिणा किया करते हैं। यह पद सारे संसार के लिये वन्दनीय है। आप वहीं चलकर निवास कीजिये। आयुष्मन्, श्रीहरि ने यह विमान आप के लिये भेजा है। आप इस पर आरूढ़ हों।

पार्षदों की बात सुनकर ध्रुव प्रसन्न हो उठे। उन्होंने आज गङ्गा जी में अन्तिम स्नान किया, हाथ जोड़कर प्रणाम किया। सन्ध्या वन्दन से निवृत्त होकर अलङ्कार धारण किया। ब्राह्मणों, मुनियों को प्रणाम कर उनका आशीर्वाद लिया फिर विमान की पूजा और प्रदक्षिणा की, पार्षदों को विनम्र हो प्रणाम किया। वे अब विमान पर चढ़ना ही चाहते थे कि देखा सामने मृत्यु का देवता काल मूर्तिमान् होकर शिर झुकाये खड़ा है। तब वे मृत्यु के शिर पर एक पैर रखकर उस अद्भुत विमान पर चढ़े—

तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम्। मृत्योर्भूमिं पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम् ॥४/१२/३०

उस समय आकाश में देव दुन्दुभि बजा कर फूलों की वर्षा करने लगे। गन्धर्व गाना गाने लगे। चतुर्दिक् आनन्द का ही वातावरण व्याप्त हो गया।

ध्रुव का विमान ऊपर उठा। इसी समय उन्हें अपनी जननी सुनीति का स्मरण आया। उन्होंने सोचा—“क्या मैं बेचारी माता को छोड़कर अकेला ही दुर्लभ वैकुण्ठ लोक को जाऊँगा” ? यह तो बड़ी अनीति हो जायेगी फिर ध्रुव और पार्षदों में इस प्रकार बात हुई—

ध्रुव—विमान रोका जाय।

पार्षद—क्यों, क्या बात है ?

ध्रुव—मैं अपनी जननी सुनीति को छोड़कर अकेला नहीं जाऊँगा।



पार्षद-देखिये, सामने देखिये । वह आगे-आगे जानेवाले विमान पर आरूढ होकर आपकी माता सुनीति जा रही है—

अन्वस्मरदगं हित्वा दीनां यास्ये त्रिविष्टपम् ।।

इति व्यवसितं तस्य व्यवसाय सरोत्तमौ । दर्शयामासुतर्देवीं पुरो यानेन गच्छतीम् ।।४/१२/३२-३३  
माँ के अग्र गमन को जान कर ध्रुव के हर्ष का पारावार न रहा । विमान पर देव-गण निरन्तर पुष्प-वृष्टि कर रहे थे, ध्रुव की कीर्ति का गान कर रहे थे । इस प्रकार त्रिलोकी को लांघ कर मुनियों को देखते-देखते ध्रुव ध्रुवलोक को, जो वैकुण्ठ का एक भाग है, पहुँचे । इस लोक में वे ही लोग जाते हैं, जो शान्त, समदर्शी, शुद्ध और सर्वसुहृद् और भगवद्भक्तों के भक्त हैं । इस प्रकार उत्तानपाद के पुत्र, भगवत्परायण श्रीध्रुव जी तीनों लोकों के ऊपर निर्मल चूडामणि के समान विराजमान हुए—

इत्युत्तानपदः पुत्रो ध्रुवः कृष्णपरायणः । अभून्नयाणां लोकानां चूडामणिरिवामलः ।।४/१२/३८

गंभीर वेगवाला ज्योतिश्चक्र उस अविनाशी ध्रुव-लोक के आश्रय से ही निरन्तर घूमता रहता है । देवर्षि नारद ने जब अपने शिष्य की इस महिमा को देखा तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने अपनी वीणा बजाते हुए प्रचेताओं के यज्ञ में ध्रुव के गुणों का इस प्रकार बखान किया—“सुनीति के पुत्र ध्रुव ने अपनी तपस्या के द्वारा जिस उत्तम गति को प्राप्त किया है, उसे बड़े-बड़े वेदवादी मुनि-गण भी नहीं प्राप्त कर सकते, फिर तो राजाओं की बात ही क्या है ? अहो ! वे पाँच वर्ष की वय में ही सौतेली माता के वाग्बाणों से मर्माहत होकर, दुःखी होकर, वन में चले गये । वहाँ मेरे उपदेश के अनुसार आचरण करके उन्होंने प्रभु को वश में कर लिया । उनसे दिव्य-पद को भी पा लिया ।” ठीक है, शिष्य की सफलता पर गुरु को गर्व होना स्वाभाविक है—“शिष्यादिच्छेत्पराजयम्” ।

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, आप के प्रश्न के अनुसार इस ध्रुव-चरित्र का गान मैंने कर दिया । यह चरित्र मानव को धन, आयु, कीर्ति तथा स्वर्ग प्रदान करनेवाला है । जो व्यक्ति पूर्णिमा, अमावास्या, द्वादशी, श्रवण नक्षत्र, तिथिक्षय, व्यतिपात, संक्रान्ति अथवा रविवार के दिन श्रद्धालुजनों को सुनाता है, वह सन्तुष्ट होकर सिद्ध बन जाता है । उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं ।

ध्रुव जी के कर्म प्रसिद्ध एवं पवित्र हैं । वे अपनी बाल्यावस्था में ही माता जी के घर और खिलौनों का मोह छोड़कर भगवान् विष्णु की शरण में चले गये थे । कुरुनन्दन, उनका यह पवित्र चरित्र मैंने तुम्हें सुना दिया—

इदं मया तेऽभिहितं कुरुद्वह ध्रुवस्य विख्यातविशुद्धकर्मणः ।

हित्वार्भकः क्रीडनकानि मातुर्गृहं च विष्णुं शरणं यो जगाम ।।४/१२/५२

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१२॥

## तेरहवाँ अध्याय

( ध्रुव के वंश में वेन का जन्म, उसके अत्याचारों से दुःखी पिता अङ्ग का वन-गमन )

श्रीसूत जी कहते हैं—शौनक जी, श्रीमैत्रेय जी के मुख से ध्रुव जी के विष्णुपद पर आरूढ होने की बात सुनकर विदुर जी के हृदय में भगवान् विष्णु की भक्ति का उद्रेक हो आया । फलतः उन्होंने मैत्रेय जी से प्रश्न करना प्रारम्भ किया—



निशम्य कौषारविणोपवर्णितं ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम् ।  
प्ररूढभावो भगवत्पथोक्षजे प्रह्वं पुनस्तं विदुरः प्रचक्रमे ॥४/१३/१

भगवत्परायण मुनिप्रवर, ये प्रचेता कौन थे ? किसके पुत्र थे ? किसके वंश में प्रसिद्ध थे और इन्होंने कहाँ यज्ञ किया था ? जिस में देवर्षि नारद जी ने अपने शिष्य ध्रुव के चरित का गान किया था ? विदुर जी का यह प्रश्न अवसरोचित न था । अतः मैत्रेय जी ने ध्रुव के वंश का वर्णन ही प्रारम्भ रक्खा । वे बोले—विदुर जी, ध्रुव के बड़े बेटे थे उत्कल । ध्रुव ने इन्हीं को राजगद्दी प्रदान की थी । किन्तु पिता जी के वन-गमन के अनन्तर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया । वे शान्तचित्त थे, भगवत्परायण थे और थे सर्वदा अपने स्वरूप में स्थित रहनेवाले । वृद्ध मन्त्रियों ने उन्हें पागल समझ कर भ्रमि के छोटे बेटे वत्सर को राजगद्दी प्रदान कर दी—

मत्वा तं जडमुन्मत्तं कुलवृद्धाः समन्त्रिणः । वत्सरं भूपतिं चक्र्यवीयांसं भ्रमेः सुतम् ॥४/१३/११

वत्सर की पत्नी का नाम था—स्वर्वीथी । उसके छः पुत्रों में पुष्पार्ण सब से बड़ा था । पुष्पार्ण के भी छः पुत्र हुए जिन में सब से छोटे पुत्र व्युष्ट थे । व्युष्ट की पत्नी थी ‘पुष्करिणी’ । उसने सर्वतेजा नामक पुत्र उत्पन्न किया । सर्वतेजा की पत्नी थी—आकूति । आकूति से चक्षु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । चाक्षुष मन्वन्तर में वही मनु हुआ । चाक्षुष मनु के बारह पुत्र थे । उनमें सबसे छोटे पुत्र का नाम था—उल्मुक । उल्मुक की पत्नी पुष्करिणी से छः पुत्र पैदा हुए । इनमें ‘अङ्ग’ सबसे बड़े थे । अङ्ग शीलवान् सज्जन और ब्राह्मणों के भक्त थे । अङ्ग की पत्नी का नाम था—सुनीथा । इसने अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाले ‘वेन’ को पैदा किया । वेन की दुष्टता से उद्विग्न होकर राजर्षि अङ्ग नगर छोड़कर चले गये—

सुनीथाऽङ्गस्य या पत्नी सुसुवे वेनमुल्बणम् । यद्वीशील्यात्स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात् पुरात् ॥

४/१३/१८

प्यारे विदुर जी, वेन के भीषण अत्यचार से कुपित मुनियों ने शाप देकर हुङ्कार से वेन को भी मार डाला । उस समय राजा न होने के कारण सर्वत्र लूटपाट मच गई । प्रजा को महान् कष्ट होने लगा । यह देखकर ऋषियों ने वेन की दाहिनी भुजा का मन्थन किया । उससे भगवान् विष्णु के अंशावतार आदि सम्राट् महाराज पृथु प्रकट हुए—

गतासोस्तस्य भूयस्ते ममन्थुर्दक्षिणं करम् ॥

अराजके तदा लोके दस्युभिः पीडिताः प्रजाः ।

जातो नारायणांशेन पृथुराष्ट्रः क्षितीश्वरः ॥४/१३/१९-२०

मैत्रेय जी की बात सुनकर विदुर जी ने पूछा—‘भगवन्, राजा अङ्ग धर्मात्मा थे । उनका पुत्र वेन अधार्मिक हो गया । इसका कारण क्या है ? वेन का क्या अपराध था, जिससे कुपित होकर ऋषियों ने अपने शाप से उसे मार डाला ? मेरे इस संशय की निवृत्ति आप कृपा करके अवश्य करें ।’ इस पर मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, एक बार महाराज अङ्ग ने अश्वमेध महायज्ञ का अनुष्ठान किया । यज्ञ बड़े विधि-विधान से चल रहा था किन्तु आचार्यों के बार-बार आवाहन करने पर भी उस में देवता लोग भाग नहीं ले रहे थे इस पर आचार्यों को महान् आश्चर्य हुआ । उन लोगों ने अङ्ग से कहा—महाराज, यज्ञ के अनुष्ठान में किसी प्रकार की भी त्रुटि नहीं हो रही है । किन्तु कष्ट है कि देवता लोग इसमें अपना भाग नहीं ले रहे हैं । इसका कारण क्या है ? इस पर राजा अङ्ग बहुत उदास हुए और यज्ञ के परमाचार्य से पूछा—भगवन्, इसमें क्या कारण है ? आप ही विचार कर बतलाने की कृपा करें ।

१. आज के विज्ञान ने मानव की चमड़ी के ऊतक से गर्भ विकसित करने में सफलता प्राप्त कर ली है । क्या इसका बीज पृथु की उत्पत्ति में नहीं खोजा जा सकता ?



परमाचार्य ने विचार कर कहा—महाराज, इस जन्म में तो आपसे स्वल्प भी अपराध नहीं हुआ है किन्तु आपका पूर्व जन्म का एक अपराध है, जिसके कारण आप पुत्रहीन हैं। पुत्रहीन होने के कारण देव-गण आपके यज्ञ में भाग नहीं ले रहे हैं अतः आप श्रीहरि को उद्देश्य कर पुत्रेष्टि यज्ञ करें तो वे आपको अवश्य पुत्र प्रदान करेंगे। जब सन्तान के लिये भगवान् का आवाहन किया जायेगा तो देवता लोग भी स्वयं ही अपना-अपना भाग ग्रहण करेंगे। भक्त जिस-वस्तु की कामना से भगवान् की आराधना करता है, वे उसे वही-वही पदार्थ प्रदान करते हैं। उनकी जैसी आराधना की जाती है, वैसा ही फल प्राप्त होता है—

तांस्तान् कामन् हरिर्दद्याद्यान् यान् कामयते जनः ।

आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदयः ॥४/१३/३४

परमाचार्य की बात सुनकर ऋत्विजों ने राजा को पुत्र-प्राप्ति के लिये, भगवान् को समर्पित करने के निमित्त, पुरोडाश वपन किया, रोट तैयार किया। भगवान् को रोट बहुत प्रिय है। आज भी भक्त-जन भगवान् को रोट चढ़ाते हैं। राजा ने आचार्यों के मन्त्र के साथ यज्ञ-कुण्ड में रोट का हवन किया। अग्नि में आहुति डालते ही अग्नि-कुण्ड से सुवर्णाभूषण से अलङ्कृत, शुभ्र वस्त्रों से वेष्टित एक दिव्य पुरुष निकला। उसके हाथों में खीर से भरा हुआ सुवर्ण का पात्र था। ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर उस पात्र को राजा ने सादर ग्रहण किया उसे सूँघा और खाने के लिये अपनी रानी को दे दिया। रानी ने शिर चढ़ाकर उस प्रसाद को लिया और खाया उसीसे वह गर्भवती हो गई। फलतः 'वेन' नामक पुत्र पैदा हुआ। महाराज अङ्ग की पत्नी सुनीथा मृत्यु की बेटी थी, मृत्यु असुर था। वेन बाल्यावस्था से ही अधर्म के वंश में उत्पन्न अपने नाना मृत्यु का अनुसरणकर्ता था। यही कारण है कि वेन भी महान् अधार्मिक हुआ—

स बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः । अधर्माशोद्धवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः ॥४/१३/३९

“दुःशीलत्वं मातृदोषेण” इस वचन के अनुसार बालक माता अथवा मातृ-वंश के दोष के कारण दुःशील होता है। वेन बड़े-बड़े भयङ्कर कर्म करता था। जिस मार्ग से वह निकल जाय, लोग चिल्लाये कि अरे वेन आया, अरे वेन आया। वह बच्चों को गला दबाकर मार डालता था। राजा अङ्ग के लाख प्रयास के बाद भी जब वेन नहीं सुधरा तो उन्हें महान् दुःख और वैराग्य हुआ अन्ततः एक दिन अर्धरात्रि की बेला में वह सोती पत्नी को छोड़कर घर से निकल गये। किसी को भी पता नहीं चला कि वे कहाँ गये ?—

हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्तम् ॥४/१३/४७

सबेरा हुआ। राजा दिखलाई न पड़े। मन्त्रियों ने चारों ओर खोजबीन की। किन्तु उनका कुछ भी पता न चला, तदनन्तर मन्त्रियों ने ऋषियों के पास जाकर राजा के गायब होने की बात बतलाई ॥१३॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥

## चौदहवाँ अध्याय

( अधार्मिक, प्रजाविध्वंसक वेन का ऋषियों द्वारा वध और उससे निषाद की उत्पत्ति )

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, सभी लोकों का मङ्गल चाहनेवाले भृगु आदि मुनियों ने देखा कि अङ्ग के चले जाने पर पृथिवी की रक्षा करनेवाला कोई रह नहीं गया है अतः सभी लोग पशुओं की भाँति उच्छृङ्खल होते जा रहे हैं। तब कुछ बड़े-बड़े महात्मा लोग एकत्रित हुए। विचार चला कि किस को राजा बनाया जाय ? प्रजा नहीं चाहती



थी कि वेन राजा बनें। वेन की माता सुनीथा को महात्माओं ने बुलाया और उससे सलाह करके वेन को राजगद्दी पर बैठा दिया, उसका अभिषेक कर दिया—

वीर मातरमाहूय सुनीथां ब्रह्मवादिनः । प्रकृत्यसम्मतं वेनमभ्यषिञ्चन् पतिं भुवः ॥४/१४/२  
जैसे सर्प के भय से चूहे भाग कर बिल में छिप जाते हैं वैसे ही वेन के राजा बनने पर चोर-डकैत भाग कर जहाँ-तहाँ छिप गये। उसके पास अपार सम्पत्ति थी। वह महान् अभिमानी था और उद्वण्ड था। महापुरुषों का भी अपमान करने में उसे हिचक न होती थी। ऐश्वर्यमद से उन्मत्त निर्मर्याद वेन रथ पर चढ़ कर भूतल और आकाश को कम्पित करता हुआ सर्वत्र विचरण करने लगा। उसने ढिंढोरा पिटवा कर चतुर्दिक् घोषणा करवा दी कि—“कोई भी द्विजातिवर्ण का पुरुष कभी किसी प्रकार का यज्ञ, दान और हवन न करे।” इस प्रकार उसने अपने राज्य में सारे धर्मों को बन्द करवा दिया—

एवं मदान्य उत्सिक्तो निरङ्कुश इव द्विपः । पर्यटन् रथमास्थाय कम्पयन्निव रोदसी ॥  
न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित् । इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः ॥

४/१४/५-६

वेन ने धर्म-कर्म पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया है—यह बात जब मुनियों ने सुनी तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। सभी ऋषि-मुनि सत्र के लिये एकत्रित हुए—“कृपयोचुः स्म सन्निधः” ॥७॥ उन लोगों ने विचार किया कि चोरों और डाकुओं के द्वारा प्रजा पर आये हुए सङ्कट को देखकर तो हम लोगों ने राजा की व्यवस्था की, अयोग्य होने पर भी वेन को राजा बनाया। किन्तु अब प्रजा वेन के ही अत्याचारों से सन्नस्त है। अब प्रजा का कल्याण कैसे हो ?—

अराजकभयादेष कृतो राजातदर्हणः । ततोऽऽध्यासीद्धयं त्वद्य कथं स्यात् स्वस्ति देहिनाम् ॥

४/१४/९

सुनीथा की कोख से उत्पन्न यह वेन स्वभावतः दुष्ट है। हमने उसे प्रजा की रक्षा के लिये नियुक्त किया था। यह आज उसी को नष्ट करने पर तुला हुआ है। इतना सब होने पर भी हमें इसे समझाना अवश्य चाहिये। ऐसा करने पर इसके किये हुए पाप हमें स्पर्श नहीं करेंगे। यह निश्चय करके सभी मुनि एकत्र हो वेन के समीप गये और समझाने की मुद्रा में उससे बोले—राजन्, आप हम लोगों की बात सुने। इससे आप की कीर्ति, आयु और लक्ष्मी की वृद्धि होगी। आप ने अपने राज्य में जो यज्ञ, तप, और दान आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया है, यह उचित नहीं है। आपके द्वारा धर्म का खण्डन नहीं होना चाहिये। धर्म से ही राजा और प्रजा—दोनों का मङ्गल होता है। भगवान् विष्णु की प्रसन्नता का कारण एकमात्र धर्म ही है। भगवान् की प्रसन्नता से ही इस लोक में सुख और परलोक में सद्गति प्राप्त होती है अतः आप धर्म के विरुद्ध की गई अपनी घोषणा वापस ले लें, प्रजा के यज्ञ-याग आदि का समर्थन करें—“राजन्, स्वदेशानुरोद्धमर्हसि” ॥२१॥

वेन ने मुनियों की बात सुनी। सुनते ही उसे क्रोध आ गया। उसने कहा—तुम लोग बड़े मूर्ख हो ! खेद है, तुमने अधर्म में ही धर्म की बुद्धि कर रखी है। तभी तो जीविका दाता मुझ साक्षात् पति को छोड़कर किसी दूसरे जार पति की उपासना करते हो। राजा परमेश्वर होता है जो लोग मूर्खतावश राजा का अनादर करते हैं, उन्हें न तो इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में ही—

अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम् । नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च ॥४/१४/२४

राजा के शरीर में सारे लोकपालों का निवास रहता है। यही कारण है कि राजा को सर्वदेवमय कहते हैं—“सर्वदेवमयो नृपः” ॥२७॥ इसलिये ब्राह्मणों, तुम लोग मत्सरता छोड़कर अपने सभी कर्मों द्वारा केवल मेरा ही पूजन करो, मेरी ही आराधना करो और मुझे ही बलि समर्पित करो। भला मेरे अतिरिक्त और कौन अग्रपूजा का अधिकारी हो सकता है—



तस्मान्मा कर्मभिर्विप्रा यजध्वं गतमत्सराः । बलिं च मह्यं हरत मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् पुमान् ॥

४/१४/२८

इस प्रकार की उल्टी बुद्धि देखकर महात्माओं ने समझ लिया कि अब इसका मङ्गल नष्ट हो गया है । उन्हें क्रोध आ गया । नीति का यह कहना है कि सहसा क्रोध नहीं करना चाहिये, पहले समझा-बुझाकर काम निकालना चाहिये । जब समझाने से काम न बनें तब क्रोध करे<sup>१</sup> । जब वेन पर समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव न पड़ा तब महात्माओं को क्रोध आ गया । उनके नेत्र लाल हो गये । शरीर काँपने लगा । उन्होंने उसे डाटते हुए कहा—अरे इसे मारो, मारो । यह स्वभाव से ही क्रूर तथा महापापी है । यदि यह जीवित रह गया तो कुछ ही दिनों में संसार को अवश्य भस्म कर डालेगा—

भग्नायां भव्य याच्नायां तस्मै विदुर चक्रुधुः । हन्यतां हन्यतामेष पापः प्रकृतिदारुणः ॥

जीवज्जगदसावाशु कुरुते भस्मसाद् ध्रुवम् ॥४/१४/३०-३१

ऐसा कह कर ऋषियों ने क्रोधभरी दृष्टि से उसे घूरा और साथ ही एक भयङ्कर हुंकार भी की जिससे वह सिंहासन के साथ ही पृथिवी पर गिर पड़ा और मर गया । इस घटना से पूरे राज्य में हा-हाकार मच गया । धर्मध्वंशी वेन का इस प्रकार नाश कर मुनि-जन अपने-अपने आश्रमों के लिये चले गये । सुनीथा बड़ी चालाक रानी थी । उसने वेन के मृत शरीर को तेल की नैया में रखकर उसकी रक्षा करती रही । ऋषियों को क्रुद्ध जान कर उस समय उसने कुछ नहीं कहा ।

एक दिन की घटना है । मुनिगण सरस्वती नदी के पावन तट पर बैठे थे । वहाँ हवन-पूजन के बाद भगवत्कथा चल रही थी । उसी समय मुनियों ने देखा कि संसार में बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं, जहाँ देखो, वहाँ चोरी डकैती । बड़ी अराजकता फैल रही है । चतुर्दिक् हिंसा और उपद्रव हो रहे हैं—

चोरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम् ॥४/१४/४०

अन्त में महात्माओं ने यह निश्चय किया कि महाराज अङ्ग के वंश का उच्छेद नहीं होना चाहिये । वे राज-भवन गये । वहाँ सुनीथा के द्वारा सुरक्षित रखे हुए वेन के शरीर को तैल-द्रोणी (तेल से भरी नैया) से निकाल कर उसकी जाँघ का मन्थन किया । उससे एक वामन (छोटा-सा) पुरुष पैदा हुआ । वह कौवे के समान काला था । छोटे-छोटे हाथ थे । ठोड़ी उसकी चौड़ी थी । देखने में वह अत्यन्त कुरूप था । छोटे पैर थे । नेत्र और केश लाल-लाल थे । उसने हाथ जोड़ कर मुनियों से पूछा—मेरे लिये क्या आज्ञा है ? इस पर ऋषियों ने कहा—“निषीद (बैठ जा) ।” इसीसे वह निषाद कहलाया । वेन के शरीर का यह पाप-अंश था । उसके निकल जाने से उसका शरीर निष्पाप हो गया । निषाद के वंशज नैषाद कहे जाते हैं । हिंसा, लूट-पाट आदि निन्दित कर्मों में वे रत रहते हैं । अतः वे गाँव और नगर में न टिक कर वन और पर्वतों में ही निवास करते हैं<sup>१</sup> ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

१. यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि महात्माओं के वर्णन के प्रसङ्ग में जो भृगु, अङ्गिरा और वसिष्ठ आदि के नाम आते हैं, वे सब शिखा-सूत्रधारी हैं । वर्णाश्रमी और यज्ञ-यागादिकर्ता, ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ होते हैं । संन्यास लेने के अधिकार तो बहुत थोड़े लोगों के लिये होता है । सभी महात्मा धर्मरक्षक होते हैं ।
२. कथा के इस प्रकरण से यह भी बात ज्ञात होती है कि जैसे आज-कल डॉक्टर शरीर की धातुओं का विश्लेषण कर उन्हें अलग-अलग कर देते हैं, वैसे ही प्राचीन काल के ऋषि-गण शरीर का मन्थन कर पापांश और पुण्यांश को अलग-अलग करने में सामर्थ्य थे सम्पन्न थे ।



## पन्द्रहवाँ अध्याय

( वेन की भुजाओं से अर्चि के साथ महाराज पृथु का प्रादुर्भाव और उनका राज्याभिषेक )

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, राजा वेन पुत्रहीन था। निषाद की उत्पत्ति के बाद ब्राह्मणों ने उसकी दोनों भुजाओं का मन्थन किया। उनसे स्त्री-पुरुष का एक जोड़ा उत्पन्न हुआ। उसे देख कर ब्रह्मवादी ऋषि-जन उसे भगवान् का अंश<sup>१</sup> जान कर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः । बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥

तद् दृष्ट्वा मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः । ऊचुः परमसन्तुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम् ॥४/१५/१-२

अपने सुयश का चतुर्दिक् विस्तार करने के कारण पुरुष का नाम होगा 'पृथु'। राजाओं में प्रथम होने के कारण इन्हें आदिराज भी कहा जायेगा। सुन्दर दाँतों वाली यह सुन्दरी स्त्री महाराज पृथु को ही अपना पति बनायेगी। ये दोनों क्रमशः भगवान् विष्णु और लक्ष्मी जी के अंश हैं अतः इनका आपस में विवाह धर्म-मर्यादा के विपरीत नहीं है। पृथु के रूप में साक्षात् श्रीहरि के अंश ने ही संसार की रक्षा के लिये अवतार लिया है और अर्चि के रूप में निरन्तर भगवान् की सेवा में रहनेवाली उनकी नित्य सहचरी श्रीलक्ष्मी जी ही प्रकट हुई हैं—

एष साक्षाद्भरेरंशो जातो लोकरिरक्षया । इयं च तत्परा हि श्रीरनुजज्ञेऽनपायिनी ॥४/१५/६

पृथु और अर्चि की उत्पत्ति देखकर चतुर्दिक् प्रसन्नता का वातावरण फैल गया। आकाश में देवता दुन्दुभियाँ बजाने लगे। गन्धर्व गाने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। समस्त देवता, ऋषि और पितर अपने-अपने लोकों से उतर कर वहाँ पृथु का अभिनन्दन करने के लिये आये। जगद्गुरु ब्रह्माजी देवों और देवेश्वरों के साथ वहाँ पधारे। उन्होंने देखा कि वेन-पुत्र पृथु के दाहिनी हथेली में चक्र का और चरणों में कमल का चिह्न है अतः उन्हें श्रीहरि का अंश समझा। जिसकी हथेली में चक्र का चिह्न होता है, वह भगवान् का ही अंश होता है—

वैन्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः ॥

पादयोररविन्दं च तं वै मेने हरेः कलाम् । यस्याप्रतिहतं चक्रमंशः स परमेष्ठिनः ॥४/१५/९-१०

ऋषियों के साथ उन्होंने पृथु का सविधि राज्याभिषेक करवाया। अभिषेक की बेला में सब लोग अपनी-अपनी ओर से विविध पदार्थों को भेंट करने के लिये लाये। अब तो बड़ी भारी शोभा हुई। धनाधिपति कुबेर ने सुवर्ण का सिंहासन दिया। वरुण ने छत्र समर्पित किया। श्रीहरि ने अपना चक्र दे दिया। लक्ष्मी जी ने सम्पत्ति प्रदान की। रुद्र ने खड्ग और अम्बिका ने चर्म भेंट की। इस प्रकार सभी देवी-देवों ने अपनी-अपनी वस्तुएँ पृथु और अर्चि को उपहार में दी। सिन्धु, नदी, नद और पर्वत आदि सभी ने कह दिया कि पृथु हम पर जहाँ भी जाना चाहेंगे वहाँ अपना रथ लेकर बे-रोक-टोक जा सकेंगे। ऋषियों ने उनके ऊपर अमोघ आशीष की वृष्टि की।

इस अवसर पर सूत, मागध और वन्दी-जन एकत्रित होकर पृथु की स्तुति करने के लिये उद्यत हुए। यह देख कर पृथु ने उन्हें रोक कर कहा—सौम्य सूत, मागध और वन्दीजन, अभी तो मैं पैदा हुआ हूँ। लोक में मेरा कोई गुण प्रकट नहीं हुआ है फिर तुम मेरे किन गुणों को लेकर मेरी प्रशंसा करोगे। प्रशंसा गुणों की ही होती है। गुणों की कल्पना कर स्तुति करना परिहास का कारण होता है। अतः उत्तम-जन अपनी स्तुति पसन्द नहीं करते। वे उसे निन्दित समझते हैं—

१. भगवान् का सोलहवाँ भाग एक अंश है। कला अंश से छोटी होती है। वैसे अंश को कला भी कहते हैं, जैसा यहाँ कहा गया है।



ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम् ॥४/१५/२५

अतः बच्चों की भाँति हम तुम से अपनी स्तुति करवाना पसन्द नहीं करते अतः बन्द करो सम्प्रति इस व्यापार को ॥१५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥

## सोलहवाँ अध्याय

( वन्दी-जनों के द्वारा महाराज पृथु की स्तुति )

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, महाराज पृथु के अमृतमय वचनों को सुनकर सूत, मागध, वन्दीजन बड़े प्रसन्न हुए फिर मुनियों के बतलाये हुए तरीके से वे पृथुकी इस प्रकार स्तुति करने लगे—“आप साक्षात् देवप्रवर श्री नारायण ही हैं, जो अपनी माया से अवतार ग्रहण किये हैं। हम आप की महिमा का वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं। आपने जन्म तो राजा वेन के मृतक शरीर से लिया है। किन्तु आप के पौरुष का वर्णन वृहस्पति के वश की भी बात नहीं है फिर हम अज्ञानियों की तो बात ही क्या है ?—

नालं वयं ते महिमानुवर्णने यो देववर्षोऽवततार मायया ।

वेनाङ्गजातस्य च पौरुषाणि ते वाचस्पतीनामपि बभ्रुर्भुविः ॥४/१६/२

फिर भी पूज्य मुनियों के निर्देश के अनुसार हम लोग भगवान् के अवतार रूप आप के प्रशंसनीय गुण-गणों का वर्णन अपनी बुद्धि के अनुसार करेंगे। आप धर्मधारियों में धुरन्धर होंगे। संसार को धर्म के मार्ग पर चलाने के लिये धर्ममर्यादा की रक्षा करेंगे और अधर्मिकों को दण्ड देकर उन्हें धर्म-मार्ग पर चलने के लिये विवश करेंगे। आप सूर्य के समान अवलौकिक प्रतापवान् और महिमा से मण्डित होंगे। प्रभो, मुनियों ने आपके विषय में कहा है—दया इनका स्वाभाविक गुण होगा। इनकी गति को कोई जान नहीं सकेगा। इनके कार्य भी गुप्त होंगे। ये महान् गुणों के खजाना होंगे। यह मनस्विता में साक्षात् वरुण के समान होंगे। शत्रुओं के लिये यह अत्यन्त दुर्घर्ष एवं दुःसह होंगे। यह कभी शत्रुओं के द्वारा पराजित नहीं किये जा सकते। ये धर्ममार्ग में स्थित रह कर अपने शत्रु के पुत्र को भी, दण्डनीय न होने पर, कोई दण्ड न देंगे और दण्डनीय होने पर तो अपने पुत्र को भी दण्डित करेंगे, उसे छोड़ेंगे नहीं—

नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि । दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः ॥४/१५/१३

यह अपने कार्यों से सब लोकों को सुख प्रदान करेंगे—सबका मनोरञ्जन करेंगे। इन्हीं मनोरञ्जनात्मक कार्यों के कारण प्रजा इन्हें ‘राजा’, ‘रञ्जनाद् राजा’ कहेगी—

रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः । अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः ॥४/१६/१५

यह बड़े दृढव्रती, सत्यप्रतिज्ञ, ब्राह्मण-भक्त, वृद्धों के सेवक, शरणागतों के रक्षक, सभी प्राणियों के संरक्षक और दीनवत्सल होंगे। यह पर-स्त्री में माता के समान भक्ति रखेंगे, पत्नी को अपने आधे अङ्ग के समान समझेंगे, प्रजा पर पिता के समान प्रेम रखेंगे और ब्रह्मवादियों के सेवक होंगे—

मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्यामर्ष इवात्मनः । प्रजासु पितृवत्स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम् ॥४/१६/१७



तीनों गुणों के अधिष्ठाता, निर्विकार नारायण ने ही अपने अंश से इनके रूप में अवतार धारण किया है। पण्डित-जनों ने इनमें अविद्या के कारण प्रतीत होनेवाली नाना-बुद्धि को मिथ्या ही बतलाया है—

अयं तु साक्षाद्भगवांस्त्र्यधीशः कूटस्थ आत्मा कलयावतीर्णः।

यस्मिन्नविद्यारचितं निरर्थकं पश्यन्ति नानात्वमपि प्रतीतम् ॥४/१६/१९

मानसोत्तर पर्वत से प्रारम्भ कर जहाँ तक सूर्य प्रकाशित होते हैं, वहाँ तक इनका अखण्ड साम्राज्य होगा। भू-मण्डल के सारे राजा लोग इनके कर-दाता होंगे। ये प्रजापालक राजाधिराज होकर प्रजा के जीवन-निर्वाहके लिये गोरूप-धारिणी पृथिवी का दोहन करेंगे। यह अपने धनुष की कोनों से ऊभड़-खाभड़ पृथिवी को समतल कर कृषि-योग्य बनावेंगे। रणभूमि में इनका कोई सामना न कर सकेगा। यह सरस्वती के तट पर सौ अश्वमेध यज्ञ करेंगे। अन्तिम अश्वमेध यज्ञ की बेला में इन्द्र इनके अश्वमेधीय यज्ञ का अपहरण करेंगे। अपने महल के उद्यान में एक बार भगवान् सनत्कुमार से इनकी भेंट होगी। वहाँ ये उनसे उस ज्ञान को प्राप्त करेंगे जिससे परब्रह्म की प्राप्ति होती है—

एष स्वसद्योपवने समेत्य सनत्कुमारं भगवन्तमेकम्।

आराध्य भक्त्या लभतामलं तज्ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति ॥४/१६/२५

यह अपने तेज से संसार में उपद्रवियों का समूलोन्मूलन करेंगे। सर्वत्र इनकी प्रशंसा होगी। यह आदिराज कहे जायेंगे। सर्वत्र अपने चरित्र का गान आप सुनेंगे। यह सम्पूर्ण भू-मण्डल का शासन करेंगे। उस समय देवता और असुर इनके विपुल प्रभाव का वर्णन करेंगे ॥१६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥

## सत्रहवाँ अध्याय

( पृथु का अन्न के लिये गोरूप धारिणी पृथिवी पर क्रोध करना और पृथिवी के द्वारा पृथु की स्तुति )

मैत्रेय जी ने कहा—जब इस प्रकार पृथु महाराज के गुणों एवं कर्मों की प्रशंसा वन्दीजनों ने की तब उन्होंने भी द्रव्य आदि देकर उनका सम्मान किया। महाराज पृथु ने राज्याभिषेक की बेला में आये हुए ब्राह्मण आदि चारों वर्णों, देशवासियों, मन्त्रियों, पुरोहितों, पुरवासियों एवं भिन्न-भिन्न व्यवसायियों का भी यथोचित सम्मान किया।

विदुर जी ने पूछा—मुनिवर, हमारी कुछ आशङ्काएँ हैं, कृपया आप इनका सामाधान करें। पृथिवी ने गाय का ही रूप क्यों धारण किया ? दुहने का पात्र क्या था ? उन्होंने पृथिवी को किस प्रकार समतल किया ? इन्द्र ने उनके अश्वमेधीय अश्व का हरण क्यों किया ? सनत्कुमार से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर पृथु किस गति को प्राप्त किये ?—

कस्माद्धार गोरूपं धरित्री बहुरूपिणी । यां दुदोह पृथुस्तत्र को वत्सो दोहनं च किम् ॥

प्रकृत्या विषमा देवी कृता तेन समा कथम् । तस्य मेध्यं हयं देवः कस्य हेतोरपाहरत् ॥४/१७/३-४

महाराज पृथु श्रीकृष्ण की ही कला थे अतः उनके चरित को सुनने की बड़ी उत्कण्ठा है, हमें सुनाने की कृपा करें।

विदुर जी की जिज्ञासा को सुनकर मैत्रेय जी ने कहना प्रारम्भ किया—विदुर जी, ब्राह्मणों ने महाराज पृथु का



राज्याभिषेक करके उन्हें प्रजा का रक्षक उद्घोषित किया। इन दिनों पृथिवी अन्न-विहीन हो गई थी। प्रजा-जनों के शरीर सूख कर अत्यन्त दुर्बल हो गये थे अतः उन्होंने अपने स्वामी महाराज पृथु के पास आकर कहा—

यदाभिषिक्तः पृथुरङ्ग विप्रैरामन्त्रितो जनतायाश्च पालः ।

प्रजा निरन्त्रे क्षितिपृष्ठ एत्य क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन् ॥४/१७/९

महाराज, हम भूख की ज्वाला से जल रहे हैं अतः आप शरणदाता की शरण में आज आये हैं। आप जीविका की व्यवस्था करनेवाले हमारे स्वामी हैं। आप सारे लोकों की रक्षा करनेवाले हैं। आप ही हमारी जीविका के भी स्वामी हैं अतः राजराजेश्वर आप भूख से तड़पते हुए हम लोगों को अन्न प्रदान करने का प्रबन्ध करें। कहीं ऐसा न हो कि अन्न मिलने से पहले ही हम सब समाप्त हो जाँय, मर जाँय—

तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं क्षुधार्दितानां नरदेवदेव ।

यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः ॥४/१७/११

प्रजा का करुण क्रन्दन पृथु ने सुना। लोगों का यह कष्ट कैसे दूर हो ? इसके लिये वे बहुत देर तक सोचते रहे, अन्त में उन्हें अन्न के अभाव का कारण विदित हो गया। उन्होंने जान लिया कि—“पृथिवी ने स्वयं ही अन्न एवं औषधियों को अपने भीतर छिपा लिया है”। यह जानकर वे कुपित हो उठे। उन्होंने अपना धनुष उठाया और पृथिवी को लक्ष्य करके उस पर बाण चढ़ाया। पृथिवी ने महाराज के अभिप्राय को समझ लिया। उसने गाय का रूप धारण कर, हरिणी के समान, उनके सामने से भागने लगी। किन्तु वह त्रिलोकी में भाग कर जहाँ भी कहीं गई वहीं उसे धनुष पर बाण चढ़ाये, पीछा करते हुए पृथु दिखलाई पड़े। उसे ऐसा कोई भी नहीं मिला जो उसकी रक्षा के लिये सामने आवे। हार कर वह लौट आई और विनती भरे शब्दों में महाराज पृथु से कहा—“प्रभो, आप तो शरणागत-वत्सल हैं। सारे प्राणियों की रक्षा आप का धर्म है अतः आप मेरी भी रक्षा करें। मैं अत्यन्त दीन और निरपराध हूँ। आप मुझे क्यों मारना चाहते हैं ? सारा संसार आप को धर्मज्ञ समझता है। ऐसी स्थिति में आप मुझ निरपराध अबला को क्यों मारना चाहते हैं ? यदि स्त्रियाँ अपराध करें तो भी सामान्य व्यक्ति भी उन पर हाथ नहीं उठते हैं फिर आप तो दयालुता की मूर्ति हैं, दीनवत्सल हैं। ऐसी स्थिति में आप मेरे ऊपर कैसे हाथ उठायेंगे ?—

स त्वं जिघांससे कस्मादीनामकृतकित्विषाम् । अहनिष्यत्कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः ॥

प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु कृतागःस्वपि जन्तवः । किमुत त्वद्विधा राजन् करुणा दीनवत्सलाः ॥

४/१७/१९-२०

महाराज, मैं जल पर नौका के समान स्थित हूँ। सारा संसार और आप भी मेरे ऊपर विराजमान हैं। यदि आप मुझे विखण्डित कर देंगे तो सारा जहान जल में डूब जायेगा।

पृथिवी की दीनताभरी बात महाराज ने सुनीं फिर उन्होंने कहा—‘वसुधे, तू मेरी आज्ञा का उल्लंघन करनेवाली है। तू यज्ञ में देवतारूप से भाग तो लेती हो, किन्तु उसके बदले में हमें अन्न नहीं देती अतः आज मैं तुझे मार डालूँगा। तू प्रतिदिन हरी-हरी घास खा जाती है और दूध नहीं देती है—ऐसी दुष्टता करने पर तुझे दण्ड देना अनुचित नहीं है। तूने ब्रह्माजी के द्वारा उत्पन्न किये गये बीजों को अपने में छिपा लिया है और अब मेरी भी परवाह न करके उन्हें अपने गर्भ से निकालती नहीं हो, उन्हें उगाती नहीं हो अतः भूख से पीड़ित सारी प्रजा में हाहाकार मचा हुआ है। इस स्थिति में प्रजा की रक्षा के लिये तेरा वध सर्वथा उचित है। अब मैं अपने बाणों से तुझे छिन्न-भिन्न करके तेरे मेदा से क्षुधातुर जनों की भूख शान्त करूँगा। जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों के प्रति निर्दय बन कर अपना ही भरण-पोषण करता है, वह स्त्री हो, नपुंसक हो अथवा पुरुष हो—कोई भी हो—राजाओं के लिये उसका वध न करने के समान है अर्थात् ऐसे स्वार्थी व्यक्ति के वध से कोई पाप नहीं लगता है—



पुमान् योषिदुत क्लीब आत्मसंभावनोऽधमः । भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः ॥

४/१७/२६

मेदिनी, तू बड़ी गर्वीली हो गई हो । मैं तुझे बाणों से विखण्डित करके अपने योगबल से प्रजा को जल के ऊपर ही धारण कर लूँगा । महाराज की यह बात सुन कर गोरूपधारिणी पृथिवी काँपते हुए बोली—‘प्रभो, आप क्रोध न करें । आप का स्वरूप तो राग-द्वेष आदि से रहित है । आप ही विविध रूपों को धारण कर संसार की रक्षा करते हैं । आप सम्पूर्ण जगत् के रचयिता हैं । आप ने ही संसार को धारण करने के लिये मुझे जल के ऊपर स्थापित किया है । अब यदि आप ही मुझे मारने के लिये तैयार हैं, तब मैं और किसकी शरण ग्रहण करूँ ?—

स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वराडुपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये ॥४/१७/३०

स्वामिन्, आप की लीला बड़ी अद्भुत है । अजितेन्द्रिय व्यक्ति उसकी महिमा को समझ ही नहीं सकता है । आप वीरमूर्ति हैं । आप को मैं बार-बार प्रणाम कर रही हूँ । साथ ही आप के भक्तों को भी मेरा नमस्कार है ॥१७॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

## अठारहवाँ अध्याय

( पृथु के नेतृत्व में पृथिवी से अन्न आदि पदार्थों का दोहन )

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, इस प्रकार पृथिवी डर कर भगवान् पृथु की स्तुति करने लगी । उसने प्रार्थना की कि—महाराज, आप के मन में यह जो क्रोध है, इसको आप शान्त कर दीजिये और मेरी प्रार्थना सुनिये—बुद्धिमान् पुरुष, प्रमर के समान सभी जगह से सार को ग्रहण कर लेते हैं—

संनियच्छाभिभो मन्युं निबोध श्रावितं च मे । सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः ॥४/१८/२

प्रजापालक राजन्, पूर्व पुरुषों ने इस लोक और परलोक में लोगों के कल्याण के लिये बहुत-से उपायों को बतलाया है । आप को भी प्रजा को अन्न देने के लिये उपाय का आश्रय लेना चाहिये, जो व्यक्ति पुरखों के द्वारा बतलाये गये मार्ग का श्रद्धा के साथ अवलम्बन करता है, वह अभीष्ट फल को प्राप्त कर लेता है । इसके विपरीत आचरण करनेवाले व्यक्ति दुःख के भागी बनते हैं । वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं होते हैं । राजन्, पूर्वकाल में ब्रह्मा जी ने जिन धान्य आदि अन्नों को उत्पन्न किया था, उन्हें भ्रष्ट आचरणवाले लोग, बिना यज्ञ-याग आदि किये खाये जा रहे हैं । यह देख कर आगे यज्ञ के लिये औषधियों को मैंने अपने अन्दर छिपा लिया है । आप उन्हें पूर्व आचार्यों के द्वारा बतलाये हुए उपाय से निकाल लीजिये । यदि आप को प्राणियों के लिये अन्न की आवश्यकता है तो आप मेरे योग्य बछड़ा, दोहनपात्र (मटकी) और दुहनेवाले की व्यवस्था कीजिये, मैं उस बछड़े के स्नेह से पिन्हा कर दूध के रूप में आप को सारे पदार्थ प्रदान कर दूँगी । एक बात और है यदि आप को अन्न आदि वस्तुएँ चाहियें तो आप हमको समतल करें और वर्षा से जो जल आता है उसे एकत्रित करने की व्यवस्था करें । जब वर्षा न हो तो भी जलाशयों में पानी भरा रहे, उससे सिंचाई हो और लोगों को पीने के लिये पानी मिले—

समां च कुरु मां राजन् देववृष्टं यथा पयः । अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे विभो ॥४/१८/११

पृथिवी के कहे हुए इस प्रकार के प्रिय और हितकर वचनों को सुनकर उन्हें स्वीकार करके महाराज पृथु ने स्वायम्भुव मनु को बछड़ा बना अपने हाथ में ही समस्त धान्यों को दुह लिया—

इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः । वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः ॥४/१७/१२



तदनन्तर गो रूपी पृथिवी से सभी ने अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुएँ दुहीं। ऋषियों ने बृहस्पति को बछड़ा बनाकर इन्द्रिय (वाणी, मन और श्रोत्र) रूप पात्र में पृथिवी देवी से वेदरूप पवित्र दूध दुहा। देवों ने इन्द्र को वत्स बनाकर सुवर्ण के बर्तन में अमृत दुहा। दैत्यों ने प्रह्लाद<sup>१</sup> को बछड़ा बनाकर लोहे के पात्र में मदिरा दुही। गन्धर्व और अप्सराओं ने विश्वावसु को बछड़ा बनाकर कमलरूप पात्र में संगीत-माधुर्य और सौन्दर्यरूप दूध दुहा। पितरों ने अर्यमा को वत्स बनाकर मिट्टी के पात्र में कव्य दुहा। 'स्वधा' का उच्चारण कर पितरों के उद्देश्य से दिया गया अन्न 'कव्य' कहलाता है। फिर सिद्धों ने कपिलदेव जी को बछड़ा बनाकर आकाशरूप पात्र में अणिमादि सिद्धियाँ तथा विद्याधरों ने आकाश-गमन आदि विद्याओं को दुहा। अन्य मायवियों ने मय को वत्स बनाकर मायारूप दूध दुहा। पिशाचों ने रुद्र को वत्स बनाकर खप्पर में रक्त दुहा। सर्पों ने तक्षक को बछड़ा बनाया और मुखरूपी पात्र में विष दुहा। मांसभक्षी पशुओं ने सिंह को वत्स बनाकर अपने शरीररूपी पात्र में भक्ष्य मांस दुहे। पक्षियों ने गरुड़ को बछड़ा बनाया और कीट, पतङ्ग और फल आदि दुहे। पशुओं ने भगवान् शिव के वाहन वृष को बछड़ा बनाकर वनरूप पात्र में तृणरूप दूध दुहा। पर्वतों ने हिमालय को बछड़ा बनाकर अपने शिखररूपी पात्रों में विविध प्रकार की धातुएँ दुहीं। कहने का भाव यह है कि पृथिवी तो सभी अभीष्ट वस्तुओं को देनेवाली है और इस समय वह पृथु के अधीन थी अतः उससे सभी ने अपनी-अपनी जाति के सर्व प्रमुख व्यक्ति को बछड़ा बनाकर अलग-अलग पात्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों को दूध के रूप में दुह लिया। इस पर महाराज पृथु पृथिवी पर बहुत प्रसन्न हुए और उसे पुत्री के समान स्नेह प्रदान कर कन्या के रूप में स्वीकार कर लिया फिर महाराज पृथु ने अपने धनुष की नौक से सारे पर्वतों को फोड़ कर पृथिवी को समतल बनाया। प्रजा को वे पुत्र की भाँति प्यार करते थे। प्रजा के हित के लिये उन्होंने इस भूतल पर निवासार्थ पुर, ग्राम, कस्बा और दुर्ग आदि की सुन्दर रचना की। इनमें प्रजा निर्भीक होकर निवास करने लगीं। पृथु के पूर्व ऐसी सुविधा नहीं थी—

प्राक् पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना । यथासुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभयाः ॥४/१८/३२  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥

## उन्नीसवाँ अध्याय

( पृथु के सौवें अश्वमेध यज्ञ में इन्द्रद्वारा यज्ञीय अश्व का अपहरण )

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, पृथिवी को सुव्यवस्थित करके प्रजा के लिये अन्न का प्रबन्ध हो जाने पर महाराज पृथु ने मनु के ब्रह्मावर्त क्षेत्र में, जहाँ सरस्वती नदी पूर्ववाहिनी होकर बहती है, सौ अश्वमेध यज्ञ करने का पवित्र सङ्कल्प किया—

अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन सः । ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ॥४/१९/१  
उनके ९९ यज्ञ निर्विघ्न पूरे हो गये। अब प्रारम्भ हुआ अन्तिम सौवाँ यज्ञ। यह देख कर इन्द्र को ईर्ष्या हुई<sup>१</sup>।

- यद्यपि जिस समय पृथु पृथिवी का दोहन कर रहे थे, उस समय प्रह्लाद का जन्म नहीं हुआ था। फिर भी यहाँ उनका उल्लेख हुआ है। इसे पूर्वकल्प में उनकी उत्पत्ति को लेकर समाधान कर लेना चाहिये। काल-कृत गड़बड़ियाँ भागवत में अन्यत्र (प्र०स्क०, अ० १८, श्लोक ४४-४५। अ० १८, श्लोक ३ आदि) भी देखी जा सकती हैं।
- सौ अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न पूरा करनेवाला ही स्वर्ग में इन्द्र पद का अधिकारी बनता है। यही कारण है कि इन्द्र को 'शतक्रतु' सौ यज्ञ करनेवाला कहा जाता है।



उन्होंने सोचा—पृथु के कर्म तो मेरी अपेक्षा भी बढ़ जायेंगे अतः पृथु के इस अश्वमेध यज्ञ में विघ्न डालने का उन्होंने निश्चय कर लिया। इस यज्ञ में श्रीहरि के साथ ही ब्रह्मा, शिव एवं समस्त लोकपाल आदि अपने-अपने अनुचरों के साथ पधारे थे। कपिल, नारद एवं सनकादि भी अपनी उपस्थिति से पृथु के यज्ञ को उज्ज्वल कर रहे थे। ऋषि, मुनि एवं योगेश्वर भी वहाँ उपस्थित थे। भारत, उस यज्ञ में यज्ञ की सारी सामग्रियों को देनेवाली भूमि कामधेनु का रूप धारण कर यजमान की सारी कामनाओं को पूर्ण कर रही थी—

अथ धर्मदुघा भूमिः सर्वकामदुघा सती । दोग्धि स्माभीप्सितानर्थान् यजमानस्य भारत ॥४/१९/७

वहाँ चारों ओर दूध, दही और घी की नदियाँ बह रही थीं। वृक्ष विविध प्रकार के रसीले फलों का ढेर उपस्थित कर रहे थे। सागरों ने तमाम रत्नों का उपहार दिया। पर्वत भक्ष्य, भोज्य, चोष्य तथा लेह्य—चार प्रकार के अन्न तथा लोकपालों के सहित सम्पूर्ण लोक तरह-तरह के उपहार उन्हें समर्पित करते थे।

महाराज पृथु श्रीहरि के एकनिष्ठ भक्त थे। उनकी कृपा से उनका उस यज्ञानुष्ठान में महान् उत्कर्ष हुआ। किन्तु यह बात देवराज इन्द्र को सहन न हुई। उन्होंने उसमें विघ्न डालने की चेष्टा की। वे चाहते थे कि पृथु के सौ यज्ञ पूरे नहीं होने चाहिये अतः उन्होंने ईर्ष्यावश गुप्तरूप से यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया, हर लिया। इन्द्र ने अपनी रक्षा के लिये कवचरूप से पाखण्ड वेश धारण कर लिया था। यह पाखण्डवेश अधर्म में धर्म का भ्रम उत्पन्न करनेवाला था— जिसका आश्रय लेकर पापी पुरुष भी धर्मात्मा-सा जान पड़ता है। पाखण्डी के वेश में वे घोड़े को लिये बड़ी शीघ्रता से आकाशमार्ग से जा रहे थे। इस दृश्य को महाराज अत्रि ने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया। उनके कहने से महाराज पृथु का महारथी पुत्र क्रोध करके 'अरे, खड़ा रह ! खड़ा रह'—यह कह कर ललकारते हुए उनके पीछे दौड़ा। इन्द्र शिर पर जटाजूट और शरीर में भस्म धारण किये हुए थे। उनका ऐसा वेश देख कर पृथुकुमार ने उन्हें मूर्तिमान् धर्म समझा। यही कारण था कि उसने उन पर बाण नहीं छोड़ा और लौट आया। तब महर्षि अत्रि ने पुनः उसे आज्ञा दी इन्द्र को मारने के लिये। अत्रि ने कहा— 'वत्स, यह कोई धर्मात्मा नहीं, किन्तु इन्द्र है। यह तुम्हारे यज्ञ में विघ्न डालने के लिये अश्व का हरण कर रहा है अतः इसे मार डालो—

वधान्रिवृत्तं तं भूयो हन्तवेऽत्रिरचोदयत् । जहि यज्ञहन् तात महेन्द्रं विबुधाधमम् ॥४/१९/१५

अत्रि की प्रेरणा से पृथुकुमार ने क्रोध करके, आकाश मार्ग में बड़ी तेजी से भागते हुए इन्द्र पर उसी प्रकार आक्रमण किया जैसे रावण पर जटायु झपटा था। इन्द्र ने देखा पृथुकुमार उन पर झपट रहा है अतः वे उस वेश और घोड़े को छोड़कर अन्तर्धान हो गये और वह वीर अपना यज्ञीय अश्व लेकर यज्ञशाला में लौट आया। उसके वीरता भरे अद्भुत कर्म को देखकर महर्षियों ने उसका नाम 'विजिताश्व' रख दिया। आगे वह इसी नाम से विख्यात हुआ।

अश्व के आ जाने पर यज्ञ-कर्म आगे बढ़ा। घोड़ा सुवर्ण की जंजीर से बाँध दिया गया फिर इन्द्र ने माया से घोर अन्धकार फैला दिया और घोड़े को सोने की जंजीर के सहित अपहरण कर लिया। अत्रि ने पुनः पृथुकुमार को दिखला कर उकसाया। उसने अश्वहर्ता को ललकारते हुए पीछा किया। इस बार भी इन्द्र ने पाखण्ड वेश धारण कर रक्खा था। उनके हाथ में कपाल और खट्वाङ्ग था अतः पृथुपुत्र ने उन्हें मार्ग में कोई बाधा न पहुँचाई फिर अत्रि ने उसे कहा यह पाखण्डी इन्द्र ही है। मारो इसे। पृथुकुमार ने उनका पीछा करके धनुष पर बाण चढ़ाया ही था कि इन्द्र वेश और घोड़े को छोड़कर अन्तर्हित हो गये। विजिताश्व पुनः अश्व लेकर यज्ञ-मण्डप में आये। इन्द्र ने अश्व-हरण की इच्छा से जिन-जिन वेशों को धारण किया था, वे पाप के खण्ड होने के कारण पाखण्ड कहलाये। यहाँ 'खण्ड' शब्द चिह्न का बोधक है। यज्ञ-पशु के हरण की बेला में इन्द्र ने जिन रूपों को ग्रहण करके छोड़ा था उन्हें



वाममार्गी, कापालिक आदि ने जीविका चलाने के लिये ग्रहण कर लिया, यही कारण है कि संसार में बहुत-सा पाखण्ड फैल गया। पाखण्डी बड़ी मनोहर युक्तियों से अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। लोग भ्रमवश धर्म मान कर इनमें आसक्त हो जाते हैं—

तदवद्यं हरे रूपं जगद्गुह्यनिदुर्बलाः ।।

यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया । तानि पापस्य खण्डानि लिङ्गं खण्डमिहोच्यते ।।

एवमिन्द्रे हरत्यश्च वैनयज्ञजिघांसया । तद्गृहीतविसृष्टेषु पाखण्डेषु मतिर्नृणाम् ।।

धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु ।। प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु ।।

४/१९/२२-२५

किन्तु पाखण्ड के आचरण से लोगों का इहलोक और परलोक—दोनों ही विनष्ट हो जाता है अतः लोगों को चाहिये कि इनकी मीठी बातों और भ्रामक वेष से सतत सावधान रहें।

जब महाराज पृथु को इन्द्र की कुचाल का पता लगा तो वे कुपित हो उठे। उन्होंने अपना धनुष उठाकर उस पर चढ़ाया ही था कि यज्ञ के आचार्यों ने कहा—महाराज, आप शान्त हो जाँय। आप ने यज्ञ की दीक्षा ले रखी है अतः आप को यज्ञीय पशु को छोड़कर किसी अन्य का वध नहीं करना चाहिये। हम अमोघ आवाहन-मन्त्रों के द्वारा इन्द्र को यहीं बुला लेते हैं और हठात् उसका अग्नि में हवन कर देते हैं। आप शान्त हो जाँय—“प्रसह्य राजन् जुहवाम तेऽहितम्” ॥२८॥ ऐसा कह कर ज्यों ही ऋत्विजों ने आवाहन का मन्त्र बोलकर हवन करने की तैयारी की, त्योही ब्रह्मा ने उन्हें रोकते हुए कहा—राजन्, आप श्रीहरि के अंश और मोक्षधर्म के जानने वाले हैं अतः इन्द्र पर क्रोध न करें और इस यज्ञ को भी बन्द कर दें। इसकी आवश्यकता आप को नहीं है। आप का मङ्गल हो। आप और इन्द्र—दोनों ही श्रीहरि के शरीर हैं अतः इन्द्र के ऊपर आप को क्रोध नहीं करना चाहिये। वह और आप दोनों ही एक हैं। देवताओं के साथ हठ करना समीचीन नहीं है। यदि आप का एक अश्वमेध यज्ञ कम रहेगा तो उससे आप की कोई हानि नहीं है, क्योंकि आप तो मोक्षधर्म के ज्ञाता हैं। दूसरी बात यह है कि आप के यज्ञीय अश्व को चुरानेवाला आपसे लज्जित हो रहा है अतः तुम उससे सन्धि कर लो। आप का अवतार धर्म की रक्षा के लिये हुआ है। इन्द्र पाखण्ड फैला रहे हैं। सामान्यजन इसका अनुकरण करेंगे अतः लोक-मङ्गल खतरे में पड़ जायेगा। फैले हुए पाखण्ड का आप विनाश करें, उसे बढ़ने का अवसर आप न दें—

प्रचण्डपाखण्डपथं प्रभो जहि ॥४/१९/३८

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, ब्रह्मा के वचनों को सुनकर महाराज पृथु ने यज्ञ का आग्रह छोड़ दिया और इन्द्र के साथ प्रीतिपूर्वक सन्धि कर ली—

स इत्थं लोकगुरुणा समादिष्टो विशाम्यतिः । तथा च कृत्वा वात्सल्यं मघोनाऽपि च सन्दधे ।।

४/१९/३९

फिर यजमान महाराज पृथु ने यज्ञान्त स्नान किया। ऋषियों, मुनियों, ब्राह्मणों एवं आचार्यों को सविनय प्रणाम कर दान मान से उनका पूजन कर आशीर्वाद ग्रहण किया। अन्य लोगों को भी यथावसर धन देकर पृथु ने सम्मानित किया—

पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः ॥४/१९/४२

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह उन्नीसवीं अध्याय समाप्त हुआ ॥१९॥



## बीसवाँ अध्याय

( यज्ञशाला में प्रादुर्भूत भगवान् के ज्ञानोपदेश से पृथु और इन्द्र की मित्रता )

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, महाराज पृथु नित्यानवे यज्ञ पूरे कर चुके थे। इससे यज्ञपति भगवान् उन पर परम प्रसन्न थे वे इन्द्र को साथ लेकर पृथु के पास आये। भगवान् ने कहा देखो, पृथु यह वही इन्द्र हैं, जिन्होंने तुम्हारे अन्तिम यज्ञ में बार-बार विघ्न किया है। अब यह क्षमा मांग रहे हैं, इसलिये तुम इनको क्षमा कर दो—

एष तेऽकार्षीद्भङ्गं हयमेघशतस्य ह । क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि ॥४/२०/२  
देखिये, इससे बड़ी विजय क्या होगी कि स्वयं यज्ञेश्वर भगवान् इन्द्र को पकड़कर ले आये और बोले कि ये तुम से क्षमा की भीख मांग रहे हैं। यदि सौवा यज्ञ निर्विघ्न पूरा हो भी जाता तो क्या इससे बड़ी कीर्ति मिलती ? कभी नहीं। नरदेव जो श्रेष्ठ मानव हैं, साधु हैं और सद्बुद्धि से सम्पन्न हैं, वे दूसरे प्राणियों से द्रोह नहीं करते; क्योंकि यह शरीर आत्मा नहीं है—

सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः । नाभिद्वहन्ति भूतेभ्यो यर्हि नात्मा कलेवरम् ॥४/२०/३  
महाराज पृथु, सद्गुणों से सम्पन्न विद्वान् जन अविद्या से रचित इस भौतिक शरीर में और इस शरीर से सम्बन्ध रखने वाले घर, जन और सम्पत्ति में ममता नहीं रखते—

असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे । अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः ॥४/२०/६  
यह आत्मा एक, शुद्ध, बुद्ध, स्वयं प्रकाश, निर्गुण, गुणों का आश्रयस्थान, सर्वव्यापक, आवरण-रहित, सब का साक्षी एवं अन्य आत्मा से रहित है अतः यह शरीर से भिन्न है। हृदय में वर्तमान इस आत्मा के चिन्तन से व्यक्ति शरीर में रहते हुए भी मान-अपमान तथा सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता है। वह द्वन्द्वों से परे हो जाता है—

नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः ॥४/२०/८

राजन् ! जो व्यक्ति, जो पुरुष, किसी प्रकार की कामना न रखकर अपने वर्ण एवं आश्रम के धर्मों द्वारा नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक मेरी आराधना करता है, उसका मन धीरे-धीरे शुद्ध, निर्मल अतः प्रसन्न हो जाता है, फिर उसमें मेरा अनुभव होने लगता है। हे राजन्, आत्मा से भिन्न देहाभिमानी जीव को संसार की अनुभूति होती है, आत्मा को नहीं। इसलिये मुझ में दृढ अनुराग करनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सम्पत्ति और विपत्ति प्राप्त होने पर न तो कभी प्रसन्न होते हैं और न कभी उदास या दुःखी ही—

भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः ।

दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो न विक्रियन्ते मपि बद्धसौहृदाः ॥४/२०/१२

भगवान् ने अपना नाता जोड़नेवाले भक्त-जन सम्पत्ति और विपत्ति की एक अलग ही परिभाषा रखते हैं। उनके अनुसार संसारी लोग जिन्हें विपत्तियाँ समझते हैं, वे विपत्तियाँ नहीं और जिन्हें वे सम्पत्तियाँ समझते हैं, वे सम्पत्तियाँ नहीं हैं। उनके अनुसार भगवान् को भूल जाना सब से बड़ी विपत्ति है और भगवान् को याद करना ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः । विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः ॥

अतः वीरवर, सभी प्राणियों में समान दृष्टि रखकर, सुख और दुःख को भी एक-सा समझकर, इन्द्रियों को वश में रखकर प्रजा का पालन करो। इससे परलोक में प्रजा के पुण्य का छठा भाग आप को प्राप्त होगा। जो राजा प्रजा से कर तो लेता है और बदले में उसकी रक्षा नहीं करता, उसका सारा पुण्य प्रजा छीन लेती है और बदले में उसे प्रजा के पाप का भागी बनना पड़ता है—



श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो यत्साम्प्रदाये सुकृतात् षष्ठमंशम् ।

हर्ताऽन्यथा हृत्पुण्यः प्रजानामरक्षिता करहारीऽधममिति ॥४/२०/१४

राजन्, तुम्हारे गुणों और स्वभाव ने मुझे वश में कर लिया है अतः तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझसे मांग लो। समबुद्धिवाले जनों को मैं सर्वदा सुलभ रहता हूँ। मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, सारे संसार के स्वामी श्रीहरि के ऐसा कहने पर जगद्धिजयी महाराज पृथु ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली। देवराज इन्द्र अपने कर्म से लज्जित होकर उनके चरणों पर गिरना ही चाहते थे कि राजा ने उन्हें प्रेमपूर्वक उठाकर छाती से लगा लिया और उनके प्रति विद्वेष को अपने मन से निकाल दिया—

स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा । शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह ॥

४/२०/१८

इस प्रकार दोनों में मैत्री हो गई। दोनों में मित्रता करवाकर भगवान् जाना ही चाहते थे, किन्तु पृथु के प्रेम में बद्ध होने से वे जा न सके। उस समय पृथु की विलक्षण दशा थी। उनकी आँखें आँसुओं से भर गई, कण्ठ गद्गद हो गया अतः वे न तो भगवान् को देख ही सकते थे और न कुछ बोल ही सकते थे। वे भगवान् को हृदय से पकड़ कर केवल हाथ जोड़े खड़े थे। फिर किसी-किसी तरह उन्होंने अपने को संभाला और कहना प्रारम्भ किया—मुझे तो उस मोक्ष पद की भी इच्छा नहीं है जिसमें महापुरुषों के हृदय से, उनके मुख द्वारा निकला हुआ आपके चरण-कमलों का मकरन्द नहीं है—जहाँ आप की कीर्ति-कथा के सुनने का आनन्द नहीं मिलता है अतः मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप मुझे दस हजार कान दे दीजिये<sup>१</sup>, जिनसे मैं आपके लीला-गुणों को निरन्तर सुनता ही रहूँ—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।

महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेव मे वरः ॥४/२०/२४

उत्तम कीर्तिवाले प्रभो, इसके अतिरिक्त मुझे और कोई दूसरा वर नहीं चाहिये। स्वयं लक्ष्मी जी भी सब कुछ छोड़कर आपके चरण-कमल का ही आदर करती हैं। जो सज्जनों की सङ्गति में आपके मङ्गलमय यश का एक बार भी श्रवण कर लेता है, उसे कभी भगवच्चरणारविन्द से वैराग्य नहीं होता, तृप्ति नहीं होती। जो मनुष्य शकल से मनुष्य होकर भी पशु है, वही आपके चरित से विरक्त हो सकता है। जैसे लक्ष्मी आपके चरणारविन्द से प्रेम करती हैं, वैसा ही मेरा भी प्रेम आप से हो। लक्ष्मी से हमारा, इसके लिये, कोई कलह न हो—और सेवा की बेला में यदि मेरा उनसे विरोध हो गया तो आप मेरा ही पक्ष ग्रहण करेंगे; क्योंकि आप जो ठहरे दीनवत्सल, दीनदयालु—

जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ।

करोषि फल्वप्युरु दीनवत्सलः स्व एव धिष्येऽभिरतस्य किं तथा ॥४/२०/२८

पिता वही कार्य करता है, जिसमें बालक का हित होता है। ठीक उसी प्रकार जो भी मेरे लिये हितकर हो वही वर आप मुझे प्रदान करें—

यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं तथात्वमेवार्हसि नः समीहितम् ॥४/२०/३१

महाराज पृथु ने इस प्रकार भगवान् से स्तुतिपूर्वक जब निवेदन किया तब मुस्कराते हुए भगवान् ने कहा—राजन्, ऐसा ही होगा। तुम्हारी भक्ति मुझमें सर्वदा बनी रहेगी। जिससे मेरी प्रबल माया भी तुम्हारे ऊपर अपना प्रभाव

१. दस हजार कान मांगने का अर्थ है कि मेरे इन दो कानों में दस हजार कानों की शक्ति प्रदान कर दीजिये जिससे आपकी कीर्तिकथा को सुनकर मैं न अघाऊँ, अतृप्त ही रहूँ। तुलसीदास जी ने भी कहा है— रामचरित जे सुनत अघाहीं। रसविशेष जाना तिन नाही ॥मानस॥



न डाल सकेगी। अब तुम सावधानी से मेरी आज्ञा का पालन करते रहो। प्रजापालक नरेश, जो पुरुष मेरी आज्ञा का पालन करता है, उसका कभी अमङ्गल नहीं होता। यह कह कर भगवान् महाराज पृथु से पूजित होकर, पृथु और सारे सदस्यों का मन चुरा कर अपने मङ्गलमय धाम को चले गये। जब तक भगवान् ओझल नहीं हो गये पृथु उनकी छवि निर्निमेष नयनों से निहारते रहे। इसके बाद राजा ने वहाँ समागत ऋषियों, मुनियों, देवों, और सामान्य जनों को यथोचित दान-मान कर विदा किया। वे सब राजा को आशीर्वाद देकर अपने-अपने धाम को चले गये। राजा भी यज्ञशाला को प्रणाम कर अपनी राजधानी में चले गये ॥२०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२०॥

## इक्कीसवाँ अध्याय

( महाराज पृथु का अपनी प्रजा को धर्मोपदेश )

मैत्रेय जी विदुर जी से पृथु की राजधानी का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि वह बड़ी पवित्र, बड़ी उज्ज्वल, बड़ी स्वच्छ और बहुमूल्य वस्तुओं से सजाई हुई थी। पूरी राजधानी मोतियों की लड़ियों, फूलों की मालाओं, रत्न-विरङ्गे वस्त्रों, सोने के दरवाजों और सुगन्धित धूपों से सुशोभित थी—

**मौक्तिकैः कुसुमस्रग्भिर्दुकूलैः स्वर्णतोरणैः । महासुरभिभिर्धूपैर्मण्डितं तत्र तत्र वै ॥४/२१/१**  
महाराज पृथु के आगमन के समय नगर की कन्याएँ हाथ में मङ्गल थाल लेकर खड़ी हो गईं। शङ्ख आदि बजने लगे। इतना स्वागत-सम्मान देखकर भी पृथु को कोई अभिमान नहीं हुआ। वे सिंहासन पर बैठे और अगणित उदार कार्य करते हुए पृथिवी का शासन करने लगे। संसार में अपने विपुल यश का विस्तार कर अन्त में वे भगवान् के परम पद को प्राप्त किये—

**स एवमादीन्यनवद्यचेष्टितः कर्माणि भूयांसि महान् महत्तमः ।**

**कुर्वन् शशासावनिमण्डलं यशः स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम् ॥४/२१/७**

सूत जी कहते हैं कि—शौनक जी, महाराज पृथु के अद्भुत चरितों को सुनकर विदुर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने बड़े आदर के साथ मैत्रेय जी से पुनः पूछा—मुने, ब्राह्मणों ने महाराज पृथु का अभिषेक किया। समस्त देवों ने उन्हें उपहार दिये। उन्होंने वैष्णव तेज से सम्पन्न अपनी भुजाओं से पृथिवी का दोहन किया। यह लोकोत्तर कार्य लोकपालों के लिये भी संभव न था। फिर सामान्य राजाओं की तो बात ही क्या है? उनके चरित-श्रवण से मुझे तृप्ति नहीं हो रही है अतः अभी आप मुझे उनके कुछ और भी पवित्र चरित्र सुनाइये।

विदुर की विनयभरी विनती सुन कर मैत्रेय जी ने कहना प्रारम्भ किया—विदुर जी, महाराज पृथु की राजधानी गङ्गा और यमुना के मध्य में थी। वहाँ निवास करते हुए वे अपने पुण्य-कर्मों के क्षय की इच्छा से प्रारब्ध वश प्राप्त हुए भोगों को ही भोगते थे। ब्राह्मणों एवं वैष्णवों को छोड़कर सप्त द्वीपा वसुमती पर उनका अखण्ड और अबाध शासन था। इस समय एक बार पृथु ने महायज्ञ की दीक्षा ग्रहण की। उसमें ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों, सिद्धों एवं गन्धर्वों आदि का विशाल समवाय एकत्रित हुआ। राजा ने सब का यथायोग्य मान-सम्मान किया और सभा के मध्य में हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए। मैत्रेय जी ने प्रायः दस श्लोकों में उनके दिव्य दर्शनीय विग्रह, सुन्दर, सरल परिधान, अतिशय निरहङ्कार मृदुल स्वभाव एवं चारु, चित्रपद, मधुर, मनोहर निःशङ्क वाणी का वर्णन किया है। उन्होंने



कहा—सज्जनों, आप का कल्याण हो। आप महानुभाव, जो यहाँ पधारे हैं, मेरी प्रार्थना सुनें। जिज्ञासु पुरुषों को चाहिये कि संत-समाज में अपने निश्चय का निवेदन करें। लोगों के कल्याण, सामाजिक सुव्यवस्था एवं सब की आजीविका के प्रबन्ध के लिये मुझे राजा बनाया गया है अतः इनका भली-भाँति पालन करने से मुझे उत्तमोत्तम लोकों की प्राप्ति होगी। जो राजा प्रजा को धर्म-मार्ग की शिक्षा न देकर केवल उससे कर वसूल करने में ही लगा रहता है, वह केवल प्रजा के पाप का ही भागी होता है और ऐश्वर्य से च्युत होकर सत्पुरुषों की निन्दा का पात्र बनता है—

य उद्धेरत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वाशिक्षयन् । प्रजानां शमलं भूङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः ॥४/२१/२४

सब लोग ईर्ष्या द्वेष छोड़कर, हृदय से भगवान् का स्मरण करते हुए अपने कर्तव्य कर्म का पालन करें। मुझे विश्वास है, मेरे इस कथन का आप सब अनुमोदन करेंगे क्योंकि कर्ता, उपदेष्टा और अनुमोदन कर्ता—ये तीनों ही परलोक में समान फल के भागीदार हुआ करते हैं—“कर्तुः शास्त्ररनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम्” ॥२६॥ माननीय सज्जनों, कुछ लोगों का मानना है कि कर्मों का फल देनेवाले भगवान् यज्ञपति ही हैं। मनु, उत्तानपाद, महीपति ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत, हमारे दादा अङ्ग, ब्रह्मा, शिव, प्रह्लाद, बलि और इसी कोटि के अन्यान्य महानुभाव सभी भगवान् का अस्तित्व स्वीकार कर श्रद्धा और भक्ति के साथ उनकी आराधना करते थे और वे मानते थे कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप चतुर्वर्ग और अपवर्ग के साक्षात् प्रदाता तो गदाधर ही हैं—“कृत्यमस्ति गदाभृता” ॥२९॥ इस सिद्धान्त के विपरीत विचार एवम् आचरणवाला एकमात्र सुनीथा का पुत्र वेन ही था। वह अपने नाना के प्रभाव के कारण नास्तिक बना था यही कारण है कि उसका इहलोक और परलोक दोनों ही बिगड़ गया। ब्राह्मणों ने उसे अपनी क्रोधाग्नि से नष्ट कर दिया था।

भगवान् श्रीहरि के चरण-कमलों की सेवा और सेवा की अभिलाषा संसार-ताप से सन्तप्त जीवों के पूर्वजन्मों के मनोबल को तत्काल उसी प्रकार नष्ट कर देती है जैसे उनके चरण-नख से निकली गंगा जी के सेवन करने वाले व्यक्ति के समस्त तापों, सन्तापों और दुष्कृति-फलों को नष्ट कर देती हैं—

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।

सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥४/२१/३१

भगवान् श्रीहरि के चरण का आश्रय लेनेवाला व्यक्ति फिर इस संसार में जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता, वह मुक्त हो जाता है। “यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनर्न संसृतिं क्लेशवह्नां प्रपद्यते” ॥३२॥ भगवान् के चरण-कमल सेवकों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं। आप लोग जीविकोपयोगी स्वधर्मों का पालन करते हुए अपनी शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रियाओं के द्वारा उन्हीं प्रभु का भजन करें, हृदय में किसी प्रकार का कपट न रखें। साथ ही यह दृढ विश्वास भी करें कि हमें अपने-अपने अधिकारानुसार इसका फल अवश्य प्राप्त होगा—

तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभिर्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः ।

अमायिनः कामदुष्टाङ्घ्रिपङ्कजं यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः ॥४/२१/३३

मेरी दृढ इच्छा है कि मेरी प्रजा उन्हीं भगवान् का अनुसरण करे, यदि मेरे राज्य की जनता भगवान् का निष्कपट भक्त बनेगी तो मैं इसे अपने ऊपर महान् अनुग्रह मानूँगा। इसके साथ ही हमारे राज्य में ब्राह्मणों एवं वैष्णवों का भी सम्मान आवश्यक है। ब्राह्मणों के मुख में डाली गई आहुति से भगवान् को जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी प्रसन्नता उन्हें यज्ञ-कुण्ड में डाली गई आहुतियों से भी नहीं होती। मैं आयुपर्यन्त ब्राह्मणों की चरण धूलि को अपने मुकुट पर धारण करूँगा क्योंकि उसे सर्वदा शिर पर धारण करने से मनुष्य के सारे पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण गुण उसके पास स्वयं ही आ जाते हैं—



तेषामहं

पादसरोजरेणुमार्या

वहेयाधिकिरीटमायुः ।

यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति ॥४/२१/४३

गुणाशाली, शीलसम्पन्न, कृतज्ञ, गुरुओं की सेवा करनेवाले पुरुष के पास सारी सम्पदाएँ अपने आप स्वयं चली आती हैं अतः मेरी तो यही अभिलाषा है कि ब्राह्मणवंश, गो-वंश और भक्तों के सहित श्रीभगवान् मुझ पर सदा प्रसन्न रहें—

गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं, वृद्धाश्रयं संवृणुते तु सम्पदः ।

प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवां च, जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम् ॥४/२१/४४

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, महाराज पृथु का ऐसा अपूर्व वक्तव्य सुनकर वहाँ उपस्थित सभी लोग प्रसन्नता से खिल उठे, वे मुक्तकण्ठ से महाराज की प्रशंसा करते हुए बोले—महाराज, आप धन्य हैं। आप के सारसंभृत अमृतमय इस उपदेश से हम सभी कृतार्थ हो गये। आप नें हमें सनाथ बना दिया। आज आप को अपने स्वामी के रूप में पाकर हम अपने को भगवान् के ही राज्य में समझते हैं जैसे भगवान् की निन्दा के कारण नरक में गिरते हुए हिरण्यकशिपु को उसके पुत्र प्रह्लाद ने बचा लिया था, वैसे ही आज नास्तिक वेन का भी उद्धार आपके द्वारा हो गया। प्रजा को इसी प्रकार की शिक्षा देते हुए आप सैकड़ों वर्ष तक जीवित रहें। अपने शासक की ऐसी भगवन्निष्ठा देखकर हम आनन्द के महासागर में निमग्न हो रहे हैं। आपने अपनी इस कथा के द्वारा संसार को मुक्ति का मार्ग दिखला दिया है। इससे हम लोगों का परम कल्याण होगा। हम आप को प्रणाम करते हैं ॥२१॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२१॥

## बाईसवाँ अध्याय

( पृथु के लिये सनत्कुमार का उपदेश )

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, जिस समय प्रजाजन परमपराक्रमी पृथिवीपाल पृथु की इस प्रकार प्रशंसा कर रहे थे, उसी समय वहाँ सूर्य के समान तेजस्वी सनकादि चारों भाई आकाश मार्ग से उतर कर राजा के सभा-मण्डप में पधारे—

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम् । तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः ॥४/२२/१  
राजा ने झट-पट आगे बढ़ कर उनकी सादर अगवानी की। सारा सभा-मण्डप उनके तेज से भर गया। महाराज के साथ सभा के सभी सदस्य मुनियों के सम्मान में खड़े हो गये। राजा ने उनका पाँव पखारा। सुवर्ण के आसन पर उन्हें बैठाया। विधिवत् उनकी पूजा की। उनके चरणों की धोवन को राजा नें अपने शिर के बालों पर छिड़का। जब पृथु ने उनका मान-सम्मान कर लिया तब उन्होंने बड़ी श्रद्धा और संयम के साथ प्रेमपूर्वक उनसे कहा—मङ्गलमूर्ति मुनीश्वरों, आपके दर्शन तो बड़े-बड़े योगियों को भी दुर्लभ हैं। मैंने ऐसा कौन-सा पुण्य-कर्म किया है जिससे आज आप महानुभावों के दर्शन हुए—

अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः । यस्य वो दर्शनं ह्यासीदुर्दर्शानां च योगिभिः ॥

४/२२/७



आदरणीय महानुभावों, जिस प्राणी के ऊपर ब्राह्मण अथवा अनुचरों के सहित श्रीशङ्कर अथवा विष्णु भगवान् प्रसन्न हो जाँय, उसके लिये इहलोक और परलोक में कौन-सी वस्तु दुर्लभ रह जाती है ? अर्थात् कोई नहीं—

किं तस्य दुर्लभतरमिह लोके परत्र च । यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः ॥४/२२/८

जिनके घर आप लोग कृपाकर पहुँच जाते हैं, वे गृहस्थ धनहीन होने पर भी धन्य हैं । जिन घरों में कभी भगवान् के भक्तों के परमपवित्र चरणके धोवन—जल के छीटें नहीं पड़ते वे सब प्रकार की सम्पत्तियों से भरेपूरे होने पर भी उन सूखे वृक्षों के कोटर के समान हैं जिनमें सर्प रहते हैं—

व्यालालयद्गमा वै तेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः । यद् गृहास्तीर्थपादीयपादतीर्थविवर्जितः ॥

४/२२/११

मुनीश्वरों, आपका स्वागत है । आप लोग तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं । सुख-दुःख से परे हैं अतः हम आप से क्या कुशल मङ्गल पूछें ? आप लोग तो आत्माराम हैं । आप में यह कुशल है और यह अकुशल है—इस प्रकार की भावना होती ही नहीं । आप संसारानल में तप रहे प्राणियों के अकारण सुहृद् हैं अतः मैं पूछ रहा हूँ कि संसार में मनुष्य का किस प्रकार सरलता से कल्याण हो सकता है ? उसे भगवान् की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? आप नारायण के स्वरूप हैं, आप तो साक्षात् भगवान् के स्वरूप हैं । भगवान् के भक्तों पर कृपा करने के लिये ही आप लोग इस भूतल पर विचरण किया करते हैं—

संपृच्छे भव एतस्मिन् क्षेमः केनाञ्जसा भवेत् । स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः ॥

४/२२/१५-१६

मैत्रेय कहते हैं—विदुर जी, राजा पृथु के सारयुक्त, गंभीर, परिमित और मधुर वचनों को सुनकर सनत्कुमार प्रसन्न हो उठे । उन्होंने मुस्कराते हुए कहा— महाराज, आप को सबकुछ ज्ञात है । यह प्रश्न आप ने अपने लिये नहीं, अपितु सबकी भलाई के लिये, सब के कल्याण के लिये किया है । सच है, साधु पुरुषों की बुद्धि ऐसी ही हुआ करती है—

साधु पृष्ठं महाराज सर्वभूतहितात्मना । भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी ॥४/२२/१८

सत्पुरुषों का समागम श्रोता और वक्ता—दोनों को ही अभिमत होता है, दोनों का ही कल्याण करता है । इसका कारण यह है कि उनमें होनेवाले प्रश्नोत्तर सभी का मङ्गल करते हैं—

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः । यत्संभाषण-संप्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥४/२२/१९

भगवान् के गुणानुवाद में आप की जो रुचि है, वह बहुत ही दुर्लभ है । जब यह रुचि निष्ठा के रूप में परिणत हो जाती है तब अन्तरात्मा का सारा मल धुल जाता है । सारे शास्त्रों का सार यही है कि आत्मा देह से पृथक् है, असङ्ग है और वही निर्गुण ब्रह्म है । यदि उस में दृढ रति हो जाय, आत्मरति हो जाय तो इसी में शास्त्रों की सफलता है । यह तर्क-वितर्क से नहीं होती—

अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विषः, पादारविन्दस्य गुणानुवादने ।

रतिर्दुरापा विद्युनोति नैष्ठिकी, कामं कषायं मलमन्तरात्मनः ॥

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां, क्षेमस्य सध्मरिवृशेषु हेतुः ।

असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि, दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥

४/२२/२०-२१

शास्त्रों का यह भी कहना है कि गुरु और शास्त्र के वचनों में विश्वास रखने से, भागवत धर्मों का अचरण करने से, तत्त्वजिज्ञासा से, ज्ञान-योग की निष्ठा से, योगेश्वर श्रीहरि की उपासना से, भगवान् की कथाओं के नित्य श्रवण



से व्यक्ति को इस नश्वर संसार से वैराग्य हो जाता है और परब्रह्म में अनायास उसकी प्रीति भी हो जाती है। भगवान् की कथा के श्रवण से बढ़कर दूसरा श्रेष्ठ उपाय कल्याण का नहीं है। संसार में सब वस्तुओं से सन्तोष भले ही हो जाय, किन्तु भगवान् की कथा के श्रवण से कभी भी सन्तोष नहीं होना चाहिये—“विना हरेर्गुणपीयूषपानात्” ॥२३॥ भगवान् की कथा अमृत है। अमृत-पान से कभी तृप्ति नहीं होनी चाहिये। किसी को दुःख न दे। भगवान् को याद रखना, निष्काम भाव से यम-नियम का पालन करना, किसी की निन्दा न करना—यह स्वभाव में लाना चाहिये इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं।

जो संसार-सागर से पार पाना चाहते हैं, अज्ञानान्धकार को दूर करना चाहते हैं; ऐसे लोगों को सांसारिक विषयों में आसक्ति कभी नहीं करनी चाहिये। विषयों में आसक्ति ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा है—

न कुर्यात् कर्हिचित् सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः । धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविधातकम् ॥

४/२२/३४

व्यक्ति को मोक्ष के लिये ही सर्वदा प्रयास करना चाहिये, क्योंकि धर्म, अर्थ और काम में तो सर्वदा काल का भय बना रहता है। जो सारे संसार में व्याप्त है, वही परमात्मा (मैं हूँ)—ऐसा आप को विचार करना चाहिये। संत-महात्मा जिनके चरण-कमलों के अङ्गुलिदलकी छिटकती हुई छटा का निरन्तर स्मरण कर अपने हृदय की गाँठ अहङ्कार को काटते रहते हैं, उन्हीं सर्वाश्रय वासुदेव का आप भजन करो। जो लोग मन और इन्द्रियरूप ग्राहों से भरे हुए इस संसार-सागर को योग आदि अतिकठिन साधनों से पार करना चाहते हैं, उनका उस पार पहुँचना कठिन ही है क्योंकि उन्हें कर्णधाररूप श्रीहरि का आश्रय नहीं प्राप्त रहता। अतः आप तो भगवान् के भजनीय चरण-कमलों को नौका बनाकर अनायास ही इस दुस्तर संसार-समुद्र को पार कर लो—

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेष्ठां, षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षन्ति ।

तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रि कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥ ४/२२/४०

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, ब्रह्मज्ञानी सनत्कुमार जी के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर महाराज पृथु को प्रबल प्रसन्नता हुई। उन्हें आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हुआ। उनकी प्रशंसा करते हुए महाराज पृथु ने कहा—भगवन्, दीनदयालु भगवान् ने मुझ पर कृपा कर दर्शन दिया था किन्तु उस दर्शन का फल हमें आज आप लोगों के दर्शन के रूप में मिला। वस्तुतः भगवान् के दर्शन की पूर्णता आज हुई—

कृतो मेऽनुग्रहः पूर्व हरिणाऽऽर्तानुकम्पिना ।

तमापादयितुं ब्रह्मन् भगवन् यूयमागताः ॥ ४/२२/४२

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी मानस में यही बात कही है—“तेहि फलकर फल दरस तुम्हारा”। रामचन्द्र के दर्शन का फल यह है कि भरत का दर्शन हुआ। इसी प्रकार भगवान् के दर्शन का फल यह हुआ कि सनत्कुमार जैसे सन्त मिले। किसी महात्मा ने भगवान् और भगवान् के भक्तों के दर्शन के फल का अन्तर बतलाते हुए बहुत बढ़ियाँ लिखा है—

हरि दुर्लभ नहिं जगत् में, हरिजन दुर्लभ होय । हरि रीझे जग देत है, हरिजन हरिहू देत ॥  
भगवान् प्रसन्न होते हैं तो संसार, संसार के भोग-पदार्थ प्रदान करते हैं। यह दूसरी बात है कि वे मोक्ष भी देते हैं किन्तु भगवान् का भक्त यदि प्रसन्न हो जाय तो वह सीधे भगवान् को ही लाकर गोद में बैठा देता है।

प्रभो, आप लोग बड़े दयालु हैं जिस उद्देश्य से आप आये थे उसे भली-भाँति सम्पन्न कर दिया। स्वामिन्, अब



मैं इसका बदला आप लोगों को क्या देकर चुकाऊँ। ब्रह्मन्, मेरे पास जो कुछ है और मेरा यह शरीर यह सब कुछ आप जैसे महापुरुषों का प्रसाद है। पूज्य दयालो, प्राण, स्त्री, पुत्र, सम्पत्तियों से भरा हुआ भवन, राज्य, सेना, पृथिवी और कोश—यह सब कुछ आप लोगों का ही है, अतः आपके ही श्रीचरणों में अर्पित है—

प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः । राज्यं बलं महीकोश इति सर्वं निवेदितम् ॥

४/२२/४४

वस्तुतः सेनापतित्व, राज्य, दण्डविधान और संपूर्ण लोकों के शासन का अधिकार वेद-शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मणों को ही है। ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है और अपनी ही वस्तु दान देता है। दूसरे—क्षत्रिय आदि तो उसी की कृपा से अन्न खाने को पाते हैं—

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च । तस्यैवानुग्रहेणात्रं भुङ्गते क्षत्रियादयः ॥

४/२२/४६

भगवन्, आप लोग वेद के पारङ्गत विद्वान् हैं। आपने अध्यात्म-तत्त्व को सामने रखकर जिस सरल और अनुपम रीति से वासुदेव-तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए मेरा जो उपकार किया है, भला इसका प्रतिकार मैं क्या देकर, कैसे चुका सकता हूँ ? अमूल्य वस्तु का मूल्याङ्कन करना उपहास की ही बात होगी। आप लोग परम कृपालु हैं अतः अपने इस दीनोद्धाररूप कार्य से ही सन्तुष्ट रहें। आप के इस उपकार का बदला कोई क्या दे सकता है ? अतः मैं अञ्जलि बाँध कर आप लोगों के चरणों में नतमस्तक हो रहा हूँ—

तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं, को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम् ॥४/२२/४७

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, सनकादि आत्मज्ञानियों के शिरोमणि हैं। राजा ने उनकी पुनः पूजा-अर्चना की। इस प्रकार राजा की सज्जनता और उनकी श्रद्धा-भक्ति देखकर चारों कुमार उनके शील-स्वभाव की प्रशंसा करते हुए आकाशमार्ग से चले गये—“शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभून्मिषतां नृणाम्” ॥४८॥

इसके बाद महाराज पृथु आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त कर समय, स्थान, शक्ति, न्याय और धन के अनुसार सारे कार्यों को भगवदर्पण-बुद्धि से करते थे। गृहस्थाश्रम में रहते हुए, राज्य का सञ्चालन करते हुए भी वे जल में कमल के पत्र की भाँति, सर्वदा निर्लिप्त भाव से रहते थे। यदि तुलसीदास के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि—“कर ते कर्म करिय विधि नाना । मन राखिय जहँ कृपा निधाना”। यह राजा का सिद्धान्त था, वे अहन्ता और ममता से बिल्कुल मुक्त थे। घर में अतिथि के समान उनका निवास था। उन्होंने अपनी अर्चि नामक पत्नी से पाँच पुत्र—विजिताश्व, धुप्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण और वृक—पैदा किये। महाराज पृथु अत्यन्त तेजस्वी थे। सारे लोकपालों का तेज उन्होंने अकेले ही धारण कर रक्खा था। उनकी कीर्ति संसार में चतुर्दिक् फैली हुई थी। सभी उनकी कीर्ति का गान करते थे। इससे वे स्त्रियों तक के कानों में वैसे प्रवेश किये हुए थे जैसे सत्पुरुषों के हृदय में श्रीराम ॥२२॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२२॥

## तेईसवाँ अध्याय

( राजा पृथु की तपस्या और उनका वैकुण्ठ-गमन )

बुढ़ौती मृत्यु का जमानती वारण्ट है। कान के बगल के बाल जब सफेद होने लगे तो समझ लेना चाहिये कि



मृत्यु ने सावधान करने के लिये द्वार पर दस्तक दे दी है। महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंश में लिखा है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् । वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

यह परम्परा रही है कि भारतीय राजा लोग शैशव-काल में विद्या का अभ्यास करते थे। युवावस्था में विषयों का सेवन करते थे, तीसरे पन में सब का परित्याग कर वानप्रस्थ आश्रम में चले जाते थे और अन्त में योग का अवलम्बन कर अपना शरीर योगाग्नि में भस्म कर देते थे।

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, महाराज पृथु ने जब देखा कि मेरी बुढ़ीती प्रारम्भ हो गई है और मेरा सुयोग्य पुत्र विजिताश्व तरुण हो गया है, तब उन्होंने अपने मन्त्रियों को बुलाया। उनसे मन्त्रणा की और राजगद्दी पर विजिताश्व का अभिषेक कर राजा बना दिया। उन्होंने सोचा—जिस लिये मेरा इस संसार में जन्म हुआ था, उस प्रजा-रक्षणरूप ईश्वराज्ञा का पालन भी पूरा कर चुका हूँ। अब मुझे अन्तिम पुरुषार्थ—मोक्ष के लिये प्रयास करना चाहिये। यह सोचकर वे विरहाकुल प्रजा और पुत्री-सदृश पृथिवी को त्यागकर अत्यन्त सुकुमारी अपनी पत्नी अर्चि के साथ तपस्यार्थ वन में चले गये। वहाँ उन्होंने बड़ी निष्ठा और दृढ़ता के साथ वान-प्रस्थ आश्रम के नियमों का पालन प्रारम्भ किया। कुछ दिन तो उन्होंने कन्द-मूल-फल खाकर बिताये। कुछ काल सूखे पत्ते चबाकर रहे फिर कुछ पक्ष जल पीकर ही बिताया और इसके बाद वायु पीकर ही निर्वाह करने लगे। पृथु मुनि-वृत्ति से ही रहते थे। वे भूतल पर शयन करते थे। गर्मियों में पञ्चाग्नि का सेवन करते थे। वर्षा ऋतु में खुले मैदान में रहकर जल की धाराओं को सहते थे। शीत-काल आने पर वे जलाशय में खड़े रह कर तप करते थे। इस प्रकार भगवान् कृष्ण की आराधना करते हुए उन्होंने घोर तप प्रारम्भ किया—उन्होंने सर्दी-गर्मी आदि सब प्रकार के द्वन्द्वों को सहा तथा वाणी और मन को संयमित किया—

तितिक्षुर्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः । आरिराद्यधिषुः कृष्णमचस्तप उत्तमम् ॥४/२३/७

सनत्कुमार जी ने जिस आध्यात्मिक योग का उपदेश महाराज पृथु को दिया था, उसका वे दृढ़ता से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पालन करते हुए भगवान् की आराधना करते थे। इसका फल यह हुआ कि भगवान् कृष्ण में उनकी अनन्य दृढ़ भक्ति हो गई—

भगवन्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा । भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाऽभवत् ॥

४/२३/१०

इस प्रकार भगवान् के परिकर्म से, सतत् चिन्तन से पृथु का अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध हो गया। उनमें जिस ज्ञान का उदय हुआ वह निष्कलिबन्ध एवं वैराग्य से संवलित था। उससे उनका जीवकोश कट गया और उनकी द्वैत-बुद्धि भी मिट गई। अन्त में जिस ज्ञान से उन्होंने द्वैत-भ्रम को काटा था, उस ज्ञान को भी छोड़ दिया—  
“तत्तत्त्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन” ॥१२॥

इसके पश्चात् देह में आत्म-बुद्धि की निवृत्ति और परमात्म-स्वरूप श्रीकृष्ण की अनुभूति होने पर पृथु के समक्ष ब्रह्म-विद्या एवं अणिमादि सारी सिद्धियाँ मूर्तिमती हो हाथ जोड़े खड़ी हो गईं किन्तु राजा ने सबको ससम्मान वापस कर दिया। द्वैत-भ्रम को काटनेवाले तत्त्व-ज्ञान को भी उन्होंने छोड़ दिया, क्योंकि साधक को जब तक कृष्ण के कथारूपी अमृत में अनुराग नहीं होता तब तक योग-साधना से उसका मोहजनित प्रमाद दूर नहीं होता—

छिन्नान्यधीरधिगतात्मगततिर्निरीहस्तत्तत्त्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन ।

तावन्न योगगतिर्भिर्यतिरप्रमत्तो यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात् ॥४/२३/१२

इसी तथ्य का समर्थन ‘कृष्ण-कर्णामृत’ में करते हुए कहा गया है कि—



भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्देवेन नः फलितदिव्यकिशोरवेशे ।  
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान् धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः ॥

“यदि भाग्यवश दिव्य किशोर वेशधारी भगवान् कृष्ण में दृढ भक्ति हो जाय तो मुक्ति स्वयं हाथ जोड़कर सेवा में खड़ी हो जाती है और धर्म, अर्थ तथा काम अपनी पारी की प्रतीक्षा में पंक्ति लगाकर खड़े रहते हैं ।”

अन्त में अन्तकाल आने पर तो वीरवर पृथु ने अपने चित्त को दृढतापूर्वक परमात्मा में स्थिर कर अपना शरीर त्याग दिया । उस बेला में उन्होंने एड़ी से गुदामूल को दबाते हुए प्राणवायु को धीरे-धीरे मूलाधार से ऊपर की ओर उठाते हुए उसे क्रमशः नाभि, हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और मस्तक में स्थित किया फिर उसे और ऊपर ले जाते हुए क्रमशः ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर कर दिया । ऐसी स्थिति में पहुँच कर उन्हें किसी प्रकार के भोगों की सांसारिक लालसा न थी । ऐसा करने पर चक्रों में स्थित पञ्चतत्त्व भी क्रम से अपने कारणों में लीन हो गये । पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश अहङ्कार में, अहङ्कार महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व प्रकृति में और प्रकृति ब्रह्म में लीन हो गई फिर तो पृथु का भौतिक शरीर पृथिवी पर लुढ़क गया ।

महारानी अर्चि उनके साथ थीं । वे अतिशय सुकुमारी थीं फिर भी पति की सेवा करती हुई उन्होंने भी उन्हीं की तरह कठोर तप किया था । पति के शरीर को भूल पर गिरा हुआ देखकर अर्चि ने थोड़ा-सा विलाप किया । पुनः पर्वत की शिखर पर लकड़ी की चिता सजाई । पति का शरीर उस पर रक्खा । इसके बाद सारे कृत्य करके उसने स्नान किया । पति को जलाञ्जलि दी । आकाशस्थित देवों को प्रणाम किया । चिता की तीन बार परिक्रमा की । इसके बाद चिता में आग लगाकर पति के शरीर के साथ चिता में बैठ गई । उस समय उसे ताप का थोड़ा भी अनुभव नहीं हुआ । वह निरन्तर पति के चरण-कमल का ही ध्यान कर रही थी । अर्चि का पार्थिव शरीर जल गया । वह दिव्य शरीर धारण कर दिव्य विमान से पति का अनुगमन करती हुई वैकुण्ठ धाम में पहुँच गई । मार्ग में देवियाँ उसके पातिव्रत्य की प्रशंसा करती हुई उसके ऊपर फूलों की वर्षा कर रही थीं । इस प्रकार वैकुण्ठ धाम में भी पति का सान्निध्य पाकर वह दिव्यातिदिव्य सुखों का अनुभव करने लगी ।

आकाशमार्ग से जाने की बेला में फूलों की वर्षा करती हुई देवियाँ कह रही थीं—पृथिवी पर बड़ी कठिनाई से मानव-शरीर मिलता है । यह मानव शरीर ही मुक्ति का साधन है, इसे पाकर जो सांसारिक विषय-भोगों में लीन होता है वह आत्मद्रोही है, आत्महत्यार है—

स वञ्चितो बतात्मधृक् कृच्छ्रेण महता भुवि । लब्ध्वापवर्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ॥

४/२३/२८

महाराज पृथु के चरित का बड़ा माहात्म्य है जो इसे सुनता अथवा सुनाता है, उसकी सारी अभिलाषायें पूरी हो जाती हैं । ब्राह्मण ब्रह्मतेज से सम्पन्न हो जाता है । क्षत्रिय अखण्ड भू-मण्डल का स्वामी बन जाता है, वैश्य व्यापारी-शिरोमणि बन जाता है और शूद्र साधु बन जाता है । इस चरित को श्रद्धापूर्वक तीन बार सुननेवाला पुरुष हो अथवा स्त्री, सन्तान, धन, कीर्ति और पाण्डित्य-सब कुछ प्राप्त कर लेता है । विदुर, इस आख्यान में श्रद्धा रखनेवाला व्यक्ति पृथु की ही भाँति भगवान् का दृढ भक्त बन कर वैकुण्ठलोक का अधिकारी बनता है ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥





## चौबीसवाँ अध्याय

( पृथु के प्रपौत्र प्राचीनबर्हि से प्रचेताओं का जन्म और उन्हें श्रीरुद्र का उपदेश )

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, महाराज पृथु के बाद उनके पुत्र परम यशस्वी विजिताश्व चक्रवर्ती राजा हुए। वे अपने छोटे भाईयों को बहुत प्यार करते थे इसलिये उन्होंने चारों को एक-एक दिशा का राजा बना दिया—

विजिताश्वोऽधिराजाऽऽसीत् पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः । यवीयेभ्योऽददात् काष्ठा भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः ॥

४/२४/१

राजा विजिताश्व ने हर्यक्ष को पूर्व, धूम्रकेश को दक्षिण, वृक को पश्चिम और द्रविण को उत्तर दिशा का राज्य प्रदान किया। उन्होंने इन्द्र से अन्तर्धान विद्या सीखी थी अतः उनका एक नाम अन्तर्धान भी था। उनकी पत्नी का नाम शिखण्डिनी था। उससे उनके तीन पुत्र हुए। उनके नाम थे—पावक, पवमान और शुचि। ये नाम अग्नियों के हैं। पूर्वकाल में वशिष्ठ जी के शाप से तीन<sup>१</sup> अग्नियों ने ही तीन रूपों से मनुष्य-योनि में जन्म लिया था और फिर उन्हीं की कृपा से देवत्व को प्राप्त हुए—

पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा । वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः ॥४/२४/४

अन्तर्धान की एक दूसरी भी पत्नी थी, उसका नाम था 'नभस्वती' उससे एक और पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। उसका नाम था—“हविर्धान”। विदुर जी, हविर्धान की पत्नी हविर्धानी ने—बर्हिषद्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत—इन छः पुत्रों को जन्म दिया। बर्हिषद् कर्मकाण्ड और योगविद्या में निपुण थे। उन्होंने एक स्थान के बाद दूसरे स्थान में लगातार इतने यज्ञ किये कि यह सारी भूमि पूर्व की ओर अग्रभाग करके फैलाये हुए कुशों से पट गई। इसी कारण आगे चलकर वे 'प्राचीनबर्हि' के नाम संसार में प्रसिद्ध हुए—

यस्येदं देवयजनमनु यज्ञं वितन्वतः । प्राचीनाग्नैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम् ॥४/२४/१०

प्राचीनबर्हि का विवाह शतद्रुति से हुआ था। यह सागर की बेटी थी। विवाह मण्डप में शतद्रुति के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर अग्नि मोहित हो उठे थे। शतद्रुति के पायलों की झंकार से सारे संसार का पुरुष-वर्ग अपना धैर्य खो-बैठता था। शतद्रुति के दश पुत्र हुए। सबका नाम 'प्रचेता' था। पिता ने उनसे सृष्टि करने को कहा। उन्होंने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की। सृष्टि-सामर्थ्य हेतु वे तपस्या करने के लिये पश्चिम दिशा में चले गये। वहाँ उन्हें समुद्र जैसा एक अतिविशाल सरोवर मिला। उसका जल मोती की भाँति निर्मल था। विविध प्रकार के विकसित कमल उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। हंस, सारस, चक्रवाक और कारण्डव आदि—पक्षियों के मनोमोहक रव और भ्रमरों के मधुर गुञ्जान से उसका आकर्षण बढ़ा हुआ था। वहाँ प्रचेताओं ने जलाशय से निकलती हुई विविध वाद्यों की विचित्र ध्वनियों को सुना। इसे सुनकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इतने में उन्होंने देखा कि देवाधिदेव भगवान् शङ्कर अपने अनुचरों के सहित उस जलाशय से बाहर आ रहे हैं। उनका शरीर तपे हुए सोने के समान कान्तिमान था। कण्ठ नीला था। तीन विशाल नेत्र थे। उन्हें देखकर कुतूहल से भरे हुए सुप्रसन्न प्रचेताओं ने उनके चरणों में श्रद्धासहित प्रणाम किया—

१. वशिष्ठ जी की पत्नी अरुन्धती बड़ी सुन्दरी थी। एक बार अग्निदेव उसके रूप पर मुग्ध हो गये। उनकी आसक्ति को देखकर अग्नि की पत्नी स्वाहा ने अरुन्धती का रूप धारण किया। अग्नि ने उसके साथ रमण किया। अरुन्धती का रूप धारण करने में स्वाहा को पूरी सफलता नहीं मिली अतः अतृप्त अग्नि देव की आसक्ति अधूरी रह गई। उनकी इच्छा पूर्ण न हुई। वशिष्ठ जी ने अपनी योग-विद्या से अग्नि की यह कुचेष्टा जान कर शाप देते हुए कहा—तुम मेरी पत्नी का पातिव्रत्य भङ्ग करना चाहते हो, अतः तुम मनुष्य-योनि में जन्म धारण करो। इसी कारण से अग्नि ने अन्तर्धान की पत्नी शिखण्डिनी के गर्भ से तीन रूपों में जन्म लिया था। इसकी चर्चा शिव महापुराण, उमासंहिता, चतुर्थ अध्याय के उन्नीसवे श्लोक में की गई है।



तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम् । प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः ॥४/२४/२५

इस पर शरणागत भयहारी धर्मवत्सल भगवान् शङ्कर ने अपने दर्शन से प्रसन्न हुए उन धर्मज्ञ और शील सम्पन्न राजकुमारों से प्रसन्न होकर कहा—‘तुम लोग राजा प्राचीनबर्हि के पुत्र हो, तुम्हारा कल्याण हो । तुम जो कुछ करना चाहते हो वह भी मुझे विदित है । सम्प्रति कृपा करने के लिये ही मैंने तुम लोगों को दर्शन दिया है । तुम भगवान् के भक्त हो । यही कारण है कि मुझे अतिशय प्रिय हो जो लोग प्रकृति-पुरुष से परे भगवान् वासुदेव की शरण में जाते हैं, वे मुझे बहुत प्रिय हैं । अपने वर्णाश्रम धर्म का भलीभाँति पालन करनेवाला पुरुष सौ जन्मों के बाद ब्रह्मा के पद को प्राप्त होता है और इससे भी अधिक पुण्य होने पर मुझे प्राप्त करता है । परन्तु जो भगवान् का अनन्य भक्त है, वह तो मृत्यु के बाद ही सीधे भगवान् विष्णु के सर्वप्रपञ्चातीत परमपद को प्राप्त करता है । इस पद को मैं और ब्रह्मा आदि आधिकारिक देवता अपने-अपने अधिकार की समाप्ति के बाद प्राप्त करते हैं—

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्, विरिञ्चतामेति ततः परं हिमाम् ।

अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाऽहं विबुधाः कलात्यये ॥४/२४/२९

आप भगवान् के भक्त हैं । भगवान् के भक्त मुझे भगवान् की तरह प्रिय होते हैं । भगवान् के भक्तों से बढ़कर इस संसार में मुझे कोई दूसरा प्रिय नहीं है । अब मैं तुम्हें एक बड़ा ही पवित्र मङ्गलमय और कल्याणकारी स्तोत्र सुनाता हूँ । इसका तुम शुद्धभाव से जप करना । इस स्तोत्र को ‘योगादेश’ भी कहते हैं । संसार में इसकी ख्याति ‘रुद्रगीत’ नाम से है । इसमें भगवान् के दिव्य स्वरूप एवं भक्त-वात्सल्य आदि गुणों का वर्णन है । तुम पवित्र एकान्त स्थान में इसका जप करो । इसके पाठ से भगवान् प्रसन्न होकर तुम्हें अपना दर्शन देंगे । भगवान् के दर्शन से तुम्हारे सारे मनोरथ पूरे हो जायेंगे । यह कहकर भगवान् शिव ने, अपने सामने हाथ जोड़कर खड़े हुए प्रचेताओं को स्तोत्र सुनाया । इसमें ३६ श्लोक हैं । प्रथम तैत्तिरीय श्लोक में निरतिशय परमानन्दस्वरूप को अपनी कल्याण-कामना से प्रणाम किया गया है । ३४-३६ में अन्तःकरण के अधिष्ठाता वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध रूप में स्थित भगवान् को नमस्कार अर्पित किया गया है । इसके बाद के सात श्लोकों से पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश सूर्य, चन्द्र और ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप में वर्तमान भगवान् को प्रणामाञ्जलि अर्पित की गई है । नौ श्लोकों के द्वारा भगवान् के दर्शन की प्रार्थना की गई है । आगे के श्लोकों के द्वारा भगवान् की दुर्लभता, सत्सङ्ग का महत्त्व, भगवान् का अनुग्रह तथा तत्त्व-ज्ञान वर्णित है । अन्तिम दो श्लोकों के द्वारा रुद्र के भय से सन्नस्त जगत् की रक्षा के लिये भगवान् से प्रार्थना कर ‘रुद्रगीत’ की समाप्ति की गई है ।

स्तोत्र को समाप्त करते हुए भगवान् रुद्र का कथन है कि जो पुरुष उषःकाल में उठकर हाथ जोड़कर, श्रद्धा पूर्वक इस स्तोत्र को सुनता और सुनाता है, उसके सारे कर्म-बन्धन समाप्त हो जाते हैं—

इदं य कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयाऽन्वितः । शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः ॥

४/२४/७८

राजकुमारों, मैंने तुम्हें जो यह परम पुरुष परमात्मा का स्तोत्र सुनाया है, इसे एकाग्रचित्त से जपते हुए, तुम महान् तपस्या करो । तपस्या पूरी होने पर इसी से तुम्हें अभीष्ट फल प्राप्त हो जायेगा, तुम्हारे सारे मनोरथ पूरे हो जायेंगे—

गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः, परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम् ।

जपन्त एकाग्रधियस्तपो महत्, चरध्वमन्ते तत आप्ययथेप्सितम् ॥४/२४/७९

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२४॥



## पचीसवाँ अध्याय

( प्राचीनबर्हि को पुरञ्जनकथा कहकर नारद द्वारा तत्त्व-ज्ञान का उपदेश )

मित्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, इस प्रकार भगवान् शङ्कर ने प्रचेताओं को उपदेश दिया फिर प्रचेताओं ने शङ्कर जी की बड़े भक्तिभाव से पूजा की फिर वे उन राजकुमारों के देखते-देखते ही अन्तर्धान हो गये—

इति सन्दिश्य भगवान् बार्हिषदैरभिपूजितः । पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः ॥४/२५/१

प्रचेतागण जल में खड़े होकर रुद्रगीत का जप करते हुए, दश सहस्र वर्षों तक तपस्या में निरत रहे। इधर कृपालु नारद जी ने सोचा कि रुद्र की कृपा से प्रचेताओं का कल्याण तो हो गया। किन्तु इन लोगों के पिता प्राचीनबर्हि का मन अभी तक कर्मकाण्ड में ही लगा हुआ है। उनके लिये नारद के मन में कृपा का उदय हुआ। उन्होंने उसके भी कल्याण का निश्चय किया फिर वे पहुँचे प्राचीनबर्हि के पास। उन्होंने उनसे पूछा—महाराज, यज्ञ-यागादि करके, कर्मकाण्ड करके, आप अपना कौन-सा कल्याण करना चाहते हैं ? दुःख के आत्यन्तिक विनाश और परमानन्द की प्राप्ति का नाम कल्याण है। यह तो कर्मों से नहीं मिल सकता—

प्राचीनबर्हिषं क्षतः कर्मस्वासक्तमानसम् । नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत् ॥

श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् कर्मणात्मन ईहसे । दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्टते ॥

४/२५/३-४

महाराज नारद के वचन को सुनकर प्राचीनबर्हि ने कहा—महाभाग नारद जी, मुझे परम कल्याण का कुछ भी पता नहीं है। आप मुझे उस निर्मल ज्ञान का उपदेश देने की कृपा करें जिससे मैं इस कर्म-बन्धन से छूट जाऊँ। वस्तुतः हमारी बुद्धि सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों में ही फँसी हुई है अतः श्रेय का मार्ग क्या है ? यह मैं जानता ही नहीं। राजा की प्रार्थना सुनकर नारद जी ने कहना प्रारम्भ किया—देखो, देखो राजन्, तुमने यज्ञ में निर्दयतापूर्वक जिन हजारों पशुओं की बलि दी है—उन्हें आकाश में देखो। वे इस प्रतिक्षा में हैं कि जब तुम परलोक जाने लगोगे तो वे तुम्हारे शरीर को अपनी लोहे की सींगों से छिन्न-भिन्न कर देंगे। देखो, क्रोध से भरे हुए वे तुम्हारी बाट देख रहे हैं। यदि तुम ध्यान से सुनोगे तो सुनो। मैं तुम्हें पुरञ्जन का उपाख्यान सुना रहा हूँ। इस के अनुसार आचरण करने से तुम्हारे सङ्कट का निवारण हो जायेगा। पुरञ्जन का आध्यात्मिक इतिहास इस प्रकार है—

अत्र ते कथयिष्येऽमुमितिहासं पुरातनम् । पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मम ॥४/२५/९

राजन्, बात पूर्वकाल की है। 'पुरञ्जन' नाम का एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका एक मित्र था। मित्र का नाम था—अविज्ञात। राजा पुरञ्जन ने अपने निवास के लिये सकल भू-मण्डल पर विचरण किया किन्तु कोई भी स्थान उसे पसन्द नहीं आया फिर वह हिमालय के दक्षिण भू-भाग में गया। वहाँ उसने कर्म-भूमि भारतवर्ष में एक नगर देखा। उसमें नौ द्वार बने हुए थे। वह बड़ा समृद्ध पुर था। परकोटों, बगीचों, अटारियों और राजद्वारों द्वारा वह सुशोभित था। वहाँ का भूतल विचित्र मणियों से बना था। उस नगर में सारी भौतिक सुख-समृद्धियाँ भरी पड़ी थीं। अपनी कान्ति के कारण वह नागों की नगरी भोगवती के समान प्रतीत होती थी। नगर के बाहर एक अत्यन्त मनोरम

१. क. पुरञ्जनः—पुरं = शरीरं जानयतीति पुरञ्जनः = जीवात्मा। शरीररूपी पुर में रहनेवाला जीवात्मा पुरञ्जन कहा गया है।

ख. इस रूपक में जीवात्मा राजा के रूप में, अविज्ञातसखा कृष्णके रूप में, शरीर पुर के रूप में और बुद्धि पुरञ्जनी भार्या के रूप में वर्णित है।

२. अविज्ञातः परमात्मा। अविज्ञात कहते हैं परमात्मा को, क्योंकि कोई भी उसकी चेष्टाओं को समझ नहीं सकता अथवा अः = वासुदेवो विज्ञातं प्रसिद्धं नाम यस्य सः = अविज्ञातनामा = भगवान् श्रीकृष्णः।



उपवन था। उपवन के मध्य फूलों और चहचहाते पक्षियों से भरा एक निर्मल जलाशय था। इससे शीतल मन्द सुगन्ध हवा चतुर्दिक् फैल कर वातावरण को भव्य बना रही थी। उपवन के सौन्दर्य के वशीभूत होकर पुरञ्जन उसमें भ्रमण करने लगा।

राजा पुरञ्जन ने वहाँ अकस्मात् आई हुई एक तरुणी को देखा। तरुणाई उसके शरीर पर अँगड़ाई ले रही थी। सौन्दर्य का वसन्त उस पर अपने पूरे यौवन के साथ विकसित था। उसकी मतवाली चाल मुनि-मन को भी मोहित करनेवाली थी। कमल-कुङ्कुम की भाँति दो कुच हठात् उसके वक्षःस्थल से बाहर निकल रहे थे, जिन्हें वह बार-बार अञ्चल से आच्छादित करने का प्रयास कर रही थी। गज के समान उसकी मतवाली चाल थी। पाँच फन वाला एक नाग उसकी रक्षा करता था। देखते ही पुरञ्जन पर उस सुन्दरी के सौन्दर्य का जादू चल गया। लजाती मुस्काती बलखाती उस तरुणी के पास जाकर पुरञ्जन ने पूछा—कमल-दल के समान विशाल नयनोंवाली सुन्दरी, मुझे बतलाओ, तुम कौन हो, किसकी दुलारी प्यारी बिटिया हो ? साध्वी, इस समय कहाँ से आ रही हो ? इस पुरी-के समीप तुम क्या करना चाहती हो ?—

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यासीह कुतः सति । इमामुप पुरीं भीरु किं चिकीर्षसि शंस मे ॥

४/२५/२६

सुन्दरि, तुम साक्षात् लज्जा देवी हो अथवा उमा, रमा और ब्रह्माणी में से कोई एक हो ? तुम्हारा शरीर सौन्दर्य का खजाना है। मेरा मन तुम्हारे ऊपर न्यौछावर हो रहा है। मेरे साथ विवाह करके तुम इस पुरी में निवास करो। तेरी भौहों का बाण चलाकर कामदेव मुझे बेचैन बना रहा है। बारबार इच्छा हो रही है कि तुझे अपनी बाहों में लपेट लूँ। देवि, जरा घूँघट का पट हटाकर मुझे अपना मुख-कमल दिखला दो—यह मेरी प्रार्थना है।

नारद ने कहा—वीरवर, जब राजा पुरञ्जन ने इस प्रकार अपनी व्यथा और विवशता व्यक्त की तो उस बाला ने हँसते हुए उनकी याचना का अनुमोदन कर दिया। वह भी राजा के यौवन, सौन्दर्य पर न्यौछावर हो चुकी थी। कामदेव उसे भी भीतर-ही-भीतर जला रहा था। तिरछे नयनों का बाण चलाकर मुस्कराती हुई बाला ने कहा—राजन्, मुझे अपने नाम और गोत्र का कुछ भी पता नहीं है। मैं यह भी नहीं जानती कि इस पुरी को बनाया किसने है ? ये साथ चलनेवाले मेरे सखा और सखियाँ हैं। मेरे शयन करने पर यह पाँच फन वाला सर्प ही जागकर इस पुरी की रक्षा करता है। तुम हमारा नाम और गोत्र जानकर क्या करोगे ? वीरवर, तुम यहाँ आ गये यही बहुत है। यह मेरा सौभाग्य है। तुम्हारी विशाल भुजाएँ और चौड़ा वक्षःस्थल देख कर किस सुन्दरी का चित्त तुम पर आसक्त न होगा ? आप को भोगने की इच्छा है तो मैं अपने पुरजन-परिजन के साथ उसकी पूर्ति करती रहूँगी। प्रभो, इस नौ<sup>१</sup> द्वारोंवाली पुरी में मेरे द्वारा प्रस्तुत किये गये भोगों को भोगते हुए आप सैकड़ों वर्षों तक निवास कीजिये—

इमां त्वमधिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो । मयोपनीतान् गृह्णानः कामभोगान् शतं समाः ॥

४/२५/३७

श्रीनारद जी कहते हैं—पुरञ्जन और पुरञ्जना (पुरञ्जनी<sup>१</sup>) एक दूसरे की बात का समर्थन कर परस्पर एक दूसरे का हाथ पकड़ कर बड़ी प्रसन्नता के साथ उसी पुरी में प्रवेश किये और सैकड़ों वर्षों तक उसमें रह कर आनन्द भोग भोगते रहे। ग्रीष्म ऋतु के आगमन पर पुरञ्जन अपनी प्रिया के साथ जल-विहार भी किया करता था। पुरी के ऊपरी

१. शरीर के नौ छिद्र ही पुरी के नौ द्वार हैं।

२. पुरञ्जनी—पुरं शरीरं जनयति इति पुरञ्जनी बुद्धिः। जो शरीर धारण करने में कारण बनती है, उस बुद्धि को पुरञ्जनी कहते हैं।



भाग में सात द्वार थे और दो द्वार नीचे की ओर थे। पुरञ्जन उन्हीं द्वारों से निकल कर विषयसुख का अनुभव करता था। समय के अनुसार पुरञ्जन के बहुत-से पुत्र और पुत्रियाँ हुईं। उनके सुख और दुःख से वह सुखी और दुःखी हुआ करता था।

पुरञ्जन अपनी पत्नी का क्रीतदास बन गया था। उसके पानी पीने पर वह पानी पीता था, भोजन करने पर भोजन करता था, गाने पर गाता था, रोने पर रोता था, हँसने पर हँसता था, सो जाने पर सोता था और जागने पर जागता था। इस प्रकार वश में कर लिया गया था मानो वह उसके हाथ की कठपुलती हो। अपना सारा ज्ञान गवाँकर वह उस स्त्री का क्रीडा-मृग बन गया था। खेलने के लिये पाले गये बन्दर के समान हो गया था, जो अपने मालिक अथवा मालकिन की सर्वदा नकल करता रहता है।

विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः । नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैव्यात्क्रीडामृगो यथा ॥४/२५/६२  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२५॥

## छब्बीसवाँ अध्याय

( राजा पुरञ्जन का मृगयार्थ वनगमन और रानी का कोप )

नारद जी ने प्राचीनबर्हि से कहा—‘राजन, एक दिन की बात है। राजा पुरञ्जन को शिकार खेलने की इच्छा हुई। उसने हाथ में विशाल धनुष और बाण लिया। पाँच घोड़ोंवाले शीघ्रगामी रथ<sup>१</sup> पर आरूढ़ हुआ फिर चला गया पञ्चप्रस्थ<sup>२</sup> नामक वन में। रथ की साज-सज्जा सब सोने की थी। राजा ने भी सुवर्ण का कवच और अक्षय तूणीर धारण कर रक्खा था। उसके साथ उसका ग्यारहवाँ सेनापति<sup>३</sup> भी था—

स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम् ॥४/२६/१

हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः । एकादशचमूनाथः पञ्चप्रस्थमगाहनम् ॥४/२६/३

राजा पुरञ्जन अपनी दुलारी सुकुमारी महारानी का कभी परित्याग नहीं करता था। पत्नी के लिये भी उसका वियोग दुःसह था। किन्तु उस दिन पुरञ्जन को शिकार की ऐसी धुन सवार हुई कि वह रानी की परवाह न कर बड़े गर्व से धनुष-बाण चढ़ा कर आखेट करने लगा—

चकार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः । विहाय जायामतदर्हा मृगव्यसनलालसः ॥४/२६/४

वहाँ आसुरी वृत्ति धारण कर—‘आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य’ ॥५॥ उसने बड़ी निर्दयता के साथ बहुत-से खरगोश, हरिण, वराह-भैसे, नीलगाय, कृष्ण-मृग, और साही आदि पशुओं का शिकार किया। शिकार में वहाँ वह कुछ इस प्रकार तल्लीन था कि उसे भूख-प्यास का कुछ भी पता न लगा। किन्तु जब शिकार करते-करते वह थक गया तो भूख-प्यास ने भी उसे सताना शुरू किया फलतः थक कर वह अपने राजमहल में लौट आया—

१. यहाँ रथ का वैसा ही वर्णन है, जैसा शरीर का है।
२. पञ्चप्रस्थ पाँच प्रकार के विषयों से भरा हुआ संसार ही है।
३. ग्यारहवाँ सेनापति इन्द्रियों का स्वामी ग्यारहवाँ मन ही है।



शशान् वराहान् महिषान् गवयान् रुरुशल्यकान् । मेघ्यानन्यांश्च विविधान् विभिन्नश्रममध्यगात् ॥

ततः क्षुत्तृप्तिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेधिवान् ॥ ४/२६/१०-११

वहाँ उसने स्नान किया । सुरुचिपूर्ण भोजन किया और विश्राम किया । जब उसकी थकान दूर हो गई तो उसने सुगन्धित पदार्थों से अपने आपको सजाया-सँवारा । सुन्दर-सुन्दर आभूषण धारण किया और फिर निकल पड़ा प्रियतमा का पता लगाने । उस समय काम-लालसा उसे व्यथित कर रही थी । किन्तु अन्तःपुर के कई कक्षों में खोजने पर भी वह दिखलाई न पड़ी । तब परेशान होकर उसने रनिवास की स्त्रियों से पूछा—देवियों, बतलाओ तुम्हारी स्वामिनी और मेरी हृदयेश्वरी इस समय कहाँ हैं ? उसके दिखलाई न पड़ने से पूरा राज-भवन ही सूना-सूना प्रतीत हो रहा है । वह दुःख-सङ्कट में पड़ने पर मुझे अपने ज्ञानोपदेश के द्वारा उबार लेती है । आज वह कहाँ चली गई ? स्त्रियों ने कहा—‘राजन, मालूम नहीं आज आप की प्रिया ने क्या ठान रक्खा है । शत्रुदमन देखिये, वे बिना विस्तर के ही भूतल पर पड़ी हुई हैं—

नरनाथ न जानीमस्त्वप्रिया यद्व्यवस्यति । भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन् ॥ ४/२६/१७

नारद जी ने कहा—राजन, उस स्त्री के सङ्ग से पुरञ्जन का बुद्धि-विवेक भ्रष्ट हो चुका था । इसलिये अपनी रानी को भूतल पर अस्त-व्यस्त अवस्था में पड़ी देखकर वह अत्यन्त व्याकुल हो उठा—

पुरञ्जनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधुतां भुवि । तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ ॥ ४/२६/१८

वह प्रियतमा को मनाने में कुशल था । अतः उसने उसके पैरों का स्पर्श किया । रानी को उठाकर अपनी गोद में ले लिया और फिर उसे सुमधुर वचनों से मनाना प्रारम्भ किया—

अनुनिन्येऽथ शनकैर्वीरोऽनुनयकोविदः । पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्सङ्गलालिताम् ॥ ४/२६/२०

‘मेरी महारानी, आज तुमसे बिना आज्ञा लिये ही मैं आखेट के लिये जङ्गल में चला गया था । यह मेरा बहुत बड़ा अपराध है । अतः मुझे क्षमा कर दो, माफ कर दो । तुम स्वामिनी हो । मैं सेवक हूँ । मुझ पर तेरा पूरा अधिकार है । मुझे चाहे जो दण्ड दो । किन्तु सुन्दर दाँतोंवाली मेरी प्राणों की मालकिन, एक बार अपना सुन्दर मुख ऊपर उठाकर मुझे दिखला दो, मुस्करा दो । यदि किसी ने तुम्हारा अपराध कर दिया है, तो बतलाओ उसका नाम । मैं उसे भरपूर दण्ड दूँगा । देवि, सुन्दर सुडौल तुम्हारे स्तन भी शोकाश्रुओं से भीगे हुए हैं । बिम्बाफल के समान लाल तेरा अधरोष्ठ भी स्निग्ध केशर की लालिमा से रहित देख रहा हूँ । महारानी, मैं शोकवश शिकार खेलने बिना तुमसे पूछे, जंगल में चला गया था । अवश्य यह मेरा अपराध है । फिर भी अपना दास समझ कर मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ । स्वामिनी का सेवक पर पूर्ण अधिकार होता है । मैं तुम्हारी आज्ञा का पालक सेवक हूँ । हाथ जोड़ता हूँ । मुझे अपना लो । क्रोध शान्त कर एक बार छाती से लगा लो और स्नेहभरी चितवन से निहार कर निहाल कर दो मुझे मेरे प्राणों की मालकिन<sup>१</sup>—

तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य, स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनतुरस्य ॥ ४/२६/२६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

१. तुलना करो कैकेयी के कोपभवन में दशरथ की चाटुकारीभरे अनुनय से ।



## सत्ताईसवाँ अध्याय

( रानी का प्रसन्न होना, पुरञ्जन का उसके साथ विहार, नगर पर चण्डवेग का आक्रमण और कालकन्या जरा का चरित्र )

नारद जी ने प्राचीनबर्हि से कहा—“महाराज, इस प्रकार उस महारानी पुरञ्जनी ने अपने सैकड़ों हाव-भाव और विलासों से पुरञ्जन को पूर्णतः अपने वश में कर उसे आनन्द-सागर में नहलाती हुई अविच्छिन्न विहार प्रारम्भ किया। रानी ने भली-भाँति स्नान किया। उसने अपने मुख-चन्द्र को स्नो, पाउडर और लिपस्टिक से सजाया-सँवारा। सुन्दर परिधान पहना तथा भोजन-पान से तृप्त होकर एकान्त में राजा के पास, हँसती-मुस्कराती हुई आई। एक ने दूसरे को देखा। देखते ही एक-दूसरे पर न्यौछावर हो गये, विमुग्ध हो उठे। रानी ने राजा को अपनी कोमल बाहु-लता में लपेट लिया। राजा ने उसे गले लगा लिया, फिर मधुर-मधुर रहस्यभरी बातें करते हुए वे दोनों रति-रङ्ग में इस प्रकार लीन हुए कि काल का कुछ पता ही न चला। रात-दिन की कौन बात करे, वर्ष क्षण की भाँति प्रतीत होता था। काल तेजी से भाग रहा था। पुरञ्जन की भोग-लालसा नित नवीन की तरह बढ़ती जाती थी। उस पर से रानी के सौन्दर्य-माधुर्य की नशा का वेग कम ही नहीं होता था। मतवाला पुरञ्जन बहुमूल्य पलङ्ग पर प्रियतमा की बाहु-लता पर शिर रक्खे पड़ा रहता था। उसे तो रमणी ही जीवन का परम फल प्रतीत होती थी। अज्ञान से आवृत होने के कारण उसे आत्मा-परमात्मा का कुछ भी पता न था—

तथोपगूढः परिरब्धकन्धरो, रहोऽनुमनैरपकृष्टचेतनः ।

न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं, दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः ॥

शयान उन्नद्धमदो महामना, महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः ।

तामेव वीरो मनुते परं यतस्तमोऽभिभूतो न निजं परं च यत् ॥ ४/२७/३-४

राजन्, इस प्रकार कामातुर चित्त से अपनी रानी के साथ रमण करते हुए पुरञ्जन की जवानी आधे क्षण के समान बीत गई। इस बीच पुरञ्जनी से पुरञ्जन के ग्यारह सौ बेटे और एक सौ दश बेटियाँ हुईं। सभी सुशील, सम्पन्न और माता-पिता के यश को बढ़ानेवाले थे। आगे पाञ्चालराज पुरञ्जन ने पुत्रों का विवाह सुन्दरी सुयोग्य बधुओं से तथा पुत्रियों का विवाह सुन्दर स्वस्थ वरों के साथ कर दिया।

पुरञ्जन के एक-एक पुत्रों को सौ-सौ पुत्र हुए। इससे पुरञ्जन का वंश सारे पाञ्चाल देश में फैल गया—

पुत्राणां चाभवन् पुत्रा एकैकस्य शतं शतम् । यैर्वै पौरञ्जिनो वंशः पञ्चालेषु समेधितः ॥ ४/२७/९

अपने परिवार में पुरञ्जन की बड़ी दृढ ममता थी। उसके लालन-पालन में ही वह सर्वदा निमग्न रहता था। तुम्हारी ही भाँति विविध भोगों की कामना से उसने भी यज्ञ की दीक्षा लेकर तरह-तरह के पशु-हिंसामय घोर यज्ञों से देवता, पितर और भूत-पतियों की आराधना की—

ईजे च क्रतुमिधोरेर्दीक्षितः पशुमारकैः । देवान् पितॄन् भूतपतीन्नानाकामो यथा भवान् ॥ ४/२७/११

इस प्रकार विषयों में आसक्त, आत्मा का कल्याण करनेवाले कर्मों से असावधान पुरञ्जन के शिर पर वृद्धावस्था का वह समय आ पहुँचा जो स्त्री-लम्पट पुरुषों को बड़ा अप्रिय हुआ करता है। आ गई पुरञ्जन की बुढ़ाई। अन्ततः एक दिन प्रचण्डवेग ने आक्रमण कर दिया। प्रचण्डवेग संवत्सर है। इसके साथ ७२० गन्धर्व और गन्धर्वियों की अतिबलवान् सेना थी। उसने पुरञ्जन के नगर को लूटना-पाटना प्रारम्भ कर दिया। इसे देखकर नगर की रक्षा में नियुक्त पाँच फनवाले सर्प प्रजागर<sup>१</sup> नें रोका—“प्रत्यषेधत् प्रजागरः” ॥ १५॥ सैकड़ों वर्ष चण्डवेग की सेना के साथ

१. प्रजागर है—जीवन-वायु। प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—ये ही उस सर्प के फण हैं। प्राण-वायु ही जीवन का, शरीर का रक्षक है।



वह अकेले ही युद्ध करता रहा किन्तु उसे सफलता न मिली । इस अवश्यम्भावी भय का पुरञ्जन को पता ही न था । वह अपने परिवार और पत्नी के लिये चिन्तातुर था ।

इन्हीं दिनों की घटना है । काल की एक कन्या थी । उसका नाम था—जरा<sup>१</sup> । वह अपने लिये वर खोजती हुई त्रिलोकी में घूम रही थी । उसे कोई अपनी पत्नी बनाने के लिये तैयार न था । दुनियाँ उसे दुर्भगा कहती थी । पिता की प्रसन्नता के लिये एक बार राजर्षि पुरु ने उसे स्वीकार कर लिया था । इस से प्रसन्न होकर उसने उन्हें राज्य-प्राप्ति का वर दिया था । नारद जी कहते हैं कि एक बार मैं ब्रह्मलोक से भूतल पर आ रहा था । जरा मुझसे मिल गई । मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानकर वह मुझ पर मुग्ध हो गई । मेरे सामने विवाह का प्रस्ताव रक्खा । मैंने अस्वीकार कर दिया । वह क्रुद्ध हो गई मेरे ऊपर और कठोर शाप दिया मुझे—‘तुम एक स्थान पर अधिक देर न ठहर सकोगे’—

मयि संरभ्य विपुलमदाच्छापं सुदुःसहम् । स्थातुमर्हसि नैकत्र मद्याश्चाविमुखो मुने ॥४/२७/२२  
तदनन्तर शान्ति से मैंने उसे समझाया तुम यवन-राज भय को अपना पति बना लो । वह मेरी बात मानकर भय के पास गई । उससे विवाह का प्रस्ताव रक्खा । उसने उत्तर में कहा—देखो, यदि संसार का कोई प्राणी तुम्हें प्राण-प्रिया के रूप में स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है तो तुम गुप्तरूप से सब प्राणियों का उपभोग किया करो । प्रज्वार<sup>२</sup> मेरा भाई है । अब तुम मेरी बहन बन जाओ । मैं तुम्हारे और प्रज्वार के साथ गुप्त रूप से संसार में भ्रमण कर तेरा मनोरथ पूर्ण करता रहूँगा—

प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वं च मे भगिनी भव । चराम्युभाम्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः ॥

४ / २७/३०

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७॥

## अट्टाईसवाँ अध्याय

( पुरञ्जन को स्त्री-योनि की प्राप्ति और अविज्ञात के उपदेश से उसकी मुक्ति )

नारद जी कहते हैं—‘राजन, फिर भयनामक यवनराज के आज्ञाकारी सैनिक प्रज्वार और कालकन्या के साथ इस पृथिवीतल पर चारों ओर विचरण करने लगे । एक बार उन्होंने बड़े वेग से, बूढ़े साँप के द्वारा रक्षित, संसार की सारी सुख-सुविधाओं से सम्पन्न पुरञ्जन की पुरी को पूरी तरह से घेर लिया—

त एकदा तु रभसा पुरञ्जनपुरीं नृप । रुरुधुर्भौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम् ॥४/२८/२१  
कालकन्या जरा जबर्दस्ती उस पुरी के प्राणियों का उपभोग करने लगी । जरा (वृद्धावस्था) से ग्रस्त प्राणी शीघ्र ही निःसार हो जाता है । उसकी सारी शक्ति समाप्त हो जाती है—

कालकन्याऽपि बुभुजे पुरञ्जनपुरं बलात् । ययाभिभूतः पुरुषः सद्यो निःसारतामियात् ॥४/२८/३  
उस समय वे यवन भी कालकन्या के द्वारा भोगी जाती हुई उस पुरी में चारों ओर के भिन्न-भिन्न द्वारों से घुसकर उसका विध्वंस करने लगे । ऐसी स्थिति उपस्थित होने पर पुत्र, पौत्र, भृत्य और अमात्य-वर्ग प्रतिकूल होकर पुरञ्जन

१. जरा कहते हैं वृद्धावस्था को । वह काल (मौत) की बेटी है ।

२. मृत्यु के पूर्व आनेवाला ज्वर ही प्रज्वार (सन्निपात) है । इसके आ जाने पर प्राणी मौत की सूचना पाकर भय-भीत हो जाता है ।



का अनादर करने लगे, स्त्री स्नेह-शून्य हो गई। पुरी और परिवार की इस प्रकार की दुर्दशा देखकर ममता के वशीभूत पुरञ्जन को महान् कष्ट हुआ। उसे इस विपत्ति से छुटकारा पाने का कोई उपाय न सूझा। कालकन्या के आलिङ्गन करने से उसकी सारी श्री नष्ट हो गई। विषयों में अत्यन्त आसक्त होने के कारण वह अत्यन्त दीन हो गया। उसकी विवेकशक्ति नष्ट हो गई। गन्धर्व और यवनों ने उसका सारा ऐश्वर्य लूट लिया। उस समय पुत्र-पौत्रादि कोई भी उसकी सहायता न कर सके। वियोग का समय उपस्थित होने पर भी उसने यह नहीं सोचा कि मैं मरूँगा तो मेरा क्या होगा ? वह यही सोचता था कि मैं मरूँगा तो मेरी स्त्री का क्या होगा ? यह मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी। मेरे बिना नहाती नहीं थी। वह मेरे क्रोध करने पर डर जाती थी और डाँटने पर चुप हो जाती थी। समय-समय पर मुझे सही सलाह दिया करती थी। मेरे न रहने पर मेरे बेटे-बेटों का क्या होगा ?

पुरञ्जन जब इस प्रकार सोचकर दुःखी हो रहा था उसी समय पुरी की रक्षा करनेवाला जो सर्प था, प्राण था, वह निकल गया। उनकी शरीररूपी पुरी बिखर गई। उस समय उन्हें अपने पुराने मित्र अज्ञातनामा की याद भी नहीं आई। दुर्दशा से आक्रान्त होकर वह पुरी के परित्याग की बात सोचने लगा। ठीक उसी समय राजा भय के बड़े-भाई प्रज्वार ने आकर उस पुरी में आग लगा दी। पुरञ्जन मृत्यु को प्राप्त हो गया। मर कर जब वह यमपुरी पहुँचा तो, उसके द्वारा पहले यज्ञ में मारे गये पशु, जो वहाँ पहले से उपस्थित रहकर उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे, कुठारों के भीषण प्रहारों से उसके शरीर को छिन्न-भिन्न कर डाले—

तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना । कुठारैश्चिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत् ॥

४/२८/२६

पुरञ्जन बहुत दिनों तक नरक की अपार यातनाओं को भोगता रहा। उसकी यह दुर्दशा स्त्री में आसक्ति के कारण हुई थी फिर उसका अगला जन्म हुआ। वह मरने की बेला में अपनी सुन्दरी पत्नी का ध्यान कर रहा था अतः राजा विदर्भ के घर में सुन्दरी पुत्री के रूप में उसका जन्म हुआ—

तामेव मनसा गृहणन् बभूव प्रमदोत्तमा । अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि ॥४/२८/२८  
विदर्भराज की बेटी होने के कारण वहाँ इसका नाम वैदर्भी रक्खा गया। विवाह-योग्य होने पर विदर्भराजने इसके स्वयंवर की रचना की। उस समय पाण्ड्य देश के राजा मलयध्वज ने सकल राजाओं को जीत कर विदर्भ-कुमारी के साथ विवाह किया। मलयध्वज ने उससे एक सुन्दरी सुकुमारी कुमारी और सात पुत्रों को पैदा किया। आगे चल कर सातों पुत्र द्रविड़ देश के राजा हुए। इनके भी अरबों पुत्र-पुत्रियाँ हुए जिन्होंने उस मन्वन्तर का उपभोग किया। मलयध्वज की बेटी बड़ी व्रतशीला थी। उसके साथ अगस्त्य का विवाह हुआ। उससे उनके दृढच्युत नाम का पुत्र हुआ। दृढच्युत का बेटा था—इध्मवाह।

समय आने पर राजा मलयध्वज ने पुत्रों को सारा राज-पाट समर्पित कर, कृष्ण की आराधना करने के लिये वन की राह ली। वे मलय पर्वत पर चले गये। चन्द्रके पीछे-पीछे चन्द्रिका की भाँति, उनकी पत्नी ने भी, सब कुछ छोड़कर पतिदेव का ही अनुगमन किया। मलयध्वज ने मलयगिरि पर अपना आश्रम वहाँ बनाया जहाँ चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी और बटोदका नाम की पावन नदियाँ बहती थीं। राजा उनके जल में स्नान कर अपना अन्तःकरण और

१. यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥गीता, ८/६॥

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, यह मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ अपना शरीर छोड़ता है, उस-उस को ही, दूसरे जन्म में प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहता है।



शरीर—दोनों ही पवित्र करते थे। वहाँ वे कन्द, मूल, फल, तृण आदि खाकर कठोर तप करने लगे। सुदीर्घकाल तक तप करने से उनका अन्तःकरण कृष्णमय और शरीर सूखकर कांटा बन गया था। वे गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों को सहते हुए तपस्या में इस प्रकार लीन हुए कि शरीर और संसार सब कुछ विस्मृत हो गया। अब उन्हें सर्वत्र कृष्ण की ही अनुभूति होती थी। एक स्थान पर खड़े होकर तपस्या करते हुए उन्हें सैकड़ों दिव्य वर्ष व्यतीत हो गये। उन्हें देखकर प्रतीत होता था कि यह कोई व्यक्ति नहीं सूखे वृक्ष का टूट्ट है—

आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थिरः। वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्वहन् रतिम्॥

४/२८/३९

समय बीता। आयुकी सीमा समाप्त हुई। मलयध्वज ने परब्रह्म कृष्ण में अपने आप को विलीन कर इस संसार का परित्याग कर दिया। वैदर्भी अपने पतिदेव की अद्भुत सेवा करती थी। सारे भोगों का उसने परित्याग कर दिया था। वह फटा-पुराना कपड़ा पहनती थी। प्रसाधन के अभाव में उसके बालों में लटें पड़ गई थीं। परलोकवासी होने पर भी वे मलयध्वज पूर्ववत् खड़े थे। उनकी सेवा की बेला में वैदर्भी को पता चला कि उसके पतिदेव अब इस संसार को छोड़ चुके हैं। वह झुण्ड से बिछुड़ी हुई मृगी की भाँति विकल हो विलाप करने लगी। वह बोली—‘राजर्षे, उठिये, उठिये; नाथ, इस पृथिवी की रक्षा कीजिये।’ वैदर्भी बेहोश होकर भूतल पर गिर जाती। होश आने पर विलाप करती। वह अबला उस विपिन में असहाय थी। रो-रोकर उसने अपने को बेहाल बना लिया था। किसी-किसी तरह उसने लकड़ियों से चिता बनाई। उस पर पति का शव रक्खा। और अग्नि लगा कर विलाप करते-करते स्वयं चिता पर चढ़ कर सती होने का निश्चय किया। राजन्, इसी समय उसका कोई पुराना मित्र एक आत्मज्ञानी ब्राह्मण वहाँ आया। उसने उस रोती हुई अबला को मधुर वाणी में समझाते हुए कहा—‘तू कौन है ? किसकी बेटी है ? और जिसके लिये तू शोक कर रही है, वह यह सोया हुआ पुरुष कौन है ? क्या तुम मुझे नहीं जानती ? मैं वही तेरा मित्र हूँ, जिसके साथ तू पहले विचरा करती थी—

का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि। जानासि किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ ह॥

४/२८/५२

मित्र, क्या तुम्हें अपनी याद आती है, किसी समय मैं तुम्हारा अविज्ञात नाम का सखा था ? तुम पृथ्वी के भोगों को भोगने के लिये, मुझे छोड़ कर, निवास स्थान की खोज में चले गये थे। आर्य, हम दोनों—तुम और मैं—मानस में निवास करनेवाले हंस थे। एक दूसरे के अभिन्न मित्र थे। हम दोनों सहस्रों वर्षों तक, बिना किसी निवास स्थान के, साथ-साथ रहते थे। फिर तुम मुझे छोड़ कर, विषय-भोग की लालसा से किसी स्त्री के निर्मित नगर में चले गये। वहाँ किसी रानी के साथ तुम्हारा सम्बन्ध हो गया। उसी के फलस्वरूप आज तुम्हारी यह दुर्दशा है।

अब मैं तुमसे यथार्थ बात बतला रहा हूँ। सावधान होकर सुनो—‘देखो, तुम न तो विदर्भराज की पुत्री हो और न यह वीर मलयध्वज तुम्हारा पति ही है। जिसने तुम्हें नौ द्वारों के नगर में बन्द किया था, उस पुरञ्जनी के पति भी तुम नहीं हो। संसार के ये सारे सम्बन्ध कल्पित हैं। तुम पहले जन्म में अपने को पुरुष मानते थे और सब सती स्त्री समझते हो। यह सब मेरी ही फैलायी हुई माया है। वास्तव में तुम न पुरुष हो न स्त्री। हम दोनों तो हंस हैं; हमारा जो वास्तविक स्वरूप है, उसका अनुभव करो। वस्तुतः तुम्हारे हमारे में कोई भेद नहीं है। जो मैं (ईश्वर) हूँ, वही तुम (जीव) हो। जैसे एक पुरुष अपने शरीर की परछाई को शीशे में और किसी व्यक्ति के नेत्र में भिन्न-भिन्न रूप से देखता है, वैसे ही—एक ही आत्मा विद्या और अविद्या की उपाधि के भेद से अपने को ईश्वर और जीव के रूप में दो प्रकार से देखता है। मित्र के इस प्रकार समझाने पर वैदर्भी को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो गया। उसकी पूर्वजन्म की स्मृति जाग उठी। फिर क्या था ? दोनों मित्र परस्पर मिलकर परमानन्द में निमग्न हो उठे।



उपदेश का उपसंहार करते हुए नारद जी ने कहा—राजन्, प्राचीनबर्हि, मैंने तुम्हें परोक्षरूप से यह आत्म-ज्ञान का दिग्दर्शन कराया है; क्योंकि जगत् के कारण जगदीश्वर को परोक्ष वर्णन ही अधिक प्रिय है। इस पर ध्यान से सोचोगे, चिन्तन-मनन करोगे तो तुम्हें परमशान्ति की अनुभूति होगी ॥२८॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह अट्ठईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२८॥

## उन्तीसवाँ अध्याय

( पुरञ्जनोपाख्यान का आध्यात्मिक अभिप्राय और राजा प्राचीनबर्हि की मुक्ति )

राजा प्राचीनबर्हि ने कहा—भगवन्, आप के वचन अभिप्राय से भरे हुए हैं, अत्यन्त गूढ़ हैं। अतः पूर्णरूप से मेरी समझ में नहीं आ रहे हैं। विवेकी व्यक्ति ही इसका तात्पर्य समझ सकते हैं, हमारे जैसे कर्म से मोहित जीव नहीं—

भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते। कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः ॥४/२९/१

नारद जी ने कहा—‘राजन्, पुरञ्जन (शरीर का निर्माता) जीव है। वह अपने लिये शरीर रूप पुर तैयार कर लेता है। शरीर कई प्रकार के होते हैं— एक पैरवाले, दो पैरवाले, तीन पैरवाले, चार पैरवाले, बहुत पैरवाले और बिना पैरवाले। ईश्वर ही अविज्ञात नामवाला जीव का सखा है। जीवों को किसी भी प्रकार के नाम, गुण अथवा कर्मों से उसका पता नहीं चलता अतः वह अविज्ञात कहा गया है। जीव को जब भौतिक—सुख-दुःखरूप प्राकृत विषयों को भोगने की इच्छा हुई तब उसे अन्य शरीरों की अपेक्षा नौ द्वार, दो हाथ और दो पैरों वाला मानव देह ही पसंद आया। बुद्धि अथवा अविद्या ही पुरञ्जरी नाम की स्त्री हैं इसी के कारण जीव को देह आदि में मैं और मेरेपन का भाव पैदा होता है और वह इसी का आश्रय लेकर इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता है। दस इन्द्रियों की वृत्तियाँ ही उसकी सखियाँ और प्राण-अपान-व्यान-उदान-समानरूप पाँच वृत्तियों वाला प्राणवायु ही नगर की रक्षा करनेवाला पाँच फन का सर्प है। मन ही बृहद्बल है। पाँच विषय ही पञ्चाल देश हैं, जिनके बीच में वह नौ द्वारोंवाला शरीर बसा हुआ है। नगर में जो नौ द्वार बतलाये गये हैं—वे दो नेत्र, दो नासिका-छिद्र, दो कर्णछिद्र, मुख, लिङ्ग और गुदा हैं। इन्हीं नौ द्वारों से होकर जीव इन्द्रियों के साथ बाह्य विषयों में जाता है। अन्तःपुर हृदय है। मन ही विषूचीन नाम का प्रधान सेवक है। जीव मन के गुणों के कारण ही हर्ष-शोक आदि भावों को प्राप्त करता है। बुद्धि (राजमहिषी पुरञ्जनी) के चक्कर में पड़कर जीव उसके अनुकरण में बाध्य होता है। बुद्धि स्वप्न आदि में जैसा रूप धारण करती है, वैसा ही जीव को प्रतीत होता है। बुद्धिरूपी सुन्दरी रानी से विवाह कर जीव इसी नौ द्वारवाली पुरी में रम जाता है। पुरञ्जन, पुरञ्जनी का क्रीडा मृग बन जाता है। वह जैसा चाहती है, पुरञ्जन वैसा नाचता है। इस प्रकार उस पुरी में निवास करता हुआ जीव विविध विषयों के आनन्द से आनन्दित होता रहता है। जंगल में पुरञ्जन के शिकार खेलने जाने का अर्थ है—वह स्वप्नदेहरूपी रथ पर आरूढ़ होकर पञ्चग्रन्थ वन में जाता है। शिकार करने का भाव है कि जीव इस संसार में कर्तृत्व के अभिमान से अहङ्कारवश विविध स्त्रियों से विषय-भोग करता है। अपनी पत्नी सात्विकी बुद्धि को छोड़कर वह जंगल में विविध स्त्रियों के साथ भोग करने के लिये जाता है। अतः उसकी राजमहिषी बुद्धि कोप-भवन में प्रवेश करती है, क्रुद्ध होती है। फिर क्षमा-याचना करने पर प्रसन्न होती है। मन के सहित ग्यारह इन्द्रियाँ ही यहाँ ११०० पुत्र के रूप में निर्दिष्ट हैं। बुद्धि की वृत्तियाँ ही उसकी कन्याएँ हैं।



जिसके द्वारा काल का ज्ञान होता है, वह संवत्सर ही चण्डवेग नामक गन्धर्वराज है। उसके अधीन जो तीन सौ साठ गन्धर्व बतलाये गये हैं, वे दिन हैं और तीन सौ साठ गन्धर्वियाँ रात्रि हैं। ये बारी-बारी से चक्कर लगाते हुए मनुष्य की आयु का हरण करते रहते हैं। वृद्धावस्था ही साक्षात् कालकन्या जर है। उसे कोई भी पसन्द नहीं करता है। तब मृत्युरूप यवनराज ने लोक का संहार करने के लिये उसे बहिन मानकर स्वीकार कर लिया। आधिव्याधि ही उस यवनराज के पैदल चलनेवाले सैनिक हैं। प्राणियों को पीड़ा देकर शीघ्र ही मृत्यु के मुख में ले जानेवाला शीत और उष्ण दो प्रकार का ज्वर ही प्रज्वार नामक उसके भाई हैं।

शरीर में अहन्ता और ममता के कारण ही निरञ्जन जीव त्रिविधि तापों से सन्तप्त होकर शरीर में पड़ा रहता है। वृद्धावस्था के आक्रमण से जब शरीर शिथिल और अशक्त हो जाता है तब पत्नी, पुत्र, पौत्र, परिवार के कोई सदस्य ध्यान नहीं देते हैं। इसी समय मृत्यु का बड़ा भाई प्रज्वार आकर शरीर में आग लगा देता है। उसके प्राण-पखेरू निकल जाते हैं। यही है पुरञ्जनपुरी का ध्वंस। यमपुरी में पहुँचने पर यज्ञ-यागादि में मारे गये पशु प्राणी के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। वह कराह-कराह कर वहाँ किसी-किसी प्रकार अपना समय काटता है।

दूसरे जन्म में राजा पुरञ्जन विदर्भराज की पुत्री वैदर्भी के रूप में जन्मा। पिछले जन्म में स्त्री का ध्यान करते हुए उसने शरीर छोड़ा था अतः स्त्री के रूप में उसका जन्म हुआ। उसका प्रारब्ध कुछ उत्तम था अतः विष्णु-भक्त मलयध्वज के साथ उसका विवाह हुआ। वैष्णव पति के संग से उसे एक कन्या हुई। कृष्णसेवा ही उसकी एक कन्या है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन और दास्य—ये सात ही उसके पुत्र समझने चाहिये। पुत्रों ने द्रविड देश पर शासन किया। वस्तुतः भक्ति का प्रचार-प्रसार द्रविड देश से ही हुआ है।

मलयध्वज ने धर्मपूर्वक भूतल पर शासन किया। श्रवण, कीर्तन आदि कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। अन्त में वह तप करने के लिये मलयपर्वत पर चला गया। जहाँ कृष्ण का अविचल ध्यान कर उसने गोलोक धाम को प्रस्थान किया। वैदर्भी के पति की चिन्ता पर जलने की बेला में अविज्ञात नामक उसके मित्र आये और उसे समझा कर उसकी पूर्व स्मृति को जागृत किये। फलतः भगवान् रूपी सखा को पाकर पुरञ्जनरूप जीव सर्वदा के लिये सुखी हो गया।

राजन्, अविद्या के कारण परमार्थ स्वरूप आत्मा को यह जन्म-मरणरूप अनर्थ परम्परा प्राप्त हुई है। इसकी निवृत्ति श्रीहरि की दृढ भक्ति से ही हो सकती है। भगवान् वासुदेव में एकाग्रतापूर्वक भलीभाँति किया हुआ भक्तिभाव ज्ञान और वैराग्य का आविर्भाव कर देता है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः । सग्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति ॥४/२९/३७

भगवान् की भक्ति प्राप्त करने का सरलतम उपाय है उनकी कथाओं का आश्रय लेना। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक नित्य भगवान् की कथा सुनता या पढ़ता है, उसे बहुत शीघ्र ही इसकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् की कथा भगवद्भक्तों के समाज में सुलभ होती है। भक्तों के समाज में महापुरुषों के मुख से निकले हुए भगवान् के मङ्गलमय चरित्रों की पावन सरिताएँ चारों ओर बहा करती हैं, जो उनका नित्य सादर श्रवण करते हैं, उन्हें भूख-प्यास, भय, शोक और मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते—

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।

ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णैस्तात्र स्पृशन्त्यनशनत्तद्भयशोकमोहाः ॥४/२९/४०

हाय ! स्वभावतः प्राप्त होनेवाले इन क्षुधा-पिपासादि विघ्नों से सदा घिरा हुआ जीव-समुदाय श्रीहरि के कथामृत-सिन्धु से प्रेम नहीं कर पाता। बड़ी-बड़ी तपस्याओं और वेद की आलोचनाओं से भी लोग परमात्मा के स्वरूप को आज तक नहीं समझ सके हैं। हृदय में बार-बार चिन्तन करने पर भगवान् जीव पर प्रसन्न हो जाते हैं। भगवान् की



कृपा, प्रसन्नता से ही व्यक्ति लौकिक व्यवहार एवं वैदिक कर्म-मार्ग की प्रबल आस्था से छुड़ी पाता है, अन्यथा नहीं—

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥४/२९/४६

प्राचीनबर्हि, यज्ञ में तुमने पूर्व की ओर अग्रभागवाले कुशाओं से सम्पूर्ण भू-मण्डल को आच्छादित कर दिया । उसमें बहुत-से पशुओं की हिंसा की । इससे तुम बड़े कर्माभिमानी और उद्धत हो गये हो । किन्तु तुम्हें कर्म या उपासना किसी का भी कुछ रहस्य पता नहीं है । वस्तुतः कर्म वही है, जिससे श्रीहरि को प्रसन्न किया जा सके और विद्या भी वही है, जिस से भगवान् में चित्तलीन हो । श्रीहरि सम्पूर्ण शरीरधारियों के आत्मा, नियामक और स्वतन्त्र कारण हैं । अतः उनके चरणतल ही मानवों के एकमात्र आश्रय हैं । उन्हीं की शरण लेने से ही संसार में सबका कल्याण हो सकता है—

तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ।।

हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः । पत्यादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह ॥४/२९/४९-५०

भगवान् ही सबके प्रियतम आत्मा हैं, जिनसे किसी को अणुमात्र भी भय नहीं है । इस बात को जो पुरुष जानता है, वही ज्ञानी है और जो ज्ञानी है, वही गुरु एवं साक्षात् श्रीहरि है ।

राजन्, अब मैं भली-भाँति सुनिश्चित, एक अत्यन्त गोपनीय बात कह रहा हूँ । तुम उसे सावधान होकर सुनो—  
“जैसे पुष्पवाटिका में एक कृष्ण मृग बड़ी मस्ती के साथ अपनी हरिणी के साथ विहार कर रहा था । भूख लगने पर कोमल छोटी-छोटी दूबों के अङ्गुरों को चर रहा था । उसके कान भ्रमरों के सुमधुर गान में लगे हुए थे । उसके आगे एक भेड़िया उसे खाने की ताक में बैठा हुआ है और पीछे शिकारी व्याध नें बीधने के लिये उस पर बाण छोड़ दिया है किन्तु हिरण इतना बेसुध है कि उसे कुछ भी पता नहीं है” । एक बार इस हरिन की दशा पर तुम विचार करो । राजन्, यह मृग की कथा नहीं तुम्हारी कथा है, गृहस्थी में, परिवार में आसक्त जीव की कथा है । अतः अपने को मृग की-सी स्थिति में देखकर तुम अपने चित्त को हृदय के भीतर निरुद्ध करो और नदी की भाँति प्रवाहित होनेवाली श्रवणेन्द्रिय को अन्तर्मुखी करो । जहाँ कामी पुरुषों की चर्चा होती रहती है, उस गृहस्थाश्रम को छोड़कर परमहंसों के आश्रय श्रीहरि को प्रसन्न करो और धीरे-धीरे, क्रमशः, सभी विषयों से विरक्त हो जाओ—

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टिमात्मनोऽन्तश्चित्तं नियच्छ हृदि कुर्णधुनीं च चित्ते ।

जहाङ्गनाश्रममसत्तमयुश्रगाथं प्रीणीहि हंस शरणं विरम क्रमेण ॥४/२९/५५

अतः राजन्, तुम यज्ञ-यागदि के इस बखेड़े को छोड़ो । भगवान् की शरण ग्रहण करो । तन मन और धन से उन्हीं की सेवा करो, उन्हीं का भजन करो । भगवान् का सर्वात्मना आश्रय ग्रहण करने से तुम्हें परम शान्ति की अनुभूति होगी । इस प्रकार का उपदेश देकर मुनि नारद प्राचीनबर्हि की अनुमति लेकर ब्रह्मलोक चले गये । राजा प्राचीनबर्हि भी प्रजा की रक्षा में पुत्रों को नियुक्त कर तपस्या के लिये कपिलाश्रम को चले गये । वहाँ उन्होंने, विषयों की आसक्ति को छोड़कर, एकाग्र मन से भक्तिपूर्वक श्रीहरि के चरण-कमलों का चिन्तन करते हुए, सारूप्य पद प्राप्त किया ।

जो मानव देवर्षि नारद के मुख कमल से निःसृत अध्यात्मज्ञान से लबालब भरे हुए, अमृत के सामन इस पुरज्जन-कथा को सुनता अथवा सुनाता है, वह मुक्त हो जाता है । उसका इस संसार में पुनः आवागमन नहीं होता है । उसके सारे बन्धन कट जाते हैं और वह परम पद का अधिकारी बन जाता है—



एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् ।  
यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं नास्मिन् भवे भ्रमति मुक्त समस्तबन्धः ॥४/२९/८४  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२९॥

## तीसवाँ अध्याय

( प्रचेताओं को श्रीविष्णु भगवान् का वरदान और उनका वाक्षी से विवाह )

विदुर जी ने प्रश्न किया—‘ब्रह्मन्, प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेताओं ने रुद्रगीत का जप करके क्या प्राप्त किया ? यह आप कृपा करके बतलायें ।’

मैत्रेय जी ने कहा—‘विदुर जी, पिता के आज्ञाकारी प्रचेताओं ने समुद्र के अन्दर १० सहस्रवर्ष खड़े रहकर रुद्रगीत का पाठ करते हुए बड़ी कठोर तपस्या की । उनकी तपस्या से सन्तुष्ट भगवान् नारायण उनके समक्ष प्रकट हुए । वे गरुड के कन्धे पर बैठे हुए ऐसे जान पड़ते थे, जैसे सुमेरु पर्वत के शिखर पर श्याम मेघ-घटा छाई हो । उनके मनोहर श्रीअङ्ग चमकीले स्वर्णाभूषण, चित्ताकर्षक पीताम्बर और कौस्तुभ मणि से सुशोभित थे । वे अपनी आभा-प्रभा से सब दिशाओं का तिमिर तिरस्कृत कर रहे थे । उनके कमनीय कपोल और मनोहर मुखमण्डल की अपूर्व शोभा हो रही थी । मस्तक पर झिल-मिल झिल-मिल करता मुकुट विराजमान था । प्रभु की आठ भुजाओं में आठ आयुध थे । देव, ऋषि, मुनि और पार्षद सेवा में संलग्न थे । गरुड जी किन्नरों की भाँति साममय पंखों की ध्वनि से कीर्तिगान कर रहे थे । उनके विशाल वक्षःस्थल पर, लक्ष्मी जी से स्पर्धा करनेवाली, वनमाला विराजमान थी । उनका बड़ा ही दिव्य विग्रह था । उन्होंने प्रपन्न भक्तों के ऊपर अपनी दया-दृष्टि फेरी और फिर मेघ जैसी गंभीरवाणी में कहा—  
“राजकुमारों, तुम्हारा कल्याण हो । तुम सब में परस्पर बड़ा प्रेम है । स्नेहवश तुम सब एक ही धर्म का पालन कर रहे हो । तुम्हारे इस आदर्श सौहार्द से मैं अतिशय प्रसन्न हूँ । तुम लोगों को मुझसे जो वर मांगना हो मांग लो—

वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः । सौहार्देनापृथग्धर्मास्तुष्टोऽहं सौहृदेन वः ॥४/३०/८  
जो व्यक्ति सायंकाल की बेला में प्रतिदिन तुम्हारा स्मरण करेगा, उसका अपने भाइयों में बड़ा प्रेम और सारे जीवों के प्रति मित्रता का भाव होगा और जो लोग सायं-प्रातः की बेला में, एकाग्रचित्त हो, रुद्रगीत से मेरी स्तुति करेंगे उनको मैं अभीष्ट वर और शुद्ध बुद्धि प्रदान करूँगा । तुम लोगों ने प्रसन्न मन से पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया है अतः संसार में तुम्हारी निर्मल कीर्ति फैलेगी । तुम्हें एक पुत्र होगा । वह बड़ा ही यशस्वी होगा । वह ब्रह्मा के समान गुणशाली होगा । उसकी सन्तानों से यह समस्त त्रिलोकी भर जायेगी—

भविता विश्रुतः पुत्रोऽनवमो ब्रह्मणो गुणैः । य एतामात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति ॥४/३०/१२  
राजकुमारों, एक समय कण्डु ऋषि भीषण तप में रत थे । इन्द्र भयभीत हो उठे । उन्होंने सोचा—कहीं यह मेरा इन्द्रपद न ले लें अतः तप में विघ्न करने के लिये उन्होंने देवसुन्दरी अप्सरा प्रमलोचा को भेजा । देवसुन्दरी ने ऋषि को तप से विचलित कर दिया । फलतः ऋषि ने तप की गाढ़ी कमाई अप्सरा के चरणों पर रख दी । उसके मदभरे यौवन का छक कर उपभोग किया । परिणामस्वरूप अप्सरा गर्भिणी हुई । उसने एक सुन्दरी पुत्री को जन्म दिया फिर उसे वहीं छोड़कर वह स्वर्ग चली गई । ऋषि ने भी आँखें बन्द कर तप प्रारम्भ किया । अबोध बलिका



को वृक्षों ने पाला-पोसा अतः उसका गोत्रनाम 'वांक्षी' हुआ। उसी सुन्दरी कन्या से तुम लोग विवाह कर लो। वह तुम सबकी समान पत्नी बनेगी। तुम सभी में उसका समान अनुराग होगा। दस लाख वर्षों तक दिव्य भोगों को भोग कर, मेरी भक्ति के प्रभाव से, अन्त में तुम लोग मेरे परम धाम में पधारोगे। 'जो लोग सारे कर्म भगवदर्पण बुद्धिसे करते हैं, जिनका सारा समय भगवान् की ही कथा-वार्ता में बीतता है, वे यदि गृहस्थाश्रम में रहें तो भी घर उनके बन्धन का कारण नहीं बनता—

गृहेष्वविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् । मद्वातायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥

४/३०/१९

प्रचेताओं ने भगवान् की रसभरी वाणी सुनी। वे गद्गद हो उठे। हाथ जोड़कर भगवान् की स्तुति करते हुए उन लोगों ने कहा—'प्रभो, आप विशुद्ध सत्त्वस्वरूप हैं। आप का ज्ञान होते ही संसार का बन्धन छूट जाता है। आप ही समस्त भगवानों के भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण हैं। आप को प्रणाम है। आपकी ही नाभि से ब्रह्माण्डरूप कमल प्रकट हुआ था। आप का कण्ठ कमलों की माला से सुशोभित है। आपके चरण कमल की भाँति कोमल हैं और आपके नेत्र भी कमल-पत्र की भाँति विशाल एवं रक्ताभ हैं। प्रभो, आप भक्तों के क्लेश का हरण करनेवाले हैं। मन और वाणी की गति भी आप को नहीं छू सकती। एकमात्र लीला के लिये ही आप भाँति-भाँति के अवतार धारण किया करते हैं। आप को बार-बार प्रणाम है। जगदीश्वर, आप मोक्ष का मार्ग दिखलानेवाले हैं और स्वयं भी मोक्षस्वरूप हैं। आप हम पर प्रसन्न हैं, इससे बढ़कर हमें और क्या चाहिये ? बस, हमारा अभीष्ट वर तो आप की प्रसन्नता ही है—

असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते । प्रसन्नो भगवान् येषामपवर्गगुरुर्गतिः ॥४/३०/३०  
स्वामिन्, यदि आप बार-बार वर देने की बात कहते हैं तो लीजिये हम माँग रहे हैं—“आप की माया से मोहित होकर हम लोग संसार में जब तक भ्रमण करते रहें, तबतक जन्म-जन्म में हमें आप के भक्तों की संगति मिलती रहे—यही हमारी अभिलाषा है। हम तो आपके भक्तों के क्षण भर के सङ्ग के सामने स्वर्ग और मोक्ष को भी कुछ नहीं समझते फिर मरणधर्मा मनुष्यों के भोगों की तो बात ही क्या है ?—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥४/३०/३४  
भक्तों के समाज में आपकी अमृतमयी कथा-गङ्गा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, जिससे तृष्णा की निवृत्ति और आपके चरणों में अनुराग होता है। ऐसे सत्सङ्ग की चाह किसे न होगी ? एक बार थोड़ी देर के लिये आपके परमप्रिय भक्त शिवजी हमें मिल गये। जिसका फल यह हुआ कि भवरोग के महान् वैद्य आप ही हमें प्राप्त हो गये तो हम फिर किस बात की कामना करें ? प्रभो, हमने एकाग्र मन से जो कुछ अध्ययन किया है, सेवा-शुश्रूषा द्वारा गुरुओं, वृद्धों और ब्राह्मणों को प्रसन्न किया है, द्वेष बुद्धि का परित्याग कर जो समस्त प्राणियों की वन्दना की है और अन्न-जल का परित्याग जल में खड़े रहकर जो तपस्या की है—यह सब आप की प्रसन्नता का कारण बनें—यही वर माँगते हैं हम—

यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।

आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च सर्वाणि भूतान्यनसूययैव ॥

यन्नः सुतप्तं तप एतदीश निरन्यसां कालमदभ्रमप्सु ।

सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भून्नो वृणीमहे ते परितोषणाय ॥ ४/३०/४०

मनु, ब्रह्मा, भगवान् शङ्कर और बहुत-से बड़े-बड़े ज्ञानी भी आप की महिमा का पार नहीं पा सकते। आपकी हम बार-बार प्रणाम करते हैं।'

मैत्रेय जी ने कहा—“विदुर जी, इस प्रकार प्रचेताओं ने भगवान् की स्तुति की। स्तुति से भगवान् प्रसन्न हो उठे



और उन्हें वर प्रदान कर अन्तर्धान हो गये। प्रचेता भी कृतार्थ हो सागर के जल से बाहर निकले। उन्होंने सारी पृथिवी को वृक्षों से आच्छन्न देखा। उन्हें क्रोध आ गया। वे मुख से अग्नि और वायु को निकालने लगे। वे चाहते थे कि वृक्षलता आदि भस्म हो जाय और सारी पृथिवी खाली हो जाय। जब ब्रह्मा जी ने देखा कि वे सारे वृक्षों को भस्म करने पर तुले हुए हैं, तब वे वहाँ आये और प्रचेताओं को समझा कर शान्त किया। प्रचेताओं ने भी ब्रह्मा जी के आदेश से उस मारिषा (वार्क्षी) से विवाह कर लिया। इसी के गर्भ से ब्रह्मा जी के पुत्र दक्ष ने शङ्कर जी की अवशा के कारण अपना पूर्व शरीर त्यागकर जन्म लिया। कर्मों में दक्ष (निपुण) होने के कारण उनका नाम 'दक्ष' रख दिया गया। ब्रह्माजी ने दक्ष को प्रजापति के पद पर अभिषिक्त किया और फिर अपने धाम चले गये।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३०॥

## इकतीसवाँ अध्याय

( नारदजी के उपदेश से प्रचेताओं की मुक्ति )

एक दिन मृत्यु सबकी होती है। बुद्धिमान् मरने की तैयारी करते हैं। मूर्ख अन्त तक संसार में ही फँसे रहते हैं। फल यह होता है कि उन्हें नरक की यात्रा करनी पड़ती है। वहाँ से वे फिर सूकर-कूकर योनियों में जन्म लेते हैं इस प्रकार उनकी अनन्त संसार यात्रा चलती रहती है।

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, भगवान् के आदेश से प्रचेताओं ने दस लाख वर्ष तक भूतल पर शासन किया फिर उन्हें भगवान् के उपदेश का स्मरण हुआ। फलतः वे अपनी भार्या मारिषा को पुत्र के पास छोड़कर तुरन्त घर से निकल पड़े—

तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम् । स्मरन्त आत्मजे भार्या विसृज्य प्राब्रजन् गृहात् ॥४/३१/१

वे पश्चिम दिशा में सागर के तट पर वहाँ गये जहाँ जाजलि मुनि ने सिद्धि प्राप्त की थी। वहाँ वे प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके, शान्त चित्तसे भगवान् का ध्यान करने लगे। ध्यान में निरत प्रचेताओं के पास नारद जी पहुँचे—“सुरासुरेण्यो ददृशे च नारदः” ॥३॥ प्रचेताओं ने आये हुए मुनि को देखा। वे उनके स्वागत में हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए और प्रणाम किया। अभिनन्दन किया। विधिवत् पूजा की और उन्हें सुखपूर्वक आसन पर बैठाया। फिर पूछा—‘मुनिवर, आप का स्वागत है। यह हमारा सौभाग्य है कि आपका हमें दर्शन मिला। ब्रह्मन्, आप का भ्रमण भी संसार को अभय प्रदान करने के लिये ही होता है। प्रभो, भगवान् रुद्र और विष्णु ने हमें जो उपदेश दिया था, उसे गृहस्थी में आसक्त रहने के कारण हम प्रायः भूल गये हैं अतः आप कृपा कर अपने उपदेश से हमारे हृदय में उस अध्यात्म ज्ञान को प्रकाशित कर दीजिये जिससे हम सुगमता से इस दुस्तर संसार सागर को पार कर जाँय।’

मैत्रेय जी ने कहा—विदुर जी, प्रचेताओं के इस प्रकार निवेदन करने पर नारद जी ने कहना प्रारम्भ किया—राजाओं, इस संसार में मनुष्य का वही जन्म, वही कर्म, वही आयु, वही मन और वही वाणी सफल है, जिसके द्वारा सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरि का सेवन किया जाय। श्रीहरि का भजन ही जीवन की सच्ची सफलता है—

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः । नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीधरः ॥४/३१/२

जिनसे भगवान् की आराधना न हो वे सारे-के-सारे साधन निष्फल हैं। मनुष्य का जन्म तीन प्रकार से बतलाया



गया है—(१) शौक्ल (२) सावित्र और (३) याज्ञिक। इसी प्रकार शुद्धियाँ भी तीन प्रकार की होती हैं—(१) आधिभौतिक (२) आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक। परमात्मा इन तीनों विभागों से परे है। शुद्ध माता-पिता के सम्बन्ध से जो जन्म होता है, उसका नाम शौक्ल है। इसमें नाना और दादा का वंश भी शुद्ध होना चाहिये। यह है आधिभौतिक शुद्धि। यज्ञोपवीत संस्कार से सूर्य-सावित्री की आराधना का अधिकार सावित्र जन्म कहलाता है। उसके बाद यज्ञ की दीक्षा लेकर अपने अधिकार के अनुसार बृहस्पतिसव, बाजपेय और राजसूय आदि यज्ञ करे तो वह याज्ञिक जन्म होता है किन्तु मनुष्य यदि भगवान् की भक्ति न करे, तो उसके ये तीनों जन्म निरर्थक हैं जो भगवान् के साक्षात्कार में सहायक न हों—“किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः” ॥१२॥ वस्तुतः समस्त कल्याणों की सीमा आत्मा ही है और आत्मज्ञान प्रदान करनेवाले श्रीहरि ही सम्पूर्ण प्राणियों की प्रिय आत्मा हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में पानी डालने से उसके तना, शाखा, उपशाखा आदि सभी का पोषण हो जाता है और जैसे भोजन के द्वारा प्राणों को तृप्त करने से सभी इन्द्रियों का पोषण हो जाता है उसी प्रकार भगवान् के पूजन से सब देवताओं का पूजन सम्पन्न हो जाता है—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्सकन्धभुजोपशाखाः ।

प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥ ४/३१/१४

जैसे वर्षा ऋतु में जल सूर्य के ताप से उत्पन्न होता है और ग्रीष्मऋतु में उसी की किरणों में पुनः प्रवेश कर जाता है तथा जैसे समस्त चराचर भूत पृथिवी से उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में मिल जाते हैं, उसी प्रकार चेतन-अचेतनात्मक यह समस्त प्रपञ्च श्रीहरि से ही उत्पन्न होता है और उन्हीं में लीन हो जाता है—

यथैव सूर्यात् प्रभवन्ति वारः पुनश्च तस्मिन् प्रविशन्ति काले ।

भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि तथा हरावेव गुणप्रवाहः ॥ ४/३१/१५

अतः तुम ब्रह्मादि समस्त लोकपालों के भी अधीश्वर श्रीहरि को अपने से अभिन्न मानते हुए उनका भजन करो, क्योंकि वे ही देहधारियों के एकमात्र आत्मा हैं। यदि तुम उनको अतिशीघ्र सन्तुष्ट करना चाहते हो तो इन तीन बातों को अपने जीवन में धारण कर लो—पहली बात यह है कि सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया करो, दूसरी बात यह है कि जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी से सन्तोष कर लो, तीसरी बात यह है कि अपनी इन्द्रियों को शान्त रखो क्योंकि ये बड़ी चञ्चल हैं—

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा । सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥ ४/३१/१९

नारद आगे कहते हैं—“राजाओं, भगवान् का चिन्तन दृढ़ता से करो किन्तु उनसे किसी प्रकार की कामना मत करो। जो मानव लोकैषणा, वित्तैषणा एवं पुत्रैषणा से दूर रहकर भगवान् का चिन्तन-भजन करते हैं, भगवान् वशीभूत होकर उनके हृदय में आकर बस जाते हैं, डेरा डाल देते हैं और फिर वहाँ से कभी निकलते नहीं हैं—

अपहतसकलैषणामलात्मन्यविरतमेधितभावनोपहृतः ।

निजजनवशगतवमात्मनोऽयत्र सरति छिद्रवदक्षरः सतां हि ॥ ४/३१/२०

इतना याद रखिये—“गुमान गोविन्दहि भावत नहीं।” भगवान् उन निर्धन व्यक्तियों से अतिशय प्रेम करते हैं, जो उन्हें ही अपना सर्वस्व मानते हैं। भगवान् रसज्ञ हैं। अकिञ्चन व्यक्तियों की पूजा में कितना रस है, इसे प्रभु अच्छी तरह जानते हैं। जो व्यक्ति अपने शास्त्र-ज्ञान, धन, बल और जन्म आदि के अभिमान में फूलकर भगवान् के अकिञ्चन भक्तों का तिरस्कार करते हैं, उन दुर्बुद्धियों की पूजा भगवान् को स्वीकार्य नहीं है और न वे उन्हें सद्गति ही प्रदान करते हैं—



न भजति कुमनीषिणां स इज्यां हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः ।

श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये विदधाति पापमकिञ्चनजनेषु सत्सु ॥ ४/३१/२१

भगवान् अपने स्वरूपानन्द से परिपूर्ण हैं। उन्हें किसी प्रकार की कोई कामना नहीं है। निरन्तर सेवा करनेवाली लक्ष्मी, लक्ष्मी की इच्छा करनेवाले राजा और देवता भी भगवान् को उतना प्रिय नहीं है जितना भक्तजन। भगवान् को जो प्रीति भक्तों के समाज में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भक्तों के समाज को छोड़कर भगवान् अन्यत्र नहीं जाते। अहो ! ऐसे करुणासागर श्रीहरि को कोई भी कृतज्ञ पुरुष थोड़ी देर के लिये भी कैसे छोड़ सकता है—  
“कथममुमुद्विसृजेत्पुमान् कृतज्ञः” ॥२२॥

प्रचेताओं, भगवान् का चिन्तन करो, भगवान् के भक्तों का आदर करो, भगवान् के पावन नामों का कीर्तन करो और भागवत का श्रवण करो—“बस, भगवान् तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होकर सर्वदा के लिये तुम्हें अपना लेंगे। यही कल्याण का सर्वसुलभ और सबसे सरल मार्ग है।”

मैत्रेय जी कहते हैं—विदुर जी, इस प्रकार आत्मकल्याण का परमोपदेश देकर नारद जी ब्रह्मलोक चले गये। प्रचेता लोग भी उनके मुख से सारे मलों को दूर करनेवाले भगवान् के चरित्र को सुनकर भगवान् के चरण कमलों का ही ध्यान और चिन्तन करने लगे और अन्त में भगवान् के परम यशस्वी लोक को प्राप्त हुए। विदुर जी, “आपने नारद और प्रचेताओं का जो सम्वादरूप आख्यान मुझसे पूछा था उसे पूर्णतः मैंने कह सुनाया है।”

विशेष—यहाँ तक मैत्रेय और विदुर का संवाद, प्रश्नोत्तर चला। अब आगे शुक-परीक्षित् संवाद चलेगा।

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, यहाँ तक मैंने आपसे मनु के प्रथम पुत्र उत्तानपाद के वंश का वर्णन किया है। अब आगे उनके द्वितीय पुत्र प्रियव्रत के वंश का वर्णन किया जायेगा। प्रियव्रत ने मुनि नारद के उपदेश से आत्म-विद्या को प्राप्त कर राज्यभोग किया और अन्त में राज्य अपने पुत्रों को सौंप कर भगवान् का चिन्तन करते हुए परमधाम को पधारे।

राजन्, इधर श्रीमैत्रेय जी के मुख से यह भगवद्गुणानुवादयुक्त पवित्र कथा सुनकर विदुर जी प्रेममग्न हो गये। भक्तिभाव का उद्रेक होनेसे उनके नेत्रों से पवित्र आँसुओं की धारा बहने लगी। उन्होंने हृदय में भगवान् के चरणों का स्मरण करते हुए अपना मस्तक मैत्रेय जी के चरणों पर रख दिया और फिर बोले—‘महायोगिन्, आप बड़े ही करुणामय हैं। आज आपने मुझे अज्ञानरूपी अन्धकार से उबार कर भगवान् के श्रीचरणों तक पहुँचा दिया है। श्रीहरि ही अकिञ्चनों के सर्वस्व हैं। श्रीशुकदेव जी ने कहा—‘इस प्रकार कहकर शान्तचित्त विदुर जी ने मैत्रेय जी से आज्ञा ली और बन्धुजनों से मिलने के लिये हस्तिनापुर चले गये।

राजन्, जो व्यक्ति भगवान् का शरण ग्रहण करनेवाले, परम भागवत राजाओं का यह चरित्र सुनेगा, उसे दीर्घ आयु, धन, सुयश, क्षेम, सद्गति और ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी अन्त में वह वैकुण्ठ लोक का भागी बनेगा—

एतद्यः शृणुयाद्वाजन् राज्ञां हर्षार्पितात्मनाम् । आयुर्धनं यशः स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात् ॥

४/३१/३१

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के चतुर्थ स्कन्ध का यह इकतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३१॥

॥ चतुर्थ स्कन्ध समाप्त ॥



## पञ्चम स्कन्ध

### पहला अध्याय

( प्रियव्रत को नारद से ज्ञान की प्राप्ति, ब्रह्मा के समझाने से राज्य का उपभोग और अन्त में वैकुण्ठ-गमन )

राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से पूछा—‘मुनिवर, मनु के पुत्र प्रियव्रत<sup>१</sup> भगवान् के अनन्य भक्त और महान् ज्ञानी थे फिर उनकी गृहस्थाश्रम में कैसे रुचि हुई ? इसमें फैसनेवाले व्यक्ति को अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और वह कर्मबन्धन में बँध जाता है—

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने । गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥५/१/१  
विप्रवर, निश्चय ही ऐसे निःसङ्ग महापुरुषों का इस प्रकार गृहस्थ आश्रम में आसक्ति का होना उचित नहीं है । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि जिनका चित्त पुण्यकीर्ति श्रीहरि के चरणों की शीतल छाया का आश्रय लेकर शान्त हो गया है, उन महापुरुषों की कुटुम्ब आदि में कभी आसक्ति नहीं हो सकती । ब्रह्मन्, मुझे इस बात का महान् सन्देह है कि महाराज प्रियव्रत ने स्त्री, गृह और पुत्र आदि में आसक्त रहकर भी कैसे सिद्धि प्राप्त कर ली और कैसे उनकी भगवान् श्रीकृष्ण में अविचल भक्ति हुई ? प्रभो, इसका समाधान करने की कृपा करें ।

राजा परीक्षित के प्रश्नों का उत्तर देते हुए शुकदेव महाराज कहते हैं—‘राजन्, आप ने बहुत बढ़िया प्रश्न किया । संस्कृत में बढ़िया को ‘बाढम्’ कहते हैं । देखो, जो भगवान् के चरण-कमल के मधु के सतत पान करने के अभ्यासी हैं, उनके कल्याणकारी मार्ग में यदि कोई विघ्न-बाधा आ जाय तो भी वे अपने मङ्गलमय मार्ग से विचलित नहीं होते, वे कल्याणकारिणी पदवी का परित्याग नहीं करते । यह कल्याणकारी मार्ग भागवत परमहंसों को अतिशय प्रिय है—

“बाढमुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवतपरमहंस-  
दयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति” ॥५॥

प्रियव्रत की कुछ ऐसी ही स्थिति थी । उनमें ज्ञान की पिपासा जन्मजात थी अतः वे नारद<sup>२</sup> की शरण में पहुँचे । नारद ने उन्हें ज्ञान प्रदान किया । फलतः प्रियव्रत का चित्त रम गया भगवान् के चिन्तन में । यह देख कर उनके पिता स्वयम्भुव मनु महाराज ने उन्हें समझाया—बेटा, तुम्हारा जन्म राज्य पर शासन के लिये हुआ है अतः महीमण्डल का शासन करो । प्रियव्रत ने सोचा—यदि मैं राज्य-शासन में लग जाऊँगा तो मेरा आत्मस्वरूप वासनाओं से अच्छादित हो जायेगा और मैं परमार्थ तत्त्व को विस्मृत कर बैठूँगा । इसलिये उन्होंने पिता के आदेश को स्वीकार नहीं किया । मनु जी ब्रह्मा के पास गये, उन्होंने उनसे कहा कि—प्रियव्रत राज्यकार्य से विमुख होकर ज्ञानार्जन में ही लगा हुआ है । वह मेरी बात स्वीकार नहीं कर रहा है । मनु की बात सुनकर वे मरीचि आदि मुनियों के साथ चमचमाते हंस पर आरूढ़ हो कर अपने सत्यलोक से नीचे आये । मार्ग में देव-गन्धर्व आदि उनकी स्तुति कर रहे थे । ब्रह्मा जी उस गन्धमादन पर्वत पर पहुँचे जिसकी कन्दरा में बैठकर नारद जी प्रियव्रत को ज्ञान का उपदेश दे रहे थे । उन

१. प्रियव्रत का अर्थ है—प्रियम् = इष्ट व्रतम् = भगवच्चरणचिन्तनं यस्याऽसौ प्रियव्रतः । जिसे भगवान् के चरण का सतत चिन्तन ही प्रिय है, उसका नाम है—प्रियव्रत । प्रियव्रत का यह नाम सार्थक था । उन्हें भगवान् के चरणों का सतत चिन्तन ही अतिशय प्रिय था ।

२. ‘नारद’ का अर्थ है—नारम् = ज्ञानं ददातीति नारदः । जो अपने पास आये हुए व्यक्ति की झोली ज्ञान से भर दे वह नारद है ।



को देखकर सब लोग उठ खड़े हुए । नारद और प्रियव्रत ने स्वागत करते हुए अर्घ्य-पाद्य और आसन से उनका सम्मान किया । भगवान् ब्रह्माजी ने प्रियव्रत की ओर दयाभरी दृष्टि से देखते हुए मुस्कुरा कर इस प्रकार कहा—‘बेटा, मैं तुम से सच कहता हूँ । तुम भगवान् की क्रिया में दोष मत निकालो जैसे भगवान् रक्खें, वैसे रहो । देखो, मैं, महादेव जी, तुम्हारे पिता मनु और तुम्हारे गुरु नारद भी विवश होकर उन्हीं की आज्ञा का पालन करते हैं—

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि मासृथितुं देवमर्हस्यप्रमेयम् ।

वयं भवस्ते तत एष महर्षिर्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥ ५/१/११

उनके विधान को कोई भी शरीरधारी अपने तप, विद्या, योग आदि के बल से टाल नहीं सकता, अन्यथा नहीं कर सकता । न अर्थ या धर्म की शक्ति से और न स्वतः अथवा दूसरे की सहायता से—

न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा न योगवीर्येण मनीषया वा ।

नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा कृतं विहन्तुं तनुभृद्धिभूयात् ॥ ५/१/१२

सुख या दुःख का जो विधान भगवान् ने रच दिया है, उसे विवश होकर भोगना ही पड़ता है—‘अव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते’ ॥१३॥ जैसे खलिहान में सब-के-सब बैल एक ही रस्सी में बँधे रहते हैं, इसी प्रकार ये सब प्राणी परमात्मा से बँधे हैं और उन्हीं की आज्ञा को शिरोधार्य कर रहे हैं । भगवान् जिसके लिये जैसा करते हैं, उसे वैसा भोगना ही पड़ता है । जीवन्मुक्त पुरुष को भी प्रारब्ध के अनुसार, अभिमानशून्य होकर तब तक अपना शरीर धारण करना पड़ता है, जब तक भगवान् उसको रखना चाहते हैं । यदि कहो कि जङ्गल में जाने से इस प्रश्न का समाधान हो जायेगा और सारे-के-सारे भय निवृत्त हो जायेंगे तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि जब तुम जङ्गल में जाओगें तो काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि जो तुम्हारे सच्चे शत्रु हैं, वे वहाँ भी तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेंगे । जो बुद्धिमान् पुरुष इन्द्रियों को जीतकर अपनी आत्मा में ही रमण करता है, उसका गृहस्थाश्रम भी क्या बिगाड़ सकता है—

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वापि स्याद् यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः ।

जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥ ५/१/१८

जो इन शत्रुओं को जीतना चाहता है, वह पहले घर में रहकर ही उनका निरोध करते हुए उन्हें वश में करने का प्रयत्न करे । किले में सुरक्षित रह कर लड़ने वाला राजा अपने प्रबल शत्रुओं को भी जीत लेता है फिर इनके निर्बल बन जाने पर विद्वान् पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार विचरण कर सकता है—

यः षट् सपत्नान् विजिगीषमाणो गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम् ।

अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन् क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित् ॥ ५/१/१८

यद्यपि यह बात सत्य है कि भगवान् के चरणकमलों का सहारा लेकर, भगवान् के चरणकमलरूपी दुर्ग का सहारा लेकर, तुम काम-क्रोधादि अपने छहों शत्रुओं को जीत चुके हो, तो भी भगवान् के दिये हुए भोगों को भोगो । इसके बाद निःसङ्ग होकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना—

त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोशदुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः ।

भुङ्क्ष्वेह भोगान् पुरुषातिदिष्टान् विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व ॥ ५/१/१९

जब त्रिलोकी के गुरु श्रीब्रह्माजी ने इस प्रकार कहा तो भगवान् के महान् भक्त प्रियव्रत ने छोटे होने के कारण नम्रता से शिर झुका लिया और ‘जो आज्ञा’ ऐसा कहकर बड़े आदर के साथ उनका आदेश शिरोधार्य किया फिर मनु ने ब्रह्मा जी की विधिवत् पूजा की । तदनन्तर सबके देखते-देखते ब्रह्मा जी अपने धाम सत्यलोक को चले गये ।

इस प्रकार ब्रह्मा जी की कृपा से मनु का मनोरथ पूरा हुआ । उन्होंने नारद की आज्ञा ली फिर प्रियव्रत को ले



जाकर सम्पूर्ण भू-मण्डल की रक्षा का भार समर्पित कर दिया, उन्हें चक्रवर्ती के पद पर अभिषिक्त कर दिया और स्वयं सारे विषयों को विष के समान त्याग कर तप करने के लिये वन में चले गये। इस प्रकार भगवान् की इच्छा का अनुवर्तन करते हुए, राज्य प्राप्त कर प्रियव्रत निरन्तर भगवान् का ही मन से चिन्तन करते हुए, पृथिवी का पालन करने लगे। महाकवि तुलसीदास का भी कथन है कि—“करते कर्म करिय विधि नाना। मन राखिय जहँ कृपा निधाना” ॥

राजारूढ होने के बाद प्रियव्रत ने प्रजापति विश्वकर्मा की बेटी बर्हिष्पती से विवाह किया। उससे उनके दश बेटे और एक बेटी पैदा हुई। बेटों का नाम था—(१) आग्नीध्र, (२) इध्मजिह्व, (३) यज्ञबाहु, (४) महावीर, (५) हिरण्यरेता, (६) घृतपृष्ठ, (७) सवन, (८) मेधातिथि, (९) वीतिहोत्र और कवि। ये सब नाम अग्नि के भी हैं। कन्या का नाम था—ऊर्जस्वती। इनमें कवि, महावीर और सवन ये तीन पुत्र परमहंस हो गये। ये जन्म से ही भगवान् के ध्यान में तल्लीन रहे। इन्होंने देहाध्यास को छोड़ दिया था। फलतः इन्हें भगवान् के साथ सायुज्यमुक्ति मिली। सायुज्य को ही कैवल्य मुक्ति कहते हैं।

प्रियव्रत की एक दूसरी पत्नी भी थी। उससे उन्हें उत्तम, तामस और रैवत—ये तीन पुत्र पैदा हुए। आगे चल कर ये अपने नामवाले मन्वन्तरों के अधिपति बने। इस स्थल पर विचार करने से यह निश्चय होता है कि—स्वायंभुव मन्वन्तर में तो प्रियव्रत से इनका जन्म ही हुआ और उसके बाद एक, दो तीन मन्वन्तरों तक वे मन्वन्तराधिपति होते गये फिर उनकी आयु कितनी रही होगी? अन्तिम रैवत मन्वन्तर के अधिपति रैवत की उम्र चार मन्वन्तर की होनी चाहिये, तामस की तीन मन्वन्तर की और उत्तम की दो मन्वन्तर की। इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये। भगवान् की इच्छा से सब कुछ सम्भव है।

इस प्रकार पुत्रों को उत्पन्न कर प्रियव्रत ने ११ करोड़ (अर्बुदान्येकादश परिवत्सराणाम्) वर्षों तक दिव्य भोगों का उपभोग करते हुए पृथिवी का शासन किया। उन्होंने अपने भुजबल के प्रताप से धर्म के विरोधी अधर्म को अपने राज्य में टिकने ही नहीं दिया।

एक बार उनके मन में आया कि हमारे राज्य में रात्रि का अँधेरा होगा ही नहीं, मैं रात को भी दिन बना दूँगा। सूर्य आधे भू-मण्डल में जब प्रकाश बिखेरते हैं तो आधे में अँधेरा ही रहता है अतः उन्होंने इसे पसन्द नहीं किया फिर वे एक दूसरे सूर्य के समान अतिशय चमकीले रथ पर आरूढ होकर उनके पीछे-पीछे पृथिवी की सात परिक्रमाएँ कीं। भगवान् की उपासना से प्रियव्रत का अलौकिक प्रभाव बहुत बढ़ गया था। उस समय इनके रथ के पहिये से जो लीकें बनीं, वे ही सात समुद्र हुए। इनके कारण पृथिवी में सात द्वीप बन गये। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) जम्बू, (२) प्लक्ष, (३) शाल्मलि, (४) कुश, (५) क्रौञ्च, (६) शाक और (७) पुष्कर। इनमें पहले पहले की अपेक्षा आगे-आगे के द्वीपों का परिमाण दूना है। सातों समुद्र क्रमशः खारे जल, ईख के रस, मदिरा, घृत, दुग्ध, मट्ठा और मिठे जल से भरे हुए हैं।

जिस समय प्रियव्रत पृथिवी की परिक्रमा कर रात्रि को भी दिन में परिणत कर रहे थे उस समय उनके पास ब्रह्मा जी आये और बोले—‘बेटा, तुम्हारा यह अधिकार नहीं है’ ऐसा कहकर उन्हें रोक दिया।

१. भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार विजयध्वज तीर्थ का कहना है कि सातों समुद्र तो पहले से ही विद्यमान थे। समुद्रों के किनारे-किनारे प्रियव्रत के रथ के पहिया के चलने से वे केवल चौड़े हो गये बस, बात इतनी ही हुई—पूर्वसृष्टान् रथावृत्या स्थूलांश्चक्रे प्रियव्रतः। समुद्रांस्तेन तत्कतैत्याहुरेन प्रियव्रतम् ॥ आचार्य राममूर्ति शास्त्री॥
२. यह अंश भागवत में नहीं है।



प्रियव्रत ने अपने अनुगत पुत्रों—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्र को क्रमशः सातों द्वीपों का अधिपति बना दिया। उन्होंने अपनी पुत्री उर्जस्वती का विवाह शुक्राचार्य से कर दिया। इसी की बेटी देवयानी थी।—“दुहितरं चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्यामासीद् देवयानी नाम काव्यसुता” ॥३४॥

भगवत्कृपा बड़ी अद्भुत होती है। भगवान् की कृपा से एक बार प्रियव्रत के मन में महान् वैराग्य उदित हुआ। उन्होंने विषयों में आने के लिये अपने आपको बहुत धिक्कारा। उन्होंने कहा—‘मैं तो स्त्री के हाथ के इशारे पर नाचने वाला क्रीडा मृग (बन्दर) बन गया था। मुझे धिक्कार है, धिक्कार है। ऐसा कह कर पुत्रों को राज्य समर्पित कर राजरानी और राज्यलक्ष्मी का शव की भाँति त्याग कर नारद जी के उपदेश का अनुसरण करते हुए पुनः वन में चले गये। वहाँ उन्होंने कठोर तप कर भगवान् को प्रसन्न किया और उनके परम धाम को चले गये।

कहते हैं—राजा प्रियव्रत ने जो कर्म किये, उन्हें सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं कर सकता। उन्होंने रात्रिके अन्धकार को मिटाने का प्रयास करते हुए अपने रथ के पहियों से बनी हुई लीकों से ही सात समुद्र बना डाला—

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम् । यो नेमिनिमैरकरोच्छायां घ्नन् सप्त वारिधीन् ॥५/१/३९

महाराज प्रियव्रत को सारा ऐश्वर्य, सारी सांसारिक समृद्धियाँ प्राप्त थीं। सारे भोग सुलभ थे फिर भी सबको नरक के समान समझ कर उन्होंने छोड़ दिया और भगवान् की आराधना, संसाधना में लग गये—“यश्चक्रे निरयौपम्यं पुरुषानुजनप्रियः” ॥४१॥ महाराज प्रियव्रत ने संसार के लिये संसार के सामने यह महान् आदर्श प्रस्तुत किया ॥१॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

## दूसरा अध्याय

### ( प्रियव्रत के पुत्र आग्नीध्र का चरित्र )

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—परीक्षित, जब महाराज प्रियव्रत घर छोड़कर वन में चले गये और वहाँ भगवान् की आराधना करने लगे तब उनके पुत्र आग्नीध्र जम्बूद्वीप की प्रजा का पालन वैसे ही करने लगे, जैसे कोई पिता पुत्र का पालन करता है—

एवं पितरि सम्प्रवृत्ते तदनुशासने वर्तमान आग्नीध्रो जम्बूद्वीपौकसः प्रजा औरसवद्धमवेक्षमाणः पर्यगोपायत् ॥५/२/१॥

आग्नीध्र को कोई पुत्र नहीं था। वे पितृलोक में जाना चाहते थे। पितृलोक वही जा सकता है जो सत्पुत्र का पिता हो अतः उन्होंने पूजा की सारी सामग्री एकत्रित की फिर पहुँच गये सुर-सुन्दरियों के क्रीडास्थल मन्दराचल की एक घाटी में। वहाँ उन्होंने अपनी तपस्या और आराधना से ब्रह्मा जी को सन्तुष्ट किया। ब्रह्मा जी ने उनकी अभिलाषा को जान कर अपनी सभा की सर्वाङ्गसुन्दरी अप्सरा पूर्वचिन्ति को उनके पास प्रेषित कर दिया। यह अप्सरा अद्भुत गायिका भी थी। आग्नीध्र के आश्रम के पास एक सर्वाङ्ग सुन्दर उपवन था। पूर्वचिन्ति उसी में विचरने लगी। पक्षिगण अपने सुमधुर कलरव से उपवन और वहाँ के सरोवर की शोभा बढ़ा रहे थे।

पूर्वचिन्ति का शरीर—सौन्दर्य त्रिलोकी का सार था। मदभरा यौवन उसकी शरीर-लता पर किलकारियाँ मार रहा था। उसे देखकर अपने मन के वेग को रोकने वाला विधाता की सृष्टि में कोई न था। उसकी गति का विलास देखकर



हथिनी भी लजा जाती थी। उसके पायल की रुन-झुन झंकार वातावरण में अमृत का निस्त्यन्द बोल रही थी। यह झन-झनाहट ध्यान-निमग्न आग्नीध्र के कानों में भी पहुँची। उनकी कर्णेन्द्रिय और चित्त—दोनों ही झन-झना उठे। ध्यान भग्न हुआ। आराधना दूर फेंका गई। उन्होंने देखा सुर-सुन्दरी को। देखते ही उनका धैर्य हाथ जोड़कर भाग खड़ा हुआ। जब वह हँसती थी तब ऐसा प्रतीत होता मानो उसके मुख से अमृतमय मादक मधु झर रहा है, मन्दार कुसुमों की वर्षा हो रही है। शरीर-सुगन्ध से आकृष्ट भ्रमरों से बचने के लिये जब वह जल्दी-जल्दी पैर उठा कर चलती तो उसके कुच-कलश इस प्रकार उछलते थे मानो कामदेव कन्दुक क्रीड़ा कर रहा हो। उसकी चञ्चल वेणी काली नागिन की भाँति पीठ पर लोट रही थी मानो वह ललकार रही थी किसी को भी डसने के लिये। उसकी कटि पर हिल-हिल कर झन-झनानेवाली करधनी मानो कामदेव की कटार हो।

आग्नीध्र ने देखा सुर-सुन्दरी को। वे विस्फारित निर्निमेष नयनों से उसे निहारते ही रह गये। काम ने उन्हें मत्त नहीं, उन्मत्त बना दिया। वे आसन-माला फेंककर पहुँच गये सुर-सुन्दरी के पास और पागल की भाँति इस प्रकार कहने लगे—‘मुनिराज आप कौन हो ? यहाँ तुम्हारे आने का प्रयोजन क्या है ? तुम्हारी वक्र भृकुटियाँ तो काम के धनुष का काम कर रही हैं। इनसे तुम कहीं मुझे लक्ष्य कर बाण न छोड़ देना। यहाँ तुम्हारा सामना करनेवाला नहीं दिखलाई देता। तुम्हारा यह पराक्रम हम-जैसे जडबुद्धियों के लिये कल्याणकारी बने—“क्षेमाय नो जडधियां तव विक्रमोऽस्तु” ॥८॥ आपके अङ्गों की सुगन्ध से आकृष्ट ये भ्रमर शिष्यों की भाँति आपका अनुगमन कर रहे हैं और आपके सौन्दर्य का गान कर रहे हैं। आप का कटि-प्रदेश और उसके परिसर में उभरे हुए गोल-गोल नितम्बों पर बल्कलवस्त्र प्रतीत ही नहीं होता है। क्या आपने वस्त्र धारण ही नहीं कर रक्खा है ? द्विजवर, छाती पर उभरे इन दो गोल-गोल डिब्बों में अवश्य आपने बहुमूल्य रत्नों को बन्दकर रक्खा है। इन पर किये गये लेप की सुगन्ध से सारा मेरा आश्रम सुगन्धित हो उठा है—“येनाश्रमं सुभग मे सुरभीकरोषि” ॥११॥ मनस्वी, आप किस देश के निवासी हो जहाँ के लोग वक्षः स्थल पर ऐसे अद्भुत अङ्ग धारण करते हैं, जिन्होंने हमारे जैसे प्राणियों के चित्त को विक्षुब्ध कर दिया है।

प्रियवर, आप भगवान् विष्णु की कला प्रतीत होते हो। आपका मुख विकसित कमलों से भरे हुए सरोवर के समान है। उसमें आपके चञ्चल नेत्र भयवश काँपती हुई दो मछलियों के सदृश हैं। आपकी शुश्रू दन्तपंक्ति हंसों के समान और घुँघराली काली अलकावली भ्रमरमाला की भाँति सुशोभित हो रही है। आप जब अपने कर कमलों से थपकी मार कर इस गेंद को उछालते हो तब आपकी छाती पर रक्खी हुई ये दो गेंदें नेत्रों को चञ्चल और मन को विक्षुब्ध कर देती हैं। अरे, इस दुष्ट और लम्पट वायु की धृष्टता तो देखो, यह आपकी कमर में बँधी नीवी-वस्त्र को बार-बार उड़ा दे रहा है। हे मित्र, आप ने कौन-सी तपस्या की है ? जिससे इतना बढ़िया रूप आप को मिला है। आप का यह अनूप रूप तपस्वियों के तप को भङ्ग करनेवाला है। सचमुच आप ब्रह्मा जी की सृष्टि का अनुपम रत्न हो। अब मैं आपको नहीं छोड़ सकता। आप में मेरे मन और नयन इस प्रकार उलझ गये हैं कि अन्यत्र जाना ही नहीं चाहते। सुन्दर उरोजों से सम्पन्न मेरे आराध्यदेव, आपका जहाँ मन हो, मुझे भी वहाँ ले चलो। मैं तो आपका अनुचर हूँ, किकर हूँ, बिना मोल के बिका हुआ दास हूँ। अब मैं आप को छोड़कर रहनेवाला नहीं हूँ”।

यहाँ जम्बूद्वीप के अधिपति महाराज आग्नीध्र की खुशामदभरी चापलूसी देखकर एक बार खुशामद को भी लज्जा आ जायेगी।

शुकदेव जी कहते हैं—राजन्, आग्नीध्र देवताओं के समान बुद्धिमान् और स्त्रियों को प्रसन्न करने में बड़े कुशल थे। अपनी मधुर-मधुर बातों से उन्होंने उस अप्सरा को प्रसन्न कर लिया। वह आ गई महाराज आग्नीध्र के पास। वहाँ



उसने पृथिवी-पति के साथ सुदीर्घ काल तक दिव्य भोगों को भोगा । कुछ समय के बाद नृपवर आग्नीध्र ने उसके गर्भ से नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्यमय, कुरु, भद्राक्ष और केतुमाल नामके नौ पुत्रों को पैदा किया । अप्सरा तो अप्सरा ठहरी । इन पुत्रों को पैदा कर वह पुनः ब्रह्मा जी के ही पास चली गई । आग्नीध्र के ये पुत्र माता के अनुग्रह से स्वभाव से ही सुडौल और सुन्दर शरीरवाले थे । आग्नीध्र ने जम्बूद्वीप में विभाग करके उन्हीं के ही समान नामवाले नौ वर्ष (भूखण्ड) बनाये और उन्हें एक-एक पुत्र को सौंप दिया । तब वे सब अपने-अपने वर्ष का राज्य भोगने लगे । राजा आग्नीध्र विषयों से तृप्त नहीं हुए थे—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मव भूय एवाऽभिवर्धते ॥  
॥ भगवती गीता ॥

अग्नीध्र अप्सरा को ही परम पुरुषार्थ समझते थे । इसलिये वैदिक कर्मों के अनुष्ठान से उन्होंने उसी लोक को प्राप्त किया जहाँ पितृगण अपने-अपने पुण्य के अनुसार भाँति-भाँति के भोगों में मस्त रहते हैं—“तस्याः सलोकतां श्रुतिभिरवारुन्ध यत्र पितरो मादयन्ते” ॥२२॥

पिता के परलोक चले जाने पर नाभि आदि नौ भाइयों ने मेरु की मेरुदेवी आदि नौ पुत्रियों के साथ विवाह किया ॥२॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

## तीसरा अध्याय

( नाभि के राजप्रसाद में भगवान् ऋषभदेव का अवतार )

आग्नीध्र के ज्येष्ठ पुत्र थे—नाभि । नाभि को कोई सन्तान न थी अतः उन्होंने पुत्र की कामना से अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ भगवान् का यजन किया । वस्तुतः यज्ञ के सच्चे भाजन भगवान् विष्णु ही हैं, अतः उन्हें यज्ञपुरुष कहा जाता है—

नाभिरपत्यकामोऽग्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहितात्मायजत ॥ ५/३/१

यह यज्ञ श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भाव से किया गया था । यज्ञ में किसी प्रकार की विगुणता न थी । फलतः भगवान् अपनी भक्त-वत्सलता प्रदर्शित करने के लिये अत्यन्त दिव्य वेश धारण कर यज्ञ-भूमि में प्रकट हुए । उनके श्री अङ्गों पर रेशमी पीताम्बर झिलमिला रहा था । वक्षःस्थल सुमनोहर श्रीवत्स-चिह्न से सुशोभित था । चारों भुजाओं में क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म विराजमान थे । ग्रीवा में वनमाला लटक रही थी । हृदयस्थल पर कौस्तुभमणि शोभा पा रहा था । भगवान् के दिव्य विग्रह का दर्शन कर यज्ञ में उपस्थित सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई । फिर सभी ने शिर झुकाकर अत्यन्त आदर के साथ प्रभु को अर्घ्य आदि प्रदान कर पूजा की ।

ऋत्विजों ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा—प्रभो, हम आपके अनुगत भक्त हैं । आप हमारे पुनः पुनः पूजनीय हैं । किन्तु हम अज्ञानी आप की पूजा क्या जानें ? हम तो बार-बार आप को प्रणाम करते हैं । यही हमारे आचार्यों ने हमें सिखाया है । भगवन्, हमारी विनती है कि इस यज्ञ की सम्पन्नता में संलग्न ऋत्विक्, सदस्य और यजमान आदि हम सेवकों की तुच्छ पूजा-अर्चना आप कृपा कर ग्रहण करें । आपके मङ्गलमय गुण सम्पूर्ण जनता के दुःखों का उपशमन करने वाले हैं । सचमुच, आपके गुण-गणों का वर्णन नहीं किया जा सकता किन्तु प्रभो, यदि



आपके भक्त प्रेम-गद्गद वाणी से स्तुति करते हुए सामान्य जल, विशुद्ध पल्लव, तुलसी-पत्र और दूब के अङ्कुर आदि से ही आपकी पूजा करते हैं, तो भी आप सब प्रकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं—

शबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुलसिकादूर्वाङ्कुरैरपि सम्भृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि ॥

५/३/६

आपको किसी वस्तुकी कामना नहीं है। आप निष्काम हैं, पूर्णकाम हैं। इस यज्ञ से भी आप का क्या प्रयोजन ? आप हमारे मनोरथ को कृपापूर्वक पूर्ण करने आये हैं इस यज्ञ में, वस्तुतः आप का दर्शन ही इस संसार में सबसे बड़ा लाभ है, सबसे बड़ा वर है। परम वैराग्य से सम्पन्न बड़े-बड़े महापुरुष आपके गुणों की अविरल प्रशंसा करते हैं। प्रभो आपके नाम की, गुणों की अद्भुत महिमा है। यदि कोई पाँव फिसलने पर, छींक आने पर, ठोकर खाकर धरती पर गिरने पर, जँभाई आने पर, दुःख की बेला में, विवश होकर, ज्वर दशा या मरणदशा में आपके नाम का उच्चारण कर ले तो उसका परम कल्याण हो जाता है अतः हमारी कामना है कि हमारी जिह्वा आपके नामों का सदा उच्चारण करती रहे—

अथ कथाञ्चित्स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु ॥५/३/१२॥

यह हमारी प्रार्थना है, एक वरयाचना है। हम दूसरा वर यह माँगते हैं कि हमारे यजमान को कोई सन्तान नहीं है। इन्होंने पुत्र की कामना से आपका यह यज्ञ किया है। यह आपके समान पुत्र चाहते हैं अतः आप इनके भी मनोरथ को पूर्ण करने की कृपा करें। इसी छोटे कार्य के लिये हमने आपका यहाँ आवाहन किया है। यह हमारी धृष्टता है। आप इसे क्षमा करें। हमारे यजमान का यह कार्य वैसा ही है जैसे कोई कंगाल, बलि जैसे महादानी के पास पहुँच कर भी उससे भूसा ही माँगे।”

इस प्रकार ऋत्विजों ने भगवान् की दैन्यभरी बड़ी भव्य स्तुति की। इसे सुनकर वे परम सन्तुष्ट हुए और बोले—“ऋषियों, आप ने यह बड़ा दुर्लभ वर मांगा। आप चाहते हैं कि नाभि को मेरे जैसा बेटा मिले। किन्तु महात्माओं, इस समग्र संसार में मेरे जैसा तो कोई दूसरा ही नहीं; क्योंकि मैं अद्वितीय हूँ। तो भी ब्राह्मणों का वचन मिथ्या नहीं होना चाहिये, क्योंकि द्विजकुल तो मेरा ही मुख है अतः मैं स्वयं ही अपनी अंश कला से, आग्नीध्रनन्दन नाभि की पत्नी मेरुदेवी की कोख से जन्म लूँगा।” यह कह कर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

शुकदेव जी महाराज कहते हैं—“राजन्, इस प्रकार नाभि को प्रिय करने के लिये भगवान् शुद्ध सत्त्वमय विग्रह धारण कर महारानी मेरुदेवी के गर्भ से प्रकट हुए। दिगंबर संन्यासी और ऊर्ध्वरिता मुनियों का धर्म प्रकट करना भी भगवान् के इस अवतार का प्रयोजन था ॥३॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

## चौथा अध्याय

( ऋषभ देव का चरित्र और उनके सौ पुत्रों का जन्म )

श्रीशुकदेव जी कहते हैं— राजन्, नाभिनन्दन के अङ्ग जन्म से ही भगवान् विष्णु के वज्र-अङ्कुश आदि चिह्नों से युक्त थे। वे ऋषि-मुनियों के गुणों से सम्पन्न थे अतः ब्राह्मण, देवता तथा सारा प्रजावर्ग उन्हीं को पृथिवी के शासक



के रूप में देखना चाहता था कि यही राजा बनें। उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरता-वीरता आदि गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम 'ऋषभ' रक्खा। ऋषभ का अर्थ होता है—श्रेष्ठ।

तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्रुलोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीदं नाम चकार ॥५/४/२॥

इन्द्र ऋषभ के प्रभाव को देखकर उनसे ईर्ष्या करने लगे, फलतः उन्होंने उनके राज्य में वर्षा बन्द कर दी। ऋषभ उनकी इस मूर्खता पर खूब हँसे और अपनी योगमाया के प्रभाव से अपने राज्य अजनाभवर्ष में पर्याप्त जल की वृष्टि करवाई<sup>१</sup>। नाभि ऋषभ देव को पुत्र के रूप में पाकर अतिशय प्रसन्न थे। जिसकी गोद में नारायण ही बालक बनकर खेलने लगे तो फिर उसके सौभाग्य का क्या कहना! जब वे स्नेहवश हे तात, हे वत्स, कहकर पुत्र का दुलार करने लगते थे तो उनका हृदय आनन्द-सागर से भर उठता था। मन्त्रिमण्डल, नागरिक और राष्ट्र की जनता ऋषभदेव से बहुत प्रेम करती थी। यह देखकर नाभि ने ऋषभदेव को राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त कर ब्राह्मणों की देख-रेख में छोड़ दिया और स्वयं नर-नारायण की सेवा करने के लिये पत्नी के साथ 'विशाला' चले गये। विशाल राजा ने वहाँ तपस्या की थी अतः बदरीवन-मेदिनी = बदरिकाश्रम को ही विशाला<sup>२</sup> कहते हैं। वहाँ सुदीर्घकाल तक नर-नारायण की उपासना कर नाभि पत्नी के साथ मुक्ति को प्राप्त किये।

पाण्डुनन्दन, राजा नाभि के विषय में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

राजर्षि नाभि के उदार कर्मों का अनुकरण दूसरा कौन पुरुष कर सकता है—जिसके शुद्ध कर्मों से सन्तुष्ट होकर साक्षात् श्रीहरि उनके पुत्र बन गये थे। महाराज नाभि के समान ब्राह्मण भक्त भी कौन हो सकता है—जिनकी दक्षिणा से सन्तुष्ट हुए ब्राह्मणों ने उन्हें यज्ञशाला में साक्षात् विष्णु भगवान् के दर्शन करवा दिये थे—

को नु तत्कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत् पुमान्। अपत्यतामगमद्यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा ॥

ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः। यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥

५/४/६-७

ऋषभदेव ने संसार को शिक्षा देने के लिये गुरु के घर में निवास किया। इन्द्र की बेटी जयन्ती के साथ उनका विवाह हुआ। इन्द्र उनके श्वसुर बने। जयन्ती से ऋषभदेव के सौ पुत्र पैदा हुए। उनमें सबसे बड़े महायोगी महाप्रतापी भरत थे। इन्हीं के नाम से अजनाभवर्ष का नाम भारतवर्ष पड़ा। भरत से छोटे नौ पुत्र—कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलयकेतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट—नौ खण्डों के अधिपति हुए। कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, अग्निहोत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—ये नौ पुत्र योगेश्वर हुए। इनकी कथा का वर्णन ग्याहरवें स्कन्ध में किया गया है। शेष ८१ पुत्र कर्मनिष्ठ याज्ञिक हुए जो देखने में ब्राह्मणों के समान प्रतीत होते थे। तात्पर्य यह है कि महात्मा ऋषभदेव ने अपने भीतर से ब्राह्मण, क्षत्रिय राजा, बड़े-बड़े विद्वान् तपस्वी और योगेश्वर प्रकट किये—“महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः ॥१३॥

ऋषभदेव जी महाराज गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिये स्वयं गृहस्थाश्रम के धर्मों का पालन करते थे; क्योंकि घर-परिवार और समाज का बड़ा व्यक्ति जो करता है, छोटे लोग उसी का अनुकरण करते हैं—“यद् यच्छीर्षण्याचरितं

१. पहले भारतवर्ष का नाम अजनाभ वर्ष था। भरत के बाद यह भारतवर्ष कहलाया।

२. विशालेन नृपतिना यतस्तप्तं विशेषतः।

अतो विशाला सा प्रोक्ता बदरीवनमेदिनी ॥



तत्तदनुवर्तते लोकः" ॥१५॥<sup>१</sup> वे ब्राह्मणों की शिक्षा के अनुसार पृथिवी के शासन का सञ्चालन करते थे। उन्होंने सौ यज्ञ किये। उनके राज्य में ऐसे-ऐसे आत्माराम आप्तकाम पुरुष हुए जो किसी से भी कुछ नहीं चाहते थे। सभी सन्तुष्ट थे, ज्ञानी थे, सब प्राणियों के कल्याण की कामना करने वाले थे। एक समय की बात है। वे राज्य में भ्रमण करने के प्रसङ्ग से गङ्गातट पर स्थित ब्रह्मावर्त में ऋषियों की सभा में जा पहुँचे। ब्रह्मावर्त को आजकल बिदूर के नाम से जाना जाता है। वहाँ उन्होंने प्रजा के सामने ही अपने शान्त सुयन्त्रित सुशील पुत्रों को उपदेश देना प्रारम्भ किया—

“प्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्ति होवाच” ॥१९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

## पाँचवाँ अध्याय

( ऋषभदेव जी का अपने पुत्रों को उपदेश देना और स्वयं अवधूत-वृत्ति ग्रहण करना )

ऋषभदेव जी ने कहा—हे मेरे नन्हें मुत्रे पुत्रों<sup>१</sup>, तुम्हें मानव का यह सुन्दर शरीर उन विषयभोगों के लिये नहीं प्राप्त हुआ है जो विष्ठाभोजी सूकर-कूकर आदि को भी मिलते हैं। इस शरीर से दिव्य तप ही करना चाहिये। तप से अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण की शुद्धि के अनन्तर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है—

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विद्भुजां ये।

तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्धेद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥ ५/५/१

शास्त्रों ने महात्माओं की सेवा को मुक्ति का और स्त्रीसङ्गी कामियों के सङ्ग को नरक का द्वार बतलाया है। महापुरुषों का लक्षण बतलाते हुए वे कहते हैं—जो सुख और दुःख में समानचित्त, परमशान्त, क्रोधरहित, सबके हित चिन्तक और सदाचारी हों उन्हें महापुरुष समझना चाहिये—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।

महान्तस्ते समचिन्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥ ५/५/२

ईश्वर में जिनका दृढ अनुराग हो, जो गृह, मठ आदि सांसारिक प्रपञ्चों से दूर हों, एकमात्र शरीर के निर्वाह के लिये ही जो संसार से सम्पर्क साधते हों, उन्हें महात्मा समझकर उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। मनुष्य जबतक भगवान् से प्रीति नहीं करता तबतक देह-योग से उसका वियोग नहीं होगा। उसे देह-पर-देह मिलते रहेंगे—

प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥ ५/५/६

अतः मुक्ति के लिये भगवान् में प्रेम लक्षणा भक्ति परमावश्यक है। भगवान् की भक्ति से ज्ञान होता है—  
“भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते”। ज्ञान होने पर देह का भान नहीं होता फिर तो देह का बन्धन स्वतः समाप्त हो जाता है और साधक को परम शान्ति की अनुभूति होती है। स्त्री एवं पुरुष—इन दोनों का जो परस्पर दाम्पत्य-भाव है, इसी को पण्डित जन उनके हृदय की दुर्धेद्य स्थूल ग्रन्थि (गाँठ) कहते हैं। इसी के कारण जीव को देह-इन्द्रिय आदि के साथ ही घर-खेत, पुत्र, स्वजन और धन आदि में भी ‘मैं’ और ‘मेरे’ पन का मोह हो जाता है। जीव मोहबस ही देह में अहं बुद्धि और स्त्री-पुत्र आदि में ममता की भावना कर बैठता है, जो बन्धन का महान् कारण है—

१. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ भगवती गीता, ३/२१॥

२. पुत्रकाः—अल्पाः पुत्राः पुत्रकाः। छोटे-छोटे नन्हें-मुत्रे पुत्रों को पुत्रक कहा जाता है।



पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।  
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति ॥५/५/८

जीव हृदय-ग्रन्थि के ढीली होते ही संसार के हेतुभूत अहंकार को त्याग कर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर परम पद प्राप्त कर लेता है। पुत्रों, अहंकार की निवृत्ति के लिये, संसार-सागर से पार पाने के लिये सत्त्वगुण से विशिष्ट पुरुष को चाहिये कि वह भगवान् में भक्तिभाव रखे, सर्वदा मेरे आश्रित होकर रहे, तृष्णा का त्याग कर दे, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में समबुद्धि रखे, निष्कामभाव से कर्म करे, मुझ भगवान् के नाम, रूप और गुण का कीर्तन करे, सारे प्राणियों के साथ बैर करना छोड़ दे, सब को समान दृष्टि से देखे, सर्वत्र ममता को छोड़ दे, सत् शास्त्रों का अनुशीलन करे, एकान्त का सेवन करे, प्राण, इन्द्रिय और मन का संयम करे, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे, वाणी में संयम रखे और सर्वत्र मेरी सत्ता को देखे। ऐसा करने से साधक अपने अहङ्काररूप लिङ्ग शरीर को छोड़ देता है। लिङ्ग के छूटते ही व्यक्ति मुक्त हो जाता है।

अविद्या के कारण घर-मठ में आसक्त व्यक्ति का आश्रयण करने से व्यक्ति का उद्धार नहीं हो सकता। अन्धे का हाथ पकड़ कर चलनेवाला व्यक्ति उसके साथ ही गड्ढे में गिर जाता है। जो व्यक्ति अपने प्रिय व्यक्ति को भगवद्भक्ति का उपदेश देकर मृत्यु को फाँसी से नहीं छुड़ा लेता, वह गुरु सच्चा गुरु नहीं है, स्वजन सच्चा स्वजन नहीं है, पिता यथार्थ पिता नहीं है, माता सच्ची माता नहीं है, इष्टदेव सच्चा इष्टदेव नहीं है और पति सच्चा पति नहीं है—

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्<sup>१</sup> ।

दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोक्षयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥ ५/५/१८

ऋषभदेव आगे कहते हैं—पुत्रों, इस सृष्टि में जो स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उनमें गन्धर्व आदि श्रेष्ठ हैं, उनसे देवता श्रेष्ठ हैं, देवताओं में दक्ष आदि श्रेष्ठ हैं, दक्ष से शिव श्रेष्ठ हैं, शिव से ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं, किन्तु सारे संसार में मैं सब से श्रेष्ठ हूँ। सभी मेरी आराधना करते हैं किन्तु ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मैं उन्हें पूज्य मानता हूँ। सभा में उपस्थित ब्राह्मणों की ओर लक्ष्य करके उन्होंने कहा—विप्रगण, दूसरे किसी भी प्राणी को मैं ब्राह्मणों के समान भी नहीं समझता, फिर उनसे बड़ा मानने की बात तो संभव ही नहीं है। लोग श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणों के मुख में जो अन्न आदि की आहुति डालते हैं, उन्हें सादर भोजन कराते हैं, उसे मैं, जैसी प्रसन्नता से ग्रहण करता हूँ, वैसे अग्निहोत्र में हवन की गई सामग्रियों, आहुतियों को स्वीकार नहीं करता<sup>१</sup>—

न ब्राह्मणैस्तुल्ये भूतमन्यत् पश्यामि विप्राः किमतः परं तु ।

यस्मिन्मृभिः प्रहुतं श्रद्धयाहमश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥ ५/५/२३

१. तुलना कीजिये—जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही ॥ तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी। बलि गुरु तज्यौ, कंत ब्रजवनिनति भये मुद मंगलकारी ॥ नाते नेह रामके मनियत सुहृद् सुसेव्य जहाँ लौं। अञ्जन कहाँ आँखि जेहि फूटै बहुतक कहाँ कहाँ लौं। तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रानते प्यारो। जासो होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो ॥ विनयपत्रिका ॥
२. भगवान् ने ब्राह्मणों को अपने शरीर से भी अधिक प्रिय और श्रेष्ठ बतलाया है। देखिये—

श्रीमद्भागवत ३/१६/६-१२॥



अतः ब्राह्मणों की सर्वत्र पूजा होनी चाहिये, उनका आदर सम्मान होना चाहिये। समस्त प्राणियों में भगवद्दृष्टि रखकर व्यवहार करना चाहिये। सर्वत्र भगवद्दृष्टि भगवान् को सर्वाधिक प्रिय है। मन, वाणी आदि इन्द्रियों से भगवान् का भजन-कीर्तन कर आराधना करना ही शरीर-धारण का प्रधान प्रयोजन है। भगवान् की आराधना के बिना कोई भी व्यक्ति मुक्तिका पात्र नहीं बन सकता है। काल के मुख से बच नहीं सकता। पुत्रों को इस प्रकार उपदेश देकर ऋषभदेव जी ने अपने बड़े पुत्र भरत का राज्याभिषेक कर दिया और पुनः कहा—पुत्रों, अब तुम सारे भाई बड़ी ही निष्ठा के साथ, बड़े ही आदर के साथ बड़े भाई राजा भरत की सेवा-सहायता करो। इससे मुझे प्रसन्नता भी होगी और प्रजा की भलाई भी होगी”।

शुकदेव जी ने कहा—राजन, यद्यपि ऋषभदेव के पुत्र परम बुद्धिमान् और व्यवहार कुशल थे, उन्हें उपदेश की आवश्यकता न थी। किन्तु सामान्य जनता को शिक्षा देने के लिये ही उन्होंने पुत्रों को उपदेश दिया है। भरत को राज्यसिंहासन पर बैठाकर ऋषभदेव जी स्वयं अवधूत की वृत्ति धारण कर अकेले ही ब्रह्मावर्त से बाहर निकल गये—“ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज” ॥२८॥ उन्होंने पूर्ण मौनव्रत धारण कर रक्खा था। वे किसी से कुछ बोलते न थे। जड़, अन्धे, बहरे, गूंगे, पिशाच और पागलों की-सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ-तहाँ विचरने लगे। वे किसी भी मार्ग से निकलते तो जिस प्रकार वन में विचरनेवाले हाथी को मक्खियाँ सताती हैं, उसी प्रकार मूर्ख और दुर्जन जन उनके पीछे लग जाते और उन्हें तंग किया करते थे। उनके हाथ-पैर आदि सारे शरीर के अवयव परम सुकुमार और अतिशय सुन्दर थे। आँखे विशाल और कान लम्बे थे। छाती चौड़ी और ग्रीवा शङ्ख की तरह थी। उनके शरीरसौन्दर्य को देखकर स्त्रियाँ कामातुर हो उठती थीं—“पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः” ॥३१॥

जनता, स्त्रियाँ जब भगवान् ऋषभदेव को सताने लगे, घेरने लगे तो इसे साधन में विघ्नरूप समझ कर उन्होंने अजगरवृत्ति धारण कर ली। वे एक ही स्थान पर लेटे-लेटे खाते-पीते, सोते और मल-मूत्र त्याग करते थे। कभी-कभी वे उसी मल-मूत्र में लोट-पोट कर शरीर को उससे सान लेते थे—“शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हृदति ह स्म चेष्टमान उच्चरित आदिगोद्देशः” ॥३२॥

फलतः लोग ऋषभदेव से घृणा करके उनसे दूर ही रहने लगे। किन्तु उनके मल में दुर्गन्ध नहीं थी, बड़ी सुगन्ध थी। वायु उस सुगन्ध को लेकर उनके चारों ओर दस योजन (४० कोस) तक फैला देती थी—

तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात् सुरभिं चकार ॥३३॥

इसी प्रकार गौ, मृग और काक आदि की वृत्तियों को स्वीकार कर वे उन्हीं के समान कभी चलते हुए, कभी खड़े-खड़े, कभी बैठे हुए तथा कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने और मल-मूत्र आदि का त्याग करने लगते थे। उनका मन सर्वदा भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण में ही लीन रहता था। एक बार अणिमादि सिद्धियाँ मूर्तिमती होकर उनकी सेवा में उपस्थित हुईं किन्तु उन्होंने इन्हें योग में विघ्नकारिणी समझ कर इनका अभिनन्दन नहीं किया—“यदृच्छोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत्” ॥३५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥





## छठा अध्याय

( ऋषभ देवजी की शरीर का वनाग्नि में तिरोहित होना )

राजा परीक्षित ने आशङ्का की—भगवन्, ऋषभदेवजी आत्माराम थे । उनके सारे क्लेशदायक कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म हो चुके थे । ऐसी स्थिति में सिद्धियाँ उनका कुछ बिगाड़ न सकती थीं फिर उन्होंने क्यों उन्हें दूर से ही भगा दिया ?

परीक्षित के प्रश्न को सुनकर शुकदेवजी ने कहा—राजन्, आप का कथन बहुत ठीक है । किन्तु चतुर व्याध पकड़े गये मृग का जैसे विश्वास नहीं करता वैसे ही बुद्धिमान् जन इस चञ्चल चित्त का भरोसा नहीं करते । कहा भी गया है—इस चञ्चल चित्त से मित्रता कर कभी इसका विश्वास नहीं करना चाहिये । इसमें विश्वास करने से ही मोहिनी के रूप में फैस कर महादेवजी का चिरकाल का सञ्चित तप क्षीण हो गया था—

न कुर्यात् कर्हिचित् सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते । यद्विश्रम्भाच्चिराचीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥

५/६/३

पति पत्नी पर पूर्ण विश्वास करता है । उसे यह नहीं ज्ञात है कि यह मेरी स्त्री भयङ्कर व्यभिचारिणी है । स्त्री के पास बहुत-से जार पुरुष अपनी काम-वासना शान्त करने के लिये आते हैं । अवसर पाकर व्यभिचारिणी स्त्री अपने पति का वध करवा देती है । ठीक इसी प्रकार यह मन अपने पर विश्वास करनेवाले योगी को, काम-क्रोध आदि शत्रुओं को आक्रमण करने का अवसर प्रदान कर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, पथ-भ्रष्ट कर देता है—

नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः । योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चल्ली ॥५/६/४

अतः मन का विश्वास कभी नहीं करना चाहिये । ऐसा ही विचार कर ऋषभदेवजी ने सिद्धियों को स्वीकार नहीं किया, उन्हें दूर से ही भगा दिया । काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और भय आदि शत्रुओं का तथा कर्म-बन्धन का, मूल तो यह मन ही है; इस पर कोई भी बुद्धिमान् कैसे विश्वास कर सकता है ?

कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः । कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात् को नु तद् बुधः ॥

५/६/५

भगवान् ऋषभदेव सकल लोकपालों के ललामभूत थे, तो भी उनका आचरण, उनकी चालढाल और बोली-भाषा उन्मत्त व्यक्तियों की भाँति थी अतः उनका वास्तविक स्वरूप कोई समझ नहीं पाता था । वह पहुँचे हुए महान् योगी हैं—यह कोई समझ नहीं पाता था । अन्त में उन्होंने योगियों को देहत्याग की विधि सिखाने के लिये अपने शरीर को छोड़ने की इच्छा की । वे परमात्मा को अपने से अभिन्न समझते थे । उनकी वासनाएँ छूट चुकी थीं । वे लिङ्गदेह के अभिमान से विमुक्त होकर पूर्ण जीवन्मुक्त की दशा में इधर-उधर घूमते रहते थे । उस समय उनको अपने देह का अनुसन्धान भी न था । एक बार वे भ्रमण करते हुए कर्नाटक देश में पहुँचे । वहाँ वे कुटकाचल के वन में बाल बिखरे हुए उन्मत्त की भाँति नग्न होकर विचरण करने लगे । यह जिह्वा ही अनर्थ संभाषण का कारण है—ऐसा सोचकर, पूर्ण मौन धारण करने के विचार से उन्होंने मुख में एक पत्थर का टुकड़ा डाल लिया । इससे उनका भोजन-पानी भी छूट गया । इसी अवस्था में वे इधर-उधर विचरण करने लगे—

कुटकाचलोपवने आस्यकृताश्मकवल उन्माद इव मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार ॥

५/६/७

यह दैव का विधान था । उसी समय वहाँ के जंगल में भीषण दावाग्नि धधक उठी और उसने सारे वन को अपनी लाल-लाल लपटों में लपेट लिया । ऋषभदेवजी का श्रीविग्रह भी उसी वनाग्नि में भस्म हो गया—  
“दावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह” ॥ ८ ॥ वस्तुतः ऋषभदेवजी का श्री विग्रह उनकी इच्छा से ही वनाग्नि में तिरोहित हो गया ।



राजन्, कलियुग के आने पर कर्णाटक देश में एक राजा होगा। उसका नाम होगा—‘अर्हन्’। वह ऋषभदेव के आश्रमातीत आचरण एवं जीवनशैली को सुनकर उनका रहस्य बिना समझे बूझे स्वयं अपनायेगा और उसका प्रचार-प्रसार भी करेगा। भवितव्यतावश प्रबल पापवाले व्यक्ति उसके पाखण्डपूर्ण मत को स्वीकार कर अपने शास्त्रविहित धर्म-कर्म का परित्याग कर देंगे, शौचाचार से रहित हो जायेंगे। ऐसे लोग स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना, केश नुचवाना आदि पाखण्ड को धर्म मानकर उसी का आचरण करेंगे। ईश्वर का तिरस्कार करने वाले इस प्रकार के लोग वेद, ब्राह्मण और यज्ञपुरुष वासुदेव की निन्दा करेंगे। शौचाचार से रहित ये पाखण्डी तथा इनका अन्धानुसरण करनेवाले लोग नरकगामी होंगे। “स्वयं नष्टः परान् नाशयति” के अनुसार स्वयं नष्ट ये पाखण्डी अपने अनुयायियों को भी ले डूबते हैं—“ले डूबता है एक पापी नाव को मङ्गलधर में।”

ऋषभदेवजी का आविर्भाव रजोगुणी प्राणियों को मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिये ही हुआ था न कि प्रचण्ड पाखण्ड पन्थ का प्रवर्तन करने के लिये—“अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः” ॥१२॥ अतः इनके गुणों का वर्णन करते हुए लोग इस प्रकार कहा करते हैं—‘अहो ! सात सागरों वाली पृथिवी के समस्त द्वीप और वर्षों में यह भारतवर्ष ही पुण्यभूमि है क्योंकि यहाँ के लोग भगवान् श्रीहरि के मङ्गलमय चरितों का गान किया करते हैं—

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या द्वीपेषु वर्षेष्वधिर्वर्षमेतत् ।  
गायन्ति यत्रत्य जना मुरारेः कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥ ५/६/१३

अहो ! महाराज प्रियव्रत का वंश अतिशय उज्ज्वल एवं सुयशपूर्ण है। इसी वंश में भगवान् श्रीहरि ने ऋषभावतार लेकर मोक्ष दिलानेवाले, परमहंसों के धर्म का आचरण किया। इनके धर्म का मन से भी अनुसरण बड़े-बड़े योगी भी कैसे कर सकते हैं ? एक बार सारी सिद्धियाँ समवेत रूप से ऋषभदेव की सेवा में पधारीं किन्तु उन्होंने इनका अभिनन्दन न करके दूर हटा दिया। बड़े-बड़े योगी इन सिद्धियों के लिये लालायित रहा करते हैं। अतः ऋषभदेवजी की बराबरी भला कौन कर सकता है ?

राजन्, मैंने आपको ऋषभदेवजी का यह पावन चरित सुनाया है। जो व्यक्ति श्रद्धा के साथ इनके चरित्र को सुनता या सुनाता है, उसकी भगवान् में अविचल भक्ति हो जाती है। भगवान् की भक्ति के परमानन्द से भरे हुए भक्त हाथ जोड़ कर सामने स्वयं खड़ी हुई परमपुरुषार्थ रूप मुक्ति का भी आदर नहीं करते हैं—

“अपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्विजन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः” ।

५/६/१७

राजन्, वस्तुतः भक्ति बहुत ऊँची चीज है। भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों और यदुवंशियों के रक्षक, गुरु, इष्टदेव, सुहृद् और कुलपति थे। यहाँ तक कि वे कभी-कभी आज्ञाकारी सेवक भी बन जाते थे। इसी प्रकार वे अपने उपासकों के बहुत से कार्य कर देते थे। यहाँ तक कि मुक्ति भी उनकी झोली में डाल देते थे किन्तु सर्वोत्तम वस्तु भक्ति को वे आसानी से नहीं देते—

राजन् पतिर्गुरुत्वं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो वः ।

अस्त्येवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥ ५/६/१८  
अन्त में श्री शुकदेवजी महाराज भगवान् ऋषभदेव को प्रणाम करके उनका यह चरित्र पूरा करते हैं।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

॥ सप्ताह के दूसरे दिन की कथा समाप्त ॥

अध्याय-संख्या ४८



॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

## सप्ताह के तीसरे दिन की कथा का प्रारम्भ

॥ तृतीये दिवसे कुर्यात् सप्तमस्कन्धपूरणम् ॥

( पञ्चम स्कन्ध के ७वें अध्याय से सप्तम स्कन्ध के १५वें अध्याय तक )

### सातवाँ अध्याय

( भरत-चरित्र )

श्री शुकदेवजी कहते हैं—“राजन्, महाराज भरत महान् भगवद्भक्त थे। ऋषभदेवजी ने पृथिवी की रक्षा के लिये उनकी नियुक्ति कर दी। पिता के आदेश का पालन करते हुए उन्होंने प्रजापति विश्वरूप की बेटी पञ्चजनी से विवाह किया—

“भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पञ्चजनीं विश्वरूपपदुहितरमुपयेमे” ॥ ५/७/१॥

उससे उन्हें उन्हीं के समान परम तेजस्वी पाँच पुत्र पैदा हुए, उनके नाम थे—सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु। पहले इस वर्ष का नाम ‘अजनाभ’ वर्ष था किन्तु महाप्रतापी भरत से शासित होने के कारण बाद में इसे भारतवर्ष कहने लगे—“अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति” ॥ ३॥ भरत ने पिता और पितामह की भाँति अपने-अपने धर्म-कर्म में निरत प्रजा का बड़े ही प्रेम से पालन किया। वे छोटे और बड़े यज्ञों के द्वारा यज्ञपति श्रीहरि की आराधना किया करते थे। यज्ञों से होने वाले पुण्य-फल को वे यज्ञपति भगवान् को ही समर्पित कर देते थे। यज्ञों में आहुति देने की बेला में महाराज भरत भगवान् के अङ्गों में ही सारे देवों की कल्पना करते थे। इससे उनका हृदय काम, क्रोध आदि मलों के निकल जाने से निर्मल हो गया था। उनके निर्मल हृदय में भगवान् वासुदेव चित्र की भाँति चित्रित हो जाते थे, अङ्कित हो जाते थे। पूजा की बेला में भरत को रोमाञ्च हो जाता था, उनकी आँखों से अश्रुओं की धारा प्रवाहित होने लगती थी जो रोकने पर भी जल्दी नहीं रुकती थी। इस प्रकार उनकी भगवद्भक्ति प्रतिदिन वेग से बढ़ती ही जाती थी—“उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरयाजायत” ॥ ७॥

इस प्रकार राजर्षि भरत ने दश हजार वर्षों तक पृथिवी का पालन किया फिर उन्होंने वंश-परम्परा से प्राप्त अपनी सारी राज्य-सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँट दी और सर्व-सम्पत्ति से सम्पन्न राजमहल का त्याग कर पुलहाश्रम चले गये। इसे ‘हरिहर’ क्षेत्र भी कहते हैं। इस आश्रम में निवास करनेवाले भक्तों को भगवान् आज भी यदा-कदा दर्शन देकर कृतार्थ करते रहते हैं। उस आश्रम को चक्र के आकार से अङ्कित शालग्रामशिलाओं से अलङ्कृत पुण्यसलिला चक्रनदी (गण्डकी) सब ओर से पवित्र करती है। गण्डकी को शालग्रामी नदी भी कहते हैं—

“यत्राश्रमपदान्युभयतोनाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदी नाम सरित्प्रवरा सर्वत्र पवित्रीकरोति” ॥ ५/७/१०

उस पुलहाश्रम के उपवन में एकान्त स्थान में अकेले ही वे रहते थे। अपना सारा कार्य अपने ही हाथों करते थे। वे अनेक प्रकार के पत्र, पुष्प, तुलसीदल, जल और कन्द-मूल-फलादि उपहारों से आराधना करते और उसे ही भगवत्प्रसाद के रूप में ग्रहण कर जीवन-निर्वाह करते थे। इससे उनका अन्तःकरण समस्त विषयाभिलाषाओं से निवृत्त होकर शान्त हो गया था और परमानन्द से भर गया था। पूजा की बेला में वे रोमाञ्चित हो जाते थे। आँखों से अश्रुप्रवाह निकलने लगता था। हृदय पिघल कर द्रवीभूत हो जाता था। आनन्द की एक स्थिति ऐसी भी आती थी जब वे पूजा और अपने को भी भूल जाते थे—



“भक्तियोगेन परिप्लुतपरमाह्लादगम्भीरहृदयहृदावगाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्यां न सस्मार” ॥ ५/७/१२

इस प्रकार वे निरन्तर भगवत्सेवा में ही निरत रहा करते थे। कृष्णमृगचर्म ही उनके शरीर का आवरण था। वे त्रिकाल स्नान करते थे। उनकी जटाएँ लटों में परिवर्तित हो गई थीं। उनका शरीर तप्त सुवर्ण की भाँति तप रहा था। एक दिन की बात है। वे प्रातःकाल उदित होते हुए सूर्य की उपस्थापना करते हुए बोल रहे थे—हम भगवान् सूर्य के तेज की शरण ग्रहण कर रहे हैं। भगवान् सूर्य संकल्प मात्र से इस संसार की सृष्टि करते हैं। वे ही इस विश्व में प्रविष्ट होकर विषय-सुखों के अभिलाषी जीवों को अपने तेज से पालते हैं। भगवान् सूर्य का तेज प्रकृति से परे है। वही भक्तों के अभीष्ट की पूर्ति भी करता है और सब की बुद्धि को प्रेरित भी करता है—

परोरजः सवितुर्जतवेदो देवस्य भर्गो मनसेदं जजान।

सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ॥ ५/७/१४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

## आठवाँ अध्याय

( भरतजी का मृग के मोह में फँस कर मृगयोनि में जन्म लेना और उससे छूटना )

श्री शुकदेवजी कहते हैं—एक दिन की बात है। भरत महाराज, प्रतिदिन की भाँति, शौचादि से निवृत्त होकर, गण्डकी नदी में स्नान, ध्यान और तर्पण आदि आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हो रक्त आभा से मण्डित निकलते हुए सूर्य को जलाञ्जलि देकर प्रणव का जप करते हुए तीन मुहूर्त तक नदी की धारा के पास बैठे रहे। ब्राह्म मुहूर्त में शय्या का त्यागकर उठ जाना उनका दैनन्दिन कृत्य था। सूर्योदय के समय सूर्योपस्थान करना बुद्धि और ज्ञान का वर्धक है। सूर्योदय एवं सूर्यास्त की बेला में शयन करने वाला घोर आलसी है। आलस्य मानव की उन्नति में परम बाधक है, यह सर्वविदित तथ्य है। किसी विचारक का कथन है कि यदि चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण भी सूर्योदय और सूर्यास्त की बेला में शयन करने लगे तो उन्हें भी लक्ष्मी जी छोड़ देंगी\*। इसलिये अपनी उन्नति की कामना करनेवाले व्यक्ति को चाहिये कि सूर्योदय और सूर्यास्त के समय निद्रा का त्याग करके सूर्य को प्रणाम करे, उनका सम्मान करे। भगवान् सूर्य जगत् का निष्कारण उपकार करते हैं। उनके बिना प्राणियों का जीवन-धारण कठिन है।

विधि का विधान बड़ा प्रबल होता है। एक दिन की घटना है। भरत प्रणव जप करते हुए बैठे थे। इसी समय गर्भ के भार से मन्थर चालवाली एक हरिणी प्यास से व्याकुल हो जल पीने के लिये अकेली ही उस नदी के तट पर आई। अभी वह जल पी ही रही थी कि पास में ही गरजते हुए किसी सिंह की लोकभयङ्कर दहाड़ सुनाई पड़ी। हरिणी का कलेजा काँप उठा। भयवश उसने नदी पार करने के लिये छलाँग लगा दी। हरिणी के गर्भ का समय प्रायः पूरा हो चुका था अतः उछलने की बेला में उसके पेट का बच्चा निकल कर जल में गिर पड़ा— “तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्न्या उरुभयावगलितो योनिर्गतो गर्भः स्रोतसि निपपात” ॥ ५/८/५ ॥ हरिणी ने छलाँग लगा कर

१. हंसम् = जीवम्;

२. गृध्राणम् = विषयसुखाभिलाषिणम्;

३. नृषद्रिङ्गिराम्-नृषु = मनुष्येषु सीदति उपाधितया तिष्ठतीति नृषद् बुद्धिस्तस्या रिङ्गिम् = गतिं रति = ददातीति तादृशम् ॥

४. सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम् ॥



नदी की पतली जल-धार को पार तो कर लिया किन्तु गर्भ के गिर जाने से उसे बड़ी पीड़ा हुई। वह बेहोश होकर सामने की गुफा में गिर कर मर गई। इधर बच्चा बहता हुआ भरत के पास में आ गया। वे सारे दृश्य को देख रहे थे। बहते हुए असहाय मृग-शिशु को देखकर भरत का हृदय दया से भर गया। उन्हें क्या मालूम कि कभी-कभी करुणा, दया भी बन्धन का कारण बन जाती है। फलतः उन्होंने बच्चे को गोद में उठा लिया। उसे झाड़ा-पोछा और अपने आश्रम में ले आये। उसके प्रति भरत जी की ममता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। वे नित्य उसके खाने-पीने का प्रबन्ध करते। अभी तक वे खोज कर हरी-हरी सुकोमल दूब को भगवान् की पूजा के लिये लाया करते थे किन्तु अब भगवान् छूट गये पीछे, उनके सामने आ गया हरिण का बच्चा। वे उसे ही सुकोमल दूबें खिलाने लगे। अभी तक वे चिन्तन करते थे भगवान् का। किन्तु अब उन्हें चिन्ता सताने लगी हरिण की। व्याघ्र आदि कोई जानवर उसे खा न जाय एतदर्थ वे चिन्तित रहने लगे। वे उसे पुकारते थे, पुचकारते थे और चूमते थे उसके मुँह को। धीरे-धीरे उनकी भगवत्सेवा कम होती गई और एक समय ऐसा भी आया की मृग-शिशु के पीछे पड़ कर उन्होंने भगवान् की सेवा ही छोड़ दी—

“निजाभिमानस्याहरहस्त्योषणपालनलालनप्रीणनानुध्यानेनात्मनियमाः सहयमाः पुरुषपरिचर्यादय एकैकशः कतिपयेनाहर्गणेन वियुज्यमानाः किल सर्व एवोदवसन्” ॥ ५/८/८

भरत जी सोचते थे—“अहो ! कालचक्र की महिमा तो देखो ! यह दीन, अपने झुण्ड से हीन, असहाय बच्चा मेरी शरण में आ पहुँचा। अब यह अपना माता-पिता, भाई-बन्धु सब कुछ मुझे ही मानने लगा है। मेरे सिवाय इसका कोई सहारा नहीं है। इसका मुझ में विश्वास भी बहुत अधिक है अतः मैं शरण में आये हुए इस शिशु की उपेक्षा नहीं कर सकता। मुझे ज्ञात है कि शरणागत का परित्याग महान् पाप कहा गया है। परोपकारी सज्जन शरणागत की रक्षा के लिये अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थ को छोड़ने में नहीं हिचकते हैं”।

हरिण के बच्चे में उनकी आसक्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि वे शयन करने की बेला में उसे अपने पास सुलाते थे, टहलते समय टहलाते थे और भोजन करते समय अपने पास में बैठाते थे। प्रत्येक समय उनका हृदय उसके स्नेह-पाश में बँधा रहता था। मार्ग में चलते समय जब उन्हें प्रतीत होता था कि बच्चा थक गया है तो वे उसे उठाकर अपने कन्धे पर बैठा लेते थे। कभी गोद में लेकर और कभी छाती से लगाकर उसका दुलार करने में उन्हें बड़ा सुख मिलता था—

“पथि च मुग्धभावेन तत्र तत्र विषक्तमतिप्रणयभरहृदयः कार्पण्यात् स्कन्धेनोद्वहति एवमुत्सङ्ग उरसि चाधायोपलालयन् मुदं परमामवाप” ॥ ५/८/१३

नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करने की बेला में भी राजराजेश्वर भरत बीच-बीच में उठ-उठ कर उस मृग बालक को देखते और जब उस पर उनकी दृष्टि पड़ती तभी उनके चित्त को शान्ति मिलती थी। उस समय वे उसकी मङ्गल-कामना करते हुए कह उठते थे—“बेटा, तेरा सर्वत्र कल्याण हो”—

“मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति” ॥ ५/८/१४

धीरे-धीरे मृगशिशु कुछ बड़ा हुआ। अब वह आश्रम से दूर भी चला जाता था। हरिणों के झुण्ड में भी जाकर मिल जाता। उस समय भरत सोचने लगते थे—“मैंने कौन-सा अपराध कर दिया जो वह मुझे छोड़कर चला गया। क्या मैं उसे फिर इस आश्रम के उपवन में भगवान् की कृपा से हरी-हरी दूब चरते हुए देखूँगा ? कहीं कोई हिंस्र पशु उसे मारकर खा न जायँ। सूर्य अस्ताचल को जा रहे हैं, किन्तु अभी तक वह मृगी का धरोहर लौट कर नहीं आया—

१. शरणागत कहूँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि । ते नर पाँवर पापमय तिनहिं बिलोकत हानि ॥ रामचरितमानस ॥



‘निम्लोचति ह भगवान् सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रय्यात्माद्यापि न मृगवधून्यास आगच्छति’ ॥ ५/८/१९

जब वह कुछ गलती करता है, तब उसे मैं डाट देता हूँ। उस अवस्था में वह एक आज्ञाकारी बालक की भाँति शान्त होकर बैठ जाता है। ओह ! “अब तो अँधेरा हो गया। आकाश में चन्द्रमा भी निकल आया किन्तु वह अभी तक आया नहीं। हे चन्द्रदेव, जहाँ भी वह शिशु हो उसे तुम अपनी शीतल किरणों से सुख पहुँचाना। इस समय उसके वियोग में मैं भी सन्तप्त हो रहा हूँ अतः मुझ पर भी अपनी अमृतभरी किरणों को बरसाना” ॥

इस प्रकार के तमाम अपूरणीय विविध मनोरथों से भरत का चित्त व्याकुल रहने लगा। यह उनका पूर्व जन्म का कोई दुरदृष्ट ही था जो इस समय उनकी तपस्या में विघ्न बन कर आया था। वे इसी शिशु के कारण भगवदाराधनरूप कर्म और योगानुष्ठान से च्युत हो गये। नहीं तो, जिन्होंने मोक्षमार्ग का विघ्न समझ कर अपने औरस पुत्रों और परिवार का परित्याग कर दिया था वे एक हरिणी शिशु की ऐसी आसक्ति में कैसे फँसते ? उन्हें अपना स्वरूप भी विस्मृत हो गया था।

मृत्यु टाले नहीं टलती। सभी को इसका सामना करना पड़ता है। भरत की भी मौत आ ही गई। वे अस्वस्थ होकर मरण-शय्या पर लेटे हुए थे। मृग-शावक उनकी बगल में बैठा था। दोनों ही एक दूसरे को दीन दृष्टि से देख रहे थे। भरत सोचते थे—“मेरे न रहने पर इस शिशु की देख-भाल कौन करेगा ?” उसी की चिन्ता में उनका शरीर छूट गया। यतः मरने की बेला में वे हरिण-शिशु का ध्यान कर रहे थे। अतः अगले जन्म में हरिण के रूप में वे जन्मे। किन्तु उनकी भगवदाराधना इतनी प्रबल थी कि उसके प्रताप से उनकी हरिण-योनि में भी पूर्वजन्म की स्मृति बनी रही। मृगयोनि में जन्म लेने के कारण को जानकर उन्हें महान् पश्चात्ताप होता था। वे सोचते थे—‘अहो ! बड़े खेद की बात है, मैं संयमशील महात्माओं के मार्ग से च्युत हो गया। भगवान् की अविचल आराधना के विचार से मैंने अपने वैभव और परिवार का परित्याग किया था। भगवान् के ही स्मरण, ध्यान और कीर्तन में मेरा सारा समय व्यतीत होता था किन्तु मेरा दुर्भाग्य तो देखिये कि अन्त में मैं एक नन्हें से हरिण-शिशु के चक्कर में पड़कर अपने लक्ष्य से च्युत हो गया।’ ऐसा सोचकर मृग बने हुए राजर्षि भरत के हृदय में वैराग्य की महान् भावना जगी। फलतः वे अपनी माता मृगी और जन्मभूमि कालञ्जर पर्वत को छोड़कर गण्डकी नदी के तट पर पुलहाश्रम में चले गये। वहाँ भी वे संग से भयभीत होकर काल की प्रतीक्षा करते हुए इधर-उधर भटकते रहते थे। वे सूखे पत्ते, घास और झाड़ियों को खाकर अपना दिन काटते थे।

अन्त में, प्रारब्ध कर्म के समाप्त होते ही वे अपना आधा शरीर गण्डकी नदी के जल में डुबाये रखकर उस मृग-शरीर को छोड़ दिये—

मृगशरीरं तीर्थोदकविलिन्नमुत्ससर्ज ॥ ५/८/३१

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

१. यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभाषितः ॥ भगवद्गीता ८/६॥

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन, यह मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, उसे ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहता है ॥



## नवाँ अध्याय

( भरतजी का ब्राह्मण-वंश में जन्म और भद्रकाली के द्वारा उनकी रक्षा )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, अङ्गिरा गोत्र में एक श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। वे महान् विद्वान्, त्यागी, परम धार्मिक, उदार और अध्यात्मज्ञान से सम्पन्न थे। आचरण की पवित्रता में वे सतत सावधान थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं। बड़ी पत्नी से उन्हीं के समान नौ पुत्र हुए और छोटी पत्नी से एक ही साथ एक पुत्र एक कन्या का जन्म हुआ। इनमें जो पुत्र था वही पूर्व जन्म में राजा भरत था। ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न राजा भरत का यह अन्तिम जन्म था। राजा भरत ने अपने जीवन में भगवान् की इतनी पूजा-उपासना की थी कि उसके प्रभाव से वे मृग-शरीर छोड़ कर ब्राह्मण के वंश में उत्पन्न हुए किन्तु पूर्व जन्म की स्मृति होने के कारण वे स्वजनों की आसक्ति से भयभीत रहा करते थे। उनका सारा समय भगवान् के चरणारविन्द के ध्यान में ही व्यतीत होता था। उन्होंने अपना आचरण ऐसा बना रक्खा था कि लोग उन्हें पागल, मूर्ख, अन्धा और बहरा समझें क्योंकि जब तक मनुष्य अपने को दुनियाँदारों के योग्य प्रदर्शित करता है तब तक संसारीजन उसका पीछा नहीं छोड़ते।

पिता ने अपने अन्य पुत्रों की भाँति संस्कारी बनने के लिये उस पागल पुत्र का भी बड़े स्नेह से विधिपूर्वक उपनयन संस्कार किया। शौच, आचार और नियमों की विधि की शिक्षा दी किन्तु वह इन विधियों की शिक्षा लेना नहीं चाहता था, तो भी पिता का कर्तव्य है कि पुत्र को शिक्षा दे, इस शास्त्र-मर्यादा का पालन करते हुए उन्होंने शौच, आचमन आदि आवश्यक कर्मों की शिक्षा दी। यह एक संयोग ही था कि इस जन्म में भी इस बालक का नाम 'भरत' रक्खा गया।

भरत जी अपने पिता के सामने ही उनके उपदेश के विरुद्ध आचरण करने लगते थे। पिताजी ने सोचा कि इस बालक को व्याहृतियों के सहित गायत्री मन्त्र कण्ठस्थ करवा दें। गायत्री मन्त्र है भी बहुत छोटा किन्तु चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़—इन चार महीनों के प्रयास के बाद भी वे भरत को सही-सही गायत्री मन्त्र कण्ठस्थ न करा सके—

“व्याहृतिभिः सप्रणवस्त्रिपदां सावित्रीं त्रैष्णवासन्तिकान् मासान् अधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास” ॥

५/९/५॥

ब्राह्मण देवता ने लाख प्रयास किया किन्तु उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता न मिल सकी। भरत ने एक छोटा-सा मन्त्र भी कण्ठस्थ नहीं किया। पुत्र को शिक्षित, संस्कारी बनाने के चक्कर में ब्राह्मण भगवान् का भजन करने के लिये अपना घर छोड़कर जंगल भी न जा सके। वे घर के धन्धों में ही व्यस्त थे कि काल ने आकर उन्हें धर दबोचा और वे विदा हो गये इस संसार से जिसे वे सजाने-सँवारने में लगे थे—

“स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्तेन स्वयं गृह एक प्रमत्त उपसंहृतः” ॥५/९/६॥

ब्राह्मण के मर जाने पर उनकी छोटी पत्नी ने सौत के हाथों अपनी दोनों सन्तानों को सौंप कर स्वयं सती होकर पतिलोक को चली गई।

भरत के भाई कर्मकाण्ड की विद्या में निपुण थे। उन्हें ब्रह्मविद्या का ज्ञान न था अतः वे भरत के प्रभाव से अनभिज्ञ थे इसीलिये उन लोगों ने भरत को लिखाना पढ़ाना बन्द कर दिया। भरत जी को अपने मान-अपमान का कुछ भी विचार न था। जब कोई दुष्ट व्यक्ति उन्हें पागल, मूर्ख अथवा बहरा कहकर पुकारता तब वे उसी के अनुरूप भाषण करने लगते थे। जब कोई व्यक्ति उनसे कुछ भी कार्य कराना चाहता था तब वे उसकी इच्छा के अनुसार कर देते थे। बेगार के रूप में, मजदूरी के रूप में, माँगने पर अथवा बिना माँगें जो भी थोड़ा-बहुत, अच्छा



या बुरा अन्न उन्हें मिल जाता, उसी को खाकर वे अपने पेट की ज्वाला समाप्त कर लेते। स्वाद पर उनका स्वल्प भी ध्यान न था अतः वे भगवदानन्द में निमग्न रहा करते थे, अतः सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का उन्हें भान भी नहीं होता था। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं गठीला था। वे पृथिवी पर ही रहते थे। स्नान-उबटन न करने से उनका शरीर मलिन बना रहता था। उनका ब्रह्मतेज, धूलि से ढके हुए मूल्यवान् मणि के समान छिप गया था। वे अपनी कमर में एक मैला-कुचैला कपड़ा लपेटे रहते थे। उनका यज्ञोपवीत भी बहुत-ही मैला हो गया था। इसलिये मूर्ख जनता 'यह कोई द्विज है', 'यह कोई अधम ब्राह्मण है' ऐसा कहकर उनका तिरस्कार किया करती थी किन्तु वे इसका कोई विचार न करके स्वच्छन्द विचरा करते थे।

जब भाइयों ने देखा कि यह भोजन पर दूसरों का कार्य करता है तो उन लोगों ने भरत को अपने ही खेत का मेड़ बनाने में, ऊँचा-नीचा समतल करने में लगा दिया। जड़ भरत का हृदय तो भगवान् के चिन्तन में लगा रहता था। वे हाथ से फावड़ा चलाते जाते थे अतः सब उलटा-पुलटा हो जाता था। कहीं मेड़ टूट जाता तो कहीं गड्ढा और ऊँचा हो जाता। उनके भाई-भौजाई उन्हें चावल की कन्नी, खली, भूसी, धुने हुए उड़द अथवा बरतनों में लगी हुई जले अन्न की खुरचन—जो कुछ भी दे देते, उसी को वे अमृत के समान खा लेते थे—

**‘कणपिण्याकफलीकरणकुल्भाषस्थालीपुरीषादीन्यप्यमृतवदभ्यवहरति’ ॥५/९/११**

एक समय की घटना है। रात्रि की बेला थी, जड़भरत वीरासन से बैठे हुए मृग-वराह आदि जीवों से खेत की रखवाली कर रहे थे। उसी समय डाकुओं के एक सरदार के लोग भद्रकाली के सामने बलि देने के लिये एक व्यक्ति को पकड़कर ले जा रहे थे। सरदार ने देवी से मनौती मानी थी कि—‘देवी तुम मुझे पुत्र देना। मैं तुम्हें नर-बलि चढ़ाऊँगा’। जिस मनुष्य को बलि के लिये पकड़ कर लाया गया था, वह अँधेरे का लाभ लेकर कहीं भाग गया। रात अँधेरी थी अतः खोजने पर भी उसका पता न चला। इसी समय दैवयोग से अकस्मात् सरदार के व्यक्तियों की दृष्टि जड़भरत पर पड़ी। उन्होंने देखा कि यह पशु तो बड़े अच्छे लक्षणों वाला है, इससे हमारे स्वामी का कार्य अवश्य सिद्ध हो जायेगा यह सोचकर वे प्रसन्न हो उठे। उन लोगों ने जड़भरत को रस्सियों से बाँधा और चण्डिका के मन्दिर में ले आये—

**‘अथ त एनमनवद्यलक्षणमवमृश्य भर्तुकर्मनिष्पत्तिं मन्यमाना बद्ध्वा रसनया चण्डिकागृहमुपनिन्यमुदा विकसितवदनाः’ ॥५/९/१४**

मन्दिर में लाकर डाकुओं ने बलि देने की विधि के अनुसार जड़भरत को स्नान कराया, खूब बढ़िया वस्त्र पहनाया, आभूषण धारण कराया, तिलक लगाया, माला पहनाई और अच्छा-अच्छा भोजन कराया। उनकी जम कर पूजा की फिर गाजे-बाजे के साथ उन्हें देवी के समक्ष उपस्थित किया। यह देखकर भरत बड़े प्रसन्न हुए कि जो कार्य भाई और भौजाई ने नहीं किया उसे ये लोग आज कर रहे हैं। कितने अच्छे हैं ये लोग! डाकुओं ने जड़भरत को देवी के सामने शिर झुका कर बैठा दिया।

तदनन्तर दस्युराज के पुरोहित बने हुए लुटेरे ने, उस नर-पशु के रक्त से देवी को तृप्त करने के लिये, देवीमन्त्रों से अभिमन्त्रित एक तीक्ष्ण तलवार उठाई। इस प्रकार धन और बल से उन्मत्त उन तमोगुणी दुष्टों का यह भयङ्कर कुर्म देखकर भद्रकाली के शरीर में अति दुःसह ब्रह्मतेज से दाह होने लगा और वे एकाएक मूर्ति को फोड़ कर प्रकट हो गईं, क्रोध के मारे उनकी भौंहे चढ़ी हुई थीं। उनकी विकराल दाढ़ों और चढ़ी हुई लाल-लाल आँखों के कारण उनका चेहरा बड़ा भयानक जान पड़ता था। उनके उस विकराल वेश को देख कर ऐसा जान पड़ता था मानो वे इस संसार का संहार कर डालेंगी। उन्होंने क्रोध से तड़क कर बड़ा भीषण अट्टहास किया और उछलकर उस अभिमन्त्रित



खड्ग से ही उन सारे पापियों के शिर उड़ा दिये और अपने गणों के साथ उनका गरम-गरम रक्त पीकर उन्मत्त हो ऊँचे स्वर से गाती और नाचती हुई उन शिरों को ही गेंद बना कर खेलने लगीं। सच है, महापुरुषों के प्रति किया गया अत्याचार रूप अपराध इसी प्रकार ज्यों-का-त्यों अपने ही ऊपर आकर पड़ता है—

“एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कात्स्न्येनात्मने फलति” ॥१९

दस्युओं का काम तमाम करने के बाद भद्र काली की दृष्टि गई जडभरत के ऊपर। वे आँखें बन्द किये देवी की मूर्ति के सामने शिर झुकाये बैठे थे। उन्हें कुछ भी भान नहीं हो रहा था कि क्या हो रहा है। देवी ने उन्हें उठाया, अपनी गोद में बैठाया। दुलारा-पुचकारा और उनके शिर पर हाथ फेरा। थोड़ी देर के बाद भद्रकाली अन्तर्हित हो गई। देवी के दुलार को पाकर जडभरत निहाल थे। वे आत्माराम थे अतः बाह्य जगत् की घटनाओं का उन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

राजन्, मृत्यु के ताण्डवनृत्य को देखकर भी भरत का हृदय भयभीत नहीं हुआ। इसमें किसी प्रकार के आश्चर्य की बात नहीं है। जो अनन्य भक्त बनकर भगवान् की शरण में पहुँच गये हैं, उनकी रखवाली का सारा भार भगवान् के कन्धे पर आ जाता है और भगवान् इसे निभाते भी बखूबी हैं। भगवान् की घोषणा ही है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्भ्रतं मम ॥

करौं सदा तिनकी रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी ॥ मानस ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥



## दसवाँ अध्याय

### ( जडभरत और राजा रहुगण की भेंट )

हृदय-महाराज भरत हरिण-शिशु का ध्यान करते हुए शरीर छोड़े थे अतः मृगयोनि में उन्हें जन्म लेना पड़ा था। इसी प्रकार अपने मालिक महाराज भरत के मर जाने पर वह हरिण-शिशु भी उन्हीं का ध्यान करते हुए मरा था अतः वह सिन्धु सौवीर देश के राजा रहुगण के रूप में जन्मा। पूर्वजन्म में हरिण के रूप में रहुगण ज्ञानी भरत के संसर्ग में रहा अतः इस जन्म में भी उसकी ज्ञान-पिपासा और सत्सङ्ग की इच्छा बनी रही। यही है, अन्तकाल के संस्कार की बात।

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, एक दिन सिन्धु सौवीर देश के राजा रहुगण पालकी पर सवार होकर भगवान् कपिलदेव का सत्सङ्ग प्राप्त करने के लिये गङ्गासागर जा रहे थे। जब वे इक्षुमती नदी के तट पर पहुँचे तब उनकी पालकी ढोलनेवाले कहारों के जमादार को एक कहार की आवश्यकता पड़ी। कहार की खोज करते समय दैववश उसे जडभरत मिल गये। इन्हें देखकर उसने सोचा—‘यह मनुष्य हृष्ट-पुष्ट, युवक और गठीली शरीरवाला है अतः यह बैल या गधे के समान भली-भाँति बोझ ढो सकता है।’ यह सोच वह उन्हें पकड़ लाया और पालकी ढोने में लगा दिया। यद्यपि महात्मा भरत जी किसी प्रकार इस कार्य के योग्य नहीं थे, तो भी वे बिना कुछ बोले पालकी को उठाकर चल दिये—

“विष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह उवाह शिविकां स महानुभावः” ॥५/१०/१

मार्ग में चींटी आदि कोई जीव-जन्तु पैर से दब न जाय इसलिये वे आगे की दो हाथ जमीन पर दृष्टि रखकर जडभरत चलते थे। यदि मार्ग में कहीं चींटी की कतारें दिखलाई पड़तीं तो वे उन्हें बचाने के लिये उछल जाते थे।



इससे पालकी ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती और राजा का शिर पालकी के बाँस से टकरा जाता था। इस पर रहुगण ने पालकी ढोनेवालों से कहा—‘अरे कहारों, ठीक से चलो। पालकी को इस प्रकार ऊँची-नीची करके क्यों चल रहे हो?’ कहारों ने कहा—‘महाराज, हम तो ठीक ही पालकी ढो रहे हैं किन्तु अभी-अभी जो नया कहार पालकी ढोने में लगाया गया है, यह ठीक से कदम-से-कदम मिला कर नहीं चल रहा है। इसीके कारण यह गड़बड़ी हो रही है अतः हम इसके साथ पालकी नहीं ले जा सकते—

‘अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति, नानेन सह वोढुमु ह वयं पारयाम इति’ ॥५/१०/४

इस पर राजा ने सोचा कि संसर्ग-दोष का संक्रमण तो होता ही है। इसलिये यदि नये कहार का प्रतिकार नहीं किया गया तो सब कहारों की चाल बिगड़ जायेगी फिर वे क्रोध में भर कर जडभरत से व्यङ्ग्य भरे वचन कहने लगे—‘क्यों जी, तुम चलते-चलते थक गये हो? क्या तुम बहुत दूर से अकेले ही पालकी ढो रहे हो! प्रतीत हो रहा है बूढ़े भी हो गये हो? तुम्हारा शरीर भी तो दुबला-पतला ही है।’ इस प्रकार बहुत प्रकार से राजा के ताना मारने पर भी जडभरत चुपचाप पालकी ढोते ही रहे। उन्होंने इसका कुछ भी बुरा न माना क्योंकि देहाभिमान से वे ऊपर उठ चुके थे।

जब कुछ देर के बाद फिर पालकी ऊँची-नीची हुई और राजा को जोर से पालकी के बाँस का धक्का लगा तो वे क्रोध के मारे आगबबूला हो गये। डाँटते हुए जडभरत से उन्होंने कहा—‘अरे, तू तो जीते ही मुर्दा प्रतीत होता है। तू मेरा निरादर करके मेरी आज्ञा का उल्लङ्घन कर रहा है! तू बड़ा प्रमादी प्रतीत हो रहा है। अरे, जैसे दण्डपाणि यमराज अपराधियों को दण्ड देते हैं वैसी ही मैं भी अभी तेरा इलाज किये देता हूँ। तब तेरे होश ठिकाने हो जायेंगे।’ रहुगण को राजा होने का महान् अभिमान था, इसलिये वह इसी प्रकार बहुत-सी अनुचित बातें बोल गया। उसे क्या पता था कि मैं एक ब्रह्मज्ञानी, भगवान् के अनन्य भक्त का अपमान कर रहा हूँ।

हृदय—रहुगण की बात जडभरत ने सुनी। वे थोड़ा-सा मुस्काराये और फिर कहना शुरू किया। जडभरत के मुस्कारने के दो कारण थे एक तो यह था कि परमज्ञानी भरत को यह विदित हो गया था कि पूर्वजन्म का मेरा हरिण-शिशु ही, मरने के समय मेरे रूप का ध्यान करने के कारण, राजा रहुगण हुआ है अतः आज मुझे इसका उद्धार करना है, इसके सांसारिक बन्धन को काटना है। जडभरत के मुस्कारने का यही रहस्य था और दूसरा कारण यह था कि यदि ज्ञानोपदेश से आज मैं रहुगण का उद्धार नहीं करूँगा तो सत्सङ्ग की महिमा ही संसार से समाप्त हो जायेगी। दुनियाँ यही कहेगी कि भगवद्भक्त जडभरत ने जिसे अपने कन्धे पर ढोया उसका भी उद्धार न हो सका। बस, इन्हीं दो कारणों से जडभरत ने कहना प्रारम्भ किया।

उन्होंने कहा—‘राजन, तुमने जो कुछ कहा वह ठीक ही है। उसमें कोई उलाहना नहीं है, आक्षेप नहीं है। यदि भार नाम की कोई वस्तु है तो वह ढोनेवाले शरीर के लिये है। इसी प्रकार यदि कोई गन्तव्य मार्ग है, तो वह चलनेवाले देह के लिये है, मेरे लिये (अर्थात् आत्मा के लिये) नहीं। मोटापन, दुबलापन भी शरीर में ही होता है, आत्मा में नहीं। ज्ञानीजन ऐसी बातें नहीं करते—

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः ।

गन्तुर्यदित्यादधिगम्यमध्वा पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥ ५/१०/९

स्थूलता, कृशता, आधि, व्याधि, भूख-प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक—ये सब धर्म देहाभिमान को लेकर उत्पन्न होनेवाले जीव में रहते हैं; मुझसे (अर्थात् आत्मा से) स्वल्प भी इनका सम्बन्ध नहीं है—



स्थौल्यं काश्यं व्याधय आधयश्च क्षुत्तुद् भयं कलिरिच्छा जरा च ।

निद्रा रतिर्मन्युरहं मदः शुचो देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥ ५/१०/१०

राजन्, तुमने जो जीने-मरने की बात कही-सो जितने भी विकृत होनेवाले पदार्थ हैं, वे नियमित रूप से जीने-मरनेवाले हैं। जीना मरना उन्हीं का धर्म है क्योंकि वे सभी आदि-अन्तवाले हैं। यशस्वी नरेश, तुमने जो स्वामी-सेवक की बात कही, वह भी वहीं लागू होती है, जहाँ आज्ञापालन आदि का नियम हो—

जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन् आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम् ।

स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः ॥ ५/१०/११

रही राजा और प्रजा की बात, तो यह केवल व्यवहारमात्र है। व्यवहार के अतिरिक्त इसमें कुछ भी तथ्य नहीं है। परमार्थ दृष्टि से विचार करने पर न कोई स्वामी है और न कोई सेवक, फिर भी यदि तुम्हें स्वामित्व का अभिमान है, तो तू मेरी चिकित्सा क्या करेगा ? और उस चिकित्सा का फल भी क्या होगा ? क्या तू आटे को पीस कर गेहूँ बना सकता है ? मूर्ख कहीं का, चला हैं ज्ञान सीखने !’ इस प्रकार कहकर जडभरत चुप हो गये।

शुकदेव महाराज कहते हैं—राजन्, फिर जडभरत पालकी ढोने में ही लग गये। इस पर राजा रहुगण ने विचार किया कि आखिर, यह पालकी ढोनेवाला व्यक्ति कहता क्या है ? वे उसके मुख से अनेक योगग्रन्थों के अभिप्राय से भरे हुए वचन सुनकर पालकी पर से कूद पड़े और ब्राह्मण के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया फिर राजा होने के अभिमान से रहित होकर विनयभरी वाणी में उन्होंने कहा—‘भगवन्, आप कौन हैं ? आपने द्विजों का चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रक्खा है, बतलाइये इस प्रकार छिपे रूप से विचरनेवाले आप कौन हैं ? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतों में से कोई हैं ? और यहाँ कैसे आपका पादार्पण हुआ है ? कहीं आप हमारे कल्याण के लिये साक्षात् कपिल जी ही तो नहीं यहाँ आ गये हैं ? ब्राह्मण देवता, मैं आप से सच कह रहा हूँ—‘मुझे इन्द्र के वज्र से, रुद्र के त्रिशूल से और यमराज के दण्ड से भी भय नहीं लगता। मुझे अग्नि, सूर्य, चन्द्र वायु और कुबेर के अस्त्र-शस्त्रों का भी डर नहीं है किन्तु मैं ब्राह्मण-कुल के अपमान से बहुत भयभीत होता हूँ’—

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रात्र त्र्यक्षशूलात्र यमस्य दण्डात् ।

नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्राच्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात् ॥ ५/१०/१७

आप मुझे क्षमा करें। आपको मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। साधो ! आपके वचनों का मनन करने पर भी मेरा सन्देह दूर नहीं हो रहा है। मैं आपके वचनों का मर्म समझ नहीं पा रहा हूँ। मेरे जैसे मन्दबुद्धिवाले गृहासक्त प्राणी आप जैसे योगेश्वरों की गति कैसे जान सकते हैं ?

जब मैं युद्ध करता हूँ तो मुझे थकान होती है, इसलिये मेरा अनुमान है कि बोझा ढोने और मार्ग में चलने से आपको भी अवश्य श्रम होता होगा। मुझे तो व्यवहार-मार्ग ही सत्य प्रतीत होता है; क्योंकि मिथ्या घड़े से जल लाना संभव नहीं होता। सत्य घट से ही जल लाया जा सकता है अतः व्यवहार सत्य है, मिथ्या नहीं। देह आदि के धर्मों का आत्मा पर कोई प्रभाव ही नहीं होता, ऐसी बात भी नहीं है। देखिये, चूल्हे पर चढ़ाई हुई बटलोई जब अग्नि से तपने लगती है, तब उसके सम्पर्क में आनेवाला जल खौलने लगता है। उस जल में डाले गये चावल का पहले बाहरी हिस्सा और फिर भीतरी हिस्सा पक जाता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध से जीव को भी श्रम होना अनिवार्य है फिर आपने शरीर के श्रमसे जीवात्मा के श्रम न होने की जो बात कही है, उसकी सङ्गति कैसे लग सकती है ? कृपया इसका रहस्य बतलायें—



स्थाल्यग्नितापात् पयसोऽभितापस्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः ।

देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात् तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात् ॥ ५/१०/२२

राजा प्रजा का रक्षक होता है। प्रजा की रक्षा के लिये दण्ड-प्रयोग राजा का धर्म है अतः उन्मत्त आदि को दण्ड देना पिसे हुए को पीसने के समान-पिष्ट-पेषण—नहीं कहा जा सकता। धर्म का आचरण करना भगवान् की सेवा ही है। उसे करनेवाला व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण पाप-राशि को समाप्त कर देता है। प्रभो, अभिमान के वशीभूत होकर मैंने आप जैसे परम साधु की अवज्ञा की है। आप मेरे ऊपर कृपादृष्टि फेर कर मेरे इस अपराध को क्षमा कर दें—

कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो यथा तरे सदवध्यानमंहः ॥ ५/१०/२४

आप भगवान् श्रीहरि के भक्त हैं। मानापमान से ऊपर उठ चुके हैं। अपमान से आप में कोई विकृति भी नहीं हो सकती है फिर भी मेरे जैसा पुरुष, महादेव जी के समान प्रभावशाली होने पर भी अपने अपराध के कारण अवश्य ही स्वल्प अवधि में ही नष्ट हो सकता है अतः मैं आपके चरणों पर बार-बार गिरता हूँ। आप मुझे क्षमा कर दें ॥१०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

## ग्यारहवाँ अध्याय

( राजा रहुगण को जडभरत जी का ज्ञानोपदेश )

जडभरत ने कहा—‘राजन्, हो तुम अज्ञानी। ज्ञान तो तुम्हें कुछ है नहीं किन्तु बात करते हो ज्ञानियों की तरह, पण्डितों की तरह। केवल ऊपर-ऊपर ही तर्क-वितर्क युक्त बात करते हो अतः श्रेष्ठ ज्ञानियों में तुम्हारी गणना नहीं हो सकती। तत्त्व का ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति तत्त्व के विचार की बेला में स्वामी-सेवक आदि व्यवहारों को सत्य रूप से स्वीकार नहीं करते हैं। उनका सिद्धान्त है—“ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या”—‘सत्य केवल ब्रह्म है और बाकी सब जगत् मिथ्या है’—

अकोविदः कोविदवादवादान् वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः ।

न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥ ५/११/१

लौकिक व्यवहार जैसे सत्य नहीं है, वैसे ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है। यज्ञों का फल स्वर्ग है किन्तु यह स्वर्ग भी परम सत्य, पूर्ण स्थायी नहीं है। लोक की तरह इस परलोक का भी विनाश होता है। वैदिक यज्ञ-यागादि से, राग-द्वेष आदि से शून्य, तत्त्वज्ञान की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। यज्ञ-यागादि के व्यामोह में पड़े हुए व्यक्ति को उपनिषद् भी ज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हैं। लोक की तरह इस परलोक का भी विनाश होता है। अनुमान के द्वारा यह तथ्य निर्णीत है कि स्वप्न में देखे गये दृश्य के समान यह दृश्य संसार भी मिथ्या है फिर भी प्राणी की उसमें स्वयं हेय बुद्धि नहीं होती—

स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥ ५/११/३



इसका प्रधान कारण है—मन । जब मनुष्य का मन सत्त्व, रज अथवा तमोगुण के वशीभूत रहता है तब वह ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से शुभ-अशुभ कर्म कराता रहता है । वासनामय, विषयासक्त और गुणों से प्रेरित यह मन ही जीव को ऊँची-नीची योनियों में भ्रमण कराता रहता है और सुख-दुःख भोगता रहता है । “मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः” इस वचन के अनुसार । मन का ही बन्धन होता है, मनका ही मोक्ष होता है, किन्तु मन है जीव की उपाधि अतः उसका फल जीव को भोगना पड़ता है । विषयों में आसक्त होना मन का बन्धन है, विषयों से अलग हो जाना ही उसका मोक्ष है । इसीलिये पण्डितजन मन को ही त्रिगुणमय अधम संसार का तथा त्रिगुणतीत मोक्ष का कारण बतलाते हैं । विषयासक्त मन जीव को संसार-सङ्कट में डाल देता है, विषयहीन होने पर वही उसे शान्तिमय मोक्षपद प्राप्त करा देता है जैसे जब तक दीपक में घी और बत्ती है, तब तक उसमें से धुआँ निकलता रहता है किन्तु जब घी-बत्ती कुछ नहीं रहती, तो अग्नि बुझकर अपने स्वरूप में, तेजोमय अग्नि में, मिल जाता है । इसी प्रकार विषय और कर्मों में आसक्त हुआ मन तरह-तरह की वृत्तियों का आश्रय लिये रहता है, उनमें फँसा रहता है और इनसे मुक्त होने पर वह अपने तत्त्व में, कारण में, लीन हो जाता है । वृत्तियों के निरोध होने पर ही उसे तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है—

यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन् शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ।

पदं तथा गुणकर्मनुबद्धं वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥ ५/११/८

शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, इन सबको मिलाकर ग्यारह वृत्तियाँ हैं । गन्ध आदि ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं; गति-सम्भोग आदि, कर्मेन्द्रियों के विषय हैं । शरीर को ‘यह मेरा है’ इस प्रकार स्वीकार करना अहङ्कार का विषय है । कुछ लोग अहङ्कार को मन की बारहवीं वृत्ति और उसके आश्रय शरीर को बारहवाँ विषय मानते हैं । ये मन की ग्यारह वृत्तियाँ ही द्रव्य, स्वभाव, आशय, कर्म और कालके द्वारा सैकड़ों, हजारों और करोड़ों भेदों में परिणत हो जाती हैं किन्तु भगवान् की सत्ता से ही इन वृत्तियों की सत्ता है; स्वतः या परस्पर मिलकर नहीं । मन की वृत्तियाँ मन के विकार हैं, माया से विरचित हैं—“एकादशामी मनसो विकाराः” ॥११॥ मन के ये विकार कभी अन्तर्हित होते हैं, कभी आविर्भूत होते हैं । विचारवान् पुरुष इन्हें माया का खेल ही समझते हैं ।

क्षेत्रज्ञ दो प्रकार का होता है—एक ‘त्वं’ पदार्थरूप जीव है और दूसरा तत्पदार्थरूप ‘ईश्वर’ है । ईश्वर स्वयं ज्योति है, सम्पूर्ण जीवों का नियन्ता है । वही साक्षात् नारायण वासुदेव है । यह सबके भीतर आत्मा के रूप में प्रविष्ट है । जब जीवरूप क्षेत्रज्ञ ईश्वर की माया में न फँसकर ईश्वर को जान लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है । उसका जन्म-मरण समाप्त हो जाता है । जब तक ईश्वर के स्वरूप को वह ठीक-ठीक नहीं समझ लेता, वह उपाधिभूत संसार में, माया के खेल में भटकता रहता है, तब तक उसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती ।

निष्कर्ष यह है कि यह मन ही तुम्हारा बड़ा बलवान् शत्रु है । तुम्हारे उपेक्षा करने से इसकी शक्ति और अधिक बढ़ जाती है । यह यद्यपि स्वयं तो सर्वथा मिथ्या है, तथापि इसने तुम्हारे आत्मस्वरूप को आच्छादित कर रक्खा है इसलिये तुम सावधान होकर श्रीगुरु और हरि के चरणों की उपासना के अस्त्र से इसे मार डालो तभी तुम्हें पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी ॥११॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥



## बारहवाँ अध्याय

### ( रहूगण का प्रश्न और भरत जी का समाधान )

राजा रहूगण ने कहा—‘मैं आपको बार-बार प्रणाम कर रहा हूँ। आप ने मुझे ज्ञान का उपदेश देने के लिये ही यह शरीर धारण किया है, ‘कारणविग्रहाय’। योगेश्वर, आप सर्वदा परमानन्द का अनुभव करते रहते हैं। परमानन्द ही आप का स्वरूप है इसीलिये आप अपने इस स्थूल शरीर से उदासीन हो गये हैं—‘स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय’। आप अपने नित्यज्ञानमय स्वरूप को जन साधारण की दृष्टि से ओझल किये हुए हैं—‘द्विजबन्धुलिङ्गनिगूढ-नित्यानुभवाय’। अतः फिर-फिर मैं आप को नमस्कार कर रहा हूँ।

ब्रह्मन्, जिस प्रकार ज्वर से आक्रान्त रोगी के लिये मीठी औषधि और धूप से संतप्त प्राणी के लिये शीतल जल अमृततुल्य होता है, उसी प्रकार देहाभिमानरूपी सर्प से डँसे हुए मुझ विवेकहीन के लिये आपके उपदेशवचन अमृतरूपी औषधि हैं—

ज्वरामयार्तस्य यथागदं सत् निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः ।

कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टेः ब्रह्मन् वचस्तेऽमृतमौषधं मे ॥ ५/१२/२

देव, मैं अपनी शङ्काओं को तो आपके समक्ष बाद में उपस्थित करूँगा। पहले तो इस समय आपने जो आध्यात्मिक उपदेश दिया है, उसी को अति सरल करके समझाइये। उसे समझने की मुझे बड़ी उत्कण्ठा है। आप का कथन है कि ‘भारवहन आदि क्रियाओं का फल (श्रम) सत्य नहीं है, यह कहने भरके लिये ही है केवल व्यवहारमात्र है।’ यह बात मेरी समझ में नहीं आई। आप इसकी व्याख्या अति सरलरिति से करें जिससे मैं समझ सकूँ। आपके वचनों को सुनकर मेरा मन भ्रम में पड़ गया है—

यदाह योगेश्वर दृश्यमानं क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम् ।

न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय भवानमुस्मिन् भ्रमते मनो मे ॥ ५/१२/४

रहूगण की बात जड़भरत ने सुनी। फिर कहना प्रारम्भ किया—पृथ्वीपते, यह देह पृथिवी का विकार है, मिट्टी का बना हुआ है। पाषाण आदि भी पृथिवी के विकार हैं। शरीर जब चलने लगता है तो ‘भारवाहक’ कहा जाता है फिर उनसे इस शरीर का क्या भेद है ? यतः पाषाण आदि नहीं चलते अतः जड़ हैं। उनको न भार उठाना पड़ता है और न श्रम ही है। बस, इतना ही तो दोनों में अन्तर है। दोनों ही पृथिवी के विकार। यह दोनों की समानता हुई। किन्तु हैं दोनों ही जड़। जड़ होने से शरीर को न भार है और न श्रम ही। पृथिवी के विकाररूप शरीर के दो चरण हैं; उनके ऊपर क्रमशः टखने, पिण्डली, घुटने, जाँघ, कटि, वक्षःस्थल, ग्रीवा और कन्धे आदि हैं। कन्धों के ऊपर लकड़ी की पालकी रखी हुई है। यह सब पृथिवी का विकार है। उसमें भी सौवीर नाम का एक राजा बैठा हुआ है। यह भी पृथिवी का विकार ही तो है। इस मिट्टी के शरीर में तुम आत्मा का अभिमान किये बैठे हो और इसी प्रबल मद से अन्धे हो रहे हो किन्तु इससे तुम्हारी कोई श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती। वास्तव में तुम बड़े क्रूर और धृष्ट ही हो। तुमने इन दीन-दुःखी, कहारों को बेकार में पकड़कर पालकी ढोने में लगा रक्खा है फिर भी निर्लज्ज के सामन कहते हो कि मैं लोगों की रक्षा करता हूँ। यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हम देखते हैं कि सारा संसार, संसार के सारे प्राणी पृथिवी से उत्पन्न होते हैं और पृथिवी में ही विलीन होकर समा जाते हैं। इस प्रकार यदि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा विकार हो तो तुम बतलाओ।

और देखो, यह पृथिवी भी सत्य नहीं है क्योंकि अन्त में यह अपने कारण रूप परमाणुओं में लीन हो जाती



है। कारणरूप परमाणु ही पृथिवीतन्मात्र कहलाते हैं। परमाणु ही मिलकर पृथिवी का रूप धारण करते हैं। परमाणुओं की समष्टि ही स्थूल पृथिवी है। ये परमाणु भी सत्य नहीं, कल्पित हैं। पृथ्वी रूप कार्य को देखकर इनकी कल्पना भर कर ली जाती है। इसी प्रकार और भी जो कुछ है, सब भगवान् की माया का कार्य है, माया का विलास है। बाहर-भीतर आदि भेदों से रहित परिपूर्ण ज्ञान ही एकमात्र सत्य वस्तु है। उसी का नाम 'भगवान्' है और उसी को पण्डित लोग 'वासुदेव' कहते हैं—'यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति' ॥११॥ ज्ञानरूप यह भगवान् सबके बाहर भीतर रहनेवाले और सर्वथा निर्विकार हैं। इन्हें ही ब्रह्म कहते हैं और यही परम सत्य हैं, अन्तिम सत्ता हैं।

आगे जडभरत ने कहा—रहूगण, इस परम ज्ञान की प्राप्ति तप, यज्ञ, अन्नदान, गृहस्थधर्म, वेदाभ्यास, जल, अग्नि और सूर्य आदि की उपासना से नहीं हो सकती। इसकी प्राप्ति के लिये तो महापुरुषों के चरणों की धूलि से अपने आप को नहलाना पड़ता है, महापुरुषों की चरण-धूलि में बारम्बार लोट-पोट करना पड़ता है—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।

नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम् ॥५॥१२॥१२

रहूगण ने पूछा—'भगवन्, महापुरुषों की पहचान क्या है?' जडभरत ने कहा—'महापुरुषों के समाज में नित्य निरन्तर उत्तमश्लोक भगवान् का गुणानुवाद चलता रहता है। भगवान् का गुणानुवाद सुनकर मानव मन सांसारिक विषयों से हटकर भगवान् की ओर आकृष्ट हो जाता है'।

अन्त में जडभरत से रहा नहीं गया। वे प्रकट हो गये। अपना परिचय उन्होंने दे ही दिया। कहा—देखो, रहूगण, मैं पहले भरत नाम का राजा था, सम्राट् था, जिसके नाम से यह देश भारतवर्ष है। मुझे किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं थी। मैं सर्वदा भगवान् की ही आराधना में लगा रहता था। आराधना करते-करते मेरी आसक्ति एक हरिण में हो गई। फलतः शरीर त्यागने के बाद मुझे हरिण बनना पड़ा। किन्तु यह भगवान् की ही कृपा है कि मृगयों की स्मृति मुझे आज तक बनी हुई है। अब मैं लोगों की संगति से डरता हूँ। अकेला ही विचरण करता हूँ और अपने यथार्थ स्वरूप को छिपाये रहता हूँ—

अहं पुरा भरतो नाम राजा विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।

आराधनं भगवत ईहमानो मृगोऽभवं मृगसङ्गान्धतार्थः ॥

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति ।

अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥

५/१२/१४-१५

सारांश यह है कि—विरक्त महापुरुषों के सत्सङ्ग से ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान तीखी तलवार के समान है। मानव को चाहिये कि वह इस ज्ञानरूपी तलवार को प्राप्त कर अपने मोह-ममतारूपी बन्धन को काट डाले और भगवान् की लीला-कथा का निरन्तर श्रवण करता रहे। इससे निश्चय ही वह भवाटवी को पार कर जायेगा।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## तेरहवाँ अध्याय

( भवाटवी का वर्णन और रहूगण के सन्देह की निवृत्ति )

ब्राह्मण जडभरत ने कहा—“राजन्, जैसे धन कमाने की लालसा से व्यापारियों का समूह देश—देशान्तर में,



जङ्गल और पहाड़ में, नदी और सागर में कष्टपूर्ण यात्रा करता रहता है, वैसे ही यह जीवात्मा भोगों की लालसा से मायाद्वारा इस भवाटवी में ढकेला गया है। वहाँ यह सुख की इच्छासे राजस्, तामस् और सात्त्विक कर्मों को करता है। ये कर्म ही बन्धन के कारण हैं। इन्हीं कर्मों को करते-करते जीव भटकता-भटकता संसाररूप घोर जङ्गल में पहुँच जाता है। वहाँ इसे स्वल्प भी शान्ति नहीं मिलती—

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो रजस्तमः सत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।

स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन् भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥ ५/१३/१

भव माने संसार। अटवी कहते हैं अतिघोर जंगल को। यह संसार घोर जङ्गल के समान है। व्यापारियों के समूह के समान यह जीव है। जंगल में भयङ्कर डाकू रहते हैं, जो व्यापारियों के समूह को लूट लिया करते हैं। इसी प्रकार विषय-सुखों की लालसा से भवाटवी में भटकते हुए जीव को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ममत्व आदि ये छः लुटेरे लूट लेते हैं। जीव की धर्मरूपी पूँजी को विषय-भोग में लगाकर नष्टकर देते हैं। भेड़िया जिस प्रकार भेड़ों के झुण्ड से एक भेड़ को बलात् पकड़ कर खींच लाता है, इसी प्रकार स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बरूप भेड़िये जीव के धन को नोच-नोचकर छीन लेते हैं—“यथोरणं वृकाः” ॥२॥ जैसे कृषक खेत को प्रतिवर्ष जोतता है, उसमें बीज बोता है, किन्तु फसल के साथ बहुत-से घास-फूस उग आते हैं। इनके कारण खेत दुर्गम हो जाता है। उसमें तमाम किस्म के मच्छर-मक्खी डेरा डाल देते हैं। इसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम भी एक प्रकार का खेत ही है। इसमें कर्मरूपी बीज डाला जाता है। कर्मों की वासनाएँ ही घास-फूस हैं। इनके कारण यह गृहस्थाश्रम अथवा संसार रूप खेत दुस्तर हो जाता है। खेत की मड़ाई, निराई करनेवाले व्यक्ति को जैसे दंश-मच्छर काट-काट कर कष्ट पहुँचाते हैं। ऐसे ही संसार की खेती करनेवाले जीव को दुर्जन जन निरन्तर कष्ट पहुँचाते रहते हैं, इसके धन को नोचते-खसोटते रहते हैं। गन्धर्व-नगर कहते हैं—आकाश में दिखलाई पड़कर ओझल हो जानेवाले नगर को। यह आकर्षक किन्तु क्षणिक होता है। जीव जब कभी-कभी गन्धर्वनगर के समान अपने परिवार को देखता है तब उसे सत्य और स्थायी समझकर उसमें आसक्त होकर सुधबुध खो बैठता है। वन में व्यापारियों का समूह, भोजन बनाने के लिये, अग्नि की तलाश करता है। दूर, बहुत दूर उसे आग दिखलाई पड़ती है। वह उसे लेना चाहता है। किन्तु वह उसके हाथ नहीं लगती, क्योंकि वह आग नहीं अगियाबेताल (पिशाच) के मुख से निकलनेवाली ज्वाला है। इसी प्रकार, रजोगुणी यह जीव जीवन में लालसा की भूख मिटाने के लिये सुवर्ण को चाहता है। किन्तु सुवर्ण अगियाबेताल की भाँति प्राण-घातक है। सुवर्ण कभी स्थायीरूप से किसी के साथ नहीं रहा और प्राणघातक भी है। इसी के कारण बड़े-बड़े युद्ध हुआ करते हैं।

यह वणिक्-समुदायरूपी जीव इस भवाटवी में निवास आदि के चक्कर में भटकता रहता है। कभी बवण्डर की धूल के द्वारा इसकी आँखें आच्छादित हो जाती हैं, जिससे कुछ सुझाई नहीं पड़ता। उस समय यह विवेकविहीन बन जाता है। रजोगुण ही बवण्डर की धूल है। कभी-कभी अपने से अधिक बलशाली लोग इसका धन हर लेते हैं, छीन लेते हैं, तो यह दुःखी होकर शोक और मोह से अचेत हो जाता है और कभी गन्धर्वनगर में पहुँच कर घड़ी भरके लिये सब दुःख भूल कर खुशी मनाने लगता है। कभी पर्वतों पर चढ़ना चाहता है तो काटों और कङ्कणों द्वारा पैर चलनी हो जाने से उदास हो जाता है। कुटुम्ब की अतिवृद्धि हो जाने पर अन्नाभाव के कारण जब भोजन की व्यवस्था नहीं बन पाती तो यह अपने ही भाई-बन्धुओं पर अप्रसन्न होने लगता है। कभी इसे विषधर डँस लेते हैं। उससे यह अन्धा होकर अँधेरे कुएँ में गिर पड़ता है और अचेतावस्था में ही पड़ा हुआ वहाँ कष्ट भोगता रहता है। कभी मधु के लिये यह मधुमक्खियों के छत्ते में हाथ डाल देता है। मधुमक्खियाँ इसे काट खाती हैं। यदि किसी-किसी प्रकार मधु मिल भी गया तो दूसरे लोग बलपूर्वक उसे छीन लेते हैं—



तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये ॥ ५/१३/१०

कभी शीत, घाम, आँधी और वर्षा से अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है। कभी आपस में थोड़ा-बहुत व्यापार करता है, तो धन के लोभ से दूसरों को धोखा देकर वैंर ठान लेता है। इस संसारवन में कभी-कभी इसका धन क्षीण को जाता है। इसके पास शय्या, सवारी, आसन और रहने के लिये मकान भी नहीं रहता है। यह दूसरों से याचना करता है। अभिलषित वस्तु न मिलने पर दुःखी होता है और पराई वस्तुओं पर अनुचित दृष्टि रखता है। इसका फल यह होता है कि इसे तिरस्कृत होना पड़ता है—

क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु तस्मिन् शय्यासनस्थानविहारहीनः ।

याचन् परादप्रतिलब्धकामः पारव्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥ ५/१३/१२

वणिक्-समूह में जो-जो साथी मरते जाते हैं, उन्हें जहाँ-का-तहाँ छोड़कर, नये आये हुएों को साथ लिये हुए, वह समूह आगे ही बढ़ता रहता है। वीरवर, उनमें से कोई भी प्राणी न तो आज तक वापस लौटा है और न किसी ने सङ्कटपूर्ण मार्ग को पार करके परमानन्द की अनुभूति ही की है। इस भवाटवी में भटकनेवाला वणिक्समूह कभी लता की डालियों का आश्रय लेता है और उन पर चकहनेवाले पक्षियों के मोह में फँस जाता है। वणिक्समूह की भाँति ही इस जीव की भी दशा है।

शत्रुदमन, जो मनुष्य माया की प्रेरणा से एकबार इस भवाटवी के मार्ग में पहुँच जाता है, उसे भटकते-भटकते अन्ततक अपने परम पुरुषार्थ का पता नहीं लगता। रहूगण, तुम भी इसी मार्ग में भटक रहे हो अतः अब प्रजा को दण्ड देने का कार्य छोड़कर सारे प्राणियों के सुहृद् बन जाओ और भगवत्सेवा से प्राप्त ज्ञानरूपी तीक्ष्ण तलवार लेकर इस दुर्गम मार्ग को पार कर लो—

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।

असज्जितात्मा हरिसेवया शितं ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥ ५/१३/२०

राजा रहूगण ने तन्मय होकर जडभरत के उपदेश को सुना। वे हाथ जोड़कर उनके पैरों पर गिर पड़े और कहा—‘अहो ! समस्त योनियों में यह मानव-जन्म ही श्रेष्ठ है। इससे बढ़ कर दूसरा जन्म नहीं है। इसका कारण यह है कि अन्य देवादि जन्मों में, भगवान् हृषीकेश के पवित्र यश से शुद्ध अन्तःकरणवाले आप जैसे महात्माओं का समागम होना कठिन है—

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुस्मिन् ।

न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥ ५/१३/२१

आपके चरणकमलों की सेवा से प्राणी के सारे पाप-ताप धुल जाते हैं। उसकी भगवान् में निर्मल भक्ति हो जाती है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आपके एक मुहूर्त के समागम से मेरा कुतर्कपूर्ण सारा अज्ञान नष्ट हो गया।

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभिर्हितांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला ।

मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥ ५/१३/२२

ब्रह्मज्ञानियों में जो वयोवृद्ध हैं, उन्हें नमस्कार है, जो शिशु हैं, जो युवा हैं और जो खेल में निरत रहनेवाले छोटे-छोटे बालक हैं उन सभी को मेरा प्रणाम है। अवधूत-वेश धारण कर जो ब्राह्मण भूतल पर विचरण करते रहते हैं उनसे हम जैसे राजाओं का कभी अमङ्गल न हो, सर्वथा कल्याण ही हो। मैं उनके भी चरणों में नतमस्तक हूँ—

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो नमो युवभ्यो नम आ वदुभ्यः ।

ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गाश्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ॥ ५/१३/२३



श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, उन ब्रह्मर्षिपुत्र ने अपना अपमान करनेवाले रहुगण को भी इस प्रकार आत्मतत्त्वका उपदेश दिया। राजा रहुगण ने भी दीन भाव से उनके चरणों की वन्दना की फिर वे राजा को आशीर्वाद देकर सागर के समान शान्त चित्त होकर पृथिवी पर विचरण करने के लिये चले गये। उनके सत्सङ्ग से ज्ञान का प्रकाश प्राप्तकर सौवीरपति रहुगण भी अविद्या के कारण देह में आत्मबुद्धि का परित्याग कर परम शान्ति को प्राप्त किये। अपना शेष जीवन उन्होंने जड़भरत के उपदेश के अनुसार व्यतीत किया और प्रारब्ध कर्म की परिसमाप्ति पर शरीर का परित्याग कर भगवान् के लोक को चले गये। राजन्, जो लोग भगवान् के अनन्य भक्तों की शरण ग्रहण करते हैं, उसका ऐसा ही परिणाम होता है।

अब राजा परीक्षित ने श्री शुकदेव जी से प्रार्थना की कि—‘भगवन्, आप ने जिस विषय को रूपक का आश्रय लेकर समझाया है, वह सरलता से सब की समझ में नहीं आ सकता अतः इसे स्पष्ट शब्दों में सरलरीति से समझाने की कृपा करें ॥१३॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥

## चौदहवाँ अध्याय

### ( भवाटवी का स्पष्टीकरण )

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन्, देहाभिमानी जीव भगवान् विष्णु की माया से मोहित होकर इस संसार-जङ्गल (भवाटवी) में फँस कर कभी शुभ कर्म करता है, कभी अशुभ कर्म करता है और कभी शुभ-अशुभ से मिश्रित कर्म करता है। इन कर्मों का फल यह होता है कि वह फिर भवाटवी के ही फलों को खाने में लगा रहता है, बार-बार जनमता और मरता रहता है। इस भवाटवी से निकलने का एकमात्र मार्ग है—भगवद्भक्ति। किन्तु जीव इसे नहीं ग्रहण कर पाता। उसकी स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसी उस धन-लोभी वणिक्-समूह की होती है, जो जङ्गल में भटक गया हो और जिसे कोई मार्गदर्शक गुरु न मिल रहा हो। यह भवाटवी श्मशान के समान अत्यन्त अशुभ है। मन के सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही इस संसारजङ्गल की दस्यु हैं, जो जीव के संयम-नियमरूपी धन को लूटते रहते हैं। सगे-सम्बन्धी शृगाल के समान हैं, जो कुटुम्बी के सर्वस्व का हरण कर लेते हैं।

संसार के लोग मक्खी-मच्छरों की तरह जीव को चूसते रहते हैं। वह कभी गन्धर्व-नगर के समान लुभावने परलोक की ओर जाता है, कभी खाने-पीने मौज-मस्ती में फँस जाता है और कभी सुवर्ण के आकर्षण को देखकर उसकी ओर भागता है। कभी स्त्री की गोद में अपना शिर रखकर विषयों में आकण्ठ डूब जाता है। उस समय उसे मर्यादा का भी ध्यान नहीं रहता और नहीं वह यही सोचता है कि देवता लोग मुझे देख रहे हैं।

यह संसार-वन नाना प्रकार के झंझटों से भरा पटा है। इसमें कभी-कभी कर्ण-कटु शब्द सुनने पड़ते हैं। कभी जीव पाखण्डियों के चक्कर में पड़कर अपना सत्य मार्ग छोड़ देता है। कभी घर का वातावरण दावानल के समान सन्तापक बन जाता है। कभी अनुचित कर्म करने पर यह जीव पकड़ कर राजा के सामने उपस्थित किया जाता है और दण्डित होता है। यह संसार वन ऐसा अद्भुत है कि इसमें जीव एक क्षण भी शान्ति के साथ नहीं बैठ सकता। कभी धन की छीना-झपटी तो कभी पद-प्रतिष्ठा के लिये मारामारी।

जिस प्रकार खेत के बीजों को यदि आग लगाकर जला न दिया गया हो तो प्रतिवर्ष खेती का समय आने पर, वे झाड़-झंखाड़ के रूप में पुनः निकल आते हैं। यह क्रम बराबर चलता रहता है। इसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम भी कर्म-भूमि है, इसमें भी कर्मों का सर्वथा उच्छेद कभी नहीं होता क्योंकि यह घर कामनाओं की पिटारी है।



यह जीव इस संसार में कभी सुखी नहीं रह सकता। यह कभी दावानल के समान झुलसा देनेवाले, प्रिय विषयों से शून्य एवं परिणाम में ताप-ही-ताप देनेवाले घर में पहुँचता है, तो वहाँ इष्टजनों के वियोग आदि से उसके शोक की आग भड़क उठती है। उससे सन्तप्त हो यह दुःख के सागर में गिर पड़ता है। गृहस्थाश्रम के कर्म भी पहाड़ जैसे दुरूह हैं। यह कभी पेट की असह्य ज्वाला से विह्वल हो कुटुम्बजनों से ही उलझ जाता है। कभी निद्रारूपी अजगर के चंगुल में फँस कर निर्जीव-सा हो जाता है, सुध-बुध खो बैठता है। कभी विषयसुखरूप मधुकणों को ढूँढते-ढूँढते जब यह पर-स्त्री पर, पर द्रव्य पर हाथ डालता है तो पकड़े जाने पर राजा या स्वामी के द्वारा मारा जाकर ऐसे नरक में जा गिरता है जिसका न आदि है और न अन्त ही—

“**कर्हि स्म चित्काममधुलवान् विचिन्वन् यदा परदारपरद्रव्याण्यवसन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे निरये**” ॥५/१४/२२

कराल कालचक्र साक्षात् भगवान् विष्णु का आयुध है। यह निरन्तर सावधान रहकर घूमता रहता है। क्षण, घटी, पल आदि इसके अवयव हैं। यह तृण से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सबका संहार करता रहता है। कोई भी इसके गति को रोक नहीं सकता। इसकी प्रबलता को देख जीव भी भगवान् की शरण में नहीं जाता—यह बड़ा दुर्भाग्य है। माया के प्रबल प्रभाव के कारण इसका स्वभाव वानरों के समान केवल कुटुम्बपोषण और स्त्री-सेवन करना ही है—“**यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा वानरजातेः**” ॥३०॥

राजन, राजर्षि भरत के विषय में पण्डितजनों का कहना है कि—“जैसे गरुड की बराबरी कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी प्रकार कोई भी राजा राजर्षि महात्मा भरत के मार्ग का मन से भी अनुसरण नहीं कर सकता।” उन्होंने अपनी भरी जवानी में दुस्त्यज स्त्री, पुत्र तथा अत्यन्त मनोरम राज्य सब कुछ विष्ठा के समान त्याग दिया था क्योंकि भगवान् में ही एकमात्र उनकी परम अनुरक्ति हो गई थी—

**आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः । नानुवर्त्तार्हिति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥**

**यो दुस्त्यजान् दारासुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः । जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥**

५/१४/४३

भरत महाराज भगवान् की सेवा-शुश्रूषा के सामने मोक्ष-पद को भी तुच्छ समझते थे। उन्होंने जिस समय मृग का शरीर छोड़ने की इच्छा की उस समय उच्च स्वर से कहा था—“धर्म की रक्षा करनेवाले, धर्मानुष्ठान में निपुण, योगगम्य, सांख्य के प्रतिपाद्य, प्रकृतिके अधीश्वर, यज्ञमूर्ति और सर्वान्तर्यामी श्रीहरि को प्रणाम है”—

**यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय योगाय सांख्यशिरसे प्राकृतीश्वराय ।**

**नारायणाय हरये नम इत्युदारं हास्यन् मृगतत्वमपि यः समुदाजहार ॥५/१४/४५**

राजन, हमने राजर्षि भरत का जो यह पावन चरित आपको सुनाया, वह आयु, धन और कीर्ति बढ़ानेवाला एवं मोक्ष प्रदाता है। जो व्यक्ति भक्ति और श्रद्धा के साथ इसको सुनता या सुनाता है, उसके सारे मनोरथ पूरे हो जाते हैं। उसे किसी से कुछ मांगने की आवश्यकता नहीं होती। अन्त में वह भगवान् की निश्चल निर्मल भक्ति प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है।

**॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥**



## पन्द्रहवाँ अध्याय

( भरतवंशीय राजाओं में महाराज गय का चरित्र )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, भरत के पुत्र का नाम 'सुमति' था। यह पहले सातवें अध्याय में कहा जा चुका है। उसने ऋषभ देव जी के मार्ग का अनुसरण किया था अतः कुछ पाखण्डी जन कलियुग में उसे बुद्ध का अवतार मानेंगे। देवता के रूप में उस की पूजा करेंगे। उसकी बहुत बड़ी वंश-परम्परा चली। आगे चल कर इसी वंश में रक्त के पुत्र महाराज 'गय' हुए। इनकी कीर्ति की पताका चतुर्दिक् फहरती थी। इनकी माता का नाम था—'द्रुति'। इनमें सत्त्वगुण की प्रबलता थी अतः लोगों के द्वारा इन्हें भगवान् विष्णु का अंश माना जाता था। यह पिता के समान प्रजा का पालन करते थे। इनकी घोषणा थी कि जिसे जो कुछ चाहिये वह मुझसे मांग कर ले जाय। अभिमान इन्हें छू तक न गया था। इन्होंने भगवदर्पण बुद्धि से बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान किया था। यह भगवान् यज्ञपुरुष के परमाराधक थे।

निरन्तर भगवान् का चिन्तन करने के कारण इनका अन्तःकरण ब्रह्मरूप बन गया था। प्राचीन विद्वानों ने गय के विषय में यह गाथा गाई है—“कोई भी व्यक्ति अपने कर्मों से महाराज गय की बराबरी नहीं कर सकता। वे साक्षात् भगवान् की कला ही थे। इनके अतिरिक्त इस प्रकार यज्ञों का विधिवत् अनुष्ठानकर्ता, मनस्वी, बहुज्ञ, धर्मका रक्षक, लक्ष्मी का प्रिय-पात्र, साधु-समाज का शिरोमणि और सत्पुरुषों का सच्चा सेवक और कौन राजा हो सकता है ?—

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभिर्यज्वाभिमानी बहुविद् धर्मगोप्ता।

समागतश्रीः सदसस्पतिः सतां सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते ॥ ५/१५/९

श्रद्धा, मैत्री, दया आदि दक्ष की कन्याओं ने, गङ्गा आदि पवित्र नदियों के साथ उनका अभिषेक किया था। उनके गुणों पर रीझकर पृथिवी, उनके शासन-काल में प्रजा के सकल मनोरथों को पूरा करती थी। राजाओं ने युद्ध में पराजित होकर उन्हें विविध प्रकार की वस्तुएँ भेंट में प्रदान की थी। ब्राह्मणों को गय ने प्रभूत दक्षिणा वितरित की थी। फलतः ब्राह्मणों ने भी परलोक में अपने पुण्य का छठा हिस्सा उन्हें दिया था। इनके यज्ञ में देवराज इन्द्र ने इतना सोमरस का पान किया था कि वे उन्मत्त हो गये थे और उनकी भक्ति से प्रभावित होकर भगवान् यज्ञपुरुष ने स्वयं प्रकट होकर उनके यज्ञ में अपना यज्ञ-भाग ग्रहण किया था। जिनके तृप्त होने से सकल ब्राह्मण्ड के प्राणी तृप्त हो जाते हैं, उन सर्वान्तर्यामी नृत्यतृप्त श्रीहरि ने “मैं पूर्ण तृप्त हो गया हूँ, यह कहकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की थी”—

यत्प्रीणनाद्बर्हिषि

देवतिर्यङ्मनुष्यवीरुत्तृणमाविरिञ्चात्।

प्रीयेत सद्यः सह विश्वजीवः प्रीतः स्वयं प्रीतिमगाद् गयस्य ॥ ५/१५/१३

महाराज गय की पत्नी का नाम था—“गयन्ती”। गयन्ती के तीन पुत्र थे—चित्ररथ, सुगति और अवरोधन। प्रियव्रत की वंश-परम्परा में अन्तिम राजा थे, विरज, “विरजश्चरमोद्भवः” ॥१६॥ विरज की कीर्ति से प्रियव्रत का वंश वैसे ही विभूषित हुआ, जैसे विष्णु की कीर्ति से देवों की शोभा होती है—

प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः। अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा ॥ ५/१५/१६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५॥



## सोलहवाँ अध्याय

( भुवनकोश का वर्णन, जम्बूद्वीप के खण्ड, सुमेरु पर्वत की स्थिति और परिमाण )

राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से पूछा—मुनिवर, आप ने बतलाया है कि—जहाँ तक सूर्य तपते हैं और जहाँ तक तारागणों के साथ चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं वहाँ तक भू-मण्डल का विस्तार है—

“उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते” ॥

५/१६/१

उसमें भी आप ने बतलाया कि महाराज प्रियव्रत के रथ के पहियों की सात लकीरों से सात सागर बन गये थे । इन्हीं के कारण इस भू-मण्डल में सात द्वीपों का विभाग हुआ अतः भगवान्, अब मैं इन सबका परिमाण और लक्षण के सहित पूरा विवरण जानना चाहता हूँ—“लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः” । किसी वस्तु की सिद्धि लक्षण और प्रमाण से ही हुआ करती है ।

भू-मण्डल के लक्षण और परिमाण आदि को जानने का कारण यह है कि भगवान् के दो रूप हैं—स्थूल और सूक्ष्म । सकल भू-मण्डल भगवान् का स्थूल रूप है । स्थूलरूप सगुण होता है और सूक्ष्मरूप निर्गुण । स्थूलरूप को भली-भाँति जान लेने पर सूक्ष्मरूप में मन को लगाना सरल होता है । भगवान् के स्वयंप्रकाश निर्गुण स्वरूप को ही ‘वासुदेव’ कहते हैं अतः गुरुदेव, आप इसका विस्तृत वर्णन करने की कृपा करें—

“भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतमे आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुं” ॥५/१६/३

श्री शुकदेव जी ने कहा—महाराज, भगवान् के मायागुण का अनन्त विस्तार है । मानव को यदि देव की आयु मिल जाय तो भी वह मन या वाणी से उसका अन्त नहीं पा सकता इसलिये हम संक्षेप में ही नाम, रूप, परिमाण और लक्षणों के द्वारा मुख्य-मुख्य बातों को लेकर ही इस भू-मण्डल की विशेषताओं का वर्णन करेंगे—

“न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः काष्ठां मनसा वचसा वाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात्प्राधान्येनैव भूगोलकविशेषं नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्यामः” ॥५/१६/४

सम्पूर्ण भू-मण्डल कमल-पत्र के समान गोलाकार है । सातों द्वीप भू-मण्डल के उसी प्रकार भीतरी भाग हैं, जैसे कमल के भीतर कोश रहता है । हम जिस द्वीप में रहते हैं उसका नाम जम्बूद्वीप है । जम्बूद्वीप भू-मण्डलरूप कमलकोश का सबसे भीतरी भाग है अर्थात् जम्बू द्वीप भू-मण्डल के मध्य का सबसे भीतरी भाग है । इसमें नौ खण्ड हैं । प्रत्येक खण्ड नौ-नौ हजार योजन विस्तृत हैं । ये खण्ड आठ मर्यादा-पर्वतों से विभक्त हैं । मर्यादा कहते हैं—सीमा को । मर्यादा-पर्वत प्रत्येक खण्ड की सीमा सूचित करते हैं । इन खण्डों के बीच में, मध्य में, इलावृत नामका एक दसवाँ वर्ष है । इलावृत वर्ष के मध्य में कुलपर्वतों का राजा मेरु पर्वत है । यह मानो भू-मण्डलरूप कमल की कर्णिका ही है । समग्र मेरु पर्वत सुवर्णमय है । इसकी ऊँचाई एक लाख योजन है । चार कोश = छः किलोमीटर का एक योजन होता है । इस पर्वत का चौरासी हजार योजन भाग पृथिवी के ऊपर और सोलह हजार योजन पृथिवी के भीतर घुसा हुआ है अर्थात् भूमिके बाहर उसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है । यह अपने मूल भाग में सोलह हजार और उर्ध्व भाग में बत्तीस हजार योजन चौड़ा है—

“एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायाम-समुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य मूर्धनि द्वात्रिंशत् सहस्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः” ॥५/१६/७



इलावृत खण्ड के उत्तर भाग में नील, श्वेत और शृङ्गवान्—ये तीन पर्वत हैं। ये पर्वत क्रमशः रम्यक्, हिरण्मय और कुरु खण्डों की सीमा निर्धारित करते हैं। ये पूर्वसागर से पश्चिम सागर तक फैले हुए हैं। इनकी चौड़ाई दो-दो हजार योजन है। इलावृत के दक्षिण हिस्से में निषध, हेमकूट और हिमालय—ये तीन पर्वत हरिवर्ष, किम्बुरुष और भारत की सीमा निश्चित करते हैं। ये भी पूर्वसागर से पश्चिम सागर तक फैले हुए हैं। ये पर्वत दश सहस्र योजन ऊँचे हैं। इलावृत के पूर्वभाग और पश्चिम भाग में माल्यवान् और गन्धमादन पर्वत हैं। ये केतुमाल और भद्राश्व नामक दो वर्षों की सीमा निश्चित करते हैं।

इनके अतिरिक्त मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व और कुमुद ये चार पर्वत मेरु पर्वत के चारों ओर शूनियों (स्तम्भों) के समान खड़े हैं। ये दश-दश हजार योजन ऊँचे और उतने ही चौड़े हैं। इन चारों पर्वतों पर इनकी ध्वजाओं के समान क्रमशः आम, जामुन, कदम्ब और बड़ के चार पेड़ हैं। इनमें प्रत्येक वृक्ष ग्यारह सौ योजन ऊँचा है और इतना ही इनकी शाखाओं का विस्तार है। इनकी मोटाई सौ-सौ योजन है। इन पर्वतों के ऊपर चार सरोवर भी हैं—जो क्रमशः दुग्ध, मधु, इक्षुरस और मधुरजल से भरे हुए हैं। इनका सेवन करनेवाले यक्ष-किन्नर आदि उपदेवों को अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त होती हैं। इन पर क्रमशः नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र नाम के चार दिव्य उपवन भी हैं। इन उपवनों में अप्सराओं के साथ देवगण विहार किया करते हैं। ग्यारह सौ योजन ऊँचे मन्दर पर्वत पर जो आग्रवृक्ष है उसके अमृतमय बड़े-बड़े फल नीचे गिरने पर फट जाते हैं। उनके सुमधुर सुगन्धित लाल-लाल रस से भरी हुई अरुणोदा नामक नदी बहती है। यह इलावृत वर्ष के पूर्व भाग को सींचती हुई बहती है—

“अरुणोदा नाम नदी मन्दरगरिशिखरान्निपतन्ती पूर्वोपेलावृतमुपप्लावयति” ॥५/१६/१७

श्री पार्वती जी की अनुचरी यक्षपत्नियाँ इस नदी के जल का सेवन करती हैं। इससे उनके अङ्गों से ऐसी सुगन्ध निकलती है कि उन्हें स्पर्श करके बहनेवाली वायु उनके चारों ओर दश-दश योजन तक सारे देश को सुगन्ध से भर देती है। इसी प्रकार मेरुमन्दर पर स्थित जम्बूवृक्ष से हाथी के समान बड़े-बड़े प्रायः बिना गुठली के फल गिरते हैं। बहुत ऊँचे से गिरने के कारण वे फट जाते हैं। उनके रस से जम्बू नाम की नदी प्रकट होती है। यह नदी इलावृत वर्ष के दक्षिणी भू-भाग को सींचती है।

सुपार्श्व पर्वत पर स्थित कदम्ब वृक्ष से मधु की पाँच धाराएँ बहती हैं। ये इलावृत वर्ष के पश्चिमी भाग को अपनी सुगन्ध से सुवासित करती हैं। कुमुद पर्वत पर जो वटवृक्ष है, उसका नाम है—शतवल्श। उसकी जटाओं से दुग्ध, दधि, घृत, मधु आदि के नद निकल कर इलावृत के उत्तर भाग को, सींचते हुए प्रवाहित होते हैं। इनके सेवन से शारीरिक विकृति तथा दुःख की अनुभूति कभी नहीं होती। जैसे कमल की कर्णिका के चारों ओर केसर होता है, वैसे ही मेरु के मूल देश में उसके चारों ओर बीस पर्वत और चारों दिशाओं में विशाल आठ पहाड़ हैं। इन आठ पहाड़ों से चारों ओर घिरा हुआ सुवर्णगिरि मेरु अग्नि के समान जगमगाता रहता है—

“अष्टभिरेतैः परितस्तुतोऽग्निरिव परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिः” ॥ ५/१६/२७

कहते हैं, मेरु के शिखर पर बीचोबीच भगवान् ब्रह्मा की सुवर्णमयी पुरी है। इसके चारों कोने सम हैं। यह एक करोड़ योजन विस्तारवाली है। इसका नाम मनोवती है। उसके नीचे पूरब आदि आठ दिशा और उपदिशाओं में उनके अधिपति इन्द्र आदि आठ लोकपालों की आठ पुरियाँ हैं। इन पुरियों में प्रत्येक का परिमाण ढाई हजार योजन है ॥१६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥



## सत्रहवाँ अध्याय

### ( गङ्गा का भूतल पर अवतरण और शिव द्वारा सङ्कर्षण का स्तवन )

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं—“राजन्, बलि ने यज्ञमूर्ति वामन भगवान् को तीन पग पृथिवी दान कर दी । दान करते ही वामन विशाल बन गये । उन्होंने एक पग से पृथिवी को नापकर बायाँ पैर ऊपर के लोकों को नापने के लिये उठाया । उस समय उनके अङ्गुठे के नख के आघात से ब्रह्माण्ड का ऊपरी भाग फट गया, जिससे ब्रह्माण्ड के बाहर की जल-धारा ने भीतर आकर उनके चरण-कमल को धोया । इसीसे उसका नाम ‘भगवत्पदी’ पड़ गया । इसे ही ‘विष्णुपदी’ भी कहते हैं । विष्णुपदी की निर्मल धारा का स्पर्श होते ही संसार के सारे पाप विनष्ट हो जाते हैं फिर भी यह सर्वथा निर्मल ही बनी रहती है । हजारों वर्ष के बाद वह धारा स्वर्ग के शिरोभाग में स्थित ध्रुव-लोक में उतरी । ‘यह हमारे कुल-देवता का चरणोदक है’—ऐसा सोचकर ध्रुव ने बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ उसे प्रणाम किया, आचमन किया, शिर पर छिड़का और रोमाञ्चित हो गद्गद कण्ठ से चिरकाल तक उसकी स्तुति की । स्तुति की बेला में उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी ।

इसके पश्चात् सप्तर्षियों ने उसे अपने जटामण्डल में धारण किया । वे उसे अपनी तपस्या का अखण्ड फल समझते थे । उनका कहना था—‘यही तपस्या की आत्यन्तिक सिद्धि है ।’ वही निर्मल जल-धारा सप्तर्षि-लोक से उतरकर चन्द्रमण्डल को आप्लावित की । पुनः वह वहाँ से उतर कर सुमेरु के ऊपर ब्रह्मलोक में आ गिरी । वहाँ वह सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा नाम से चार धाराओं में विभक्त हो जाती है तथा अलग-अलग चारों दिशाओं में बहती हुई अन्त में सागर में मिल जाती है । इसी प्रकार चक्षु माल्यवान् के शिखर पर पहुँच कर वहाँ से केतुमाल वर्ष में बहती हुई पश्चिम की ओर क्षार सागर में जा मिलती है । भद्रा मेरु पर्वत के शिखर से उत्तर की ओर गिरती है । वहाँ वह शृंगवान् पर्वत से होकर उत्तर कुरुखण्ड से होती हुई उत्तर दिशा के समुद्र में जा मिलती है । इसी प्रकार अलकनन्दा नाम की चौथी धारा ब्रह्मपुरी से दक्षिण की ओर गिर कर अनेकों गिरि-शिखरों को लाँघती हेमकूट पर्वत पर पहुँचती है । वहाँ से वह भारतवर्ष के भीतर से बहती हुई दक्षिण दिशा के समुद्र में जा मिलती है । विष्णुपदी की सभी धाराओं में यह सर्वाधिक महिमा-मण्डित है । इसमें स्नान करने के लिये आनेवाले पुरुषों को पद-पद पर अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञों का फल मिलता है । इसी प्रकार विभिन्न खण्डों में मेरु पर्वत से निकली हुई बहुत-सी नद-नदियाँ प्रवाहित होती हैं—

“यस्यां स्नानार्थं चागच्छतः पुंसः पदे पदेऽश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति । अन्ये च नदा नद्यश्च वर्षे वर्षे बहुशो मेवादिगिरिदुहितरः शतशः” ॥५/१७/९-१०॥

इन सब वर्षों में भारतवर्ष ही कर्म-भूमि है, शेष आठ वर्ष भोग-भूमि हैं । इन में प्राणी स्वर्ग-भोग से बचे हुए पुण्यों को भोगने के लिये आते हैं इसीलिये उन्हें भू-लोक का स्वर्ग (भौम स्वर्ग) भी कहते हैं । वहाँ के मनुष्यों की आयु दश सहस्र वर्ष की होती है । उनमें दश सहस्र हाथियों का बल होता है तथा उनके वस्त्र-सदृश सुदृढ शरीर में शक्ति, यौवन और उल्लास होते हैं । इनके कारण वे दीर्घकाल तक मैथुन आदि का सुख भोगते रहते हैं । अन्त में जब भोग समाप्त होने पर उनकी आयु का केवल एक वर्ष शेष रह जाता है, तब उनकी स्त्रियाँ गर्भ धारण करती हैं । इस प्रकार वहाँ सर्वदा त्रेतायुग के समान समय बना रहता है । वहाँ के निवासी परम सुन्दरी देवाङ्गनाओं के हाव-भाव, कटाक्ष-पात आदि से आकृष्ट होकर विविध प्रकार की क्रीडाओं में निमग्न रहा करते हैं—

“जलक्रीडादिभिर्विचित्रविनोदैः सुललितसुरसुन्दरीणां कामकलिलविलासहासलीलावल्लोकाकृष्टमनोदृष्टयः स्वैरं विहरन्ति” ॥५/१७/१३॥



इन नवों वर्षों में परमपुरुष भगवान् नारायण, वहाँ के पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिये, इस समय भी अपनी विभिन्न मूर्तियों से विराजमान रहते हैं। इलावृत वर्ष में एक मात्र भगवान् शङ्कर ही पुरुष हैं। श्री पार्वती जी के शाप को जाननेवाला कोई दूसरा पुरुष वहाँ प्रवेश नहीं करता; क्योंकि वहाँ जो जाता है, वह स्त्रीरूप हो जाता है। इस प्रसङ्ग का वर्णन आगे (नवम स्कन्ध) में किया जायेगा। वहाँ भगवान् शङ्कर अपने इष्टदेव श्री सङ्कर्षण (बलराम) के मन्त्र का जप करते हुए उनकी इस प्रकार स्तुति करते हैं—“ॐ जिनसे सभी गुणों की अभिव्यक्ति होती है, उन अनन्त और अव्यक्त मूर्ति ओङ्कारस्वरूप परम पुरुष श्री भगवान् को नमस्कार है—“ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुणसङ्ख्यानानान्तायाव्यक्ताय नम इति” ॥१७॥

हम सम्पूर्ण ऐश्वर्य के आश्रय भगवान् की आराधना करते हैं। वही संसार-सागर से मुक्त करनेवाले हैं। उनकी दृष्टि माया में कभी भी आसक्त नहीं होती। भला कौन ऐसा पुरुष है, जो उनका भजन न करे ? जो असददर्शी हैं, उन्हें ही सङ्कर्षण प्रभु उन्मत्त-से दिखलाई पड़ते हैं। नाग-पत्नियाँ उनका भजन करती हैं। उनमें कर्तृत्व का नाम भी नहीं है। यह पृथिवी-मण्डल उनके शिर पर सरसों के दाने के बराबर है। वे विज्ञान-मूर्ति हैं। हम सब उनके अधीन हैं और उनके अनुग्रह से ही सारी सृष्टि करते हैं।”

आगे भगवान् शङ्कर कहते हैं—सत्त्वादि गुणों की सृष्टि से मोहित हुआ यह जीव आप की ही रची हुई तथा कर्म-बन्धन में बाँधनेवाली माया को तो कदाचित् जान भी लेता है, किन्तु उससे मुक्त होने का उपाय उसे सुगमता से नहीं मालूम होता। इस जगत् की उत्पत्ति और प्रलय भी आपके ही रूप हैं। ऐसे आप को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ—

यन्निर्मितां कर्हपि कर्मपर्वणीं मायां जनोऽयं गुणसर्गमोहितः ।

न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा तस्मै नमस्ते विलयोदयात्मने ॥ ५/१७/२४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

### गङ्गा की महिमा

१. जो व्यक्ति सैकड़ों योजन की दूरी से भी गङ्गा-गङ्गा कहता है, वह सारे पापों से मुक्त होकर विष्णु-लोक में जाता है—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि । मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

२. बात अति प्राचीन है। हरिद्वार से कुछ दूरी पर एक परम धार्मिक वैश्य रहते थे। उनकी पत्नी भी महान् आस्तिक थी। किन्तु दैव-दुर्योग से उनका एकमात्र पुत्र नास्तिक और दुराचारी था। सत्पुरुषों की निन्दा करना, मैले-कुचैले वस्त्र धारण करना, नीचों की सङ्गति करना तथा बात-बात में क्रोध करना उसका स्वभाव था। वह तरुण हो गया था। परन्तु उसकी दुराचारिता दूर न हुई। इससे सेठ जी खिन्न रहते थे। एक बार परिवार और पुरोहित के साथ हरिद्वार हरकी पैड़ी में गङ्गा-स्नान का कार्यक्रम उन्होंने बनाया। तैयारी की और घर से निकल पड़े। गङ्गा अभी कुछ दूर थी। सूर्यास्त हो गया। वैश्य ने वहीं डेरा डाल दिया। पुरोहित जी ने सबका भोजन तैयार किया। फिर शौच के लिये बाहर गये। उन्होंने देखा कि एक स्थान पर विवाह की तैयारी में उत्सव मनाया जा रहा है। पुरोहित जी वहाँ गये और पूछा—आप लोग कौन हैं और किस बात का उत्सव मनाया जा रहा है ? उत्तर मिला—हम प्रेत हैं। कल हमारी बेटी का विवाह है अतः उत्सव मनाया जा रहा है। आपके साथ जो सेठ का लड़का है, उसी के साथ मेरी लड़की का विवाह होगा वह महान् पापी है। मरेगा तो प्रेत होगा। कल उसकी मृत्यु सुनिश्चित है।



ब्राह्मण देवता लौट आये। किसी से बिना कुछ कहे खा-पीकर सो गये। प्रातःकाल हुआ। सब गंगा जी की ओर बढ़े। अभी गङ्गा जी आधा मील दूर थीं कि उधर से एक भयङ्कर साँड़ दौड़ता हुआ आया। उसने गङ्गा जी के तट को अपनी सींगों से कुरेंदा था अतः वहाँ की मिट्टी उसकी सींगों में लगी थी। उसने आकर क्रोध के मारे, सेठ के लड़के के पेट में अपनी सींगों को घुसेड़ दिया फलतः वह तुरन्त गिर कर मर गया। नहाने की बात तो दूर रही। अब उसका अग्नि-संस्कार कर वे सब रोते-कलपते घर के लिये लौट पड़े और रात्रि में वहीं विश्राम किया जहाँ पीछे की रात्रि में सोये थे। वहाँ पुरोहित जी ने उसी स्थान पर भूतों-प्रेतों को रोते देखा। पुरोहित जी ने पूछा—प्रेतों, क्यों रो रहे हो उत्तर मिला—‘महाराज, सेठ का पापी बच्चा मरने पर प्रेत होने वाला था। तभी मेरी बेटी की उससे शादी होती किन्तु क्या कहें, मरने की बेला में उसके पेट में गङ्गा जी की मिट्टी चली गई। इससे वह कर्म-बन्धन से मुक्त होकर सीधे वैकुण्ठ चला गया। यह सुनकर पुरोहित जी को महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपना शेष जीवन गङ्गा के तट पर निवास कर व्यतीत करने का सङ्कल्प मन-ही-मन ले लिया। यह है गङ्गा की महिमा।

३. नाम लिये कितने तरि जात, प्रणाम किये सुरलोक सिधारे।

तीर गये तो तरे तो कहीं, कितने तरिजात तरङ्ग निहारे ॥

तरङ्गिनि तेरो सुभाव यहै, कवि केशव तो उर में पन धारे।

भागीरथी हम दोष भरे, पर भरोस यही कि परोस तिहारे ॥ केशव ॥

वस्तुतः गङ्गा की महिमा अनन्त है।

## अठारहवाँ अध्याय

( भद्राश्व आदि छः खण्डों के उपास्य एवं उपासकों का वर्णन )

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन्, भद्राश्व वर्ष में धर्मपुत्र भद्रश्रवा और उनके मुख्य-मुख्य सेवक भगवान् की जो हयग्रीव मूर्ति है, उसकी उपासना करते हैं। हयग्रीव भगवान् चतुष्पाद हैं। उनका मुखारविन्द घोड़े के मुख जैसा है। उनकी हिनहिनाहट से भगवान् वेद प्रकट होते हैं। प्रलय की बेला में जब असुर वेद को चुरा ले जाता है, तब भगवान् हयग्रीव प्रकट होकर उसकी रक्षा करते हैं।

अपने सेवकों के साथ भद्रश्रवा हयग्रीव भगवान् का पूजन, उनके मन्त्र का जप और उनका भजन करते हैं। वे कहते हैं—‘अहो ! कितनी विचित्र है भगवान् की यह लीला कि लोग मरते जा रहे हैं, एक दूसरे की मृत्यु का कारण बनते जा रहे हैं, यहाँ तक कि अपने बाप को श्मशान तक पहुँचा आते हैं, अपने तरुण बेटे को भी श्मशान पहुँचा आते हैं। उनकी अन्त्येष्टि क्रिया भी कर देते हैं किन्तु स्वयं जीवित रहना चाहते हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता कि इन मरनेवालों की तरह एक दिन हम भी मर जायेंगे, दुनियाँ से बिदा हो जायेंगे। वे सर्वदा अशुभ कर्म करते हैं और अशुभ चिन्तन में लगे रहते हैं—

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं घनतं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति।

ध्यायन्नसद्गार्हि विकर्म सेवितुं निर्हत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति ॥ ५/१८/३

प्रभो, बड़े-बड़े विद्वान् जगत् को नश्वर बतलाते हैं। अध्यात्मवेत्ता योगी-जन विश्व की क्षणभङ्गुरता को अपनी खुली आँखों से देखते भी हैं किन्तु फिर भी वे माया के चक्कर में पड़ जाते हैं। अजन्मा स्वामिन, आप अनादि हैं, आप की लीला विस्मयकारिणी है। मैं आप को प्रणाम करता हूँ—



वदन्ति विश्वं कवय स्म नश्वरं पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः ।

तथापि मुहान्ति तवज्ज मायया सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम् ॥ ५/१८/४

हरिवर्ष में भगवान् नृसिंहरूप से निवास करते हैं । कितनी विचित्र बात है कि उनका शिर सिंह का और धड़ मनुष्य का है । पवित्र भावनावाले भक्त शिरोमणि प्रह्लाद जी अपने अनुयायियों के साथ उनकी उपासना करके स्तुति करते हैं— “नाथ; विश्व का कल्याण हो, दुष्टों की बुद्धि शुद्ध हो, सब प्राणियों में परस्पर सद्भावना हो, सभी एक दूसरे का हित-चिन्तन करें, हमारा मन शुभ मार्ग में प्रवृत्त हो और हम सब की बुद्धि बिना किसी कामना के भगवान् श्रीहरि में लग जाये”—

स्वस्थस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।

मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥ ५/१८/९

संसार को एक शाश्वत सन्देश देते हुए प्रह्लाद भगवान् की भक्ति की महत्ता प्रकट करते हुए कह रहे हैं—“जिस व्यक्ति की भगवान् में निष्काम भक्ति है, उसमें सारे गुणों के साथ देवता निवास करते हैं । किन्तु जो भगवान् का भक्त नहीं हैं, उसमें महापुरुषों के गुण कहाँ से आ ही सकते हैं ? वह तो नाना प्रकार की इच्छाओं के साथ नश्वर तुच्छ विषयों के ही पीछे दौड़ता रहता है”—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥ ५/१८/१२

अतः असुरगण, तुम लोग तृष्णा, राग, विषाद, क्रोध, अभिमान, इच्छा, भय, दीनता और मानसिक सन्ताप के मूल तथा जन्म-मरण के कारण गृह आदि को छोड़कर भगवान् नृसिंह के निर्भय चरण कमलों का आश्रय लो ।”

केतुमाल वर्ष में कामदेव के रूप से भगवान् लक्ष्मी के साथ विहार-विलास करते हैं । लक्ष्मी जी अपनी सेविकाओं के साथ उनकी उपासना करती हैं, उनके मन्त्र का जप करती हैं और करती रहती हैं उनकी स्तुति भी ।

रम्यकवर्ष में भगवान् मत्स्य रूप से निवास करते हैं । सत्यव्रत मनु अपने सेवकों के साथ उनकी आराधना करते हैं, उनके मन्त्र का जप करते हैं ।

हिरण्यमय वर्ष में भगवान् कच्छप के रूप में निवास करते हैं । पितरों के अधिपति अर्यमा, अपने सेवकों के साथ उनकी अर्चना, वन्दना आदि करते हैं ।

तस्माद्भजोरागविषादमन्युमानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।

हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं नृसिंहपादं भजताकुतोभयमिति ॥ ५/१८/१४

उत्तर कुरुवर्ष में भगवान् वराहरूप से निवास करते हैं । पृथिवी देवी वहाँ के निवासियों के साथ दृढभक्ति से उनका पूजन कर परमोत्कृष्ट मन्त्र का जप करती हुई स्तुति करती हैं ।

राजन्, इस प्रकार मैंने छः वर्षों (खण्डों) के उपास्य भगवान् और उनके उपासकों का वर्णन कर दिया ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥

## उन्नीसवाँ अध्याय

( किम्पुरुषवर्ष और भारतवर्ष के उपास्य और उपासकों का वर्णन और भारत की महत्ता )

श्री शुकदेव जी कहते हैं कि—“राजन्, किम्पुरुषवर्ष में लक्ष्मणाग्रज, सीताहृदयाभिराम श्रीराम निवास करते हैं । वहाँ भक्तशिरोमणि हनुमान् जी किन्नरों के साथ उनकी नित्य आराधना करते हैं । वे आर्ष्टिषेण के साथ गन्धर्वों द्वारा गाई हुई अपने स्वामी की परमकल्याणमयी कथा सुनते और गाते रहते हैं—



“आर्द्धिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां समुपशृणोति स्वयं चेदं गायति”

॥५/१९/३॥

श्री हनुमान् जी भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं—प्रभो, आप के चरित का वर्णन बड़े-बड़े ऋषि-मुनि करते हैं। आप उत्तम शील और स्वभाव की कसौटी हैं। आप ब्राह्मणों के भक्त हैं। प्रभो, मानव के रूप में आप का अवतार केवल राक्षसों के वध के लिये ही नहीं है, इसका प्रधान उद्देश्य तो मनुष्यों को शिक्षा देना है अन्यथा अपने ही रूप में रमण करनेवाले आप को सीता के वियोग में इतना दुःख कैसे हो सकता था ?—

मर्त्यावितारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।

कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीध्वरस्य ॥ ५/१९/५

भगवान् श्रीराम की ऐसी महिमा है कि—वे उत्तम कुल, सौभाग्य, सम्पत्ति, काव्यमय वाणी, बुद्धि और सुन्दर आकृति मात्र से प्रसन्न होनेवाले नहीं हैं। जिनके पास न तो उत्तम कुल है, न सौभाग्य है, न काव्यमयी वाणी है, न बुद्धि है और न आकृति है—ऐसे बन्दरों पर भी वे रीझ जाते हैं, प्रसन्न हो उठते हैं। उन्होंने उन वन-वासियों को अपना सखा बनाया जो दीन हैं, हीन हैं और हैं पतित भी। ऐसे लोगों के प्रति भगवान् श्रीराम का सहज स्नेह है, स्वाभाविक आकर्षण है। एक बार एक संन्यासी ने एक कुत्ते को पत्थर से मार दिया। कुत्ता रोने-चिल्लाने लगा। पता लगने पर भगवान् राम ने उस संन्यासी को हाथी पर बैठाकर नगर से बाहर कर दिया। इसी प्रकार एक धोबी ने सीता जी की निन्दा की तो उन्होंने उसे नगर से निकाला नहीं, अपि तु बसाये ही रह गये—

श्वान कहे ते कियो पुर बाहर जती गयन्द चढ़ाई ।

तियनिन्दक मतिमन्द प्रजारज निजनय नगर बसाई ॥ तुलसीदास ॥

हनुमान् जी कहते हैं—ऐसे करुणा के सागर भक्तवत्सल भगवान् को हम प्रणाम करते हैं ।

भारतवर्ष में ही गन्धमादन पर्वत पर भगवान् नर-नारायण लोक की कल्याण-कामना से तप करते हैं। बदरीनाथ में हिमालय पर्वत के दो शिखरों को नर-नारायण माना जाता है—उनमें एक नर है दूसरा नारायण है, एक जीव है, दूसरा ईश्वर है, एक अर्जुन है, दूसरा कृष्ण है। नर-नारायण के तप का दो प्रयोजन है—पहला लोक-कल्याण और दूसरा-लोक-शिक्षण। वे स्वयं परिपूर्ण भगवान् हैं अतः उन्हें तप की कोई आवश्यकता नहीं किन्तु वे लोक के सामने यह उदाहरण रखना चाहते हैं कि कल्याण का एकमात्र साधन है—तप। देवर्षि नारद भारतवासी लोगों के साथ उनका पूजन उनके मन्त्र का जप और स्तवन करते हैं। वे स्तुति करते हुए कहते हैं—“आप संसार की रचना करके भी उसमें बद्ध नहीं होते। देह धारण कर भी देह के विकारों से आप का कोई सम्बन्ध नहीं है। आप सब को देखते हैं, फिर भी आप की दृष्टि में देह-दोष नहीं आता। ऐसे असक्त विविक्त नारायण को हमारा प्रणाम है—

कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः ।

द्रष्टुर्न दृश्यस्य गुणैर्विदूष्यते तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे ॥ ५/१९/१२

योगेश्वर । हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्माजी ने योगसाधन की सबसे बड़ी कुशलता यही बतलाई है कि मनुष्य मृत्यु की बेला में देहाभिमान को छोड़कर भक्तिपूर्वक, प्राकृत-गुणों से रहित, आप के स्वरूप में अपना मन लगावे। लौकिक और पारलौकिक भोगों के लालची मूढ़ पुरुष जैसे पुत्र, स्त्री और धन की चिन्ता करते हुए मौत से भयभीत होते हैं—उसी प्रकार यदि विद्वान् को भी इस निन्दनीय शरीर के छूटने का भय ही बना रहा, तो उसका ज्ञान-प्राप्ति के लिये किया हुआ सारा प्रयत्न एकमात्र श्रम ही है, व्यर्थ ही है—



अथैहिकामुष्मिककामलम्पटः सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन् ।

शङ्केत विद्वान् कुकलेवरात्ययाद् यस्तस्य यत्नः श्रम एव केवलम् ॥५/१९/१४

यह भारतवर्ष जम्बू द्वीप के सभी खण्डों में श्रेष्ठ है। इसे कर्म-भूमि कहते हैं। भारतवर्ष में मनुष्य को अपने किये हुए कर्म के अनुसार सद्गति की प्राप्ति होती है। मोक्ष भी यहीं प्राप्त होता है। इसमें बहुत-सी सरिताएँ एवं शैल हैं; जो नाम लेने मात्र से मानव के अन्तःकरण को पवित्र कर देते हैं। उत्तर भारत में मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती, गोमती और सरयू आदि प्रधान पुण्य नदियाँ हैं, जो नाम लेने मात्र से मानव के पापों तापों को विनष्ट कर देती हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत में भी कावेरी, वेणी, तुङ्गभद्रा, कृष्णा, गोदावरी, निर्विन्ध्या, रेवा, एवं नर्मदा आदि अतिशय पवित्र नदियाँ हैं, जिनमें स्नान करने मात्र से मनुष्य मोक्ष का भाजन बन जाता है। इस देश के निवासी अतिशय भाग्यशाली हैं, जो इन पावन नदियों में स्नान-तर्पण करते हैं। ये नदियाँ गङ्गा के समान ही पुण्यशालिनी हैं। देवता भी भारतवर्ष और भारतवर्ष में जन्मे मनुष्यों की महिमा का गान करते हुए कहते हैं—‘अहा ! भारतवर्ष के निवासियों ने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है ? जिससे प्रसन्न होकर भगवान् ने इन्हें भारत की पवित्र भूमि पर जन्म दिया है। यहाँ भगवान् मुकुन्द की सेवा का अपूर्व सौभाग्य प्राप्त है। हम लोग इसके लिये लालायित रहते हैं। हमारी यही कामना है कि यह परम सौभाग्य हमें भी प्राप्त हो—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।

यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥५/१९/२१

दुष्कर यज्ञ, कठोर तप, व्रत और दानादि करके हमने जो यह तुच्छ स्वर्ग प्राप्त किया है—इससे क्या लाभ हैं ? स्वर्ग में विषय-भोगों की अधिकता रहती है। इससे हम भगवान् के चरण-कमलों को विस्मृत कर देते हैं—

किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतैर्दानादिभिर्वा ह्युजयेन फल्गुना ।

न यत्र नारायणपादपङ्कजस्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात् ॥५/१९/२२

कल्पपर्यन्त आयुवाले ब्रह्मा आदि के लोकों की अपेक्षा थोड़ी आयुवाले मनुष्यों का लोक भारतवर्ष ही श्रेष्ठ है, महान् है; क्योंकि ब्रह्मा आदि के लोकों में पुण्यभोग समाप्त हो जाने पर प्राणी नीचे गिर जाता है। किन्तु यहाँ धीरपुरुष एक क्षण में ही अपने सारे कर्म भगवान् को अर्पित कर परमपद प्राप्त कर लेते हैं—

कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।

क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्यभयं पदं हरेः ॥५/१९/२३

जहाँ भगवान् की कथा-सुधारूपी सरिता नहीं बहती, जहाँ कथा-सरिता को बहानेवाले साधु-जन निवास नहीं करते और जहाँ समारोह पूर्वक भगवान् की पूजा-अर्चना नहीं होती, वह चाहे ब्रह्मलोक ही क्यों न हो, उसका सेवन नहीं करना चाहिये—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।

न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥

अतः हमारी कामना है कि अब तक स्वर्गसुख भोग लेने के बाद हमारे पूर्वकृत शुभ कर्मों का यदि कुछ पुण्य बचा हो तो उसके फलस्वरूप हमें इस भारतवर्ष में, भगवान् की स्मृति से युक्त, मनुष्य-जन्म मिले। जिससे मैं भगवान् का भजन कर सकूँ; क्योंकि भगवान् श्रीहरि अपना भजन करनेवाले का सब प्रकार से कल्याण करते हैं।

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं कि—भरतश्रेष्ठ, राजा सगर के पुत्रों ने अपने यज्ञ के घोड़े को ढूँढते हुए इस पृथिवी को चारों ओर से खोदा था। इससे जम्बूद्वीप के अन्तर्गत ही आठ उपद्वीप और बन गये, ऐसा कुछ लोगों



का कहना है। वे द्वीप हैं—स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पाञ्चजन्य, सिंहल और लंका। भरतश्रेष्ठ, इस प्रकार मैंने जैसा गुरुमुख से सुना था, ठीक वैसा ही तुम्हें जम्बूद्वीप के वर्णों का विभाग सुना दिया ॥१९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१९॥

## बीसवाँ अध्याय

( बाकी छः द्वीपों और लोकालोक पर्वत का वर्णन )

१. श्री शुकदेव जी कहते हैं—‘राजन्, अब संक्षेप में प्लक्ष आदि द्वीपों का वर्णन किया जा रहा है। जिस प्रकार मेरु पर्वत जम्बूद्वीप से घिरा हुआ है, उसी प्रकार जम्बूद्वीप भी अपने ही समान परिमाण और विस्तारवाले खारे जल के समुद्र से परिवेष्टित है। क्षार समुद्र भी अपने से दूने परिमाणवाले, अर्थात् दो लक्ष योजनवाले, प्लक्ष द्वीप से घिरा हुआ है। जम्बू द्वीप में जितना बड़ा जामुन का पेड़ है, उतने ही विस्तारवाला यहाँ सुवर्णमय प्लक्ष (पाकर) का वृक्ष है। उसी के कारण इसका नाम प्लक्ष द्वीप हुआ। यहाँ सात जिह्वाओंवाले अग्निदेव विराजते हैं। इस द्वीप के अधिपति हैं प्रियव्रत के पुत्र महाराज इध्मजिह्व। उनके सात पुत्र थे। उन्होंने सातों पुत्रों को समानरूप से इस द्वीप को विभक्त कर प्रदान कर दिया और स्वयं अध्यात्म योग का आश्रय लेकर उपरत हो गये। इनमें भी सात पर्वत और सात नदियाँ ही प्रसिद्ध हैं। वहाँ चार वर्ण के लोग निवास करते हैं जो सूर्य की उपासना करते हैं—

“त्रय्या विद्यया भगवन्तं त्रयीमयं सूर्यमात्मानं यजन्ते” ॥५/२०/४

इस द्वीप के लोग देवतुल्य हैं। इनकी आयु एक सहस्रवर्ष की होती है। इनके शरीरों में देवताओं की भाँति थकावट, पसीना आदि नहीं होता और सन्तानोत्पत्ति भी उन्हीं के समान होती है। वहाँ के मनुष्यों को जन्म से ही आयु, इन्द्रिय, मनोबल आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। प्लक्षद्वीप अपने ही समान विस्तारवाले झुशु रस के समुद्र से घिरा हुआ है।

२. उससे आगे प्लक्ष द्वीप से दूना अर्थात् चार लाख योजनवाला शाल्मलि द्वीप है। यह उतने ही परिमाणवाले मदिरा के सागर से घिरा हुआ है। प्लक्ष द्वीप के पाकड़ वृक्ष के बराबर इसमें शाल्मलि (सेमर) के वृक्ष हैं। कहा जाता है कि यह गरुड का निवास-स्थान है। इस द्वीप के अधिपति प्रियव्रत के पुत्र यज्ञबाहु हैं। उनके सात पुत्र थे अतः द्वीप को सात भागों में विभक्त किया और अपने पुत्रों को सौंप कर जङ्गल की राह ली। वहाँ भी स्वरस आदि सात पर्वत और अनुमति आदि सात प्रसिद्ध नदियाँ हैं। यहाँ भी चार वर्ण हैं, जो चन्द्रमा की उपासना करते हैं—

“तद्वर्षपुरुषाः ..... भगवन्तं वेदमयं सोममात्मानं वेदेन यजन्ते” ॥५/२०/११

३. इसी प्रकार मदिरा के समुद्र से आगे उससे दूने परिमाण वाला, अर्थात् आठ लाख योजन विस्तारवाला, कुशद्वीप है। यह भी अपने समान परिमाणवाले घृत समुद्र से घिरा हुआ है। कुशों की झाड़ियों की अधिकता से कारण ही यह कुशद्वीप कहा जाता है। इसके अधिपति प्रियव्रत के पुत्र हिरण्यरेता हैं। उनके भी सात ही पुत्र थे। द्वीप को सात भागों में विभक्त कर उन्होंने पुत्रों को सौंप दिया और स्वयं तपस्या करने चले गये। इसमें भी, विभागों को अलग करनेवाले, सात पर्वत और सात नदियाँ हैं। यहाँ भी चार वर्ण के लोग हैं। इन वर्णों के नाम हैं—कुशल, कोविद, अभियुक्त और कुलक। यहाँ के लोग भगवान् अग्निदेव की यज्ञों द्वारा उपासना करते हैं—

“कुशद्वीपौकसः ..... भगवन्तं जातवेदरूपिणं कर्मकौशलेन यजन्ते” ॥५/२०/१६



४. घृत समुद्र से आगे उससे द्विगुणित परिमाणवाला अर्थात् सोलह लाख योजन का कौञ्चद्वीप है। यह अपने ही समान विस्तारवाले दुग्ध समुद्र से वेष्टित है। यहाँ क्रौञ्च नाम का एक विशाल पर्वत है उसी के कारण इसे क्रौञ्च द्वीप कहते हैं। इस द्वीप के स्वामी प्रियव्रत पुत्र महाराज घृत पृष्ठ हैं। इनके भी सात पुत्र थे। वे इसके सातखण्डों को अपने सात पुत्रों में विभक्त कर स्वयं भगवान् श्री हरि की चरण-शरण में चले गये। इसी द्वीप में भी शुक्ल आदि सात पर्वत और अभया आदि सात नदियाँ हैं। पुरुष, ऋषभ, द्रविण और देवक—ये यहाँ के चार वर्ण हैं। ये लोग जल के अधिष्ठाता देवता वरुण की उपासना करते हैं—“वर्षपुरुषा आपोमयं देवमपां पूर्णेनाञ्जलिना यजन्ते” ॥ ५/२०/२२

५. इसके आगे बत्तीस लाख योजनवाला शाकद्वीप है। यह अपने ही समान परिमाणवाले मट्टे के समुद्र से घिरा हुआ है। इसमें शाक नाम का एक बहुत बड़ा वृक्ष है इसी के कारण इसे शाकद्वीप कहते हैं। इस वृक्ष की सुगन्ध से सारा द्वीप महकता रहता है। इसके अधिपति प्रियव्रत के पुत्र महाराज मेधातिथि थे। वे इस द्वीप के सात भागों को अपने सात पुत्रों में विभक्त कर तप करने हेतु वन में चले गये। इस द्वीप में भी सात मर्यादा पर्वत, सात नदियाँ और ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत और अनुव्रत नाम के चार वर्ण हैं। ये वायु रूप श्री हरि की उपासना करते हैं—“भगवन्तं वाय्वात्मकं.....परमसमाधिना यजन्ते” ॥ ५/२०/२७

६. इसी प्रकार मट्टे के समुद्र से आगे उसके चतुर्दिक् उससे दूने विस्तारवाला अर्थात् चौंसठ लाख योजन का पुष्कर द्वीप है। यह अपने ही समान विस्तारवाले मीठे जल के सागर से परिवेष्टित है। इसमें स्वर्णमय एक विशाल कमल है। यह ब्रह्मा जी का आसन माना जाता है। उस द्वीप के बीच में मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है। यह दस सहस्र योजन ऊँचा और उतना ही लम्बा है। यह इस द्वीप के पूर्वीय और पश्चिमीय विभागों की मर्यादा निश्चित करता है। इसके ऊपर चारों दिशाओं में इन्द्र आदि लोकपालों की चार पुरियाँ हैं। इसके ऊपर मेरु के चारों ओर भ्रमण करनेवाले सूर्य के रथ का चक्र उत्तरायण और दक्षिणायन के क्रम से घूमता है। इसके अधिपति प्रियव्रत-पुत्र भीतिहोत्र हैं। इन्होंने अपने द्वीप के दो भाग करके रमणक और धातकि नामक दो पुत्रों को सौंप दिया और स्वयं जङ्गल चले गये। वहाँ के लोग ब्रह्मा की उपासना करते हैं—“तद्वर्षपुरुषा भगवन्तं ब्रह्मरूपिणं कर्मणाऽऽराधयन्ति” ॥ ५/२०/३२

शुद्धोदक (मीठे जल के) समुद्र के आगे एक पर्वत है। इसका नाम है—‘लोकालोक’। यह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित तथा अप्रकाशित प्रदेशों के बीच उनका विभाग करता हुआ स्थित है। विद्वान् जन सम्पूर्ण भूगोल का मान पचास करोड़ योजन बतलाते हैं इसका चौथाई भाग अर्थात् साढ़े बारह करोड़ योजन इस पर्वत का मान है—“कविभिः स तु पञ्चाशत्कोटिगणितस्य भूगोलस्य तुरीयभागोऽयं लोकालोकाचलः” ॥ ३८॥ इसकी चारों दिशाओं में ऋषभ, पुष्करचूड, वामन और अपराजिता नामवाले चार दिग्गज स्थित हैं। ये लोक-स्थिति के कारण हैं। इस पर्वत पर संसार की रक्षा के लिये, अपने पार्षदों के साथ स्वयं श्रीहरि विराजमान रहते हैं। इसके बाद वह भूमि है, जहाँ केवल विशुद्ध योगेश्वरों की गति है। अन्य लोगों की पहुँच वहाँ तक नहीं होती—

“ततः परस्ताद्योगेश्वरगतिं विशुद्धामुदाहरन्ति” ॥ ५/२०/४३

अन्त में श्री शुक्रदेव जी महाराज ने कहा ब्रह्माण्ड के मध्य में सूर्य हैं। भगवान् सूर्य के प्रकाश से ही दिशा, आकाश, पृथिवी, भोग, मोक्ष आदि सबके विभाग होते हैं। भगवान् सूर्य ही स्थावर-जङ्गम प्राणियों की आत्मा हैं, नेत्र हैं—

सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दशीश्वरः ॥ ५/२०/४६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥



## इक्कीसवाँ अध्याय

### ( सूर्य के रथ और उसकी गति का वर्णन )

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—‘राजन्, इस प्रकार हमने प्रमाण और लक्षणों के सहित भूगोल का वर्णन आप से बतला दिया। इसी के अनुसार विद्वान् लोग खगोल का भी वर्णन करते हैं। जिस प्रकार चना-मटर आदि के एक दल (दाल) के परिमाण से दूसरे दल का परिमाण मालूम हो जाता है, इसी प्रकार भूगोल के परिमाण से खगोल का भी परिमाण विदित हो जाता है। जैसे दो दालों के बीच में एक अँकुआ होता है, ऐसे ही भूगोल और खगोल के मध्य में अन्तरिक्ष ही एक सन्धि-स्थल है। सूर्य भगवान् इसी अन्तरिक्ष में स्थित होकर अपने प्रकाश से सारी त्रिलोकी को प्रकाशित करते हैं और ताप प्रदान करते हैं—

‘‘यन्मध्यगतो भगवांस्तपतां पतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा’’ ।।

५/२१/३

वे उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत् नामवाली क्रमशः मन्द, शीघ्र और समान गति से चलते हुए समयानुसार मेष आदि बारह राशियों में ऊँचे-नीचे और समान स्थानों में जाकर दिन-रात को बड़ा, छोटा अथवा समान करते हैं। जब सूर्य मेष अथवा तुला राशि पर आते हैं, तब दिन-रात बराबर हो जाते हैं। जब वृष आदि पाँच राशियों में चलते हैं, तब प्रतिमास रात्रियों में एक-एक घड़ी कम होती जाती है और उसी हिसाब से दिन बढ़ते जाते हैं। जब वृश्चिक आदि पाँच राशियों में चलते हैं, तब रात्रियों में वृद्धि हो जाती है और दिन एक-एक घड़ी छोटे होते जाते हैं। आशय यह है कि सूर्य के उत्तरायण होने पर दिन बढ़ जाते हैं और दक्षिणायन होने पर रात्रियाँ बढ़ी हो जाती हैं—

‘‘यावद्दक्षिणायनमहानि वर्धन्ते यावदुदगयन् रात्रयः’’ ।। ५/२१/६

इस प्रकार पण्डितजन मानसोत्तर पर्वत पर सूर्य की परिक्रमा का मार्ग नौ करोड़ इक्यावन लाख योजन बतलाते हैं। इस पर्वत पर मेरु के पूर्व की ओर इन्द्र की पुरी देवधानी, दक्षिण में यमराज की पुरी संयमनी, पश्चिम में वरुण की निम्लोचनी और उत्तर में चन्द्रमा की विभावरी पुरी हैं। इन पुरियों में मेरु के चारों ओर समय-समय पर सूर्योदय, मध्याह्न, सायंकाल और अर्धरात्रि होते रहते हैं; इन्हीं के कारण सम्पूर्ण जीवों की प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। जो सुमेरु पर्वत पर रहते हैं, उनके लिये सदा मध्याह्न ही रहता है। नक्षत्रों के अभिमुख जाते हुए सूर्य यद्यपि मेरु को बाईं ओर रखकर चलते हैं, तो भी सारे ज्योतिषमण्डल को घुमानेवाली निरन्तर दायीं ओर बहती हुई प्रवह नामक वायु द्वारा घुमा दिये जाने से उसे दायीं ओर रखकर चलते हुए प्रतीत होते हैं। भगवान् सूर्य इन्द्रपुरी से यमपुरी की दूरी १५ घड़ी में तय करते हैं। इन्द्रपुरी से यमपुरी की दूरी सवा दो करोड़ साढ़े बारह लाख, पच्चीस सहस्र (२३७७५०००) योजन हैं। इसी प्रकार वे क्रमशः वरुण की निम्लोचनी पुरी को लांघकर चन्द्रपुरी और फिर इन्द्रपुरी में आते हैं। सूर्य का रथ वेदमय है। वह एक मुहूर्त में चौतीस लाख आठ सौ योजन के हिसाब से चलता है। वह चारों पुरियों में सर्वदा भ्रमण करता रहता है—

‘‘एवं मुहूर्तेन चतुस्त्रिंशल्लक्षयोजनान्यष्टशताधिकानि सौरो रथस्त्रयीमयो चतसृषु परिवर्तते पुरीषु’’ ।।

५/२१/१२

रथ का एक चक्का घूमने से संवत्सर बन जाता है। सूर्य के रथ का एक सिरा मेरुपर्वत की चोटी पर है और दूसरा मानसोत्तर पर्वत पर। इस में लगा हुआ यह पहिया कोल्हू के पहिये के समान<sup>१</sup> घूमता हुआ मानसोत्तर पर्वत

१. जहाँ तक मैं समझता हूँ कोल्हू में पहिया नहीं होता।



के ऊपर चक्कर लगाता है। इस धुरी से जुड़ी हुई एक और धुरी है। उसका एक कोना ध्रुवलोक से जुड़ा है। इस रथ के रथी सूर्य के बैठनेका स्थान छत्तीस लाख योजन लम्बा है और नौ लाख योजन चौड़ा है। इस रथ में छन्दरूपी सात अश्व जुड़े हुए हैं। इसके सारथी हैं—अरुण। साठ हजार बालखिल्य ऋषि सूर्य की ओर मुख करके स्तुति करते हुए चलते हैं।

इस प्रकार भगवान् सूर्य भू-मण्डल के नौ करोड़ इक्यावन लाख योजन लम्बे घेरे में से प्रत्येक क्षण में दो हजार दो योजन की दूरी पार करते हैं ॥२१॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२१॥

## बाईसवाँ अध्याय

( भिन्न-भिन्न ग्रहों की स्थिति और गति का वर्णन )

राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से पूछा—‘प्रभो, आप ने जो कहा है कि यद्यपि भगवान् सूर्य राशियों की ओर जाते समय मेरु और ध्रुव को दाईं ओर रखकर चलते हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः उनकी गति दक्षिणावर्त नहीं होती—इस विषय को हम कैसे समझें ?’

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—‘राजन्, जैसे कुम्हार के बर्तन बनानेवाले तेजी से चलते हुए चाक पर बैठी हुई चींटी की गति चाक की गति से भिन्न होती है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न समय में उस चाक के भिन्न-भिन्न स्थानों में देखी जाती है—उसी प्रकार नक्षत्र और राशियों से उपलक्षित कालचक्र में पड़कर, ध्रुव और मेरु को दायें रखकर घूमनेवाले ग्रहों की गति वास्तव में उससे भिन्न ही है, क्योंकि वे काल-भेद से भिन्न-भिन्न राशि और नक्षत्रों में देखे जाते हैं। सूर्य सम्पूर्ण लोकों की आत्मा हैं। उन्हीं के कारण वसन्त आदि छः ऋतुएँ हुआ करती हैं—

“कालं द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिष्वृतुषु यथोपजोषमृतुगुणान् विदधाति” ॥५/२२/३॥

सूर्यनारायण कालचक्र में स्थित होकर राशिसंज्ञक बारह महीनों का भोग करते हैं। एक महीना चन्द्रमान से दो पक्ष का, पितृमान से रात-दिन का और सौरमान से सवा दो नक्षत्र अर्थात् एक राशि का कहा गया है। सूर्य जितने समय में संवत्सर के षष्ठ अंश अर्थात् दो राशियों को भोग करते हैं उसे ऋतु कहते हैं। एक ऋतु दो मास की होती है—

“सूर्यः यावता षष्ठमंशं भुञ्जीत स वै ऋतुरित्युपदिश्यते संवत्सरावयवः” ॥५/२२/५॥

जितने समय में इस प्रकार आकाश में सूर्य का जितना मार्ग है, उसका आधा वे जितने समय में पार कर लेते हैं, उसे एक ‘अयन’ कहते हैं और जितने समय में वे अपने पूरे मार्ग का एक चक्कर लगा लेते हैं, उसे संवत्सर परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर अथवा वत्सर कहते हैं। सूर्य की गति के कारण इनमें कुछ-कुछ भेद है।

इसी प्रकार सूर्य से एक लाख योजन ऊपर चन्द्रमा है। उसकी गति बहुत तेज है इसलिये वह सब नक्षत्रों से आगे रहता है। यह सूर्य के एक वर्ष के मार्ग को एक मास में, एक मास के मार्ग को सवा दो दिनों में और एक पक्ष के मार्ग को एक ही दिन में पूरा कर लेता है। चन्द्रमा के कारण ही शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष का विभाग होता है। यह तीस मुहूर्त में एक नक्षत्र को पार करता है। अन्नमय एवं अमृतमय होने के कारण यही समस्त प्राणियों का प्राण और जीवन है। यह सोलह कलाओं से सम्पन्न है। समस्त प्राणियों के प्राणों का पोषण करने के कारण इन्हें ‘सर्वमय’ कहते हैं।



चन्द्रमा से तीन लाख योजन ऊपर अभिजित् के सहित अष्टाईस नक्षत्र हैं। ये सभी मेरु को दाईं ओर करके घूमते हैं। पृथिवी से इनकी दूरी पाँच लाख योजन है। इनसे दो लाख और भू-मण्डल से सात लाख योजन ऊपर शुक्र है। यह कभी सूर्य के आगे, कभी पीछे और कभी साथ-साथ चलता है। यह वर्षा करानेवाला ग्रह है। यह प्रायः लोगों के अनुकूल ही रहता है। यह वर्षा के अवरोधक ग्रहों को शान्त कर देता है। शुक्र से दो लाख और पृथिवी से नौ लाख योजन ऊपर बुध है। शुक्र के ही अनुसार इसकी भी गति है। यह प्रायः मङ्गलकारी ग्रह है। बुध जब सूर्य की गति का उल्लङ्घन करके चलता है, तब बहुत अधिक आँधी, बादल और सूखे के भय की सूचना देता है। इससे दो लाख तथा पृथिवी से ग्यारह लाख योजन ऊपर मङ्गल है। यह, यदि वक्र गति से न चले तो, एक-एक राशि को तीन-तीन पक्ष में भोगता हुआ बारहों राशियों को पार करता है। यह अशुभ ग्रह है और प्रायः अमङ्गल का सूचक है। इसके ऊपर दो लाख योजन की दूरी पर भगवान् बृहस्पति जी हैं। पृथिवी से इनकी दूरी तेरह लाख योजन है। यह यदि वक्त्री न हो तो प्रायः ब्राह्मणकुल के अनुकूल रहते हैं। वक्त्री न रहने पर यह एक-एक राशि को एक-एक वर्ष में भोगते हैं—

“भगवान् बृहस्पतिरेकैकस्मिन् राशौ परिवत्सरं परिवत्सरं चरति यदि न वक्रः स्यात्प्रायेणानुकूलो ब्राह्मणकुलस्य” ॥५२२/१५

बृहस्पति से दो लाख योजन ऊपर शनैश्चर की स्थिति है। पृथिवी से यह पन्द्रह लाख योजन ऊपर है। यह तीस-तीस महीने तक एक-एक राशि पर रहते हैं अतः सब राशियों को पार करने में इन्हें तीस वर्ष लग जाते हैं। यह प्रायः सभी के लिये अशान्ति-कारक हैं—“प्रायेण सर्वेषामशान्तिकरः” ॥१६॥ इनके ऊपर ग्यारह लाख योजन की दूरी पर कश्यप आदि सप्तर्षि हैं। पृथिवी से इनकी दूरी छब्बीस लाख योजन ऊपर है। ये सब लोकों की मङ्गलकामना करते हुए भगवान् विष्णु के परम पद ध्रुव-लोक की प्रदक्षिणा किया करते हैं—

“तत उत्तरस्मादृष्य एकादशलक्षयोजनान्तर उपलभ्यन्ते य एव लोकानां शममनुभावयन्तो भगवतो विष्णोर्धत्परमं पदं प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति” ॥५२२/१७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१२१॥

## तेईसवाँ अध्याय

( ध्रुवलोक और शिशुमार-चक्र का वर्णन )

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—‘राजन, सप्तर्षियों से तेरह लाख योजन ऊपर ध्रुवलोक है। इसे भगवान् विष्णु का परम पद कहते हैं। यहाँ उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव जी विराजमान हैं। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, कश्यप और धर्म—ये सब एक साथ आदरपूर्वक इनकी प्रदक्षिणा किया करते हैं। यह एक सुदृढ़ खम्भा के समान है, आधार-स्तम्भ है। इनके ही आश्रित सम्पूर्ण ग्रह और नक्षत्र-मण्डल, इनके चतुर्दिक्, वैसे ही घूमा करते हैं जैसे कोल्हू में बैधा बैल घूमा करता है।

शिशुमार-चक्र—कोई-कोई पुरुष भगवान् की योग-माया के आधार पर स्थित इस ज्योतिश्चक्र का शिशुमार (सूँस या सूँइस) के रूप में वर्णन करते हैं। यह शिशुमार कुण्डली मारे हुए है और इसका मुख नीचे की ओर है। इसकी पूँछ के सिरे पर ध्रुव स्थित है। पूँछ के मध्यभाग में प्रजापति, अग्नि, इन्द्र और धर्म हैं। पूँछ की जड़ में धाता और



विधाता है, इसके कटि-प्रदेश में सप्तर्षि हैं, यह शिशुमार दाहिनी ओर को सिकुड़ कर कुण्डली मारे हुए है, इसके दाहिने भाग में उत्तरायण के चौदह नक्षत्र (अभिजित् से लेकर पुनर्वसु पर्यन्त) कल्पित हैं और बाँये भाग में दक्षिणायन के चौदह नक्षत्र (पुष्य से लेकर उत्तराषाढ़ा पर्यन्त) स्थित माने गये हैं। इसके पृष्ठ-भाग में अजवीथी (मूल, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नाम के तीन नक्षत्रों का समूह और उदर में आकाश-गङ्गा है। इसके दाहिने और बाँयें कटि-तटों में पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र हैं। पीछे के दाहिने और बाँये चरणों में आर्द्रा और आश्लेषा नक्षत्र हैं तथा दाहिने और बाँयें नथुनों में क्रमशः अभिजित् और उत्तराषाढ़ा हैं। इसी प्रकार दाहिने और बाँये नेत्रों में श्रवण एवं पूर्वाषाढ़ा तथा दाहिने और बाँये कानों में धनिष्ठा और मूल नक्षत्र हैं। मघा आदि दक्षिणायन के आठ नक्षत्र बाईं पसलियों में और विपरीत क्रम से मृगशिरा आदि उत्तरायण के आठ नक्षत्र दाहिनी पसलियों में विन्यस्त हैं। शतभिषा और ज्येष्ठा—ये दो नक्षत्र क्रमशः दक्षिण और वाम कन्धों की जगह हैं। इसकी ऊपर की थूथनी में अगस्त्य, नीचे की ठोढ़ी में नक्षत्ररूपयम, मुख में मङ्गल, लिङ्ग-प्रदेश में शनि, ककुद् में बृहस्पति, छाती में सूर्य, हृदय में नारायण, मन में चन्द्रमा, नाभि में शुक्र, स्तनों में अश्विनीकुमार, प्राण और अपान में बुध, कण्ठ में राहु, समस्त अङ्गों में केतु और रोमावलियों में समस्त तारागण स्थित हैं। राजन्, यह भगवान् का सर्वदेवमय स्वरूप है। प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल की बेला में जो व्यक्ति पवित्र होकर इसका ध्यान कर भगवान् के मन्त्र का जप करता है, उसके सारे पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं ॥२३॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२३॥

## चौबीसवाँ अध्याय

( राहु आदि की स्थिति और अतल आदि नीचे के सात लोकों का वर्णन )

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—‘राजन्, कुछ लोगों का कथन है कि सूर्य से दश हजार योजन नीचे राहु नक्षत्रों के समान घूमता है। भगवान् की कृपा से ही इसने देवत्व और ग्रहत्व प्राप्त किया है। यह असुरों में अधम है। इसकी माता का नाम है—सिंहिका अतः किसी प्रकार भी यह स्वयं इस पद के योग्य नहीं है। इसके जन्म और कर्मों का वर्णन आगे षष्ठ स्कन्ध में किया जायेगा।

सूर्य का अत्यन्त तपता हुआ जो यह मण्डल दिखलाई पड़ता है, उसका विस्तार दश सहस्र योजन बतलाया गया है। इसी प्रकार चन्द्र-मण्डल का विस्तार बारह हजार और राहु का तेरह हजार योजन है। अमृतपान की बेला में राहु ने देव-वेष धारण किया और धीरे से सूर्य और चन्द्र के बीच में जाकर बैठ गया। मोहिनी रूप भगवान् ने उसे भी अमृत पिला दिया। चन्द्र और सूर्य ने राहु की ओर इशारा करके गलती की सूचना दी। भगवान् ने सुदर्शन चक्र से उसकी ग्रीवा काट डाली। इसी से नाराज होकर वह सूर्य और चन्द्र पर आक्रमण करता रहता है। किन्तु सूर्य और चन्द्र की रक्षा भगवान् का सुदर्शन चक्र करता रहता है। उसके असह्य तेज के ताप से घबड़ा कर वह थोड़ी ही देर उनके सामने स्थित होकर लौट आता है। उसके आक्रमण को ही ‘ग्रहण’ कहते हैं—

“आरादेव निवर्तते तदुपरागमिति वदन्ति लोकाः” ॥५/२४/३

राहु से दस हजार योजन नीचे सिद्ध, चारण और विद्याधर आदि के स्थान हैं। उनके नीचे जहाँ तक वायु की



गति है और बादल दिखलाई देते हैं, अन्तरिक्ष है। यह यक्ष राक्षस, पिशाच, प्रेत और भूतों का विहार स्थल है। उससे नीचे सौ योजन की दूरी पर यह पृथिवी है। जहाँ तक हंस, गिद्ध, बाज और गरुड आदि प्रधान-प्रधान पक्षी उड़ सकते हैं, वहाँ तक इसकी सीमा है।

राजन, अब नीचे के लोकों का वर्णन सुनो, जिन्हें बिल-स्वर्ग कहते हैं। इनकी सँख्या सात है। ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः इनके नाम इस प्रकार हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। ये एक के नीचे एक दस-दस हजार योजन की दूरी पर स्थित हैं और इनमें से प्रत्येक की लंबाई-चौड़ाई भी दस-दस हजार योजन ही है—

“अवनेरप्यधस्तात् सप्त भूविवरा एकैकशो योजनायुतान्तरेणायामविस्तारेणोपक्लृप्ता अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति” ॥५/२४/७

इनमें स्वर्ग से भी अधिक विषयानन्द, ऐश्वर्य, सुख, सन्तान-सुख और धन-सम्पत्ति है। इनके भोगों में बाधा डालने का सामर्थ्य इन्द्र आदि में भी नहीं है। इन बिलों में मयदानव की अपूर्व कारीगरी के फलस्वरूप अद्भुत भवन और उद्यान आदि इनकी शोभा-सम्पत्ति हैं। यहाँ के उद्यान स्वर्ग के उद्यानों से भी बढ़ कर हैं। जलाशयों की सौन्दर्य-सम्पत्ति निराली है। इन लोकों में सूर्य का प्रकाश नहीं जाता इसलिये दिन-रात आदि काल-विभाग का भी कोई खटका नहीं देखा जाता। बड़े-बड़े नागों के मस्तक की मणियाँ ही वहाँ के अन्धकार को दूर करती हैं। यहाँ के निवासी दिव्य ओषधि, रस- रसायन-अन्न-पान आदि का सेवन करते हैं। इन दिव्य वस्तुओं के सेवन से उन्हें शारीरिक या मानसिक रोग नहीं होते हैं। वहाँ शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाना, बाल पक जाना, बुढ़ापा आ जाना, देह का कान्तिहीन हो जाना, शरीर से दुर्गन्ध आना, पसीना चूना, श्रान्ति अथवा शिथिलता आना तथा आयु के साथ शरीर की अवस्थाओं का परिवर्तन—ये कोई विकार नहीं होते। वे सदा सुन्दर, स्वस्थ तथा तरुण रहते हैं। उन पुण्यपुरुषों की भगवान् के तेजस्वरूप सुदर्शन चक्र के सिवा और किसी साधन से मृत्यु नहीं हो सकती—

“न हि तेषां कल्याणानां प्रभवति कुतश्चन मृत्युर्विना भगवत्तेजसश्चक्रापदेशात्” ॥५/२४/१४

अब एक-एक तल का कुछ विशिष्ट वर्णन करने जा रहे हैं—

अतल लोक में मयदानव का पुत्र असुर ‘बल’ रहता है। उसने छियानबे प्रकार की माया का निर्माण किया है। एक बार असुर ‘बल’ ने जँभाई ली। उस समय उसके मुख से स्वैरिणी, कामिनी और पुंश्चली\*—तीन प्रकार की स्त्रियाँ उत्पन्न हुईं। ये उस लोक में रहनेवाले पुरुषों को हाटक (स्वर्ण) नामक रस पिलाकर सम्भोग करने में समर्थ बना लेती हैं और फिर उनके साथ जमकर काम-क्रीडा करती हैं। हाटक रस को पीनेवाला व्यक्ति मदान्ध होकर इन्द्र को भी युद्धार्थ ललकारने लगता है।

उसके नीचे वितल लोक में भगवान् हाटकेश्वर (शिव) अपनी प्रिया पार्वती और गणों के साथ निवास करते हैं। उनके वीर्य से वहाँ हाटक नामक नदी बहती है, जिससे सुवर्ण उत्पन्न होता है।

उससे भी नीचे सुतललोक में महाराज बलि का निवास है। जहाँ उनके आराध्यदेव भगवान् विष्णु हाथ में गदा

१. क. स्वैरिणी—केवल अपने वर्ण के पुरुषों से रमण करनेवाली स्त्रियाँ।

ख. कामिनी—अन्यवर्णों के पुरुषों से भी समागम करनेवाली स्त्रियाँ।

ग. पुंश्चली—अत्यन्त चञ्चल स्वभाववाली स्त्रियाँ।



लेकर उस लोक में राजद्वार पर सदा उपस्थित रहते हैं। एक बार जब दिग्विजय करता हुआ घमण्डी रावण वहाँ पहुँचा, तब उसे भगवान् ने अपने पैर के अँगूठे की ठोकर से ही लाखों योजन दूर फेंक दिया था।

“यस्य भगवान् स्वयमखिलजगद्गुरुर्नारायणो द्वारि गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयो येनाङ्गुष्ठेन पदा दशकन्धरो योजनायुतायुतं दिग्विजय उच्चाटितः” ॥५/२४/२७

सुतललोक के नीचे तलातल में मयदानव निवास करता है। त्रिपुर-दाह की बेला में भगवान् शिव ने इसको अभय दान प्रदान किया था।

महातल में कद्रू से उत्पन्न हुए अनेक शिरोँ वाले सर्पों का क्रोधवश नामक एक समुदाय रहता है। उनमें कुहक, तक्षक और कालिय आदि प्रधान हैं। वे अपने स्त्री-पुत्र आदि के साथ सानन्द वहाँ विहार करते हैं।

महातल के नीचे रसातल है। वहाँ पणिनामक दैत्य-दानव रहते हैं। ये निवातकवच, कालेय और हिरण्यपुरवासी भी कहलाते हैं। इनका देवताओं से विरोध है। ये जन्म से ही बड़े बलवान् और महान् साहसी होते हैं। भगवान् के सुदर्शन चक्र से भयभीत होकर ये सर्पों की भाँति लुक-छिप कर रहते हैं। इन्द्र की दूती शरमा (देवशुनी)<sup>१</sup> के शाप के कारण वे इन्द्र से भी डरते हैं।

रसातल के नीचे पाताल है। वहाँ शङ्ख, कुलिक, महाशङ्ख और देवदत्त आदि बड़े क्रोधी और महान् फणोंवाले नाग निवास करते हैं। उनमें वासुकि प्रधान है। यहाँ के सर्प अनेक शिरोँवाले हैं। उनके फणों की दमकती हुई मणियाँ अपने प्रकाश से पाताललोक का सारा अन्धकार समाप्त कर देती हैं—

“येषाम् .....फणासु विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा विधमन्ति” ॥५/२४/३१

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२४॥

## पच्चीसवाँ अध्याय

### ( पाताल के नीचे स्थित भगवान् शेष का वर्णन )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—“राजन् पाताल लोक के नीचे तीस सहस्र योजन की दूरी पर भगवान् शेष का निवास है इन्हें अनन्त भी कहा जाता है। यह भगवान् की तामसी<sup>२</sup> नित्य कला हैं। इनका एक नाम सङ्कर्षण भी है। इनके हजारों शिरोँ में से एक शिर पर धरती ऐसी मालूम पड़ती है, जैसे सरसों का दाना रक्खा हुआ हो—

१. इस विषय में एक वैदिक कथा आती है कि जब पणि नामक दैत्यों ने पृथिवी को रसातल में छिपा दिया। तब इन्द्र ने उसे ढूँढने के लिये सरमा नामक की एक दूती को भेजा था। सरमा से दैत्यों ने सन्धि करनी चाहिए। परन्तु सरमा ने सन्धि न करके इन्द्र की प्रशंसा करते हुए कहा था—‘हता इन्द्रेण पणयः शयध्वम्’। हे पणियों, तुम इन्द्र के हाथ से मरकर पृथिवी पर सो जाओ। इसी शाप के कारण उन्हें सदा इन्द्र का भय बना रहता है।
२. शेष तमोगुण के कार्य संहार के प्रवर्तक है अतः इन्हें भगवान् की तामसी कला कहा जाता है, अन्यथा यह स्वतः तामसी कला नहीं है।



“यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि त्रियमाणं सिद्ध्यर्थं इव लक्ष्यते” ॥५/२५/२॥

जब वे विश्व का संहार करना चाहते हैं, तब उन्हीं की भौंहों के बीच से एक सङ्कर्षण नामक रुद्र प्रकट होते हैं, जो सारे विश्व का संहार कर देते हैं।

जब बड़े-बड़े नागराज अनन्य भक्तिभाव से प्रणाम करते हुए उनके चरणारविन्द नखमण्डल की मणि में अपना-अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं तब उनका मन आनन्द से भर जाता है। नागराजों की कन्याएँ भी विविध कामनाओं से उनका पूजन करती हैं। उस समय उनके सुकोमल सुडौल भुजाओं पर जब वे चन्दन का लेप करती हैं, तब उनके स्पर्श से तरुणियों के हृदय में काम-भाव अङ्कुरित हो उठता है फिर वे बड़े हावभाव के साथ मुस्कराकर उनके मुखमण्डल पर कटाक्षपात करती हैं। अनन्त गुणों के सागर भगवान् अनन्त सकल लोकों के कल्याण के लिये वहाँ निवास करते हैं। देवता, असुर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व और विद्याधर आदि सदा उनका ध्यान किया करते हैं। वे अपने सुमधुर भाषण से अपने पार्षदों को सन्तुष्ट करते रहते हैं। उनके श्रीअङ्ग पर नीलाम्बर और कानों में एक कुण्डल जगमगाता रहता है। जो व्यक्ति श्रद्धा और भक्ति से उनके गुणों का श्रवण तथा स्वरूप का चिन्तन करता है, उसकी अनन्तानन्त जन्मों की कर्मवासनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं और वह सद्यः संसार-बन्धन से विमुक्त हो जाता है। नारद, तुम्बुरु आदि ने भगवान् सङ्कर्षण के प्रभाव का वर्णन ब्रह्मा की सभा में करते हुए एक बार कहा था—

जिनका सुनासुनाया मङ्गलमय पवित्रनाम महापातकी अथवा आर्त व्यक्ति यदि एक बार परिहास में भी, अकस्मात् हँसी में भी, उच्चारण कर लेता है तो वह सारे पापों से मुक्त हो जाता है और दूसरे पुरुषों के भी सारे पापों को तत्काल नष्ट कर देता है ऐसे परम कृपालु दयालु देवता का कौन मुक्तिकामी पुरुष आश्रय नहीं ग्रहण करेगा ?—

यन्नाम श्रुतमनुकीर्तयेदकस्मादातों वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा ।

हन्त्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यं कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः ॥ ५/२५/११

यह सम्पूर्ण भू-मण्डल सहस्रशिरवाले भगवान् शेषनाग के शिर पर एक धूलि-कण के समान अर्पित किया हुआ है। सारी सरिताएँ, सारे सागर और अगणित पर्वत-मालाएँ भगवान् की अनन्तता में कुछ मालूम ही नहीं पड़ती हैं। यदि किसी को सहस्र-सहस्र जिह्वा उपलब्ध भी हो जाय तो भी वह भगवान् अनन्त के अनन्तगुणों का बखान नहीं कर सकता। इस प्रकार के प्रभाववाले भगवान् अनन्त लीलापूर्वक पृथिवी को धारण करते हुए उसके मूल में स्वतन्त्ररूप से वर्तमान हैं—

एवम्रभावो भगवाननन्तो दुरन्तवीर्योरुगुणानुभावः ।

मूले रसायाः स्थित आत्मतन्त्रो यो लीलया क्ष्मां स्थितये बिभर्ति ॥

अन्त में शुकदेव जी कहते हैं—राजन, भोगों की कामनावाले पुरुषों की, अपने कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली, भगवान् की रची हुई ये ही गतियाँ हैं इन्हें जैसा मैंने गुरुमुख से सुना था, वैसा आप को सुना दिया। मनुष्य को प्रवृत्तिरूप धर्म परिणाम में प्राप्त होनेवाली जो परस्पर विलक्षण ऊँची-नीची गतियाँ हैं, वे इतनी ही हैं; इन्हें तुम्हारे प्रश्न के अनुसार मैंने सुना दिया। अब बतलाओ, और क्या सुनना चाहते हो ? ॥२५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह पञ्चीसवीं अध्याय समाप्त हुआ ॥२५॥



## छब्बीसवाँ अध्याय

( पापियों को प्राप्त होनेवाले नरकों का वर्णन )

राजा परीक्षित ने पूछा—‘ऋषिप्रवर, लोगों को जो ऊँची-नीची गतियाँ प्राप्त होती हैं, उनमें इतनी विभिन्नता क्यों है—‘महर्ष एतद्वैचित्र्यं कथमिति’ ॥५/२६/१॥

राजा परीक्षित के पूछने का आशय यह है कि जब सारी विश्व-सृष्टि एक ही धातु से रची जाती है, चाहे उस धातु को पञ्चभूत कहिये, त्रिगुणमयी प्रकृति कहिये, अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ईश्वर कहिये, परिणामी कहिये अथवा अविकृत परिणाम कहिये, तब उसमें इतने विभिन्न प्रकार की सृष्टि कैसे होती है ?

शुकदेव जी महाराज कहते हैं—‘राजन्, धातु के एक होने पर भी कर्ता-भेद से उसमें वैचित्र्य आ जाता है जैसे सुवर्ण एक है, किन्तु स्वर्णकार उसमें नाना प्रकार के आभूषण बनाता है। मिट्टी एक ही है, किन्तु कुम्भकार उसमें भाँति-भाँति के बर्तन बनाता है। इसी प्रकार कोई कर्ता सात्त्विक होता है, कोई कर्ता राजस होता है और कोई तामस। इसी तरह सब की श्रद्धा भी समान नहीं होती—किसी की राजसी, किसी की तामसी और किसी की सात्त्विकी श्रद्धा होती है। इसी कारण से कर्म की गतियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं और इनमें तारतम्यभाव—न्यूनाधिकभाव हो जाता है फिर तो जो जैसा कर्म करता है उसे उसके अनुसार फल मिलता है—

‘त्रिगुणत्वात् कर्तुः श्रद्धया कर्मगतयः पृथग्विधाः सर्वा एव सर्वस्य तारतम्येन भवन्ति’ ॥

५/२५/२

जैसे शास्त्रों में बतलाये गये धर्म का फल स्वर्ग बतलाया गया है; वैसे ही अधर्म का, निषिद्ध कर्मों का फल नरक कहा गया है। नरक के हजारों भेद हैं। उनका वर्णन अब किया जा रहा है—

राजा परीक्षित ने पूछा—‘भगवन्, आप जिनका वर्णन करना चाहते हैं, वे नरक इसी पृथिवी के कोई देशविशेष हैं अथवा त्रिलोकी के बाहर या इसीके भीतर किसी जगह हैं ?’

‘नरका नाम भगवन् किं देशविशेषा अथवा बहिर्लोक्या आहोस्विदन्तराल इति’ ? ॥५/२६/४

श्री शुकदेव जी ने कहा—‘राजन्, नरक त्रिलोकी के भीतर ही हैं तथा दक्षिण की ओर पृथिवी के नीचे जल के ऊपर स्थित हैं। इसी दिशा में अग्निष्वात्त आदि पितृ-गण भी अपने वंशधरों की मङ्गल-कामना करते हुए निवास करते हैं। नरकलोक में यमराज रहते हैं। यह सूर्य के पुत्र हैं। इन्हें पितृराज भी कहा जाता है। इनके बहुत-से दूत एवं सेवक हैं। यह भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन न करते हुए अपने दूतों द्वारा वहाँ लाये गये मृत प्राणियों को उनके दुष्कर्मों के अनुसार पाप का फल दण्ड देते हैं—

‘यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषु यथाकर्माविद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति’ ॥५/२६/६

ऐसे तो नरक बहुत-से हैं, परन्तु उनमें तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव और कुम्भीपाक आदि अट्ठाईस नरक मुख्य हैं। यहाँ कुछ नरकों का नाम, रूप और लक्षण के अनुसार, वर्णन किया जा रहा है—

१. तामिस्र—जो पुरुष दूसरों के धन, सन्तान अथवा स्त्रियों का हरण करते हैं, उन्हें भयङ्कर यमदूत कालपाश में बाँधकर जबर्दस्ती तामिस्र नरक में गिरा देते हैं। वहाँ उन्हें अन्न-जल नहीं मिलता, उल्टे वे डण्डों से पीटे जाते हैं।



२. अन्धतामिस्र-इसी प्रकार जो पुरुष किसी को धोखा देकर उसकी स्त्री आदि को भोगता है, वह अन्धतामिस्र नरक में पड़ता है। यह तामिस्र से भी भयङ्कर है।

३. रौरव-जो मनुष्य दूसरे प्राणियों से द्रोहकर अहङ्कार अथवा ममतावश अपने ही परिवार के भरण-पोषण में लगा रहता है, वह मरने पर रौरव नरक में जाता है। जहाँ भयङ्कर सींगोंवाले रुरु नामक जीव पापी के मांस को नोच-नोचकर खाते हैं, वह रौरवनरक है।

४. कुम्भीपाक-जो पशु-पक्षियों को तेल में पकाता है, उसको यमदूत, कुम्भीपाक नामक नरक में डालकर तेल में वैसे ही पकाते हैं जैसे घड़े में कोई चीज पकाई जाती है—

“यस्त्विह वा उग्रः पशून् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति” ॥५/२६/१३

६. कालसूत्र-जो मनुष्य इस लोक में माता-पिता, ब्राह्मण और वेद से विरोध करता है, उसे यमदूत कालसूत्र नामक नरक में ले जाते हैं। इसका घेरा दस सहस्र योजन है। इसकी भूमि ताँबे की है। यहाँ का मैदान ऊपर के सूर्य और नीचे की आग से दहकता रहता है। इसी पर पापी को इधर से उधर दौड़ाया जाता है। भूख-प्यास से विकल छटपटाता हुआ वह मूर्च्छित होकर इधर-उधर गिरता रहता है। शरीर में जितने रोम हैं उतने वर्षों तक उसे यह गति भोगनी पड़ती है—“दुःखानुभवः कालः सूच्यते ज्ञायते अस्मिन्निति कालसूत्रम्” ।

७. असिपत्रवन-जो पुरुष किसी प्रकार की आपत्ति न आने पर भी अपने वैदिक मार्ग को छोड़कर अन्य पाखण्डपूर्ण धर्मों का आश्रय लेता है, उसे असिपत्रवन में ले जाकर कोड़ों से पीटा जाता है, जिससे वह इधर-उधर भागता है। दौड़ने में वह वृक्षों से टकराता है। इससे उसके अङ्ग तीक्ष्ण धारवाले पत्तों से कट-कट कर गिरते हैं। इस प्रकार उसे पाखण्ड धर्म के आश्रय का फल भोगना पड़ता है।

८. शूकरमुख-जो राजा निरपराध प्राणी को दण्ड देता है। ब्राह्मण को प्राणदण्ड देता है। उस पापी राजा को शूकरमुख कोल्हू में डाल कर यम दूत गन्ने की तरह पेरते हैं।

९. अन्धकूप-मच्छर, खटमल आदि की जीविका है—प्राणी का रक्त चूसना। इसमें उन्हें पाप नहीं लगता अतः जो व्यक्ति इनकी हत्या करता है, उसे उस नरक में डाला जाता है<sup>१</sup>। वहाँ उस व्यक्ति के द्वारा मारे गये जीव ही उसका खून चूस-चूसकर पीते हैं। वह अन्धकार में इधर-उधर भटकता फिरता है। उसे शयन करने का भी अवसर नहीं उपलब्ध होता।

१०. कृमिभोजन-जो व्यक्ति बिना पञ्च महायज्ञ किये, बिना किसी दूसरे को दिये स्वयं भोजन कर लेता है, वह कृमिकुण्ड नरक में गिरता है। वहाँ वह सुदीर्घकाल तक कृमि बन कर रहता है और कृमि ही भोजन करता है।

११. संदंश-जो लोग चोरी से अथवा जबर्दस्ती ब्राह्मण के अथवा किसी दूसरे के धन का अपहरण करते हैं, उन्हें यमदूत इस नरक में डाल कर उनके खाल की खिंचाई सँझसी से करते हैं—

“यस्त्विह वैस्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्य वापहरन्त्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कुर्वन्ति” ॥५/२६/१९॥

१. अन्धकूप नरक के प्रतिपादन का भगवत के ही इस कथन से विरोध होता है कि—“मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या ॥ ७/९/१४॥ बिच्छू और साँप आदि की हत्या से सज्जन व्यक्ति भी प्रसन्न होते हैं।



१२. सप्तसूर्मि—जो व्यक्ति अगम्या स्त्री के साथ सम्भोग करता है अथवा कोई स्त्री अगम्य पुरुष से व्यभिचार करती है, तो यमदूत उसे इस नरक में ले जाकर कोड़ों से पीटते हैं तथा पुरुष को तप्त लौह स्त्री-मूर्ति से और स्त्री को तपाई हुई पुरुष-प्रतिमा से आलिङ्गन कराते हैं ।

१३. वज्रकण्टकशाल्मलि-निरय—जो व्यक्ति पशु आदि सभी के साथ व्यभिचार करता है, उसे मृत्यु के बाद यमदूत वज्र के समान तीक्ष्ण काँटोंवाले सेमर के वृक्ष पर चढ़ा कर नीचे की ओर खींचते हैं ।

१४. वैतरणी—जो राजा अथवा राजपुरुष इस लोक में श्रेष्ठ कुल में जन्म लेकर भी धर्म की मर्यादा का उच्छेदन करते हैं, वे वैतरणी नदी में डकेले जाते हैं । यह नदी मल-मूत्र, पीब, रक्त, मांस और मज्जा आदि दुर्गन्धभरी वस्तुओं से भरी रहती है । पापी उसी में डूबता उतरता स्वकृत कर्म का फल भोगता है । “वितरणं दानं तेन तीर्यते इति वैतरणी” ।

१५. पूयोद—जो लोग शौच और आचरण के नियमों का परित्याग कर तथा लज्जा को छोड़कर इस लोक में शूद्राओं के साथ सम्बन्ध जोड़कर पशुओं के समान आचरण करते हैं, वे भी मरने पर पीब, विष्ठा, मूत्र, कफ और मल से भरे हुए, पूयोद नामक समुद्र में गिरकर उन अत्यन्त घृणित वस्तुओं को ही खाते हैं ।

१६. प्राणरोध—जो ब्राह्मणादि उच्च वर्ण के लोग कुत्ते या गधे पालते हैं और शिकार आदि करते हैं, वे इस नरक में गिराये जाते हैं । यहाँ यमदूत उन्हें बाणों से बींघते हैं ।

१७. विशसन—जो पाखण्डी लोग पाखण्डपूर्ण यज्ञों में पशुओं का वध करते हैं, उन्हें मरने पर वैशस (विशसन) नरक में डालकर वहाँ के अधिकारी उनके अङ्गों को तीखे शस्त्र से खण्ड-खण्ड करते हैं ।

१८. लालाभक्ष—जो द्विज कामातुर अतः विवेकशून्य होकर अपनी सवर्णा भार्या के मुख में वीर्यपात करते हैं । मरने पर उन्हें इस नरक में वीर्यपान कराया जाता है ।

१९. सारमेयादन—सारमेय कहते हैं कुत्ते को । इस नरक में ७२० तीक्ष्ण दाँतों वाले कुत्ते रहते हैं । जो चोर अथवा राजा या राजपुरुष इस लोक में किसी के घर में आग लगा देते हैं, किसी को विष दे देते हैं अथवा लोगों को लूटते हैं, उन्हें यमदूत इस नरक में डाल कर वज्र के सदृश तीखे दाँतवाले इन कुत्तों से कटवाते हैं ।

२०. अवीचिमान्—जो व्यक्ति झूठी गवाही देता है, व्यापार अथवा दान की बेला में मिथ्या बोलता है उसे १०० योजन ऊँचे पर्वत के ऊपर से शिर के बल नीचे गिराया जाता है । वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि नीचे जल है किन्तु रहती है पत्थर सदृश अतिकठोर भूमि, जिस पर गिर कर पापी का शरीर सौ-सौ टुकड़े हो जाता है ।

२१. अयःपान—जो ब्राह्मण या ब्राह्मणी अथवा और कोई भी व्रत के समय मदिरा पान करते हैं, मरने पर उन्हें यहाँ गलाया हुआ गरम लोहा पिलाया जाता है ।

२२. क्षारकर्दम—जो स्वयं है तो अधम किन्तु उच्च होने का स्वांग रचता है और बड़े लोगों का सम्मान नहीं करता उसे लवणात्मक कर्दम-कुण्ड में नीचे शिर के बल डुबाया जाता है इससे उसे असह्य वेदना होती है ।

२३. रक्षोगणभोजन—जो पुरुष अथवा स्त्री काली, भैरव आदि को नरबलि देते हैं और प्रसादरूप में उस मांस को खाते हैं, वे इस नरक में गिराये जाते हैं । बलि चढ़ाये गये नर वहाँ राक्षस बन कर उनके मांस को खाते और रक्त को पीते हैं तथा आनन्दित होकर नाचते-गाते हैं ।

१. दानं वितरणं प्रोक्तं तेन सा तीर्यते यतः । वैतरणीति ततः प्रोक्ता गोदानेन विशेषतः ॥

अर्थ—वितरण कहते हैं दान को । दान देने से उसे पार किया जा सकता है; अतः वैतरणी कहते हैं । गोदान से इसे सरलता से पार किया जा सकता है ।



२४. शूलप्रोत-जो क्रूर-हृदय बाणों से बीधकर पशुओं की हत्या करते हैं, आखेट करते हैं, मरने पर उन्हें ही इस नरक में डालकर शूल में पिरो दिया जाता है। तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी भी उनके मांस को नोच-नोचकर खाते हैं। इस प्रकार उन्हें असह्य वेदना की अनुभूति होती है।

२५. दन्दशूक-जो सर्पों के समान उग्र स्वभाववाले पुरुष बात-बात में क्रुद्ध होकर दूसरों को उद्विग्न करते हैं, वे ही इस नरक में गिराये जाते हैं। यहाँ पाँच-सात मुखवाले भयङ्कर सर्प उन्हें रह-रहकर डँसते रहते हैं और चूहों के समान निगलते रहते हैं। दन्दशूक कहते हैं—सर्प को “ये त्विह वै भूतान्युद्वेजयन्ति नरा उत्त्वणस्वभावा यथा दन्दशूकास्तेऽपि प्रेत्य नरके दन्दशूकाख्ये निपतन्ति यत्र नृप दन्दशूकाः पञ्चमुखाः सप्तमुखा उपसृत्य ग्रसन्ति यथा बिलेश्यान्” ॥५/२६/३३

२६. अवटनिरोध-जो व्यक्ति यहाँ दूसरों को कालकोठरियों में बन्द कर देते हैं; उन्हें यमदूत वैसे ही स्थानों में बन्दकर विषैली गैस भर कर उनका दम घोटते हैं।

२७. अक्षिपर्यावर्तन-जो गृहस्थ अपने यहाँ आगत अतिथि अभ्यागतों को वक्र दृष्टि से देखते हैं उन्हें इस नरक में गिराया जाता है। वहाँ कङ्क, गीध, और कौएं आदि इनकी आँखों को नोच-नोचकर निकालते हैं।

२८. सूचीमुख-जो अपने को धनाढ्य मानकर दूसरों को वक्र दृष्टि से देखता है और बात-बात पर सन्देह करता है। यक्ष के समान धन-सङ्ग्रह कर किसी को कानी कौड़ी भी नहीं देता उस धनपिशाच को इस नरक में डाला जाता है। वहाँ इसके अङ्गों को फाड़-फाड़ कर वैसे ही सुई से सिला जाता है जैसे दर्जी कपड़ों को सिलता है।

हे राजन्, यह तो एक दिग्दर्शन रहा। यमलोक में इस प्रकार के सहस्रशः नरक हैं। उनमें कुकर्म-निरत प्राणियों को बारी-बारी से जाना पड़ता है। इसी तरह जो व्यक्ति शुभ कर्मों में लगे हैं वे पुण्यात्मा जन स्वर्ग की यात्रा करते हैं। पाप और पुण्यों को भोगकर प्राणी भोग से शेष बचे हुए पाप और पुण्यों के साथ पुनः इस भू-मण्डल में जन्म लेता है। धर्म और अधर्म-दोनों से विलक्षण निवृत्तिमार्ग है। इसका पीछे द्वितीय स्कन्ध में वर्णन किया जा चुका है। पुराणों में जिसका चौदह भुवन के रूप में वर्णन किया गया है, वह ब्रह्माण्डकोश इतना ही है। यह भगवान् का अत्यन्त स्थूलरूप है। स्थूलरूप के वर्णन, श्रवण और चिन्तन से व्यक्ति, उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित, भगवान् के सूक्ष्म रूप का भी अनुभव कर सकता है।

परीक्षित, मैंने आप से पृथिवी, उसके अन्तर्गत द्वीप, वर्ष, पर्वत, आकाश, समुद्र, पाताल, दिशा, नरक, ज्योतिर्गण और लोकों की स्थिति का वर्णन कर दिया। यही भगवान् का अति अद्भुत स्थूल रूप है जो समस्त जीवसमुदाय का आश्रय है—

भू-द्वीप-वर्ष-सरिदद्रि-नभः-समुद्र-पाताल-दिङ्-नरक-भागण-लोकसंस्था ।

गीता मया तव नृपान्दुतमीश्वरस्य स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम ॥

५/२६/४०

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के पञ्चम स्कन्ध का यह छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६॥

॥ पञ्चम स्कन्ध समाप्त ॥५॥



## षष्ठ स्कन्ध

### पहला अध्याय

#### ( अजामिल का उपाख्यान )

यह छठा स्कन्ध अनुग्रह स्कन्ध है। अनुग्रह को पोषण भी कहते हैं—“पोषणं तदनुग्रहः” (२/१०/४)। जैसे माता अपने सब प्रकार के बच्चे का पालन-पोषण करती है, वैसे ही भगवान् जीव को किसी भी दशा में नहीं छोड़ते, उसका पालन-पोषण किया करते हैं। इसी का नाम है पुष्टि। इस षष्ठ स्कन्ध में स्थान-स्थान पर इसी का वर्णन किया गया है।

अब राजा परीक्षित जी ने कहा—“महाराज शुकदेवजी, आपने निवृत्ति-प्रवृत्ति मार्ग, सृष्टि, स्थिति, प्रलय, धर्म, अधर्म और अधर्म के कारण प्राप्त होनेवाले नरकों का वर्णन किया। उत्तानपाद, प्रियव्रत आदि के अति प्रशस्त पावन चरित को सुनाया। उनके मङ्गलमय प्रस्थान आदि का वर्णन किया। किन्तु आपने जिन नरकों का वर्णन किया है, उनमें तो भयङ्कर तीव्र यातनाएँ प्रदान की जाती हैं अतः अब आप कृपा करके कुछ ऐसा उपाय बताएँ जिससे मनुष्य इन भयङ्कर यातनावाले नरकों में न जाय—

अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नरः। नानोभयातनाभ्रेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥६/१/६  
श्रीशुकदेवजी महाराज ने कहा—मनुष्य मन, वाणी और शरीर से पाप करता है यदि वह उन पापों का यथावत् प्रायश्चित्त नहीं करता तो उसे नरकों में जाकर अवश्य तीव्र यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं अतः बड़ी सावधानी और सजगता के साथ इसी जीवन में व्यक्ति को अपने पापों का प्रायश्चित्त यहीं कर लेना चाहिये, जिससे मरने पर उसे नरक की यातनाएँ न भोगनी पड़ें। कुशल वैद्य रोगों को उभड़ने के पहले ही रोगों का निदान कर झटपट उनकी चिकित्सा कर डालता है—

न चेदिहैवापचितं यथांहसः कृतस्य कुर्यान्मनउक्तिपाणिभिः।

ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः॥

तस्मात्पुरैवाशिवह पापनिष्कृतौ यतेत मृत्योरविपद्यताऽऽत्मना।

दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित्॥६/१/७-८

राजा परीक्षित ने कहा—“महाराज, हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य, पाप करना अनुचित है,— यह जानते हुए भी पाप करता है। ऐसा करने में उसकी विवशता ज्ञात होती है। ऐसी अवस्था में उसके पापों का प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ? वह कभी तो प्रायश्चित्त करके पूर्वकृत पापों से छुट्टी पा लेता है, परन्तु फिर पाप करने में प्रवृत्त हो जाता है। फिर उसके पापों का अन्त कैसे होगा ? प्रायश्चित्त करने के बाद यदि मनुष्य पुनः पाप-कर्म में प्रवृत्त होता है, तो उसका प्रायश्चित्त वैसे ही व्यर्थ हो जाता है जैसे हाथी का स्नान व्यर्थ है; क्योंकि वह स्नान के बाद पुनः अपने ऊपर धूलि डाल लेता है। ऐसी स्थिति में प्रायश्चित्त<sup>१</sup> से क्या लाभ ?

शुकदेव महाराज ने कहा—‘राजन्, आपका कहना ठीक है। सत्य तो यह है कि कर्म से कर्म पूरी तरह कटता नहीं है, क्योंकि प्रायश्चित्त कर्म का कर्ता अधिकारी पुरुष अज्ञानी है। अज्ञान के रहते पाप की वासनाएँ पूरी तरह मिट नहीं सकती अतः पाप का सच्चा प्रायश्चित्त तो तत्त्वज्ञान ही है—

१. प्रायश्चित्त—“प्रायः पापं विनिर्दिष्टं, चित्तं तस्य विशोधनम्।”

यहाँ प्रायः का अर्थ है—पाप और चित्त का अर्थ है—उसका विशोधन। प्रायश्चित्त का पूरा अर्थ हुआ—पापों का



कर्मणा कर्मनिर्हारी न ह्यात्यन्तिक इष्यते । अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥

६/१/११

जो व्यक्ति सावधान रहकर सर्वदा पथ्य भोजन ही करता है, उसे कभी रोग अपने वश में नहीं कर सकते ।  
वैसे ही राजन्, जो पुरुष यम-नियम आदि का पालन करता है, वह धीरे-धीरे पाप-वासनाओं से मुक्त होकर कल्याणप्रद तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है । जैसे बाँस के जङ्गल में लगी आग सारे जङ्गल को जला कर भस्म कर देती है—वैसे ही धर्म को जाननेवाला श्रद्धावान् धीरे पुरुष तपस्या, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियदमन, मन की स्थिरता, दान, सत्य, बाह्याभ्यन्तर की पवित्रता तथा यम और नियम—इन नौ साधनों से मन, वाणी और शरीर द्वारा किये गये बड़े-से-बड़े पापों को भी नष्ट कर देता है । परीक्षित् भगवान् की शरण में गये हुए कुछ लोग केवल भक्ति के द्वारा ही अपने सम्पूर्ण पापों को वैसे ही समाप्त कर देते हैं, जैसे सूर्य कुहरे को नष्ट कर देता है—

केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः । अद्यं धुन्वन्ति कात्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥

६/१/१५

शुकदेव महाराज अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं—

राजन्, पापी पुरुष की जैसी शुद्धि भगवान् को आत्मसमर्पण करने से और उनके भक्तों का सेवन करने से होती है, वैसी शुद्धि तपस्या आदि के द्वारा नहीं होती—

न तथा ह्यधवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवया ॥ ६/१/१६

यह भक्ति-मार्ग संसार में सबसे सरल, सबसे उत्तम, भयरहित और कल्याणकारी है । इस मार्ग पर भगवत्परायण सुशील साधुजन चला करते हैं । परीक्षित्, जैसे शराब से भरे घड़े को नदियाँ पवित्र नहीं कर सकतीं, वैसे ही बड़े-बड़े प्रायश्चित्त, बार-बार किये जाने पर भी भगवान् से विमुख व्यक्ति को पवित्र करने में समर्थ नहीं हैं ।

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥

६/१/१८

जिन लोगों ने एक बार भी भगवान् के चरण-कमलों में अपना मन लगा दिया, जिनका भगवान् के गुणों के वर्णन में अगाध प्रेम हो गया, उन्होंने अपने सारे पापों का प्रायश्चित्त मानो कर डाला । वे कभी स्वप्न में भी यमराज अथवा उनके पाशधारी दूतों का मुख नहीं देख सकते—

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तदगुणरागि यैरिह ।

न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥ ६/१/१९

परीक्षित्, इस विषय में आप को एक प्राचीन इतिहास सुना रहा हूँ । इसमें विष्णुदूत और यमदूतों का संवाद है । आप ध्यानपूर्वक मुझसे उसे सुनो—

कान्यकुब्ज देश में अजामिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था । कान्यकुब्ज को ही आजकल कन्नौज कहते हैं । अजामिल वहीं का रहनेवाला था । उसके बाप ने अजामिल नाम इस अभिप्राय से रखवा कि यह अज = ब्रह्म में, आ = पूर्ण रूप से मिल जायगा—अजे = ब्रह्मणि आ = समन्तात् मिलतीति अजामिलः । किन्तु हो गया इसका उल्टा । वह अज में न मिलकर मिल गया अजा = माया में—अजायाम् = मायायां मिलतीति अजामिलः । वह संसार में पूर्ण निमग्न रहनेवाला निकला । अजामिल नाम मात्र का ब्राह्मण था । उसके सारे सदाचार नष्ट हो चुके थे । उसने पत्नी का परित्याग कर घर में एक दासी को रख लिया था । वह पतित कभी यात्रियों को बाँध कर उन्हें लूट लेता था । कभी लोगों को जुए (धूत) में छल करके हरा देता, धोखा देकर किसी का धन हड़प लेता और किसी का चुरा



लेता। इस प्रकार पापपूर्ण तरीके से वह अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करता था और दूसरे प्राणियों को महान् कष्ट देता था। वह अत्यन्त अपवित्र और प्राणिहंसक था। ब्राह्मण की वृत्ति से विपरीत उसका आचरण था। वह महान् कामी था अतः उसके कई बच्चे हुए। इस प्रकार अनुचित साधनों से पुत्रों का लालन-पालन करते हुए उसके अट्ठासी वर्ष व्यतीत हो गये—

एवं निवसतस्तस्य लालयानस्य तत्सुतान्। कालोऽत्यगाम्हान् राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः॥

६/१/२३

अजामिल के दश बेटे थे। सबसे छोटे-बेटे का नाम था—‘नारायण’<sup>१</sup>। माँ-बाप उसे बहुत प्यार करते थे। वृद्ध अजामिल ने मोह के कारण अपना सम्पूर्ण हृदय अपने बच्चे नारायण को सौंप दिया था। वह उसकी मीठी तोतली बोली सुनकर और बाल-सुलभ उसकी क्रीडाओं को देखकर फूला नहीं समाता था। अजामिल बालक के स्नेह-बन्धन में बँध गया था। जब वह खाता तो उसे भी खिलाता, जब पानी पीता तो उसे भी पिलाता। इस प्रकार वह अतिशय मूढ़ हो गया था। उसे इस बात का भी ध्यान न रहा कि मृत्यु उसके शिर पर आ पहुँची है। मृत्यु के समय उसने हाथों में पाश लिये पास में खड़े तीन यमदूतों को देखा। ये दूत उसे लेने के लिये आये थे। उनका स्वरूप भयङ्कर था। उनके मुख टेढ़ेमेढ़े थे। शरीर के रोएँ खड़े थे—

स पाशहस्तांस्त्रीन् दृष्ट्वा पुरुषान् भृशदारुणान्। वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्णा आत्मानं नेतुमागतान्॥

६/१/२८

उस समय बालक नारायण वहाँ से कुछ दूरी पर खेल रहा था। यमदूतों को देखकर अजामिल अत्यन्त व्याकुल हो गया। घबड़ाहट में चिल्लाकर उसने पुकारा—नारायण, नारायण, नारायण—

दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम्। प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रियः॥६/१/२९

भगवान् के पार्षदों ने देखा कि यह मरते समय हमारे स्वामी भगवान् नारायण का नाम ले रहा है, उनके नाम का कीर्तन कर रहा है अतः वे बड़े वेग से झटपट वहाँ आ पहुँचे। उस समय यमराज के दूत दासीपति अजामिल के शरीर से उसके सूक्ष्म शरीर को खींच रहे थे। विष्णु के दूतों ने उन्हें बलपूर्वक रोक दिया—“वारयामासुरोजसा”<sup>१</sup>। ३१॥ इस पर यमदूतों ने विष्णु के दूतों से कहा—‘अरे, धर्मराज की आज्ञा का निषेध करनेवाले आप लोग हैं कौन ? कहाँ

१. हृदय—एक बार यात्रा करते हुए कुछ महात्मा लोग अजामिल के गाँव पहुँचे। दोपहर की बेला थी। महात्मा भूखे थे अतः पास में खेलते हुए बालकों से उन लोगों ने किसी ब्राह्मण का घर पूछा। बच्चों ने व्यंग्य करते हुए कहा—‘यह सामने ही तो बड़े भारी ब्राह्मण अजामिल का घर है।’ महात्माओं ने बच्चों की बात सच्ची मानी और पहुँच गये अजामिल के द्वार पर। अजामिल जंगल में शिकार के लिये गया था तथा पत्नी दरवाजे पर खड़ी थी। महात्माओं ने भोजन की कामना व्यक्त की। पत्नी खुश हो गई क्योंकि प्रार्थना करने पर भी कोई ब्राह्मण उसके घर भोजन नहीं करता था। उसने झट से सबका पैर धोया। आसन पर बैठाया और बड़े प्रेम से भोजन बनाकर खिलाया। इसी समय अजामिल भी आ गया। न चाहते हुए भी पत्नी की प्रेरणा से उसने दक्षिणा देकर महात्माओं का पैर छुआ। जाते-जाते महात्माओं ने अजामिल की गर्भवती पत्नी से कहा—‘देवी, शीघ्र ही तुम्हें पुत्र उत्पन्न होगा। तुम उसका नाम ‘नारायण’ रखना।’ अजामिल ने कहा, ‘मैं कुछ भी नाम रक्खूँ आप लोगों से क्या मतलब?’ महात्माओं ने उत्तर दिया—‘नारायण’ हमारे भगवान् का नाम है। जब कभी इधर आऊँगा तो यह नाम सुनकर हमलोगों को प्रसन्नता होगी।’ पत्नी ने कहा ठीक है महाराज, यही नाम रक्खूँगी।’ इसीलिये उसका नाम नारायण था।



से आये हैं ? इस पापी को ले जाने से हमें क्यों रोक रहे हैं ? हम धर्मराज के सेवक हैं। उनकी आज्ञा का पालन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमें आप लोग क्यों रोक रहे हैं ?

इस पर भगवान् के पार्षदों ने मुस्कराकर कहा— “तुम लोग धर्मराज के दूत हो तो यह बतलाओं कि धर्म का लक्षण क्या है ? धर्म का तत्त्व क्या है ?—‘ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्च धर्मस्य लक्षणम्’। ३८॥ इसके साथ यह भी बतलाओ कि दण्ड किस-किस को दिया जाता है ? क्या तुम सबको दण्ड देते हो अथवा किसी-किसी को ही दण्ड देते हो” ? इस पर यमराज के दूतों ने उत्तर देना प्रारम्भ किया—“वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः”। ४०॥ वेदविहित कर्म ही धर्म है और वेदनिषिद्ध कर्म ही अधर्म है। वेद स्वयं ही भगवान् के स्वरूप हैं। मानव-कर्म के साक्षी सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, गाएँ, भूमि, जल, इन्द्रियाँ, सन्ध्या, रात-दिन, दिशाएँ, काल और धर्म हैं—

सूर्योऽग्निः खं मरुद्गावः सोमः सन्ध्याऽहनी दिशः ।

कं कुः कालो धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः ॥६/१/४२

इनके द्वारा अधर्म का पता चल जाता है और तब दण्ड का निर्धारण होता है। सभी पापी अपने-अपने कर्मों के अनुसार दण्डनीय होते हैं। कोई भी प्राणी कर्म के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति के गुणों से उसका सीधा सम्बन्ध है अतः उसके द्वारा पुण्यों एवं पापों का होना स्वाभाविक है। यह ब्राह्मण अपने जीवन के प्रथम चरण में बड़ा शास्त्रज्ञ था। शील, सदाचार, और सदगुणों का तो यह खजाना ही था। ब्रह्मचारी, विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, मन्त्रवेत्ता और पवित्र भी था। इसने अपने से बड़ों की सेवा भी की थी। अहङ्कार तो इसे छू भी न गया था। यदि स्वल्प शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह मानवोचित और ब्राह्मणोचित सकल सदगुणों से भरपूर अलङ्कृत था।

एक दिन की घटना है। पिता के आदेश के अनुसार यह जङ्गल में गया। फल-फूल लिया। समिधा की लकड़ी ली और फिर लौट पड़ा घर की ओर। होनी अद्भुत होती हैं। मार्ग में इसने देखा एक कामी स्वस्थ शूद्र-तरुण एक वेश्या के साथ विलास कर रहा है। दोनों मदिरा से मतवाले थे। वेश्या क्या थी, वह तो साक्षात् काम की पिटारी थी। उभरा हुआ वक्षःस्थल, पतली कमर, काली कजरारी बड़ी-बड़ी आँखें, गोल-गोल बाहु और उभरे हुए गोल गड़ारीदार नितम्ब, उस पर वन का एकान्त प्रान्त। शीतल मन्द सुगन्ध वायु बह रही थी। रमण की सारी सामग्री विधाता ने एकत्रित कर दी थी। कामासक्त तरुण ने वेश्या को अपनी भुजाओं में जकड़ कर छाती से लगा रक्खा था। इसी बीच हवा का एक झोंका आया। वेश्या के कटि-तट से साड़ी नीचे खिसक गई। फिर क्या था ? कामी शूद्र ने शुरू कर दी निर्बाध रति-क्रीड़ा। दोनों हो गये आनन्द-विभोर। न तन की सुध और न वातावरण का ध्यान। इस दृश्य को अजामिल कुछ दूर खड़ा-खड़ा ललचाई आँखों से निर्निमेष ताकता रहा। काम का भूत उस पर सवार हो गया। विवेक भाग खड़ा हुआ। कुछ देर तक तो वह मन को वश में करने का प्रयास करता रहा किन्तु अन्त में उसे पराजित होना पड़ा। काम उसके शिर पर चढ़ कर नाच रहा था। अब वह दिन-रात वेश्या का ही ध्यान करने लगा। माता को छोड़ा। पिता को छोड़ा और परित्याग कर दिया अपनी सुन्दरी सुकुलोद्भवा तरुणी स्त्री का। पिता का सारा धन ले जाकर रख दिया उसने वेश्या के चरणों पर और बोला कि आज से मैं तुम्हारा खरीदा गया दास हूँ। तुम्हारे ही पास अब रहूँगा। अब वह न्याय से, अन्याय से जैसे-तैसे धन मिले सब वेश्या को समर्पित कर देता था। उसी के कुटुम्ब के भरण-पोषण में निमग्न रहता था। ऐसा कोई पाप-कर्म नहीं जिसे इसने न किया हो। जीवनभर यह पापकर्म में ही आकण्ठ डूबा रहा अतः अब हम इसे यमराज के पास ले जायेंगे। वहाँ दण्ड द्वारा इसकी शुद्धि होगी। इसने अपने जीवन में कभी भी किसी भी पाप का प्रायश्चित्त नहीं किया है—



तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम् । नेध्यामोऽकृतनिर्वेशं यत्र दण्डेन शुध्यति ॥

६/१/६८

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

## दूसरा अध्याय

( विष्णु के दूतों के द्वारा भागवत धर्म का निरूपण और अजामिल का भगवन्नाम से उद्धार )

श्री शुकदेवजी ने कहा—परीक्षित, यमदूतों की बात को सुनकर धर्म के मर्म को जाननेवाले विष्णु के दूतों ने उनसे इस प्रकार कहा—यमदूतों, यह बड़े खेद की बात है कि धर्मज्ञों की सभा में भी अधर्म का प्रवेश हो रहा है क्योंकि वहाँ भी निरपराध और अदण्डनीय व्यक्तियों को व्यर्थ ही दण्ड दिया जाता है । जो प्रजा के रक्षक हैं, शासक हैं, समदर्शी और परोपकारी हैं—यदि वे ही प्रजा के प्रति विषमता का व्यवहार करने लगे तो फिर प्रजा किसकी शरण में जायेगी ? सत्पुरुष जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग भी वैसा ही करते हैं । बड़े लोग अपने आचरण के द्वारा जिस कर्म को धर्म के अनुकूल प्रमाणित कर देते हैं, लोग उसी का अनुकरण करने लगते हैं—

यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥६/२/४

साधारण लोग पशुओं के समान धर्म और अधर्म का स्वरूप नहीं जानते । वे इस विषय में किसी सत्पुरुष पर विश्वास कर लेते हैं और फिर उसी की गोद में शिर रख कर निर्भय और निःशङ्क हो सो जाते हैं । फिर विश्वास का पात्र वह व्यक्ति विश्वास करनेवाले व्यक्तियों के साथ कैसे विश्वासघात कर सकता है ? यमदूतों, इसने कोटि-कोटि जन्मों की पाप-राशि का पूरा-पूरा प्रायश्चित्त कर लिया है क्योंकि इसने विवश होकर ही सही, भगवान् के परम मङ्गलमय (मोक्षदायक) नाम का उच्चारण तो किया है । जिस समय इसने 'नारायण' इन चार अक्षरोंवाले भगवान् के नाम का उच्चारण किया उसी समय केवल नाम के उच्चारणमात्र से ही, इस पापी के समस्त पापों का प्रायश्चित्त हो गया—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि । यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥

एतेनैव ह्यघोरोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् । यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ॥६/२/७-८

चोर, शराबी, मित्रद्रोही, ब्रह्मघाती, गुरुपत्नीगामी इन पापियों के संसर्ग में रहनेवाला, स्त्री, राजा, पिता और गाय को मारनेवाला—चाहे जैसा और जितना बड़ा भी पापी क्यों न हो वह भगवान् के नाम के उच्चारण से पूर्ण पवित्र हो जाता है । भगवान् के नाम का उच्चारण पापों का सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है—“सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्” । १०॥ नाम के लेने से बुद्धि नामी की ओर लग जाती है और फिर तो कल्याण होना सुनिश्चित है । चान्द्रायण, कृच्छ्र आदि बड़े-बड़े प्रायश्चित्त भी पापी की वैसी शुद्धि नहीं करते जैसी कि भगवान् के नामों का उच्चारण करने से होती है । भगवान् के नाम और गुणों का गान पापकर्मों और वासनाओं की जड़ ही उखाड़कर फेंक देता है फिर तो उससे चित्त सर्वदा के लिये शुद्ध हो जाता है ।

जो मनुष्य गिरने की बेला में, पैर फिसलने के समय, अङ्ग-भङ्ग के काल में, सर्प के डँसने पर, अग्नि से

१. तुलना—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ श्रीमद्भगवद्गीता, ३/२१॥



जलने पर तथा चोट लगने के समय भी विवशता से हरि हरि कह कर भगवान् के नाम का उच्चारण करता है, उसे यम की यातना नहीं भोगनी पड़ती। इसलिये यमदूतों, तुम लोग अजामिल को मत लेजाओ। इसने सारे पापों का प्रायश्चित्त कर लिया है, क्योंकि इसने मरने के समय भगवान् के नाम का उच्चारण किया है।

बड़े-बड़े महात्मा पुरुष यह बात जानते हैं कि सङ्केत में (पुत्र आदि का नाम रखकर), हंसी-मजाक में, गान की बेला में, तान अलापने में अथवा किसी की निन्दा से अथवा किसी भी प्रकार से यदि मनुष्य भगवान् के नाम का उच्चारण करता है तो उसके सारे-के-सारे पाप विनष्ट हो जाते हैं। उसे नरक में यम-यातना नहीं भोगनी पड़ती।

अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतिम्। यदसौ भगवन्नाम प्रियमाणः समग्रहीत् ॥६/२/१३

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥६/२/१४

जानबूझ कर अथवा अनजाने में लिया गया भगवान् का नाम वैसे ही पाप-राशि को भस्म कर देता है, जैसे अग्नि काष्ठसमूह या रुई के ढेर को भस्म कर देती है। वस्तु की स्वाभाविक शक्ति इस बात की प्रतीक्षा नहीं करती कि यह मुझ पर श्रद्धा रखता है कि नहीं, जैसे अग्नि या अमृत। इसी प्रकार अनजान में अनिच्छा से भी पापियों के द्वारा लिया गया भगवान् का नाम उनकी पापराशि को जला डालता है। अनजान में की गई औषधि जैसे अपना प्रभाव प्रदर्शित करती है, वैसे ही अनजान में भी उच्चारण किया गया भगवान् का नाम जन्म-जन्म के पापों को जला डालता है।

श्रीशुकदेव महाराज कहते हैं कि—राजन्, भगवान् के पार्षदों ने भगवान् के नाम की महिमा का वर्णन करके अजामिल को यमदूतों के फन्दे से छुड़ा लिया। यमदूत वापस लौट गये। उन्होंने यमपुरी में पहुँचकर सारा समाचार अपने स्वामी को ज्यों-का-त्यों बतला दिया। इधर यमदूतों के चले जाने से अजामिल कुछ स्वस्थ हुआ। उसका भय जाता रहा। उसने भगवान् के पार्षदों को शिर झुका कर प्रणाम किया। पार्षदों ने देखा कि अजामिल कुछ कहना चाहता है, तब वे सहसा उसके सामने ही अन्तर्धान हो गये। भगवान् के पार्षदों से नाम की महिमा सुनकर और सच्ची बात तो यह है कि पार्षदों के पावन दर्शन से, अजामिल के हृदय में भक्ति का सञ्चार हुआ। अब उसे अपने पापों का स्मरण कर महान् पश्चात्ताप हुआ उसने मन-ही-मन सोचा—‘अरे, मैं कैसा इन्द्रियों का दास हूँ, पापात्मा हूँ। मैंने एक दासी के गर्भ से पुत्र पैदा करके अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया। यह बड़े दुःख की बात है। मुझे बार-बार धिक्कार है। हाय-हाय मैंने अपनी सती साध्वी कुलाङ्गना स्त्री का परित्याग कर शराबी कुलटा का संसर्ग किया। मैंने वृद्ध असहाय माता-पिता का भी परित्याग कर महान् अनर्थ कर डाला। इसके लिये निश्चय ही मुझे नरक की यातना भोगनी पड़ेगी। हाय ! वे चारों सिद्ध कहाँ चले गये, जिन्होंने मुझे यम के फन्दे से छुड़ाया था। अवश्य ही अब मेरा मङ्गल होनेवाला है। यदि यह बात न होती तो मेरे जैसे महान् पापी के मुख से भगवान् का नाम कैसे निकलता ? इसलिये अब मैं कुछ ऐसा प्रयास करूँगा जिससे मुझे नरक की यात्रा न करनी पड़े। यह सब सोच कर अजामिल के हृदय में प्रबल वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने घर-परिवार सब कुछ छोड़ कर हरिद्वार में गङ्गा-तट पर जाकर निवास किया। अब उसके सारे सांसारिक बन्धन समाप्त हो चुके थे—

इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु। गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः ॥६/२/३९

वहाँ उसने इन्द्रियों का संयम किया। प्राण का अवरोध किया और मन को लगा दिया सीधे भगवान् के चरणों में। इससे उसकी समाधि लग गई तथा देहाध्यास की भावना जाती रही।

अजामिल की साधना दिन प्रतिदिन घनी होती गई। प्राणी की अपमृत्यु, अकाल मौत तो टल भी जाती है, किन्तु महामृत्यु नहीं टलती। हरिद्वार में पन्द्रह वर्ष तक साधना कर उसने शतायु व्यतीत की। एक दिन की घटना



है। उसने उन्हीं चार सिद्ध पुरुषों को अपनी ओर आते हुए देखा, जिन्होंने उसे पन्द्रह वर्ष पूर्व यमदूतों के पाश से छुड़ाया था। वह झट-पट आसन से उठ खड़ा हुआ। हाथ जोड़ा और शिर झुका कर प्रणाम किया। प्रणाम की बेला में उसका शरीर निष्पाण होकर गङ्गा के पावन प्रवाह में गिर पड़ा। शरीर गिरते ही तत्काल उसे पार्षद का स्वरूप प्राप्त हो गया। फिर वह उन्हीं पार्षदों के साथ सोने के विमान पर आरूढ़ होकर भगवान् लक्ष्मीपति के निवास-स्थान वैकुण्ठ को चला गया—

साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः । हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥६/२/४४

इस प्रकार अजामिल ने दासी का सहवास करके अपना सारा धर्म-कर्म चौपट कर दिया था। वह महान् पापी था। नियमच्युत होने के कारण नरक में गिरने जा रहा था। परन्तु भगवान् के एक नाम का उच्चारण करने मात्र से वह तत्काल मुक्त हो वैकुण्ठ चला गया। जो लोग भव-बन्धन से छूट कर मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे भगवान् के नाम का आश्रय लें और भगवान् की शरण में चले जाँय। अजामिल का यह इतिहास समस्त पापों का नाश करनेवाला है। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक इसे पढ़ता है, सुनता या सुनाता है, वह कभी नरक में नहीं गिरता। यमराज के दूत तो कभी भी उसकी ओर आँख उठा कर देखने का साहस भी नहीं कर पाते। वैकुण्ठ तो उसका सार्वकालिक स्थान बन जाता है।

अन्त में शुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित् देखो—अजामिल जैसे पापी ने मरने की बेला में पुत्र के बहाने भगवान् के नाम का उच्चारण किया था। फलस्वरूप उसे भी वैकुण्ठ की प्राप्ति हो गई फिर जो लोग श्रद्धा के साथ भगवान् के नाम का उच्चारण करते हैं, उनकी तो बात ही निराली है ॥२॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

## तीसरा अध्याय

( यम और यमदूतों का संवाद )

राजा परीक्षित् ने शुकदेव जी से पूछा—“भगवन्, सारे जीव देवाधिदेव यमराज के वश में हैं। भगवान् के पार्षदों ने उन्हीं की आज्ञा भङ्ग कर दी तथा उनके दूतों को अपमानित कर दिया। जब यमराज के दूतों ने यमपुरी में जाकर उनसे अजामिल का सारा वृत्तान्त कह सुनाया तो उन्होंने अपने दूतों से क्या कहा—

निशम्य देवः स्वभटोपवर्णितं प्रत्याह किं तान् प्रति धर्मराजः ।

एवं हताज्ञो विहतान् मुरारेर्नैदिशिकैर्यस्य वशे जनोऽयम् ॥ ६/३/१

यमराज के दण्डविधान के भङ्ग की बात तो इससे पहले सुनने में कभी नहीं आई। हमें इस पर बड़ा कौतूहल है। आप कृपा कर इसका समाधान करें। इसका निराकरण आपके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं कर सकता।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—‘राजन्, विष्णु के पार्षदों से पराजित यमदूतों ने अपने स्वामी के पास जाकर कहा—‘प्रभो, संसार के जीव तीन प्रकार के कर्म करते हैं—पाप, पुण्य अथवा दोनों से मिश्रित। इन जीवों को कर्म के अनुसार फल देनेवाले शासक कितने हैं ?

कति सन्तीह शास्तारो जीवलोकस्य वै प्रभो । त्रैविध्यं कुर्वतः कर्म फलाभिव्यक्तिहेतवः ॥६/३/४

यदि संसार में दण्ड देनेवाले बहुत-से शासक हों तो किसे दण्ड दिया जाय और किसे दण्ड न दिया जाय, इसकी ठीक-ठीक व्यवस्था कैसे होगी ? हम लोग तो आज तक यही जानते थे कि समस्त जीवों के स्वामी और



दण्डदाता एकमात्र आप ही हैं। किन्तु हमारी इस धारणा का खण्डन हो गया। आज की बात है। आपके आदेश के अनुसार हम एक पापी को बाँध कर ले आने का प्रयास कर रहे थे। उसी समय वहाँ चार सिद्ध पुरुष आये और हमें मार-पीट कर भगा दिया। जिस पाश (रस्सी) से हमने उसे बाँधा था उसे बलपूर्वक उन लोगों ने काट दिया। देखिये यह कटी टूटी रस्सी है—“छित्वा पाशान् प्रसह्य ते”। १॥ उस पापी के मुख से ‘नारायण’ यह नाम निकलते ही ‘तुम डरो मत, तुम डरो मत’ यह कहते हुए वे बड़े वेग से वहाँ आ धमके और हमें डाट कर भगा दिया। हम आप से उनके रहस्य को जानना चाहते हैं। यदि आप हमें सुनने का अधिकारी समझते हों तो बतलाने की कृपा करें—

तांस्ते वेदितुमिच्छामो यदि नो मन्यसे क्षमम् । नारायणेत्यभिहिते मा भैरित्याययुर्हुतम् ॥ ६/३/१०

यमराज ने अपने दूतों की बात सुनी। उन्हें यह ज्ञात कर परम प्रसन्नता हुई कि उनके दूतों को भगवान् के पार्षदों का दर्शन हुआ है। श्रीहरि के चरण-कमलों का स्मरण करते हुए उन्होंने कहा—‘मेरे प्यारे दूतों, इस सारे संसार के प्रधान शासक स्वामी नारायण ही हैं। उन्हीं में यह सम्पूर्ण जगत्, वस्त्र में सूत के समान, ओत-प्रोत है। उन्हीं के अंश ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करते हैं। उन्हीं ही इस सारे जगत् को, नथे हुए बैल के समान अपने अधीन कर रक्खा है। कोई भी व्यक्ति न तो मन से उन्हें ठीक-ठीक जान सकता है और न वाणी से उनका यथार्थ रूप से वर्णन ही कर सकता है। वह मन और वाणी की पहुँच से परे हैं। दूतों, जिस प्रकार घट, पट आदि रूपवान् पदार्थ अपने प्रकाशक नेत्र को नहीं देख सकते—वैसे ही सबके अन्तःकरण में साक्षी रूप से वर्तमान परमात्मा को कोई भी प्राणी मन, वाणी आदि किसी भी साधन द्वारा नहीं जान सकता। वे प्रभु सबके स्वामी और स्वयं परम स्वतन्त्र हैं, वे अकारण कृपालु एवं भक्त-वत्सल हैं। उन्हीं के पार्षद उन्हीं के समान रूप तथा गुणों को धारण कर विचरण किया करते हैं। वे भगवान् के भक्तजनों की सर्वदा रक्षा किया करते हैं। रही बात धर्म की, वह तो साक्षात् भगवान् के द्वारा ही प्रणीत है।

दूतों, धर्म की गति अतिसूक्ष्म है उसे जानना सरल नहीं है। ब्रह्मा, देवर्षि नारद, भगवान् शङ्कर, सनत्कुमार, कपिल, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म पितामह, बलि, शुकदेवजी और मैं (धर्मराज)—ये बारह व्यक्ति ही धर्म का रहस्य ठीक-ठीक जानते हैं। इस संसार में जीवों के लिये सबसे बड़ा धर्म यही है कि वे नामकीर्तन आदि उपायों से भगवान् के चरणों में भक्ति-भाव प्राप्त करें—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः । भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥ ६/३/२२

प्रिय दूतों, भगवान् के नाम के उच्चारण की महिमा तो तुम लोगों ने देख ही ली। अजामिल जैसा महान् पातकी भी एक बार भगवान् का नाम लेने मात्र से यम के फन्दे से मुक्त हो गया इसलिये मनुष्य के पाप का नाश करने के लिये बस इतना ही पर्याप्त है कि भगवान् के गुण का, कर्म का और नाम का सङ्कीर्तन किया जाय। भगवान् के गुण-कर्म का और नाम का सङ्कीर्तन संसारी जीवों के पाप को समाप्त करने के लिये, अध-निर्हरण के लिये सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। इसके बाद फिर किसी प्रायश्चित्त को करने की अपेक्षा नहीं रह जाती किन्तु उसका सबसे बड़ा फल इतना भर ही नहीं है; इसका सबसे बड़ा फल है मुक्ति। देखो, अजामिल ने ‘नारायण’ यह चार अक्षरों वाला नाम मरने की बेला में भगवान् के लिये नहीं अपने पुत्र के लिये कहा था। पर फल यह हुआ कि उसके सारे पाप तो भस्म ही हो गये और उसे मुक्ति भी मिली—

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।

विकृश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति प्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥ ६/३/२४



बड़े-बड़े विद्वानों की मति भी कभी-कभी भगवान् की माया से मोहित हो जाती है। वे बड़े-बड़े यज्ञ-यागादि के फल स्वर्गादि के वर्णन में ही फँसे रह जाते हैं। शास्त्र में अत्यन्त गोप्य इस नाम-माहात्म्य को वे नहीं जान पाते यद्यपि यह है सर्वसरल उपाय प्रायश्चित्त करने का। यही कारण है कि वे पाप का प्रायश्चित्त कृच्छ्रचान्द्रायण आदि अति कठिन एवं दुःखपूर्ण उपाय निर्धारित करते हैं, बतलाते हैं। मनु आदि धर्मशास्त्रियों ने सारे पापों का बड़ा और छोटा प्रायश्चित्त तो बतलाया, किन्तु नामोच्चारण से पापों के विनाश की बात नहीं कही। इसका कारण यह भी हो सकता है कि यदि सभी लोग नाम-माहात्म्य को ठीक-ठीक जान जायेंगे तो सभी प्राणियों की मुक्ति हो जायगी। इस प्रकार सृष्टि का ही लोप हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि यदि साधारण जन नाम-महिमा को जान जायेगा तो वह पाप करना नहीं छोड़ेगा। वह सोचेगा पाप करो, कोई चिन्ता नहीं। अन्त में भगवान् का नाम लेकर मुक्त हो जायेंगे। किन्तु यह है 'नामापराध'। भगवान् के नाम के बल पर पाप करना नाम एवं नामी के प्रति महान् अपराध है।

भक्ति-शास्त्रों का तो यहाँ तक डिण्डिम घोष है कि—श्रीहरि के नामों में जितने पापों के विनाश की शक्ति है, उतना पाप कोई पातकी कर ही नहीं सकता—

नामोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः । तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकीजनः ॥

मेरे दूतों, भक्तों की रक्षा भगवान् की गदा किया करती है। उनके पास तुम लोग कभी भूल कर भी मत जाना। उन्हें दण्ड देने का सामर्थ्य न हममें है और न साक्षात् काल में ही—“नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे”। २७॥

अपने स्वामी यमराज की बात को सुनकर दूतों को महान् आश्चर्य हुआ फिर उनलोगों ने हाथ जोड़ कर पूछा—“तो प्रभो, आप यह बतलायें कि कैसे लोगों के पास हम लोग जाँय और उन्हें पकड़कर लावें?” इस पर यमराज ने कहा—बड़े-बड़े परमहंस दिव्य रसके आस्वादन के लोभ से, संपूर्ण जगत् और शरीर आदि से अपनी अहंता और ममता त्याग कर, अकिञ्चन होकर निरन्तर भगवान् मुकुन्द के चरण-कमल का पान करते रहते हैं जो दुष्ट जन इस अद्भुत रस से विमुख हैं और नरक के द्वार घर-गृहस्थी का बोझ ढो रहे हैं, ऐसे ही लोगों को मेरे पास बार-बार लाया करो अर्थात् भगवान् से विमुख तथा घर-गृहस्थी में ही आकण्ठ निमग्न लोगों को ही तुम लोग मेरे पास लाया करो—

तानानयध्वमसतो विमुखान् मकुन्दपादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।

निष्किञ्चनैः परमहंसकुलै रसज्ञैर्जुष्टाद् गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ॥६/३/२८

जिनकी जिह्वा भगवान् के गुणों और नामों का उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त कभी भगवान् के चरण-कमल का चिन्तन नहीं करता और जिनका शिर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों पर एक बार भी नहीं झुकता, भगवत्सेवा से विमुख ऐसे ही पापियों को मेरे पास लाया करो—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥६/३/२९

यमराज इस प्रकार अपने दूतों को समझाकर भगवान् का ध्यान करते हुए बोले—प्रभो, “आज मेरे दूतों ने आप के पार्षदों के प्रति अपराध करके स्वयं आप का ही तिरस्कार किया है। यह मेरा ही अपराध है। सेवकों के द्वारा किया गया अपराध स्वामी का अपराध माना जाता है। पुराण पुरुष भगवान् नारायण आप हमलोगों का यह अपराध क्षमा करें। महापुरुषों का तो यह स्वभाव ही है कि वे बड़ा-से-बड़ा अपराध भी क्षमा कर देते हैं। हम अज्ञानी हैं, पर हैं तो आप के ही आज्ञाकारी सेवक। मैं आप अनन्त प्रभु को प्रणाम कर रहा हूँ।”

श्रीशुकदेवजी अन्त में निर्गलितार्थ उपस्थित करते हुए कह रहे हैं कि—“राजन, इसलिये तुम यह समझ लो कि बड़े-से-बड़े पापों का सर्वोत्तम और अन्तिम प्रायश्चित्त यही है कि केवल भगवान् के गुणों, लीलाओं तथा नामों का कीर्तन किया जाय इसी से सारे संसार का कल्याण हो सकता है—



तस्मात् सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमहंसात् । महतामपि कौरव्य विन्द्यैकान्तिकनिष्कृतिम् ॥

६/३/३१

नामों के सङ्कीर्तन से भगवान् की भक्ति होती है । मन में भगवद्भक्ति के आ जाने से माया के गुणों में मन नहीं रमता । जिसके हृदय में भक्ति नहीं आती, वे एक बार यदि वासनाओं को छोड़ भी दें तो फिर उनके मन में वासनाएँ वापस आ जाती हैं । जब यमदूतों ने भगवद्भक्ति की ऐसी महिमा सुनी तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा । तभी से वे भक्तों को दूर से ही देखकर भयभीत हो जाते हैं और फिर उनके पास जाने का दुस्साहस नहीं करते हैं । उनकी ओर आँख उठाकर देखने में भी डरते हैं ।

राजन्, यह इतिहास परम गोपनीय एवं रहस्यमय है । मलयपर्वत पर विराजमान भगवान् अगस्त्यजी ने श्रीहरि की पूजा करते समय मुझे यह सुनाया था । अब बतलाओं क्या सुनना चाहते हो ?

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

## चौथा अध्याय

### ( सृष्टि के लिये दक्ष के द्वारा भगवान् की आराधना )

राजा परीक्षित ने पूछा—मुनिवर, आप ने संक्षेप से तृतीय स्कन्ध में इस बात का वर्णन किया है कि स्वयाम्भुव मन्वन्तर में देवता, असुर, मनुष्य, सर्प और पशु-पक्षी आदि की सृष्टि कैसे हुई । अब मैं उसी को विस्तार से जानना चाहता हूँ । आप कृपा कर वह प्रसङ्ग एक बार फिर से मुझे सुनाएँ ।

श्रीशुकदेव जी ने कहा—प्राचीनबर्हि के दश पुत्र थे । सबका समवेत नाम था—‘प्रचेता’ । तपस्या पूरी होने पर जब प्रचेता लोग सागर से बाहर निकले तो उन लोगों ने देखा कि सारी-की-सारी पृथिवी वृक्षों से भर गई है अतः वृक्षों पर उन्हें महान् क्रोध आया । क्रोधवश वे अपने मुख से वायु और अग्नि को उत्पन्न कर वृक्षों को जलाना प्रारम्भ किये । यह देख कर वनस्पतियों के राजाधिराज चन्द्रमा ने उनका क्रोध शान्त करते हुए कहा—‘भाग्यशाली प्रचेताओं, ये वृक्ष अति दीन हैं । आपलोग इनसे द्रोह मत कीजिये । आप प्रजापति हैं, प्रजा की वृद्धि करना चाहते हैं । भगवान् श्रीहरि ने सम्पूर्ण वनस्पतियों और ओषधियों को प्रजा के हितार्थ उनके खान-पान के लिये बनाया है । संसार में पंखों से उड़नेवाले चर प्राणियों के भोजन फल-पुष्पादि अचर पदार्थ हैं । गौ, महिष आदि चतुष्पाद प्राणियों के लिये अपद घास आदि भोजन हैं । व्याघ्र आदि के लिये बिना हाथवाले मृग आदि भोजन बनाये गये हैं और दो पैरवाले मनुष्यों के लिये जौ, गेहूँ आदि अन्नों के साधनभूत चतुष्पाद बैल आदि रचे गये हैं—

अन्नं चराणामचरा ह्यपदः पादचारिणाम् । अहस्ता हस्तयुक्तानां द्विपदां च चतुष्पदः ॥६/४/९

निष्पाप प्रचेताओं, आप के पिता और देवाधिदेव भगवान् ने आप लोगों को यह आदेश दिया है कि प्रजा की सृष्टि करो । ऐसी स्थिति में आप वृक्षों को जला डालें, यह कैसे उचित हो सकता है ? आप लोग अपना क्रोध शान्त करें और सत्पुरुषों के मार्ग का अनुसरण करें । सारे प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से भगवान् विराजमान हैं । यदि क्रोध को शान्त कर लेते हैं तो भगवान् आपलोगों पर प्रसन्न होंगे । अब आप लोग वृक्षों को मत जलाइये और जो कुछ बच गये हैं, उनकी रक्षा कीजिये । इससे आपका भी कल्याण होगा । अब आप लोग वृक्षों के द्वारा पालित-पोषित इस वार्शी (मारिषा) सुन्दरी-शिरोमणि कन्या को अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण करें—



अलं दग्धैर्दुर्मैर्दिनैः खिलानां शिवमस्तु वः । वाक्षीं ह्येषा वरा कन्या पत्नीत्वे प्रतिगृह्यताम् ॥

६/४/१५

परीक्षित, वनस्पतियों के राजा चन्द्रमा ने प्रचेताओं को इस प्रकार समझा-बुझाकर उन्हें प्रम्लोचा अप्सरा की कोख से उत्पन्न सुन्दरी कन्या दे दी और वे वहाँ से चले गये । प्रचेताओं ने धर्मानुसार उसका पाणिग्रहण किया । उन्हीं प्रचेताओं के द्वारा उस कन्या के गर्भ से प्राचेतस दक्ष की उत्पत्ति हुई फिर दक्ष की प्रजा-सृष्टि से त्रिलोकी भर गई । इनका अपनी पुत्रियों पर अपार स्नेह था । पहले प्रजापति दक्ष ने मन से ही जल, स्थल और आकाश में रहनेवाले देवों, असुरों और मनुष्यों की सृष्टि अपने संकल्प से ही की किन्तु जब उन्होंने देखा कि मानसी सृष्टि बढ़ नहीं रही है तो उन्होंने विन्ध्याचल के निकटवर्ती पर्वतों पर जाकर घनघोर तपस्या की । वहाँ एक अत्यन्त श्रेष्ठ तीर्थ है, उसका नाम है—अघमर्षण<sup>१</sup> । यह सारे पापों को धो डालता है । दक्ष उस तीर्थ में त्रिकाल स्नान करते और 'हंसगुह्य' स्तोत्र से स्तुति करते थे—

विन्ध्यपादानुपन्नज्य सोऽचरद् दुष्करं तपः ॥६/४/२०

तत्राघमर्षणं नाम तीर्थं पापहरं परम् । उपस्पृश्यानुसवनं तपसातोषयन्दरिम् ॥६/४/२१  
जिस हंसगुह्य स्तोत्र से भगवान् दक्ष पर प्रसन्न हुए थे, उसे सुनाता हूँ । सावधान होकर सुनिये । यह स्तोत्र अतिशय प्राचीन है, दक्ष-निर्मित नहीं है । इसका प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

दक्ष प्रजापति ने इस प्रकार स्तुति की—‘प्रभो, आप सबके अधिष्ठाता, प्रेरक पुरुषोत्तम हैं । आप ही कार्य में निमित्तभूत प्रकृति के प्रवर्तक हैं । आप सत्य सङ्कल्प हैं । विषयों में आकण्ठ निमग्न जीव आपके स्वरूप को देख नहीं पाते । ऐसे अगम और स्वयंप्रकाश आप को मैं हृदय में धारण कर रहा हूँ, प्रणाम कर रहा हूँ—

नमः परायावितथानुभूतये गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।

अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभिर्वृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे ॥६/४/२३

हे नाथ, यों तो जीव और ईश्वर एक दूसरे के सखा हैं, मित्र हैं तथा इसी शरीर में एक साथ निवास भी करते हैं फिर भी जीव ईश्वर को वैसे ही नहीं जान पाता जैसे रूप आदि विषय चक्षु आदि इन्द्रियों को नहीं जान पाते । प्रभो, आप दुर्ज्ञेय हैं । मैं आपको प्रणाम करता हूँ ।

हे स्वामिन्, देह, प्राण और इन्द्रिय आदि जड़ पदार्थ हैं । जड़ होने के कारण ये अपने को तथा अपने से अतिरिक्त किसी अधिष्ठाता देवता आदि को नहीं जानते । किन्तु जीव इन सबको जानता हुआ भी सर्वज्ञ आपको नहीं जान पाता । ऐसे सर्व समर्थ आपका मैं स्तवन कर रहा हूँ—“न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे” ॥२५॥

इस प्रकार जब दक्ष ने अघमर्षण क्षेत्र में भगवान् की ऐसी स्तुति की, तब भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये । उस समय भगवान् के चरण गरुड के कन्धे पर विराजमान थे । विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट उनकी आठ भुजाएँ थीं । उनमें चक्र आदि आयुध सुशोभित हो रहे थे, उनके श्यामविग्रह पर पीताम्बर सुशोभित था, मुख-कमल खिला हुआ था, नेत्रों से कृपा की वृष्टि हो रही थी, वे घुटने तक लटकती वनमाला धारण किये हुए थे, वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्न से

१. ‘अघमर्षण’ तीर्थ अष्टभुजा पहाड़ी के पास गङ्गा के तट पर बसा आज का ‘अकोढ़ी’ ग्राम प्रतीत होता है । ‘अघमर्षण’ का ही बिगड़ा हुआ नाम अकोढ़ी है । उसी के पास ही विरोही ग्राम है जहाँ कि वीरभद्र की अतिप्राचीन मूर्ति भी है, जिसे बाद में स्थापित किया गया होगा । यहाँ कभी दक्ष ने एक महान् यज्ञ भी किया था । यह यज्ञ-स्थल छानवे बीघे में फैला था, जिसे आज छनवड़ कहते हैं—ऐसी प्रसिद्धि वहाँ आज भी चर्चा का विषय है । आज भी छानवे में कहीं-कहीं गङ्गा खोदने पर अधजली लकड़ियाँ और कोयले निकलते हैं ।



अङ्कित था और कण्ठ में कौस्तुभ मणि जगमगा रही थी। गन्धर्व आदि उनके गुणों का गान कर रहे थे। भगवान् के ऐसे अद्भुत दुर्लभ रूप को देख कर दक्ष आनन्द के सागर में निमग्न हो गये। भगवान् के चरणों पर दण्ड की भाँति गिरकर उन्होंने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। आनन्दोद्रेक के कारण वे कुछ बोल न सके। केवल हाथ जोड़े, शिर झुकाये वे प्रभु के सामने खड़े भर रह गये। किन्तु भगवान् तो ठहरे सर्वान्तर्यामी। वे सबके मन की बात जानते हैं। अतः उन्होंने कहा—

भाग्यशाली दक्ष, अब तुम्हारी तपस्या सिद्ध हो गई, क्योंकि श्रद्धा के कारण मेरी भक्ति तुम्हारे हृदय में आ गई है। प्रजापते, तुमने इस विश्व की वृद्धि के लिये तप किया है अतः मैं तुम पर प्रसन्न हूँ क्योंकि मैं भी यही चाहता हूँ कि इस विश्व की वृद्धि हो। ब्रह्मा, शङ्कर, तुम्हारे जैसे प्रजापति तथा मनु आदि सभी हमारी ही विभूतियाँ हैं। ये भी प्राणियों की अभिवृद्धि करनेवाले हैं। तप मेरा हृदय है, विद्या शरीर है, कर्म आकृति है, यज्ञ अङ्ग हैं, धर्म मन और देव प्राण हैं। सर्वत्र चैतन्यमात्र मैं ही परिव्याप्त हूँ। मुझमें ही माया ब्रह्माण्ड की रचना करती है और मुझसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। वे भी सृष्टि कार्य में असमर्थ थे फिर तप करके उन्होंने सृष्टि का सामर्थ्य प्राप्त किया और तुम नौ प्रजापतियों की सृष्टि की।

प्रिय दक्ष, देखो, “यह पञ्चजन प्रजापति की कन्या ‘असिक्री’ है। इसे तुम अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण कर लो। इसके द्वारा तुम यथेच्छ बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करोगे। तुम्हारे बाद आनेवाली सारी प्रजा मैथुन द्वारा ही सृष्टि करेगी।”

श्री शुक्रदेवजी कहते हैं—परीक्षित् विश्व के जीवनदाता भगवान् श्रीहरि यह कहकर दक्ष के सामने ही ऐसे अन्तर्धान हो गये, जैसे स्वप्न में देखी गई वस्तु स्वप्न समाप्त होते ही लुप्त हो जाती है—

इत्युत्त्वा मिषतस्तस्य भगवान् विश्वभावनः । स्वप्नोपलब्धार्थ इव तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥६/४/५४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

## पाँचवाँ अध्याय

( श्री नारदजी के उस उपदेश से दक्ष पुत्रों की विरक्ति तथा नारदजी को दक्ष का शाप )

श्री शुक्रदेवजी ने कहा—‘राजन्, दक्ष पर भगवान् की बड़ी कृपा थी। इससे उनका सामर्थ्य बहुत बढ़ गया था। उन्होंने पञ्चजन की पुत्री असिक्री नामक अपनी भार्या से ‘हर्यश्व’<sup>१</sup> नामक दश सहस्र पुत्र उत्पन्न किया—

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपवृंहितः । हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद् विभुः ॥६/५/१

दक्ष के ये सभी पुत्र समान स्वभाव तथा समान आचरणवाले थे। दक्ष ने उन्हें सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा दी। पुत्रों ने पिता के आदेश को शिरोधार्य किया और तप करने के लिये पश्चिम दिशा की ओर, सिन्धु और सागर के सङ्गम पर गये। वहाँ ‘नारायण’ नाम का एक महान् तीर्थ है। बड़े-बड़े मुनि और सिद्ध वहाँ निवास करते हैं। नारायण तीर्थ में हर्यश्वों ने स्नान किया। स्नान करते ही उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। उनकी मति भगवान् की भक्ति में लग गई। किन्तु पिता की आज्ञा से बँधे होने के कारण वे उग्र तपस्या में लग गये। नारद ने देखा भगवद्भक्ति

१. हर्यश्वान्-अविद्यां तत्कार्यं वा हरतीति हरिः, तमश्नुवते = प्राप्नुवन्तीति हर्यश्वाः। अविद्या अथवा अविद्या के कार्य का जो हरण करते हैं उनको कहते हैं-हरि। हरि को जो प्राप्त करते हैं, उनका नाम है—हर्यश्व।



से प्रभावित होने पर भी हर्यश्व सृष्टि के लिये ही तपस्या कर रहे हैं, तो उनके हृदय में हर्यश्वों के प्रति दया आई। उन्होंने उनके उद्धार का निश्चय किया। फिर वे पहुँच गये हर्यश्वों के पास। उन्होंने दक्ष के पुत्रों से कहा—‘हर्यश्वों, प्रजापति होकर भी तुम लोग अज्ञानी ही प्रतीत होते हो। बतलाओ तो जब तुम लोगों ने पृथिवी का अन्त ही नहीं देखा तो सृष्टि कैसे करोगे ? देखो एक ऐसा देश है, जिसमें एक ही पुरुष है। एक ऐसा बिल है, जिसमें बाहर निकलने का मार्ग ही नहीं है। एक ऐसी स्त्री है, जो बहुरूपिणी है। एक ऐसा पुरुष है, जो व्यभिचारिणी का पति है। एक ऐसी नदी है, जो दो विभिन्न दिशाओं में बहती है। एक ऐसा विचित्र घर है, जो पच्चीस पदार्थों से बना है। एक ऐसा हंस है, जिसकी कहानी बड़ी विचित्र है, अर्थात् जो विचित्र कथा कहनेवाला है। एक ऐसा चक्र है, जो छूरे और वज्र की तरह है और सदा घूमता रहता है, चक्कर काटता रहता है। तुम्हारे पिता सर्वज्ञ हैं, उनका आदेश रहस्य से भरा हुआ है। जब तक पिता के आदेश के रहस्य को जान नहीं लोगे और उपर्युक्त वस्तुओं को देख नहीं लोगे तब तक सृष्टि कैसे कर सकोगे ? सृष्टि प्रारम्भ करने के पूर्व इन बातों का ज्ञान करना परमावश्यक है।

शुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, हर्यश्व जन्म से ही परम बुद्धिमान् थे। उन्होंने नारदजी के गूढ़ बचनों को सुनकर अपनी स्वभावतः निर्मल बुद्धि से उन पर विचार कर कहा—देवर्षि नारद का कथन तो सच ही है। सूक्ष्म शरीर ही भूमि है। यही आत्मा का अनादि बन्धन है। इसका (इस सूक्ष्म शरीर का) अन्त (विनाश) बिना जाने सृष्टि-कर्मों में पड़ने से क्या लाभ है ? यह सम्पूर्ण विश्व एक राष्ट्र है। इस राष्ट्र में पुरुष एकमात्र ईश्वर ही है। वह सब कुछ करने में समर्थ है। उसे बिना जाने असत्कर्मरूप सृष्टि करने से क्या लाभ ? ब्रह्म अथवा वैकुण्ठ ही निकलने के मार्ग से रहित बिल है। जहाँ जाने का मार्ग तो है किन्तु निकलने का नहीं है<sup>१</sup>। उसे बिना समझे सृष्टिरूप नश्वर कर्मों से क्या लाभ ? व्यभिचारिणी स्त्री के समान नाना प्रकार के विषयों की कामना करनेवाली अपनी बुद्धि ही व्यभिचारिणी स्त्री है। इस जीवन में इसका अन्त जाने बिना अशान्तिरूप कर्मों के करने से क्या लाभ ? यह बुद्धि ही कुलटा स्त्री के समान है। इसके सङ्ग से जीव का ज्ञान नष्ट हो गया है। इसी के पीछे-पीछे वह नाना योनियों में भटकता रहता है। इसे जाने बिना इन सृष्टिरूप अविवेकपूर्ण कर्मों से क्या लाभ ? माया ही दोनों ओर बहनेवाली नदी है। यह सृष्टि भी करती है और प्रलय भी। इससे उद्धार का उपाय बिना जाने असावधान पुरुष को मायिक कर्मों से क्या लाभ ?

सृष्ट्यप्ययकरीं मायां वेलाकूलान्तवेगिताम् । मत्तस्य तामविज्ञाय किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥६/५/१६

पच्चीस तत्त्वों से बना हुआ यह शरीर ही अद्भुत घर है। पुरुष उनका आश्चर्यमय आश्रय है। वही समस्त जगत् का आधिपत्या है। इस बात को जाने बिना इन असत्कर्मों से क्या लाभ ? भगवान् का स्वरूप बतलानेवाला शास्त्र ही हंस है। वही नीर-क्षीर के समान बन्ध-मोक्ष का विवेचन करता है। चेतन और जड़ को अलग-अलग करके बतलाता है। ऐसे शास्त्र को न जान कर बहिर्मुख कर्मों से क्या लाभ ? यह काल ही एक चक्र है। यह निरन्तर घूमता रहता है। इसकी धार छूरे और वज्र के समान तीखी है। यह सारे जगत् को अपनी ओर खींच रहा है। इसको रोकनेवाला कोई नहीं है। यह परम स्वतन्त्र है। इस काल से बचने का उपाय बिना समझे इन सृष्टि रूप असत्कर्मों से क्या लाभ है ?—

कालचक्रं भ्रमिस्तीक्ष्णं सर्वं निष्कर्षयज्ञगत् । स्वतन्त्रमबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥६/५/१९

शास्त्र ही पिता है। लोगों का दूसरा जन्म शास्त्र के द्वारा ही होता है। शास्त्र का आदेश प्राणियों को कर्म में लगाना

१. यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम । भगवद्गीता, ८/२१॥ मुक्ति का अर्थ ही होता है—ब्रह्म में सर्वदा के लिये मिल जाना। फिर तो निकलने का प्रश्न ही कहाँ होता है ? अतः उस राष्ट्र में जाने का रास्ता है, निकलने का नहीं।



नहीं है। वह निवृत्ति का मार्ग दिखलाता है, प्रवृत्ति का नहीं। इन रहस्य भरी बातों को बिना जाने इन असत्कर्मों से क्या लाभ ? परीक्षित, हर्यश्वों ने एक मत से यही निश्चय किया और नारद जी की परिक्रमा करके वे उस मोक्ष के मार्ग पर चले गये, जिस पर चलकर फिर कोई लौट कर नहीं आता।

भागवत के महान् व्याख्याकार श्रीधर स्वामी ने अपनी व्याख्या श्रीधरी में इन दश प्रश्नों का एक श्लोक में संग्रह करते हुए लिखा है कि—मोक्ष आदि इन दश बातों को ठीक-ठीक बिना समझे सृष्टि आदि व्यर्थ के कर्म करने से क्या लाभ ?—

मोक्षेशब्रह्मबुद्धीनां जीवमायान्तरात्मनाम् । शास्त्रज्ञानोपदेशानामज्ञाने किमु कर्मभिः ॥ श्रीधरी

इस प्रकार देवर्षि नारद हर्यश्वों को निवृत्ति के मार्ग में भेज कर स्वरज्ज् में—संगीतलहरी में अभिव्यक्त हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरण-कमलों में अखण्ड रूप से अपने चित्त को स्थिर करके लोक-लोकान्तरों में विचरने के लिये चले गये। राजन्, जब प्रजापति दक्ष को पता चला कि मेरे परम सुशील पुत्र नारदजी के उपदेश से सृष्टि से विमुख होकर चले गये तो वे शोक से सन्तप्त हो उठे। सचमुच अच्छी सन्तान का होना भी शोक का ही कारण है। ब्रह्माजी ने दक्ष प्रजापति को बड़ी सान्त्वना दी फिर उन्होंने शबलाश्व<sup>१</sup> नामक एक सहस्र पुत्रों को, अपनी पत्नी असिक्री के गर्भ से उत्पन्न किया। पिता ने उन्हें भी सृष्टि करने की आज्ञा दी अतः वे भी तप करने के लिये नारायण सरोवर पर चले गये। वहाँ उन्होंने नारायण-मन्त्र का जप करते हुए तप प्रारम्भ किया। नारद जी पुनः वहाँ पहुँचे। उन्हें भी पहले की तरह कूट-वचनों को सुनाया। इसका फल यह हुआ कि वे भी अपने बड़े भाइयों के ही मार्ग पर चले गये। संसार से निवृत्त हो गये। नारदजी का उपदेश कभी व्यर्थ नहीं जाता है। वे चले गये और सर्वदा के लिये चले गये, जैसे बीती हुई रात्रियाँ सर्वदा के लिये चली जाती हैं।

जब दक्ष को मालूम हुआ कि पहले की भाँति इस बार भी नारद ने मेरे पुत्रों को चौपट कर दिया तो दक्ष कुपित हो उठे। इसी समय अपनी वीणा पर नारायण-नारायण झंकृत करते हुए नारद जी दक्ष के पास पहुँच गये। नारद को देखते ही दक्ष के क्रोधरूपी बारूद में आग लग गई। वे भड़क उठे। क्रोध से कांपते हुए उन्होंने नारद से कहा—ओ दुष्ट ! तुमने झूठमूठ साधुओं का बाना पहन रक्खा है। हमारे भोलेभाले बालकों को भिक्षुओं का मार्ग दिखला कर तुमने हमारा बड़ा अहित किया है। अभी उन्होंने ब्रह्मचर्य से ऋषि-ऋण, यज्ञ से देव-ऋण और पुत्रोत्पत्ति से पितृ-ऋण नहीं उतारा था, किन्तु तुम पापी ने उन्हें चौपट कर दिया। तुम बड़े निर्दय हो। तुमने भगवान् के पार्षदों की कीर्ति में कलङ्क लगाया है। वस्तुतः तुम हो बड़े निर्लज्ज। एक बार पहले भी तुमने हमारा अपकार किया था, जिसे मैंने सह लिया। तुम तो हमारी वंश-परम्परा का उच्छेद करने पर ही उतारू हो गये हो। इसलिये मूढ, जाओ, संसार में इधर-से-उधर भटकते रहो। कभी भी तुम्हें ठहरने का स्थान नहीं मिलेगा। यह तुम्हारे लिये मेरा शाप है<sup>२</sup>—

१. शबलाश्वान्-शं कल्याणं तेन बलते आच्छादयति भक्तजनानिति शबलो विष्णुः। तम् अश्रुवते प्राप्नुवन्तीति शबलाश्वाः ॥  
शं कहते हैं कल्याण को। जो अपने भक्तों का कल्याण करते हैं उन्हें शबल कहते हैं। विष्णु ही सबल हैं। उन्हें जो अपने कर्मों से प्राप्त करते हैं वे हैं शबलाश्व।

२. स्कन्दपुराण में कहा गया है कि दक्ष ने नारद को सर्वदा भ्रमण का शाप तो दिया ही। उसके साथ यह भी कहा कि—‘तुम इधर-उधर की चुगली भी करते रहोगे।’ किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि नारद को चुगली का दोष नहीं लगता। इसका कारण यह है कि वे पहले यह देख लेते हैं कि अमुक दैत्य आदि का विनाश-काल आ पहुँचा है, तब वे उसकी कलह-भावना को बढ़ाते हैं और चुगली के लिये झूठ न बोलकर सच्ची बात बतलाया करते हैं अतः वे पाप से लिप्त नहीं होते। इनका मन ध्येय से विचलित नहीं होता, अतः भ्रमदोष से यह भ्रान्त भी नहीं होते।



तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद् भ्रमतः पदम् ॥६/५/४३

श्री शुकदेवजी ने कहा—परीक्षित, सन्तशिरोमणि देवर्षि नारद जी ने दक्ष के शाप को सुना । उन्होंने सोचा अब तो सर्वदा भ्रमण ही करेंगे अतः बहुतों के कल्याण का अवसर सुलभ होगा । यह सोच कर वे प्रसन्न हो उठे और 'बहुत अच्छा' कहकर दक्ष के शाप को सहर्ष स्वीकार कर लिया । आखिर, साधुता तो इसी को कहते हैं कि बदला लेने की शक्ति रहने पर भी दूसरे का किया हुआ अपकार सह लिया जाय—

प्रति जग्राह तद् बाढं नारदः साधुसम्मतः । एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम् ॥

६/५/४४

इतना ही नहीं, जाते जाते उन्होंने दक्ष को आशीष भी दिया—दक्ष, जाओ, अब तुम्हें साठ पुत्रियाँ पैदा होगी जिनसे तुम्हारा नाम-यश बहुत बढ़ेगा ॥५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

## छठा अध्याय

( प्रजापति दक्ष की साठ कन्याओं का वंश-विवरण और अदिति के पुत्र त्वष्टा से विश्वरूप का जन्म )

श्री शुकदेवजी ने कहा—परीक्षित, दो बार पुत्रों के हाथ से निकल जाने पर दक्ष को महान् कष्ट हुआ । उन्होंने सोचा कि अब आगे सृष्टि का प्रयास नहीं करूँगा किन्तु ब्रह्माजी के बार-बार समझाने पर वे पुनः सृष्टि के लिये तैयार हो गये । अब की बार उन्होंने अपनी पत्नी असिक्री से एक मुस्त साठ कन्याएँ पैदा की । ये सारी बेटियाँ अपने पिता दक्ष से बहुत प्रेम करती थीं—

ततः प्राचेतसोऽसिन्नयामनुनीतः स्वयम्भुवा । षष्टिं सञ्जनयामास दुहितृः पितृवत्सलाः ॥६/६/१

दक्ष ने साठ कन्याओं में से दश धर्म को, तेरह कश्यप को, सत्ताईस चन्द्रमा को, दो भूत को, दो अङ्गिरा को, दो कृशाश्व को और शेष चार ताक्ष्य नामधारी कश्यप को ही व्याह दी । इन्हीं कन्याओं की वंश-परम्परा से त्रिलोकी भरी हुई है । आगे शुकदेव जी महाराज उन सबका नाम बतलाते हुए कहते हैं कि धर्म की भानु, लम्बा, ककुभ, जामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसु, मुहूर्ता और सङ्कल्पा—ये पत्नियाँ थीं । उनके पुत्र-पौत्रादि से त्रिलोकी भर गई । इनसे दिन के अभिमानी देवता, प्रदोष के अभिमानी देवता, पुर के अभिमानी देवता, मुहूर्त के अभिमानी देवता और पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, नाग, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, सुर, असुर आदि विविध प्रकारों की सृष्टि हुई । कश्यप का ही एक दूसरा नाम ताक्ष्य भी था । इस प्रकार कश्यप को सत्रह कन्याएँ प्रदान की गई थीं । दक्ष ने बाद में ताक्ष्यनामधारी कश्यप को जो चार कन्याएँ दी थीं, उनके नाम हैं—विनता, कद्रु, पतङ्गी और यामिनी । पतङ्गी से पक्षियों का तथा यामिनी से शलभों (कीट-पतङ्गों) का जन्म हुआ । विनता के दो विश्व-विदित पुत्र थे—अरुण और गरुड । अरुण अनूरु हैं, बिना जाँघों के हैं । यह सूर्य के सारथी हैं और गरुड भगवान् विष्णु के भाग्यशाली वाहन हैं । कद्रु से सहस्रों नागों का प्रादुर्भाव हुआ ।

यहाँ बहुत विचित्र वंश का वर्णन किया गया है । ऋषि कश्यप की पत्नियों से पक्षी, शलभ आदि के जन्म की बात बतलाई गई है जो सुनने-समझने में बड़ा अटपट-सा लगता है किन्तु भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार वंशीधर



महाराज ने इसका समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है—“जैसे शुक्ति (सीप) में मोती, गजराज के कान में गजमुक्ता, एक विशेष प्रकार के मृग की नाभि में कस्तूरी, गाय के कान में गोरोचन, बाँस में वंशलोचन और गोबर में बिच्छू पैदा होते हैं, वैसे ही विद्वानों को ऋषि की पत्नियों से पक्षी आदि का जन्म जान लेना चाहिये<sup>१</sup> । कश्यप की पत्नियों में दिति से दैत्य, दनु से दानव और अदिति से १२ आदित्य (देव) पैदा हुए । अदिति के पुत्र रूप में नारायण ने अपने अंश से वामन के रूप में अवतार लिया था । १२ आदित्यों के नाम इस प्रकार हैं—विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, इन्द्र और त्रिविक्रम (वामन)—

विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः । धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्र उरुक्रमः ॥६/६/३९

विवस्वान् की पत्नी संज्ञा के गर्भ से श्राद्धदेव (वैवस्वत) मनु एवं यम तथा यमुना का जोड़ा पैदा हुआ । संज्ञा ने ही घोड़ी का रूप धारण करके भगवान् सूर्य के द्वारा भू-लोक में अश्विनीकुमारों को जन्म दिया । विवस्वान् की एक दूसरी पत्नी थी—छाया । छाया से शनैश्चर और सावर्णि मनु नाम के दो पुत्र और तपती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई । तपती ने संवरण को पतिरूप में वरण किया । दैत्यों की छोटी बहन थी—कुमारी रचना । रचना का विवाह त्वष्टा से हुआ था । रचना के गर्भ से दो पुत्र हुए—संनिवेश और पराक्रमी विश्वरूप—

त्वष्टुर्देत्यानुजा भार्या रचना नाम कन्यका । संनिवेशस्तथोज्ञे विश्वरूपश्च वीर्यवान् ॥६/६/४४

विश्वरूप यद्यपि शत्रुओं के भानजे थे—फिर भी जब देवगुरु बृहस्पति जी ने इन्द्र से अपमानित होकर देवताओं का परित्याग कर दिया, तब देवताओं ने विश्वरूप को ही अपना पुरोहित बनाया था—

तं वन्नरे सुरगणाः स्वस्वीयं द्विषतामपि । विमतेन परित्यक्ता गुरुणाऽऽङ्गिरसेन यत् ॥६/६/४५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

## सातवाँ अध्याय

( बृहस्पतिजी के द्वारा देवताओं का परित्याग और विश्वरूप का देव-पुरोहित के रूप में वरण )

राजा परीक्षित जी ने पूछा—‘भगवन् आचार्य बृहस्पति को देव अत्यन्त प्रिय थे । फिर उन्होंने अपने इन प्रिय शिष्यों का परित्याग क्यों किया ? देवताओं ने अपने गुरुदेव के प्रति ऐसा कौन-सा अपराध कर दिया था ? आप कृपा कर मुझे यह सब बतलाइये—

कस्य हेतोः परित्यक्ता आचार्येणात्मनः सुराः । एतदाचक्ष्व भगवच्छिष्याणामक्रमं गुरौ ॥६/७/१

श्रीशुकदेव जी ने कहना प्रारम्भ किया—राजन, इन्द्र को त्रिलोकी का ऐश्वर्य पाकर घमण्ड हो गया था । इस घमण्ड के कारण वे धर्म-मर्यादा का, सदाचार का उल्लंघन करने लगे थे<sup>१</sup> । एक दिन की घटना है । इन्द्र स्वर्ग के सिंहासन पर तन कर बैठे थे । सारी देव-मण्डली, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, ऋषि, मुनि, विद्याधर और अप्सराएँ उन्हें घेरे हुई थीं । इन्द्राणी शची उनके साथ सिंहासन पर विराजमान थीं । चँवर चल रहा था । महाराज के अनुरूप सारी सामग्रियाँ सजी हुई थीं । बड़ा ही दिव्य दरबार लगा था । इसी समय समस्त देव-मण्डली के पूज्य आचार्य बृहस्पति

१. शुक्ती मुक्ता यथोत्पन्ना गजमुक्ता गजश्रवे । मृगनाभ्यां च कस्तूरी गोकर्णे धेनुरोचनम् ॥

वंशवृक्षे तु काक्षीरी गोमयाद् वृश्चिकोद्भवः । ऋषिभार्यासु पक्ष्यादिजन्म ज्ञेयं तथा बुधैः ॥ भागवत की टीका वंशीधरी

२. नहि कोउ अस जनमा जग माहीं । प्रमुता पाइ जाहि मद नाहीं ॥ रामचरितमानस ॥



जी वहाँ पधारे। उन्हें सुर-असुर सभी सादर प्रणाम करते हैं। इन्द्र ने देखा कि गुरुजी आ रहे हैं किन्तु वे सम्मान में न तो खड़े ही हुए और न आसन आदि देकर उनका सत्कार ही किया। यहाँ तक कि वे अपने आसन से हिले-डुले तक नहीं फिर प्रणाम करने की तो बात ही दूर रही—

वाचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम् । नोच्चालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि सभागतम् ॥६/७/८  
मान को ही धन समझनेवाले विद्वानों, तपस्वियों के लिये सम्मान से बढ़कर इस दुनियाँ में दूसरी वस्तु नहीं है।<sup>१</sup> बृहस्पति ने देखा कि इस समय देवराज ऐश्वर्य-मद से मतवाले हो रहे हैं। बस, वे झटपट वहाँ से निकल कर चुपचाप अपने घर चले गये।

परीक्षित्, गुरुदेव बृहस्पति के चले जाने पर देवराज इन्द्र को चेत हुआ। वे समझ गये कि मैंने गुरुजी की अवहेलना कर दी है। उन्हें अब महान् पश्चात्ताप हुआ। वे भरी सभा में सबके सामने स्वयं ही अपने कुकृत्य पर शर्मिन्दा होकर अपनी निन्दा करने लगे। वे कहने लगे—‘हाय-हाय ! बड़े खेद की बात है कि भरी सभा में मूर्खतावश मैंने ऐश्वर्य के नशे में चूर होकर अपने गुरुदेव का तिरस्कार कर दिया। सचमुच मेरा यह कर्म अत्यन्त निन्दनीय है—

अहो बत ममासाधु कृतं वै दम्भबुद्धिना । यन्मयैश्वर्यमतेन गुरुः सदसि कात्कृतः ॥६/७/११  
भला, कौन विवेकी पुरुष इस स्वर्ग की राजलक्ष्मी को प्राप्त करने की इच्छा करेगा ? देखो तो सही, आज इसी लक्ष्मीमद के कारण मैं असुरों के समान रजोगुणी बन गया हूँ। जो लोग यह कहते हैं कि सार्वभौम राजसिंहासन पर बैठे हुए सम्राट् को किसी के आने पर राजसिंहासन से नहीं उठना चाहिये, वे वस्तुतः धर्म के यथार्थ मर्म को ठीक-ठीक नहीं समझते। इस प्रकार का उपदेश देनेवाले लोग लोगों को कुमार्ग की ओर ले जानेवाले हैं वे स्वयं नरक में गिरते हैं। उनकी बात पर जो लोग विश्वास करते हैं, वे पत्थर की नाव की तरह डूब जाते हैं—

ये पारमेष्ठ्यं धिषणमधि तिष्ठन् न कञ्चन । प्रत्युत्तिष्ठेदिति ब्रूयुर्धर्मं ते न परं विदुः ॥  
तेषां कुपथदेष्टृणां पततां तमसि ह्यधः । ये ब्रह्मध्वंश्चस्ते वै मञ्जन्त्यश्मप्लवा इव ॥६/७/१३-१४  
मेरे गुरुदेव बृहस्पति जी ज्ञान के अथाह सागर हैं। मैंने बड़ी शठता की। अब मैं उनके चरणों पर अपना शिर रखकर उन्हें मनाऊँगा। परीक्षित् जी, बृहस्पति जी महान् योगी हैं। वे अपनी योग-विद्या के बल से सब कुछ जान लेते हैं। जिस समय देवराज इन्द्र इस प्रकार सोच रहे थे कि भगवान् बृहस्पति जी अपने घर से निकलकर योगबल से अन्तर्धान हो गये। देवराज इन्द्र ने उन्हें बहुत ढूँढ़ा-ढूँढ़वाया; परन्तु उनका कहीं भी पता न चल सका। गुरु के बिना वे अपने को असहाय, असुरक्षित अनुभव करने लगे। उनके पश्चात्ताप की सीमा न थी। वे अशान्त हो बेचैन हो उठे।

इस बीच हुआ यह कि दैत्यों को भी देवगुरु बृहस्पति और इन्द्र की अनबन का पता चल गया। वे झटपट पहुँचे अपने गुरु शुक्राचार्य के पास। उनसे मन्त्रणा की। दैत्यगुरु ने कहा—यह सबसे समीचीन अवसर है देवताओं पर आक्रमण करने का। दैत्यों ने अपने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की और सद्यः चढ़ाई कर दी देवताओं पर। देवता लोग दैत्यों का सामना न कर सके। वे युद्ध-भूमि छोड़कर भागे और रोते-बिलखते गये ब्रह्माजी की शरण में। ब्रह्मा जी उनकी दशा देखकर दयार्द्र हो उठे और कहा—देवगणों, तुम लोगों ने महान् ब्रह्मज्ञानी गुरु बृहस्पति का अपमान कर अक्षम्य अपराध किया है। तुम्हारे इस कुकृत्य का ही फल है कि आज तुम लोग अपने से निर्बल शत्रुओं से पराजित

१.(क) मानमेव महतां धनम्। सूक्ति।

(ख) बिकते सब इनसान नहीं हैं। बिक जाती हैं चीजे सारी, पर बिकता विद्वान् नहीं है। आधुनिक कवि।



होकर दुर्दशाग्रस्त हो रहे हो। सचमुच तुम लोगों ने बहुत अनुचित कर्म किया। हरे, हरे ! तुम लोगों ने ऐश्वर्य के मद से अन्धे होकर ब्रह्मज्ञानी वेदज्ञ एवं संयमी ब्राह्मण का सत्कार नहीं किया। तुम्हारी उसी अनीति का यह फल है जिसे तुम भोग रहे हो। देवराज, देखो, तुम्हारे शत्रु भी पहले अपने गुरु शुक्राचार्य का तिरस्कार करने के कारण अत्यन्त निर्बल हो गये थे। परन्तु अब भक्ति-भाव से उनकी आराधना करके वे फिर धन-जन से सम्पन्न हो गये हैं। देवताओं, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे कभी मेरा पद भी छीन सकते हैं—

मघवन् द्विषतः पश्य प्रक्षीणान् गुर्वतिक्रमात् । तम्प्रत्युपचितान् भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः ।

आददीरन् निलयनं ममापि भृगुदेवताः ॥६/७/२३

ऐसी स्थिति में वे स्वर्ग को क्या समझते हैं। भृगु-वंशी शुक्राचार्य ने अपने शिष्यों को सब प्रकार की आवश्यक शिक्षा दे रखी है। उनकी गुप्त मन्त्रणाएँ भी अभेद्य हुआ करती हैं। उन्हें तुम लोग जान भी नहीं सकते। शास्त्रकारों ने सत्य ही कहा है कि जिन राजाओं के ऊपर गौ, ब्राह्मण एवं भगवान् की कृपा रहती है, उनका कभी अमङ्गल नहीं हो सकता—

त्रिविष्टपं किं गणयन्त्यभेद्यमन्त्रा भृगूणामनुशिक्षितार्थाः ।

न विप्रगोविन्दगवीश्वराणां भवन्त्यभद्राणि नरेश्वराणाम् ॥६/७/२४

अतः अब तुम लोग शीघ्र ही त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के पास जाओ। अनुनय-विनय कर उन्हें अपना पुरोहित बना लो। वे सच्चे ब्राह्मण, तपस्वी और संयमी हैं। यदि तुम लोग उनके असुरों के प्रति प्रेम को क्षमा कर उनकी आराधना करोगे तो वे तुम लोगों के मनोरथ को पूरा कर देंगे।

श्री शुक्रदेव महाराज कहते हैं कि परीक्षित, देवों ने ब्रह्मा के आदेश को अपने शिर-माथे पर लिया। उसके अनुसार वे लोग निश्चिन्त होकर विश्वरूप के पास गये और उन्हें छाती से लगा कर कहा—तात, हम आप के आश्रम में आये हैं। अतः आप के अतिथि हैं। सम्प्रति हम दुर्दशाग्रस्त हैं। इसलिये हमारी अभिलाषा है कि आप हम लोगों के पुरोहित बन जाँय जिससे हम आपके तेज से शत्रुओं को जीत लें। पुत्र, आवश्यकता पड़ने पर अपने से छोटों का पैर छूना भी निन्दनीय नहीं है। वेदज्ञान को छोड़कर अवस्था बड़प्पन का कारण भी नहीं है—

न गर्हयन्ति ह्यर्थेषु यविष्ठाङ्घ्र्यभिवादनम् ।

छन्दोभ्योऽन्यत्र न ब्रह्मन् वयो ज्यैष्ठस्य कारणम् ॥६/७/३३

परीक्षित, जब देवताओं ने इस प्रकार विश्वरूप से पुरोहिती करने की प्रार्थना की, तब तपस्वी विश्वरूप ने प्रसन्न होकर उनसे अत्यन्त प्रिय एवं मधुर वाणी में कहा—देवों, यद्यपि पौरोहित्य अतिशय निन्दित कर्म है—‘विगर्हितं धर्मशीलैर्ब्रह्मवर्चपव्ययम्’ ॥३५॥<sup>१</sup> फिर भी आप जैसे लोग जब याचना करने आये हैं और मैं आप से छोटा आपका आज्ञाकारी हूँ तो कैसे अस्वीकार कर सकता हूँ। हम तो अकिञ्चन हैं। खेत कटने पर अनाज चले जाने के अनन्तर अथवा अनाज की मण्डी के उठ जाने पर वहाँ गिरे हुए दानों को हम चुन कर लाते हैं। उसी से अपना कार्य चल जाता है। ऐसी स्थिति में पुरोहिती करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उससे तो वे लोग ही प्रसन्न होते हैं जिनकी बुद्धि गड़बड़ हो गई है—

अकिञ्चनानां हि धनं शिलोञ्चनं तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः ।

कथं विगर्हं नु करोम्यधीश्वराः पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः ॥६/७/३६

१. रामचरितमानस में वसिष्ठ जी भी कहते हैं—

उपरोहिती कर्म अतिमन्दा । वेद पुराण स्मृति कर निन्दा ॥



फिर भी मैं आपके कार्य से मुँह नहीं मोड़ सकता। इसलिये आप लोगों का मनोरथ मैं तन-मन-धन से अवश्य पूरा करूँगा—

भवतां प्रार्थितं सर्वं प्राणैरर्थैश्च साधये ॥६/७/३७

शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित, विश्वरूप बड़े तपस्वी थे। देवताओं से ऐसी प्रतिज्ञा करके, उनके वरण करने पर, बड़ी तत्परता के साथ उनकी पुरोहिती करने लगे। यद्यपि शुक्राचार्य ने अपने नीति बल से असुरों की सम्पत्ति सुरक्षित कर दी थी, फिर भी समर्थ विश्वरूप ने वैष्णवी विद्या के प्रभाव से वह सम्पत्ति छीन कर देवराज इन्द्र को दिला दी। वैष्णवी विद्या ही नारायण कवच है। नारायण कवच के प्रभाव से इन्द्र ने असुरों पर विजय प्राप्ता की थी। इस कवच का उपदेश भी विश्वरूप ने इन्द्र को दिया था—

यया गुप्तः सहस्राक्षो जिग्येऽसुरचमूर्विभुः । तां प्राह स महेन्द्राय विश्वरूप उदारधीः ॥६/७/४०

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

## आठवाँ अध्याय

( विश्वरूप के द्वारा इन्द्र को नारायण कवच का उपदेश )

राजा परीक्षित ने कहा—भगवन्, इन्द्र ने जिस नारायण कवच से सुरक्षित होकर संग्राम में आततायी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी, उसका वर्णन हमें भी सुनाने की कृपा करें—

भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम् । यथाऽऽततायिनः शत्रून् येन गुप्तोऽजयन्मृधे ॥६/८/२

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—राजन्, इन्द्र के पूछने पर विश्वरूप ने उन्हें नारायण कवच का उपदेश किया। तुम एकाग्र मन से उसका श्रवण करो। विश्वरूप ने कहा—देवराज इन्द्र, भय का अवसर उपस्थित होने पर नारायण-कवच धारण करके अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिये। उसकी विधि यह है कि पहले हाथ-पैर धोकर आचमन करे, पवित्री धारण कर उत्तर की ओर मुख करके आसन पर बैठ जाय। कवच धारण पर्यन्त किसी से कुछ बोलना नहीं चाहिये फिर पवित्रता से 'ॐ नमो नारायणाय' और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इन मन्त्रों को पढ़कर हृदय आदि में अङ्गन्यास तथा अङ्गुष्ठ आदि में करन्यास कर ले। तब भगवान् नारायण का ध्यान कर कवच को ग्रहण करे। यह कह कर उन्होंने इन्द्र को कवच का उपदेश दिया। कवच को धारण करने की बेला में भगवान् का ध्यान करे और अपने को भी भगवद्रूप ही चिन्तन करे। कवच में कुल २२ श्लोक हैं। उनमें पहला श्लोक यह है—भगवान् श्रीहरि गरुड की पीठ पर अपने चरण-कमल रखे हुए हैं। अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। उनके आठ हाथों में शङ्ख, चक्र, ढाल, तलवार, गदा, बाण, धनुष और पाश (फन्दा) विराजमान है। वे ही ओंकार स्वरूप प्रभु सब प्रकार से, सब ओर से मेरी रक्षा करें—

ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां न्यस्ताडिघ्नपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे ।

दरारिचर्मसिगदेषुचापपाशान्

दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः ॥६/८/१२

मत्स्यमूर्ति भगवान् जल के भीतर जल-जन्तुओं से और वरुण के पाश से मेरी रक्षा करें। माया से ब्रह्मचारी का रूप धारण करनेवाले वामन भगवान् स्थल पर और विश्वरूप श्री त्रिविक्रम भगवान् आकाश में मेरी रक्षा करें—



जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्तिर्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात् ।

स्थलेषु भगवान्दुवामनोऽव्यात् त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः<sup>१</sup> ॥६/८/१३

इसी प्रकार नृसिंह भगवान् सङ्कटपूर्ण परिस्थितियों एवं स्थानों में हमारी रक्षा करें। वाराह भगवान् मार्ग में, परशुराम जी पर्वतों के शिखरों पर, भगवान् राम प्रवास की बेला में, नर-नारायण मारण-मोहन आदि अभिचारों और प्रमादों से, दत्तात्रेय योग के विघ्नों से और कपिल भगवान् कर्मबन्धनों से मेरी रक्षा करें। सनत्कुमार कामदेव से, हयग्रीव भगवान् मार्ग में पड़नेवाले देवों को नमस्कार न करने के अपराध से, नारदजी सेवापराधों से, भगवान् कच्छप सारे नरकों से, भगवान् धन्वन्तरि कुपथ्य से, भगवान् ऋषभदेव सुख-दुःख आदि कष्टकारक द्रव्यों से, यज्ञ भगवान् लोकापवाद से, बलरामजी मनुष्यों से होनेवाले कष्टों से और श्रीशेषजी सर्पों से हमारी रक्षा करें।

व्यास भगवान् अज्ञान से, बुद्धदेव पाखण्डियों से और प्रमाद से तथा धर्म-रक्षा के लिये महान् अवतार धारण करनेवाले कल्कि भगवान् कलिकाल के दोषों से हमारी रक्षा करें।

द्वैपायनो भगवान्प्रबोधाद् बुद्धस्तु पाखण्डगणात् प्रमादात् ।

कल्किः कलेः कालमलात् प्रपातु धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥६/८/१९

प्रातःकाल भगवान् केशव गदा से, कुछ दिन चढ़ आने पर गोविन्द अपनी वंशी से, दोपहर के पहले भगवान् नारायण अपनी शक्ति से और दोपहर में भगवान् विष्णु सुदर्शन चक्र से, तीसरे पहर में भगवान् मधुसूदन अपने प्रचण्ड धनुष से मेरी रक्षा करें। सायंकाल में माधव, सूर्यास्त के बाद हृषीकेश, अर्धरात्रि के पूर्व तथा अर्धरात्रि की बेला में भगवान् पद्मनाभ मेरी रक्षा करें। रात्रि के पिछले पहर में श्रीवस्तलाञ्छन श्रीहरि, उषाकाल में भगवान् जनार्दन, सूर्योदय से पूर्व श्रीदामोदर और सम्पूर्ण सन्ध्याओं में कालमूर्ति भगवान् विश्वेश्वर मेरी रक्षा करें।

हे सुदर्शन चक्र, आप हमारी शत्रु-सेना को शीघ्रातिशीघ्र जला दीजिये, जला दीजिये। हे कामोदकी गदे, आप कुम्भाण्ड, विनायक, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेतादि को भगा दीजिये। हे नन्दक (खड्ग) आप हमारे शत्रुओं को काट डालें। हे बाल, आप हमारे पापी शत्रुओं की आखें बन्द कर उन्हें अन्धा कर दें। हे भगवन् ! सूर्य आदि ग्रहों से, धूमकेतु आदि पुच्छल ताराओं से तथा विषधर सर्प आदि जीव-जन्तुओं से होनेवाले हमारे सारे भय आप के नाम-रूप आदि के कीर्तन से विनष्ट हो जाँय। आप की सवारी श्रीगरुडजी अविद्या आदि क्लेशों से तथा नाम, रूप एवम् आयुध भूत-भौतिक समस्त आपत्तियों से हमारी रक्षा करें। ब्रह्माण्ड का सब कुछ भगवान् ही है—इस सत्य के प्रभाव से हमारे सारे उपद्रव नष्ट हो जाँय। भगवान् नृसिंह दिशाओं-विदिशाओं में नीचे ऊपर, बाहर-भीतर—सब ओर से हमारी रक्षा करें।

देवराज इन्द्र, मैंने तुम्हें यह नारायण-कवच सुना दिया। इस कवच से तुम अपने को सुरक्षित कर लो। इससे तुम बिना प्रयास के ही असुर-शिरोमणियों को जीत लोगे—

मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम् । विजेष्यस्यञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान् ॥६/८/३५

इस नारायण कवच को धारण करनेवाला पुरुष जिसको अपने नेत्रों से देख लेता अथवा पैरों से छू देता है, वह तत्काल समस्त भयों से मुक्त हो जाता है। जो इस वैष्णवी विद्या को धारण कर लेता है, उसके सब तरह से सब प्रकार के भय समाप्त हो जाते हैं।

राजन्, इस विद्या के प्रभाव के विषय में बतला रहा हूँ, सुनो। प्राचीन काल की बात है। एक कुशिक गोत्रीय ब्राह्मण थे। उन्होंने इस कवच को धारण कर रक्खा था। संयोग से वे मारवाड़ की मरुभूमि में यात्रा कर रहे थे। वहाँ

१. इस श्लोक का पाठ और ध्यान जलसेना, स्थल-सेना और वायु-सेना को, युद्ध-स्थल के लिये प्रस्थान की बेला में, अवश्य करना चाहिये। इससे आस्तिक-जगत् का महान् कल्याण होगा।



उन्होंने योगधारणा से अपने पापों का परित्याग कर दिया। उनका मृत शरीर भूमि पर पड़ा था। उसी समय चित्ररथ गन्धर्व अपनी सुन्दरी तरुणी स्त्रियों के साथ विमान से आकाश-विहार कर रहे थे। ब्राह्मण के शव के ऊपर पहुँचने पर उनका विमान गिरकर भूतल पर आ गया। इस घटना से उनके आश्चर्य की सीमा न रही। उन्हें जब बालखिल्य मुनियों ने बतलाया कि यह नारायण-कवच धारण करने का प्रभाव है, तब उन्होंने ब्राह्मण की हड्डियों को ले जाकर पूर्व वाहिनी सरस्वती नदी में डाल दिया और फिर स्नान करके अपने लोक को चले गये।

शुकदेव जी कहते हैं—राजन्, जो व्यक्ति भय का अवसर उपस्थित होने पर इसका श्रवण अथवा श्रद्धा-भक्ति के साथ पाठ करता है, उसके समस्त शत्रु पराजित हो जाते हैं। सभी लोग उसका आदर-सम्मान करते हैं। परीक्षित, इन्द्र ने आचार्य विश्वरूप जी से यह वैष्णवी विद्या प्राप्त करके रणभूमि में असुरों को जीत लिया और गई हुई त्रैलोक्य की राज्यलक्ष्मी को पुनः प्राप्त कर सानन्द उसका उपभोग किया—

एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः । त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान् ॥

६/८/४२

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

## नवाँ अध्याय

( इन्द्र द्वारा विश्वरूप का वध और वृत्रासुर की उत्पत्ति )

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, हमने सुना है कि विश्वरूप के तीन शिर थे। वे एक मुख से सोमरस तथा दूसरे से सुरा पीते थे और तीसरे से अन्न खाते थे—

तस्यासन् विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत । सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम ॥६/९/१॥

उनके पिता त्वष्टा आदित्य, देवता थे। इसलिये वे यज्ञ के समय प्रत्यक्ष रूप से ऊँचे स्वर से बोल कर, विनम्रता के साथ, देवताओं को आहुति देते थे—‘देवेभ्यः स्वाहा’, ‘इन्द्राय स्वाहा’ आदि कह कर अग्नि में आहुति डालते थे। इसके साथ ही वे छिप-छिप कर असुरों को भी आहुति दिया करते थे। उनकी माता रचना असुर-कुल की बेटा थी, इसलिये वे माता के स्नेह के वशीभूत होकर यज्ञ करते समय असुरों को भाग पहुँचाया करते थे। इससे असुरों का भी बल बढ़ता था—

स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः । अदद् यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप ॥

स एव ददौ भागं परोक्षमसुरान् प्रति । यजमानोऽवहद् भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥६/९/२-३॥

इन्द्र को अशङ्का हुई। वे सावधान हुए। फिर उन्होंने देखा कि विश्वरूप यज्ञ करते समय असुरों को भी भाग दे रहे हैं। वे भयभीत हो उठे। उन्होंने उठाई अपनी तलवार और एक झटके में काट कर गिरा दिया विश्वरूप के तीनों शिरों को। विश्वरूप का सोमरस पीनेवाला शिर-पपीहा, सुरापान करनेवाला गौरैया और अन्न खानेवाला तीतर हो गया। विश्वरूप ब्राह्मण थे अतः इन्द्र को लगी ब्रह्महत्या। इन्द्र समर्थ थे। वे ब्रह्महत्या को दूर कर सकते थे किन्तु उन्होंने ऐसा किया नहीं। सादर स्वीकार किया ब्रह्महत्या को इन्द्र ने। उन्होंने एक वर्ष तक उससे छूटने का कोई उपाय नहीं किया। उसे भोगा। तदनन्तर उन्होंने अपनी शुद्धि के लिये ब्रह्महत्या को चार भागों में बाँट कर पृथिवी, जल, वृक्ष और स्त्रियों को दे दिया। खोदने पर गड्ढा धीरे-धीरे स्वयं भर जायेगा—यह वरदान प्राप्त कर पृथिवी ने



ब्रह्महत्या का एक चौथाई भाग ग्रहण कर लिया। वही ब्रह्महत्या पृथिवी में ऊपर के रूप में देखी जाती है अतः ऊपर में यज्ञ-यागादि कोई पवित्र कार्य नहीं किया जाता। दूसरा चतुर्थांश वृक्षों ने लिया। उन्हें यह वर मिला कि उनका कोई हिस्सा कट जाने पर फिर जम जायेगा, पुनः निकल आयेगा। वृक्षों में जो गोंद निकलता है, वह ब्रह्महत्या का रूप है अतः पुरुषों को गोंद नहीं खाना चाहिये। गोंद का सेवन धर्मशास्त्रों ने वर्जित किया है। सर्वदा सम्भोग की क्षमता बनी रहेगी—यह वरदान पाकर स्त्रियों ने ब्रह्म हत्या का एक चतुर्थांश ग्रहण किया। मासिक के रूप में यह ब्रह्महत्या स्त्रियों में देखी जा सकती है। इसके फलस्वरूप वे प्रत्येक मास में तीन दिन अशुद्ध रहती हैं। चौथे दिन स्नान के बाद उनकी शुद्धि बतलाई गई है किन्तु इस दिन भी वे देवार्चन आदि कार्य नहीं कर सकती। मासिक की बेला में प्रथम दिन स्त्री चाण्डाली के बराबर अस्पृश्य मानी जाती है। दूसरे दिन 'ब्रह्मघातिनी' और तीसरे दिन धोबिन कही जाती है अतः तीन-दिनों तक स्त्री को किसी के सामने नहीं आना चाहिये अन्यथा वह विकृत सन्तान की जन्मदात्री बनती है और कालान्तर में उसे पति-वियोग भी सहना पड़ता है। दुग्ध आदि मिलाने पर तुम्हारी वृद्धि हो जायेगी—यह वर प्राप्त कर जल में ब्रह्महत्या के एक चतुर्थांश को ग्रहण किया। फेन बुदबुद आदि के रूप में वही ब्रह्महत्या जल में दिखलाई पड़ती है अतः मनुष्यों को चाहिये कि वे उन्हें हटाकर ही जल ग्रहण करें। ब्रह्महत्या का इस प्रकार बँटवारा कर इन्द्र पूर्ण शुद्ध एवं स्वस्थ हो गये।

पुत्र अतिशय योग्य था। इन्द्र ने उसकी हत्या कर दी। यह सुन कर त्वष्टा को महान् शोक और क्रोध हुआ। उन्होंने इन्द्र को विनष्ट कर देने का सङ्कल्प लेकर यज्ञ प्रारम्भ किया। 'इन्द्रशत्रो विवर्धस्व' यह मन्त्र बोलकर वे यज्ञ-कुण्ड में आहुति डालते थे। शोक एवं क्रोध के कारण मन्त्रोच्चारण की बेला में उनका स्वर विकृत हो गया। वे मन्त्र इस अभिप्राय से बोलते थे कि—'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता विवर्धस्व उत्पन्नो भव' अर्थात् इन्द्र को मारनेवाला बेटा पैदा हो। किन्तु स्वर बिगड़ जाने के कारण इस मन्त्र का अर्थ हो जाता है कि—इन्द्र जिसका वध कर दूँगे, ऐसा बेटा पैदा हो। इन्द्र के हाथों मारा जाने वाला पुत्र पैदा हो। फल में भेद हो गया।

त्वष्टा के हवन-कुण्ड से एक अतिशय भयानक असुर उत्पन्न हुआ। वह दिन-दिन बढ़ने लगा। प्रतिदिन उसका शरीर सब ओर से बाण के बराबर बढ़ता था। लाल-लाल उसकी दाढ़ी-मूँछें थीं। जब वह शूल लेकर चलता तब भू-मण्डल कांपने लगता था। मुख खोलने पर ऐसा प्रतीत होता मानों नक्षत्रों को चाट लेगा, तीनों लोकों को निगल जायेगा। उसने सारे लोकों को घेर लिया। उसकी तामसी मूर्ति से सर्वत्र अन्धकार व्याप्त हो गया। आवरण करने के कारण ही लोग उसे वृत्र कहने लगे—

येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना। स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः॥६/९/२०

सभी देवों ने मिलकर वृत्र पर आक्रमण किया। किन्तु वह अविचल भाव से सबके अस्त्र-शस्त्रों को पकड़ कर निगल गया। ऐसी स्थिति में देव-गण घबड़ा कर भगवान् विष्णु की शरण में गये। वहाँ उन्होंने उनकी दिव्य स्तुति करते हुए कहा—प्रलय-काल की बेला में मत्स्यरूप धारण कर जिन्होंने सत्यव्रत मनु की रक्षा की थी। कमल के ऊपर से जल में गिरे हुए ब्रह्मा को जिन्होंने बचाया था, जो युग-युग से हम लोगों की रक्षा करते आ रहे हैं, वही भगवान् आज भी वृत्रासुर रूपी इस भारी विपत्ति से हमारी रक्षा करें। हम उन्हीं की शरण में हैं। देवों की दीनता भरी स्तुति भगवान् ने सुनी। वे दयार्द्र हो उठे। उनका हृदय करुणा से भर उठा। उन्होंने प्रकट होकर देवों को दर्शन दिया और कहा—श्रेष्ठ देवों, तुम लोगों ने भक्ति-भरी स्तुति से मेरी उपासना की है। इस स्तुति के द्वारा जीवों को अपने वास्तविक स्वरूप की स्मृति और मेरी भक्ति प्राप्त होती है। देवों! मेरे प्रसन्न हो जाने पर संसार में कुछ दुर्लभ नहीं रह जाता फिर भी पूर्ण रूप से समर्पित मेरे भक्त मुझसे मेरे अतिरिक्त और कुछ भी कामना नहीं करते हैं—



प्रीतोऽहं वः सुरश्रेष्ठा मदुपस्थानविद्यया । आत्मैश्वर्यस्मृतिः पुंसां भक्तिश्चैव यथा मयि ॥  
किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः । मय्येकान्तमतिरान्यन्मतो वाञ्छति तत्त्ववित् ॥

६/९/४७-४८

देवराज इन्द्र, तुम लोगों का कल्याण हो । अब देर मत करो । ऋषि शिरोमणि दधीचि के पास जाओ और उनसे उनका शरीर मांग लो । वह तप आदि के कारण अत्यन्त सुदृढ हो गया है—

मधवन् यात भद्रं वो दध्यञ्जमृषिसत्तमम् । विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरम् ॥६/९/५१

ऋषि दधीचि शुद्धब्रह्म के ज्ञाता हैं । उन्होंने अश्विनीकुमारों को अश्वशिर<sup>१</sup> से ही ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया था । इसी से अश्विनीकुमार जीवन्मुक्त हो गये । अथर्ववेदी दधीचि ऋषि ने ही सर्वप्रथम इस अभेद्य नारायण-कवच का उपदेश त्वष्टा को दिया था । त्वष्टा ने वही विश्वरूप को दिया और विश्वरूप से तुम्हें मिला । दधीचि धर्म के परम मर्मज्ञ हैं । अश्विनीकुमार उनके प्रिय शिष्य हैं । उनके मांगने पर वे अपना शरीर आप लोगों को अवश्य प्रदान कर देंगे फिर तुम लोग उनकी हड्डियों से विश्वकर्मा के द्वारा एक श्रेष्ठ आयुध बनवा लेना । इन्द्र मेरी शक्ति तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट है अतः तुम पराजित नहीं होओगे । आयुध में भी मेरी शक्ति समाहित रहेगी । उससे तुम वृत्रासुर का शिर काट लोगे फिर तो तुम्हें तेज, अस्त्र-शस्त्र और सारी सम्पत्तियाँ अनायास ही प्राप्त हो जायेंगी । तुम्हारा कल्याण अवश्यम्भावी है क्योंकि मेरे शरणागतों का कभी अमङ्गल नहीं हो सकता—

तस्मिन् विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः । भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान् ॥

६/९/५५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

## दसवाँ अध्याय

( देवताओं के द्वारा दधीचि ऋषि की अस्थियों से वज्र का निर्माण और  
वृत्रासुर की सेना पर आक्रमण )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, विश्व के जीवन-दाता भगवान् विष्णु इन्द्र को इस प्रकार का आदेश देकर देवताओं के सामने ही वहीं-के-वहीं अन्तर्धान हो गये—

१. इस कथा का सार इस प्रकार है—दधीचि ऋषि ब्रह्म-विद्या के पूर्ण ज्ञाता हैं, यह जानकर अश्विनीकुमारों ने उनसे प्रार्थना की—कृपया हमें भी ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्रदान करें । दधीचि ऋषि ने कहा—अश्विनीकुमारों सम्प्रति मैं किसी कार्य में व्यस्त हूँ । बाद में कभी आना तब तुम्हें इस विद्या का उपदेश करूँगा । वे चले गये । इस बात का पता इन्द्र को लग गया । उन्होंने ऋषि से कहा—“अश्विनीकुमार वैद्य हैं । वैद्य ब्रह्म-विद्या का अधिकारी नहीं होता अतः उन्हें इसका ज्ञान मत दीजियेगा अन्यथा आप का शिर काट डालूँगा । इन्द्र के ऐसा कह कर चले जाने पर अश्विनीकुमारों ने आकर फिर वही प्रार्थना की । मुनि ने इन्द्र की सारी बातें बतलाई । इस पर अश्विनीकुमारों ने कहा—‘हम पहले ही आप का यह शिर काटकर अश्व का शिर जोड़ देंगे । उसी से आप हमें उपदेश दें । इन्द्र जब आपका अश्व-शिर (घोड़े का शिर) काट देंगे, तब हम पुनः आपका असली शिर जोड़ देंगे । मुनि ने ‘मेरा वचन मिथ्या न हो’—यह विचार कर उनकी बात मान ली और उन्हें ब्रह्म-विद्या का उपदेश कर दिया । इस प्रकार अश्वमुख से उपदेश करने के कारण इस विद्या को ‘अश्वशिरा’ भी कहा जाने लगा ।



इन्द्रमेवं समादिश्य भगवान् विश्वभावनः । पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥६/१०/१॥  
भगवान् के आदेश के अनुसार देवता लोग पहुँचे ऋषि दधीचि के आश्रम पर । बड़ी विनम्रता के साथ उन्हें प्रणाम किया । ऋषि ने उनसे उनके आगमन का कारण पूछा । देवताओं ने कहा—ऋषिवर, हम आपका शरीर मांगने आये हैं । यह सुनकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने हँस कर देवताओं से कहा—देवों, आप लोगों को सम्भवतः यह बात नहीं मालूम है कि मरने के समय प्राणी को कितना कष्ट होता है । असह्य पीडा के साथ उसके प्राण निकलते हैं । अन्त में व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है । अतः कोई मरना नहीं चाहता । सभी लोग चिरकाल तक जीने की लालसा पाले हुए हैं । जीवों को अपना शरीर इतना प्रिय है कि यदि साक्षात् नारायण भी याचक बनकर उसकी याचना करें तो कोई भी उसे देने के लिये तैयार न होगा—

जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः । क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णावे ॥

६/१०/४

देवता तो देवता ठहरे, परम स्वार्थी । दधीचि की बात सुन कर उन लोगों ने बड़ी विनम्र वाणी में कहा—ब्रह्मन्, आपका कथन सत्य है । किन्तु प्राणियों पर दया करनेवाले आप जैसे महान् व्यक्ति के लिये इस संसार में कौन-सी वस्तु अदेय है ? भगवान्, निःसन्देह मांगनेवाले स्वार्थी होते हैं । वे दाता की कठिनाई का विचार नहीं करते । यदि उनमें इतनी समझ होती तो मांगते ही क्यों ? इसी प्रकार देनेवाला भी याचकों की विपत्ति नहीं जानता । अगर जानता तो उसके मुख से 'नाहीं' न निकलती—

ननु स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम् । यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः ॥६/१०/६॥  
दधीचि ने कहा—देवताओं, मैंने आप लोगों के मुख से धर्म की बात सुनने के लिये ही आप की याचना की उपेक्षा की है । यह लीजिये, मैं अपने प्रिय शरीर को आप लोगों के लिये अभी छोड़े देता हूँ । क्योंकि एक दिन यह शरीर स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है । यह नश्वर है । देवशिरोमणियों, इस नाशवान् शरीर से यदि धर्म का सञ्चय कर लिया जाय तो वह सबसे बढ़िया है । जो प्राणियों पर दया नहीं करता वह पेड़-पौधों से भी गया बीता है । अविनाशी धर्म इतना ही है और महापुरुषों ने इसी की उपासना की है । इस धर्म का सार यह है कि प्राणी दूसरे के सुख में सुख और दूसरे के दुःख में दुःख माने—

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः । यो भूत-शोक-हर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥

६/१०/९

शुकदेव जी कहते हैं—राजन्, महर्षि दधीचि ने ऐसा निश्चय करके अपने को परब्रह्म परमात्मा में लीन कर अपना स्थूल शरीर छोड़ दिया । विश्वकर्मा ने उनकी हड्डियों से वज्र का निर्माण कर इन्द्र को दे दिया । उस वज्र में भगवान् का तेज भी समाहित था । उसे पाकर इन्द्र परम तेजस्वी हो गये । हाथ में वज्र धारण कर इन्द्र ऐरावत हाथी पर आरूढ हुए । उनके मन में युद्ध का उत्साह भरा हुआ था । वे वृत्रासुर पर आक्रमण के लिये चल पड़े । उनके पीछे-पीछे देवसेना भी हर्षोल्लास करती हुई चल रही थी । वृत्रासुर ने जब इन्द्र के आक्रमण की बात सुनी तो वह भी नमुचि, शम्बर आदि प्रधान-प्रधान सेनापतियों के साथ युद्ध के लिये आगे बढ़ा । वैवस्वत मन्वन्तर के प्रथम चतुर्युगीन त्रेतायुग के प्रारम्भ में नर्मदा नदी के तट पर भीषण देवासुर-संग्राम हुआ—

ततः सुराणामसुरै रणः परमदारुणः । त्रेतामुखे नर्मदायामभवत् प्रथमे युगे ॥६/१०/१६॥

१. हनुमान् जी ने रावण से कहा था—सब कें देह परमप्रिय स्वामी । मारहिं मोहि कुमारग गामी ॥  
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे । तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे ॥ रामचरितमानस



दोनों पक्ष के योद्धाओं का मन बढ़ा हुआ था, उत्साह समृद्ध था अतः वे परस्पर एक-दूसरे पर विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार करने लगे। भगवान् की शक्ति पाकर देवताओं का बल बढ़ गया था अतः उन लोगों ने अपने युद्ध-कौशल से असुरों के सारे अस्त्र-शस्त्रों को काट गिराया, निष्फल कर दिया। आयुधों के क्षीण होने पर दैत्य-सेना ने पथरों, बड़ी-बड़ी चट्टानों और वृक्षों से प्रहार प्रारम्भ किया किन्तु देव-सेना ने उन्हें भी चूर-चूर कर धूल में मिला दिया। ऐसी स्थिति में दैत्य-सेना, अपने सेनापतियों के साथ युद्ध-भूमि से भाग खड़ी हुई। भागती हुई दैत्य-सेना को ललकारते हुए वृत्रासुर ने कहा—अरे दैत्यों, कायरों की भाँति क्यों भाग रहे हो ? सुनो-सुनो, संसार में जो पैदा होता है, वह मरता भी है। मृत्यु से बचने का कोई उपाय सृष्टि में नहीं है। जब मौत दुर्निवार है तब ऐसे ढङ्ग से मरो कि उससे यश भी मिले। देखो, इस संसार में दो प्रकार की मृत्यु प्रशंसनीय मानी गई है—या तो योग द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से प्राण निकाल कर शरीर का परित्याग करने से अथवा युद्ध-भूमि में सन्मुख होकर लड़ते हुए मरने से—

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता।

लोको यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुं को नाम मृत्युं न व्रणीत युक्तम् ॥६/१०/३२

द्वौ संमताविह मृत्यू दुरापौ यद् ब्रह्मसंधारणया जितासुः।

कलेवरं योगरतो विजह्याद् यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्तः ॥६/१०/३३

अतः इस शुभ अवसर को छोड़ो मत। युद्ध में डटे रहो ॥१०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

## ग्यारहवाँ अध्याय

### ( वृत्रासुर की अद्भुत वीरता और उसकी भगवन्निष्ठा )

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन, दैत्य-सेना भय से त्रस्त होकर भाग रही थी। उस पर वृत्रासुर के धर्म-वचनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। ठीक भी है, जब प्राणों पर संकट आ गया हो तो कौन किसका धर्मोपदेश सुनेगा—

त एवं शंसतो धर्मं वचः पत्युरचेतसः। नैवागृह्णन् भयत्रस्ताः पलायनपरा नृप ॥६/११/१

वृत्रासुर ने देखा दैत्य-सेना भाग रही है। देव-सेना उसे खदेड़ कर मार रही है। यह देख कर उसे क्रोध आ गया। उसने देवसेना को बलपूर्वक आगे बढ़ने से रोक दिया और बड़े जोर से डाट कर ललकारते हुए कहा—अरे क्षुद्र देवताओं, भयभीत होकर भागती हुई असुरसेना पर पीछे से प्रहार करने से क्या लाभ ? भागते हुए लोगों पर प्रहार करने से तुम्हें न तो यश मिलेगा और न स्वर्ग ही। यदि तुम लोगों में हिम्मत हो तो मेरे सामने आजाओ। मैं तुम्हें युद्ध का मजा चखाता हूँ। परीक्षित, वृत्रासुर बड़े विशाल शरीर का था। वह अपने शरीर से ही देवताओं को भय-त्रस्त करने लगा फिर उसने बड़े जोर से सिंह-गर्जना की, जिसे सुन कर हजारों देवता मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। मानो उन पर आकाश से बिजली गिर पड़ी हो। जैसे मदोन्मत्त गजराज नरकट का वन रौंद डालता है, वैसे ही रणबाँकुरा वृत्रासुर हाथ में त्रिशूल लेकर भय के मारे नेत्र बन्द कर गिरी हुई देव-सेना को पैरों से कुचलने लगा। उसके वेग से धरती डगमगाने लगी—

ममर्द पद्भ्यां सुरसैन्यमातुरं निमीलिताक्षं रणरङ्गदुर्मदः।

गां कम्पयन्नुद्यतशूल ओजसा नालं वनं यूथपतिर्यथोन्मदः ॥६/११/८



यह भीषण दृश्य देखकर देवराज इन्द्र क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने एक विशाल गदा फेंक कर वृत्रासुर पर प्रहार किया। वृत्रासुर ने वेग से सनसनाती आती हुई गदा को देखा। उसने खेल-ही-खेल में उसे बाँधें हाथ से पकड़ लिया। राजन्, महान् पराक्रमी वृत्रासुर ने क्रुद्ध होकर उसी गदा से इन्द्र के वाहन ऐरावत हाथी के गण्डस्थल पर गरजते हुए प्रहार किया। गदा के भीषण प्रहार से ऐरावत को चक्कर आ गया। वह मुख से खून फेंकता चिल्लाता हुआ सात धनुष (अर्थात् २८ हाथ) पीछे हट गया। किन्तु इन्द्र ने अपने हाथ में अमृत लेकर ऐरावत के शिर पर मल दिया। इससे उसकी सारी व्यथा समाप्त हो गई और वह पुनः युद्ध भूमि में आ डटा। इन्द्र इस अवसाद की दशा में वृत्रासुर ने प्रहार रोक कर थोड़ी देर के लिये युद्ध बन्द कर दिया। असुर होकर भी वह धर्म के अनुसार युद्ध करने वाला था फिर जब देखा कि इन्द्र वज्र लेकर युद्ध करने के लिये सामने आ गये हैं, तब उसने उन्हें ललकारते हुए कहा—  
 अरे इन्द्र, तू ब्रह्मघाती और गुरुद्रोही है। तुझे लज्जा नहीं लगती, तेरे इस कर्म की राक्षस तक निन्दा करते हैं, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या? बड़ी प्रसन्नता की बात है कि तुम्हारे जैसा शत्रु आज मेरे सामने आ गया है। तुम ब्रह्मघाती हो, गुरुघाती हो और हो प्रातृघाती भी तू ने मेरे भाई का वध किया है। अब मैं तेरी छाती को त्रिशूल से विदीर्ण कर अपने भाई के वध का बदला चुकाऊँगा। तुम्हारे अनुगामी देवगण भी जो मुझ पर प्रहार कर रहे हैं, उनके शिरों को भी काट कर भैरव को बलि चढ़ा दूँगा। अरे इन्द्र, तू खड़ा-खड़ा क्या देख रहा है? मैं तेरे सामने खड़ा हूँ, तेरा शत्रु हूँ। अब तू अपने अमोघ वज्र से मुझे पर प्रहार क्यों नहीं कर रहे हो? तू यह मत सोच कि गदा की भाँति तेरा यह वज्र भी निष्फल हो जायेगा। इन्द्र, तेरा यह वज्र श्रीहरि के तेज और दधीचि ऋषि की तपस्या से सर्वथा अकाट्य बन गया है। भगवान् विष्णु ने मुझे मारने के लिये तुझे आज्ञा भी दी है अतः अब तुम उसी वज्र से मुझे मार डाल। मैं यह जानता और मानता हूँ कि जिधर भगवान् श्रीहरि रहते हैं उधर ही विजय, लक्ष्मी और सारे गुण निवास करते हैं—

नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः ।

तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो यतो हरिर्विजयः श्रीगुणास्ततः ॥६/११/२०

देवराज, तू मेरे ऊपर वज्र से प्रहार कर। मैं भगवान् सङ्कर्षण के चरणकमलों में चित्त एकाग्र कर अपने प्राणों का परित्याग करना चाहता हूँ, जिससे मुझे मुनिजनों की भाँति दिव्य गति की प्राप्ति हो। करो, मुझ पर प्रहार करो।

वृत्रासुर ने श्रीहरि के चरणों में अपने मन को लीन करते हुए प्रार्थना की—

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।

मनःस्मरेदासुपतेर्गुणांस्ते गुणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥६/११/२४

शब्दार्थः—हे हरे = हे श्रीहरि, अहम् = मैं, भूयः = फिर, अगले जन्म में, तव = आप के, पादैकमूलदासानु-दासः = चरणतलों के आश्रित सेवकों का सेवक, भविताऽस्मि = बनूँ। (मम = मेरा), मनः = मन, असुपतेः-प्राणपति, ते = आप के, गुणान् = गुणों का, स्मरेत् = स्मरण करे, याद करे, (मे = मेरी), वाक् = वाणी, ते गुणान् = तुम्हारे गुणों का, गुणीत = गान करे, (तथा), कायः = शरीर, कर्म = सेवा, करोतु = करे ॥६/११/२४॥

अर्थः—हे प्रभो, मेरी प्रार्थना है कि मैं अगले जन्म में भी आप के चरणतलों के आश्रित सेवकों का सेवक बनूँ। मेरा मन प्राण-पति आपके गुणों का स्मरण करता रहे। मेरी वाणी आपके गुणों का गान करे और मेरा शरीर सर्वदा आपकी सेवा करता रहे।

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥६/११/२५



**शब्दार्थः**—हे समञ्जस = हे सर्वसौभाग्यनिधे, (अहम् = मैं), त्वा = आप को, विरहय्य = छोड़कर, न नाकपृष्ठम् = न स्वर्ग को, न पारमेष्ठ्यम् = न ब्रह्मलोक को, न सार्वभौमम् = न सम्पूर्ण भू-मण्डल के साम्राज्य को, न रसाधिपत्यम् = न रसातल के एकच्छत्र राज को, न योगसिद्धीः = न अणिमा आदि योग की सिद्धियों को, वा = अथवा, न अपुनर्भवम् = मुक्ति को ही, काङ्क्षे = चाहता हूँ ॥६/११/२५

**अर्थः**—हे मेरे समग्र प्रेम के आश्रय प्रभो, मैं आप को छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य, रसातल का एकच्छत्र राज्य, योग की अणिमा आदि सिद्धियाँ, यहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता हूँ ॥२५॥

**आजातपक्षा इव मातरं खगा स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।**

**प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥६/११/२६**

**शब्दार्थः**—अजातपक्षाः = पंखविहीन, खगाः = चिड़ियों के बच्चे, मातरम् = माता की, इव = जैसे, (प्रतीक्षन्ते = बाट जोहते रहते हैं); यथा = जैसे, क्षुधार्ताः = भूख से व्याकुल, वत्सतराः = छोटे बछड़े, स्तन्यम् = अपनी माँ के दूध के लिये, (आतुराः = व्याकुल, भवन्ति = रहते हैं); विषण्णा = विरहिणी, प्रिया = प्रियतमा पत्नी, इव = जैसे, व्युषितम् = परदेश गये हुए, प्रियम् = प्रिय के लिये, (उत्कण्ठते = उत्कण्ठित रहती हैं), हे अरविन्दाक्ष = हे कमलनयन, (तथैव = उसी प्रकार), मे = मेरा, मनः = तापत्रय से पीड़ित मन, त्वां दिदृक्षते = आप के दर्शन के लिये छटपटा रहा है ।

**अर्थः**—जैसे पक्षियों के पंखविहीन बच्चे अपनी माँ की बाट को जोहते रहते हैं; जैसे भूख से व्याकुल छोटे बछड़े अपनी माँ का दूध पीने के लिये व्याकुल रहते हैं; जैसे विरहिणी प्रियतमा पत्नी परदेश गये हुए प्रिय से मिलने के लिये उत्कण्ठित रहती है—वैसे ही कमलनयन ! मेरा मन आप के दर्शन के लिये छटपटा रहा है ॥२६॥

**ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।**

**त्वन्माययात्मात्मजदारोगहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥६/११/२७**

**शब्दार्थः**—संसारचक्रे = जन्म-मृत्यु के चक्कर में, स्वकर्मभिः = अपने कर्मों के फलस्वरूप, भ्रमतः = भटकते हुए, मम = मेरी, सख्यम् = मैत्री, उत्तमश्लोक-जनेषु = भगवान् के प्यारे भक्त-जनो के साथ, (स्यात् = होवे), हे नाथ = हे मेरे स्वामिन, त्वन्मायया = आप की माया से, आत्मात्मजदारोगहेषु = देह-गेह और स्त्री-पुत्र आदि में आसक्त चित्तवाले, (जनेषु = लोगों के साथ), न भूयात् = न होवे ॥६/११/२७

**अर्थः**—प्रभो, मैं मुक्ति नहीं चाहता । मेरे कर्मों के फलस्वरूप मुझे बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में भटकना पड़े, इसकी परवाह भी मुझे नहीं है । परन्तु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस-जिस योनि में जन्म, वहाँ-वहाँ भगवान् के प्यारे भक्तों से मेरी मैत्री बनी रहे । स्वामिन, मैं केवल यहीं चाहता हूँ कि जो लोग आप की माया से देह-गेह और स्त्री-पुत्र आदि में आसक्तचित्तवाले हैं, उनके साथ मेरा कभी किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो ।

श्री शुकदेवजी ने कहा—राजन, इस प्रकार युद्ध से विरत होकर किंकर्तव्यविमूढ़ इन्द्र यह समझ ही नहीं पा रहे थे कि अब क्या करना चाहिये । उधर वृत्रासुर भगवान् में अपने मन को लगाकर वरदान पर वरदान मांगे जा रहा था । उसका मन-मधुकर भगवान् की रूपमाधुरी का छककर पान कर रहा था । उस समय उसे शरीर और संसार सब कुछ भूल गया था । है न यही असम्प्रज्ञात समाधि ?

संसार के इतिहास में कहीं भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा कि इन्द्र जैसा प्रवल शत्रु हाथ में वज्र लेकर प्रहार करने के लिये खड़ा हो और प्रतियोद्धा भगवान् के ध्यान में लीन होकर अपना अस्तित्व ही खोदे । वाह रे वृत्रासुर, वस्तुतः हो तुम धन्य !

**॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥**



## बारहवाँ अध्याय

### ( वृत्रासुर का वध )

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन, वृत्रासुर रणभूमि में लड़ते-लड़ते अपना शरीर छोड़ना चाहता था क्योंकि उसके विचार से इन्द्र को जीतकर स्वर्ग प्राप्त करने की अपेक्षा मरकर भगवान् को प्राप्त करना श्रेष्ठ था इसलिये जैसे प्रलय कालीन जल में कैटभासुर भगवान् विष्णु पर चोट करने के लिये दौड़ा था, वैसे ही वह भी त्रिशूल उठा कर इन्द्र पर टूट पड़ा—

एवं जिहासुर्नृप देहमाजौ मृत्युं वरं विजयान्मन्यमानः ।  
शूलं प्रगृह्याम्यपतत् सुरेन्द्रं यथा महापुरुषं कैटभोऽप्सु ॥६/१२/१

वीर वृत्रासुर ने प्रलयकाल की अग्नि की लपटों के समान अत्यन्त तीक्ष्ण त्रिशूल को घुमा कर बड़े वेग से इन्द्र पर चलाया और अत्यन्त क्रोध से गरजते हुए बोला—पापी इन्द्र, अब तू बच नहीं सकता। बड़े वेग से सनसनाते हुए अपनी ओर आते हुए त्रिशूल को देखकर भी इन्द्र अविचलित ही रहे, वे भयभीत नहीं हुए। उन्होंने अपने वज्र से त्रिशूल को काट दिया और साथ ही वासुकि नाग के समान वृत्र की विशाल दाहिनी भुजा को भी उड़ा दिया। वृत्रासुर-कुपित हो उठा। उसने बाएँ हाथ से एक विशाल लौह दण्ड (परिघ) उठाया और उसे पटक दिया इन्द्र की ठोड़ी पर। साथ-ही-साथ उसी से उसने ऐरावत के मस्तक पर भी प्रहार किया, इन्द्र व्यथित हो उठे। उनके हाथ से वज्र भूमि पर गिर पड़ा—“वज्रं च हस्ताभ्यपतन्मघोनः” ॥४॥ सब लोग वृत्रासुर की वीरता की प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि इसने बाएँ हाथ से ही इन्द्र को पराजित कर दिया, किन्तु इन्द्र पर आये हुए सङ्कट को देख कर देवता, सिद्ध, गन्धर्व और विद्याधर आदि हाहाकार करते हुए चिल्लाने लगे। वज्र इन्द्र के हाथ से छूट कर वृत्रासुर के पास ही जा गिरा था अतः लज्जित होकर इन्द्र ने उसे फिर नहीं उठाया। इस पर वृत्रासुर ने इन्द्र को ललकारते हुए कहा—इन्द्र, यह विषाद करने का समय नहीं है। उठाओ वज्र और करो शत्रु पर प्रहार। क्या देख रहे हो ?—

इन्द्रो न वज्रं जगृहे विलज्जितश्च्युतं स्वहस्तादिरसन्निधौ पुनः ।

तमाह वृत्रो हर आत्तवज्रो जहि स्वशत्रुं न विषादकालः ॥६/१२/६

संग्राम एक घूत की तरह है। इसमें जय या पराजय पहले से निश्चित नहीं हुआ करती। लड़नेवाले कभी जीतते और कभी हारते भी हैं। जीत तो एकमात्र भगवान् की ही हुआ करती है। प्राणियों की जीत और हार का कारण एकमात्र काल है। जो इस बात से अनभिज्ञ हैं, वे ही प्राणियों को जीत और हार का कारण मानते हैं अतः यश-अपयश, जय-पराजय, सुख-दुःख, जीवन-मरण—इनमें से किसी एक की इच्छा अथवा अनिच्छा न रखकर, सभी परिस्थितियों में समान भाव से रहना चाहिये। हर्ष-शोक के वशीभूत नहीं होना चाहिये। अरे देवराज इन्द्र, जरा मेरी ओर भी तो देखो। तुमने मेरा हाथ और अस्त्र काट कर एक प्रकार से मुझे परास्त कर दिया है फिर भी मैं तुम्हारे प्राण लेने के लिये यथाशक्ति प्रयास कर ही रहा हूँ।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित, वृत्रासुर के इस प्रकार सत्य एवं निष्कपट वचनों को सुन कर इन्द्र ने वज्र उठा लिया और मुस्कराकर कहा—अहो दानवराज, सचमुच तुम सिद्ध पुरुष हो। तभी तो तुम्हारा धैर्य, निश्चय और भगवद्भाव इतना विलक्षण है। तुमने समस्त प्राणियों के सुहृद् आत्मस्वरूप जगदीश्वर की अनन्य भाव से भक्ति की है। वस्तुतः तुमने सबको मोह में डालनेवाली भगवान् की माया को जीत लिया है। तुम माया से पार हो गये हो। तभी तो तुम असुरभाव का परित्याग कर महापुरुष बन गये हो। वृत्रासुर, असुर होने के नाते तुम रजोगुणी हो फिर



भी विशुद्ध सत्त्वस्वरूप भगवान् में तुम्हारी दृढ़ मति हो गई है अतः संसार के सारे भाव तुम्हें तुच्छ प्रतीत हो रहे हैं। इस प्रकार परस्पर वार्तालाप कर इन्द्र और वृत्रासुर पुनः परस्पर युद्ध करने लगे। असुरराज वृत्र ने लोहे का बना हुआ एक विशाल परिघ उठाया और पूरी शक्ति से उसे घुमा कर इन्द्र पर प्रहार किया किन्तु इन्द्र ने अपने वज्र से उस परिघ और वृत्रासुर की बची हुई बाईं भुजा को भी काट गिराया। उस समय वह असुर पंख कटे हुए पर्वत की भाँति प्रतीत हो रहा था। दोनों भुजाओं के कट जाने से रक्त की विशाल धारा उसके शरीर से बह रही थी। उस समय वह असुर क्रोध के मारे तिलमिला रहा था फिर देवसेना को पैरों से रौंदता हुआ वह इन्द्र के पास पहुँचा। अपना मुँह फाड़कर वृत्रासुर ऐरावत हाथी के सहित इन्द्र को इस प्रकार लील गया, जैसे विशाल बलवान् अजगर हाथी को निगल जाय। इस दृश्य को देख कर देवता लोग 'हाय-हाय ! बड़ा अनर्थ हो गया।' यह कह कर हाहाकार करने लगे। उस समय उन्हें कुछ सुझाई ही न पड़ रहा था। इन्द्र नारायण कवच से सुरक्षित थे अतः पेट में पहुँच कर भी वे मरे नहीं। उन्होंने अपने वज्र से उसकी कोख फाड़ डाली और उसके पेट से निकल कर बड़े वेग से उसका, पर्वत-शिखर के समान, ऊँचा शिर काट डाला। वज्र को वृत्रासुर का शिर काटने में पूरा एक वर्ष लग गया। वृत्र का शिर कट कर गिरते ही आकाश में दुन्दुभियाँ बजने लगीं। चारों ओर से इन्द्र पर फूलों की वर्षा होने लगी। सब उनके पौरुष की प्रशंसा करने लगे। चतुर्दिक् आनन्द की बहार छा गई। उस समय वृत्रासुर के शरीर से उसकी आत्मज्योति बाहर निकली और सबके देखते-देखते भगवान् के स्वरूप में विलीन हो गई। मुक्त हो गया वृत्रासुर इस संसार से। बोलिये वृन्द्रावनविहारीलाल की जय।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## तेरहवाँ अध्याय

( इन्द्र पर ब्रह्महत्या का आक्रमण )

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—महादानी परीक्षित, वृत्रासुर के मारे जाने पर, इन्द्र को छोड़ कर, तीनों लोक और लोकपाल तत्काल प्रसन्न हो उठे। उनका भय, उनकी चिन्ता समाप्त हो गई—

वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद । सपाला ह्यभवन् सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः ॥

६/१३/१

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्, मैं यह जानना चाहता हूँ कि जब त्रिलोकी के सभी लोग प्रसन्न हो गये तो इन्द्र के न प्रसन्न होने का कारण क्या था ? श्री शुक्रदेव जी ने कहा—त्रिलोकी वृत्रासुर से सन्तस्त थी। सभी देवता, ऋषि और मुनि आदि इन्द्र के पास पहुँचे। उनसे वृत्र के वध की प्रार्थना की। इन्द्र ने कहा—विश्वरूप के वध से लगी ब्रह्महत्या को तो स्त्री, वृक्ष आदि चार स्थानों में बाँटकर किसी तरह मैं पापमुक्त हुआ था किन्तु वृत्र के वध से लगनेवाली ब्रह्महत्या से मेरा कैसे पिण्ड छूटेगा ? इस पर ऋषियों ने कहा—इन्द्र आप इसके लिये भयभीत न हों। हम लोग आप से अश्वमेध यज्ञ के द्वारा नारायण की आराधना करवायेंगे। उससे आप त्रिलोकी के पाप से मुक्त हो सकते हो, वृत्रासुर के वध की तो बात ही क्या है ? देवराज इन्द्र, नारायण के नाम में शक्ति का सागर भरा हुआ है। उसके कीर्तनमात्र से महान् से महान् पापी भी शुद्ध हो जाते हैं फिर इस दुष्ट को दण्ड देने के पाप से छूटने की तो बात ही क्या है ?—



तमश्चमेधेन

महामखेन

ब्रह्मान्वितोऽस्माभिरनुष्ठितेन ।

हत्वापि सब्रह्म चराचरं त्वं न लिप्स्यसे किं खलनिग्रहेण ॥६/१३/९

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, इस प्रकार ब्राह्मणों से प्रेरित होकर इन्द्र ने वृत्र की हत्या कर दी। उसके मारे जाने पर ब्रह्महत्या ने इन्द्र का पीछा किया। उसकी आकृति दिल को दहलानेवाली थी। वह यक्ष्मा रोग से आक्रान्त बूढ़ी चाण्डालिन की तरह प्रतीत होती थी। उसका शरीर जर्जर था। वह काँप रही थी। उसकी साड़ी खून से लथपथ थी। उसके श्वास-प्रश्वास से सारा वातावरण दुर्गन्ध से भर गया था। उसके सफेद बाल शिर के चारों ओर बिखरे पड़े थे। उसने इन्द्र को ललकार कर कहा—अरे ब्राह्मण के हत्यारे, कहाँ जा रहा है। खड़ा रह, खड़ा रह। यह कहकर वह इन्द्र के पीछे बड़े वेग से दौड़ी। देवराज इन्द्र उसे देख कर काँप उठे। वे उसके भय से दिशाओं और आकाश में भागते फिरे उन्हें कहीं भी शरण न मिली। अन्ततः थक हार कर वे उत्तर-पूर्व के कोने में स्थित मानसरोवर में जाकर छिप गये। वहाँ वे एक कमल के नाल के छिद्र में प्रवेश कर गये। वहाँ वे एक वर्ष तक निराहार रहकर भगवान् श्रीहरि का ध्यान करते रहे। उन्हें सतत यही चिन्ता सताती रहती थी कि ब्रह्महत्या के पाप से मेरा कैसे छुटकारा होगा। देवों को अग्निमुख कहा गया है। देवता अग्निरूपी मुख से ही भोजन करते हैं। किन्तु जल के भीतर अग्नि प्रवेश नहीं कर सकते थे अतः इन्द्र को वहाँ निराहार रहना पड़ा। इन्द्र जब तक मानसरोवर में छिपे रहे तब तक अपनी विद्या तपस्या और योगबल के प्रभाव से राजा नहुष स्वर्ग पर शासन करते रहे। परन्तु जब उन्होंने सम्पत्ति और ऐश्वर्य के मद से अन्धे होकर इन्द्र की पत्नी शची के साथ अनाचार करना चाहा, तब शची ने उनसे ऋषियों का अपराध करवाकर उन्हें शाप दिला दिया—जिससे वे साँप हो गये<sup>१</sup>—

तावत्त्रिणाकं नहुषः शशास विद्यातपोयोगबलानुभावः ।

स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धिर्नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या ॥६/१३/१६

तदनन्तर जब सत्यस्वरूप भगवान् का ध्यान करके इन्द्र ने अपने पापों को नष्टप्राय कर दिया, तब ब्राह्मणों के बुलाने पर वे स्वर्गलोक में गये। वहाँ उन लोगों ने इन्द्र से अश्वमेध यज्ञ करवाकर भगवान् की आराधना करवाई जिससे उनका पाप समूल समाप्त हो गया—“इन्द्रो महानास विधूतपापः” ॥२१॥

बुद्धिमानों को चाहिये कि वे इस आख्यान को सदा-सर्वदा पढ़ें और सुनें। विशेषकर पर्वों के अवसर पर तो अवश्य ही इसका सेवन करें। यह धन और यश की वृद्धि करता है। सारे पापों को नष्ट करता है, शत्रु पर विजय प्राप्त कराता है तथा आयु और मङ्गल की अभिवृद्धि करता है ॥१३॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥



१. कथा का संक्षिप्त प्रारूप इस प्रकार है। नहुष शची के यौवन एवं सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। उसने कहा—शची, अब स्वर्ग का इन्द्र मैं हूँ। तुम इन्द्र की पत्नी हो अतः मेरे साथ रमण करो। संकट को देखकर शची गुरु बृहस्पति की शरण में गई। उनसे अपनी विपत्ति कही। गुरुदेव ने कहा—शची, घबड़ाओ नहीं। तुम नहुष से कहो कि जब आप ब्राह्मणों के द्वारा ढोई जाती हुई पालकी पर चढ़ कर मेरे पास आयेँगे तब मैं आप का मनोरथ पूरा करूँगी। कामी अन्धा होता है। नहुष ने सप्तर्षियों को पालकी में जोतकर उसमें बैठ कर शची के पास जाने के लिये प्रस्थान किया। मार्ग में ‘सर्प सर्प’ (जल्दी चलो, जल्दी चलो) ऐसा कह कर उसने पैर से ऋषि अगस्त्य को खोदा। अगस्त्य कुपित हो उठे। उन्होंने उसे शाप दिया—अरे दुष्ट, तू ‘सर्प-सर्प’ कहता है अतः जा तू अजगर सर्प बन जा। इस प्रकार शची ने गुरु की सलाह से नहुष को तिर्यक् योनि में पहुँचा दिया और अपनी इज्जत बचा ली।



## चौदहवाँ अध्याय

( वृत्रासुर के पूर्व जन्म का वृत्तान्त )

राजा परीक्षित कथा के बड़े रसिक हैं। कोई भी प्रसङ्ग मिल जाय तो वे जिज्ञासा प्रकट किये बिना नहीं रहते। श्री शुकदेव जी से उन्होंने पूछा कि महाराज वृत्त असुर था। असुर रजोगुणी एवं तमोगुणी हुआ करते हैं। ऐसी स्थिति में भगवान् नारायण के चरणों में उसकी प्रगाढ़ भक्ति कैसे हुई ? हम देखते हैं कि प्रायः शुद्ध सत्त्वमय देवता और पवित्र हृदय ऋषि भी भगवान् की परम प्रेममयी अनन्य भक्ति से वञ्चित ही रह जाते हैं। सचमुच भगवान् की भक्ति परम दुर्लभ है—

रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः । नारायणे भगवति कथमासीद् दृढा मतिः ।

देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणां चामलात्मनाम् । भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते ॥६/१४/१-२

ऐसी दशा में जब कि युद्ध चल रहा था। भयङ्कर अस्त्र-शस्त्रों की चतुर्दिक् वृष्टि हो रही थी। भगवान् कृष्ण के चरणों में वृत्रासुर की दृढ मति कैसे तल्लीन हुई ? इस विषय में हमें महान् सन्देह है। आप इसका कारण बतलाने की कृपा करें।

श्री शुकदेव ने परीक्षित का श्रद्धा से भरा प्रश्न सुना फिर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—परीक्षित, तुम सावधान होकर यह इतिहास सुनो। मैंने इसे अपने पिता व्यास जी, देवर्षि नारद और महर्षि देवल से भी विधिपूर्वक सुना है। प्राचीनकाल की बात है। शूरसेन<sup>१</sup> देश में एक बड़े प्रतापी चक्रवर्ती नरेश थे। उनका नाम था—चित्रकेतु। वे परम धार्मिक शासक थे। उनके राज्य-काल में पृथिवी कामधेनु बन गई थी। प्रजा इच्छानुसार उससे अन्न-रस ग्रहण करती थी। उनकी एक करोड़<sup>२</sup> रानियाँ थीं। उनमें भी पौरुष की कमी न थी फिर भी दुर्भाग्य यह कि उन्हें कोई पुत्र न था। सारा राजमहल वैभव-सुख से भरा हुआ था फिर भी राजा का मन चिन्तित रहता था। उनके मन को शान्ति नहीं मिलती थी। सकल भू-मण्डल का एकच्छत्र साम्राज्य भी उनकी प्रीति का कारण न बन सका। एक समय की घटना है। महर्षि अङ्गिरा अपनी इच्छानुसार लोकों में भ्रमण करते हुए चित्रकेतु के महल में पधारे। राजा ने उठ कर उनकी अगवाणी की। उन्हें सादर आसन पर बैठाया। अर्घ्य आदि से उनकी विधिपूर्वक पूजा की। आदर-सत्कार हो जाने के बाद जब अङ्गिरा ऋषि सुखपूर्वक आसन पर विराजमान हो गये तब राजा भी हाथ जोड़कर उनके सामने पृथिवी पर बैठ गये। ऋषि ने राज्य, मन्त्री, कोश, सेना तथा प्रजा आदि का कुशल-क्षेम पूछ कर राजा से कहा—राजन्, आज मैं आपको कुछ चिन्तित देख रहा हूँ। आप का मुख-मण्डल मुग्धायु हुआ-सा दिखलाई पड़ रहा है। प्रतीत होता है कि आप की कोई इच्छा पूरी नहीं हुई है। आपके इस असन्तोष का कारण क्या है ? यद्यपि महर्षि को राजा की चिन्ता का ज्ञान था फिर भी उन्होंने उनसे पूछा। चित्रकेतु को पुत्र की कामना थी अतः महर्षि के पूछने पर विनय से झुककर उन्होंने निवेदन किया—

लक्ष्येऽलब्धकामं त्वां चिन्तया शबलं मुखम् ॥

एवं विकल्पितो राजन् विदुषा मुनिनाऽपि सः । प्रश्रयावनतोऽभ्याह प्रजाकामस्ततो मुनिम् ॥

६/१४/२१-२२

१. आगरा-मथुरा-मण्डल को शूरसेन देश कहा जाता था।

२. किसी की महत्ता दर्शाने के लिये ही पुराणों में इस प्रकार की उक्तियाँ की जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उनकी बहुत-सी रानियाँ थीं।



चित्रकेतु ने कहा—समाधि के द्वारा अपने सारे पापों को नष्ट करनेवाले आप जैसे योगी को प्राणियों के बाहर-भीतर की ऐसी कौन-सी बात है, जो ज्ञात न हो फिर भी यदि आप पूछ रहे हैं तो मैं अपनी चिन्ता आपके चरणों में निवेदित कर रहा हूँ। मुनिवर, पृथिवी का साम्राज्य, ऐश्वर्य और सम्पत्तियाँ, जिनके लिये सकल लोकपाल भी लालायित रहते हैं, मुझे प्राप्त हैं किन्तु एक पुत्र के न होने से ये सब मुझे वैसे ही शान्ति नहीं प्रदान कर रहे हैं, जैसे भूख-प्यास से व्याकुल व्यक्ति को अन्नजल के अतिरिक्त दूसरे भोगों से शान्ति नहीं मिलती। भविष्य में पिण्डदान न मिलने की आशङ्का से परलोक में मेरे पितर भी दुःखी हो रहे होंगे अतः प्रभो, आप कृपा कर एक पुत्र प्रदान कर मुझे नरक में गिरने से बचा लें।

चित्रकेतु की विनती को सुनकर ब्रह्मा के पुत्र अङ्गिरा का हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने त्वष्टा देवता के योग्य चरु निर्माण कर उससे उनका यजन किया। चित्रकेतु की रानियों में कृतघृति सबसे बड़ी और सद्गुणी थी अतः महर्षि ने उसी को यज्ञ का अवशिष्ट प्रसाद खाने के लिये दिया और राजा से कहा—‘राजन्, तुम्हारी पत्नी के गर्भ से एक पुत्र होगा जो आप को हर्ष और शोक—दोनों ही प्रदान करेगा।’ ऐसा कह कर अङ्गिरा चले गये—

अथाह नृपतिं राजन् भवितैकस्तवात्मजः । हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ ॥६/१४/२९

रानी कृतघृति ने चरु खाने के फलस्वरूप गर्भ धारण किया। तदनन्तर समय आने पर महारानी कृतघृति के गर्भ से एक अतिशय सुन्दर पुत्र ने जन्म लिया। पुत्र-जन्म की बात सुनकर सम्राट् चित्रकेतु के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने ब्राह्मणों को सादर बुला कर स्वस्तिवाचनपूर्वक बालक का जातकर्म संस्कार करवाया और दक्षिणा में प्रभूत सम्पत्ति प्रदान की। इस अवसर पर राजा का मन अतिशय उदार हो गया था। फलस्वरूप सबको मुँहमाँगी वस्तुएँ प्राप्त हुईं।

राजा को बहुत दिनों के बाद बड़ी कठिनाई से एक पुत्र प्राप्त हुआ था अतः उस पर उनका स्नेह, शुक्ल पक्ष की चन्द्रमा की भाँति, दिनानुदिन बढ़ने लगा। रानी कृतघृति का तो अपने बेटे पर सब कुछ न्योछावर ही था। राजा भी कृतघृति को विशिष्ट दृष्टि से देखने लगे। यह सब देख कर सारी रानियाँ जल-भुन उठीं। उन्हें कृतघृति के सौभाग्य से महान् ईर्ष्या हुई। वे भी पुत्र की कामना करने लगीं। इस प्रकार एक तो वे रानियाँ सन्तान न होने के कारण ही दुःखी थीं, दूसरे राजा चित्रकेतु ने उनकी उपेक्षा कर दी अतः वे स्त्रियोचित डाह से अपने को धिक्कारने और मन-ही-मन जलने लगीं। उन लोगों ने आपस में सलाह कर राजकुमार को जहर खिला दिया, वह मर गया। कृतघृति समझती थी कि बेटा सो रहा है, अतः वह राजभवन में इधर-उधर डोलती रही। धाय ने सोते हुए बालक के पास जाकर देखा कि उसकी आँखों की पुतलियाँ उलट गई हैं, उसके प्राण निकल चुके हैं। यह देखते ही वह रोती-चिल्लाती हुई पछाड़ खाकर भूमि पर गिर गई। धाय के रोने-चिल्लाने को सुन कर कृतघृति दौड़कर बालक के शयन-गृह में पहुँची। वहाँ उसने देखा कि मेरा छोटा-सा बच्चा मर गया है—‘‘ददर्श बालं सहसा मृतं सुतम्’’ ॥४७॥ वे ढाह मार कर भूमि पर गिर पड़ीं। उनके शिर के बाल बिखर गये और शरीर के वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये। राजा को भी जब बालक के अकारण मरने का समाचार मिला तो वे भी गिरते-पड़ते वहाँ पहुँचे और बालक पर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। सारे रनिवास में कुहराम मच गया। शोक से सभी स्तब्ध थे। जहर देनेवाली रानियाँ भी वहाँ आकर झूठ-मूठ रोने का ढोंग करने लगीं। कृतघृति को जब होश आया तो वह पागल की भाँति विलाप करती हुई कहने लगी—बेटा, तुम मुझे अकेली छोड़कर कहाँ चले गये ? मेरे प्यारे लाल, राजकुमार, उठो बेटा, देखो, तुम्हारे साथी

१. विद्वेषनष्टमतयः स्त्रियो दारुणचेतसः । गरं ददुः कुमारय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति । ६-१४-४३



बालक तुम्हें खेलने के लिये बुला रहे हैं। तुम बहुत भुखे होओगे अतः उठो कुछ खा-पी लो। हाय, आज तुम्हारा मुख कैसा हो गया है? तुम कुछ बोलते क्यों नहीं हो? मैं बड़ी अभागिन हूँ, जो तुम्हारी तोतली बोली नहीं सुन रही हूँ। क्या तुम्हें निर्दयी यमराज परलोक तो नहीं उठा ले गया—

नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते ॥६/१४/५८

परीक्षित, जब सम्राट् चित्रगुप्त ने देखा कि मेरी रानी अपने मरे बेटे के लिये इस प्रकार भाँति-भाँति विलाप कर रही है, तब वे शोक से अत्यन्त सन्तप्त हो फूट-फूट कर रोने लगे। राजा-रानी के इस प्रकार विलाप करने पर उनके अनुगामी स्त्री-पुरुष भी दुःखित होकर रोने लगे। इस प्रकार सारा नगर ही शोक से अचेत-सा हो गया—

तयोर्विलपतोः सर्वे दम्पत्योस्तदनुव्रताः। रुरुदुः स्म नरा नार्यः सर्वमासीदचेतनम् ॥६/१४/६०

राजन्, महर्षि अङ्गिरा और देवर्षि नारद ने देखा कि राजा चित्रकेतु पुत्र-शोक के कारण चेतनहीन हो रहे हैं। उन्हें समझानेवाला भी कोई नहीं है तब वे दोनों ही वहाँ आये ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

## पन्द्रहवाँ अध्याय

( अङ्गिरा एवं नारद जी के उपदेश से चित्रकेतु के शोक की निवृत्ति )

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, राजा चित्रकेतु शोकग्रस्त होकर मुर्दे के समान अपने मृत पुत्र के पास ही पड़े हुए थे। यह देख कर अङ्गिरा और नारद जी विभिन्न उक्तियों से उन्हें समझाने लगे। उन्होंने कहा—राजन्, जिसके लिये तुम इतना शोक कर रहे हो, वह बालक इस जन्म में और पहले के जन्मों में तुम्हारा कौन था? उसके तुम कौन थे और आगे के जन्मों में भी उसके साथ तुम्हारा क्या संबन्ध रहेगा?—

कोऽयं स्यात् तव राजेन्द्र भवान् यमनुशोचति। त्वं चास्य कतमः सृष्टौ पुरेदानीमतः परम् ॥

६/१५/२

जैसे पानी के प्रवाह से बालू के कण एकत्रित होते हैं और फिर इधर-उधर बह जाते हैं, वैसे ही प्राणी काल के वेग से एक स्थान पर मिल जाते हैं और मिल कर बिछुड़ भी जाते हैं—

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन बालुकाः। संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः ॥

६/१५/३

राजन्, जैसे बीजों से दूसरे बीज उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही भगवान् की माया से प्रेरित होकर प्राणियों से अन्य प्राणी उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं—

यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च। एवं भूतेषु भूतानि चोदितानीशमायया ॥६/१५/४

भगवान् ही सारे प्राणियों के अधिपति हैं। वे जन्म-मृत्यु आदि विकारों से परे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। बच्चे जैसे मिट्टी का घर-घरौदा बनाकर खेलते और उसे बिगाड़ते हैं, वैसे ही यह परमात्मा प्राणियों की रचना, पालन और संहार करता रहता है। परीक्षित, जैसे एक बीज से दूसरा बीज उत्पन्न होता है, पिता के देह द्वारा माता की देह से पुत्र की देह उत्पन्न होती है। उत्पन्न होनेवाला विनष्ट भी होता है। उनमें केवल आत्मा ही नित्य है, शाश्वत है, जैसे घड़े, कसोरे आदि में मृत्तिका—



देहेन देहिनो राजन् देहादेहोऽभिजायते । बीजादेव यथा बीजं देहार्थ इव शाश्वतः ॥६/१५/७  
अतः किसी के लिये भी शोक करना व्यर्थ है ।

राजन्, जब अङ्गिरा और देवर्षि नारद ने इस प्रकार चित्रकेतु को समझाया-बुझाया, तब उन्होंने कुछ धैर्य धारण करके शोक से मुझाये हुए अपने मुख को हाथ से पोछा और उनसे कहा—आप दोनों अतिशय ज्ञानी और महान् से भी महान् प्रतीत होते हैं । आप अपने को अवधूत वेष में छिपा कर यहाँ आये हैं, कृपा करके बतलायें, आप लोग हैं कौन ? संसार की माया में फंसे हुए अज्ञानी जीवों के कल्याण के लिये सनत्कुमार, नारद, अङ्गिरा, व्यास, मार्कण्डेय और कपिल आदि बहुत-से ज्ञानी महात्मा भूतल पर विचरण करते रहते हैं । स्वामियों, मैं घोर विषयासक्त व्यक्ति हूँ । आप लोग ज्ञान के प्रकाश से मेरा उद्धार कीजिये । सम्प्रति मैं दुःख के अगाध सागर में डूब रहा हूँ ।

राजा की दीनता भरी बात सुनकर महर्षि अङ्गिरा ने कहा—राजन्, मैं वही अङ्गिरा ऋषि हूँ, जिसने आपको पुत्र प्रदान किया था और यह ब्रह्मा जी के पुत्र देवर्षि नारद हैं । जब आप को पुत्र के शोक में आकण्ठ मग्न देखा तो आप पर अनुग्रह करने के लिये ही हम यहाँ आये हैं । आप भगवान् के भक्त हैं अतः आप शोक करने के योग्य नहीं हैं । भगवान् और ब्राह्मणों के भक्त को किसी भी परिस्थिति में शोक नहीं करना चाहिये । जब मैं पहले-पहल आप के पास आया था, उसी समय आप को परम ज्ञान का उपदेश देता किन्तु उस समय आप का हृदय पुत्र की लालसा से छटपटा रहा था अतः ज्ञान न देकर पुत्र ही प्रदान किया । अब आप स्वयं अनुभव कर रहे हो कि पुत्रवानों को कितना दुःख होता है । राजन्, इसी प्रकार संसार के जितने भी व्यक्ति हैं, वे सब-के-सब अनित्य हैं । उनका सम्बन्ध गन्धर्व-नगर, माया और जादू के समान क्षण-भङ्गुर है, लुभावना तथा अनित्य है । संसार के सभी प्राणी दुःख-ही-दुःख देनेवाले हैं अतः अनित्य एवं दुःखदायी व्यक्तियों एवं वस्तुओं में आसक्ति त्याग कर आप भगवान् में मन लगाओं, उन्हीं की भक्ति करो । इससे आप का द्वैत भाव समाप्त हो जायेगा और परम शान्ति मिलेगी ।

अन्त में नारद ने कहा—राजन्, मैं आप को एक अत्यन्त गुप्त मन्त्र बतला रहा हूँ, इसे एकाग्रचित्त से सुनो । इसके अनुष्ठान से सात दिनों में ही सङ्कर्षण (शेष) भगवान् का आप को दर्शन होगा—

एतां मन्त्रोपनिषदं प्रतीक्ष प्रयतो मम । यां धारयन् सप्तरात्राद् द्रष्टा सङ्कर्षणं प्रभुम् ॥६/१५/२७  
उनके दर्शन से आप का द्वैत भ्रम समाप्त हो जायेगा ॥१५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥

## सोलहवाँ अध्याय

( चित्रकेतु को शेषतोषिणी विद्या का उपदेश तथा उन्हें सङ्कर्षण का दर्शन )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, इसी बीच देवर्षि नारद ने उस राजकुमार की जीवात्मा को, अपने योगबल से बुला कर सबके सामने उपस्थित कर दिया और कहा कि—जीवात्मन्, तुम्हारा कल्याण हो । देखो तुम्हारे माता-पिता और सगे-सम्बन्धी तुम्हारे वियोग से अत्यन्त शोकाकुल हो रहे हैं । इसलिये तुम अपने शरीर में आ जाओ और शेष आयु अपने लोगों के साथ ही रहकर व्यतीत करो । अपने पिता के दिये हुए भोगों को भोगो और राज्यसिंहासन पर बैठो—

१. राजकुमार अकालमृत्यु से मरा था अतः उसकी आयु अभी शेष थी ।



जीवात्मन् पश्य भद्रं ते मातरं पितरं च ते । सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम् ॥  
कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्वृतः । भुङ्क्ष्व भोगान् पितृप्रत्तानधितिष्ठ नृपासनम् ॥

६/१६/२-३

देवर्षि नारद की बात को सुनकर जीवात्मा ने कहा—देवर्षि जी, अपने कर्मों के कारण मैं अनन्तकाल से विभिन्न योनियों और जातियों में भ्रमण कर रहा हूँ। उनमें से किस योनि में ये लोग मेरे माता-पिता हुए ? प्राणी कर्म के वशीभूत होकर ऊँच-नीच योनियों में जन्म लेता रहता है और फिर मरता रहता है। कभी मैं इनका पुत्र था तो कभी ये ही मेरे बेटे थे। इस प्रकार का सम्बन्ध सर्वदा परिवर्तित होता रहता है जैसे सुवर्ण आदि क्रय-विक्रय की वस्तुएँ एक व्यापारी से दूसरे व्यापारी के पास आती-जाती रहती हैं, वैसे ही जीव भी भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता रहता है। इसलिये इस दुःखमय संसार में कोई किसी का माता-पिता, पुत्र तथा भाई-बन्धु कुछ भी नहीं है—

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः । पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु ॥६/१६/६  
जीव नित्य और अहङ्कार-रहित है। वह जब तक जिस शरीर में रहता है, तभी तक उसे अपना समझता है। यह जीव नित्य, अविनाशी, सूक्ष्म, सबका आश्रय और स्वयंप्रकाश है फिर भी यह ईश्वर रूप होने के कारण अपनी माया के गुणों से ही अपने आप को विश्व के रूप में प्रकट कर देता है। जब तक जिसका जिससे सम्बन्ध है, तभी तक उसका उसके साथ ममत्व है। स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु आदि सारा जगत् माया का खेल है। जीवात्मा का न तो कोई प्रिय है और न अप्रिय, न अपना और न परया। संसारी प्राणी इस अविनाशी आत्मा को पहचानता ही नहीं। आत्मा को इसने पहले भी कभी नहीं देखा था। जिस शरीर को देखा था, वह तो अब भी इसके सामने ही पड़ा है। ऐसी स्थिति में शोक करने का कारण क्या है ?

शुकदेव महाराज कहते हैं—राजन्, वह जीवात्मा इस प्रकार कह कर चला गया। माता-पिता, भाई-बन्धु सभी उसकी बातें सुन कर आश्चर्यचकित हुए। उनका स्नेह-बन्धन कट गया और बालक के मरने का शोक भी समाप्त हो गया। इसके बाद शास्त्र के अनुसार बालक का पारलौकिक संस्कार किया गया। राजकुमार को जहर देकर मारनेवाली स्त्रियों ने ब्राह्मणों के कथनानुसार यमुना जी में स्नान कर प्रायश्चित्त किया और फिर शुद्ध हुई। अङ्गिरा और नारद के उपदेश से राजा चित्रकेतु की विवेक-बुद्धि जाग्रत हुई। उन्होंने यमुना में स्नान किया। मृत बालक को जलाञ्जलि दी और मुनियों को प्रणाम कर उनके पास विनम्र होकर बैठ गये। अब मोह के कारण होनेवाला उनका अज्ञान समाप्त हो चुका था। देवर्षि नारद ने देखा कि चित्रकेतु जितेन्द्रिय, भगवद्भक्त और शरणागत हैं अतः उन्होंने बहुत प्रसन्न होकर उन्हें शेष-तोषिणी-विद्या का इस प्रकार उपदेश दिया—ॐकारस्वरूप भगवान्, आप वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण के रूप में क्रमशः चित्त, बुद्धि, मन और अहङ्कार के अधिष्ठाता हैं। मैं आपके इस चतुर्व्यूह रूप का बार-बार नमस्कारपूर्वक ध्यान करता हूँ—

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि । प्रद्युम्नायानुरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥६/१६/१८  
इस शेषतोषिणी विद्या में कुल आठ श्लोक हैं। सात श्लोकों से भगवान् को प्रणाम किया गया है और आठवाँ श्लोक मन्त्र है, जिसका जप किया जाता है। मन्त्र का अर्थ और स्वरूप इस प्रकार है—ॐकारस्वरूप महाप्रभावशाली महाविभूतिपति भगवान् महापुरुष को नमस्कार है। श्रेष्ठ भक्तों का समूह अपने कर-कमलों की कलियों से आप के युगल चरण-कमलों की सेवा में संलग्न रहता है। प्रभो, आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं आप को बार-बार प्रणाम करता हूँ—“ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सकल-सात्वतपरिवृढनिकरकरकमलकु-  
ड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परमपरमेष्ठिन् नमस्ते ॥” ६/१६/२५॥



देवर्षि नारद अपने शरणागत भक्त को इस विद्या का उपदेश देकर अङ्गिरा के साथ ब्रह्मलोक को चले गये। राजा चित्रकेतु ने केवल जल पीकर एकाग्रचित्त से सात दिनों तक इस विद्या का सविधि अनुष्ठान किया। तदनन्तर इस विद्या के अनुष्ठान से सात रात के पश्चात् राजा चित्रकेतु को विद्याधरों का अखण्ड आधिपत्य प्राप्त हो गया। विद्या की सिद्धि हो गई। उसके फलस्वरूप वे शेष भगवान् के चरणों के पास पहुँच गये। उन्होंने देखा कि—भगवान् शेष जी सिद्धेश्वरों के मध्य में विराजमान हैं। उनका शरीर कमल-नाल के समान गौरवर्ण है। उस पर नीले रङ्ग का वस्त्र पहना हुआ है। शिर पर किरिट, बाँहों में बाजुबन्द, कमर में करधनी और कलाई में कंगन आदि आभूषण चमक रहे हैं। नेत्र रतनार हैं और मुखकमल खिला हुआ है।—

मृणालगौरं शितिवाससं स्फुरत्किरीटकेयूरकटित्रकङ्कणम् ।

प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनं वृतं ददर्श सिद्धेश्वरमण्डलैः प्रभुम् ॥ ६/१६/३०

शेष जी का दर्शन कर चित्रकेतु के सारे पाप विनष्ट हो गये। उनका अन्तःकरण स्वच्छ और निर्मल हो गया। हृदय में भक्ति का सागर हिलोरें लेने लगा। नेत्रों में प्रेम के आँसू छलछला आये। शरीर के सारे रोम खिल उठे। उन्होंने ऐसी स्थिति में शेष भगवान् को विनम्र होकर प्रणाम किया। आँखों से अवरिल अश्रुधारा बह रही थी अतः कुछ क्षणों तक वे मौन खड़े रहे फिर किसी-किसी प्रकार अपने को संभालकर उन्होंने भक्तिपूर्वक चौदह आर्या छन्दों से भगवान् शेष की स्तुति की। प्रेमविह्वल हो उन्होंने कहा—भगवन्, आप के दर्शनमात्र से ही मनुष्यों के सारे पाप क्षीण हो जाते हैं। यह कोई असम्भव बात नहीं है, क्योंकि आप का नाम एक बार सुनने से ही नीच चाण्डाल भी संसार से मुक्त हो जाता है—

न हि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनाभ्यामखिलपापक्षयः ।

यन्नाम सकृच्छ्रवणात् पुल्कसोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥ ६/१६/४४

देखिये, पहले अजामिल के प्रसङ्ग में भगवान् के नाम लेने के माहात्म्य का वर्णन आया है। किन्तु यहाँ सुनने के माहात्म्य का वर्णन है। कहते हैं कि यदि एक कसाई भी दूसरे के मुख से उच्चारण किया हुआ भगवन्नाम-श्रवण कर ले तो वह पाप से मुक्त हो जाता है। आज मैं आप के दर्शन से कृतार्थ हो गया। नारद जी ने मुझे जो उपदेश दिया है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है? अब मैं आप से क्या प्रार्थना करूँ? आप सहस्रमूर्धा हैं। आप को बारम्बार प्रणाम है।

भगवान् शेष चित्रकेतु की भक्ति-भाव से भरी स्तुति सुनकर प्रसन्न हो उठे। उन्होंने कहा—राजन्, महर्षि अङ्गिरा तथा देवर्षि नारद ने आप को जो उपदेश दिया है उससे और मेरे दर्शन से आप पूर्ण सिद्ध हो चुके हैं। यह मानव-योनि ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। जो इसे पाकर भी अपने आत्मस्वरूप परमात्मा को नहीं जान लेता, उसे कहीं किसी भी योनि में शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती—

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञान-विज्ञानसंभवाम् । आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात् ॥

६/१६/५८

सारे योग का सार यही है कि साधक आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करे।

श्री शुकदेव जी कहते हैं कि—राजन्, जगद्गुरु विश्वात्मा भगवान् श्रीशेषजी चित्रकेतु को इस प्रकार समझा-बुझा कर उनके सामने ही वहाँ से अन्तर्धान हो गये—

१. यहाँ शेष जी का वर्णन मानव के आकार में किया गया है।



आश्वास्य भगवानित्थं चित्रकेतुं जगद्गुरुः । पश्यतस्तस्य विश्वात्मा ततश्चान्तर्दधे हरिः ॥

६/१६/६५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥

•

## सत्रहवाँ अध्याय

( पार्वती जी के शाप से चित्रकेतु का वृत्रासुर होना )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—राजन्, भगवान् शेष जिस दिशा में अन्तर्धान हुए थे, उस दिशा की ओर प्रणाम कर विद्याधर चित्रकेतु आकाश मार्ग से स्वच्छन्द विचरण करने लगे—

यतश्चान्तर्हितोऽनन्तस्तस्यै कृत्वा दिशो नमः । विद्याधरश्चित्रकेतुश्चचार गगनेचरः ॥६/१७/१

महायोगी चित्रकेतु चिरकाल तक सुमेरु पर्वत की कन्दराओं में विद्याधरियों के साथ भगवान् की लीला का गान करते रहे। बड़े-बड़े मुनि, सिद्ध, और चारण उनकी स्तुति करते रहते थे। भगवान् ने उनकी भक्ति से प्रसन्न हो उन्हें एक विमान दिया था जिस पर चढ़कर वे अविरत गति से विचरण करते थे। एक बार वे भगवान् के दिये हुए विमान पर बैठ कर वहाँ चले गये जहाँ बहुत बड़ी सभा में शङ्कर जी उपदेश कर रहे थे। उनकी बाँई जांघ पर जगदम्बा पार्वती बैठी हुई थीं। शङ्कर जी ने उन्हें एक हाथ से पकड़ रक्खा था। उनके चतुर्दिक् बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, सिद्ध और चारण बैठे थे। यह देखकर चित्रकेतु विमान पर चढ़े हुए ही उनके पास चले गये। उन्होंने इस दृश्य को देख कर जोर से हँसते हुए पार्वती को सुना-सुना कर कहना प्रारम्भ किया—अहो ! ये सारे जगत् के धर्मोपदेशक और गुरु हैं। ये समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ हैं। इनकी यह दशा है कि भरी सभा में अपनी पत्नी को शरीर से चिपका कर बैठे हुए हैं। ये लम्बी-लम्बी जटाएँ बढ़ाये हुए हैं, बहुत महान् तपस्वी हैं, ब्रह्मवादियों के शिरोमणि हैं फिर भी ये साधारण पुरुष के समान निर्लज्जतापूर्वक गोद में स्त्री लेकर बैठे हैं। प्रायः साधारण पुरुष भी एकान्त में ही स्त्रियों के साथ उठते-बैठते हैं। परन्तु ये इतने बड़े व्रतधारी होकर भी उसे भरी सभा में पकड़े बैठे हैं।<sup>१</sup>

प्रायशः प्राकृतश्चापि स्त्रियं रहसि बिभ्रति । अयं महाव्रतधरो बिभर्ति सदसि स्त्रियम् ॥६/१७/८

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भगवान् शङ्कर बुद्धि के अगाध सागर हैं। चित्रकेतु का यह कटाक्ष सुन कर वे हँसने लगे। कुछ भी बोले नहीं। उनके हँसने का कारण यही था कि चित्रकेतु रहस्य से अनभिज्ञ है अतः अनाप-

१. हृदय—पार्वती को गोद में लेकर बैठने का रहस्य यह है—एक बार कामदेव ने शङ्कर को युद्ध के लिये ललकारा। शङ्कर ने कहा—एक बार तुम मुझसे लड़ने के लिये आये थे। मैंने तुम्हें जलाकर भस्म कर दिया था फिर भी तुम्हारी लड़ने की इच्छा बनी ही है। कामदेव ने कहा—वह मेरी गलती थी। सती मर चुकी थीं। आप समाधि लगाये बैठे थे। उस समय मैं लड़ने के लिये आप के पास चला गया था अतः आपने मुझे हरा दिया, जला दिया। किन्तु अब आपका विवाह हो गया है। पार्वती आपके साथ है। अब युद्ध में मुझे हराइये तब आपकी वस्तुतः विजय मानी जायेगी। शङ्कर ने कहा—आमने-सामने का युद्ध नहीं होगा। मैं पार्वती को गोद में लेकर बैठूँगा। उस समय तुम मेरे ऊपर बाण चलाना। यदि मेरा मन तनिक भी विचलित हो जायेगा तो तेरी विजय होगी और विचलित नहीं होगा तो तेरी पराजय होगी। पार्वती गोद में बैठी थीं। काम बाण पर बाण चला रहा था और अविचलित शङ्कर प्रवचन कर रहे थे। यह रहस्य चित्रकेतु को विदित नहीं था अतः वह अनाप-शनाप बकने लगा।



शनाप बकवास कर रहा है ।<sup>१</sup> उस सभा में बैठे हुए शङ्कर के अनुयायी भी चुप ही रहे, कुछ बोले नहीं । चित्रकेतु भगवान् शङ्कर के प्रभाव से अनभिज्ञ थे । इसीसे वे उनके लिये बहुत कुछ बुरा-भला बक रहे थे । उन्हें इस बात का घमण्ड हो गया था कि 'मैं जितेन्द्रिय हूँ ।' पार्वती जी को चित्रकेतु की यह धृष्टता वर्दाशित नहीं हुई अतः वे उसको शिक्षा देने के लिये क्रोधभरी मुद्रा में बोलीं—अहो ! हम जैसे दुष्टों निर्लज्जों को दण्ड देनेवाला, शासन एवं तिरस्कार करनेवाला स्वामी इस संसार में यही पैदा हुआ है क्या ? जान पड़ता है कि ब्रह्माजी, भृगु जी, नारद जी, सनकादि, कपिल तथा मनु आदि बड़े-बड़े महापुरुष धर्म के रहस्य को नहीं जानते । तभी तो वे धर्ममर्यादा का उल्लंघन करनेवाले भगवान् शिव को इस काम से नहीं रोकते हैं । क्या यही मूर्ख धर्म का ठेका लेकर अकेले जन्मा है ?—

न वेद धर्मं किल पद्मयोनिर्न ब्रह्मपुत्रा भृगुनारदाद्याः ।

न वै कुमारः कपिलो मनुश्च ये नो निषेधन्यतिवर्तिनं हरम् ॥६/१७/१२

जिन भगवान् शङ्कर के चरण-कमलों का ध्यान ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता करते रहते हैं, उन्हीं मङ्गलों के मङ्गल भगवान् का और उनके अनुयायी महात्माओं का इस अधम क्षत्रिय ने तिरस्कार किया है अतः यह ढीठ शासन करने का पात्र है । यह सर्वथा दण्ड के योग्य है । यह दुष्ट भगवान् श्रीहरि के चरणों में रहने योग्य नहीं है । इतना कह कर उन्होंने चित्रकेतु को शाप देते हुए कहा—दुष्ट, तुम पापमय असुर योनि में जन्म ग्रहण करो । जिससे तुम पुनः महात्माओं का ऐसा अपराध नहीं कर सकोगे—

अतः पापीयसीं योनिमासुरीं याहि दुर्मति ।

यथेह भूयो महतां न कर्ता पुत्र किल्बिषम् ॥६/१७/१५

शुकदेव जी ने कहा—राजन्, पार्वती के शाप को सुन कर चित्रकेतु विमान से नीचे उतरा और सीधे जाकर पार्वती जी के चरणों पर गिर पड़ा और कहा—माता पार्वती जी, मैं बड़ी प्रसन्नता से अपना दोनों हाथ जोड़कर आपका शाप स्वीकार कर रहा हूँ । इससे मेरे पापों का प्रायश्चित्त हो जायेगा । यह जीव माया से मोहित होकर संसार में घूमता रहता है और अपने कर्मों का फल भोगता रहता है । माँ, सुख और दुःख को देनेवाला न तो अपना आत्मा है और न कोई दूसरा ही, जो दूसरों को सुख या दुःख देनेवाला समझता है, वह कुबुद्धि है—

संसारचक्र एतस्मिन्ननुरञ्जानमोहितः । भ्राम्यन् सुखं च दुःखं च भुङ्क्ते सर्वत्र सर्वदा ॥

नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात् सुखदुःखयोः । कर्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च ॥

६/१७/१८-१९

वस्तुतः यह सारा संसार ही कर्मसूत्र में आबद्ध है । इसी से मनुष्य को सुख-दुःख की प्राप्ति होती है । भगवान् अपनी माया के द्वारा समस्त प्राणियों की तथा उनके बन्धन, मोक्ष और सुख-दुःख की रचना किया करते हैं । यह जगत् सत्त्व आदि गुणों का स्वाभाविक प्रवाह है । इसमें शाप, अनुग्रह, स्वर्ग और नरक क्या है ? कुछ नहीं । सब कुछ माया का खेल है । पतिप्राणा देवि, क्षमा करें । मैं शाप से मुक्त होने के लिये आप को प्रसन्न नहीं कर रहा हूँ । मैं तो यह चाहता हूँ कि आप को मेरी जो बात अनुचित प्रतीत हुई हो, उसके लिये आप मुझे क्षमा कर दें ।

इस प्रकार चित्रकेतु भगवान् शङ्कर और पार्वती जी को प्रसन्न कर वहाँ से चला गया । उसके चले जाने पर शङ्कर

१. हृदय—वस्तुतः शङ्कर के क्रोध न आने का कारण यह है कि उनके शिर पर गङ्गा जी की शीतलधारा, ज्ञान की धारा सतत बहती रहती है । जिसका शिर शीतल रहता है, ज्ञान से भरा रहता है, उसे क्रोध नहीं आता । क्रोध तो उसे आता है, जिसका शिर गरम होता है, ज्ञान से खाली रहता है अतः किसी कारण क्रोध आने पर शिर को शीतल जल से धोना चाहिये, ठण्डा पानी पीना चाहिये ।



जी ने पार्वती से कहा—देखा देवि, आपने भगवान् के भक्तों की महिमा । जो लोग भगवान् श्रीहरि की शरण में चले जाते हैं, वे किसी से भी नहीं डरते । क्योंकि उन्हें स्वर्ग-नरक आदि में सर्वत्र समभाव से भगवान् के ही दर्शन हुआ करते हैं । इसलिये भगवद्भक्त के किसी भी व्यवहार पर तुम्हें आश्चर्य नहीं करना चाहिये ।

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं कि—परीक्षित, भगवान् शङ्कर का यह वचन सुनकर भगवती पार्वती की चित्तवृत्ति शान्त हो गई और उनका विस्मय समाप्त हो गया । चित्रकेतु चाहते तो वे भी पार्वती को शाप दे सकते थे, परन्तु उन्होंने शाप नहीं दिया, क्योंकि साधु का लक्षण यही है कि वे शाप को शिर से स्वीकार कर लेते हैं, उसका बदला नहीं चुकाते—“मूर्ध्ना जगृहे शापमेतावत्साधुलक्षणम् ।।” ३७ ।। महात्मा लोग किसी के अपशब्द पर, गाली-गलौज करने पर भी उसे बुरा नहीं मानते और चुप रहकर उसे सुन लेते हैं, सह लेते हैं ।

पार्वती जी के इसी शाप के कारण चित्रकेतु, जो भगवान् श्रीहरि का महान् भक्त था, वृत्रासुर के रूप में प्रकट हुआ था । इसीलिये वृत्रासुर के जीवन में इतनी भक्ति आ गई । राजन्, आपने जो पूछा था कि वृत्रासुर की भगवान् में इतनी दृढ़ भक्ति कैसे हुई ? उसका कारण मैंने आपको कह सुनाया । वृत्रासुर का यह इतिहास केवल उन्हीं का ही इतिहास नहीं है, अपितु यह सारे विष्णु-भक्तों का इतिहास है । जो व्यक्ति प्रातःकाल उठकर श्रद्धापूर्वक इस कथानक का स्मरण करता है, उसे परमगति की प्राप्ति होती है—

य एतत्प्रातरुत्थाय श्रद्धया वाग्यतः पठेत् । इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम् ।। ६/१७/४१  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह तीसरा सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।। १७ ।।

## अठारहवाँ अध्याय

( अदिति और दिति की सन्तानों की तथा मरुदंगणों की उत्पत्ति का वर्णन )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, इसी स्कन्ध के छठे अध्याय में कहा गया है कि अदिति के बारह पुत्र थे—विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, इन्द्र और त्रिविक्रम (वामन)—

विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः । धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्र उरुक्रमः ।। ६/६/३९

अदिति का पुत्र होने के कारण ये बारह आदित्य कहे जाते हैं । इन बारह आदित्यों में तीन के वंश का वर्णन पहले किया जा चुका है<sup>१</sup> । चौथे आदित्य त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप और वृत्रासुर थे । विश्वरूप तथा वृत्रासुर का वध इन्द्र ने किया था—यह वर्णन अभी-अभी पीछे किया जा चुका है । अब इस समय अदिति के पाँचवे पुत्र सविता आदि के वंश का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में किया जा रहा है । परीक्षित सविता की पत्नी पृथिवी के गर्भ से आठ सन्तानें हुईं—सावित्री, व्याहृति, त्रयी, अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य और पञ्चमहायज्ञ<sup>२</sup>—

पृथिनस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम् । अग्निहोत्रं पशुं सोमं चातुर्मास्यं महामखान् ।।

६/१८/१

इसी प्रकार अदिति के अन्य सात पुत्रों की बहुत-सी सन्ततियाँ हुईं । अब कश्यप की दूसरी पत्नी दिति के वंश का वर्णन किया जा रहा है । दिति के पुत्र माता के नाम पर दैत्य कहलाये । इस छठे स्कन्ध में दिति का प्रसङ्ग ही

१. देखिये—स्कन्ध ६, अध्याय ६ के श्लोक ३९ के आगे का अंश ।

२. ये सभी नाम यज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाले हैं ।



मुख्य है। दिति के हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दो पुत्र हुए। इन्हें आदि दैत्य कहा जाता है। इनकी कथा तीसरे स्कन्ध में आ चुकी है। हिरण्यकशिपु की पत्नी का नाम था—कयाधु। कयाधु के चार पुत्र हुए—संह्राद, अनुह्राद, ह्राद और प्रह्राद। इन पुत्रों के अतिरिक्त सिंहिका नाम की एक कन्या भी हुई। उसका विवाह विप्रचित्ति से हुआ। उसी से राहु की उत्पत्ति हुई। राहु की कथा लोक में अतिशय प्रसिद्ध है। यह कथा अमृत-मन्थन के प्रसङ्ग में अगले स्कन्ध में विशेष रूप से आयेगी। इन सब का भी वंश चला। प्रह्राद के पुत्र विरोचन हुए। विरोचन के बलि तथा बलि के बाण हुए। दिति के ये अतिशय तेजस्वी सन्तानें थीं। बाणासुर भगवान् शङ्कर की आराधना करके उनके गणों का मुखिया बन गया। आज भी भगवान् शङ्कर उसके नगर की रक्षा करने के लिये उसके पास ही रहते हैं—

बाण आराध्य गिरिशं लेभे तद्गणमुख्यताम्। यत्पाश्वे भगवानास्ते ह्यद्यापि पुरपालकः॥

६/१८/१८

दिति के हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के अतिरिक्त उन्चास पुत्र और थे। उन्हें मरुद्गण कहते हैं। वे सब निःसन्तान थे। देवराज इन्द्र ने उन्हें अपने ही समान देवता बना लिया था—

मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः। त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम्॥

६/१८/१९

इस प्रसङ्ग को सुनकर राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्, ये असुर भाव छोड़कर देवयोनियों में कैसे मिले ? सभी इस अद्भुत वृत्तान्त को सुनने के लिये उत्कण्ठित हैं। अतः आप कृपा करके विस्तार से यह प्रसङ्ग सुनाइये। इस पर शुक्रदेव जी ने कहा—राजन्, भगवान् विष्णु ने इन्द्र का पक्ष लेकर दिति के दोनों पुत्रों—हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष को मार डाला था। अतः दिति का हृदय सन्तप्त था। वह बदला लेने की भावना से जल रही थी। उसने सोचा—सचमुच इन्द्र बड़ा विषयी, क्रूर और निर्दयी है। उसने अपने भाइयों का वध करवा डाला। वह दिन कब आयेगा, जब मैं भी उस पापी को मरवाकर आराम से सोऊँगी। ऐसा सोचकर उसने अपने पति कश्यप जी की बड़ी सावधानी से सेवा प्रारम्भ की। वह उनके मनोभावों को ताड़कर उनकी शुश्रूषा किया करती थी। वह परम प्रेमभाव, मनोहर एवं मधुर भाषण, मदभरी मुसकान तथा विह्वल बना देनेवाली तिरछी चितवनों से उनका मन अपनी ओर आकृष्ट करने का निरन्तर प्रयास करती रहती थी—

भक्त्या परमया राजन् मनोजैर्वल्गुभाषितैः। मनो जग्राह भावज्ञा सुस्मितापाङ्गवीक्षणैः॥

६/१८/२८

कश्यप जी ज्ञानी थे। तपस्वी थे। फिर भी स्त्री के हाव-भाव और लीला-विलास के वशीभूत हो गये। एक दिन उन्होंने मुस्कराते हुए दिति से कहा—सर्वाङ्गसुन्दरी, मैं तुम्हारी सेवा से परम प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वह मुझे मांग लो। पति के प्रसन्न हो जाने पर पत्नी के लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं हो सकती। शास्त्रों ने भी स्पष्ट ही यह कहा है कि पति ही स्त्रियों का परमाराध्य इष्टदेव है। दिति ने पतिदेव की बात सुनी। वह मन ही मन प्रसन्न हो उठी। उसने बड़ी विनम्रता से हाथ जोड़ कर कहा—इन्द्र ने विष्णु के हाथों मेरे दोनों पुत्रों को मरवाकर मुझे पुत्रहीन बना दिया है। अतः यदि आप मुझे अभीप्सित वर देना चाहते हैं तो कृपा करके मुझे एक ऐसा पुत्र दीजिये जो अमर रहे और इन्द्र को मार डाले।

दिति की बात सुनकर सन्न रह गये कश्यप। उन्होंने सोचा आज मेरे जीवन में बहुत बड़े अधर्म का अवसर उपस्थित हो गया है। उन्होंने स्त्री के वशीभूत होने के लिये अपने आप को भरपूर कोसा। बात भी न मिथ्या हो और योग्य पुत्र इन्द्र भी न मारा जाय—ऐसा सोच कर उन्होंने एक युक्ति निकाली और कहा—भद्रे, यदि तुम पूरे एक



वर्ष तक पुंसवन व्रत का पूरी निष्ठा के साथ पालन करोगी तो इन्द्र को मारनेवाला पुत्र तुम्हें अवश्य मिलेगा। यदि कोई गड़बड़ी हुई तो वह देवों का मित्र बन जायेगा—

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहा देवबान्धवः । संवत्सरं व्रतमिदं यद्यज्ञो धारयिष्यसि ॥६/१८/४५

पतिदेव की बात सुन कर दिति ने कहा—ब्रह्मन्, मैं उस व्रत का पालन अवश्य करूँगी। आप बतलाइये कि मुझे क्या-क्या करना पड़ेगा। कश्यपजी ने उत्तर दिया—प्रिये, इस व्रत का पालन करनेवाले व्यक्ति को चाहिये कि वह इन बातों की वर्जना करे—

१. वर्जित आचरण—जब तक व्रत चलता रहे तब तक व्रती किसी भी प्राणी को मन, वाणी अथवा क्रिया के द्वारा किसी प्रकार का दुःख न पहुँचाये, किसी को शाप या गाली न दे, झूठ न बोले, शरीर के नख और रोंएँ न काटे, किसी अशुभ वस्तु का स्पर्श न करे, जल में घुस कर स्नान न करे, क्रोध न करे, दुर्जनों से बातचीत न करे, बिना धुला वस्त्र न धारण करे, किसी की धारण की हुई माला न पहने।

२. भोजन में पाँच निषेध—किसी का जूठा न खाय, भद्रकाली का प्रसाद या मांसयुक्त अन्न का भोजन न करे, शूद्र का लाया हुआ और रजस्वला के द्वारा देखा गया अन्न न खाय और अञ्जलि से जल न पिये।

३. बाहर जाने में सात निषेध—जूटे मुख, बिना आचमन किये, सन्ध्या की बेला में बाल खोले हुए, बिना शृङ्गार के, वाणी का संयम किये बिना और बिना ओढ़नी ओढ़े घर से बाहर न निकले।

४. शयन के समय आठ निषेध—बिना पैर धोये, अपवित्र अवस्था में, गीले पैर, उत्तर या पश्चिम शिर करके, दूसरे के साथ, गंगा होकर तथा प्रातः सन्ध्या एवं सायं सन्ध्या में शयन निषिद्ध है।

५. प्रतिदिन करणीय कार्य—सर्वदा पवित्र रहे, धुला वस्त्र धारण करे, सभी सौभाग्य के चिह्नों से सुसज्जित रहे, प्रातःकाल गौ, ब्राह्मण तथा लक्ष्मीनारायण का पूजन करे, माला, फल, चन्दन और सुगन्धित द्रव्यों से सौभाग्यवती स्त्रियों का पूजन कर उन्हें यथेच्छ भोजन कराये। अन्त में पति की पूजा कर यह ध्यान करे कि उनका तेज मेरी कोख में स्थित है। प्रिये, इस व्रत का नाम पुंसवन है। यदि एक वर्ष तक तुम इसे बिना किसी त्रुटि के पालन कर सकोगी तो तुम्हारी कोख से इन्द्रघाती पुत्र उत्पन्न होगा—

सांवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविप्लुतम् । धारयिष्यसि चेत्तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः ॥६/१८/५४

तदनन्तर दिति यथासमय कश्यप से गर्भधारण कर व्रत के नियमों का पूरी निष्ठा के साथ पालन करने लगी। इन्द्र को अपनी मौसी के अभिप्राय का पता लगा। उन्होंने अपना वेष बदला और पहुँच गये दिति के आश्रम पर। बड़ी विनम्रता से उन्होंने उसे प्रणाम किया और डट गये उसकी सेवा में। इन्द्र मौसी के लिये जंगल से फल, फूल एवं समिधा लाते। उसकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते। वे सेवा तो ऐसी करते थे कि दुनियाँ में ऐसा सेवक ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा—

मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद । शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत्कविः ॥६/१८/५६

किन्तु उनकी दृष्टि लगी रहती थी व्रत की त्रुटियों को खोजने में। वे उनके व्रतपालन की त्रुटि पकड़ना चाहते थे। आखिर एक दिन इन्द्र को अपने उद्देश्य में सफलता मिल ही गई। एक दिन दिति बिना हाथ-पैर धोये, जूटे मुख, सन्ध्या की बेला में सो गई। गर्भवती भी थी। आलस्यवश नींद आ गई। अब क्या कहना ? इन्द्र को अवसर मिला। योगशक्ति के सहारे वे वज्र लिये दिति की कोख में प्रविष्ट हो गये। उन्होंने वहाँ देखा कि गर्भ सुवर्ण के समान देदीप्यमान है। मन की मुराद पूरी करने का इन्द्र के सामने यह उपयुक्त अवसर था। उन्होंने वज्र के प्रहार से गर्भ के सात टुकड़े कर डाले—“चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम् ॥” ६२॥ किन्तु पुंसवन व्रत के प्रभाव और



भगवान् की कृपा से जब वे नहीं मरे तब इन्द्र ने एक-एक टुकड़े के सात-सात टुकड़े कर दिये । राजन्, जब इन्द्र उनके टुकड़े-टुकड़े करने लगे, तब उन सबों ने हाथ जोड़ कर इन्द्र से कहा—देवराज, तुम हमें क्यों मार रहे हो ? हम तो तुम्हारे भाई मरुद्गण हैं । इस पर इन्द्र ने उन्हें अभयदान देकर छोड़ दिया और अपना पार्षद बना कर गर्भ-स्थान से बाहर निकल आये ।

शुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, जैसे अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से तुम्हारा कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ, वैसे ही भगवान् श्रीहरि की कृपा से दिति का वह गर्भ वज्र के द्वारा टुकड़े-टुकड़े होने पर भी मरा नहीं । और उससे अग्नि के समान तेजस्वी उन्चास बालक उत्पन्न होकर इन्द्र के साथ खड़े हो गये । इससे सुन्दर स्वभाववाली दिति को बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने इन्द्र से पूछा—बेटा, तुम्हें मारने के लिये एक पुत्र के सङ्कल्प से मैंने यह व्रत किया था । फिर ये ४९ कैसे उत्पन्न हुए । यदि इसका रहस्य तुम्हें विदित हो तो मुझे सच-सच बतलाओ । अपनी मौसी के इस प्रकार प्रेम से पूछने पर इन्द्र ने सारी घटना का अक्षरशः वर्णन कर दिया । ये कैसे ४९ रूपों में पैदा हुए यह बतला दिया । परीक्षित, दिति देवराज इन्द्र के शुद्धभाव से सन्तुष्ट हो गई । उससे आज्ञा लेकर इन्द्र मरुद्गणों के साथ स्वर्ग चले गये । ये ही ४९ पवन कहलाते हैं ।

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, यह मरुद्गण का जन्म बड़ा ही मङ्गलमय है । इसके विषय में आपने मुझसे जो कुछ पूछा था उसका समाधान मैंने कर दिया । अब आगे तुम्हारी सुनने की क्या इच्छा है ? बतलाओ, जिसका उत्तर मैं दूँ—

एवं ते सर्वमाख्यातं मन्मां त्वं परिपृच्छसि । मङ्गलं मरुतां जन्म किं भूयः कथयामि ते ॥

६/१८/७८

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥



## उन्नीसवीं अध्याय

### ( पुंसवन-व्रत की विधि )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्, आपने अभी पीछे जिस पुंसवन व्रत की चर्चा की है और जिससे भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं उसका विधि-विधान मैं जानना चाहता हूँ—

व्रतं पुंसवनं ब्रह्मन् भवता यदुदीरितम् । तस्य वेदितुमिच्छामि येन विष्णुः प्रसीदति ॥६/१९/१

श्री शुकदेव जी ने उत्तर में कहा—परीक्षित यह पुंसवन व्रत व्यक्ति की सारी कामनाओं को पूरी करने वाला है । स्त्री को चाहिये कि वह अपने पतिदेव की आज्ञा लेकर मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा से इसका प्रारम्भ करे । पहले मरुद्गण के जन्म की कथा सुनकर ब्राह्मणों से व्रत के लिये आज्ञा लेनी चाहिये । प्रातःकाल नित्य कृत्य से निवृत्त होकर स्नान करके लक्ष्मी-नारायण से व्रत की सफलता हेतु प्रार्थना करे और फिर षोडशोपचार से उनकी पूजा करनी चाहिये क्योंकि सम्पत्ति एवम् ऐश्वर्य के दाता ये ही हैं । पूजन के बाद स्तुति करते हुए प्रार्थना करनी चाहिये—प्रभो, आप की कीर्ति पवित्र है । आप दोनों ही त्रिलोकी के वरदानी परमेश्वर हैं अतः मेरी बड़ी-बड़ी आशाएँ-अभिलाषाएँ आप की कृपा से पूर्ण हों—

यथा युवां त्रिलोकस्य वरदौ परमेष्ठिनौ । तथा म उत्तमश्लोक सन्तु सत्या महाशिषः ॥६/१९/१४



भगवान् की पूजा कर अपने पति को साक्षात् भगवान् समझ कर प्रेम से उनकी भी पूजा करे। पति का भी कर्तव्य है कि वह प्रेम से अपनी पत्नी के प्रिय पदार्थ ला-लाकर उसे प्रदान करे। परीक्षित, पति-पत्नी में से एक व्यक्ति भी कोई कार्य करता है, तो उसका फल दोनों को मिलता है। इसलिये यदि पत्नी यह व्रत करने के अयोग्य हो जाय तो बड़ी एकाग्रता और सावधानी से पति को ही इसका अनुष्ठान करना चाहिये—

**कृतमेकतरेणापि दम्पत्योरुभयोरपि । पत्न्यां कुर्यादिदन्हायां पतिरेतत् समाहितः ॥६/१९/१८**

यह भगवान् विष्णु का व्रत है। इसका नियम लेकर इसे बीच में कभी नहीं छोड़ना चाहिये। जो भी इस नियम को ग्रहण करे उसे प्रतिदिन माला, चन्दन और नैवेद्य आदि से विष्णु की पूजा के बाद ब्राह्मणों और सुहागिन स्त्रियों का भी पूजन-सम्मान करना चाहिये। पूजन के बाद भगवान् को पधरा देने के अनन्तर व्रती को चाहिये कि वह भगवान् को समर्पित प्रसाद ग्रहण करे। इस प्रकार साध्वी स्त्री इस विधि से बारह महीने तक—अर्थात् पूरे साल भर इस व्रत का आचरण करके मार्गशीर्ष की अमावस्या को उद्यापन करे। उद्यापन के दिन प्रतिदिन की भाँति प्रातःकाल उठकर भगवान् का पूजन करे, स्तुति करे और मन्त्र का जाप करे। गाय के दूध की खीर बनाकर उससे अग्नि में १२ आहुतियाँ दे। बाद में १२ ब्राह्मणों को खीर आदि का यथेष्ट भोजन कराकर तिल-गुड़ सहित सजल घटों का दान करे। ब्राह्मणों को यथाशक्ति अच्छी दक्षिणा भी देनी चाहिये। आचार्य को चाहिये कि वे ब्राह्मणों के साथ आहुतियों से बची हुई खीर पत्नी को खाने के लिये देकर सत्पुत्र होने का आशीर्वाद दें। इस प्रकार पति-पत्नी ब्राह्मणों को सादर अपने घर की सीमा तक पहुँचाकर लौट आयेँ फिर परिवार के सारे सदस्यों के साथ मिल कर प्रेम से अमृतान्न का भोजन करें।

शुकदेव जी कहते हैं—राजन्, भगवान् के इस पुंसवन व्रत का जो मनुष्य विधिपूर्वक अनुष्ठान करता है, उसे यहाँ सारी मनचाही वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। स्त्री इस व्रत का पालन करके सौभाग्य, सम्पत्ति, सन्तान, यश, और गृह प्राप्त करती है तथा उसका पति चिरायु होता है—

**एतच्चरित्वा विधिवद् व्रतं विभोरभीप्सितार्थं लभते पुमानिह ।**

**स्त्री त्वेतादास्थाय लभेत सौभगं त्रियं प्रजां जीवपतिं यशो गृहम् ॥६/१९/२५**

इस व्रत के आचरण से प्रत्येक व्यक्ति के सकल मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। कन्या सुन्दर पति, विधवा सद्गति, कुरूप मनोहर रूप तथा अभागिनी सौभाग्य प्राप्त करती है।

जो मनुष्य माङ्गलिक श्राद्ध आदि कर्मों में इसका पाठ करता ह उसके पितर और देवता अनन्त तृप्ति लाभ करते हैं। वे सन्तुष्ट होकर हवन की समाप्ति पर व्रती की समस्त इच्छाएँ पूरी कर देते हैं। इनके साथ ही यज्ञों के एकमात्र भोक्ता भगवान् लक्ष्मी-नारायण भी सन्तुष्ट होकर व्रती की समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं। परीक्षित, मैंने तुम्हें मरुद्गण की आदरणीय और पुण्यदायक जन्म-कथा सुनाई और साथ ही दिति के श्रेष्ठ पुंसवन व्रत का वर्णन भी सुना दिया—

**तुष्टाः प्रयच्छन्ति समस्तकामान् होमावसाने हुतभुक् श्रीहरिश्च ।**

**राजन् महन्मरुतां जन्म पुण्यं दितेव्रतं चाभिहितं महत्ते ॥६/१९/२८**

**॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के षष्ठ स्कन्ध का यह उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१९॥**

**॥ षष्ठ स्कन्ध समाप्त ॥५॥**



## सप्तम स्कन्धः

### पहला अध्याय

( नारद-युधिष्ठिर संवाद और जय-विजय के तीन जन्मों का कथन )

राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से पूछा—मुनिवर, आपने पीछे<sup>१</sup> यह बतलाया है कि भगवान् विष्णु ने इन्द्र का पक्ष लेकर दैत्य हिरण्यक्ष और हिरण्यकशिपु का संहार किया था किन्तु भगवान् तो सारे प्राणियों के लिये भेदभाव से रहित एक समान हैं, सम हैं, सबके सुहृद् हैं फिर भेद-भाव करनेवाले साधारण प्राणी की भाँति इन्द्र के लिये दैत्यों का वध क्यों किया ?—

समः प्रियः सुहृद् ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम् । इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यान्वधीद्विषमो यथा ॥

७/१/१

वे स्वयं परिपूर्ण आप्तकाम और नित्य तृप्त हैं अतः देवताओं से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं है । निर्गुण होने के कारण दैत्यों से कुछ वैर-विरोध और उद्वेग भी नहीं है । महात्मन्, हमारे चित्त में भगवान् के समत्व आदि गुणों के सम्बन्ध में बड़ा भारी सन्देह हो रहा है । आप कृपा करके उसे मिटाइये ।

परीक्षित की शङ्का को सुनकर श्री शुकदेव जी ने कहा—महाराज, आपने बहुत बढ़िया प्रश्न किया है । वस्तुतः ऐसे प्रसङ्ग प्रह्लाद आदि भक्तों की महिमा से परिपूर्ण होते हैं । इनके श्रवण से व्यक्ति के हृदय में भक्ति की गङ्गा बढ़ती है, उमड़ती है—

साधु पृष्ठं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम् । यद् भागवतमाहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनम् ॥७/१/४

हरि का चरित परम मङ्गलमय है । ऐसे प्रसङ्ग को नारद आदि मुनि-गण बड़े प्रेम से गाते हैं । अब मैं अपने पिता कृष्ण-द्वैपायन मुनि को प्रणाम करके भगवान् की लीला-कथा का वर्णन करने जा रहा हूँ । वास्तव में भगवान् निर्गुण, अजन्मा, अव्यक्त और प्रकृति से परे हैं, दूर हैं । तथापि लीलार्थ प्रकृति के गुणों का आश्रय लेकर देवों तथा असुरों की जय-पराजय के कारण बन जाते हैं अर्थात् कभी देवों से असुरों की पराजय और कभी असुरों से देवों की पराजय करवाते हैं । देवताओं की पराजय में असुर बाधक तथा देवता बाध्य (पीड़ित) हो जाते हैं । इसी प्रकार असुरों की पराजय की बेला में देवता बाधक और असुर बाध्य (पीड़ित) हो जाते हैं । सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृति के हैं, परमात्मा के नहीं । गुणों की हास-वृद्धि, घटती-बढ़ती एक साथ नहीं हुआ करती । कभी सत्त्व प्रबल होता है तो रज और तम दब जाते हैं । कभी रजोगुण प्रबल होता है तो सत्त्व और तम दब जाते हैं । इसी प्रकार तमोगुण की वृद्धि की अवस्था में सत्त्व तथा तम कमजोर पड़ जाते हैं ।

१. यह सातवाँ स्कन्ध पन्द्रह अध्यायों का है । इसमें पाँच-पाँच अध्यायों के तीन प्रकरण हैं—इनमें कर्म-वासनाओं का वर्णन है । कर्म-वासनाओं को भागवत पुराण के पाँचवें लक्षण 'ऊति' शब्द से कहा गया है—“ऊतयः कर्म-वासनाः” । कर्म-वासनाओं के तीन विभाग हैं—असुर-वासना, देव-वासना और मानव-वासना । इन तीनों का वर्णन पाँच-पाँच अध्यायों में है । पहले के पाँच अध्यायों में हिरण्य-कशिपु की प्रधानता से असुर-वासना का, उसके बाद के पाँच अध्यायों में प्रह्लाद की प्रधानता से देव-वासना का और अन्त के पाँच अध्यायों में युधिष्ठिर की प्रधानता से मानव-वासना का वर्णन है । प्रारम्भिक दस अध्यायों में भक्ति और ज्ञान-योग का तथा अन्त के पाँच अध्यायों में कर्म-योग का वर्णन किया गया है । कुछ लोग वासना का दो विभाग करते हैं—शुभ-वासना और अशुभ वासना । प्रह्लाद की शुभ-वासना और हिरण्य-कशिपु की अशुभ वासना थी ।

२. देखिये—स्कन्ध ६, अध्याय १८, श्लोक २३ ॥



सत्त्वगुण की वृद्धि के समय देवता और ऋषियों को रजोगुण की वृद्धि के समय दैत्यों को और तमोगुण की वृद्धि के समय वे यक्ष-राक्षसों को अपनाते और उनका अभ्युदय करते हैं। ऐसी स्थिति में दैत्यों के द्वारा देवता और ऋषि कष्ट का अनुभव करते हैं। वस्तुतः भगवान् सम-दृष्टि हैं। सबको समभाव से देखते हैं। ऐसी स्थिति में उनमें विषम भाव का होना कैसे संभव है। समान रूप से काष्ठ में अग्नि के व्याप्त रहने पर भी उसकी प्राप्ति मन्थन करनेवाले को ही होती है। इसी प्रकार सभी प्राणियों में, सभी वस्तुओं में, समान रूप से विद्यमान रहने पर उनकी प्राप्ति मन्थन करनेवाले को ही, चिन्तन-ध्यान करनेवाले को ही होती है। अतः उनकी दृष्टि के विषम होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस विषय में एक प्राचीन इतिहास है, जिसे देवर्षि नारद ने युधिष्ठिर को बड़े प्रेम से सुनाया था। उसे तुम्हारे समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ। ध्यान से सुनो—

बात पहले की है। युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ उपक्रम में था, प्रारम्भ होने जा रहा था। किसकी अग्रपूजा की जाय ?—यह प्रश्न उपस्थित हुआ। इसके लिये सहदेव ने कृष्ण का नाम प्रस्तावित किया। यह सुनकर शिशुपाल कृष्ण के ऊपर गालियों की बौछार करने लगा। सीमा से अधिक बढ़ने पर कृष्ण ने उसकी गर्दन सुदर्शन-चक्र से काट डाली। सबके देखते-देखते शिशुपाल का तेज निकल कर कृष्ण में समा गया। इस दृश्य को युधिष्ठिर ने देखा। वे आश्चर्य-चकित हो उठे। उन्होंने नारद जी से प्रश्न किया—मुनिवर, बड़े-बड़े दिग्गज भक्त भी भगवान् में मुश्किल से प्रवेश कर पाते हैं फिर भगवान् के परम द्वेषी शिशुपाल का तेज, शिशुपाल की आत्मा कैसे श्रीकृष्ण भगवान् में जाकर विलीन हो गई ? शिशुपाल और दुर्बुद्धि दन्तवक्त्र तो बचपन से ही भगवान् श्रीकृष्ण से द्वेष करते थे। वे उन्हें पानी पी-पीकर गाली देते रहे हैं। परन्तु इसके फलस्वरूप न तो इनकी जीभ में कोढ़ ही हुआ और न भयङ्कर नरक की प्राप्ति इन्हें हुई। इसके विपरीत ये दोनों उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण में समा गये जिनकी प्राप्ति बड़े-बड़े योगियों के लिये भी सुदुर्लभ है। इसका कारण क्या है ? मुनिवर मुझे समझाने की कृपा करें।

युधिष्ठिर के इस प्रश्न को नारद जी ने सुना। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा मुझसे प्रश्न करनेवाला हो तो ऐसा ही हो। यह कितनी बढ़िया बात है कि मुझे एक बहुत ही सुन्दर सभा में भगवान् की महिमा सुनाने का अवसर मिल गया।

नारद जी ने कहा—देखो, युधिष्ठिर, निन्दा-स्तुति, सत्कार-धिक्कार केवल शरीर के लिये होता है। इसका प्रभाव उन लोगों पर पड़ता है, जो अभिमानवश आत्मा और देह को एक मान बैठे हैं, अभिन्न मान बैठे हैं। जब देह में अभिमान होता है, तभी गाली लगती है। परमात्मा और आत्मा—दोनों ही देह से बिल्कुल परे हैं, उनकी हिंसा कौन कर सकता है ? हिंसा तो शरीर की होती है। भगवान् तो सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से शून्य आत्माराम अद्वितीय परम तत्त्व हैं। उनके चिन्मय शरीर को शरीर नहीं वपु कहा जाता है। वहाँ इस प्रकार के भौतिक धर्मों की कल्पना भी संभव नहीं है। इसलिये अपना मन भगवान् में चाहे वर से लगाओ, निर्वर से लगाओ, भय से लगाओ, स्नेह से लगाओ, काम से लगाओ, भगवान् की दृष्टि में इन भावों में कोई भेद नहीं है—

तस्माद्भैरानुबन्धेन निर्वैरण भयेन वा । स्नेहात् कामेन वा युज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् ॥७/१/२५

जैसे कोई शिशु क्रोध में आकर अपने बाप को मारने के लिये दौड़ता है, उसकी ओर बढ़ता है, किन्तु पिता हँस कर उसे अपनी गोद में उठा लेता है, छाती से लगा लेता है। वह यह नहीं सोचता की बच्चा क्रोध में आया है तो उसे मार कर भगा दें। इसी प्रकार मनुष्य भगवान् के पास कैसे भी पहुँचे, किसी भी भाव से जाये, परमात्मा उसे फिर अपने से अलग नहीं होने देते।

युधिष्ठिर, मेरा तो ऐसा दृढ मत है कि मनुष्य वैरभाव से भगवान् में जैसा तन्मय हो जाता है, उतना भक्ति-



योग से नहीं होता। वैर की दशा में मन अपने से दौड़-दौड़ कर भगवान् में, शत्रु में, लगता है, किन्तु भक्ति की बेला में मन को हठात् भगवान् की ओर लगाना पड़ता है अतः भक्ति की अपेक्षा वैरभाव में तन्मयता अधिक होती है—

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् । न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥७/१/२६  
उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं—जब पेशस्कृत् अर्थात् भृङ्गी किसी विजातीय कीट को लाकर अपने घर में बन्द कर देता है। उस समय भीतर बन्द हुआ कीड़ा भय तथा उद्वेग से भृङ्गी का चिन्तन करते-करते उसके ही जैसा हो जाता है। यही बात भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में भी है। जो भगवान् से शत्रुता ठान कर उनका निरन्तर चिन्तन करते हैं, वे भगवद्रूप ही हो जाते हैं। काम से, द्वेष से, स्नेह से, भक्ति से अथवा कैसे भी भगवान् में मन लग जाये तो भगवत्प्राप्ति हो जाती है। भगवान् में गोपियों ने काम से, कंस ने भय से, शिशुपाल आदि ने द्वेष से, यदुर्वशियों ने सम्बन्ध से, तुम लोगों ने स्नेह से और हम लोगों ने भक्ति से मन लगाया है। हम लोगों में वेन की कहीं स्थिति नहीं है। वह तो ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं मानता था। किन्तु जो भगवान् से शत्रुता करते हैं, वे तो ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, आस्तिक होते हैं। इसलिये किसी भी उपाय से अपने मन को भगवान् में लगाना चाहिये फिर ये जो शिशुपाल और दन्तवक्त्र हैं, तुम्हारे मौसरे भाई हैं, ये दोनों पहले भगवान् विष्णु के पार्षद थे और शाप के कारण अपने पद से च्युत हुये थे—

कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः । आवेश्य तदधं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥  
गोष्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः । सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्युयं भक्त्या वयं विभो ॥  
कतमोऽपि न वेनः स्यापञ्चानां पुरुषं प्रति । तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥  
मातृष्वसेयो वश्चैद्यो दन्तवक्त्रश्च पाण्डव । पार्षदग्रवरी विष्णोर्विप्रशयात् पदाच्च्युतौ ॥

७/१/२९-३२

जय-विजय के शाप की बात सुनकर युधिष्ठिर ने पूछा—महाराज, भगवान् के पार्षदों को भी प्रभावित करनेवाला शाप किसने दिया था तथा वह कैसा था ? भगवान् के अनन्य प्रेमी फिर संसार में आकर जन्म लें—यह बात कुछ श्रद्धेय नहीं प्रतीत होती, विश्वसनीय नहीं लगती। इस विषय को सुस्पष्ट करके बतलाइये। नारद जी ने कहा—युधिष्ठिर जी, एक दिन की घटना है। ब्रह्मा के मानस-पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार भ्रमण करते हुए वैकुण्ठ लोक में पहुँचे। वे देखने में पाँच-छः वर्ष के बालक प्रतीत होते थे। किन्तु ये सबसे प्राचीन, बहुत बूढ़े, नंगे-धड़ङ्गे रहते थे। उनको साधारण बालक समझकर द्वारपाल जय और विजय ने उन्हें भीतर जाने से रोक दिया। इस पर सनक आदि क्रुद्ध हो गये। उनलोगों ने शाप देते हुए कहा—तुम लोग भगवान् के पार्षद होने के योग्य नहीं हो इसलिये शीघ्र ही यहाँ से पापमयी असुर योनि में चले जाओ। इसके बाद जब वे दोनों नीचे गिरने लगे तब उन कृपालु महात्माओं ने उन पर अनुग्रह करते हुए कहा कि अच्छा तीन जन्मों में शाप भोग कर तुम लोग फिर इसी वैकुण्ठ में लौट आना—

एवं शप्ता स्वभवनात् पतन्तौ तैः कृपालुभिः । प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वा त्रिभिलोकाय कल्पताम् ॥

७/१/३८

वही दोनों सर्वप्रथम दिति के पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु हुए। भगवान् ने हिरण्याक्ष का उद्धार वाराह का रूप धारण करके और हिरण्यकशिपु का उद्धार नृसिंह-रूप धारण करके किया था। हिरण्यकशिपु अपने पुत्र भगवद्भक्त प्रह्लाद से द्वेष करता था। उसने प्रह्लाद को मारने के लिये विविध प्रकार की यातनाएँ दीं परन्तु भगवान् ने प्रह्लाद की रक्षा की। प्रह्लाद सबको अपनी आत्मा के रूप में ही देखते थे। सबमें आत्म-स्वरूप देखने से भगवान् उन पर परम प्रसन्न थे, इसलिये बार-बार प्रयास करने पर भी हिरण्यकशिपु उन्हें मार डालने में समर्थ न हुआ।



युधिष्ठिर, पुनः वे ही दोनों विश्रवा मुनि के द्वारा केशिनी (कैकसी) के गर्भ से राक्षसों के रूप में पैदा हुए। उनका नाम था रावण और कुम्भकर्ण। उस समय भगवान् ने राम के रूप में अवतार लेकर उनका उद्धार किया था। वे ही दोनों जय-विजय इस जन्म में तुम्हारी मौसी के लड़के शिशुपाल और दन्तवक्त्र के रूप में उत्पन्न हुए थे। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने चक्र से उनका उद्धार कर सनकादि के शाप से उन्हें मुक्त कर वैकुण्ठ भेज दिया।<sup>१</sup>

युधिष्ठिर ने पूछा—भगवन्, हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र से द्वेष क्यों किया ? तथा प्रह्लाद की भगवन्निष्ठा कैसे हुई—

विद्वेषो दधिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि । ब्रूहि मे भगवन्नेन प्रह्लादस्याच्युतात्मता ॥७/१/४७  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

•

## दूसरा अध्याय

( हिरण्याक्ष के वध से सन्तप्त अपनी माता और परिवार को हिरण्यकशिपु का समझाना )

नारद जी ने कहा—युधिष्ठिर, भगवान् वराह के द्वारा हिरण्याक्ष का वध कर देने पर हिरण्यकशिपु का शरीर क्रोध और शोक से सन्तप्त हो उठा—

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना । हिरण्यकशिपू राजन् पर्यतप्यद्गुषा शुचा ॥७/२/१  
वह क्रोध से काँपता हुआ अपने दाँतों से बार-बार होठ चबाने लगा। क्रोध के मारे उसकी लाल आँखों से मानों अङ्गारों की वर्षा होने लगी। उस समय क्रोध से विकराल उसके मुँह को देखना अति कठिन था। उसने हाथ में त्रिशूल उठा कर दैत्यों से कहा—दैत्यों और दानवों, तुम लोग ध्यान से मेरी बात सुनो और मैं जैसा कह रहा हूँ शीघ्र ही वैसा करो। तुम्हें यह बात विदित ही है कि क्षुद्र स्वार्थी देवों ने विष्णु के द्वारा मेरे प्रिय बन्धु का वध करवा दिया है। यद्यपि विष्णु देवों एवं दैत्यों—दोनों के लिये समान हैं, तथापि दौड़-धूप कर, अनुनय-विनय कर देवों ने इसे अपने पक्ष में कर लिया है। पहले यह शुद्ध एवं निष्पक्ष था। परन्तु अब माया से वराह आदि का रूप धारण करने लगा है और अपने स्वभाव से च्युत हो गया है। बच्चे की तरह जो उसकी सेवा करे उसी की ओर हो जाता है। मैं अपने इस शूल से उसका गला काट कर उसके रुधिर से अपने भाई का तर्पण करूँगा। उस मायावी शत्रु के नष्ट होने पर सारे देवता उसी प्रकार नष्ट हो जायेंगे जैसे पेड़ की जड़ के कट जाने पर सारी डालियाँ सूख जाती हैं अतः तुम लोग शीघ्र ही भूतल पर जाकर जप, तप, यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत, दान एवं पुण्य कर्म करनेवालों को मार डालो। विष्णु की जड़ है द्विजातियों का धर्म-कर्म, क्योंकि यज्ञ और धर्म ही उसके स्वरूप हैं। देवता, ऋषि, पितर, समस्त प्राणी और धर्म का एकमात्र परम आश्रय वही है। जहाँ-जहाँ ब्राह्मण, गाय, वेद, वर्णाश्रम और धर्म-कर्म हो, उन-उन देशों में तुम लोग जाओ, उन्हें जला दो, उजाड़ डालो—

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमाः क्रियाः । तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत ॥७/२/१२  
स्वामी का आदेश मिलते ही दैत्यों एवं दानवों ने सर्वत्र तबाही मचानी शुरू कर दी, क्योंकि इसमें उन्हें बड़ा

१. यद्यपि श्रीकृष्ण ने शिशुपाल-वध के बाद दन्तवक्त्र का वध किया था। दोनों का वध एक साथ नहीं हुआ है। किन्तु यहाँ भावी घटना को ध्यान में रखकर दन्तवक्त्र के वध की बात कही गई है। देखिये—भागवत १०/२/७४ और ७८वाँ अध्याय।



मजा भी आता था। उन्होंने नगर, गाँव, गोशाला, बगीचे, खेत, भ्रमण के स्थान, ऋषि-मुनियों के आश्रम, रत्न आदि की खानें, किसानों की बस्तियाँ, तराई के गाँव, अहीरों के निवास-स्थान और व्यापार के केन्द्र बड़े-बड़े नगर आग लगा कर जला डाला। चारों ओर विनाश का दृश्य उपस्थित हो गया। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई। देव-गण भी स्वर्ग से भाग खड़े हुए। चतुर्दिक् बड़ा ही दारुण और करुण दृश्य उपस्थित हो गया।

युधिष्ठिर, भाई की मृत्यु से हिरण्यकशिपु को बड़ा दुःख हुआ। कलेजे पर पत्थर रखकर उसने भाई की और्ध्वदेहिक क्रिया की अन्त्येष्टि क्रिया की फिर उसने शकुनि, शम्बर और उत्कच आदि अपने भतीजों को सान्त्वना दी। हिरण्याक्ष की पत्नी रुषाभानु और अपनी माता दिति को देश-काल के अनुसार मधुर वाणी से समझाते हुए उसने कहा—मेरी प्यारी माँ, बहू और पुत्रों, हिरण्याक्ष वीर था। वीर के लिये शोक करना उचित नहीं है। संग्राम में लड़ते हुए प्राण त्यागना वीरों के लिये श्लाघनीय मृत्यु है। देवि, जैसे प्याऊ (पौसला) पर बहुत-से लोग एकत्रित हो जाते हैं, परन्तु उनका मिलना-जुलना थोड़ी देर के लिये होता है—वैसे ही अपने कर्मों के फलस्वरूप, इस संसार में आये हुए प्राणियों की स्थिति है। संसार का मतलब ही है—आने-जाने का स्थान, क्षणिक मिलन का स्थान—

**भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते । दैवेनैकत्र नीतानामुज्जीतानां स्वकर्मभिः ॥७/२/२१**

वास्तव में आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सर्वगत, सर्वज्ञ, और देश-इन्द्रिय आदि से पृथक् है। वह न जन्मता है और न मरता ही। जन्मता मरता यह शरीर ही है अतः आत्मा का किसी से संयोग-वियोग होना सम्भव नहीं। इसलिये शोक करना व्यर्थ है। जैसे पानी के हिलने पर वृक्ष हिलते हुए प्रतीत होते हैं, गाड़ी के दौड़ने पर पृथिवी भागती हुई प्रतीत होती है। वस्तुतः न वृक्ष हिलते हैं और न पृथिवी भागती ही है। इसी प्रकार लोग अन्तःकरण रूप, अहङ्कार रूप उपाधि के भ्रमण से ही अपने को, आत्मा को धूमता हुआ मानते हैं। उसी से संयोग, वियोग और संसार की प्राप्ति होती है। इससे आत्मा का कुछ लेना-देना नहीं है।

हिरण्यकशिपु सबको औपनिषदिक ज्ञान प्रदान कर रहा था। ज्ञान सुलभ है किन्तु जब तक अहं और ममता नष्ट न हों तब तक ज्ञान न शोभा देता है और न प्रभावकारी ही होता है। हिरण्यकशिपु ज्ञानी तो था किन्तु उसका ज्ञान अहंभाव और ममता से भरा हुआ था। अतः वह शाब्दिक ही था, यथार्थ नहीं। जो औरों को उपदेश तो दे और स्वयं उसका आचरण न करे वह असुर है।

अपनी बात के समर्थन में आगे हिरण्यकशिपु ने कहा—बात प्राचीन समय की है। उशीनर देश में एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका नाम था—सुयज्ञ। लड़ाई में शत्रुओं ने उसे मार डाला। उस समय उसके भाई-बन्धु सभी उसे घेर कर शोक करने लगे। उसकी स्त्रियाँ विलाप करती हुई छाती पीट रही थीं। वे कभी मूर्च्छित होकर भूमि पर गिरतीं तो कभी पति के मृत शरीर से लिपट जातीं। बड़ा कारुणिक दृश्य उपस्थित था। सूर्य भगवान् अस्ताचलगामी हो चुके थे, फिर भी वे दाह-संस्कार के लिये उसे छोड़ती न थीं। इस दृश्य को देखकर स्वयं यमराज एक अनाथ बालक का रूप धारण कर वहाँ आये और बोले—अरे ! बड़े आश्चर्य की बात है। ये सभी अवस्था में मुझसे बड़े हैं, सयाने हैं। ये यह भी देखते हैं कि लोग बराबर जीते-मरते रहते हैं। अरे ! यह मनुष्य जहाँ से आया था वहीं चला गया। इन लोगों को भी किसी-न-किसी दिन जाना है फिर भी ये लोग व्यर्थ में शोक क्यों करते हैं—

**अहो अमीषां वयसाधिकानां विपश्यतां लोकविधिं विमोहः ।**

**यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् ॥७/२/३७**

राज-परिवार की ओर लक्ष्य करके उस बालक ने कहा—हम तो आप लोगों से लाख गुना अच्छे हैं, परम धन्य हैं। माता-पिता ने हमें बचपन में ही छोड़ दिया है। शरीर में पर्याप्त बल भी नहीं है फिर भी हमें कोई चिन्ता नहीं



है। देखिये, भेड़िया आदि हिंसक जानवर हमारा बाल भी बाँका नहीं कर पाते; क्योंकि जिसने माता के गर्भ में रक्षा की थी, वही इस जीवन में भी हमारी रक्षा करता है—

अहो वयं धन्यतमा यदत्र त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः ।

अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ॥७/२/२८

उसी प्रभु की इच्छा से संसार का सृष्टि-स्थिति-प्रलय होता है। वही दण्ड दे सकता है। वही अनुग्रह कर सकता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मार्ग में कोई वस्तु गिर जाती है और भगवान् अदृष्ट होकर उसकी रक्षा करते हैं, वह वस्तु सुरक्षित रहती है। किन्तु भगवान् जिसकी रक्षा नहीं करते वह घर में अति सुरक्षित होते हुए भी नष्ट हो जाती है। जंगल में परित्यक्त अनाथ प्राणी भी, प्रभु की कृपा होने पर, सकुशल बचा रह जाता है; किन्तु जब वही प्रभु प्रतिकूल हो जाते हैं तो घर में सुरक्षित रहने पर भी मर जाता है—

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति ।

जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥७/२/४०

जैसे मनुष्य अपने मकान को अपने से अलग और मिट्टी का बना हुआ समझता है, वैसे ही यह शरीर भी आत्मा से पृथक् और मिट्टी का है। मोहवश वह इसे अपना समझ बैठता है। जैसे बुलबुले आदि पानी के विकार, घड़े आदि मिट्टी के विकार और गहने आदि स्वर्ण के विकार समय पर बनते हैं, रूपान्तरित होते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही सत्त्व, रज एवं तम के विकार से बना हुआ यह शरीर भी समय पर बन-बिगड़ जाता है। जैसे काष्ठ में रहनेवाली व्यापक अग्नि स्पष्ट ही उससे अलग है, जैसे देह में रहने पर भी वायु का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे आकाश सब जगह एक-सा रहने पर भी किसी के गुण-दोष से लिप्त नहीं होता—वैसे ही समस्त इन्द्रियों में रहनेवाला और उनका आश्रय आत्मा भी उनसे अलग और निर्लिप्त है। मूर्खों, जिसके लिये तुम सब शोक कर रहे हो वह सुयश नाम का शरीर तो तुम्हारे सामने ही पड़ा है। आत्मा को तो तुम लोगों ने कभी देखा नहीं था। तो शोक क्यों कर रहे हो ? विवेकशील व्यक्ति नश्वर शरीर के लिये कभी शोक नहीं करते। वे नित्य आत्मा के लिये भी चिन्तित नहीं होते।

इस सन्दर्भ में एक घटना हम तुम्हें सुना रहे हैं—किसी जङ्गल में पक्षियों के लिये काल-स्वरूप एक व्याध (बहेलिया) रहता था। जाल फैला कर, लालच देकर, चिड़ियों को फँसाना उसका नित्य का कार्य था। एक दिन उसने कुलिङ्ग पक्षी के एक जोड़े को चारा चुगते देखा। उनमें से उस बहेलिये ने मादा पक्षी को तो शीघ्र ही जाल में फँसा लिया। वह फड़फड़ाते लगी। वेवश थी, चिल्लाने लगी। नर पक्षी ने इस दृश्य को देखा। वह शोक के सागर में डूब गया। वह कभी पत्नी के लिये चिन्तित होता तो कभी अपने अनाथ छोटे बच्चों की याद कर विलाप करता। वह कभी अपने दुर्भाग्य पर रोता तो कभी निर्दयी विधाता को कोसता। उसकी विह्वलता को देखकर पेड़ की आड़ में छिपे हुए बहेलिये ने एक बाण से मार कर उसका भी जीवन समाप्त कर दिया। मूर्ख रानियों, तुम्हारी भी नर-पक्षी की तरह ही दशा होने वाली है। तुम्हें अपनी मृत्यु तो दीखती नहीं और इसके लिये रो-पीट रही हो। यदि तुम लोग सौ बरस तक इसी तरह शोकवश छाती पीटती रहो, तो भी अब तुम इसे नहीं पा सकोगी—

एवं यूयमपश्यन्त आत्मापायमबुद्धयः । नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि ॥७/२/५७

हिरण्यकशिपु ने कहा—उस छोटे-से बालक की ऐसी ज्ञानपूर्ण बातें सुनकर सब-के-सब दंग रह गये। बालक के उपदेश को सुनकर कुशीनर नरेश के भाई-बन्धु स्त्रियों ने यह बात समझ ली कि समस्त संसार और इसके सुख-दुःख अनित्य और मिथ्या हैं। यमराज यह उपाख्यान सुना कर वहीं अन्तर्धान हो गये। भाई-बन्धुओं ने भी सुयश की अन्योष्टि क्रिया की।



नारद जी ने युधिष्ठिर से कहा—युधिष्ठिर, अपनी पुत्रवधू के साथ दिति ने हिरण्यकशिपु की यह बात सुन कर तत्काल पुत्र-शोक का परित्याग कर दिया और अपना चित्त परमतत्त्वरूप परमात्मा में लगा दिया ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

## तीसरा अध्याय

( हिरण्यकशिपु की भीषण तपस्या और ब्रह्मा से वर-प्राप्ति )

नारद ने कहा—युधिष्ठिर, मुझे कोई जीत न सके, मैं अजर-अमर हो जाऊँ, मेरा कोई प्रतिद्वन्दी न हो और मैं संसार का एकछत्र सम्राट् बन जाऊँ—ऐसा सङ्कल्प करके हिरण्यकशिपु मन्दराचल पर तप करने के लिये पहुँचा ।

विशेष-देवों को इसकी सूचना मिली । उन लोगों ने गुरु बृहस्पति से कहा—गुरुदेव, आप हिरण्यकशिपु की तपस्या में विघ्न कीजिये । यह सुनकर उन्होंने तोते का रूप धारण किया और पहुँचे मन्दराचल पर । जहाँ हिरण्यकशिपु तपस्या प्रारम्भ करने जा रहा था, वहीं वे वृक्ष पर बैठ कर “नारायण, नारायण” की रट लगाने लगे । जैसे ही हिरण्यकशिपु ध्यान लगाने का प्रयास करता, तोते की ‘नारायण-नारायण’ रट शुरू हो जाती । हिरण्यकशिपु ने सोचा—विष्णु की हत्या करने के लिये तो मैं तपश्चर्या शुरू कर रहा हूँ, और यह तोता उसी का कीर्तन कर रहा है अतः आज तपस्या करने के लिये शुभ दिवस नहीं है । यह सोच कर वह सायंकाल घर वापस आ गया । उसकी पत्नी का नाम था—कयाधु । उसे आश्चर्य हुआ कि मेरा पति आज ही क्यों वापस आ गया ? किन्तु वह यह बात पति से कैसे पूछे, क्योंकि वह क्रोधी जो था । कदाचित् वह नाराज होकर कह दे कि तुझे इससे क्या लेना-देना ? अतः कयाधु ने सोचा कि मैं इस बात को किसी-न-किसी तरह पूछ ही लूँगी । फलतः उसने रसोई घर के सेवकों से कहा कि—आज मैं स्वयं ही महाराज के लिये भोजन बनाऊँगी । पति की गुप्त बातें जाननी हों तो कयाधु के रास्ते पर स्त्रियों को चलना चाहिये । भोजन में बड़ा वशीकरण होता है । लोभी द्रव्य से और अभिमानी प्रशंसा से वश में होता है । हिरण्यकशिपु अभिमानी था अतः उसकी पत्नी सेवा करते हुए उसकी प्रशंसा करने लगी । उसने कहा—इन्द्र, चन्द्र आदि देव तो आप से थर-थर काँपते हैं । आप जितेन्द्रिय हैं, ज्ञानी हैं । आप जैसा वीर न तो कभी हुआ है और न आगे होने की संभावना है । मैं कितनी भाग्यशालिनी हूँ कि आप जैसा पति मुझे मिला है और मैं यह भी जानती हूँ कि निर्धारित काम को पूरा किये बिना आप लौट नहीं सकते । क्या आज वन में कोई ऐसा प्रसङ्ग आ गया जिसके कारण आप को वापस लौटना पड़ा ? कयाधु ने कुछ चट-पटी चीजे खिला दी होगी, राक्षस को तो ऐसा ही भोजन पसन्द आता है जिसे सात्विक भोजन पसन्द न आवे वही तो राक्षस है । हिरण्यकशिपु अपनी प्रशंसा सुनकर खिल उठा और कहने लगा—वैसे तो मैं अपने निश्चित काम को पूरा किये बिना नहीं लौटता, किन्तु आज एक बाधा आ गई और अपशकुन भी हो गया अतः वापस आ गया ।

कयाधु ने पूछा—पतिदेव, कौन-सी बाधा आ गई थी ? कौन-सा अपशकुन उपस्थित हो गया ?

हिरण्यकशिपु ने कहा—मैंने जहाँ तपस्या प्रारम्भ करनी चाही, उसी के पास में एक वृक्ष पर बैठ कर एक तोता “नारायण-नारायण” की रट लगाने लगा ।

यह सुन कर कयाधु को बड़ा आनन्द आया । उसने सोचा कि चाहे जैसे भी सही, आज इन्होंने ‘नारायण’ का नाम तो लिया । ‘नारायण’ का नाम यह कभी भूल कर भी नहीं लेते अतः आज मैं युक्तिपूर्वक इनसे सौ-दो सौ बार नारायण का नाम अवश्य कहलवाऊँगी ।



जो अपने पति को पाप-प्रवृत्ति से युक्तिपूर्वक बचा ले, उसे पाप करने से रोके, वही सच्ची पत्नी है। पति को धर्म के मार्ग पर जो ले जाये, परमात्मा की ओर बढ़ाये, वही पत्नी धर्मपत्नी है। पति को पत्नी ही धर्म के मार्ग पर ले जा सकती है। कयाधु ने सोचा कि यह बड़ा अच्छा अवसर है। इसी बहाने मैं अपने पति से बार-बार भगवान् के नाम का उच्चारण अवश्य करवाऊँगी। अतः भोजन के समय बात को उलटफेर कर उसने हिरण्यकशिपु से पचास-सौ बार नारायण के नाम का उच्चारण करवाया भोजन करवाया, हाथ-मुँह धुलवाया और स्वयं चरण धोकर वस्त्र से उसे पोछा। शयन की बेला में पति के पैर को दबाती हुई उसने कहा—भोजन बनाने की बेला में मेरा ध्यान बटा हुआ था अतः आप की बात पूरी-पूरी समझ में नहीं आई। हाँ, तो वन में क्या हुआ था ?

हिरण्यकशिपु ने कहा—देवि, वहाँ एक तोता आकर नारायण-नारायण की रट लगाने लगा।

कयाधु—तोता क्या बोलता था ?

हिरण्यकशिपु—नारायण, नारायण।

कयाधु—भला, यह कैसे हो सकता है ? क्या वह सचमुच नारायण, नारायण बोलता था ?

हिरण्यकशिपु—हाँ, वह नारायण-नारायण बोलता था।

बेचारा कामातुर पति ! पत्नी ने युक्तिपूर्वक उससे बार-बार यही बात कहलवाई। साधारणतः पुरुष कामान्ध होता है, स्त्री के वशीभूत होता है। अतः पत्नी चाहे तो अपने पति को सुधार सकती है। पत्नी यदि सुपात्र होगी तो पति को भगवान् के भजन में लीन कर सकती है। माता-पिता (हिरण्यकशिपु और कयाधु) नारायण का नामोच्चारण कर रहे थे कि उसी समय माता के गर्भ में प्रह्लाद की स्थापना हुई अतः पिता के राक्षस होने पर भी उसका पुत्र प्रह्लाद भगवान् का भक्त हुआ—“भगतसिरोमणि भे प्रह्लादू।” तुलसीदास का मानस। कयाधु सगर्भा हुई और हिरण्यकशिपु तपश्चर्या करने वन में चला गया। वहाँ वह मन्दराचल की द्रोणी में भीषण तपस्या में लीन हो गया। उसके दोनों हाथ ऊपर उठे हुए थे। दृष्टि आकाश में लगी हुई थी। एक ही अँगूठे के बल वह पृथिवी पर खड़ा था—

स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम्। ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादाङ्गुष्ठाश्रितावनिः॥७/३/२

तप के प्रभाव से उसकी जटाएँ सूर्य की किरणों की भाँति चमकने लगीं। देवों को जब पता चला कि हिरण्यकशिपु तपस्या करने के लिये चला गया है तब वे पुनः अपने-अपने स्थानों पर लौट आये। बहुत दिनों तक तपस्या करने के बाद उसके शिर से धुएँ के साथ आग की लपटे निकलने लगीं। उससे त्रिलोकी संतप्त हो उठी। नदियों और सागर का जल खौलने लगा। पृथिवी डगमगाने लगी। तारे टूट-टूट कर गिरने लगे। ऐसा प्रतीत होता था मानों सभी दिशाओं में आग लग गई हो। देवता लोग भी जलने लगे। वे घबड़ाकर ब्रह्मा की शरण में पहुँचे। उन्होंने अपनी विपद्गाथा उनसे कहीं और निवेदन किया उस ज्वाला को शान्त करने के लिये। उन लोगों ने यह भी कहा—प्रभो, यद्यपि आप सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं फिर भी हम अपनी ओर से आप से यह निवेदन कर देते हैं कि उसकी तपस्या का रहस्य क्या है। उसका विचार है कि—“मैं तप के प्रभाव से ब्रह्मा के समान ही पद प्राप्त करूँ क्योंकि समय असीम है और आत्मा नित्य है। एक जन्म में न सही अनेक जन्मों में; एक युग में न सही अनेक युगों में, अपने अभीष्ट की सिद्धि करके ही छोड़ूँगा। अपनी तपस्या की शक्ति से मैं पाप-पुण्य के नियमों को पलट कर इस संसार में ऐसा उलट-फेर कर दूँगा, जैसा कभी हुआ ही नहीं।” हमने सुना है कि ऐसा हठ करके ही वह घोर तपस्या में जुटा हुआ है। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें।

देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा जी भृगु और दक्ष आदि को साथ लेकर वहाँ पहुँचे जहाँ हिरण्यकशिपु तप में रत था। किन्तु उन्हें वहाँ कुछ दिखलाई न पड़ा क्योंकि दीमक की मिट्टी, घास और बाँसों से उसका शरीर ढक गया



था। चीटियाँ उसकी मेदा, त्वचा, मांस और खून चाट गई थीं। बादलों से ढके हुए सूर्य के समान वह अपनी तपस्या के तेज से लोकों को तपा रहा था। इस दृश्य को देख कर ब्रह्मा जी विस्मित हो गये। उन्होंने हँसते हुए कहा—बेटा हिरण्यकशिपु, उठो। मैं तुम्हारी तपस्या से परम सन्तुष्ट हूँ। जो तुम्हारी इच्छा हो वह वर मांग लो। मैंने तुम्हारे हृदय के अद्भुत बल को देख लिया। अरे, डाँसों ने तुम्हारी देह खा डाली है फिर भी तुम्हारे प्राण हड्डियों के सहारे टिके हुए हैं—

अद्राक्षमहमेतत्ते हृत्सारं महदद्भुतम्। दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते॥७/३/१८

ऐसी कठिन तपस्या न तो पहले किसी ने की थी और न भविष्य में कोई करेगा। भला ऐसा कौन है जो देवताओं के सौ वर्षों तक बिना पानी के जीवित रहे। वत्स, तुमने अपने तप से मुझे अपने वश में कर लिया है। अतः मांग लो मुझ से जो कुछ मांगना चाहते हो। मेरा दर्शन कभी निष्फल होनेवाला नहीं है। यह कहकर ब्रह्मा ने अपने कमण्डलु से दिव्य एवम् अमोघ जल निकाल कर उसके शरीर पर छिड़क दिया। जैसे लकड़ियों की ढेर से आग जल उठे, वैसे ही वह जल छिड़कते ही बाँबी के बीच से दमकता हुआ बाहर निकला। उस समय उसका शरीर सर्वाङ्गपूर्ण एवं पूर्ण बलिष्ठ हो गया था। उसने आकाश में हंस पर आरूढ़ ब्रह्मा जी को देखा। उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर नौ श्लोकों से उनकी दिव्य भव्य स्तुति की और बड़ी विनम्रता से कहा—प्रभो, आप समस्त वरदाताओं में श्रेष्ठ हैं। यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो ऐसा कर दीजिये कि आप की सृष्टि के किसी भी प्राणी से मेरी मृत्यु न हो—चाहे वह मानव हो, दानव हो, देव हो, नाग हो, पशु हो या पक्षी हो। फिर उसने स्थान, काल और समस्त अस्त्र-शस्त्रों का निषेध करते हुए कहा कि मेरी मृत्यु न तो बाहर हो, न भीतर हो, न पृथिवी पर हो, न आकाश में हो, न ऊपर हो, न नीचे हो, न दिन में हो, न रात में हो और न किसी अस्त्र-शस्त्र से हो। युद्ध में मेरा कोई मुकाबला न कर सके। मैं समस्त प्राणियों का एकच्छत्र सम्राट् होऊँ। सारे लोकपालों में आप जैसी मेरी महिमा हो। तपस्वियों और योगियों को जो अक्षय्य सुख एवम् ऐश्वर्य प्राप्त है, वही मुझे भी प्राप्त हो—

यदि दास्यस्यभिमतान् वरान्मे वरदोत्तम। भूतेभ्यो त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो॥  
नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः। न भूमौ नाग्वरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि॥  
व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः। अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यं च देहिनाम्॥  
सर्वेषां लोकपालानां महिमानं यथात्मनः। तपोयोगप्रभावाणां यन्न रिष्यति कर्हिचित्॥

७/३/३५-३८

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

## चौथा अध्याय

( ७ अध्यायों में प्रह्लाद का चरित )

( वर के प्रभाव से उद्दीप्त हिरण्यकशिपु का अत्याचार और प्रह्लाद की भगवन्निष्ठा )

नारद ने कहा—युधिष्ठिर, हिरण्यकशिपु के इस प्रकार वर मांगने पर ब्रह्मा जी ने कहा—बेटा, तुम जिन वरों को मांग रहे हो, वे प्राणियों के लिये अतिदुर्लभ हैं फिर भी मैं इन सारे वरों को तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ—

१. कलियुग में प्राण अन्न और जल में रहते हैं; किन्तु सत्य युग में हड्डियों में रहा करते थे।



तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान् वृणीषे वरान् मम । तथापि वितराम्यङ्ग वरान् यदपि दुर्लभान् ॥७/४/२  
 वर पाकर असुरराज परम प्रसन्न हुआ । उसने ब्रह्मा की पूजा की और उन्हें सादर सविनय प्रणाम किया । वर देकर ब्रह्मा अपने लोक चले गये । हिरण्यकशिपु भी कृतार्थ होकर अपनी राजधानी लौट आया<sup>१</sup> । तप के तेज के कारण उसका शरीर सुवर्ण की भाँति दमक रहा था । विष्णु ने उसके भाई का वध किया है । इसका स्मरण कर वह उनसे द्वेष करता था, शत्रुता ठान ली थी—

एवं लब्धवरो दैत्यो बिभ्रन्देममयं वपुः । भगवत्यकरोद् द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन् ॥७/४/४  
 उस महादैत्य ने समस्त दिशाओं, तीनों लोकों तथा देवता, असुर, नरपति, गन्धर्व, गरुड, सर्प, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितरों के अधिपति, मनु, यक्ष, राक्षस, पिशाचराज, प्रेत, भूतपति एवं समस्त प्राणियों के राजाओं को जीत कर अपने वश में कर लिया । यहाँ तक कि उस विश्व-विजयी दैत्य ने लोकपालों की शक्ति और स्थान भी छीन लिये । अब वह सदा स्वर्ग में ही रहता और इन्द्र का भवन ही उसका निवास स्थान था । नन्दन वन उसकी क्रीडा-स्थली थी । कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि पर उसका अधिकार था । देव-दानव सभी उसका चरण-वन्दन करते थे । ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश को छोड़कर बाकी सभी देवता अपने हाथों में भेंट लेकर उसकी सेवा में लगे रहते थे ।

युधिष्ठिर, वह महान् तेजस्वी था । देवताओं के यज्ञ का सर्वस्व वह स्वयं भोगता था । भूतल के सातों द्वीपों पर उसका अखण्ड अधिकार था । सभी जगह बिना जोते-बोये धरती से अन्न उत्पन्न होता था । वह जहाँ जो कुछ चाहता, वह वहीं उसे मिल जाता था । सारे सागर अपनी तरङ्गों से उसके पास रत्न-राशि पहुँचाया करते थे । सभी ऋतुओं में वृक्ष फलों-फूलों से लदे रहते थे । इस प्रकार दिग्विजयी और एकछत्र सम्राट् होकर वह सारे प्रिय विषयों का उपभोग करने लगा । परन्तु सारे विषयों का छककर उपभोग करने पर भी उसकी तृप्ति न हो सकी क्योंकि अन्ततः वह इन्द्रियों का दास ही तो था—

स इत्थं निर्जितककुबेकराड् विषयान् प्रियान् । यथोपजोषं भुञ्जानो नातृष्यदजितेन्द्रियः ॥७/४/१९  
 उसके भीषण अत्याचारों से त्रिलोकी में सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई । देवताओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी । वे वायु पी-पीकर जीवन-यापन करते थे । शान्ति से शयन भी उनके लिये कठिन था । ऐश्वर्य से मदमत्त हिरण्यकशिपु शास्त्र की मर्यादा का थोड़ा भी ध्यान नहीं रखता था । इस प्रकार महान् काल बीत गया । उसके कठोर शासन से सब लोक और लोकपाल घबरा गये । जब उन्हें किसी और का आश्रय नहीं मिला तो घबड़ा कर वे अशरण-शरण भगवान् विष्णु की शरण में गये—“अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम्” ॥२१॥ वहाँ अत्यन्त एकाग्र चित्त से ध्यान लगाकर भगवान् की स्तुति की, उन्हें प्रणाम किया और रो-रोकर अपना दुःख निवेदन किया । आर्तिचित्त से की गई देवों की प्रार्थना भगवान् के कानों तक पहुँची । भगवान् ने उसे सुना और आकाशवाणी के माध्यम से कहा—  
 “महर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये” ॥२५॥ मुझे हिरण्यकशिपु के अत्याचार भली-भाँति विदित हैं । मैं समय आने पर शीघ्र ही उसका प्रतिकार करूँगा । कोई भी प्राणी जब देवता, वेद, गाय, ब्राह्मण, साधु, धर्म और मुझसे द्वेष करने लगता है, तब शीघ्र ही उसका विनाश हो जाता है । जब यह अपने वैर-विहीन, शान्त और महात्मा पुत्र प्रह्लाद से द्रोह करेगा—उसका अनिष्ट करना चाहेगा, तब वर के कारण शक्ति-सम्पन्न होने पर भी इसे मैं अवश्य मार डालूँगा—

१. आज के पाकिस्तान में जहाँ मुल्तान शहर है, वहीं हिरण्यकशिपु की राजधानी थी ।



यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु । धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति ॥७/४/२७  
निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने । प्रह्लादाय यदा हृद्येन्दुनिष्येऽपि वरोर्जितम् ॥७/४/२८  
नारद जी नें कहा—राजन्, इतना कहकर आकाशवाणी बन्द हो गई । देवता लोग कृतज्ञतापूर्वक भगवान् को प्रणाम कर अपने-अपने लोकों में चले गये । उन लोगों ने हिरण्यकशिपु को अब मरा हुआ ही मान लिया ।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु के चार पुत्र थे । उनमें प्रह्लाद वय में सबसे छोटा होने पर भी गुणों में सब से महान् थे । वे बड़े सन्तोषी थे । ब्राह्मण-भक्त, सौम्यस्वभाव, सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय थे । समस्त प्राणियों को अपने ही समान समझते थे और सब के प्रिय सुहृद् थे । बड़े लोगों के चरणों में सेवक की भाँति झुक कर रहते थे । गरीबों पर पिता के समान स्नेह करते थे । बगवरी वालों से भाई के समान प्रेम करते और गुरुजनों में भगवद्भाव रखते थे । सब कुछ होने पर भी अभिमान उन्हें छू तक न गया था । बड़े-बड़े दुःखों में भी वे घबड़ाते नहीं थे । लोक-परलोक के भोगों को वे निःसार और असत्य समझते थे । अतः उनके मन में किसी भी वस्तु की लालसा न थी । मन और इन्द्रियाँ उनके वश में थीं । उनका मन कामना-विहीन था । असुर होने पर भी असुरभाव का लेश भी उनमें न था—

नोदिग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदक् ।

दानेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः ॥ ७/४/३३

प्रह्लाद महान् भगवद्भक्त थे । उनमें भगवान् कृष्ण के प्रति स्वाभाविक प्रीति थी । वे बचपन में ही खेल-कूद छोड़कर भगवान् के ध्यान में जडवत् तन्मय हो जाया करते थे । भगवान् कृष्ण के अनुग्रहरूप ग्रह ने उनके हृदय को अपने वश में कर लिया था अतः उन्हें संसार की कुछ भी सुध-बुध न थी । उन्हें ऐसा प्रतीत होता था मानों भगवान् सर्वदा उन्हें अपनी गोद में लेकर छाती से लगाये रहते हैं अतः चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते—सब समय बड़ी तन्मयता से भगवान् का ही चिन्तन किया करते थे । वे भगवान् के आवेश में कभी रोते, कभी हँसते, कभी नाचते-गाते तो कभी ध्यानस्थ हो जाते थे । उनकी आँखों से, चिन्तन की बेला में, अविरल अश्रुधारा बहा करती थी । उस समय उन्हें अपने शरीर का भी ध्यान न रहता था ।

हिरण्यकशिपु ने जब देखा कि प्रह्लाद हमारे शत्रु भगवान् के ध्यान में ही लीन रहता है तो वह उनसे द्वेष करने लगा, सर्वदा उनके अनिष्ट की चिन्ता करने लगा ।

इस पर युधिष्ठिर जी ने पूछा—महाराज, प्रायः यह देखने में आता है कि लोग अपने बेटे से अतिशय मोह करते हैं । यदि बेटा कुछ अनिष्ट भी करे तो वे उससे बुरा नहीं मानते । प्रत्येक स्थिति में वे उसी का पक्ष लेते हैं । अपना बेटा यदि शत्रुता रखता है तो भी लोग उससे प्रेम करते हैं । यदि वे कभी उसे डाँटते भी हैं तो शिक्षा देने के लिये ही डाँटते हैं, उससे द्वेष नहीं करते । लेकिन हिरण्यकशिपु के मन में प्रह्लाद-जैसे सदगुण-सम्पन्न पुत्र के प्रति इतना दुष्कर द्वेष कहाँ से और क्यों आगया ? यह जानने के लिये मेरे मन में महान् कुतूहल उत्पन्न हो रहा है । कृपा करके मेरे सन्देश का निवारण कीजिये—

एतत् कौतूहलं ब्रह्मज्ञस्माकं विधम प्रभो । पितुः पुत्राय यद् द्वेषो मरणाय प्रयोजितः ॥७/४/४६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥



## पाँचवाँ अध्याय

( हिरण्यकशिपु के द्वारा प्रह्लाद के वध का प्रयत्न )

नारद जी ने कहा—युधिष्ठिर, दैत्यों ने शुक्राचार्य जी को अपना पुरोहित बनाया था। उनके दो पुत्र थे—शण्ड और अमर्क। वे राजभवन के पास में ही रहते थे। वहाँ उनकी एक पाठशाला थी। वहाँ वे दैत्यबालकों को राजनीति, अर्थ-नीति आदि की शिक्षा दिया करते थे। हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को उसी पाठशाला में पढ़ने के लिये डाल दिया था। वहाँ जो कुछ गुरुजन पढ़ाते थे प्रह्लाद उसे पढ़कर पूछने पर ज्यों-का-त्यों सुना भी दिया करते थे। किन्तु वे मन से उसे अच्छा नहीं समझते थे क्योंकि उस शिक्षा में अपने-पराये का भेद रहता था। भेद का पाठ पढ़ानेवाली शिक्षा उन्हें अच्छी न लगती थी। एक दिन की घटना है। हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को बड़े प्रेम से गोद में उठा कर पूछा—बेटा, बताओ तो सही, तुम्हें कौन-सी बात अच्छी लगती है ? तुम्हारी दृष्टि में कौन-सी बात उत्तम है ? प्रह्लाद ने कहा—‘पिता जी, संसारी प्राणी सदा ‘मैं’ और ‘मेरे’ इस झूठे आग्रह में फँसे रहते हैं। इससे उनका चित्त सदा उद्विग्न रहा करता है। ऐसे प्राणियों के लिये मैं यही ठीक समझता हूँ कि वे घर-गृहस्थी छोड़कर वन में चले जाँय और भगवान् श्रीहरि की शरण ग्रहण करें। घर तो अधःपतन का मूल कारण और घास से ढके हुए अँधेरे कुँए के समान है, जिस में गिरे हुए प्राणी का निकलना कठिन होता है—

तत्साधु मन्येऽसुरवर्ष देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसदग्रहात् ।

हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्यकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत् ॥ ७/५/५

प्रह्लाद जी के मुख से शत्रु की प्रशंसा सुन कर हिरण्यकशिपु ठहाकामार कर हँसने लगा। उसने कहा—दूसरों के सिखा देने से बालकों की बुद्धि इसी प्रकार बिगड़ जाया करती है। प्रतीत होता है—गुरुजी के घर पर विष्णु के पक्षपाती कुछ ब्राह्मण वेश बदल कर रहते हैं अतः बालक की भलीभाँति देख-रेख की जाय, जिससे इसकी बुद्धि अब बहकने न पाये। जब दैत्यों ने प्रह्लाद को गुरु-गृह पहुँचा दिया तो उन्होंने उन्हें दुलारा, पुचकारा और प्रेमभरी वाणी में पूछा—बेटा प्रह्लाद, तुम्हारा कल्याण हो। सच-सच बतलाना। झूठ मत बोलना। यह तुम्हारी बुद्धि उल्टी कैसे हो गई ? तुमने पिता जी से जो बात कही, वह बालकों की पहुँच के बाहर है। बेटा, बतलाओ, तुम्हारी बुद्धि स्वयं ऐसी हो गई अथवा किसी ने तुम्हें सिखा-पढ़ा दिया है। तुम तो अपने कुल के दीपक हो। प्रह्लाद ने कहा—गुरुदेव, सबकी बुद्धि के प्रेरक एकमात्र भगवान् ही हैं। उन्हीं की माया से मोहग्रस्त प्राणियों को अपने-पराये की झूठी प्रतीति होती है। उन माया-पति भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ। उन भगवान् की कृपा से ही प्राणी की पशु-बुद्धि विनष्ट होती है। ‘यह मैं हूँ और यह मुझसे भिन्न है’—इस प्रकार का झूठा भेद-भाव ही तो पशु-बुद्धि है। गुरु जी, जैसे चुम्बक के पास लोहा स्वयं खिंच जाता है, वैसे ही सुदर्शनचक्रधारी भगवान् की कृपा से मेरा भी मन संसार से अलग होकर उनकी ओर बरबस खिंच जाता है। इसमें मेरा कोई सायास प्रयास नहीं—

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ । तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्बुद्ध्या ॥ ७/५/१४

इतना कह कर प्रह्लाद मौन हो गये। गुरु-पुत्र राजसेवक थे। राजसेवक की मति मारी गई होती है अतः उन्होंने प्रह्लाद को डाटा-फटकारा और झिड़क कर कहा—अरे, कोई मेरा बेटा तो लाओ। यह हमारी कीर्ति का कलङ्क है, यह दुर्बुद्धि है, कुलाङ्गार है, इसको ठीक करने के लिये चौथा उपाय दण्ड ही उपयुक्त है। दैत्य-वंशरूपी चन्दन-वन में यह प्रह्लाद बबूल का काँटेदार वृक्ष है। पता नहीं, यह इस वंश में कहाँ से पैदा हो गया ? विष्णु दैत्य-वन को काटने की कुल्हाड़ी है। प्रह्लाद उस कुल्हाड़ी का बेंट (पकड़ने की लकड़ी) बन रहा है। इस प्रकार गुरु-पुत्रों ने प्रह्लाद को डाट-फटकार कर



भयभीत किया। अब वे बड़ी सावधानी से प्रह्लाद को धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी शिक्षा देने लगे। एक दिन उनके मन में आया कि प्रह्लाद ने तो सब-कुछ सीख लिया है इसलिये अब इसको इसके माँ-बाप के पास ले चलना चाहिये। महाराज इसकी शिक्षा सुनकर हम लोगों को पुरस्कृत करेंगे अतः वे उसे पहले उसकी माता के पास ले गये। माता कयाधु ने उन्हें उबटन लगाया, सजाया, सवाँरा फिर वे उसे हिरण्यकशिपु के पास ले गये—“दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलङ्कृतम् ॥” १९॥ वहाँ प्रह्लाद अपने पिता के चरणों पर लोट गये। दैत्यराज ने उन्हें आशीर्वाद दिया। दोनों हाथों से उठाय़ा और छाती से लगा लिया। उस समय उसका हृदय आनन्द से भर उठा। आँखों से प्रेम की अश्रुधारा बह चली। वह स्वयं प्रेम से बिह्वल हो गया। आखिर भगवान् के भक्त के स्पर्श की यही तो महिमा है फिर हिरण्यकशिपु ने पूछा—चिरञ्जीव बेटा प्रह्लाद, इतने दिनों तक तुमने गुरु जी से जो शिक्षा प्राप्त की है, उसमें से कोई अच्छी-सी बात हमें सुनाओ—

प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम्। कालेनैतावताऽऽयुष्मन् यदशिक्षद् गुरोर्भवान् ॥

७/५/२२

प्रह्लाद जी ने कहा—पिता जी, भगवान् विष्णु की भक्ति के नौ भेद हैं—भगवान् के गुण-लीला-नाम आदि का श्रवण, उन्हीं का कीर्तन, उनके रूप-नाम आदि का स्मरण, उनके चरणों की सेवा, पूजा-अर्चा, वन्दन, दास्य-भाव की धारणा, सख्य और आत्म-समर्पण\*। यदि इनमें से भगवान् की एक भी भक्ति हो जाय, तो मैं उसी को उत्तम अध्ययन मानता हूँ—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥७/५/२३

इति पुंसापिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा। क्रियते भगवत्यन्धा तमेऽधीतमुत्तमम् ॥७/५/२४

पुत्र के इस प्रकार वचन सुनते ही हिरण्यकशिपु की आकृति क्रोध के मारे लाल हो गई। उसके ओठ फड़कने लगे। उसने गुरुपुत्र को फटकारते हुए कहा—रे अधम ब्राह्मण, यह तूने क्या किया ? दुर्बुद्धि, तूने मेरी कुछ भी परवाह न करके इस बच्चे को कैसी निस्सार शिक्षा दे डाली। अवश्य ही तू हमारे शत्रुओं से जा मिला है। संसार में ऐसे दुष्टों की कमी नहीं है, जो मित्र का बाना धारण कर छिपे-छिपे शत्रु का काम करते हैं। परन्तु उनकी कलई समय पर वैसे ही खुल जाती है जैसे छिपकर पाप करनेवालों का पाप अवसर पर रोग की तरह प्रकट होकर उनकी पोल खोल देता है। हिरण्यकशिपु की बात सुनकर गुरुपुत्र ने कहा—इन्द्रशत्रो, आपका पुत्र जो कुछ कह रहा है, वह मेरे या किसी दूसरे के बहकाने से नहीं कह रहा है। राजन्, यह तो इसकी जन्मजात स्वाभाविक बुद्धि है। आप अपना क्रोध शान्त करें। व्यर्थ मैं हमें दोष न दें—

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो।

नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन् नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः ॥ ७/५/२८

गुरुपुत्र की बात सुनकर प्रह्लाद को घुड़कते हुए हिरण्यकशिपु ने कहा—क्यों रे ! तुझे यह दुर्बुद्धि यदि गुरु से नहीं मिली तो बता कहाँ से मिली ? किस ने ऐसी गन्दी शिक्षा तुझे दी ? प्रह्लाद ने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया—

१. नवधा भक्ति में कौन किस भक्ति का आचार्य है ? इसका वर्णन किया जा रहा है—भगवान् विष्णु की श्रवण-भक्ति के आचार्य महाराज परीक्षित हैं, कीर्तन के श्री शुकदेव जी, स्मरण के प्रह्लाद जी, पाद-सेवन की लक्ष्मी जी, पूजन-अर्चन के पृथुजी, वन्दन के अक्रूर जी, दास्य के हनुमान् जी, सख्य के अर्जुन जी और आत्म-निवेदन के महाराज बलि। इस नवधा भक्ति का फल है—भगवान् कृष्ण की प्राप्ति—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षितभद्र वैयासकिः कीर्तने प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।

अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः सर्वस्वात्मसमर्पणे बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां फलम् ॥



पिता जी, संसार के लोग पिसे हुए को पीस रहे हैं, चबाये हुए को चबा रहे हैं, चर्बितचर्बण कर रहे हैं। उनकी इन्द्रियाँ उनके वश में नहीं हैं। यही कारण है कि वे भोगे हुए भोग को ही बार-बार भोग रहे हैं। ऐसे लोगों की मति किसी के सिखाने से अथवा अपने आप भगवान् श्रीकृष्ण में नहीं लगती, जब तक कि अकिञ्चन भगवत्परायण महात्माओं की चरणधूलि शिर पर न धारण की जाय, शरीर में न पोती जाय—

महीयसां पादरजोऽभिवेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥७/५/३२

मेरी तो गर्भावस्था में ही मुनिवर नारद की कृपा से भगवान् के श्रीचरणों में दृढ भक्ति हो गई थी। ऐसा कह कर प्रह्लाद चुप हो गये। उस समय हिरण्यकशिपु क्रोध के मारे अन्धा हो रहा था। उसने अपनी गोद से प्रह्लाद को उठाकर जमीन पर फेंक कर कहा—दैत्यों इस दुष्ट को यहाँ से बाहर ले जाकर तुरन्त मार डालो। सचमुच यह मार डालने के ही योग्य है। देखो तो सही—जिसने इसके चाचा को मार डाला, अपने भाई-बन्धुओं को छोड़कर यह नीच दास बन कर उसी विष्णु के चरणों की उपासना करता है<sup>१</sup> अब यह विश्वास के योग्य नहीं है। पाँच वर्ष की इस छोटी अवस्था में जिसने अपने माता-पिता के दुस्त्यज वात्सल्य स्नेह को भुला दिया वह कृतघ्न विष्णु का क्या भला करेगा ? कोई दूसरा यदि औषध के समान भलाई करे तो वह एक प्रकार से पुत्र ही है। पर यदि अपना पुत्र भी अहित करने लगे तो रोग के समान शत्रु है। यदि एक अङ्ग से सारे शरीर की क्षति हो तो उसे काटकर फेंक देना चाहिये। इससे सारे शरीर की रक्षा हो जाती है, व्यक्ति जीवन भर सुख पूर्वक रह सकता है—

परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः ।

छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥ ७/५/३७

दैत्य तो मार-काट की प्रवृत्ति के होते ही हैं। अपने महाराज का आदेश मिलते ही वे सब मिल कर प्रह्लाद पर शूल से, तलवार से, भाले से, गड़ासे से तथा अन्य विविध-विध अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार करने लगे किन्तु यह क्या ! प्रह्लाद के शरीर पर स्वल्प खरोंच भी न लग सकी। इसका कारण यह था कि भगवान् प्रह्लाद को अपनी गोद में लेकर बैठे थे। प्रह्लाद इस बात को देख रहे थे किन्तु मूढ दैत्य योगमाया से समावृत कृष्ण को नहीं देख पा रहे थे<sup>१</sup>।

जब दैत्य प्रह्लाद को मारने में असफल रहे तब हिरण्यकशिपु को बड़ी आशङ्का हुई। सशङ्क होकर उसने प्रह्लाद का वध करने के लिये अन्य विविध उपायों का सहारा लिया। दैत्यराज ने उन्हें मारने के लिये मतवाले हाथियों को भेजा। उस समय प्रह्लाद नेत्र बन्द कर भगवान् का कीर्तन कर रहे थे। हाथियों ने अपने तीक्ष्ण दाँतों से प्रह्लाद के वक्षःस्थल पर प्रहार किया किन्तु प्रह्लाद का स्पर्श पाते ही दाँत टूट कर भूतल पर गिर पड़े। वस्तुतः दाँत प्रह्लाद को छू ही न सके थे। वे भगवान् के श्रीविग्रह से टकराये थे अतः टूट गये। हाथी चिष्वाड़ मारते हुए भाग खड़े हुए। प्रह्लाद को कालकोठरी में बन्द कर भयङ्कर काले नाग उस में छोड़े गये किन्तु वे वहाँ एक कोने में दुबके पड़े रहे। सत्य तो यह है कि प्रह्लाद के देह की हवा लगते ही वे निर्विष हो गये। तब उन्हें पर्वत की चोटी से फेंका गया किन्तु धरती-माता प्रह्लाद के लिये मखमली गद्दा बन गई। पुरोहितों ने कृत्या राक्षसी उत्पन्नकर प्रह्लाद को मारने के लिये भेजा। वह हाथ में त्रिशूल लेकर प्रह्लाद की ओर दौड़ी और उनकी छाती पर प्रहार की ? किन्तु उस बालक के वक्षःस्थल से टकराते ही त्रिशूल चूर-चूर होकर भूतल पर गिर पड़ा। निष्फल कृत्या ने लौटकर अपने प्रयोक्ता पुरोहितों

१. इससे प्रतीत होता कि प्रह्लाद भगवान् विष्णु की मिट्टी की मूर्ति बनाकर पूजा करते थे। क्योंकि हिरण्यकशिपु के राज्य में विष्णु की प्रतिमा की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। उसके राज्य में न कहीं विष्णु का मन्दिर था और न उनकी प्रतिमा ही।

२. देखिये भागवत—१/१५/१६ तथा भगवद्गीता—७/२५॥



को ही जला डाली और फिर स्वयं जलकर विनष्ट हो गई। प्रह्लाद ने अपने गुरुओं के, पुरोहितों के, मृत शरीर पर यह कह कर हाथ फेरा कि—प्रभो, रक्षा करो, बचाओ इन पुरोहितों को। यदि भगवान् सर्वव्यापक हैं, यदि मैं भगवान् को विपक्षियों में भी देखता होऊँ और मुझमें विविध उपायों से मारने का प्रयास करनेवालों के प्रति भी किसी प्रकार का विद्वेष न रहा हो तो—इन सबके प्रभाव से ये गुरुपुत्र जीवित हो जाँय। प्रह्लाद के इतना कहते ही गुरुपुत्र जीवित होकर उठ बैठे। उन लोगों ने प्रह्लाद को आशीष देते हुए कहा—वत्स, तू बड़ा श्रेष्ठ है। तू दीर्घायु, निर्द्वन्द्व, बल-वीर्य-सम्पन्न तथा पुत्र, पौत्र एवं धन-धाम-ऐ-श्रवादि से सम्पन्न बनो<sup>१</sup>। पुरोहितो ने इस घटना का वर्णन दैत्यराज से किया। उसने प्रह्लाद को मारने के लिये कुछ और शेष उपायों का सहारा लिया—

**संनिरोधैः**—उसने प्रह्लाद को एक भीषण काल-कोठरी में बन्द करवा दिया। जहाँ न वायु का प्रवेश था और न प्रकाश का। किन्तु वहाँ भी प्रह्लाद निरन्तर हरि-चिन्तनामृत का पान कर रहे थे अतः कुछ नहीं हुआ।

**गरदानैः**—हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद की माता कयाधु से कहा—तूने इस कुलाङ्गार को पैदा किया है अतः तू ही अपने हाथ से ले यह विष पिला कर उसे मार दे। माँ तो माँ ठहरी। हाथ में विष का प्याला लेकर रो रही थी, काँप रही थी। प्रह्लाद ने कहा— माँ पिला दो मुझे यह विष, इससे मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा क्योंकि मैं इसमें भगवान् की मूर्ति देख रहा हूँ<sup>१</sup>। ऐसा करने से पति की आज्ञा के पालन का फल भी तुम्हें मिलेगा। ऐसा कहकर प्रह्लाद ने माँ के हाथ को पकड़ कर विष पी लिया। किन्तु धन्य है भगवात्कृपा, विष-पान से प्रह्लाद का बाल भी बाँका नहीं हुआ।

**अभोजनैः**—प्रह्लाद को काल-कोठरी में बन्द किया गया। वहाँ उनका भोजन-पानी सब कुछ बन्द कर दिया गया। हिरण्यकशिपु ने सोचा, प्रह्लाद बिना खाये मर जायेगा। किन्तु प्रह्लाद निश्चिन्त होकर वहाँ भगवान् का अखण्ड चिन्तन करने लगे। रात्रि के आठ बजे थे। भगवान् ने लक्ष्मी जी से पूछा—आज कोई जीव भूखा तो नहीं रह गया है ? लक्ष्मी जी ने उत्तर दिया आप का भक्त प्रह्लाद बिना खाये-पिये जेल में भूखा प्यासा पड़ा हुआ है। भगवान् ने कहा—तो देवि, शीघ्र उसके लिये प्रसाद भेजो। लक्ष्मी जी ने अपने सेवक से स्वादिष्ट भोजन और शीतल जल भेजा। प्रह्लाद प्रभु की कृपा देखकर अतिशय श्रद्धावनत हो गये। उनकी आँखों से प्रेम के आँसू टपक पड़े। उन्होंने प्रसाद को माथे से लगाया और खाना शुरू कर दिया।

हिरण्यकशिपु के सेवकों को आहट मिली। उन्होंने खिड़की से झाँककर देखा कि प्रह्लाद भोजन कर रहे हैं। उन लोगों ने सोचा—गजब जादूगर है यह बालक। इस कोठरी में वायु भी प्रवेश नहीं कर सकता तो फिर इसके पास भोजन कैसे पहुँच गया ? उन लोगों ने दौड़कर हिरण्यकशिपु को इसकी सूचना दी। भागा-भागा हिरण्यकशिपु कोठरी के द्वार पर पहुँचा। ताली निकाली। ताला खोला और फिर पहुँच गया प्रह्लाद के पास। प्रह्लाद भोजन कर रहा था। दैत्यराज ने थाली को पैर से मार कर दूर फेंक दिया। डाटकर बोला—किसने तुझे भोजन दिया ? प्रह्लाद ने कहा—माता जी ने दिया है फिर कयाधु की ओर देखकर हिरण्यकशिपु ने पूछा—मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर तुमने इसे भोजन क्यों दिया ? कयाधु ने कहा—मैंने नहीं दिया है। हिरण्यकशिपु ने कहा यह तो कह रहा है कि—माता जी ने दिया है। इस पर प्रह्लाद ने कहा—नहीं, इस माता ने नहीं, जगत् की जननी ने मुझे भोजन दिया है। यह सुनकर सब अवाक् हो गये।

इसके बाद प्रह्लाद को मारने के लिये हिरण्यकशिपु ने कोई उपाय शेष नहीं रक्खा। बर्फ की विशाल चट्टान

१. देखिये विष्णुपुराण—१/१८/४५।

२. नाचि उठीं आँखिन की पुतली पियाले बीच, पुतली में नाचि उठी मूर्ति गोपाल की।



के नीचे उसे दबवा दिया, दहकती हुई आग में बैठा दिया, समुद्र में फेंकवा दिया, आँधी में बाहर छोड़ दिया और पर्वत के नीचे दबवा दिया। परन्तु इनमें से किसी भी उपाय से वह अपने निष्पाप पुत्र प्रह्लाद का कुछ भी बिगाड़ न सका।<sup>१</sup> इस पर हिरण्यकशिपु को बड़ी चिन्ता हुई। उसे प्रह्लाद को मारने के लिये कोई उपाय न सूझा। इधर प्रह्लाद इतना सब होने पर भी अपने पिता के प्रति पूर्ण भक्ति रखते थे। वे उनके दुर्व्यवहार में भी भगवान् की लीला का विलास ही देखते थे अतः दैत्यों के दुर्व्यवहार में भी उन्हें महान् आनन्द आता था किन्तु पुत्र की निर्भीकता और दृढता को देखकर हिरण्यकशिपु चिन्ता के सागर में डूब गया। उसने सोचा—इसकी शक्ति की थाह नहीं है। अवश्य ही इसके विरोध से मेरी मृत्यु होगी। सम्भव है, न भी हो—“नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा” ॥४७॥

महाराज को चिन्तामग्न देखकर कर गुरुपुत्रों ने समझाते हुए कहा—राजन्, आप चिन्ता न करें। आपने अकेले ही त्रिलोकी को अपने वश में कर लिया है फिर इसकी क्या चिन्ता? बालकों के गुण-दोष पर इतना नहीं सोचना चाहिये। मेरे पिता शुक्राचार्य के आने तक इसे वरुण-पाश से बाँध रखिये। जिससे यह कहीं भाग न जाय। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि अवस्था की वृद्धि के साथ-साथ तथा गुरु-जनों की सेवा से बुद्धि सुधर जाया करती है। हिरण्यकशिपु ने गुरुपुत्रों की बात मान ली। प्रह्लाद को उसने उनके पास गृहस्थ-राजधर्म सीखने के लिये भेज दिया। पहले की भाँति प्रह्लाद की शिक्षा चलने लगी किन्तु उसमें उनका मन नहीं रमता था।

एक दिन की घटना है। गुरु जी गृहस्थी के काम से कहीं बाहर चले गये। बालकों को खेलने का अवसर मिल गया। वे प्रह्लाद को भी अपने खेल में सम्मिलित करना चाहते थे। बालकों के प्रेम को देखकर प्रह्लाद ने मुस्कराकर उन्हें अपने पास बुलाया। बालक खेलना छोड़कर बड़े आदर के साथ प्रह्लाद को चारों ओर से घेर कर बैठ गये। प्रह्लाद ने उनके बीच ज्ञान-चर्चा छेड़ दी। वे परम दयालु और कृपालु थे अतः उन बालकों का कल्याण करना चाहते थे फिर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—

तानाह करुणो मैत्रो महाभागवतो<sup>२</sup>ऽसुरः ॥७/५/५७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह पाँचवा अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

●

## छठा अध्याय

### ( प्रह्लादजी का असुर-बालकों को भागवत-धर्म का उपदेश )

प्रह्लाद जी ने कहा—मित्रों, इस संसार में मानव-जन्म बड़ा दुर्लभ है। इसके द्वारा अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पता नहीं यह कब नष्ट हो जाय। इसलिये बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि वह जवानी या बुढ़ापे के भरोसे न रहकर बचपन से ही भगवान् की प्राप्ति करानेवाले धर्मों का अनुष्ठान प्रारम्भ कर दे—

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह। दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्वमर्थदम् ॥७/६/१

इस संसार में भगवान् विष्णु के चरण-कमल की उपासना करना ही मानव-जीवन की सब से बड़ी सफलता है क्योंकि भगवान् समस्त प्राणियों के स्वामी, सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हैं। विषय-सुख की प्राप्ति तो सभी योनियों

१. सीम कि चौपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ॥ —रामचरितमानस

२. प्रह्लाद भगवान् के महान् भक्त थे, महाभागवत थे अतः वे उन निर्दोष, निष्कलुष और स्वच्छहृदय बालकों को भी भगवान् का भक्त बनाना चाहते थे। वे चाहते थे कि इनका भी कल्याण हो जाय।



में समान रूप से होती रहती है अतः इसके लिये प्रयास नहीं करना चाहिये । जैसे बिना प्रयत्न के, निवारण करने पर भी व्यक्ति को दुःख मिलता रहता है, वैसे भाग्यानुसार सांसारिक सुख की भी उपलब्धि अपने आप हो जाती है । इसलिये सांसारिक सुख के उद्देश्य से प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं । इसमें जिन्दगी को खपाना सब से बड़ी मूर्खता है—“तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्” ॥४॥ संसार के विषयों में लीन व्यक्ति भगवान् के कल्याणकारी चरण-कमल का आश्रय नहीं लेता । व्यक्ति की बुद्धिमानी इसी में है कि इस शरीर के विनष्ट होने के पूर्व ही अपने कल्याण की कामना से भगवान् का आश्रय ग्रहण कर ले । मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मान लें तो जो सदा इन्द्रियों के दुलार-प्यार में लगे रहते हैं, उनकी आयु का रातवाला आधा हिस्सा तो यों ही बीत जाता है क्योंकि वे रात में तमोगुणी-अज्ञान से ग्रस्त होकर सोते रहते हैं । बीस वर्ष वृद्धावस्था की अशक्तता के कारण व्यर्थ चले जाते हैं शेष आयु काम-वासना और मोहवश गृहस्थाश्रम में फँस कर विनष्ट हो जाती है । इस प्रकार बची-खुची आयु भी हाथ से खिसक जाती है ।

मित्रों, जो इन्द्रियों का दास है, उसके लिये घर-गृहस्थी, मोह, माया और ममता की मजबूत फाँसी है । उससे अपने आप को छुड़ा लेना उस के वश की बात नहीं है । प्राणों की बाजी लगाकर व्यक्ति जिस धन का संग्रह करता है उस धन की तृष्णा भला कौन त्याग सकता है । जो अपनी प्राणप्यारी पत्नी के एकान्त सहवास की बेला में उसकी सुकोमल बाहु-लताओं में जकड़ा जा चुका है, जो उसकी तिरछी चितवन और लुभावनी वाणी पर न्योछावर हो चुका है, जो भाई-बन्धुओं के स्नेह-पाश में बँध चुका है और जो नन्हें-मुन्ने शिशुओं की तोतली बोली पर लुभा चुका है—भला, वह उन्हें कैसे छोड़ सकता है ?—

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।

सुहृत्सु च स्नेहसितः शिशूनां कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः ॥ ७/६/११

जैसे रेशम का कीड़ा रेशम बनाता है और अन्त में उसी के जाल में कैद हो जाता है, वैसे ही मनुष्य विषय-वासना और जिह्वा-सुख की लालसा में फँस कर अतृप्त रहते हुए, उनका कैसे परित्याग कर सकता है ? संसारी भोगी व्यक्ति परिवार के भरण-पोषण में ही अपनी सारी अमूल्य आयु गवाँ देता है । उसे यह भी नहीं भान होता है कि मेरे जीवन का असली उद्देश्य नष्ट हो रहा है । यह भी कितनी बड़ी विडम्बना है कि व्यक्ति जिस घर-परिवार के कारण दुःखपर दुःख भोगता रहता है, अशान्त और व्यग्र बना रहता है, उससे कभी विरक्त नहीं होता । उसका कभी परित्याग नहीं करता । यह स्थिति अज्ञानियों भर की ही नहीं है, अपितु जो शास्त्र-ज्ञाता हैं, बड़े-बड़े विद्वान् हैं उनकी भी यही दशा है । जो कामिनियों का क्रीडा-मृग है, मनोरञ्जन का साधन है, जिसका पैर सन्तानरूपी वेणी से जकड़ा हुआ है, वह बेचारा है, गरीब है, वह कोई भी हो, कहीं भी हो—किसी प्रकार से अपना उद्धार नहीं कर सकता । इसलिये भाइयों, तुम लोग विषयों में आसक्त दैत्यों का सङ्ग दूर से ही छोड़ दो और आदि देव भगवान् नारायण की शरण ग्रहण करो । वे ही महात्माओं के जीवन्मुक्तों के परम प्रियतम और परम गति हैं—

ततो विदूरात् परिहृत्य दैत्या दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु ।

उपेत नारायणमादिदेवं स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥ ७/६/१८

मित्रों, भगवान् को प्रसन्न करने के लिये बहुत परिश्रम या प्रयत्न नहीं करना पड़ता क्योंकि वे समस्त प्राणियों के भीतर आत्मारूप से विराजमान हैं और सर्वत्र सबकी सत्ता रूप में स्वयंसिद्ध वस्तु हैं, उनके बिना एक पत्ता की भी सत्ता नहीं रह सकती—

न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः । आत्मवत् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥ ७/६/१९



ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सर्वत्र एक ही अविनाशी परमात्मा विराजमान हैं। वे ही अन्तर्यामी द्रष्टा के रूप में हैं और वे ही दृश्य जगत् के रूप में भी हैं। सर्वथा अनिर्वचनीय और विकल्परहित होने पर भी द्रष्टा और दृश्य, व्याप्य और व्यापक के रूप में उनका कथन किया जाता है, निर्वचन किया जाता है। वस्तुतः उनमें एक भी विकल्प नहीं है। इसलिये तुमलोग दैत्यभाव का, आसुरीभाव का परित्याग करके समस्त प्राणियों पर दया करो, प्रेम से उनकी भलाई करो। इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं। प्राणियों पर दया करना भगवान् की प्रसन्नता का सबसे बड़ा कारण है—

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् । आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः ॥७/६/२४

यह निर्मल ज्ञान जो मैंने तुम लोगों को बतलाया है, बड़ा ही दुर्लभ है। इसे नर-नारायण ने सर्वप्रथम नारद को प्रदान किया था। इस ज्ञान के वे ही लोग पात्र हैं, जिनके भाल अकिञ्चन भगवद्भक्तों की चरण-धूलि से मण्डित हैं। इसे मैंने देवर्षि नारद जी के मुख से पहले-पहले सुना था।

प्रह्लाद जी की बात सुनकर उनके साथियों ने पूछा—प्रह्लाद जी इन दोनों गुरु-पुत्रों को छोड़कर और किसी गुरु को न तो तुम जानते हो और न हम। तुम्हारी अभी छोटी अवस्था है। दूसरे तुम अपनी माँ के साथ अन्तःपुर में निवास करते हो, ऐसी स्थिति में तुम्हारा नारद जी से मिलना कुछ असङ्गत-सा प्रतीत होता है अतः विश्वास के योग्य बात बतलाकर हमारे संशय को समाप्त करो ॥६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

## सातवाँ अध्याय

( प्रह्लाद जी द्वारा माता के गर्भ में प्राप्त हुए नारद जी के उपदेश का वर्णन )

नारद ने कहा—युधिष्ठिर, जब दैत्यबालकों ने इस प्रकार प्रश्न किया तब भगवान् के परम प्रेमी भक्त प्रह्लाद जी को मेरी बात का स्मरण हो आया। कुछ मुसकराते हुए उन्होंने उनसे कहा—

एवं दैत्यसुतैः पृष्ठो महाभागवतोऽसुरः । उवाच स्मयमानस्तान् स्मरन् मदनुभाषितम् ॥७/७/१

प्रह्लाद ने कहा—जब मेरे पिता जी तपस्या करने मन्दराचल पर्वत पर चले गये तब वहाँ कठोर तप में निरत उनके शरीर को दीमक चाट गये, यह देखकर देवताओं ने दानवों पर आक्रमण कर दिया। उस समय वे कह रहे थे—जैसे चींटियाँ साँप को चाट जाती हैं, वैसे ही लोको को सतानेवाले पापी हिरण्यकशिपु को उसका पाप ही खा गया। युद्ध-स्थल में देवताओं के अतिशय उत्साह को देखकर दैत्य-गण भाग खड़े हुए। अनुकूल अवसर देख कर देवताओं ने राजप्रासाद पर भी आक्रमण कर दिया। यहाँ तक कि इन्द्र ने राजरानी मेरी माता कयाधु को भी बन्दी बना लिया। उस समय मेरी माता भय से घबड़ा कर कुररी पक्षी की भाँति विलाप कर रही थी। इस पर भी इन्द्र को दया नहीं आई, वे उसे जबर्दस्ती पकड़ कर लिये जा रहे थे, दैववश उसी समय नारद उधर से निकले उन्होंने रोती हुई मेरी माता को देखकर इन्द्र से पूछा—देवराज, तुम यह क्या कर रहे हो ? इस निरपराध पराई स्त्री को कहाँ ले जा रहे हो ? इन्द्र ने कहा—देवर्षे, यह हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु है। इसकी कोख में उसके वीर्य से उत्पन्न गर्भ पल रहा है। साँप का बेटा साँप होता है अतः यह भी बाप की भाँति महाभयङ्कर होगा। कयाधु को बन्दिनी बना कर रक्खूँगा। प्रसव हो जाने पर शिशु का वध कर इसे मुक्त कर दूँगा।



इन्द्र की बात सुनकर नारद जी ने कहा—देवराज, यह निरपराध है। इसे ले जाना उचित नहीं। महाभाग, इस सती-साध्वी परनारी का तिरस्कार मत करो। इसे छोड़ दो, तुरन्त छोड़ दो। इसके गर्भ में भगवान् का महान् भक्त और सेवक, अत्यन्त बली एवं निष्पाप महात्मा है। तुम इसे मार नहीं सकते—

अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान् । त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली ॥

७/७/१०

देवर्षि की बात सुन कर इन्द्र ने मेरी माता को ससम्मान छोड़ दिया और फिर इसके गर्भ में भगवद्भक्त है, इस भाव से उन्होंने मेरी माता की प्रदक्षिणा की तथा अपने लोक में चले गये।

इन्द्र के चले जाने पर नारद जी मेरी माता को अपने आश्रम पर ले गये। उसे सान्त्वना दी और कहा—बेटी, जब तक तुम्हारे पति तपस्या पूरी कर वापस नहीं आ जाते तब तक निर्भय होकर यहीं मेरे आश्रम पर रहो। मेरी माता उनके आश्रम में निर्भय होकर निवास करने लगी। उसने वहाँ तब तक निवास किया जब तक मेरे पिता जी तपस्या पूरी कर वापस नहीं लौट आये। मेरी गर्भवती माता मुझ गर्भस्थ शिशु की मङ्गल-कामना से और इच्छित समय पर (अर्थात् मेरे पिता के लौटने के बाद) सन्तान उत्पन्न करने की कामना से प्रेम और भक्ति के साथ नारद जी की सेवा-शुश्रूषा करती रही। नारद जी ने उसे इच्छा-प्रसव का आशीर्वाद दिया। नारदमुनि ने मुझे ही लक्ष्य करके मेरी माता को ज्ञान और भक्ति का उपदेश दिया। वह काल की अधिकता तथा स्त्री-स्वभाव के कारण मेरी माता को तो विस्मृत हो गया; किन्तु ऋषि की कृपा से मुझे आज भी सब याद है। यदि मेरी बात पर श्रद्धा करो तो वह ज्ञान तुम लोगों को भी प्राप्त हो सकता है। काल ईश्वर की मूर्ति है। जैसे काल की प्रेरणा से वृक्षों में फल लगते, ठहरते, बढ़ते, पकते, क्षीण होते और नष्ट हो जाते हैं,—वैसे ही जन्म, अस्तित्व की अनुभूति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश—ये छः भाव-विकार शरीर में ही देखे जाते हैं। आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा तत्त्व को जाननेवाले पुरुष को चाहिये कि अज्ञान के कारण शरीर में होनेवाले 'अहन्ता' एवं 'ममता' का परित्याग कर दे। इससे बड़ी शान्ति की अनुभूति होती है।

गुरु की प्रेमपूर्वक सेवा, जो कुछ प्राप्त हो जाय उसे भगवान् को समर्पित करना, भगवान् के प्रेमी महात्माओं का सत्सङ्ग, भगवान् की आराधना, उनकी कथा-वार्ता में श्रद्धा, उनके गुण एवं लीलाओं का कीर्तन, उनके चरण-कमलों का ध्यान और उनकी मूर्ति आदि का दर्शन-पूजन आदि साधनों से भगवान् में स्वाभाविक प्रेम हो जाता है। स्वाभाविक प्रेम की इस अवस्था में भक्त के अन्तःकारण के सारे मल धुल जाते हैं, भगवान् के नाम, गुण और लीला के श्रवण से उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और आवेश में आकर वह कभी गाता है, कभी नाचता है और कभी रोता है। इस स्थिति में पहुँचे हुए भक्त का बन्धनभूत अज्ञान और अहङ्कार समूल समाप्त हो जाता है और वह अतिशीघ्र भगवान् को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। भगवान् की प्राप्ति से जीव का संसार-चक्र मिट जाता है। वह (पुनरपि जननं पुनरपि मरणं) के चक्कर से छूट जाता है अतः मित्रों, तुम लोग अपने-अपने हृदय में हृदयेश्वर भगवान् का भजन करो—“ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्” ॥३७॥ असुरकुमारों, हृदय में आकाश के समान विराजमान भगवान् की उपासना में भला कौन-सा प्रयास लगता है ? वे समानरूप से सारे प्राणियों की अपनी आत्मा हैं, सबके अत्यन्त प्रेमी मित्र हैं। उनको छोड़कर भोग-सामग्री के लिये संसार में भटकना कितनी बड़ी अज्ञानता है—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः ।

स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥७/७/३८



भाइयों, धन, स्त्री, पशु, पुत्र, पुत्री, महल, पृथिवी, हाथी, खजाना और भाँति-भाँति की विभूतियाँ—और तो क्या, संसार का सारा धन तथा भोग-सामग्रियाँ इस क्षण-भङ्गुर मानव को भला क्या सुख पहुँचा सकती हैं ? वे जबकि स्वयं भी क्षण-भङ्गुर हैं—

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः ।

सर्वेऽर्थकामा क्षणभङ्गुरायुषः कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः ॥ ७/७/३९

इस लोक की भाँति परलोकों की भी स्थिति है, वे भी क्षण-भङ्गुर हैं । और तो और, सच्ची बात यह है कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिये ब्राह्मण होना, देवता होना, ऋषि होना, सदाचारी होना, विविध ज्ञानों से सम्पन्न होना आवश्यक नहीं है और न तो दान, तप, यज्ञ, शारीरिक तथा मानसिक शौच, बड़े-बड़े व्रतों का अनुष्ठान ही आवश्यक है । भगवान् केवल निष्काम भक्तिमात्र से प्रसन्न हो जाते हैं और तो सब विडम्बना मात्र है—

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः । प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥७/७/५१

भक्ति के सहारे संसार में दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, व्रज के निवासी, खग, मृग और पापी जीव भी भगवद्भाव को प्राप्त हो चुके हैं । इस संसार में मानव-जीवन का यही परमपुरुषार्थ है कि वह भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्य भाव से भक्ति करे और सब अवस्थाओं में उन्हीं का चिन्तन करता रहे—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः । एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ॥

७/७/५५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

## आठवाँ अध्याय

( प्रह्लाद की रक्षा के लिये नृसिंह भगवान् का प्राकट्य और हिरण्यकशिपु का वध )

नारद जी ने कहा—दैत्य-बालकों ने प्रह्लाद की बात सुनी । उन्हें वह बहुत अच्छी और निर्दोष लगी अतः उन लोगों ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया तथा गुरु जी की दूषित शिक्षा की ओर ध्यान ही नहीं दिया—

अथ दैत्यसुताः सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम् । जगृह्वर्निवद्यत्वात्रैव गुर्वनुशीक्षितम् ॥७/८/१

गुरु-पुत्र जब गृहस्थी का कार्य समाप्त कर पाठशाला में वापस आये तो उन्होंने देखा कि सभी असुर-बालक आँख बन्द कर भगवान् का ध्यान कर रहे हैं । बालकों की यह अद्भुत भगवन्निष्ठा देखकर वे घबड़ाये और भागे-भागे हिरण्यकशिपु के पास गये । वहाँ उन्होंने उनसे सारी बातें साफ-साफ बतला दी । आचार्य की बात सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोध के मारे लाल हो गया । उसका सारा शरीर काँपने लगा । उसने मन-ही-मन प्रह्लाद के वध का निश्चय कर लिया—“पुत्रं हन्तुं मनो दधे” ॥३॥ वह दौड़कर पाठशाला पहुँचा । पिता जी को आया देखकर प्रह्लाद उनके सामने हाथ जोड़ कर खड़े हो गये । हिरण्यकशिपु क्रोधभरी, लाल-लाल तिरछी नजर से प्रह्लाद को इस प्रकार देख रहा था, मानो वह उन्हें भस्म कर देगा । उसने प्रह्लाद से कहा—अरे नीच, मन्दबुद्धि, तूने मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर सारे कुल को ही दूषित कर दिया है । तू अधम है । तूने मेरी आज्ञा की धज्जी उड़ाई है, उसका उल्लंघन किया है अतः अब मैं तुझे मारकर यमराज के घर भेज दूँगा—

रे दुर्विनीत मन्दात्मन् कुलभेदकराधम । स्तब्धं मच्छासनोद्धूतं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम् ॥७/८/६



अरे दुष्ट ! मैं जब क्रुद्ध हो जाता हूँ तो लोकपालों के सहित त्रिलोकी कांप उठती है फिर भी मूर्ख, तू किसके बल पर निर्भय होकर मेरी आज्ञा के विरुद्ध कार्य कर रहा है ?

प्रह्लाद ने पिता की बात सुनी फिर बड़ी विनम्रता से कहा—राजन्, ब्रह्मा से लेकर तिनके तक छोटे-बड़े, चर-अचर सब प्राणी भगवान् के ही वश में हैं न केवल मेरे और आप के, बल्कि संसार के सारे बलवानों के बल भी एकमात्र वही है—

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।

परेऽचरेऽभी स्थिरजङ्गमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः ॥ ७/८/८

वे ही महान् पराक्रमी सर्वशक्तिमान् प्रभु काल हैं तथा समस्त प्राणियों के इन्द्रियबल, मनोबल, देहबल, धैर्य, एवं इन्द्रिय भी वही हैं । वे ही अपनी शक्तियों से इस संसार की रचना, रक्षा और संहार करते हैं । वे ही तीनों गुणों के स्वामी हैं । आप अपनी इन असुर भावनाओं का परित्याग कर सब पर समान दृष्टि, समान भाव रखिये फिर देखियेगा कि आपका कोई शत्रु नहीं है । वस्तुतः इस संसार में सबसे बड़ा शत्रु है—वश में न रहनेवाला, कुमार्गगामी, अपना यह मन । मनमें सबके साथ समानता का व्यवहार करना ही भगवान् की सबसे बड़ी पूजा है—

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः ।

ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थितात् तन्धि ह्यनन्तस्य महत् समर्हणम् ॥ ७/८/१०

मूर्ख लोग ही काम, क्रोध आदि डाकुओं को बिना जीते, बिना वश में किये यह मानने लगते हैं कि हमने दशों दिशाओं को जीत कर अपने वश में कर लिया है । हाँ, ज्ञानी समबुद्धि व्यक्ति ही काम-क्रोधादि भीतरी शत्रुओं को जीतकर बाहरी व्यक्तियों को भी व्यवहार से वश में कर लेते हैं । जो सारे जगत् के स्वामी हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और सर्वत्र विद्यमान हैं, उन्हीं का मुझे बल है ।

पुत्र के इस बचन को सुनते ही हिरण्यकशिपु आग बबूला हो उठा । उसने कहा—नीच, लगता हूँ, काल अब तेरे शिर पर नाच रहा है, ताण्डव कर रहा है, क्योंकि अब तुम्हारी बक-झक अधिक बढ़ गई है । अरे मूर्ख, मरणासन्न व्यक्तियों की वाणी इसी प्रकार बेशिर-पैर की, अर्थात् असम्बद्ध, हुआ करती है—

व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि योऽतिमात्रं विकत्थसे । मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन् ननु स्युर्विक्लवा गिरः ॥

७/८/१२

तुम बड़े अभागे हो । सारी दुनियाँ मुझे ईश्वर मानती है और तू मुझसे अतिरिक्त किसी और को ईश्वर बतलाता है । बोल, कहाँ है तेरा वह ईश्वर ?

प्रह्लाद—पिताजी, वह तो सर्वत्र व्याप्त है । संसार की ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ वह न हो ।

हिरण्यकशिपु—क्या वह इस खम्भे में भी है ?

प्रह्लाद—हाँ, वह इस खम्भे में भी है ।

हिरण्यकशिपु—यदि खम्भे में है, तो दिखलाई क्यों नहीं पड़ता ?

प्रह्लाद—पिताजी, खम्भे में परमात्मा दिखलाई पड़ रहे हैं । मैं तो उन्हें देख रहा हूँ । अब यदि आप को नहीं दिखलाई पड़े तो मैं क्या करूँ ?

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः । क्वासी यदि स सर्वत्र स्तम्भे कस्मान्न दृश्यते ॥

७/८/१३

१. अरे पिता तुम बावरे मैं कहाँ बताऊँ राम । तो मैं मो में खड्ग खम्भ में जित देखूँ तित राम ॥ तुलसीदास ॥



बस, बस, तू बहुत बकवास कर चुका। सम्प्रति मैं तेरा शिर धड़ से अलग किये देता हूँ। अब वह हरि आकर तुम्हारी रक्षा करे, जिस पर तुम्हारा इतना भरोसा है। इस प्रकार कहते हुए हिरण्यकशिपु खड्ग लेकर सिंहासन से कूद पड़ा और खम्भे के पास जाकर उस पर जोर से एक घूँसा मारा—

खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्, स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना ॥ ७/८/१५

भक्तराज प्रह्लाद ने प्रभु का स्मरण किया—अगर पुरुषोत्तम भगवान् सर्वेश्वर में हमारी भक्ति है और वेद-शास्त्रों का अखण्ड-अव्याहत प्रामाण्य है तो इस स्तम्भ के भीतर के भगवान् शीघ्र प्रकट हों—

भक्तिश्चेत्पुरुषोत्तमे यदि दृढा वेदाः प्रमाणं यदि।

स्तम्भाभ्यन्तरवृत्तिनो भगवतः स्यात्तूर्णमालोकनम् ॥

उसी समय उस खम्भे से बड़ा भयङ्कर शब्द हुआ। ऐसा जान पड़ा मानो ब्रह्माण्ड ही फट पड़ा हो। वह ध्वनि जब लोकपालों के लोक में पहुँची, तब उसे सुनकर ब्रह्मा आदि को ऐसा प्रतीत हुआ मानो उनके लोकों का ही प्रलय हो रहा हो। समस्त असुर-समूह उस गड़गड़ाहट को सुनकर भयसन्त्रस्त हो उठा। हिरण्यकशिपु उस समय प्रह्लाद को मार डालने के लिये झपट रहा था। जब उसने उस महाध्वनि को सुना तो घबराया हुआ-सा चारों ओर देखने लगा। परन्तु उसे सभा के मध्य कुछ भी दिखलाई न पड़ा।

इसी समय अपने सेवक प्रह्लाद की वाणी सत्य सिद्ध करने के लिये तथा अपनी सार्वत्रिक व्यापकता प्रदर्शित करने के लिये भगवान् अद्भुत रूप धारण कर उस खम्भे से प्रकट हुए। वह रूप न तो पूरा-पूरा सिंह का ही था और न मनुष्य का ही—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।

अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्बहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥ ७/८/१८

क्रोध के मारे उनकी भ्रुकुटि चढ़ी हुई थी। तपाये हुए सोने के समान लाल-लाल उनकी आँखें आग उगल रही थीं। जीभ तलवार की तरह लपलपा रही थी। कान खड़े थे। मुख पहाड़ की गुफा की भाँति भयानक था। विशाल शरीर स्वर्ग का स्पर्श कर रहा था। गर्दन मोटी, छाती चौड़ी और कमरपतली थी। चारों ओर सैकड़ों भुजाएँ फैली हुई थीं। उनमें बड़े-बड़े नख आयुध की तरह प्रतीत हो रहे थे। हिरण्यकशिपु ने इस विकराल आकृति को देखा। देखते ही उसकी घबराहट बढ़ गई। उसने सोचा यह न तो सिंह है और न मनुष्य ही। बड़ा अद्भुत रूप है। हो-न-हो महामायावी विष्णु ने मेरा वध करने के लिये यह रूप धारण किया हो किन्तु यह मेरा बिगाड़ ही क्या सकता है ?—

प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना वधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम् ॥ ७/८/२३

इस प्रकार कहता और सिंहनाद करता हुआ दैत्यराज हिरण्यकशिपु गदा उठा कर नृसिंह पर झपटा। मरने की बेला में फतिगा को दीपक की लौ पर कूदना ही है। उसने अपनी अतिविशाल गदा घुमाई और उसे भगवान् पर दे मारा। प्रहार करते ही लपककर भगवान् ने गदा-सहित दैत्यराज को पकड़ लिया। वे उसके साथ खिलवाड़ करने लगे। मौका पाकर हिरण्यकशिपु उनके हाथ से उसी प्रकार निकल भागा जैसे गरुड के चंगुल से साँप छूट जाय। देवता इसे देख कर भयभीत हो उठे पुनः उसने बाल-तलवार लेकर पैतरा बदलते हुए भगवान् पर आक्रमण किया। उसे सामने आया देखकर भयंकर गर्जना करते हुए नृसिंह ने उसे धर दबोचा और अपनी जाँघों पर लिटा कर नखों से उसका वक्षः स्थल फाड़ डाला।

हिरण्यकशिपु ने मृत्यु से बचने का बहुत इन्तजाम कर रक्खा था—भीतर न मरूँ, बाहर न मरूँ, आकाश में



न मरूँ, धरती पर न मरूँ, अस्त्र से न मरूँ, शस्त्र से न मरूँ, दिन में न मरूँ, रात में न मरूँ.....। भगवान् ने उसे मारने का भी सब इन्तजाम कर रक्खा था—न भीतर न बाहर, देगली पर, न आकाश में, न पृथिवी पर, जंघा पर, न दिन में, न रात में, सन्ध्या में, न अस्त्र से न शस्त्र से, नाखूनों से विदीर्ण कर डाला। उसकी अँतड़ियों को निकाल कर गले में माला की तरह पहन लिया और उसे जमीन पर फेंक दिया। जिस हिरण्यकशिपु से संसार थर-थर काँपता था, वह निर्जीव होकर भूतल पर पड़ा हुआ था। यही है जगत् का खेल। हिरण्यकशिपु के मारे जाने पर जो जो दैत्य लड़ने के लिये सामने आये भगवान् ने उन सबका वध कर डाला। शेष दैत्य युद्ध-भूमि से भाग खड़े हुए। अब कोई लड़नेवाला ही न था। हिरण्यकशिपु को मार डालने पर भी भगवान् का कोप इतना उग्र था कि वह शान्त ही नहीं हो रहा था। उनके सामने जाने की किसी की हिम्मत ही न होती थी। वे उस समय हिरण्यकशिपु के सिंहासन पर जा विराजे<sup>१</sup>। उस समय देवगण आकाश से पुष्प-वृष्टि करने लगे, दुन्दुभियाँ बजने लगीं। ब्रह्मादि देवों ने सुन्दर-सुन्दर पद्मों से क्रमशः भगवान् की स्तुति की फिर भी भगवान् का न तो क्रोध ही शान्त हुआ और न रूप ही सौम्य हुआ ॥८॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

•

## नवाँ अध्याय

( प्रह्लाद जी के द्वारा नृसिंह भगवान् की स्तुति )

नारद जी ने कहा—युधिष्ठिर, ब्रह्मा एवं शङ्कर आदि सभी देवों ने भगवान् नृसिंह की प्रशंसा एवं दैन्यभरी स्तुति की किन्तु उनका अपार क्रोध शान्त नहीं हुआ। उनकी भयानक आकृति को देखकर किसी की हिम्मत उनके पास जाने की नहीं हुई। देवों ने लक्ष्मी जी से प्रार्थना की—माता जी, आप भगवान् की अर्द्धाङ्गिनी हैं। वे इस समय भयङ्कर क्रोध में हैं। आप ही उन्हें मना सकती हैं, शान्त कर सकती हैं। देवों की प्रार्थना पर लक्ष्मी जी भगवान् की ओर बढ़ी तो अवश्य किन्तु उनके अद्भुत रूप को देखकर आशङ्कवश वे भी उनके पास न जा सकीं। उन्होंने भगवान् का ऐसा रूप न तो कभी देखा था और न सुना ही था। एक क्षण के लिये मान लीजिये, यदि लक्ष्मी जी को देखकर भगवान् के मन में प्रेम उमड़ आया और उन्होंने उन्हें छाती से लगाकर प्यार करना शुरू कर दिया तो लक्ष्मी जी का शरीर रक्तञ्जित हो उठेगा अतः डरके मारे वे अपने पति के पास नहीं गईं फिर ब्रह्मा जी ने प्रह्लाद से कहा—बेटा, तुम जाओ। भगवान् के क्रोध को शान्त करो।

सिंह से दुनियाँ डरे पर उसका बच्चा कहाँ डरता है ? सिंह का बच्चा सिंह से नहीं डरता, निर्भय होता है। बड़ी निर्भीकता के साथ भक्तराज प्रह्लाद गये। भगवान् के चरणों पर मस्तक रख दिया। भगवान् ने उन्हें उठाकर

१. हृदय—भगवान् के हिरण्यकशिपु के सिंहासन पर विराजमान होने का रहस्य यह है—अब तक उस सिंहासन पर भगवान् से द्वेष करनेवाला हिरण्यकशिपु बैठा था। उसके संस्कारों से वह दूषित हो चुका था, वासित हो चुका था। सिंहासन का उत्तराधिकारी प्रह्लाद था। वह उस पर बैठेगा तो उसके दूषित संस्कार प्रह्लाद पर भी प्रभाव डाल सकते हैं अतः भगवान् उस पर बैठे। उसे अपनी उपस्थिति से, शुभ संस्कारों से, संस्कृत किया फिर उसे प्रसाद बनाकर प्रह्लाद को प्रदान कर दिया, उस पर बैठा दिया।



छाती से लगा लिया और बड़ा प्यार किया वैसे ही जैसे एक गैया मैया अपने बछड़े को शिर से पैर तक चाट कर अपना प्यार अभिव्यक्त करती है। प्यार करके खाली होने पर भगवान् ने कहा—

**क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत् क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते ।**

**आलोचितो हि विषयोऽयमभूतपूर्वः क्षन्तव्यमङ्ग ! यदि मे समये विलम्बः ।।**

अर्थात् कहीं यह तुम्हारा कोमल-कान्त-कमनीय सुन्दर पाँचवर्षीय मङ्गलमय शरीर और कहीं प्रमत्त दैत्य के द्वारा दी गई (भीषण) यातनाएँ। यह अभूतपूर्व विषमता इसके पहले कभी भी देखने में नहीं आई। वत्स, तुम्हारे बुलाने पर मैंने जल्दी-से-जल्दी आने का प्रयत्न किया पर यदि कुछ विलम्ब हुआ हो तो क्षमा कर देना मेरे लाल।

भगवान् के करकमलों का स्पर्श होते ही उनके बचे-खुचे अशुभ संस्कार भी समाप्त हो गये। उस समय उनका सारा शरीर रोमांचित हो उठा, हृदय में प्रेम की धारा उमड़ पड़ी और नेत्रों से आनन्दाश्रु झरने लगे। किसी-किसी तरह उन्होंने अपने को संभाल कर स्तुति प्रारम्भ की—

परम सात्त्विक ब्रह्मा आदि देवता, मुनि-गण और बड़े-बड़े सिद्ध अनेक प्रकार के स्तोत्रों तथा विविध-विविध गुणों से जिनको प्रसन्न न कर सके, उन भगवान् हरि को भला असुरजाति में उत्पन्न मैं कैसे सन्तुष्ट कर सकता हूँ ?

**ब्रह्मादयः सुरगणा मनुयोऽथ सिद्धाः सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः ।**

**नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ।। ७/९/८**

मैं समझता हूँ कि धन, उत्तम कुल, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग—ये सारे गुण परम पुरुष आप को सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं हैं। वस्तुतः आप तो एकमात्र भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। इसका उदाहरण है—गजेन्द्र। व्याध, ध्रुव और कुब्जा आदि भी इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं—“भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय” ॥९॥

आप प्रभो, उपर्युक्त इन बारह गुणों से अलङ्कृत ब्राह्मण भी यदि कमलनाभ के चरण-कमलों की भक्ति से विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, उत्तम है, जिसने अपना मन, धन, प्राण, वचन और कर्म सब कुछ भगवान् के चरणों में समर्पित कर रखा है। भगवान् का प्यारा भक्त चाण्डाल तो अपने सारे कुल को, कुल के सारे प्राणियों को पवित्र कर देता है, तार देता है किन्तु अपने बड़प्पन का अभिमान रखनेवाला ब्राह्मण अपने को भी पवित्र नहीं कर सकता, कुल की बात तो बहुत दूर रही—

**विप्राद् द्विषद्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।**

**मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ।। ७/९/१०**

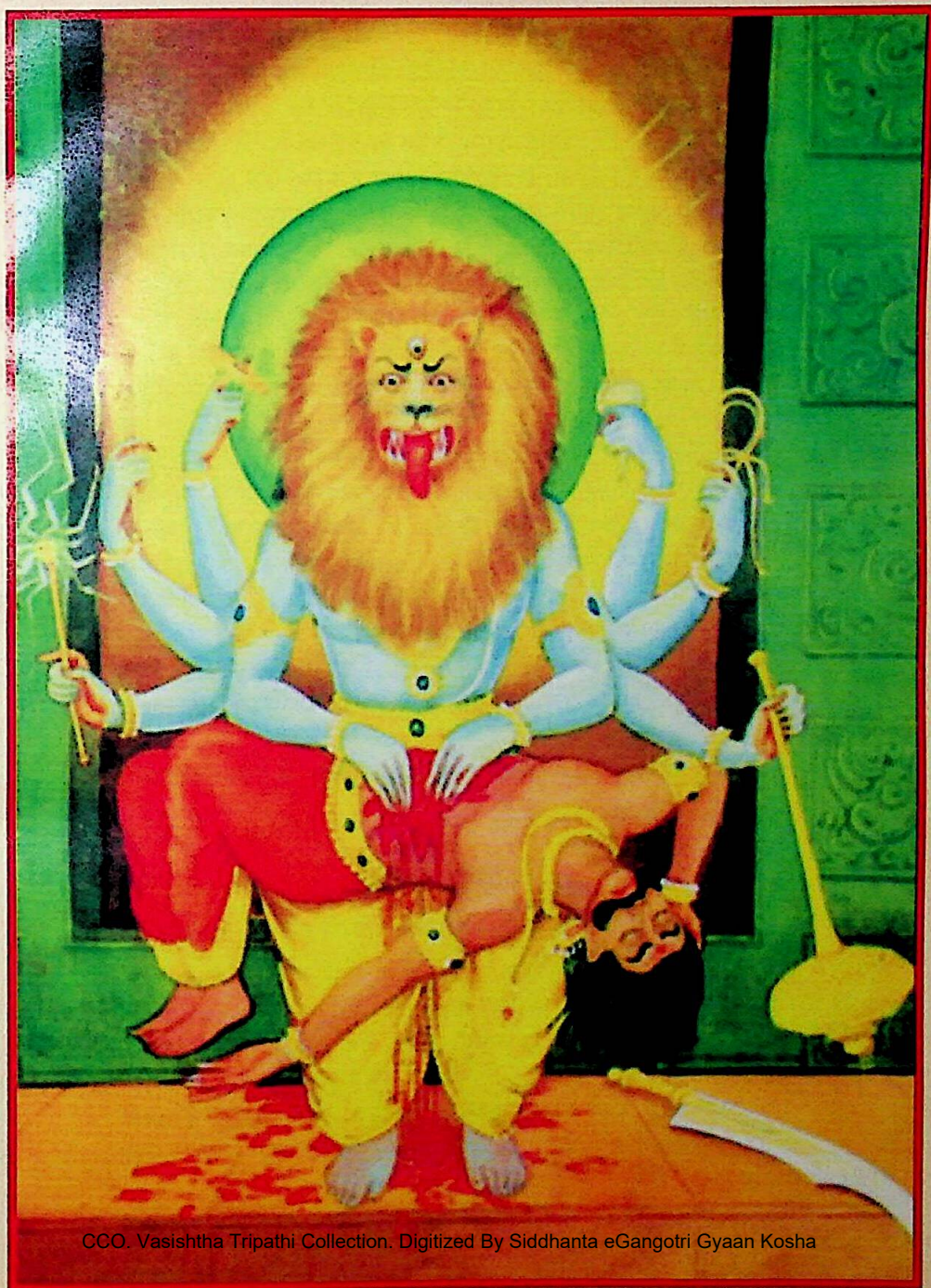
सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने स्वरूप के साक्षात्कार से ही परिपूर्ण हैं। उन्हें अपने लिये क्षुद्र पुरुषों से पूजा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। वे करुणावश ही भोले-भाले भक्तों के हित के लिये उनके द्वारा की गई पूजा स्वीकार कर लेते हैं जैसे अपने मुख का सौन्दर्य दर्पण में दीखनेवाले प्रतिबिम्ब को भी सुन्दर बना देता है, बिम्ब की सजावट प्रतिबिम्ब को सजा देती है, वैसे ही भक्त भगवान् के प्रति जो-जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसे ही प्राप्त होता है। बैंक के मैनेजर के पास जमा किया गया पैसा ब्याज के सहित जमाकर्ता को ही प्राप्त होता है। ऐसे ही भगवान् को समर्पित वस्तु समर्पणकर्ता को ही प्राप्त होती है—

**नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णां मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।**

**यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ।। ७/९/११**

इसलिये सर्वथा अयोग्य और अनधिकारी होने पर भी मैं बिना किसी शंका के अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् की महिमा का वर्णन कर रहा हूँ। इस महिमा के गान का फल यह है कि अविद्या के कारण संसार-चक्र में पड़ा हुआ











जीव तत्काल पवित्र हो जाता है। अच्युत, मैं अपनी दशा का क्या वर्णन करूँ ? यह कभी तृप्त न होनेवाली जीभ मुझे स्वादिष्ट रसों की ओर खींचती रहती है। जननेन्द्रिय स्त्री-सम्भोग की ओर, त्वचा सुकोमल स्पर्श की ओर, पेट स्वादिष्ट भोजन की ओर, कान मधुर संगीत की ओर, नासिका भीनी-भीनी सुगन्ध की ओर और ये चञ्चल नेत्र सौन्दर्य की ओर मुझे खींचते रहते हैं। इसके अतिरिक्त कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों की ओर ले जाने को जोर लगाती ही रहती हैं। नाथ, क्या कहूँ ? मेरी तो वह दशा हो रही है, जैसे किसी पुरुष की बहुत-सी पत्नियाँ उसे अपने-अपने शयन-कक्ष में ले जाने के लिये चारों ओर से पकड़कर खींच रही हों, घसीट रही हों—

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।

घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्व्य सपत्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ ७/९/४०

परम पूज्य, आपकी सेवा के छः अङ्ग हैं—नमस्कार, स्तुति, समस्त कर्मों का समर्पण, सेवा-पूजा, चरण-कमलों का चिन्तन और लीला-कथा का श्रवण। इस षडङ्ग-सेवा के बिना आपके चरण-कमलों की भक्ति नहीं प्राप्त होती और भक्ति के बिना आप की प्राप्ति भी नहीं होती। प्रभो, प्राणियों को आप अपनी दास्य-भक्ति प्रदान करें—यही मेरी प्रार्थना है। मैं सबके उद्धार के बाद ही अपना उद्धार चाहता हूँ। स्वामिन् आपके चरणों में मेरा बार-बार विनम्र प्रणाम है।

इस प्रकार भगवान् की भावभरी स्तुति कर प्रह्लाद शान्त हो गये। स्तुति से भगवान् प्रसन्न हो उठे। उनका क्रोध समाप्त हो गया। उन्होंने कहा—वत्स प्रह्लाद, तुम्हारा कल्याण हो। दैत्यशिरोमणे, मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, तुम्हारी जो अभिलाषा हो वह मुझसे मांग लो। मैं भक्तों की इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला हूँ। बेटा, मेरी प्रसन्नता के बिना मेरा दर्शन नहीं होता और मेरा दर्शन हो जाने पर प्राणी के सारे सन्ताप विनष्ट हो जाते हैं इसीलिये कल्याण-कामी साधु-जन मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं।

असुरकुल-भूषण प्रह्लाद जी भगवान् के अनन्य प्रेमी भक्त थे इसलिये बड़े-बड़े लोगों को लुभानेवाले प्रलोभनों का प्रस्ताव भगवान् के द्वारा उनके सामने रखने पर भी उन्होंने उनकी इच्छा नहीं की।

एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः । एकान्तित्वाद् भगवति नैच्छद् तानसुरोत्तमः ॥

७/९/५५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

## दसवाँ अध्याय

( प्रह्लाद जी का राज्याभिषेक और त्रिपुर-दहन की कथा )

नारद ने कहा—युधिष्ठिर, प्रह्लाद जी ने बालक होने पर यही समझा कि वर माँगना प्रेम-भक्ति में विघ्न है इसलिये कुछ मुस्कराते हुए उन्होंने भगवान् से कहा—नाथ, विश्व का कल्याण हो, दुष्टों की बुद्धि शुद्ध हो, सब प्राणियों में परस्पर सद्भावना हो, सभी एक दूसरे का हित चिन्तन करें, हमारा मन शुभ मार्ग में प्रवृत्त हो और हम सब की बुद्धि निष्काम भाव से भगवान् श्रीहरि में प्रवेश करें—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।

मनश्च भद्रं भजतादयोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥

भागवत ५/१८/९



हे नाथ, दुर्जन प्राणी सज्जन बन जाँय । दुर्जन की दुर्जनता समाप्त हो जाय । सज्जन प्राणी शान्ति लाभ करें । शान्त प्राणी बन्धनों से मुक्त हो जाँय । विमुक्त प्राणी दूसरों की मुक्ति के काम में लग जाँय—

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् । शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यः मुक्तस्त्वन्यान् विमोचयेत् ॥

भगवान् ने कहा—बेटा प्रह्लाद, यह तो तुम संसार के कल्याण की बात कर रहे हो । तुम्हारे जैसा भक्त सब के कल्याण की कामना करे— यह तो उचित ही है किन्तु तुम मुझसे कुछ अपने लिये तो माँग लो । बोलो, तुम्हें क्या-क्या दे दूँ ? इस पर प्रह्लाद ने कहा—प्रभो, आप मुझे वरों के प्रलोभन में न डालें । स्वामिन्, हम क्या माँगे, हमारा आप का कोई सौदा है ? सौदागिरी की बात थोड़े ही है, हम माँगे तो क्या माँगे ? आप से जो सेवक अपनी कामनाएँ पूर्ण कराना चाहता है, वह सेवक नहीं; वह तो लेन-देन करनेवाला निरा बनिया है—

यस्ते आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥७/१०/४

नाथ, मैं आपका निष्काम सेवक हूँ । आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं । जैसे राजा और उसके सेवकों में प्रयोजनवश स्वामी-सेवक सम्बन्ध होता है, वैसा तो मेरा और आपका सम्बन्ध है नहीं—

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः । नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥७/१०/६

फिर भी मेरे वरदान शिरोमणि स्वामी, यदि आप मुझे मुँह माँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदय में कभी किसी कामना का बीज अङ्कुरित न हो, कोई कामना पैदा ही न हो—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्शभ । कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥७/१०/७

मेरे मालिक कमलनयन, जिस समय मनुष्य अपने मन में रहनेवाली कामनाओं का परित्याग कर देता है, उसी समय वह भगवत्स्वरूप हो जाता है अतः प्रभो, मैं आप को बार-बार प्रणाम कर रहा हूँ ।

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान् । तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्वाय कल्पते ॥७/१०/९

प्रह्लाद जी का राज्याभिषेक और त्रिपुर-दहन की कथा— प्रह्लाद की बात को सुनकर नृसिंह भगवान् ने कहा—प्रह्लाद, तुम्हारे जैसे मेरे एकान्तप्रेमी भक्त इस लोक अथवा परलोक की किसी भी वस्तु के लिये कभी कोई कामना नहीं करते फिर भी अधिक नहीं, केवल एक मन्वन्तर तक मेरी प्रसन्नता के लिये तुम इस लोक में दैत्याधिपतियों के समस्त भोग स्वीकार कर लो । तुम अपने हृदय में मेरा ध्यान करते रहना तथा मेरी लीलाकथाओं का श्रवण करते हुए अपने समस्त कर्मों से मेरी आराधना करना । इस प्रकार तुम्हारे सारे प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जायेंगे । भोग के द्वारा पुण्य-कर्मों के फल और निष्काम पुण्य-कर्मों के द्वारा पाप का नाश करते हुए समय पर शरीर त्याग करके समस्त बन्धनों से मुक्त होकर तुम मेरे पास आ जाओगे । देवता लोग भी तुम्हारी विशुद्ध कीर्ति का गान करेंगे । तुम्हारे चरित का श्रवण-कर्ता भी कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जायेगा ।

बालक के न चाहने पर भी माता उसे पकड़ कर उसका साजशृङ्गार करती है । बालक को सजा हुआ देखकर माता के हृदय में प्रसन्नता होती है । इसी तरह भगवान् भी प्रह्लाद को राजसिंहासन पर बैठाकर प्रसन्न होना चाहते हैं ।

प्रह्लाद ने कहा—प्रभो, मैं आप से एक और वर माँगता हूँ । मेरे पिता जी ने आप की बड़ी निन्दा की है, आपको बहुत दुर्वचन कहा है तथा मेरे ऊपर भी जो नाना प्रकार के अत्याचार किये हैं इन सब पापों से वे मुक्त हो जाँय । यद्यपि आप की दृष्टि पड़ते ही वे पवित्र हो चुके हैं फिर भी मैं आप से यह प्रार्थना कर रहा हूँ ।

नृसिंह भगवान् ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद, तुम्हारे पिता स्वयं पवित्र होकर तर गये । इसकी तो बात ही क्या है, यदि उनकी इक्कीस पीढ़ियों के पितर होते तो उन सबके साथ भी वे तर जाते; क्योंकि तुम्हारे जैसा कुल को पवित्र करनेवाला पुत्र उनको प्राप्त हुआ है—

त्रिसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ । यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान् वै कुलपावनः ॥

७/१०/१८



यह तुम्हारी ही महिमा है कि मैंने तुम्हारे पिता के साथ घण्टों युद्धक्रीडा की। उन्हें अपनी गोद में लिटाया, आँखें मिलाई और बिदा कर दिया इस घोर संसार से अतः तुम उनकी सद्गति के विषय में चिन्ता मत करो। जहाँ-जहाँ मेरे समदर्शी भक्त निवास करते हैं, वे चाहे कीकट जैसे निकृष्ट देश ही क्यों न हों, पवित्र हो जाते हैं। यद्यपि मेरे अङ्गों के स्पर्श से तुम्हारे पिता पूर्णरूप से पवित्र हो गये हैं, तथापि तुम उनकी अन्त्येष्टि क्रिया करो। तुम्हारे जैसे सन्तान के कारण उन्हें उत्तम लोकों की प्राप्ति होगी। वत्स, तुम सम्प्रति अपने पिता के पद पर प्रतिष्ठित हो जाओ और वेद-मार्ग में स्थित होकर प्रजा की रक्षा करो।

नारद जी ने कहा—राजन्, प्रह्लाद ने भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने पिता की अन्त्येष्टि-क्रिया की। इसके बाद श्रेष्ठ ब्राह्मणों के आचार्यत्व में उनका राज्याभिषेक हुआ। इसी समय ब्रह्मा आदि देवों ने भगवान् नृसिंह को प्रसन्न जान कर उनकी स्तुति की। प्रसन्न हुए भगवान् ने ब्रह्मा जी से कहा—ब्रह्मा जी, आप दैत्यों को ऐसा वर न दिया करें। क्रूर स्वभाववाले प्राणियों को वर देना साँपों को दूध पिलाने के समान है। इससे स्वयं संकट का सामना करना पड़ता है।

इस प्रकार सबको आश्वासन देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। समस्त ऋषि-मुनियों के साथ ब्रह्मा जी ने प्रह्लाद जी को समस्त दानवों और दैत्यों का अधिपति बना दिया। प्रह्लाद ने सबका यथायोग्य सम्मान किया, फिर सभी देवता अपने-अपने लोकों को चले गये।

श्रीनारद जी ने कहा—राजन्, इस प्रकार भगवान् के दोनों पार्षद जय-विजय दिति के पुत्र दैत्य हो गये थे। वे ही फिर रावण और कुम्भकर्ण बनें, राम ने इनका वध किया था। पुनः इस युग में वे ही शिशुपाल तथा दन्तवक्त्र बनें। भगवान् के साथ वैर-भाव के कारण तुम्हारे सामने ही वे उनमें समा गये। राजन्, तुमने पूछा था कि दानवों का लय भगवान् में कैसे हुआ? उसका कारण मैंने बतला दिया। इस प्रकार के पार्षद जय-विजय तीन जन्मों में शाप से मुक्त होकर पुनः भगवान् के धाम में चले गये।

भगवान् के पराक्रम से पूर्ण इस पवित्र आख्यान को जो कोई पुरुष श्रद्धा से कीर्तन करता है और सुनता है, वह कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। नारद जी ने कहा—युधिष्ठिर, इस मनुष्य लोक में तुमलोग बड़े भाग्यशाली हो; क्योंकि तुम्हारे घर में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मानव का रूप धारण करके गुप्तरूप से निवास करते हैं। यही कारण है कि सारे संसार को पवित्र बना देनेवाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करने के लिये चारों ओर से तुम्हारे पास आया करते हैं—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।

येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥७/१०/४८

॥ प्रह्लाद की कथा समाप्त ॥

गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रह्लाद-चरित का निचोड़ निम्नलिखित एक पद्य में किया है—

काढ़ि कृपान, कृपा, न कहूँ पितु काल कराल विलोकि न भागे।

‘राम कहा?’ ‘सब ठाढ़े हैं’ ‘खम्भ में?’ ‘हाँ’ सुनि हाँक नृकेहरि जागे।

बैरि विदारि भए विकराल, कहे प्रह्लादहि के अनुरागे।

प्रीति प्रतीति बढ़ी ‘तुलसी’ तब से सब पाहन पूजन लागे॥

कवितावली १२८



प्रह्लाद की प्रशंसा में उन्होंने लिखा—

सेवक एक ते एक अनेक भए तुलसी तिहु ताप न डाढ़े ।  
प्रेम बढौ प्रह्लादहिं को जिन पाहन ते परमेश्वर काढ़े ॥

कवितावली १२७

॥ प्रह्लाद का प्रसङ्ग समाप्त ॥

युधिष्ठिर ने पूछा—मुनिवर, हमारे यहाँ कहाँ है वह परब्रह्म ?

नारद जी ने कृष्ण की ओर इशारा करके कहा—वह परब्रह्म यह हैं । बड़े-बड़े महापुरुष निरन्तर इनको ढूँढ़ते रहते हैं । माया इनके पास फटकती नहीं । यह परमशान्त तथा परमानन्दस्वरूप के अनुभव से परिपूर्ण हैं । इन्हीं परमात्मा को आप लोग अपना प्रिय, हितैषी, ममेरा भाई, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा समझते हैं ।

पूर्वकाल में महामायावी असुर मय ने जब भगवान् शङ्कर की पवित्र कीर्ति को धूमिल करना चाहा था, तब इन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण ने फिर से उनके यश की रक्षा की थी और उसका विस्तार किया था । युधिष्ठिर ने नारद जी से कहा—भगवन् आप कृपा कर यह प्रसङ्ग भी मुझे सुनावें ।

नारद जी ने कहा—राजन्, बात अतिप्राचीन है । एक समय देवताओं ने असुरों को पराजित कर दिया । पराजित दैत्य मायावियों के परमाचार्य मय की शरण में गये । मय ने सुवर्ण, चाँदी और लोहे का तीन पुर (विमान) बनाकर उन्हें प्रदान किया । तीनों पुर युद्ध की सामग्री से भरे हुए थे । ये इतने विलक्षण थे कि इनका आना-जाना जान नहीं पड़ता था । असुरों के सेनापति उन्हीं में बैठ कर त्रिलोकी के संहार में संलग्न हो गये । सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई । देवता अशरण-शरण शङ्कर की शरण में गये । त्रिपुर के अत्याचार की बात भगवान् शङ्कर से कह कर अपनी रक्षा की गुहार की । शङ्कर जी तो ठहरे करुणा के सागर । उन्होंने कहा देवों, डरो मत । फिर उन्होंने अपने धनुष पर बाण चढ़ा कर तीनों पुरो पर छोड़ दिया । उस एक बाण से असंख्य अग्नि-बाण निकले । जिनकी लपटों के चपेट में आकर असुर-निष्ठाण होकर विमान से पके आम की भाँति टपक कर भूतल पर गिर पड़े । मय तमाम माया के विधानों में माहिर था । उसने मरे हुए दैत्यों को अपने द्वारा निर्मित अमृत के कुण्ड में डाल दिया । फलतः सभी असुर जीवित हो उठे और उनमें बल का सञ्चार भी द्विगुणित हो गया ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने जब देखा कि शङ्कर का पुरुषार्थ निष्फल हो गया और इसी कारण वे उदास हो गये हैं, तब उन्होंने एक युक्ति निकाली । ब्रह्मा को बछड़ा बनाया और स्वयं बन गये एक परम मनोहर गाय । गाय ने बछड़े के साथ जाकर सारा वापी का अमृत पी लिया, असुर देखते ही रह गये । वे गाय के सौन्दर्य पर इतने मोहित हो गये थे कि उसे रोक नहीं सके । अमृत समाप्त हो जाने पर असुरों ने इसकी सूचना मय को दी । मय ने इसे विधि का विधान बतलाकर असुरों को शोक न करने की सलाह दी इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी शक्तियों के द्वारा भगवान् शङ्कर के युद्ध की सामग्री तैयार की फिर धनुष बाण आदि लेकर युद्ध के लिये शङ्कर रथारूढ हुए । उस समय मध्याह्न की बेला थी । अभिजित् मुहूर्त चल रहा था । भगवान् शंकर ने अनुकूल समय जान कर बाण छोड़ दिया । पल भर में उन्होंने उन दुर्मेधविमानों को भस्म कर दिया यह देखकर त्रिलोकी प्रसन्नता से भर उठी । आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी । देवता दुन्दुभियाँ बजाने लगे । सर्वत्र प्रसन्नता की लहर दौड़ गई । शङ्कर को सभी 'त्रिपुरारि' कहकर उनकी स्तुति करने लगे । राजन्, भगवान् विष्णु के ऐसे असंख्य मङ्गलमय चरित्र हैं । अब बतलाइये आगे क्या सुनना चाहते हैं ?

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

॥ प्रह्लाद-चरित समाप्त ॥



## ग्यारहवाँ अध्याय

( मानव धर्म, वर्ण-धर्म और स्त्री धर्म का निरूपण )

श्री शुक्रदेवजी ने कहा—राजन्, भगवान् के परम भक्त प्रह्लाद जी के साधु-समाज में सम्मानित पवित्र चरित्र सुनकर महाराज युधिष्ठिर को महान् आनन्द की प्रतीति हुई। उन्होंने नारद जी से और भी पूछा—भगवन् अब मैं वर्ण और आश्रमों के सदाचार के साथ मनुष्यों के सनातन धर्म का श्रवण करना चाहता हूँ, क्योंकि धर्म से ही मनुष्य का ज्ञान, भगवान् की भक्ति और साक्षात् परम पुरुष नारायण की प्राप्ति होती है—

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम् । वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम् ॥७/११/२

भगवन्, आप प्रजापति ब्रह्मा के साक्षात् पुत्र हैं। आप तप, योग और समाधि के कारण उनके सभी पुत्रों में आदरणीय हैं। आप के समान नारायण-परायण, दयालु, सदाचारी और शान्त रहनेवाले ब्राह्मण ही धर्म के परम मर्म को यथार्थरूप से जानते हैं। सामान्य लोगों के लिये यह सम्भव नहीं है—

नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः । करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथापरे ॥७/११/४

नारद जी ने कहा—युधिष्ठिर जी, भगवान् का जन्म मनुष्यों की तरह नहीं हुआ करता। अजन्मा भगवान् ही समस्त धर्मों के मूल कारण हैं। वही प्रभु धर्म की पत्नी मूर्ति की कोख से जन्म लेकर नर-नारायण के रूप से जगत् के कल्याणार्थ बदरिकाश्रम में तपस्या करते हैं, वे मेरे गुरु हैं। मैंने धर्म के रहस्य को उन्हीं के मुख से सुना है अतः मैं उन्हें प्रणाम करके आप से सनातन धर्म का वर्णन कर रहा हूँ। राजन्, धर्म के तीन मूल हैं—सर्ववेदस्वरूप भगवान् श्रीहरि, भगवान् के तत्त्ववेत्ता ऋषियों की स्मृतियाँ और निर्मल मन की तुष्टि—

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः । स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति ॥७/११/७

युधिष्ठिर, शास्त्रों में धर्म के तीस लक्षण बतलाये गये हैं—१. सत्य, २. दया, ३. तपस्या, ४. शौच, ५. तितिक्षा, ६. उचित-अनुचित का विचार, ७. मन का संयम, ८. इन्द्रियों का संयम, ९. अहिंसा, १०. ब्रह्मचर्य, ११. दान, १२. स्वाध्याय, १३. सरलता, १४. सन्तोष, १५. सज्जन-सेवा, १६. सकाम कर्म से निवृत्ति, १७. निषिद्ध कर्मों का परित्याग, १८. मौन, १९. आत्मविचार, २०. प्राणियों को अन्नदान तथा २१. उनमें भगवान् के स्वरूप की भावना। इसके अतिरिक्त नवधा भक्ति को सम्मिलित कर ये तीस लक्षण धर्म के हैं। मनुष्यमात्र को इनका पालन करना चाहिये। इनके पालन से परमात्मा प्रसन्न होते हैं—“सर्वात्मा येन तुष्यति” ॥१२॥

धर्मराज, जिनमें गर्भाधान आदि संस्कार अविच्छिन्न परम्परा से होते चले गये हैं, उनको द्विज और जो इनसे रहित हैं; उन्हें शूद्र कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन्हीं तीन को द्विज कहा जाता है—(द्वाभ्यां जन्म-यज्ञोपवीतसंस्काराभ्यां जायत इति द्विजः)। जन्म और यज्ञोपवीतसंस्कार से जिनका दो बार जन्म होता है वे द्विज हैं। वर्ण चार होते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

ब्राह्मण के कर्म—यज्ञ करना, यज्ञ कराना, अध्ययन, अध्यापन, दान देना और दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं। अध्यापन, याजन (यज्ञ कराना) और प्रतिग्रह (दान लेना) ये तीन कर्म ब्राह्मण की जीविका के साधन हैं।

क्षत्रिय के कर्म—उक्त छः कर्मों में से प्रतिग्रह को छोड़कर बाकी पाँच कर्म क्षत्रिय के कहे गये हैं। अध्यापन और याजन—ये दो क्षत्रिय के आपत्कालीन कर्म माने गये हैं। प्रजा की रक्षा करनेवाले क्षत्रिय का जीवन-निर्वाह ब्राह्मण के अतिरिक्त और सबसे यथा योग्य कर तथा दण्ड (जुर्माना) आदि के द्वारा होता है।



वैश्य के कर्म—वैश्य को ब्राह्मण-वंश का अनुयायी होना चाहिये। गोरक्षा, कृषि एवं व्यापार के द्वारा वैश्य को अपनी जीविका चलानी चाहिये।

शूद्र के कर्म—तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का धर्म है। उसकी जीविका का निर्वाह उसका स्वामी करता है।

ऊपर बतलाई गई वृत्तियों के अतिरिक्त ब्राह्मण की चार प्रकार की और वृत्तियाँ स्वीकार की गई हैं—वार्ता (कृषि आदि), शालीन (बिना मांगे जो कुछ मिल जाय, उसी से निर्वाह करना), यायावर (नित्यप्रति धान्य आदि मांग लाना) और शिलोञ्छ<sup>१</sup>। इन वृत्तियों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ मानी गई हैं। इस प्रकार 'शिलोञ्छ' वृत्ति सबसे श्रेष्ठ मानी गई है।

निम्नवर्ण का पुरुष बिना आपत्तिकाल के उत्तम वर्ण की वृत्तियों का आश्रय न ले। आपत्ति-काल में सभी सब वृत्तियों को स्वीकार कर सकते हैं—

जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः । ..... आपत्सु सर्वेषामपि सर्वशः ॥७/११/१७

ऋत, अमृत, प्रमृत और सत्यानृत—इनमें से किसी भी वृत्ति का आश्रय द्विज ले सकता है, किन्तु श्वानवृत्ति का आश्रय ब्राह्मण और क्षत्रिय को कभी नहीं लेना चाहिये। शिलोञ्छ वृत्ति 'ऋत', शालीन 'अमृत', यायावरवृत्ति का 'मृत', वार्तावृत्ति की 'प्रमृत', वार्ता (वाणिज्य) सत्यानृत और निम्न वर्ण की सेवा 'श्वान वृत्ति' है।

चारों वर्णों के लक्षण—शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवत्परयणता और सत्य—ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। युद्ध में उत्साह, वीरता, धीरता, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा, ब्राह्मण-भक्ति, अनुग्रह और प्रजा की रक्षा करना—ये क्षत्रियों के लक्षण हैं। देवता, गुरु, और भगवान् के प्रति भक्ति, अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों पुरुषार्थों की रक्षा करना; आस्तिकता, उद्योगशीलता और व्यावहारिक निपुणता—ये वैश्य के लक्षण हैं। उच्च वर्णों के सामने विनम्र रहना, पवित्रता, स्वामी की निष्कपट सेवा, वैदिकमन्त्रों से रहित यज्ञ, चोरी न करना, सत्य तथा गौ ब्राह्मणों की रक्षा करना—ये शूद्र के लक्षण हैं।

स्त्री-धर्म—पति की सेवा करना, पति के अनुकूल रहना, पति के सम्बन्धियों को प्रसन्न रखना और सर्वदा पति के नियमों का पालन करना—ये चार, पति को ही ईश्वर माननेवाली, पतिव्रता स्त्रियों के लक्षण एवं धर्म हैं—

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता । तद्वन्धुस्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥७/११/२५

साध्वी स्त्री को चाहिये कि वह झाड़-बुहार कर, लीप-पोत कर तथा चौक पूर कर घर को स्वच्छ रखे तथा वस्त्राभूषणों से अपने को अलङ्कृत रखे, गृहस्थी की सामग्रियों को भी साफ-सुथरी रखना उसका कर्तव्य है। सास-ससुर की सेवा, अन्य पुरुषों से हँस-हँस कर बात न करना, पति की आज्ञा से ही धार्मिक कृत्य एवं तीर्थ-यात्रा आदि करना और किसी साधु-संन्यासी के समीप न जाना आदि नियम उसके लिये आवश्यक हैं।

पतिव्रता स्त्री को चाहिये कि वह यथालाभ सन्तोष रखे, लालच से दूर रहे, सत्य प्रिय और मधुर भाषण करे, पातिव्रत्य रखे और प्रेम पूर्वक पतिदेव के साथ सहवास करे, सम्भोग की बेला में उन्हें पूर्ण-सन्तुष्ट रखे। जो लक्ष्मी के समान पतिपरायण होकर अपने पति को भगवान् समझकर सेवा करती है वह वैकुण्ठ में पति के साथ लक्ष्मी के समान आनन्द पूर्वक निवास करती है—

या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा । हर्यात्मना हरेर्लोकं पत्या श्रीरिव मोदते ॥७/११/२९

१. किसान के द्वारा खेत में फसल काटकर अन्न उठा ले जाने पर जो कण खेत में पड़े रह जाते हैं, 'उन्हें 'शिल' तथा गल्लामण्डी में पड़े हुए अन्न के दानों को 'उञ्छ' कहते हैं। उन शिल और उञ्छों को बीन कर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छ' वृत्ति है।



जो चोरी आदि पाप-कर्म नहीं करते—उन अन्त्यज तथा चाण्डाल आदि, वर्णों के अन्त में गिनाई जानेवाली वर्णसङ्कर जातियों की वृत्तियाँ वे ही हैं, जो कुल-परम्परा से उनके यहाँ चली आई हैं। जिस पुरुष के वर्ण को बतलानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्णवाले में भी मिले तो उसे भी उसी वर्ण का समझना चाहिये—  
यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् । यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्<sup>१</sup> ॥

७/११/३५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## बारहवाँ अध्याय

( ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमों के नियम )

नारद जी ने कहा—धर्मराज, गुरुकुल में निवास करनेवाला ब्रह्मचारी, अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर, दास के समान अपने को छोटा माने, गुरुदेव के चरणों में सुदृढ अनुराग रखे और उनके हित के कार्य करता रहे। सायङ्काल और प्रातः काल गुरु, अग्नि, सूर्य और श्रेष्ठ देवताओं की उपासना करे और मौन होकर एकाग्रता से गायत्री का जप करता हुआ दोनों समय की सन्ध्या करे—

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन्दान्तो गुरोर्हितम् । आचरन् दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसीहदः ॥  
सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान् । उभे सन्ध्ये च यतवाग् जपन् ब्रह्म समाहितः ॥

७/१२/१-२

गुरु जी जब बुलावें तो पूर्णतया अनुशासन में रहकर उनके वेदों का अध्ययन करे। ब्रह्मचारी को चाहिये कि वह शास्त्र की आज्ञा के अनुसार मेखला, मृगचर्म, वस्त्र, जटा, दण्ड, कमण्डलु, यज्ञोपवीत तथा हाथ में कुश धारण करे। वे आज्ञा दें तब भोजन करे और यदि कभी आज्ञा न दें तो उपवास कर ले। शीलवान् बने, स्वल्प भोजन करे, कुशलता से अपने कार्यों को निपटावे, श्रद्धालु बने और अपनी इन्द्रियों को वश में रखे। स्त्री और स्त्रियों के वश में रहनेवाले के साथ अत्यल्प आवश्यकतानुसार ही व्यवहार करे। ब्रह्मचारी को स्त्रियों की चर्चा से भी दूर रहना चाहिये क्योंकि स्त्रियाँ यत्नपूर्वक साधन करनेवाले व्यक्ति के मन को भी हठात् खींच लेती हैं। युवक ब्रह्मचारी युवती गुरुपत्नियों से बाल सुलझवाना, शरीर मलवाना, स्नान करवाना, उबटन लगवाना आदि कार्य न करवावे। स्त्रियाँ आग के समान हैं और पुरुष घी के घड़े के समान। एकान्त में तो अपनी युवती कन्या के साथ भी नहीं रहना चाहिये। एकान्त के अलावा भी अत्यन्त आवश्यकता के अनुसार ही उसके पास निवास करे—

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान् । सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ॥७/१२/९

- संस्कृत-भाषा की यह विशेषता है कि उसमें अर्थवाद अर्थात् प्रशंसा परक वाक्य भी बहुधा मिलते हैं। जैसे इसी श्लोक में कहा गया है कि यदि शूद्र आदि जातियों के किसी व्यक्ति में ब्राह्मण-जाति के लिये निर्धारित लक्षण मिलते हैं तो उसे भी ब्राह्मण समझ लेना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति अपनी जाति में ब्राह्मण के समान श्रेष्ठ माना जा सकता है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह ब्राह्मण के समान अपना पूजन आदि करवाने का अधिकारी है। वर्तमान शरीर का त्याग कर दूसरे शरीर को बिना धारण किये, धर्मकी समानता के कारण जो वर्णता बतलाई गई है, उसे केवल आदरसूचक ही मानना चाहिये। उसका उपयोग पूजन, दान एवं विवाहादि में नहीं हो सकता।



ब्रह्मचारी के दो भेद होते हैं—उपकुर्वाण और नैष्ठिक। उपकुर्वाण ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर विवाह करते हैं और नैष्ठिक यावज्जीवन ब्रह्मचारी बने रहते हैं। यह उनकी इच्छा पर निर्भर रहता है कि वे गुरुकुल में ही निवास करेंगे अथवा संन्यास लेकर संसार-भ्रमण करेंगे। ब्रह्मचारी को चाहिये कि वह अपने शरीर का शृङ्गार कभी न करे। शरीर के शृङ्गार से काम की वासना जागृत होती है।

इस प्रकार ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में निवास कर वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन पूरा करने के बाद आश्रम की अवधि पूरी होने पर यदि सामर्थ्य हो तो गुरु को मुँहमांगी दक्षिणा दे। इसके बाद उनकी आज्ञा से गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। गृहस्थाश्रम में और संन्यासाश्रम में भी ब्रह्मचर्यावस्था के शील-रक्षा आदि गुण विहित हैं। यद्यपि भगवान् सर्वत्र समानरूप से विराजमान हैं—फिर भी अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियों में विशेषरूप से विराजमान हैं इसलिये उन पर सदा विशेष ध्यान रखना चाहिये।

**वानप्रस्थ-आश्रम के नियम**—वानप्रस्थ आश्रम के नियमों का ठीक-ठीक पालन करने से व्यक्ति को ऋषियों के लोक महलों की प्राप्ति हो जाती है। वानप्रस्थ आश्रम में रहनेवाले को जोती हुई भूमि में उत्पन्न होनेवाले चावल, गेहूँ आदि अन्न नहीं खाने चाहिये। आगसे पकाया हुआ या कच्चा अन्न भी न खाय, केवल सूर्य के ताप से पके हुए कन्द, मूल, फल आदि का ही सेवन करे। जब नये-नये अन्न, फल, फूल आदि मिलने लगें तब पहले के इकट्ठे किये हुए अन्न का परित्याग कर दे। अग्निहोत्र के अग्नि की रक्षा के लिये ही घर, पर्णकुटी अथवा पहाड़ की गुफा का आश्रय ले। स्वयं शीत, वायु, अग्नि, वर्षा और घाम का सहन करे। शिर पर जटा धारण करे और केश, रोम, नख एवं दाढ़ी-मूँछ न कटवाये तथा मैल को भी शरीर से अलग न करे। कमण्डलु, मृगचर्म, दण्ड, वल्कल-वस्त्र और अग्निहोत्र की सामग्रियों को अपने पास रखे। विचारवान् पुरुष को चाहिये कि वह बारह, आठ, चार, दो या एक वर्ष तक वानप्रस्थ आश्रम में रहकर उसके नियमों का पालन करे। ध्यान रहे कि कहीं अधिक तपस्या का क्लेश सहन करने से बुद्धि बिगड़ न जाय।

वानप्रस्थ आश्रम में निवास करनेवाला व्यक्ति जब वृद्धावस्था के कारण अथवा रोग से आक्रान्त होने के कारण अपना कर्म पूरा न कर सके और वेदान्त-विचार करने का भी सामर्थ्य न रहे, तब उसे अनशन आदि व्रत करना चाहिये। अनशन, प्रारम्भ करने के पूर्व ही वह बाह्य अग्नियों को अपने भीतर लीन कर ले और यह अनुभव करे कि जो वह खाता-पीता है, उसका होम हो गया। मैं, और मेरेपन का परित्याग कर दे फिर इन्द्रियों को अपने वश में करके कार्यों का कारण में लय करे। अपने शरीर के छिद्राकाशों को आकाश में, प्राणों को वायु में, गरमी को अग्नि में, रक्त, कफ, पीव आदि जलीय तत्वों को जल में और हड्डी आदि ठोस वस्तुओं को पृथिवी में लीन करले। इसी प्रकार वाणी और वाणी के कर्म भाषण को उसके अधिष्ठातृ-देवता अग्नि में, हाथ और हाथ के कर्म को इन्द्र में, चरण और उसकी गति को विष्णु में, रति और उपस्थ को प्रजापति में एवं पायु और मलोत्सर्ग को उनके आश्रय मृत्यु में लीन कर दे। स्थूल-सूक्ष्म शरीर का अपने कारणों में लय कर देने के बाद अध्यात्म का भी लय कर दे। चित्त का सत्त्व में, गुण का वैकारिक अहङ्कार में और जीव का ब्रह्म में। फिर मिट्टी जल में, जल वायु में, वायु अग्नि में—इस प्रकार क्रम-क्रम से आगे बढ़ते हुए प्रधान को जीव में लीन कर दे। जीवात्मा को परमात्मा में विलीन कर दे जैसे अपने आश्रयकाष्ठ आदि के दग्ध हो जाने पर अग्नि शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, वैसे ही वह भी उपरत हो जाय।

इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम् । ज्ञात्वाऽद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः ॥

७/१२/३९



कुछ लोग वृद्धावस्था में शरीर के असमर्थ हो जाने पर अथवा सांसारिक कष्टों को न झेलपाने के कारण जीवित अवस्था में जल समाधि के बहाने जल में डूब कर शरीर छोड़ते हैं। यह प्रशस्त विधि नहीं है। यह तो आत्म-हत्या है। ऐसे व्यक्ति को आत्म-हत्या-जनित पाप लगता है। जल-समाधि की प्रक्रिया यह है—योगी को चाहिये कि वह नाभि-पर्यन्त जल में बैठ कर वायु को नीचे से ऊपर की ओर चढ़ावे और अन्त में ब्रह्मरन्ध्र स्फोटन कर प्राण-त्याग करे। जल में कूद कर, चाहे वह जल कितना ही पवित्र क्यों न हो, प्राण-त्यागना आत्म-हत्या है। ऐसे व्यक्ति को आत्म-हत्या-जनित पाप लगता है और फलस्वरूप वह नरकगामी होता है ॥१२॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१२॥

## तेरहवाँ अध्याय

( यतिधर्म का निरूपण और अवधूत-प्रह्लाद-संवाद )

नारद जी ने कहा—युधिष्ठिर जी, वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति यदि आत्म-विद्या के अभ्यास में समर्थ हो और शरीरिक दृष्टि से अशक्त न हुआ हो तो वानप्रस्थ के नियमों का भली-भाँति पालन करते हुए उसे पचहत्तर वर्ष तक वन में निवास करना चाहिये। तदनन्तर उसे संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। इस अवस्था में उसे किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान और समय की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। संन्यासी को चाहिये कि वह सकल भू-मण्डल में भ्रमण करते हुए एक गाँव में एक रात्रि निवास करे—

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः। ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ॥७/१३/१

यदि वह वस्त्र धारण करे तो उसे केवल लँगोटी-मात्र धारण करनी चाहिये, जिससे उसके गुप्ताङ्ग आच्छादित हो जाँय। जब तक कोई आपत्ति न आवे तब तक अपने दण्ड और आश्रम के चिन्हों का परित्याग नहीं करना चाहिये और त्यागी हुई वस्तु ग्रहण भी नहीं करनी चाहिये। संन्यासी को चाहिये कि वह समस्त प्राणियों का हितैषी हो, शान्त रहे, भगवत्परायण रहे और किसी का आश्रय न लेकर अपने आप में ही रमे एवं एकाकी ही विचरण करे। संसार में ब्रह्म का और ब्रह्म में संसार का दर्शन करे। अपने जीवन-निर्वाह के लिये कोई जीविका न करे, केवल वाद-विवाद के लिये कोई तर्क न करे और संसार में किसी का पक्ष न ले। शिष्यमण्डली न जुटावे, बहुत-से ग्रन्थों का अभ्यास न करे, व्याख्यान न दे और बड़े-बड़े कार्यों का आरम्भ न करे। शान्त, समदर्शी एवं महात्मा संन्यासी के लिये आश्रम का बन्धन धर्म का कारण नहीं है। वह अपने आश्रम के चिन्हों को धारण करे चाहे छोड़ दे। संन्यासी पागल और बालक की भाँति नित्य भगवच्चिन्तन में निमग्न रहे। स्वल्प भाषण संन्यासी का आवश्यक गुण है। युधिष्ठिर, इस विषय में महात्मा लोग एक प्राचीन इतिहास का वर्णन करते हैं। वह है दत्तात्रेय मुनि और भक्तशिरोमणि प्रह्लाद का संवाद। दत्तात्रेय जी को आजगर मुनि भी कहते हैं। एक बार महाराज प्रह्लाद प्रजा का समाचार जानने के लिये अपने मन्त्रियों के साथ अपने राज्य में विचरण कर रहे थे। घूमते-धामते वे सद्म पर्वत की तलहटी में स्थित काबेरी नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि हृष्ट-पुष्ट तथा तेज से सम्पन्न एक मुनि भूतल पर पड़े हैं। उनके आकार-प्रकार से यह नहीं प्रतीत होता था कि यह कोई सिद्ध पुरुष हैं। प्रह्लाद जी ने उनके चरणों पर अपना मस्तक रखकर हाथ जोड़कर विनम्रता के साथ पूछा—महाराज, आपका शरीर उद्योगी और धनी व्यक्तियों के समान हृष्ट-पुष्ट है, मोटा-तगड़ा है। आप न उद्योगी हैं और न धनी ही फिर भी मोटे-तगड़े तथा प्रसन्न हैं। इसका रहस्य क्या है, कृपया बतलाने का कष्ट करें।



अवधूत दत्तात्रेय ने प्रह्लाद की प्रेमभरी बातें सुनी। सुनकर मुस्कराये और फिर बोले—प्रह्लाद जी, तृष्णा एक ऐसी वस्तु है, जो इच्छानुसार भोगों को भोगने के बाद भी पूरी नहीं होती। यह प्राणियों को सर्वदा बन्दर-नाच नचाती रहती है। इसी के कारण मुझे न जाने कितने कर्म करने पड़े, न जाने कितनी योनियों में भटकना पड़ा। तब कहीं जाकर यह मनुष्य योनि मिली हुई है। यह मानव-योनि स्वर्ग, मोक्ष, तिर्यग्योनि तथा इस मानव देह की भी प्राप्ति का द्वार है। इससे पुण्य करें तो स्वर्ग, पाप करें तो पशु-पक्षी आदि योनि प्राप्त होती है। यह मोक्ष का भी महान् साधन है। यहाँ व्यक्ति कर्म करता है सुख की प्राप्ति के लिये, किन्तु फल दुःख होता है। इसलिये मैं कर्मों से उपरत हो गया हूँ। वस्तुतः सुख आत्मा का स्वरूप है। उसे बाह्य वस्तुओं में ढूँढ़ना अज्ञान है। निवृत्ति आत्मा का शरीर है। इसलिये विषय और मन के संस्पर्श से जो सुख-दुःख होता है, उसे छोड़कर मैं मौज से शयन करता हूँ। प्रारब्ध के कारण इच्छित भोग तो आते ही रहते हैं। लोग इस बात को नहीं समझते और द्वैत बुद्धि के कारण संसार में फँसते हैं जैसे अज्ञानी प्राणी सेवार से आच्छन्न जल को जल न समझ कर, उसे छोड़कर, मृगतृष्णा के पीछे दौड़ता है, वैसे अपनी आत्मा से भिन्न वस्तु में सुख समझनेवाला पुरुष आत्मा को छोड़कर विषयों की ओर दौड़ता है—

जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाऽज्ञो जलकाम्यया । मृगतृष्णामुपाधावेद् यथान्यत्रार्थदृक् स्वतः ॥

७/१३/२८

धन में तो सुख है ही नहीं। लोभी और इन्द्रियों के वशीभूत रहनेवाले धनिकों का दुःख तो मैं देखता ही रहता हूँ। भय के मारे उन्हें नींद नहीं आती। सबको वे सन्देह की दृष्टि से ही देखते हैं—

पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम् । भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम् ॥

७/१३/३१

उन्हें राजा, चोर, शत्रु, पशु-पक्षी आदि सभी से भय बना रहता है। इतना ही नहीं, धनी व्यक्ति अपने से भी आशङ्कित रहते हैं कि 'कहीं मैं अधिक न खर्च कर दूँ, कहीं, भूल न कर बैठूँ।' अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह धन और जीवन की स्पृहा का परित्याग कर दे। मैं स्पृहा से रहित हूँ। मेरी कोई इच्छा नहीं है अतः प्रारब्ध के भरोसे मस्त पड़ा रहता हूँ। इस लोक में मेरे सब से बड़े गुरु हैं—अजगर और मधुमक्खी। उनकी शिक्षा से मुझे वैराग्य और सन्तोष की प्राप्ति हुई है यही कारण है कि मुझे खाने-पीने की कोई चिन्ता नहीं। मैं सब प्रकार से निश्चिन्त हूँ। प्राणी चिन्ता के कारण ही दुर्बल होता है। मैं अजगर के समान निश्चेष्ट पड़ा रहता हूँ। दैववश जो कुछ मिल जाता है, उसे ही खाकर सन्तुष्ट रहता हूँ और यदि नहीं मिलता तो भी धैर्य धारण कर यों ही पड़ा रहता हूँ। कभी थोड़ा अन्न खा लेता हूँ तो कभी अधिक, कभी स्वादिष्ट खाता हूँ, तो कभी बेस्वाद—जो भी मिल जाता है, उसे बड़े प्रेम से खा लेता हूँ। कभी श्रद्धा से मिला हुआ अन्न खाता हूँ, तो कभी अपमान के साथ, कभी दिन में, कभी रात्रि में, कभी एक बार, कभी दो बार जो कुछ मिल जाता है उसी से सन्तुष्ट रहता हूँ। मैं अपने प्रारब्ध के भोग से ही सन्तुष्ट तथा प्रसन्न रहता हूँ इसलिये मुझे रेशमी या सूती, मृगचर्म या चीर, बत्कल या और कुछ—जैसा भी वस्त्र मिल जाता है, पहन लेता हूँ। कभी मैं पृथिवी, घास, पत्ते, पत्थर या राख की ढेर पर पड़ा रहता हूँ, तो कभी दूसरों

१. इसी बात को तुलसीदास ने अपने मानस में कहा है—“जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।”

२. बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।

साधन धाम मोक्षकर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।

कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाई ॥ रामचरित मानस, ७/४३॥



की इच्छा से महलों में पलंगों और गद्दों पर सो लेता हूँ। दैत्यराज, कभी नहा-धोकर, शरीर में चन्दन लगाकर सुन्दर वस्त्र, फूलों के हार और आभूषण धारण कर रथ, हाथी और घोड़े पर चढ़कर चलता हूँ, तो कभी पिशाच के समान बिल्कुल नंग-धड़ंग विचरता हूँ। लोग विषम स्वभाव के होते हैं अतः मैं लोगों की निन्दा-स्तुति से भी बहुत दूर रहता हूँ। सब के कल्याण की कामना करता हूँ और सब में परमात्मा से एकता चाहता हूँ—

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम्। एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि ॥

७/१३/४२

संसार और संसार के व्यवहार सब के सब माया के खेल हैं। सुख-दुःख तो मन की अनुभूति है इसलिये उस मन को ही अहङ्कार में, अहंकार को माया में, माया को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा में डालकर, परमात्मा से एक होकर निवृत्त हो जाना चाहिये। हे राजन्, मेरी यह आत्म-कथा अत्यन्त गुप्त एवं लोक और शास्त्र से परे की वस्तु है। तुम भगवान् के अत्यन्त प्रेमी भक्त हो, इसलिये मैंने इसका वर्णन तुमसे किया है—

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम्। व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत्परः ॥

७/१३/४५

नारद जी ने कहा—राजन्, प्रह्लाद जी ने दत्तात्रेय मुनि से परमहंसों के धर्म का श्रवण करके उनकी पूजा की और फिर उनसे विदा लेकर बड़ी प्रसन्नता से अपनी राजधानी के लिये प्रस्थान किया ॥१३॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥

## चौदहवाँ अध्याय

( गृहस्थ-सम्बन्धी सदाचार )

युधिष्ठिर ने कहा—मुनिवर, आप ने तीन आश्रमों के धर्मों की विस्तार से चर्चा की है। गृहस्थाश्रम के धर्मों का वर्णन उस रूप में नहीं किया। मैं एक गृहासक्त व्यक्ति हूँ अतः मुझे चिन्ता हो रही है कि संन्यासियों की भाँति क्या गृहस्थाश्रमियों की मुक्ति नहीं हो सकती ? कृपया इस विषय पर प्रकाश डाल कर मेरे सन्देह का निस्तारण करें—

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा। याति देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः ॥७/१४/१

नारद ने कहा—गृहस्थ आश्रम में निवास करनेवाले व्यक्ति को चाहिये कि वह गृहस्थ-धर्म के अनुसार आचरण करे। अपने सभी कर्मों को भगवदर्पण-बुद्धि से सम्पन्न करे। बड़े-बड़े महात्माओं की सेवा और सङ्गति भी करता

१. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्बसा ॥भगवद्गीता, ५/१०॥

अर्थः—जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह पुरुष, जलमें कमल के पत्ते की भाँति, पाप से लिप्त नहीं होता।

ख. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥भगवद्गीता, ९/२७॥

अर्थः—हे अर्जुन, तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण करो।

ग. शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ भगवद्गीता, ९/२८॥

अर्थः—इस प्रकार, सारे कर्म-फलों को मुझे समर्पित करके तुम कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त करोगे।



रहे । अवकाश के अवसर पर विरक्त पुरुषों के साथ निवास करे और बार-बार श्रद्धापूर्वक भगवान् के अवतारों की लीला-सुधा का पान करता रहे—

गृहेष्ववस्थितो राजन् क्रियाः कुर्वन् गृहोचिताः । वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ॥

शृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम् । श्रद्धधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः ॥७/१४/२-३

जैसे स्वप्न समाप्त हो जाने पर मनुष्य स्वप्न के सम्बन्धियों से आसक्त नहीं रहता—वैसे ही ज्यों-ज्यों सत्सङ्ग के द्वारा बुद्धि शुद्ध हो, त्यों-ही-त्यों शरीर, स्त्री पुत्र, धन आदि की आसक्ति स्वयं छोड़ता चले क्योंकि एक-न-एक दिन ये सब छूटने ही वाले हैं । छोड़ने का अभ्यास व्यक्ति को धीरे-धीरे करते ही रहना चाहिये । गृहस्थ को भीतर से विरक्त और ऊपर से अनुरक्त रहना चाहिये । ऊपर से रागी के समान व्यवहार करना चाहिये । ममता-रहित होकर ही लोगों की बातों का अनुमोदन कर दे । बुद्धिमान् पुरुष वर्षा से होनेवाले अन्नदि, भूतल से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण आदि, अकस्मात् प्राप्त द्रव्य आदि तथा और सब प्रकार के धन भगवान् के द्वारा प्रदत्त हैं—ऐसा समझ कर प्रारब्ध के अनुसार उनका उपभोग करता हुआ सञ्चय न करे, उन्हें साधु-सेवा आदि सत्कर्मों में लगा दे । मनुष्यों का अधिकार केवल उतने ही धन पर है, जितने से उनकी भूख मिट जाय । इससे अधिक सम्पत्ति को जो अपनी मानता है, मानकर सञ्चय करता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये—

यावद् द्वियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ ७/१४/८

हृदय—देखिये, भागवत का यह श्लोक भारत में कम्युनिज्म आने के बाद नहीं लिखा गया, यह तो सहस्राब्दियों पहले से है । जब से श्रीभद्रागवत मिलता है, तब से इसमें यह श्लोक भी उपलब्ध होता है । इस कथन का भाव यह है कि तुम संसार की वस्तुओं के केवल संरक्षक हो सकते हो, सेवक हो सकते हो, किन्तु उनके तुम स्वामी नहीं हो सकते ।

संसार के सारे जीव—मृग, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, सरीसृप (सरक कर चलनेवाले प्राणी), पक्षी और मक्खी आदि को अपने पुत्रों के समान ही समझना चाहिये । गृहस्थ मनुष्यों को भी धर्म, अर्थ और काम के लिये बहुत कष्ट नहीं उठाना चाहिये; बल्कि देश, काल और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाय उसी से सन्तोष कर लेना चाहिए—

त्रिवर्णं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि । यथादेशं यथाकालं यावद्देवोपपादितम् ॥७/१४/१०

व्यक्ति स्त्री को अपनी निजी सम्पत्ति मानता है । उसके कारण वह अपने माता-पिता और गुरु की भी हत्या कर देता है । उस स्त्री पर से जिसने अपनी ममता हटा ली, उसने नित्य विजयी भगवान् को भी मानो जीत लिया । यह शरीर अन्त में कीड़े, विषा या राख की ढेर होनेवाला है अतः इस पर और इससे सम्बन्ध रखनेवालों पर ममता रखना कभी भी बुद्धिमान् नहीं है । गृहस्थ को चाहिये कि प्रारब्ध से प्राप्त और पञ्चयज्ञ आदि से बचे हुए अन्न से ही अपना जीवन-निर्वाह करे । जो बुद्धिमान् व्यक्ति इसके अतिरिक्त और किसी वस्तु में स्वत्व नहीं रखते, उन्हें सन्तों का पद प्राप्त होता है—

सिद्धैर्यज्ञाविष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः । शेषे स्वत्वं त्यजन् प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ॥

७/१४/१४

गृहस्थ को चाहिये कि वह प्रतिदिन नियम से बलिवैश्वदेव अर्थात् देवता-ऋषि-पितरों की पूजा करे । अतिथियों का सम्मान करे । यथाशक्ति उन्हें कुछ-न-कुछ दान करे । अतिथियों का तिरस्कार करनेवाला पाप का भागी बनता है । यथासमय अग्निहोत्र करे । ब्राह्मणों को समय-समय पर क्षीरान्न (खीर) का भोजन अवश्य करावे । उनके मुख में क्षीरान्न की आहुति देने से भगवान् को जैसी तृप्ति होती है, वैसी तृप्ति अग्नि में आहुति डालने से भी नहीं होती ।



इस बात का कथन भागवत के कई स्थलों पर किया गया है<sup>१</sup> इसलिये ब्राह्मण, देवता, मनुष्य आदि सभी प्राणियों में अन्तर्यामी भगवान् की उपर्युक्त सामग्रियों द्वारा पूजा करनी चाहिये।

धनी द्विज को अपने धन के अनुसार आश्विन मास के कृष्ण पक्ष में अपने माता-पिता तथा अपने बन्धुओं का महालय श्राद्ध करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अयन (कर्क और मकर-संक्रान्ति), व्यतीपात, दिनक्षय, चन्द्र-सूर्य-ग्रहण के समय, द्वादशी के दिन, श्रवण, धनिष्ठा और अनुराधा नक्षत्रों में, वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया), कार्तिक शुक्ला नवमी (अक्षय नवमी), आदि-आदि तिथियों में जो दान, तप किया जाता है, उसका फल अक्षय होता है। दान में न तो देश की प्रधानता है और न काल की, इसमें प्रधानता है पात्र की—“स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते” ॥२७॥ जहाँ सत्पात्र, सदाचारी, त्यागी और देने योग्य व्यक्ति मिल जाय—वही दान का देश है, वही दान का काल है। जहाँ-जहाँ पुष्कर आदि पावन सरोवर हैं, जहाँ नैमिषारण्य, वाराणसी, प्रयाग आदि क्षेत्र हैं, पवित्र पर्वत हैं, वहाँ-वहाँ भगवान् की पूजा होती है। परन्तु सत्पात्र की प्रशंसा सर्वोपरि है। सत्पात्र के मान-सम्मान से ही भगवान् की पूजा सम्पन्न होती थी। सत्य युग में यही स्थिति थी। त्रेता आदि युगों में जब मनुष्य परस्पर, एक-दूसरे का अपमान आदि करते हैं, तब उन लोगों ने उपासना की सिद्धि के लिये विद्वानों ने भगवान् की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। तभी से प्रतिमा में भगवान् की पूजा का प्रचलन हुआ—

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप । त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥७/१४/३९

किन्तु प्राणियों से द्वेष करनेवाले को प्रतिमा में अर्चा करने पर भी सिद्धि नहीं होती। ब्राह्मण भगवान् के श्रीविग्रह हैं। भगवान् कृष्ण के भी इष्टदेव ब्राह्मण ही हैं। ब्राह्मणों के चरण-रज से त्रिलोकी पवित्र होती है। अतः उनकी पूजा से भगवान् को बड़ी प्रसन्नता होती है।

राजन, आप के प्रश्न करने पर मैंने संक्षेप से ही गृहस्थ धर्म का वर्णन कर दिया है। इसके आचरण से मनुष्य अवश्य ही महात्माओं की पदवी, मोक्ष, का भागी बनता है ॥१४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

## पन्द्रहवाँ अध्याय

( गृहस्थों के लिये मोक्षधर्म का वर्णन और नारद जी के पूर्वजन्म का वृत्तान्त )

नारद जी ने कहा—युधिष्ठिर, कुछ ब्राह्मणों की निष्ठा कर्म में, कुछ की तपस्या में, कुछ की वेदों के स्वाध्याय और प्रवचन में, कुछ की आत्म-ज्ञान के सम्पादन में तथा कुछ की योग में होती है। किन्तु ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ हैं अतः श्राद्ध और देवपूजा के अवसर पर ज्ञानी पुरुषों को भोजन कराना चाहिये। उनको भोजन कराने से अनन्त फल की प्राप्ति होती है। यदि वे न मिलें तो आचारवान् कर्मनिष्ठ अन्य ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये—

१. नाहं तथाचि यजमानहविर्विताने, श्रच्योतदधृतप्लुतमदनं हुतभुङ्मुखेन ।

यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुषासं, तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥३/१६/८॥

अर्थः—जो सम्पूर्ण अपने कर्म-फल मुझे अर्पण कर सदा सन्तुष्ट रहते हैं, वे निष्काम ब्राह्मण ग्रास-ग्रास पर तृप्त होते हुए, घी से तर अनेक-प्रकार के पकवानों का जब भोजन करते हैं, तब उनके मुख से मैं जैसा तृप्त होता हूँ, वैसा यज्ञमें अग्निरूप मुख से, यजमान की दी हुई आहुतियों को ग्रहण करके तृप्त नहीं होता।



कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठा नृपापरे । स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने ये केचिज्ज्ञानयोगयोः ॥  
ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता । दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥

७/१५/१-२

देवकार्य में दो और पितृकार्य में तीन अथवा दोनों में एक-एक ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिये । अत्यन्त धनी होने पर भी श्राद्ध-कर्म में अधिक विस्तार नहीं करना चाहिये । विस्तार करने से देश-काल के अनुसार श्रद्धा, पदार्थ, पात्र और पूजन आदि ठीक-ठीक नहीं हो पाते । ऐसे कार्यों में श्रद्धा का ठीक-ठीक निर्वाह परमावश्यक है—

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनैकैकत्रमुभयत्र वा<sup>१</sup> । भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम् ॥७/१५/३

श्राद्ध करना परमावश्यक है । इसका त्याग किसी भी अवस्था में समीचीन नहीं है । यहाँ तक कि मुक्त प्राणी के भी श्राद्ध का विधान है । देश और काल के प्राप्त होने पर गोदुग्ध से क्षीर तैयार करके भगवान् को भोग लगावे और फिर श्रद्धा से विधिपूर्वक योग्यपात्र को खिलावे । यह समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाला और अक्षय होता है—

देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं हरिदैवतम् । श्रद्धया विधिवत् पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम् ॥७/१५/५

देवता, ऋषि, पितर, अन्य प्राणी, स्वजन और अपने-आपको भी अन्नका विभाजन करने के समय सबको परमात्मस्वरूप ही देखना चाहिये । उस समय यही विचार करे कि इस प्राणी के हृदय में बैठे परमात्मा को ही मैं खिला रहा हूँ ।

धर्म के मर्म को जाननेवाला पुरुष यदि स्वयं मांसभोजी हो तो भी श्राद्ध में मांस न खिलावे और न स्वयं ही खाय । इसका कारण यह है कि दुग्ध-पक्व और घृत-पक्व से जैसी तृप्ति खानेवाले को होती है वैसी पशु-हिंसा से नहीं होती—

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित् । मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुर्हिंसया ॥

७/१५/७

जो लोग उत्तम धर्म के पालन की इच्छा रखते हैं, उन्हें यह जानना चाहिये कि किसी भी प्राणी को मन, वचन और शरीर से किसी प्रकार का कष्ट न दिया जाय । कठोर वचन आदि के द्वारा किसी के मन को दुःखाना भी अधर्म है । किसी भी प्रकार से किसी को पीड़ित न करना सबसे बड़ा धर्म है । इसके बराबर कोई दूसरा धर्म नहीं है—

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् । न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य च ॥

७/१५/८

इसीलिये ज्ञानी, आत्मसंयमरूप अग्नि में कर्ममय यज्ञों का हवन कर देते हैं । कर्म-मय यज्ञों में पशु आदि प्राणी भय-भीत हो जाते हैं । वे सोचते हैं अपने प्राणों का पोषण करनेवाला यज्ञ का यह ढोंगी निर्दयी मूर्ख मुझे अवश्य मार डालेगा अतः हविष्यान्न से ही नित्य-नैमित्तिक करके उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिये ।

अधर्म की पाँच शाखायें हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा, और छल । धर्मज्ञ पुरुष को चाहिये कि वह अधर्म के समान इनका भी त्याग कर दे—

१. पौराणिक राममूर्ति की व्याख्या के अनुसार—विश्वेदेवता दो हैं, इसलिये देवकार्य में दो-दो के हिसाब से चार ब्राह्मण हों । पितर छः हैं, इसलिये तीन-तीन के हिसाब से अठारह ब्राह्मण हों अर्थात् पार्वण श्राद्ध में कुल बाईस ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये । यदि इतना सामर्थ्य न हो तो “एकैकमुभयत्र वा” इस वचन के अनुसार दोनों कार्यों में एक-एक के हिसाब से कुल आठ ब्राह्मणों को भोजन करावे । शक्ति रहने पर इससे कम संख्या न करे ।



विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः । अधर्मशाखाः पञ्चेमाः धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत् ॥७/१५/१२

१. विधर्मः—जिस कार्य को धर्म समझ कर करने पर भी अपने धर्म में बाधा पड़े वह 'विधर्म' है जैसे ज्वर की अवस्था में गंगास्नान । विधर्म धर्म का नहीं, अधर्म का कारण बन जाता है ।

२. परधर्म—एक वर्ण के लिये विहित धर्म दूसरे वर्ण के लिये 'परधर्म' है, जैसे क्षत्रिय के लिये विहित युद्ध ब्राह्मण के लिये परधर्म है; ब्राह्मण के लिये निर्धारित भिक्षाटन क्षत्रिय के लिये 'परधर्म' है ।

३. आभास—मनुष्य अपने आश्रम के विपरीत, स्वेच्छा से, जिसे धर्म मान लेता है, वह 'आभास' है—  
“यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्” ॥१४॥ जैसे ग्रामीणों के द्वारा ब्रह्म, भवानी, डीह आदि की पूजा ।

४. उपमा—पाखण्ड अथवा दम्भ का नाम उपमा है जैसे अपना महत्त्व बढ़ाने के लिये जटाजूट बढ़ा लेना, पीला वस्त्र धारण कर लेना आदि । त्यागी न होते हुए भी त्यागी जैसा दीखना 'उपमा' है ।

५. छल—शास्त्र के वचनों की मनमानी अर्थात् दूसरे प्रकार की व्याख्या कर देना “छल” है ।

अतः शास्त्रों के द्वारा निर्धारित वर्णाश्रमोचित धर्म का पालन करना ही सबके लिये शान्ति-प्रद है, शान्तिकारक है ।

धर्मात्मा पुरुष धर्म के लिये अथवा शरीर-निर्वाह के लिये भी धन प्राप्त करने की इच्छा न करे । जैसे बिना किसी चेष्टा के ही अजगर की जीविका चलती रहती है, वैसे ही निवृत्ति-परायण पुरुष की निवृत्ति ही उसकी जीविका का निर्वाह कर देती है—

अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥७/१५/१५

सन्तोष सुख का परम कारण है । अपनी आत्मा में ही रमण करनेवाले सन्तोषी को जिस सुख की प्राप्ति होती है, वह धन के पीछे दौड़नेवाले लोभी के लिये दुःस्वप्न है, दुर्लभ है । जैसे पैरों में जूता पहन कर चलनेवाले को कंकण और कांटों से कोई भय नहीं होता है, वैसे ही जिसके मन में सन्तोष का सागर लहरा रहा है, उसके लिये सर्वदा और सर्वत्र सुख-ही-सुख है—

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः । शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥

७/१५/१७

सन्तोष सबके लिये आवश्यक है । किन्तु गृहस्थ ब्राह्मण का तो यह कण्ठाभरण ही ठहरा । असन्तोषी ब्राह्मण का तेज, विद्या, तपस्या और यश—सब कुछ क्षीण हो जाते हैं । वह विवेक भी खो बैठता है । इन्द्रियों का दास व्यक्ति कुत्ता बन जाता है—“स्त्रवन्तीन्द्रियलौत्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते” ॥१९॥ अनेक विषयों के ज्ञाता, शास्त्रों के बड़े-बड़े व्याख्याकार, विद्वत्सभाओं के सभापति बड़े-बड़े विद्वान् भी असन्तोष के कारण नीचे गिर जाते हैं—

१. श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥भगवद्गीता ३/३५॥

अर्थः—अच्छी प्रकार आचरण में लाये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है । अपने धर्म में तो मरना भी कल्याण-कारक है और दूसरे का धर्म भयकारक है ।

२. अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम । मलूकदास कहि गये सब के दाता राम ॥

३. “सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः” । पातञ्जल-योग-सूत्र

अर्थ—सन्तोष सुख का सबसे बड़ा कारण है ।



पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः । सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः ॥

७/१५/२१

धर्मराज, सङ्कल्पों के परित्याग से काम को, कामनाओं के त्याग से क्रोध को, अर्थ को अनर्थ समझ कर लोभ को, और तत्त्व के विचार से भय को जीत लेना चाहिये । अध्यात्म-विद्या से शोक और मोह पर, सन्तों की सेवा से दम्भ पर, मौन से योग के विघ्नों पर और शरीर-प्राण आदि को निश्चेष्ट करके हिंसा पर विजय प्राप्त करनी चाहिये । सब के ऊपर दया की भावना करनी चाहिये । समाधि लगाकर देव-दुःख को जीतना चाहिये । कभी वर्षा हो रही हो; ओला पड़ रहा हो, किन्तु उससे बचने का यदि कोई उपाय न हो तो समाधि लगाकर बैठ जाना चाहिये ।

आगे बतलाते हैं कि—श्रीगुरु की भक्ति के द्वारा साधक इन सभी दोषों पर सुगमता से विजय प्राप्त कर सकता है । हृदय में ज्ञान का दीपक जला देनेवाले गुरुदेव साक्षात् भगवान् ही हैं । जो अल्पज्ञ व्यक्ति उन्हें कोरा मानव ही समझता है, उसके समस्त शास्त्र-श्रवण, हाथी के स्नान के समान व्यर्थ हैं । वस्तुतः साक्षात् भगवान् ही गुरुदेव के रूप में प्रकट होते हैं—

यस्य साक्षात् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ । मर्त्यासब्दीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥७/१५/२६

सब साधनों का फल यह है कि इन्द्रियाँ वश में हों । जो वस्तु योग के द्वारा सिद्ध होती है, वही सबसे बड़ी है और उसी के लिये मनुष्य को सर्वदा प्रयत्न करना चाहिये । बाद में नारद जी ने कहा कि पवित्र देश में बैठकर ॐकार का जप करना चाहिये । जब तक मन की चञ्चलता दूर न हो जाय तब तक नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखकर पूरक, कुम्भक और रेचक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये ।

जो संन्यासी पहले तो धर्म, अर्थ और काम के मूल कारण गृहस्थाश्रम का परित्याग कर देता है और फिर गृहस्थ बन कर उन्हीं का सेवन करता है, वह उस कुत्ते के समान है, जो उगलकर फिर उसी को खाता है—

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः । यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥

७/१५/३६

कर्म-धर्म का त्यागी गृहस्थ, व्रतत्यागी ब्रह्मचारी, गाँव में रहनेवाला तपस्वी (वानप्रस्थ) और इन्द्रियलोलुप संन्यासी—ये चारों आश्रम के कलङ्क हैं और व्यर्थ ही आश्रम का ढोंग करते हैं । ये दयनीय प्राणी हैं ।

आगे नारद जी मनुष्य शरीर को रूपक के द्वारा समझाते हुए कह रहे हैं कि—उपनिषदों में कहा गया है कि शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियों का स्वामी मन लगाम है, शब्द आदि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथी है, चित्त ही भगवान् के द्वारा निर्मित बाँधने की विशाल रस्सी है, दश प्राण धुरी हैं, धर्म और अधर्म पहिये हैं और इनका अभिमानी जीव रथी कहा गया है । ॐकार ही उस रथी का धनुष है । शुद्ध जीव शर है, पञ्चज्ञ लक्ष्य है । कहने का भाव यह है कि ॐकार के द्वारा अन्तरात्मा को परमात्मा में लीन कर देना चाहिये—

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम् ।

वत्मानि मात्रा धिषणां च सूतं सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम् ॥

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।

धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥७/१५/४१-४२

मार्ग दो प्रकार के हैं—प्रवृत्तिमार्ग एवं निवृत्तिमार्ग । प्रवृत्तिमार्ग से संसार की और निवृत्तिमार्ग से मोक्ष की प्राप्ति होती है । वापी-कूप आदि का निर्माण बलि-वैश्यदेव और पशु-याग आदि प्रवृत्ति-कर्म हैं । इनके द्वारा लोक-पर-

१. प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् । आवर्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम् ॥७/१५/४७॥



लोक की प्राप्ति होती है अतः इन्द्रियों को मन में, मन को वाणी में, वाणी को वर्ण-समुदाय में, वर्ण-समुदाय को ओंकार में, ओंकार को नाद में और नाद को प्राण में न्यस्त कर देना चाहिये फिर निवृत्तिमार्ग में चला जाना चाहिये । इस मार्ग को जो शास्त्र-दृष्टि से जान लेता है, वह देह में रहते हुए भी कभी मुग्ध नहीं होता—‘शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति’ ॥७/१५/५६

गृहस्थ को चाहिये कि वह जगत् की नश्वरता पर भी विचार करता रहे । उसे सोचना चाहिये कि—उत्पन्न होनेवाले शरीर के पहले जो कारणरूप से विद्यमान था और जो सब के समाप्त हो जाने पर बचा रहता है, वही परम सत्य है, याथार्थ है, तत्त्व है । बीच में देह आदि के रूप में जो प्रपञ्च भासित हो रहा है, वह सब मिथ्या है । पृथिवी आदि भूत जब मिथ्या हैं, तो उनसे बननेवाला शरीर आदि भी मिथ्या ही है । जब कारण ही नहीं है, तब कार्य कहाँ से रहेगा ? जैसे स्वप्न में सृष्टि मालूम पड़ती है, जागना-सोना मालूम पड़ता है—‘जाग्रत्स्वापी यथा स्वप्ने’ (६९) । इसी प्रकार शास्त्र के विधि-निषेध भी स्वप्न जैसे विधि-निषेध ही हैं । मोह के निवृत्त होते ही एकात्म-तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है और जब तक यह स्थिति नहीं आती तब तक विभिन्नताएँ बनी ही रहती हैं, प्रतीत ही होती रहती हैं ।

जो विचारवान् व्यक्ति स्वानुभूति से आत्मा के त्रिविध अद्वैत का साक्षात्कार करते हैं—वे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य के भेदरूप स्वप्न को मिटा देते हैं । ये अद्वैत तीन प्रकार के हैं—भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत—

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथाऽऽत्मनः । वर्तयन् स्वानुभूत्येह त्रीन् स्वप्नान् ध्रुते मुनिः ॥७/१५/६२

१. भावाद्वैत—जैसे पट की सत्ता तन्तुओं से अलग नहीं है किन्तु सम्मिलित तन्तु ही पट है । वैसे ही कार्य भी कारणमात्र ही है क्योंकि भेद तो वास्तव में है नहीं । इस प्रकार कार्य-कारणरूप जगत् की ईश्वर से ऐक्य-भावना करना भावाद्वैत कहा जाता है—

कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत् । अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥७/१५/६४

२. क्रियाद्वैत—युधिष्ठिर, मन वाणी और शरीर से होनेवाले सब कर्मों को परब्रह्म परमात्मा को समर्पित कर देना ही ‘क्रियाद्वैत’ है—

यद् ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम् । मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥७/१५/६४

३. द्रव्याद्वैत—जैसे धन-सम्पत्ति और योग अपने को अच्छे लगते हैं, वैसे ही स्त्री-पुत्र आदि सम्बन्धियों को और सामान्य लोगों को भी अच्छे लगते हैं । इस प्रकार सबके स्वार्थ और भोग एक ही हैं, उनमें अपने और पराये का भेद नहीं है—इस प्रकार का विचार “द्रव्याद्वैत” है ।

इस प्रकार के विचार से भेद-बुद्धि के समाप्त हो जाने पर प्राणी को अद्वैत तत्त्व का ज्ञान बड़ी सरलता से हो जाता है और वह गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी परम धाम मोक्ष का अधिकारी बन जाता है । युधिष्ठिर, शास्त्रों ने जिस पुरुष के लिये जैसा विधान किया है उसे उसी के अनुसार आचरण करना चाहिये । आपत्ति काल में व्यक्ति यदि शास्त्रज्ञ का उल्लंघन करता है तो वह क्षम्य है, अन्यथा नहीं । महाराज, भगवद्भक्त मनुष्य वेद-शास्त्र में कहे गये इन कर्मों के तथा अन्यान्य स्वकर्मों के अनुष्ठान से घर में रहते हुए भी श्रीकृष्ण की गति को प्राप्त कर लेता है । युधिष्ठिर, जैसे तुम अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा और सहायता से सागर-सदृश विशाल विपत्तियों से पार हो गये हो और उन्हीं के चरण-कमलों की सेवा से समस्त भूमण्डल को जीत कर बड़े-बड़े राजसूय आदि यज्ञ किये हो । इसी प्रकार कृष्ण आश्रय लेकर कोई भी व्यक्ति दुस्तर विपत्तियों से पार होकर मोक्ष का भागीदार बन जाता है । इस विषय में मेरा ही उदाहरण देखो—



राजन्, मैं पूर्व जन्म में रूप-यौवन से सम्पन्न एक गन्धर्व था। मेरा नाम था—उपबर्हण। गन्धर्वों में मेरा बड़ा सम्मान था। मेरी सुन्दरता, सुकुमारता और मधुरता अपूर्व थी। स्त्रियाँ मुझ पर न्योछावर होती थीं। मैं जिसको प्रेमभरी चितवन से देख लेता वह निहाल हो जाती थी। एक बार देवताओं ने ज्ञान-सत्र का आयोजन किया। भगवच्चरित्र का गान करने के लिये गन्धर्वों और अप्सराओं को बुलाया। मैं भी अप्सराओं के साथ नाचता-गाता उन्मत्त अवस्था में वहाँ पहुँचा। मेरी दशा देखकर प्रजापतियों को क्रोध आ गया। उन्होंने मुझे शाप देते हुए कहा—‘जा तू शीघ्र शूद्र बन जा’ फलतः मुझे शूद्र योनि में जन्म लेना पड़ा। मैं एक दासी का पुत्र था किन्तु महात्माओं के सत्सङ्ग और सेवा-शुश्रूषा के प्रभाव से दूसरे जन्म में ब्रह्माजी का पुत्र हुआ।

राजन्, सन्तों की सेवा और अवहेलना का मेरा यह प्रत्यक्ष अनुभव है। मैंने तुम्हें गृहस्थों का पापनाशक धर्म बतला दिया। इस धर्म के आचरण से गृहस्थ भी अनायास ही संन्यासियों को मिलनेवाला परमपद मोक्ष प्राप्त कर लेता है। युधिष्ठिर, इस मनुष्य लोक में तुम लोगों के भाग्य अत्यन्त प्रशंसनीय हैं, क्योंकि तुम्हारे घर में परब्रह्म परमात्मा गुप्तरूप में निवास करते हैं, इसीलिये बड़े-बड़े पुण्यशाली महात्मा लोग चारों ओर से बार-बार उनका दर्शन करने के लिये तुम्हारे पास आया करते हैं।

युधिष्ठिर—मुनिवर, कहाँ हैं परब्रह्म हमारे घर में ?

नारद—बड़े-बड़े महापुरुष जिनका निरन्तर अन्वेषण करते रहते हैं, जो माया की छाया से भी परे हैं, शान्त परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा हैं, जिन्हें तुम अपना प्रिय, हितैषी, ममेरा भाई, पूज्य, आज्ञाकारी, और गुरु समझते हो, जिन्हें श्रीकृष्ण कहते हो, वही यह परब्रह्म परमात्मा हैं। शङ्कर, ब्रह्मा आदि देव भी उनका सही-सही वर्णन नहीं कर सकते, फिर मेरी तो बिसात ही क्या है ? श्रद्धा-भक्ति से पूजित वह भगवान् हम लोगों पर प्रसन्न हों—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।

येषां गृहानावसतीति साक्षात् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥

स वा अयं ब्रह्म महद्भिर्मृग्यं कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।

प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥

७/१५/७५-७६

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।

मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥ ७/१५/७७

श्रीशुकदेव जी ने परीक्षित से कहा—राजन्, देवर्षि नारद के इस प्रवचन को सुनकर महाराज युधिष्ठिर परमप्रसन्न हो उठे। उन्होंने बड़ी उत्कण्ठा के साथ भगवान् श्रीकृष्ण की और परमादर के साथ नारद की पूजा की—

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः । पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः ॥ ७/१५/७८

देवर्षि नारद भगवान् श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर से विदा लेकर और उनके द्वारा पूजा-सत्कार प्राप्त कर चले गये—  
“पूजितः प्रययौ मुनिः” ॥ ७९॥ भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, यह सुनकर युधिष्ठिर के आश्चर्य की सीमा न रही। राजन्, इस प्रकार मैंने तुम्हें दक्ष-पुत्रियों के वंशों का पृथक्-पृथक् वर्णन कह सुनाया। उन्हीं के वंश में देवता, असुर, मनुष्य आदि और सम्पूर्ण चराचर की उत्पत्ति हुई है ॥ १५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के सप्तम स्कन्ध का यह पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५॥

॥ सप्तम स्कन्ध समाप्त ॥ ७॥

॥ सप्ताह के तृतीय दिन की कथा समाप्त ॥



॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

## सप्ताह के चौथे दिन की कथा का प्रारम्भ

कृष्णाविर्भावपर्यन्तं चतुर्थेऽहनि वाचयेत्

( अष्टम स्कन्ध के प्रथम अध्याय से लेकर कृष्ण-जन्म तक की कथा चौथे दिन कहनी चाहिये )

### अष्टम स्कन्ध

#### पहला अध्याय

( स्वायम्भुव, स्वरोचिष, उत्तम और तामस— इन चार मन्वन्तरों का वर्णन )

आठवें स्कन्ध को मन्वन्तर स्कन्ध कहते हैं। इसमें पुराण के छठे लक्षण मन्वन्तर का वर्णन है।

राजा परीक्षित जी ने श्रीशुकदेव जी से पूछा—गुरुवर, स्वायम्भुव<sup>१</sup> मनु के वंश का विस्तार के साथ वर्णन मैंने सुन लिया। इसी वंश में उनकी कन्याओं के द्वारा मरीचि आदि प्रजा-पतियों ने अपनी वंश-परम्परा चलाई थी। अब आप हमें दूसरे मनुओं का वर्णन सुनाइये—

स्वायम्भुवस्येह गुरो वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः । यत्र विश्वसृजां सगौं मनूनन्यान्वदस्व नः ॥८/१/१

आप मुझे विविध मन्वन्तरों में भगवान् द्वारा की गई विभिन्न लीलाओं का श्रवण कराइये। भगवान् बीते हुए मन्वन्तरों में जो-जो लीलाएँ कर चुके हैं, वर्तमान मन्वन्तर में जो कर रहे हैं और आगामी मन्वन्तरों में जो कुछ करनेवाले हैं, वह सब हमें सुनाइये।

परीक्षित के विनम्र निवेदन को सुनकर श्रीशुकदेव महाराज ने कहना प्रारम्भ किया—राजन्, इस प्रचलित कल्प में स्वायम्भुव मनु की कन्या आकूति के गर्भ से यज्ञ भगवान् का जन्म हुआ था उन्होंने की दूसरी बेटी देवहूति से भगवान् कपिल में जन्म ग्रहण किया था। यज्ञ भगवान् धर्म का उपदेश करने के लिये और कपिल भगवान् ज्ञान का उपदेश करने के लिये इस धरा-मण्डल पर अवतीर्ण हुए थे—

आकूत्यां देवहूत्यां च दुहित्रोस्तस्य वै मनोः । धर्म-ज्ञानोपदेशार्थं भगवान् पुत्रतां गतः ॥८/१/५

परीक्षित, भगवान् कपिल का वर्णन मैं पहले ही (तीसरे स्कन्ध में) कर चुका हूँ। अब भगवान् यज्ञपुरुष ने आकूति के गर्भ से अवतार लेकर जो कुछ किया, उसका वर्णन कर रहा हूँ, सुनो—

कृतं पुरा भगवतः कपिलस्यानुवर्णितम् । आख्यास्ये भगवान् यज्ञो यच्चकार कुरुद्वह ॥८/१/६

एक बार की घटना है। स्वायम्भुव मनु ने समस्त कामनाओं और भोगों से विरक्त होकर राज्य का परित्याग कर दिया। वे अपनी पत्नी शतरूपा के साथ तपस्या करने के लिये वन में चले गये। उन्होंने सुनन्दा नदी के पावन तट पर एक पैर के बल खड़े होकर सौ वर्ष तक घोर तप किया। तप की बेला में वे इस उपनिषद् का जप करते

१. स्वायम्भू कहते हैं—ब्रह्मा को। जिस मनु की उत्पत्ति सीधे (डाइरेक्ट) मनु से होती है उन्हें स्वायम्भुव मनु कहते हैं। अब तक इन्हीं मनु के वंश का वर्णन किया गया है। शतरूपा इन्हीं की धर्म-पत्नी थी।



थे । इस उपनिषद् में आठ मन्त्र हैं उसका प्रारम्भ इस प्रकार है—जिनकी चेतना के स्पर्शमात्र से यह विश्व चेतनायुक्त हो जाता है, किन्तु यह विश्व जिन्हें चेतना का दान नहीं कर सकता; जो इसके सो जाने पर प्रलय में भी जागते रहते हैं, जिनको यह नहीं जान सकता, परन्तु जो इसे जानते हैं—वही परमात्मा हैं । यह समस्त विश्व और विश्व के सारे चराचर प्राणी—सब उस परमात्मा से ही ओत-प्रोत हैं । इसलिये संसार के किसी भी पदार्थ में मोह न करके, उसका त्याग करते हुए ही जीवन-निर्वाह मात्र के लिये उपभोग करना चाहिये । तृष्णा का पूर्णतः त्याग कर देना चाहिये । भला, ये संसार की सम्पत्तियाँ किसकी हुई हैं ?—

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम् । यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः ॥

आत्मावास्थमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विन्नम् ॥

८/१/९-१०

धीरे-धीरे मनु की तपस्या इतनी प्रगाढ़ हो गई कि उन्हें बाह्य जगत् का कुछ भी ज्ञान न रहा यह देखकर भूखे असुर और राक्षस खा जाने के लिये उन पर दूट पड़े यह देखकर अन्तर्यामी यज्ञपुरुष अपने पुत्र 'याम' नामक देवताओं के साथ वहाँ आये और असुरों का संहार कर स्वर्ग का शासन करने लगे ।

मन्वन्तर में छः बाते हुआ करती हैं—मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, ऋषि और भगवान् के अंशावतार इसलिये मन्वन्तर षड्विध कहा गया है—

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः । ऋषयोऽंशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥

ये सभी महानुभाव मिलकर मन्वन्तर की रक्षा किया करते हैं किन्तु इस प्रथम मन्वन्तर में भगवान् यज्ञ ही इन्द्र बने थे—

(१) स्वायम्भुव मनु, (२) उनके दो पुत्र—प्रियव्रत और उत्तानपाद, (३) याम आदि बारह देवता, (४) मरीचि आदि सप्तर्षि और हरि के अंशावतार यज्ञ भगवान् इस मन्वन्तर के रक्षक रहे । यज्ञ भगवान् हरि के अंशावतार और इन्द्र-दोनों का कार्य सम्पन्न किये ।

दूसरे मनु का नाम स्वरोचिष था । वे अग्नि के पुत्र थे । द्युमान्, सुषेण और रोचिष्मान् आदि उनके पुत्र थे । उस मन्वन्तर में इन्द्र का नाम था—रोचन । प्रधान देवगण थे तुषित आदि । ऊर्जस्तम्भ आदि वेदवादिगण सप्तर्षि थे । उस मन्वन्तर में वेदशिरा की पत्नी तुषिता से भगवान् का विभु नामक अवतार हुआ था । वे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे । उन्हीं से प्रेरेणा ग्रहण कर अट्ठासी हजार ऋषियों ने भी ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया था ।

तीसरे मनु थे उत्तम । वे प्रियव्रत के पुत्र थे । उनके पुत्र थे—पवन, शृङ्गय, अग्निहोत्र आदि । उस मन्वन्तर में वसिष्ठ जी के प्रमद आदि सात पुत्र सप्तर्षि थे । सत्य आदि देवता थे । इन्द्र का नाम सत्यजित् था और भगवान् का सत्यसेन अवतार हुआ जिन्होंने दुष्ट यक्षों राक्षसों का संहार किया था ।

चौथे मनु का नाम था तामस । वे तीसरे मनु उत्तम के सगे भाई थे । पृथु, ख्याति आदि उनके दस पुत्र थे । सत्यक, हरि और वीर आदि देव-गण थे । इन्द्र का नाम था त्रिशिख । उस मन्वन्तर में ज्योतिर्धाम आदि सप्तर्षि थे और हरिमेधा ऋषि की पत्नी हरिणी के गर्भ से भगवान् का 'हरि' अवतार हुआ था । इसी अवतार में उन्होंने ग्राह से गजेन्द्र की रक्षा की थी ।

यह सुनकर राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से पूछा—भगवन्, हम आप से यह सुनना चाहते हैं कि भगवान् ने गजेन्द्र को ग्राह के फन्दे से कैसे छुड़ाया था । मुनिवर, वही कथा मङ्गलकारिणी, प्रशंसनीय और शुभ है जिसमें भगवान् श्रीहरि का पावन यश वर्णित रहता है—



बादरायण एतत् ते श्रोतुमिच्छामहे वयम् । हरिर्यथा गजपतिं ग्राहग्रस्तममुचत् ॥  
तत्कथा सुमहत् पुण्यं धन्यं स्वस्त्ययनं शुभम् । यत्र यत्रोत्तश्लोको भगवान् गीयते हरिः ॥

८/१/३१-३२

श्रीसूत जी ने नैमिषारण्य में कथा सुन रहे शौनक आदि अट्ठासी हजार ऋषियों से कहा—मुनियों, राजा परीक्षित आमरण अनशन पर कथा सुनने के लिये ही बैठे थे । उनकी प्रार्थना सुनकर शुकदेव महाराज आनन्दविभोर हो उठे और उनकी प्रशंसा करके कहना प्रारम्भ किये ॥१॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

## दूसरा अध्याय

( ग्राह के द्वारा गजेन्द्र का पकड़ा जाना )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, क्षीर-सागर से घिरा हुआ एक त्रिकूट<sup>१</sup> नाम का पर्वत था वह देखने में अत्यन्त सुन्दर था लोहे, चाँदी और सोने की उसकी तीन चोटियाँ थीं । वह दस हजार योजन ऊँचा था । उसकी लम्बाई और चौड़ाई भी चारों ओर इतनी ही थी । उसकी चोटियों की छटा से समुद्र, दिशाएँ और आकाश सभी जगमगा रहे थे । उसकी अन्य छोटी-मोटी चोटियाँ भी नाना रत्नों की आभा से सभी ओर प्रकाश-पुञ्ज बिखेर रही थीं । उस पर्वत पर विविध जाति के वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ थीं । झरनों की झईर ध्वनि से वह सदा गुञ्जायमान होता रहता था—

आसीद् गिरिवरो राजंस्त्रिकूट इति विश्रुतः । क्षीरोदेनावृतः श्रीमान् योजनायुतमुच्छ्रितः ॥

तावता विस्तृतः पर्यक् त्रिभिः शृङ्गैः पयोनिधिम् । दिशः खं रोचयन्नास्ते रौप्यायसहिरण्मयैः ।

अन्यैश्च ककुभः सर्वा रत्नधातुविचित्रितैः । नानाद्रुमलतागुल्मैर्निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम् ॥८/२/१-३

चारों ओर से सागर की लहरियाँ आ-आकर उसके निचले भाग से टकराती थीं । इससे ऐसा प्रतीत होता था मानो सागर सादर उसका पैर पखार रहा हो । पर्वत पर विराजमान हरे-हरे पत्तों की आभा से उसका सारा भाग हरित तृण से आच्छन्न-सा प्रतीत होता था । उसकी कन्दराएँ गन्धर्व, नाग और किन्नर आदि की विलास-क्रीडा-स्थली थीं । वह पर्वत सिंह-व्याघ्र आदि विविध जानवरों की ध्वनियों से निनादित था ।

पर्वतराज त्रिकूट की तराई में वरुण का एक उद्यान था । उसका नाम था—ऋतुमान् । देवों के साथ देवसुन्दरियाँ उसमें क्रीडा करती रहती थीं । छहों ऋतुओं के पुष्प एक साथ उस उद्यान की शोभा बढ़ाते रहते थे । अभूतपूर्व था उसका सौन्दर्य । उद्यान के बीचोबीच विशाल, निर्मल जल से भरा एक सरोवर भी था । उसमें सुनहले रंग-विरंगे कमल विकसित थे । विविध प्रकार के पक्षी और भ्रमर अपने कलरव से उसके आकर्षण को द्विगुणित करते रहते थे । मन्दार, परिजात, चम्पा, अशोक, चन्दन आदि वृक्षों की सघन छाया से उसके तटों की भूमियाँ शीतल थीं । उन पर विविध-विध पक्षी विहार किया करते थे । उसी जंगल में हाथी और हथिनियों के झुण्डों से घिरा हुआ अत्यन्त मतवाला एक विशालकाय गजराज रहता था । उसकी गन्ध पाकर सिंह-व्याघ्र आदि भयङ्कर जानवर भी भाग कर अपने प्राणों की रक्षा करते थे । हरिण, खरगोश आदि दुर्बल उसकी कृपा से निर्भय होकर जंगल में विचरते रहते थे ।

१. गज-ग्राह की कथा रूपक-प्रधान है । कथा के अन्त में, चौथे अध्याय की समाप्ति पर, इसका रहस्योद्घाटन किया जायेगा । अतः इसके शब्दों पर ध्यान रखना आवश्यक है ।



एक बार की घटना है। शरद् ऋतु थी। कार्तिक का महीना था। पूर्णिमा तिथि थी। सूर्य की किरणें प्राणियों पर कहर ढाहा रही थीं। लोग गर्मी से बेचैन थे। गजराज भी प्रचण्ड धूप से परेशान था। प्यास भी उसे व्याकुल बना रही थी। पूरे गज-झुण्ड के साथ झूमता-झामता, वृक्षों को रौंदता हुआ गजराज उस सरोवर के समीप आया। उस सरोवर का जल अत्यन्त निर्मल एवं अमृत के समान मधुर था। सुनहले और अरुण कमलों की केशर से वह सुगन्धित हो रहा था। गजेन्द्र ने पहले तो उसमें घुसकर अपनी सूँड़ से उठा-उठा कर जी भर जल पिया, फिर उस जल में स्नान करके अपनी श्रान्ति-क्लान्ति दूर की—

विगाह्य तस्मिन्नमृताम्बु निर्मलं हेमारविन्दोत्पलरेणुवासितम् ।

पपौ निकामं निजपुष्करोद्धतमात्मानमद्भिः स्नपयन् गतक्लमः ॥ ८/२/२५

जैसे मोह-ग्रस्त गृहस्थ अपने परिवार की सेवा करते हैं, वैसे ही अज्ञानग्रस्त गजेन्द्र अपनी सूँड़ से जल की फुहारें छोड़-छोड़ कर अपनी हथिनियों और बच्चों को नहलाने लगा तथा उनके मुँह में सूँड़ डालकर जल पिलाने लगा। भगवान् की माया से मोहित होकर गजेन्द्र उन्मत्त हो रहा था। उस बेचारे को इस बात का पता ही न था कि मेरे शिर पर काल मँडरा रहा है—

स्वपुष्करेणोद्धतशीकराम्बुभिर्निपाययन् संस्नपयन् यथा गृही ।

घृणी करेणूः कलभांश्च दुर्मदो नाचष्ट कृच्छ्रं कृपणोऽजमायया ॥ ८/२/२६

परीक्षित्, गजेन्द्र जिस समय इतना उन्मत्त हो रहा था उसी समय प्रारब्ध की प्रबल प्रेरणा से एक बलशाली ग्राह ने क्रोध में भर कर उसका पैर पकड़ लिया। इस प्रकार अकस्मात् विपत्ति में पड़कर उस बलवान् गजेन्द्र ने अपनी ताकतभर अपने को छुड़ाने का प्रयास किया परन्तु छुड़ा न सका—

तं तत्र कश्चिद्वृष दैवचोदितो ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाग्रहीत् ।

यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे ॥ ८/२/२७

हाथियों, हथिनियों और उनके बच्चों ने देखा कि उनके स्वामी को बलवान् ग्राह वेग से खींचकर जल में लिये चला जा रहा है और वे बहुत घबड़ा रहे हैं तो उन्हें महान् कष्ट हुआ। वे विकल होकर चिग्याड़ने लगे। बहुतों ने उसकी मदद कर उसे जल से बाहर निकाल लेना चाहा किन्तु उन्हें अपने प्रयास में सफलता न मिली। यूथ के साथी हाथियों ने सूँड़ मिला कर उसे बाहर निकालने का भरपूर प्रयास किया किन्तु उसे जल से बाहर न निकाल सके।

इस प्रसङ्ग का वर्णन करते हुए वृन्दावन के वक्ताजन कहते हैं कि जब गजेन्द्र ग्राह से युद्ध करते-करते थकने लगा तो उसके साथी हाथी हथिनियों और बच्चों ने अपनी-अपनी सूँड़ से गजेन्द्र के पाँव, पूंछ और सूँड़ पकड़ लिये। फिर उन पकड़नेवालों को दस-दस ने पकड़ा फिर उन दस-दस को बीस-बीस ने पकड़ा और सभी एक दूसरे को खींचने में लग गये। परन्तु उस सरोवर से गजेन्द्र को खींचा नहीं जा सका—उसे टस-से मस नहीं किया जा सका।

गजेन्द्र और ग्राह अपनी पूरी-पूरी शक्ति लगाकर भिड़े हुए थे। कभी गजेन्द्र ग्राह को बाहर खींच लाता, तो कभी ग्राह गजेन्द्र को भीतर खींच ले जाता। इस प्रकार उन्हें लड़ते-लड़ते एक सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये और दोनों ही जीवित रहे। इस दृश्य को देख कर देवता भी आश्चर्यचकित हो गये अन्त में बहुत दिनों तक संघर्ष करने के कारण गजराज का शरीर शिथिल पड़ गया न तो उसके शरीर में बल रहा गया और न मन में उत्साह। शक्ति भी समाप्त हो गई। युद्ध जल में हो रहा था। ग्राह जलचर प्राणी है अतः उसका बल बढ़ा हुआ था। वह बड़े उत्साह से गजेन्द्र को भीतर की ओर खींचने लगा। इस प्रकार गजेन्द्र के ऊपर प्राणों का महान् सङ्कट आ पड़ा। वह उस सङ्कट से



अपने को मुक्त कराने में समर्थ न हो सका । पूर्ण निःसहाय हो जाने पर उसके मन में यह विचार आया— यह ग्राह नहीं, विधाता की फाँसी ही है । इसमें फँस कर मैं आतुर हो रहा हूँ । जब मुझे मेरे बराबर के हाथी भी इस विपत्ति से न उबार सके, तब वे बेचारी हथिनियाँ छुड़ा ही कैसे सकती हैं ? अतः अब मैं विश्वके एकमात्र शरणदाता भगवान् की ही शरण ग्रहण करता हूँ—

न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम् ।

ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतोऽप्यहं च तं यामि परं परायणम् ॥ ८/२/३२

इस संसार का जो भी कोई ईश्वर है, शासक है, अब मैं उसी सर्वेश्वर की शरण ग्रहण करता हूँ । वह काल-सर्प से भी प्राणियों की रक्षा करता है । उसके भय से मृत्यु भी भागती है । प्रभो, मेरी बुद्धि किङ्कर्तव्य-विमूढ हो गई है । उसकी सोचने-विचारने की शक्ति समाप्त हो गई है । मेरी सारी युक्तियाँ भी लुप्त हो चुकी हैं । अब तो आप ही मेरे शरण हैं । आप के अतिरिक्त अब मेरा कोई और सहारा नहीं है—

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः । नान्यत् किञ्चिद् विजानामि त्वमेव शरणं मम ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

## तीसरा अध्याय

( गजेन्द्र द्वारा भगवान् की स्तुति और उसकी सङ्कट से मुक्ति )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, अपनी बुद्धि से ऐसा निश्चय करके गजेन्द्र ने अपने मन को हृदय में एकाग्र किया और फिर वह पूर्व जन्म में अभ्यास किये गये श्रेष्ठ स्तोत्र के द्वारा भगवान् की स्तुति करने लगा—

एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि । जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम् ॥ ८/३/१

जगत् के मूल कारण, सब के हृदय में विराजमान पुरुष, समस्त संसार के एकमात्र स्वामी, सर्वत्र चेतना का विस्तार करनेवाले भगवान् को मैं प्रणाम कर रहा हूँ, प्रेम से उनका ध्यान कर रहा हूँ—

ॐ नमो भगवते तस्मै यत् एतच्चिदात्मकम् । पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥ ८/३/२

जिनकी दृष्टि सर्वदा ज्यों-की-त्यों एक-सी बनी रहती है, जो सबके मूल हैं, जिनका मूल कोई दूसरा नहीं है, वे ही समस्त कार्य और कारणों से परे प्रभु मेरी रक्षा करें । जो महाप्रलय की बेला में सबके विलीन हो जाने पर भी विराजमान रहते हैं, जिनको ठीक-ठीक कोई जानता नहीं, जिनके दर्शन के लिये बड़े-बड़े महात्मा महान् त्याग करते हैं, जिनमें जन्म-कर्म आदि बिल्कुल नहीं हैं, जो अरूप होते हुए भी सर्वरूप हैं, उन आश्चर्यकर्मा भगवान् की हम वन्दना करते हैं । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना से जो भगवान् का भजन करते हैं, उन्हें सारे-के-सारे अभीप्सित पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं । इतना ही नहीं, भगवान् उन्हें और भी विविधविध सुख प्रदान करते हैं तथा उन्हें अपना पार्षद भी बना लेते हैं । कृपा के सागर वे ही भगवान् इस ग्राह से मेरा उद्धार करें—

यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।

किं त्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥ ८/३/१९

जो लोग संसार के स्त्री-पुत्र आदि में फँस गये हैं, उन्हें तो आप की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है; किन्तु मुक्तात्मा-जन अपने हृदय में आपका ध्यान करते हैं । आप का भजन सारे मनोरथों को सिद्ध करनेवाला है किन्तु जो सच्चे



भक्त होते हैं, वे आपसे न कुछ मांगते हैं और न कुछ चाहते ही हैं। आप का चरित्र अत्यन्त मङ्गलमय है। भक्तजन उसका गान करते हुए आनन्द के सागर में निमग्न हो जाते हैं—“अत्युद्धृतं तच्चरितं सुमङ्गलं, गायन्त आनन्दसमुद्र-मग्नाः” ॥२०॥

जो न देव हैं न असुर; न मर्त्य हैं न पक्षी; न स्त्री हैं, न पुरुष और न नपुंसक; न गुण हैं न कर्म और न सत् हैं न असत् तथा जो सर्वस्वरूप हैं, उनकी जय हो। प्रभो, मुझे ग्राह से शरीर छुड़ाकर जीने की इच्छा नहीं है, क्योंकि गज शरीर बाहर और भीतर—सब ओर से अज्ञान से आवृत है। इसको रखकर करना ही क्या है ? मैं तो चाहता यह हूँ कि मेरे आत्म-प्रकाश का आवरण अज्ञान मिट जाय। बस, मैं इसी का मोक्ष चाहता हूँ। मैं ऐसा मोक्ष चाहता हूँ, जिसका फिर किसी भी काल में नाश न हो—

जिजीविषे

नाहमिहामुया

किमन्तर्बहिश्चावृतयेभ्योन्या ।

इच्छामि कालेन न यस्य विप्लवस्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥८/३/२५

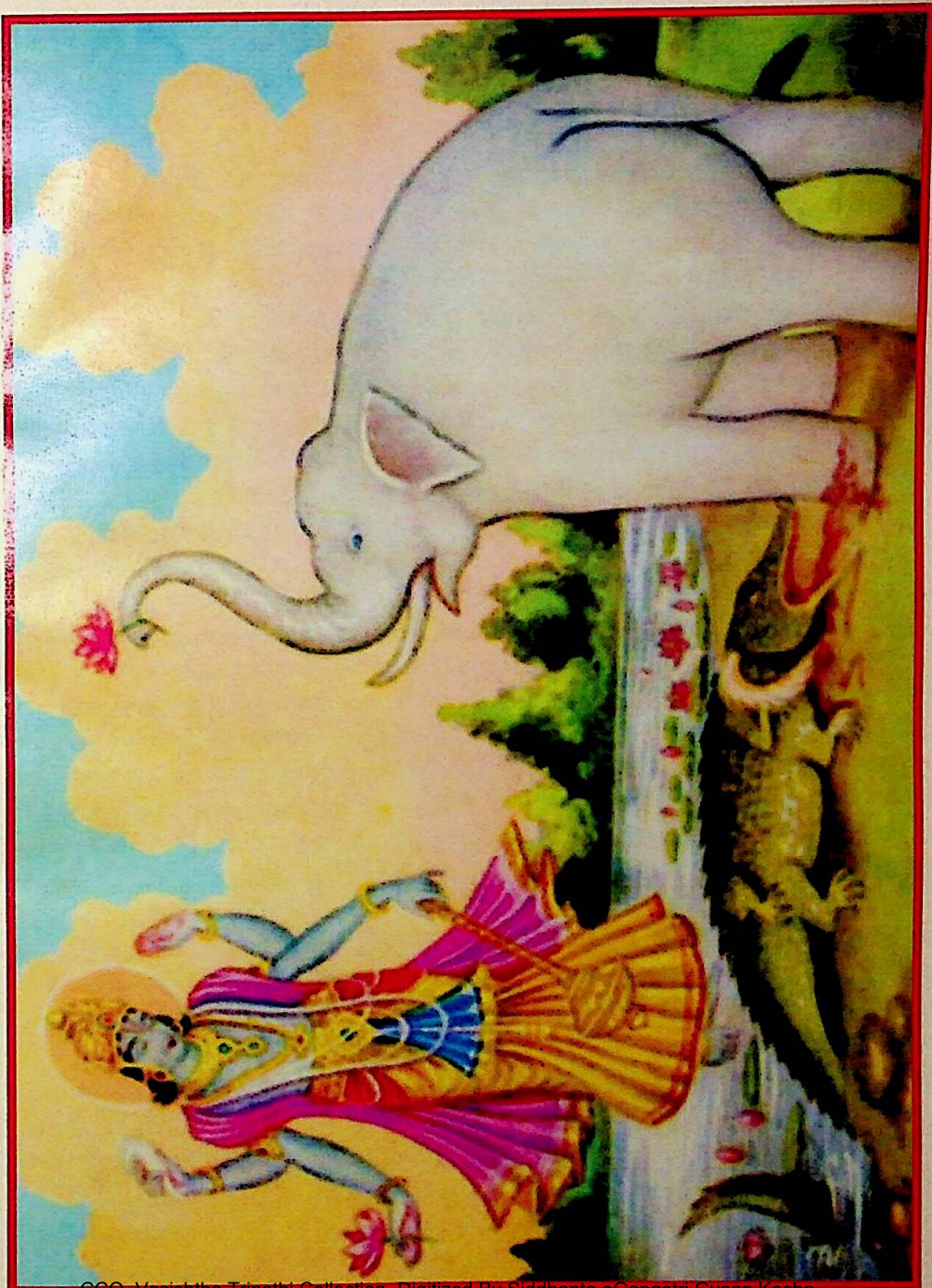
योगीलग योग के द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्म-फल को भस्म करके अपने योग-शुद्ध हृदय में जिस योगेश्वर भगवान् का साक्षात्कार करते हैं, उन अजन्मा परमपद-स्वरूप ब्रह्म को मैं प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार अट्टाईस श्लोकों से भगवान् की स्तुति करके गजराज इस प्रकार तल्लीन हो गया कि उसे अपने शरीर की कुछ भी सुधबुध न रही। उसने अपना पुरुषार्थ भी करना छोड़ दिया। उसे अपने शरीर का भी भान न रहा। जब तक मनुष्य में अपना, अपनी बुद्धि और अपने लोगों का भरोसा रहता है, तब तक भगवान् उसकी सहायता के लिये आगे नहीं बढ़ते<sup>१</sup>। असहाय गजेन्द्र की वाणी भी बन्द हो गई। उसके मन में अब केवल भगवान् का ही भान था। सहस्र वर्ष के युद्ध से गजेन्द्र के अङ्ग-अङ्ग शिथिल पड़ गये थे। अब एक झटका लगने पर उसकी मृत्यु सुनिश्चित थी।

इस प्रकार गजेन्द्र द्वारा निर्विशेष तत्त्व का उपवर्णन किये जाने पर अपने में मूर्तिभेद का अभिमान रखनेवाले, अपने को ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि के रूप में माननेवाले, देवता जब नहीं आये तब सर्वात्मा, सब देवमय श्रीहरि प्रकट हो गये। गजेन्द्र को उस प्रकार पीड़ित देखकर और उसके स्तोत्र को सुनकर, वेदमय अपने स्वच्छन्द शीघ्रगामी गरुड पर विराजमान होकर भगवान् दौड़ पड़े गजेन्द्र को बचाने के लिये। उस समय उनके उद्यत हाथ में चमचमाता चक्र विराजमान था। भगवान् पूरी तैयारी से दौड़े थे आर्त गजराज को बचाने के लिये। कहते हैं कि उस हड़बड़ी की बेला में भगवान् को गरुड की चाल बैलगाड़ी जैसी धीमी प्रतीत हुई अतः वे उसे छोड़कर पैदल ही, मन की गति से दौड़ पड़े। यद्यपि शब्द की गति से, ध्वनि की गति से गरुड भाग रहा था—“छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानः” ॥३१॥ किन्तु वह गति भगवान् को पसन्द नहीं आई अतः मन की गति से पैदल ही, चक्र उठाए दौड़ पड़े। क्यों न करते ऐसा, भक्त जो विपत्ति में था। पीताम्बर की छोर में गरुड का पंख फँसा हुआ था अतः वह भी खिंचता हुआ, घसीटता हुआ भगवान् के साथ चला गया। भगवान् की यह कृपापरवशता देखकर आकाश में स्थित देवता लोग हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करते थे—“दिविजैः सह संस्तुवद्भिः” ॥३१॥

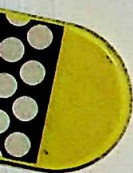
जिस समय भगवान् गजेन्द्र के पास पहुँचे उस समय वह सरोवर में डूबने ही वाला था। प्रबल बलशाली ग्राह ने उसे जकड़ कर पकड़ रक्खा था। वह बड़ा पीड़ित था। ऊपर दृष्टि किये भगवान् की राह निहार रहा था। इतने

१. जब तक द्रौपदी को अपना और अपने पतियों का भरोसा रहा तब तक उसने निर्बल तथा असहाय होकर भगवान् को नहीं पुकारा था। यही कारण था कि भगवान् ने उसकी सहायता नहीं की थी किन्तु ज्यों ही उसने आर्त होकर रो-रोकर पुकारा त्यों ही भगवान् का शाटिकावतार हो गया। द्रौपदी की साड़ी अनन्त हो गई। हारकर बैठ गया दस सहस्र हाथियों के बलवाला दुःशासन। फिर क्या था, लाज बच गई द्रौपदी की।











में गरुड पर सवार सुदर्शन चक्रधारी श्रीहरि उसे अपने ऊपर आकाश में दिखलाई पड़े। बड़ी मुश्किल से अपनी सूँड़ में कमल का एक फूल उसने उठाया और उसे भगवान् की ओर उछालकर बोला—“हे अखिलगुरो, भगवान् नारायण, आपको प्रणाम है”—

उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रान्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥ ८/३/३२

गजराज को भीषण पीडित देखकर श्रीहरि सहसा गरुड से कूद पड़े और कृपापूर्वक शीघ्रता से ग्राह-सहित गजेन्द्र को सरोवर से बाहर निकाला और देवताओं के देखते ही देखते चक्र से नक्र का मुख विदीर्ण करके ग्राह को मुक्त कर दिया—

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य सम्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ।

ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं संपश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम् ॥ ८/३/३३

जिस समय भगवान् ने गज को ग्राह के मुख से छुड़ाया उस समय उसका वह पैर, जिसे ग्राह ने पकड़ा था, जमीन पर पड़ता ही न था, लड़खड़ा रहा था। शरीर शीत के मारे काँप रहा था अतः भगवान् ने एक हाथ से उसका पैर पकड़ रक्खा था तथा दूसरे हाथ में अपना पीताम्बर लेकर उसका सारा शरीर पोंछ रहे थे और कह रहे थे—“गजराज, मुझे माफ़ कर देना, मैंने पुकार सुनने में, सुनकर आने में जो देरी कर दी।

भगवान् के हाथ का स्पर्श पाते ही गजराज भी मुक्त होकर भगवान् के धाम में चला गया। यही स्थिति ग्राह को भी हुई।

भावुकों का कहना है कि गजेन्द्र ‘हरि’ इन दो अक्षरों का नाम भी उच्चारण नहीं करने पाया था कि भगवान् आ गये। सुनते हैं कि सत्यभामा ने प्रभु से पूछा कि अरे, इतनी जल्दी में कहाँ भाग रहे हैं, तब भगवान् ने ‘हाथी’ कहा। परन्तु ‘हा’ सत्यभामा के पास और ‘थी’ वहाँ ग्राह के मुखसे गजेन्द्र को उबार कर।

अन्य भावुकों का कहना कुछ इस प्रकार भी है—गजेन्द्र ने जिस समय ‘गोविन्द’ कहकर पुकारा, उस समय भगवान् भोजन कर रहे थे। नाम सुनते ही उन्होंने भोजन की थाली अलग ठेली और हाँथ-मुँह बिना धोये ही दौड़ पड़े। लक्ष्मी जी ने कहा—नाथ, हाथ तो धो लीजिये, किन्तु भगवान् ने उनकी बात अनसुनी कर दी। विष्वक्सेन ने भगवान् के सामने खड़ाऊँ रक्खी परन्तु भगवान् के पैर की ठोकर से खड़ाऊँ फुटबाल की तरह दूर जा गिरी। भगवान् के मन में गजेन्द्र के लिये इतनी करुणा उमड़ी कि उन्होंने घर पर केवल ‘गो’ सुना और गरुड पर आरुढ़ होकर दौड़ पड़े फिर रास्ते में ‘विन्द’ सुनाई पड़ा। भक्त के करुण क्रन्दन पर विकल होकर दौड़नेवाले भगवान् की हड़बड़ी का यह एक नमूना है।

गजेन्द्र स्तोत्र का पाठ बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों से छुटकारा दिलानेवाला है। यह भयङ्कर दुःस्वप्नों का विनाशक भी है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना मालवीय जी को यह स्तोत्र अतिशय प्रिय था। वे प्रतिदिन इसका पाठ किया करते थे।

लोगों का यह भी मानना है कि गज-ग्राह की लड़ाई गङ्गा और गण्डकी नदी के सङ्गम पर हुई थी। वहीं ग्राह ने गज को पकड़ा था। वहाँ विष्णु का एक भव्य मन्दिर भी है। इसे हरि-हर-क्षेत्र के नाम से भी जाना जाता है। यहाँ का मेला विश्व-प्रसिद्ध है।

१. दक्षिणकरस्थ चक्र की कठोर ठोकर से, जलशूरग्राह की समस्त शक्ति सो गई।

वाम करकज से सँभाला है करीश पग, देखते ही विधि शम्भु की भी मति खो गई ॥

पीतपटकोने ये आँगोछते हैं पोछतें हैं बिन्दु, शोभा यह अनुराग बीज बो गई।

मानो वज्रराज कहते हैं, प्यारे गजराज, क्षमा करो टेर सुनने में देर हो गई ॥ विन्दु महाराज ॥

CCO. Vasishtha Tripathi Collection. Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha



**हृदय**—गजेन्द्र-मोक्ष की कथा रूपक-प्रधान है। संसार ही सरोवर है। जीव ही मतवाला गजेन्द्र है और काल ही मगर है, ग्राह है। जीवात्मारूपी गजेन्द्र त्रिकूट पर्वत पर रहता है। सत्त्व, रज और तम—इन तीनों के मेल से बना हुआ यह शरीर ही त्रिकूट पर्वत है। धवल वर्ण का सत्त्व, पीतवर्ण का रज और कृष्णवर्ण का तम ही उसकी चाँदी, सोने और लौह की तीन चोटियाँ हैं, तीन शृंग हैं। जब जीव संसाररूपी सरोवर में काम-क्रीडा में संसक्त हो मतवाला बन जाता है, तभी कालरूपी ग्राह उसके पैर को पकड़ लेता है। काल जब आता है तो सब से पहले पैर ही पकड़ता है। प्राणी जब लंगड़ा कर चलने लगे तो जान जाइये कि काल ने अब पकड़ लिया। काल जब आकर पकड़ लेता है तब पत्नी-पुत्र आदि कोई भी नहीं छुड़ा सकता। उस समय कोई युक्ति-उपाय भी नहीं काम करता। काल के मुख से एकमात्र वही छूट सकता है जिसे भगवान् का दर्शन होता है। भगवान् ही काल के भी काल महा काल हैं। सुदर्शन चक्र से काल ग्राह का मुख भगवान् ने फाड़ा था। सुदर्शन ज्ञान का प्रतीक है। ज्ञान होने पर काल सर्वदा के लिये समाप्त हो जाता है, मर जाता है। उस समय व्यक्ति शरीर का परित्याग कर काल के प्रभाव से रहित, माया की छाया से विहीन विष्णु-लोक वैकुण्ठ का मेम्बर बन जाता है।

गजेन्द्र-मोक्ष की कथा कलेवर से छोटी होने पर भी मार्मिकता से भरी हुई है अतः इस पर नित्य मनन करने की आवश्यकता है।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३॥

## चौथा अध्याय

( गज और ग्राह का पूर्वचरित्र तथा उनका उद्धार )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, आर्त गजेन्द्र के उद्धार को देखकर ब्रह्मा, शङ्कर आदि देवता भगवान् के इस कार्य की प्रशंसा करते हुए आकाश से फूलों की वर्षा करने लगे, देवता दुन्दुभि बजाने लगे, गन्धर्व नाचने लगे, अप्सराएँ गाने लगीं, ऋषि, चारण और सिद्ध पुरुषोत्तम की स्तुति करने लगे—

तदा देवर्षिगन्धर्वा ब्रह्मेशानपुरोगमाः । मुमुक्षुः कुसुमासारं शंसन्तः कर्म तन्दरेः ॥

नेदुर्दुन्दुभयो दिव्या गन्धर्वा ननृतुर्जगुः । ऋषयश्चारणाः सिद्धास्तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम् ॥ ८/४/१-३

ग्राह ने भी शरीर छोड़कर दिव्यरूप को धारणा कर लिया। भगवान् को प्रणाम कर उनकी स्तुति की और फिर अपने गन्धर्व लोक को चला गया। पूर्व जन्म में वह हूहू नाम का एक श्रेष्ठ गन्धर्व था। महर्षि देवल के शाप से ग्राह हो गया था। कहते हैं कि एक बार हूहू मदमस्त अप्सराओं के साथ सरोवर में विहार कर रहा था। उसी समय जटाजूट धारी देवल स्नान करने के लिये उस सरोवर के जल में उतरे। वे एक किनारे स्नान करने लगे। हूहू को मजाक सूझा। उसने जल में डुबकी लगाई और जाकर पकड़ लिया मुनि के पैर को। वे डर कर दूर भागे। हूहू हा-हा कर हँसने लगा। मुनि ने फिर स्नान शुरू किया। गन्धर्व ने पुनः वही चपलता की। बार-बार परेशान करने पर मुनि को क्रोध आ गया<sup>१</sup>। उन्होंने शाप देते हुए कहा—तुम ग्राह की तरह पैर पकड़ रहे हो अतः जाओ ग्राह बन जाओ। अब तो गन्धर्व कांप उठा। उसने पैर पकड़ कर मुनि को मनाया। प्रसन्न हुए मुनि ने कहा—जाओ गजेन्द्र-मोक्ष की बेला में शाप से मुक्त हो जाओगे।

१. अतिशय रगड़ करै जो कोई। अनल प्रकट चन्दन ते होई। रामचरितमानस।



इधर गजेन्द्र भी भगवान् के स्पर्श को प्राप्त कर अज्ञान के बन्धन से मुक्त हो गया। उसे भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति हो गई—वह पीताम्बरधारी और चतुर्भुज बन गया—

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद् विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् । प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥८/४/६॥  
गजराज पूर्व जन्म में पाण्ड्यदेश का राजा था। उसका नाम था—इन्द्रद्युम्न। इन्द्रद्युम्न भगवान् विष्णु का प्रबल भक्त था। एक समय की घटना है। वह मलयपर्वत पर अपने आश्रम में मौन बैठकर भगवान् हरि का पूजन कर रहा था। उसकी जटाएँ बढ़ी हुई थीं। उसका वेश तपस्वी का-सा था। यह भगवान् की इच्छा थी कि उसी समय परमेशस्वी अगस्त्यमुनि अपनी शिष्य-मण्डली के साथ वहाँ आ पहुँचे। राजा ने मुनि को आया हुआ देखकर भी न तो उनकी अगवानी की, न चरण धोकर उनका पूजन किया और न बैठने के लिये आसन ही दिया। अपनी जगह बैठ कर अधखुली आँखों से वह देखभर रहा था। उसके इस व्यवहार को देखकर मुनि कुपित हो उठे। उन्होंने शाप देते हुए कहा—यह दुरात्मा है, बोंगी है और है ब्राह्मणों का अपमान करनेवाला भी। यह नीच गज के समान अधखुली आँखों से देखता हुआ बैठा है अतः इसे शीघ्र ही गज-योनि की प्राप्ति हो जाय।

यह कह कर मुनि अगस्त्य अपनी शिष्य-मण्डली के साथ वहाँ से चले गये। इन्द्रद्युम्न ने इसे दैव का विधान मान कर शिरोधार्य किया फिर गजरूप में उसका जन्म हुआ किन्तु पूर्वजन्म में की गई भगवान् की आराधना के फलस्वरूप उसकी स्मृति विलुप्त नहीं हुई थी। भगवान् श्रीहरि ने इस प्रकार गजेन्द्र का उद्धार करके उसे अपना पार्षद बना लिया। गन्धर्व, सिद्ध, देवता उनकी इस लीला का गान करने लगे। पार्षद बने गजराज को साथ ले गरुड पर सवार होकर भगवान् अपने धाम को चले गये—

एवं विमोक्ष्य गजयूथपमब्जनाभस्तेनापि पार्षदगतिं गमितेन युक्तः ।

गन्धर्वसिद्धविबुधैरूपगीयमानकर्माद्भुतं स्वभवनं गरुडासनोऽगात् ॥८/४/१३॥

कुरुवंश के शिरोमणि परीक्षित, मैंने गजेन्द्र के उद्धार की कथा आप को सुना दी। यह प्रसङ्ग कलिमल का हर्ता दुःस्वप्न-विनाशक, यश, उन्नति और स्वर्ग देनेवाला है। भगवान् का कथन है कि दुःस्वप्न दिखलाई पड़ने पर जो व्यक्ति प्रातःकाल उठकर इसका पाठ करता है उसे दुःस्वप्नों का अनिष्ट फल नहीं प्राप्त होता। जो व्यक्ति ब्राह्ममुहूर्त में इसका पाठ करते हैं उन्हें मृत्यु की बेला में निर्मल बुद्धि मैं प्रदान करता हूँ—

तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विमलां मतिम् ॥८/४/२५॥

श्री शुकदेव महाराज का कथन है कि भगवान् ने बिदा होने की बेला में सबके सामने यह कह दिया कि जो लोग मेरा, गजेन्द्र का, इस सरोवर का, यहाँ के गिरि-कन्दर, कानन एवं वृक्ष-लतादि का स्मरण करेंगे, उनको मेरी प्राप्ति होगी और वे सब पापों से छूट जायेंगे, उन्हें सारे कल्याण भी अपने आप प्राप्त हो जायेंगे ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

## पाँचवाँ अध्याय

( रैवत और चाक्षुष मन्वन्तर का वर्णन )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, चौथे मन्वन्तर के वर्णन के प्रसङ्ग में मैंने आप को पवित्र और पापविनाशिनी गजेन्द्र मोक्ष की कथा सुनाई। अब आगे रैवत आदि मन्वन्तरों का श्रवण कीजिये—



राजनुदितमेतत् ते हरेः कर्माघनाशनम् । गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं रैवतं त्वन्तरं शृणु ॥८/५/१॥  
पाँचवें मनु का नाम था—रैवत । वे चौथे मनु तामस के सगे भाई थे । उनके अर्जुन, बलि, विन्ध्य आदि कई पुत्र थे । उस मन्वन्तर में इन्द्र का नाम था—विभु । भूतरय आदि देवता थे । उस समय हिरण्यरोमा, वेदशिरा, ऊर्ध्वबाहु आदि सप्तर्षि थे । उनमें शुभ्र ऋषि की पत्नी का नाम था विकुण्ठा । उसी के गर्भ से भगवान् का अवतार हुआ—वैकुण्ठ<sup>१</sup> । उन्होंने लक्ष्मी की प्रार्थना से, उनको प्रसन्न करने के लिये, वैकुण्ठ धाम की संरचना की थी । वह समस्त लोकों में श्रेष्ठ है ।

रहस्य—अब यहाँ प्रश्न उठता है कि वैकुण्ठ तो नित्य है फिर उसको भगवान् ने बनाया कैसे ? बनायेंगे तो वह अनादि नहीं होगा क्योंकि निर्मित वस्तु नित्य ही अनित्य होती है । इसका समाधान यह दिया जाता है कि नित्य वैकुण्ठ तो है ही । जैसे विशाल मन्दिर में गर्भ-गृह होता है, वैसे ही विशाल वैकुण्ठ में भगवान् ने लक्ष्मी जी की प्रसन्नता के लिये एक रमा-वैकुण्ठ बनवा दिया । इसकी चर्चा तृतीय स्कन्ध में की जा चुकी है ।

छठे मनु का नाम चाक्षुष था । यह चक्षु के पुत्र थे अतः चाक्षुष कहलाये<sup>२</sup> । उनके पुरु, पुरुष, सुद्युम्न आदि कई पुत्र थे । इन्द्र का नाम था मन्त्रद्युम्न और प्रधान देवगण थे—आप्य आदि । उस मन्वन्तर में हविष्यमान् और वीरक आदि सप्तर्षि थे । उस समय वैराज की पत्नी सम्भूति के गर्भ से भगवान् का अंशावतार हुआ था । उनका नाम था—अजित । अजित ने ही सागर का मन्थन कर देवताओं को अमृत पिलाया था और वे ही कच्छपरूप धारण कर मन्दराचल को अपनी पीठ पर भी धारण किये थे—

अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः ॥

पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा । भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः ॥

८/५/९-१०

इस प्रसंग की चर्चा सुनकर राजा परीक्षित ने पूछा—मुनिवर, समुद्र का मन्थन क्यों किया गया और अमृत की प्राप्ति कैसे हुई ? इस प्रसङ्ग को आप विस्तार से मुझे सुनाने की कृपा करें । संसार के ताप से संतप्त मेरा मन भगवान् की कथा से तृप्त ही नहीं हो रहा है<sup>३</sup> ।

सूत जी नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—ऋषिगण, राजा परीक्षित के इस प्रकार प्रश्न करने पर श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, एक बार महर्षि दुर्वासा कहीं जा रहे थे । उनकी ग्रीवा में पारिजात पुष्प की अम्लान माला लटक रही थी । उसी समय सामने से आ गये इन्द्र । ऋषि ने प्रसन्न हो वह माला इन्द्र के गले में डाल दी । लक्ष्मीमद से उन्मत्त इन्द्र ने उसे ऐरावत गज के मस्तक पर रख दिया । ऐरावत ने अपनी सूँड़ से उसे खींच कर पैरों से कुचल दिया । यह दृश्य देखकर दुर्वासा कुपित हो उठे । उन्होंने इन्द्र को शाप दिया—तू तीनों लोकों के सहित शीघ्र ही श्रीहीन हो जायेगा<sup>४</sup> । ऋषि के शाप के प्रभाव से देवता श्रीविहीन हो गये । जब यह वृत्तान्त असुरों को विदित हुआ तो उन लोगों ने देवताओं पर आक्रमण कर दिया । दोनों दलों में भीषण मार-काट मच गई । देवता पराजित हुए । उनकी समझ में ही न आ रहा था कि—अब क्या किया जाय ? अन्ततः वे ब्रह्मा जी की शरण में गये । अपना

१. विकुण्ठाया अपत्यं पुमान् वैकुण्ठः । विकुण्ठा के पुत्र को वैकुण्ठ कहते हैं । विकुण्ठा के अन्य पुत्रों को भी वैकुण्ठ कहा जाता है ।

२. चक्षुषः पुत्रः चाक्षुषः ।

३. रामचरित जे सुनत अघाहीं । रस विशेष जाना तिन नाहीं ॥रामचरितमानस॥

४. देखिये—विष्णुपुराण, १/९॥



सारा दुःख-दर्द ब्रह्मा जी को सुनाया । ब्रह्मा ने कहा—देवों, तुम लोग घबड़ाओ नहीं । हम सभी अशरण-शरण भगवान् श्री हरि की शरण में चलें । वे ही हम लोगों की पीडा का निवारण करेंगे । ऐसा कह कर ब्रह्माजी देवताओं को लेकर भगवान् अजित के निज धाम वैकुण्ठ लोक में गये । वहाँ ध्यान-मग्न हो ब्रह्मा ने भगवान् की इस प्रकार स्तुति प्रारम्भ की—भगवन्, आप निर्विकार, सत्य, अनन्त, आदिपुरुष, सर्वान्तर्यामी, अखण्ड एवं अप्रतर्क्य हैं । मन और वाणी की सीमा से आप ऊपर हैं । आप सभी देवों के आराध्य और स्वयं प्रकाश हैं । हम सभी आप के चरणों में प्रणाम करते हैं—

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ।  
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं नमामहे देवरं वरेण्यम् ॥ ८/५/२६

हम आप की शरण में आये हैं । आप हम लोगों की रक्षा करें, रक्षा करें । इस प्रकार पच्चीस श्लोकों से भगवान् की भावभरी स्तुति की ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥



## छठा अध्याय

( देवों की असुरों के साथ सन्धि और अमृत के लिये उद्योग करना )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, जब देवताओं ने सर्वशक्तिमान् भगवान् की इस प्रकार स्तुति की, तब वे उनके बीच में ही आविर्भूत हो गये । उनके शरीर से कान्ति का पुञ्ज इस प्रकार निकल रहा था मानों हजारों-हजारों सूर्य एक साथ आकाश-मण्डल में उदित हो गये हों—

एवं स्तुतः सुरगणैर्भगवान् हरिरीश्वरः । तेषामाविरभूतद् राजन् सहस्राकौन्दयद्युतिः ॥ ८/६/१

भगवान् के तेजोमय श्रीविग्रह को देखकर शिव और ब्रह्मा प्रसन्न हो उठे । उन्होंने देवताओं के साथ पुनः आठ श्लोकों से स्तुति करते हुए कहा—जो जन्म, स्थिति और प्रलय से परे हैं, जो प्राकृत गुणों से रहित हैं, जो मोक्षस्वरूप हैं, जो परमानन्द के महासागर हैं, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं, जो अनन्त हैं—उन महान् ऐश्वर्यशाली भगवान् को हम बार-बार प्रणाम करते हैं—

अजातजन्मस्थितिसंयमायागुणाय निर्वाणसुखार्णवाय ।  
अणोरणिमोऽपरिगण्यधाम्ने महानुभावाय नमो नमस्ते ॥ ८/६/८

इस प्रकार आठ श्लोकों में भगवान् के आठ ऐश्वर्यों का वर्णन करते हुए देवों ने दिव्य स्तुति की यद्यपि भगवान् अकेले ही सब कुछ करने में समर्थ हैं फिर भी समुद्र-मन्थन आदि के द्वारा लीला-विहार करने की इच्छा से देवताओं को सम्बोधित करते हुए उन्होंने इस प्रकार कहा—ब्रह्मा, शङ्कर और देवताओं सावधान होकर मेरी बात सुनो । तुम्हारे कल्याण का यही उपाय है । देखो, इस समय असुरों पर काल की कृपा है । इसलिये जब तक तुम्हारे अभ्युदय और उन्नति का उचित समय नहीं आता, तब तक तुम्हें दैत्यों और दानवों के साथ जाकर सन्धि कर लेनी चाहिये । यही राजनीति है कि—कठिन परिस्थिति के आजाने पर कार्य साधने को दृष्टि में रखकर शत्रुओं से भी सन्धि कर लेनी चाहिये । यह बात दूसरी है कि स्वार्थ के सिद्ध हो जाने पर उनके साथ साँप और चूहे वाला वर्ताव कर सकते हैं—



अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे । अप्राहिमूषकवत्<sup>१</sup> देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः ॥८/६/२०

अतः अमृत उत्पन्न करने का शीघ्र प्रयास कीजिये । अमृत पीने से मरणधर्मा प्राणी भी अमर हो जाता है । अमृत प्राप्त करने का उपाय यह है— पहले सागर में घास, लताएँ और सब प्रकार की औषधियाँ डाल दो फिर तुम लोग मन्दराचल की मथानी और वासुकि नाग की डोरी (नेती) बनाकर मेरी सहायता से समुन्द्र-मन्थन करो । अब आलस्य और असावधानी का समय नहीं है । देवताओं, विश्वास रखो—दैत्यों को तो मिलेगा केवल श्रम और क्लेश, किन्तु अमृत मिलेगा केवल तुम लोगों को ही । असुरों की जो-जो शर्त हो, उसे स्वीकार कर लेना । शान्ति से सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं, क्रोध से कुछ नहीं होता । पहले सागर से कालकूट विष निकलेगा, उससे डरना नहीं । किसी भी वस्तु के लिये कभी भी लोभ न करना । कामना और क्रोध से दूर रहना । बाकी सब काम मैं सिद्ध कर दूँगा ।

हृदय—संसार ही सागर है । उसका मन्थन करके ज्ञान और भक्तिरूपी अमृत प्राप्त करना चाहिये । ज्ञान और भक्तिरूपी अमृत पीनेवाला अमर हो जाता है । मन को मन्दराचल और प्रेम की डोर बना कर संसार-सागर का मन्थन करो यही है रहस्य इस प्रकरण का ।

इस प्रकार देवताओं को शिक्षा देकर भगवान् उनके देखते-ही-देखते अन्तर्हित हो गये । ब्रह्मा, शिव आदि देवता भी अपने-अपने लोकों को चले गये । भगवान् के आदेश का पालन करते हुए इन्द्र आदि देवता राजा बलि के पास गये । अस्त्र-शस्त्र-विहीन देवताओं को देखकर दैत्यों ने उन्हें पकड़ लेना चाहा किन्तु नीति-निपुण बलि ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया । इन्द्र ने बड़ी मधुर वाणी से सन्धि की कामना की और मिलकर समुद्र-मन्थन का प्रस्ताव रक्खा । बलि ने सागर-मन्थन की बात स्वीकार कर ली । उनके सेनापतियों ने भी उनका समर्थन कर दिया । देवों और दैत्यों में सन्धि हो गई । सब ने जाकर मथानी बनाने के लिये मन्दराचल को उखाड़ा और उसे लेकर चले समुद्र की ओर । किन्तु सुवर्ण का वह पर्वत इतना भारी था कि सभी शीघ्र ही श्रान्त हो गये और उसे पटक दिया भूतल पर, जिससे बहुत से देव और दैत्य दबकर चूर्ण हो गये । देवताओं को हतोत्साह देखकर गरुड पर आरूढ भगवान् सहसा वहीं प्रकट हो गये । उन्होंने अमृत-वर्षिणी दृष्टि से देखकर सबको जीवित कर दिया, उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत होता था मानों खरोंच भी न लगी हो । इसके बाद भगवान् ने पर्वत को बाँए हाथ पर उठाया और गरुड पर आरूढ हो गये फिर तो उन्होंने देवताओं और असुरों के साथ समुद्र-तट की यात्रा की । वहाँ पहुँच कर भगवान् ने पर्वत को उतार कर गरुड को बिदा कर दिया; क्योंकि गरुड के डर के मारे वासुकि नाग वहाँ आता नहीं—

ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः ॥८/६/३९

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

•

१. एक मदारी की पिटारी में एक कृष्ण सर्प बन्द था । दैवसंयोग से उसी पिटारी में एक चूहा पहुँच गया । चूहा साँप को देखते ही भयवश कांपने लगा । तब साँप ने उसे पुचकार कर समझाया कि तुम पिटारी में छेदकर दो, फिर हम दोनों भाग निकलेंगे, पहले तो साँप की इस बात पर चूहे को विश्वास न हुआ । किन्तु समझाने पर उसने पिटारी में छेद कर दिया । इस प्रकार काम बन जाने पर साँप ने चूहे को खा लिया और पिटारी से भाग निकला । यह कथा पञ्चतन्त्र में भी आई है ।



## सातवाँ अध्याय

( समुद्र का मन्थन और भगवान् शङ्कर द्वारा विषपान )

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, देव और असुर वासुकि नाग के पास गये। उनसे मन्दर पर्वत की डोरी (नेती) बनने का प्रस्ताव रक्खा। उन्होंने कहा आप लोगों को तो अमृत मिलेगा। मुझे क्या मिलेगा कि मन्दर-मथानी की नेती बनकर मैं अपना शरीर खिंचवाऊँ ? इस पर देवों और असुरों ने कहा—अमृत में आप का भी हिस्सा लगेगा। इस पर वासुकी डोरी बनने के लिये सहमत हो गये फिर वे आकर मन्दराचल के बीचोबीच लिपट गये—

ते नागराजमामन्थ फलभागेन वासुकिम् । परिवीच्य गिरौ तस्मिन् नेत्रमब्धिं मुदान्विताः ॥८/७/१

सारी तैयारी पूरी हो गई। बड़ी सावधानी के साथ सागर का मन्थन प्रारम्भ करने की बेला उपस्थित हुई। श्रीहरि नें जाकर वासुकिनाग के मुखभाग को पकड़ लिया। सारे देवता उनके पीछे खड़े होकर वासुकी को पकड़ लिये। देवताओं को सर्वदा आशङ्का की दृष्टि से देखनेवाले दैत्यों को यह बात पसन्द नहीं आई। उन लोगों ने कहा—सर्प की पूँछ अशुभ मानी गई है, अमङ्गलकारिणी है अतः हम लोग उसे नहीं पकड़ेंगे—

तन्नैच्छन् दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम् । न गृहणीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम् ॥८/६/३

हमने वेद-शास्त्रों का सविधि अध्ययन किया है। प्रशस्त वंश में हमारा जन्म हुआ है। वीरता भी हमारी जगद्विदित है अतः सर्प की पुच्छ का स्पर्श हम लोग नहीं करेंगे जैसा भगवान् का आदेश था। असुरों की बात सुन कर देवता मौन खड़े रहे। भगवान् असुरों की अज्ञता पर मुस्करा उठे। उन्होंने वासुकि के मुख-भाग को छोड़कर पुच्छ-भाग को पकड़ लिया। देवता उनके पीछे लग गये। इस प्रकार अपना-अपना स्थान निश्चित करके देवता और असुर अमृत-प्राप्ति के लिये पूरी तैयारी के साथ समुद्रमन्थन करने लगे किन्तु विघ्न यह उपस्थित हुआ कि मन्दर पर्वत बहुत भारी था। उसके नीचे कोई आधार नहीं था अतः वह नीचे की ओर धँसता जा रहा था। प्रयत्नपूर्वक कस कर पकड़ने पर भी मन्थनकर्ता उसे रोक न पा रहे थे। उन्हें अपना सारा प्रयास निष्फल होता दिखलाई पड़ा। उनकी मुखाकृति विकृत हो गई, मुख पर उदासी छा गई। उन लोगों ने सोचा कि भाग्य में अमृत-पान लिखा ही नहीं है—

ते सुनिर्विण्णमनसः परिम्लानमुखश्रियः । आसन् स्वपौरुषे नष्टे दैवेनातिबलीयसा ॥८/७/७

देवों ने समुद्र-मन्थन के पूर्व विघ्न-विनाशक गणेश की पूजा नहीं की थी, इसलिये विघ्नराज उनके कार्य में विघ्न कर रहे थे। भगवान् को इस बात का पता चल गया अतः उन्होंने गणेश की पूजा करवाई और फिर अतिविशाल और विचित्र कच्छप का रूप धारण कर जा बैठे मन्दराचल के नीचे, उसे उठा लिया अपनी पीठ पर<sup>१</sup>। भगवान् की शक्ति अनन्त है। वे सत्यसङ्कल्प हैं। उनके लिये यह कौन-सी बड़ी बात थी—

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेष्वरो दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।

कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत् प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥ ८/७/८

१. अमृत-वितरण की बेला में वासुकिनाग की चर्चा नहीं आती संभवतः उनके साथ धोखा हुआ। देवों और असुरों के झगड़े के कारण उन्हें अमृत से वञ्चित होना पड़ा।
२. मन्थन की बेला में डोरी की खिंचाई होगी। मुखसे जहरीला भाग निकलेगा अतः वहाँ लगनेवाले झुलस जायेंगे, मूर्च्छित हो जायेंगे, मर जायेंगे।
३. हृदय—मनरूपी मन्दराचल निराधार रहने पर संसार-सागर में डूब जाता है। मन-मन्दर आधार के बिना स्थिर नहीं रह पाता। उसे भगवत्स्वरूप, भगवन्नाम की आवश्यकता है। उसे वह आधार मिलेगा, तो वह संसार-सागर में कभी नहीं डूबेगा। यहाँ यही रहस्य है।



देवों और असुरों ने देखा कि अब मन्दर तो अन्दर नहीं धँस रहा है, वह ऊपर उठ आया है। उन बेचारों को क्या मालूम कि यह तो भगवान् की कृपा का फल है। फिर वे फिर से समुद्र-मन्थन के लिये उठ खड़े हुए। उस समय भगवान् ने जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन विशाल अपनी पीठ पर मन्दर को अनायास धारण कर रक्खा था। अब मथने की बेला में मन्दर, भगवान् की पीठ पर गड़कर घूमने लगा। उन्हें ऐसा मालूम पड़ता था मानो कोई उनकी पीठ खुजला रहा हो। देवों और असुरों में भगवान् ने अपनी शक्ति प्रविष्ट करा कर उनके उत्साह का संवर्धन किया। अब पर्वत ऊपर की ओर फँकाने लगा अतः पर्वत के ऊपर, दूसरे पर्वत के समान बनकर, सहस्रबाहु भगवान् उसे अपने हाथों से दबाकर स्थित हो गये। भगवान् के इस अद्भुत कृत्य को देखकर ब्रह्मा, शङ्कर और इन्द्र आदि उनकी स्तुति करके उनके ऊपर फूलों की वर्षा करने लगे—

उपर्यगेन्द्रं गिरिराडिवान्य आक्रम्य हस्तेन सहस्रबाहुः ।

तस्थौ दिवि ब्रह्मभवेन्द्रमुख्यैरभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः ॥ ८/७/१२

इस प्रकार हम देखते हैं कि सागर-मन्थन की बेला में चारों ओर भगवान् ही भगवान् थे। पर्वत के नीचे, पर्वत के ऊपर, देवों, असुरों और वासुकि के भीतर तथा डोर पकड़े हुए चारों ओर भगवान् ही भगवान् थे। धन्य है भगवान् की कृपा ! सागर का मन्थन तेजी से चल रहा था। वासुकि की जम कर खिंचाई हो रही थी अतः उनके श्वासों से विष की आग निकल रही थी। उससे झुलस कर देव और असुर निस्तेज हो गये। भगवान् ने वर्षा करा कर एवं शीतल सुगन्धित पवन बहा कर देवों की जलन को शान्त किया। इससे देवताओं को उतना कष्ट नहीं हुआ जितना कि असुरों को। मथते-मथते जब सब श्रान्त हो गये थक गये, किन्तु अमृत नहीं निकला तब स्वयं अजित भगवान् कमर कसकर, दोनों हाथों से दोनों ओर की डोर पकड़कर अकेले ही समुद्र को मथने लगे—“यदा सुधा न जायेत निर्ममन्थाजितः स्वयम्” ॥ १६॥

उस समय मन्थन करते हुए भगवान् की कैसी शोभा हुई, इसका वर्णन करते हुए श्रीशुकदेव जी महाराज कहते हैं कि—भगवान् मेघ के समान श्याम हैं, उनके श्रीविग्रह पर पीताम्बर शोभा पा रहा है, कानों में बिजली की भाँति सुवर्ण का कुण्डल विराजमान है, शिर पर लहराते हुए घुँघराले बाल हैं, नेत्रों में लाल-लाल रेखाएँ उभरी हुई हैं और गले में वनमाला लहरा रही है। सम्पूर्ण जगत् को अभय प्रदान करनेवाले अपने भुजदण्डों से वासुकि नाग को पकड़कर तथा कूर्मरूप से पर्वत को धारण कर जब मन्दराचल की मथानी से समुद्र-मन्थन करने लगे, उस समय वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो दूसरा मन्दराचल हो—

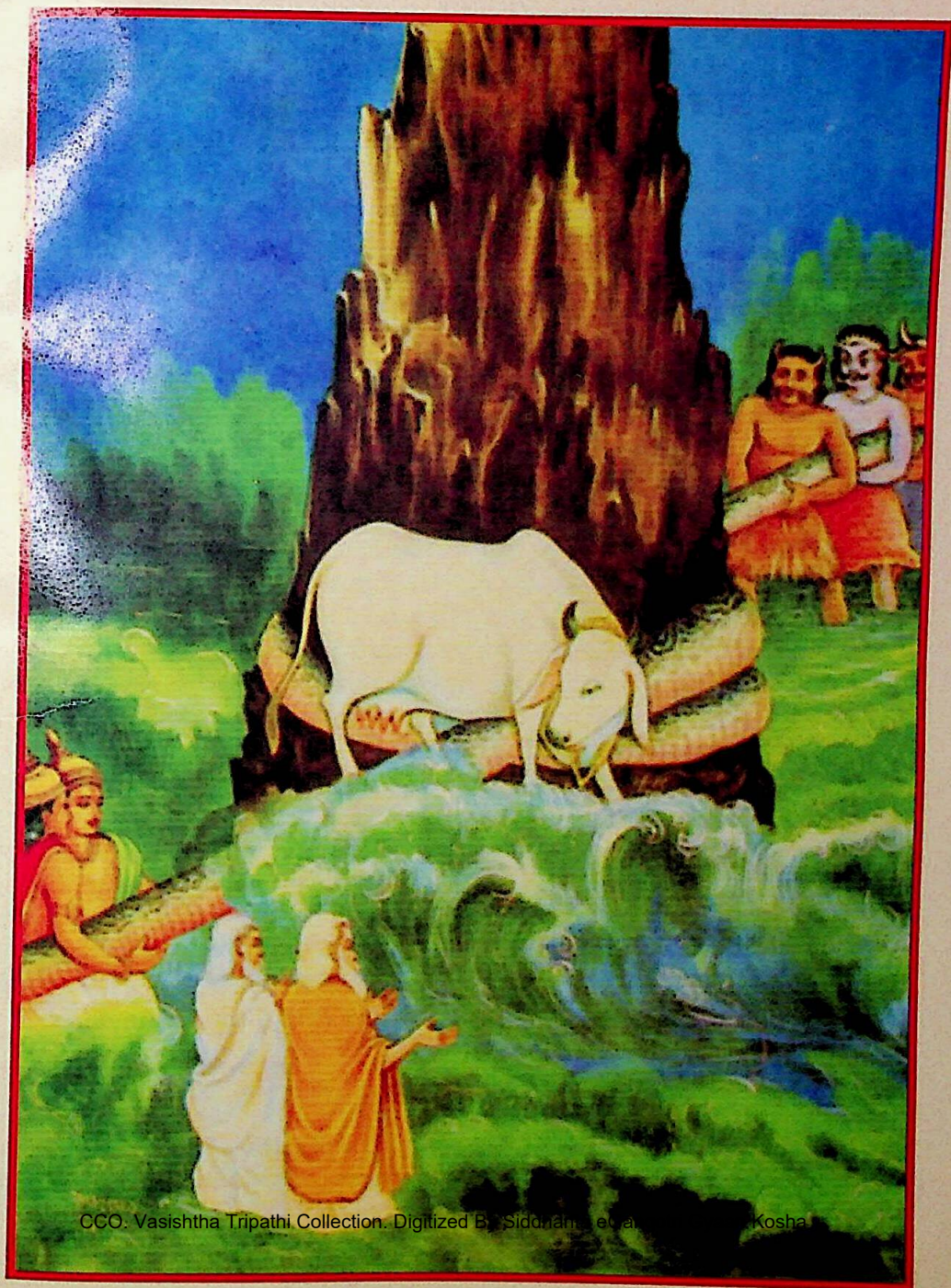
मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योतविद्युन्मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः ।

जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा मथन् मथ्ना प्रतिगिरिवाशोभताथोदधृताद्रिः ॥ ८/७/१७

भगवान् के समुद्र मथते ही सर्वप्रथम भयङ्कर विष निकला। ब्राह्मण बगले झाँकने लगे। उन लोगों ने सोचा कि कहीं ऐसा न कह दें कि पहला फल ब्राह्मणों को देने की प्रथा है अतः विष ब्राह्मणों को पिला दिया जाय। विष की ज्वाला चतुर्दिक् फैल रही थी। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची हुई थी। देव-दानव चिल्ला कर भाग रहे थे। कोई शरणदाता न था, कोई बचानेवाला न था। सभी भागकर भगवान् शङ्कर की शरण में गये। वे सती के साथ कैलास पर विराजमान थे। ऋषि-मुनि उन्हें घेर कर बैठे हुए थे। इन्द्र आदि देवों ने उन्हें प्रणाम किया। दीनता के साथ उनकी स्तुति की और कहा—प्रभो, इस भयङ्कर विष से आप हमारी रक्षा करें, हम आपके चरणों की शरण में आये हैं। आप ही हमारी रक्षा कर सकते हैं। आप ही साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। आप ही शब्दयोन हैं, वेदों के मूल हैं, जगत् के आदि और उसकी आत्मा हैं। अग्नि आप का मुख है, पृथिवी आप का पाद है, काल आप की गति है, दिशाएँ आप का कान हैं, जल रसना और नभ नाभि है।

इस प्रकार उन लोगों ने विराट् रूप में भगवान् शङ्कर की स्तुति करते हुए कहा—ब्रह्मा आदि भी आप को ठीक-











ठीक नहीं जानते। आप में त्रिगुण तो बिल्कुल हैं ही नहीं। आप की महिमा सर्वाधिक है, सर्वोपरि है। आप से परे कोई नहीं है। आप कृपा करके हम लोगों को आनन्दित करें, हमारा दुःख दूर करें। आप को बारम्बार नमस्कार है।

श्रीशुकदेव जी महाराज कहते हैं—राजन्, प्रजा के ऊपर आई हुई विपत्ति को देखकर, समस्त प्राणियों के अकारण बन्धु देवाधिदेव भगवान् शङ्कर के हृदय में कृपावश, बड़ी व्यथा हुई। वे संसार के दुःख से व्यथित हो उठे। उन्होंने अपनी प्राणवल्लभा सती से यह बात कही—

तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीडितः । सर्वभूतसुहृद् देव इदमाह सतीं प्रियाम् ॥८/७/३६  
देवि, बड़े कष्ट की बात। देखो तो सही, समुद्र-मंथन से उद्भूत कालकूट विष के कारण प्रजा पर महान् सङ्कट आ पड़ा है, सारे लोग भाग कर मेरी शरण में आये हैं अतः मेरा कर्तव्य है कि मैं इनकी रक्षा करूँ। शक्ति-सामर्थ्य से सम्पन्न व्यक्ति के जीवन की सफलता इसी में है कि वे दीन-दुःखियों की रक्षा करें—“एतावान् हि प्रभोरथो यद् दीनपरिपालनम्” ॥३८॥ सज्जन पुरुष अपने क्षणभङ्गुर प्राणों की बलि देकर भी दीन-दुःखियों की रक्षा किया करते हैं। जगत् के कल्याण के लिये, सब की भलाई के लिये शङ्कर ने विष-पान किया। साधु पुरुषों का वर्तव्य ऐसा ही होता है। सज्जन पुरुष अपने प्राणों की बलि देकर भी दूसरे के प्राणों की रक्षा किया करते हैं। परोपकारी सज्जन प्रजा का दुःख दूर करने के लिये स्वयं दुःख सह लेते हैं। साधु पुरुष अन्य लोगों के दुःख से दुःखी होते हैं। किन्तु यह दुःख नहीं है। यह तो सभी के हृदय में विराजमान परमात्मा की आराधना है। ऐसे ही अकारण उपकारी प्राणियों पर भगवान् कृपा करते हैं, प्रसन्न होते हैं। भगवान् के प्रसन्न होने पर चराचर जगत् के साथ मैं भी प्रसन्न हो जाता हूँ अतः मैं इस विष को पी ले रहा हूँ—

पुंस कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः । प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः ।

तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥८/७/४०

भवानी ने भव की बात सुनी। एक क्षण के लिये वे संशय में पड़ गई। उन्होंने सोचा विष पीने से यदि भगवान् शिव को कुछ हो गया तो अनर्थ हो जायेगा किन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने शङ्कर की बात का समर्थन कर दिया, क्योंकि वे उनके शक्ति-सामर्थ्य को जानती थीं—“प्रभावाज्ञाऽन्वमोदत” ॥४१॥ अर्द्धाङ्गिनी ने समर्थन कर दिया फिर क्या था, चारों ओर फैलानेवाले विष को उन्होंने अपने चुल्लू में भरा और उठाकर पी गये श्रीहरि का नाम लेकर<sup>१</sup>। विष ने अपना प्रभाव शङ्कर पर भी प्रकट किया, उनका कण्ठ नीला पड़ गया अतः वे “नीलकण्ठ” कहलाये। उनकी सुन्दरता में चार चाँद लग गया<sup>२</sup>। इस अकारण करुण उपकारी को उसी दिन से दुनियाँवाले ‘महादेव’ कहने लगे। शङ्कर ने विष तो पिया किन्तु उसे पेट में नहीं उतारा क्योंकि उनके भीतर सकल ब्रह्माण्ड के प्राणी निवास करते हैं। विष वहाँ उन्हें परेशान करेगा। जीभ पर भी नहीं धारण किया; क्योंकि फिर तो जीभ जलानेवाली ही बात निरन्तर बोलेली अतः उसे कण्ठ में ही रोके रक्खा। न जीभ पर रक्खा न पेट में ही—भगवान् शङ्कर का यह अद्भुत सामर्थ्य देखकर सम्पूर्ण प्रजा, दक्षकन्या सती, ब्रह्मा जी और स्वयं भगवान् विष्णु भी उनकी प्रशंसा करने लगे। विष पीने की बेला में जो कुछ बूँदें छिटक कर नीचे गिर गई थीं। उन्हें जिन प्राणियों और औषधियों ने ग्रहण कर लिया वे विषैले हो गये। साँप-विच्छू इसी प्रकार के प्राणी हैं ॥७॥

॥ श्रीमद्भगवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

१. ॐ अच्युताय नमः, ॐ अनन्ताय नमः, ॐ गोविन्दाय नमः—कहकर शिव ने विष पान किया था—पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अ० २६०॥

२क. यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणाम् । ८/७/४३॥

ख. विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभङ्गव्यसनिनः ॥ महीम्न-स्तोत्र



## आठवाँ अध्याय

( अमृत-कलश के साथ धन्वन्तरि का प्रादुर्भाव, लक्ष्मी का स्वयंवर और मोहिनी अवतार )

भगवान् शङ्कर ने विष पी लिया। उनका कुछ भी नहीं बिगड़ा। शुकदेव महाराज कहते हैं—राजन, शङ्कर जी के द्वारा विष-पान कर लेने पर देवों और दानवों को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे फिर नये उत्साह के साथ समुद्र मथने लगे। तब समुद्र से कामधेनु प्रकट हुई। उसे अग्निहोत्र करनेवाले वेदपाठी ऋषियों ने ग्रहण किया—

पीते गरे वृषाङ्गेण प्रीतास्तेऽमरदानवाः । ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्धानी ततोऽभवत् ॥

तामाग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः ॥८/८/१-२

कामधेनु सन्तोष का प्रतीक है। सन्तोष कामधेनु का स्वरूप है। जिसके आँगन में सन्तोषरूपी गाय है, वह ब्राह्मण ही ब्रह्मनिष्ठ है। असन्तोषी मानव पाप में प्रवृत्त होता है। ब्राह्मण का जीवन अति सात्त्विक होना चाहिये। उसके बाद चन्द्र के समान धवल उच्चैश्रवा नामक अश्व निकला। उसके स्वरूप पर बलि मोहित हो गये, उन्होंने कहा—यह मुझे मिलना चाहिये। भगवान् ने इन्द्र की ओर इशारा किया कि तुम चुप रहो। ये बड़े भाई हैं अतः इसपर इनका हक है। फलतः उच्चैःश्रवा बलि को मिल गया। श्रव का अर्थ है—कीर्ति। उच्चैः का अर्थ है—विशाल, महान्। जो महान् कीर्ति के चक्कर में पड़ जाता है, उसे अमृत नहीं मिलता, भक्ति नहीं मिलती। उसके बाद चार दाँतों वाला श्वेतवर्ण का ऐरावत हाथी निकला। अब पारी थी इन्द्र की अतः ऐरावत इन्द्र को मिला। दैत्य लोग खिसिया कर रह गये। वे अपने मन में सोचने लगे हाय-हाय चार दाँतोंवाला सफेद हाथी हाथ से निकल गया। तत्पश्चात् लालवर्ण का कौस्तुभनामक मणि सागर से निकला, भगवान् ने उसे अपने वक्षःस्थल पर धारण कर लिया। उनका कथन था कि मन्थन में मैं भी श्रम कर रहा हूँ अतः मुझे भी कुछ मिलना चाहिये। कौस्तुभमणि अनुरागी जीव का प्रतीक है, जिसे भगवान् अपनी छाती पर धारण करते हैं। इसके बाद कल्पवृक्ष निकला। उससे जो कुछ माँगो वह मिलता है। वह अपने-आप ही स्वर्ग में चला गया फिर अप्सराएँ निकलीं और वे भी स्वर्गलोक की रमणियाँ हो गईं।

आगे महालक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ। उनके सौन्दर्य के विषय में क्या कहना। सकल त्रिलोकी का सौन्दर्य जिनकी नख-मणि-चन्द्रिका के एक कण से निर्गत है, उनके सौन्दर्य का वर्णन भला कौन कर सकता है ? उनकी रूप-माधुरी से मोहित सभी उनके स्वागत के लिये दौड़ पड़े। संसार लक्ष्मी और लक्ष्मीवानों का सम्मान सर्वदा से करता चला आ रहा है। इन्द्र ने अत्यन्त अद्भुत आसन पर उन्हें सादर बैठाया। गङ्गा आदि नदियों ने रूप धारण कर उनका अभिषेक किया। देवों ने उन्हें अत्याकर्षक वस्त्राभूषण भेंट की। उनके स्वागत में विविधविध बाजे बजने लगे। अप्सराएँ नाचने लगी। चारों ओर आनन्द की लहर दौड़ गई। लक्ष्मी को देखकर ललचाये तो सभी थे किन्तु सब ने एक मत से कहा कि हम सभी पंक्ति-बद्ध हो बैठ जाते हैं। देवी चाहे जिसका वरण करें, यह उनकी इच्छा पर निर्भर है फिर स्वयंवर की व्यवस्था हुई। सभी लोग अपने-अपने आसनों पर विराजमान हो गये। ब्राह्मणों ने स्वस्त्ययनपाठ किया फिर वे अपने हाथों में कमल की माला लेकर सर्वगुण-सम्पन्न पुरुष के गले में डालने चलीं। माला की सुगन्ध से भ्रमर-मण्डली चतुर्दिक् मडराते हुए गुंजार कर रही थी। उस समय उनका मुखचन्द्र अद्भुत रूप से दमक रहा था। उसकी शोभा अवर्णनीय थी। सुन्दर लाल-लाल गालों पर झुमके झमक रहे थे। वे कुछ-कुछ लजाती, शर्माती, बलखाती चल रही थीं। उनकी मुट्ठी भर पतली कमर थी। दोनों स्तन सटे हुए और गोल-गोल थे उनपर चन्दन और केसर का लेप लगा हुआ था। पैरों में बंधी पायजेब की मधुर झंकार ब्रह्माण्ड के मन को मुग्ध कर रही थी। उन्हें देखकर प्रतीत होता था मानो कोई सोने की लता इधर-उधर घूम रही हो—



स्तनद्वयं चातिकृशोदरी समं निरन्तरं चन्दनकुङ्कुमोक्षितम् ।

ततस्ततो नूपुरवल्गुशिञ्जितैर्विसर्पती हेमलतेव सा बभौ ॥ ८/८/१८

वे चाहती थीं कि मुझे कोई निर्दोष और समस्त उत्तम गुणों से नित्ययुक्त अविनाशी पुरुष मिले तो मैं उसे अपना आश्रय बनाऊँ, वरण करूँ । उन्हें मण्डप में लाया गया । उनके सामने पड़ें, दुर्वासा । उन्हें देखकर लक्ष्मी जी ने सोचा यह तपस्वी तो हैं, परन्तु महान् क्रोधी हैं । क्रोधी के पास लक्ष्मी नहीं रहती अतः वे आगे बढ़ी । बृहस्पति और शुक्र को देखकर उन्होंने सोचा ये महान् ज्ञानी हैं, किन्तु इनमें आसक्ति बहुत है । आसक्तिवाले व्यक्ति के पास भी लक्ष्मी नहीं टिकती । आगे उन्होंने ब्रह्मा और चन्द्रमा को देखा । सोचा ये महान् अवश्य हैं, किन्तु यह पराश्रयी हैं । जब दैत्य-दानव इन पर आक्रमण करते हैं तब ये भाग कर विष्णु की शरण में जाते हैं अतः यह वरण के योग्य नहीं हैं । पराश्रयी का भी वरण लक्ष्मी नहीं करती—

नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो ज्ञानं क्वचित् तच्च न सङ्गवर्जितम् ।

कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः स ईश्वरः किं परतोव्यपाश्रयः ॥ ८/८/२०

किन्हीं में धर्माचरण तो था; किन्तु प्राणियों के प्रति सौहार्द न था । किसी में त्याग था, किन्तु खाली त्याग ही मुक्ति का कारण नहीं बनता । किसी-किसी में पराक्रम तो था, किन्तु वे भी काल के गाल में समा जानेवाले थे । कोई मार्कण्डेय आदि ऋषि चिरायु तो थे, किन्तु उनका शील-मङ्गल लक्ष्मी के अनुरूप न था । किसी-किसी लोमश आदि में शीलमङ्गल तो था, किन्तु उनकी आयु का ही पता न था अतः लक्ष्मी जी हाथ में जयमाल लिये आगे बढ़ीं । उनकी दृष्टि भगवान् शङ्कर पर पड़ी । उन्हें देखकर उन्होंने सोचा—इनमें सब कुछ है । किन्तु ये अमङ्गलवेषधारी हैं । अमङ्गलवेष धारण करनेवाले के पास न तो लक्ष्मी जी रहती हैं और न कोई तरुणी उन्हें अपने पति के रूप में ही वरण करना पसन्द करती है अतः वे उनसे भी आगे बढ़ीं । लक्ष्मी-स्वयंवर की बेला में भगवान् विष्णु अपना पीताम्बर ओढ़ कर लेट गये थे । वे लक्ष्मी जी के लिये उत्सुक न थे । उन पर लक्ष्मी जी की दृष्टि पड़ी । उन्होंने कहा—इस स्वयंवर की मङ्गल-बेला में यह कौन व्यक्ति मुंह ढककर सोया हुआ है ? ऐसा कौन व्यक्ति है, जो मुझे नहीं चाहता ? ऐसा कहकर उन्होंने अपने हाथ से पीताम्बर खींच लिया । भगवान् उठ बैठे । उन्होंने उनके गले में जय-माल डाल दी—सभी लोग प्रसन्नता के प्रवाह में बोल उठे—“बोलिये लक्ष्मी-नारायण भगवान् की जय”—

क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं क्वचित् तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः ।

यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम् ॥ ८/८/२२

एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणैर्वरं निजैकाश्रयतयागुणाश्रयम् ।

वन्ने वरं सर्वगुणैरपेक्षितं रमा मुकुन्दं निरपेक्षितमीप्सितम् ॥ ८/८/२३

जो लक्ष्मी जी के पीछे भागता है, उसे वे नहीं मिलतीं और जो उनसे निरपेक्ष रहता है, उसका वे अनुगमन करती हैं । वास्तव में लक्ष्मीजी के एकमात्र आश्रय भगवान् ही हैं । इसी से उन्होंने उनका वरण किया । भगवान् के बगल में खड़ी लक्ष्मी अपने चिरकालिक निवास-स्थान श्रीहरि के वक्षःस्थल को इस प्रकार देख रही थीं, मानो वे प्रार्थना कर रही हों कि प्रभो, मुझे मेरा पुराना वास-स्थान प्रदान कर दीजिये । भगवान् ने कृपा कर श्रीलक्ष्मी जी को अपने वक्षःस्थल पर ही सर्वदा निवास करने का स्थान दिया । लक्ष्मी जी प्रसन्न हो उठीं । उन्होंने अपनी कृपाभरी चितवन से निहारकर सबको निहाल कर दिया । श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, इधर जब लक्ष्मी जी ने दैत्यों एवं दानवों की उपेक्षा कर दी, तब वे लोग निर्बल, उद्योगरहित, निर्लज्ज और लोभी हो गये ।



लक्ष्मी-स्वयंवर हो जाने के बाद पुनः सोत्साह मन्थन प्रारम्भ हुआ। अब की बार सागर से वारुणी (मदिरा) देवी प्रकट हुई। भगवान् के कहने पर उन्हें दैत्यों ने ग्रहण किया। लक्ष्मी के पीछे वारुणी चलती है अतः श्रीमानों को सावधान रहना चाहिये। मदिरा पीकर उन्मत्त दैत्यों के साथ लक्ष्मी के कृपा-कटाक्ष से सबल बने देवों ने पुनः बड़े जोर से मन्थन प्रारम्भ किया, जिससे एक अद्भुत पुरुष निकले, उनके नेत्र कमल के समान थे, शरीर का वर्ण श्याम था गले में वनमाला लटक रही थी, शरीर पर पीताम्बर लहरा रहा था, वे सर्वाभरण-भूषित थे। उनके हाथों में अमृत का कलश था। यह और कोई नहीं, भगवान् के अंशावतार आयुर्वेद विद्या के प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरि थे। दैत्यों ने उनके हाथों में अमृत का कलश देखते ही झपट कर उसे छीन लिया। वे सागर से निकले सारे रत्नों को हड़प लेना चाहते थे। अमृत-कलश के हाथ से निकल जाने पर देवता उदास होकर मुँह लटकाये भगवान् की शरण में पहुँचे। भगवान् ने देवों से कहा—देवताओं, घबड़ाओ नहीं। मैं अपनी माया के द्वारा दैत्यों-दानवों में फूट डालकर तुम्हारा स्वार्थ सिद्ध कर देता हूँ।

भगवान् ने अपनी माया को प्रेरित किया। फलतः दैत्यों में अमृत के लिये छीना-झपटी मच गई। उनमें हर कोई पहले और पूरा अमृत पी जाना चाहता था। उनमें जो दुर्बल थे वे देवताओं को भी अमृत देने की वकालत करने लगे। उनका कहना था कि देवताओं ने भी हम लोगों के बराबर श्रम किया है अतः उनका भी हिस्सा मिलना चाहिये—कमजोर का नाम महात्मा गाँधी। इसी समय भगवान् अत्यन्त अद्भुत, अवर्णनीय मोहिनी का रूप धारण कर प्रकट हो गये। मोहिनी के एक-एक अङ्ग की आभा-प्रभा का वर्णन शेष और शारदा के लिये भी संभव न था। मोहिनी का सौन्दर्य ब्रह्माण्ड का अमूल्य रत्न था। उसके चरणों के नूपुर मधुर ध्वनि से रुनझुन-रुनझुन कर रहे थे और मलमल की स्वच्छ साड़ी से ढके हुए गोल-गोल सुडौल नितम्ब पर शोभायमान करधनी अपनी अनूठी छटा छिटका रही थी। अपनी लाजभरी-मुस्कान, नाचती हुई तिरछी भौंहों और विलास भरी चितवन से मोहिनी ने दैत्य-सेनापतियों के चित्त में कामोद्दीपन का महासागर भर दिया—

सब्रीडस्मितविक्षिप्तभ्रूविलासावलोकनैः । दैत्ययूथपचेतःसु काममुद्दीपयन् मुहुः ॥८८८४६  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८८॥

## नवाँ अध्याय

( मोहिनी द्वारा देवताओं को अमृत पान कराना और राहु का शिरच्छेदन )

जिस घर में, जिस समाज में, छीना-झपटी होती है, परस्पर कलह होता है, वहाँ किसी को भी अमृत नहीं मिलता। असुर अमृत से वञ्चित रह गये।

श्रीशुकदेव महाराजजी कहते हैं—परीक्षित, जब असुर-गण परस्पर सौहार्द छोड़कर आपस में अमृत के लिये छीना-झपटी कर रहे थे। इसी बीच में उन लोगों ने देखा कि अद्भुत-सौन्दर्य से सम्पन्न एक स्त्री उनकी ओर चली आ रही है। वे सोचने लगे—अहा ! कैसा अनुपम सौन्दर्य है। शरीर से कैसी अद्भुत छटा छिटक रही है। जरा इसकी चढ़ती जवानी तो देखो। बस, अब वे आपस की लाग-डाँट भूलकर उसके पास दौड़ गये। उन लोगों ने काम से



मोहित होकर उससे पूछा—कमलनयनी, तुम कौन हो ? सुन्दरी, कहाँ से आ रही हो ? क्या करना चाहती हो ? तुम्हें देखते ही हमारा मन तुम पर न्योछावर हो गया है<sup>१</sup>—

अहो रूपमहो धाम अहो अस्या नवं वयः । इति ते तामभिद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः ॥

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कुतो वा किं चिकीर्षसि । कस्यासि वद वामोरु मथन्तीव मनांसि नः ॥

८/९/२-३

तुम्हारे शरीर की मृदुता इस बात की साक्षी है कि आज तक उसे किसी ने छुआ तक नहीं है । निश्चित ही सहृदय विधाता ने तुम्हें हमारी इन्द्रियों और मन को तृप्त करने के लिये भेजा है । हे मनोहर कमरवाली देवी, हम सब कश्यप जी की सन्तान हैं । हम लोगों का एक वस्तु पर विवाद चल रहा है । कृपा कर तुम इसका ठीक-ठीक बँटवारा कर दो । इसकी प्राप्ति में हम सब ने समान श्रम किया है । दैत्यों ने सोचा—अमृत की मालकिन बना देने पर यह सुन्दरी हम पर प्रसन्न हो जायेगी, गले से लिपट जायेगी फिर तो मजा ही मजा है । अभी तक अमृत के लिये छीना-झपटी चल रही थी । अब मोहिनी के सामने पहुँचकर निवेदन करने में धक्का-मुक्की होने लगी । असुरों की इस प्रकार प्रार्थना सुनकर लीला से मोहिनिरूप धारण करनेवाले भगवान् ने हँसकर तिरछी चितवन की कटारी उन पर चलाते हुए कहा—

आप लोग पवित्र कश्यप के पुत्र हैं और मैं हूँ कुलटा<sup>१</sup> । आप लोग मुझपर न्याय का भार क्यों डाल रहे हैं ? विवेकी पुरुष स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों का कभी विश्वास नहीं करते । दैत्यों, कुत्ते और व्यभिचारिणी स्त्रियों की मित्रता कभी स्थायी नहीं होती । वे दोनों ही सदा नये-नये शिकार ढूँढा करते हैं—

सालावृकाणां स्त्रीणां च स्वैरिणीनां सुरद्विषः । सख्यान्याहुरनित्यानि नूलं नूलं विचिन्वताम् ॥

८/९/१०

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित जी, मोहिनी के हाव-भाव और मदहोश बनानेवाली परिहासभरी वाणी से दैत्यों के मन में काम का प्रवाह और विश्वास—दोनों ही और बढ़ गये । उन लोगों ने सोचा कि अब तो यह हम लोगों को गले से चिपका ही लेगी, लिपटा ही लेगी अतः हँसकर अमृत का कलश मोहिनी के हाथ में पकड़ा दिया । अमृत-घट हाथ में आजाने पर जरा और इटलाकर मोहिनी ने कहा—अच्छी बात है । जब तुम लोग चाहते हो तो मैं अमृत बाँट दूँगी किन्तु मेरी एक शर्त है—मैं उचित या अनुचित जो कुछ करूँगी वह सब तुम लोगों को सहन करना पड़ेगा । यदि मेरी यह बात स्वीकार्य हो तो मैं अमृत बाँटूँगी अन्यथा ले जाओ अपना यह कलश । असुरों ने कहा—नहीं, नहीं । तुम्हारी सारी बातें हमे स्वीकार्य हैं फिर तो मोहिनी से आदेश लेकर देवों और असुरों ने स्नान किया, तर्पण और देवार्चन किया तथा नवीन वस्त्राभूषण धारण कर यज्ञशाला में कुशासन पर पूर्वाभिमुख बैठ गये । दोनों की पंक्तियाँ अलग-अलग थीं । इसके बाद मोहिनी ने हाथ में अमृत का कलश लेकर सभा-मण्डप में प्रवेश किया । उसके शरीर पर मलमली साड़ी झिलमिला रही थी । अङ्गों की काँति उससे छन कर बाहर निकल रही थी । उससे उसका यौवन बाहर झाँक रहा था । गोल गड़ारीदार नितम्बों के भार से वह मन्थर गति से चल रही थी । उसकी आँखों में मादकता का सागर लहरा रहा था । कलश के समान विशाल स्तन थे । उसकी जाँघें केले के खम्भे के समान उतार-चढ़ाववाली और चिकनी थीं । पाँवों में बँधे स्वर्ण के नूपुर अपनी झनकार से सुननेवाले को मदविह्वल बना रहे थे । जब वह दैत्यों की ओर जाती तो उसके उरोज पर से आँचल जरा खिसक जाता था—

१. दैत्य कौन है ? राह में जाती हुई किसी भी स्त्री में जिसका मन फँस जाय वही दैत्य है । जो पर-स्त्री का चिन्तन करता है, वह राक्षस है ।

२. कुलमततीति कुलटा—जो प्रत्येक कुल में, प्रत्येक पुरुष के साथ घूमे उसे 'कुलटा' कहते हैं ।



तस्यां नरेन्द्र करभोरुशङ्खकूलश्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ।

सा कूजती कनकनूपुरशिक्षितेन कुम्भस्तनी कलशपाणिरथाविवेश ॥ ८/९/१७

जिस समय मोहिनी के अङ्ग प्रदर्शन ने असुरों के हृदय में तूफान मचा दिया था, उस समय मुस्करा कर उसने दैत्यों से कहा—ऊपर का अमृत पतला है अतः यदि आप लोगों की राय हो तो इसे देवताओं को पिला दूँ और फिर नीचे का गाढ़ा अमृत आप लोगों में बाँटूँ ? आखिर यह कलश तो आप लोगों ने ही मुझे दिया है । मोहनी की रहस्यभरी बातों के फन्दे में फँस गये दैत्य लोग । उन लोगों ने एक स्वर से कहा—बहुत ठीक है देवीजी । आप बढ़ियाँ सोच रही हैं ।

भगवान् ने सोचा कि दैत्यों को अमृत पिलाना साँप को दूध पिलाने जैसा है । अमर होकर ये संसार को अधिक संव्रस्त करेंगे इसलिये उन्होंने दैत्यों को अमृत न पिलाने का निर्णय किया । वे दैत्यों से मुस्कराते थे, मीठी-मीठी बातें करते थे, आँखों की तिरछी चितवन से उन्हें मदहोश बनाते और अङ्ग के प्रदर्शन से विह्वल करते थे, किन्तु अमृत पिलाते जाते थे देवताओं को । अमृत-पान से जरा-मरण का निवारण हो जाता है ।

दैत्य लोग मोहिनी के द्वारा निर्धारित मर्यादा का पालन करने के लिये बैठे रहे । कुछ देर के बाद दैत्य घबड़ा उठे । उन्होंने सोचा इस बात में छलकपट प्रतीत हो रहा है । हमने इस नारी का विश्वास करके बड़ी भूल की है । ऐसा सोच कर दैत्यों में से एक दैत्य राहु देवों का रूप धारण कर उन की पंक्ति में जा बैठा । वह चन्द्र और सूर्य के मध्य में बैठा था । अमृत बाँटने के क्रम में मोहिनी ने उसे भी अमृत पिला दिया । परन्तु तत्क्षण चन्द्रमा और सूर्य ने इशारा कर उसकी पोल खोल दी । भगवान् ने अपने तीक्ष्ण धारवाले सुदर्शन चक्र से उसका शिर काट डाला किन्तु मुख में अमृत जा चुका था अतः राहु मरा नहीं वह अमर हो गया । थड़ वहीं पृथिवी पर गिर पड़ा<sup>१</sup> । राहु को ब्रह्माजी ने ग्रह बना दिया । इसी वर के कारण वह अमावास्या के दिन सूर्य पर और पूर्णिमा के दिन चन्द्र पर आक्रमण करता है । इसीसे ग्रहण लगता है—

देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि । प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः ॥

चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः । हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत् ॥

शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीवत्पत् । यस्तु पर्वणि चन्द्रार्काविधावति वैरधीः ॥

८/९/२४-२६

हृदय—अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या मोहिनी रूपधारी भगवान् को यह नहीं ज्ञात था कि यह राहु है ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् को सब ज्ञात था फिर भी पंक्ति-भेद न हो इसलिये राहु को भी अमृत पिला दिया, पंक्ति में भेद करनेवाले को जलोदर रोग होता है ।

यहाँ यह भी विचारणीय है । जब इन्द्र आदि देवों को अमृत मिल रहा था तब राहु वहाँ नहीं आया किन्तु जब चन्द्र और सूर्य को अमृत बांटा जा रहा था तो वह उनके बीच में जाकर बैठ गया । इसका कारण क्या है ? इसका रहस्य यह है कि—मन का स्वामी चन्द्र है । चन्द्र मन का स्वरूप है । बुद्धि का स्वामी सूर्य है । हाथों से, जीभ से और मस्तक आदि से जब मनुष्य भक्ति करता है तब विषय रूपी राहु बाधा डालने नहीं आता है किन्तु जब मनुष्य मन से, बुद्धि से ईश्वर का ध्यान करने लगता है तो विषयरूपी राहु बाधा डालने के लिये आ धमकता है । राहु विषय का प्रतीक है । व्यक्ति जब अपने मन और बुद्धि को भगवान् के ध्यान में लगाता है तब विषयरूपी राहु हटात् आ

१. पं० राममूर्ति पौराणिक जी ने अपनी साप्ताहिक-कथा में लिखा है कि—राहु की छाया ही केतुरूप में परिणत हो गई । अतः कबन्ध को केतु नहीं समझना चाहिये । भुवनदीपक में लिखा है—“राहुच्छाया स्मृतः केतुः” ।



धमकता है, खलबली मचा देता है। मन और बुद्धि को जो भक्तिरूपी अमृत मिलता है, वह विषयरूपी राहु से देखा नहीं जाता अतः वह भक्ति में विघ्न डालने आ जाता है। भगवान् की असली भक्ति मन और बुद्धि से ही, अन्तःकरण से ही, हुआ करती है। इस विषयरूपी राहु को ज्ञानरूपी सुदर्शन चक्र से नष्ट करना चाहिए। सुदर्शन चक्र ज्ञान का प्रतीक है।

सुदर्शन चक्र के चलाते ही सारी की सारी पोल खुल गई। अब सभी को समझने में यह देर नहीं लगी कि अमृत-पान करानेवाली मोहिनी साधारण स्त्री नहीं, साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। अब तक प्रायः अमृत बांटा जा चुका था। अब तो भगवान् ने झट-पट मोहिनी का वेश बदल डाला। न उनके शिर पर केशवेश रहा, न साड़ी-पेटीकोट रहे और न ब्लाउज तथा बाड़ी ही। उनका वही शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मरूपधारी चतुर्भुज स्वरूप प्रकट हो गया। देव और दैत्य आश्चर्य-चकित हो देखते ही रह गये। साक्षात् नारायण प्रकट हो गये—“पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः” ॥२७॥

मोहिनी ने सारा अमृत देवों को पिला दिया और खाली घड़ा दैत्यों के सामने उलट दिया। दैत्यों ने चिल्लाना शुरू कर दिया—कपट, कपट विष्णु तुम साड़ी पहन कर आये। तुम्हें लाज भी नहीं आई ?

देवों और दैत्यों ने एक ही काल और स्थान में एक ही वस्तु के लिये समान श्रम किया था। किन्तु भगवान् के चरण का आश्रय लेने के कारण देवों को अमृत मिला और उनसे विमुख होने के कारण दैत्यों-दानवों को श्रम और अपमान मिला। वे अमृत से वञ्चित ही रह गये।

मोहिनी के मोह में फँसनेवाले कामी और कलही व्यक्ति को अमृत की प्राप्ति नहीं होती अतः मनोरथ की सिद्धि के लिये भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिये ॥९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥



## दसवाँ अध्याय

### ( देवासुर-संग्राम )

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित, देवताओं के समान ही दैत्य और दानवों ने भी समुद्र-मन्थन बड़ी सावधानी के साथ किया था किन्तु भगवान् से विमुख होने के कारण उन्हें पीने के लिये अमृत नहीं मिला—

इति दानवदैतेया नाविन्दन्नमृतं नृप । युक्ताः कर्मणि यत्ताश्च वासुदेवपराङ्मुखाः ॥८/१०/१

इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् की कृपा होने पर फल की प्राप्ति होती है। केवल अभिमानवश बाहु-बल के सहारे अर्थ की सिद्धि सम्भव नहीं है। राजन्, भगवान् ने समुद्र मथ कर अमृत निकाला और अपने निजजन देवताओं को पिला दिया। फिर सबके देखते-ही-देखते वे गरुड पर सवार हुए और वहाँ से चले गये। दानव और दैत्य अपने शत्रुओं की सफलता से तिलमिला उठे अतः अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर उन्होंने देवताओं पर आक्रमण बोल दिया। सागर के तट पर ही देव-दानव-युद्ध छिड़ गया। युद्ध के बाजाओं से जमीन और आसमान गूँज उठे। दोनों दल के योद्धा अपने-अपने वाहनों पर आरूढ़ हो अपने-अपने जोड़ीदारों से जा भिड़े। रथारूढ़ रथारूढ़ों से, पदाति पदातियों से, अश्वारोही अश्वारोहियों से और गजारोही गजारोहियों से लड़ रहे थे—

रथिनो रथिभिस्तत्र पत्तिभिः सह पत्तयः । हया हयैरिभाश्वेभैः समसज्जन्त संयुगे ॥८/१०/८



यहाँ तक कि कोई भी वाहन युद्ध में नहीं छोड़ा गया। ऊँट, वानर, सिंह, रीछ, गृध्र, कङ्क, बक, मूसक, गिरगिट और नाना प्रकार के पशु-पक्षी तथा जानवर युद्ध में प्रयुक्त किये गये। विरोचन का बेटा बलि असुरों का सेनापति था। वह इच्छागामी रथ पर आरूढ होकर समर-भूमि में आ डटा। उसके रथ का निर्माण असुर-शिल्पी मय ने किया था। इस विमान को ठीक-ठीक देखपाना भी संभव न था। सभी बड़े-बड़े सेनापति बलि को चारों ओर से घेरे हुए थे। उस समय बलि ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे उदयाचल पर चन्द्रमा। दानव-दैत्यों ने कई बार देवताओं को पराजित किया था अतः उनका उत्साह बढ़ा हुआ था।

बलि को समर-भूमि में आया देखकर देव-सेनापति इन्द्र अपने ऐरावत हाथी पर आरूढ होकर युद्ध-भूमि में आ डटे। उनके चारों ओर बड़े-बड़े देव-सेना-पति अपनी सैन्य-टुकड़ियों के साथ उन्हें घेरे हुए थे। उस समय उनके तेज और उत्साह को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो भगवान् सूर्य उदयाचल पर आरूढ हों।

दोनों दलों की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हो गईं। दो-दो की जोड़ियाँ बनाकर योद्धा युद्ध करने लगे। कोई आगे बढ़ रहा था, तो कोई नाम ले-लेकर ललकार रहा था। कोई-कोई मर्म-भेदी वचनों को बोलकर अपने प्रतिद्वन्द्वी को ललकार रहा था। बलि इन्द्र से, वृषपर्वा अश्विनीकुमार से, शम्बर त्वष्टा से, बाणासुर सूर्य से, शुक्राचार्य वृहस्पति से और नरकासुर शनि से संग्राम कर रहे थे। ये लोग अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर बाण, तलवार, भाला, गदा आदि भौतिक-भौतिक के अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार कर रहे थे। एक-दूसरे का शिर काट कर मारने का प्रयास चल रहा था। उनके चरणों की धमक और रथ के पहियों की रगड़ से पृथिवी खुद गई। उसके धूलिकणों से आकाश आच्छादित हो उठा। रक्त की नदियाँ चारों ओर प्रवाहित होने लगीं। कटे हुए अङ्गों से युद्ध-भूमि पट गई।

बलि नें कोपकर इन्द्र, ऐरावत, महावत और उनके रक्षकों पर लक्ष्य करके दो-दो बाणों से प्रहार किया किन्तु इन्द्र ने मध्य में ही काटकर बलि के बाणों को विफल कर दिया। इसी प्रकार बलि ने जिन जिन आयुधों का प्रयोग किया इन्द्र ने सबको काट कर नष्ट कर दिया। उस समय इन्द्र का हस्तलाघव और ऐश्वर्य देखने लायक था। इन्द्र के इस पराक्रम को देखकर बलि चिढ़ गया। उसने माया-युद्ध का विचार किया और फिर आकाश में अदृश्य हो गया। वहाँ उसने देवसेना के ऊपर एक पर्वत प्रकट किया। उससे देव-सैनिकों पर बड़े-बड़े पत्थर, वृक्ष और शस्त्रास्त्र बरसने लगे। देव-सेना चूर-चूर होने लगी। तत्पश्चात् बड़े-बड़े साँप, बिच्छू, डंस आदि गिर कर देव-सैनिकों को काटने लगे, बीधने लगे। ऊपर से गिरे सिंह, व्याघ्र आदि देव-सेना के बड़े-बड़े हाथियों को फाड़ने लगे। आग की वर्षा से देवता लोग झुलसने लगे। सागर की चतुर्दिक् उमड़ती उताल तरंगों को देखकर देवता घबड़ा उठे। बलि की माया का प्रतिकार करने के लिये उन्हें कोई उपाय सुझाई न पड़ा। तब उन्होंने विश्व के जीवनदाता का ध्यान और स्मरण किया। अशरण-शरण प्रभु ध्यान करते ही वहाँ प्रकट हो गये—

न तत्प्रतिविधिं यत्र विदुरिन्द्रादयो नृप । ध्यातः प्रादुरभूत् तत्र भगवान् विश्वभावनः ॥८/१०/५३

भगवान् हरि के प्रकट होते ही सारी-की-सारी आसुरी माया उसी प्रकार समाप्त हो गई, जैसे जागने पर स्वप्न विलीन हो जाते हैं, विगलित हो जाते हैं। राजन्, वस्तुतः भगवान् की स्मृति सारी विपत्तियों को विनष्ट करने वाली है—

तस्मिन् प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा माया विनेशुर्महिना महीयसः ।

स्वप्नो यथा हि प्रतिबोध आगते हरिस्मृतिः सर्वविपद्भिर्मोक्षणम् ॥ ८/१०/५५

भगवान् नहीं, भगवान् की स्मृति विपत्तियों का विनाशक है। भगवान् तो द्रौपदी के पास में खड़े-खड़े तमाशा



देख रहे थे किन्तु जब द्रौपदी ने उन्हें याद किया तो साड़ी अनन्त हो गई। दुःशासन हारकर बैठ गया। द्रौपदी की विपत्ति विनष्ट हो गई। अतः भगवत्स्मृति विपत्ति-नाशक है।

कालनेमि दैत्य ने देखा कि भगवान् गरुड पर चढ़कर आ गये हैं, अतः उसने उन पर बड़े बेग से त्रिशूल चलाया। वह त्रिशूल गरुड पर लगता कि उसके पहले ही भगवान् ने उसे पकड़ लिया और उसी से कालनेमि और उसके वाहन सिंह की गर्दन काट कर गिरा दी। माल्यवान् अपनी गदा भगवान् पर चलाने ही वाला था कि उन्होंने चलाने के पहले ही उसकी गर्दन काट कर गिरा दी। इस प्रकार भगवान् के आ जाने से विजय भी देवताओं के पक्ष में आ गई। कहा भी गया है—यत्र कृष्णस्ततो जयः ॥

हृदय—कहते हैं अमृत पीने के बाद भी देवता विजयी नहीं हो रहे थे। इसका कारण यह था कि अमृत का अधिष्ठाता देवता यह सोच रहा था कि देवताओं ने अकेले अमृत पीकर अन्याय किया है। असुरों ने भी बराबर श्रम किया था अतः उनका भी हिस्सा बनता है। इसलिये अमृत अपना प्रभाव नहीं प्रदर्शित कर रहा था। किन्तु जब अमृत के अधिष्ठाता देवता ने देखा कि स्वयं भगवान् ही देवों के पक्ष में आ गये हैं, तब यह सोचकर उसने अपना प्रभाव दिखलाना प्रारम्भ किया कि—देवताओं को अब कृतघ्नता का दोष नहीं लगेगा। क्योंकि भगवान् उनके सहायक बनकर आ गये हैं। औचित्य उसी पक्ष में होता है, जिधर भगवान् होते हैं। धर्म वहीं होता है, जहाँ भगवान् होते हैं ॥१०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

## ग्यारहवाँ अध्याय

( देवासुर-संग्राम की समाप्ति )

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—परीक्षित, परम पुरुष भगवान् की अहैतुकी कृपा से देवताओं की घबराहट जाती रही। वे नवीन उत्साह से भर गये। इन्द्र, वायु आदि देवता, रणभूमि में पहले जिनके अस्त्र-शस्त्रों से आहत हुए थे उन्होंने दैत्यों पर, अब पूरी शक्ति से प्रहार करने लगे—

अथो सुराः प्रत्युपलब्धचेतसः परस्य पुंसः परयानुकम्पया ।

जघ्नुर्भृशं शक्रसमीरणादयस्तांस्तान् रणे यैरभिसंहताः पुरा ॥ ८/११/१

अब इन्द्र और बलि आमने-सामने थे। एक-दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। लड़ते-लड़ते इन्द्र क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने बलि का वध करने के लिये हाथ में वज्र उठाया। उस समय चतुर्दिक् हा-हाकार मच गया। युद्ध-भूमि में बलि निर्भय विचरण कर रहे थे। इन्द्र ने तिरस्कार पूर्वक उनसे कहा—मूर्ख, तू माया से हम लोगों को जीतना चाहता है ? हम माया के मालिक हैं। क्या तुझे नहीं मालूम कि वह हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। अब तक माया करके तूने खूब उछल-कूद की है। देख, अब मैं अपने वज्र से तेरा शिर काट कर भूतल पर फेंक देता हूँ। तू अपने भाई-बन्धुओं के साथ जो कुछ कर सकता हो, करके देख ले।

बलि ने इन्द्र की बात सुनी। उसने बड़ी गंभीरता से कहा—इन्द्र, युद्ध में जय-पराजय, यश-अपयश और



मृत्यु—सब कुछ काल के अधीन हुआ करता है। इस बात को जाननेवाले ज्ञानी जन जीतने पर न प्रसन्नता से फूल उठते हैं और न पराजय से उदास ही होते हैं। उनकी दृष्टि में जय-पराजय, यश-अपयश समान हैं<sup>१</sup>। अतः किसी भी स्थिति में वे विचलित नहीं होते। तुम लोग अपने को जय-पराजय का कर्ता मानते हो; इसलिये महात्माओं की दृष्टि से शोचनीय हो।

शुकदेव महाराज कहते हैं—राजन, बलि की फटकार सुनकर इन्द्र कुछ झेंप गये फिर बलि ने बाणों की झड़ी लगा दी इन्द्र पर। एक तो इन्द्र पहले से ही चिढ़े हुए थे, दूसरे बाणों से घायल होकर वे, अङ्कुश से आहत हाथी की तरह क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने अपना अमोघ वज्र उठाया और बलि को लक्ष्य करके छोड़ दिया। वज्र के प्रहार से बलि अपने विमान से लुढ़क कर भूतल पर आ गिरे। यह देखकर बलि का हितैषी और परम मित्र जम्भासुर मारे क्रोध के सिंह पर सवार होकर इन्द्रके सामने आ डटा। उसने इन्द्र और इन्द्र के वाहन ऐरावत पर गदा से प्रहार किया। गदा की चोट से ऐरावत को बड़ी पीड़ा हुई। उसने व्याकुलता से घुटने टेक दिये और फिर मूर्च्छित हो गया। ऐरावत को मूर्च्छित देखकर इन्द्र का (मातलि) रथ लेकर उपस्थित हो गया। इन्द्र सद्यः रथ पर सवार हुए और वज्र के प्रहार से जम्भ का शिर काट कर गिरा दिया। जम्भ के मरते ही उसके भाई-बन्धु नमुचि, बल और पाक झटपट युद्ध भूमि में आ डटे। भीषण युद्ध करते हुए उन लोगों ने बाणों की वर्षा से इन्द्र के रथ को आच्छादित कर दिया। देवता इन्द्रको न देखकर हाहाकार कर उठे। एक तो शत्रुओं ने उन्हें हरा दिया था और दूसरे अब उनका कोई सेनापति भी न रह गया था। उस समय देवताओं की ठीक वैसी ही अवस्था हो रही थी, जैसी बीच समुद्र में नाव टूट जाने पर व्यापारियों की होती है। थोड़ी ही देर में शत्रुओं के बाण-जाल को काटकर इन्द्र, उसी प्रकार बाहर निकल आये, जैसे बादलों की घिरी घटा को छँट कर सूर्य निकल आते हैं।

इन्द्र के प्रकट होते ही युद्ध की विभीषिका बढ़ गई। उन्होंने क्रुद्ध होकर बल, पाक आदि को मार-मार कर भूतल पर सुला दिया फिर तो नमुचि के साथ इन्द्र का भयङ्कर युद्ध हुआ। नमुचि की गर्दन काटने में इन्द्र का वज्र भी निष्फल हो गया। यह देखकर इन्द्र चिन्ता में पड़ गये कि यह क्या हो गया ? वृत्र को भी मारनेवाला वज्र भी तो यहाँ निष्फल है। इन्द्र की चिन्ता को देखकर आकाशवाणी हुई—यह दानव न तो सूखी वस्तु से मर सकता है, न गीली से। इसे वरदान दिया जा चुका है कि—सूखी या गीली वस्तु से तुम्हारी मृत्यु न होगी। तब इन्द्र ने सोच-विचार कर युक्ति से वज्र में समुद्र का फेन लगाया और उसके बाद नमुचि का शिर काट कर अलग कर दिया। फेन न तो गीला होता है और न सूखा ही। नमुचि के गिरते ही देवों ने भयंकर मार-काट मचा दी। दानव-दैत्यों का महासंहार देखकर ब्रह्मा जी को दया आई। उन्होंने नारद जी को भेजकर देवासुर संग्राम बन्द करा दिया।

नारद का सम्मान करते हुए देवों ने युद्ध समाप्त कर दिया और स्वर्ग को चले गये। उस समय देव-गण इन्द्र के यश का गान कर रहे थे। युद्धमें बचे हुए दैत्यों ने देवर्षि नारद की प्रेरणा से वज्र की चोट से मरे हुए बलि को लेकर अस्ताचल की यात्रा की। वहाँ शुक्राचार्य ने अपनी सञ्जीविनी विद्या के प्रभाव से बलि को जीवित कर दिया। जिन दैत्यों के गर्दन आदि अङ्ग नहीं कटे थे, उन्हें भी शुक्राचार्य ने जीवन प्रदान कर दिया। बलि यह बात समझते थे कि संसार में जीवन-मृत्यु, जय-पराजय आदि उलट-फेर होते ही रहते हैं अतः पराजित होने पर भी उन्हें किसी प्रकार का खेद नहीं हुआ—

१ क. सुख हरषहिं नहिं दुःख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं। रामचरितमानस॥

ख. योगस्थः कुरु कर्मणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ भगवती गीता २/४८॥  
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ वही, २/७१॥



तत्राविनष्टावयवान् विद्यमानशिरोधरान् । उशना जीवयामास सञ्जीविन्या स्वविद्यया ॥  
बलिश्चोशनसा स्पृष्टः प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः । पराजितोऽपि नाखिद्यल्लोकतत्त्वविचक्षणः ॥

८/११/४७-४८

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## बारहवाँ अध्याय

( मोहिनी के सौन्दर्य को देखकर भगवान् शिव का मोहित होना )

विषपायी भगवान् शङ्कर, लक्ष्मी-स्वयंवर के बाद वहाँ से चले गये थे । उन्होंने विष-पान कर प्राणियों का कल्याण कर दिया था । अमृत की उन्हें कामना न थी अतः वे सागर-तट से अपने आश्रम को चले गये थे । भगवान् ने मोहिनी का अवतार धारण कर देवों को अमृत पिलाया था—यह दृश्य शङ्कर जी ने नहीं देखा था ।

श्रीशुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित्, जब भगवान् शङ्कर ने यह सुना कि श्रीहरि ने मोहिनी का रूप धारण करके असुरों को मोहित कर देवों को अमृत पिलाया था तो उन्हें भगवान् के इस रूप को देखने की उत्कट इच्छा हुई । उस समय वे सती देवी के साथ बैल पर आरूढ़ होकर गणों से घिरे हुए भगवान् के बैकुण्ठ धाम में पहुँचे—

वृषध्वजो निशम्येदं योषिद्वूपाय दानवान् । मोहयित्वा सुरगणान् हरिः सोममपाययत् ॥

वृषमारुह्य गिरिशः सर्वभूतगणैर्वृतः । सह देव्या ययौ ब्रह्मं यत्रास्ते मधुसूदनः ॥८/१२/१-२

भगवान् श्रीहरि ने उमा सहित शङ्कर की खूब आवभगत की । सुन्दर ऊँचे आसन पर उन दोनों को बैठाया । भगवान् का अभिनन्दन करके शङ्कर जी ने मुस्कराते हुए कहा—समस्त देवों के आराध्यदेव, आप विश्वव्यापी, जगदीश्वर एवं जगत्स्वरूप हैं । संसार के समस्त पदार्थों के मूल कारण भी आप ही हैं । आपही ईश्वर हैं और आप ही आत्मा हैं । आप के स्वाभाविक स्वरूप को कोई नहीं जान सकता । इस जगत् के आदि, मध्य और अन्त भी आप ही हैं किन्तु आपका न आदि है, न अन्त है और न मध्य है । वस्तुतः आप सत्य चिन्मात्र ब्रह्म ही हैं । कल्याणकामी महात्मा लोग इस लोक और परलोक दोनों की आसक्ति एवं समस्त कामनाओं का परित्याग करके आपके चरण-कमलों की आराधना किया करते हैं ।

प्रभो, लीला के निमित्त धारण किये गये आपके समस्त अवतारों का दर्शन मैंने किया है । किन्तु मैंने आपके उस मोहिनी अवतार का दर्शन नहीं किया है, जिससे आपने दैत्यों को मोह में डालकर देवताओं को सुधा का पान कराया था । स्वामिन्, उसी को देखने के लिये हम सब आये हैं । हमारे मन में उस को देखने की प्रबल उत्कण्ठा है । कृपा करके आप मुझे उस रूप का दर्शन करायें—

सोऽहं तद् ब्रह्ममिच्छामि यत् ते योषिद्वपुर्धृतम् ॥

येन संमोहिता दैत्याः पायिताश्चाभूतं सुराः । तद् दिदृक्षुव आयाताः परं कौतूहलं हि नः ॥८/१२/१२-१३

रहस्य—कहते हैं—जब देवताओं की विजय और दैत्यों की पराजय हो गई तो सारे देवता मिलकर भगवान् विष्णु के पास गये, उन्होंने उनसे प्रार्थना की—प्रभो, यद्यपि आप की कृपा से दैत्य पराजित हो गये हैं । किन्तु यदि वे शङ्कर की शरण में जाकर सहायता की याचना करेंगे तो शरणागतवत्सल शङ्कर उनके पक्ष में अपना त्रिशूल लेकर कदाचित् खड़े हो गये तो जय-पराजय में बदल जायेगी फिर हम दुर्दशाग्रस्त हो जायेंगे ।



भगवान् ने देवों की व्यग्रता देखी, उनकी प्रार्थना सुनी तो कहा—देवों, घबड़ाओं नहीं। मैं इसकी पूरी व्यवस्था कर देता हूँ। दैत्य शङ्कर से युद्ध में सहायता की याचना करेंगे ही नहीं। इस प्रकार देवों को आश्वस्त कर विष्णु ने शङ्कर के मन से अपना मन मिलाकर कहा—देवाधिदेव महादेव, देवता लोग बहुत घबड़ा रहे हैं कि कहीं युद्ध में आप असुरों की सहायता न करें। शङ्कर जी ने कहा—भगवन्, बात तो सत्य है। यदि दैत्य-दानव मेरी शरण में आ गये तो मैं उनकी सहायता अवश्य करूँगा।

**भगवान् विष्णु**—फिर तो आप ही बतलाइये कि क्या किया जाय ?

भगवान् शङ्कर—प्रभो, आप कोई ऐसी युक्ति निकालें जिससे हम आप से हार जाँय, पराजित हो जाँय। जब हम आप से हार जाँयेंगे तो दैत्य लोग कहेंगे कि शङ्कर नारायण से हार गये हैं अतः पराजित देव की शरण में जाने से क्या लाभ ? फिर वे हमारी शरण में नहीं आयेंगे अतः मोहिनी रूप से जैसे आप ने दैत्यों की वञ्चना की, वैसे ही कुछ खेल हमारे साथ भी कीजिये। इस प्रकार आपस में बात होने के बाद शङ्कर विष्णु के वैकुण्ठ में पहुँचे।

दूसरी बात यह है कि—“नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपि तु विधेयं स्तोतुम्”। जहाँ दो की तुलना में एक की प्रशंसा की जाय और दूसरे की निन्दा, तो वहाँ निन्दा निन्द्य की निन्दा के लिये नहीं की जाती बल्कि ग्रन्थ-प्रतिपाद्य की प्रशंसा में उसका तात्पर्य होता है। भागवत में विष्णु प्रतिपाद्य देवता हैं, वे साक्षात् भगवान् हैं और दूसरे देवता उनकी अपेक्षा अवर हैं, कनिष्ठ हैं। यदि भागवत में शङ्कर को हराया नहीं जायगा तो विष्णु के उत्कर्ष की सिद्धि कैसे होगी ? इसीलिये वे मोहिनी को देखकर हार जाते हैं।

जिसका विवाह होता है गीत उसी का गाया जाता है। भागवत विष्णु की लीला का प्रतिपादक ग्रन्थ है अतः उनको सबसे महान् के रूप में उपस्थित किया गया है।

तीसरी बात यह है कि स्त्री के प्रति कभी भी विश्वस्त नहीं होना चाहिये। सुन्दरी को देखकर कामारि शङ्कर के मन में भी यदि काम का अङ्कुर उत्पन्न हो सकता है तो साधारण लोगों की क्या बात है, क्या बिसात है। वह भी पत्नी और सेवकों की उपस्थिति में।

चौथी बात यह है कि जब कामदेव फिर से जीवित हो गया तो उसने बड़ी भारी तपस्या की। उसकी तपस्या से प्रसन्न शङ्कर ने कहा—कामदेव, तेरे तपसे सन्तुष्ट हूँ। तू माँग ले जो वर माँगना चाहते हो। कामदेव ने हाथ जोड़कर कहा—प्रभो, आप ने मुझे हरा दिया था, जला दिया था। कृपाकर एकबार मुझे जिता दीजिये जिससे संसार में मेरा झण्डा ऊँचा हो जाय। शङ्कर ने कहा ठीक है। समय आने पर मैं तुझे जिता दूँगा। इसीलिये श्रीशङ्कर भगवान् ने मोहिनी को देखने की इच्छा प्रकट की। आगे जो कुछ होगा वह इसी वरदान का फल है।

पाँचवी बात यह है कि भगवान् विष्णु की महिमा को सब से ऊपर उठाने के लिये भगवान् शङ्कर इस प्रकार की लीलायें करते रहते हैं। इसे वृकासुर और अम्बरीश के प्रसङ्ग में सरलता से देखा जा सकता है।

जब भगवान् शङ्कर ने मोहिनी के रूप को देखने की जिज्ञासा व्यक्त की तो भगवान् विष्णु ने हँसकर कहा—शङ्कर जी, उस समय अमृत का कलश दैत्यों ने छीन लिया था अतः देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिये और दैत्यों का मन दूसरी ओर खींचने के लिये मैंने वह मोहिनी रूप धारण किया था। वह कामियों के मन को मोहित करनेवाला है फिर भी यदि आप देखना चाहते हैं, तो मैं वह रूप आप को दिखलाऊँगा—

कौतुहलाय दैत्यानां योषिद्वेशो मया धृतः। पश्यता सुरकार्याणि गते पीयूषभाजने॥  
तत्तेऽहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षोः सुरसत्तम। कामिनां बहु मन्तव्यं सङ्कल्पप्रभवोदयम्॥

८/१२/१५-१६



इतना कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। उमा सहित शङ्कर उन्हें चारों ओर देखने लगे, थोड़ी देर में उन्होंने देखा कि सामने एक सुन्दर उपवन है, उसमें रंग-बिरंगे फूल सर्वत्र अपनी आभा बिखेर रहे थे, उस उपवन में एक सुन्दरी तरुणी गेंद उछाल-उछाल कर खेल रही थी। उसका सौन्दर्य अनुपम था। वह त्रिलोकी के सौन्दर्य का निदर्शन था। उसके शरीर पर धानीरंग की मल-मल की साड़ी झिलमिला रही थी। कटितट पर करधनी की लड़ियाँ लटक रही थीं। गेंद को उछालने और उसे लपक कर पकड़ने की बेला में नीचे-ऊपर उछलकूद मचानेवाले स्तनों का आकर्षण अपूर्व था। स्तनों के ऊपर उछलने वाला हार तो मुनियों के मन को भी मोहित करने के लिये अकेले ही पर्याप्त था। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों विशाल स्तनों के भार से कटि (कमर) अब टूटी कि तब टूटी। उसके चरण लाल कमल की भाँति कोमल थे। मतवाली चाल चलनेवाले पैरों में बँधे नूपुरों की झंकार ऐसी प्रतीत होती थी मानों शङ्कर से लड़ने के लिये मदन ने दुन्दुभी बजाई हो। सुन्दरी की कटितट से साड़ी रह-रह कर खिसकती जा रही थी। गेंद से खेलते-खेलते उसने तनिक सलज्ज भाव से मुस्करा कर तिरछी नजर से शङ्कर जी पर कटाक्षपात किया। कटाक्ष-बाण मारते ही मदनारि मदन से मोहित हो उठे। उन्हें न तन की सुधि रही और न बगल में बैठी पार्वती की। गणों का भी उन्हें ध्यान न रहा। उसी समय गेंद के पीछे दौड़ रहीं मोहिनी की साड़ी कमर पर से खिसक गई। शङ्कर ने उस दृश्य को देखा। उनकी आँखें एकटक उसकी कटि पर डट गईं। काम का आवेग ऐसा बढ़ा कि भगवान् शङ्कर मान-मर्यादा और लज्जा—सब कुछ छोड़कर उस सुन्दरी के पीछे दौड़ पड़े। लजाती-शरमाती वह पेड़ों की आड़ में छिपती-भागती रही। लुका-छिपी का खेल चलता रहा। शङ्कर उसके पीछे भागते रहे। उनका मन और तन उनके वश में न था। काम ने उन्हें इस कदर वश में कर लिया था मानो वह आज शङ्कर से अपनी हार का बदला ब्याज सहित चुकता कर रहा हो<sup>१</sup> जैसे मतवाले हाथी कामान्ध हो हथिनी के पीछे दौड़े, वैसे ही वे उस सुन्दरी के पीछे-पीछे भाग रहे थे फिर उन्होंने अत्यन्त वेग से दौड़कर पीछे से उसकी लहराती बेंड़ी पकड़ ली और उसकी इच्छा न होने पर भी उसे दोनों भुजाओं में भर कर छाती से लगा लिया, कसकर आलिङ्गन किया, तरुणी छटपटाती रही, छुड़ाने का प्रयास करती रही। जब भगवान् शङ्कर सुन्दरी के आलिङ्गन का आनन्द ले रहे थे, उस समय उन्होंने यह सोचकर अपना आलिङ्गन जरा ढीला कर दिया कि कहीं इस सुन्दरी के सुन्दर सुकुमार अङ्ग रगड़ खाकर मसल न जाँय। बस, अवसर मिला सुन्दरी खिसक कर भाग खड़ी हुई। भगवान् शङ्कर पुनः पकड़ने के लिये उसके पीछे दौड़े। उसी समय उनका वीर्य स्खलित होकर भूतल पर गिर पड़ा जहाँ-जहाँ भूतल पर उनका अमोघ वीर्य गिरा वहाँ-वहाँ सोने और चाँदी की खाने बन गईं—

यत्र यत्रापतन्मह्यं रेतस्तस्य महात्मनः । तानि रूप्यस्य हेमश्च क्षेत्राण्यासन् महीपते ॥८/१२/३३  
परीक्षित्, वीर्यपात हो जाने के बाद उन्हें अपनी स्मृति हुई। उन्होंने देखा कि अरे ! भगवान् की माया ने तो हमें खूब नचाया फिर वे तुरन्त उस दुःखदायी प्रसङ्ग से अलग हो गये। उसी समय भगवान् विष्णु हँसते हुए चतुर्भुज रूप से उनके सामने प्रकट हो गये और बोले—शङ्कर जी, आप के अद्वैत बोध में किसी प्रकार की कमी नहीं है। मेरी स्त्रीरूपिणी माया से मोहित होकर भी आप स्वयं ही अपने स्वरूप में स्थित हो गये। यह बड़े ही आनन्द की बात है—

दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मना स्थितः । यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया ॥

८/१२/३८

देवाधिदेव, मेरी माया अपार है। आपके अतिरिक्त दूसरा कौन है, जो उससे पार पा सके। सृष्टि के प्रारम्भ में मेरी प्रेरणा से ही यह माया रजोगुण आदि की सृष्टि में प्रवृत्त होती है। सच तो यह है कि आज आप ने अपनी

१. प्रत्यपद्यत कामेन वैरिणेव विनिर्जितः ॥८/१२/३१॥



इच्छा से ही मोहिनी के रूप से मोहित होकर मेरा महत्त्व बढ़ा दिया है अन्यथा कामारि का काम से मोहित होना आश्चर्य नहीं तो और क्या है ?

श्री शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित, इस प्रकार भगवान् विष्णु ने भगवान् शङ्कर का बड़ा सत्कार किया फिर शङ्कर जी ने विष्णु से आज्ञा ली। उन्हें प्रणाम किया और उमा तथा गणों के साथ अपने निवास-स्थान कैलास चले गये।

जो पुरुष बार-बार इस कथा का कीर्तन करता है, श्रवण करता है, उसका उद्योग कभी भी निष्फल नहीं होता क्योंकि पवित्रकीर्ति भगवान् के गुण और लीलाओं का गान संसार के सारे क्लेश और परिश्रम को समाप्त कर देनेवाला है—

एतन्मुहुः कीर्तयतोऽनुशृण्वतो न रिष्यते जातु समुद्यमः क्वचित् ।

यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनं

समस्तसंसारपरिश्रमापहम् ॥ ८/१२/४६

इस कथा से यह बात प्रमाणित होती है कि भगवान् के चरणों की शरण ग्रहण करनेवाला व्यक्ति अपनी सभी कामनाओं को पूरी कर लेता है। मैं ऐसे प्रभु के चरण-कमलों में प्रणाम निवेदित करता हूँ ॥१२॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१२॥



## तेरहवाँ अध्याय

### ( आगामी आठ मन्वन्तरों का वर्णन )

श्रीशुकदेव महाराज वर्तमान तथा भावी मन्वन्तरों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—परीक्षित, इस समय श्राद्धदेव वैवस्वत मनु हैं। विवस्वान् कहते हैं सूर्य को। विवस्वान् के बेटे को वैवस्वत कहते हैं। इनके इक्ष्वाकु, नभग, दिष्ट आदि दस पुत्र हैं। नवम स्कन्ध में इनके चरित्र का वर्णन किया जायेगा। इस मन्वन्तर में आदित्य, वसु, रुद्र आदि देवताओं के प्रधान गण हैं और पुरन्दर नाम का इन्द्र है। कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ आदि सप्तर्षि हैं। इसमें कश्यप से अदिति में भगवान् का वामन अवतार होता है। वामन ने बलि से तीन पग भूमि की याचना की थी।

परीक्षित, इस प्रकार मैंने संक्षेप से तुम्हें सात मन्वन्तरों का वर्णन सुना दिया। अब आगे आनेवाले सात मन्वन्तरों का वर्णन किया जायेगा। छठे स्कन्ध में यह बतलाया जा चुका है कि विवस्वान् (भगवान् सूर्य) की दो पत्नियाँ थीं—संज्ञा और छाया। ये दोनों ही विश्वकर्मा की पुत्रियाँ थीं। कुछ लोगों का कहना है कि उनकी एक तीसरी पत्नी भी थी। उसका नाम था—वडवा। किन्तु विचार करने पर संज्ञा का ही नाम वडवा प्रतीत होता है। उन सूर्य-पत्नियों में संज्ञा से तीन सन्तानें हुई—यम, यमी और श्राद्धदेव। छाया के भी तीन सन्तानें हुई—सार्वर्णि, शनैश्चर और तपती नाम की कन्या। तपती का विवाह संवरण से हुआ था। जब संज्ञा ने वडवा (घोड़ी) का रूप धारण कर लिया था, तब उससे दोनों अश्विनीकुमार पैदा हुए।

आठवें मन्वन्तर में सार्वर्णि मनु होंगे। उनके निर्मोक, विरजस्क आदि दस पुत्र होंगे। उसमें बलि इन्द्र बनेंगे और सार्वभौम नाम से भगवान् का अवतार होगा। वही इन्द्र से स्वर्ग छीन कर बलि को प्रदान करेंगे। इस मन्वन्तर में गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृंग और वेदव्यास सप्तर्षि होंगे। इस समय ये लोग अपने-अपने आश्रममण्डल में स्थित हैं।



नवें मनु का नाम दक्षसावर्णि होगा । ये वरुण के पुत्र हैं । इसमें अद्भुत नाम के इन्द्र होंगे । द्युतिमान् आदि सप्तर्षि होंगे । आयुष्मान् की पत्नी अम्बुधारा के गर्भ से ऋषभ के रूप में भगवान् का कलावतार होगा ।

दसवें मनु होंगे उपश्लोक के पुत्र ब्रह्मसावर्णि । उस समय इन्द्र होंगे शम्भु । विश्वसृज्जी की पत्नी विषुचि के गर्भ से भगवान् विष्वक्सेन के रूप में अंशावतार ग्रहण करके शम्भु नामक इन्द्र से मित्रता करेंगे ।

ग्यारहवें मनु होंगे अत्यन्त संयमी धर्मसावर्णि । इस मन्वन्तर में इन्द्र का नाम होगा—वैधृत । आर्यक की पत्नी वैधृता के गर्भ से धर्मसेतु के नाम से भगवान् का अंशावतार होगा । वे ही त्रिलोकी की रक्षा करेंगे ।

परीक्षित, बारहवें मनु का नाम होगा—रुद्रसावर्णि । इस मन्वन्तर में ऋतधामा नामक इन्द्र होंगे । सत्यसहा की पत्नी सुनुता के गर्भ से स्वधामा नाम से भगवान् का अंशावतार होगा । उसी रूप में वे मन्वन्तर का पालन भी करेंगे ।

तेरहवें मनु होंगे परम जितेन्द्रिय देवसावर्णि । इसमें इन्द्र का नाम होगा दिवस्पति । देवहोत्र की पत्नी बृहती के गर्भ से योगेश्वर के रूप में भगवान् का अंशावतार होगा ।

महाराज, चौदहवें मनु होंगे इन्द्रसावर्णि । इस मन्वन्तर के इन्द्र का नाम होगा—शुचि । उस समय सत्रायण की पत्नी विताना के गर्भ से बृहद्भानु के रूप में भगवान् अवतार ग्रहण कर जगत् की रक्षा और कर्मकाण्ड का विस्तार करेंगे ।

श्री शुक्रदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, ये चौदह मन्वन्तर भूत, वर्तमान और भविष्य में चलते रहते हैं । इन्हीं के द्वारा एक सहस्र चतुर्युगीवाले कल्प के समय की गणना की जाती है—

राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते । प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः ॥८/१३/३६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥

## चौदहवाँ अध्याय

### ( मनु आदि के पृथक्-पृथक् कर्मों का निरूपण )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्, आप के द्वारा वर्णित ये मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि आदि अपने-अपने मन्वन्तर में किसके द्वारा नियुक्त होकर कौन-कौन-सा कार्य किया करते हैं—यह आप कृपा करके मुझे बतलाइये—

मन्वन्तरेषु भगवन् यथा मन्वादयस्त्विमे । यस्मिन् कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद् वदस्व मे ॥८/१४/१

श्रीशुक्रदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि और देवता—सबको नियुक्त करनेवाले स्वयं भगवान् ही हैं यहाँ संक्षेप में सबके कार्यों का विवरण निर्दिष्ट किया जा रहा है—(१) भगवान् के अंशावतार अपने-अपने कार्यों को करते हुए जगत् की रक्षा करते हैं । (२) सप्तर्षिगण प्रलय की बेला में विनष्ट हुए वेदों को अपने तप के द्वारा पुनः प्राप्त करते हैं । (३) मनुगण वेद प्रतिपादित धर्म का पालन करते हुए पृथिवी की रक्षा करते हैं । (४) मनुपुत्र मन्वन्तरभर प्रजा की रक्षा और धर्म का पालन करते हैं । (५) देवता यज्ञ-भाग ग्रहण करते हैं और (६) इन्द्र त्रैलोक्य-लक्ष्मी का पालन करते हुए वर्षा के द्वारा सब का कल्याण करते हैं ।

ब्रह्मा के एकदिन में चौदह मन्वन्तर समाप्त हो जाते हैं अर्थात् चौदह मन्वन्तरों का ब्रह्मा का एक दिन होता है । ब्रह्मा का एक दिन कल्प कहलाता है । एक कल्प चार हजार युग का होता है ।



परीक्षित, इस प्रकार कल्प-विकल्प का प्रमाण शास्त्रों में वर्णित है। यह मन्वन्तर जीव के वैराग्य का हेतु है और ईश्वर की नित्यता का ज्ञापक है। इसके वर्णन का उद्देश्य मानव को सद्धर्म की शिक्षा देना है ॥१४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

## पन्द्रहवाँ अध्याय

( राजा बलि की स्वर्ग पर विजय )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवान्, श्रीहरि स्वयं ही सबके स्वामी हैं फिर उन्होंने दीन-हीन की भाँति गजा बलि से तीन पग पृथिवी क्यों मांगी ? दान मिल जाने पर दान-दाता बलि को उन्होंने क्यों बाँधा ? हमारे मन में इस बात को जानने की बड़ी उत्कण्ठा है कि स्वयं परिपूर्ण यज्ञेश्वर भगवान् के द्वारा याचना और निरपराध का बन्धन—ये दोनों ही कैसे सम्भव हुए !—

बलेः पदत्रयं भूमेः कस्मान्दरिरयाचत । भूत्वेश्वरः कृपणवल्लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम् ॥

एतद्वेदितुमिच्छामो महत् कौतूहलं हि नः । यज्ञेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनं चाप्यनागसः ॥

८/१५/१-२

परीक्षित की आशङ्का को सुनकर शुकदेव महाराज ने कहना प्रारम्भ किया—राजन्, देवासुर-संग्राम में इन्द्र ने बलि को मारकर उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली। त्रिलोकी पर इन्द्र का साम्राज्य स्थापित हो गया। उस समय भृगुनन्दन शुक्राचार्य ने अपनी सञ्जीविनी विद्या के बल से उसे पुनः जीवित कर दिया। बलि स्वभाव से उत्तम था, कृतज्ञ था। उसने सोचा कि यह जीवन भृगुवंशी ब्राह्मणों की कृपा का फल है अतः उसने अपना तन, मन, धन—सब कुछ उनके चरणों में समर्पित कर दिया और सर्वदा उन्हीं की सेवा में निरत रहने लगा। उस समय वह एक सच्चे शिष्य की भूमिका में था—

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो हीन्द्रेण राजन् भृगुभिः स जीवितः ।

सर्वात्मना तानभजद् भृगून् बलिः शिष्यो महात्मा र्थनिवेदनेन ॥८/१५/३

बलि की भक्तिभरी सेवा से शुक्राचार्य प्रसन्न हो उठे। उन्होंने सोचा बलि को इन्द्र के पद पर स्थायी रूप से प्रतिष्ठित कर दूँ अतः उन्होंने बलि से विश्वजित् नामक एक महान् यज्ञ प्रारम्भ करवा दिया। यज्ञ की समाप्ति पर अग्निकुण्ड से सोने की चदर से मढ़ा हुआ एक बड़ा सुन्दर रथ निकला फिर इन्द्र के घोड़ों जैसे हरे रंग के घोड़े और सिंह के चिह्न से युक्त रथ पर लगाने की ध्वजा निकली साथ ही सोने के पत्र से मढ़ा हुआ दिव्य धनुष, कभी भी न खाली होनेवाले दो अक्षय तरकस और दिव्य कवच भी प्रकट हुए। प्रह्लाद जी ने बलि को एक ऐसी पुष्प-माला प्रदान की जो कभी की कुभलाती न थी। शुक्राचार्य ने अपने शिष्य को एक शंख दी जिसकी ध्वनि शत्रुओं के हृदय को विदीर्ण करने में समर्थ थी।

इस प्रकार ब्राह्मणों की कृपा से बलि को युद्ध की सारी सर्वोत्तम सामग्री प्राप्त हो गई। आचार्य-पुत्रों ने उनका स्वस्ति-वाचन किया। बलि ने गुरु शुक्राचार्य के साथ ही सारे ब्राह्मणों के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनकी प्रदक्षिणा की। इसके बाद उन्होंने प्रह्लाद जी से आज्ञा लेकर उनके चरणों में प्रणाम किया। जब अतिरथी बलि ने अस्त्र-शस्त्र से सज्ज होकर दादा की दी हुई माला धारण की तो उनका तेज देखते ही बनता था। उस समय वे अग्निकुण्ड में लपलपाते हुए अग्नि की तरह प्रतीत हो रहे थे। आचार्य जी के द्वारा प्रदत्त शुभ मुहूर्त में बलि ने रथ



पर आरूढ होकर इन्द्रपुरी अमरावती पर आक्रमण के लिये प्रस्थान किया। उस समय असुर-वीरों की एक विशाल वाहिनी उनका अनुगमन कर रही थी। आसुरी-सेना के प्रस्थान से आकाश और अन्तरिक्ष कांप-सा रहा था—

**कृतो विकर्षन् महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः । यथाविन्द्रपुरीं स्वृद्धां कम्पयन्निव रोदसी ॥८/१५/११**

इन्द्रपुरी बड़ी अद्भुत पुरी है। उसका सौन्दर्य मानव की कल्पना से भी परे है। पक्षियों के कलरव और प्रमरों की गुञ्जार से पूरित विविध-विध उद्यानों की उपस्थिति अमरावती के सौन्दर्य में चार चाँद लगाते हैं। सुवर्ण कमलों से प्रकाशित आकाश गङ्गा, अँगूठी में नग की भाँति, वहाँ की शोभा बढ़ाती है। स्वयं विश्वकर्मा ने विशद प्लान के अनुसार उस पुरी का निर्माण किया था। ऐसी इन्द्रपुरी को बलि की सेना ने चारों ओर से घेर लिया। आसुरी सेना का प्रत्येक योद्धा आज इन्द्र को उनके कपट का मजा चखा देने के लिये आतुर था। उस समय बलि ने शुक्राचार्य के द्वारा दी हुई शङ्ख बजाई। शंखध्वनि देवताओं को युद्ध के लिये खुला आमन्त्रण था। उसे सुनकर इन्द्राणी आदि देवाङ्गनायें भयभीत हो उठीं—

**तां देवधानीं स वरुथिनीपतिर्बहिः समन्ताद् रुरुधे पृतन्यया ।**

**आचार्यदत्तं जलजं महास्वानं दध्मौ प्रयुञ्जन् भयमिन्द्रयोषिताम् ॥८/१५/२३**

यह देखकर कि बलि ने विशाल सेना लेकर अमरावती को चारों ओर से घेर लिया है, इन्द्र ने अपने गुरु बृहस्पति से जाकर पूछा—गुरुवर, मेरे पुराने शत्रु बलि ने बिशाल तैयारी के साथ स्वर्ग पर आक्रमण किया है। उसके तेज को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि हम लोग उसका सामना नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार उनके उत्कर्षशाली होने का कारण क्या है? कैसे यह इस बार इतना शक्तिशाली बन बैठा है? प्रतीत हो रहा है कि वह अपने तेज से संसार को भस्म कर डालेगा?

इन्द्र की बात सुनकर देवगुरु बृहस्पति जी ने कहा—इन्द्र मैं बलि के तेजस्वी होने का कारण जानता हूँ। ब्रह्मवादी भृगुवंशियों ने अपने शिष्य बलि को महान् तेज से सम्पन्न कर उसे शक्तियों का सागर बना दिया है। सर्वशक्तिशाली भगवान् को छोड़कर तुम अथवा तुम्हारे जैसा और कोई भी बलि के सामने क्षण भर के लिये भी नहीं ठहर सकता अतः तुम लोग स्वर्ग को छोड़कर कहीं छिप जाओ और उस समय की प्रतीक्षा करो, जब तुम्हारे शत्रु का भाग्यचक्र पलटे। सम्प्रति ब्राह्मणों के तेज से बलि की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई है। जब यह फिर उन्हीं ब्राह्मणों का तिरस्कार करेगा, तब अपने परिजन-परिवार के साथ पतन को प्राप्त करेगा। गुरुदेव की बात सुनकर, उनकी सलाह शिरोधार्य कर देवों के साथ इन्द्र, स्वर्ग को खाली कर इधर-उधर जाकर छिप गये। बिना रक्त बहाये, बिना अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग किये बलि को स्वर्ग का आधिपत्य प्राप्त हो गया फिर तो वे अपने गुरु की कृपा से त्रिलोकी के शासक बन बैठे। इसके बाद भृगुवंशियों ने अपने प्रिय शिष्य बलि की, इन्द्र-पद पर स्थिरता के लिये सौ अश्वमेध यज्ञ करवाये। निन्यानबे अश्वमेध-यज्ञ तो निर्विघ्न पूरे हो गये किन्तु जब बलि सौवाँ अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे तभी भगवान् विष्णु ने वामन अवतार लेकर बलि से तीन पग पृथिवी मांग कर त्रिलोकी नाप ली थी और स्वर्ग इन्द्र को प्रदान कर दिया था।

अश्वमेध यज्ञों के सम्पादन से बलि की कीर्तिपताका चारों ओर फहराने लगी। वे चन्द्रमा की तरह शोभायमान हो उठे। बलि ब्राह्मणों की कृपा से प्राप्त स्वर्ग की लक्ष्मी का बड़ी उदारता से उपभोग करते थे।

सौ अश्वमेध यज्ञ पूर्ण करनेवाला व्यक्ति स्वर्ग का अधिपति इन्द्र बनता है। किन्तु भृगुवंशी ब्राह्मणों की कृपा से बलि पहले स्वर्ग के इन्द्र बने और फिर सौ अश्वमेध यज्ञ किये ॥१५॥

**॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥**



## सोलहवाँ अध्याय

( कश्यप द्वारा देवमाता अदिति को पयोव्रत का उपदेश )

श्री शुकदेवजी ने कहा—राजन्, दैत्यों ने स्वर्ग पर अधिकार कर लिया । देवता अपना प्राण बचाने के लिये भाग कर जहाँ-तहाँ छिप गये । उस समय देव-माता अदिति सन्तप्त हो उठीं । उनकी स्थिति अनाथ जैसी हो गई थी—

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तदा । हते त्रिविष्टपे दैत्यूः पर्यतप्यदनाथवत् ॥८/१६/१

उसी समय एक दिन कश्यप जी महाराज उनके आश्रम में आये । कश्यप जी बराबर विचरण करते रहते थे । वे किसी एक आश्रम में बँध कर नहीं रहते थे । उन्होंने देखा कि देव-माता अदिति का आश्रम उत्सव और आनन्द से रहित है । वह उन्हें उदास और सूना-सा लगा । अदिति ने पतिदेव को अपने आश्रम में आया हुआ देखा । वे उनके स्वागत में उठ खड़ी हुई । आसन देकर सादर बैठाया । उनका चरण धोकर आचमन कराया । पीने के लिये पानी दिया । आराम से बैठ जाने के बाद कश्यप जी ने पत्नी को चिन्तामग्न देखकर पूछा—प्रिये, संभव है, मेरी अनुपस्थिति में तुम्हारा चित्त उद्विग्न रहा होगा । उस समय कोई अतिथि आया हो और गृह-कार्य में व्यग्र रहने के कारण तुमने उसका सत्कार न किया हो । जिस घर में आगत अतिथि जल से भी सत्कृत नहीं किये जाते, वह घर अवश्य ही गौदड़ के घर के समान है—

गृहेषु येष्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि । यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः ॥८/१६/७

जिसके घर से अतिथि निराश होकर लौटता है, वह उसे अपना पाप प्रदान कर बदले में उसका पुण्य लेकर चला जाता है<sup>१</sup> । कहीं तुम्हारे अतिथि-सत्कार आदि धार्मिक कृत्यों में बाधा तो नहीं पड़ी ? क्या अग्निहोत्र की क्रिया में कोई त्रुटि हो गई ? कहीं तुमने ब्राह्मण के आदर-सत्कार में कोई कमी तो नहीं की ? जब अदिति ने इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया तो कश्यप जी ने फिर पूछा—अच्छा, यह बतलाओ तुम्हारे पुत्र तो कुशल से हैं न ? देवि, तुम्हारा मन क्यों अस्वस्थ दिखलाई पड़ रहा है ?

पतिदेव के प्रश्नों को सुनकर अदिति ने बड़ी विनम्रता से कहा—स्वामिन्, सब कुछ ठीक-ठाक है, सही ढंग से सम्पादित है । जब आप जैसे धर्मात्मा हम को धर्म का उपदेश देते रहते हैं, तब भला हमारे धर्म-पालन में बाधा कैसे आ सकती है ? प्रभो, आप की कृपा से मैंने अग्निहोत्र में कोई गड़बड़ी नहीं की । अतिथि, सेवक, भिक्षुक और अन्य याचकों का भी तिरस्कार नहीं किया है । यह सारी-की-सारी प्रजा आपकी है फिर भी ईश्वर का नियम है कि जो उसका भजन करता है, उसके प्रति वह पक्षपात करता है । मैं आप की दासी हूँ । हमें कष्ट केवल इस बात का है कि दैत्यों ने हमारे पुत्रों का अधिकार और स्थान छीन लिया है इसलिये मैं इस समय दुःख के अपार सागर में निमग्न हो रही हूँ । आप मुझे कष्ट के अपार सागर से उबार लें । हमारे पुत्रों को पुनः उनका स्थान मिल जाय, ऐसी कृपा आप कर दीजिये ।

श्री शुकदेवजी ने कहा—राजन्, पत्नी की प्रार्थना सुनकर मुस्कुराते हुए कश्यप जी ने कहा—अहो ! भगवान् की माया अतिशय प्रबल है । उसने सारे जगत् को स्नेहरूपी रस्सी से बाँध रक्खा है । कहाँ यह पाञ्चभौतिक जगत् और कहाँ प्रकृति से परे आत्मा । इस नश्वर संसार में कौन किसका पति, पुत्र, भाई और बन्धु है ? वस्तुतः मोह ही प्राणी को नचा रहा है, वही आसक्ति का कारण है—

१. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।

स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ —स्क०पु०, ब्राह्म ख०, धर्मारण्य मा० ६/२३-२४॥



क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चात्मा प्रकृतेः परः ।

कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम् ॥८/१६/१९

फिर भी प्रिये, तुम घबड़ाओ नहीं। तुम भगवान् जनार्दन की उपासना करो। वे सब के हृदय में विराजमान हैं और सारे संसार के स्वामी हैं। वे दीनों-दुखियों पर अनुकम्पा करने वाले हैं अतः तुम्हारा कल्याण अवश्य करेंगे। मेरा यह दृढ निश्चय है कि भगवान् की भक्ति कभी व्यर्थ नहीं होती। इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं है—“अमोघा भगवद्भक्तिर्नैतरेति मतिर्मम” ॥२१॥

पति के आश्वासन को सुनकर अदिति ने कहा—भगवन्, मैं जगदीश्वर भगवान् की आराधना किस प्रकार करूँ, जिससे वे सत्यसङ्कल्प प्रभु मेरा मनोरथ पूर्ण कर दें। इस पर कश्यप ने कहा—देवि, ब्रह्मा जी ने मुझे भगवान् को प्रसन्न करने के लिये जिस व्रत का उपदेश किया था, वही मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। इस व्रत का नाम है—पयोव्रत। फाल्गुन के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से बारह दिन तक केवल दूध पीकर भगवान् कमलनयन की पूजा करे। आराधक अमावास्या के दिन यदि संभव हो तो सूअरों के द्वारा खोदी गई मिट्टी शरीर पर मल कर नदी में मन्त्र बोलकर स्नान करे। प्रतिपद् के दिन नदी आदि में स्नान कर भगवान् का ‘नमस्तुभ्यं’ इत्यादि नौ मन्त्रों (८/१६/२९-३७ तक) से शोडशोपचार पूजन करे। द्वादशाक्षर मन्त्र<sup>१</sup> से भी भगवान् के पूजन का विधान है। यदि सामर्थ्य हो तो दूध में पकाये हुए तथा घृत और शर्करा मिश्रित शालि के चावल की खीर का भोग लगावे तथा यथाशक्ति उसी से अग्नि में हवन करे और मन्त्र का १०८ बार जप करे। भोग लगाये गये नैवेद्य को लोगों में वितरित कर दे या स्वयं पा ले। आचमन और पूजा के बाद ताम्बूल निवेदन कर प्रदक्षिणा और दण्डवत् प्रणाम करे। इसके बाद निर्माल्य को शिर से लगाकर देवता का विसर्जन करे। कम-से-कम दो ब्राह्मणों को खीर का भोजन कराकर दक्षिणा दे फिर उनकी आज्ञा लेकर अपने इष्टमित्रों के साथ बचे हुए पायसात्र को प्रसन्न हो ग्रहण करे। प्रतिदिन इसी नियम से पूजन करता हुआ ब्रह्मचर्य से रहे, भूतल पर शयन और त्रिकाल स्नान करे—

प्रतिपदिनमारभ्य यावच्छुक्लत्रयोदशी। ब्रह्मचर्यमधःस्वप्नं स्नानं त्रिषवणं चरेत् ॥८/१६/४८

अन्त में त्रयोदशी के दिन व्रत समाप्त कर उद्यापन करे। उस दिन पहले भगवान् को पञ्चामृत से स्नान आदि कराकर उनका षोडशोपचार पूजन करे फिर प्रतिदिन की भाँति ब्राह्मणों को भोजन करा कर यथायोग्य दक्षिणा देनी चाहिये। अपने आप आये हुए चाण्डाल तथा लूले, लंगड़े, अन्ये लोगों को भी भोजन कराना चाहिये। देवि, तुम श्रद्धा और भक्ति के साथ इस व्रत का अनुष्ठान करो। इस व्रत के प्रभाव से प्रसन्न होकर भगवान् तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करेंगे ॥१६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥

## सत्रहवाँ अध्याय

( भगवान् का प्रकट होकर अदिति को वर देना )

श्री शुक्रदेव महाराज कहते हैं—राजन्, अपने पतिदेव महर्षि कश्यप का उपदेश प्राप्त करके अदिति ने बड़ी सावधानी से बारह दिन तक पयोव्रत का अनुष्ठान किया—

१. मन्त्र—त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता। उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय ॥८/१६/२७॥

२. द्वादशाक्षरमन्त्र—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।



इत्युक्ता सादिति राजन् स्वभर्त्रा कश्यपेन वै । अन्वतिष्ठद् व्रतमिदं द्वादशाहमतन्द्रिता ॥८/१७/१॥  
 अनुष्ठान की बेला में अदिति ने अपनी इन्द्रियों को वश में करके मन को निश्चलरूप से भगवान् में संलग्न कर दिया। व्रत पूर्ण हो जाने पर भगवान् उसके सामने प्रकट हो गये। हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म विराजमान थे। भगवान् को देखते ही अदिति हड़बड़ा कर उठ खड़ी हुई। उस समय उसके मन में श्रद्धा की गङ्गा उमड़ रही थी। प्रेम-विह्वल हो उसने भूतल पर लोटकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया फिर उठकर, हाथ जोड़ भगवान् की स्तुति करने की चेष्टा की किन्तु उसकी आँखों में प्रेम के अश्रु उमड़ रहे थे। वाणी गद्गद हो उठी थी। सारा शरीर रोमाञ्च से भर गया था। आनन्दोल्लास के कारण उसका शरीर कम्पित हो रहा था अतः थोड़ी देर तक वह भगवान् को निर्निमेष दृष्टि से निहारती रही फिर किसी-किसी तरह स्तुति प्रारम्भ की—भगवन्, आप यज्ञ के स्वामी हैं। यज्ञ भी आप ही हैं। अच्युत, आप के चरणकमलों का आश्रय लेकर प्राणी भव-सागर को पार कर जाते हैं। आप के यश-कीर्तन का श्रवण भी संसार से तारने वाला है। आप के नामों के श्रवणमात्र से ही कल्याण हो जाता है। आदिदेव, जो आप की शरण में जाता है, उसकी सारी विपत्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं वह उन्नति का भागी बनता है। भगवन्, आप दीनों के स्वामी हैं। आप हमारा कल्याण करने की कृपा करें—

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ।

आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥ ८/१७/८

प्रभो, आप के प्रसन्न होते ही प्राणी सुख और ज्ञान का सागर बन जाता है। शत्रुओं पर विजय दिला देना तो आप के लिये मामुली बात है। सम्प्रति मेरे ऊपर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा है। मैं बड़े कष्ट में हूँ। आप मेरी रक्षा करें।

भगवान् ने अदिति की प्रार्थना सुनी। वे उसके पयोव्रत से प्रसन्न थे। उसकी भक्ति-भावना से सन्तुष्ट थे अतः उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—देवि, मैं तुम्हारे अभिप्राय को जानता हूँ। तुम्हारी इच्छा है—असुर संग्राम में मारे जाँय। उनकी स्त्रियाँ विधवा बने और जैसे तुम्हारी बहुएँ रो रही हैं, वैसे ही दानवों-दैत्यों की बहुएँ रोयें। दैत्य-दानव स्वर्ग से निकाले जाँय और तुम्हारे पुत्र-पौत्रादि स्वर्ग पर पुनः प्रतिष्ठित हो जायें लेकिन इस समय यह बात असम्भव है। राजा बलि बड़ा प्रतापी है, ब्राह्मणों का परम भक्त है। ब्राह्मणों का उस पर विशेष अनुग्रह है। भृगुवंशियों ने उसे सबल बना रक्खा है, अनन्त तेज से सम्पन्न बना रक्खा है अतः उसपर आक्रमण करना कल्याणकारी न होगा—

प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा अपारणीया इति देवि मे मतिः ।

यत्तेऽनुकूलेश्वरविग्रगुप्ता न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति ॥ ८/१७/१६

भगवान् की बात सुन कर एक क्षण के लिये सन्न हो गई अदिति। वह कहने ही जा रही थी कि—नाथ, तब क्या मेरा यह पयोव्रत निरर्थक सिद्ध हो गया ? किन्तु अभी वह कुछ कह न पाई थी कि भगवान् ने कहा—देवि, यद्यपि ऐसी बात है फिर भी कुछ-न-कुछ उपाय सोचूँगा, क्योंकि मैं तुम्हारी आराधना से पूर्ण सन्तुष्ट हूँ। मेरा अर्चन-पूजन कभी निष्फल नहीं होता, आराधक को उसकी श्रद्धा के अनुसार फल अवश्य प्राप्त होता है—

अथाप्युपायो मम देवि चिन्त्यः सन्तोषितस्य व्रतचर्यया ते ।

ममार्चनं नाहिति गन्तुमन्यथा श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात् ॥ ८/१७/१७

तुमने अपने पुत्रों की रक्षा के लिये ही विधिपूर्वक पयोव्रत के विधान से मेरी आराधना की है अतः मैं अंशरूप से कश्यप के वीर्य में प्रवेश करूँगा और तुम्हारा पुत्र बन कर तुम्हारी सन्तति की रक्षा करूँगा। तुम मेरे इस रूप का ध्यान करती हुई अपने निष्पाप पति की आराधना-सेवा करना। देवि, देखो, पूछने पर भी यह बात किसी दूसरे



को मत बतलाना । देवताओं का रहस्य जितना ही गुप्त रक्खा जाता है, उतना ही सफल होता है । इस प्रकार मैं तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण करूँगा । इतना कह कर अदिति के देखते-ही-देखते भगवान् अन्तर्धान हो गये ।

भगवान् मेरी कोख से पैदा होंगे—यह बात जानकर अदिति की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । भगवान् के आदेशानुसार वह अपने पति की निष्ठा के साथ सेवा-शुश्रूषा करने लगी । यद्यपि उसने इस बात की चर्चा कश्यप से भी नहीं की थी किन्तु अपने समाधि-बल से उन्होंने सारी बात जान ली । जब उन्हें यह पता चल गया कि भगवान् का अंश मेरे अन्दर प्रविष्ट हो गया है तब उन्होंने समाहित चित्त से अपनी तपस्या के द्वारा चिर-सञ्चित वीर्य का अदिति के गर्भ में आधान किया ।

जब ब्रह्मा जी को अदिति के गर्भ में भगवान् के आने की बात विदित हुई तो उन्होंने अदिति के पास आकर गर्भस्थ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा—प्रभो, आप ही संसार के आदि, मध्य और अन्त हैं । आप ही इस सृष्टि के परमाश्रय हैं । आप में जन्मादि नहीं है, फिर भी प्रयोजनवश आप जन्मादि धारण करते हैं । आप स्वर्ग से च्युत देवों को पुनः उनके स्थान में स्थापित करने की कृपा करें ॥१७॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

## अठारहवाँ अध्याय

( वामन भगवान् का प्रकट होकर राजा बलि की यज्ञशाला में पधारना )

श्री शुकदेवजी ने कहा—परीक्षित, ब्रह्मा के इस प्रकार स्तुति कर लेने पर अदिति के समक्ष जन्म-मृत्यु-रहित भगवान् प्रकट हो गये । उनकी चार भुजाएँ थीं । वे शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मधारण किये हुए थे । उनके श्रीविग्रह पर पीताम्बर शोभा पा रहा था । विकसित कमल के समान उनकी बड़ी-बड़ी आँखें थीं । उनका शरीर विशुद्ध श्यामवर्ण का था । मकरकृति कुण्डलों से श्रीमुख की कान्ति और भी उल्लसित हो रही थी । वक्षःस्थल श्रीवत्स से सुशोभित था । हाथों में कंगन, भुजाओं में बाजूबन्द, शिर पर मुकुट, कमर में करधनी की लड़ियाँ और चरणों में सुन्दर नूपुर जगमगा रहे थे । कण्ठ में वनमाला और कौस्तुभ शोभायमान थे । उनकी कान्ति से प्रजापति कश्यप का घर प्रकाशमान हो रहा था ।

परीक्षित, जिस समय भगवान् ने जन्म ग्रहण किया उस समय चन्द्रमा श्रवण नक्षत्र पर थे । भाद्रपद मास का शुक्ल पक्ष था । श्रवण-नक्षत्र से युक्त द्वादशी तिथि थी । अभिजित् मुहूर्त था । सभी नक्षत्र और ग्रह-गण अनुकूल थे । राजन्, भगवान् के जन्मवाली द्वादशी तिथि को 'विजया द्वादशी' कहते हैं । जन्म की बेला में सूर्य आकाश-मण्डल के मध्यभाग में स्थित थे । उस समय सारी दिशाएँ प्रसन्न हो उठीं । जल निर्मल हो गये । सारे प्राणियों के मन में प्रसन्नता का सञ्चार हो गया । सभी ऋतुओं के पुष्प एक साथ विकसित हो गये । चतुर्दिक् उल्लास का वातावरण था । आकाश में नगाड़े बज रहे थे, अप्सराएँ नाच रही थीं । गन्धर्व गा रहे थे । गगन-मण्डल से फूलों की वर्षा हो रही थी । उससे अदिति का आश्रम सुरभित हो उठा ।

जब अदिति ने अपने गर्भ से प्रकट हुए परम पुरुष परमात्मा को देखा तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । वह आश्चर्य से भर गई । बरबस उसके मुँह से निकल पड़ा—“जय हो, जय हो” । कश्यप और अदिति के देखते-ही-देखते भगवान् ने चतुर्भुजरूप छोड़कर वामन रूप धारण कर लिया । वे सात वर्ष के ब्राह्मण-ब्रह्मचारी बन गये



इसीलिये उनकी बाल-लीलाओं का वर्णन नहीं है। भगवान् को वामन ब्रह्मचारी के रूप में देखकर महर्षियों को महान् आनन्द हुआ। उन लोगों ने कश्यप प्रजापति को आगे करके उनके जातकर्म और उपनयन संस्कार करवाये। देवताओं और ऋषियों ने उन्हें छत्र, दण्ड, कमण्डलु और नाना वस्तुएँ प्रदान कीं। साक्षात् भगवती उमा प्रकट होकर उन्हें भिक्षा प्रदान की—

**भिक्षां भगवतीसाक्षादुमादादम्बिका सती ॥८/१८/१७**

उपनयन-संस्कार की सारी क्रियाएँ उन्होंने शास्त्र के अनुसार सम्पन्न की। उसी समय उन्होंने सुना कि महाराज बलि भृगुवंशियों के आचार्यत्वमें नर्मदा नदी के उत्तर तट पर भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ौच) नामक स्थान में अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं। यह सुनते ही वे वहाँ के लिये चल पड़े। उनके चलने के समय भार से भूतल पग-पग पर झुक रहा था। बलि और यज्ञ के आचार्यों ने दूर से ही वामन भगवान् को आते हुए देखा। उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो सूर्यनारायण उदित होकर उधर ही चले आ रहे हों।

**श्रुत्वाश्वमेधैर्यजमानमूर्जितं बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः ।**

**जगाम तत्राखिलसारसंभृतो भारेण गां संन्नमयन् पदे पदे ॥८/१८/२०**  
**तं नर्मदायास्तट उत्तरे बलेर्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके ।**

**प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं व्यचक्षतारादुदितं यथा रविम् ॥८/१८/२१**

वामन के तेज से यज्ञ के सारे सदस्यों की आभा-प्रभा मद्धिम पड़ गई। उन लोगों ने उठकर उनकी सादर अगवानी की। बड़े प्रेम से उन्हें यज्ञशाला में लाये। बलि ने बड़ी श्रद्धा से उन्हें बैठने के लिये आसन प्रदान किया फिर स्वागत भरे वचनों से अभिनन्दन करके उनका चरण धोना प्रारम्भ किया। उस समय बलि की पत्नी विन्ध्यावली स्वर्ण के कलश से जल छोड़ रही थी। बलि मल-मल कर धो रहा था। जो सौभाग्य रामावतार में गंगा पार करानेवाले केवट को मिला था, वही सौभाग्य आज महाराज बलि को प्राप्त हो रहा था अतः उनकी प्रसन्नता का कोई ठिकाना न था। बलि ने वामन का चरण धोया। उससे आचमन किया और उसे अपने तथा पत्नी-पुत्रों के शिर पर छिड़का। भगवान् का चरण-धोवन प्राणियों के पाप को विनष्ट करनेवाला है। इसी जल को भगवान् शङ्कर बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ अपने शिर पर धारण करते हैं—

**तत्पादशौचं जनकल्मषापहं स धर्मविन्मूर्धन्यदद्यात् सुमङ्गलम् ।**

**यद् देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलिर्दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या ॥८/१८/२८**

चरण धोकर सविधि पूजन कर लेने के बाद बलि ने हाथ जोड़ कर कहना प्रारम्भ किया—महाराज, आपके पधारने से आज हमारा वंश तृप्त हो गया। हमारा कुल पवित्र हो गया। हमें यज्ञ का फल प्राप्त हो गया। ब्राह्मणकुमार, आप के पाँव पखारने से मेरे सारे पाप धुल गये और विधिपूर्वक यज्ञ करने से, अग्नि में आहुति डालने से जो फल मिलता, वह आज अनायास ही मिल गया। आपके इन नन्हें-नन्हें चरणों के पड़ने से और इनके धोवन से सारी धरती ही पवित्र हो गई। ब्राह्मणकुमार, ऐसा प्रतीत होता है आप कुछ चाहते हैं। परम पूज्य ब्रह्मचारी जी, आप जो चाहते हों वह मुझ से माँग लीजिये। आप को गाय चाहिये तो गाय लीजिये, सोना चाहिये तो सोना लीजिये, यान चाहिये तो यान लीजिये, सामग्रियों से सुसज्जित घर चाहिये तो घर लीजिये। गाँव, घोड़े, हाथी आदि जो कुछ चाहिये वह सब मुझसे माँग लीजिये।

बलि की एक तरुणी बेटी थी—काञ्चनमाला। काञ्चनमाला निर्निमेष नयनों से ब्रह्मचारी वामन को निहार रही



थी<sup>१</sup> अतः बलि ने काञ्चनमाला की ओर सङ्केत करके कहा—ब्रह्मचारी जी, यदि आप विवाह करना चाहते हों तो मैं सहर्ष इस कन्या का हाथ आप को पकड़ा सकता हूँ। बोलिये क्या सेवा में अर्पित करूँ ?—

यद् यद् वटो वाञ्छसि तत्प्रतीच्छ मे त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये ।

गां काञ्चनं गुणवद् धाम मृष्टं तथान्नपेयमुत वा विप्र कन्याम् ।

ग्रामान् समृद्धांस्तुरगान् गजान् वा रथांस्तथार्हतम् सम्प्रतीच्छ ॥ ८/१८/३२

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥

## उन्नीसवाँ अध्याय

( भगवान् वामन का बलि से तीन पग पृथिवी माँगना, बलि का वचन देना और शुक्राचार्य का निषेध )

श्री शुक्रदेव महाराज ने कहा—राजन्, महान् दानी विरोचन के पुत्र बलि के धर्मयुक्त और सुमधुर वचन को सुनकर भगवान् वामन प्रसन्न हो उठे उन्होंने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा—महाराज, आप ने जो कुछ कहा है वह सत्य है<sup>१</sup>, आपके प्रशस्तकुल के अनुरूप है, धर्म से ओत-प्रोत है और आप के यश को बढ़ानेवाला है : ऐसा क्यों न हो, आप धर्म के सम्बन्ध में जो भृगुकुलभूषण शुक्राचार्य को और परम विरक्त अपने पितामह प्रह्लाद को आदर्श मानते हैं ।

वामन जी ने बलि को थोड़ा और दृढ़ करने के उद्देश्य से कहा—महाराज, आप जिस कुल के विभूषण हैं, उस कुल में आज तक कोई धैर्यहीन कृपण पुरुष उत्पन्न ही न हुआ । इस प्रशस्त वंश में ऐसा कोई जन्मा ही नहीं जिसने ब्राह्मण को कभी दान न प्रदान किया हो अथवा देने की प्रतिज्ञा करके उससे पीछे हट गया हो, मुकर गया हो—

न होतस्मिन् कुले कश्चिन्नः सत्त्वः कृपणः पुमान् ।

प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वादात्ता द्विजातये ॥ ८/१९/३

इस खानदान में ऐसा कोई नहीं हुआ जो दान और युद्ध से कभी मुँह मोड़ा हो, पराङ्मुख हुआ हो । क्यों न हो ऐसा ! जो आपकी कुल-परम्परा में प्रह्लाद जी चन्द्र की भाँति सुशोभित हो रहे हैं<sup>२</sup> । उनके पितृव्य महाबली हिरण्याक्ष को विष्णु भगवान् ने जीत तो लिया था, परन्तु उसके बहुत बाद भी उन्हें बार-बार उस की शक्ति और बल का स्मरण

१. हृदय—वामन वटु को देखकर काञ्चनमाला उस समय यही सोच रही थी कि—धन्य है वह माँ जिसने अपनी छाती का दूध इस बालक को पिलाया है । यदि यह मेरा बेटा होता तो मैं बड़े प्रेम से इसे दूध पिलाती और बाद में जब दान लेकर वामन ने अपने दो पग से त्रिलोकी को नाप लिया तथा तीसरे पग की भूमि की याचना करते हुए बलि को वरुण-पाश से बँधवा लिया, तब क्रुपित होकर वह सोचने लगी कि यदि मेरा वश चले तो मैं इसे जहर पिलाकर मार डालूँ । इसी संस्कार को लेकर काञ्चन माला कृष्णावतार में पूतना बनी है, जो छाती में जहर पोत कर कृष्ण को पिलाती है ।

२. सत्यम्—सर्वप्रथम बलि के वचन को 'सत्य' कहने का अभिप्राय यह है कि राजन्, आपने कहा है कि जो मांगोगे वह अवश्य दूँगा । आप अपने इस कथन से विचलित मत होइयेगा । आप के गुरु भी यदि आप को वचन से विचलित करना चाहेंगे तो भी अडिग बने रहियेगा, विचलित मत होइयेगा ।

३. भगतशिरोमणि मे प्रह्लाद । रामचरितमानस॥



हो आया करता था। उसे जीत लेने पर भी वे अपने को विजयी नहीं मानते थे। यह था उसका महान् पराक्रम—  
 "नात्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन्" ॥६॥ जब प्रह्लाद जी के पिता हिरण्यकशिपु ने सुना कि हमारे भाई का वध विष्णु ने कर दिया है, तो वह उन्हें मारने के लिये, हाथ में त्रिशूल लेकर, उनके निवास-स्थान वैकुण्ठ धाम में पहुँच गया। वे अपना धाम छोड़कर भाग खड़े हुए। उस समय उनके सामने यह समस्या खड़ी हो गई कि मैं कहाँ जाकर छिपूँ? हिरण्यकशिपु के हाथ से कैसे बचूँ? जहाँ-जहाँ भी जायें, हिरण्यकशिपु वहाँ-वहाँ त्रिशूल उठाये पहुँच ही जाता था अतः भगवान् ने सोचा—जैसे संसार में प्राणियों के पीछे मृत्यु लगी रहती है—वैसे ही मैं जहाँ-जहाँ जाऊँगा, वहाँ-वहाँ यह मेरा पीछा करेगा अतः मैं श्वासों के सहारे इसके हृदय में बैठ जाऊँ तो यह मुझे नहीं देख पायेगा क्योंकि यह बहिर्मुखी है (बाहर की ही वस्तुओं को देखनेवाला है। अन्तर्मुखी नहीं है। अन्तःकरण में स्थित वस्तु को नहीं देख सकता।) ऐसा सोचकर घबड़ाये हुए भगवान् पीछा करनेवाले हिरण्यकशिपु के भीतर प्राण के रास्ते प्रवेश कर गये—

यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव ।  
 अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि परादृशः ॥ ८/१९/९  
 एवं स निश्चित्य रिपोः शरीरमाधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र ।  
 श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्म देहस्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः ॥ ८/१९/१०

हिरण्यकशिपु ने वैकुण्ठ का कोना-कोना छानमारा। उसे विष्णु कहीं नहीं मिले। उसने कुपित होकर बड़े जोरों की गर्जना की और पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, दिशा, विदिशा—सर्वत्र विष्णु को खोजा। किन्तु वे उसे कहीं न दीख पड़े। जब उसे विष्णु नहीं दिखलाई पड़े तब उसने कहा—मैंने सारा जगत् छान डाला। किन्तु मेरे भाई का वह वधकर्ता कहीं मिला नहीं। अवश्य ही वह मेरे डर के मारे मर गया होगा। यहाँ तक कि आप के पिता विरोचन भी मरनेवाले नहीं थे। वे महान् ब्राह्मण-भक्त थे। उनके शत्रु देवताओं ने ब्राह्मणों का वेश बनाकर उनसे उनकी आयु ही मांग ली। ब्राह्मण-वेशधारी देवताओं के छल को जानते हुए भी उन्होंने सहर्ष आपनी आयु प्रदान कर दी। उसी प्रशंसनीय कुल में आपका जन्म हुआ है। सारा संसार आप के गृहस्थ-धर्म की प्रशंसा करता है। इस प्रकार जब वामन वटु ने बलि की प्रशंसाओं के पुल बाँध दिये, तब राजा बलि प्रसन्न होकर बोला—महाराज सब ठीक है। आप जो कुछ कह रहे हैं, सब ठीक है। अब आप आज्ञा तो दें कि आप चाहते क्या हैं?

भगवान् वामन ने कहा—वरदानियों के शिरोमणि, मैं और कुछ नहीं चाहता; मुझे केवल तीन<sup>१</sup> पग पृथिवी चाहिये और वह भी मेरे पग से नाप कर—

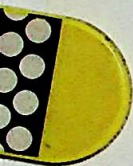
तस्मात्त्वत्त्वो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्शभात् । पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र संमितानि पदा मम ॥ ८/१९/१६  
 बलि महाराज यद्यपि मैं जानता हूँ कि—आप सकल संसार के स्वामी हैं। बड़े उदार और दानियों के शिरोमणि

१. हृदय—तीन पग पृथिवी मांगने का रहस्य यह है—भगवान् वामन बलि से कह रहे हैं कि (क) मुझे तीन पग पृथिवी दे दो अर्थात् तुम मुझे अपनी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का दान देकर चौथी तूर्यगा अवस्था में पहुँच जाओ, ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाओ। (ख) तुम मुझे अपना सत्त्व, रज और तम देकर त्रिगुणातीत बन जाओ। (ग) तुम मुझे अपना काम, क्रोध और लोभ प्रदान कर नरक में जाने से बच जाओ। इसी भाव को भगवान् ने गीता में इस प्रकार व्यक्त किया है—नरक में जाने के तीन मार्ग हैं—काम, क्रोध और लोभ। ये तीनों ही प्राणी के विनाश के कारण हैं अतः प्रयत्नपूर्वक इनका परित्याग कर देना चाहिये—त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ गीता-१६/२१॥ (घ) तुम मुझे अपना भूत, वर्तमान और भावी—तीनों काल समर्पित करके कालातीत बन जाओ ॥











हैं फिर भी मैं आप से इससे अधिक कुछ नहीं चाहता। विद्वान् पुरुष को केवल अपनी आवश्यकता के अनुसार ही दान स्वीकार करना चाहिये। इससे दान लेने का पाप उसे नहीं लगता।

बलि ने वामन की त्यागभरी बात सुनी। बालक की चतुराई से भरी हुई बात सुन कर उसे मन-ही-मन हँसी आ गई। उसने कहा—ब्राह्मण-कुमार, तुम बात तो बूढ़ों जैसी कर रहे हो, किन्तु तुम्हारी बुद्धि अभी बच्चों की-सी ही है। अभी तुम हो बालक ही न, इसी से अपना हानि-लाभ नहीं समझ रहे हो? सावधान होकर सुनो ब्रह्मचारी जी, सम्प्रति मैं तीनों लोकों का एकमात्र अधिपति हूँ, एकच्छत्र सम्राट् हूँ। द्वीप-का-द्वीप दे सकता हूँ। जो मुझे वाणी से प्रसन्न करके और मुझसे केवल तीन पग भूमि माँगे—वह भी क्या बुद्धिमान् कहा जा सकता है? वटुमहाराज, कान खोलकर सुन लीजिये—जो एक बार कुछ मांगने के लिये मेरे पास आ जाता है, उसे फिर कभी किसी से कुछ मांगने के लिये नहीं जाना पड़ता। उसके पुश्त-दर-पुश्त राजा बन जाते हैं अतः अपनी जीविका चलाने के लिये तुम्हें जितनी भूमि आवश्यक हो, उतनी मुझ से मांग लो—

न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति। तस्मात् वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे॥

८/१९/२०

भगवान् वामन ने महादानी बलि की ललकारभरी बातें सुनकर कहा—महाराज, आप जो कुछ कह रहे हो, वह सब ठीक है। किन्तु राजन्, संसार के सब-के-सब प्रिय विषय एकत्रित करके यदि एक इन्द्रिय-लोलुप व्यक्ति को प्रदान कर दिये जाँय तो भी वे उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकते। जो व्यक्ति तीन पग से सन्तुष्ट नहीं होगा उसे यदि नौ वर्षों से युक्त एक द्वीप भी दे दिया तो भी उसे सन्तोष नहीं होगा, क्योंकि उसके मन में सातों द्वीप पाने की इच्छा बनी रहेगी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पृथु, गय आदि सातों द्वीपों के अधिपति थे किन्तु फिर भी वे सन्तुष्ट नहीं थे। लोभ की यह प्रकृति है कि जैसे-जैसे वस्तुएँ मिलती जाती हैं, वैसे-वैसे वह बढ़ता जाता है<sup>१</sup>। महाराज बलि जी, आप और एक बात ध्यान से सुन लीजिये—जिस ब्राह्मण में सन्तोष नहीं है, वह नष्ट हो जाता है। सन्तुष्ट महीपति निन्दनीय है और असन्तुष्ट ब्राह्मण<sup>२</sup>। अगर हम तीन पग धरती से सन्तुष्ट नहीं होंगे तो अनन्त धन-धान्य से भी, त्रैलोक्य पाने से भी सन्तुष्ट नहीं होंगे और सन्तुष्ट होंगे तो इसी से सन्तुष्ट होंगे। असन्तोष ही मानव के जन्म-मृत्यु का कारण है तथा जो कुछ मिल जाय उसी से सन्तोष कर लेना मुक्ति का कारण है—“यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः” ॥२५॥ महाराज, निःसन्देह आप दान-दाताओं के मुकुट-मणि हैं इसलिये मैं आपसे अपने अग्निहोत्र के लिये केवल तीन पग भूमि ही मांगता हूँ। इतने से ही मेरा काम चल जायेगा। धन उतना ही संग्रह करना चाहिये, जितने की आवश्यकता हो—

तस्मात् त्रीणि पदान्येव वृणे त्वद् वरदर्शभात्। एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत्प्रयोजनम्॥

८/१९/२७

वामन भगवान् के वचन को सुनकर बलि को हँसी आ गई। उन्होंने कहा—अच्छी बात है; जितनी तुम्हारी इच्छा हो, उतनी ही ले लो। यह कहकर वामन को तीन पग पृथिवी का सङ्कल्प करने के लिये उन्होंने जलपात्र उठाया। अब तक शुक्राचार्य यह सारा प्रसङ्ग तटस्थ दृष्टि से देख-सुन रहे थे। उन्हें सब कुछ विदित था। उनसे भगवान् की यह लीला भी छिपी नहीं थी। वे ज्ञान-विज्ञान के निधान हैं। सर्वदर्शी हैं, ब्रह्मविद्वरिष्ठ हैं। सञ्जीविनी विद्या के महान् आचार्य हैं किन्तु जब देखा कि बलि अब सङ्कल्प का जल लेने जा रहा है तो उनसे रहा न गया। उन्होंने कहा—

१. जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥ रामचरित मानस ॥

२. 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभुजः ॥ चाणक्यनीति, ८/१८॥



विरोचनकुमार, ये स्वयं अविनाशी साक्षात् विष्णु हैं। देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिये कश्यप की पत्नी अदिति के गर्भ से अवतीर्ण हुए हैं। तुम नहीं जानते हो कि यह तुम्हारा सब कुछ छीन लेंगे अतः तुमने इन्हें दान देने की प्रतिज्ञा कर ली। किन्तु यह दैत्यों के साथ बहुत बड़ा अन्याय होने जा रहा है। इसे मैं ठीक नहीं समझता। तुम्हारा सर्वस्व हरण करनेवाले स्वयं हरि ही अपनी योगमाया से यह ब्रह्मचारी बनकर यहाँ आये हुए हैं। ये तुम्हारा राज्य, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, तेज और विश्वविख्यात कीर्ति—सब कुछ तुमसे छीन कर इन्द्र को दे देंगे—

एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम् । दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥

८/१९/३२

ये विश्वरूप हैं, तीन पग में तो ये सारे लोकों को नाप लेंगे। मूर्ख, जब तुम अपना सर्वस्व ही विष्णु को दे डालोगे, तो तुम्हारा जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? ये विश्वव्यापक भगवान् एक पग में सारी पृथिवी और दूसरे पग में स्वर्ग को नाप लेंगे। इनके विशाल शरीर से आकाश भर जायेगा। तब इनका तीसरा पग कहाँ जायेगा ? तुम उसे पूरा न कर सकोगे। फिर प्रतिज्ञा करके न देने के कारण तुम्हें नरक की यात्रा करनी पड़ेगी। संसार में वही दान प्रशंसनीय होता है, जिससे जीवननिर्वाह में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। जिसके पास धन रहता है वही ठीक ढंग से दान, पुण्य और यज्ञ आदि कर सकता है। इसलिये अपनी सम्पत्ति को पाँच भागों में विभक्त कर देना चाहिये—  
“धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च” ॥३७॥—एक भाग धर्म के लिये, दूसरा भाग यश के लिये, तीसरा भाग व्यापार के लिये, चौथा भाग अपने भोग-विलास के लिये और पाँचवा भाग स्वजनों के लिये—इस प्रकार पाँच भागों में बाँट कर कार्य करता है, उसका लोक-परलोक में कल्याण होता है। असुरशिरोमणि, यदि तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा टूट जाने का भय हो तो मैं इस विषय में तुम्हें कुछ ऋग्वेद का श्रुतियों का आशय सुनाता हूँ, तुम सुनो। श्रुति कहती है—किसी को कुछ देने की बात स्वीकार कर लेना सत्य है और नकार जाना, अस्वीकार कर देना असत्य है। यह शरीर एक वृक्ष है और सत्य इसका फल-फूल है। परन्तु यदि वृक्ष ही न रहे तो फल-फूल कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि नकार जाना, अपनी वस्तु दूसरे को न देना, दूसरे शब्दों में अपना धन-माल बचाये रखना—यही शरीररूप वृक्ष का मूल है जैसे जड़ न रहने पर वृक्ष सूखकर थोड़े ही दिनों में गिर जाता है, वैसे ही यदि धन देने से अस्वीकार किया जाय तो यह जीवन सूख जाता है—इस में सन्देह नहीं। “हाँ, मैं दूंगा”—यह वाक्य ही धन को दूर हटा देता है अतः इसका उच्चारण ही अपूर्ण अर्थात् धन से रिक्त—खाली कर देने वाला है। यही कारण है कि जो पुरुष ‘हाँ, मैं दूंगा’—ऐसा कहता है, वह धन से खाली हो जाता है। जो याचक को सब कुछ देना स्वीकार कर लेता है, वह अपने लिये भोग की कोई सामग्री नहीं रख सकता। इसलिये अनृत ही आत्मा (शरीर) का मूल है—“अनृतं मूलमात्मनः” ॥३९॥ सत्य कहते रहोगे तो सर्वनाश हो जायेगा, कौड़ी कीमत के भी नहीं रह जाओगे। किन्तु शास्त्रों में अनृत का निषेध किया गया है। ऐसी स्थिति में फिर क्या किया जाय ? शुक्राचार्य जी स्वयं व्याख्या करते हैं—स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिये, हास-परिहास में, विवाह में कन्या आदि की प्रशंसा करते समय, अपनी जीविका की रक्षा के लिये, प्राण-सङ्कट उपस्थित होने पर, गौ और ब्राह्मण के हित के लिये तथा किसी को मृत्यु से बचाने के लिये असत्य भाषण किया जा सकता है—

स्त्रीषु नर्मीविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे । गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥८/१९/४३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१९॥



## बीसवाँ अध्याय

( बलि के दान देने पर वामनजी का विराटरूप धारण कर दो ही पग से पृथिवी और स्वर्ग को नाप लेना )

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं कि—परीक्षित, शुक्राचार्य की बात सुनकर बलि क्षणभर के लिये चुप हो गये किन्तु बाद में उन्होंने सविनय उत्तर देना प्रारम्भ किया—भगवन्, आपका कथन सत्य है। गृहस्थ आश्रम में रहनेवालों के लिये वही धर्म है जिससे अर्थ, काम, यश और आजीविका में कभी किसी प्रकार की बाधा न पड़े। किन्तु गुरुदेव, मैं आप का शिष्य और प्रह्लाद जी का पौत्र होकर झूठ बोलूँ, दान देने से मुकर जाऊँ ? एक बार देने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ अतः अब मैं धन के लोभ से, ठग की भाँति, इस ब्राह्मण से कैसे कहूँ कि 'मैं तुम्हें नहीं दूँगा'। गुरुदेव इस पृथिवी ने कहा है कि 'असत्य से बढ़कर कोई अधर्म नहीं है'। मैं सब कुछ सहन करने में समर्थ हूँ, परन्तु झूठे मनुष्य का भार मुझसे नहीं सहा जाता—

न ह्यसत्यात् परो धर्म इति होवाच भूरियम् । सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम् ॥८/२०/४  
मैं नरक से, दक्षिण से, दुःख के सागर से, अपने राज्य के विनाश से और मरण से भी उतना नहीं डरता, जितना ब्राह्मण से प्रतिज्ञा करके उसे धोखा देने से डरता हूँ। आप को विदित ही है कि यह शरीर नश्वर है और लक्ष्मी चलाय मान है। एक-न-एक दिन इनका नाश होना ही है। यदि इनके द्वारा दान आदि से ब्राह्मणों को सन्तुष्ट न किया जाय, तो उनके त्याग का लाभ ही क्या रहा ? शिवि, दधीचि आदि महापुरुषों ने अपने परम प्रिय प्राणों का परित्याग कर प्राणियों की भलाई की है। फिर पृथिवी आदि वस्तुओं को दान देने में सोच-विचार की क्या आवश्यकता है ? ठीक है, जैसा आप कह रहे हैं अगर यह विष्णु हैं तब तो हमें जीतकर भी सब कुछ ले लेगा। हिरण्यक्ष को मारा कि नहीं मारा ? यह तो हमारा सौभाग्य है, मांगने आया है। इसका हाथ नीचे होगा। हमारा हाथ ऊपर होगा। मैं इसे दान से मुकर कर अपने प्रशस्त वंश को कलङ्कित नहीं करूँगा। गुरुदेव, आप की सारी बातें मुझे शिरोधार्य हैं। किन्तु इस समय झूठ नहीं बोल सकता। मैंने जो निश्चय कर लिया है, उसे होने दीजिये। गुरुचरण, संसार में बहुत-से लोग ऐसे हैं जो युद्ध में पीठ न दिखा कर अपने प्राणों की बलि चढ़ा देते हैं; किन्तु ऐसे लोग बहुत दुर्लभ हैं जो सत्पात्र के प्राप्त होने पर श्रद्धा के साथ मुँह माँगा दान कर दें—

सुलभा युधि विप्रर्वे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः । न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥८/२०/९  
इसलिये यह विष्णु हों अथवा और कोई, मैं इन्हें दान अवश्य दूँगा।

शुक्राचार्य ने बलि की बातें सुनीं। उन्होंने सोचा कि जिसे मैंने युद्ध में जीवित किया था, वही बलि आज मेरा तिरस्कार कर रहा है, मेरी बात नहीं मान रहा है अतः उन्हें क्रोध आ गया। उन्होंने शाप देते हुए कहा—जा, तू शीघ्र ही राज्यलक्ष्मी से भ्रष्ट हो जा—'अचिराद् भ्रष्टस्ये श्रियः' ॥१५॥ बलि ने गुरुदेव के इस शाप को भी उनका अनुग्रह ही माना और दान देने के अपने निश्चय से डिगे नहीं। उसी समय उनकी पत्नी विन्ध्यावली जल से भरा सुवर्ण का कलश लेकर आई। बलि ने सविधि चरण धोकर ब्राह्मण-बटु का पूजन किया, इस सौभाग्य को देखकर आकाश से पुष्प-वर्षा होने लगी। दुन्दुभियाँ बज उठीं। नाच गाने होने लगे। सभी उस समय बलि के भाग्य की प्रशंसा करते हुए कह रह थे कि इसने गजब कर दिया क्योंकि जानबूझकर शत्रु को त्रिलोकी दान कर दी। फिर बलि ने आचार्य जी से संकल्प बोलने की प्रार्थना की। शुक्राचार्य ने कहा—मैं सङ्कल्प नहीं बोलूँगा। वे सोचते थे कि बिना सङ्कल्प बोले यह दान कैसे करेगा ?

१. नहीं असत्य सम पातक पुँजा। गिरिसम होंहि कि कोटिक गुंजा। रामचरितमानस॥



वामन जी—राजन्, यदि आप के गुरुदेव सङ्कल्प नहीं बोलना चाहते तो कोई बात नहीं। मैं ब्राह्मण का बेटा हूँ। मुझे सङ्कल्प बोलने आता है। आप हाथ में जल लीजिये। मैं सङ्कल्प बोल रहा हूँ। वामन ने संकल्प बोलना प्रारम्भ किया।

शुक्राचार्य ने सोचा मेरा यह दाँव भी खाली गया अतः अब उन्होंने दूसरा उपाय किया। वे शिष्य की सम्पत्ति की रक्षा करना चाहते। इसलिये योग के द्वारा सूक्ष्म शरीर धारण कर उन्होंने कमण्डलु की टोटी में घुस कर जल के निकास का मार्ग ही अवरुद्ध कर दिया। इससे जल न निकल सका। वामन भगवान् शुक्राचार्य की यह सब चाल जान गये। उन्होंने मन-ही-मन कहा—ठीक है, गुरुदेव! मायापति से ही माया करने चलें हैं आप। अच्छा, तो इसका भी मजा जरा देखिये। उन्होंने कहा बलि जी प्रतीत होता है कमण्डलु की टोटी में पुष्प-पत्र आकर फँस गया है। जिससे जल नहीं निकल रहा है अतः कुश की नुकीली जड़ से उसमें जरा जोर से खोद दीजिये। बलि ने वैसा ही किया। कुश की जड़ सीधे जाकर शुक्राचार्य की आँख में घुस गई जिससे उनकी एक आँख ही फूट गई। वे छटपटा कर बाहर निकल भागे। वे अब एकाक्षि बन गये; समदर्शी हो गये। भगवान् ने उनकी भी कीर्ति अमर बना दी<sup>१</sup>। भगवान् स्वयं ब्राह्मण की आँख नहीं फोड़ना चाहते थे अतः बलि को उकसा कर यह कार्य करवा दिया।

बलि ने सङ्कल्प का जल वामन वटु के हाथ पर डाल दिया। जल डालते ही एक अद्भुत घटना घटी। सबके देखते-ही-देखते वामन का रूप बढ़ने लगा। बढ़ते-बढ़ते वह विराट् रूप में परिणत हो गया। देखनेवालों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सभी सोच रहे थे कि यह क्या हो गया। वामन के उस विराट् रूप में पृथिवी, आकाश, दिशाएँ, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता और ऋषि—सब-के-सब समा गये। यज्ञ के सभी सदस्यों ने भगवान् के उस श्रीविग्रह में सकल ब्रह्माण्ड का दर्शन किया—

तद् वामनं रूपमवर्धताद्भुतं हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम्।

भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधयस्तिर्यङ्मूदेवा ऋषयो यदासत ॥ ८/२०/२१

भगवान् के इसी विराट् रूप का दर्शन महाभारत की समर भूमि में अर्जुन ने किया था। यह देखकर सारी-की-सारी असुर-मण्डली थर्रा उठी—

सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य सर्वेऽसुराः कश्मलमापुरङ्ग ॥ ८/२०/३०

उसी समय असह्य तेज से सम्पन्न सुदर्शन चक्र, शार्ङ्ग धनुष, पाञ्चजन्य शङ्ख और अत्यन्त वेगवती कौमोदकी गदा आदि अस्त्र-शस्त्र और सेवक-गण नन्द-सुनन्द आदि भगवान् की सेवा में उपस्थित हो गये। उस समय भगवान् के विराट् स्वरूप की शोभा अवर्णनीय थी। उनके वस्त्राभूषण अकथनीय थे। गले में लटकती उनकी वनमाला अद्भुत थी। उन्होंने अब भूमि नापने के लिये अपना पग उठाया। एक पग से सारी भूमि नाप ली, शरीर से आकाश और भुजाओं से दिशाएँ घेर लीं। दूसरे पग से उन्होंने ऊपर के स्वर्ग आदि सारे लोकों को नाप लिया। तीसरा पैर रखने के लिये बलि की तनिक-सी भी कोई वस्तु न बची। भगवान् का वह दूसरा पग ही ऊपर की ओर जाता हुआ महलोक, जनलोक और तपलोक से भी ऊपर ब्रह्मा के सत्यलोक में पहुँच गया—

क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः ॥

पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि।

उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो महर्जनाभ्यां तमसः परं गतः ॥ ८/२०/३३-३४

१. शुक्राचार्य के कमण्डलु में प्रवेश करने और उनकी आँख के फूटने का प्रसङ्ग भागवत में नहीं है। इसकी चर्चा बृहन्नारदीय पुराण, पूर्वखण्ड, अ० १७ में है।



भगवान् जब त्रिलोकी को नाप रहे थे, उस समय बलि हाथ जोड़े हुए निर्निमेष दृष्टि से उनकी ओर देख रहे थे ॥२०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२०॥

## इक्कीसवाँ अध्याय

( गरुड़ के द्वारा बलि का बन्धन )

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं—राजन्, जब भगवान् का चरण-कमल सत्यलोक में पहुँचा तब बड़े-बड़े योगियों और महर्षियों के साथ ब्रह्मा जी ने उसकी अगवानी की, पूजा और वन्दना की। ब्रह्माजी ने भगवान् के चरण को धोकर अपने कमण्डलु में रख लिया। भगवान् के चरण-कमल के धोवन का वही जल गङ्गा है। यही गङ्गा आकाश-मार्ग से पृथिवी पर गिर कर तीनों लोकों को पवित्र करती है—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।

स्वर्धुन्यभूत्रभसि सा पतती निर्माष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ॥८/२१/४

ब्रह्मा के कमण्डलु से निकली हुई गङ्गा की तीन धाराएँ हो गईं। स्वर्ग में स्थित धारा मन्दाकिनी कहलाई। भूतल पर आई धारा गङ्गा (भागीरथी) के नाम से विख्यात है और जो धारा पाताल तल को गई उसे भोगवती कहते हैं। दो पग से त्रिलोकी को नाप लेने के बाद भगवान् पुनः अपने को छोटा कर लिये। विभूतियों को समेट कर वामन बन गये। उसी समय ब्रह्मा के साथ देव-मण्डली ने यज्ञ-भूमि में आकर उनका सविधि पूजन किया। उस समय ऋक्षराज जाम्बवान् मन के समान वेग से दौड़ कर सब दिशाओं में भेरी बजा-बजा कर भगवान् की मङ्गलमय विजय की घोषणा कर आये।

दैत्यों ने देखा कि वामन जी ने तीन पग पृथिवी मांगने के बहाने सारी पृथिवी ही छीन ली। वे कहने लगे हमारे स्वामी इस समय यज्ञ में दीक्षित हैं अतः वे कुछ कहेंगे नहीं। वे ब्राह्मणों के भक्त और सत्यनिष्ठ भी हैं अतः हम लोग मिलकर इस कपटी विष्णु को मार डालें ऐसा कहकर विविध अस्त्र-शस्त्र से लैस होकर वे वामन पर टूट पड़े किन्तु विष्णु के महान् पार्षदों ने सब को मार कर भगा दिया। बलि ने समझाया—भाई, इस समय युद्ध का काल नहीं है। काल भगवान् हमारे प्रतिकूल है। इस समय युद्ध मत करो। जो लोग कभी सामने खड़े नहीं होते थे वे ही आज हमारे सामने गरज रहे हैं, जोरों से निनाद कर रहे हैं। कोई बात नहीं। समय अनुकूल होने पर कभी हम भी विजय प्राप्त करेंगे। अपने स्वामी बलि की इस प्रकार बात सुनकर उनकी आज्ञा को स्वीकार करते हुए दैत्यसेना ने पाताल में प्रवेश किया। उसी समय भगवान् का सङ्केत पाकर गरुड़ ने वरुण-पाश से बलि को बाँध लिया। यह देखकर चतुर्दिक् हाहाकार मच गया।

यद्यपि बलि वरुण के पाशों से बंधे हुए थे। उनकी सम्पत्ति भी उनके हाथों से निकल गई थी फिर भी उनकी बुद्धि अविचलित थी और लोग उनके उदार यश का गान कर रहे थे। परीक्षित, उस समय भगवान् ने बलि से कहा—बलि, तुमने तीन पग का दान दिया था न ? दो पग में मैंने तेरा सब कुछ नाप लिया एक पग तो बाकी ही रहा।

१.- मन्दाकिनीति दिवि, भोगवतीति चाधो, गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ॥



अब तीसरा पग पूरा करने की व्यवस्था करो अन्यथा संकल्प करके दान पूरा न करने के कारण तुम्हें नरक में निवास करना पड़ेगा। जो याचक को देने की प्रतिज्ञा करके उसे पूरी नहीं करता उसे नरक में गिरना पड़ता है—

पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर्मह्यं त्वयासुर । द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा तृतीयमुपकल्पय ॥८/२१/२९

प्रतिश्रुतमदातुस्ते निरये वास इष्यते ॥८/२१/३२

तुम्हें इस बात का बड़ा घमण्ड था कि मैं बड़ा धनी हूँ। तुमने मुझसे 'दूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर धोखा दे दिया। अब तुम कुछ वर्षों तक इस झूठ का फल नरक भोगो—

तद् व्यलीकफलं भुङ्क्ष्व निरयं कतिचित् समाः ॥८/२१/३४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२१॥

•

## बाईसवाँ अध्याय

( बलि की स्तुति से प्रसन्न हुए भगवान् का बलि का द्वारपाल बनना )

श्रीशुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, इस प्रकार भगवान् ने असुरराज बलि का बड़ा तिरस्कार किया। वे उसे धैर्य से विचलित करना चाहते थे किन्तु वे स्वल्प भी विचलित न हुए, बड़े धैर्य से कहा—प्रभो, मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ, पूछ लूँ ?

भगवान् ने कहा—हाँ हाँ, पूछ लो।

बलि ने कहा—महाराज, एक ग्राहक कपड़ा खरीदने के लिये एक दुकान में गया। उसने दुकान के मालिक से कहा—हम अपने हाथ से नापकर सौ रुपये का एक हाथ रेशम का कपड़ा खरीदेंगे। सौदा तय हो गया। नापने लगा तो हाथ लम्बा कर दिया। क्या यह ठीक था, उचित था ?

भगवान् ने कहा—बलिकुल अन्याय है। जिस रूप में उसने सौदा तय किया उसी रूप में उसे सौदा लेना भी था। कपड़ा नापने के समय उसे अपना हाथ नहीं बढ़ाना चाहिये था।

बलि ने कहा—प्रभो, फँस गये आप अपनी बात में। जिस रूप में आपने दान लिया, उसी रूप से नापते। कमी पड़ती तो आप हमसे लेते। आप ने तो दान लिया छोटे-से रूप से और नापना प्रारम्भ किया विराट् रूप से। जरा सोचिये यह कोई न्याय है ? अच्छा जाने दीजिये, इस प्रश्न का उत्तर दीजिये। धन बढ़ा होता है कि धनवान् बढ़ा होता है ? भोग्य बढ़ा होता है कि भोक्ता बढ़ा होता है ? मकान बढ़ा कि मकान का मालिक बढ़ा ? पलंग बढ़ा कि पलंग पर सोने वाला बढ़ा ?

बलि के प्रश्न को सुनकर भगवान् को कहना पड़ा—राजन् धन बढ़ा नहीं होता धनवान् बढ़ा होता है।

बलि-भगवान्, धन से धनवान् बढ़ा होता है, आप को यह मान्य हैं न ?

भगवान्-भगवान् अब विवश थे। क्या कहते ? कहा—हाँ हाँ, मान्य है।

बलि-तो मैं धनवान् हूँ न ? मैं अपने आप को ही समर्पित कर रहा हूँ तीसरा पग पूरा करने के लिये। तीसरा पग मेरे शिर पर रखें फिर तो मेरा दान पूरा हो गया। जब धनवान् धन से बढ़ा है—यह मान्य ही है तो साङ्गता सिद्धि के लिये जो कुछ चाहिये, उसके सहित मेरा दान पूरा हो गया। दान की पूर्ति और सङ्गता-सिद्धि के लिये मुझ



धनवान् के शिर पर ही आप के श्रीचरण प्रतिष्ठित हों। भगवान् के पास कोई उत्तर न था। वे मान गये। इसी सारे शास्त्रार्थ को व्यक्त करने वाले श्लोक को वह कह रहा है—

‘यद्युत्तमश्लोक भवान् ममेरितं वचो व्यलीकं सुरवर्ध मन्यते।

करोम्युतं तन्न भवेत् प्रलम्भनं पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्’ ॥८/२२/२

अर्थ—देवताओं के आराध्य देव, देवशिरोमणि प्रभो, यद्यपि मेरी बात मिथ्या नहीं है फिर भी यदि आप उसे मिथ्या मानते हैं, तो मैं उसे सत्य कर रहा हूँ, जिससे मुझे संसार में अपयश न मिले। मेरे स्वामी, आप अपना तीसरा पग मेरे शिर पर रखकर यह शरीर ही नाप लें।

प्रभो, अपने स्थान से भ्रष्ट होकर मैं नरक में जाने से नहीं डरता। न इस पाश-बन्धन से ही भयभीत हो रहा हूँ। आगे आनेवाले अपार दुःख से भी मैं चिन्तित नहीं हूँ। मेरे पास फूटी कौड़ी भी न रहे अथवा आप मुझे घोर दण्ड दें—यह भी मेरे भय का कारण नहीं है। मुझे भय है तो केवल अपनी अपकीर्ति से। लोग कहेंगे कि बलि ने संकल्प कर के भी दान नहीं दिया—

बिभेमि नाहं निरयात् पदच्युतो न पाशबन्धाद् व्यसनाद् दुरत्ययात्।

नैवार्थकृच्छ्राद् भवतो विनिग्रहादसाधुवादाद् भृशमुद्विजे यथा ॥८/२२/३

प्रभो, आप की महिमा और लीलाएँ अपार तथा अनन्त हैं। ऐसे मेरे स्वामी, आप मुझे दण्ड दे रहे हैं और वरुण-पाश में बाँध रक्खे हैं। इसकी न तो मुझे कोई लज्जा है और न किसी प्रकार की व्यथा ही। प्रभो, आप के लीला-विलास के बारे में क्या कहूँ ? कुछ कहा नहीं जाता। आप जिसे अपनाते हैं उसे कभी दण्डित करते हैं, कभी दुलारते हैं और फिर उसे छाती से लगा कर ऊपर उठा देते हैं, सबसे ऊपर। मेरे पितामह ब्रह्माद जी को ही लीजिये। आपने लीला करके उनकी कीर्ति सारे जगत् में फैला दी। आज दुनियाँ उन्हें आपके भक्तों में शिरोमणि मानती है—‘भगवत्शिरोमणि भे ब्रह्मादू’। उनके पिता हिरण्यकशिपु ने आप से वैर-विरोध करने के कारण उन्हें विविधविध यातनाएँ दीं। किन्तु उन्होंने कभी आपका पल्ला नहीं छोड़ा। उन्होंने अपने आपको आपके चरणों में पूर्णरूप से निछावर कर दिया था। उनका यह मत था कि—शरीर को लेकर क्या करना है ? क्योंकि यह एक-न-एक दिन स्वयं छोड़ देनेवाला है। स्वजन कहे जानेवाले भाई-बन्धुओं से भी कोई स्वार्थ सिद्ध होनेवाला नहीं है, क्योंकि ये तो धनका अपहरण करनेवाले डकैत ही ठहरे। पत्नी से भी किसी प्रयोजन की सिद्धि होनेवाली नहीं है, क्योंकि इसी के कारण बार-बार जन्मना और मरना पड़ता है। मरणधर्मा मानव के लिये घर को सजाने-सँवारने की भी क्या आवश्यकता है ? जब एक-न-एक दिन मरना ही है तो घर को लेकर क्या करना है ?—

किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः।

किं जायया संसृतिहेतुभृतया मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः ॥८/२२/९

ऐसे अटल विश्वास के साथ उन्होंने आपके अभयप्रद चरणों को कस कर पकड़ रक्खा था। प्रभो, मैं असुर हूँ और आप असुरों के परमशत्रु हैं फिर भी आप की मेरे ऊपर अवर्णनीय कृपा है। बड़ा अच्छा हुआ। विधाता ने मुझे बलात् ऐश्वर्यलक्ष्मी से अलग करके आप के पास पहुँचा दिया है। जीव इसी ऐश्वर्य-लक्ष्मी के कारण यह समझ नहीं पाता कि यह जीवन यमराज के हाथ का खिलौना है—

इदं कृतान्तान्तिकवर्ति जीवितं ययाऽधुवं स्तब्धमति न बुध्यते ॥८/२२/११

१. श्लोक के ‘यदि’ शब्द में ही पीछे का सारा शास्त्रार्थ निहित है, समाहित है।

२. इसका भाव यह है कि अपना पग मेरे शिर में, स्थित बुद्धि में, पधरा दें जहाँ से वह कभी निकल न सके।



बलि अभी यह कह ही रहे थे कि प्रह्लाद जी वहाँ आ पहुँचे। उनका विग्रह, उनके वस्त्राभूषण सब दिव्य थे, आकर्षक थे। बलि ने उन्हें देखा। पृथिवी पर मस्तक रखकर प्रणाम किया। बलि को यह कष्ट हो रहा था कि वह आज पहले की भाँति पितामह की पूजा-अर्चना नहीं कर पा रहा है, क्योंकि उसके हाथ वरुणपाश से बँधे थे। उस समय उनकी आँखों में दुःख के आँसू छलछला आये थे। दान पूरा न करने के कारण वह लज्जित थे। उनका शिर नीचे की ओर झुका हुआ था। प्रह्लाद जी सीधे पहुँचे भगवान् के पास। उनके नेत्रों में आनन्द के अश्रु छलक रहे थे। वे भगवान् के चरणों के पास, दण्ड की भाँति, भूतल पर लेट गये फिर प्रकृतिस्थ होने पर उन्होंने कहा—मेरे स्वामी, आपने ही बलि को यह ऐश्वर्यपूर्ण इन्द्र-पद दिया था, अब आज आपने ही उसे छीन लिया। आपका देना जैसा सुन्दर है, वैसा ही सुन्दर लेना भी। मैं समझता हूँ कि आप ने इस पर बड़ी कृपा की है, जो व्यक्ति की बुद्धि को भ्रष्ट कर देनेवाली राज्यलक्ष्मी से इसे अलग कर दिया है। मैं आप को बार-बार प्रणाम कर रहा हूँ।

श्री शुक्रदेव महाराज कहते हैं कि—राजन्, प्रह्लाद जी हाथ जोड़े खड़े थे। उनके सामने ही ब्रह्माजी ने वामन भगवान् से कुछ कहना चाहा किन्तु उसी समय वहाँ पहुँच गई बलि की पत्नी विन्ध्यावली। उसने हाथ जोड़कर भगवान् को प्रणाम किया। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह कुछ कहना चाह रही थी अतः भगवान् ने ब्रह्मा जी को रोका फिर विन्ध्यावली की ओर हाथ से इशारा किया बोलने के लिये क्योंकि वे विन्ध्यावली के हृदय की बात सुनना चाहते थे। विन्ध्यावली ने कहा—भगवन्, आप ने इस सकल जगत्-प्रपञ्च को अपनी क्रीडा के लिये बनाया है—खेल खेलने के लिये खिलौना बनाया है। दुर्बुद्धि लोग ही आपके बनाये खिलौने को अपना मान लेते हैं। यह स्वर्गलोक हमारा, यह धरती हमारी, यह नन्दन वन हमारा ऐसा मान कर गड़बड़ करते हैं। ऐसे लोगों की बुद्धि पर हमे तरस आती है। प्रभो, कर्तृत्व भी आप के अनुग्रह से होता है। अधिष्ठान के बिना कर्ता कहाँ से आया ? कर्तृत्वका आरोप किसी अधिष्ठान में होगा—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः ।

कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति व्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥८/२२/२०

विन्ध्यावली को जो कुछ कहना था, कह दिया। अब ब्रह्माजी ने कहना प्रारंभ किया—प्रभो, जो मनुष्य सच्चे हृदय से कृपणता को छोड़कर आप के चरणों में जल का अर्घ्य देता है और केवल दूर्बादलों से भी आप की सच्ची पूजा करता है, उसे भी आप उत्तम लोक प्रदान करते हैं, मुक्त कर देते हैं फिर बलि ने तो बड़ी प्रसन्नता से धैर्य और स्थिरतापूर्वक आप को त्रिलोकी का दान कर दिया है, तब यह दुःख का भागी कैसे हो सकता है ?—

यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय दूर्बाङ्गुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम् ।

अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत् ॥८/२२/२३

भगवान् ने कहा—ब्रह्मा जी, मैं जिस पर अनुग्रह करता हूँ, उसकी धन-सम्पत्ति छीन लेता हूँ। इसका कारण यह है कि धन के मद से मतवाला व्यक्ति मेरे भक्तों की ओर यहाँ तक कि मेरी भी अवमानना कर बैठता है। मानव का जन्म पाकर यदि व्यक्ति को कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धन आदि के कारण घमण्ड न हो तो समझना चाहिये कि उस पर मेरी बड़ी ही कृपा है—

जन्म-कर्म-वयो-रूप-विद्वैश्वर्य-धनादिभिः । यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥

८/२२/२६

मेरी शरण में आया हुआ व्यक्ति उक्त बातों से मोहित नहीं होता। यह दैत्यों और दानवों के वंश का मुकुट-मणि है, शिरोभूषण है। इसने मेरी दुर्जेय माया को जीत लिया है। यह धन एवं स्थान से च्युत हो गया, शत्रुओं के द्वारा बाँधा गया, भाई-बन्धुओं ने इसका परित्याग कर दिया। गुरु ने इसे डाँटा-फटकारा और शाप भी दिया। परन्तु



इस दृढव्रती ने अपनी प्रतिज्ञा न छोड़ी। मैंने इससे छल किया, छलभरी बातें की, मन में छल रखकर धर्म का उपदेश किया; परन्तु इस सत्यवादी ने अपना धर्म नहीं छोड़ा अतः मैंने इसे वह स्थान देने का सङ्कल्प किया है, जो बड़े-बड़े देवताधिपतियों को भी दुष्प्राप्य है। अगले सावर्णि मन्वन्तर में यह मेरा परम भक्त इन्द्र बनेगा। तब तक यह विश्वकर्मा के द्वारा विनिर्मित सुतललोक में निवास करेगा। मेरी कृपा से वहाँ इसे किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। अब मैं इसके शरीर को नाप कर तीन पग पृथिवी देने के इसके सङ्कल्प को पूरा करूँगा। यह कहकर भगवान् ने अपना पैर बलि के मस्तक पर रख दिया। सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक, बलि के अतिरिक्त, किसी और ने ऐसी सुदुर्लभ कृपा नहीं प्राप्त की थी। भगवान् ने एक पैर से ही बलि के शरीर को नाप लिया। यद्यपि भगवान् की ऐश्वर्य शक्ति उनका पैर बढ़ाने का प्रयास कर रही थी किन्तु उनकी कृपाशक्ति ने पैर को एक इञ्च भी आगे बढ़ने नहीं दिया। वह पैर को पकड़कर वहीं बैठ गई। बलि निहाल हो गया। वह यही तो चाहता था कि भगवान् अपना तीसरा पैर मेरे शिर पर रख दें। स्थापित कर दें। यह देखकर देवता आकाश से पुष्प-वृष्टि करने लगे। भक्त और भगवान् के इस धर्म-युद्ध में भक्त की विजय हुई। हो भी क्यों न, भगवान् जो कि कहते हैं—मैं भक्त के पराधीन रहता हूँ<sup>१</sup>। भक्त और भगवान् की जय-जयकार से सारा आकाश-मण्डल व्याप्त हो गया। बलि भगवान् के चरणों पर लोट गया। वामन ने उसे उठाया और छाती से लगा कर कहा—बेटा, तुम जीते, मैं हारा। तुम्हारे समान मेरा कोई दूसरा भक्त न हुआ और न होनेवाला है—‘न कोउ भयउ न होवनिहारा’<sup>२</sup>। बलि तुम सुतल लोक में चले जाओ। वहाँ मेरा सुदर्शन चक्र तुम्हारे दैत्य-शत्रुओं के भी टुकड़े-टुकड़े कर देगा। मैं तुम्हारी, तुम्हारे अनुचरों की और तुम्हारे भोग-साधनों की रक्षा करूँगा। वीर बलि, तुम मुझे वहाँ सदा-सर्वदा अपने पास ही देखोगे—

रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम् । सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् ॥८/२२/३५

भागवत में तो नहीं है, परन्तु दूसरी जगह यह कथा है कि भगवान् बोले—बोलो बलि, मैं तुम्हें क्या दूँ ? बलि ने कहा महाराज, यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो यह दीजिये कि हमारी जिधर भी दृष्टि जाय उधर आप का ही दर्शन हो<sup>३</sup>।

कहते हैं, सुतल लोक में राजा बलि की बैठक के बावन दरवाजे हैं। भगवान् ने सोचा, न जाने किस दरवाजे पर बलि की दृष्टि चली जाय ? तो बावनों दरवाजे पर गदा धारण कर भगवान् पहरेदार के रूप में विराजमान हुए। अब बलि का दान-युद्ध आदि कार्य यह पहरेदार ही करते थे।

एक बार रावण बलि से लड़ने सुतल लोक पहुँचा। भगवान् ने उससे कहा—रावण, पहले बलि के इस पहरेदार से लड़ लो तो फिर उनसे लड़ना। ऐसा कहकर उन्होंने रावण की छाती में अपने चरण के अङ्गुष्ठ से ऐसा प्रहार किया कि वह लङ्का के पास सागर के तट पर जाकर गिरा। धन्य-धन्य है भगवान् की भक्तवत्सलता, भक्त पराधीनता।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१२१॥

१. अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ॥भागवत, ९/४/६३॥

२. यद्यपि ये बातें भागवत में शब्दतः नहीं कही गई हैं; किन्तु प्रसङ्ग-व्याख्येय हैं।

३. यत्र यत्र मम दृष्टिस्तत्र तत्र तव दर्शनम्।



## तेईसवाँ अध्याय

( बलि को सुतललोक और इन्द्र को स्वर्ग का आधिपत्य प्रदान करना )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, भगवान् के इस प्रकार के प्रेमपूर्ण वचन को सुनकर बलि की आँखों में आँसू छलछला आये। उनका कण्ठ गद्गद हो उठा। हाथ जोड़कर उन्होंने भगवान् से कहा—प्रभो, आप की कृपा का पारावार नहीं है। मैंने तो आप को पूरा प्रणाम भी नहीं किया था, केवल प्रणाम करने की चेष्टामात्र की थी। उतने मात्र से ही मुझे वह फल मिला जो शरणागत भक्तों को प्राप्त होता है। बड़े-बड़े लोकपालों और देवताओं पर आप ने जो कृपा कभी नहीं की, वह मुझ जैसे नीच असुर को सहज ही प्राप्त हो गई—

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः ।

यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽभरैरलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः

॥८/२३/२॥

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन्, यह कहते ही बलि वरुण-पाश से मुक्त हो गये। उन्होंने भगवान् वामन को, शङ्कर और ब्रह्मा को<sup>१</sup> प्रणाम कर प्रसन्नतापूर्वक असुरों के साथ सुतल लोक के लिये प्रस्थान किया। इस प्रकार भगवान् ने बलि से स्वर्ग का राज्य लेकर इन्द्र को समर्पित कर दिया और अदिति को उसके पयोव्रत का फल प्रदान किया फिर उपेन्द्र बनकर सकल जगत् पर शासन करने लगे।

जब प्रह्लाद ने देखा कि मेरे वंशधर पौत्र पर भगवान् के महान् अनुग्रह की वृष्टि हुई है तो उनके हृदय में भक्ति की भागीरथी प्रवाहित होने लगी। उन्होंने गद्गद वाणी में भगवान् से कहा—प्रभो, विश्ववन्द्य ब्रह्मा आदि जिसके चरणों की वन्दना किया करते हैं, वही आप हम असुरों के द्वारपाल बन गये हैं। मेरे स्वामी, ऐसा कृपाप्रसाद तो आपके पुत्र ब्रह्मा जी, अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी जी और आराध्य शङ्कर जी को भी कभी नहीं प्राप्त हुआ, तो दूसरों की क्या बात है ?

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ते ।

यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो विश्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रिः ॥८/२३/६

प्रभो, जन्म से ही खल और कुमार्गगामी हम लोगों पर आपकी ऐसी वात्सल्यभरी दृष्टि हो, यह महान् आश्चर्य की बात है। आप कल्पवृक्ष के समान हैं, जो पास में आये हुए व्यक्ति की सारी मनोकामनाएँ पूरी करता है। पक्षपात का तो लेश भी आप में नहीं है।

भक्तशिरोमणि प्रह्लाद की बात सुनकर भगवान् ने कहा—वत्स प्रह्लाद, तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम भी सुतल लोक में चले जाओ। वहाँ अपने पौत्र बलि के साथ आनन्दपूर्वक रहते हुए भाई-बन्धुओं को सुखी करो<sup>२</sup>। वहाँ तुम मुझे नित्य ही गदा हाथ में लिये खड़ा देखोगे। मेरे दर्शन से तुम्हें परम आनन्द की अनुभूति होगी। उससे तुम्हारे सारे कर्म-बन्धन ध्वस्त हो जायेंगे—

नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम् । महर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः ॥८/२३/१०॥

शुकदेव जी कहते हैं—राजन्, भगवान् की आज्ञा को प्रह्लाद ने सादर स्वीकार किया। उन्होंने भगवान् की परिक्रमा कर प्रणाम किया और बलि के ही साथ सुतललोक में चले गये। तदनन्तर भगवान् ने शुक्राचार्य से कहा—

१. बलि ने प्रस्थान की बेला में अपने गुरु शुक्राचार्य को प्रणाम नहीं किया, क्योंकि उन्होंने उसके दान में विघ्न किया था, अङ्गनैवाजी की थी।

२. हृदय—वस्तुतः भगवान् ने प्रह्लाद को सुतललोक में इसलिये भेजा ताकि बलि को प्रह्लाद के सत्सङ्ग का लाभ होता रहे। सत्सङ्ग के बिना व्यक्ति के सन्मार्ग से च्युत होने की संभावना बनी रहती है।



ब्रह्मन्, इस यज्ञ में जो कुछ कमी रह गई है, उसे आप पूर्णकर दें। शुक्राचार्य ने कहा—भगवान्, बलि ने अपना सर्वस्व आपके चरणों में समर्पित कर यज्ञपुरुष आप की पूजा की है फिर उसके यज्ञ में त्रुटि कैसे रह सकती है, कमी कैसे हो सकती है ? क्योंकि मन्त्रों की, अनुष्ठान-पद्धति की, देश, काल, पात्र और वस्तु की सारी न्यूनताएँ आपके नामोच्चारणमात्र से ही पूरी हो जाती हैं।

मन्त्रतस्तन्नतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः । सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव<sup>१</sup> ॥८/२३/१६  
फिर भी मैं आप के आदेश का पालन करता हूँ। भगवान् से इस प्रकार कहकर यज्ञाचार्य शुक्र ने अवशिष्ट कर्म को पूर्ण किया।

राजन्, इस प्रकार भगवान् वामन ने बलि से त्रिलोकी का आधिपत्य लेकर इन्द्र को प्रदान कर दिया। इसके बाद ब्रह्मा आदि देवों ने, कश्यप और अदिति की प्रासन्नता के लिये, वामन को उपेन्द्र के पद पर अभिषिक्त कर दिया जिससे भविष्य में इन्द्र पर किसी प्रकार की आपत्ति-विपत्ति न आये।

इसके बाद ब्रह्मा जी की अनुमति से इन्द्र वामन भगवान् को विमान पर बैठा कर स्वर्ग ले गये। देवता लोग उनका अनुगमन कर रहे थे। उपेन्द्र को पाकर इन्द्र की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उन्हें दो लाभ की प्राप्ति हुई थी। एक तो त्रिलोकी की लक्ष्मी मिल गई और दूसरे भगवान् के चरणों का सतत सान्निध्य भी उन्हें प्राप्त हो गया अब इन्द्र उपेन्द्र की भुजाओं से संरक्षित त्रिभुवन वैभव का सानन्द उपभोग करने लगे।

इसके अनन्तर ब्रह्मा के सहित सारे देवता, ऋषि, मुनि आदि सभी भगवान् के अद्भुत कर्म की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने लोकों को चले गये।

राजन्, भक्तवत्सल अद्भुतकर्मा भगवान् वामन के इस अवतार चरित को जो सुनता है, उसके सारे पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं और वह परमगति को प्राप्त करता है—

य इदं देवदेवस्य हरैरद्भुतकर्मणः । अवतारानुचरितं शृण्वन् याति परां गतिम् ॥८/२३/३०

## १. बलि के पूर्व जन्म का वृत्तान्त

कहते हैं, बलि पूर्व जन्म का एक जुआरी था। ब्राह्मणों और देवताओं का निन्दक था। जुआ खेलना उसकी दिनचर्या थी। वह सदा पराई स्त्रियों में आसक्त रहता था। एक दिन उसने कपटपूर्ण जुए में बहुत-सा धन जीता। उन पैसों से उसने पान, गन्ध तथा बहुमूल्य खूबसूरत माला खरीदी, भगवान् के लिये नहीं, अपनी किसी प्रियतमा वेश्या के लिये। उभरते यौवनवाली मतवाली उस वेश्या पर वह अपना सब कुछ न्योछावर किये हुए था। वेश्या ही उसके लिये सब कुछ थी। माला आदि हाथ में लिये कामान्ध जुआरी वेश्या के घर की ओर दौड़ा जा रहा था। वह सोच रहा था—खूबसूरत माला, पान और इत्र पाकर वेश्या प्रसन्न होकर मुझे छाती से सटा लेगी। मेरा जीवन धन्य-धन्य हो उठेगा। इसी उधेड़बुन में मग्न होने के कारण वह किसी पाषाण से ठोकर खाकर गिर पड़ा। मूर्छित हो गया। हाथ की सामग्री भूमि पर गिर पड़ी। कुछ देर में होश हुआ तो उसने अनुभव किया—अब मैं मर जाऊँगा। उसी

१. यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु । न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥स्कन्दपुराण॥



समय पूर्वजन्म के किसी पुण्य के प्रभाव से उसके मन में सद्बुद्धि उत्पन्न हुई। जुआरी दुःखी होकर खेद और वैराग्य को प्राप्त हुआ। मूर्ख और जुआरी होने पर भी उसने पृथिवी पर पड़ी हुई गन्ध, माला आदि श्रेष्ठ सामग्री को वहीं पास में स्थित शिवलिङ्ग के ऊपर समर्पित कर दिया। सोचा—मैं ने महात्माओं से सुन रक्खा है, वस्तु 'शिवार्पण' कर देने से बहुत लाभ होता है। 'शिवार्पण' कर देने से कुछ होता होगा तो हो जायेगा। नहीं होता होगा तो मर तो रहा ही हूँ, माला आदि तो बेकार जा ही रही है। इस दृष्टि से जुआरी ने माला शिव को अर्पण कर दी।

जुआरी माला आदि शिवार्पण करके मर गया। यमदूत उसे पकड़कर ले गये। यमराज के सामने खड़ा किया। उन्होंने चित्रगुप्त से कहा—देखो इसका बही खाता।

चित्रगुप्त ने कहा—यह तो जन्म-जन्मान्तर का महापापी है। यमराज ने कहा—इसके पुण्य को भी तो देखो। चित्रगुप्त ने देखा। पुण्य तो कोई था नहीं। यमराज ने कहा—फिर देखो। चित्रगुप्त ने बही-खाते के अन्तिम पन्ने को पलटते हुए कहा—बस, अभी-अभी थोड़ी देर पहले द्यूत में पैसा पाकर इसने माला, इत्र आदि खरीदा था वेश्या के लिये, ठोकर खाकर रास्ते में गिर पड़ा। इसने देखा कि माला अब निरर्थक हो रही है तो शिवार्पण कर दिया। बस, यही एकमात्र इसका पुण्य है।

यमराज ने कहा—भाई, इसका है तो कुछ पुण्य। फिर जुआरी की ओर उन्मुख होकर कहा—जुआरी, तुम पहले पुण्य का फल भोगोगे या पाप का। जुआरी ने कहा—सुन तो रहा हूँ कि मेरे पाप का सागर अपार है। उसे भोगने लगूँगा तो पता नहीं कितने कल्प-महाकल्प बीत जाँय। इसलिये पहले पुण्य का फल भोगूँगा।

यमराज ने कहा—तुमने मरने की बेला में शिव को माल्यार्पण किया है, उस सत्कर्म के फल से तुम्हें तीन घड़ी के लिये इन्द्र का प्रसिद्ध पद प्राप्त होगा। तीन घड़ी तक तुम स्वर्ग के शासक रहोगे।

जुआरी ने कहा—मैं सब से पहले अपना शुभ कर्म भोगूँगा।

जुआरी तीन घड़ी के लिये इन्द्रलोक का मालिक बना। इन्द्रासन पर विराजमान हुआ। इन्द्र ने इन्द्रासन गुरु वृहस्पति के कहने से खाली कर दिया। इन्द्रासन पर बैठते ही उस शिवभक्त जुआरी ने दान देना प्रारम्भ किया। ऐरावत हाथी अगस्त्य को, उच्चैःश्रवा घोड़ा विश्वामित्र को, कामधेनु वशिष्ठ को, चिन्तामणि रत्न गालव को, कल्पवृक्ष कौण्डिन्य को और अन्यान्य रत्न बहुत-से ऋषियों मुनियों को सहर्ष प्रदान कर दिया। तीन घड़ी तक वह अविराम दान देता ही रहा। तीन घड़ी पूरी हो जाने पर वह इन्द्रासन से उतरा और वृहस्पति जी से कहा—गुरुदेव, हम सारे इन्द्रासन पर तुलसीदल रखकर भगवदर्पण कर देते हैं फिर वह वहाँ से चला गया।

तीन घड़ी बीतने पर इन्द्र आये अपने आसन पर बैठने के लिये। किन्तु यह क्या ? वहाँ तो कुछ है ही नहीं। उन्होंने पूछा मेरा ऐरावत हाथी कहाँ गया और सारी वस्तुएँ कहाँ हैं ?

वृहस्पति ने कहाँ सारी वस्तुओं को जुआरी ने दान कर दिया है। इन्द्र बहुत बिगड़े। यमराज के पास आये। यमराज ने उन्हें सलाह दी कि ऋषियों-मुनियों को प्रभूत धन देकर अपनी वस्तु वापस ले सकते हो। इन्द्र ने कहा ठीक है, ऐसा ही करूँगा फिर इन्द्र वहाँ से चले गये।

यमराज ने देखा कि जुआरी के महान् अर्जित पुण्य से उसके सारे पाप भस्म हो गये। वह अब नरक नहीं भोगेगा। उन्होंने उसे पुनः जन्म दिया। वह अपने किसी कर्मविपाक से विरोचन का पुत्र हुआ। उसकी माता थी—महारानी सुरुचि<sup>१</sup> बलि के गर्भ में आते ही माता-पिता महामनस्वी बन गये थे।



## २. नारायण की पहरेदारी से मुक्ति

भगवान् वामन गये थे बलि को बाँधने किन्तु बाँध गये स्वयं । देवता प्रसन्न थे । उन्हें उनका निष्कण्टक स्वर्ग मिल गया । बलि प्रसन्न था कि नित्य भगवान् के दर्शन होंगे । चारों ओर प्रसन्नता की लहर थी । दुःख था तो केवल लक्ष्मी जी को । घर सारे ऐश्वर्य से भरा था किन्तु नारायण की अनुपस्थिति से वे बेचैन थीं, अशान्त थीं । वे सर्वदा उनके आने की प्रतीक्षा कर रही थीं । कब आयेंगे ? कहाँ होंगे ? यही उनकी चिन्ता थी । नारद प्रायः वैकुण्ठ की यात्रा किया करते थे । एक दिन व्याकुल होकर लक्ष्मी जी ने नारद से पूछा—कहाँ हैं मेरे स्वामी ? आप उनके विषय में कुछ जानते हैं क्या ? नारद जी ने उत्तर दिया—सुना है कि नारायण सुतललोक में बलि राजा के द्वार पर चौकीदारी कर रहे हैं । बलि के पास दान लेने गये थे । फलतः बन्धन में पड़ गये । सर्वस्व दान लेकर बलि के ऋणी हो गये । लक्ष्मी जी ने कहा—मुनिवर, अब उनके छूटने का कोई उपाय बतलाइये । नारद जी ने उन्हें नारायण के छूटने का उपाय बतलाया ।

नारद जी की शिक्षा को शिरोधार्य कर लक्ष्मी जी ने ब्राह्मणपत्नी का रूप धारण किया और फिर वे पहुँच गई सुतल लोक में बलि के पास । लक्ष्मी जी ने बलि से कहा—बलि भैया, मैं तुम्हारी धर्मबहन हूँ । जगत् में न तो मेरा कोई भाई है और न तुम्हारी कोई बहन । आज से मैं तुम्हारी धर्मबहन और तुम हमारे धर्मभाई हो । लक्ष्मी जी की बात सुनकर बलि आनन्द में निमग्न हो उठा । उसने लक्ष्मी जी का सादर वन्दन किया । उसे दुःख था कि आज तक उसे कोई बहन न थी । लक्ष्मी जी के आगमन से सभी को आनन्द हुआ । सुतललोक की कान्ति बढ़ गई । किन्तु स्वयं लक्ष्मी जी को कोई आनन्द न था । उन्हें दुःख था कि उनके प्राणप्रिय पति जी हाथ में गदा लिये हुए एक समान्य चौकीदार की भाँति नित्य पहरेदारी कर रहे थे । बातें आँखों-आँखों से ही होती थीं पर कोई किसी में कुछ कहता न था ।

सावन का सुहावना महीना आया । आ पहुँचा शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा का रक्षा-बन्धन । लक्ष्मी जी ने राजा बलि से कहा—भैया बलि, हमारे यहाँ का रिवाज है कि आज के दिन बहन अपने प्यारे भाई को कलई पर गन्धों बाँधती है । बलि ने प्रसन्न होकर कहा—हाँ, हाँ, बहन, बाँध दो राखी मेरे हाथ में । लक्ष्मी जी ने मुस्कारते हुए बलि भाई की कलाई पर बाँध दी राखी (रक्षासूत्र) । बलि ने पूछा—बहन, राखी बाँधना का भाई क्या करता है ? लक्ष्मी जी ने कहा—भैया, भाई बहन को कुछ देता है । बलि ने कहा—बहन, तुम्हारी जो इच्छा हो वह माँग लो । बलि ऐसा भाई है जो मुँह-माँगा दान देता है । माँग लो जो कुछ तुम चाहो ।

लक्ष्मी जी—भैया, मांगते हुए मुझे संझोच हो रहा है ।

बलि—बहन, भाई से मांगने में बहन को संझोच कैसा ? माँग लो इच्छा के अनुसार जो तुम्हारे घर में न हो वही आज तुम मुझसे ले लो ।

लक्ष्मी जी—भैया, भगवान् की कृपा से मेरे घर में सब कुछ है किन्तु एक वह नहीं है जिनके बिना मैं बेचैन हूँ । मुझे और कोई वस्तु नहीं चाहिये । यदि देना चाहते हो तो वह अपना द्वारपाल ही हमें दे दो । तुम उन्हें मुक्त कर दो ।

धन्य है प्रभो तेरी माया ! जो सकल ब्राह्मण्ड को एक साथ मुक्त करने का सामर्थ्य रखता है, आज उसी की मुक्ति की याचना की जा रही है ।

बलि—ठीक है, बहन, मैंने इन्हें मुक्त कर तुम्हें प्रदान कर दिया ।



उसी दिन माता महालक्ष्मी भगवान् नारायण के साथ श्रावण शुक्ल पूर्णिमा के दिन वैकुण्ठ लोक में पधारीं । इसी की स्मृति में रामानुजाचार्य के पंथ के मन्दिरों में 'पाटोत्सव' मनाने की प्रणाली चली आ रही है ।

इस प्रकार लक्ष्मी जी ने दान से बद्ध नारायण को मुक्त किया ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

## चौबीसवाँ अध्याय

( भगवान् के मत्स्यावतार की कथा )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवान् के कर्म बड़े अद्भुत हैं । उन्होंने अपनी योगमाया से मत्स्य का अवतार धारण कर बड़ी सुन्दर लीला की थी । मत्स्यावतार भगवान् का आदि अवतार है । मैं उस अवतार की कथा सुनना चाहता हूँ—

भगवच्छ्रोतुमिच्छामि हरेरद्भुतकर्मणः । अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनम् ॥ ८/२४/१  
भगवान्, मत्स्ययोनि कोई प्रशंसनीय योनि नहीं है । यह तमोगुणी और असह्य परतन्त्रता से युक्त है फिर भगवान् ने ऐसा रूप क्यों धारण किया ?

नैमिषारण्य में सूत जी ने शौनक आदि ऋषियों से कहा—हे ऋषिवृन्द, राजा परीक्षित का प्रश्न सुनकर शुकदेव जी ने कहा—सबके परम पिता और पालक होने पर भी भगवान् गौ, ब्राह्मण, देवता, साधु, वेद, धर्म और अर्थ की रक्षा के लिये नाना प्रकार की ऊँच-नीच योनियों में अवतार ग्रहण करते रहते हैं । नीची योनि में जन्म ग्रहण करने पर भी भगवान् की महत्ता में कोई कमी नहीं आती । वे प्रकृति और प्राकृत गुणों से एकदम परे हैं । परीक्षित, पिछले कल्प के अन्त में ब्रह्माजी के सो जाने के कारण ब्राह्म नामक नैमित्तिक प्रलय हुआ था । यह महाप्रलय नहीं था, अवान्तर प्रलय था । उस समय सारी पृथिवी जल में मग्न हो गई थी । ऐसा ही प्रलय भगवान् ने मार्कण्डेय के लिये भी प्रकट किया था । प्रलय काल आ जाने के कारण ब्रह्मा जी को नींद आ रही थी, वे शयन करना चाहते थे । उसी समय वेद उनके मुख से निकल पड़े । उन्हें दानवराज हयग्रीव ने चुरा लिया । हयग्रीव की चेष्टा को जान कर ही भगवान् ने वेदों के उद्धार के लिये शफरी (छोटी मछली) का रूप ग्रहण किया था—

ज्ञात्वा तद् दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम् । दधार शफरीरूपं भगवान् हरिरीश्वरः ॥ ८/२४/९

मत्स्यरूपधारी भगवान् ने हयग्रीव को मार कर वेदों की रक्षा की थी । राजन् मत्स्यावतार की घटना का विवरण इस प्रकार है—एक समय राजर्षि सत्यव्रत, जो वर्तमान कल्प के वैवस्वत मनु हुए हैं, केवल जल पीकर तप कर रहे थे । वे भगवान् नारायण के परम भक्त थे । द्रविण देश के राजा यही सत्यव्रत विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र श्राद्धदेव के नाम से विख्यात हैं । वैवस्वत मनु को ही श्राद्धदेव मनु कहा जाता है । एक दिन वे राजर्षि कृतमाला नदी में तर्पण कर रहे थे । उसी समय उनकी अञ्जलि में अचानक मछली का एक बच्चा आ गिरा । सत्यव्रत ने अञ्जलि के जल के साथ उसे नदी के जल में डाल दिया । इस पर उस मछली ने बड़ी करुणा के साथ परम दयालु राजा सत्यव्रत से कहा—राजन्, आप करुणा के सागर हैं । आप जानते ही हैं कि जल में रहने वाले जन्तु अपने जातिवालों को भी खा लेते हैं । मैं उनके भय से व्याकुल हो रही हूँ । आप मुझे पुनः इसी नदी के जल में क्यों डाल रहे हैं ?—



यादोभ्यो ज्ञातिघातिभ्यो दीनां<sup>१</sup> मां दीनवत्सल । कथं विसृजसे राजन् भीतामस्मिन् सरिज्जले ॥

८/२४/१४

राजा मनु को इस बात का पता नहीं था कि स्वयं भगवान् ही मछली के रूप में उनपर अनुग्रह करने के लिये पथारे हैं अतः उन्होंने उस मत्स्य-शिशु की रक्षा का संकल्प मन-ही-मन किया । उन्होंने उसे उठा कर अपने कमण्डलु में डाल लिया और आश्रम पर ले आये । किन्तु वह मत्स्य-शिशु रात्रि भर में इतना बड़ा हो गया कि कमण्डलु का अवकाश उसे छोटा पड़ने लगा । तब उसने राजा से कहा—मैं इस लघुकाय कमण्डु में नहीं रह पा रहा हूँ, यह मेरे लिये छोटा पड़ रहा है अतः मुझे कोई बड़ा स्थान दें, जहाँ मैं आराम से रह सकूँ । राजा ने उसे वहाँ से निकाल कर एक विशाल पानी के मटके में रख दिया । वहाँ यह मत्स्य-शिशु दो ही घड़ी में तीन हाथ बढ़ गया पुनः उसने राजा से निवेदन किया—राजन्, मैं आपकी शरण में आया हूँ । यह स्थान भी मेरे लिये छोटा पड़ रहा है अतः किसी बड़े जलाशय में मुझे स्थापित कीजिये । इस पर राजा ने उसे विशाल सरोवर में डाल दिया । वहाँ भी वह थोड़ी देर में इतना विशाल हो गया कि सरोवर भी उसे छोटा पड़ने लगा । फिर राजा ने उसे सागर के जल में डाल दिया । इस पर उस मत्स्य ने पुनः राजा से सविनय निवेदन किया—राजन्, यहाँ तो मुझे मगर-घड़ियाल आदि प्रबल जल-जन्तु खा लेंगे इसलिये मुझे यहाँ मत छोड़िये । मत्स्य का यह कथन सुनकर राजा आश्चर्य से चकित हो गये । उन्होंने कहा—महाराज, आप कौन हैं ? जो इस तरह मुझे विमोहित कर रहे हैं ? आज तक हम लोगों ने ऐसा मत्स्य न देखा था और न सुना ही था । आपने एक ही दिन में चार सौ कोस के विस्तार का जलाशय घेर लिया । मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप अवश्य ही साक्षात् श्रीहरि हैं । हम लोगों पर कृपा करने के लिये ही आप ने यह रूप धारण किया है—

नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्भरिर्नारायणोऽव्ययः । अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम् ॥

८/२४/१७

प्रभो, मैं बार-बार आपको प्रणाम कर रहा हूँ । स्वामिन्, आप के सारे अवतार प्राणियों के अभ्युदय के लिये ही हुआ करते हैं, तथापि मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने किस प्रयोजन से यह मत्स्यावतार धारण किया है ? सत्यव्रत की जिज्ञासा को सुनकर भगवान् ने कहा—राजन्, आज से सातवें दिन प्रलयकालीन सागर के जल में त्रिलोकी डूब जायेगी । उस समय मेरी प्रेरणा से एक विशाल नैया आप के पास आयेगी । आप सारी औषधियों और बीजों को सङ्कलित कर सप्तर्षियों के साथ उसमें बैठ जाना । ऋषियों के तेजःप्रताप से आप उस समय प्रलयकालीन सागर के जल में सुखपूर्वक विहार कीजियेगा । जब प्रलयकालीन वायु के झोंकों से नैया डगमगाने लगेगी तब मैं मत्स्य का रूप धारण कर वहाँ आ जाऊँगा । मेरी एक सींग होगी । वासुकि नाग के द्वारा अपनी नैया को आप मेरी सींग में बाँध देना । मैं उस नैया को खींचता हुआ जल में तब तक विचरण करूँगा जबतक की ब्रह्मा की वह रात्रि नहीं बीत जाती । उसी समय मैं आप को ब्रह्मतत्त्व का उपदेश भी दूँगा । इतना कह कर मत्स्यरूपधारी भगवान् अन्तर्हित हो गये ।

राजर्षि सत्यव्रत पूर्वाभिमुख विस्तीर्ण कुशासन पर बैठकर कर मत्स्यरूपधारी भगवान् के चरणों का चिन्तन करते हुए प्रलय काल की बेला की प्रतीक्षा करने लगे । ठीक सातवें दिन जब त्रिलोकी सागर के सलिल में डूबने लगी तब एक विशाल नैया आकर सत्यव्रत के पास ठहर गई । सप्तर्षियों के साथ राजा आकर उसमें बैठ गये । उन्होंने उसमें सारी-औषधियों और बीजों को सङ्कलित कर रक्खा था । नैया जब प्रलयकालीन वायु के वेग से डगमग-डगमग करने लगी तब एक लाख योजन विशाल शरीरवाले मत्स्यरूपी भगवान् वहाँ प्रकट हो गये । उन्हें एक सींग भी थी । श्री

१. प्रसङ्ग को देखने से प्रतीत होता है कि भगवान् का मत्स्यावतार, मोहिनी अवतार की भाँति स्त्री-अवतार था ।



शुकदेव जी कहते हैं कि—राजन्, प्रलय की बेला पूरी होने पर, जब ब्रह्मा की निद्रा समाप्त हुई, तब भगवान् मत्स्य ने असुर हयग्रीव का वधकर वेद ब्रह्मा को समर्पित किया।

यही राजर्षि सत्यव्रत भगवान् की कृपा से इस कल्प में वैवस्वत मनु बने हैं। जो व्यक्ति भगवान् मत्स्य और सत्यव्रत के इस संवाद को पढ़ता है, सुनता और कहता है, वह इस लोक में कल्याण और परलोक में मुक्ति का भागी बनता है—  
अवतारो हरेर्योऽयं कीर्तयेदन्वहं नरः। सङ्कल्पास्तस्य सिद्ध्यन्ति स याति परमां गतिम्॥

८/२४/६०

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के अष्टम स्कन्ध का यह चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२४॥

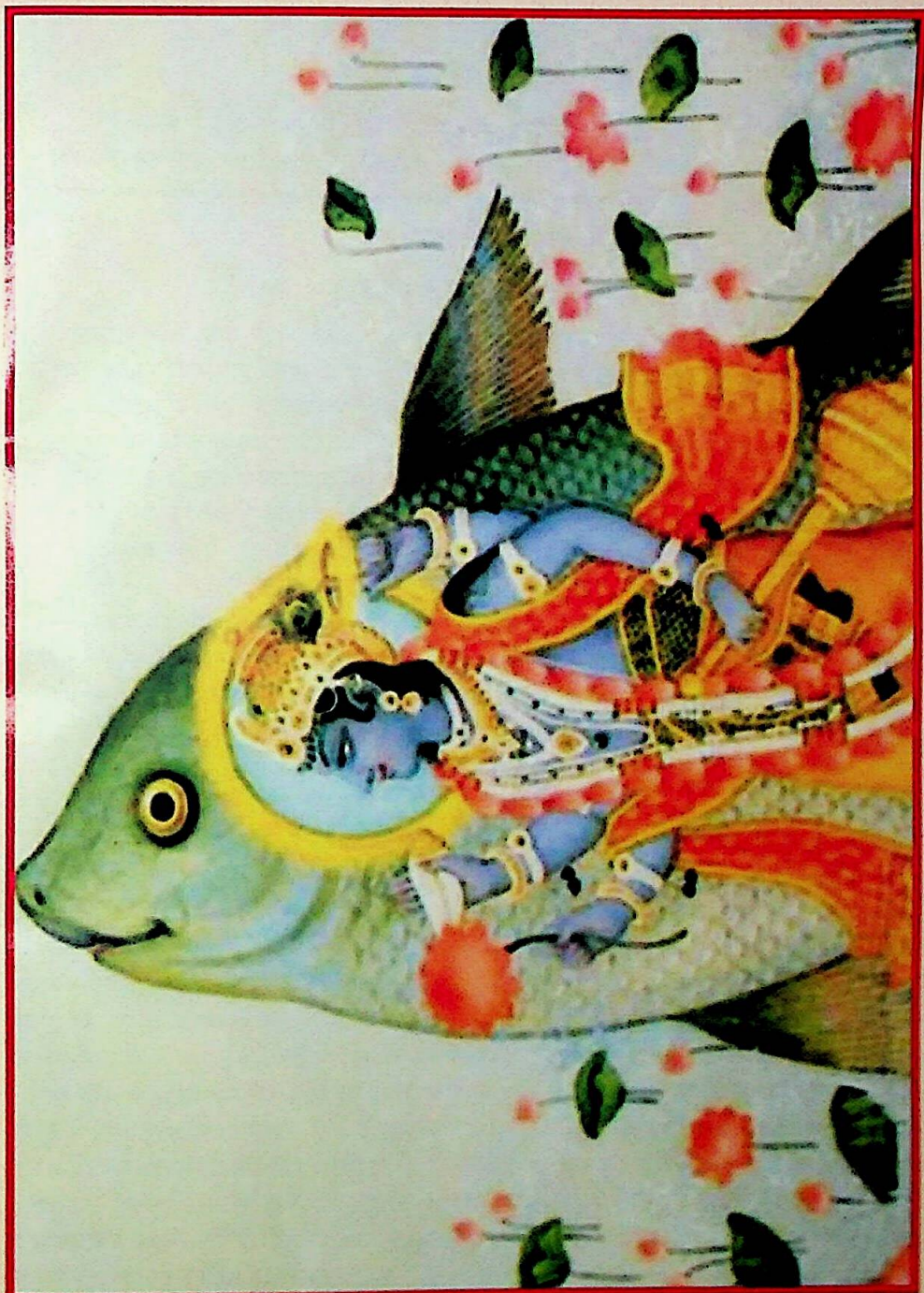
### अध्याय का हृदय

कृतमाला नदी और कुछ नहीं यह संसार ही है—(कृतानां कर्मणां माला श्रेणी कृतमाला संसारनदी)। सत्यव्रत सत्यावलम्बी जीव हैं। सत्यावलम्बी को ही सत्यनारायण भगवान् के दर्शन होते हैं। शरीर ही नैया है। मानवरूपी इस शरीर-नैया से ही संसार-सागर को पार किया जा सकता है। मत्स्य का सींग ही भगवान् का चरण है। सत्य को व्रत बना लेने वाला जीव जब अपनी शरीर-नैया को भगवान् के चरण में प्रेम की डोर से बाँध देता है तो अनायास ही वह तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर संसार सागर को पार कर जाता है। ऐसा व्यक्ति इस संसार में कल्याण का भागी और परलोक में मुक्ति का पात्र होता है ॥८/२४॥

॥ अष्टम स्कन्ध समाप्त ॥

•











## नवम स्कन्ध

(नवें स्कन्ध में २४ अध्याय है। इन चौबीस अध्यायों में से कोई-कोई बारह-बारह करके दो विभाग करते हैं और कोई-कोई तेरह, ग्यारह करते हैं। तेरह अध्यायों में सूर्य वंश का वर्णन है और ग्यारह अध्यायों में चन्द्रवंश का)

### पहला अध्याय

#### (वैवस्वत मनु के पुत्र राजा सुद्युम्न को स्त्रीत्व की प्राप्ति)

राजा परीक्षित जी ने कहा—भगवन्, आपने पिछले आठवें स्कन्ध में १४ मन्वन्तरों का, उन मन्वन्तरों में होनेवाले भगवान् के मनोहर चरित्रों का वर्णन किया, जिन्हें मैंने श्रद्धा के साथ सुना—

मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वयोक्तानि श्रुतानि मे । वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य हरेस्तत्र कृतानि च ॥९/१/१

मुने, अब आप मत्स्यावतार कथा के प्रसङ्ग में वर्णित राजर्षि सत्यव्रत के वंश का विस्तार से वर्णन करें। सत्यव्रत ने भगवान् मत्स्य की कृपा से ज्ञान प्राप्त किया था और फिर वे इस कल्प में वैवस्वत मनु बने हैं। सूत जी ने कहा—शौनक जी, राजा परीक्षित के पूछने पर शुक्रदेव महाराज ने कहा—राजन्, वैवस्वत मनु के वंश का वर्णन विस्तार से करना सम्भव नहीं है अतः मैं उस वंश में उत्पन्न प्रधान-प्रधान राजाओं का ही वर्णन करूँगा। आप ध्यान से सुनें—

कल्प के आदि में जब महाप्रलय की स्थिति थी तब एकमात्र नारायण ही थे। उनकी नाभि से एक कमल प्रकट हुआ। उसी पर ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा के मानस पुत्रों में एक थे मरीचि। मरीचि के पुत्र कश्यप हुए उनकी पत्नी अदिति के गर्भ से विवस्वान् (सूर्य) का जन्म हुआ। विवस्वान् की संज्ञा नामक पत्नी से श्राद्धदेव मनु का जन्म हुआ। यह श्राद्धदेव मनु पिछले जन्म में द्रविण देश के अधिपति सत्यव्रत राजा थे, जिन्हें मत्स्य भगवान् ने ज्ञान प्रदान किया था। श्राद्धदेव मनु को वैवस्वत मनु के नाम से भी जाना जाता है। इन्होंने अपनी पत्नी श्रद्धा के गर्भ से—इक्ष्वाकु, नृग, शर्गाति, दिष्ट, धृष्ट, करूप, नरिष्यन्त, पृषध्न, नभग और कवि—ये दश पुत्र उत्पन्न किये थे।

इन पुत्रों के उत्पन्न होने के पहले वैवस्वत मनु को कोई सन्तान न थी अतः गुरु वसिष्ठ ने पुत्र के निमित्त इनसे पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया। मनु की पत्नी श्रद्धा यज्ञ में दीक्षा लेकर केवल दूध पीकर ही रहा करती थी। यज्ञ के प्रारम्भ में ही होता बने हुए ब्राह्मण के पास में जाकर श्रद्धा ने धीरे से कहा—भगवन्, आप ऐसे मन्त्रों को पढ़कर कुण्ड में आहुति डालें जिससे मुझे कन्या हो। होता ने रानी की बात मान ली फिर अध्वर्यु की प्रेरणा से होता ने कन्या का ध्यान कर यज्ञ-कुण्ड में आहुति डाली। फल विपरीत हुआ। पुत्र के स्थान पर एक सर्वाङ्ग सुन्दरी कन्या का जन्म हुआ। कन्या का नाम रक्खा गया—इला। वैवस्वत मनु इससे प्रसन्न नहीं थे। वे पहुँचे गुरु वसिष्ठ के पास और कहा—गुरुदेव, आप के निर्देशन में होनेवाले यज्ञ का यह उल्टा फल कैसे हो गया। पुत्र के स्थान पर पुत्री कैसे पैदा हो गई? वसिष्ठ जी ने ध्यान लगाकर सारी बातों को जान लिया और कहा—मनु जी, यह गड़बड़ी होता के विपरीत सङ्कल्प से हुई है किन्तु आप चिन्ता न करें, मैं अपने तप के प्रभाव से इसे एक सुन्दर पुत्र के रूप में परिवर्तित कर दूँगा। इस प्रकार मनु को आश्वासन देकर गुरु वसिष्ठ ने भगवान् नारायण की स्तुति की। भगवान् ने पूछा—वसिष्ठ क्या चाहते हो? वसिष्ठ ने कहा—प्रभो, इला लड़का बन जाय, यह पुत्री पुत्र बन जाय—यही आप से हमारी विनती है। भगवान् ने कहा—वसिष्ठ, ऐसा ही होगा। राजकुमारी राजकुमार बन जायेगी। फिर क्या था? जगदीश्वर की इच्छा से लड़की लड़का बन गई। उसका नाम रक्खा गया—सुद्युम्न।



सुद्युम्न बड़ा हुआ, तरुण बना। एक दिन वह शिकार खेलने की इच्छा से घोड़े पर सवार होकर कुछ मन्त्रियों के साथ उत्तर दिशा में मेरु पर्वत की तलहटी में पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही एक अद्भुत घटना घटी—सुद्युम्न स्त्री बन गया। घोड़ा-घोड़ी बन गई। यही स्थिति मन्त्रियों और उनके वाहनों की भी हुई। इस अद्भुत परिवर्तन को देखकर सभी आश्चर्यचकित हो एक दूसरे को देखने लगे। किसी की समझ में कुछ नहीं आया।

इस घटना को सुनकर राजा परीक्षित के मन में बड़ा कौतूहल उत्पन्न हुआ। उन्होंने पूछा—भगवान्, उस भू-खण्ड में ऐसा विचित्र गुण कैसे आ गया? यह कैसा अद्भुत देश है, जहाँ पहुँचते ही पुरुष स्त्री बन जाता है? इसका कारण क्या है? बतलाने की कृपा करें। शुकदेव जी ने कहा—राजन्, एक दिन की बात है। भगवान् शङ्कर जगदम्बा पार्वती के साथ रमण कर रहे थे। वस्त्र-विहीन पार्वती शङ्कर की गोदी में मचल रही थीं। रति का रङ्ग अपने पूरे शबाब पर था। मालूम पड़ रहा था कि कामदेव आज शङ्कर से अपनी हार का बदला व्याज के साथ चुकता कर रहा था। उसी समय कुछ ऋषि-गण शङ्कर भगवान् का दर्शन करने पहुँचे। ऋषियों को आया देखकर पार्वती अत्यन्त लजा गई। झटपट शङ्कर की गोद से उतर कर उन्होंने वस्त्र धारण करना प्रारम्भ किया। यह दृश्य देखकर ऋषि-गण वहाँ से लौटकर नर-नारायण के आश्रम पर चले गये। उसी समय भगवान् शङ्कर ने अपनी प्रिया पार्वती को प्रसन्न करने के लिये कहा कि—‘मेरे अतिरिक्त जो भी पुरुष इस स्थान में प्रवेश करेगा, वह स्त्री बन जायेगा’। तभी से उस स्थान में पुरुष प्रवेश नहीं करते—

तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया। स्थानं यः प्रविशेदेतत् स वै योषिद् भवेदिति ॥

तत ऊर्ध्वं वनं तद् वै पुरुषा वर्जयन्ति हि ॥ ९/१/३२-३३

राजकुमार सुद्युम्न कन्या के रूप में अपनी सहेलियों के साथ इधर-उधर भ्रमण करने लगे। इस सुन्दरी कन्या को देखकर चन्द्रकुमार बुध उसे पाने के लिये उत्सुक हो उठे। कन्या भी बुध के सौन्दर्य पर निछावर हो रही थी। फिर क्या था? दोनों पति-पत्नी बन गये। बुध ने जमकर उस तरुणी के साथ रमण किया। फलतः उसके गर्भ से पुरुरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। तदनन्तर उस कन्या ने अपने कुलगुरु वसिष्ठ का स्मरण किया। वे बुध के आश्रम पर जब पहुँचे तब सुद्युम्न की यह दशा देखकर उन्हें महान् कष्ट हुआ। उन्होंने सुद्युम्न को पुनः पुरुष बना देने के लिये भगवान् शङ्कर की आराधना की। शङ्कर प्रसन्न हुए। वसिष्ठ ने सुद्युम्न को पुरुष बना देने की उनसे प्रार्थना की। शङ्कर अपने वचन की रक्षा करते हुए बोले—वसिष्ठ जी, ठीक है—आप का यह यजमान एक महीने तक पुरुष रहेगा और एक महीने तक स्त्री। यही क्रम जीवन भर चलेगा। इस व्यवस्था से सुद्युम्न इच्छानुसार पृथिवी का पालन करने लगे किन्तु प्रजा उनका अभिनन्दन नहीं करती थी, वह उनसे सन्तुष्ट न थी—

मासं पुमान् स भविता मासं स्त्री तव गोत्रजः। इत्थं व्यवस्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम् ॥

पालयामास जगतीं नाभ्यनन्दन् स्म तं प्रजाः ॥ ९/१/३९-४०

राजा सुद्युम्न के तीन पुत्र हुए—उत्कल, गय और विमल। ये सभी दक्षिणापथ के राजा बने। सुद्युम्न जब वृद्ध हुए तब उन्होंने अपनी राजधानी प्रतिष्ठान नगरी (प्रयाग के पास आजकल की झूसी) में अपने पुत्र पुरुरवा को प्रतिष्ठित कर स्वयं तपस्वार्थ वन में चले गये ॥ १॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १॥



## दूसरा अध्याय

(वैवस्वत मनु के दस पुत्रों में पाँच के वंश का वर्णन)

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, जब सुद्युम्न तप करने वन में चले गये, तब वैवस्वत मनु ने पुत्र की कामना से यमुना के तट पर सौ वर्ष तक तपस्या की। प्रसन्न हुए भगवान् ने पुत्रार्थ यज्ञ करने की आज्ञा दी। वैवस्वत मनु ने भगवान् की आज्ञा का पालन किया। फलतः उन्हें अपने ही समान दश पुत्र उत्पन्न हुए। इनके नाम थे—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करुष, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि—

इक्ष्वाकु-नृग-शर्याति-दिष्ट-धृष्ट-करुषकान्। नरिष्यन्तं पृषध्रं च नभगं च कविं विभुः॥

८/१/१२

इनमें जो आठवाँ पुत्र पृषध्र था उसे गुरु की गायों का चरवाहा बना दिया गया। वह रात्रि में वीरासन से बैठकर गायों की रक्षा किया करता था, एक दिन अंधेरी रात्रि में एक सिंह गायों की झुण्ड में घुस गया। गायें भय के मारे भागने और चिल्लाने लगीं। सिंह ने झपट कर एक गाय को पकड़ भी लिया। गायों का चिल्लाना सुनकर पृषध्र हाथ में तलवार लिये दौड़ पड़ा। रात अंधेरी थी। वर्षा हो रही थी अतः ठीक से पहचान न पाने कारण पृषध्र ने प्रहार कर कपिला गाय का शिर काट डाला।

“खड्गमादाय तरसा प्रलीनोडुगणे निशि। अजानन्नहनद् ब्रभोः शिरः शार्दूलशङ्कया”॥१/२/६

सिंह का भी एक कान कट गया था अतः खून बहाता हुआ वह भयभीत होकर भाग निकला। सबेर हुआ। पृषध्र गोशाला में गया। उसने देखा कि तलवार के प्रहार से कटी हुई गाय पड़ी हुई है। यह दृश्य देखकर वह दुःख के सागर में डूब गया। उसने रात्रि की घटना का विवरण कुल-गुरु वशिष्ठ को बतलाया। यद्यपि पृषध्र ने जान-बूझ कर अपराध नहीं किया था, फिर भी वशिष्ठ जी ने उसे शाप दे दिया—जा, तू शूद्र हो जा। पृषध्र ने हाथ जोड़कर कुल-गुरु के शाप को शिरोधार्य कर लिया। वह उसी समय से ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर वन में ही निवास करने लगा। राजधानी में कभी नहीं लौटा। वह भगवान् की एकनिष्ठ भक्ति में ही दिन-रात डूबा रहता था। उसकी संसार की सारी आसक्ति समाप्त हो गई थी। आत्मज्ञान की पराकाष्ठा की स्थिति में पहुँचा हुआ पृषध्र कभी-कभी जड़, अन्ये और बहरे के समान पृथिवी पर विचरण करता था। एक दिन दैवयोग से वन में आग लग गई। पृषध्र ने उस आग की लपटों की चपेट में आकर स्वयं अपने आप को भस्म कर परमपद की यात्रा की—“ब्रह्म प्राप परं मुनिः”॥१४॥

मनु के छोटे पुत्र थे कवि। वे सर्वदा विषयों से निःस्पृह थे। वे राज्य छोड़कर अपने बन्धुओं के साथ वन में चले गये। वहाँ भगवान् के ध्यान में निमग्न रहकर किशोर अवस्था में ही परम पद को प्राप्त कर लिया।

मनु के छठे पुत्र करुषक उत्तरापथ के पालक क्षत्रिय हुए। उनसे कारुष नाम की क्षत्रिय जाति की परम्परा चली। धृष्ट से धार्ष्ट नामक क्षत्रिय हुए अन्त में वे इसी शरीर से ब्राह्मण बन गये। नृग का पुत्र सुमति और नरिष्यन्त का पुत्र चित्रसेन था। चित्रसेन की वंश-परम्परा में आगे चलकर देवदत्त हुए। देवदत्त का पुत्र था—अग्निवेश्य। यह साक्षात् अग्नि का ही अवतार था। दिष्ट के पुत्र नाभाग हुए। यह नभग के पुत्र नाभाग से अलग हैं। नाभाग अपने कर्म के कारण वैश्य हो गये। नाभाग की वंश-परम्परा में आगे चलकर महाप्रतापी चक्रवर्ती नरेश मरुत्त हुए। महाराज मरुत्त के यज्ञ में अग्नि ने इतना बी पिया कि उन्हें अजीर्ण ही हो गया। मरुत्त के यज्ञाचार्य थे बृहस्पति के छोटे भाई, अङ्गिरा के पुत्र महायोगी संवर्त। संवर्त से बृहस्पति ईर्ष्या किया करते थे। मरुत्त के यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली सारी वस्तुएँ सोने की थीं। इतना महान् यज्ञ तो आज तक किसी ने किया ही नहीं—

मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथान्यस्य कश्चन। सर्वं हिरण्मयं त्वासीद् यत् किञ्चिच्चास्य शोभनम्॥

९/२/२७



इनके वंश में तृणबिन्दु, विशाल और जनमेजय आदि महाप्रतापी राजा हुए हैं।

पीछे बतलाया जा चुका है कि वैवस्वत मनु के दस पुत्र थे। इनमें दो विरक्त होकर जंगल में चले गये थे। पाँच पुत्रों के वंश की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। शेष तीन पुत्रों के वंश का वर्णन आगे किया जा रहा है।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

## तीसरा अध्याय

( महर्षि च्यवन और सुकन्या का चरित्र तथा राजा शर्याति का वंश )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, वैवस्वत मनु के पुत्र राजा शर्याति वैदिक कर्मकाण्ड के प्रवीण विद्वान् थे। उन्होंने अङ्गिरा-गोत्र के ऋषियों के यज्ञ में दूसरे दिन के कर्म-काण्ड का विवरण बतलाया था। इससे उनके वैदिक कृत्यों की प्रवीणता सिद्ध होती है—

शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव ह। यो वा अङ्गिरसां सन्ने द्वितीयमह ऊचिवान् ॥९/३/१॥

शर्याति की एक बेटी थी। उसका नाम था—सुकन्या। आकर्षक आँखों वाली सुकन्या एक सुन्दरी तरुणी थी। एक बार महाराज शर्याति अपनी बेटी सुकन्या के साथ वन में घूमते हुए च्यवन ऋषि के आश्रम पर जा पहुँचे। उनके साथ सुरक्षार्थ कुछ सैनिक भी थे। सुकन्या अपनी सखियों के साथ घूम-घूमकर वृक्षों का सौन्दर्य निहार रही थी। उसने एक स्थान पर देखा कि एक बाँबी (दीमकों का दूहा) के छेद में से जुगनु की तरह दो ज्योतियाँ दिख रही हैं। दैव की कुछ ऐसी ही प्रेरणा थी। सुकन्या ने बाल-सुलभ चपलता से एक कांटे के द्वारा उन ज्योतियों को बेध दिया। इससे उनमें से बहुत-सा रक्त बह चला। उसी समय शर्याति के सैनिकों का मल-मूत्र रुक गया। राजर्षि शर्याति को यह देखकर महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने सैनिकों से कहा—अरे, तुम लोगों ने महर्षि च्यवन जी के प्रति कहीं कोई अनुचित व्यवहार तो नहीं कर दिया ? मुझे तो स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि तुम लोगों में से किसी ने अवश्य कोई अनर्थ किया है तब सुकन्या ने अपने पिता जी से डरते-डरते कहा कि—पिताजी, मैंने कुछ अपराध अवश्य किया है। मैंने अनजान में दो ज्योतियों को कांटे से छेद दिया है। बेटी की यह बात सुनकर शर्याति घबड़ा गये। उन्होंने धीरे-धीरे स्तुति करके बाँबी से ढँके हुए च्यवन मुनि को प्रसन्न किया। कन्या के अपराध के लिये क्षमा-याचना की। मुनि ने कन्या की अवस्था आदि के विषय में पूछा। उनका अभिप्राय यह था कि सुकन्या का विवाह उनसे कर दिया जाय। तभी यह संकट दूर होगा। अभीष्ट न होते हुए भी राजा ने मुनि के प्रस्ताव को स्वीकार कर कन्या उन्हें प्रदान कर दी और फिर संकट से मुक्त होकर बड़ी सावधानी से उनकी अनुमति लेकर अपनी राजधानी में चले गये—

तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद् दुहितरं मुनेः। कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्य पुरं प्रायात् समाहितः ॥९/३/१॥

इधर सुकन्या परम क्रोधी च्यवन मुनि को अपने पति के रूप में प्राप्त करके बड़ी सावधानी से उनकी सेवा कर प्रसन्न रखती थी। वह उनके अभिप्राय को जान कर उनकी सेवा करती थी। कुछ समय बीत गया। एक दिन मुनि के आश्रम पर देवाताओं के वैद्य अश्विनी कुमार पधारे। मुनि ने उनका यथोचित स्वागत-सत्कार कर कहा—आप दोनों समर्थ हैं अतः मुझे युवा अवस्था प्रदान कीजिये। मेरा रूप और यौवन ऐसा हो कि तरुणी स्त्रियाँ देखते ही मुझ पर मुग्ध हो जायँ। बदले में अनधिकारी होते हुए भी आप लोगों को यज्ञ में भाग दिला कर सोम रस का पान करवाऊँगा—



ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपोः । क्रियतां मे वयो रूपं प्रमदानां यदीप्सितम् ॥ ९/३/१२

मुनि के प्रस्ताव को देव-वैद्यों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और कहा—मुनिवर, आप सिद्धों द्वारा निर्मित इस सरोवर में स्नान करें । आपकी इच्छा अवश्य पूरी होगी । यह कहकर दोनों अश्विनीकुमारों ने अगल-बगल से जराजर्जरित मुनि को पकड़कर सरोवर में प्रविष्ट किया । उन लोगों ने मुनि के साथ ही वहाँ जल में डुबकी लगाई । आश्चर्य, महान् आश्चर्य ! डुबकी लगाई थी च्यवन और अश्विनी कुमारों ने किन्तु उनके स्थान पर सूर्य के समान तेजस्वी, एक जैसे दीखने वाले, तीन तरुण उस जलाशय से निकले । वे तीनों सजे-धजे और समान सुन्दर थे । उन्हें देखकर सुकन्या अपने पति को पहचान न सकी । असमञ्जस में पड़कर उसने मन-ही-मन अश्विनीकुमारों का ध्यान कर उनसे इस विषय में सहायता की प्रार्थना की । अश्विनीकुमारों ने सुकन्या के पातिव्रत्य से प्रभावित होकर उसके पति को पृथक् कर दिया । पति को पाकर सुकन्या प्रसन्न हो उठी फिर मुनि की आज्ञा लेकर अश्विनीकुमार विमान से स्वर्ग चले गये । जाते-जाते देववैद्यों ने मुनि को एक ऐसे अवलेह की विधि बतला दी जिसके सेवन से व्यक्ति सर्वदा तरुण बना रहता है । यही अवलेह आगे च्यवनप्राश के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

कुछ समय व्यतीत होने पर यज्ञ करने की इच्छा से राजा शर्याति च्यवन मुनि के आश्रम पर आये, वहाँ उन्होंने देखा कि सुकन्या के बगल में सटकर परम तेजस्वी एक तरुण बैठा हुआ है । पिता को आया हुआ देखकर सुकन्या ने उनका पैर छूकर प्रणाम किया । शर्याति ने उसे आशीर्वाद नहीं दिया और कुछ अप्रसन्न होकर बोले—अरी कुलक्षणे, तूने यह क्या किया ? क्या तूने सबके वन्दनीय मुनि च्यवन को धोखा दे दिया ? अवश्य ही तूने उनको वृद्ध और अपने काम का न समझकर छोड़ दिया और अब तू इस राह चलते जार पुरुष की सेवा कर रही है—

चिकीर्षितं ते किमिदं पतिस्त्वया प्रलम्बितो लोकनमस्कृतो मुनिः ।

यत् त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम् ॥ ९/३/२०

अरे कुलदूषणे, तुमने यह भी नहीं सोचा कि तुम्हारे इस कृत्य से पति और पिता—दोनों के कुल कलङ्कित होंगे, नरकगामी बनेंगे । इस जार को स्वीकार करते समय तुझे लज्जा भी नहीं आई ? तेरा जन्म तो बड़े ऊँचे कुल में हुआ था । यह विपरीत बुद्धि तुझे कैसे प्राप्त हो गई ? तेरा यह व्यवहार तो कुल को कलङ्कित करनेवाला है । राम-राम ! तुम निर्लज्ज होकर जार पुरुष की सेवा कर रही हो । कितना घृणित है तुम्हारा यह व्यवहार । पिता की फटकार को सुनकर सुकन्या मुस्कराती हुई बोली—पिता जी, ये आपके जामाता (दामाद) स्वयं भृगुनन्दन महर्षि च्यवन ही हैं । इसके बाद उसने अपने पिता से महर्षि च्यवन के यौवन और सौन्दर्य की प्राप्ति का सारा वृत्तान्त कह सुनाया । उसे सुनकर शर्याति के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । उन्होंने बड़े प्रेम से अपनी पुत्री को गले से लगा लिया ।

महर्षि च्यवन ने अपने श्वसुर का आदर-सत्कार किया और सोमयज्ञ का अनुष्ठान करने की बात कही । शर्याति ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया । महर्षि च्यवन के आचार्यत्व में अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ । उसमें सोमपान के अधिकारी न होने पर भी अश्विनी-कुमारों को च्यवन ने अपने प्रभाव से सोमपान करवाया इस प्रकार उन्होंने अपनी दी हुई बात पूरी कर दी । यह देखकर इन्द्र क्रुद्ध हो उठे । उन्होंने शर्याति को मारने के लिये अपना वज्र उठाया । महर्षि च्यवन ने अपने तपोबल से वज्र उठाये हुए इन्द्र के हाथ को स्तम्भित कर दिया । तब सभी देवताओं ने अश्विनीकुमारों को सोम का भाग देना स्वीकार कर लिया । देवों ने वैद्य होने के कारण पहले अश्विनीकुमारों का सोमपान से बहिष्कार कर रक्खा था—

अन्वजानंस्ततः सर्वे ग्रहं सोमस्य चाश्विनोः । भिषजाविति यत् पूर्वं सोमाहुत्या बहिष्कृतौ ॥

९/३/२६



परीक्षित, शर्याति के तीन पुत्र थे—उत्तानबर्हि, आनर्त और भूरिषेण। आनर्त से रेवत हुए। रेवत ने समुद्र के भीतर द्वारकापुरी का निर्माण कराया था। उसी में रहकर वे राज्य का पालन करते थे। द्वारकापुरी को ही कुशस्थली कहते हैं। रेवत के सौ पुत्र हुए। उनमें ककुची सबसे बड़े थे। उनकी एक सुन्दर कन्या थी। उसका नाम था रेवती। रेवती तरुणी हुई। रेवत, ककुची उसके विवाह के लिये चिन्तित हुए। फलतः वे अपनी कन्या रेवती को लेकर उसके लिये वर पूछने के उद्देश्य से ब्रह्मलोक में ब्रह्मा जी के पास गये। वहाँ उस समय गान-वाद्य चल रहा था अतः अवसर की प्रतीक्षा में रेवत एकक्षण रुके रहे। गान-वाद्य की समाप्ति पर ब्रह्माजी से उन्होंने अपना अभिप्राय व्यक्त किया। उनकी बात सुनकर ब्रह्माजी ने हँस कर कहा—राजन, अब तो भूतल पर तुम्हारे समय के सब राजा मर चुके हैं। अब उनके वंश का भी वहाँ कुछ अता-पता नहीं है। क्या तुम्हें मालूम है कि तुम्हें पृथिवी छोड़े २७ चतुर्युगी बीत चुकी है इसलिये तुम जाओ इस समय भगवान् नारायण के अंशावतार महाबली बलदेव जी पृथिवी पर विराजमान हैं उन्हीं नर-रत्न को यह कन्यारत्न तुम समर्पित कर दो। ककुची<sup>१</sup> ब्रह्माजी को सादर प्रणाम कर अपनी नगरी में चले आये। उनके वंशज भी यक्षों के भयसे वह नगरी छोड़कर इधर-उधर चले गये थे। उन्होंने अपनी पुत्री रेवती का विवाह बलदेव जी के साथ कर दिया और स्वयं तपस्या करने के लिये भगवान् नर-नारायण के आश्रम बदरीवन की ओर चले गये—

सुतां दत्त्वानवद्याङ्गीं बलाय बलशालिने । बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं नारायणाश्रमम् ॥९/३/३६  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

## चौथा अध्याय

### ( नभग, नाभाग और अम्बरीष की कथा )

श्री शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित, मनुपुत्र नभग का पुत्र था नाभाग। नाभाग के पुत्र थे अम्बरीष। नाभाग चिरकाल तक ब्रह्मचारी रहकर गुरुकुल में अध्ययन करते रहे। बहुत दिनों तक वे वहाँ से लौटे ही नहीं। उनके भाइयों ने आपस में सब धन बाँट लिया। उनके लिये कोई हिस्सा नहीं रखवा। जब वे लौट कर घर आये तो भाइयों से पूछा कि हमारा भाग कहाँ है ? इस पर उन लोगों ने उत्तर दिया—हम तुम्हारे हिस्से में पिता जी को ही तुम्हें देते हैं। नाभाग ने यह सारा वृत्तान्त अपने पिता नभग से जाकर कहा। नभग ने कहा—बेटा, भाइयों ने तुम्हारे साथ छल किया है। पिता तो कोई भोग्य वस्तु है नहीं किन्तु तुम चिन्ता मत करो। धन-प्राप्ति में मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। अब तुम मेरी बात सुनो। देखो, महान् बुद्धिमान् आङ्गिरस-गोत्र के ब्राह्मण इस समय एक महान् यज्ञ कर रहे हैं किन्तु वे प्रत्येक छठे दिन अपने कर्म में भूल कर बैठते हैं। तुम उन महात्माओं के पास जाकर उन्हें वैश्वदेव-सम्बन्धी दो सूक्त बतला दो। इससे उनका यज्ञ सर्वाङ्ग में पूर्ण हो जायेगा। भूल-सुधार कर देने के काष्ठ्य वे तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हो जायेंगे। जब वे स्वर्ग जाने लगेंगे, तब यज्ञ से बचा हुआ अपना सारा धन तुम्हें दे देंगे अतः तुम उन्हीं के पास चले जाओ। इससे धनसम्बन्धी तुम्हारी समस्या समाप्त हो जायेगी। उन्होंने अपने पिता की आज्ञा के अनुसार वैसा ही किया। यज्ञ की पूर्णाहुति हो जाने पर ब्राह्मणों ने यज्ञ का बचा हुआ सारा धन नाभाग को दे दिया और स्वयं स्वर्ग चले गये।

१. रेवत का पुत्र होने के नाते ककुची को रेवत भी कहते हैं—रेवतस्यापत्यं पुमान् रेवतः ।



नाभाग उस धन को एकत्रित करने लगे। उसी समय उत्तर दिशा की ओर से एक कृष्ण वर्ण का पुरुष आया। उसने कहा—यह सब धन मेरा है। यज्ञ में अवशिष्ट धन मेरा ही हुआ करता है। नाभाग ने कहा—यज्ञकर्ता ब्राह्मणों ने यह धन मुझे दिया है अतः यह मेरा है। कृष्णवर्ण के पुरुष ने कहा—इस विषय में मध्यस्थता तुम्हारे पिता जी करेंगे। उन्हीं का निर्णय मान्य होगा। मैं यहीं बैठा हूँ। तुम जाकर अपने पिता से निर्णय लेकर आओ। नाभाग अपने पिता के पास गये। उनसे सारी बातें बतला दी। पिता ने उत्तर दिया—बेटा, वे पुरुष रुद्र जी हैं। उनका कहना सही है। यज्ञ का अवशिष्ट भाग उन्हीं का होता है। नाभाग लौट आये यज्ञ-स्थल में। उन्होंने रुद्र से पिता जी का निर्णय यथावत् कह दिया और अपने अपराध के लिये उनसे क्षमा-याचना की। रुद्र पिता-पुत्र की सत्य-निष्ठा देखकर प्रसन्न हो उठे। उन्होंने कहा—यहाँ यज्ञ में बचा हुआ मेरा जो अंश है, उसे मैं तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ। इसे तुम स्वीकार करो। ऐसा कह कर रुद्र अन्तर्धान हो गये<sup>१</sup>।

जो व्यक्ति सायं-प्रातः इस उपाख्यान को पढ़ता है या स्मरण करता है, वह प्रतिभाशाली और वेदज्ञ होता है। पिता और पुत्र की सत्यनिष्ठा और भगवद्भक्ति का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिये ही इस उपाख्यान की यहाँ चर्चा की गई है।

जैसा पीछे बतलाया गया है, नाभाग के पुत्र हुए अम्बरीष। वे भगवान् के महान् भक्त महात्मा थे। जो ब्रह्मशाप कभी रोका न जा सका वह भी राजर्षि अम्बरीष का स्पर्श न कर सका।

राजा परीक्षित ने कहा—भगवन्, मैं अम्बरीष का चरित सुनना चाहता हूँ। ब्राह्मण ने क्रोधित होकर उन्हें ऐसा दण्ड क्यों दिया ? जो किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता। किन्तु वह भी उन पर प्रभावी न हो सका।

राजा की बात को सुनकर श्रीशुकदेव जी ने कहा—अम्बरीष बड़े भाग्यवान् थे। सप्तद्वीपा वसुमती पर उनका अव्याहत अधिकार था। उनके पास अचल सम्पत्ति और अतुल वैभव था। यद्यपि ये सब साधारण मानवों के लिये अत्यन्त दुर्लभ वस्तुएँ हैं, फिर भी वे इन्हें स्वप्न के समान नश्वर समझते थे। उन्हें यह मालूम था कि धन-वैभव के चक्कर में पड़कर प्राणी घोर नरकगामी बनता है। यह केवल चार दिन की चाँदनी हैं—

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम्। अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥

मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत् स्वप्नसंस्तुतम्। विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत् पुमान् ॥

९/४/१५-१६

भगवान् श्रीकृष्ण में और उनके प्रेमी साधुओं में उनकी महती श्रद्धा थी। इस प्रकार की श्रद्धा के आजाने से यह सारा संसार और सारी सम्पत्तियाँ मिट्टी के ढेले के समान जान पड़ती हैं। उन्होंने अपने मन को श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्द-युगल में, वाणी को भगवान् के गुणों के गान में, हाथों को श्रीहरि के मन्दिर के मार्जन-सेचन में और अपने कानों को अच्युत की मङ्गलमयी कथा के श्रवण में लगा रक्खा था। अम्बरीष चक्रवर्ती सम्राट् थे फिर भी वे अपने हाथों से भगवान् के मन्दिर में झाड़ू लगाते थे, पोछा करते थे, कानों से भगवान् की कथा सुनते थे, आँखों से मूर्ति का दर्शन करते थे, शरीर से भक्तों को स्पर्श करते थे, नासिका से भगवान् के चरण-कमलों पर चढ़ी तुलसी की गन्ध सूँघते थे और जीभ से चरणार्पित तुलसी का स्वाद लेते थे। वे भगवान् के तीर्थों में, क्षेत्रों में पैदल ही जाते थे। उनका शिर भगवान् के चरण-वन्दन में निरत रहता था। उनकी इच्छा रहती थी कि मेरा जीवन भगवान् की दास्यभक्ति करने में ही व्यतीत हो। सांसारिक विषयों से उनका मन सर्वदा विरक्त रहता था। भगवान् के भक्तों में उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी—

१. इस उपाख्यान की चर्चा बहवृच ब्राह्मण में आई हुई है।



स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णनि ।  
 करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥  
 मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दशौ तद्भृत्यगात्रस्यर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।  
 प्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥  
 पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।  
 कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥

९/४/१८-२०

इस प्रकार उनका अन्तःकरण और बाह्य इन्द्रियाँ, शरीर, मन-सब कुछ भगवान् की सेवा में समर्पित था । मैं चक्रवर्ती सम्राट् हूँ—यह अभिमान उनके मन में लेश-मात्र भी न था । अम्बरीष ने बड़े-बड़े यज्ञों का सम्पादन किया । वसिष्ठ, असित और गौतम आदि महान् आचार्यों ने उनके यज्ञ में हिस्सा लिया था । देवता उनके यज्ञ में प्रत्यक्षरूप से भाग ग्रहण करते थे । उन्होंने ब्राह्मणों को वस्त्राभूषण से लाद दिया था । इससे वे देवताओं के सदृश प्रतीत होते थे । उनकी प्रजा भगवान् के चरित्रों के कीर्तन और श्रवण में इस प्रकार आनन्द-निमग्न रहती थी कि उसे स्वर्ग भी तुच्छ प्रतीत होता था । वे संसार के विषयों और प्राणियों से पूर्ण विरक्त रहा करते थे ।

इस प्रकार राजर्षि अम्बरीष सांसारिक पदार्थों को छोड़कर भगवान् की ही सेवा-भक्ति में लगे रहते थे । उनकी दृष्टि में गृह, स्त्री, पुत्र और बन्धु-बान्धवों का कोई महत्त्व न था । वे सर्वात्मना भगवान् को समर्पित थे । इसलिये प्रसन्न होकर भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र को उनकी सुरक्षा में लगा दिया था । जब अम्बरीष ने देखा कि उनकी सुरक्षा भगवान् का सुदर्शन चक्र कर रहा है, तब वे और भी निश्चिन्त होकर भगवान् की भक्ति में तल्लीन हो गये । एक समय उन्होंने अपनी रानी के सहित, भगवान् श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिये, एक वर्ष तक शुद्धा एकादशी का व्रत किया—

आरिराद्यधिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया । युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥९/४/२९

शुद्धा एकादशी को अखण्डा एकादशी भी कहते हैं । अखण्डा एकादशी का विधान तो यह है कि न तो दशमी की रात्रि का भोजन करे और न द्वादशी की रात्रि का ही । दशमी को और द्वादशी को केवल एक बार ही दिन में भोजन करना चाहिये । यहाँ एकादशी व्रत को द्वादशी व्रत कहने का अभिप्राय है कि द्वादशी विद्धा ही एकादशी का व्रत करना चाहिये, दशमीविद्धा का नहीं । एकादशी व्रत करनेवाले को द्वादशी में ही पारण करना चाहिये, त्रयोदशी में नहीं । त्रयोदशी में पारण करने से एकादशी व्रत का माहात्म्य समाप्त हो जाता है—“व्येति कन्दर्पपारणात्” । स्मार्त लोगों के अनुसार एक पल भी दशमी का वेध होने पर एकादशी त्याज्य बतलाई गई है । यदि कदाचित् एकादशी की वृद्धि हो और द्वादशी आ जाय तो व्रत में पर द्वादशी उपवास के योग्य बतलाई गई है<sup>१</sup> ।

व्रत की समाप्ति होने पर कार्तिक महीने में अम्बरीष ने तीन रात का उपवास किया, फिर यमुना जी में स्नान करके मधुवन में श्रीकृष्ण की सविधि षोडशोपचार से पूजा की । ब्राह्मणों को प्रभूत धन-वस्त्र देकर उन्हें सन्तुष्ट किया उन्होंने बहुत-सी अलङ्कृत गायें भी ब्राह्मणों के घर भेजीं । पूजन और दानकर लेने के बाद राजा ने ब्राह्मणों को पायस और अपूप, खीर और मालपुआ का भोजन कराकर उनका आशीर्वाद लिया । सब को खिलापिलाकर वे पारण का विचार कर ही रहे थे कि संयोग से उनके यहाँ महर्षि दुर्वासा<sup>२</sup> पधारे । राजा अम्बरीष उन्हें देखते ही उठकर खड़े हो

१. द्रष्टव्य—‘गर्गसंहिता-माधुर्यखण्ड, ८/३२-३४ का वचन ।

२. दुर दुष्टानि वासांसि यस्यासौ दुर्वासाः । वे फटा-चीथड़ा पहनते थे, अतः लोग उन्हें दुर्वासा कहते थे ।



गये, आसन देकर बैठाया तथा उनकी विधिपूर्वक पूजा की। उनके चरणों में प्रणाम करके भोजन करने की प्रार्थना की। ऋषि राजा की प्रार्थना स्वीकार करके मध्याह्न कृत्य के लिये यमुना-तट पर चले गये। वहाँ वे स्नान करके ब्रह्म के ध्यान में निमग्न हो गये। इधर द्वादशी केवल घड़ी भर शेष रह गई थी। द्वादशी में ही पारण अनिवार्य है। राजा बड़े धर्म-सङ्कट में फँसे। अतिथि को भोजन कराये बिना स्वयं पारण कैसे करें ? यदि द्वादशी में पारण न करें तो व्रत का माहात्म्य ही समाप्त हो जायेगा। ब्राह्मणों के परामर्श से यह निर्णय किया गया कि केवल भगवान् के चरणामृत से पारण कर लें। शास्त्रों का वचन है कि चरणोदक भोजन अर्थात् पारण भी है और भोजन नहीं भी है—

अम्भसा केवलैनाथ करिष्ये व्रतपारणम् । प्राहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितं च तत् ॥९/४/४०

अम्बरीष जलप्राशन करके महर्षि दुर्वासा के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। यमुना से, नित्य कृत्य सम्पन्न कर, दुर्वासा वापस आये। देखते ही वे पहचान गये कि अम्बरीष ने पारण कर लिया है फिर तो उनके क्रोध की सीमा न रही। शरीर काँपने लगा और भौंहें कुटिल हो गईं। सामने हाथ जोड़ कर विनम्र बने अम्बरीष की ओर देखकर उन्होंने कहा—अरे, देखो तो सही, यह कितना क्रूर है ! यह धन के मद से मतवाला हो रहा है। इसने भोजन के लिये मुझे आमन्त्रित किया था किन्तु मुझे बिना खिलाये ही स्वयं खा लिया। अच्छा, देख, तुझे अभी इसका फल देता हूँ। इतना कहते-कहते वे क्रोध से धधकने लगे। उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़ी। पटक दिया उसे जमीन पर। उससे उत्पन्न हुई एक कृत्या (राक्षसी)। वह आग की तरह धधक रही थी। उसके हाथ में एक तलवार थी। वह टूट पड़ी राजा अम्बरीष पर, उनका प्राण लेने के लिये। यह देखकर अम्बरीष जरा भी भयभीत नहीं हुए। वे एक पग भी पीछे नहीं हटे। वे ज्यों-के-त्यों हाथ जोड़े शिर झुकाए खड़े थे—“न चचाल पदादृष्टः” ॥४७॥ भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्त अम्बरीष की रक्षा में पहले से ही सुदर्शन चक्र नियुक्त कर रक्खा था। सुदर्शन चक्र निर्जीव नहीं, सजीव है। यह भगवान् का पार्षद है। सुदर्शन चक्र ने आते ही कृत्या को भस्म कर दिया और फिर दुर्वासा की ओर बढ़ा। चक्र को अपनी ओर आते देखकर दुर्वासा, अपने प्राणों की रक्षा के लिये भाग खड़े हुए। चक्र भी उनके पीछे-पीछे दौड़ा। दुर्वासा दिशाओं-विदिशाओं में जा रहे थे। वे मेरु की गुफा में भी छिपने का प्रयास किये। किन्तु सर्वत्र सुदर्शन उनका पीछा करता रहा। वे आकाश, पाताल, स्वर्ग एवं मर्त्य आदि सभी लोकों में भागते फिरे किन्तु सुदर्शन ने उनका पीछा न छोड़ा—

यतो यतो धावति तत्र तत्र सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥९/४/५१

दुर्वासा ने देखा कि भाग कर प्राण बचाना असम्भव है, तो वे ब्रह्मा की शरण में गये। ब्रह्मा ने कृष्ण की महत्ता को सिद्ध करते हुए उनकी रक्षा में अपनी असमर्थता व्यक्त की। दुर्वासा वहाँ से भाग कर कैलासवासी शङ्कर की शरण में गये। शङ्कर ने भी मुनि की रक्षा में अपने को असमर्थ बतलाते हुए उन्हें सुदर्शन के स्वामी भगवान् विष्णु की शरण में भेजा—

तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः । तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति ॥९/४/५२  
काँपते-हाँफते दुर्वासा भागकर गये वैकुण्ठ लोक में। वे वहाँ पहुँचते ही विष्णु के चरणों पर जा गिरे। हाथ जोड़कर कहा—प्रभो, मुझसे अपराध हो गया है। बचा लीजिये मुझे। आपके महान् प्रभाव को न जानते हुए मैंने आपके प्रिय भक्त के प्रति अपराध कर दिया है। आप मुझे उससे बचाइये।

भगवान् ने कहा—दुर्वासा जी, मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। मैं सर्वदा भक्तों के अधीन रहा करता हूँ। सीधे-सादे भक्तों ने मेरे हृदय को अपने वश में कर रक्खा है। भक्त-जन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे—



अहं भक्तपराधीनो ह्यवतन्न इव द्विज । साधुभिर्गस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥९/४/६३  
ब्रह्मन्, अपने भक्तों का एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ अतः उन्हें छोड़कर मैं अपने आप को और अपनी अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मी को भी नहीं चाहता । जो मेरे भक्त, स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सब कुछ छोड़कर केवल मेरी शरण ग्रहण किये हुए हैं, उन्हें छोड़ने का विचार भी मैं कैसे कर सकता हूँ—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्यक्तुमुत्सहे ॥

९/४/६५

दुर्वासा जी, मैं आप से और क्या कहूँ ? मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और उनका हृदय मैं हूँ । वे मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता किन्तु ऋषिप्रवर, मैं आप को उपाय बतला रहा हूँ । जिसका अनिष्ट करने के कारण आप इस महान् विपत्ति में पड़े हैं, उसी की शरण में जाइये । निरपराध साधुओं पर जो शक्ति का प्रयोग करता है, वह शक्ति उल्टे उसी का अमङ्गल करती है—

अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं यातु वै भवान् । साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम् ॥९/४/६९

ब्राह्मण देवता, आप का कल्याण हो । आप अम्बरीष के पास जाइये, अपने अपराध के लिये उनसे क्षमा-याचना कीजिये, तभी विपत्ति दूर होकर आपको शान्ति मिलेगी अन्यथा कोई उपाय नहीं है ॥४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

## पाँचवा अध्याय

( अम्बरीष की प्रार्थना पर सुदर्शन चक्र से दुर्वासा की प्राण-रक्षा )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भगवान् के द्वारा इस प्रकार की आज्ञा पाकर चक्र की ज्वाला से सन्तप्त ऋषि दुर्वासा भागकर अम्बरीष के पास पहुँचे । वहाँ वे अत्यन्त दुःखी होकर राजा के पैरों पर गिर पड़े । यह देख कर अम्बरीष लज्जित होकर सङ्कोच में पड़ गये । उस समय उनका हृदय दयावश अत्यन्त पीड़ित हो रहा था । उन्होंने हाथ जोड़ कर सुदर्शन चक्र की स्तुति करते हुए कहा—सुदर्शन चक्र, मैं आपको हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहा हूँ । आप सहस्र धाराओं से युक्त एवं भगवान् विष्णु के परम प्रिय हैं । आप की महिमा सारे अस्त्र-शस्त्रों से बढ़ कर है । आप सकल ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं । आप धर्म की रक्षा करनेवाले तथा अधार्मिक असुरों के संहारक हैं । आप त्रिलोकी के रक्षक एवं विशुद्ध तेजोमय हैं । आप की गति मन के वेग के समान है । आप अद्भुतकर्म के सम्पादक हैं । मैं आप को प्रणाम कर रहा हूँ, आप की स्तुति कर रहा हूँ । आप इन ब्राह्मण-देवता की रक्षा करें—

सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय । सर्वास्त्रघातिन् विप्राय स्वस्ति भूया इडस्यते ॥९/५/४

नमः सुनाभाखिल धर्मसेतवे ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे ।

त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे मनोजवायान्धुतकर्मणे गृणे ॥९/५/६

आप महात्माओं के अन्तःकरण में प्रकाश बिखेरने वाले हैं । मैं आपको बार-बार प्रणाम कर रहा हूँ । आप इन ब्राह्मण-महाराज की रक्षा करें । सुदर्शन जी, यदि मैंने कुछ भी दान किया हो, यज्ञ किया हो अथवा अपने धर्म का



पालन किया हो, यदि हमारा कुल ब्राह्मणों को देवता समझता रहा हो, तो दुर्वासा जी की जलन समाप्त हो जाय । यदि भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो ब्राह्मण देवता के हृदय की सारी जलन समाप्त हो जाय—

यद्यस्ति दक्षभिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनृष्टितः । कुलं नो विप्रदेवं चेद् द्विजो भवतु विज्वरः ॥  
यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः । सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः ॥

९/५/१०-११

शुकदेव जी ने कहा—राजन्, अम्बरीष के इस प्रकार कहते ही सुदर्शन चक्र शान्त हो गया । दुर्वासा की सारी व्यथा समाप्त हो गई । वे पहले की तरह स्वस्थ हो गये फिर उन्होंने राजा को बहुत-सा आशीष प्रदान कर कहा—आज मैंने भगवान् अनन्त के दासों की महिमा देख ली । राजन्, मैंने आप का अपराध किया, फिर भी आप मेरी कल्याण-कामना ही कर रहे हैं, यह आप जैसे भगवद्भक्त के लिये ही संभव है । जिनके मङ्गलमय नामों के श्रवणमात्र से प्राणी निर्मल हो जाता है, उन्हीं तीर्थपाद भगवान् के चरण-कमलों के जो दास हैं, उनके लिये कौन-सा कर्तव्य अवशिष्ट रह जाता है ? महाराज अम्बरीष, आप करुणा के सागर हैं । आप ने मेरे ऊपर महान् अनुग्रह किया है । अहो ! आपने मेरे अपराध को भुलाकर मेरे प्राणों की रक्षा की है । भला ! आपके अलावा इतना महान् कार्य और कौन कर सकता है—

राजन्ननुगृहीतोऽहं त्वयातिकरुणात्मना । मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षिताः ॥९/५/१७

पूरे एक वर्ष बाद आज दुर्वासा जी त्रिलोकी का प्रमण करके लौटे हैं । राजर्षि अम्बरीष पूरे वर्ष भर बिना भोजन किये उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे । अब उन्होंने दुर्वासा जी के चरण पकड़ लिये और उन्हें प्रसन्न करके भोजन कराया । विविध व्यञ्जनों का भोजन करके दुर्वासा जी तृप्त हो गये फिर उन्होंने कहा—राजन्, अब आप भी भोजन कीजिये । आपके आतिथ्य से मैं अत्यन्त प्रसन्न और अनुगृहीत हूँ । मेरा-आशीष है, स्वर्ग की देवाङ्गनाएँ अनन्तकाल तक आपके उज्ज्वल चरित्र का गान करती रहेंगी । इस भूतल पर आप की परम पुण्यमयी कीर्ति-लहरियाँ सर्वदा हिलोरें लेती रहेंगी ।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन्, अब दुर्वासा जी बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न थे । वे राजा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए आकाशमार्ग से ब्रह्मलोक चले गये । ऋषि-प्रवर के चले जाने पर राजा ने परिवार के साथ भोजन कराने से बचे हुए अतिपवित्र अन्न को ग्रहण किया । ऋषि को उनके कारण कष्ट हुआ—इसके लिये उनका मन दुःखी था । इस विषय में वे भगवान् का ही प्रभाव मान रहे थे । उन्हें अपने कर्तृत्व का लेश भर भी अभिमान न था । इस प्रकार के बहुत-से गुण उनमें विराजमान थे । भगवान् की भक्ति के सामने सकल ब्रह्माण्ड का भी वैभव उन्हें नरक के समान प्रतीत होता था । तदनन्तर राजा अम्बरीष अपने ही समान भक्त पुत्रों पर राज्य का भार रखकर स्वयं वन में चले गये । वहाँ उन्होंने भगवान् का प्रगाढ़ ध्यान करते हुए, त्रिगुणमय संसार का परित्याग कर, मुक्ति को प्राप्त किया ॥५॥

कथा का हृदय—दुर्वासा भगवान् शङ्कर के अंशावतार हैं । भगवान् शङ्कर ने यह लीला भगवान् विष्णु एवं उनके भक्तों की महिमा को बढ़ाने के लिये ही रची थी । दुर्वासा के शिर पर अपयश मढ़कर अम्बरीष की महत्ता और विष्णु की भक्तवत्सलता प्रदर्शित करना ही इस लीला का हृदय है । नहीं तो आप सोचें—दुर्वासा शङ्करावतार थे । सुदर्शनचक्र शङ्कर के चरण के अँगूठे के नख से निकला था । उसे शङ्कर ने भगवान् विष्णु को संसार की रक्षा के

१. तुलना कीजिये—जौ मोरे मन वच अरु काया । प्रीति रामपदकमल अमाया ॥

तौ कपि होउ विगत श्रम सूला । जो मो पर रघुपति अनुकूला ॥

सुनत दचन उठि बैठि कपीसा । कहि जय जयति कोसलाधीसा ॥ रामचरितमानस, ९/५८/६-८



लिये दिया था। नाभाग शङ्कर के भक्त थे। शङ्कर के दिये हुए धन से ही अम्बरीष का बचपन में पालन-पोषण हुआ। इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि—दुर्वासा ने कलङ्क लेकर भी भगवान् विष्णु के भक्तों की महिमा बढ़ाई है यदि दुर्वासा ने यह लीला न की होती तो आज अम्बरीष को संसार में कौन जानता ?

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

## छठा अध्याय

( इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन, मान्याता और सौभरि ऋषि की कथा )

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं—अम्बरीष के तीन पुत्र हुए—विरूप, केतुमान् और शम्भु। विरूप से पृषदश्व और उसका पुत्र रथीतर हुआ। रथीतर सन्तान-विहीन था। वंश चलाने के लिये रथीतर ने अङ्गिरा से प्रार्थना की। अङ्गिरा ने उसकी पत्नी से कई पुत्र उत्पन्न किये। ये सभी आङ्गिरस कहलाये।

पीछे वैवस्वत मनु के नौ पुत्रों के वंश की चर्चा की जा चुकी है, अब यहाँ उनके दसवें पुत्र इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन किया जा रहा है। एक बार मनु को छींक आ गई। छींकने पर उनकी नासिका से इक्ष्वाकु नाम का पुत्र पैदा हुआ। इक्ष्वाकु के सौ पुत्र थे। उनमें सबसे बड़े थे—विकुक्षि, निमि और दण्डक। इक्ष्वाकु के पच्चीस पुत्र आर्यावर्त के पूर्व भाग के, पच्चीस पश्चिम के, तीन मध्य भाग के तथा बाकी ४७ पुत्र दक्षिण आदि अन्य प्रान्तों के अधिपति बनें।

एक दिन इक्ष्वाकु अष्टका श्राद्ध कर रहे थे। उन्होंने अपने बड़े पुत्र विकुक्षि को आज्ञा दी—बेटा, शीघ्र ही जाकर श्राद्ध के योग्य पवित्र पशुओं का मांस लाओ। पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर विकुक्षि जङ्गल में गये। वहाँ उन्होंने बहुत-से यज्ञ-योग्य पशुओं का शिकार किया। शिकार की बेला में इधर-उधर दौड़ने से वे थक गये थे। उन्हें भूख भी लग गई थी अतः उन्होंने एक खरगोश का मांस खाकर भूख मिटाई फिर उन्होंने बचा हुआ मांस लाकर अपने पिता को दिया। इक्ष्वाकु ने जब अपने गुरु वशिष्ठ से मांस का प्रोक्षण करने के लिये कहा, तब गुरु ने बतलाया कि यह मांस तो उच्छिष्ट (जूठा) है अतः श्राद्ध के अयोग्य है। इस पर इक्ष्वाकु को क्रोध आ गया। उन्होंने विकुक्षि को देश से निकाल दिया। बाद में गुरु वशिष्ठ से ज्ञान प्राप्त कर पिता के परलोक चले जाने पर विकुक्षि फिर राज्य में लौट आये और भू-मण्डल का शासन करने लगे। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञों के द्वारा भगवान् की आराधना की। दुनियाँ उन्हें शशाद<sup>१</sup> इस नाम से भी जानती है।

विकुक्षि के बेटे का नाम था—पुरञ्जय। पुरञ्जय को 'इन्द्रवाह' और 'ककुत्स्थ' भी कहते हैं। एक बार देवासुर-संग्राम चल रहा था। देवताओं ने पुरञ्जय से युद्ध में सहायता मांगी। पुरञ्जय ने कहा—यदि देवराज इन्द्र मेरे वाहन बने, तो मैं युद्ध कर सकता हूँ। इन्द्र ने उनकी बात मान ली। वे एक विशाल बैल का रूप धारण कर पुरञ्जय के सामने प्रस्तुत हुए। उसकी पीठ पर डील (ककुद) के पास बैठकर पुरञ्जय ने असुरों से युद्ध कर उन्हें परास्त कर दिया। उनका सारा ऐश्वर्य छीनकर इन्द्र को प्रदान कर दिया। इसीलिये उन राजर्षि को, शत्रुओं का पुर जीतने के कारण, 'पुरञ्जय', इन्द्र को वाहन बनाने के कारण 'इन्द्रवाह' और बैल के ककुद पर बैठने के कारण 'ककुत्स्थ' कहा जाता है। पुरञ्जय के पुत्र

१. शशं शशकम् अतीति शशादः। शश = खरगोश का मांस खाने के कारण उन्हें शशाद कहा जाता है।



अनेना हुए। इन्हीं की वंश-परम्परा में राजा युवनाश्व हुए। युवनाश्व की सौ रानियाँ थीं किन्तु किसी से कोई सन्तान न हुई। इससे राजा दुःखित होकर वन में चले गये। ऋषियों ने पुत्र के लिये चिन्तित युवनाश्व से पुत्रेष्टि नामक यज्ञ करवाया। यज्ञ के दिनों में एक दिन युवनाश्व को रात्रि की बेला में जोर की प्यास लगी। पानी खोजते हुए वे यज्ञशाला में गये। वहाँ आचार्यों ने मन्त्र से अभिमन्त्रित जल एक घड़े में रानी को पीने के लिये रक्खा था। दैव का विधान बड़ा विचित्र होता है। राजा ने उसी अभिमन्त्रित जल को पी लिया। प्रातःकाल ऋषियों ने देखा कि कलश में तो जल नहीं है। पूछने पर पता चला कि राजा ने पुत्र उत्पन्न करनेवाले उस जल को पी लिया है। यह जान कर ऋषि-गण आश्चर्यचकित हो दैव को ही नमस्कार किये और कहा—धन्य है भगवदिच्छा ! वस्तुतः भगवान् का ही बल सबसे बड़ा बल है। प्रसव का समय आने पर युवनाश्व की दाहिनी कुक्षि फाड़कर उससे एक चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न हुआ। दूध के लिये उसे रोते देखकर ऋषियों ने कहा—यह किसका दूध पियेगा ? इस पर इन्द्र ने कहा—मेरा पियेगा (मां धाता)। यह कह कर इन्द्र ने अपनी अमृतवर्षिणी तर्जनी अँगुली बालक के मुँह में डाल दी—

कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्यं रोरूयते भृशम् । मां धाता वत्स मा रोदीरितीन्द्रो देशिनीमगात् ॥

९/६/३१

इन्द्र के 'मां धाता' कहने से ही बालक का नाम मान्धाता पड़ा। यह ब्राह्मणों और देवताओं की ही कृपा का फल था कि युवनाश्व सकुशल बच गये, उनकी मृत्यु नहीं हुई फिर वह वहीं तपस्या करके मुक्त हो गये। आगे चलकर युवनाश्व के पुत्र मान्धाता चक्रवर्ती राजा हुए। इन्द्र ने मान्धाता का नाम 'त्रसद्स्यु' रक्खा, क्योंकि रावण आदि दस्यु (लुटेरे) उनसे उद्धिग्न और भयभीत रहते थे। भगवान् के तेज से तेजस्वी होकर वे अकेले ही अखण्ड सप्तद्वीपा वसुमती के एकछत्र राजा थे। जहाँ से सूर्य का उदय होता है और वे जहाँ अस्त होते हैं, वह सारा-का-सारा भूभाग युवनाश्व के पुत्र मान्धाता के ही अधिकार में था—

यावात् सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठति । सर्वं तत् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥९/६/३७

राजा मान्धाता की पत्नी का नाम था—बिन्दुमती। वह शशबिन्दु की बेटा थी। उसके गर्भ से उनके तीन पुत्र हुए—पुरुकुत्स, अम्बरीष (ये दूसरे अम्बरीष हैं) और योगी मुचुकुन्द। मान्धाता की पचास बेटियाँ थीं। उन सब ने अकेले सौभरि ऋषि को पति के रूप में वरण किया था।

राजा के जिज्ञासा करने पर शुकदेव महाराज ने कहा कि—एक बार परम तपस्वी सौभरि मुनि यमुना के जल में खड़े होकर तप कर रहे थे। उसी समय उनकी दृष्टि एक विशाल मत्स्यराज पर पड़ी। मत्स्यराज मछलियों के साथ मैथुनक्रीडा करके आनन्द ले रहा था। यह दृश्य देखते ही सौभरि महाराज का मन विचलित हो उठा। काम-क्रीडा की लालसा उनके मन में भी पैदा हुई अतः जल से निकल कर वे पहुँच गये राजा मान्धाता के पास। सौभरि ने कहा—राजन, आप अपनी एक कन्या का विवाह मेरे साथ कर दीजिये। श्वेतकेश, वलीपलित जर्जर सौभरि के प्रस्ताव पर राजा सन्न रह गये। उन्होंने इस प्रसङ्ग को टालने के लिये कहा—मुनिवर, मेरी पचास कन्याएँ हैं। उनमें जो आपको वरण कर ले उसे आप सानन्द ले जाइये। राजा समझते थे कि इस मरणासन्न व्यक्ति का वरण भला कौन करेगी ? मुनि राजा के अधिप्राय को समझ गये। वे जब अन्तःपुर में प्रवेश कर रहे थे तब अपने योगबल से कामदेव के समान सुन्दर रूप धारण कर लिये। उनकी रूप-सम्पदा को देखते ही राजा की सभी बेटियाँ मुनि पर न्यूँछावर हो गईं। उनमें होड़ लग गई। सभी कह रही थीं कि इनसे मेरा विवाह होगा, इनसे मेरा विवाह होगा। राजा ने अपने कथन के अनुसार सारी बेटियों का विवाह सौभरि से कर दिया। सौभरि सब को अपने आश्रम पर लाये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने तपोबल से प्रत्येक स्त्री के लिये सारी सुख-सुविधाओं से भरकर—एक-एक महल तैयार करके दे दिया। महल क्या थे ? वे साक्षात् इन्द्र-भवन थे, जिनमें मौज-मस्ती की सारी सामग्रियाँ भरी हुई थीं। एक बार राजा मान्धाता अपनी



बेटियों को देखने सौभरि के आश्रम पर पहुँचे। वहाँ वे विशाल भवनों की परम्परा और उनमें भरा अतुल वैभव देखकर अवाक् रह गये। उन्हें मुनि की समृद्धि के सामने अपना सप्तद्वीपा वसुमती का साम्राज्य तुच्छ प्रतीत होने लगा।

इस प्रकार सौभरि जी गृहस्थी के सुख में रम गये। बहुत दिनों तक स्वस्थ रहकर उन्होंने कामोपभोग किया फिर भी उनकी इन्द्रियाँ अतृप्त ही रह गई। क्या कभी भी की आहुतियाँ डालने से अग्नि को तृप्त किया जा सकता है ? नहीं, कभी नहीं।

सौभरि ने अपनी प्रत्येक पत्नी से सौ-सौ पुत्र पैदा किया। एक दिन ऋग्वेदाचार्य सौभरि के मन में अकस्मात् वैराग्य की गंगा पैदा हो गई। वे सोचने लगे कि मत्स्यराज के क्षण भरके सङ्ग से तो मैंने अपने जीवन की गाढ़ी कमाई पूरी तपस्या ही विनष्ट कर डाली। मैंने यह कैसा अनर्थ किया ? मेरा यह अधःपतन तो देखो ! इस प्रकार पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए वे कुछ दिनों तक तो घर में ही रहे फिर विरक्त होकर उन्होंने संन्यास ले लिया और वन में चले गये। अपने पति को ही अपना सर्वस्व मानने वाली सौभरि की पत्नियाँ भी उनके साथ ही वन की यात्रा कीं।

वन में कठोर तपस्या करते हुए सौभरि ने शरीर त्यागकर अपने आपको परमात्मा में विलीन कर दिया। उनकी स्त्रियाँ भी चिता में सती होकर उन्हीं की गति को प्राप्त कीं ॥६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

## सातवाँ अध्याय

( मान्याता के वंशज राजा त्रिशङ्कु और हरिश्चन्द्र की कथा )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, मैं वर्णन कर चुका हूँ कि मान्याता के पुत्रों में सबसे श्रेष्ठ थे अम्बरीष। उनके पितामह युवनाश्व ने उन्हें पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया था। युवनाश्व का पुत्र यौवनाश्व हुआ और यौवनाश्व का हारीत। फिर इसी वंश में आगे पुरुकुत्स का जन्म हुआ। उनका विवाह नागों की बहन नर्मदा से हुआ था। नर्मदा अपने पति पुरुकुत्स को लेकर रसातल चली गई। वहाँ पुरुकुत्स ने वध करने के योग्य गन्धर्वों को मार डाला। इस पर नागराज ने प्रसन्न होकर पुरुकुत्स को वर दिया कि यदि कोई 'पुरुकुत्स-पुरुकुत्स' कहेगा तो उसे नागों से भय नहीं होगा। पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु हुए। उसके पुत्र हुए अनरण्य। अनरण्य के हर्यश्च, उसके अरुण और अरुण के त्रिबन्धन हुए। त्रिबन्धन के पुत्र सत्यव्रत हुए। यही सत्यव्रत त्रिशङ्कु के नाम से विख्यात हुए। त्रिशङ्कु ने ब्राह्मण-कन्या का अपहरण किया था। इस पर उनके पिता ने क्रुद्ध होकर शाप दिया—तुम चाण्डाल हो जाओ। फलतः वे चाण्डाल हो गये थे परन्तु विश्वामित्र के प्रभाव से वे सशरीर स्वर्ग चले गये। देवताओं ने उन्हें वहाँ से ढकेल दिया और वे नीचे की ओर शिर किये हुए गिरने लगे। इस पर विश्वामित्र ने अपने तपोबल से उन्हें आकाश में ही स्थिर कर दिया। वे अब भी आकाश में लटके हुए दीखते हैं—

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः। प्राप्तश्चाण्डालतां शापाद् गुरोः कौशिकतेजसा ॥  
सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते। पतितोऽवाक् शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात् ॥

९/७/५-६

त्रिशङ्कु के पुत्र थे हरिश्चन्द्र। इनका चरित्र सत्यनिष्ठा के लिये जगद्धिदित है। उन्हीं के कारण विश्वामित्र और वसिष्ठ ने भयङ्कर शत्रुता उत्पन्न हो गई। वे बहुत दिनों तक आपस में लड़ते रहे। हरिश्चन्द्र को, उनकी सत्य-निष्ठा

१. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥ भगवद्गीता ॥



के कारण ही सत्यहरिश्चन्द्र कहा जाता है। इनका चरित्र पुराणों में, विशेषरूप से देवीभागवत में, बड़ी विलक्षणता के साथ वर्णित है। श्रीमद्भागवत में वर्णित हरिश्चन्द्र की कथा उन पौराणिक कथाओं से बिल्कुल भिन्न और प्रतिकूल दिखाई पड़ती है। उसके अनुसार कथा इस प्रकार है—

हरिश्चन्द्र को कोई सन्तान न थी। इससे वे बहुत उदास रहा करते थे। नारद के उपदेश से वे वरुण की शरण में गये। उनसे प्रार्थना की कि प्रभो, यदि मुझे पुत्र होगा तो मैं उसी से आप का यजन करूँगा<sup>१</sup>। वरुण ने कहा बहुत अच्छा फिर वरुण की कृपा से हरिश्चन्द्र को रोहित नाम का एक पुत्र हुआ। वरुण ने आकर हरिश्चन्द्र से यजन करने की बात कही। उन्होंने उत्तर दिया—भगवन्, अभी तो यह बालक दस दिन का न होने के कारण अपवित्र है। दस दिन का हो जाने पर ही यज्ञ-योग्य होगा। दस दिनों के बाद जब वरुण वही प्रस्ताव लेकर पुनः आये तो हरिश्चन्द्र ने कहा—जब इसे दाँत निकल आयेगे तब यजन करूँगा। जब दाँत निकलने पर फिर से वरुण आये तो राजा ने कहा—ये दूध के दाँत हैं, इनके गिर जाने पर यजन करूँगा। वरुण लौट गये। फिर उनके आने पर राजा ने कहा—इसके पुनः दाँत निकलने पर यजन करूँगा। जब फिर दाँत निकल आये तब कहा—जब यह संग्राम-योग्य हो जायेगा तब अवश्य यजन करूँगा। इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र पुत्र के स्नेह पाश में आबद्ध होकर वरुण को बराबर टालते ही रहे। वरुण सहनशील देव हैं अतः वे बिना क्रुद्ध हुए उनकी बात स्वीकार करते रहे—

इति पुत्रानुरागेण स्नेहयन्त्रितचेतसा । कालं वञ्चयता तं तमुक्तो देवस्तमैक्षत ॥९७॥१५

रोहित बड़ा हो चुका था। उसे पिता के अभिप्राय का पता चल गया अतः अपना प्राण बचाने के लिये वह एक दिन धनुष-बाण लेकर शिकार के बहाने जङ्गल में भाग गया। कुछ दिनों के बाद रोहित को पता चला कि यजन न करने के कारण वरुण देवता ने पिता जी पर आक्रमण कर दिया है। फलतः वे जलोदर रोग से ग्रस्त हो गये हैं अतः वह अपने नगर की ओर चल पड़ा पिताजी से मिलने के लिये। मार्ग में उसे मिल गये ब्राह्मण-वेशधारी इन्द्र। उन्होंने कहा—बेटा, यज्ञ-पशु बनकर मरने की अपेक्षा तो तीर्थों में भ्रमण करना ही अच्छा है। यह कहकर उन्होंने रोहित को लौटा दिया। इस प्रकार रोहित जब-जब घर जाने का प्रयास करता तब-तब वृद्ध ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र उसे लौटा देते थे। पाँच बार इन्द्र ने उसे लौटाया था। इसका कारण यह था कि वरुण और इन्द्र में बड़ा वैर था। उनके पारस्परिक युद्ध का भी वर्णन मिलता है। सिन्धु नदी के इस पार वरुण की प्रधानता थी। इन्द्र के प्रभाव-क्षेत्र का नाम सारस्वत और वरुण के प्रभाव-क्षेत्र का नाम सिन्धु था। छठी बार जब रोहित गृह की ओर जाने लगा तो उसने अजीर्त के मध्यम पुत्र शुनःशेष को खरीद कर उसे यज्ञ-पशु बनाने के लिये, यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिये, अपने पिता को समर्पित कर उनके चरणों में प्रणाम किया। हरिश्चन्द्र इस उपाय से प्रसन्न हो गये। उन्होंने वरुण देवता के यजन का उपक्रम किया। फलतः वे जलोदर रोग से मुक्त हो गये। बालक शुनःशेष भी विश्वामित्र की कृपा से बलि चढ़ने से बच गया। शुनःशेष का माहात्म्य आगे वर्णित किया जायेगा। एक समय महर्षि विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र की सत्य-निष्ठा की परीक्षा ली जिसमें हरिश्चन्द्र पत्नी और पुत्र के सहित बिक गये किन्तु उन्होंने सत्य को नहीं छोड़ा। यह देखकर विश्वामित्र उन पर प्रसन्न हो गये और आत्मज्ञान का उपदेश दिया जिसके प्रभाव से राजा सपरिवार ब्रह्मलोक को चले गये ॥७॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

१. अर्थात् आपका यज्ञ करूँगा। उसी में पुत्र को मार कर आप के निमित्त हवन कर दूँगा।



## आठवाँ अध्याय

( रोहित की कुल-परम्परा में सगर का जन्म और कपिलदेव के अनादर से उनके पुत्रों का भस्म होना )

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन, रोहित का बेटा हारीत हुआ। हारीत से चम्प हुआ। उसी ने चम्पापुरी नगरी बसाई थी। किसी समय यह नगरी सारी नगरियों में श्रेष्ठ थी—“नगरीषु चम्पा”। इसी वंश में आगे चलकर वृक का बेटा बाहुक हुआ। शत्रुओं ने बाहुक का राज्य छीन लिया था। इस पर बाहुक अपनी रानियों के साथ जङ्गल में चला गया। वृद्ध तो था ही वह, वहीं मर भी गया। जब बाहुक की महारानी उसकी चिता पर सती होने को उद्यत हुई तब और्य महर्षि ने उसे रोक दिया क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि वह गर्भवती है। जब उसकी सौतों को यह बात मालूम हुई, तो उन्होंने उसे भोजन के साथ गर (विष) दे दिया। परन्तु गर्भ पर उस विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, बल्कि उस विष को लिये हुए ही एक बालक का जन्म हुआ। गर के साथ पैदा होने के कारण वह ‘सगर’ कहलाया। सगर बड़े यशस्वी चक्रवर्ती राजा थे। उन्हीं के पुत्रों ने पृथिवी खोदकर समुद्र बना दिया था—

आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह। सह तेनैव सञ्जातः सगराख्यो महायशः॥

सगरश्चक्रवर्त्यासीत् सागरो यत्सुतैः कृतः॥१९/८/४-५

महाराज सगर ने अपने गुरुदेव और्य की आज्ञा मानकर-तालजङ्घ, यवन, शक, हैहय और बर्बर जाति के लोगों का वध नहीं किया, बल्कि उन्हें विरूप बना दिया। उनमें से कुछ के शिर मुड़वा दिये, कुछ के मूँछ-दाढ़ी रखवा दी, कुछ को खुले बालों वाला बना दिया तो कुछ को आधा मुड़वा दिया। और्य ऋषि की आज्ञा से सगर ने सौ अश्वमेध यज्ञों के द्वारा भगवान् की आराधना का सङ्कल्प लिया। उनके निन्यानबे यज्ञ निर्विघ्न पूरे हो गये थे। जब वे सौवाँ अश्वमेध कर रहे थे तो इन्द्र ने उनके अश्वमेधीय अश्व को चुरा लिया और उसे महर्षि कपिल के आश्रम के पास ले जाकर बाँध दिया।

सगर की दो प्रधान पत्नियाँ थीं—सुमति और केशिनी। सुमति के साठ सहस्र पुत्र थे और केशिनी के एक—असमञ्जस। अश्व के चोरी हो जाने पर पिता की आज्ञा से सुमति के साठ हजार पुत्र उसे खोजने निकले। जब अश्व कहीं नहीं मिला तो उन लोगों ने चारों ओर से पृथिवी खोद डाली। खोदते-खोदते वे कपिल महाराज के आश्रम तक जा पहुँचे। यह आश्रम पूर्व और उत्तर के कोने पर था। उन्होंने देखा घोड़ा वहाँ बँधा हुआ है। इस पर उन लोगों ने कहना प्रारम्भ किया—देखो, हमारे घोड़े का चोर यहाँ आँख बन्द किये बैठा है। यह महान् ढोंगी है। इसे मारो, पकड़ो। हल्ला सुन कर कपिल जी ने अपनी आँखें खोली। उनकी नेत्रज्वाला से वे साठों हजार सगर-पुत्र तत्काल जल कर भस्म हो गये। वस्तुतः वे सगर-पुत्र कपिल की क्रोधाग्नि में नहीं जले थे। इन्द्र ने उनकी बुद्धि हर ली थी। इसी से उन्होंने कपिल-जैसे महापुरुष का तिरस्कार किया। इस तिरस्कार के फलस्वरूप उनके शरीर में ही आग जल उठी, जिससे क्षण भर में ही वे सब-के-सब जलकर खाक हो गये—

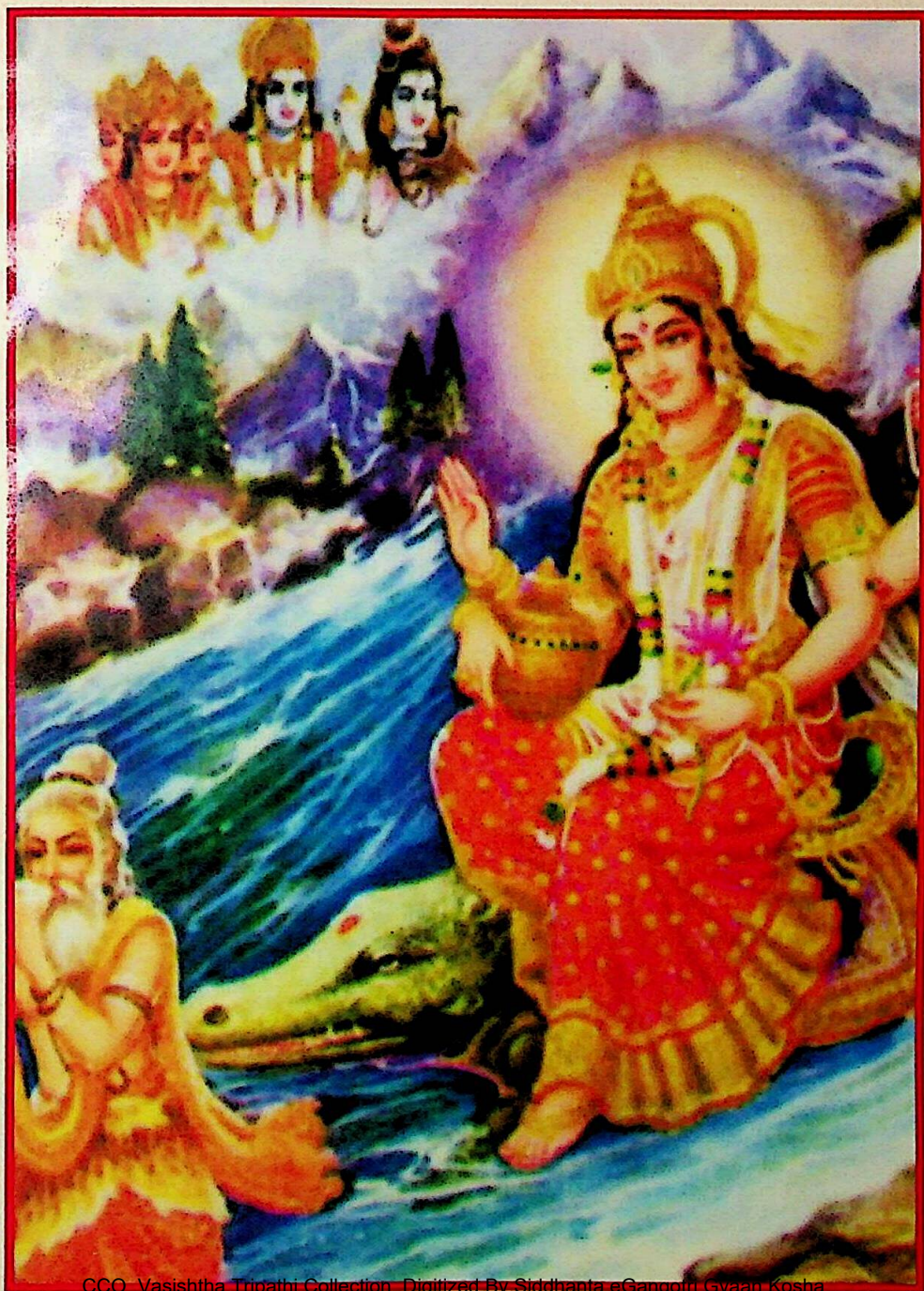
स्वशरीराग्निना तावन्महेन्द्रहतचेतसः। महदव्यतिक्रमहता भस्मसादभवन् क्षणात्॥१९/८/१२

१. समुद्र प्रियव्रत के रथ चलने से बने थे। देखिये—५/१/३१। इस पर विजयध्वज तीर्थ का कथन है कि सात सागर पहले से ही विद्यमान थे। राजा प्रियव्रत ने उन्हें केवल चौड़ा भर कर दिया—

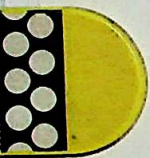
पूर्वसृष्टान् रथावृत्त्या स्थूलांश्चक्रे प्रियवतः। समुद्रांस्तेन तत्कतैत्याहुरेनं प्रियव्रतम्॥

यही बात सगर-पुत्रों के द्वारा सागर के खोदे जाने के बारे में भी समझनी चाहिये।











जैसा पीछे बतलाया जा चुका है सगर की दूसरी महारानी का नाम था—केशिनी । केशिनी को एक ही पुत्र था—असमञ्जस । असमञ्जस के पुत्र का नाम था अंशुमान् । असमञ्जस पूर्वजन्म का योग-भ्रष्ट योगी था<sup>१</sup> । इस जन्म में वह लोगों के संग से डरता था इसीलिये कभी-कभी वह ऐसा करता था जिससे लोग उद्भिन्न होकर उससे दूर ही रहें । वह लोगों के क्रीडासक्त बालकों को ले जाकर सरयू के जल में डुबो देता था । पिता सगर को जब इसका पता लगा तो उन्होंने उसे अपने राज्य से निकाल दिया । किन्तु असमञ्जस ने अपने योगबल से उन्हें सरयू से लाकर अपने पिता जी के सामने खड़ा कर दिया और स्वयं उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर राज्य से निकल कर अज्ञातवास पर चला गया । उसके चले जाने पर महाराज सगर को महान् पश्चात्ताप हुआ । बालकों को वापस आया देखकर सारे अयोध्यावासी भी आश्चर्य से चकित हो उठे ।

इसके बाद राजा सगर की आज्ञा से अंशुमान् घोड़े को बँडने के लिये निकले । चाचाओं के निर्मित मार्ग से चलकर अंशुमान् कपिल के आश्रम के पास पहुँचे । वहाँ उन्होंने देखा कि घोड़ा बँधा हुआ खड़ा है और पास में ही उनके चाचा लोगों की राख की ढेर पड़ी हुई है । अंशुमान् को सारी परिस्थिति समझते देर न लगी । मुनि कपिल को ध्यान में निरत देखकर अंशुमान् ने उनकी प्रशंसा से भरी हुई दिव्य स्तुति की । उन्होंने कहा—आप माया के गुणों एवं उनके कार्यों से परे हैं, ऊपर हैं । आप में नाम और रूप की कल्पना मिथ्या है । आप में कार्य-कारण भी नहीं है । आप सनातन आत्मा हैं । ज्ञान का उपदेश देने के लिये ही आपने यह शरीर धारण कर रखा है । हम आप को प्रणाम करते हैं—

प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्गमनामरूपं      सदसद्विमुक्तम् ।

ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम् ॥९८/२५

शुकदेव जी ने कहा राजन्, अंशुमान् की भावभरी स्तुति सुनकर कपिल भगवान् ने प्रसन्न होकर कहा—बेटा, यह घोड़ा तुम्हारे पितामह का यज्ञपशु है । उनके अश्वमेध का अश्व है । इसे तुम ले जाओ । तुम्हारे जले हुए चाचाओं का उद्धार एकमात्र गंगाजल से ही होगा । इसके अतिरिक्त उनके उद्धार का कोई दूसरा उपाय नहीं है । मुनि की बात सुनकर अंशुमान् की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । उन्होंने कपिल महाराज की परीक्रमा की, प्रणाम किया और घोड़े को लेकर लौट आये अपने पितामह सगर के अश्वमेध-स्थल पर । सगर ने यज्ञीय पशु अश्व के आ जाने पर यज्ञ की शेष क्रियाओं को सम्पन्न किया ।

यज्ञ समाप्त कर महाराज सगर ने राज्य का भार अंशुमान् को सौंप कर जङ्गल की राह ली । वहाँ उन्होंने और्य ऋषि के बतलाये हुए मार्ग से परमपद की प्राप्ति की ॥८॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

## नवाँ अध्याय

( भगीरथ-चरित्र और गङ्गावतरण )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, अंशुमान् ने गङ्गा जी को लाने की कामना से बहुत वर्षों तक घोर तप किया

१. योगभ्रष्ट योगी पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म लेता है—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥भगवद्गीता, ६/४१॥



किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। आयु समाप्त हो जाने पर वे परलोक चले गये। अंशुमान् के पुत्र थे दिलीप। पिता की ही तरह उन्हें भी गङ्गा को भूतल पर लाने में सफलता नहीं मिली और वे भी परलोकवासी हो गये। दिलीप के पुत्र थे—भगीरथ। उन्होंने बहुत बड़ी तपस्या की। उनकी तपस्या से गङ्गा जी प्रसन्न हो गई और कहा—बेटा, वर मांगो। मैं तुम्हें वर देने के लिये आई हूँ। भगीरथ ने हाथ जोड़कर अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए कहा—मातः, आप मर्त्यलोक में चलें। वहाँ ब्रह्मतेज से दग्ध मेरे पितरों का उद्धार करना है—

अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया । कालं महान्तं नाशक्रीत् ततः कालेन संस्थितः ॥

दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेधिवान् । भगीरथस्तस्य पुत्रस्तेपे स सुमहत् तपः ॥

दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदास्मि ते । इत्युक्तः स्वमभिप्रायं शशंसावनतो नृपः ॥९/९/१-३

भगीरथ की प्रार्थना सुनकर गङ्गा जी ने कहा—राजन, ठीक है। मैं भूतल पर चली तो चलूँगी किन्तु वहाँ मेरा वेग धारण कौन करेगा? भगीरथ, ऐसा न होने पर मैं पृथिवी को फोड़कर रसातल में चली जाऊँगी। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि वहाँ पापी लोग अपना पाप मेरे जल में धोयेंगे फिर मैं उस पाप को कहाँ धोऊँगी? अतः मैं भूतल पर नहीं जाना चाहती अब तुम्हीं इस विषय में सोच लो।

गङ्गा जी की बात सुनकर भगीरथ ने कहा—माता जी, आप इन बातों की चिन्ता न करें। जहाँ तक आप के जल में पापियों के पाप-प्रक्षालन की बात है, वह तो कोई समस्या नहीं है। जब भगवान् के भक्त महात्मा लोग आपके जल में स्नान करेंगे तो उनके अङ्ग के संसर्ग से तुम्हारे भीतर सञ्चित सारे पाप-ताप धुल जायेंगे क्योंकि उनके हृदय में पाप-विनाशक भगवान् सर्वदा विराजमान रहते हैं। रही आप के वेग को धारण करने की बात तो उसकी भी चिन्ता नहीं है। समस्त विश्व में व्याप्त भगवान् रूद्र आप के वेग को धारण कर लेंगे अतः आप भूतल पर चलकर मेरी अभिलाषा पूरी करने की कृपा करें। यही मेरा वर है, आप से प्रार्थना है। गङ्गा जी ने राजा भगीरथ की प्रार्थना स्वीकार कर भूतल पर अवतरण की बात स्वीकार कर ली।

शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, गङ्गा जी से इस प्रकार कह कर राजा भगीरथ ने तपस्या करके भगवान् शङ्कर को प्रसन्न कर लिया। भगवान् शङ्कर अतिशीघ्र प्रसन्न होनेवाले देवता हैं। उनका नाम ही है—आशुतोष। भगवान् शङ्कर ने कहा—बोलो भगीरथ क्या चाहते हो। तुम्हारी अभिलाषा पूरी करने के लिये मैं पूर्णतः तैयार हूँ। भगीरथ ने कहा—महादेव, गङ्गा जी साभिमान स्वर्ग से आ रही हैं। उनका कहना है कि यदि किसी ने मेरा वेग रोका नहीं, तो मैं भूतल को फोड़कर रसातल को चली जाऊँगी। प्रभो, आप उनके वेग को धारण कर लें, रोक लें। शिवजी ने कहा—भगीरथ, तुम निश्चिन्त रहो। आने दो गङ्गा जी को। इसके बाद गङ्गा जी बड़े वेग से नीचे उतरें। किन्तु हिमालय के उत्तुङ्ग शृङ्ग पर वीरभाव से खड़े शङ्कर ने उन्हें अपनी जटाओं में धारण कर इस प्रकार उलझा दिया कि उन्हें वहाँ से निकलने का मार्ग ही न मिलता था। स्वर्ग से गिरा तो खजूर पर अँटका। गङ्गा जी किसी प्रकार स्वर्ग से आई तो शङ्कर जी के जटामण्डल में ही अटक गई। फिर भगीरथ ने स्तुति से शङ्कर को प्रसन्न कर उनसे गङ्गा-जल की याचना की। शङ्कर ने प्रसन्न होकर अपनी जटा को पकड़कर निचोड़ दिया। हर-हर झर-झर करती हुई गङ्गा की विशाल धारा बह चली। आगे-आगे भगीरथ का रथ मार्ग बनाता चल रहा था और पीछे-पीछे गङ्गा की जलधारा बह रही थी। गङ्गा जी की वह पावन धारा मार्ग के भू-भागों को पवित्र करती हुई महर्षि कपिल के आश्रम पर पहुँची। वहाँ गङ्गा-जल का स्पर्श पाते ही राख की ढेर में परिणत सगर के साठ हजार पुत्र दिव्य विमानों में बैठकर स्वर्ग सिंधार गये। जब गङ्गाजल से शरीर की राख का स्पर्श हो जाने से सगर के पुत्रों को स्वर्ग की प्राप्ति हो गई, तब जो श्रद्धापूर्वक नित्य गङ्गा का स्नान करते हैं तो उनके विषय में कहना ही क्या है?—



तज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि । सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहमस्मभिः ॥  
भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्गताः सगरात्मजाः । किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः ॥

९/९/१२-१३

राजन, इस भूतल पर गङ्गा से बढ़ कर कोई दूसरा तीर्थ नहीं है । जो प्राणी श्रद्धा-भक्ति से गङ्गा का सेवन करते हैं, उनकी पुण्य-राशि का वर्णन मैं नहीं कर सकता ।

भगीरथ के पुत्र थे श्रुत । श्रुत से नाभ, नाभ से सिन्धुद्वीप, सिन्धुद्वीप से अयुतायु, अयुतायु से ऋतुपर्ण हुए । ऋतुपर्ण ने ही राजा नल को द्यूत-विद्या सिखलाई थी और उसके बदले उसने अश्वविद्या सीखी थी । फिर ऋतुपर्ण से सर्वकाम हुए और सर्वकाम से सुदास हुए । सुदास से मदयन्ती के पति सौदास का जन्म हुआ । सौदास के ही दूसरे नाम मित्रसह और कल्मषाङ्घ्रि थे । वे गुरु वसिष्ठ के शाप से राक्षस और निःसन्तान हो गये थे । यहाँ उनका वंश ही बदल गया ।

यहाँ जब परीक्षित ने वसिष्ठ के शाप का कारण पूछा तब श्री शुकदेव महाराज ने बतलाया कि—एक बार राजा सौदास शिकार खेलने जङ्गल में गये । वहाँ दो राक्षस रहते थे । दोनों सगे भाई थे । राजा ने उनमें से एक को मार डाला और दूसरे को छोड़ दिया । बचे हुए राक्षस ने अपने मरे हुए भाई का बदला लेने का निश्चय किया । उसने वेश बदल कर रसोइयों का रूप धारण किया । राजा के भोजनालय में उसकी नियुक्ति हो गई । एक दिन उसने वसिष्ठ जी की थाली में अन्य व्यञ्जनों के साथ ही मनुष्य का मांस पका कर परोस दिया । जब वसिष्ठ जी ने देखा की थाली में अभक्ष्य भोजन परोसा गया है तो वे क्रुद्ध होकर राजा को शाप देते हुए बोले कि—‘जा, इस काम से तू राक्षस हो जा ।’ जब उन्हें यह बात मालूम हो गई कि यह काम तो राक्षस का है । राजा का इसमें कोई दोष नहीं है । तब उन्होंने उस शाप को केवल बारह वर्ष के लिये कर दिया । राजा सौदास ने देखा कि मेरा कोई अपराध नहीं है । व्यर्थ मैं ही गुरु जी मुझे शाप दे रहे हैं, तो उन्हें भी क्रोध आ गया, वे भी हाथ में जल लेकर वसिष्ठ को शाप देने के लिये उद्यत हो गये । किन्तु उनकी बुद्धिमती पत्नी मदयन्ती ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया । सौदास पत्नी की बात मान कर रुक गये । गुरु को शाप नहीं दिया । शाप देने के लिये हाथ में लिये जल को उन्होंने अपने पैर पर डाल दिया । इससे उनके पैर झुलस गये । तभी से उनका नाम ‘कल्मषपाद’ पड़ गया ।

राक्षसं भावमापन्नः पादे कल्मषपातां गतः ॥९/९/२५

गुरु के शाप से सौदास राक्षस बन गये । एक दिन वे जङ्गल में भ्रमण कर रहे थे । उसी समय उन्होंने देखा कि—ब्राह्मण पति-पत्नी रमण कर रहे हैं । उन्होंने ब्राह्मण को खा जाने के लिये पकड़ लिया । ब्राह्मणी गिड़गिड़ाई, रोई और कहा कि अभी रमण से हमारी इच्छा पूर्ण नहीं हुई है । आप हमारे पति को छोड़ दें । आप राक्षस नहीं, राजा सौदास हैं । गुरु के शाप के कारण आप की यह दशा हुई है । किन्तु कल्मषपाद माने नहीं । उन्होंने ब्राह्मण को खा लिया । इस पर ब्राह्मणी ने शाप दिया—अरे दुष्ट, मैं अभी काम से पीड़ित हो रही थी । ऐसी स्थिति में तने मेरे पति को खा लिया । इसलिए तुम जब स्त्री से सहवास करना चाहोगे, तभी तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी । इसके बाद ब्राह्मणी ने पति की हड्डियों को एकत्रित किया और उनके साथ चिन्ता में सती हो गई । जब सौदास बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर गुरु के शाप से मुक्त हुए तब वे अपनी राजधानी लौट आये । वे अपनी पत्नी से सहवास करना चाहे तो पत्नी ने ब्राह्मणी के शाप से भयभीत होकर पति को रोक दिया । तभी से राजा स्त्री-सुख से वंचित हो गये ।

सौदास निःसन्तान थे । उन्होंने सन्तान के लिये गुरु वसिष्ठ से प्रार्थना की । तब वसिष्ठ जी ने उनके कहने से मदयन्ती को गर्भाधान कराया । किन्तु सात वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी बालक पैदा नहीं हुआ । इस पर गुरुदेव ने



पत्थर के एक लोढ़े से मदयन्ती का पेट ठोंका जिससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक अश्म=पत्थर से ठोकने पर पैदा हुआ था अतः उसका नाम 'अश्मक' रखा गया। अश्मक से मूलक का जन्म हुआ। जब परशुराम जी भू-मण्डल को क्षत्रियों से विहीन कर रहे थे, तब स्त्रियों ने उसे छिपाकर रख दिया था। इसी से उसका एक नाम 'नारी-कवच' भी पड़ा। आगे चल कर इसी वंश में महाप्रतापी राजा खट्वाङ्ग पैदा हुए। इन्होंने दैत्यों को युद्ध में पराजित कर देवताओं की सहायता की थी। प्रसन्न हुए देवताओं ने राजा खट्वाङ्ग से वर माँगने के लिये कहा। इस पर खट्वाङ्ग ने पूछा—पहले आप लोग यह बतलायें कि मेरी आयु कितनी अवशिष्ट है? देवताओं ने कहा—राजन्, अब आपकी आयु केवल दो घड़ी बाकी है। देवताओं की बात सुनकर खट्वाङ्ग अपनी राजधानी में लौट आये। वहाँ पहुँचकर वे संसार और संसार के विषयों को अपने मन से पूर्णतः निकालकर उसे भगवान् में लीन कर दिया और परमपद के अधिकारी बने ॥९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

## दसवाँ अध्याय

( खट्वाङ्ग की वंश-परम्परा में भगवान् श्रीराम का अवतार और उनकी लीलाओं का वर्णन )

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—परीक्षित, खट्वाङ्ग के पुत्र हुए दीर्घबाहु और दीर्घबाहु के पुत्र हुए रघु। रघु से अज और अज से दशरथ हुए—

खट्वाङ्गाद् दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात् पृथुश्रवाः । अजस्ततो महाराजस्तस्माद् दशरथोऽभवत् ॥

९/१०/१

कहीं-कहीं खट्वाङ्ग के स्थान पर दिलीप नाम मिलता है अतः लोगों का कहना है कि एक ही व्यक्ति खट्वाङ्ग और दिलीप इन दो नामों से वर्णित है। कालिदास ने अपने रघुवंश में जो वंश-परम्परा दी है उसके अनुसार दिलीप के ही पुत्र रघु, रघु के अज और अज के दशरथ थे।

देवताओं की प्रार्थना पर महाराज दशरथ के यहाँ साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीहरि ही अपने अशांश से चार रूप धारण करके राजा दशरथ के पुत्र हुए। उनके नाम थे—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। परीक्षित, सीतापति भगवान् श्रीराम का चरित्र तो तत्त्वदर्शी ऋषियों ने बहुत कुछ वर्णन किया है और आपने उसे अनेक बार सुना भी होगा अतः दिङ्मात्र यहाँ प्रदर्शित कर रहा हूँ—

श्रुतं हि वर्णितं भूरि त्वया सीतापतेर्मुहुः ॥९/१०/३

भगवान् श्रीराम ने पिता की आज्ञा से राज्य का परित्याग कर दिया। इनके जिन चरणों को अतिसुकुमारी राजदुलारी जानकी जी स्पर्श करने में सङ्कोच करती थीं कि कहीं ये मेरे स्पर्श से छिल न जाँय, वे ही चरण-कमल जब वन में विचरण करते-करते थक जाते थे तब हनुमान् जी और लक्ष्मण जी सहलाते थे, दबाते थे। उन्होंने शूर्पणखा को विरूप कर दिया और उसके कारण उनको अपनी प्रियतमा सीता का वियोग सहना पड़ा। उससे क्रोध के कारण उनकी भौंहें तन गईं, जिन्हें देखकर सागर में भयवश खलबली मच गई, इसके बाद उन्होंने सागर पर पुल बाँधा और लङ्का में पहुँच कर दुष्ट राक्षसों के जङ्गल को दवागिनि के समान दग्ध कर दिया। वे कोशलाधिपति हमारी रक्षा करें—



गुर्वर्थे व्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपदभ्यां प्रियायाः, पाणिस्पर्शक्षिमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम् ।  
वैरूपाक्षचूर्णगन्ध्याः प्रियविरहरूपाऽऽरोपितभ्रूविजृम्भस्त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः कोसलेन्द्रोऽवतान्नः ।।

९/१०/४

भगवान् राम ने विश्वामित्र के यज्ञ की लक्ष्मण के साथ रक्षा करते हुए मारीच आदि राक्षसों को मार डाला । जनकपुरी में सीता जी का स्वयंवर चल रहा था । उसमें रक्खे हुए शिव के धनुष को उन्होंने बीच से वैसे ही तोड़ दिया जैसे हाथी का बच्चा ईख को तोड़ डालता है । उसके बाद उनका विवाह श्रीसीताजी से हो गया । नारायण की प्रिया श्रीलक्ष्मी जी ही जानकी के रूप में अवतीर्ण हुई थीं । जनकपुरी से अयोध्या लौटने के समय मार्ग में ही उनकी भेंट परशुराम जी से हो गई । ये वही परशुराम थे जिन्होंने इक्कीस बार भूमण्डल को क्षत्रियों से विहीन कर डाला था । भगवान् राम ने उनके बड़े हुए गर्व को विनष्ट कर दिया फिर जब राज्याभिषेक की बेला आई तब उन्होंने कैकेयी को दिये गये अपने पिता के वचन की रक्षा के लिये पत्नी के साथ वन-गमन किया । वहाँ दण्डकारण्य में शूर्पणखा के उकसाने से लड़ने के लिये आये हुए खर, दूषण और त्रिशिरा आदि चौदह सहस्र राक्षसों का उन्होंने वध किया । रावण ने सीता के सौन्दर्य की बात सुनी । वह कामातुर हो उठा । उसने मारीच को माया से सोने का मृग बनाकर राम की कुटिया के पास भेजा । वह धीरे-धीरे भगवान् को वहाँ से दूर ले गया । काफी दूर जाने पर श्रीराम ने मायावी मारीच को अपने अमोघ बाण का निशाना बनाया । लक्ष्मण जी भी राम के पीछे चले गये थे । कुटिया में सीता को अकेली पाकर रावण ने सीता का हरण कर लिया । तदनन्तर सीता के वियोग में राम विलाप करते हुए वन-वन में घूमने लगे । लक्ष्मण उन्हें ढाढस बँधा रहे थे । इस प्रकार राम ने संसार को यह शिक्षा दी कि—जो स्त्रियों में आसक्त रहते हैं, उनकी यही गति होती है—“स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार” । ११॥ आगे मार्ग में घायल गीधराज जटायु राम को मिला । भगवान् ने उसका दाह-संस्कार किया, जैसे कोई अपने बच्चे की अन्त्येष्टि क्रिया करता है फिर राम ने कबन्ध नामक राक्षस का वध करके सुग्रीव आदि वानरों से मित्रता की और बालि का वध किया । वानरों ने माता सीता का पता लगाया फिर मानव की सी लीला करते हुए सर्वसमर्थ भगवान् श्रीराम सागर के तट पर गये और उससे मार्ग की याचना की । सागर पर राम की याचना का कोई प्रभाव न पड़ा । तब भगवान् राम क्रुद्ध हो उठे । उनके क्रोध से सागर में खलबली मच गई । सागर ने मानवरूप धारण कर श्रीराम की स्तुति करके कहा—प्रभो, हम जडमति हैं । आप के महान् प्रभाव को हम नहीं समझ सकते । आप अपनी इच्छामात्र से सागर को पारकर, रावण का संहार कर प्राणप्रिया पत्नी सीता को प्राप्त कर सकते हैं किन्तु आप से मेरी एक प्रार्थना है । आप यहाँ मेरे ऊपर एक सेतु का निर्माण कर लङ्का में प्रवेश करें । इस से आप का यश बहुत विस्तृत होगा ।

सागर की बात स्वीकार कर राम ने उस पर पुल बनवाया फिर सुग्रीव और नल-नील आदि के साथ, विभीषण के द्वारा दिखाई हुई लङ्का में प्रवेश किया । लङ्का विचलित हो उठी । रावण बड़े-बड़े वीरों को साथ लेकर युद्ध करने आया । भगवान् श्रीराम ने द्रव्य युद्ध में मेघनाद एवं कुम्भकर्ण आदि के साथ बहुत से राक्षस-वीरों का विनाश कर डाला । तदनन्तर इन्द्र की प्रेरणा से उनका सारथि मातलि अति दिव्य रथ लेकर आया । श्रीराम उस पर आरूढ़ होकर रावण को ललकारते हुए बोले—अरे ओ राक्षसाधम ! तुम कुत्ते की तरह हमारी अनुपस्थिति में हमारी प्राणप्रिया पत्नी को हर लाये, तुमने दुष्टता की हद कर दी, तुम्हारे जैसा निर्लज्ज तथा निन्दनीय दूसरा और कौन होगा ? जैसे काल को कोई टाल नहीं सकता, वैसे ही आज मैं तुम्हें तुम्हारी करनी का फल चखाता हूँ—

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः, कान्तासमक्षमसतापहता श्रवत् ते ।

त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः ।। ९/१०/२२



इसके बाद भगवान् ने रावण के ऊपर ऐसे-ऐसे भीषण बाणों की वर्षा की कि उसने हाय-हाय करते हुये भूतल पर लोट-लोट कर प्राणों का परित्याग कर दिया। रावण के मरने के बाद उसकी पत्नी मन्दोदरी विलाप करती हुई रो-रोकर कहने लगी—हाय हाय ! स्वामी ! आज हम सब बेमौत मारी गईं। एक दिन वह था जब आप के भय से त्रिलोकी थरती थी और आज वह बेला भी आ गई है जब हमारे शत्रु लङ्का की दुर्दशा कर रहे हैं। अब यह लङ्का तुम्हारे न रहने पर किस की शरण में जायेगी ?—

हा हताः स्म वयं नाथ लोकरावण रावण । कं यायाच्छरणं लङ्का त्वद्विहीना परार्दिता ॥

१/१०/२६

मेरे प्राणनाथ, आप सब प्रकार से सम्पन्न थे। आप के पास किसी वस्तु की कमी न थी। परन्तु काम आप के शिर पर सवार था। आप ने पतिव्रता तपस्विनी सीता की महिमा न समझी। आप की यही भूल आप की दुर्दशा का कारण बन गई। आप के अभाव में हम लोगों के साथ ही यह लङ्का अनाथ हो गई, विधवा बन गई—“कृतैषा विधवा लङ्का वयं च कुलनन्दन” ॥२८॥

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, भगवान् श्रीराम की आज्ञा से विभीषण ने अपने स्वजन-सम्बन्धियों का शास्त्र के विधान से अन्येष्टिकर्म किया। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार विभीषण ने रामद्रोही रावण की अन्येष्टि करने की अनिच्छा व्यक्त की। इस पर राम ने उन्हें समझाते हुए कहा—विभीषण, मृत्यु के साथ ही वैर की भावना समाप्त हो जाती है। हमारा प्रयोजन पूरा हो गया अतः जैसे यह तुम्हारा भाई है, वैसे ही मेरा भी बन्धु है इसलिये अब तुम इसका क्रिया-कर्म करो—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम् । क्रियतामस्य संस्कारो ममैष यथा तव ॥

वाल्मीकि०, युद्ध०, १०/९-२५

श्रीराम का यह स्वभाव है कि वे अपने शत्रु का भी अनभल नहीं करते—‘अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा’ ।<sup>१</sup> अतः उनका कथन है कि रावण का भी परलोक बने, उसकी भी सद्गति हो। इसलिये यह आवश्यक है कि उसके लिये समस्त धार्मिक कृत्य सम्पन्न किये जाँय।

रावण के मारे जाने के बाद राम ने अशोक वाटिका में शिंशपा वृक्ष के नीचे बैठी हुई विरह-व्याकुला, दीना, हीना और क्षीणा पत्नी सीता को देखा। उन्हें देखकर श्रीराम का हृदय प्रेम और कृपा से भर आया। इधर भगवान् का दर्शन पाकर सीता जी का हृदय प्रेम और आनन्द से परिपूर्ण हो गया। उनका मुख-कमल खिल उठा। भगवान् ने विभीषण को राक्षसों का स्वामित्व, लङ्कापुरी का राज्य और एक कल्प की आयु प्रदान की। इसके बाद राम ने पत्नी सीता, बन्धु लक्ष्मण, सखा सुग्रीव एवं सेवक हनुमान् जी के साथ पुष्पक विमान पर सवार हो अयोध्या के लिये प्रस्थान किया। इस प्रकार चौदह वर्ष का व्रत पूरा हो जाने पर उन्होंने अपने नगर की यात्रा की। उस समय देव-मण्डली उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा कर रही थी।

श्रीराम के वन चले जाने पर चित्रकूट से लौट कर भरत जी नन्दिग्राम में निवास करते थे। वे गोमूत्र में पकाया हुआ यव खाते थे, भूमि पर शयन करते थे। उनकी जटाएँ बढ़ी हुई थीं। वे वल्कलवसन पहनते थे। उनकी यह दशा देखकर करुणा के सागर भगवान् श्रीराम का हृदय भर आया, सन्तप्त हो उठा। उधर भरत ने जब यह सुना कि मेरे बड़े भाई श्रीराम जी आ रहे हैं तब वे पुरवासी, मन्त्री और पुरोहितों को साथ लेकर एवं भगवान् की चरण-पादुका शिर पर रखकर, गाजे-बाजे के साथ नन्दिग्राम से उनकी अगवानी के लिये बढ़े—

१. रामचरितमानस।



गोमुत्रयावकं श्रुत्वा भ्रातरं वत्कलाम्बरम् ॥ महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिलेशयम् ।  
भरतः प्राप्तमाकर्ण्य पौरामात्यपुरोहितैः ॥ पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम् ।  
नन्दिग्रामात् स्वशिविराद् गीतवादिन्ननिःस्वनैः ॥ ९/१०/३४-३६

आगे-आगे वेद-पाठ करते हुए ब्राह्मण चल रहे थे । अयोध्या की सारी चतुरङ्गिणी सेना भी भगवान् श्रीराम की अगवानी के लिये आई । भरत ने भगवान् की पादुकाएँ शिर से उतार कर उनके सामने रख दी और दीन-हीन की भाँति हाथ जोड़कर खड़े हो गये । भगवान् ने भरत की दशा देखी । करुणा का सागर उनके हृदय में उमड़ पड़ा । उन्होंने भरत को खींच कर अपनी छाती से चिपका लिया । उस समय राम इतने करुणार्द्र हो उठे कि उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली ।

इसके बाद श्रीराम ने सीता और लक्ष्मण के साथ ब्राह्मणों और पूज्यजनों को प्रणाम किया । प्रजा ने शिर झुकाकर बहुत दिनों के बाद आये अपने स्वामी का वन्दन किया । समस्त कौशलवासी आज अपने को धन्य-धन्य समझ रहे थे । सब लोग यथायोग्य भगवान् की सेवा में लिपट गये । भरत जी ने उनकी खड़ाऊँ ले ली । विभीषण ने चामर, सुग्रीव ने व्यजन, हनुमान् जी ने श्वेत छत्र, शत्रुघ्न जी ने धनुष-तूणीर, सीता ने तीर्थ-कमण्डलु, अङ्गद ने खड्ग और जाम्बवान् ने कवच ले लिया । भगवान् श्रीराम उन सबके साथ पुष्पक विमान् पर बैठकर अयोध्यापुरी पहुँचे । विमान से उतर कर राम, लक्ष्मण और सीता राज-भवन में पधारे । वहाँ उन लोगों ने माताओं, गुरुजनों और गुरुपत्नियों को श्रद्धा के साथ प्रणाम किया । सम और लघु लोगों के साथ यथायोग्य व्यवहार किया । सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द दिखलाई पड़ता था ।

इसके बाद गुरु वसिष्ठ जी ने भरत जी के आग्रह करने पर, भगवान् श्रीराम को राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया । सभी प्रजा अपने-अपने धर्म में निरत थी । श्रीराम पिता की भाँति प्रजा का पालन करते थे । प्रजा भी उन्हें पिता की दृष्टि से देखती थी । परीक्षित, जब समस्त प्राणियों को सुख देनेवाले परम धर्मज्ञ भगवान् श्रीराम राजा हुए तब था तो त्रेता युग, परन्तु ज्ञात होता था मानो सत्ययुग ही चल रहा है—

जुगोप पितृवत् रामो मेनिरे पितरं च तम् ॥

त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत् । रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे ॥

९/१०/५१-५२

जब भगवान् श्रीराम भू-मण्डल पर शासन कर रहे थे, उस समय किसी को मानसिक चिन्ता या शारीरिक रोग नहीं होते थे । बुढ़ापा, दुर्बलता, दुःख, शोक, भय और श्रान्ति नाम मात्र के लिये भी नहीं थे । यहाँ तक कि बिना चाहे लोगों की मृत्यु भी नहीं होती थी—

नाधि-व्याधि-जरा-ग्लानि-दुःख-शोक-भय-क्लमाः ।

मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे ॥ ९/१०/५४

भगवान् श्रीराम ने एकपत्नी का व्रत धारण कर रक्खा था । उनके चरित्र अतिपावन और राजर्वियों के से थे । वे गृहस्थोचित स्वधर्म की शिक्षा देने के लिये स्वयं उस धर्म का आचरण करते थे । सती-शिरोमणि सीता जी अपने पति के हृदय का भाव जान कर उनकी सेवा में निरत रहती थीं । वे प्रेम से, सेवा से, शील से, अत्यन्त विनय से तथा अपनी बुद्धि और लज्जा आदि गुणों से अपने पति भगवान् श्रीराम जी का चित्त चुरा लेती थीं—

धिया हिया च भावज्ञा भर्तुः सीताहरन्मनः ॥ ९/१०/५६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥



## ग्यारहवाँ अध्याय

( भगवान् श्रीराम के द्वारा सीता का निर्वासन और चारों भाइयों के वंश का वर्णन )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, भगवान् श्रीराम ने अपने गुरु वसिष्ठ जी को आचार्य बना कर बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान किया। यज्ञ में उन्होंने होता, ब्रह्मा, अध्वर्यु और आचार्य को अपना सब कुछ दान कर दिया। इस प्रकार सारे भू-मण्डल का दान करके उन्होंने अपने शरीर पर धारण किये गये वस्त्र और आभूषण ही अपने पास रक्खा। इसी प्रकार महारानी सीता जी के पास भी केवल माङ्गलिक वस्त्र तथा आभूषण मात्र बचे रहे—

इत्ययं तदलङ्कारवासोभ्यामवशेषितः । तथा रात्र्यपि वैदही सौमङ्गल्यावशेषिता ॥९/११/४

भगवान् राम की इस अनुपम उदारता को देखकर ब्राह्मणों का हृदय गद्गद हो उठा। वे प्रेम से पिघल गये। उन लोगों ने भगवान् श्रीराम को सारा भू-मण्डल वापस करते हुए कहा—प्रभो, हम इस पृथिवी को अपना प्रसाद बनाकर आप को प्रदान कर रहे हैं। हमारा धन तो तप है। ऐसी स्थिति में हम पृथिवी का पालन कैसे कर सकते हैं ? आपने हमें क्या नहीं दिया है ? हमारे हृदय में प्रवेश करके आपने अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर दिया है, यही क्या कम है ?—

अग्रतं नस्त्वया किं नु भगवन् भुवनेश्वर । यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्वं तमो हंसि स्वरोचिषा ॥९/११/६

हम आप को प्रणाम कर रहे हैं। प्रभो, आपने ब्राह्मणों को अपना आराध्यदेव मान रक्खा है। आप की मेधा अकुण्ठित है। संसार को निर्भय रखनेवाले लोगों के हृदय में आप ने अपना चरण-कमल स्थापित कर रक्खा है—“न्यस्तदण्डा-र्पिताङ्ग्रे” ॥७॥ अतः पृथिवी का पालन आप ही करें। यह कहकर ब्राह्मण-लोग भगवान् को आशीर्ष प्रदान कर अपने-अपने स्थानों को चले गये।

एक बार लोक-वृत्तान्त ज्ञात करने की इच्छा से राम रात्रि में गुप्तरूप से भ्रमण कर रहे थे। उन्होंने एक स्थान पर सुना कोई अपनी पत्नी से कह रहा था—तुम असती हो, कुलटा हो और दूसरे के घर में जाकर निवास करनेवाली हो अतः तुम्हारी जैसी दुष्टा को मैं अपने घर में नहीं रख सकता। स्त्री-लोभी राम, पर-गृह में निवास करनेवाली सीता को भले ही रख लें किन्तु मैं तो तुम्हें कथमपि फिर से नहीं रख सकता। इसे सुनकर लोकापवाद से भयभीत राम ने जङ्गल में वाल्मीकि मुनि के आश्रम के पास ले जाकर सीता को छोड़ दिया। उस समय सीता गर्भवती थीं। समय आने पर उन्होंने दो बेटों को जन्म दिया। उनमें बड़े का नाम था कुश और छोटे का नाम था—लव। मुनि वाल्मीकि ने दोनों बालकों के जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न किये। सीता राम के परित्याग से दुःखी थीं अतः उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को वाल्मीकि को समर्पित कर दिया फिर वे राम के चरणों का ध्यान करती हुई, भू-तल के विवर में प्रवेश कर गईं। इस घटना को सुनकर राम के शोक का पारावार न रहा। सीता के एक-एक गुणों का स्मरण कर वे भावविह्वल हो उठते थे।

इस स्थल पर पहुँचकर शुकदेव महाराज लोक को शिक्षा देने के लिये एक टिप्पणी जड़ते हुए कहते हैं कि—स्त्री-पुरुषों की आसक्ति सर्वत्र इसी प्रकार कष्टदायक है। इस प्रकार का कष्ट बड़े-बड़े समर्थ लोगों के विषय में भी देखा जाता है, तो फिर सामान्य विषयी गृहासक्त व्यक्तियों के विषय में कहना ही क्या है ?

स्त्री-पुं-प्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र त्रासमावहः । अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः ॥९/११/१७

सीता के प्रस्थान करने के बाद त्रयोदश सहस्र वर्ष पर्यन्त राम ने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, अखण्डित अग्निहोत्र करके इस धरामण्डल का परित्याग किया। राम के साथ ही जिन्होंने उनका दर्शन और स्पर्श

१. यह और कोई नहीं एक रजक था।



किया, उनका सहवास अथवा अनुगमन किया—वे सब-के-सब तथा कोसलदेश के निवासी भी उसी लोक में गये, जहाँ बड़े-बड़े योगी योग-साधना के द्वारा जाते हैं—

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा । कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥

९/११/२२

परीक्षित के पूछने पर महाराज शुकदेव जी ने कहा—भगवान् श्रीराम के आदेश से उनके तीनों भाइयों ने दिग्विजय की । भगवान् राम की पुरी सर्वदा सजी-धजी रहती थी । वहाँ के प्रासाद, पुरद्वार और सभा-मण्डप आदि सब-के-सब स्वच्छ, सुगन्धित एवं पताका तथा कलश आदि से सुसज्जित रहते थे । भगवान् अपनी पुरी की देख-भाल स्वयं करते थे । जब वे नगर-भ्रमण के लिये निकलते तो जनता उनका दर्शन कर धन्य-धन्य हो जाती थी और अनेक प्रकार के उपहारों से उनका स्वागत करती थी ।

भगवान् श्रीराम अपने राजमहल में प्रिया के साथ सानन्द निवास करते थे । परीक्षित, सभी स्त्री-पुरुष जिनके चरण-कमलों का ध्यान करते रहते हैं, वे ही भगवान् श्रीराम बहुत वर्षों तक धर्म की मर्यादा का पालन करते हुए समयानुसार भोगों का उपभोग करते रहे ॥११॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

### ( रजक के पूर्व जन्म का वृत्तान्त )

किशोरी जनक दुलारी जानकी एक दिन सखियों के साथ उद्यान में विहार कर रही थीं । वहाँ उन्होंने देखा कि एक वृक्ष की शाखा पर तोता-युगल बैठा हुआ है । दोनों देखने में अतीव मनोहर थे । वे राम और सीता के विवाह की चर्चा कर रहे थे । सीता जी ने उनकी बात को ध्यान से सुना । उन्हें लगा कि ये मेरे विवाह की चर्चा कर रहे हैं । फलतः उन्होंने सखियों के द्वारा उन्हें पकड़वा लिया । सीता जी ने आश्चर्य करके उनसे विवाह सम्बन्धी सारा प्रकरण सुन लिया । सीता जी के यह पूछने पर कि यह वृत्तान्त तुम लोगों ने कहाँ सुना ? तो युगल ने कहा—वाल्मीकि जी ने राम की भावी कथा रामायण लिखी है । वे छात्रों को उसे पढ़ाते हैं । वहीं बार-बार सुनने से यह प्रसङ्ग हम लोगों को कण्ठस्थ हो गया है । इस पर इस प्रसङ्ग को बार-बार सुनने की लालसा से जानकी ने कहा—राम के साथ मेरा विवाह हो जाने पर मैं तुम लोगों को बन्धन से मुक्त कर दूँगी । तब तक तुम दोनों मेरे घर में रहो और स्वादिष्ट वस्तुओं को खाओ । शुकी गर्भिणी थी । सीता के वचन को सुनकर वह कांप उठी । उसने कहा—हम वन में रहनेवाले पक्षी हैं । हमें जो सुख जङ्गल में मिलता है, वह आप के घर में नहीं मिलेगा । मैं गर्भिणी हूँ । जङ्गल में बच्चा पैदाकर मैं पुनः आप के पास वापस आ जाऊँगी । शुकी की बात का समर्थन शुक ने भी किया । सीता ने शुक को तो छोड़ दिया, किन्तु बाल हठ के कारण शुकी को नहीं छोड़ा । पति के वियोग में जीवित रहना शुकी के लिये असह्य हो उठा । उसने कुपित होकर सीता को शाप देते हुए कहा—जैसे आज तुम मुझे मेरे पति से वियुक्त कर रही हो, वैसे ही जब तुम गर्भिणी रहोगी तब तुम्हारा भी पति से वियोग होगा—

यथा त्वं पतिना सार्धं वियोजयसि मामितः । तथा त्वमपि रामेण वियुक्ता भव गर्भिणी ॥

पद्म पु०, पा० ख०, ५७/५८

इस प्रकार सीता को शाप देकर शुकी ने राम-राम कहते हुए अपने प्राणों का परित्याग कर दिया । उसे लेने



के लिये एक विमान आया जिस पर आरूढ होकर वह राम के धाम में चली गई। पत्नी के प्राण-वियोग को देखकर दुःख से परम सन्तप्त शुक ने भी गङ्गा में गिर कर अपने प्राणों का परित्याग कर दिया। प्राण छोड़ते हुए उसने भी सीता को शाप देते हुए कहा—मैं अगले जन्म में राम के जनसङ्कुल नगर में जन्म ग्रहण करूँगा। मेरे वचन के कारण ही उद्विग्न यह अपने पति के वियोग से अतिशय दुःखी होगी—

तथा भवामि रामस्य नगरे जनपूरिते । मद्वाक्यादियमुद्विग्ना वियोगेन सुदुःखिता ॥

भविष्यतीति शेषः । पद्म पु०, पाताक ख०, ५७/६२

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## बारहवाँ अध्याय

( इक्ष्वाकुवंश के शेष राजाओं का वर्णन )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, भगवान् राम के पुत्र कुश के वंश का भी आगे खूब विस्तार हुआ। कुश का पुत्र हुआ अतिथि, उसका निषध, निषध का नभ, नभ का पुण्डरीक और पुण्डरीक का क्षेमधन्वा। आगे चल कर इस वंश में हिरण्यनाभि की उत्पत्ति हुई। यह जैमिनि का शिष्य और योगाचार्य था। कोसलदेशवासी याज्ञवल्क्य ऋषि ने उसकी शिष्यता स्वीकार कर उससे अध्यात्मयोग की शिक्षा ग्रहण की थी। इसी वंश में आगे चल कर अग्निवर्ण हुआ और अग्निवर्ण से शीघ्र और शीघ्र से मरु की उत्पत्ति हुई। मरु आज भी कलाप ग्राम में रहकर तपस्या कर रहा है। कलियुग की समाप्ति होने पर वह पुनः सूर्य-वंश को प्रचारित करेगा। इनके वंश में बृहद्बल नाम के एक राजा हुए जिन्हें महाभारत के युद्ध में तुम्हारे पिता अभिमन्यु ने मारा था फिर उसका वंश आगे कैसे चलेगा इसका वर्णन करके श्री शुकदेव महाराज ने कहा—यह वंश आगे चल कर कलियुग में राजा सुमित्र तक चलेगा। इसके बाद यह वंश समाप्त हो जायेगा—

इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति । यतस्तं प्राप्य राजानं संस्था प्राप्स्यति वै कलौ ॥

९/१२/१६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१२॥

## तेरहवाँ अध्याय

( राजा निमि के वंश का वर्णन )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, इक्ष्वाकु के एक पुत्र थे—निमि। उन्होंने यज्ञ प्रारम्भ करके महर्षि वसिष्ठ का ऋत्विक् के रूप में वरण किया। निमि का यज्ञ प्रारम्भ कराकर वसिष्ठ जी ने कहा—राजन, इन्द्र अपने यज्ञ के लिए मुझे पहले ही वरण कर चुके हैं इसलिये उनका यज्ञ पूरा करके मैं तुम्हारे पास आऊँगा। तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करना। वसिष्ठ जी की बात सुन कर निमि ने कुछ कहा नहीं। वसिष्ठ जी इन्द्र का यज्ञ कराने चले गये। उनके चले जाने पर निमि ने सोचा—शरीर का कोई ठिकाना नहीं है। यह क्षण-भङ्गुर है अतः यज्ञ प्रारम्भ रखना ही ठीक है। ऐसा विचार कर उन्होंने यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। वसिष्ठ के आने तक के लिये उन्होंने दूसरे ऋत्विजों



का वरण कर लिया। वसिष्ठ जी जब इन्द्र का यज्ञ पूरा करके लौटे तो उन्होंने देखा कि उनके शिष्य निमि ने उनकी बात न मान कर यज्ञ प्रारम्भ किया हुआ है। इस पर उन्होंने शाप दिया कि—निमि अपने को बड़ा विचारवान् मानता है। इसे अपनी बुद्धि का बड़ा अभिमान है अतः इसका शरीरपात हो जाय—

शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य निर्वर्त्य गुरुरागतः। अपश्यत् पतताद् देहो निमिः पण्डितमानिनः॥

९/१३/४

निमि की दृष्टि से गुरु वसिष्ठ का यह शाप धर्म के प्रतिकूल था अतः उन्होंने भी बदले में शाप दिया—आपने लोभवश अपने धर्म का पालन नहीं किया, इसलिये आप का शरीर भी गिर जाय। यह कहकर निमि ने अपने शरीर का परित्याग कर दिया। इस प्रकार परस्पर के शाप से वसिष्ठ और निमि—दोनों का शरीरान्त हो गया। वसिष्ठ जी मित्रावरुण के वीर्य से उर्वशी अप्सरा से उत्पन्न हुए<sup>१</sup>। इधर ऋत्विजों ने एक कार्य किया। निमि के निष्ठाण शरीर को उन लोगों ने सुगन्धित तेल की द्रोणी (नैया) में रख दिया। यज्ञ की समाप्ति पर आये हुए देवों से उन लोगों ने निमि को जीवित कर देने की प्रार्थना की। देवों ने ऋत्विजों की प्रार्थना को स्वीकार करके राजा को जीवित कर दिया किन्तु निमि ने कहा—मुझे अब देह का बन्धन नहीं चाहिये। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी देह-योग नहीं चाहते। जब यह छूट गया तो छूट जाने दीजिये पुनः मैं इसे नहीं धारण करूँगा। सृष्टि में सर्वत्र मृत्यु का भय है। इससे छुटकारा पाने के लिये ऋषि-मुनि भगवान् के चरणों का ध्यान करते हैं। यह तो भगवत्कृपा है कि मेरा शरीर अनायास छूट गया। अब मुझे देह का बन्धन नहीं चाहिये—“मा भून्मे देहबन्धनम्”॥८॥

इस पर देवताओं ने कहा—ठीक है, निमि विदेह (शरीर धारण के बिना) ही रह कर प्राणियों के नेत्रों में निवास करें। वे वहाँ रहकर सूक्ष्म शरीर से भगवान् का चिन्तन-ध्यान करते रहे। पलक उठने और गिरने से इनके अस्तित्व का पता चलता रहेगा—

विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम्। उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः॥

९/१३/११

निमि ने देवताओं की यह बात स्वीकार कर ली। इसके बाद महर्षियों ने यह सोच कर कि राजा के अभाव में सर्वत्र अशान्ति मच जायेगी, निमि के शरीर का मन्थन किया। उस मन्थन से एक सुन्दर कुमार उत्पन्न हुआ। जन्म लेने के कारण उसका नाम रक्खा गया जनक। विदेह से उत्पन्न होने के कारण “वैदेह” और मन्थन से उत्पन्न होने के कारण उसी बालक का नाम “मिथिल” हुआ। उन्होंने ही मिथिला नगरी बसाई थी।

“जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः।

मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता॥९/१३/१३

जनक के पुत्र उदावसु हुए। इसी वंश में आगे चलकर हस्वरोमा के पुत्र सीरध्वज हुए। एक समय सीरध्वज यज्ञ के लिये भूमि जोत रहे थे। उसी समय उनके सीर (हल) के अग्रभाग से सीता जी पैदा हुई। इनके ही वंश में कुशध्वज, धर्मध्वज, कृतध्वज, मितध्वज, चित्ररथ, समरथ, सत्यरथ, बहुलाश्व और अन्त में महावशी नाम के ज्ञानी राजा हुए।

परीक्षित, मिथिल के वंश में उत्पन्न ये सभी नरपति ‘मैथिल’ कहे जाते हैं। इन्हें जनक भी कहा जाता है। ये

१. उर्वशी के मदभरे यौवन को देखकर मित्रावरुण काम से व्याकुल हो उठे। उनका वीर्य भूतल पर गिर पड़ा। उसे उठा कर धड़े में रख दिया गया। उसी से वसिष्ठ का यह दूसरा जन्म हुआ। यतः उर्वशी के उद्देश्य से मित्रावरुण का वीर्य स्थलित हुआ था अतः यहाँ कहा गया है कि वसिष्ठ उर्वशी से उत्पन्न हुए।



सब-के-सब आत्मज्ञान से सम्पन्न थे। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी ये सभी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से विमुक्त थे। इसका कारण यह था कि इन राजाओं पर याज्ञवल्क्य आदि बड़े-बड़े योगेश्वरों की बड़ी कृपा थी—

एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः । योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि ॥९/१३/२७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥

## चौदहवाँ अध्याय

( चन्द्रवंश का वर्णन एवं पुरुरवा का उपाख्यान )

सूर्यवंश का वर्णन करके अब यहाँ से २४वें अध्याय तक चन्द्र-वंश का वर्णन किया जा रहा है।

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, अब मैं तुम्हें चन्द्रमा के पावन वंश का वर्णन सुना रहा हूँ। इस वंश में पुरुरवा आदि महान् पवित्रकीर्तिवाले राजाओं का वर्णन किया जाता है—

अथातः श्रूयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः । यस्मिन्नैलादयो भूमाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तयः ॥

९/१४/१

भगवान् नारायण के नाभि-कमल से ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा जी के पुत्र हुए अत्रि। अत्रि अपने गुणों के कारण ब्रह्मा जी के समान थे। उन्होंने अत्रि के नेत्र से अमृतमय चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा जी ने चन्द्रमा को ब्राह्मण, ओषधि और नक्षत्रों का अधिपति बना दिया। चन्द्र ने त्रिलोकी पर विजय प्राप्त करके राजसूय यज्ञ किया। इससे उनका घमण्ड बहुत बढ़ गया था। फलतः उन्होंने देवगुरु बृहस्पति की अतिसुन्दरी स्त्री तारा का बलपूर्वक हरण कर लिया। बृहस्पति के बार-बार कहने पर भी चन्द्रमा ने तारा को नहीं लौटाया। इसके लिये देवों और दानवों में महान् संघर्ष हुआ। दानव, चन्द्रमा का पक्ष लेकर लड़ रहे थे। महादेव और इन्द्र बृहस्पति के पक्षधर थे अन्त में अङ्गिरा ऋषि के कहने पर ब्रह्मा जी ने चन्द्रमा को डाँट-डपट कर तारा बृहस्पति को दिला दी। उस समय तारा गर्भवती थी। गर्भधारण करने के लिये बृहस्पति ने उसे डाँटा और लज्जित किया। फलतः तारा ने गर्भ त्याग दिया। गर्भ की अवधि पूरी हो चुकी थी अतः उससे एक अतिसुन्दर और तेजस्वी बालक पैदा हुआ। उस बालक को लेने के लिये चन्द्रमा और बृहस्पति में कलह उत्पन्न हो गया। दोनों उस बालक को लेना चाह रहे थे। देवों, ऋषियों और स्वयं उस बालक के कहने पर भी लज्जावश तारा ने कुछ नहीं बतलाया किन्तु जब ब्रह्मा जी ने तारा को एकान्त में बुलाकर बहुत समझा-बुझा कर पूछा तो उसने धीरे से कहा कि यह बालक चन्द्रमा का है। इसलिये चन्द्रमा ने उस बालक को ले लिया। बालक की धीर-गम्भीर प्रकृति को देख कर ब्रह्मा जी ने उसका नाम रखवा-बुध। पुत्र के रूप में बुध को प्राप्त कर चन्द्रमा को बड़ी प्रसन्नता हुई।

मनु की पुत्री थी इला। बुध के द्वारा इला में पुरुरवा का जन्म हुआ। इला का पुत्र होने के नाते पुरुरवा को 'ऐल' भी कहते हैं। एक दिन की घटना है। इन्द्र की सभा में देवर्षि नारद जी पुरुरवा के रूप गुण, उदारता, शील-स्वभाव, वैभव और पराक्रम का वर्णन कर रहे थे। उर्वशी ने उसे सुना। सुन कर वह पुरुरवा पर मोहित होकर उनके पास चली आई। यद्यपि उर्वशी को मित्रावरुण का शाप था भूतल पर चले जाने के लिये अतः उसे भूतल पर जाना भी था किन्तु इसी समय उस सुर-सुन्दरी ने सुना कि पुरुरवा कामदेव के समान सुन्दर हैं अतः वह उनके पास स्वयं आ गई। पुरुरवा ने देखा कि देव-सुन्दरी उर्वशी उनके सामने खड़ी है अतः उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा।



उन्होंने बड़ी ही मधुर वाणी में उससे कहा—सुन्दरी हमारे राजभवन में तुम्हारा स्वागत है। आज्ञा दो। मैं तुम्हारी कौन-सी सेवा करूँ। तुम मेरे साथ विहार करो। हमारा और तुम्हारा यह विहार अनन्त काल तक चलता रहे—यह मेरी कामना है।

ऊर्वशी ने कहा—राजन, आप की प्रार्थना हमें स्वीकार्य है, मान्य है। किन्तु इसके लिये मेरी तीन शर्तें हैं। पहली शर्त यह है कि मेरे इन दो भेंड़ के बच्चों की रखवाली करनी होगी। दूसरी यह है कि मैथुन-क्रिया के अतिरिक्त अन्य समय में मैं आप को नग्न न देखू। तीसरी और अन्तिम शर्त यह है कि—मुझे घृत-भोजन ही देना होगा। राजा ने उर्वशी की इन तीनों शर्तों को सहर्ष स्वीकार कर लिया। फिर क्या था ? प्रारम्भ हुआ उन दोनों का दिव्य स्थानों में उद्दाम काम-विहार। उर्वशी इन्द्र की सभा का रत्न थी। इधर कुछ दिनों से उसकी अनुपस्थिति से स्वर्ग फीका प्रतीत हो रहा था अतः इन्द्र ने उर्वशी को लाने के लिये गन्धर्वों को भेजा। इन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य कर गन्धर्व पहुँचे राजा के पास। उस समय आधी रात की बेला थी। चारों ओर घोर अन्धकार व्याप्त था। पुरुरवा नग्न अवस्था में उर्वशी के साथ उद्दाम काम-क्रीडा कर रहा था। वे गन्धर्व उर्वशी के दोनों भेड़ों को, जिन्हें उर्वशी ने राजा के पास धरोहर के रूप में रक्खा था, चुरा कर चलते बने। ले जाने की बेला में भेंड़ें चिल्लाने लगीं। उसे सुनकर उर्वशी ने राजा को बहुत फटकारा। उसने उन्हें नपुंसक और कायर तक कह डाला। इस पर पुरुरवा क्रोध में भर कर, नग्न अवस्था में ही, नंगी तलवार लेकर भेंड़ों की ओर जोर से दौड़ा। गन्धर्वों ने उनके झपटते ही भेड़ों को तो छोड़ दिया। किन्तु वे स्वयं बिजली की तरह चमक उठे। जब राजा भेंड़ों को लेकर लौटे, तब उर्वशी ने उस प्रकाश में उन्हें नग्न अवस्था में देख लिया। उन्हें नग्न देखते ही उर्वशी अपनी प्रतीज्ञा के अनुसार सीधे स्वर्ग चली गई।

पुरुरवा जब अपनी शयनशाला में लौटे तो देखा कि उर्वशी वहाँ से गायब थी। फिर तो वे उर्वशी के शोक से व्याकुल हो कर भूतल पर उन्मत्त की भाँति घूमने लगे—

ऐलोऽपि शयने जायामपश्यन् विमना इव। तच्चित्तो विह्वलः शोचन् बभ्रामोन्मत्तवन्महीम्॥

९/१४/३२

एक दिन की घटना है। पुरुरवा ने कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी के तट पर उर्वशी को उसकी पाँच सखियों के साथ देखा। उनका मन मचल उठा उर्वशी को अपनी बाहों में भर लेने के लिये। वे अत्यन्त मधुर वाणी में गिड़गिड़ाते हुए उससे बोले—देवि, प्रिये, जरा ठहर जाओ। एक बार मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लो। निष्ठुरे, अब आज तो मुझे सुखी बनाकर ही जाओ। क्षणभर ठहरो, आओ हम दोनों एकान्त में कुछ बातें तो कर लें। देवि, अब मेरे इस शरीर पर तुम्हारा अनुग्रह नहीं रहा अतः यह अभी तुम्हारे सामने गिरकर ढेर हुआ जाता है और तुम्हारे देखते-देखते इसे भेड़िये और गीध खा जायेंगे। इस पर उर्वशी ने राजा को समझाते हुए कहा—तुम पुरुष हो। पुरुष धैर्य खोकर इस प्रकार की बातें नहीं किया करते हैं। स्त्रियों की किसी के साथ स्थाई मित्रता नहीं हुआ करती। स्त्रियों और भेड़ियों का हृदय एक जैसा होता है। स्त्रियाँ निर्दयी होती हैं, क्रूरता तो उनका स्वभाव ही है। तनिक-सी बात पर चिढ़ना और खुश होना उनकी प्रकृति है—“क्षणै रूढाः क्षणैस्तुष्टाः”। वे स्वार्थ के लिये पति और भाई का भी वध करा देने से नहीं हिचकतीं। इनके हृदय में तो सौहार्द है ही नहीं। भोले-भाले लोगों को झूठ-मूठ का विश्वास दिलाकर उन्हें फँसा लेना तो इनके बाँए हाथ का काम है। नये-नये पुरुषों से सम्बन्ध जोड़ना और स्वच्छन्द-चारिता इनकी आदत है। तो तुम धैर्य धारण करो, घबराओ मत, जरा सोचो तो सही कि तुम राजराजेश्वर हो, इसका भी तो ध्यान रक्खो। देखो, प्रतिवर्ष के बाद एक रात तुम मेरे साथ विहार करोगे। तब तुम्हारे और भी कई सन्तानें होंगी।



उस समय राजा पुरुरवा ने देखा कि उर्वशी गर्भवती है, इसलिये वे अपनी राजधानी में लौट आये। एक वर्ष के बाद वे फिर वहाँ गये। तब तक उर्वशी एक वीर पुत्र की जननी बन चुकी थी। उर्वशी के मिलने से पुरुरवा को बड़ा सुख मिला। वे एक रात उसी के साथ रहे, विहार किये। प्रातःकाल जब उर्वशी स्वर्ग सिंधारने लगी तो राजा को महान् कष्ट हुआ। उसने उनसे कहा—राजन्, तुम गन्धर्वों की स्तुति कर उन्हें प्रसन्न करो यदि वे चाहेंगे तो तुम्हें मुझे प्रदान कर सकते हैं। राजा ने अप्सरा की बात मान कर उनकी स्तुति की। गन्धर्वों ने प्रसन्न होकर राजा को एक अग्निस्थाली दी<sup>१</sup>। राजा की बौद्धिक स्थिति इतनी गड़बड़ थी कि वे उसे ही उर्वशी समझ कर छाती से चिपकाये हुए एक वन से दूसरे वन में भ्रमण करते रहे। जब उन्हें यह पता चला कि यह उर्वशी नहीं, यह तो थाली है; तब वे उसे वन में छोड़कर अपने महल में लौट आये एवं रात्रि के समय उर्वशी का ध्यान करते रहे। इसी समय सत्ययुग की समाप्ति हुई। त्रेता का प्रारम्भ हुआ। उस समय स्वर्ग-प्राप्ति करानेवाले वेदोक्त कर्मों का उनके हृदय में प्रादुर्भाव हुआ फिर वे उस स्थान पर गये, जहाँ उन्होंने वह अग्निस्थाली छोड़ी थी। अब उस स्थान पर शमीवृक्ष के कोटर में पीपल का एक वृक्ष उग आया था। उन्होंने उर्वशी को प्राप्त करने की कामना से पीपल के पेड़ की दो लकड़ियाँ तोड़कर उनसे दो अरण्याँ बनाई। सामान्य रति की बेला में स्त्री नीचे और पुरुष ऊपर होता है अतः उन्होंने नीचे की अरणि में उर्वशी और ऊपर की अरणि में स्वयं अपनी कल्पना कर मन्थन प्रारम्भ किया। उनके मन्थन से जातवेदा नाम का अग्नि प्रकट हुआ<sup>२</sup>। ऐल ने उसे पुत्र के रूप में स्वीकार किया फिर पुरुरवा ने उर्वशी को प्राप्त करने की इच्छा से, वही अग्नि लेकर यज्ञपति भगवान् श्रीहरि का यजन किया। इसी यज्ञ के प्रभाव से राजा पुरुरवा ने गन्धर्व लोक प्राप्त कर उर्वशी के साथ पुनः सानन्द विहार प्रारम्भ कर दिया। भगवान् ने गीता में ठीक ही कहा है—जैसे घृत डालने से अग्नि की ही वृद्धि होती है, वैसे ही निरन्तर कामोपभोग से काम-वासना की वृद्धि होती है। वह प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णावर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥



## पन्द्रहवाँ अध्याय

( ऐल-वंश में गाधि का जन्म तथा ऋचीक, जमदग्नि और परशुराम जी का चरित्र )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—राजन्, उर्वशी के गर्भ से पुरुरवा के छः पुत्र हुए—आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय—

ऐलस्य चोर्वशीगर्भात् षडासन्नात्मजा नृप । आयुः श्रुतायुः सत्यायू रयोऽथ विजयो जयः ॥

९/१५/१

श्रुतायु का पुत्र था वसुमान्, सत्यायु का श्रुतञ्जय, रय का एक और जय का अमित। विजय का भीम, भीम का काञ्चन काञ्चन का होत्र और होत्र का पुत्र था जह्नु। यह वह जह्नु थे जो गङ्गा जी को अपनी अञ्जलि में लेकर पी

१. अग्नि स्थापित करने के लिये जिस स्थली में लाई जाती है, उसे अग्निस्थाली कहते हैं।

२. अग्नि के तीन रूप हैं—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि।



गये थे। जह्नु का पुत्र था पुरु, पुरु का बलाक और बलाक का अजक, अजक का कुश था। कुश के चार पुत्र थे—कुशाम्बु, तनय, वसु और कुशनाभ। इनमें से कुशाम्बु के पुत्र गाधि हुए—“गाधिरासीत् कुशाम्बुजः” ॥४॥

गाधि की एक सुन्दरी कन्या थी। उसका नाम था—सत्यवती। ऋचीक ऋषि ने गाधि से उनकी कन्या मांगी। गाधि ने सोचा कि यह वृद्ध तपस्वी हमारी तरुणी तनया के योग्य नहीं हैं अतः उनसे कहा—मुनिवर, हम लोग कुशिक वंश के क्षत्रिय हैं। हमारी कन्या के साथ विवाह करना सरल नहीं है। इसलिये आप एक हजार ऐसे घोड़े लाकर मुझे शुल्करूप में दीजिये जिनका सारा शरीर तो श्वेत हो, परन्तु एक-एक कान श्याम वर्ण हों<sup>१</sup>।

राजा का अभिप्राय समझ कर ऋचीक पहुँचे वरुण के पास। उनसे मांग कर वैसे ही घोड़े ले आये और राजा को देकर उनकी कन्या सत्यवती के साथ सानन्द विवाह रचा डाला। एक बार महर्षि ऋचीक से उनकी पत्नी और सास (सत्यवती की माता) दोनों ने ही पुत्र प्राप्ति के लिये प्रार्थना की। महर्षि ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर दोनों के लिये अलग-अलग मन्त्रों से चरु (एक प्रकार का रसायन) पकाया और स्नान करने के लिये चले गये। सत्यवती की माता ने सोचा कि ऋषि ने अपनी पत्नी के लिये उत्तम चरु पकाया होगा अतः उसने सत्यवती से मांग कर उसका चरु स्वयं खा लिया। सत्यवती अपनी माँ के आग्रह को तुकरा न सकी अतः उसने माँ के लिये तैयार चरु को खाया। स्नान करके लौटे ऋचीक को जब इस बात का पता चला तब उन्होंने अपनी पत्नी सत्यवती से कहा—भद्रे, तुमने बड़ा अनर्थ कर डाला। अब तुम्हारा पुत्र अत्यन्त उग्र स्वभाव का और तुम्हारा भाई श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता होगा—

तद् विज्ञाय मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकारषीः। घोरो दण्डधरः पुत्रो भ्राता ते ब्रह्मवित्तमः ॥

९/१५/१०

सत्यवती ने ऋचीक मुनि को प्रसन्न कर कहा—स्वामिन्, अब कुछ ऐसा उपाय कीजिये जिससे कि मेरा पुत्र ऐसा न हो। इसपर ऋचीक ने कहा—अच्छी बात है। पुत्र के बदले तुम्हारा पौत्र वैसा (अर्थात् घोर प्रकृति का) होगा फिर तो समय आने पर सत्यवती के गर्भ से जमदग्नि का जन्म हुआ। बाद में सत्यवती समस्त लोकों को पवित्र करनेवाली परम पुण्यमयी ‘कौशिकी’ नदी बन गई। रेणु ऋषि की कन्या थी—रेणुका। जमदग्नि ने उसके साथ विवाह किया। रेणुका के गर्भ से जमदग्नि ऋषि के वसुमान् आदि कई पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटे थे परशुराम। इनका यश सारे संसार में प्रसिद्ध है। हैहय-वंश का नाश करने के लिये भगवान् विष्णु ने ही परशुराम के रूप में अंशावतार लिया था। परशुराम जी ने इक्कीस बार दुर्वृत्त क्षत्रियों का विनाश कर पृथिवी को क्षत्रियों से विहीन कर दिया था।

इस पर राजा परीक्षित ने पूछा—मुने, क्षत्रियों ने ऐसा कौन-सा अपराध किया था जिससे परशुराम जी को २१ बार उनका विनाश करना पड़ा ?

परीक्षित की जिज्ञासा सुनकर श्री शुकदेव जी ने कहना प्रारम्भ किया—उन दिनों हैहयवंश का अधिपति था अर्जुन। वह एक श्रेष्ठ क्षत्रिय था। उसने नारायण के अंशावतार दत्तात्रेय जी को विविध सेवाओं से प्रसन्न कर लिया था। प्रसन्न हुए दत्तात्रेय ने उसे एक हजार भुजाएँ प्रदान की थीं और युद्ध में उसे अपराजेय रहने का वरदान भी दिया था। उसका अबाध बल, अतुल वैभव, तेजस्विता और वीरता भी उन्हीं की कृपाका फल था। शत्रु-जन उसके बड़े हुए बल तथा तेज को देखकर घबड़ाते थे। उसे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वह योगेश्वर हो गया था। वह संसार में वायु की तरह सब जगह बेरोक-टोक विचर करता था। एक बार गले में वैजयन्ती माला धारण कर सहस्रबाहु अर्जुन सुन्दरी स्त्रियों के झुण्ड के साथ नर्मदा नदी में जल-विहार कर रहा था। उस समय मदोन्मत्त सहस्रबाहु ने अपनी

१. कन्या के विवाह के बदले में शुल्क लेना निन्दित और धर्मशास्त्र के विरुद्ध है। किन्तु गाधि ने यह सोचकर शुल्क मांगा कि ऋचीक यह असंभव कार्य कर नहीं पायेंगे और फिर मेरी सुन्दरी बेटी बूढ़े के हाथों में जाने से बच जायेगी।



बाहों से नदी का प्रवाह रोक दिया। नदी के ऊपरी हिस्से में दिग्विजय के लिये निकला रावण शिव का पूजन कर रहा था। उसका सारा शिविर नर्मदा के अवरुद्ध जल से आप्लावित हो गया। यह देखकर क्रुद्ध रावण सहस्रार्जुन से युद्ध करने जा पहुँचा। उस समय सहस्रार्जुन ने खेल-ही-खेल में रावण को पकड़ लिया और अपनी राजधानी माहिष्मती में ले जाकर बन्दर के समान कैद कर दिया। पीछे पुलस्त्य जी के कहने से सहस्रबाहु ने रावण को छोड़ दिया। ऐसा प्रतापी, क्षत्रिय-शिरोमणि, दत्तात्रेय का प्रिय शिष्य, अर्जुन (सहस्रार्जुन) एक बार वन में आखेट के लिये विचरण कर रहा था। उसी क्रम में उसने महर्षि जमदग्नि के आश्रम में प्रवेश किया। तपोधन जमदग्नि ने अपनी कामधेनु गाय के प्रभाव से सेना-परिच्छद-सहित राजा का भव्य दिव्य स्वागत सत्कार किया। मुनि के ऐश्वर्य को अपने ऐश्वर्य से अधिक देखकर सहस्रार्जुन बर्दास्त न कर सका। उसने अपने सैनिकों से हठात् मुनि की गाय कामधेनु का हरण करवा लिया। गाय चिल्ला रही थी वह आश्रम से जाना नहीं चाहती थी किन्तु सहस्रार्जुन के सैनिक बछड़े के सहित गाय को बलात् माहिष्मती लाये। माहिष्मती सहस्रार्जुन की राजधानी थी। गाय लेकर सहस्रार्जुन के चले जाने पर परशुराम आश्रम में आये। उसकी दुष्टता की गाथा को उन्होंने सुना। सुनते ही परशुराम आहत सर्प की भाँति आग-बबूला हो उठे। उनके क्रोध का पारावार न रहा। उन्होंने अपने घोर परशु एवं धनुष-बाण को उठाया और उस दुष्ट राजा का पीछा करते हुए माहिष्मती की ओर दौड़े। सहस्रार्जुन ने अपनी राजधानी में झपट कर प्रवेश करते हुए वीरवर परशुराम को देखा। वे अकेले थे। उनका सामना करने के लिये सहस्रार्जुन ने अपनी जगत्प्रसिद्ध सात अक्षौहिणी सेना भेज दी। परशुराम ने शीघ्र ही सारी सेना का विनाश कर डाला। इस दृश्य को देखकर सहस्रार्जुन युद्ध करने के लिये स्वयं बाहर आया। दोनों वीरों में भीषण संग्राम प्रारम्भ हुआ। झंझावात के समान परशुराम के सम्मुख सहस्रार्जुन व्यजन का पवन प्रतीत हो रहा था। मुनि ने राजा की सारी भुजाओं को कदली की तरह काट कर उसके शिर को घड़ से पृथक् कर दिया। पिता के मारे जाने पर सहस्रार्जुन के सारे पुत्र गीदड़ की भाँति भयभीत होकर भाग निकले। परशुराम गाय को आश्रम में लाये। उन्होंने अपने पिता और भाइयों से युद्ध के वृत्तान्त के साथ सहस्रार्जुन के समर-भूमि में वध की बात बतलाई।

राजा के वध की बात को सुनकर पिता जमदग्नि प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने कहा—क्षमा ब्राह्मण का सबसे बड़ा गुण है। ब्राह्मण को क्षमाशील होना चाहिये। राजा सर्वदेवमय होता है अतः राम, राजा का वध करके तुमने उचित नहीं किया अतः पाप का मार्जन करने के लिये नारायण का ध्यान करते हुए तुम तीर्थों का भ्रमण करो—

तीर्थसंसेवया चांहो जह्यङ्गाच्युतचेतनः ॥९/१५/४१

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥१५॥

## सोलहवाँ अध्याय

(परशुराम जी के द्वारा इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार और विश्वामित्र के वंश का कथन)

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर परशुरामजी ने एक वर्ष तक तीर्थाटन किया फिर वे अपने आश्रम पर लौटकर पिता की सेवा-शुश्रूषा में लग गये—

पित्रोपशिक्षितो रामस्तथेति कुरुनन्दन। संवत्सरं तीर्थयात्रां चरित्वाऽऽश्रममाव्रजत् ॥९/१६/१  
परशुराम की माता का नाम था—रेणुका। एक बार रेणुका जल लेने के लिये नदी में गई। वहाँ उसने गन्धर्व-



राज चित्ररथ को अप्सराओं के साथ जल-क्रीडा करते हुए देखा। चित्ररथ के साथ विहार करने की लालसा रेणुका के मन में भी अङ्कुरित हुई। मुनि की होमबेला का अतिक्रमण हो रहा है—इसका भी स्मरण उसे न रहा। जब उसे इस बात का ध्यान आया तो जल लेकर जल्दी-जल्दी आश्रम पहुँची और विलम्ब के लिये पतिदेव से क्षमा-याचना की। पत्नी के मानसिक व्यभिचार को ज्ञात कर जमदग्नि कुपित हो उठे। उन्होंने बेटों से कहा—पुत्रों, इस पापिनी का वध कर डालो किन्तु बेटों ने उनके आदेश का पालन नहीं किया फिर जमदग्नि ने परशुराम से माता के सहित भाइयों के वध के लिये कहा। परशुराम ने पिता के आदेश का अविकल पालन किया। पिता प्रसन्न हो उठे। उन्होंने कहा—बेटा, वर माँगो। परशुराम ने वरदान माँगा—माता जी के सहित मेरे सब भाई जीवित हो जाँय और उन्हें इसकी स्मृति भी न हो कि मैंने उनका वध किया है। ठीक है, ऐसा ही होगा—पिता के यह कहते ही वे सभी जीवित हो उठे। उन्हें प्रतीत हो रहा था कि जैसे वे सभी अभी सोकर उठे हों। परशुराम पिता के तप के इस प्रभाव से परिचित थे। यही कारण था कि पिता के आदेश देते ही उन्होंने परिवारजनों का वध कर डाला था।

परशुराम ने सहस्रार्जुन का वध कर दिया था इसलिये उसके पुत्र क्रुद्ध थे। वे परशुराम से बदला लेना चाहते थे अतः एक बार जब भाइयों के सहित परशुराम वन में गये हुए थे, तब अवसर देखकर वे जमदग्नि के आश्रम में प्रवेश किये। उस समय जमदग्नि यज्ञशाला में भगवान् का ध्यान कर रहे थे। उन दुष्टों ने उसी अवस्था में उनका शिर काट दिया और उसे अपने साथ लेते गये। रेणुका के करुण विलाप का प्रभाव भी उन पर न पड़ा। परशुराम जब जङ्गल से लौटे तो उन्होंने विलाप करती हुई माता से सारा वृत्तान्त सुना। उनके शोक का पारावार न रहा। पिता के शव को परशुराम ने भाइयों के पास रख दिया। उन्होंने दुष्ट क्षत्रियों के विनाश का दृढ सङ्कल्प अपने मन में किया। उन्होंने अपना कठोर कुठार हाथ में लिया और फिर एक बार माहिष्मती को क्षत्रिय-विहीन बनाने के लिये अकेले ही चल पड़े। वहाँ इन्होंने ब्राह्मण के वध से निःश्रीक सहस्रार्जुन के पुत्रों का विध्वंस ही कर डाला। उनके शिरों को काट-काट कर वहाँ एक विशाल पर्वत ही खड़ा कर दिया। रेणुका ने जमदग्नि के मार दिये जाने पर इक्कीस बार छाती पीटकर रोया था अतः परशुराम ने इक्कीस बार पृथिवी को क्षत्रियों से विहीन बना डाला। माहिष्मती से पिता के कटे शिर को लाकर उसे शरीर से जोड़कर परशुराम ने उन्हें जीवित कर सप्तर्षि-मण्डल में स्थापित कर दिया फिर उन्होंने कई यज्ञों के द्वारा भगवान् यज्ञ-पुरुष की समाराधना की और समूची पृथिवी ब्राह्मणों को दान में दे दी। परशुराम आज भी महेन्द्र आदि पर्वतों पर शान्त होकर तप में निरत हैं। इस प्रकार भगवान् नारायण ने ही परशुराम के रूप में, भृगुवंश में, अवतार लेकर पृथिवी के भारभूत राजाओं का कई बार संहार किया और पृथिवी के भार को उतारा—

एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ॥ अवतीर्य परं भारं भुवोऽहन् बहुशो नृपान् ॥

९/१६/२७

राजन् परीक्षित, इस प्रकार हमने गांधी की बेटा सत्यवती के वंश का वर्णन आप को सुना दिया। अब उनके पुत्रों के वंश का वर्णन कर रहा हूँ। सावधान होकर सुनो।

गांधी के पुत्र थे विश्वामित्र। ऋचीक के द्वारा तैयार किये गये चरु के प्रभाव से विश्वामित्र का जन्म हुआ था। विश्वामित्र प्रज्ज्वलित अग्नि की भाँति परम तेजस्वी थे। इन्होंने अपने तप बल से क्षत्रियत्व का त्याग कर ब्रह्मतेज प्राप्त किया था। पुराणों में इनकी बड़ी विचित्र कथाएँ आती हैं। इनके सौ पुत्र थे। उनमें बिचले पुत्र का नाम था—मधुच्छन्दा, इसलिये सभी पुत्र 'मधुच्छन्दा' के ही नाम से विख्यात हुए। विश्वामित्र जी ने भृगुवंशी अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया था। देवताओं ने शुनःशेप की प्रार्थना से प्रसन्न होकर उसे प्राणादान



दिया था। इसीलिये उसका एक नाम 'देवरात' भी था। महर्षि ने अपने पुत्रों से कहा—तुम लोग शुनःशेप को अपना बड़ा भाई मानो। विश्वामित्र के पुत्रों में जो ४९ बड़े थे। उन्हें शुनःशेप को बड़ा भाई मानने की बात अच्छी न लगी। इस पर क्रुद्ध होकर विश्वामित्र जी ने उन्हें शाप दे दिया—दुष्टों, तुम लोग म्लेच्छ हो जाओ। मध्यम पुत्र मधुच्छन्दा के साथ ५० भाइयों ने पिता की बात शिरोधार्य कर शुनःशेप को अपना बड़ा भाई मान लिया। इस पर प्रसन्न होकर विश्वामित्र ने उन्हें पुत्रवान् होने का आशीर्वाद दिया—

ते मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तत् । अशपत् तान् मुनिः क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जनाः ॥

९/१६/३३

स होवाच मधुच्छन्दाः सार्धं पञ्चाशता ततः । यन्नो भवान् संजानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम् ॥

९/१६/३४

विश्वामित्रः सुतानाह वीरवन्तो भविष्यथ ॥९/१६/३५

इस प्रकार विश्वामित्र जी की सन्तानों के कौशिकगोत्र में कई भेद हो गये और देवरात अर्थात् शुनःशेप को बड़ा भाई मानने के कारण उसका प्रवर भी दूसरा हो गया ॥१६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥

## सत्रहवाँ अध्याय

( पुरुरवा के ज्येष्ठ पुत्र आयु तथा अन्य पुत्रों के वंश का वर्णन )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, पीछे पुरुरवा के पाँच पुत्रों के वंश का वर्णन किया जा चुका है। अब उनके ज्येष्ठ पुत्र आयु के वंश का वर्णन कर रहा हूँ, सुनो। आयु के पाँच लड़के हुए—नहुष, क्षत्रवृद्ध, रजि, रम्भ और अनेना। क्षत्रवृद्ध के पुत्र सुहोत्र थे। उनके तीन पुत्र हुए—काश्य, कुश, और गृत्समद। गृत्समद का पुत्र हुआ शुनक। इसी वंश में ऋग्वेदी मुनिवर शौनक जी हुए। इसी वंश में परम तेजस्वी दिवोदास और ऋतध्वज हुए। काश्य का पुत्र था काशि, काशि का राष्ट्र, राष्ट्र का दीर्घतमा और दीर्घतमा का धन्वन्तरि। यही आयुर्वेद के प्रवर्तक हैं<sup>१</sup>। धन्वन्तरि का पुत्र हुआ केतुमान्। केतुमान् का भीमरथ, भीमरथ का दिवोदास और दिवोदास का धुमान्। इसका एक नाम प्रतर्दन भी है। यही कुवलाश्व के नाम से भी प्रसिद्ध है। कुवलाश्व की महारानी मदालसा बड़ी विदुषी थी। उसने अपने तीन पुत्रों को अध्यात्मविद्या का उपदेश देकर संसार से विरक्त कर दिया था। कुवलाश्व के कहने पर उसने अपने सबसे छोटे पुत्र अलर्क को उपदेश देकर नीति-निपुण और संसार-विद्या में पारङ्गत बनाया<sup>२</sup>।

आयु के तृतीय पुत्र रजि के पाँच सौ पुत्र हुए। देवताओं की प्रार्थना पर रजि ने दैत्यों का वध करके इन्द्र को स्वर्ग का राज्य दिया था किन्तु प्रह्लाद आदि दैत्यों से भयभीत होकर इन्द्र ने स्वर्ग का राज्य पुनः रजि को ही लौटा दिया और अनुनय-विनय कर अपनी रक्षा का भार भी उन्हीं के हाथों में सौंप दिया। रजि के मरने पर उनके पुत्र स्वर्ग

१. अभी पीछे अष्टम स्कन्ध, अष्टम अध्याय, श्लोक ३५ में आयुर्वेद के प्रवर्तक धन्वन्तरि को समुद्र-मन्थन से प्रादुर्भूत बतलाया गया है और यहाँ उन्हें दीर्घतमा का बेटा बतलाया जा रहा है। यह विरोध है।

२. मदालसा और अलर्क का प्रसङ्ग मार्कण्डेय पुराण के ३६वें अध्याय में विशेष रूप से वर्णित है।



का साम्राज्य इन्द्र को नहीं लौटा रहे थे। तब बृहस्पति के अभिचार-क्रिया के सहयोग से इन्द्र ने उन सबका वध कर दिया और स्वर्ग का साम्राज्य अपने अधिकार में कर लिया। रम्भ के पुत्र रभस और अनेना के पुत्र शुद्ध हुए। इस प्रकार आयु के शेष चार पुत्रों का वर्णन हुआ ॥१७॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

## अठारहवाँ अध्याय

### ( नहुष-पुत्र ययाति का चरित्र )

श्री शुक्रदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, अब मैं तुमसे आयु के बड़े बेटे नहुष के वंश का वर्णन कर रहा हूँ। नहुष के छः पुत्र थे—यति, ययाति, संयाति, आयति, वियति और कृति। नहुष अपने बड़े बेटे यति को राज्य देना चाहते थे। किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। वे उसके परिणाम को जानते थे कि राजा के पद पर बैठा हुआ मनुष्य आत्मा के सही स्वरूप को नहीं जान पाता—

राज्यं नैच्छद् यतिः पित्रा दत्तं पत्यरिणामवित् । यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुध्यते ॥१/१८/२

नहुष बड़े प्रतापी थे। वृत्रासुर का वध करने पर इन्द्र के पीछे ब्रह्महत्या लग गई। वे उसके भय से कमल-नाल में छिप गये। उस समय स्वर्ग का राज्य नहुष को सौंपा गया। वे इन्द्राणी के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये। उन्होंने इन्द्राणी शची से भोग करना चाहा। इस पर गुरु वृहस्पति की सलाह से शची ने कहा—आप ब्राह्मणों के द्वारा ढोई जाती हुई पालकी पर चढ़ कर मेरे पास आये तब मैं आपके साथ रमण करूँगी। शची की बात मान कर नहुष सप्तर्षियों के द्वारा ढोई जाती हुई पालकी पर चढ़ कर शची की ओर चले। धीरे चलने पर वे कहते थे—“सर्प सर्प” अर्थात् जल्दी चलो, जल्दी चलो। इस पर अगस्त्य ने क्रुद्ध होकर शाप दे दिया कि जा तू सर्प हो जा। शाप के प्रभाव से नहुष अजगर बन गये।

इसके बाद ययाति राजा बने। ययाति ने अपने चारों छोटे भाइयों को चारों दिशाओं का राज्य दे दिया और स्वयं शुक्राचार्य की बेटी देवयानी और दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा को पत्नी के रूप में स्वीकार कर पृथिवी की रक्षा करने लगे।

इस बात को सुनकर राजा परीक्षित ने पूछा—भगवान् शुक्राचार्य तो ब्राह्मण थे और ययाति क्षत्रिय। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण-कन्या और क्षत्रिय वर का प्रतिलोम (उलटा) विवाह कैसे हुआ ?

इस पर शुक्रदेव महाराज ने कहना प्रारम्भ किया—एक समय की बात है। दानवराज वृषपर्वा की बेटी शर्मिष्ठा अपनी गुरुपुत्री देवयानी और अन्य सहस्रों स्त्रियों के साथ उद्यान में भ्रमण कर रही थी। उस समय उद्यान की शोभा अद्भुत थी। घूमती-घामती वे जा पहुँची एक मनोहर सरोवर के तट पर। वहाँ उनकी जल-विहार करने की इच्छा हुई अतः तट पर वस्त्रों को उतार कर वे उतर गईं जलाशय में जल-क्रीडा करने। संयोग की बात। उसी समय भगवान् शङ्कर पार्वती के साथ बैल पर बैठ कर उधर से निकले। उनको देखकर लड़कियों को शर्म आई। वे दौड़कर वस्त्र पहनने लगीं। शर्मिष्ठा ने जल्दबाजीमें भूल कर देवयानी के वस्त्रों को पहन लिया। इस पर देवयानी ने उसे डाटते हुए कहा—देखो, देखो, इसकी दुष्टता ! जैसे कुतिया यज्ञ का हविष्य उठा ले जाय, वैसे ही इसने मेरे वस्त्र पहन लिये हैं। संसार में ब्राह्मण ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठ सृष्टि हैं। उनमें भी हम भृगु-वशी ब्राह्मण सर्वोत्तम हैं और इसका पिता



प्रथमतः तो असुर है, फिर हमारा शिष्य है। इस पर भी इस दुष्ट ने जैसे शूद्र वेद पढ़ ले उसी तरह हमारे कपड़ों को पहन लिया है। देवयानी के अपशब्दों ने शर्मिष्ठा के भीतर क्रोध की ज्वाला धधका दी। वह चोट खाई हुई नागिन की भाँति फुफकारने लगी। उसने अपने दाँतों से ओठ चबाते हुए कहा—भिखारिन्, तू इतना बहक रही है। तुझे कुछ अपनी स्थिति का भी पता है ? जैसे कौवे और कुत्ते हमारे द्वार पर रोटी के टुकड़ों के लिये प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही क्या तुम भी हमारे घरों की ओर नहीं ताकती रहती ? शर्मिष्ठा ने इस प्रकार बहुत-सी चुभनेवाली बात कह कर देवयानी के वस्त्रों को छीन लिया और उसे पास के ही कुएँ में ढकेल दिया।

संयोग की बात थी। महाराज ययाति शिकार खेलते हुए उधर आ निकले। उन्हें प्यास लगी थी अतः कुएँ पर गये। देखा तो उसमें एक नग्न तरुणी पड़ी थी। उन्होंने तरुणी को अपना शरीर ढकने के लिये दुपट्टा दिया और फिर उसका हाथ पकड़ कर उसे बाहर निकाल लिया—

दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे । गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः ।। ९/१८/१९

बाहर आ जाने पर देवयानी ने महाराज ययाति से प्रेमभरी वाणी में कहा—वीरवर राजन्, आज आपने मेरा हाथ पकड़ा है। अब मेरा पाणिग्रहण किसी और के द्वारा नहीं हो सकता। इसे दैव का विधान ही समझना चाहिये, इसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता। बृहस्पति-पुत्र कच के शाप के कारण कोई ब्राह्मण मेरा पाणि-ग्रहण नहीं कर सकता<sup>१</sup>। इसलिये राजन्, आप मुझे पत्नी बनाने में संकोच न करें। यद्यपि ययाति शास्त्र के प्रतिकूल होने के कारण यह सम्बन्ध स्वीकार करने के लिये तत्पर नहीं थे। परन्तु दैव की प्रबलता, देवयानी के आग्रह और तरुणी के सौन्दर्य पर मन के आकर्षण के कारण वे विवाह को स्वीकार कर अपनी राजधानी लौट गये।

ययाति के चले जाने पर देवयानी रोती-बिलखती अपने घर पहुँची। वहाँ उसने सारा वृत्तान्त अपने पिता जी को कह सुनाया। शर्मिष्ठा के व्यवहार से शुक्राचार्य को महान् कष्ट हुआ। वे पुरोहिताई की निन्दा करने लगे। उन्होंने सोचा कि इसकी अपेक्षा खेत या बाजार से कबूतर की तरह अन्न बीन कर खा लेना ही अच्छा है अतः वे बेटी के साथ वृषपर्वा के

१. कच और देवयानी की कथा इस प्रकार है—दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य थे। उन्हें मृतसञ्जीविनी विद्या विदित थी। मारे गये दैत्यों को वे पुनर्जीवित कर दिया करते थे अतः दैत्य प्रबल पड़ते थे। देवताओं ने अपने गुरु बृहस्पति के पुत्र कच को शुक्राचार्य के पास मृतसञ्जीविनी विद्या सीखने के लिये भेजा। कच तरुण थे, सुन्दर थे अतः शुक्राचार्य की तरुणी सुन्दरी बेटी देवयानी उन्हें हृदय से प्यार करती थी। कच पूरी निष्ठा और तत्परता के साथ शुक्राचार्य की सेवा कर विद्या प्राप्त करने की चेष्टा करते थे। दैत्यों को इस बात का पता चला। वे कई बार कच को मार डाले किन्तु देवयानी के आग्रह पर शुक्राचार्य उन्हें जीवित कर देते थे। एक बार दैत्यों ने खूब सोच-विचार कर योजना बनाई। कच गायों को चराने जंगल में गये थे। वही दैत्यों ने कच को मार कर जला दिया। उनकी भस्म को मदिरा में मिला कर शुक्राचार्य को ही पिला दिया। इस बात का पता किसी को भी न चला। शाम को कच जब नहीं लौटे तो फिर देवयानी ने शुक्राचार्य से कच को जीवित करने का आग्रह किया। बेटी के प्रबल हठ को देखकर शुक्राचार्य ने कच को जीवित कर दिया किन्तु इस बार महान् आश्चर्य यह हुआ कि कच आचार्य जी के पेट के अन्दर से ही बोले कि—मैं तो यहाँ हूँ। यह सुन कर शुक्राचार्य चकित हो उठे। कच ने उनसे सारा रहस्य बतला दिया। इस पर आचार्य जी ने कहा—बेटा, धबड़ाना नहीं। तुम्हें मैं सञ्जीविनी विद्या का उपदेश कर रहा हूँ। तुम मेरा पेट फाड़ कर बाहर निकल आना और फिर उस विद्या के बल से मुझे जीवित कर देना। यही तुम्हारी मेरे लिये गुरुदक्षिणा होगी। तदनुसार कच आचार्य का पेट फाड़ कर बाहर निकले और विद्या के प्रभाव से गुरु जी को जीवित कर दिये। विद्या प्राप्ति के बाद जब कच अपने घर जाने लगे तो देवयानी ने उनके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रक्खा। कच यह कहते हुए उसके प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिये कि तुम गुरुपुत्री होने के नाते मेरी बहन हो अतः किसी भी दशा में तुम्हारे साथ विवाह नहीं करूँगा। इस पर देवयानी ने उन्हें शाप दे दिया कि—‘पिता जी से पड़ी हुई तुम्हारी विद्या निष्फल हो जाय’। इस पर कच ने भी उसे शाप दिया कि—कोई भी ब्राह्मण तुम्हारे साथ विवाह नहीं करेगा।



नगर से निकल पड़े। आचार्य जी के नगर से गमन की बात सुनकर वृषपर्वा घबरा उठे। वे आचार्य जी के पीछे दौड़ पड़े। मार्ग में रोक कर उनके चरणों पर अपना मस्तक रख कर शर्मिष्ठा की गलती के लिये क्षमा-याचना करने लगे। इस पर शुक्राचार्य ने कहा—राजन, मैं अपनी पुत्री देवयानी को नहीं छोड़ सकता अतः इसकी जो इच्छा हो उसे तुम पूरी कर दो फिर तो मुझे नगर में लौट चलने में कोई आपत्ति नहीं है। वृषपर्वा ने हाथ जोड़ कर अपने गुरुदेव की बात मान ली। राजा के पूछने पर देवयानी ने कहा—जहाँ मेरा विवाह हो वहीं शर्मिष्ठा मेरी दासी बन कर चले और कभी भी मेरे पति के साथ सहवास न करे।

शर्मिष्ठा ने देखा कि परिवार पर सङ्कट आया हुआ है अतः उसने देवयानी की शर्त स्वीकार कर ली। शुक्राचार्य ने देवयानी का विवाह ययाति के साथ कर दिया और उनसे कहा कि शर्मिष्ठा को कभी भी अपनी शय्या पर मत आने देना। शर्मिष्ठा दासी बन कर देवयानी के साथ गई। कुछ दिनों के बाद देवयानी के क्रमशः दो पुत्र उत्पन्न हुए। एक का नाम था 'यदु' और दूसरे का नाम था 'तुर्वसु'। इन पुत्रों को देखकर शर्मिष्ठा के मन में भी पुत्र उत्पन्न करने की लालसा हुई अतः उसने ऋतुकाल में ययाति से सहवास की प्रार्थना की। भावी प्रबल होती है। ययाति को शुक्राचार्य की चेतावनी याद थी फिर भी ऋतुमती की याचना को धर्म समझते हुए उन्होंने शर्मिष्ठा के साथ जमकर सम्भोग किया। एक बार प्रारम्भ हो जाने पर सम्भोग का क्रम समय-समय पर चलता रहा। फलतः शर्मिष्ठा ने भी तीन पुत्रों को पैदा किया। इनके नाम थे—द्रुह्यु, अनु और पुरु। पता चलने पर देवयानी के क्रोध की सीमा न रही। वह कुपित होकर पिता शुक्राचार्य के घर चली गई। ययाति देवयानी को मनाने की बड़ी चेष्टा किये, गिड़-गिड़ाये, चरण दबाये किन्तु वह एक न मानी। पीछे-पीछे ययाति भी शुक्राचार्य के घर तक पहुँच गये। शुक्राचार्य जी ने भी क्रोध में भर कर ययाति से कहा—तू अत्यन्त स्त्रीलम्पट, मन्द बुद्धि और झूठी है। जा, तेरे शरीर में वह बुढ़ापा आ जाय जो मनुष्य को कुरूप बना देती है—

शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपूरुष । त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम् ॥९/१८/३६  
ययाति ने कहा—ब्रह्मन्, आपकी पुत्री के साथ सम्भोग करते-करते अभी हमारी तृप्ति नहीं हुई है, इस शाप से तो आप की पुत्री का भी अनिष्ट ही है। इस पर शुक्राचार्य ने कहा—अच्छा जाओ; जो प्रसन्नता से तुम्हें अपनी जवानी दे दे, उससे अपना बुढ़ापा बदल लो। इससे तुम पुनः युवा बन जाओगे। ययाति ने सर्वप्रथम अपने पुत्रों से ही युवावस्था माँगी किन्तु बुढ़ापा लेकर बदले में अपनी जवानी देने के लिये कोई तैयार नहीं हुआ। सबसे छोटे पुत्र थे—पुरु। उन्होंने खुशी-खुशी पिता जी को अपना यौवन देकर उनका बुढ़ापा अङ्गीकार कर लिया। वे पिता की इच्छा को पूर्ण करना अपना सौभाग्य समझते थे। अब पुनः ययाति देवयानी के साथ सानन्द विहार करने में संलग्न हो गये। प्रजा का पालन भी वे पिता की भाँति करते थे। राजा ययाति ने सर्वदेवस्वरूप यज्ञपुरुष भगवान् श्रीहरि का बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले बहुत से यज्ञों से निष्काम भावना के साथ यजन किया।

इस प्रकार एक हजार वर्ष तक उन्होंने अपनी स्वतन्त्र इन्द्रियों को मन के साथ संयुक्त कर प्रिय विषयों का उपभोग किया परन्तु इतने पर भी चक्रवर्ती सम्राट् ययाति की भोग-लालसा तृप्त न हो सकी—

एवं वर्ष सहस्राणि मनःषट्मनःसुखम् । विदधानोऽपि नातृयत् सार्वभौमः कदिन्द्रियैः ॥९/१८/५१  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥



## उन्नीसवाँ अध्याय

( विषय-भोग से विरक्त ययाति का गृहत्याग )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, राजा ययाति इस प्रकार स्त्री के वशीभूत होकर बहुत दिनों तक विषयों का उपभोग करते रहे। एक दिन जब अपने अधःपतन पर उनकी दृष्टि गई तो उन्हें महान् वैराग्य हुआ फिर उन्होंने अपनी प्राणप्रिया पत्नी देवयानी को एक गाथा सुनाई जो उनके जीवनचरित से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। उन्होंने कहा—

भृगुनन्दिनि, ध्यान देकर सुनो—एक बकरा था। वह वन में मस्ती के साथ घूम रहा था। उसने देखा कि एक बकरी कुएँ में गिरी हुई है। वह बकरा बड़ा कामी था। उसने बकरी को कुँए से निकालने का निश्चय किया। फलतः उसने अपनी सींग से कुएँ के पास की धरती खोद डाली और मार्ग बना दिया। बकरी बाहर निकल आई। निकल कर उसने दाढ़ी-मुँछ-मण्डित उस बकरे से प्रेम करना प्रारम्भ किया। बकरा हृष्ट-पुष्ट एवं मस्त था और बहुत-सी बकरियाँ उससे प्यार करती थीं। वह सबको रति-क्रिया से सन्तुष्ट करता था। कुएँ से निकली हुई बकरी ने जब देखा कि यह बकरा बहुत-सी बकरियों से प्यार करता है, तो वह क्रुद्ध होकर अपने मालिक के पास चली गई। वह दीन कामी बकरा उसे मनाने के लिये 'में-में' करता हुआ उसके पीछे-पीछे चला किन्तु उसे मार्ग में मना न सका। उस बकरी का स्वामी एक ब्राह्मण था। बकरी की बात सुनकर वह बकरे पर क्रुद्ध हो उठा और उसके अण्डकोष को कटवा दिया फिर उस बकरी का ही भला करने के लिये उसे जोड़ भी दिया। वह इस प्रकार की सर्जरी करने में माहिर था। अण्डकोष ठीक हो जाने पर वह बकरा उस बकरी के साथ बहुत दिनों तक संभोग करता रहा फिर भी उसे तृप्ति न हुई। सुन्दरी, मेरी भी यही दशा है। तुम्हारे प्रेम-पाश में फँस कर मैं भी दीन हो गया। तुम्हारी माया से मोहित होकर मैं अपने-आपको भी विस्मृत कर बैठा।

प्रिये, पृथिवी में जितने भी अन्न, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं—वे सबके सब मिलकर भी कामनाओं से आहत हृदयवाले पुरुष के मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते—

यात् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । न दुहन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥

९/१९/१३

विषयों के निरन्तर भोग से भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती। जैसे घी की आहुति डालने पर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोग-वासनाएँ भोगों से और प्रबल हो जाती हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्सेव भूय एवाभिवर्धते<sup>१</sup> ॥९/१९/१४

विषयों की लालसा ही सारे दुःखों का मूल कारण है। मन्दबुद्धि लोग बड़ी मुश्किल से उसका त्याग कर पाते हैं! शरीर बूढ़ा हो जाता है किन्तु लालसा नित्य नवीन होती जाती है अतः अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह इस लालसा, भोगवासना का परित्याग कर दे—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते । तां तृष्णां दुःखनिवहं शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥

९/१९/१६

और तो क्या—अपनी युवती माँ, तरुणी बहन और जवान कन्या के साथ भी एकान्त में एक आसन पर सटकर नहीं बैठना चाहिये। इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् हैं। वे बड़े-बड़े विद्वानों को भी विचलित कर देती हैं—

१. यह श्लोक इसी प्रकार महाभारत, आदि० ८५.१२; मनुस्मृति, २.९४ और विष्णुपुराण, ४.१०.९ में भी है।



मात्रा स्वस्त्वा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

९/१९/१७

मैं सहस्रों वर्षों से निरन्तर भोगों को भोग रहा हूँ फिर भी विषयों के प्रति मेरी तृष्णा बढ़ती ही जा रही है अतः अब मैं भोगों की वासना, तृष्णा का परित्याग करके अन्तःकरण परमात्मा से संलग्न कर दूँगा । द्वन्द्वों की परवाह न करता हुआ निर्द्वन्द्व होकर वन में मृगों के साथ सुखपूर्वक विचरण करूँगा । यह कहकर महाराज ययाति ने अपने लघु पुत्र पुरु को उनकी जवानी लौटा कर उनसे अपना बुढ़ापा वापस ले लिया । इसके बाद उन्होंने पूर्व में द्रुह्यु को, दक्षिण में यदु को, पश्चिम में तुर्वसु को और उत्तर में अनु को राजा बनाकर शेष समग्र भूमण्डल का चक्रवर्ती राजा पुरु को बना दिया फिर वे देवयानी के साथ वन में तप करने चले गये । वहाँ उन दोनों ने कठिन तप करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण में चित्त स्थिर कर शरीर को छोड़ दिया और भगवान् के परम धाम की यात्रा की ॥१९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१९॥

## बीसवाँ अध्याय

( पुरु के वंश, राजा दुष्यन्त और भरत के चरित्र का वर्णन )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, अब मैं राजा पुरु के वंश का वर्णन कर रहा हूँ । तुम सावधान होकर सुनो । इसी वंश में तुम्हारा जन्म हुआ है । यह वंश बड़ा प्रशस्त है । इसमें बड़े-बड़े राजर्षि और ब्रह्मर्षि उत्पन्न हुए हैं—

पूरोर्वशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत । यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ॥१९/२०/१

पुरु के पुत्र का नाम था—जनमेजय । जनमेजय का पुत्र हुआ प्रचिन्वान् का, प्रचिन्वान् का प्रवीर, प्रवीर का नमस्यु और नमस्यु का पुत्र हुआ चारुपद । उन्हीं की वंश-परम्परा में रौद्राश्व हुए । उन्होंने घृताची अप्सरा से दश पुत्र पैदा किये । उनके नाम थे—ऋतेयु, कुक्षेयु, स्थण्डिलेयु, कृतेयु, जलेयु, सन्ततेयु, धर्मेयु, व्रतेयु और सबसे छोटा वनेयु । उनमें से ऋतेयु के पुत्र रन्तिभार हुए । रन्तिभार के तीन पुत्र हुए—सुमति, ध्रुव और अप्रतिरथ । अप्रतिरथ से कण्व हुए । कण्व से मेधातिथि हुए । इन्हीं मेधातिथि से प्रस्कण्व आदि पुत्र उत्पन्न हुए जो ब्राह्मण हो गये । सुमति के पुत्र रैभ्य हुए । रैभ्य के ही पुत्र महाप्रतापी राजा दुष्यन्त हुए ।

एक बार राजा दुष्यन्त शिकार खेलने वन में गये । उनके साथ कुछ सैनिक भी थे । शिकार का पीछा करते हुए वे कण्व के आश्रम में पहुँचे । वहाँ देवमाया के समान मनोहर एक तरुणी बैठी हुई थी । उसकी अङ्गकान्ति से वह आश्रम जगमगा रहा था । सुन्दरी के सौन्दर्य को देखते ही दुष्यन्त उस पर मोहित हो उठे । काम-वासना ने उनके मन में अधिकार कर लिया । मुस्कराकर उन्होंने पूछा—कमलनयने, तुम कौन हो ? तुम्हारे पिता जी कौन हैं ? इस निर्जन वन में तुम क्यों निवास कर रही हो ? सुन्दरी, मुझे स्पष्ट मालूम पड़ रहा है कि तुम अवश्य किसी क्षत्रिय की बेटी हो क्योंकि पुरुर्वंशियों का चित्त कभी अधर्म की ओर नहीं जाता—

व्यक्तं राजन्यतनयां वेदम्यहं त्वां सुमध्यमे । न हि चेतः पौरवाणामघर्मे रमते क्वचित् १ ॥

९/२०/१२

१. देखिये—अभिज्ञानशाकुन्तल, १/२२॥



शकुन्तला ने अपना परिचय प्रदान करते हुए कहा—वीरप्रवर, मैं विश्वामित्र की पुत्री हूँ। मेनका अप्सरा ने मुझे पैदा कर वन में छोड़ दिया था। मुझे अबोध शिशु पर मुनि कण्व की कृपा-दृष्टि पड़ी। वे मुझे आश्रम में लाये। पाला-पोषा और बड़ी किया। यही मेरा परिचय है। कमलनयन, आप यहाँ बैठिये। हमारा स्वागत स्वीकार कीजिये। आश्रम में नीवार (तिन्नी का भात) है। यदि आप को रुचे तो उसे ग्रहण कीजिये। आप चाहें तो यहाँ ठहर भी सकते हैं—

आस्यतां ह्यारविन्दाक्ष गृह्यतामर्हणं च नः। भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां यदि रोचते ॥

९/२०/१४

एक तरफ सौन्दर्य का महासागर लहरा रहा था, तो दूसरी ओर तरुणार्द्र का हिमालय तैयार था। दोनों का दिल एक-दूसरे पर न्योछावर हो रहा था। दुष्यन्त ने कहा—सुमुखि, तुम उत्तम कुल की कन्या हो। मेरा अनुमान सही निकला। अब सुनो मेरी बात। राजाओं की कन्याएँ अपने सदृश वर का वरण स्वयं कर लेती हैं—

स्वयं हि वृणते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम् ॥९/२०/१५

शकुन्तला के स्वीकार करने पर राजा ने उससे सविधि गान्धर्व विवाह कर लिया। रात भर राजा ने यौवनमदमाती शकुन्तला से जम कर रमण किया। राजा अमोघवीर्य थे फलतः शकुन्तला गर्भवती हो गई। सबेरा हुआ। राजा उससे बिदा लेकर अपनी राजधानी में चले गये। समय पूरा होने पर शकुन्तला ने कण्व के आश्रम में एक पुत्र-रत्न पैदा किया। मुनि कण्व ने बालक का जातकर्म आदि संस्कार किया। बालक इतना दुर्दान्त था कि वह सिंह-शिशुओं को हठात् पकड़कर उनसे खेला करता था।

वह बालक भगवान् का अंशांशावतार था। उसका बल विक्रम अपार था। बालक का नाम भरत रक्खा गया। कण्व की आज्ञा से शकुन्तला बालक को लेकर दुष्यन्त के पास गई। दुष्यन्त ने पत्नी और पुत्र—दोनों को अस्वीकार कर दिया। इस पर सब को विश्वास दिलानेवाली आकाशवाणी हुई—दुष्यन्त, शकुन्तला सत्य बोल रही है। यह बेटा तुम्हारा ही है अतः इसका भरण-पोषण करो। आकाशवाणी की बात मानकर दुष्यन्त ने पत्नी और पुत्र को रख लिया।

पिता दुष्यन्त के मर जाने पर भरत भारत के चक्रवर्ती सम्राट् बने। अपने शासन काल में इन्होंने गङ्गा के पावन तट पर ५५ एवं यमुना के विमल तट पर ७८ अश्वमेध यज्ञ किया था। उनमें इन्होंने प्रत्येक ब्राह्मण को तेरह सहस्र चौरासी गायें प्रदान की थी। उन्होंने चौदह लाख सुवर्ण-मण्डित विशाल-काय हाथियों का भी दान किया था। भरत ने जिन महान् कर्मों का सम्पादन किया, वैसे कर्म न तो भूतकाल में किसी ने किया है और न आगे ही कोई करेगा।

भरत ने दिग्विजय की बेला में किरात, हूण एवं यवन आदि ब्राह्मण-विद्वेषी राजाओं को मार कर यमपुरी भेज दिया था। इससे संसार में सर्वत्र उनका यश फैल गया। इनकी तीन पत्नियाँ थीं। ये तीनों ही विदर्भराज की कन्याएँ थीं। इन रानियों के पुत्र तो अवश्य हुए किन्तु वे राजा के अनुरूप नहीं थे अतः उन लोगों ने अपने बच्चों को मार डाला अतः यह वंश नष्ट हो गया। बाद में महाराज भरत ने पुत्र की कामना से मरुत्सोम नामक यज्ञ किया। इससे प्रसन्न होकर मरुतों ने भरत को भरद्वाज नामक पुत्र दिया। भरद्वाज की उत्पत्ति की कथा यह है कि एक बार बृहस्पति जी ने अपने बड़े भाई उतथ्य की गर्भवती पत्नी से मैथुन करना चाहा। उस समय गर्भस्थ शिशु (दीर्घतमा) ने बृहस्पति को ऐसा करने से मना किया किन्तु कामी बृहस्पति माने नहीं और गर्भाधान कर दिया। उतथ्य की पत्नी ममता ने अपने पति के भय से बृहस्पति द्वारा गर्भ में स्थापित बच्चे को त्याग दिया। मरुतों ने उसे ग्रहण कर लिया और बाद में उसे ही भरत को दे दिया। यही भरद्वाज भरत का दत्तक पुत्र हुआ। इसी से फिर उनका वंश चला ॥२०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२०॥

•



## इक्कीसवाँ अध्याय

( भरतवंश का वर्णन और राजा रन्तिदेव की कथा )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भरद्वाज भरत के दत्तक पुत्र थे। भरद्वाज को उनकी जननी 'वितथ' कहा करती थी अतः उनका एक नाम वितथ भी था। वितथ के पुत्र मन्थु थे। मन्थु के पाँच पुत्र थे—बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर और गर्ग। नर के एक पुत्र थे—संकृति। संकृति के दो पुत्र हुए—गुरु और रन्तिदेव। रन्तिदेव का चरित इहलोक और परलोक-दोनों में फैला हुआ था—

गुरुश्च रन्तिदेवश्च सङ्कृतेः पाण्डुनन्दन। रन्तिदेवस्य हि यश इहामुत्र च गीयते ॥९/२१/२  
वे अपने अनन्त साम्राज्य का परित्याग कर परिवार के साथ वन में निवास करते थे। वे सर्वदा जो कुछ प्राप्त हो जाता था उसे दूसरों को दे दिया करते थे। संग्रह-परिग्रह से वे बहुत दूर रहा करते थे। धैर्य उनका गुण था। वे अपने परिवार के साथ दुःख भोग रहे थे। एक बार तो लगातार अड़तालीस दिन ऐसे बीत गये कि उन्हें पीने के लिये पानी तक न मिला। उनचासवें दिन प्रातःकाल ही उन्हें कहीं से कुछ घृत, खीर, हलवा और जल मिला, उस समय उनका परिवार बड़े सङ्कट में था। भूख और प्यास के मारे वे लोग काँप रहे थे। परन्तु ज्यों ही उन लोगों ने भोजन करने की तैयारी की, त्यों ही एक ब्राह्मण अतिथि के रूप में आ गया। रन्तिदेव सबमें भगवान् का दर्शन करते थे अतः उन्होंने बड़ी श्रद्धा से आदरपूर्वक उसी अन्न में से ब्राह्मण को भोजन कराया। ब्राह्मणदेवता भोजन करके चले गये।

अब बचे हुए अन्न को रन्तिदेव ने आपस में बाँट लिया और भोजन करना चाहा। ठीक उसी समय भोजन की कामना से एक शूद्र उनके सामने आ गया। रन्तिदेव ने उसे भी भगवान् समझते हुए भोजन दे दिया। जब शूद्र खा-पीकर चला गया, तब कुत्तों को लिये हुए एक और अतिथि आया। उसने कहा—राजन्, हम और हमारे कुत्ते बहुत भूखे हैं। हमें कुछ खाने को दीजिये। रन्तिदेव ने बचे-खुचे पूरे अन्न को उसे प्रदान कर दिया। उन्होंने कुत्तों और उनके स्वामी को भगवन्मय समझकर नमस्कार किया। अब उनके पास केवल एक व्यक्ति को पीने भर के लिए जल ही बच रहा था। वे उसे आपस में बाँट कर पीना ही चाहते थे तभी एक चाण्डाल आ पहुँचा। उसने बड़ी दीन वाणी में कहा—मैं अत्यन्त नीच हूँ। प्यास लगी है। मुझे जल पिला दीजिये। उसकी करुणवाणी को सुनकर रन्तिदेव का हृदय करुणा से भर उठा। उन्होंने अमृतमय वचन कहा—मैं भगवान् से आठों सिद्धियों से युक्त परम गति नहीं चाहता और तो क्या, मुझे मोक्ष की भी कामना नहीं है। मैं चाहता हूँ तो केवल यही कि मैं सारे प्राणियों के हृदय में बैठ जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही भोगूँ, जिससे प्राणियों को किसी प्रकार का कष्ट न हो, उन्हें दुःख से छुटकारा मिल जाय—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टद्वियुक्तामपुनर्भवं वा।

आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥ ९/२१/१२

इस दीन-हीन प्राणी को थोड़ा-सा जल पिला देने की इच्छा से मेरी भूख मिट गई, प्यास बुझ गई, परिश्रम के कारण शरीर में जो थकान और दुर्बलता आ गई थी, वह दूर हो गई, मेरा दैन्य चला गया तथा मेरे शोक, मोह और विषाद का भी निवारण हो गया—

क्षुत्तृद्भ्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।

सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जीजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥ ९/२१/१३

इस प्रकार कह कर रन्तिदेव ने वह बचा हुआ जल भी उस चाण्डाल को पिला दिया और स्वयं प्यास से व्याकुल होते रहे।



श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि—परीक्षित, न कहीं कोई ब्राह्मण था और न कहीं कोई चाण्डाल। यह सब, भक्त की परीक्षा लेने के लिये, भगवान् की रची हुई माया थी। परीक्षा पूरी हो जाने पर भक्त-भय-हारी भगवान् ब्रह्मा विष्णु और महेश—ये तीनों ही उनके सामने प्रकट हो गये। रन्तिदेव ने शिर झुका कर उन्हें प्रणाम किया। उनकी एकमात्र कामना थी कि भगवान् के चरणों में उनकी अटल भक्ति बनी रहे। उनका अन्तःकरण पहले से ही कामनाओं और द्वन्द्वों से मुक्त हो चुका था अतः उनपर भगवान् की ऐसी कृपा हुई कि वे सपरिवार दिव्य लोक चले गये।

रन्तिदेव के अनुयायी भी उनके सङ्ग के प्रभाव से योगी हो गये। सब-के-सब भगवान् के ही आश्रित होकर परम भक्त बन गये—

तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः । अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः ॥९/२१/१८

अब शुकदेव जी महाराज मन्यु-पुत्र गर्ग के वंश का वर्णन करते हुए कहते हैं कि गर्ग से शिनि हुए और शिनि से गार्ग्य का जन्म हुआ। यद्यपि गार्ग्य क्षत्रिय था, फिर भी उससे ब्राह्मण-वंश चला। मन्यु के दूसरे पुत्र महावीर्य से दुरितक्षय हुए और दुरितक्षय से त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि हुए। ये तीनों ब्राह्मण हो गये। बृहत्क्षत्र के पुत्र का नाम था—हस्ती। हस्ती ने ही हस्तिनापुर नगर बसाया था—

दुरितक्षयो महावीर्यात् तस्य त्रय्यारुणिः कविः ॥

पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः । बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूदस्ती यद्धस्तिनापुरम् ॥

९/२१/२०-२१

हस्ती के तीन पुत्र थे—अजमीढ, द्विमीढ और पुरुमीढ। अजमीढ के पुत्र प्रियमेधा आदि ब्राह्मण हो गये<sup>१</sup>। अजमीढ के पुत्र बृहदिषु हुए। बृहदिषु के वंश में आगे चलकर रुचिराश्व का जन्म हुआ। रुचिराश्व का पुत्र पार था और पार का पृथुसेन। पार के दूसरे पुत्र का नाम नीप था। नीप के सौ पुत्र थे। इसी नीप ने शुक की कन्या कृत्वी से विवाह किया था। उससे ब्रह्मदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ<sup>२</sup>।

स कृत्वां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत् ॥९/२१/२५

ब्रह्मदत्त बड़ा योगी था। उसने अपनी पत्नी सरस्वती के गर्भ से विश्वक्सेन नामक पुत्र उत्पन्न किया था। इसी विश्वक्सेन ने जैगीषव्य के उपदेश से योगशास्त्र की रचना की थी। विश्वक्सेन का पुत्र था उदक्स्वन और उसका भल्लाद। ये सब बृहदिषु के वंशज हुए। इसी वंश परम्परा में आगे चलकर मुद्गलसंज्ञक ब्राह्मण-कुल हुआ। मुद्गल को एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्र का नाम था दिवोदास और कन्या का नाम था अहल्या। अहल्या का विवाह गौतम से हुआ था। इन्हीं के पुत्र थे शतानन्द। उनके पुत्र थे सत्यधृति। यह धनुर्विद्या में अत्यन्त निपुण थे। सत्यधृति के पुत्र थे शरद्धान्। एक दिन उर्वशी को देखने से शरद्धान् का वीर्य मूँज की झाड़ पर गिर पड़ा। इसी से युगल सन्तान कृपाचार्य और कृपी का जन्म हुआ। महाराज शन्तनु शिकार खेलने वन में गये हुए थे। उनकी कृपा-दृष्टि इन दोनों अबोध शिशुओं पर पड़ी। वे उन्हें अपने राज-भवन में लाये। जहाँ इनका पालन-पोषण किया गया। कृपी का विवाह धनुर्विद्या के परमाचार्य द्रोणाचार्य से हुआ था ॥२१॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२१॥

१. अजमीढस्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः ॥९/२१/२१॥

२. श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेव जी के गृहस्थ-धर्म की इतनी ही चर्चा है। किन्तु देवीभागवत में यह कुछ विस्तृतरूप से वर्णित है।

(क) विद्वानों की यह भी मान्यता है कि—श्री शुकदेव जी असंग थे। किन्तु वे वन जाते समय एक छाया-शुक रचकर छोड़ गये थे। उस छाया-शुक ने ही गृहस्थोचित व्यवहार किये थे।



## बाईसवाँ अध्याय

( दिवोदास के वंश का वर्णन, जरासन्ध तथा पाण्डव आदि की जन्म-कथा )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा— परीक्षित, मुद्गल के पुत्र दिवोदास से मित्रेयु, मित्रेयु के च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक—पुत्र हुए। सोमक के सौ पुत्र थे। उनमें सब से बड़ा जन्तु और सब से छोटा पृषत था। पृषत के पुत्र द्रुपद थे। द्रुपद के द्रौपदी नाम की पुत्री और धृष्टद्युम्न आदि पुत्र हुए। धृष्टद्युम्न के पुत्र धृष्टकेतु हुए। ये सब राजा पाञ्चाल कहे जाते थे। हस्ती के पुत्र अजमीढ हुए। इनका वर्णन पिछले २१ वें अध्याय में किया जा चुका है। अजमीढ के दूसरे पुत्र थे—ऋक्ष। ऋक्ष से संवरण हुए। संवरण का विवाह सूर्य की पुत्री तपती से हुआ था। तपती की कोख से पैदा हुए। कुरु ही कुरुक्षेत्र के स्वामी थे। कुरु के पुत्रों का नाम था—परीक्षित, सुधन्वा, जह्नु और निषधाक्ष, सुधन्वा से सुहोत्र, सुहोत्र से च्यवन, च्यवन से कृती, कृती से उपरिचरवसु और उपरिचरवसु से बृहद्रथ आदि कई पुत्र पैदा हुए। इनके भी वंश खूब फले-फूले। बृहद्रथ की एक दूसरी पत्नी के गर्भ से एक शरीर के दो टुकड़े पैदा हुए। उन्हें माता ने बाहर फेंकवा दिया। तब जरा नाम की एक राक्षसी ने 'जियो, जियो' कहकर दोनों टुकड़ों को जोड़ दिया। उसी जोड़े हुए बालक का नाम पड़ा—जरासन्ध<sup>१</sup>।

ते मात्रा बहिरुत्पृष्टे जरया चाभिसन्धिते। जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धोऽभूत् सुतः॥

९/२२/८

जरासन्ध के पुत्र का नाम था—सहदेव। आगे चलकर उन्हीं के वंश में दिलीप के पुत्र राजा प्रतीप हुए। प्रतीप के तीन पुत्र हुए—देवापि, शन्तनु और बाह्लीक। देवापि अपना पैतृक राज्य छोड़कर वन में चले गये अतः उनके छोटे भाई शन्तनु राजा बने। पूर्वजन्म में इनका नाम महाभिष था। इनकी यह विशेषता थी कि यह जिस वृद्ध के शरीर पर अपना हाथ फेर देते थे, वह जवान हो जाता था और उसे बड़ी शान्ति भी मिलती थी। इसी से इनका नाम शन्तनु रक्खा गया—

यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः। शान्तिमाप्नोति चैवाग्रं कर्मणा तेन शन्तनुः॥

९/२२/१३-१४

एक बार शन्तनु के राज्य में बारह वर्षों तक वृष्टि नहीं हुई। राजा के कारण पूछने पर ब्राह्मणों ने कहा—आप ने अपने बड़े भाई के रहते राज्य ले लिया। यह एक अधर्म है। इसी कारण राज्य में वर्षा नहीं हो रही है। इस पर शन्तनु वन में बड़े भाई को मनाने गये किन्तु इसके पहले ही उनके मन्त्री अश्मरात ने कुछ ब्राह्मणों को देवापि के पास भेज कर उन्हें वेद-विनिन्दक एवं पाखण्डी बनवा दिया था अतः वे अब राज्य के अधिकारी नहीं रह गये थे। तब शन्तनु के राज्य में वर्षा हुई। तभी से देवापि योग का आश्रय लेकर कलापग्राम में निवास करते हैं। जब कलियुग में चन्द्रवंश का नाश हो जायेगा, तब सत्ययुग के प्रारम्भ में वे फिर उसकी स्थापना करेंगे।

शन्तनु के छोटे भाई थे—बाह्लीक। बाह्लीक से सोमदत्त हुए। सोमदत्त के तीन पुत्र थे—भूरि, भूरिश्रवा और शल। शन्तनु के द्वारा गङ्गा जी के गर्भ से नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्म का जन्म हुआ। वे महान् धर्मज्ञ, परमभगवद्भक्त और महान् ज्ञानी थे। वे बेजोड़ योद्धा थे। उन्होंने युद्ध में अपने गुरु महान् योद्धा परशुराम जी को भी सन्तुष्ट कर दिया था।

शन्तनु की एक दूसरी पत्नी थी—दासराज की कन्या मत्स्यगंधा<sup>१</sup>। मत्स्यगन्धा का एक दूसरा नाम था—

१. भारत के अतीत में सर्जरी चिकित्सा अतिसंबद्ध थी। वस्तुतः जरासन्ध के शरीर के दो भागों को सफलतापूर्वक जोड़नेवाली जरा एक लेडी सर्जन थी।
२. यह कन्या वास्तव में उपरिचरवसु के वीर्य से मछली के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। किन्तु दासों (केवटों) के द्वारा पालन-पोषण करने से वह केवटों की बेटी कहलाई।



सत्यवती। उसके गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए—चित्राङ्गद औ विचित्रवीर्य। चित्राङ्गद को चित्राङ्गद नामक गन्धर्व ने युद्ध में मार डाला था। इसी दासराज की कन्या सत्यवती से पराशर जी के द्वारा व्यास जी का जन्म हुआ<sup>१</sup>। व्यास जी मेरे पिता हैं। वे भगवान् विष्णु के कलावतार कहे जाते हैं। उन्होंने वेदों की रक्षा की है।

विचित्रवीर्य ने काशिराज की कन्या अम्बिका और अम्बालिका से विवाह किया था। उन दोनों को भीष्म जी स्वयंवर से बलपूर्वक हर ले आये थे। विचित्रवीर्य अपनी दोनों पत्नियों में इतना आसक्त था कि उसे राजयक्ष्मा (टी.वी.) रोग हो गया और उसकी मृत्यु हो गई। माता सत्यवती के कहने से भगवान् व्यास जी ने अपने सन्तानहीन भाई की स्त्रियों से धृतराष्ट्र और पाण्डु दो पुत्र उत्पन्न किये। उनकी दासी से तीसरे पुत्र विदुर जी का जन्म हुआ।

**क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः। धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यजीजनत् ॥१९/२/२५**

धृतराष्ट्र का विवाह गान्धारी से हुआ था। उसके गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें सब से बड़ा था—दुर्योधन। गान्धारी को एक-कन्या भी थी। उसका नाम था—दुःशला। पाण्डु की पत्नी थी कुन्ती। शापवश पाण्डु स्त्री-सहवास नहीं कर सकते थे<sup>२</sup>। इसलिये उनकी पत्नी कुन्ती के गर्भ से धर्म, वायु और इन्द्र के द्वारा क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ये तीनों-के-तीनों महारथी थे। पाण्डु की दूसरी पत्नी का नाम था—माद्री। दोनों अश्विनीकुमारों के द्वारा उसके गर्भ से नकुल और सहदेव का जन्म हुआ। द्रौपदी पाण्डवों की सामान्य पत्नी थी। उससे इन पाँचों के क्रमशः प्रतिविन्ध्य, श्रुतसेन, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतकर्मा ये पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। पाण्डवों की दूसरी पत्नियाँ भी थीं। उनसे भी इनके पुत्र उत्पन्न हुए थे। इनमें युधिष्ठिर की पौरवी नाम की पत्नी से देवक और भीमसेन की पत्नी हिडिम्बा से घटोत्कच नाम के पुत्र हुए। अर्जुनद्वारा नागकन्या उलूपी के गर्भ से बभ्रुवाहन का जन्म हुआ। श्रीकृष्ण की बहन थी सुभद्रा। सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ हुआ था। सुभद्रा का पुत्र था अभिमन्यु। अभिमन्यु की पत्नी का नाम उत्तरा था। उत्तरा के गर्भ से तुम्हारा (परीक्षित का) जन्म हुआ है। तुम जब अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से माँ के पेट में भस्म हो रहे थे तब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रभाव से तुम्हारी रक्षा की थी। तुम्हारे चार पुत्र हैं—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन। जब जनमेजय को ज्ञात होगा कि तक्षक से तुम्हारी मृत्यु हुई है तो वह सर्पसत्र का आयोजन करेगा। उसके बाद वह अश्वमेध यज्ञ भी करेगा। जनमेजय के पुत्र शतानीक होंगे। आगे यह वंश कलियुग में राजा क्षेमक तक चल कर समाप्त हो जायेगा—

**क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥१९/२/४५**

इसी प्रकार मगध देश में जरासन्ध के पुत्र सहदेव आदि जो राजा हैं, उनका वंश रिपुञ्जय पर्यन्त चलकर समाप्त हो जायेगा ॥२२॥

**॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२२॥**



१. जिस समय पराशर ने दासराज की कन्या के गर्भ में अपना वीर्य स्थापित किया उस समय अप्रतिम शुभ मुहूर्त चल रहा था। उस समय माँ के गर्भ में आया हुआ बालक महान् यशस्वी, तेजस्वी और भगवान् का अंश होगा—बस, यही सोचकर महर्षि पराशर ने सत्यवती के साथ सम्भोग किया।
२. एक दिन पाण्डु वन में शिकार कर रहे थे। समय दिन का था। मनुष्य को दिन में संभोग वर्जित है अतः एक मुनि और उनकी पत्नी मृग और मृगी का रूप धारण कर रति-क्रिया कर रहे थे। पाण्डु इस रहस्य को नहीं जानते थे अतः उन्होंने मृग का वध कर दिया। इस पर संभोग से अतृप्त मृगी ने पाण्डु को शाप दिया—जब भी तुम स्त्री-सहवास करोगे तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी।



## तेईसवाँ अध्याय

( ययाति के पुत्र अनु, द्रुह्य, तुर्वसु और यदु के वंश का वर्णन )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, ययातिनन्दन अनु के तीन पुत्र हुए—सभानर, चक्षु और परोक्ष । सभानर का कालनर, कालनर का सृञ्जय, सृञ्जय का जनमेजय, जनमेजय का महाशील तथा महाशील का पुत्र हुआ महामना—

अनोः सभानरश्चक्षुः परोक्षश्च त्रयः सुताः । सभानरात् कालनरः सृञ्जयस्तत्सुतः स्मृतः ॥

९/२३/१

आगे इसी वंश में बलि उत्पन्न हुए । राजा बलि की पत्नी के गर्भ से दीर्घतमा मुनि ने छः पुत्र उत्पन्न किये । इनके नाथ थे—अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, सुह्य, पुण्ड्र और अन्ध्र । इन लोगों ने पूर्व दिशा में अपने नाम से अलग-अलग प्रान्त वसाकर राज्य किया ।

अङ्ग के वंश में आगे चलकर धर्मरथ का बेटा चित्ररथ हुआ । यह चित्ररथ ही रोमपाद के नाम से प्रसिद्ध है । रोमपाद के मित्र थे अयोध्याधिपति महाराज दशरथ । प्रथमतः रोमपाद को कोई सन्तान न थी अतः दशरथ ने उन्हें अपनी शान्ता नाम की कन्या गोद दे दी । शान्ता का विवाह ऋष्यशृङ्ग मुनि से हुआ । ऋष्यशृङ्ग विभाण्डक के पुत्र थे । विभाण्डक ने इन्हें हरिणी के गर्भ से उत्पन्न किया था । एक बार राजा रोमपाद के राज्य में बहुत दिनों तक वर्षा नहीं हुई । ऋष्यशृङ्ग के वहाँ आते ही प्रभूत वर्षा हुई । ऋष्यशृङ्ग ने यज्ञ द्वारा रोमपाद और दशरथ को पुत्र प्राप्त कराया था ।

रोमपाद के पुत्र चतुरङ्ग हुए । इन्हीं के वंश में बृहद्रथ का जन्म हुआ । बृहद्रथ के पुत्र बृहन्मना और बृहन्मना के पुत्र जयद्रथ हुए । आगे चल कर इसी वंश में सत्कर्मा के पुत्र अधिरथ पैदा हुए । अधिरथ निःसन्तान थे । एक दिन उन्होंने गङ्गा के तट पर भ्रमण करते हुए देखा कि एक पिटारी में एक नवजात शिशु बहता हुआ चला जा रहा है । वे उसे अपने घर लाये तथा अपना पुत्र बना लिया । आगे यही बालक कर्ण के नाम से विख्यात हुआ । यह बालक सूर्य के द्वारा कुमारी अवस्था में कुन्ती के गर्भ से कान द्वारा उत्पन्न हुआ था इसीलिये इसका नाम कर्ण पड़ा । कर्ण के पुत्र वृषसेन थे । ययाति के पुत्र द्रुह्य से बभ्रु हुए । तुर्वसु के वह्नि हुए । इसी कुल में आगे करन्धम और करन्धम के पुत्र मरुत हुए । मरुत सन्तानहीन थे अतः उन्होंने पुरुवंशी दुष्यन्त को अपना पुत्र बना कर रक्खा था किन्तु बाद में वह राज्य की कामना से अपने ही वंश में लौट गये ।

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, अब मैं ययाति के ज्येष्ठ पुत्र यदु के पुण्य-वंश का वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसका श्रवण करने पर मानव पाप-मुक्त हो जाता है । इसी वंश में नराकृति भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था—

ययातेज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वशं नरर्षभ ॥ वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम् ।

यदोर्वशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः ॥

९/२३/१८-२०

यदु के चार पुत्र थे—सहस्रजित्, क्रोष्टा, नल और रिपु । सहस्रजित् के पुत्र थे शतजित् । शतजित् के तीन बेटे थे—महाहय, वेणुहय तथा हैहय । हैहय के धर्म, धर्म के नेत्र, नेत्र के कुन्ती और कुन्ती के सोहजि हुए । सोहजि

१. यहाँ अधिरथ को सूत नहीं, क्षत्रिय बतलाया गया है । अन्यत्र इन्हें सूत (बढ़ई) बतलाया गया है ।



के महिष्मान् हुए और महिष्मान् के भद्रसेनक । भद्रसेनक के दो पुत्र हुए—दुर्मद और धनक । धनक के चार पुत्र हुए—कृतवीर्य, कृताग्नि, कृतवर्मा और कृतौजा ।

कृतवीर्य के पुत्र सहस्रार्जुन हुए, वस्तुतः इनका सही नाम था—अर्जुन । हजार भुजाओं से युक्त होने के कारण इन्हें सहस्रार्जुन कहते थे । यह महान् प्रतापी और सप्तद्वीपा वसुमती के अधिपति थे । दत्तात्रेय की कृपा से उन्हें योगसिद्धि की उपलब्धि हुई थी । कोई भी राजा उनकी समता नहीं प्राप्त कर सकेंगे, न योग में और न यज्ञ में ही । चिरकाल तक उन्होंने राज्य-सुख का उपभोग किया था । उनके सौ पुत्र थे । पञ्चानबे पुत्रों का वध परशुराम ने कर दिया था । केवल पाँच पुत्र ही बचे थे । उनके नाम हैं—जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और अर्जित । जयध्वज के वंश में तालजंघ आदि का वंश चला । मधु के सौ पुत्र थे । जिनमें वृष्णि सबसे बड़ा था । मधु, वृष्णि और यदु—इन तीनों के कारण ही श्रीकृष्ण को मधुवंशी, वृष्णिवंशी और यदुवंशी कहा जाता है । आगे चलकर इस वंश में ज्यामघ नाम के एक राजा हुए । उनकी पत्नी का नाम था—शैव्या । वे निःसन्तान थे । पत्नी के भय से दूसरा विवाह भी नहीं किये । एक बार वे अपने शत्रु की कन्या भोज्या को हर कर लाये । राजा के साथ रथ पर कन्या को बैठी देखकर शैव्या ने डाँट कर पूछा—अजी, यह कौन लड़की है ? किसे आप साथ में लाये हैं । राजा ने कहा—यह तुम्हारी पुत्रवधू है । इस पर शैव्या ने मुस्कराकर कहा—न कोई मेरा पुत्र है और न कोई सौत ही फिर यह कैसे मेरी पुत्रवधू हुई ? ज्यामघ ने कहा—रानी, यह तेरे भावी पुत्र की पत्नी बनेगी । विश्वेदेवता एवं पितरों ने राजा के उक्त वचन का अनुमोदन कर दिया । फलतः उनकी कृपा से शैव्या तत्काल गर्भवती हो गई । उससे जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका विवाह भोज्या के साथ कर दिया गया । शैव्या के पुत्र का नाम था—विदर्भ ।

विष्णु पुराण का वचन है कि आज तक सृष्टि में जितने भी पत्नी-भक्त राजा हुए हैं, उनमें ज्यामघ की बराबरी का कोई नहीं है और न आगे कोई होनेवाला ही है—

भार्याविश्याश्च ये केचिद् भविष्यन्त्यथवा मृताः । तेषां तु ज्यामघः श्रेष्ठः शैव्यापतिरभून्नृपः ॥

वि० पु० ४/१२/१३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

## चौबीसवाँ अध्याय

( यदुवंशी विदर्भ आदि राजाओं के वंश का वर्णन )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित राजा विदर्भ की भोज्या नामक पत्नी से तीन पुत्र हुए—कुश, क्रथ और रोमपाद । रोमपाद विदर्भवंश में बहुत ही महान् पुरुष हुए—

तस्यां विदर्भोऽजनयत् पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ । तृतीयं रोमपादं च विदर्भकुलनन्दनम् ॥ १/२४/१  
रोमपाद के पुत्र थे बभ्रु । बभ्रु से कृति, कृति से उशिक और उशिक के हुए चेदि फिर चेदि से शिशुपाल आदि का जन्म हुआ ।

क्रथ के पुत्र थे कुन्ति । कुन्ति के धृष्टि, धृष्टि के निर्वृति, निर्वृति के दशार्ह और दशार्ह के व्योम पुत्र हुए । यह वंश आगे भी चला । इसी में शकुनि, करम्भि, देवरात, देवक्षत्र—ये सब क्रमशः पैदा हुए । देवक्षत्र से मधु, मधु से कुरुवंश और कुरुवंश से अनु हुए । अनु से पुरुहोत्र, पुरुहोत्र से आयु और आयु से सात्वत का जन्म हुआ । सात्वत



के सात पुत्र थे—भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि, देवावृध, अन्धक और महाभोज । भजमान की दो पत्नियाँ थीं । दोनों से तीन-तीन पुत्र पैदा हुए । उनके नाम थे—निम्लोचि, किङ्किण, धृष्टि, शताजित् सहस्राजित् और अयुताजित् । देवावृध के पुत्र का नाम था—बभ्रु । ये पिता-पुत्र अनुपम थे । बभ्रु मानव-शिरोमणि थे तो देवावृध देवोपम । इन दोनों के उपदेश से सहस्रों व्यक्तियों ने मोक्ष-पद की प्राप्ति की । सात्वत के पुत्रों में महाभोज भी महान् धर्मात्मा था । उसी के वंश में भोजवंशी यादव हुए ।

राजन्, वृष्णि के दो पुत्र थे—सुमित्र और युधाजित् । युधाजित् के शिनि और अनमित्र—ये दो पुत्र थे । अनमित्र से निम्न का जन्म हुआ । सत्राजित् और प्रसेन नाम से प्रसिद्ध यदुवंशी निम्न के ही पुत्र थे । अनमित्र का एक और पुत्र था, जिसका नाम था—शिनि । शिनि के पुत्र थे सत्यक और सत्यक के थे युयुधान । युयुधान को सात्यकि कहा जाता है । सात्यकि के भी कई पुत्र थे । अनमित्र के तीसरे पुत्र का नाम वृष्णि था । वृष्णि के दो पुत्र हुए—श्वफल्क और चित्ररथ । श्वफल्क की पत्नी का नाम था गान्दिनी । श्वफल्क के तेरह पुत्र थे । इनमें अक्रूर सबसे बड़े थे । आगे इस वंश में विदूरथ, कुरुर, अन्धक और आहुक हुए । आहुक के पुत्र हुए—देवक और उग्रसेन । देवक के देववान् आदि चार पुत्र थे । इन पुत्रों की सात बहनें भी हुई थीं । इनके नाम थे—धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी । वसुदेव जी ने इन सातों बहनों के साथ विवाह किया था—

तेषां स्वसारः सप्तासन् धृतदेवादयो नृप । शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता ।  
सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥ ९/२४/२२-२३

उग्रसेन का पुत्र कंस था । कंस के सुनामा आदि आठ भाई तथा कंसा, कंसवती आदि पाँच बहनें थीं । इनका विवाह वसुदेव के छोटे भाई देवभाग आदि के साथ हुआ था । आगे इसी वंश में हृदीक के पुत्र देवमीढ हुए । देवमीढ के पुत्र शूर थे । शूर की पत्नी थी मारिषा । मारिषा से वसुदेव, देवभाग आदि उन्नीस पुत्र हुए । जिस समय वसुदेव का जन्म हुआ था उस समय देवताओं की दुन्दुभियाँ स्वयं बजने लगीं । इसी से इनका एक नाम आनकदुन्दुभि भी पड़ गया—

देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि । वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम् ॥ ९/२४/२९-३०

वसुदेव आदि की पाँच बहनें भी थीं । उनके नाम हैं—पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी । शूर के मित्र थे भोजराज कुन्ति, उन्हें कोई सन्तान नहीं थी अतः शूर ने पृथा को उन्हें गोद दे दिया इसी से उसका नाम कुन्ती प्रसिद्ध हुआ ।

एक समय दुर्वास महाराज कुन्तिराज के अतिथि बने । राजा ने मुनि की सेवा का भार कुन्ती के कन्धों पर डाल दिया । कुन्ती ने बड़ी तत्परता और सावधानी के साथ उनकी सेवा-शुश्रूषा की । मुनि कुन्ती पर प्रसन्न हो उठे अतः जाते समय उन्होंने कुन्ती को वह विद्या, मन्त्र, बतला दिया जिसके पढ़ते ही देवता सामने उपस्थित हो जाते थे । मन्त्र-विद्या का नाम था—देवहूती । एक दिन उस विद्या के प्रभाव की परीक्षा लेने के लिये कुन्ती ने भगवान् सूर्य का आवाहन किया । उसी समय सूर्य कुन्ती के सामने आकर खड़े हो गये । उसने हाथ जोड़कर भगवान् सूर्य से कहा—प्रभो, मैंने मन्त्र-विद्या की परीक्षा के लिये आप को बुलाया था अतः आप मुझे क्षमा करें । सूर्य ने कहा—देवि, मेरा दर्शन कभी भी निष्फल नहीं जाता है । मेरे द्वारा तुम्हें एक पुत्र उत्पन्न होगा, किन्तु पुत्र उत्पन्न होने से तुम्हारी योनि दूषित न हो इसका उपाय मैं कर दूँगा । ऐसा कह कर सूर्य अपने लोक चले गये । उसी समय कुन्ती से अत्यन्त तेजस्वी एक पुत्र उत्पन्न हुआ किन्तु लोकलज्जा के भय से कुन्ती ने उसे नदी के जल में प्रवाहित कर दिया । कर्ण से (कान से) उत्पन्न होने के कारण उस बालक का नाम कर्ण पड़ा । उसी पृथा (कुन्ती) का विवाह तुम्हारे परदादा पाण्डु से हुआ था । पाण्डु बड़े उच्च कोटि के वीर थे ।



शूर की दूसरी कन्या श्रुतदेवा का विवाह करूष देश के राजा वृद्धशर्मा से हुआ था। उसके गर्भ से दन्ववक्त्र का जन्म हुआ। यह वही दन्ववक्त्र है, जो पूर्व जन्म में सनकादि ऋषियों के शाप से हिरण्याक्ष हुआ था। राजाधिदेवी का विवाह जयसेन से हुआ जिससे विन्द और अनुविन्द पैदा हुए। उनकी बहन का विवाह श्रीकृष्ण के साथ हुआ था। चेदिराज दमघोष से श्रुतश्रवा का विवाह हुआ था। शिशुपाल का जन्म इसी से हुआ था।

श्री शुकदेव जी महाराज वसुदेव की बहनों का वर्णन करने के बाद अब उनके भाइयों के वंश का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि देवभाग का विवाह कंस की बहन कंसा से हुआ था। कंसाके दो पुत्र थे—चित्रकेतु और बृहद्वल। श्रीमद्भागवत में बृहद्वल को ही उद्धव कहा गया है। हरिवंश इस प्रकार का स्पष्ट वर्णन करता है।

वसुदेव जी की पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला और देवकी—ये सात पत्नियाँ थीं। रोहिणी से बल, गद, सारण आदि सात पुत्रों का जन्म हुआ। वसुदेव की सबसे छोटी पत्नी देवकी से कीर्तिमान्, सङ्कर्षण आदि सात पुत्र हुए। आठवें पुत्र साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण थे। इनकी बहन सुभद्रा थी जो तुम्हारी दादी थीं।

परीक्षित, जब-जब संसार में धर्म का हास और पाप की वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् श्रीहरि अवतार ग्रहण करते हैं—

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः । तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥९/२४/५६

भगवान् श्रीकृष्ण नें ब्रज, गोकुल आदि विविध स्थानों में जो-जो अलौकिक लीलाएँ की हैं, उनके श्रवण से मानव की कर्म-वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं, सारे पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण नें अवतार तो लिया था मथुरा में वसुदेव के घर किन्तु वे वहाँ रहे नहीं। वहाँ से गोकुल नन्द बाबा के घर चले गये। वहाँ अपना प्रयोजन पूरा कर पुनः मथुरा वापस लौट आये। उन्होंने ब्रज में, मथुरा में और द्वारका में रहकर अनेकों शत्रुओं का संहार किया। बहुत-सी स्त्रियों से विवाह करके सहस्रों पुत्र उत्पन्न किये। साथ ही अपनी वाणीभूत श्रुतियों की मर्यादा स्थापित करने के लिये अनेक यज्ञों द्वारा अपना ही यजन किया—

जातो गतः पितृगृहाद् ब्रजमेधितार्थो हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः ।

उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे आत्मानमात्मनिगमं प्रथयद्भनेषु ॥९/२४/६६

कौरव और पाण्डवों के मध्य उत्पन्न हुए आपस के कलह से उन्होंने पृथिवी का बहुत-सा भार हल्का कर दिया तथा युद्ध में अपनी दृष्टि से ही राजाओं की बहुत-सी अक्षौहिणियों का ध्वंस करके, संसार में महाभारत की जीत का श्रेय अर्जुन को देकर तथा उद्धव को आत्मतत्त्व का पाठ पढ़ा कर वे अपने परम धाम को चले गये—

पृथ्व्याः स वै गुरुभरं क्षपयन् कुरूणामन्तःसमुत्थकलिना युधि भूपचम्बः ।

दृष्ट्या विधूय विजये जयमुद्विघोष्य प्रोच्योद्धवाय च परं समगात् स्वधाम ॥९/२४/६७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के नवम स्कन्ध का यह चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२४॥

॥ नवम स्कन्ध समाप्त ॥

•

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ भगवद्गीता, ४/७॥



## दशम स्कन्ध

### (पूर्वाब्धि)

### पहला अध्याय

( भगवान् के द्वारा भूमि को आश्वासन, वसुदेव-देवकी का विवाह और  
कंस के द्वारा देवकी के छः पुत्रों का वध )

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः । राज्ञां चोभयवंशयानां चरितं परमाद्भुतम् ॥१०/१/१  
राजा परीक्षित् ने पूछा—भगवन्, आपने नवम स्कन्ध में चन्द्रवंश एवं सूर्य वंश<sup>१</sup> का विस्तार से वर्णन किया है । उसमें उत्पन्न हुए राजाओं के विलक्षण चरित का विवरण और जिन्होंने अपनी जवानी अपनी माता के भोग के लिये पिता को नहीं दी थी उन धर्मात्मा यदु के वंश का भी विशद वर्णन प्रस्तुत किया गया है । यदुवंश एवं नन्दवंश<sup>२</sup> में, अपने अंशस्वरूप बलराम के साथ, अवतार लेकर समस्त प्राणियों के जीवनदाता भगवान् ने जिन-जिन लीलाओं को किया है, उनका विस्तार से वर्णन हमें सुनाइये—

अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः । कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥१०/१/३  
भगवान् का मङ्गलमय चरित मुक्त, मुमुक्षु और विषयी-सभी को परम प्रिय है<sup>३</sup> । यह भवरोग की महान् औषध है । कान और मन-दोनों को प्रसन्न करनेवाला है । पशुघाती कसाई को अथवा आत्मघाती पामर को छोड़कर ऐसा कौन प्राणी होगा जो इसे सुनने की इच्छा न करे ?—

निवृत्ततर्पैरुपगीयमानाद्

भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।

क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥१०/१/४  
“विना पशुघ्नात्” की विविध व्याख्यायें की गई हैं । उनमें दो-चार की चर्चामात्र यहाँ कर दे रहे हैं । (१) पीछे बतलाया गया कि कसाई भगवान् के चरित से प्रेम नहीं करता है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान् के लीला श्रवण में रमण करनेवाला “सदन” तो कसाई ही था—“तरिगे सदन कसाई” । तो फिर इसका अर्थ किया जायेगा—

१. यहाँ राजा परीक्षित् ने वंशोल्लेख के प्रसङ्ग में पहले सोम का नाम लिया । ‘सोमसूर्ययोः’ कहा । ज्येष्ठ कुल होने के नाते पहले सूर्यवंश का नाम लेना उचित था । ‘सूर्यसोमयोः’ कहना चाहिये था । किन्तु यहाँ ऐसा कहा नहीं । इसका कारण यह है कि जिस वंश में हमारे आराध्य जन्म लिये हैं, वही प्रशस्त है, उसी का नाम पहले लेना उचित है ऐसा सोच कर ही परीक्षित् ने ‘सोम-सूर्ययोः’ कहा है ।
२. राजा ने जब यदुवंश में भगवान् के अवतार की बात कही तो शुकदेव जी ने पूछा—नन्दवंश में जन्म लेकर भगवान् ने जो लीलाएँ की हैं, क्या उन्हें नहीं सुनना चाहते ? इस पर राजा ने मानो कहा—‘यदोर्वंशे’ यदुवंश में और ‘यत् आ उरुवंशे वैश्यवंशे नन्दवंशे’ इत्यर्थः, अर्थात् वैश्यनन्द के वंश में भी अवतार लेकर भगवान् ने जिन लीलाओं को किया है, उन्हें भी सुनाने की कृपा करें अर्थात् भगवान् कृष्ण की मथुरा-लीला और वृन्दावन—लीला दोनों का श्रवण करावें । भगवान् की लीलाओं का प्राण है—वृन्दावन-लीला अतः उसे अवश्य सुनावें ।
३. संसार में तीन प्रकार के प्राणी हैं—विमुक्त, विरत और विषयी । यही क्रमशः सिद्ध, साधक तथा विषयी कहे जाते हैं । ये तीनों प्रकार के प्राणी भगवान् की कथा का रसपान बड़े प्रेम से करते हैं । फलतः विमुक्त को भक्ति, विरत को उत्तम गति और विषयी को मन माफिक सम्पत्ति की उपलब्धि होती है—  
विषयी साधक सिद्ध समाने । त्रिविध जीव जग वेद बखाने ।  
सुनहिं विमुक्त विरत अरु विषयी । लहहिं भगति गति संपति नितई ॥ रामचरितमानस ॥



“पशव इन्द्रियाणि आह्वयन्ते निबध्यन्ते यैस्ते पशुघ्नाः = योगिनः” । इन्द्रियों को बलात् पीडित करनेवाले योगी लोग पशुघ्न कहे जाते हैं । वे ही भगवान् के चरित-श्रवण से मन मोड़ सकते हैं किन्तु यह व्याख्या भी ठीक नहीं । बड़े-बड़े योगी यति भी भगवान् के चरित-गान का रस लिया करते हैं—“गायन्ति यं योगिनो” । इस पद से यही अर्थ ध्वनित किया गया है । भागवत १/८/२० में इसी अर्थ का प्रतिपादन कुन्ती बड़ी दृढ़ता से करती है । अतः यह भी व्याख्या बहुत अच्छी नहीं, तो फिर इसकी व्याख्या की जायेगी—“पशवो यज्ञीयाः पशव आह्वयन्ते घात्यन्ते यज्ञेषु यैस्ते पशुघ्ना यज्ञकर्तारः” । यज्ञों में पशुहिंसा करनेवाले याज्ञिक पशुघ्न हैं । वे ही भगवच्चरित्र से विमुख हो सकते हैं । किन्तु यह व्याख्या भी उचित नहीं । बड़े-बड़े प्रजापतियों का अध्वर भगदर्शन के लिये हुआ करता था । वे भगवान् की स्तुति में परम सन्तोष का अनुभव करते थे तो फिर इसकी व्याख्या की जायेगी—“पशव आह्वयन्ते ताडयन्ते येन तत्” । पशु जिससे मारे जाते हैं, वह सूखा डण्डा अथवा “पशव आह्वयन्ते घात्यन्ते यस्मिन् तत्” । कसाई जिस काठ पर पशु काटते हैं वह काठ पशुघ्न है । सूखा डण्डा अथवा कसाई का ठीला (ठेहा) ही पशुघ्न है । वही भगवान् के चरित से विमुख हो सकता है, दूसरा कोई नहीं ।

आगे परीक्षित ने कहा—महाराज, हमारे पितामह महाराज युधिष्ठिर और अर्जुन आदि जिस भगवान् की चरणरूपी नैया के सहारे, कठिनाइयों से भरी हुई दुस्तर कौरव-सेनारूपी महासागर को, बड़ी आसानी से पार कर सके, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण की लीला का पान हमें करावें । उनकी कृपा का वर्णन मैं कहाँ तक करूँ ? मैं माँ के गर्भ में था । कौरवों एवं पाण्डवों के वंश-वृक्ष का एकमात्र अवशिष्ट बीज मैं ही था । अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से मेरा यह शरीर जल चुका था । रोती हुई मेरी माँ उस विपत्ति की अवस्था में कृष्ण की शरण में गई । भगवान् कृष्ण ने उठाया सुदर्शन चक्र और सीधे प्रवेश कर गये मेरी माता की कोख में । वहाँ सुदर्शन के तेज से ब्रह्मास्त्र को दग्ध किया और अपनी अमृत-वर्षिणी दृष्टि से मुझे पुनः उज्जीवित कर दिया । उन्हीं भगवान् की लीला का श्रवण हमें करावें—

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।

जुगोप कुक्षिज्ञात आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गताथाः ॥ १०/१/६

मुनिवर, जो समस्त प्राणियों के बन्धन एवं मुक्ति के कारण हैं, जो कृपावश ही सम्प्रति नर-लीला करने आये हैं, आप उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण की लीला का श्रवण हमें कराने का अनुग्रह करें—“मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्” ॥७॥

भगवान्, आपने अभी बतलाया था कि बलराम जी रोहिणी के पुत्र थे । इसके बाद देवकी के पुत्रों में भी आप ने उनकी गणना की है । दूसरा शरीर धारण किये बिना एक साथ दो माताओं का पुत्र होना कैसे संभव है ? असुरों को मुक्ति और भक्तों को भक्ति प्रदान करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण वात्सल्य स्नेह से भरे हुए अपने पिता के घर को छोड़कर व्रज में क्यों चले गये ? यदुवंश शिरोमणि भक्तवत्सल प्रभु ने नन्द आदि गोपबन्धुओं के साथ कहाँ-कहाँ निवास किया ? विधि, हरि और शम्भु को भी नचानेवाले श्रीकृष्ण ने व्रज में और मथुरा में रहकर कौन-कौन-सी लीलाएँ कीं ? महाराज, आप यह भी बतलाइये कि उन्होंने अपनी माँ के भाई मामा कंस को अपने हाथों क्यों मार डाला । मामा तो भांजे के हाथों से मारे जाने के योग्य नहीं होता ।

यह भी बतलाइये कि मानव शरीर धारण करके उन्होंने द्वारकापुरी में यदुवंशियों के साथ कितने वर्षों तक निवास किया ? उनकी कितनी पत्नियाँ थीं ? इन सारी बातों को और जिन बातों को मैं नहीं पूछ सका हूँ, उन्हें भी बतलाने की कृपा करें यदि वे कृष्ण से सम्बन्ध रखती हों तो । आप सर्वज्ञ हैं और कृष्ण-कथा को सुनने की प्रबल श्रद्धा मेरे मन में विद्यमान है ।



श्री शुकदेव जी—राजन, मैं देख रहा हूँ कि आप चार दिनों से कुछ खाये नहीं हैं अतः कुछ भोजन कर लें तब कथा का क्रम आगे बढ़ाया जाय<sup>१</sup> ।

महाराज परीक्षित्—गुरुदेव, कदाचित् आप ने ध्यान नहीं दिया । मैंने चार दिनों से भोजन तो नहीं ही किया है, किन्तु जल भी नहीं ग्रहण किया है । फिर भी असह्य भूख-प्यास मुझे तनिक भी नहीं सता रही हैं । एक दिन इसी प्यास से व्याकुल होकर मैंने मुनि के गले में मरा हुआ साँप डालने का अपराध किया था । सम्प्रति मैं आपके मुख-चन्द्र से बरसनेवाले कथारूप अमृत का पान कर रहा हूँ अतः भूख-प्यास का कोई असर ही नहीं है । अमृत-पान करनेवाले को भला भूख-प्यास कैसे व्याकुल कर सकती है ?—

नैयातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥१०/१/१३

सूतजी ने कहा—शौनक जी, राजा परीक्षित् के इतने सुन्दर प्रश्न को सुनकर परम भागवत श्रीशुकदेव जी प्रसन्न हो उठे । उन्होंने इतना उत्तम प्रश्न करने के लिये राजा को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया । इसके बाद उन्होंने कलि के पापों को धो डालने वाले भगवान् के चरित का वर्णन प्रारम्भ किया—

एवं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं, वैयासकिः स<sup>१</sup> भगवान् विष्णुरातम् ।

प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्तुमारभत, भागवतप्रधानः ॥१०/१/१४

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजर्षिःश्रेष्ठ, आप की बुद्धि ने बड़ा ही उत्तम निर्णय किया है, जिससे कि भगवान् श्रीकृष्ण की कथा में आप की स्वाभाविक प्रीति हो गई है । कथा सुनना तो दूर, वासुदेव-कथा-विषयक प्रश्न भी वक्ता, प्रश्नकर्ता और श्रोता—तीनों को ठीक वैसे ही पवित्र कर देता है, जैसे भगवान् के चरण का धोवन गंगा-जल देखनेवाले, छूनेवाले और स्नान करनेवाले—तीनों प्रकार के व्यक्तियों को पावन बना देता है<sup>१</sup> । अब मैं सर्वप्रथम आपको भगवान् के अवतरित होने का कारण बतला रहा हूँ—

एक समय की घटना है । दैत्यों ने दुष्ट राजाओं का रूप धारण कर पृथिवी को बोझिल बना रक्खा था । पृथिवी उनके भार से आक्रान्त थी, पीडित थी अतः वह गौ का रूप धारण कर रोती हुई मेरुपर्वत पर ब्रह्मा जी की शरण में गई । रो-रोकर उसने उन्हें अपना सारा दुःख सुनाया । उस समय उसका मन खिन्न था और शरीर दुर्बल । इस पर ब्रह्मा जी पृथिवी और देवताओं को लेकर भगवान् शङ्कर जी के साथ क्षीर-सागर के तट पर गये जहाँ नारायण विश्राम किया करते हैं । वहाँ वे पुरुषसूक्त से भगवान् विष्णु की स्तुति कर उनके ध्यान में निमग्न हो गये । ध्यानावस्था में ही उन्हें भगवान् की वाणी सुनाई पड़ी । उसे सुन कर उन्होंने देवताओं से कहा—देवताओं, मैंने भगवान् की वाणी

१. हृदय—वस्तुतः शुकदेव जी दशम स्कन्ध की लीला कहना नहीं चाहते थे, क्योंकि इसमें राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है । राधा जी शुकदेव जी की गुरु हैं । गुरु का प्रसंग आते ही उनके समाधिस्थ होने का खतरा था । समाधि लगते ही कथा का क्रम विच्छिन्न हो जायेगा ।

२. पीछे निर्देश किया जा चुका है कि शुकदेव महाराज दशम स्कन्ध की लीला का वर्णन करने में अपने आप को असमर्थ पा रहे थे अतः उन्होंने कृष्ण का ध्यान कर उनसे कहा—प्रभो, आप मेरी जिह्वा पर बैठकर स्वयं अपनी लीला का वर्णन करें । मेरा मुख तो केवल लाउडस्पीकर का कार्य करेगा । इस भाव की अभिव्यक्ति 'सभगवान्' पद को समश्रित मान लेने पर होती है—'भगवता सह सभगवान्' = अर्थात् भगवान् के सहित शुकदेव जी ने भगवान् की लीला का वर्णन प्रारम्भ किया ।

३. भागवत-कथा के भक्तों का कहना है कि—यहाँ "त्रीन् पुरुषान्" का भाव यह है कि—कथा-विषयक प्रश्न वक्ता, प्रश्न और श्रोता को तो पवित्र करता ही है, किन्तु इनके तीन-तीन पुरखों को भी तार देता है—वक्ता पृच्छकं श्रोतृन् पुनाति तथा एतेषां त्रीन् पुरुषान् पूर्वपुरुषान् अपि पुनाति ।"



सुनी है। उसे मैं तुम लोगों को सुना रहा हूँ। सुनकर तुम लोग शीघ्र वैसा ही करो जैसा भगवान् का आदेश है। भगवान् को पृथिवी की पीडा का पहले से ही पता है। वे ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। उनका आदेश है—कि देवगण अपने-अपने अंश से यदुवंश में जन्म ग्रहण करें। वसुदेव जी के घर स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् प्रकट होंगे। उनकी और उनकी प्रियतमा राधा रानी की सेवा के लिये देवाङ्गनाएँ भी जन्म ग्रहण करें। भगवान् के कला स्वरूप स्वयंप्रकाश भगवान् शेष भी उनका प्रिय कार्य करने के लिये उनके बड़े भाई के रूप में अवतार ग्रहण करेंगे<sup>१</sup>। सकल जगत् को नचाने में समर्थ भगवान् की ऐश्वर्यशालिनी योगमाया भी उनकी लीला के कार्य सम्पन्न करने के लिये यशोदा के गर्भ से प्रकट होगी—

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः। जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥

वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्। अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकर्षया॥

विष्णोर्माया भगवती यया संमोहितं जगत्। आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थं सम्भविष्यति॥

१०/१/२३-२५

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, देवताओं को आदेश देकर तथा पृथिवी को ढाढस बँधाकर ब्रह्मा जी अपने लोक को चले गये।

प्राचीन काल में यदुवंशी राजा थे शूरसेन। वे मथुरापुरी में रहकर मथुरा-मण्डल और शूरसेन-मण्डल का शासन करते थे। उसी समय से मथुरा ही समस्त यदुवंशी राजाओं की राजधानी बन गई थी। भगवान् श्रीहरि मथुरा में सर्वदा विराजमान रहते हैं—“मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः” ॥२८॥ कुछ समय के बाद, उग्रसेन के भाई देवक की कन्या देवकी का विवाह शूर के पुत्र वसुदेव के साथ सम्पन्न हुआ<sup>२</sup>। विवाह के बाद वसुदेव जी अपनी नवविवाहिता पत्नी देवकी के साथ घर जाने के लिये रथ पर सवार हुए। उग्रसेन का लड़का था कंस। वह अपनी चचेरी बहन देवकी को बहुत प्यार करता था अतः उसको प्रसन्न करने के लिये कंस स्वयं घोड़ों की लगाम पकड़कर रथ हाँकने लगा। देवक अपनी पुत्री देवकी से बहुत प्रेम करते थे। देवक ने अपनी कन्या को दहेज में चार सौ हाथी, पन्द्रह सहस्र घोड़े और नौ सौ अथवा अठारह सौ रथ दिया। बेटी की सेवा के लिये उन्होंने दो सौ दासियाँ भी प्रदान की। बिदाई की बेला में वर-वधू के मङ्गल के लिये एक ही साथ शङ्ख, तुरही, मृदङ्ग और दुन्दुभियाँ बजने लगीं। मार्ग में जिस समय घोड़ों की रास पकड़कर कंस रथ हाँक रहा था, उस समय आकाशवाणी ने उसे सम्बोधित कर के कहा—“अरे मूर्ख कंस ! जिस देवकी को तू इतने प्रेम से रथ पर बैठा कर ले जा रहा है, उसके आठवें गर्भ की सन्तान तुझे मार डालेगी—

पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक्। अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो<sup>३</sup> हन्ता यां वहसेऽबुध॥

१०/१/३४

१. रामावतार के समय शेष लघु बन्धु लक्ष्मण के रूप में जन्मे थे। छोटे होने के नाते वे राम की सारी बातें मानने के लिये बाध्य थे। फलतः वे बड़े भाई की यथेच्छ सेवा नहीं कर सकते थे। तुलसीदास ने “नयन तररे राम” से यही सूचित किया है। यही कारण है कि कृष्णावतार के काल में उन्होंने बड़े भाई के रूप में जन्म-ग्रहण किया है। इस अवतार में वे यथेच्छ मनमानी सेवा करने के लिये ही बड़े भाई बने हैं।
२. प्राचीनकाल की मान्यता थी कि—“मथुरा की लड़की और गोकुल की गाय। करम फुट तो बाहर जाय ॥” अतः मथुरा की बेटी मथुरा में ही ब्याही जाती थी। इसीलिये एक-एक व्यक्ति से कई-कई लड़कियाँ ब्याह दी जाती थीं। स्वयं देवकी की सारी बड़ी बहने वसुदेव जी के साथ ब्याही गई थीं।
३. आकाशवाणी गोल-मटोल हुई। उसने यह नहीं कहा कि देवकी का आठवाँ पुत्र या आठवीं पुत्री। उसने कहा कि देवकी का आठवाँ-गर्भ। वह पुत्र भी हो सकता है और पुत्री भी।



कंस बड़ा पापी था। उसकी दुष्टता की सीमा न थी। वह भोजवंश का कलङ्क ही था। आकाशवाणी सुनते ही उसने तलवार खींच ली और अपनी बहन की चोटी पकड़कर उसकी गर्दन काटने के लिये तैयार हो गया। वह अत्यन्त क्रूर तो था ही, पाप-कर्म करते-करते निर्लज्ज भी हो गया था। उसका यह कार्य देखकर महात्मा वसुदेव जी उसको शान्त करते हुए बोले—भैया कंस, आप भोजवंश के होनहार वंशधर तथा अपने कुल की कीर्ति बढ़ानेवाले हैं। बड़े-बड़े शूरमा आप की प्रशंसा करते हैं। इधर यह एक तो स्त्री, दूसरे आपकी बहन और तीसरे यह विवाह का शुभ अवसर है। ऐसी स्थिति में आप इसे कैसे मार सकते हैं? वीरवर, जो जन्म लेते हैं, उनके शरीर के साथ ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है। आज हो या सौ वर्ष के बाद—जो प्राणी है, उसकी मृत्यु होगी ही—

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते। अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥१०/१/३८

इस प्रकार और बहुत-से उदाहरणों के द्वारा, साम और भेद के वचनों से वसुदेव ने कंस को समझाने की चेष्टा की। उन्होंने उसे यह कहकर भय भी दिखलाया कि “द्रोग्युर्वै परतो भयम्”॥४४॥ अर्थात् यदि तुम नहीं मानोगे तो मेरे हाथों पर दही नहीं जमाई गई है। मैं भी हथियार उठाऊँगा। ऐसी स्थिति में यह भी संभव है कि तुम्हें भी जख्मी होना पड़े। किन्तु जब वह किसी भी प्रकार से न माना तो वसुदेव ने कहा—राजन्, आकाशवाणी सुनकर घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। भय तो आप को देवकी से नहीं, देवकी के पुत्रों से है। तो जन्म लेते ही उन पुत्रों को मैं आप को प्रदान कर दूँगा। कंस यह जानता था कि वसुदेव मिथ्या भाषण नहीं करते हैं अतः उनकी बात का विश्वास कर उसने बहन के वध के विचार को छोड़ दिया और अपने घर लौट गया। इस पर वसुदेव जी बहुत प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करके अपने घर चले गये।

समय आने पर देवकी के गर्भ से प्रतिवर्ष एक-एक करके आठ पुत्र उत्पन्न हुए। प्रथम वर्ष समाप्त होते-होते जो पहला पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम था—कीर्तिमान्। वह बड़ा ही सुन्दर था। यद्यपि कंस के हाथों पर वध के लिये देने में वसुदेव का हृदय छटपटा रहा था किन्तु उससे भी बड़ा कष्ट उन्हें इस बात का था कि कहीं मेरे वचन झूठे न हो जाँय अतः वसुदेव ने उस पुत्र को ले जाकर कंस को दे दिया। कंस उनकी सत्यता पर विमुग्ध हो उठा। उसने हँसते हुए कहा—लौटा ले जाइये इस बालक को। इससे मुझे किसी प्रकार का भय नहीं है। जब आठवाँ बेटा पैदा होगा तो लाइयेगा। आकाशवाणी के अनुसार उसी से मेरी मौत का विधान है अतः मैं उसी का वध करूँगा। कंस की बात सुनकर वसुदेव बालक को लेकर अपने घर लौट गये फिर भी उन्हें बहुत अधिक प्रसन्नता न हुई क्योंकि वे जानते थे कि दुष्टों की बात का कोई विश्वास नहीं है।

इसी समय देवर्षि नारद ने आकर कंस से कहा—अरे मूर्ख, नन्द, वसुदेव आदि और उनके सारे सगे-सम्बन्धी सब-के-सब देवता ही हैं। देवताओं की ओर से भूमि के भार को उतारने का प्रयास किया जा रहा है अतः तू अपने शत्रुओं को छोड़ क्यों रहा है? इसके बाद उन्होंने कहा—कंस, लगता है, तुझे गणित नहीं आती है। देखो, मैं भूमि पर आठ लाइनें खींच दे रहा हूँ। तू इन्हें ले गिनकर देख ले। प्रत्येक रेखा आठवीं बन जाती है। नारद के समझा देने पर कंस ने कहा—महाराज, तो मैं देवकी के इस प्रथम पुत्र का भी वध कर दूँ? नारद ने अपने कान पर हाथ रख कर कहा—राम-राम। मैं यह नहीं कहता कि तू बालक का वध कर दे। मैंने तो तुम्हें गणित समझाया है<sup>१</sup>। अब जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर। ऐसा कहकर नारद चले गये।

ऋषि के चले जाने पर कंस ने वसुदेव के प्रथम पुत्र को मँगवा कर उसका वध कर दिया। वसुदेव और देवकी को हथकड़ी और बेणी से जकड़ कर जेल में डाल दिया और आगे उत्पन्न होनेवाले देवकी के और पाँच पुत्रों को पैदा होते ही मार डाला। उसे हर बार यही आशङ्का बनी रहती थी कि कहीं विष्णु ही उस बालक के रूप में न आ गया

१. नारद द्वारा रेखा खींचकर कंस को समझाने की बात श्रीमद्भागवत में नहीं लिखी है। यह परम्परा प्राप्त है।



हो। इस प्रकार कंस के द्वारा देवकी के कुल छः पुत्र मार डाले गये। प्रायः यह देखा जाता है कि अपने शरीर और प्राणों के ही भरण-पोषण में लगे रहने वाले लोभी राजा अपने माता-पिता, पत्नी और पुत्र की भी हत्या करने में नहीं हिचकते।

कंस को यह बात विदित थी कि पूर्वजन्म में मैं कालनेमि नाम का असुर था और विष्णु ने मेरा वध किया था। इससे उसने यदुवंशियों से घोर विरोध ठान लिया। उसने यदु, भोज और अन्धक वंश के अधिनायक अपने पिता उग्रसेन को बन्दी बना लेने के लिये सेनापति को आदेश दिया। सेनापति ने अपने ही महाराज को बन्दी बनाने में जब अपनी असमर्थता व्यक्त की, तब कंस स्वयं हथकड़ी-बेणी लेकर उग्रसेन के पास पहुँचा और उन्हें बन्दी बनाकर जेल में डाल दिया एवं शूरसेन-देश का राज्य स्वयं करने लगा। उसने राजसिंहासन पर अभिषेक भी करवाने की आवश्यकता न समझी—

उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्यकाधिपम् । स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ॥१०/१/६९  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

## दूसरा अध्याय

( देवकी के गर्भ में स्थित भगवान् की ब्रह्मादि देवों के द्वारा स्तुति )

एक तो कंस महान् बलवान् था। दूसरे उसे मगध देश के राजा जरासन्ध का आश्रय प्राप्त था। जरासन्ध कंस का श्वसुर था। उसकी दो बेटियाँ अस्ति और प्राप्ति कंस से व्याही गई थीं अतः कंस ने प्रलम्बासुर, बकासुर, चाणूर (मल्ल), तृणावर्त, अघासुर, मुष्टिक (मल्ल), अरिष्टासुर, द्विविद (वानर), पूतना, केशी और धेनुक आदि अपने साथियों तथा बाणासुर एवं भौमासुर आदि बहुत-से मित्र दैत्य राजाओं को साथ लेकर यदुवंशियों का उत्पीड़न प्रारम्भ कर दिया—

प्रलम्ब-बक-चाणूर-तृणावर्त-महाशनैः । मुष्टिकारिष्ट-द्विविद-पूतना-केशि-धेनुकैः ॥

अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः । यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः ॥

१०/२/१-२

भयभीत बेचारे यदुवंशी कुरु, पाञ्चाल, केकय, शाल्व, विदर्भ, निषध, विदेह (मिथिला) और कोसल आदि देशों में जाकर बस गये। कुछ लोग इच्छा न रहने पर भी उसी की लल्लो-चप्पो करते हुए उसकी सेवा में ही लगे रहे। जब कंस ने एक-एक करके देवकी के छः पुत्रों को पत्थर पर पटक-पटक कर मार डाला तब देवकी के सातवें गर्भ में भगवान् के अंशस्वरूप श्रीशेष जी पधारे। शेष को अनन्त भी कहते हैं। आनन्दस्वरूप शेष के गर्भस्थ होने पर देवकी को स्वभावतः हर्ष की अनुभूति हुई। परन्तु वह इस बात को सोचकर शोकाकुल भी थी कि कंस इसका वध कर देगा।

विश्वात्मा भगवान् ने देखा कि मुझे ही अपना सर्वस्व माननेवाले यदुवंशी कंस के द्वारा बहुत सताये जा रहे हैं तब उन्होंने अपनी योगमाया को आदेश देते हुए कहा—देवि, तुम ब्रज में जाओ। वहाँ नन्द बाबा के गोकुल में वसुदेव की पत्नी रोहिणी निवास करती हैं। उनकी और भी पत्नियाँ कंस के भय से गुप्त स्थानों में रह रही हैं। सम्प्रति मेरे अंश शेषजी देवकी के गर्भ में स्थित हैं। उन्हें वहाँ से निकाल कर तुम रोहिणी के गर्भ में स्थापित कर दो। देवि,



जब मैं देवकी के गर्भ से उत्पन्न होऊँगा, उस समय तुम नन्द की पत्नी यशोदा से जन्म ग्रहण करना। तुम्हारा सामर्थ्य अनन्त होगा। तुम लोगों के सारे मनोरथों को पूरा करने में समर्थ होओगी। संसार के मानव तुम्हारा दुर्गा, भद्रकाली अनेक नामों से स्मरण करेंगे। श्रद्धा के साथ तुम्हारी पूजा-अर्चना करेंगे और तुम्हारे मठ-मंदिर का निर्माण करेंगे। देवकी के गर्भ से खींचे जाने के कारण शेषजी को लोग 'सङ्कर्षण' कहेंगे। लोकरञ्जन के कारण राम और बल का खजाना होने के कारण वे बलभद्र भी कहे जायेंगे।

भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य कर योगमाया भूतल पर गई। वहाँ उसने वैसा ही किया जैसा भगवान् ने उसे आदेश दिया था। जब योगमाया ने देवकी के गर्भ को खींचकर रोहिणी के उदर में पहुँचा दिया तब लोगों ने आपस में कहना प्रारम्भ किया कि—हाय ! बेचारी देवकी का गर्भ कंस ने गिरवा दिया—“अहो विव्रंसितः गर्भ इति पौरा विचुक्लुशः”। १५॥ भगवान् सर्वव्यापी हैं। उन्हें कहीं आना-जाना नहीं पड़ता। इसीलिये वे वसुदेव जी के मन में अपनी समस्त कलाओं के साथ प्रकट हो गये। उस समय वसुदेव का तेज दुर्धर्ष प्रतीत होता था। जैसे एक दिये की लौ से दूसरे दिये की लौ जला दी जाती है, ऐसे ही वसुदेवजी ने अपने मन में स्थित तेज को देवकी के अन्तःकरण में स्थपित कर दिया। देवकी के गर्भ में भगवान् के आते ही सारा कारागार अलौकिक आभा-प्रभा से भर गया। उसे देखकर कंस को यह समझने में देर न लगी कि मेरा नाश करनेवाला हरि अवश्य ही देवकी के गर्भ में आ गया है। एक बार उसे इच्छा तो हुई कि देवकी को मार डालूँ। किन्तु दूसरे ही क्षण उसके मन में विचार आया कि देवकी को मारना ठीक नहीं है, क्योंकि वीर पुरुष स्वार्थवश अपने यश को कलङ्कित नहीं करते। एक तो यह स्त्री है, दूसरे बहन है और तीसरे गर्भवती भी है। ऐसी स्थिति में इसको मारने से मेरी कीर्ति, लक्ष्मी और आयु नष्ट हो जायेगी। क्रूर मनुष्य घोर नरकगामी होता है। ऐसा सोचकर वह देवकी के वध से निवृत्त हो गया। अन्त में उसने यही निर्णय किया कि अष्टम गर्भ के जन्म की प्रतीक्षा करना ही उचित है, देवकी का वध ठीक नहीं। अब भगवान् के प्रति वैर का दृढभाव मन में ठान कर वह भगवान् के जन्म की प्रतीक्षा करने लगा। वह उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और चलते-फिरते-सर्वदा ही कृष्ण का चिन्तन करने लगा। जरा-सा भी खटका होने पर सजग होकर वह कृष्ण को ही देखने लगता। इस प्रकार सारा जगत् ही उसे कृष्णमय दीखने लगा—

आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम् । चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत् ॥

१०/२/२४

इस समय कंस भगवान् का जैसा प्रगाढ चिन्तन कर रहा था, वह बड़े-बड़े योगियों और मुनियों के लिये भी दुष्पाष्य था।

ब्रह्मा और शङ्कर जी ने सोचा कि हमारे प्रभु ने प्रतिज्ञा की थी कि मैं अवतार ग्रहण कर भूमि के भार को हलूँगा। अपनी उस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये इस समय वे देवकी के गर्भ में आ गये हैं इसलिये शङ्कर और ब्रह्मा जी कंस के कारागार में आये, उनके साथ देव-मण्डली और नारद आदि ऋषि भी थे। वहाँ आकर उन लोगों ने गर्भ में स्थित भगवान् की स्तुति प्रारम्भ की, इसे गर्भ-स्तुति कहते हैं, इस में १६ श्लोक हैं। सारे शास्त्रों में गर्भ की निन्दा की गई है। गर्भवास महादुःख है इसलिये गर्भ-स्तुति कहीं भी नहीं की गई है किन्तु जिस गर्भ में भगवान् आ जाँय उसकी स्तुति ब्रह्मा और शङ्कर भी करते हैं यह सोचकर कि भगवान् गर्भवास का दुःख देखकर कहीं लौट न जायँ, इसलिये पहले वे उनकी दृढ प्रतिज्ञा का ही स्मरण दिलाते हुए स्तुति प्रारम्भ करते हैं—

१. हृदय—क्रूर कंस के मन में ऐसे सद्भिचारों के आने का कारण यह था कि वह भगवान् के आवासभूत देवकी को देख रहा था। जिसके भीतर भगवान् हैं, उसके दर्शन से सद्बुद्धि का उदय कोई आश्चर्य नहीं है।



हे प्रभो, आप सत्यसङ्कल्प हैं। आप को पाने का साधन भी सत्य ही है। आप त्रिसत्य हैं, अर्थात् आप भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों में सत्य हैं, वर्तमान हैं। पञ्चभूत सत् और त्यत् रूप हैं। इनमें पृथिवी, अग्नि और जल सत् हैं, वायु तथा आकाश त्यत् हैं। इन पाँचों भूतों के कारण आप ही हैं एवं उनसे रचित पाञ्च भौतिक शरीरों में भी आप ही निवास करते हैं। जगत् के प्रलय हो जाने पर भी आप ही शेष रहते हैं। कहने का भाव यह भी है कि और सब व्यावहारिक सत्य हैं, किन्तु आप पारमार्थिक सत्य हैं। आप ऋत-सत्य-नेत्र हैं—अर्थात् आप धर्म एवं सत्य के प्रवर्तक हैं। हम सब सत्य-स्वरूप आप की शरण में हैं—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।

सत्यस्य सत्यभूतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥१०/२/२६

“त्वां शरणं प्रपन्नाः”—यहाँ शरणागति एवं प्रपत्ति—दोनों में से किसी एक का ही ग्रहण नहीं समझना चाहिये। जहाँ भक्त भगवान् के तलवे के नीचे अपना हाथ डालकर कहते हैं कि प्रभो, इसे दबाये रहिये, जिससे हम आप से दूर न जाने पायें। उसे शरणागति कहते हैं। शरणागति का सच्चा उदाहरण बिल्ली का बच्चा है, जिसे बिल्ली अपने दाँतों से दबा कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है और जहाँ भक्त भगवान् के प्रपद को, ऊपरवाले पंजे को, पकड़ लेते हैं और अपनी ओर से प्रयास करके पकड़े ही रहते हैं, वहाँ उनका नाम प्रपन्न होता है। प्रपन्न का उदाहरण बन्दर का बच्चा है, जो स्वयं प्रयास करके माँ के पेट को पकड़े ही रहता है। यहाँ “शरणं प्रपन्नाः” का अर्थ है—हम आप की शरण में भी हैं और प्रपन्न भी हैं।

यह संसार आदि वृक्ष है। माया इसका आश्रय है। सुख और दुःख इसके दो फल हैं। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण इसके मूल हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ इसके रस हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इसके जानने के साधन हैं। उत्पन्न होना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट हो जाना—ये छः इसके स्वभाव हैं। रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र—ये सात धातुएँ इसकी छाल हैं। पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये आठ इसकी शाखाएँ हैं। मुख आदि नौ छिद्र इसके खोड़ हैं। प्राण, अपान आदि दश प्राण इसके दस पत्ते हैं। इस पर जीव और ईश्वर—ये दो पक्षी बैठे हैं—

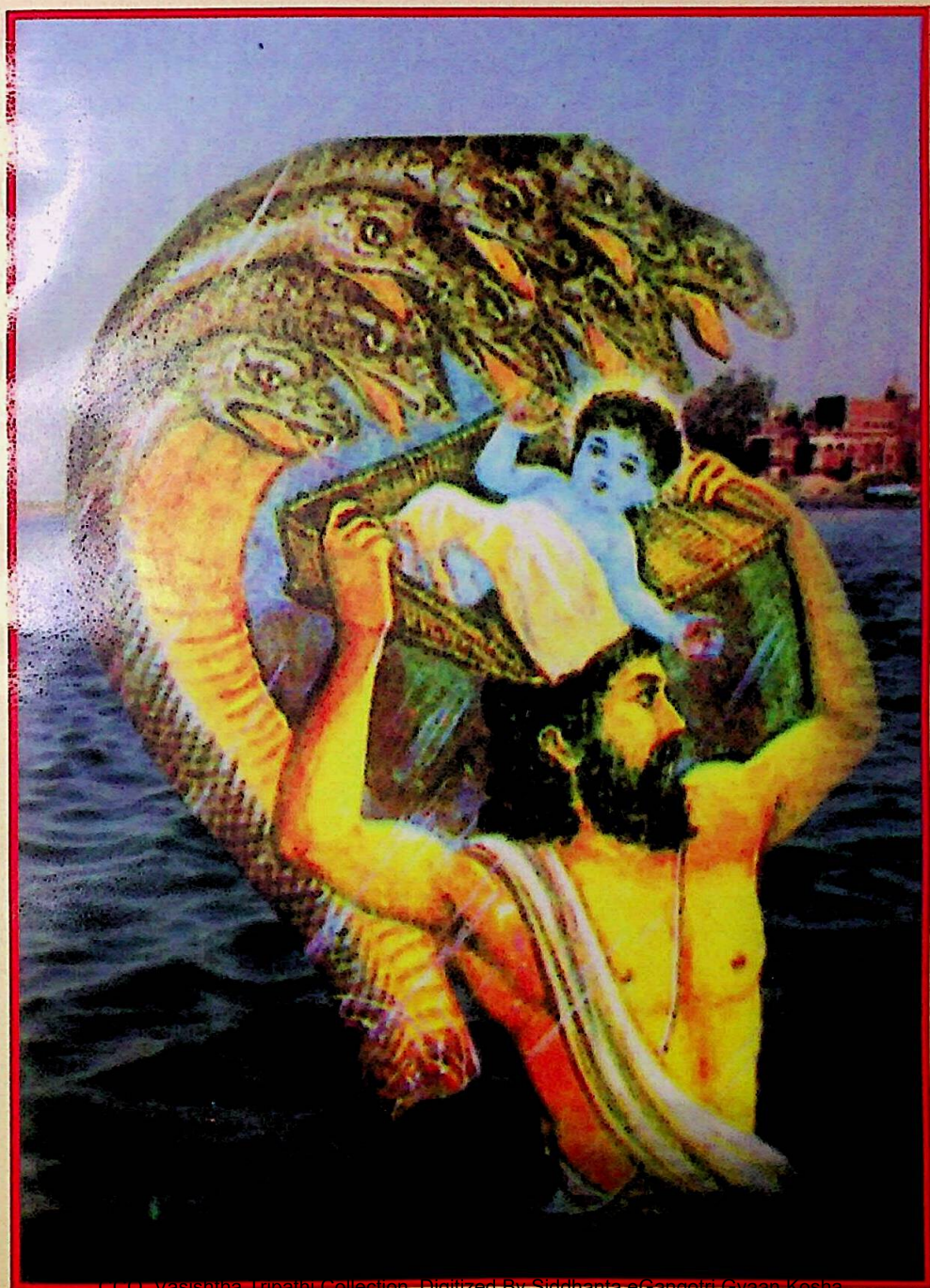
एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतुरसः पञ्चविधरः षडाल्मा ।

सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥१०/२/२७

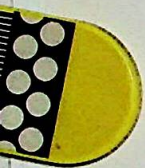
यह आदि वृक्ष आप परमात्मा से प्रकट होता है, परमात्मा में ही रहता है, परमात्मा ही इसका पालन करते हैं और अन्त में यह परमात्मा में ही लीन भी होता है। परमात्मा के अनुग्रह से इसकी रक्षा भी होती है। आप की माया से मोहित चित्तवाले व्यक्ति इस रहस्य को नहीं समझ सकते। आप सकल-जगत् के कल्याण के लिये समय-समय पर विभिन्न रूपों को धारण कर अवतार लेते रहते हैं। आपके अवतारों से महात्माओं को सुख और दुष्टों को दुःख की प्राप्ति होती है। जिसने श्रद्धा और भक्ति के साथ अपना मन आपके चरण-कमलों में विलीन कर दिया है, उसके लिये यह संसार गोपद के समान सरलता से पार करने लायक बन जाता है। बड़े-बड़े भक्त और महात्मा आपके जिस चरण-नौका के सहारे अनायास संसार-सागर को पार कर जाते हैं, वे संसार के कल्याण के लिये आप के उस चरण-कमलों की नौका यहीं स्थापित कर जाते हैं। जो ज्ञान के अहंकार में चूर होकर आप की भक्ति का अनादर करते हैं, उनका कभी-कभी जैसा अधःपतन होता है, वैसा आपके भक्तों का कभी नहीं होता। आप भक्त-रक्षक हैं। आपके चरण-कमलों की छत्र-छाया में भक्त जन निर्भय होकर विघ्नों के मस्तक पर भी विचरण किया करते हैं।

जो पुरुष आप के मङ्गलमय नामों और रूपों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करते हैं और आप के चरण-कमलों की सेवा में ही अपना चित्त लगाये रहते हैं—उन्हें जन्म-मृत्युरूप संसार के चक्कर में नहीं फँसना पड़ता—











शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।

क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोरविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥१०/२/३७

प्रभो, आप ने जैसे अनेकों बार मत्स्य, हयग्रीव, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राम, परशुराम और वामन अवतार धारण करके हम लोगों के साथ तीनों लोकों की रक्षा की है—वैसे ही आप इस बार भी पृथिवी का भार दूर कीजिये । यदुनन्दन, हम आपके चरणों का वन्दन करते हैं ।

फिर देवकी की ओर मुखकर के देवों ने कहा—माता जी, यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हम सब का कल्याण करने के लिये साक्षात् नारायण ही आप के गर्भ में पधारे हैं, अब आप को कंस से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, अब तो वह कुछ ही दिनों का मेहमान है । आपके कोख से उत्पन्न बालक, न केवल आपकी अपितु समस्त यदुवंश की रक्षा करनेवाला होगा—

दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमानंशेन साक्षाद् भगवान् भवाय नः ।

मा भूद् भयं भोजपतेर्मूर्खोर्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः ॥१०/२/४१

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, इस प्रकार गर्भस्थ भगवान् की स्तुति कर सारे देव, ब्रह्मा और शिव को आगे करके वहाँ से निकले और अपने-अपने धाम को चले गये—

ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम् ॥१०/२/४२

ब्रह्मा और शंकर देवताओं में श्रेष्ठ हैं अतः उन्हें आगे करके निकलना व्यावहारिक ही है । दूसरी बात यह है कि हम लोगों को बाहर निकाल कर ब्रह्मा और शङ्कर भगवान् का जन्म-मङ्गल देखने के लिये कहीं यहीं रुक न जायें । यदि ऐसा हुआ तब तो हम परमानन्द के दर्शन से वञ्चित रह जायेंगे ऐसा सोचकर देवों ने ब्रह्मा और शङ्कर को आगे-आगे करके ही वहाँ से प्रस्थान किया ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

## तीसरा अध्याय

( भगवान् श्रीकृष्ण का प्राकट्य, उनका गोकुल के लिये प्रस्थान और वहाँ से कन्या का आगमन )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भगवान् के जन्म लेने की बेला में काल, परम मङ्गलमय रूप धारण कर भगवान् के स्वागत के लिये मानो स्वयं आकर उपस्थित हो गया । वह सारे गुणों से अलङ्कृत था । यही कारण है कि उस समय उसकी शोभा निरतिशय थी । उस समय रोहिणी नक्षत्र होने के कारण सर्वत्र सौभाग्य का वातावरण था । आकाशमण्डल में सारे नक्षत्र, ग्रह और तारा-गण शान्त और प्रसन्न थे मानो वे उत्सुकता के साथ भगवान् के अवतरण की प्रतीक्षा कर रहे थे । सारी दिशा-नायिकाएँ अतिशय प्रसन्न थीं मानो वे भगवान् के आविर्भाव की बेला में मङ्गल-गान के लिये सज्जधज कर तैयार बैठी हों । निर्मल आकाश में तारे जगमगा रहे थे । तारागणों और मेघ-मण्डल में होड़-सी लगी थी । तारामण्डल मटक-मटक कर छटक-छटक कर भगवान् को देखने के लिये कभी आकाश से झाँकने लगते तो कभी भादों का महीना होने के कारण उमड़ते-धुमड़ते बादल उन्हें ढक देते थे । आज मानो मेघमण्डल इस बात पर इतरा रहा था कि भगवान् मेरे जैसा साँवला-साँवला रूप धारण कर धरामण्डल पर



प्रकट हो रहे हैं—“मेघश्यामः” । उस समय सारी पृथिवी मङ्गलमय बन गई थी । वह नई नवेली दुलहन की तरह सजधज गई थी । क्यों न हो ऐसा, जो उसके पति आज उसके घर आ रहे हैं । नगर, गाँव तथा अहीरों की बस्तियों में मङ्गल-गान होने लगे । हीरे आदि की खानें जगमगा उठीं । वर्षा में शरद ऋतु के गुण प्रकट हो गये । सारी नदियों के जल निर्मल हो गये । तालाबों में रात्रि के समय भी कमल विकसित होकर शोभा बिखेरने लगे । जङ्गल फूलों से ढँक गये । उन पर भीरे गुनगुनाने लगे । चिड़ियाँ चहकने और फुदकने लगीं । पवित्र शीतल मन्द सुगन्ध वायु बहने लगी । उससे चारों ओर सुगन्ध फैल गई । ब्राह्मणों के यज्ञकुण्डों की शान्त अग्नि दक्षिणावर्त होकर स्वयं प्रज्ज्वलित हो उठी । किसी का भी अहित न चाहनेवाले साधु-सज्जनों के मन सुप्रसन्न हो उठे । अजन्मा भगवान् के जन्म लेने के काल में स्वर्ग में देवाताओं की दुन्दुभियाँ स्वयं बजने लगीं । किन्नर और गन्धर्व गाने लगे । सिद्ध और चारण भगवान् के मङ्गलमय गुणों का बखान करने लगे । बड़े-बड़े देवता और ऋषि-गण प्रसन्न हो आकाश से पुष्प-वृष्टि करने लगे । जलभरे बादल सागर के पास जाकर मन्द-मन्द गर्जन करने लगे ।

ऐसी ही मङ्गलमय बेला थी । रजनी अन्धकार से आच्छन्न थी । आधी रात का समय था । भादों का महीना था । कृष्णपक्ष था । बुधवार का दिन था । पूर्व दिशा में पूर्ण-सा चन्द्र निकल रहा था<sup>१</sup> । उसी समय सबके हृदय में विराजमान रहने वाले भगवान् विष्णु देवरूपिणी देवकी के गर्भ से प्रकट हुए—

निशीथे तमउद्धूते जायमाने जनादने<sup>१</sup> । देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ॥

आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥ १०/३/८

यह बालक अद्भुत बालक था । ऐसा बालक आजतक देखने में नहीं आया । इसकी चार भुजाएँ थीं । उनमें

१. राम का अवतार सूर्य-वंश में हुआ । नवमी तिथि मंगलवार के १२ बजे दिन में राम का प्राकट्य हुआ था । उस समय सूर्य ठीक आकाश के मध्य में विराजमान थे । वे राम का दर्शन किये बिना आगे बढ़ते ही नहीं थे । वे सोचते थे—कौसल्या बालक को जब स्नान कराने के लिये आंगन में लायेंगी तब मैं उनका दर्शन कर आगे बढ़ूँगा । ऐसा करने में उन्हें पूरा एक महीना बीत गया । इसी रहस्य को तुलसीदास जी ने इन शब्दों में कहा है—“भास दिवस का दिवस भा मरम न जानइ कोइ । रथ समेत रवि थाकेउ निशा कवन विधि होइ ॥” मानस, बा० १९५॥ सबको परम प्रसन्नता थी किन्तु चन्द्र को महान् कष्ट था । सूर्य आगे बढ़ें, रात हो, तब चन्द्र को राम के दर्शन का अवसर सुलभ हो । चन्द्र रोने लगे । राम से कहा सूर्य को आगे बढ़ने का आदेश दें । राम ने कहा जिस वंश में मैं आया हूँ वह सूर्यवंश है । सूर्य इस वंश के प्रवर्तक हैं । मैं मर्यादा का पालन करने के लिये आया हूँ अतः अपने पूर्व पुरुष को आदेश नहीं दे सकता । चन्द्रदेव, आप धैर्य धारण करें । मैं अपने नाम ‘राम’ के साथ आप का नाम ‘चन्द्र’ धारण कर लूँगा । लोग मुझे राम नहीं रामचन्द्र कहेंगे । इस पर जब चन्द्र सन्तुष्ट नहीं हुए तो पुनः राम ने कहा—अच्छा, मेरा अगला अवतार आपके वंश में होगा । इतना ही नहीं, उस समय आप की प्यारी पत्नी रोहिणी का नक्षत्र होगा । आपके बेटे बुध का दिन होगा । आधी रात होगी । सारी दुनियाँ सोती होगी । उस समय केवल तीन ही व्यक्ति जागते रहेंगे—आप, वसुदेव और देवकी । जन्म लेते ही मैं खुले आसमान के नीचे आ जाऊँगा, जिससे आप छक कर मेरा दर्शन करेंगे, आज वही अवसर सुलभ है अतः चन्द्र फूले नहीं समा रहे हैं, इसीलिये अष्टमी का चन्द्र पूर्ण चन्द्र की भाँति चमक रहा था ।

२. जनार्दनः—जनयति जगत् या सा जना=माया ताम् अर्दयति=पीडयति यः स जनार्दनः । जो भक्तों की भक्ति में विघ्न करती है, उस माया को जो पीडित करते हैं, उन्हें जनार्दन कहते हैं । अथवा—जनान् = दुष्टजनान् अर्दयति = मर्दयति यः स जनार्दनः । जो दुष्ट जनों का मर्दन करते हैं, उनका नाम जनार्दन है । अथवा—जनार्दन = स्वभक्तान् योऽर्दयति = प्रीणाति स जनार्दनः । जो अपने भक्तों को रक्षा आदि के द्वारा प्रसन्न रखते हैं, वह जनार्दन हैं ॥



शंख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित थे। कमल की तरह बड़ी-बड़ी आँखें थीं। श्रीवत्स का चिह्न उसकी छाती पर विराजमान था<sup>१</sup>। गले में लाल वर्ण का कौस्तुभमणि देदीप्यमान था। वह पीताम्बर धारण किये हुए था। वर्षाकालीन श्याम मेघ के समान परम सुन्दर उसका श्यामल शरीर था—

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम् ।

श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभि कौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसीभगम् ॥१०/३/९

बहुमूल्य वैदूर्यमणि के किरिट और कुण्डल की कान्ति से उसके सुन्दर-सुन्दर घुँघराले बाल सूर्य की किरणों के समान चमक रहे थे। यह बालक इसलिये अद्भुत था कि ब्रह्मा जी भी कभी इसके बालक बने थे—बालः को ब्रह्मा यस्यासौ बालकः। अथवा बालेषु = रोमविवरेषु कानि = ब्रह्माण्डानि यस्यासौ बालकः। जिसके रोम-विवरों में अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड दिखलाई पड़ रहे हैं—ऐसा अद्भुत है, यह बालक<sup>१</sup>। अथवा-बालानां गोपबालकानां सं सुखं ददाति = दास्यतीति बालकः। जो गोपबालकों को अपने सख्य-भाव से आनन्दित करेगा, ऐसा है यह बालक अथवा बालयति = संञ्चालयति सर्वान् वातादीनिति बालकः। जो समस्त वायु आदि भूतों का तथा सूर्य आदि ग्रह-नक्षत्रों का संञ्चालन करता है, ऐसा है यह बालक। अथवा वाः = वक्रा अलकाः = केशा यस्यासौ बालकः। टेढ़े-मेढ़े बालोंवाला है यह बालक अर्थात् इसके शिर के बाल घुँघराले हैं।

उस बालक के कमर में चमचमाती करधनी की लड़ियाँ लटक रहीं हैं। बाँहों में बाजूबन्द और कलाइयों में कङ्कण शोभायमान हो रहे हैं। इन सब आभूषणों से सुशोभित बालक के अङ्ग-अङ्ग से अद्भुत छटा छिटक रही है।

हृदय—यहाँ इतना ध्यान रखना है कि भगवान् के श्री अङ्ग से कौस्तुभ, काञ्ची आदि जो भी आभूषण चिपके हुए हैं, उनमें न तो छिद्र है और न सूत्र आदि का बन्धन। भगवान् के पास पहुँचने वाले व्यक्ति बन्धन, छिद्र आदि से रहित हुआ करते हैं। इसी बात को “उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिः” ॥१०॥ से सूचित किया गया है ॥

देवकी प्रसव-पीडा से आक्रान्त थी अतः सबसे पहले वसुदेव ने उस बालक को देखा—“वसुदेव ऐक्षत” ॥१०॥ देखकर वसुदेव को असीम आश्चर्य एवं महान् आनन्द की अनुभूति हुई। उनकी आँखों में आनन्द के अश्रु छलछला आये। शरीर पुलकावलियों से भर गया। उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि साक्षात् नारायण ही हमारे पुत्र-रूप में पधारे हैं। उन्होंने बालक की कुशलता के लिये मन-ही-मन दस हजार गायों के दान का सङ्कल्प लिया फिर हाथ जोड़ कर दश श्लोकों से भावभरी स्तुति प्रारम्भ की। उन्होंने कहा—मैं समझ गया कि आप प्रकृति से परे साक्षात् परम पुरुष हैं। आप का स्वरूप है केवल अनुभव और केवल आनन्द। आप समस्त बुद्धियों के एकमात्र साक्षी हैं—

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदक् ॥

१०/३/१३

आप की प्रकृति इस त्रिगुणात्मक संसार की सृष्टि करती है। इसमें आप अप्रविष्ट होकर भी प्रविष्ट की तरह प्रतीत होते हैं। प्रभो, आप ही संसार की सृष्टि करने के लिये ब्रह्मा, पालन के लिये विष्णु और संहार के लिये रुद्र का रूप धारण करते हैं। सकल जगत् के स्वामी इस लोक की रक्षा के लिये ही आप मेरे घर में अवतार लेकर पधारे हैं।

१. वक्षःस्थल पर विराजमान श्वेत दक्षिणावर्त रोमराजि ही श्रीवत्स है। कुछ लोग भृगु के चरण-चिह्न को श्रीवत्स = लक्ष्मी के निवास का स्थान मानते हैं।

२. इसीलिये तुलसीदास जी ने मानस में राम के प्रादुर्भाव के प्रसङ्ग में कहा है—“ब्रह्माण्ड निकाया निर्मितमाया रोम रोम प्रति बेद कहै” ॥१९१-१९२॥



निश्चय ही कोटि-कोटि असुर-राजाओं का वध आपके हाथों होनेवाला है। हे नाथ, आपका जन्म देवकी के गर्भ से होने वाला है—इस बात को सुनकर ही इस असभ्य कंस ने आपके छः बड़े भाइयों का वध कर डाला है। अभी जब उसके दूत आपके जन्म का समाचार उसे देंगे तो वह आपका वध करने के लिये नंगी तलवार हाथ में लिये दौड़ा आयेगा। उस स्थिति में मैं क्या करूँगा ? इसके लिये आप कोई उचित उपाय बतलायें। मैं आपका शरणागत हूँ। इतना कह कर वसुदेव चुप हो गये।

इतने में देवकी पूर्ण चेतना में आ चुकी थी। उसने देखा उसका बेटा नारायण के सारे लक्षणों से अलङ्कृत है। वह उसकी ओर वैसे ही कातर होकर दौड़ी जैसे गाय बछड़े की ओर दौड़ती है। पहले तो उसे कंस से भय हुआ किन्तु बाद में बालक के स्वरूप को देखकर मुस्कराती हुई स्तुति करने लगी। देवकी ने कहा—प्रभो, आप बुद्धि आदि के प्रकाशक साक्षात् विष्णु हैं। वेदों ने आप को अव्यक्त, सब का कारण, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निराकार, सत्तामात्र, निर्विशेष और निष्काम बतलाया है। काल के वेग से सकल संसार के विनष्ट हो जाने पर एकमात्र आप ही शेष बचते हैं इसीलिये आप को 'शेष' भी कहा जाता है—

व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवनेकः शिष्यते शेषसंज्ञः ॥१०/३/२५

वस्तुतः अनन्त काल भी आप की लीलामात्र ही है। मरणधर्मा प्राणी कालरूपी सर्प से भयभीत होकर सारे लोकों में भागता फिरता है किन्तु कहीं वह निर्भय नहीं हो पाता, जब वह आप के चरणों की शरण में आ जाता है तब वह स्वस्थ होकर यथेच्छ शयन करता है, सुख की नींद सोता है<sup>१</sup>। औरों की तो बात ही क्या, स्वयं मृत्यु भी इससे भयभीत होकर भाग खड़ी होती है—

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् लोकान् सर्वान्निर्भयं नाध्यगच्छत् ।

त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥१०/३/२७

प्रभो, आप हैं भक्तभयहारी। हम लोग इस दुष्ट कंस से भयभीत हैं अतः आप हमारी रक्षा कीजिये। आपका यह चतुर्भुज रूप हृदय से ध्यान करने के लायक है। इसे स्थूलदृष्टिवाले प्राणियों के समक्ष प्रकट मत कीजिये। मधुसूदन, यह पापी कंस यह न जानने पावे कि आप का जन्म हमारे यहाँ हुआ है। मेरा धैर्य टूट रहा है। आपके लिये कंस से मैं बहुत डर रही हूँ अतः शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मधारी इस अपने अद्भुत रूप को आप छिपा कर बालरूप धारण कर लीजिये—

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन । समुद्रिजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् । शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-श्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥

१०/३/२९-३०

प्रलयकाल की बेला में जो आप सम्पूर्ण विश्व को अपने भीतर अनायास धारण कर लेते हैं, वही मेरे गर्भ में आये, यह आप की अद्भुत मानव-लीला नहीं तो और क्या है? इतना कहकर भाव-विभोर देवकी भगवान् की अद्भुत छवि निहारने लगी।

देवकी की बात को सुनकर भगवान् ने कहा—देवि, मैं स्वयं तुम्हें अपना यह रूप नहीं दिखाना चाहता था।

१. इसी बात को तुलसीदास जी ने इन शब्दों में कहा है—“सोवत सुख तुलसी भरोसे एक राम के।” इसी तरह का भाव व्यास कवि ने भी अभिव्यक्त किया है—  
काहू के बल भजन को, काहू के आचार । व्यास भरोसे कुंवरि के, सोवत पाँव पसार ॥



किन्तु पहले की घटना है। स्वायम्भुव मन्वन्तर में तुम पृश्नि और तुम्हारे पति सुतपा थे। उस समय आप लोगों ने दिव्य बारह हजार वर्षों तक घोर कष्ट उठाकर तप किया था। मैंने प्रसन्न होकर आप लोगों को दर्शन दिया और वर मांगने की बात कही। उस समय आप लोगों ने मुझसे पुत्र होने का वर माँगा था। फल-स्वरूप मैं पृश्निगर्भ नाम से आप का बेटा बना था।

दूसरे जन्म में आप दोनों अदिति और कश्यप हुए थे। मैं वामन के रूप में आप का पुत्र हुआ था। इस तीसरे जन्म में मैं पुनः आप लोगों का बेटा बना हूँ। साधारण बालक के रूप में जन्म लेने से आप मुझे पहचान न पाते। अतः मैंने अपना यह चतुर्भुज रूप दिखलाया है। आप दोनों मेरे प्रति पुत्रभाव तथा निरन्तर ब्रह्मभाव रखना। इस प्रकार वात्सल्य-स्नेह और ब्रह्मरूप से चिन्तन के द्वारा आप दोनों को मेरे परम पद की प्राप्ति होगी।

इतने पर भी यदि आप को कंस से भय है तो मुझे गोकुल पहुँचा दो "यदि कंसाद्विभेसि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय"। पाठान्तर और वहाँ यशोदा के गर्भ से उत्पन्न कन्या को उठा लाओ। भगवान् के इतना कहते ही कारागार का वह कक्ष प्रकाश से इस प्रकार भर गया कि वसुदेव और यशोदा की आँखें क्षणभर के लिये बन्द हो गईं। खुलने पर उन लोगों ने देखा कि यशोदा की गोद में एक श्याम सलोना बालक हाथ-पाँव चला रहा है। उसे देखकर माता-पिता के हर्ष का पारावार न रहा।

इसके बाद वसुदेव जी ने भगवान् की प्रेरणा से अपने पुत्र को लेकर सूतिका-गृह से बाहर निकलने की इच्छा की। उसी समय नन्द की पत्नी यशोदा के गर्भ से भगवान् की योगमाया का जन्म हुआ। यह योगमाया भी भगवान् की शक्ति होने के कारण उनके समान ही जन्म-रहित है—

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात्।

यदा बहिर्गन्तुमिवेष तर्ह्यजा या योगमायाजनि नन्दजायया ॥१०/३/४७

हृदय-भगवान् की यह योगमाया तीन प्रकार की होती है—(१) स्वमोहिनी, (२) स्वजनमोहिनी और (३) स्वविमुखजन मोहिनी। स्वमोहिनी माया स्वयं भगवान् को भी मोहित करती है जैसे भगवान् मणि की फर्श पर स्वयं अपनी परछाई देखकर मोहित हो उसे पकड़ने के लिये किलकारी मार कर दौड़ पड़ते हैं। यह स्वमोहिनी माया का प्रभाव है। स्वजनमोहिनी माया नन्द आदि भगवान् के जनों को मोहित कर प्रगाढ निद्रा में डाल देती है और स्वविमुखजनमोहिनी माया भगवान् से विमुख जो कंस आदि जन हैं उन्हें मोहित कर घोर निद्रा में धकेल देती है। स्वजनमोहिनी माया ने जन्म लेते ही गोकुलवासियों को सुला दिया और स्वविमुखजनमोहिनी माया ने सारी मथुरा को निद्रा से बेहोश कर दिया।

भगवान् का आदेश तो हुआ उन्हें नन्द के गोकुल में पहुँचा देने का किन्तु वसुदेव के सामने समस्या थी। उनके हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी लगी थी। दरवाजे बन्द थे। उनमें बड़े-बड़े ताले लटक रहे थे। क्या करें ? इसी समय भगवान् ने वसुदेव के हृदय में प्रेरणा दी कि—जरा मुझे शिर पर पधराकर देखो तो सही। वसुदेव ने बड़ी कठिनाई से भगवान् को अपने शिर पर पधराया। उन्हें पधराते ही क्या हुआ ? हाथ की हथकड़ी, पाँव की बेड़ी, द्वार के ताले और फाटक सभी फटफट खुल गये। आश्चर्य ! परम आश्चर्य !!

इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। इसका निर्गलितार्थ यह है कि—यह शरीर है मथुरा। सारा संसार है—कारागार। अहङ्कार है क्रूर कंस। इसी के कारण जीव संसार रूपी कारागार में बन्द रहते हैं। ममता है—बेड़ी, मोह



है—हथकड़ी। अविवेक है—फाटक और राग है—ताला। जब प्राणी भगवान् को अपने शिर पर, अपनी बुद्धि में पधरा लेता है तब उसकी ममता की बेड़ी, मोह की हथकड़ी, अविवेक का फाटक और राग का ताला फटाफट खुल जाता है फिर उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता ॥

योगमाया ने सारे मथुरावासियों के साथ ही कारागार के द्वारपालों को घोर निद्रा में सुला दिया। जब वसुदेव श्रीकृष्ण को लेकर द्वार पर आये तो बड़े-बड़े कपाटों तथा लोहे की शृङ्खलाओं से बन्द दरवाजे स्वयं खुल गये। उस समय मेघ मन्द-मन्द गर्जन करते हुए फुहारों की वर्षा कर रहे थे। वसुदेव के अज्ञातरूप से पीछे-पीछे चलते हुए शेष जी अपने बड़े-बड़े फणों से जल का निवारण कर रहे थे—

ताः कृष्णावाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्धन्त यथा तमो रवेः ।

ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोऽन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः ॥ १०/३/४९

हमारे भावी पति हमारे दरवाजे पर आये हैं—यह जान कर यमुना मैया तुरन्त घट गई। कहीं कमर भर और कहीं घुटने भर जल हो गया। उन्होंने वसुदेव को गोकुल जाने का मार्ग वैसे ही दे दिया जैसे सागर ने श्रीराम को दिया था। वसुदेव बिना किसी विघ्न-बाधा के नन्द के गोकुल में पहुँचे। उस समय रात्रि के एक बज रहे थे। चतुर्दिक् घोर अन्धकार-ही-अन्धकार व्याप्त था। गोकुल प्रगाढ निद्रा में आनन्द ले रहा था। यशोदा जी के कक्ष के कोने में एक दीपक टिमटिमा रहा था। वसुदेव जी ने अपने पुत्र को यशोदा जी की शय्या पर सुला दिया और उनकी बगल में लेटी नवजात कन्या को लेकर मथुरा के कारागार में लौट आये।

जेल में पहुँच कर वसुदेव जी ने उस कन्या को देवकी की शय्या पर सुला दिया। अपने हाथों और पैरों में हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ पहन लीं। फाटक और ताले भी फटाफट बन्द हो गये। वे पहले की तरह जेल में बन्द हो गये—

देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम् । प्रतिमुच्य पदोलोहमास्ते पूर्ववदावृतः ॥ १०/३/५२

हृदय—इसका अभिप्राय यह है कि जब प्राणी अपने शिर पर से, अपनी बुद्धि में से, भगवान् को हटा कर उनके स्थान पर माया को बैठा लेता है, तब वह पुनः संसार-कारागार में बन्द हो जाता है। ममता-माया की बेड़ियाँ, हथकड़ियाँ उसे जकड़ लेती हैं। मोग-राग का फाटक-ताला बन्द हो जाता है अतः कल्याण की कामनावाले व्यक्ति को अपनी बुद्धि में भगवान् को ही पधराने का कार्य करना चाहिये ॥

उधर योगमाया के प्रभाव से प्रगाढ निद्रा में निमग्न यशोदा जी ने पुत्री के पैदा होने पर इतना ही भर जाना कि कोई सन्तान हुई है; परन्तु वे यह न जान सकीं कि पुत्र पैदा हुआ है या पुत्री—

यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत । न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः ॥ १०/३/५३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

॥ सप्ताह के चतुर्थ दिन की कथा समाप्त ॥





॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

## सप्ताह के पाँचवें दिन की कथा का प्रारम्भ

॥ रुक्मिण्युद्धाहपर्यन्त पञ्चमेऽह्नि वदेत् सुधीः ॥

### चौथा अध्याय

( कंस के हाथ से छूट कर योगमाया का आकाश-गमन )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, वसुदेव जी के लौट आने पर नगर के बाहरी और भीतरी सभी दरवाजे अपने-आप ही बन्द हो गये। बालिका ने रोना शुरू किया। उसके रुदन की ध्वनि सुनकर सभी द्वारपालों की नींद भङ्ग हो गई। वे झटपट उठकर सावधान हो गये—

बहिरन्तः पुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः । ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः ॥१०/४/१  
वे दौड़कर गये कंस के पास। उससे देवकी के सन्तान पैदा होने की बात कही। कंस बड़ी बेचैनी के साथ इसकी प्रतीक्षा ही कर रहा था। मेरा काल आ गया—यह कहते हुए वह झटपट पलंग से उठकर सूतिका-गृह की ओर नंगे पैर दौड़ पड़ा। हड़बड़ी में वह मार्ग में लड़खड़ा कर कई बार गिरते-गिरते बचा। उसके शिर के बाल बिखर गये। ताला खोला और पहुँच गया हाँफता हुआ देवकी के सामने। देवकी उस समय लड़की को छाती से लगाये हुए थी। कंस को देखकर उसने रोकर गिड़गिड़ाते हुए कहा—मेरे हितैषी भइया, यह कन्या है। इसका विवाह आपके बेटे से करूँगी। स्त्री जाति की है। तुम्हें स्त्री की हत्या कथमपि नहीं करनी चाहिये—

तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती । स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥१०/४/४  
मेरे भैया, दैव की प्रेरणा से आपने मेरे अग्नि के समान तेजस्वी कई बालकों को मार डाला है। अब केवल यही एक कन्या बची है। इसे मुझे दे दो। मैं तुम्हारी छोटी बहन हूँ। बहुत-से बच्चों के मर जाने से मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। मेरे प्यारे और समर्थ भाई, तुम मुझ मन्दभागिनी को यह अन्तिम सन्तान अवश्य दे दो। देवकी रो-रोकर गिड़गिड़ा रही थी। विनती कर रही थी। किन्तु क्रूर कंस ने उसकी एक बात भी न सुनी। उसने देवकी को झिड़क कर उसकी गोद में हाथ डाला और निर्दयतापूर्वक कन्या को पकड़ कर खींच लिया। अपनी उस नन्हीं-सी नवजात भानजी के पैर पकड़कर कंस ने उसे जोर से, जैसे धोबी कपड़ा पत्थर पर पटकता है वैसे ही, पत्थर पर, पटकने का प्रयास किया। जैसे ही उसने उसे ऊपर उठाया वह कन्या उसके हाथ से छटक कर आकाश में चली गई। वहाँ वह दिव्य रूप धारण कर अष्टभुजा देवी के रूप में दिखलाई पड़ी। उस समय उसके हाथों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र विराजमान थे। उसके श्रीविग्रह पर चन्दन और माला शोभायमान थे। सिद्ध, चारण, गन्धर्व उसकी पूजा और स्तुति कर रहे थे। उस समय देवी ने ऊपर मुँह उठाकर देखते हुए कंस से कहा—रे मूर्ख, मुझे मारने से तुझे क्या मिलेगा ? तेरे पूर्वजन्म का शत्रु तुझे मारने के लिये किसी स्थान पर पैदा हो चुका है। अब तुम निर्दोष बालकों की हत्या बन्द करो। इस पर कंस ने कहा—देवी, यह तो बतलाओ कि कहाँ पैदा हुआ है ? देवी ने कहा—यह नहीं बतलाऊँगी। बस, इतना ही भर जानों कहाँ पैदा हो चुका है, बस—

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत ।

यत्र क्व वा<sup>१</sup> पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कुपणान् वृथा ॥१०/४/१२

१. यत्र क्व वा पूर्वशत्रुः—यहाँ अवग्रह का अवच्छेद कर अपूर्वशत्रुः भी अर्थ किया जाता है। वह तुम्हारा पूर्वशत्रु होते हुए भी अपूर्व शत्रु है—यह अर्थ हुआ।



कंस से इस प्रकार कहकर भगवती योगमाया वहाँ से अन्तर्धान हो गई और पृथिवी के अनेकस्थानों में विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हुई।

देवी की यह बात सुनकर कंस के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने उसी समय वसुदेव और देवकी को कारागार से मुक्त कर दिया और बड़ी विनम्रता से उनसे कहा—मेरी प्यारी बहन और जीजा जी, हाय-हाय, मैं बड़ा पापी हूँ। राक्षस की भाँति मैंने तुम्हारे बच्चों को मार डाला। इस महापाप के कारण पता नहीं मैं किस नरक में गिरूँगा और मेरी क्या दुर्गति होगी? वस्तुतः मैं ब्रह्मघाती के समान जीवित होते हुए भी मुर्दा ही हूँ। मुझे आज ज्ञात हुआ कि केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, विधाता भी झूठ बोलते हैं। उनकी बात पर विश्वास कर मैंने अपनी बहन के बच्चों का वध कर दिया। ओह! मैं कितना महान् पापी हूँ—

**दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम् । यद्विश्रम्भादहं पापः स्वसुनिहतवाञ्छिशून् ॥१०/४/१७**  
वस्तुतः भगवान् के आवासभूत देवकी के दर्शन से ही कंस में यह सद्बुद्धि आई है। उसके ओझल होते ही कंस पुनः दुर्विचारों से आक्रान्त हो जायेगा। उसने पुनः वसुदेव और देवकी से कहा—आप दोनों महात्मा हो। जो होना था, वह हो गया। अब पुत्रों के लिये शोक मत करो। संसार के सारे प्राणी दैव के अधीन हैं। सभी अपने-अपने कर्मों को भोगते हैं। उनके भाग्य में जो था, वह हुआ। अतः आप लोग मेरे अपराध को क्षमा कर दो। क्षमा करना आप महात्माओं का स्वभाव है। इतना कहकर कंस वसुदेव और देवकी के चरणों पर गिर पड़ा। उस समय वह रो रहा था। अपने किये पर पश्चात्ताप कर रहा था। वसुदेव और देवकी ने उसकी यह दशा देखकर उसे क्षमा कर दिया। वे उसके अपराधों को भुला दिये।

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—परीक्षित, वसुदेव और देवकी के शान्त वचनों को सुनकर कंस उनकी आज्ञा लेकर अपने भवन में चला गया और वे दोनों भी अपने घर चले गये।

कंस को रात भर नींद न आई। वह विभिन्न विचार-तरङ्गों में खोया रहा। सबेरा हुआ। कंस ने अपने मन्त्रियों को बुलाया। उनसे रात्रि की सारी घटना का वर्णन करते हुए योगमाया ने जो कुछ कहा था, वह सब उन्हें कह सुनाया। कंस की बात सुनकर स्वभावतः देवशत्रु दैत्यों ने कहा—भोजराज, यदि ऐसी बात है, तो आप चिन्ता न करें। शहर, गाँव और व्रज में दश दिनों के और इसके आस-पास के जितने भी बच्चे होंगे सबको हम लोग मार डालेंगे—

**एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु । अनिर्दशान् निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून् ॥१०/४/३१**  
युद्ध से डरनेवाले देवता लोग हमारा क्या बिगाड़ लेंगे? वे तो आपके धनुष की टङ्गार सुनकर ही घबड़ा जाते हैं। आप के बाण बरसाने पर तो सारे-के-सारे देवता भाग खड़े होते हैं। कुछ तो आप के सामने गिड़गिड़ाने लगते हैं और कुछ तो हथियार फेंक कर हाथ उठा देते हैं। कोई-कोई तो अपनी चोटी और कच्छा खोल भी देते हैं और कोई कहते हैं कि हम तो भयभीत हो गये हैं। हमारी रक्षा कीजिये। आप इतने दयालु हैं कि उन्हें छोड़ देते हैं किन्तु महाराज शत्रुओं की उपेक्षा ठीक नहीं है अतः उनको जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये आप हम लोगों को नियुक्त कर दीजिये। हम आप के अनन्य सेवक हैं। सारे देवताओं की जड़ है भगवान् विष्णु। विष्णु वहाँ रहते हैं जहाँ सनातन धर्म रहता है। सनातन धर्म वहाँ रहता है, जहाँ ब्राह्मण, वेद, गाय, तप और दक्षिणावाले यज्ञ रहते हैं। ब्राह्मण, गाय, वेद, तप, सत्य, शम, दम, श्रद्धा, दया, तितिक्षा और यज्ञ—ये सब विष्णु के शरीर हैं—

**विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः । श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ॥१०/४/४१**  
आप आदेश दें तो हम लोग इन्हीं का विनाश करना प्रारम्भ कर दें। इनके विनाश के बाद तो विष्णु निर्मूल होकर स्वयं विनष्ट हो जायेगा। उसको मार डालने का यह भी सर्वोत्तम उपाय है कि भू-मण्डल से ऋषियों का सफाया कर दिया जाय—

**अयं वै तद्वधोपायो यदुषीणां विहिंसनम् ॥१०/४/४२**

दुष्ट मन्त्रियों की यह सलाह सुन कर कंस बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उनके नाश करने की आज्ञा दे दी। कंस काल के फन्दे में फँसा हुआ था। अतः ब्राह्मणों आदि की हिंसा में ही उसने अपना हित समझा। कुछ राक्षसों को धर्म-



ध्वंस के लिये आदेश देकर कंस अपने भवन में चला गया ।

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—परीक्षित, यह बात जान लेनी चाहिये कि सन्तों से विद्वेष करना अपनी मौत को बुलाना है । जिनकी मृत्यु पास आ जाती है, वही संतों से विद्वेष करते हैं—“सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः” ॥४५॥

राजन्, जो मनुष्य पूज्य पुरुषों का अनादर करते हैं, उनका वह कुकर्म उनकी आयु, लक्ष्मी, कीर्ति, धर्म, लोक-परलोक, विषय-भोग और सारे कल्याण के साधनों को विनष्ट कर देता है—

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च । हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥१०/४/४६॥  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

## पाँचवाँ अध्याय

( गोकुल में भगवान् का जन्म-महोत्सव और मथुरा में नन्द और वसुदेव का मिलन )

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—परीक्षित, नन्द बाबा बड़े मनस्वी और उदार थे । पुत्र उत्पन्न होने की बातें सुनकर उनका हृदय आनन्द से भर गया । उन्होंने स्नान किया और पवित्र होकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणों को धारण किया । फिर वैदिक विद्वानों को बुलवाकर स्वस्तिवाचन और अपने पुत्र का जातकर्म संस्कार करवाया । साथ ही देवों और पितरों की पूजा भी करवाई—

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः । आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलङ्कृतः ॥  
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै । कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा ॥

१०/५/१-२

यद्यपि नन्द बाबा बूढ़े हो गये थे । वे अलङ्कार नहीं धारण करते थे किन्तु आज पुत्र के उत्पन्न होने से इतने प्रसन्न थे कि स्वयं अपने-आप को खूब अलङ्कृत किया । वे दिल खोलकर आज दान देने बैठे थे । उन्होंने दो लाख ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर प्रत्येक को एक-एक गाय और सात-सात तिलों के पहाड़ बना कर दान दिया । गायें वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित थीं । तिलों के पहाड़ रत्नों और रक्त वस्त्रों से आच्छादित थे ।

संस्कार दो प्रकार के होते हैं—दोषापनयन संस्कार और गुणाधान संस्कार । साबुन लगाकर मुँह पर से मैल हटाना दोषापनयन संस्कार और स्नो-पाउडर आदि लगाकर मुँह को चमकाना गुणाधान संस्कार है । इसी प्रकार जातकर्म संस्कार के द्वारा माता के गर्भ-वास के दोषों को दूर कर बालक में गुणों का आधान किया जाता है । इससे बालक का तेज बढ़ता है । इसी क्रम में अन्य द्रव्यों की भी शुद्धि समझा रहे हैं—काल से अपवित्र भूमि आदि की, स्नान-शौच से शरीर आदि की, प्रक्षालन से वस्त्र आदि की, संस्कारों से गर्भ आदि की, तपस्या से इन्द्रिय आदि की, यज्ञ से ब्राह्मण आदि की, दान से धन-धान्य की, सन्तोष से मन की और आत्म-ज्ञान से आत्मा की शुद्धि होती है—

कालेन स्नान-शौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया । शुद्ध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्माऽऽत्मविद्यया ॥

१०/५/४

नन्द बाबा का आनन्द आज अनन्त बन गया था । उन्होंने दिल खोल कर खूब दान किया । सारा ब्रज-मण्डल आज महोत्सवमय बन गया था । ब्राह्मण, आशीर्वचन बोल रहे थे । सूत, मागध और बन्दी-जन स्तुति कर रहे थे । जिधर देखिये उधर महोत्सव ही महोत्सव मनाया जा रहा था । ब्रज के सभी घरों के द्वार, आँगन और भीतरी भाग झाड़-बुहार दिये गये । उनमें सुगन्धित जल का छिड़काव किया गया । उन्हें फूलों, मालाओं, वन्दनवारों और ध्वजा-पताकाओं से खूब अलङ्कृत किया गया । गायों, बैलों और बछड़ों के शरीर पर हर्दी-तेल का लेप कर दिया गया । सारे गोपों ने बहमूल्य वस्त्र, आभूषण और पगडियों को धारण कर अपने को खूब सजाया फिर अपने हाथों में भेंट



की विविध वस्तुएँ लिये हुए वे नन्द बाबा के दरवाजे पर आये ।

यशोदा के घर में लाला आया है—यह समाचार सुनते ही गोपियों ने अपने को भरपूर सजाया । जम कर आँखों में काजल लगाया । सजा हुआ उनका मुख कमल की भाँति सुशोभित हो रहा था । कुमकुम कमल पर केशर की तरह प्रतीत हो रहा था । उनके नितम्ब और कुच विशाल थे । चलने पर वे दलक रहे थे, उछल रहे थे । वे भेंट की सामग्री लेकर जल्दी-जल्दी यशोदा जी के पास चलीं । उनके कानों में चमकती हुई मणियों के कुण्डल झिलमिला रहे थे । कण्ठ-सुवर्ण के हारों से अलङ्कृत थे । जूड़ों में गुँथे हुए फूल रह-रह कर गिर रहे थे । इससे प्रतीत होता था—मानो वे कह रहे हों कि तुम कृष्ण-दर्शन के लिये आतुरता से दौड़ रही हो । तुम भाग्यशालिनी हो । हम तुम्हारे शिर पर रहने के योग्य नहीं हैं । हम तो तुम्हारे चरणों में गिर कर तुम्हारी चरण-रज के स्पर्श से पावन हो जायेंगे ।

गोपियों का प्रत्येक अङ्ग कृष्ण-मिलन के लिये व्याकुल हो रहा था, आन्दोलित हो रहा था । मानो उनकी आँखें कह रही हों—हमारे जैसा भाग्यशाली कोई नहीं है । हमें ही कृष्ण-दर्शन का आनन्द मिलेगा । हाथों ने कहा—हम तो प्रभु को भेंट देंगे अतः सर्वाधिक भाग्यशाली हम हैं । कानों ने कहा सबसे बड़े भाग्यशाली हम हैं, क्योंकि सबसे पहले हमने ही लाला के जन्म का समाचार सुना है । आगे भी हम ही कन्हैया का वंशी-वादन भी सुनेंगे । इस पर हृदय ने कहा—जबतक मैं पिघलता नहीं तब तक आनन्द नहीं आता है अतः हमारा ही भाग्य सबसे तेज है । पैरों ने कहा—जन्म-जन्मान्तों से हम यौवन-सुख और धन-सम्पत्ति के पीछे भागते फिरे हैं, किन्तु आज प्रभु-दर्शन के लिये दौड़ पड़े हैं । मेरे दौड़ने में ही सब की चरितार्थता है । इसलिये मेरा भाग्य सबसे विशाल है । इस प्रकार सबको आनन्द ही आनन्द की अनुभूति हो रही थी ।

गोपियाँ नन्द बाबा के घर पहुँच कर बालक के चिरजीवन की कामना करती हुई कह रही थीं—यह चिरजीवी हो, भगवान् इसकी रक्षा करें अथवा—तुम चिरकाल तक राजा रहकर हमारी रक्षा करना । वे इतने उत्प्लास में हैं कि लोगों को घेर-घेर कर हरिद्रा-चूर्ण का लेप कर देती हैं, जल और तेल से सींच कर तर-बतर कर देती हैं फिर वे विभोर होकर भगवान् के नाम का कीर्तन करने लगतीं—“अजनमज्जगुः” ॥१२॥ स्वयं खूब नाच-गा रही थीं और जो उनके सामने आ जाता उसे भी नचाती थीं, उससे भी गाना गवाती थीं । आनन्द में पागल गोपियाँ कन्हैया की जयकार कर रही थीं । पुरुष तो बाहर रह गये किन्तु गोपियाँ तो अन्दर पहुँच कर आनन्द से नाच रही थीं । पुरुष अहङ्कार, अभिमान का प्रतीक है और गोपियाँ दीनता का । जो गोपियों की भाँति विनम्र बन कर जाता है उसे ही ईश्वर के दरबार में प्रवेश मिलता है । अहङ्कारी का वहाँ प्रवेश दुर्लभ है ।

द्वार पर एकत्रित सारे गोप-गण भी एक-दूसरे के मुख पर हरदी, मक्खन का लेप करते, दही, घी, दूध और जल से नहला देते थे । आज नन्द की उदारता आकाश छू रही थी । उन्होंने गोपों को विविध वस्त्र, नाना प्रकार के अलङ्कार और गायेँ दी । सूत, मागध, वन्दी तथा अन्य विद्योपजीवी जनों को भी नन्द ने यथेच्छ दान-मान प्रदान किया—

नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम् । सूतमागधवन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥

तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ॥१०/५/१५-१६

चारों ओर आनन्द का सागर उमड़ रहा था । कोई भी याचक आज नन्द बाबा के द्वार से विमुख होकर नहीं जा रहा था । उनके मन में यह विचार नहीं था कि यदि आज हम सब कुछ लुटा देंगे तो कल क्या खायेंगे और घर में क्या रहेगा ? वे विष्णु की आराधना तथा अपने पुत्र के अभ्युदय की कामना से मुक्त हस्त से, दोनों हाथों से, दान कर रहे थे—

विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥१०/५/१७

भागवत से हट कर यहाँ एक अन्तःकथा यह भी प्रचलित है कि इसी बीच नन्द बाबा की पुरोहिताइन पौर्णमासी जी पहुँची । उन्होंने नेग-चार के लिये है नन्द बाबा को द्वार पर से घर के आँगन में बुलवाया । वे आये । पौर्णमासी जी ने बड़े शोभा से उन्हें विद्वेष्टाई की । नन्द बाबा उन्हें हाथ जोड़कर अभिन्द से बैठा गये । पौर्णमासी



ने पहले से इकट्ठे किये हुए अनेक मांगलिक कलशों के जल से उन्हें स्नान करवाया। नहला लेने के बाद उनकी दाढ़ी में दही-मक्खन पोता और कहा—नन्द जी, अब वस्त्र धारण कर कमर पर हाथ रखकर नाचो तब आप को छोड़ा जायेगा। नन्द बाबा ने हँसते-हँसते नृत्य किया। उनके साथ पौर्णमासी जी तथा दूसरी गोपियाँ भी नाच रही थीं।

उसके बाद स्नान आदि से निवृत्त होकर नन्द बाबा रोहिणी जी के पास गये। उनसे कहा—इस उत्सव में तुम क्यों नहीं सम्मिलित हो रही हो? आखिर, बेटा तो तुम्हारा ही है। दूसरे के घर का तो उत्सव है नहीं। इसपर रोहिणी जी भी सज-धज कर उत्सव में सम्मिलित हो गईं। फिर उन्होंने सब ओर घूम-घूम कर सबकी देख-भाल प्रारम्भ कर दी—

रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता । व्यचरद् दिव्यवासःस्रक्कण्ठाभरणभूषिता ॥१०/५/१७

हृदय—इसके पहले रोहिणी जी महोत्सव में क्यों नहीं सम्मिलित हुई? इसका कारण यह है कि यदि पति परदेश में हो तो पतिव्रता स्त्री को किसी दूसरे के उत्सव में सम्मिलित नहीं होना चाहिये। प्रेषितभर्तृका के लिये धर्मशास्त्रों का यही कथन है कि वह उत्सव आदि में सम्मिलित न हो। परन्तु नन्द बाबा बड़े थे अतः उनकी आज्ञा मानकर रोहिणी जी उत्सव में सम्मिलित हो गईं ॥

जब से भगवान् गोकुल में पधारे तब से लक्ष्मी जी ने ऋद्धि-सिद्धि के साथ वहीं डेरा डाल दिया था। मानों खूँटा गाड़कर बैठ गई थीं। श्रीकृष्ण के जन्म से ही गोकुल, विशेषकर नन्द बाबा का भवन, उनकी क्रीडास्थली बन गई थी—

तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् । हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभूत्पुनः ॥१०/५/१८

नन्द बाबा की समझ में नहीं आ रहा था कि सम्पत्ति का अनन्त भण्डार हमारे घर में कहाँ से आ गया! वे भण्डार घर खोल कर बैठ गये थे और आदेश दे दिया था कि जिसको जो लेना हो यथेच्छ ले जाय। इस पर याचकों ने कहा—चलो भाई, ले चलें। उन्होंने शक्तिभर चाँदी की सिल्ली उठा ली और चल पड़े। जब वे गाँव से बाहर निकले तो लोगों ने कहा—अरे, तुम लोग कितने मूर्ख हो? वहाँ सोने का खजाना खुला है और तुम लोग चाँदी ले जा रहे हो। अरे, इतने ही वजन का सोना लाते तो उसका मूल्य कुछ और होता। इस पर याचकों ने चाँदी वहीं फेंक दी और फिर लौट कर सोने की सिल्ली शिर पर लाद ली। जब सोना लेकर जाने लगे तब किसी ने कहा कि—अरे, राम राम! तुमने महान् गलती की, वहाँ तो हीरों का, मोतियों का रत्नों का भी खजाना खुला हुआ है। अगर इतने वजन का रत्न ले जाते तो कितना मूल्य होता! इतना सुन कर याचकों ने सोना फेंक दिया और लौटकर रत्न ले गये। इस प्रकार गोकुल के आस-पास की भूमि धातुओं से पट गई, भर गई।

हृदय—जो दूसरों को यश देती है, उसका नाम है—यशोदा। जो यश दूसरे के मत्थे मढ़ कर अपयश स्वयं अपने मत्थे ले लेती है—उसका नाम है—यशोदा। “यशो ददातीति यशोदा”। जो अपनी वाणी से, व्यवहार से सबको आनन्दित करता है, उसे ‘नन्द’ कहते हैं—“नन्दयति=आनन्दयति सर्वजनानिति नन्दः”। जो यशोदा और नन्द होते हैं, उन्हीं के घर कन्हैया बेटा बन कर आता है उन्हीं की गोद को कन्हैया सुशोभित करता है।

प्रायः ११ वर्ष ६ महीने तक, जब तक कि कृष्ण मथुरा नहीं लौटे, तब तक कृष्ण का जन्म, नन्दमहोत्सव के रूप में मनाया जाता था। कंस के कारागार में कृष्ण के प्राकट्य की बात चारों ओर फैलने पर भादों के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को कृष्ण का जन्म मनाया जाने लगा। फिर भी नन्द-महोत्सव का महत्त्व कम नहीं हुआ। आज भी सर्वत्र नन्दमहोत्सव नवमी के प्रातः मनाया जाता है।

आजकल भक्त-जन वर्ष में एक बार ही नन्द महोत्सव मनाते हैं। किन्तु प्रतिदिन नन्दमहोत्सव मनाना चाहिये। प्रतिदिन प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में चार बजे से साढ़े पाँच बजे तक नन्दमहोत्सव मनाया जाय। “उत्” का अर्थ है—ईश्वर और “सव” का अर्थ है—प्राकट्य। ईश्वर का प्राकट्य ही उत्सव है। उत्सव में धन या भोग आदि नहीं प्रेम ही प्रधान है। मन्दिर में नहीं, अपने घर में ही नन्दमहोत्सव मनाया जाय। जीवात्मा का घर हमारा शरीर ही तो है।



जो प्रतिदिन नन्दमहोत्सव मनाता है, उसका सारा दिन आनन्द में ही बीतता है। निर्धन व्यक्ति भी प्रतिदिन नन्द महोत्सव मना सकते हैं। इस महोत्सव में धन नहीं, मन ही प्रधान है।

**हृदय**—नन्दमहोत्सव की तैयारी तो करनी ही पड़ती है। शरीर है मथुरा। मथुरा को पहले मधुरा कहते थे। मधु “मधुसदृशान् विषयान् राति ददाति क्षरतीति मधुरा”, मथुरा। मधु की तरह मीठे विषयों को, भोगों को जो देता है, वह शरीर ही मधुरा है। कालान्तर में मधुरा को मथुरा कहा जाने लगा। गोकुल का अर्थ है—हृदय। जहाँ सारी इन्द्रियाँ एकत्रित होती हैं, मिलती हैं उसे गोकुल कहते हैं। ‘गो’ का अर्थ इन्द्रिय भी होता है। नन्द बाबा जीव के प्रतीक हैं, जीव हैं। हृदयरूपी गोकुल में कृष्ण का प्राकट्य कराकर नन्दमहोत्सव मनाना है। यमुना भक्ति का प्रतीक है। इसीलिये मथुरा और गोकुल आदि यमुना के तट पर बसे हैं। शरीर को मथुरा बनाना है और हृदय को गोकुल तो भक्ति यमुना के किनारे बसना होगा। भक्ति करनी होगी। यमुना भक्ति का तट कभी नहीं छोड़ना चाहिये। चौबीसों घण्टे भक्ति के किनारे रहोगे तभी तुम्हारा शरीर मथुरा और हृदय गोकुल बन पायेगा।

“गोभिः इन्द्रियैः पिबति कृष्णरसं या सा गोपी”—जो अपनी सारी इन्द्रियों से सर्वदा कृष्ण-रस का पान करती रहती है, वह गोपी है और यदि पुरुष है तो वह गोप है।

भाद्रपद कृष्ण पक्ष नवमी के दिन नन्द बाबा के यहाँ कृष्ण-जन्मोत्सव मनाया गया। इसे ही नन्दमहोत्सव कहते हैं। महोत्सव का यह क्रम नवमी, दशमी और एकादशी लगातार तीन दिन चला। कैलासवासी भगवान् शङ्कर ने देखा कि नन्द के गोकुल में परम ब्रह्म कृष्ण का प्राकट्य हो चुका है, अतः वे कन्हैया का दर्शन करने कैलास से चले। साथ में किसी भी गण को नहीं लिया। साथ से मन में विक्षेप पैदा होता है। भगवान् शङ्कर योगी का रूप धारण कर द्वादशी के दिन गोकुल में नन्द बाबा के द्वार पर पधारे। जय-जयकार लगाई। ऐसा तेजस्वी योगी गोकुलवासियों ने आज तक नहीं देखा था। बड़ा ही अद्भुत था यह योगी।

योगी के द्वार पर पधारने का समाचार मैया यशोदा को मिला। मैया ने पात्र में भिक्षा सजाकर दासी से भेज दिया। दासी ने कहा—महाराज, यशोदा जी ने यह भिक्षा भेजी है। आप इसे स्वीकार कर लाला को आशीर्वाद दें। शङ्कर जी ने कहा—मैं भिक्षा नहीं लूँगा। मुझे किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। मुझे बाल कन्हैया का दर्शन करना है। दासी ने जाकर यशोदा जी से कहा कि—साधु महाराज कुछ लेना नहीं चाहते। वे तो केवल लाला के दर्शन के लिये ही इतनी दूर तक चलकर आये हैं। यशोदा ने खिड़की से झाँक कर योगी को देखा और कहा—महाराज, यदि भिक्षा कम हो तो मैं कुछ और देने को तैयार हूँ किन्तु मैं लाला को बाहर नहीं लाऊँगी। आप के गले में सर्प है, मेरा लाला उसे देखकर डर जायेगा।

शिव जी ने कहा—माता, तेरा कन्हैया तो “काल का काल और ब्रह्म का ब्रह्म है” वह न तो किसी से डर सकता है और न उसे किसी की कुदृष्टि ही लग सकती है। वह तो मुझे पहचानता भी है।

यशोदा जी—कैसी बात कर रहे हैं आप ? मेरा लाला तो नन्हा-सा है। मेरी प्रार्थना है—आप हठ न करें।

शिवजी—मैया, ध्यान लगा कर सुन ले। मैं तेरे लाला के दर्शन किये बिना यहाँ से हट नहीं सकता। आखिर, मैं इतनी दूर से आया किसलिये हूँ ? योगी के स्वर में दृढता और हठ-दोनों थे।

भीतर कृष्ण ने जाना कि शङ्कर जी मेरा दर्शन करने के लिये आये हैं किन्तु मैया मुझे बाहर नहीं जाने दे रही है, तो वे रोने लगे। दासी ने मैया से कहा कि योगी के ओठ हिल रहे हैं। लगता है उसने ही मन्त्र का कुछ प्रयोग कर दिया है अतः लाला रो रहा है। ऐसा साधु कभी देखने में नहीं आया है। मैं बालकृष्ण को बाहर ले जाऊँ और साधु से आशीर्वाद माँगू। मैया ने कन्हैया का शृङ्गार कर के बाहर भेज दिया और कह दिया कि—उस महाराज से कहना कि लाला को देखना, किन्तु टकटकी लगा कर मत देखना। अन्यथा नजर लग जायेगी।



दासी कन्हैया को योगी के पास लाई। योगी ने दर्शन कर प्रणाम किया और कहा—यदि लाला को मेरी गोद में रख दिया जाय तो मैं इसकी हथेली देखकर इसका भविष्य बतला दूँ। मैया ने कन्हैया को योगी की गोद में रख दिया। वे समाधि में डूब गये। आनन्द का महासागर, उमड़ पड़ा। होश में आने पर योगी ने कहा—मैया, तेरा लाला सम्राटों का सम्राट होनेवाला है। यह कहकर शङ्कर जी ताण्डव करने लगे। ताण्डव करने की बेला में शङ्कर जी अपने असली रूप में प्रकट हो गये। वहाँ नन्द बाबा भी पहुँच गये। भगवान् शङ्कर की जय-जयकार होने लगी। बालकृष्ण को हृदय में बसा कर शङ्कर जी कैलास वापस लौट गये। नन्द बाबा के गाँव के पास आज भी आशेश्वर महादेव का मन्दिर है<sup>१</sup> ॥

पुत्र की रक्षा और अभ्युन्नति के लिये देवों, ब्राह्मणों और याचकों को सन्तुष्ट कर लेने के बाद नन्दबाबा की दृष्टि राजा की ओर गई। घर में शुभ कार्य होने पर राजा को भी भेंट देना धार्मिक और व्यावहारिक अङ्ग है। राजा को वार्षिक कर देने का भी समय आ गया था अतः नन्द बाबा गोकुल की रक्षा का भार गोपों को सौंप कर स्वयं कंस का वार्षिक कर चुकाने के लिये कुछ गोपों को साथ लेकर भादों कृष्णत्रयोदशी के दिन मथुरा गये—

गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः । नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरुद्वह ॥

१०/५/१९

नन्द बाबा और उनके साथी बैलगाड़ियों में बैठ कर मथुरा गये। वहाँ मथुरा के बाहर बगीचे में डेरा डाला फिर तैयार होकर उन्होंने कंस के दरबार में पहुँच कर वार्षिक कर चुकाया। बेटा होने के उपलक्ष्य में उपायन भी भेंट किया फिर वे वहाँ से अपने डेरे पर लौट कर विश्राम करने लगे। जब नन्द बाबा के आने का समाचार वसुदेव जी को मिला तो वे उनसे मिलने के लिये उनके डेरे पर गये। वसुदेव जी को आया देखकर नन्दबाबा हर्षित हो उठे। बड़े प्रेम से उन्होंने वसुदेव जी की अगवानी की। उन्होंने उनको बाहों में भर कर छाती से लगा लिया। उस समय उनकी प्रेम विह्वलता आसमान छू रही थी—

वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम् । ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम् ॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतम् । प्रीतः प्रियतमं दोभ्यौ सस्वजे प्रेमविह्वलः ॥

१०/५/२०-२१

नन्द बाबा ने वसुदेव जी को बड़े सम्मान के साथ बैठाया। जब वसुदेव जी आराम से बैठ गये तो उन्होंने नन्द बाबा का कुशल समाचार पूछा। वस्तुतः वसुदेव जी का मन अपने बेटों के ऊपर लगा था। वे मुख्यरूप से उन्हीं का समाचार जानना भी चाहते थे अतः उन्होंने कहा—भैया, बड़े सौभाग्य से आज बहुत दिनों के बाद आप का दर्शन हुआ। इस ढलती अवस्था में आपके यहाँ पुत्र होने का समाचार जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई। अच्छा, यह बतलाइये कि आजकल आप जिस महावन में निवास करते हैं उसमें कोई रोग तो नहीं लगा है ? वहाँ जल, घास और लता-पत्रादि भरपूर तो हैं न ? वह वन पशुओं के लिये अनुकूल और सब प्रकार के रोगों से तो बचा हुआ है न ? भैया, मेरा बेटा अपनी माँ (रोहिणी) के साथ आप के व्रज में रहता है। उसका लालन-पालन यशोदा और आप करते हैं। इसलिये वह आप लोगो को ही अपना माता-पिता मानता होगा। वह अच्छी तरह है न ? आपकी आज्ञा का पालन करता है न ?

१. क. रामावतार में भी शङ्कर मानव-वेश धारण कर राम-दर्शन के लिये बहुत दिनों तक अयोध्या में घूमते रहे। रामचरित मानस, १९/५-४।

ख. यह प्रसङ्ग भागवत में नहीं है। किन्तु कई महात्माओं ने इस लीला का बड़ा ही रसीला वर्णन प्रस्तुत किया है।



वसुदेव की प्रेमभरी बात सुन कर नन्द ने कहा—भैया वसुदेव, बेटे तो दोनों ही आपके हैं। मैं तो उनकी सेवामात्र करता हूँ। यद्यपि यह बात नन्द बाबा ने सभ्यता के लिहाज से कही थी। किन्तु वसुदेव ने मन-ही-मन कहा—कहते तो भैया ठीक ही हो। बेटे तो दोनों हमारे ही हैं। उन्होंने शिर हिला कर नन्द जी की बात का जवाब दिया।

फिर नन्द ने उदास स्वर में लम्बी आह भर कर कहा—भाई वसुदेव, कंस ने देवकी के गर्भ से उत्पन्न आपके कई पुत्रों को मार डाला। अन्त में सब से छोटी एक कन्या बची थी, वह भी स्वर्ग सिधार गई। यह सब भाग्य का खेल है—ऐसा जानकर सन्तोष करना पड़ेगा। विधि का विधान कोई टाल नहीं सकता।

वसुदेव जी ने कहा—ठीक है नन्द भैया, आपने राजा का वार्षिक कर चुका दिया। हम दोनों भी मिल लिये। अब आप को यहाँ अधिक दिन नहीं ठहरना चाहिये; क्योंकि आजकल गोकुल में बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं—

करो वै वार्षिको दत्तो राज्ञे दृष्ट्वा वयं च वः। नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले ॥

१०/५/३१

वसुदेव जी अपनी सत्यवक्त्रता के लिये प्रसिद्ध थे। वे कभी मिथ्या भाषण नहीं करते थे अतः उनकी वाणी मिथ्या नहीं हो सकती—यह सभी जानते थे। पतञ्जलि का योग-सूत्र है—‘सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्’ ॥२/३६॥ इसका अर्थ है—जो व्यक्ति सत्यनिष्ठ होता है, उसके मुख से अनजान में भी यदि कोई बात निकल जाय तो वह सच हो जाती है। यहाँ वसुदेव जी के मुख से यह शब्द निकला है, जो वर्तमान काल का वाची है। इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ नन्द और वसुदेव परस्पर बात कर रहे हैं और वहाँ गोकुल में उत्पात हो रहे हैं। वसुदेव और नन्द में इतनी आत्मीयता इसलिये है कि दोनों भाई लगते हैं। शूर के पुत्र हैं—वसुदेव और पर्जन्य के पुत्र हैं—नन्द। शूर और पर्जन्य के पिता एक ही थे।

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, वसुदेव की बात सुन कर नन्द जी उनसे अनुमति लेकर गोपों के साथ छकड़ों पर सवार होकर गोकुल के लिये चल पड़े। वसुदेव जी भी चुपचाप अपने स्थान पर लौट आये ॥५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

•

## छठा अध्याय

### (पूतना के उद्धार की कथा)

नन्द बाबा ने मार्ग में विचार किया कि वसुदेव जी की वाणी कभी मिथ्या नहीं हो सकती। अवश्य ही कोई-न-कोई विघ्न उपस्थित होगा—ऐसी आशङ्का कर वे रक्षा के लिये मन-ही-मन भगवान् श्रीहरि की शरण में गये—

नन्दः पथि वचः शौरेर्न मृषेति विचिन्तयन्। हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः ॥१०/६/१  
त्रयोदशी के दिन नन्द बाबा मथुरा गये थे। चतुर्दशी के दिन वे वहाँ से लौटे। चतुर्दशी के दिन गोकुल में लाला की छट्टी मनाई जा रही थी। इसीलिये यह कथा व्यास जी ने छठे अध्याय में वर्णित की है। अब तो कम लोग छट्टी मनाते हैं। केवल बरही ही धूम धाम से मनाई जाती है। छट्टी अर्थात् चतुर्दशी के दिन कंस ने बालकों की हत्या करनेवाली पूतना<sup>१</sup> नाम की एक विकराल राक्षसी को नन्द के लाला कहैया का वध करने के लिये गोकुल भेज दिया।

१. पूतना—जो पूत अर्थात् पवित्र न हो उसे पूतना कहते हैं। ज्ञान पवित्र है और अज्ञान अपवित्र। अज्ञान को ही माया कहते हैं इसीलिये वल्लभाचार्य जी का कथन है कि—“अविद्या पूतना प्रोक्ता”। पूतानपि पवित्रानपि नयति सन्मार्गाच्च्यावयति या सा, पूतना अविद्या है। यह दुरत्यया है। इस को जीतना बड़ा कठिन है इसीलिये भगवान् ने गोकुल में कहा है—“देवी भेष गुणगुणी सन्मार्गं दुरत्यया” ॥५॥



हृदय-पूतना अविद्या है। अविद्या के चौदह स्थान हैं। वह चौदह ठिकानों में निवास करती है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इसीलिये वह चतुर्दशी, चौदहवीं को ब्रज में आई। रामायण में भी हमने देखा है कि कैकेयी ने राम के लिये चौदह वर्ष के वनवास की मांग की थी। रावण काम का प्रतीक है। काम पूतना की भाँति चौदह स्थानों में वास करता है। उसे मारने के लिये राम की चौदह वर्ष की तपस्या आवश्यक थी ॥

कंस की आज्ञा से वह नगर, ग्राम और अहीरों की बस्तियों में बच्चों को मारने के लिये घूम रही थी। वह तीन वर्ष तक के बच्चों को दूढ़ दूढ़कर मारती फिरती थी—

कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी । शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु ॥१०/६/२

हृदय-पूतना तीन वर्ष तक के बालकों को ही मारती थी। आज भी पूतना-रोग तीन वर्ष तक के बच्चों को ही होता है। अवस्थाएँ चार होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तूर्यगा। तूर्यगा अवस्था ब्रह्म-मिलन की अवस्था है। माया प्रथम तीन अवस्थावाले व्यक्तियों को ही पीड़ित करती है, मारती है। तूर्यगा अवस्था में पहुँचे व्यक्ति को वह छू भी नहीं सकती। सत्त्व, रज और तम में ही फँसे हुए व्यक्ति को माया मारती है, त्रिगुणातीत को नहीं। नरक के तीन द्वार हैं—काम, क्रोध और लोभ। इनमें फँसे हुए व्यक्ति को माया मारती है। यही है पूतना के द्वारा तीन वर्ष तक के बच्चों को मारने का रहस्य ॥

शुकदेव जी की बात सुनकर परीक्षित के मन में यह शङ्का हुई कि कहीं हमारे आराध्य श्रीकृष्ण का पूतना ने कुछ अनिष्ट तो नहीं कर दिया ? इस पर शुकदेव जी ने कहा कि नहीं, जहाँ श्रीकृष्ण के नाम नहीं लिये जाते, वहीं ये राक्षस अनिष्ट कर सकते हैं। किन्तु जहाँ भगवान् के नाम, रूप और लीला का कीर्तन, स्मरण और श्रवण होता रहता है, वहाँ ये कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते।

तो, कंस की आज्ञा का अनुसरण करती हुई पूतना एक दिन आकाशमार्ग से नन्द बाबा के गोकुल में पहुँच गई। वह बड़ी मायाविनी थी। अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करने में प्रवीण थी। उसने अपनी माया से अपना असलीरूप छिपा कर अत्यन्त मनोहर रूप धारण कर रक्खा था। उसके केशपाश में महकती हुई चमेली की सुन्दर माला गुँथी हुई थी। उसके बड़े-बड़े गोल-गोल विशाल नितम्ब थे। वक्षःस्थल पर मनोहर विशाल स्तनों की प्रभा बिखर रही थी। कमर तो इतनी पतली थी कि मुट्ठी में समा जाय। मक्खन सी सुकुमार शरीर सुन्दर साड़ी से अलङ्कृत थी। उसकी घुँघराली अलकें पलकों के अगल-बगल लटक रही थीं। कानों में हिलते हुए मणि-मण्डित कुण्डलों की आभा-प्रभा से अलकें सुनहरी प्रतीत होती थीं। उसका मुख विकसित लाल कमल की भाँति मनोहर था—

तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम् ।

सुवाससं कम्पितकर्णभूषणत्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम् ॥ १०/६/५

वह अपनी मधुर-मधुर मुसकान और कटाक्ष भरे चितवन से ब्रजवासिनी स्त्रियों का चित्त चुरा रही थी<sup>१</sup>। उसने अपने हाथ में कमल ले रक्खा था अतः गोपियाँ उत्प्रेक्षा करने लगीं, मानों स्वयं लक्ष्मी जी अपने पति का दर्शन करने के लिये पधारी हों—

१. प्रकृति का यह एक स्वभाव है कि एक स्त्री दूसरी स्त्री के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध नहीं होती। किन्तु यहाँ ब्रजवासिनी स्त्रियाँ पूतना के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो रही हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने रामचरितमानस में लिखा है—  
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह नीति अनूपा ॥



वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितैर्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम् ।

अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम् ॥१०/६/६

पूतना की रूप-सम्पदा देखकर व्रज-बालाएँ हतप्रभ हो गईं। किसी में यह साहस न था कि वह पूछता—बहन, तुम कौन हो ? कहाँ से आई हो ? रानी हो या महारानी अतः वह बेरोकटोक अनायास सीधे नन्द बाबा के अन्तःपुर में घुस गई। वहाँ उसने देखा कि एक विलक्षण बालक दिव्य शैया पर सोया हुआ है। जैसे दहकता अङ्गार रख की ढेर में छिपा हो, ऐसे ही वह बालक अपना तेज पीताम्बर में छिपाये हुए था। भगवान् श्रीकृष्ण चर-अचर सकल जगत् की आत्मा हैं अतः उन्हें यह समझते देर न लगी कि यह बालघाती ग्रह पूतना है इसीलिये उन्होंने अपने नेत्र-कमल बन्द कर लिये—

विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं चराचरात्माऽऽस निमीलितेक्षणः ॥१०/६/८

भगवान् श्रीकृष्ण ने पूतना को देख कर अपने नेत्रों को क्यों बन्द कर लिया ? इस पर श्री हरिसूरि, विश्वनाथ चक्रवर्ती और जीव गोस्वामी आदि ने विविध उत्प्रेक्षाएँ की हैं। उनमें से कुछ को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। ताकि सुधी-जन उनका रसास्वादन कर सकें—

१. पूतना नारी थी। नारी का वध उचित नहीं है। सामने कोई पुरुष हो और उसके साथ वीरता प्रदर्शित करनी हो तो कोई बात नहीं है। किन्तु किसी स्त्री को मारने में कौन-सी वीरता है ? पूतना बालघातिनी है अतः इसे तो मारना है ही। स्त्री की हत्या करने में कृष्ण को सङ्कोच हो रहा था अतः उन्होंने पूतना को आती हुई देखकर आँखें बन्द कर लीं।

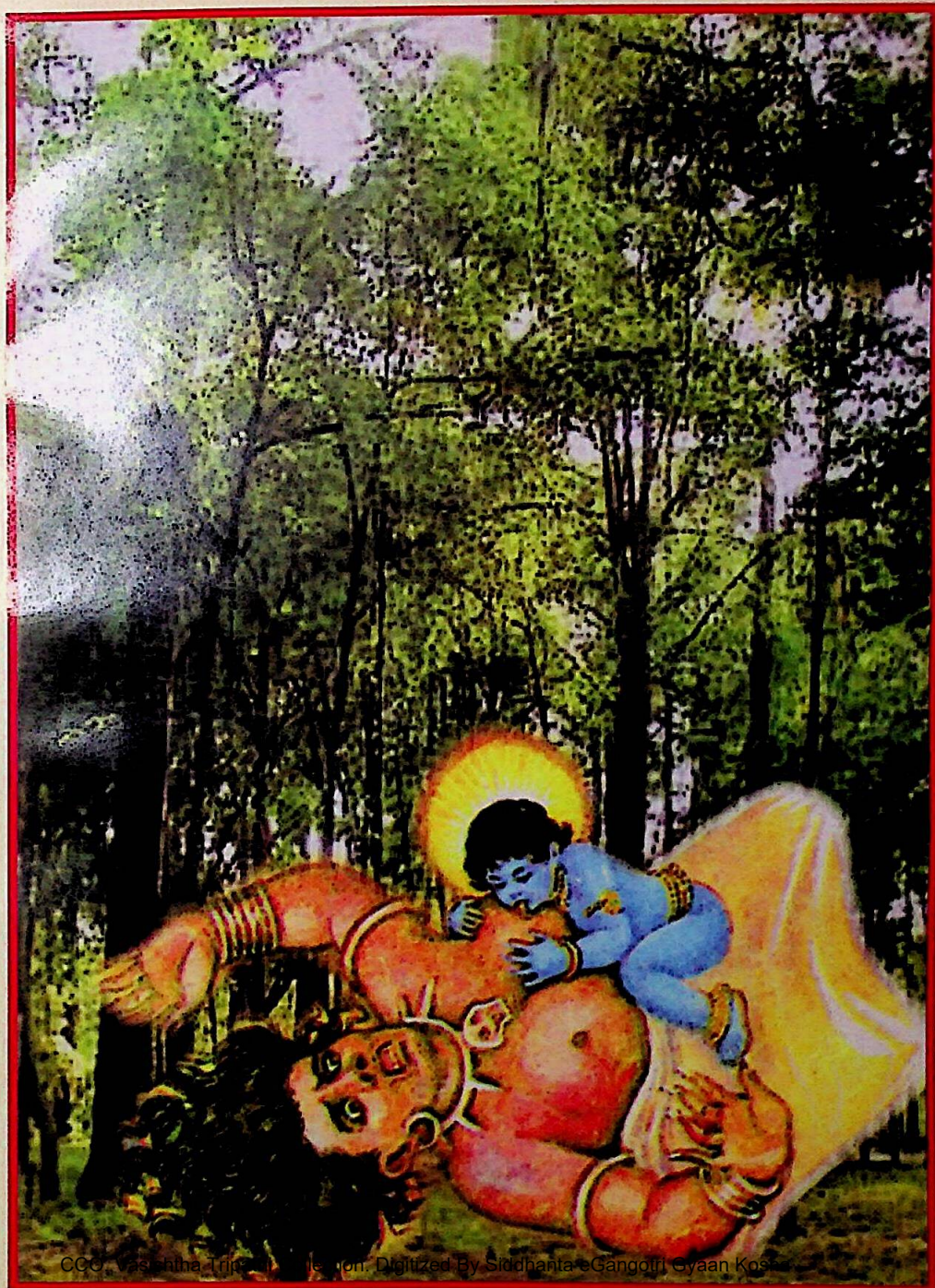
२. एक महात्मा को भगवान् के आँख बन्द करने का यह कारण जंचता नहीं है अतः वे कहते हैं कि पूतना नारी तो थी। किन्तु वह राक्षसी थी। उसने कई बच्चों की हत्या भी की थी और यहाँ भी कन्हैया की हत्या के लिये ही आई थी अतः ऐसी दुष्टा को मारने में कैसा सङ्कोच ? अतः कन्हैया के आँख बन्द करने का कारण और कुछ है। उन्होंने सोचा कि मेरी आँखों में वैराग्य और ज्ञान का स्थाई निवास है। यदि मेरी आँखें पूतना की आँखों से मिल जायेंगी तो उसे ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। वह जान जायेगी कि यह तो ईश्वर हैं। मेरे ईश्वरत्व का उसे ज्ञान हो जाने पर मैं जो लीला करना चाहता हूँ, वह पूरी नहीं हो पायेगी। ईश्वरत्व का ज्ञान लीला में बाधारूप है। यदि पूतना यह जान गई कि यह भगवान् हैं, ईश्वर हैं तो वह मुझे दूध पिलाने का प्रयास नहीं करेगी। उसे मेरे असली रूप का ज्ञान न हो। वह मुझे सामान्य बालक ही समझती रहे इसलिये भगवान् ने अपनी आँखें बन्द कर ली।

३. दूसरे महात्मा को यह बात पसन्द नहीं आई। उन्होंने कहा कि आँख मिलनेमात्र से ज्ञान नहीं होता। आँख तो दुर्योधन की भी मिली थी। उसे ज्ञान हो गया था क्या ? वस्तुतः आँख बन्द कर कन्हैया यह सोच रहे हैं कि इसे संसार से मुक्त करना है। मेरे पास पहुँचने वाला व्यक्ति पुनः संसार-सागर में नहीं आता है अतः इसे कहाँ भेजा जाय, गोलोकधाम अथवा वैकुण्ठ ?

४. तीसरे महात्मा का कथन है कि भगवान् बहुत-से लोगों को देखते हैं। सभी मुक्त नहीं होते। उनके नेत्र बन्द करने का कारण यह है कि वे ध्यान से विचार कर रहे हैं कि इस जन्म में इस ने कुछ साधन तो किया नहीं है। संभव है मुझ से मिलने के लिये पूर्व जन्म में कुछ सत्कर्म किया हो। मानो पूतना के पूर्व-पूर्व जन्मों के साधन देखने के लिये ही कृष्ण ने नेत्र बन्द कर लिये।

५. चौथे महात्मा का कहना है कि—कृष्ण ने विचार किया कि मैं गोकुल में यह विचार कर आया था कि लोग मुझे माखन-मिश्री खिलायेंगे किन्तु यहाँ तो छठी के दिन ही विष पीने का अवसर आ गया इसलिये मानो वे डर के मारे आँखें बन्द कर लिये हों।

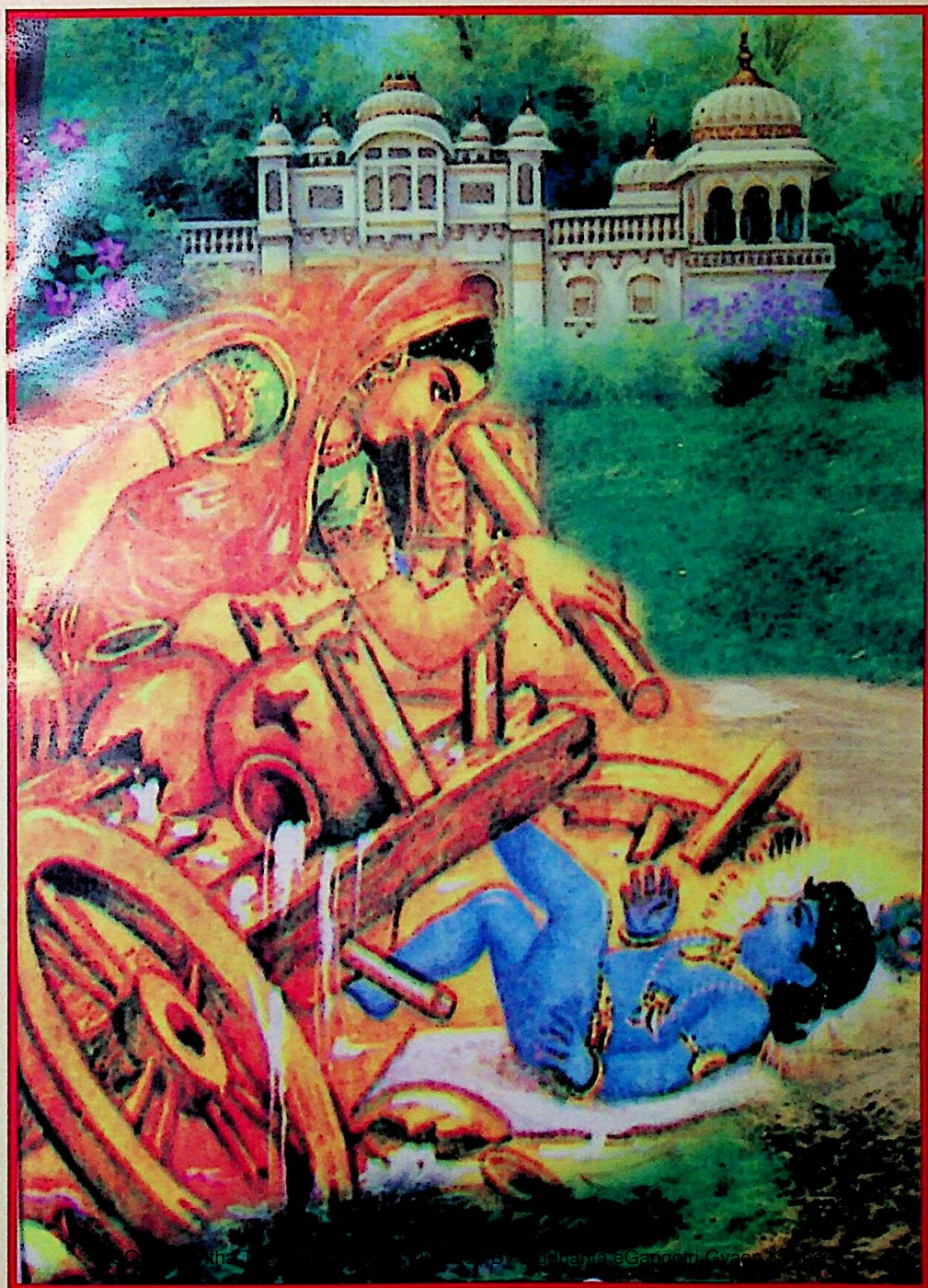


















६. पाँचवें महात्मा ने कहा—भगवान् कभी किसी से डर सकते हैं क्या ? वस्तुतः कन्हैया आँख बन्द कर शिवजी से प्रार्थना कर रहे हैं कि—प्रभो, आप विषपायी हैं। आप को विष पीने की आदत है अतः आइये, दौड़कर आइये। पूतना मौसी के स्तन का विष आप पीलीजिये फिर मैं इसका दूध पीऊँगा। इस प्रकार कन्हैया आँखें बन्द करके शिव जी का ध्यान करते हुए उन्हें विष पीने के लिये बुला रहे हैं।

जब किसी देव को याद करना या बुलाना होता है तो आँखें बन्द करके ही उसका ध्यान करना पड़ता है।

७. छठे महात्मा ने कहा—मुझे यह कारण योग्य नहीं प्रतीत होता। क्या कृष्ण विष को पचा नहीं सकते थे ? वे तो काल के भी काल हैं। सच तो यह कि कृष्ण के नेत्र बन्द कर लेने का कारण कुछ और ही है। पुण्यात्मा जन ब्रह्मलोक में सूर्य-मार्ग अथवा चन्द्रमार्ग से ही जाते हैं। भगवान् का वाम नेत्र चन्द्र है और दक्षिण नेत्र सूर्य है। भगवान् अपने पास आई हुई पूतना को ब्रह्मलोक भेजने की तैयारी में हैं अतः उनके नेत्रों ने सोचा—पूतना हमारे प्रभु को विष पिलाकर मारने आई है अतः हम अपना मार्ग बन्द कर देते हैं, जिससे यह ब्रह्मलोक न जा सके। कन्हैया ने आँखें नहीं बन्द की। अपितु आँखें स्वयं बन्द हो गई।

८. सातवें महात्मा कहते हैं कि—भगवान् बड़े असमञ्जस में पड़ गये हैं। वे सोच रहे हैं कि—पूतना मेरे पास आई है। मुझे गोद में उठायेगी। अपनी छाती पिलायेगी, अतः इसको गोलोक धाम भेजना अनिवार्य है। ऐसी स्थितिमें मैं मैया यशोदा को कौन गति, कौन-सा लोक प्रदान करूँगा, जिसकी छाती का अमृत पी-पीकर, जिसकी गोद में लोट-पोट कर मैं पलूँगा, बढूँगा। मेरे पास सर्वोत्तम लोक है—गोलोक। पूतना वहीं जायेगी यदि मैया को भी वहीं भेजता हूँ तो—यह अन्याय होगा, अन्येर नगरी होगी, सब धान बाइस पसेरी वाली कहावत चरितार्थ होगी। आँखें बन्द कर कन्हैया यही सोच रहे हैं।

९. आठवें महात्मा ने कहा—भगवान् सोच रहे हैं कि पूतना ने वेश पत्नी का धारण किया है और कार्य माता का करने जा रही है। यह महापापिनी है अतः इसका मुख देखना पाप है अतः उन्होंने आँखें बन्द कर लीं।

१०. बल्लमाचार्य महाराज का कहना है कि—“अविद्या ही पूतना है। अविद्या पूतना प्रोक्ता”। भगवान् कृष्ण ने सोचा—मेरी दृष्टि के सामने अविद्या टिक नहीं सकती—“माया परैत्यभिमुखे मयिईक्षमाणा”। वह भाग खड़ी होगी फिर लीला कैसे होगी ? इसलिये नेत्र बन्द कर लिये।

११. किसी महात्मा ने कहा—अपरिचित प्राणी को देखकर बालक स्वभावतः नेत्र बन्द कर लेते हैं अतः कन्हैया ने आँखें बन्द कर ली।

१२. अन्य महात्मा ने कहा—यह पूतना बालघातिनी है—“पूतानपि नयति”। यह पवित्र बालकों को भी ले जाती है। ऐसा जघन्य कृत्य करनेवाली का मुख नहीं देखना चाहिये, इसलिये नेत्र बन्द कर लिये।

इस प्रकार भक्तों, विद्वानों और साधकों ने बहुत-सी उत्प्रेक्षाएँ की हैं। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन करा दिया गया है।

अब आइये प्रकृत प्रसङ्ग पर। मखमली म्यान के भीतर छिपी हुई तीखी धारवाली तलवार के समान पूतना का हृदय बड़ा कुटिल था किन्तु ऊपर से देखने में उसका वेश और व्यवहार बड़ा ही सुन्दर था। देखने में वह एक बहुत बड़ी कुलीन भद्र महिला के समान जान पड़ती थी। इसलिये रोहिणी और यशोदा—दोनों माताएँ उसे घर के भीतर आई देखकर भी उसकी सौन्दर्य प्रभा से हत-प्रभ-सी होकर कोई रोक-टोक नहीं कीं, चुपचाप खड़ी-खड़ी देखती रहीं—



तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां वीक्ष्यान्तरा कोशपरिच्छदासिवत् ।

वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते निरीक्षमाणे जननी ह्यतिष्ठताम् ॥१०/६/९

“तत्प्रभया च धर्षिते” को देखकर विद्वानों का कहना है कि—बालक कन्हैया की ओर बढ़ती हुई पूतना ने यशोदा को डाटते हुए कहा—देखती नहीं हो । बालक के ओठ सूख गये हैं । उसे भूख-प्यास लगी हुई है । लगता है, पहले तुम्हें कभी बच्चा नहीं पैदा हुआ है—ऐसा कहकर उसने कन्हैया को अपनी गोद में उठा लिया । इसे देखकर यशोदा ने मन-ही-मन सोचा कि मेरा बड़ा सौभाग्य है, जो कि त्रिलोक-सुन्दरी यह स्त्री मेरे ललन को अपनी गोद में उठा रही है । गोद में लेकर पूतना ने भयङ्कर विष से पुते हुए अपने स्तन को उनके मुख में डाल दिया, इस पर कन्हैया को कुछ रोष हुआ । उन्होंने दोनों हाथों से उसके मोटे-मोटे स्तनों को जोर से दबा कर उसके प्राणों के सहित दूध को पिया<sup>१</sup> ।

गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत् प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत् ॥१०/६/१०

जिस समय पूतना के प्राण खिंचने लगे, उसके शरीर की सन्धियाँ फटने लगीं । उस समय वह जोर से चिल्ला उठी—अरे छोड़ दे, छोड़ दे, अब बस कर ! वह बार-बार अपने हाथ-पैर पटक-पटक कर रोने लगी । उसके नेत्र उलट गये । उसका सारा शरीर पसीने से लथपथ हो गया—

सा मुञ्च मुञ्चालमिति प्रभाषिणी निष्पीड्यमानाखिलजीवमर्मणि ।

विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह ॥१०/६/११

उसके भीषण शब्द से पर्वतों के सहित पृथिवी और ग्रह-नक्षत्रों के सहित सारा आकाश-मण्डल कम्पित हो उठा । पाताल एवं दिशाएँ गूँज उठीं । वज्रपात की आशङ्का से लोग मूर्च्छित होकर भूतल पर गिर पड़े । परीक्षित, इस प्रकार निशाचरी पूतना के स्तनों में इतनी पीड़ा हुई कि उसने छटपटा-छटपटा कर प्राणों का परित्याग किया । मरने की बेला में वह अपने असली रूप में प्रकट हो गई । प्राण निकलने के समय उसका मुँह फट गया, बाल बिखर गये और हाथ-पाँव फैल गये जैसे इन्द्र के वज्र से आहत वृत्रासुर गिर पड़ा था, वैसे ही वह बस्ती से बाहर गोष्ठ में आकर गिर पड़ी । वस्तुतः बाल कन्हैया ने उसे अपने भक्तों की रक्षा के लिये बस्ती से बाहर फेंक दिया ।

राजेन्द्र, पूतना के शरीर ने गिरते-गिरते भी छः कोस तक वृक्षों को कुचल डाला । उसका शरीर महाभयङ्कर और डरावना था । उसे देख कर सारे गोप और गोपी थर्रा उठे । महान् अनिष्ट की आशङ्का से यशोदा और रोहिणी तो अचेत-सी हो गई थीं । पूतना और बालक की तरफ देखने और जाने का वे साहस भी न जुटा सकीं । गोपियों ने देखा कि बालक श्रीकृष्ण उसकी छाती पर निर्भय होकर खेल रहे हैं, तब वे बड़ी घबड़ाहट और उतावली के साथ झटपट वहाँ दौड़ कर पहुँच गई तथा श्रीकृष्ण को उठा लिया—

बालं च तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम् । गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य जगृहुर्जातिसम्भ्रमाः ॥१०/६/१८

इसके बाद यशोदा और रोहिणी के साथ गोपियों ने लाला के चारों ओर गाय की पूँछ घुमा कर उनके अङ्गों की सब प्रकार से रक्षा की । उन्होंने पहले बालक श्रीकृष्ण को गोमूत्र से स्नान कराया, फिर सब अङ्गों में गो-रज लगाया और फिर बारहों अङ्गों में गोबर लगाकर भगवान् के केशव आदि नामों से रक्षा की । जब गोपियों को ध्यान आया कि मुर्दा छुआ है तब उन लोगों ने हाथ-पैर धोकर अङ्ग-न्यास, करन्यास कर पुनः बालक के अङ्गों में भगवान् के नामों से बीजन्यास किया । इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् के नामों में भगवान् की भी रक्षा करने का सामर्थ्य है ।

१. “रोषसमन्वितोऽपिबत्”—रोषः = रोषाधिष्ठातृदेवता रुद्रस्तेन समन्वितः = सहितः । अर्थात् कन्हैया ने पूतना के प्राणों को पीने के लिये प्रलय के देवता रुद्र को बुलाया । रुद्र ने पूतना के प्राणों को पिया और कृष्ण ने उसके दूध का पान किया ।



श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, इस प्रकार गोपियों ने प्रेमपाश में बँध कर भगवान् श्रीकृष्ण की रक्षा की। माता यशोदा ने अपने पुत्र को स्तन पिलाया, गोपियों के पैर पर रक्खा और फिर धीरे से पलंग पर सुला दिया। इसी समय नन्द बाबा और उनके साथी गोप-गण मथुरा से गोकुल पहुँचे। जब उन्होंने पूतना का भयङ्कर शरीर देखा, तब वे आश्चर्य से चकित हो कहने लगे कि—अरे यह क्या ? वसुदेव जी ने जो कहा था, वह सच ही निकला। अवश्य ही वे कोई महान् ऋषि हैं। तदनन्तर गोपों ने कुल्हाड़ी से पूतना के अङ्ग-अङ्ग को काट डाला और गोकुल से दूर ले जाकर लकड़ियों पर रख कर जला दिया। उस समय पूतना की चिता के धुएँ की दिव्य सुगन्ध से गोकुल का वायुमण्डल सुगन्धित हो उठा। क्यों न हो, भगवान् ने उसका दूध पीकर जो उसकी छाती पर खेला था। इससे उसके सारे पाप तत्काल भस्म हो गये थे।

राजन्, यद्यपि पूतना बालकों की हत्या करनेवाली थी, जाति से राक्षसी थी, कर्म से रुधिर पान करनेवाली थी और नियत से वह कृष्ण को मारनेवाली थी, फिर भी श्रीकृष्ण के मुँह में विषमिश्रित स्तन देने के कारण उसे माता की सद्गति मिली। जब विष पिलाकर मारने की नीयत से आनेवाली पूतना को इतनी ऊँची सद्गति मिली, तो जो श्रद्धा-भक्ति से अपनी प्रिय वस्तु श्रीकृष्ण को समर्पित करते हैं, उनको क्या गति मिलेगी ? श्रीकृष्ण के पीछे दौड़नेवाली और उनको अपना सर्वस्व माननेवाली ब्रज की गायों और गोपियों को क्या मिलेगा ? जब जन्म कर्म और नीयत सब प्रकार से भयङ्कर राक्षसी पूतना की छाती पर पाँव रखकर स्तन पीने के बदले भगवान् ने उसको सर्वोत्तम गति प्रदान कर दी, तब उन्होंने जिन गायों के थनों में मुँह लगाकर स्वयं अथवा उनके बछड़ों के रूप में दूध पिया तथा जिन गोपियों के वक्षःस्थल पर चढ़ कर दूध पिया, उनकी सर्वोच्च गति के बारे में तो कहना ही क्या है ? यहाँ तो पूतना की सद्गति का दृष्टान्त ही इसलिये दिया गया है कि उससे माताओं के सौभाग्य और सद्गति का बोध हो।

वस्तुतः कन्हैया का कहना है कि मैया यशोदा और गोपियों को अपना सर्वस्व प्रदान कर देने पर भी मैं उनसे उद्धरण नहीं हो सकता, उनका सार्वकालिक ऋणी बना ही रहूँगा।

श्रीजीव गोस्वामी का कथन है कि—वस्तुतः पूतना का प्रसङ्ग यशोदा मैया के निरतिशय माहात्म्य का बोध कराने के लिये ही लाया गया है। उनकी गोद में तो सम्पूर्ण सत्कर्मों के फलों का फल नन्हा-सा बालक बन कर बैठा है। अब और अधिक उनको क्या दिया जा सकता है ? इतने महान् सौभाग्य-सिंहासन पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् मैया के लिये अब अवशिष्ट ही क्या रह जाता है ?

तदनन्तर नन्द जी ने और उनके साथी गोपों ने जब यह देखा कि हमारा लाला सुरक्षित है, तब उन्हें महान् सन्तोष एवं आश्चर्य हुआ। नन्द बाबा ने तुरन्त अपने पुत्र को गोद में उठा लिया, मानो वह मर कर लौट आया हो। उन्होंने उसका शिर सूँघा और आनन्द के सागर में निमग्न हो गये।

श्री शुकदेव महाराज का कहना है कि जो प्राणी पूतना-मोक्ष का प्रसङ्ग श्रद्धापूर्वक सुनते हैं, उनकी गोविन्द भगवान् में प्रगाढ रति होती है—“गोविन्दे लभते रतिम्” ॥४४॥

**पूतना लीला का रहस्य**—पूतना ने नन्द के गोकुल में आकर उत्पात मचाने का प्रयास तब किया जब नन्द मथुरा में कंस की सेवा में लगे थे। यशोदा कृष्ण पर से दृष्टि हटा कर पूतना के शरीर को निरख रही थीं और गायें जङ्गल में चरने गई थीं। नन्द जीव हैं, मथुरा शरीर है, कंस अहङ्कार है, यशोदा सात्त्विक बुद्धि है, गायें इन्द्रियाँ हैं, जङ्गल संसार और घासों विषय हैं। जब जीव शरीर के राजा अहङ्कार की सेवा करने, कन्हैया को छोड़कर, चला जाता है; यशोदा=बुद्धि कन्हैया पर से दृष्टि हटा कर पूतना-अविद्या के सौन्दर्य को निरखने लगती है और गायें = इन्द्रियाँ कन्हैया को छोड़ कर संसार के विषयों के उपभोग में लगे जाती हैं, तभी पूतना राक्षसी आकर उत्पात मचाती है।



माना कि शरीर और इन्द्रियों को व्यावहारिक कार्य तो करना ही है, किन्तु बुद्धि (यशोदा) को तो कृष्ण पर से अपना ध्यान नहीं हटाना चाहिये। इसी भाव को, गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रकार व्यक्त किया है—“करते कर्म करिय विधि नाना। मन राखिय जहाँ कृपा निधाना” ॥मानस॥

बाललीलाओं की एक रहस्यमय बात यह है कि नन्द और यशोदा (जीव और बुद्धि) जब-जब गोकुल से दूर होते थे कन्हैया से अलग होते थे तब कोई-न-कोई सङ्कट आ ही जाता था। इसका अर्थ यही हुआ कि जब भी जीव ईश्वर से दूर होता है तब दुःखी हो जाता है ॥

पूतना का पूर्व जन्म—बलि की एक तरुणी बेटी थी काञ्चनमाला। वटु वामन को देखकर उसके मन में इच्छा हुई कि यदि यह मेरा बालक होता तो मैं इसे अपनी छाती पिलाती। बाद में जब वामन ने त्रिलोकी नाप कर बलि को बाँध लिया तो उसके मन में आया कि यदि मेरा बस चले तो इसे जहर पिला कर मार डालूँ। भगवान् ने मन-ही-मन उसे मनोरथ पूर्ण होने का वरदान दिया। फलस्वरूप काञ्चनमाला पूतना बनी। वामन के प्रसङ्ग में इसकी चर्चा कर दी गई है।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

## सातवाँ अध्याय

( शकटासुर एवं तृणावर्त का उद्धार एवं यशोदा को विश्वरूप का दर्शन )

राजा परीक्षित ने कहा—प्रभो, भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। वे विविध अवतार धारण कर भाँति-भाँति की लीलाएँ किया करते हैं। ये लीलाएँ हम लोगों के कानों को अतिशय प्रिय लगती हैं। सुनकर मन भी प्रफुल्लित हो उठता है। उनके श्रवणमात्र से तृष्णा की निवृत्ति, अन्तःकरण की शुद्धि और भगवान् में भक्ति तथा भक्तों के साथ मैत्री भी हो जाती है। इसलिये उन्हीं भगवान् का चरित्र हमें सुनाइये—

येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः । करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो ॥

यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा सत्त्वं च शुद्ध्यत्यचिरेण पुंसः ।

भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥ १०/७/१-२

हृदय—यहाँ ‘हार’ के कई अर्थ हैं। पहला है—श्री हरिका चरित्र, दूसरा है—मनोहर और तीसरा अर्थ है—हार के समान हृदय से धारण करने के योग्य अर्थात् श्रीहरि का चरित्र बड़ा मनोहर और सुन्दर हार के समान धारण करने के योग्य होता है ॥

## शकटासुर-वध

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, सुनो कन्हैया ने पहले अविद्यारूप पूतना का विनाश किया। अब वे जडवाद का ध्वंस करने के लिये शकट-भञ्जन की लीला करने जा रहे हैं। यह लीला भगवान् के जन्म से तीन महीने बाद हुई थी—“त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः”। किन्तु कुछ महात्माओं का कथन है कि भगवान् ने जब शकटासुर का वध किया था, उस समय उनकी आयु एक सौ आठ दिन की थी। ठीक उतने ही दिन की जितने दानों की एक माला होती है।

तो राजन्, जब भी भगवान् के द्वारा कुछ नया काम हो जाता तब मैं या उत्सव मनाने लगती थी। एक दिन लाला ने कण्ट बदल ली। मैं या यशोदा यह देखकर प्रसन्न हो उठी। इसने उत्सव मनाने का विधान किया और संयोग



की बात यह थी कि उस दिन लाला का जन्म नक्षत्र भी था। गोकुल की सारी गोपियाँ एकत्रित हुईं। खूब गाना-बजाना होने लगा। लाला का अभिषेक भी कराया गया। नन्दरानी ने स्वस्तिवाचन करवा कर ब्राह्मणों को खूब खिलाया-पिलाया। बहुत-सा अन्न और वस्त्र भी उन्हें प्रदान किया, गायें भी दीं। नन्द बाबा ने प्रभूत दान-दक्षिणा के साथ ब्राह्मणों का खूब मान-सम्मान किया।

इसी समय मानो निद्रा देवी ने कन्हैया से प्रार्थना की कि—प्रभो, यदि आप कुछ देर के लिये सो जाते तो आप की आँखों पर बैठकर मैं भी आप के अङ्ग-परिवर्तन का उत्सव देख लेती। उसकी प्रार्थना को अङ्गीकार कर लाला ने सोना चाहा। उनके नेत्रों में कुछ झपकी-सी आने लगी। यह देखकर मैया ने सोचा कि बड़ा अच्छा हुआ यदि लाला सो जाय तो आज मैं गोपियों का खूब स्वागत-सत्कार करूँगी। यशोदा ने कन्हैया को थपकी लगानी शुरू की। कन्हैया ने सोचा कि यदि मैया सुलाना ही चाहती है तो मैं सो जाऊँगा। उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। मैया ने देखा कि कन्हैया सो गया है अतः उन्होंने पालने पर लाला को सुला कर उसे शकट के नीचे रख दिया—“संजातनिद्रा-क्षमशीशयच्छनैः” ॥५॥ शकट (बैलगाड़ी) में दूध, दही, मक्खन आदि के भरे मटके रखे थे। थोड़ी देर में श्यामसुन्दर की आँखें खुलीं। इसी समय कंस के द्वारा भेजा गया एक असुर पात्रों से भरी हुई उस गाड़ी पर आकर बैठ गया। वह भगवान् को मारना चाहता था अतः वह अपने शरीर के भार से उस शकट को पृथिवी में धंसाने लगा। इसी समय लाला की दृष्टि उस असुर पर पड़ी। वे मामा का काम तमाम करना चाहते थे अतः स्तनपान के लिये रोने लगे। उस समय मनस्विनी यशोदा जी उत्सव में आई हुई गोपियों के स्वागत-सत्कार में बहुत ही तन्मय हो रही थीं इसलिये उन्हें कृष्ण का रोना नहीं सुनाई पड़ा तब श्रीकृष्ण रोते-रोते अपने पाँव उछालने लगे—

आत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी समागतान् पूजयती ब्रजौकसः।

नैवाश्रुणोद् वै रुदितं सुतस्य सा रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥ १०/७/६

शकट पर बैठा हुआ असुर बड़े वेग से ज्यों ही गाड़ी को नीचे दबाया कि भगवान् ने अपना नन्हा लाल-लाल कोमल पैर शकट में ऐसा मारा कि वह विशाल शकट भयङ्कर शब्द के साथ उछलकर उलट कर पृथिवी पर गिर पड़ा। वेग से गिरने के कारण उसके धुरी पहिये आदि सभी अङ्ग चूर-चूर हो गये। वह असुर भी उसी गाड़ी के नीचे दब कर तत्काल मर गया। शकट पर बैठने के कारण उसे शकटासुर कहा जाता है<sup>१</sup> अन्यथा उसका नाम कुछ और था।

१. हिरण्यक्ष का एक बेटा था उत्कच। वह महान् बलवान् और विशाल शरीर का था। एक बार उसने लोमश ऋषि के आश्रम के वृक्षों को उखाड़ कर इधर-उधर फेंक दिया। इस पर ऋषि को क्रोध आ गया। उन्होंने उसे शाप दिया—अरे दुष्ट, जा तू शरीर-विहीन हो जा। शाप देते ही उसका शरीर गल-गल कर गिरने लगा। यह देखकर वह ऋषि के चरणों पर गिर कर गिड़-गिड़ाने लगा—प्रभो, क्षमा कर दीजिये। मेरा शरीर मुझे लौटा दीजिये, मुझे आप के प्रभाव का ज्ञान नहीं था अतः ऐसी गलती हो गई। इस पर लोमश जी प्रसन्न हो गये। महात्माओं का शाप भी वरदान बन जाता है। उन्होंने कहा—वैवस्वत मन्वन्तर में श्रीकृष्ण के चरण-स्पर्श से तेरी मुक्ति हो जायेगी। वही असुर छकड़े पर आकर बैठ गया था और भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-स्पर्श से मुक्त हो गया। ऋषि के शाप के प्रभाव से उत्कच वायुरूप शरीरवाला बन गया था अतः श्रीकृष्ण के अतिरिक्त उसे किसी और ने नहीं देखा। जब जोर का धमाका हुआ तब उत्सव में सम्मिलित सभी गोप-गोपियों की दृष्टि उधर गई। हड़बड़ा कर सभी उधर दौड़ पड़े। नन्द आदि गोप एवं यशोदा, रोहिणी आदि गोपियाँ इस दृश्य को देखकर चकित हो गईं। वे परस्पर कहने लगीं—आखिर यह सब कैसे हुआ ? इतना विशाल शकट कैसे पलट गया ? इस पर वहाँ खेलते हुए बालकों ने कहा—अरे नन्द बाबा, अरी मैया यशोदा, तेरे लाला नैं ही तो रोते-रोते पैर से मार कर उस शकट को उलट दिया है, आप को नहीं पता। हम लोगों ने इसे अपनी आँखों से देखा है।



ऊचुरव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्च बालकाः । रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः ॥१०/७/९  
 उन लोगों को बालकों की बात का विश्वास नहीं हुआ क्योंकि वे बालक कन्हैया के अनन्त बल को नहीं जानते थे । यशोदा जी ने समझा कि यह किसी ग्रह का उत्पात है । उन्होंने अपने रोते हुए लाड़ले लाल को गोद में लेकर ब्राह्मणों से वेदमन्त्रों के द्वारा शान्तिपाठ करवाया और फिर वे उसे स्तन पिलाने लगीं । गोपों ने बैलगाड़ी को उठा कर खड़ा किया । उसके दूटे अवयवों को जोड़कर ठीक किया । ब्राह्मणों ने हवन किया और दही, अक्षत, कुश और जल से भगवान् और छकड़े की पूजा की । मैया ने ब्राह्मणों को अच्छे-अच्छे पकवान खिलाए । नन्द बाबा ने उन्हें अन्न, वस्त्र, रत्न और गायें प्रदान की । सन्तुष्ट हुए ब्राह्मणों ने हार्दिक आशीष प्रदान किया । वेदज्ञ सदाचारी ब्राह्मणों के आशीष कभी निष्फल नहीं होते हैं—

विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाऽऽशिषः ।

ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम् ॥१०/७/१७

हृदय-शकट-भञ्जन की लीला<sup>१</sup> के द्वारा संसार के लोगों को यह सन्देश दिया गया है कि—भगवान् को सर्वदा सबसे ऊपर रखो, गृहस्थी को भगवान् के नीचे रखो, तभी गृहस्थी की गाड़ी सकुशल चलेगी । यशोदा जी ने यही गड़बड़ी कर दी थी । उन्होंने गृहस्थी की सामग्री को तो रक्खा छकड़े के ऊपर और भगवान् को लाला को रक्खा उसके नीचे अतः उनकी गृहस्थीरूपी गाड़ी उलट गई तथा दूध-दहीरूप विषय विनष्ट हो गये ।

संसार का व्यवहार करते समय भी दृष्टि तो भगवान् पर ही होनी चाहिये । यशोदा मैया संसार के व्यवहार में इस प्रकार निमग्न हो गई कि उन्होंने भगवान् को ही भुला दिया अतः विपत्ति आ खड़ी हुई । ज्ञानी महात्मा भी व्यवहार तो करते ही हैं, किन्तु ईश्वर को वे कभी नहीं विस्मृत करते ॥

### तृणावर्त-प्रसङ्ग

कहते हैं तृणावर्त-वध लीला के समय श्रीकृष्ण एक वर्ष के हो गये थे । एक दिन की बात है । यशोदा मैया बैठी थीं । लाला मारे प्रेम के मैया की गोद में चढ़ गया । मैया ने लाला को अपनी बाहों में भर लिया और वह उन्हें प्यार-दुलार करने लगी । यशोदा जी के सद्धर्म-पालन का सती होने का ही यह लाभ है कि उनकी गोद में स्वयं भगवान् खेल रहे हैं । मैया ने प्यार-दुलार करते हुए लाला को ऊपर की ओर उछाला । पहली बार तो थोड़ा भय लगा फिर दुबारा उचकाया तो थोड़ा उत्साह हुआ । उनका लाला किलकारी मारने लगा अब उसे उचकाने में बड़ा आनन्द आने लगा । वह बार-बार यही चाहे कि मैया उचकावे । मैया के उचकाना बन्द कर देने पर लाला रोने लगता था फिर सहसा लाला चट्टान के समान बहुत भारी हो गया । मैया उसका भार न सह सकी—

एकदाऽऽरोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती । गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् ॥

१०/७/१८

फिर उन्होंने भार से पीड़ित होकर श्रीकृष्ण को पृथिवी पर बैठा दिया । इस नई घटना से वे अत्यन्त चकित हो रही थीं । इसके बाद वे नारायण का स्मरण करके घर के काम में लग गईं—

भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता । महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु ॥१०/७/१९

१. क्रिया और लीला में अन्तर है । जिसके साथ कर्तृत्व का अभिमान और सुखी होने की इच्छा है, उसे क्रिया कहते हैं । जिसके साथ कर्तृत्व का अभिमान नहीं है तथा दूसरों को सुखी करने की इच्छा है, उसे लीला कहते हैं । जीव जो कुछ करता है, वह क्रिया है और ईश्वर जो कुछ करते हैं, वह लीला है ।



दैव का संयोग बड़ा विचित्र होता है। इसी समय बड़े जोर की आँधी आई। तृणावर्त नाम का एक दैत्य था। वह कंस का निजी सेवक था। कंस ने उससे कहा—जाओ गोकुल में। वहाँ नन्द का एक लाला है। उसे उड़ा कर मथुरा ले आओ। यहाँ मैं उसका वध कर दूँगा। कंस की प्रेरणा मिलते ही तृणावर्त बवण्डर का रूप धारण कर नन्द के गोकुल में पहुँचा। संयोग से वहाँ उसे बालक श्रीकृष्ण अकेले बैठे मिल गये। वह उन्हें उड़ा कर ऊपर ले गया और फिर मथुरा की ओर बढ़ने का प्रयास करने लगा। उस समय उसने धूल से सारे गोकुल को आच्छादित कर दिया। लोगों के देखने की शक्ति हरली। उसके अत्यन्त भयङ्कर शब्द से दशों दिशाएँ काँप उठीं। सारा ब्रज दो घड़ी तक रज और तम से ढका रहा। यशोदा जी घबड़ा उठीं। वे दौड़कर वहाँ गईं जहाँ कन्हैया को बैठाया था। पर हाय ! यह क्या हुआ ? कन्हैया वहाँ नहीं मिला। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार व्याप्त था। किसी को कुछ सुझाई नहीं पड़ रहा था। बेटे के न मिलने से यशोदा का कलेजा किसी अनिष्ट की आशङ्का से काँप उठा। वे अधीर होकर रोने लगीं। मूर्च्छित-सी होकर भूमि पर गिर पड़ीं। इसी समय बवण्डर का वेग कुछ शान्त हो गया। गोपियों ने यशोदा के रुदन को सुना। वे भी रोती हुई यशोदा के पास पहुँचीं। उन्हें कहीं कन्हैया दिखलाई नहीं पड़े।

इधर तृणावर्त बवण्डररूप से जब भगवान् श्रीकृष्ण को आकाश में उठा ले गया तब सोचने लगा कि इसे मैं अपने मालिक कंस के पास ले चलूँ किन्तु जब वह मथुरा की ओर बढ़ना चाहे तो टस-से-मस न हो सके—“गन्तुं नाशक्नोद् भूरिभारभृत्” ॥२६॥ अपनी यह अशक्ति देखकर तृणावर्त सोचने लगा कि कहीं मैं नन्द बाबा के आँगन से किसी नीली शिला को तो नहीं उठा लाया क्योंकि कोई बालक इतना भारी नहीं हो सकता।

इसी बीच कृष्ण ने उसका गला कस कर पकड़ लिया। तृणावर्त घबड़ा उठा। वह अपना गला छुड़ाते हुए चिल्लाने लगा—छोड़ दे मेरा गला, छोड़ दे। कन्हैया ने कहा—मामा जी, मैं किसी को जल्दी पकड़ता नहीं हूँ किन्तु एक बार पकड़ लेने पर फिर कभी छोड़ता भी नहीं हूँ। यह कह कर श्रीकृष्ण ने जरा कस कर उसका गला पकड़ लिया। इससे उसकी आँखें बल्ल-बल्ल बाहर निकल आईं। वह विकराल शब्द करता हुआ धड़ाम से पत्थर की एक चट्टान पर गिर पड़ा। उसके शरीर के सारे अङ्ग छितरा गये। लाला उसकी छाती पर पड़े-पड़े खेलते रहे।

ग्वालों की हिम्मत तो पूतना के समय भी श्रीकृष्ण को उठाने की नहीं हुई थी। परन्तु गोपियों ने पहले की भाँति दौड़कर कन्हैया को मृत पड़े दैत्य की छाती पर से उठाया और झाड़-पोंछ कर अच्छी तरह देख लिया कि कहीं चोट-चपेट तो नहीं लगी है। बालक को पूर्ण सकुशल देखकर यशोदा आदि गोपियों और नन्द आदि गोपों को बड़ा आनन्द हुआ और सभी कहने लगे कि हम लोगों का बड़ा भाग्य है कि हमारा लाला मृत्यु के मुख में से लौट आया। देखो तो भगवान् की लीला कितनी अद्भुत है—हिंसक अपने पाप के द्वारा ही मारा जाता है। साधु अपनी समता से ही सम्पूर्ण भीतियों से मुक्त हो जाता है—

हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते ॥१०/७/३१

हृदय—(१) तृणावर्त का अर्थ है—काम। तृणवत् निखिलं जगत् आवर्तयति तृणावर्तः। जो सारे संसार के प्राणियों को तिनके की भाँति नचा दे, उड़ा दे, उसका नाम है तृणावर्त। यह काम ही है। यह ब्रह्मा से लेकर तुच्छ-से तुच्छ प्राणी तक को नचाता रहता है। सब की आँखों में धूल झाँक देता है। देखने-विचारने की शक्ति समाप्त कर देता है। जब प्राणी भगवान् को अलग करके गृहस्थी सजाने-सँवारने लगता है, तब काम उसके मन में आकर खलबली मचा देता है। यशोदा ने यही गलती की थी।

(२) तृणावर्त मरने की बेला में शिला पर गिरा। पत्थर शङ्कर का प्रतीक है। मृत्यु के देवता शङ्कर हैं अतः यह सिद्ध किया गया है कि मामा की नगरी से आये हुए उनके सेवक को कन्हैया ने नहीं, शङ्कर ने मारा था।



## तृणावर्त के पूर्व जन्म का वृत्तान्त-

पाण्डु देश में एक महाप्रतापी राजा थे। उनका नाम था सहस्राक्ष। एक समय वे गन्धमादन पर्वत पर स्त्रियों के साथ विहार कर रहे थे। संयोग की बात यह थी कि उसी समय वहाँ महान् क्रोधी दुर्वासा आ पहुँचे। राजा ने अभ्युत्थान, प्रणाम आदि के द्वारा उनका उचित सम्मान नहीं किया। इस पर क्रुद्ध होकर मुनि ने शाप दिया—तेरा असुरों जैसा व्यवहार है अतः जा तू असुर हो जा। जब वह उनके चरणों पर गिर कर गिड़गिड़ाया, तब दुर्वासा जी ने कह दिया—भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह का स्पर्श होते ही तेरी मुक्ति हो जायेगी। वही राजा तृणावर्त होकर आया था और श्रीकृष्ण का संस्पर्श प्राप्त कर मुक्त हो गया।

## यशोदा को कृष्ण के मुख में विश्व-दर्शन-

तृणावर्त की घटना के बाद मैया कन्हैया को जल्दी अपनी गोद से उतारे ही नहीं। वह लाला को हर समय गोद में ही रखे। वे यह सोचकर बार-बार दुःखी होती थीं कि—पलङ्ग पर सुला दिया तो पूतना उठा ली, छकड़े के नीचे सुला दिया तो छकड़ा ही टूट कर गिर पड़ा और अकेले छोड़कर चली गई तो बवण्डर उड़ा ले गया। अब तो मैं इसे अलग छोड़नेवाली नहीं हूँ।

एक दिन की बात है। यशोदा मैया बालक को अपनी गोद में लेकर स्तन-पान करा रही थीं। ज्यों-ज्यों कन्हैया दूध पीता त्यों-त्यों माता का स्नेह बढ़ता जाता था। फलतः मैया के स्तन से दूध की धारा बहने लगी—

एकदार्भकमादाय स्वाङ्गभारोष्य भामिनी। प्रस्तुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥१०/७/३४

विशेष—पिता भी पुत्र के प्रतिस्नेह करता है। भाई भी भाई से स्नेह करता है। पति-पत्नी भी एक-दूसरे को स्नेह करते हैं किन्तु किसी में भी यह शक्ति नहीं है कि वह अपने भावात्मक स्नेह को बाहर ठोस द्रव्य के रूप में प्रदर्शित कर सके। इन सबका स्नेह इनके मन-ही-मन में रह जाता है।

किन्तु माता के स्नेह की स्थिति इन सबसे अलग है, विचित्र है। माँ का स्नेह जब बालक के प्रति उमड़ता है, तब वह केवल भावात्मक ही नहीं रहता, ठोस द्रव्य के रूप में परिणत हो जाता है। माता का स्नेह अपने बालक के प्रति दूध बन कर प्रकट होता है। यह विशेषता संसार के किसी प्राणी के स्नेह में नहीं है। भाव का ठोस वस्तु दूध बन निकलना यह केवल माता के ही दूध की विचित्रता है ॥

चतुर माताएँ बालक को दूध पिलाने की बेला में यह ध्यान रखती हैं कि कहीं मेरा लाला अधिक दूध न पी ले अन्यथा अपच हो जायेगा। यहाँ तो माता के दूध और कन्हैया में होड़ लगी थी कि कौन पहले बन्द होता है। मैया असमझस में पड़ गई। मैया ने यह भी देखा कि कन्हैया प्रायः दूध पी चुका है। उसका पेट भर गया है। लाला को कैसे दूध पीने से अलग करें यदि जबर्दस्ती छुड़ाती है तो वह रोवेगा अतः उन्होंने बालक के गाल पर ऊँगली फेरनी शुरू कर दी। वह मुस्करा उठा। मुँह ढीला पड़ गया। मैया ने धीरे से अपना स्तन बाहर खींच लिया। माता के भोलेपन पर कन्हैया मन-ही-मन हँसने लगा। इसी समय उन्होंने जँभाई के बहाने मैया के सामने अपना मुँख खोल दिया। यशोदा ने लाला के खुले हुए मुख में आकाश, अन्तरिक्ष, नक्षत्र-मण्डल, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत, नदी, वन, और समस्त चराचर प्राणी, यहाँ तक कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखा—

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निध्वसनाम्बुधींश्च।

द्वीपान् नगास्तद्वह्निर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ॥१०/७/३६

यह दृश्य देखकर वे ठगी-सी रह गई। उनके शरीर में कैपकैपी आ गई। आश्चर्य से चकित होकर उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं। वे मन-ही-मन नारायण का स्मरण करने लगीं फिर आँखें खोलकर देखा तो कहीं कुछ न था।



केवल लाला मुस्कराभर रहा था। यशोदा ने उसे अपनी ही आँखों का ही दोष समझा, दृष्टि-सृष्टि जानीं फिर तो स्नेहवश वे लाला का मुख चूमने लगीं।

हृदय-श्रीकृष्ण ने अपने मुख में विश्वरूप दिखला कर मानो मैया से कहा—अरी मैया, तू व्यर्थ में ही घबड़ा रही है। तेरा दूध मैं अकेले ही थोड़े पी रहा हूँ। मेरे मुख में बैठ कर सकल ब्रह्माण्ड तेरा दूध पी रहा है। मुझे दूध पिलाकर वस्तुतः तू सारे ब्रह्माण्ड की जननी बन गई है इस लिये तू घबड़ा मत।

वात्सल्य की प्रतिमूर्ति यशोदा मैया अपने लाला के मुख में विश्व देख कर भयभीत हो उठीं। परन्तु वात्सल्य-रस से भावित हृदय होने के कारण उन्हें विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने विचार किया कि यह विश्व का बखेड़ा लाला के मुख में कहाँ से आ गया ? हो-न-हो यह मेरी इन निगोड़ी आँखों की ही गड़बड़ी है। मानो इसी से उन्होंने अपने नेत्र बन्द कर लिये।

वस्तुतः यहाँ भगवान् की ऐश्वर्य शक्ति और मैया की वात्सल्यशक्ति के मध्य युद्ध चल रहा था। अन्त में भगवान् ने ऐश्वर्य-शक्ति को यह कह कर भगा दिया कि—यहाँ तो मैं मैया के स्नेहपाश में बँध कर क्रीडा करने आया हूँ। यहाँ तेरी कोई आवश्यकता नहीं है ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

## आठवाँ अध्याय

( नामकरण-संस्कार, माखन-चोरी और मृद्धक्षण-लीला )

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, गर्गाचार्य महान् तपस्वी और अपने समय के बेजोड़ ज्योतिषी थे। वे वसुदेव आदि यदुवंशियों के पुरोहित थे। वसुदेव ने अपने लाला को नन्द के भवन में पहुँचा दिया है—यह बात गर्गाचार्य को अपने ज्योतिर्विज्ञान के कारण विदित थी। वे त्रिकालज्ञ थे अतः वसुदेव ने गर्गाचार्य से कहा—गुरुदेव, यदि बच्चों का नाम-करण करने के लिये मैं नन्द के यहाँ जाऊँगा तो कंस को शङ्का हो जायेगी ऐसी स्थिति में अनर्थ होने की संभावना है, आप हमारे कुलपुरोहित हैं अतः आप ही जाकर नाम-करण संस्कार कर आवें। आप के जाने से किसी को भी किसी प्रकार की शङ्का नहीं होगी। आप चुपचाप जाकर धीरे से वहाँ बच्चों का नाम-करण-संस्कार कर आने की कृपा करें। वसुदेव की प्रार्थना को स्वीकार कर गर्गाचार्य पहुँचे नन्द के ब्रज में—

गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः । ब्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रचोदितः ॥१०/८/१

गर्गाचार्य जैसे तपस्वी विद्वान् को अपने यहाँ आया देखकर नन्द ने अपना अहोभाग्य माना। वे परम प्रसन्न हो उठे। हाथ जोड़कर अगवानी में दौड़े। आदर-सम्मान के साथ लाकर उन्हें आसन पर बैठाया और भगवान् समझ कर उनकी पूजा की—

तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः । आनर्चाधोक्षजधिया प्रणिपातपुरःसरम् ॥१०/८/२

पूजा कर लेने के बाद हाथ जोड़ कर नन्द बाबा ने पूछा—भगवन्, आप तो पूर्णकाम हैं। आप को किसी वस्तु की कामना नहीं है फिर भी बतलाने की कृपा करें कि मैं आप की कौन-सी सेवा करूँ ? निःसन्देह आप जैसे महात्मा का आगमन दीन चित्त वाले गृहस्थों के कल्याण के लिये ही हुआ करता है, उसका और दूसरा प्रयोजन नहीं है। प्रभो, आप से मेरी प्रार्थना है कि आप मेरे दोनों बालकों का नामकरण संस्कार करने की कृपा करें, क्योंकि ब्राह्मण जन्म



से ही सारे मनुष्यों का गुरु होता है। आचार्य जी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि मैं तो इसी कार्य के लिये आया ही हूँ।

इस पर गर्गाचार्य ने कहा—यह बात सर्वत्र विदित है कि मैं यदुवंशियों का आचार्य हूँ। यदि मैं आप के पुत्र का संस्कार करूँगा, तो लोग समझेंगे कि यह तो देवकी का पुत्र है। कंस पापी है। अतः वह सर्वत्र पाप की ही आशङ्का करता रहता है। वसुदेव जी के साथ आप की घनिष्ठ मित्रता है। योगमाया के द्वारा जब से उसने सुना है कि उसको मारनेवाला कहीं और पैदा हो चुका है, तब से वह यही सोचा करता है कि देवकी के आठवें गर्भ से कन्या का जन्म नहीं हो सकता। यदि मैं आप के बालकों का नाम-करण संस्कार कर दूँ और कंस इस बालक को वसुदेव जी का लड़का समझकर मार डाले, तो हमसे बड़ा अन्याय हो जायगा।

नन्द बाबा ने कहा—आचार्य जी, गोशाला स्वयं परम पवित्र स्थान है। वहाँ पूर्ण एकान्त भी है अतः वहाँ स्वस्तिवाचन करके बेटों का नामकरण-संस्कारमात्र कर दीजिये। मेरे अपने खास व्यक्ति भी इस बात को नहीं जान पावेंगे।

श्री शुक्रदेव महाराज ने कहा—गर्गाचार्य जी तो संस्कार करना चाहते ही थे। वे इसीलिये आये ही थे। जब नन्द जी ने इसके लिये उनसे प्रार्थना की तब वे एकान्त में छिपकर गुप्तरूप से दोनों बालकों का नामकरण संस्कार करने के लिये यशोदा, रोहिणी और नन्द के साथ गोशाला में गये। नन्दबाबा गर्गाचार्य के ज्योतिष-ज्ञान की परीक्षा करना चाहते थे अतः उनके निर्देश से रोहिणी ने कन्हैया को और यशोदा ने बलराम को अपनी गोद में ले रखवा था।

जब सब गोशाला में पहुँच गये तब अत्यन्त संक्षेप में स्वस्तिवाचन करके गर्गाचार्य जी ने कहा—यशोदा की गोद में जो बालक है, वह रोहिणी जी का बेटा है। यह बालक अपने सगे सम्बन्धी और मित्रों को अपने गुणों से आनन्दित करेगा। इसलिये इसका नाम होगा “राम”। इसमें निःसीम बल भरा हुआ है अतः इसका एक नाम “बल” भी है। फूट हो जाने पर यह अपने लोगों को खींच कर मेल करवावेगा अतः इसका एक नाम “सङ्कर्षण” भी है। रोहिणी जी की गोद में जो साँवला-साँवला बेटा है, यह यशोदा का पुत्र है। यह प्रत्येक युग में शरीर धारण करता है। पिछले युगों में इसके शरीर का रंग श्वेत, रक्त और पीत था, अब की बार यह कृष्ण-वर्ण हुआ है। इसलिये इसका नाम “कृष्ण” होगा। नन्द जी, इसने पहले वसुदेव के घर में जन्म लिया था।

इतना सुन कर नन्द बाबा चौंक पड़े। पूछा—गुरुदेव, आपने क्या कहा ? इस पर गर्गाचार्य जरा संभल कर बोले—नहीं, नहीं, नन्द बाबा, यह बेटा तो आप का ही है—“तवात्मजः” ॥१४॥ पर कभी वसुदेव के घर जन्मा था, अतः रहस्य-वेत्ता लोग इसे “वासुदेव” भी कहते हैं अतः आप चिन्ता न करें। यह बेटा तो आप का ही है—

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः । वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥१०/८/१४  
यद्यपि इसके गुण और कर्म के अनुसार बहुत-से नाम हैं। इसके सारे नामों को मैं भी नहीं जानता तो औरों की क्या बात है ? यह आप लोगों का परम कल्याण करेगा। सारे गोप-गोपियों और गायों को यह परम आनन्द प्रदान करेगा। इसकी सहायता से आप लोग बड़ी-बड़ी विपत्तियों को बड़ी आसानी से पार कर लेंगे। जो मनुष्य आप के इस लाला से प्रेम करते हैं, वे बड़े भाग्यशाली हैं। उन्हें कभी शत्रु अभिभूत नहीं कर सकते। नन्द बाबा, आपका यह बेटा गुणों में नारायण के समान होगा—“तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः” ॥१९॥

हृदय—“नारायणसमः” का समास दो प्रकार से होता है—नारायणेन समः नारायणसमः। अर्थात् नारायण के समान यह बालक होगा। ऐसा कहने पर नारायण बड़े और कृष्ण उनसे छोटे सिद्ध होते हैं। गर्गाचार्य के आराध्यदेव



नारायण थे अतः उन्होंने अपने आराध्य को बड़ा और कृष्ण को उनसे कुछ छोटा बना कर “नारायणसमः” कहा । किन्तु कृष्ण के भक्त कहते हैं कि “नारायणसमः” में तृतीया तत्पुरुष समास नहीं, अपितु बहुव्रीहि समास है—नारायणः समो यस्यासौ नारायणसमः अर्थात् नारायण हैं समान जिसके वह हुआ “नारायणसमः” । इस कथन में कृष्ण बड़े और नारायण छोटे सिद्ध होते हैं । कन्हैया बड़े हैं और नारायण छोटे हैं ।

वैसे तो श्रीकृष्ण और नारायण में कोई अन्तर है ही नहीं । यह सब बातें तो केवल कलहमात्र हैं । नारायण में साठ और मुरलीमनोहर में चौसठ गुण बतलाये गये हैं अर्थात् नारायण की अपेक्षा श्रीकृष्ण में चार गुण अधिक हैं—(१) रूपमाधुरी, (२) लीलामाधुरी, (३) वेणुमाधुरी और (४) प्रियामाधुरी<sup>१</sup> । श्रीकृष्ण के ये चार गुण नारायण में नहीं हैं अतः श्रीकृष्ण बड़े और नारायण छोटे हैं ।

कृष्ण को नारायण के समान बतलाकर गर्गाचार्य ने नन्द बाबा को चेतावनी देते हुए आगे कहा—अतः नन्द आप बड़ी सावधानी और तत्परता से इस बालक की रक्षा करना । इस प्रकार नन्द बाबा को भौंति-भौंति से समझा कर गर्गाचार्य जी अपने आश्रम को लौट गये । आचार्य की बात सुनकर नन्द बाबा को बड़ा आनन्द आया । उन्होंने अपने को परम भाग्यशाली समझा—

इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते । नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम् ॥१०/८/२०

### बाल-क्रीडा

परीक्षित, कुछ ही दिनों में बलराम और केशव (कृष्ण) घुटनों और हाथों के बल बकैयाँ चल-चल कर गोकुल में विचरण करने लगे—

कालेन व्रजताल्पेन गोकुले रामकेशवौ । जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजहृतुः ॥१०/८/२१

हृदय—यहाँ कृष्ण के लिये ‘केशव’ शब्द का प्रयोग साभिप्राय किया गया है । पाणिनि-व्याकरण के अनुसार जिस के बड़े-बड़े धुंधराले चित्ताकर्षक केश हों, उसे केशव कहते हैं—“प्रशस्ताः केशाः यस्यासौ केशवः” । अथवा—“कश्च अश्च ईशश्चेति केशाः ब्रह्म-विष्णु-महेशाः तान् वयते सञ्चालयति यः सः केशवः” । अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर के भी जो सञ्चालक हैं, प्रेरक हैं, उन्हें केशव कहते हैं—“विधि हरि शम्भु नचावनि हारे ।” रामचरितमानस । महाभारत के अनुसार केश कहते हैं—ज्ञान-रश्मियों को—“केशाः ज्ञानरश्मयः” । उन ज्ञान-रश्मियों को जो धारण करता है, उसे केशव कहते हैं । साहित्यिक-समुदाय कहता है कि नहीं, जो राधारानी के केशों को सजाते हैं, सँवारते हैं, उन्हें केशव कहते हैं—“राधायाः केशान् वयते प्रसाधपति यः सः केशवः” ॥

कहने का भाव यह है कि राम और श्याम अपनी रूपमाधुरी और क्रीडामाधुरी से व्रजवासियों का मनोरञ्जन करना प्रारम्भ कर दिये ।

१. श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी दिव्य है । वे वैकुण्ठ-निवासी ४ भुजाधारी नारायण से देखने में अतिशय सुन्दर हैं । लीलामाधुरी से सारे गोप-गोपियों का मन चुरा लेते हैं । वे नई-नवेली आई हुई दुल्हन का भी आँचल पकड़ कर खड़े होकर मचलने लगते हैं । इस पर गोपी कहती हैं—अरे चञ्चल, आँचल छोड़ दे । तुम बालक हो अतः नहीं जानते कि दुनियाँदार लोग कलङ्क लगाये बिना नहीं छोड़ेंगे । माखनचोरी की लीला तो बेजोड़ ही है । वेणुमाधुरी वृंदावन विहारि श्रीकृष्णलीला का तो प्राण ही है । एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है—“मुरली बजाके मेरो मन हरिलीन्हो ॥” एक गोपी श्रीकृष्ण से प्रेम-भरा उलाहना देती है—“मुरारे रसोई बनाने की बेला में मुरली मत बजाया करो । लकड़ियाँ वंशी की तान से गीली हो जाती हैं अतः आग जलाना कठिन हो जाता है । प्रिया राधारानी की रूपमाधुरी तो जग जाहिर है । श्रीकृष्ण उनकी बेणी में फूल गूँथते हैं । निकुञ्ज-लीला में उनका पैर दबाते हैं—“देख्यो दुस्यो वह कुञ्ज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन” ॥रसखाना॥



दोनों भाई अपने नन्हें-नन्हें पाँवों को गोकुल की कीचड़ में घसीटते हुए चलते थे। चलने से उनके पैर और कमर के घुँघरू रुनझुन-रुनझुन बजने लगते। इनकी रुनझुनाहट बड़ी मनोहर मालूम पड़ती थी। वे दोनों स्वयं भी इनकी ध्वनि सुनकर प्रफुल्लित हो उठते थे। कभी-कभी वे रास्ते चलते किसी अपरिचित के पीछे-पीछे लग जाते। जब वह व्यक्ति मुड़ कर इनकी ओर देखता तो ये भाग कर अपनी माताओं के आँचल में जाकर मुँह छिपाकर डरने का आडम्बर रचते—

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।

तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ॥ १०/८/२२

यशोदा और रोहिणी कीचड़ से सने हुए अपने बालकों को बड़ी प्रसन्नता से गोद में उठाकर बाँहों में भर लेतीं। माँ की गोद में पहुँचते ही राम और श्याम मैया के स्तनों को ढूँढ़ने लगते। यह देखकर माताएँ बड़े स्नेह से अपना स्तन उनके मुँह में डालकर दूध पिलाने लगती थीं। बीच-बीच में वे मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बच्चों के नन्हें-नन्हें दंतुलियों से अलङ्कृत, भोले-भाले मुख को देखकर आनन्द के सागर में डूबने-उतराने लगतीं।

जब बलराम और कृष्ण कुछ बड़े हुए। वे लड़खड़ा कर थोड़ा चलने लगे। कभी-कभी वे बैठे हुए बछड़ों की पूँछ पकड़ लेते। बछड़े हड़बड़ा कर, उठकर, भागने लगते, राम और श्याम और जोर से पूँछ पकड़ लेते और बछड़े उन्हें घसीटते हुए दौड़ने लगते। गोपियाँ इस दृश्य को देखकर हँसते-हँसते लोटपोट होकर परमानन्द में निमग्न हो जातीं। कन्हैया और बलदाऊ दोनों ही बड़े चञ्चल और बड़े खिलाड़ी थे। वे कभी हाथ में तलवार उठाने का प्रयास करते। कभी जलती आग में फूँक मारने लगते। कभी कूप में झाँकने लगते। कभी कुत्तों को पकड़ने की कोशिश करते तो कभी सींगवाले जानवरों को भगाते। मैया यशोदा और रोहिणी दौड़-दौड़कर इन्हें बरजतीं और बचाती थीं। वे न तो घर का कामकाज कर पातीं और न निश्चिन्त हो स्नान-भोजन ही कर सकती थीं। उनका चित्त सर्वदा बच्चों को खतरे से बचाने में ही चञ्चल रहता था। वे बालकों की क्रीडाओं में अपूर्व रस का अनुभव करती थीं।

एक दिन की घटना है। श्रीकृष्ण घर से बाहर निकलने की चेष्टा करने लगे। किन्तु दरवाजे की देहली ऊँची थी। श्रीकृष्ण ने उसको साथ से पकड़ा और किसी-किसी प्रकार खड़े हो गये। फिर वे देहली पर अपना पेट रखकर बाहर की ओर जमीन पकड़ने के लिये दोनों हाथ फैला दिये। दोनों तरफ का बेलेंस बराबर हो गया। पैर भी जमीन छोड़ कर ऊपर उठ गये। वे नन्द बाबा की देहली पर लटक कर मैया-मैया कहने लगे। इसी समय वहाँ नारायण-नारायण कहते हुए नारद जी पहुँच गये। उन्होंने इस दृश्य को देखकर कहा—संसार के भय से आक्रान्त कुछ लोग चाहे वेदों की शरण ग्रहण करें, कुछ लोग चाहे स्मृतियों का आश्रय लें, किन्तु मैं तो इह संसार-सागर से पार होने के लिये इस नन्द बाबा के चरणों की वन्दना करता हूँ, जिसकी देहली पर ब्रह्म लटका हुआ है—

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः । अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परब्रह्म ॥

राजर्वे, कुछ ही दिनों में यशोदा और रोहिणी के लाड़ले लाल घुटनों का सहारा लिये बिना अनायास ही खड़े होकर गोकुल में चलने-फिरने लगे—

कालेनाल्पेन राजर्वे रामः कृष्णश्च गोकुले । अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा ॥ १०/८/२६

जब श्यामसुन्दर घुटनों का बिना सहारा लिये चलना प्रारम्भ किये तब वे अपने घर में अनेकविध कौतुकमयी लीला करने लगे। माखन चोरी की लीला का वे अपने घर में ही ट्रेनिंग लेना प्रारम्भ कर दिये। मैया और गोपियों के मन को पूर्णतः चुरा लेना ही कृष्ण की माखन-चोरी का रहस्य है।

एक दिन साँवरे-सालोने ब्रजराजकुमार श्रीकृष्ण अपने सूने कक्ष में स्वयं ही माखन चुरा रहे थे। इसी बीच उनकी



दृष्टि मणि के खम्भे पर पड़ी। उसमें उनकी परछाई दिखलाई पड़ रही थी। उसे देखकर वे डर-से गये। उन्होंने सोचा यह कोई दूसरा बालक है, जो मेरी चोरी को देख रहा है अतः उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—“अरे भैया ! मेरी मैया से कहियो मत। मैं अपने ही बराबर तुझे भी मक्खन दूँगा।” ऐसा कहकर वे उसकी ओर मक्खन बढ़ाते हुए बोले—“ले, खा। खा ले, भैया” ! यशोदा मैया बगल के कक्ष में खड़ी होकर अपने लाला की तोतली बोली सुनकर आनन्द के सागर में हिलोरें ले रही थीं—

शून्ये चोरयतः स्वयं निजगृहे हैयङ्गवीनं मणिस्तम्भे स्वप्रतिबिम्बमीक्षितवतस्तेनैव सार्धं भिया।

भ्रातर्मा वद मातरं मम समो भागस्तवापीहितो, भुङ्क्ष्वेत्यालपतो हरेः कलवचो मात्रा रहः श्रूयते ।।

उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कक्ष के भीतर प्रवेश कर गईं। माता को देखते ही कन्हैया ने बातें बदल दी। उन्होंने मणि के खम्भे में दिखलाई पड़नेवाली अपनी परछाई की ओर इशारा करते हुए कहा—“मैया ! मैया !! यह कौन बालक है ? जो लोभवश तुम्हारा माखन चुराने के लिये इस घर में घुस आया है। मेरे मना करने पर भी यह मान नहीं रहा है। मेरे डाँटने पर यह भी मुझे डाँट रहा है। मैया तुम कुछ और मत सोचना। मेरे मन में माखन का तनिक भी लोभ नहीं है” —

मातः क एष नवनीतमिदं त्वदीयं, लोभेन चोरयितुमद्य गृहं प्रविष्टः ।

मद्वारणं न मनुते मयि रोषभाजि, रोषं तनोति न हि मे नवनीतलोभः ।।

अपने दुधमुँहे शिशु की यह प्रतिभा देखकर मैया वात्सल्यस्नेह के आनन्द में निमग्न हो गई—

एक दिन माता के बाहर जाने पर कन्हैया अपने घर में ही माखन चोरी कर रहे थे। इसी बीच यशोदा जी लौट आईं। उन्होंने लाला को न देखकर पुकारना प्रारम्भ किया—“कन्हैया ! कन्हैया ! अरे ओ मेरे बाप ! कहाँ हो, क्या कर रहे हो ?” माता की बात सुनते ही माखनचोर डर गये। झट-पट मक्खन की मटकी से अपना हाथ निकालते हुए थोड़ी देर चुप रहकर बोले—“मैया” री मैया ! यह जो तुमने मेरे कङ्कण में आग जैसा लाल-लाल पद्मराग मणि जड़ा दिया है तो इसकी लपट से मेरा हाथ जल रहा था। इसी से मैंने इसे माखन की मटकी में डालकर शीतल किया है” —

कृष्ण ! क्वासि करोषि किं पितरिति श्रुत्वैव मातुर्वचः, साशङ्कं नवनीतचौर्यविरतो विश्रम्य तामब्रवीत् ।

मातः कङ्कणपद्मरागमहसा पाणिर्ममातप्यते, तेनायं नवनीतभाण्डविवरे विन्यस्य निर्वापितः ।।

यशोदा मैया कन्हैया की शरात की बात गोपियों से बता दिया करती थीं, अतः गोपियों के मन में आया कि यह लाला अपनी मैया के साथ जैसी-जैसी लीला करता है, वैसी लीला हमारे घर में भी आकर करता तो हमारा बड़ा सौभाग्य होता। उन लोगों ने कन्हैया को अपने घर आने का आमन्त्रण दिया।

कंस की आज्ञा से ब्रज का सारा मक्खन मथुरा जाता था। कंस के मल्ल माखन खाकर पहलवानी करते थे। कृष्ण ने इसे बन्द कराने का निश्चय किया। जब कृष्ण पैरों के बल स्वतन्त्ररूप से चलने-दौड़ने लगे तो ब्रजमण्डल के सारे बालक यशोदा मैया के दरवाजे पर एकत्रित होने लगे। कन्हैया ने बालचौर्य-मण्डल की स्थापना की। बलराम भी उसमें सम्मिलित थे फिर इस बाल-चौर्य-मण्डल ने गोपियों के घर धावा बोलना शुरू कर दिया। वे गोपियों के घर जाते, माखन चुराते, सभी को खिलाते, बन्दरों में बाँटते, दूध, दही की मटकियाँ फोड़ते एवं इसी प्रकार के विविध उत्पात किया करते थे। कृष्ण की शिशु-चपलता को देखकर, मन-ही-मन मुदित गोपियाँ एक दिन इकट्ठी हो नन्दरानी को उलाहना देने आईं और कहने लगीं—अरी यशोदा, यह तेरा कान्हा बड़ा नटखट हो गया है। गाय दुहने का समय न होने पर भी यह बछड़ों को खोल देता है। इस पर हम डाँटती हैं तो ठठा-ठठा कर हँसने लगता है। यह



चोरी करने के विविध उपायों को करने में अतिशय एक्सपर्ट है। विविध उपाय कर के यह हमारे मीठे-मीठे दही-दूध चुरा-चुरा कर खा जाता है। केवल अपने ही खाता तो भी एक बात थी, यह तो सारी दही-दूध वानरों को बाँट देता है और जब वे भी पेट भर जाने पर नहीं खाते तब यह हमारे मटकों को ही फोड़ देता है और कहता है कि इस घर का वर्तन अशुद्ध है, दूध खराब है और दही खट्टी है अतः बन्दर नहीं खा रहे हैं। इसे और कोई खायेगा तो बीमार हो जायेगा। यदि घर में इसे कोई वस्तु नहीं मिलती तो यह घर और घरवालों पर बहुत नाराज होता है और हमारे बच्चों को चिकोटी काट कर रुला देता है और फिर भाग खड़ा होता है—

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसञ्जातहासः, स्तेयं स्वाद्वत्यथ दधि पयः कल्पितैः स्तेययोगैः ।

मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नाति भाण्डं भिनत्ति, द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान् ।।

१०/८/२९

जब हम दही-दूध को ऊँचे छीकों पर रख देती हैं और इसके छोटे-छोटे हाथ वहाँ तक नहीं पहुँच पाते, तब यह बड़े-बड़े उपाय रचता है। कहीं दो-चार पीढ़ों को एक के ऊपर एक रख देता है। कहीं ऊखल पर चढ़ जाता है, तो कहीं ऊखल पर पीढ़ा रख देता है, कभी-कभी तो अपने साथी के कन्धे पर चढ़ जाता है। जब इतने पर भी काम नहीं चलता, तब यह नीचे से ही उन बर्तनों में छेद कर देता है। फिर तो नीचे सभी मुँह फाड़कर पीने लगते हैं। इसे इस बात की पक्की पहचान रहती है कि किस छीके पर, किस बर्तन में क्या रक्खा है और ऐसे ढङ्ग से छेद करना जानता है कि किसी को पता तक न चले। एक ग्वालिन छीके के नीचे खाट बिछा कर लेटी थी। लाला ने उसका सब दूध-दही उड़ा दिया। कुछ खट-पट होने पर जब वह जगी तो उसके मुँह पर ऐसा फूँक मारा कि दूध उसकी आँखों में चला गया। जब तक वह अपनी आँख मले, तब तक तुम्हारा लाला नौ दो ग्यारह हो गया।

मैया ने कहा—गोपियों, तुम लोग दूध-दही के बर्तनों को अँधेरे में रख दिया करो, उसे अँधेरे में डर लगता है। इस पर गोपियों ने कहा—क्या कहती हो मैया, उसका तो अङ्ग ही प्रदीप है। जिस घर में घुसता है, वहाँ हीरे की तरह चमक जाता है—“स्वाङ्गमर्थप्रदीपम्” ॥३०॥

एक दिन एक गोपी ने माखन-चोरी करते हुए लाला को पकड़ा। उसने कहा—लाला, आज मैं तुझे रस्सी से बाँधूंगी फिर मैया यशोदा को बुला कर लाऊँगी। ऐसा कह कर वह कन्हैया को रस्सी से बाँधने लगी। इस पर लाला ने कहा कि तुम्हें तो बाँधने आता नहीं, कैसे उल्टा-सीधा बाँध रही हो। सचमुच, प्रेम-विवश गोपी उल्टा-सीधा ही बाँध रही थी। वह बोली कि लाला तुम को आता है तो सिखा दो। लाला ने कहा कि अच्छा सीख। पहले छोड़ मेरा हाथ तब तुम्हें सिखलाऊँ, भोली-भाली गोपी ने लाला का हाथ छोड़ दिया। कन्हैया ने रस्सी को खम्भे में लगाया और फिर उसके हाथों को बाँधने लगे। बाँधते जाँय और कहते जाँय कि देख गोपी, यह एक गाँठ हुई, यह दो गाँठ हुई, यह तीन गाँठ हुई। गोपी बोली कि छोड़ दे, मैं समझ गई। अब मैं तुम को बाँधूंगी। इस पर लाला ने कहा—अरी नादान गोपी, तुझे यह भी नहीं पता कि मैं जिसको बाँधता हूँ, उसको छोड़ता ही नहीं हूँ। मुझ को बाँधना तो आता है, पर छोड़ना नहीं आता। यह कहकर लाला अँगूठा दिखाते हुए भाग खड़ा हुआ। भौचक गोपी निहारती ही रह गई।

एक दिन उलाहना देनेवाली गोपियों से यशोदा जी ने कहा—गोपियों, चोरी करते हुए एक दिन लाला को पकड़कर तुम लाओ। तब मैं उसे सजा दूँगी। ऐसे तो वह पूछने पर कहता है कि मैंने तो कुछ किया ही नहीं है। इस पर प्रभावती नाम की एक अभिमानिनी गोपी ने कहा यह कोई बड़ी बात नहीं है। मैं ही इसे रंगे हाथ पकड़ लाऊँगी।



उस दिन कन्हैया ने अपनी बाल-मण्डली में तय किया कि आज प्रभावती के घर चलने का प्रोग्राम है। प्रभावती घर के एक कोने में छिप कर बैठी थी। धीरे-धीरे सारे बालक घर में प्रविष्ट हो गये। कन्हैया ने छीके से माखन की मटकी उतारी। स्वयं माखन खाया, मित्रों को खिलाया और बन्दरों को भी दावत दी। रामावतार में बन्दरों ने पेड़ के पत्तों को खाकर राम की सेवा की थी अतः वही राम जब कृष्ण के रूप में आये तो बन्दरों को माखन खिला कर बदला चुका रहे हैं। धन्य हो कन्हैया धन्य !

सभी ने भर पेट माखन खाया इतने में धीरे से प्रभावती बाहर निकली। मित्रों ने देखा तो कहा—अरे कन्हैया, भाग, भाग। वह आ गई किन्तु कन्हैया ने कहा—कि आने दो। क्या कर लेगी वह।

प्रभावती ने कन्हैया को पकड़ लिया। वह लेकर चली कन्हैया को यशोदा के घर की ओर। कन्हैया के साथ बालक विनती कर रहे थे छोड़ने के लिये। प्रभावती का बेटा स्वयं कन्हैया की बाल-मण्डली का सदस्य था। वह अपनी माँ से कह रहा था—मैया, छोड़ दे कन्हैया को। इसे अपने घर में मैंने ही बुलाया था। मुझे चाहे जो दण्ड दे दे, पर कन्हैया को छोड़ दे। माखन की क्षतिपूर्ति के लिये मैं स्वयं छः महीने माखन नहीं खाऊँगा। पर प्रभावती कब किसी की बात माननेवाली थी। वह अभिमानिनी थी। उसने कहा आज मैं लाला को मैया के सामने पेश करूँगी। इन्हें रंगे हाथ पकड़ा है।

प्रभावती लाला को पकड़ कर चली जा रही थी। उसके आगे-पीछे चारों ओर सभी बच्चे लगे हुए थे। इतने में सामने विपरीत दिशा से आते हुए एक वृद्ध दिखलाई पड़े। वे प्रभावती के श्वसुर थे। उन्हें देखकर उसने लम्बा घूँघट खींच लिया। कन्हैया ने सोचा यह अच्छा अवसर है अतः उसने प्रभावती से कहा—चाची, मेरा यह हाथ दुःख रहा है अतः इसे छोड़कर दूसरा हाथ पकड़ ले। प्रभावती ने सोचा ठीक है। दूसरा हाथ पकड़ने में क्या गड़बड़ है। सो वह दूसरा हाथ पकड़ने लगी तो कन्हैया ने इशारे से उसके ही बेटे को बुलाकर उसका हाथ पकड़ा दिया। इस प्रकार मुक्त होकर कन्हैया भाग कर माता के पीठ पीछे जा बैठा। इधर प्रभावती चोर को पकड़कर बड़ी उमंग से चली आ रही थी। उसने बाहर से ही चिल्लाते हुए कहा—अरी यशोदा मैया, सुनती हो ! देखो, तेरे कन्हैया को आज रंगे हाथ पकड़ कर लाई हूँ। इस चोर को अब सजा देनी ही होगी।

मैया यशोदा घर से बाहर निकलीं। प्रभावती ने कहा—लो, तुम पकड़ने के लिये कहती हो तो आज चोर को पकड़ लाई हूँ। लो, इसे दो दण्ड। मैया यह दृश्य देखकर हँसने लगी। प्रभावती ने कहा—मैया, हँसो मत। तुम्हारे इस प्रकार हँसने से ही तो लाला चोर निकल रहा है।

यशोदा—अरी गोपी, देख तो सही, तू किसे पकड़ कर लाई हो। मेरा लाला तो घर में है। प्रभावती ने नीची निगाह कर देखा तो उसके हाथों में उसी का बेटा था। वह असमञ्जस में पड़ गई। लजा कर उसने कहा—कन्हैया बड़ा जादूगर है। मैंने तो उसे ही पकड़ा था। लगता है रास्ते में कुछ गड़बड़ हो गई।

हृदय-प्रभावती अभिमानिनी है। अभिमान से भरी बुद्धि ही प्रभावती है। ऐसी बुद्धि ईश्वर को कभी पकड़ नहीं सकती। निष्काम निर्मल बुद्धि ही ईश्वर को पा सकती है। ईश्वर को सकाम नहीं, निष्काम बुद्धि ही ढूँढ़ पाती है।

इस प्रकार कन्हैया की अनन्त बाल लीलायें हैं, जिन्हें देख-सुन कर ब्रज की गोपियाँ आनन्द का अनुभव करती थीं। मैया भी लाला की भयभीत छवि निहार कर कुछ भी नहीं कह पातीं। प्रत्युत अपनी गोद में उठा कर उन्हें प्यार करने लगतीं।



हृदय—माखनचोरी लीला कन्हैया की शैशव-लीलाओं का प्राण है। कन्हैया गोपियों का माखन नहीं, बल्कि माखन की तरह कोमल उनके मन की चोरी करते थे। माखनचोरी-लीला मनचोरी लीला है। “नौलख गौएँ नंद बाबा के। नित नव माखन होय”। नन्द बाबा की बहुत-सी गाएँ थीं। उनके घर कई मटकी माखन प्रतिदिन निकलता था। कितना खायेगा कन्हैया ? अतः यही मानना युक्तिसंगत है कि कन्हैया माखनचोरी लीला नहीं, मनचोरी लीला किया करते थे।

### मृदभक्षण-लीला

एक दिन कन्हैया ने ग्वालबालों के साथ खेलते हुए मिट्टी खा ली। बालकों ने जाकर मैया यशोदा से शिकायत करते हुए कहा—मैया, तेरे लाला ने मिट्टी खाई है। यशोदा बालक का कल्याण चाहनेवाली है। वह सोचती है कि यदि लाला में मिट्टी खाने की आदत पड़ जायेगी तो उसके पेट में कीड़े पड़ जायेंगे अतः उसने कसकर लाला का हाथ पकड़ लिया और डाँटते हुए पूछा—क्यों रे नटखट, तू ने छिपकर मिट्टी क्यों खाई ? उस समय श्रीकृष्ण की आँखें डर के मारे नाच रही थीं। उन्होंने डरते-डरते पूछा—मैया, किसने कहा कि मैंने मिट्टी खाई है ?

मैया—यह सारे तुम्हारे साथी कह रहे हैं और तेरे बड़े भैया बलदाऊ भी तो उन्हीं की ओर से गवाही दे रहे हैं।

श्रीकृष्ण—मैया, मैंने मिट्टी नहीं खाई है। ये सब-के-सब झूठ बोल रहे हैं। यदि तुम इनकी बात को सच मान रही हो तो मेरा मुख तुम्हारे सामने ही है, तुम अपनी आँखों से इसे देख लो—

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिर्शंसिनः । यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ॥१०/८/३५

बलराम ने देखा कि कन्हैया सबके साथ हमें भी झूठा बता रहा है तो वे आकर कन्हैया के पास खड़े होकर डाँट कर बोले—क्यों रे कन्हैया, तू ने मिट्टी नहीं खाई है ? श्रीकृष्ण बोले कि हाँ, दाऊ दादा, खाई है। मैया, मैं ठीक कहता हूँ कि मैंने मिट्टी नहीं खाई। कृष्ण की दो तरह की बात सुनकर मैया चक्कर में पड़ गई कि उसकी कौन-सी बात सही मानी जाय ? विद्वान् लोग, ‘णह’ बन्धने धातु से ‘नाहं’ सिद्ध करके कहते हैं कि कन्हैया के कहने का अभिप्राय यह है कि—मैया, मैंने तो ‘नाहम्’ अर्थात् सारे प्रपञ्च को खा रक्खा है फिर तो तू जरा-सी मिट्टी के लिये नाहक बवाल मचा रही है ? कह तो रहा हूँ कि—“सर्वे अभिथ्याभिर्शंसिनः” अर्थात् सभी सही बात कह रहे हैं। मैया, ‘यदि एते सत्यगिरः तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्’—यदि ये सही हैं तो मेरा मुख तेरे सामने है, देख ले। अथवा—‘हे सति, अगिरः मे मुखं ते समक्षं तत् पश्य’—अर्थात् हे सतीशिरोमणि मैया, यदि मेरी वाणी कुछ असमञ्जसभरी प्रतीत हो तो मेरा मुख तेरे ही सामने है, इसे देख ले। यहाँ ‘अगिरः’ षष्ठी का एक वचन और ‘मे’ का विशेषण है। इसे ‘एते’ का भी विशेषण बनाकर अर्थ किया जाता है कि ये लोग ‘अगिरः’ असमञ्जसभरा वचन कह रहे हैं। कृष्ण के कहने का अभिप्राय यह है कि—मैया, तुमने कहा है कि मैंने एकान्त में मिट्टी खाई है। ऐसा इन लोगों ने आप से कहा है यदि मैंने एकान्त में मिट्टी खाई है तो इन लोगों ने देखा नहीं है—और देखा है तो फिर एकान्त कहाँ हुआ ? इस प्रकार इनका वचन असमञ्जस से भरा हुआ है फिर भी यदि तू चाहती है तो देख ले मेरा मुख।

ऐसा कहते समय श्रीकृष्ण के मन में यह बात आई होगी कि उस दिन दूध पिलाते समय मेरे मुख में सकल ब्रह्माण्ड को देखकर मैया डर गई थी अतः आज मुख खोलवा कर नहीं देखेगी। परन्तु नन्दरानी भी पूरी पक्की थीं। उन्होंने कहा—अगर ऐसी बात है तो मुख खोल दे—“तर्हि व्यादेहि”। तब तो भगवान् फँस गये। अब तो बचने



का कोई रास्ता था नहीं अतः व्याध से डरे पक्षी की तरह मुख खोल दिया—“व्यादत्ताव्याहतैश्चर्यः” ॥३६॥ मुख खुलते ही उनके हाथ से छड़ी गिर गई, वह बेहोश हो गई ।

यहाँ आचार्यों के भिन्न-भिन्न भाव हैं । वे अपने आराध्य को झूठ बोलने से बचाने का प्रयास करते हैं । परन्तु श्रीजीव गोस्वामी आदि का कहना है कि भगवान् झूठ बोले ही और उन्हें बोलना भी चाहिये था । बात यह है कि भगवान् की दो प्रधान शक्तियाँ हैं—एक माधुर्याधिष्ठात्री और दूसरी ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति । उस समय ब्रज में माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्ति का साम्राज्य था । भगवान् श्रीकृष्णचन्द श्रीमन्नन्दरानी यशोदा के उत्संग में लालित हो रहे थे । ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति उस समय रुद्धप्रवेशा थी । बाललीला में उसका प्रवेश निषिद्ध था । वह प्रभु की सेवा का अवसर ढूँढ रही थी । जब उसने देखा कि हाथ में छड़ी लिये यशोदा अब मेरे प्रभु को, प्राणधन को मारे बिना न रहेगी तब उसने अपने कौशल से उन्हें बचाने का प्रयास किया । उसके प्रताप से यशोदा को श्रीमुख में अनन्त ब्रह्माण्ड दीख पड़े । यह देखते ही वह बेहोश हो गई । भावुकों की तो यहाँ तक भावना है कि प्रभु ने यशोदा से अपने बचने के लिये सिर्फ कह भर दिया था कि “समक्षं पश्य मे मुखम्” अर्थात् मेरा मुख तेरे सामने ही है, देख ले इसे किन्तु वस्तुतः वे अपना मुख खोलकर दिखाना नहीं चाहते थे, क्योंकि मिट्टी तो आखिर खाई ही थी । तब मुख खुल कैसे गया ? तो मातृकोपरिवरिण द्वारा उनका मुख-कमल स्वयं ही विकसित हो गया ।

फिर होश में आने पर यशोदा मैया ने सोचा—क्या यह स्वप्न है ? अथवा किसी देव की माया है ? अथवा मेरे लाला का ही कोई विशेष चमत्कार है ? वे कुछ निर्णय न कर सकीं । अन्ततोगत्वा वे अपने लाला को ईश्वर समझने लगीं फिर उन्होंने नारायण का ध्यान करते हुए कहा—भगवान् ही एकमात्र मेरे आश्रय हैं—मैं उन्हीं की शरण में हूँ । जब इस प्रकार यशोदा माता श्रीकृष्ण का तत्त्व समझ गई, तब सर्वशक्तिमान् व्यापक प्रभु ने पुत्रस्नेहमयी वैष्णवी माया का सञ्चार कर दिया । इससे उनकी स्मृति नष्ट हो गई और उन्होंने लाला को अपना बेटा मान कर गोद में उठा लिया और उन्हें दूध पिलाने लगीं ।

इतनी लीला सुन लेने पर परीक्षित ने पूछा—भगवन्, नन्द बाबा ने ऐसा कौन-सा मङ्गलमय साधन किया था ? और महाभाग्यशालिनी यशोदा जी ने ऐसी कौन-सी तपस्या की थी, जिसके कारण स्वयं भगवान् ने अपने श्रीमुख से उनका स्तन-पान किया ? देवकी और वसुदेव तो श्रीकृष्ण की बाल-लीला से वञ्चित ही रह गये । उन्हें इसका सुख न मिल सका, जिसका गान ब्रह्मा आदि देव-गण किया करते हैं ।

शुकदेव जी ने कहा—राजन्, नन्द बाबा पूर्व जन्म में एक श्रेष्ठ वसु थे । उनका नाम था द्रोण और उनकी पत्नी का नाम था धरा । उन लोगों ने ब्रह्मा जी से वरदान मांगा था कि—जब हम भूतल पर जन्म लें तब भगवान् श्रीकृष्ण में हमारी प्रेममयी अनन्य भक्ति हो । इस पर ब्रह्मा जी ने कहा कि—ऐसा ही होगा । फलस्वरूप वे ही दोनों नन्द और यशोदा के रूप में ब्रज में पैदा हुए । इस जन्म में जन्म-मृत्यु-विनाशक भगवान् उनके पुत्र हुए और सारे गोप और गोपियों से बढ़कर उन लोगों का उनके प्रति प्रगाढ प्रेम हुआ । ब्रह्मा जी के वरदान को सत्य सिद्ध करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम जी के साथ ब्रज में रहकर समस्त ब्रजवासियों को अपनी बाल-लीला से आनन्दित करने लगे ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥



## नवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण का ऊखल से बन्धन )

राजा परीक्षित यशोदा मैया के द्वारा श्रीकृष्ण से माटी उगलवाने की लीला का श्रवण करके श्रीकृष्ण के भक्त-वात्सल्य पर मुग्ध हो गये। उनकी मुग्धता देखकर श्रीशुकदेव जी प्रसन्न हो उठे। उन्होंने कहा—राजन, अभी आप ने क्या देखा। भगवान् तो इतने बड़े भक्त-वत्सल हैं कि मैया के चाँटे भी खाते और उसके हाथों से ऊखल में बाँध भी जाते हैं।

कार्तिक का महीना था। इन्द्र-याग होनेवाला था अतः यशोदा जी ने दासियों को दूसरे-दूसरे कार्यों में लगा दिया था और दधि मथने का कार्य वे स्वयं करने लगीं। दूसरी बात यह भी थी कि कन्हैया माखन की चोरी करते थे अतः गोपियाँ उन्हें माखन-चोर कहकर पुकारती थीं। मैया ने सोचा इससे कन्हैया की बदनामी होगी। इस कारण भविष्य में उसका विवाह होने में कठिनाई होगी। प्रतीत होता है कि दासियाँ बढ़िया माखन नहीं निकालती हैं अतः लाला घर का माखन न खाकर गोपियों के घर का माखन चुरा कर खाता है। इसलिये लाला के लिये माखन मैं स्वयं निकालूँगी। बाकी घर का कार्य दासियाँ करेंगी। यह सोचकर दासियों को अन्यान्य कार्यों में नियुक्त कर यशोदा दधि-मन्थन का कार्य स्वयं करने लगीं—

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी । कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि ॥१०/९/१  
हृदय—इस श्लोक में आये हुए पदों का अन्वय इस प्रकार भी किया जा सकता है—एकदा आनन्दगेहिनी यशोदा स्वयं दधि निर्ममन्थ। यहाँ एकदा यह पद यशोदा का विशेषण है। इसका अर्थ है—एक परं ब्रह्म ददाति इति एकदा—जो पर ब्रह्म परमात्मा को लाकर आप की गोद में बैठा दे उसे कहते हैं—एकदा। यह एकदा यशोदा ही है। यदि आप को पर ब्रह्म की आवश्यकता हो तो उसे यशोदा मैया से माँगे। वह उसे लाकर तुम्हारी गोद में बैठा देगी। यशोदा का भी प्रयोग यहाँ साभिप्राय है। इसका अर्थ है—“भगवते यशोदासि ददाति इति यशोदा”। जो भगवान् को भी यश प्रदान करती है, वह यशोदा है। कभी यशोदा साटी लेकर लाला से माटी उगलवाती है, कभी लाला का कान उमेठती है और कभी उन्हें ऊखल से बाँधती है, उन्हें दामोदर नाम प्रदान करती है। यदि यशोदा पृथिवी पर न हुई होती तो कन्हैया को “भक्तवत्सलता”, “भक्तवश्यता” आदि का यश कौन प्रदान करता ? कन्हैया की कमर में रस्सी बाँध कर उन्हें दामोदर कौन बनाता ? इसका भाव यह हुआ कि यशोदा की गोद में बैठकर कन्हैया स्वयं महिमा-मण्डित हुए हैं। यहाँ यशोदा का दूसरा विशेषण है—आनन्दगेहिनी। वह नन्दगेहिनी तो है ही, किन्तु ‘आनन्दगेहिनी’ भी है—आनन्द का घर भी है, आनन्द का खजाना भी है। जिसे आनन्द चाहिये वह खजाने से लावे, मैया से माँगे।

यशोदा नन्दगेहिनी है। नन्दराय की पत्नी है। दधि मथना उस जैसी रानी के लिये शोभा नहीं देता किन्तु भक्ति-परवश हो वह अपने लाला के लिये स्वयं दधि का मन्थन कर रही है।

यशोदा मैया दधि मथ रही थीं। मन्थन की बेला में कन्हैया की बाल-लीलाओं का स्मरण कर-कर के उन्हें गा भी रही थीं—

यानी यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च । दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥१०/९/२  
हृदय—भक्त कैसा होना चाहिये ? इसका निरूपण इस अनुष्टुप् छन्द में किया गया है। शरीर से दधि-मन्थनरूप सेवा-कर्म हो रहा है, हृदय में बाललीलाओं की धारा सतत प्रवाहित हो रही है, और वाणी के द्वारा उनका



गान हो रहा है। भक्ति के तन, मन और वचन—सब अपने प्यारे की सेवा में संलग्न हैं। भक्त की ऐसी ही विशेषता को बतलाते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस में कहा है कि—“कर ते कर्म करिय विधि नाना। मन राखिय जहँ कृपा निधाना” ॥ श्लोक के ठीक-ठीक भाव को तो दरिया साहब ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

हाथ काम मुख राम हैं, हिरदै साची प्रीति। दरिया गृहस्थी साधु की, याही उत्तम रीति ॥

दधि-मन्थन में संलग्न यशोदा मैया की शारीरिक स्थिति का वर्णन करते हुए श्रीशुकदेव महाराज कह रहे हैं—  
राजन्, यशोदा रेशमी लहंगा पहने हुए थीं। स्थूल कटि-भाग डोरी से कसकर बँधा हुआ था। पुत्र-स्नेह की अधिकता के कारण उसके हिलते हुए पयोधरों से दूध टपक रहा था। मथानी की रस्सी खींचते-खींचते बाहें कुछ श्रान्त-सी हो गई थीं। हाथों में कंगन खनक रहे थे और कानों में कुण्डल झूम रहे थे। मुँह पर पसीने की बूँदे झलझला आई थीं। चोटी में गुँथे हुए मालती के फूल रह-रहकर गिरते जा रहे थे। मैया की सुन्दर भौंहें बड़ी मनोमोहक थीं—

क्षीमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनन्दं पुत्रस्नेहस्तुकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रुः।

रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणी कुण्डले च स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ ॥ १०/१३

यह अत्यन्त प्रातःकाल की बेला थी। मैया ने सोचा कन्हैया अभी सो रहा है, उसके उठने के पहले मैं ताजा मक्खन तैयार कर लूँ फिर उसे जगाऊँ, हाथ मुँह धुलाऊँ और माखन-मिश्री खिलाऊँ। ऐसा सोच कर मैया ने स्नान किया। पीला घाँघरा पहना और कृष्ण की भावना में लीन होकर मथने लगी दधि। इसी बीच कन्हैया स्वयं जग गये। भक्त भगवान् के लिये परिश्रम करे और भगवान् आलस्यवश सोये रहें—यह कैसे संभव हो सकता है? इसलिये श्रीकृष्ण जग गये। वे उठे, उठ कर अँगड़ाई ली। पलङ्ग पर इधर-उधर लोट-पोट किया और उसके बाद आँखें मलने लगे। मैया ने जो काजल रात में लगाया था, वह कपोलों पर आ गया। उठने के बाद मैया प्रतिदिन गोद में उठा कर मुँह धुलाती थी, पर आज नहीं देख रही है। श्रीकृष्ण ने मैया-मैया कह कर दोनों ओर देखा और दोनों पाँव लटका कर पलंग पर बैठ गये फिर पुकारा कि मैया, तू कहाँ है? इस समय मैया की मानसिक स्थिति कुछ और थी। वह आनन्द-सिन्धु में विहार कर रही थी अतः कृष्ण का वचन नहीं सुना। तब पलंग से उतर कर कन्हैया धीरे-धीरे मैया के पास स्वयं पहुँच गये। मैया दधि-मन्थन के साथ कृष्ण-चिन्तन में लीन थी। कृष्ण को मैया की छाती का दूध पीने की प्रबल इच्छा हुई अतः वे अपनी माता के हृदय में प्रेम और आनन्द को और बढ़ाते हुए दही की मथानी पकड़ कर खड़े हो गये और मथने से उसे रोक दिया—

तां स्तन्यकाम आसाद्य मन्थन्तीं जननीं हरिः। गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यवेद्यत् प्रीतिमावहन् ॥

१०/१४

१. कमर में लटका लहंगा भक्ति का प्रतीक है। डोरी से कमर कसने का तात्पर्य है—जीवन में न आलस्य है, न प्रमाद है और न है असावधानी ही। भक्त आलस्य को दूर फेंक कर भगवान् की सेवा में लगता है। मैया के हाथ के कंगन और कान के कुण्डल हिल रहे हैं। इसका तात्पर्य है कि कङ्कण और कुण्डल नाच-नाच कर मैया को बधाई दे रहे हैं। यशोदा मैया के हाथों के कङ्कण इसलिये झंकार ध्वनि कर रहे हैं कि वे आज उन हाथों में रहकर धन्य हो रहे हैं जो कि भगवान् की सेवा में लगे हुए हैं और कुण्डल यशोदा मैया के मुख से लीला-गान सुनकर परमानन्द से हिलते हुए कानों की सफलता की सूचना दे रहे हैं। हाथ वही धन्य हैं, जो भगवान् की सेवा करें और कान वे धन्य हैं, जिनमें भगवान् के लीला-गुण-गान की सुधा-धारा प्रवेश करती रहे। मुँह पर स्वेद और मालती के पुष्पों के नीचे गिरने का ध्यान माता को नहीं है। वह शृङ्गार और शरीर-दोनों ही भूल चुकी है अथवा मालती पुष्प स्वयं ही चोटियों से छूट कर चरणों में गिर रहे हैं कि ऐसी वात्सल्यमयी माँ के चरणों में ही रहना सौभाग्य है, हम शिर पर रहने के अधिकारी नहीं हैं।



उन्होंने बाल-सुलभ-स्वभाव के अनुसार उनकते हुए कहा—मैया, मुझे भूख लगी है, दूध पिला दे। मैया के प्रेम का पारावार न रहा। उसने लाला को अपनी बाँहुओं में समेट कर गोद में बैठा लिया और दूध पिलाने लगी।

**हृदय**—यशोदा भक्त है। प्रेमरूपी माखन निकालना उसका लक्ष्य है। कमोरी संसार है। दही संसार के विषय हैं। मथानी साधन है। प्रेमरूपी माखन भगवान् को खिलाना भक्त का उद्देश्य है। किन्तु भक्त जब भगवान् में तल्लीन होकर साधन करता है, तब भगवान् स्वयं उसके पास चले आते हैं। उसका साधन रोककर कहते हैं—तुम्हारे प्रेम का भूखा होकर मैं स्वयं तुम्हारे पास आ गया। बन्द करो अब साधन ॥

मैया दूध पिलाती जाती थी और अपने लाला को आनन्दित करने के लिये उनका मुख निरखती जाती थी। दैवयोग से उसी समय चूल्हे पर चढ़ा हुआ दूध उफनने लगा। लाला अभी तृप्त नहीं हुए थे। मैया के दूध और लाला की भूख में मानो होड़ लगी हुई थी किन्तु दूध को उफनते देखकर मैया ने लाला को गोद से उतार कर भूमि पर बैठा दिया और दौड़ पड़ी दूध को उतारने के लिये।

**हृदय**—भक्त को भगवान् उतने प्रिय नहीं होते जितनी कि भगवान् की सेवा। वस्तुतः यह दूध पद्मगन्धा गाय का था। यह केवल लाला के लिये ही तैयार किया जा रहा था। पद्मगन्धा गाय का दूध बड़ा विलक्षण होता है। हजारों गायों का दूध सौ गायों को, सौ गायों का दूध दस गायों को और दस गायों का दूध एक गाय को पिलाया जाता था यही गाय पद्मगन्धा कही जाती थी। इसी गाय का अतिमधुर दूध लाला को पिलाया जाता था। मैया ने सोचा यदि दूध बह जायेगा, तो मेरा लाडला भूखा रह जायेगा अतः मैया लाला को छोड़कर दूध उतारने दौड़ पड़ी।

मैया लाला को छोड़कर गृहस्थी बचाने के लिये चली गई। इसका मतलब यह हुआ कि शीघ्र ही आगे कोई-न-कोई परेशानी, विपत्ति आनेवाली है। दूध क्यों उफना इस पर विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ की हैं। उदाहरण के लिये उनमें एक यहाँ प्रस्तुत कर दे रहा हूँ—दूध ने देखा कि लाला यदि मैया का दूध भर पेट पी लेगा तो मुझे नहीं पियेगा अतः वह दौड़ पड़ा लाला की ओर।

मैया ने दूध को उतार दिया। भक्त भगवान् के लिये सन्तप्त होनेवाले प्राणी को उतार देते हैं, तार देते हैं ॥

मैया छोड़कर चली गई। इस पर लाला को कुछ क्रोध-सा आ गया। क्रोध से उनके लाल-लाल ओठ फड़कने लगे। श्रीकृष्ण ने उन्हें दाँतों से दबा लिया और पास ही पड़े हुए लोढ़े से दही का मटका फोड़ डाला फिर झूठे ही रोने का बहाना करते हुए घर के अन्दर चले गये और वहाँ अकेले में बासी मक्खन खाने लगे—

**भित्त्वा मृषाश्चूर्द्वदश्मना रहो जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः ॥ १०/९/६**

यशोदा ने उफनते हुए दूध को उतार दिया फिर वे लौट कर दधि मथने के स्थान पर आईं। वहाँ उन्होंने देखा मटका फूटा हुआ है। दही चारों ओर फैली हुई है। लाला भी नहीं दिखलाई दे रहा है। उन्हें हँसी आ गई। उन्होंने सोचा यह सब करतूत उसी नटखट की है।

**हृदय**—मटकी गृहस्थी है। दही संसार का विषय है। भक्त भगवान् को छोड़कर जब गृहस्थी सजाने चलता है, तब वे उसकी गृहस्थी को तहस-नहस कर देते हैं। उसके प्रिय विषयों को बिखेर देते हैं। यही है स्वारस्य मटकी फोड़कर दही बहाने का अतः गृहस्थ को चाहिये कि वह भगवान् को लेकर ही अपनी गृहस्थी सजावे, छोड़कर नहीं ॥

लाला को न देख कर यशोदा उस नटखट को खोजने के लिये अन्दर की ओर गई। वहाँ उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा—भीतर के कमरे में दरवाजे की ओर पीठ कर लाला ओखली पर बैठा है। छींके पर का माखन उतार-उतार कर स्वयं खा रहा है और बन्दरों को लुटा रहा है। चोर की तरह वह बीच-बीच में मुड़-मुड़ कर पीछे की ओर देख भी रहा है कि कहीं मैया तो नहीं आ रही है। मैया ने इस दृश्य को बड़े ध्यान से देखा फिर पीछे से पाँव दबा कर धीरे-धीरे उसके पास जा पहुँची।



हृदय—(क) माँ-बाप बालकों को प्यार पूर्वक अपनी गोद में नहीं रखते तो वे किसी खल की गोद में जा बैठते हैं। मानो संसार को यही सन्देश देने के लिये श्रीकृष्ण उल्टी ओखली पर जा बैठे।

(ख) रामावतार में बन्दरों ने पत्ते चबा-चबाकर भगवान् की सेवा की है। उसी कृतज्ञता के कारण इस अवतार में कृष्ण उन्हें माखन खिलाकर बदला चुका रहे हैं।

(ग) श्रीकृष्ण के “चौर्यविशङ्कित” नेत्र ध्यान करने के योग्य हैं। नाट्यशास्त्र में नेत्रों की बहुविध भङ्गिमा का वर्णन है—ललित, कलित, बलित, छलित और चकित आदि। किन्तु “चौर्यविशङ्कित” नेत्र भक्तों के हृदय में गहरी चोट करते हैं।

कन्हैया ने मैया को हाथ में छड़ी लिये आती हुई देखा। जल्दी से वे ओखली पर से उतरे और भयभीत की भाँति भाग खड़े हुए। परीक्षित, बड़े-बड़े योगी भी जन्म-जन्मान्तर तक तपस्या से सूक्ष्म और निर्मल बनाये गये अपने मन से भी जिनका स्पर्श नहीं कर पाते, आज गोपी यशोदा उन्हीं को पकड़ने के लिये पीछे-पीछे दौड़ रही हैं—

तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्त्वरस्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत् ।

गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः ॥१०/९/९

कन्हैया के पीछे-पीछे दौड़नेवाली मैया की चाल कुछ ही क्षणों में, बड़े-बड़े एवं हिलते हुए नितम्बों के कारण धीमी पड़ गई। वेग से दौड़ने के कारण चोटी की गाँठ ढीली पड़ गई। वे ज्यों-ज्यों आगे बढ़तीं पीछे-पीछे चोटी में गुंथे हुए फूल गिरते जाते। सब ने उनका साथ छोड़ दिया। नन्द के आँगन में यह अद्भुत दौड़ (रेस) चल रही थी। नन्द के आँगन में इकट्ठी हुई गोपियाँ कन्हैया और मैया की रेस देखकर हँस रही थीं, ताली बजा-बजाकर कह रही थीं—भागो कन्हैया भागो। कन्हैया ने देखा मैया परेशान है, हैरान है अतः कृपा करके वे स्वयं उसकी पकड़ में आ गये।

भगवान् के भक्त कहते हैं कि—जब मैया दौड़ते-दौड़ते श्रान्त हो गई, थक गई और लाला पकड़ में नहीं आये तब मैया ने सतयुग, त्रेता, द्वापर के भक्तों की सौगन्ध दिलाना प्रारम्भ किया किन्तु उन्हें सफलता न मिली। अन्त में कलियुग के भक्तों की शपथ दिलाने पर श्रीकृष्ण पकड़ में आ गये। वस्तुतः मैया के वात्सल्य के सामने कन्हैया का ऐश्वर्य बौना पड़ गया और वे पकड़ में आ गये—यही तथ्य अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

श्रीधर स्वामी का कथन है कि—अपनी एक भूल के कारण यशोदा भागते हुए कन्हैया को पकड़ नहीं पा रही थी। कन्हैया के पीछे दौड़ने के समय यशोदा की दृष्टि में उनका मुखारविन्द नहीं पीठ थी। तृतीय स्कन्ध में बतलाया गया है कि भगवान् की पीठ में अधर्म और छाती में धर्म का निवास है। अधर्म पीठ से ही उत्पन्न हुआ है। अधर्म को दृष्टि में रखकर दौड़ने वाला ईश्वर को कैसे पकड़ पायेगा ?

भक्ति धर्म की मर्यादा में ही रहकर करनी चाहिये। भक्ति धर्मानुकूल होनी चाहिये। भक्ति में अधर्म के आ जाने से वह भ्रष्ट हो जाती है। धर्म की मर्यादा में रहकर की गई भक्ति ही सफल होती है। यशोदा भक्ति है। वह अधर्म पर दृष्टि रखकर प्रभु को पकड़ने चली है, तो कैसे प्रभु उसकी पकड़ में आ सकते हैं ?

१. भगवान् की अनन्त शक्तियाँ हैं किन्तु ब्रज में केवल दो शक्तियाँ ही प्रधान हैं—ऐश्वर्य शक्ति और वात्सल्य शक्ति। ऐश्वर्य शक्ति को तो भगवान् ने गोप-गोपियों के क्षेत्र से बाहर ही रोक दिया है। वहाँ केवल वात्सल्य शक्ति की ही प्रधानता है। कोई असुर अस्त्र-शस्त्र लेकर जब आता है तो कन्हैया सुदर्शन चक्र का स्मरण करते हैं किन्तु वात्सल्य की साक्षात् मूर्ति मैया की छड़ी का निवारण करने के लिये उनके पास कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं है। आगे-आगे भयभीत कन्हैया भाग रहे हैं। पीछे-पीछे मैया छड़ी लिये दौड़ा रही है। कितनी मधुर है यह झाँकी। धन्य है इस भय को।



वल्लभाचार्य का कथन है कि यदि भक्ति अभिमान को साथ लेकर भगवान् को पकड़ने चलेगी तो वे उसकी पकड़ में नहीं आयेंगे। यशोदा भक्ति है, भक्ति से भरी बुद्धि है। लकड़ी अभिमान का प्रतीक है। जब तक बुद्धि में अभिमान है, भले ही वह भक्ति से भरी हो, तब तक वह भगवान् को नहीं पकड़ सकती। अभिमानी हृदय से भगवान् की सेवा नहीं कर सकता।

मैया अपने बाँए हाथ से कन्हैया का दाँया हाथ पकड़े खड़ी है। उसके दूसरे हाथ में छड़ी है। श्रीकृष्ण मैया के सामने अपराधी बनकर खड़े हैं। जोर-जोर से रो रहे हैं। आँखों को मल रहे हैं। काजल मुख पर फैल रहा है। वे कभी माँ की ओर और कभी नीचे की ओर देख रहे हैं। उनके नेत्र भय के कारण विह्वल हैं।

मैया कन्हैया की ओर छड़ी हिलाती हुई—“भिषयन्ती” ॥११॥ आँखें गुरेरी हुई बोली—अरे नटखट, यदि तुझे इतना डर था तो तूने दही का इतना पुराना मटका क्यों फोड़ा ? मैया के डाटने पर कन्हैया काँपने लगे। उन्होंने गिड़गिड़ाते हुए कहा— मैया, अब की बार क्षमा कर दे। आगे ऐसी गलती नहीं करूँगा। तुम्हारे हाथ की छड़ी से डर लग रहा है। मेरी मैया तू इसे फेंक दे। इस पर मैया का हृदय पिघल गया। उसने देखा कि लाला डर रहा है अतः छड़ी दूर फेंक दी। “यावज्जडयुक्तो हि न तावच्चेतनागमः” अर्थात् जब तक प्राणी जड संसार को पकड़े रहता है, तब तक चेतन परमात्मा उसके हाथ में कैसे आयेगा ? संसार छोड़ोगे तो परमात्मा से संगम होगा।

अब मैया ने कन्हैया को बाँधना चाहा, क्योंकि वह उनके ऐश्वर्य से अपरिचित है—“अतद्वीर्यकोविदा” ॥१२॥ वह समझती है कि अरे, यह तो वही है, जिससे अभी बात नहीं उठता, पीढ़ा नहीं उठता। यह कमजोर है अतः इसको बाँधने में कठिनाई नहीं है। मैं भी इसे भर पेट अपना दूध न पिला सकी अतः यशोदा मैया ने सोचा कि थोड़ी देर तक इसे ऊखल में बाँध देती हूँ फिर नया माखन और ताजी रोटी तैयार कर उसे खिलाऊँगी। तब यह सब उपद्रव छोड़कर शान्त हो जायेगा।

श्री शुक्रदेव महाराज जी कहते हैं—राजन्, जिसमें न बाहर है न भीतर, न आदि है और न अन्त; जो बाहर-भीतर के भेद से रहित है; जो जगत् के पहले भी थे, बाद में भी रहेंगे; इस जगत् के भीतर तो हैं ही, बाहरी रूपों में भी वही दिखलाई पड़ रहे हैं; और तो क्या, जगत् के रूप में भी स्वयं वही हैं; यही नहीं, जो समस्त इन्द्रियों से परे और अव्यक्त है—उन्हीं भगवान् को, मनुष्य का सा रूप धारण करने के कारण, पुत्र समझ कर यशोदा रानी रस्सी से ऊखल में, साधारण बालक की भाँति, बाँध देती हैं—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥  
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् । गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥

१०/९/१३-१४

लालन को जब नन्दरानी बाँधने लगीं तो रज्जु (रस्सी) दो अङ्गुल छोटी पड़ गई। गोकुल भर की रस्सियाँ मँगा कर जोड़ी गईं, पर बछड़ों की नहीं। वह ब्रजेन्द्र गेहिनी अपने लालन के सुकोमल अंग को कर्कश रज्जु से कैसे बाँध सकती है ? वस्तुतः रेशम की सुकोमल डोरियाँ थीं। जिससे लाला को कष्ट न हो फिर भी रस्सी दो अङ्गुल छोटी

१. इस श्लोक में श्रीकृष्ण की ब्रह्मरूपता बतलाई गई है। उपनिषदों में जैसा ब्रह्म का वर्णन उपलब्ध होता है, वैसा श्रीकृष्ण का वर्णन यहाँ किया गया है।
२. गोपिका—गोपायति भगवन्तं श्रीकृष्णं या सा गोपिका। कंस को पता चल गया था कि नन्द का छोरा ही हमें मारनेवाला भगवान् है। किन्तु जब समाचार फैला कि यशोदा ने अपने लाला को ओखली में बाँध दिया। तब कंस ने कहा कि यह मुझे मारनेवाला ब्रह्म नहीं हो सकता। इस प्रकार कृष्ण के ब्रह्मत्व को छिपा देने के कारण यशोदा गोपिका है।



ही रही। जितनी भी रस्सियाँ जोड़ी जातीं सब दो अङ्गुल छोटी पड़ जाती थीं अतः यशोदा लाला को बाँध न सकी। यह देखकर गोपियों को महान् आश्चर्य हुआ। वे यशोदा की असफलता को देखकर मुस्कराने लगीं। इस पर यशोदा को भी स्वयं आश्चर्य हुआ। वे भी मुस्कराने लगीं।

इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि माता जी का शरीर पसीना-पसीना हो गया है। चोटी में गुँथी हुई मालाएँ गिर गई हैं और वे बहुत श्रान्त भी हो गई हैं, तब कृपा कर के वे स्वयं ही अपनी माँ के बन्धन में बाँध गये—

**दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने ॥१०/९/१८**

पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज लिखते हैं कि—जब सब रज्जु कम पड़ गई तब वृषभानुनन्दिनी आई, कहा ‘हमारी वेणी का पाश है, लो’। जब उन्होंने अपना वेणी का बन्धन दिया, तब प्रभु ने कहा—इसके बन्धन में तो हैं ही। भगवान् माधुर्याधिप्रात्री के प्रणय-पाश में तो हैं ही। वृषभानुनन्दिनी के वेणीपाश से ही श्रीकृष्ण बाँधे थे। यशोदा ने कृष्ण की कमर में रस्सी बाँधकर उसका दूसरा छोर ओखली से बाँध दिया। ओखली पुरानी थी। उसकी पेंदी में छेद हो गया था। उसी में डालकर यशोदा ने रस्सी बाँधी थी।

वल्लभाचार्य के अनुसार भगवान् के बाँधे जाने में भगवान् के अनुग्रह की ही प्रधानता है। अपने अनुग्रहवश ही वे भक्तों के हाथों बाँध जाते हैं किन्तु चैतन्य महाप्रभु का कहना है कि—भक्त इतने प्रेमी होते हैं कि उनके प्रेम की अधिकता के सामने भगवान् को झुकना ही पड़ता है, बाँधना ही पड़ता है।

श्री वल्लभाचार्य महाराज भगवान् के पक्षपाती हैं और चैतन्य महाप्रभु भक्त-पक्षपाती। दोनों आचार्यों ने श्रीमद्भागवत पर अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं।

**हृदय—द्व्यङ्गुलोनमभूत—**यहाँ भगवान् की ऐश्वर्य शक्ति अपने स्वामी को बाँधने नहीं देना चाहती थी अतः वह रस्सी में प्रविष्ट होकर अपनी करमात दिखला रही थी, वात्सल्य-शक्ति लाला को बाँधने का प्रयास कर रही थी। ऐश्वर्य-शक्ति और वात्सल्य-शक्ति का यह मधुर कलह है। उस समय प्रभु ने ऐश्वर्य-शक्ति से कहा—मैं यहाँ गोकुल में ईश्वर नहीं, यशोदा मैया का बालक मात्र हूँ। मैं द्वारिका में तेरा पति होकर आऊँगा अतः इस समय तू यहाँ से चली जा। माता को बाँधने की इच्छा है तो उसे बाँध लेने दो। गोकुल में प्रेम का प्राधान्य है और द्वारिका में ऐश्वर्य का।

गोकुल-लीला में वात्सल्य भाव और पौगण्ड लीला में सख्यभाव प्रधान है। किन्तु गोपी-लीला में माधुर्य-भाव मुख्य है। भगवान् की आज्ञा होने पर ऐश्वर्य-शक्ति रस्सी में से चली गई। फलतः कृपापूर्वक कन्हैया मैया के बन्धन में आ गये।

किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि रज्जु दो अङ्गुल ही क्यों छोटी होती थी ? इसके उत्तर में कहा गया है कि—यह दो अङ्गुल की दूरी अहन्ता और ममता की दूरी है। अहन्ता और ममता—ये दो भाव जहाँ होते हैं, वहाँ भगवान् बाँधे नहीं जा सकते, पकड़े नहीं जा सकते। मैया को अहङ्कार है कि मैं इसे बाँध ही लूँगी और यह मेरा बेटा है अतः इसे बाँधने का मुझे अधिकार है अतः रस्सी गाँठ लगाने की बेला में दो अङ्गुल छोटी पड़ जाती थी।

दूसरी बात यह है कि—“भक्तजनपरिश्रमो भगवदनुकम्पा च”। जब तक भक्त श्रम नहीं करता, भगवान् के लिये पसीना नहीं बहाता तब तक भगवान् की भक्त पर अनुकम्पा भी नहीं होती। बन्धन में आने का एकमात्र कारण है—भगवान् की अनुकम्पा—“कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने”। किन्तु भगवान् की अनुकम्पा का कारण है—भक्त का परिश्रम। मैया परिश्रम कर-कर के श्रान्त हो गई। तब अनुकम्पा करके कन्हैया स्वयं बन्धन में आ गये। यही है मुख्यरूप से रस्सी के दो अङ्गुल छोटी होने का कारण ॥



जब भगवान् बाँध गये तब श्री शुकदेव जी महाराज अपनी टिप्पणी जोड़ते हुए कहते हैं कि—परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण स्वतन्त्र हैं, ब्रह्मा, इन्द्र आदि के साथ यह सारा जगत् उनके वश में है फिर भी मैया के हाथों बाँध कर उन्होंने संसार को यह दिखला दिया कि—मैं अपने प्रेमी भक्तों के वश में हूँ। ग्वालिन यशोदा ने मुक्तिदाता मुकुन्द से जो अनिर्वचनीय कृपा-प्रसाद प्राप्त किया वह पुत्र होने पर भी ब्रह्मा को न मिल सका, शङ्कर को आत्मा होने पर भी न प्राप्त हो सका और वृक्ष-स्थल पर विराजमान लक्ष्मी जी अर्धाङ्गिनी होने पर भी न पा सकीं।

एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता । स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥  
नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया । प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥

१०/९/१९-२०

यशोदा के इसी माहात्म्य को देखकर महापुरुषों का कथन है कि—

यशोदया समा नास्ति देवता चापि भूतले । उलूखले यया बद्धो मुक्तिदो मुक्तिमिच्छति ॥  
अर्थात् इस संसार में यशोदा से बढ़कर कोई दूसरा देवता नहीं है। जिसके द्वारा उलूखल में बाँध दिये जाने पर, सारे संसार के मुक्तिदाता भगवान् स्वयं अपनी मुक्ति चाहते हैं।

हृदय—विश्वनाथ चक्रवर्ती का कथन है कि—आत्माराम की भूख-प्यास, पूर्णकाम की अतृप्ति तृष्णा, शुद्धसत्त्व का कोप, स्वाराज्यलक्ष्मी के पति का चौर्यकर्म, महाकाल के काल का भय-पलायन, मन के अग्रगामी का पकड़ा जाना, आनन्दधन का दुःख-रोदन और सर्वव्यापी का बन्धन—यह सब स्वाभाविक भक्ति-पराधीनता का प्रदर्शन है।

शुकदेव महाराज भगवान् की कृपा-लीला पर विमुग्ध होकर पुनः आगे कहते हैं—राजन, यह गोपिकानन्दन भगवान् जितनी सुगमता से अपने अनन्य प्रेमी भक्तों को प्राप्त हो जाते हैं, उतनी आसानी से देहाभिमानी, कर्मकाण्डी, तपस्वियों एवं आत्मभूत ज्ञानियों को भी प्राप्य नहीं हैं।

मैया ने कन्हैया को ओखली में बाँध दिया फिर वे घर के काम-काज में लग गईं। इधर भगवान् की दृष्टि द्वार के पास खड़े दो अर्जुन के वृक्षों पर सड़ी। ये पूर्व जन्म में कुबेर के पुत्र थे। इनका नाम था—नलकूबर और मणिग्रीव। ये नारदमुनि के शाप के कारण वृक्ष-योनियों को प्राप्त हुए थे ॥९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

## दसवाँ अध्याय

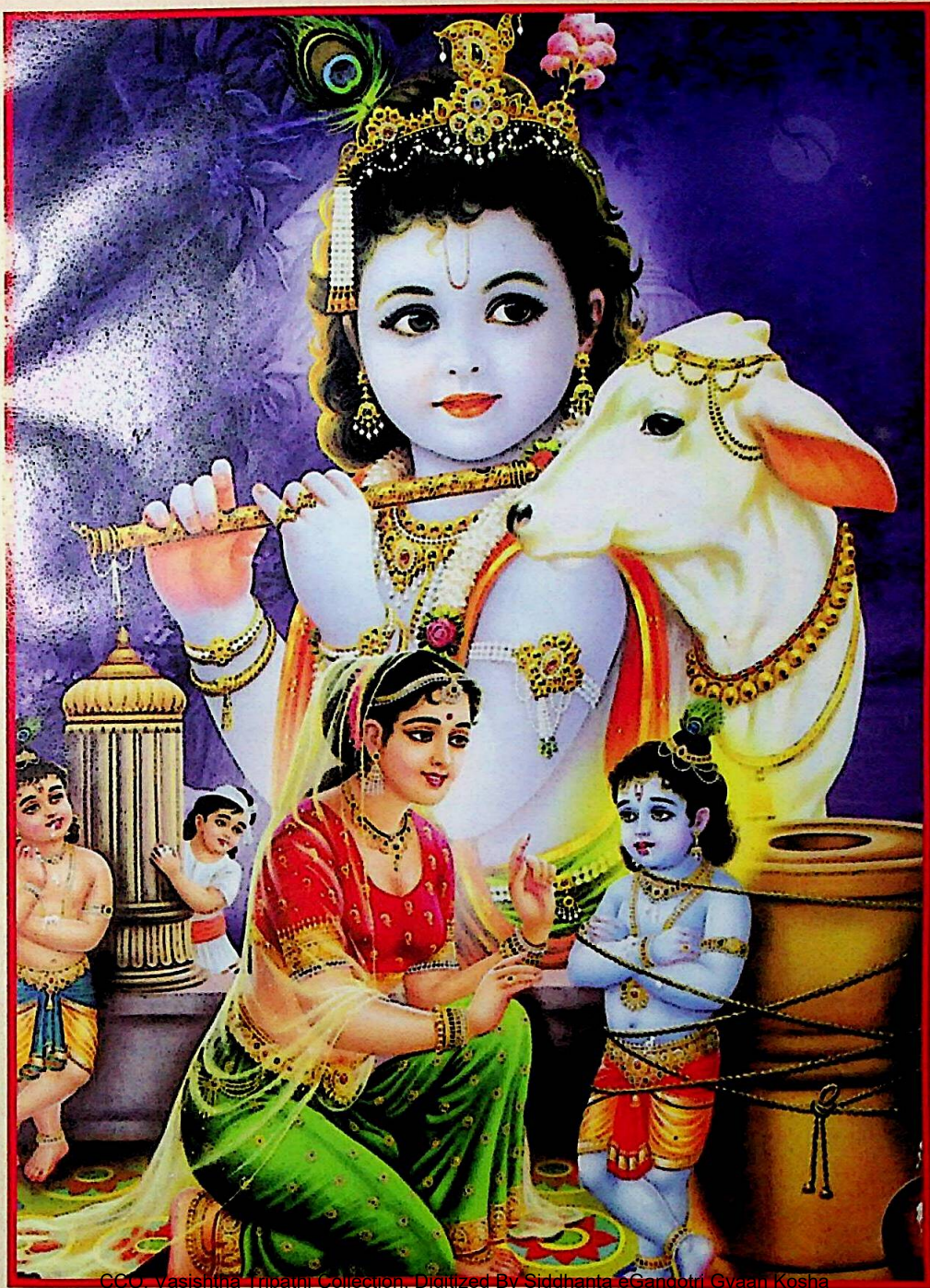
( यमलार्जुन का उद्धार )

राजा परीक्षित जी ने पूछा—भगवन्, आप कृपा करके यह बतलाइये कि नलकूबर और मणिग्रीव का कौन-सा अपराध था ? जिस पर क्रुद्ध होकर देवर्षि नारद ने उन्हें शाप दिया—

कथ्यतां भगवन्नेतत्तयोः शापस्य कारणम् । यत्तद् विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षेस्तमः ॥१०/१०/१

राजा के प्रश्न को सुनकर श्री शुकदेव महाराज ने कहना प्रारम्भ किया—परीक्षित, नलकूबर और मणिग्रीव एक तो धनाध्यक्ष कुबेर जैसे धनी बाप के बेटे थे और दूसरी बात यह है कि उनकी गणना प्रलयङ्कर शङ्कर के अनुचरों में होने लगी थी अतः उन्हें बड़ा घमण्ड हो गया था। एक दिन वे दोनों मदिरा पीकर उन्मत्त हो, कैलास के मनोरम उपवन में अप्सराओं के साथ घूमते हुए मन्दाकिनी के परम पवित्र तट पर जा पहुँचे। उस समय विकसित कमलों के कारण मन्दाकिनी की अपूर्वशोभा हो रही थी। वहाँ पहुँच कर उन दोनों ने अप्सराओं के साथ गङ्गाजल में नग्न











होकर विहार प्रारम्भ किया। उस समय वे विविध क्रीडाओं में निरत थे। भगवान् की अनिर्वचनीय कृपा से उसी समय देवर्षि नारद जी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने समझा की ये मदिरा के नशे में धुत हैं। देवर्षि को देखकर स्त्रियाँ तो भागकर वस्त्र धारण कर लीं किन्तु मदिरा से मत्त और धन-मद से चूर नलकूबर-मणिग्रीव नंगे ही रहे। यह देखकर नारद जी उन दोनों पर अनुग्रह करने के लिये और इन्हें भी भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त हो जाय—“तयोरनुग्रहार्थाय” ॥७॥ इस विचार से शाप देते हुए कहा—इस संसार में श्रीमद, धनमद सब से महान् है। ऐसा मद सत्कुल में जन्म तथा विद्या से भी नहीं होता। घर में धन की अधिकता होने पर—मद्यपान, परस्त्रीगमन और द्यूतक्रीडा आदि दुर्गुण स्वाभाविक रीति से चले आते हैं। ऐश्वर्यमद और श्रीमद से अन्धे होकर व्यक्ति अपने को अजर-अमर समझते हुए प्राणियों की हत्या किया करते हैं। अण्डे, मांस आदि घृणित भोजन के आदी बन जाते हैं। उन्हें दूसरों के दुःख-कष्ट की अनुभूति नहीं होती। किसी भी प्राणी को डाँटने, फटकारने, मारने यहाँ तक कि वध करने में भी वे हिचकते नहीं हैं। इसीलिये श्रीमदान्ध असत् पुरुषों को दरिद्र बना देना उनकी आँखों में अञ्जन लगाना है क्योंकि दरिद्र हो जाने पर ही वे दरिद्रता के दुःख को समझ सकते हैं। जिस के पैर में बिवाय फटती है, वही बिवाय के फटने के कष्ट को जानता है और जिसके पैर में बिवाय नहीं फटी वह दूसरे की बिवाय के कष्ट को क्या जाने, इसीलिये तुलसीदास ने कहा है कि—“जाके कबहु न फटी बिवाई। सो का जाने पीर पराई” ॥ मानस ॥ अतः दरिद्रता सब रोगों की एक दवा है। दरिद्र व्यक्ति में अहङ्कार नहीं होगा, मद नहीं होगा और उसे जो कष्ट मिलेगा, वह उसकी तपस्या हो जायेगी। दरिद्र व्यक्ति दूसरे प्राणियों को अपने ही समान समझता है—

असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमञ्जनम् । आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥१०/१०/१३  
दरिद्रो निरहस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह । कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥

१०/१०/१५

जिसे प्रतिदिन अन्न के लाले पड़े रहते हैं, भूख के मारे जिसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है, इन्द्रियाँ सूख गई हैं, उसकी हिंसा की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। महात्मा लोग भी भिक्षा के लिये धनिकों के द्वार पर न जाकर प्रायः दरिद्रों के यहाँ ही जाया करते हैं। उनकी सङ्गति से दरिद्रों की धन की तृष्णा भी समाप्त हो जाती है। तृष्णा के समाप्त होते ही उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। भगवान् के चरण-कमलों के रस-पिपासु महात्माओं का धन से उन्मत्त व्यक्तियों से क्या लेना-देना ? वे तो उनकी उपेक्षा ही किया करते हैं।

तो मैं वारुणी से मतवाले धन-मद से अन्धे स्त्री-लम्पट एवं अजितेन्द्रिय इन कुबेर-पुत्रों के मद को चूर-चूर कर दूँगा। इनकी दुष्टता तो देखो। लोक-पाल कुबेर के पुत्र होकर भी इनको इस बात का पता नहीं है कि हम बिल्कुल नंग-धड़ंग हैं। दूँठ वृक्ष की भाँति खड़े हैं इसलिये ये दोनों वृक्ष हो जाँय, जिससे इन्हें फिर इस प्रकार का अभिमान न हो। किन्तु मेरे प्रसाद से वृक्ष-योनि में भी इन्हें शाप की स्मृति बनी रहेगी। दिव्य सौ वर्षों के अनन्तर इन्हें भगवान् श्रीकृष्ण का संसर्ग प्राप्त होगा फिर भगवान् के चरणों में परम प्रेम प्राप्त करके ये अपने लोक में चले आयेंगे।

राजन्, यह कह कर नारद जी नर-नारायण के आश्रम पर चले गये। शाप और वरदान से तपस्या क्षीण होती है। नलकूबर-मणिग्रीव को शाप देने के पश्चात् नर-नारायण आश्रम की यात्रा करने का यह अभिप्राय है कि फिर से तपःसञ्चय कर लिया जाय। नारायण नारद के गुरु और आराध्य—दोनों ही हैं।

इधर नलकूबर और मणिग्रीव नारद के शाप के कारण अर्जुन के दो पेड़ बन कर नन्द बाबा के भवन के पूर्वार्ध द्वार के पास में उगे। भगवान् अपनी बात भले ही झूठी कर दें, किन्तु वे भक्त की बात कभी भी झूठी नहीं होने देते। भगवान् जैसा भक्तवत्सल, भक्त-परतन्त्र एवं भक्त-भक्तिमान् तो कोई दूसरा है ही नहीं। उनका स्वयं कथन है कि—  
“अहं भक्तपराधीनः” ॥ भाग० ९/४/६३॥



अतः नारद जी का वचन सत्य सिद्ध करने के लिये भगवान् वहाँ धीरे-धीरे चलकर आये, जहाँ अर्जुन वृक्ष का जोड़ा खड़ा था—“जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ” ॥१०/१०/२४॥ उन्होंने सोचा कि—देवर्षि नारद मेरे अत्यन्त प्रिय भक्त हैं और ये दोनों भी हमारे भक्त कुबेर के पुत्र हैं अतः महात्मा नारद ने जो कुछ कहा है, उसे मैं ठीक उसी रूप में पूरा करूँगा। यह विचार कर भगवान् श्रीकृष्ण दोनों वृक्षों के बीच में घुस गये। वे तो दूसरी ओर निकल गये, परन्तु उलूखल टेढ़ा होकर अटक गया—“तिर्यग्गतमुलूखलम्” ॥२६॥ वह तो खल था ही। खल का स्वभाव होता है—तिरछा होना/टेढ़ा होना ॥

जब भगवान् ने जोर लगाकर उलूखल खींचा तब धक्का लगने से दोनों वृक्ष चट-चटा कर धड़ाम से भूतल पर गिर पड़े। उनके गिरते ही उनमें से अग्नि के समान तेजस्वी दो देवता प्रकट हुए। उन लोगों ने हाथ जोड़ कर नतमस्तक हो भगवान् के सगुण-निर्गुण रूपों का वर्णन करते हुए अन्त में कहा—प्रभो, हमारी वाणी आप के मङ्गलमय गुणों का वर्णन करती रहे। हमारे कान आप की रसमयी कथा के श्रवण में लगे रहें। हमारे हाथ आप की सेवा में और मन आपके चरण-कमलों की स्मृति में रमे रहें। हमारा मस्तक आप के निवासभूत संसार को प्रणाम करने में लगा रहे। हमारे नेत्र आप के शरीर रूप भक्तों के दर्शन से निहाल होते रहें—

वाणी गुणानुकथने श्रवणी कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोः ।

स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दशनिऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥१०/१०/३८

राजन्, नलकूबर-मणिग्रीव की प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान् ने कहा—ठीक है, जाओ तुम्हारे सकल मनोरथ पूरे होंगे—“सफल मनोरथ होंहि तुम्हारे।” ऋषि ने शाप देकर तुम लोगों पर अनुग्रह ही किया है। यह उनके अनुग्रह का ही फल है कि मेरा सुदुर्लभ दर्शन तुम लोगों को मिल सका। अब तुम लोग आनन्दपूर्वक अपने लोक को चले जाओ।

जब भगवान् ने इस प्रकार कहा, तब उन दोनों ने भगवान् की परिक्रमा की और बार-बार प्रणाम किया। इसके बाद ऊखल में बाँधे हुए भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर उन लोगों ने उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया—

इत्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः । बद्धोलूखमामन्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम् ॥

१०/१०/४३

महात्माओं का कथन है कि भगवान् की योगमाया ने वृक्षों के गिरने की ध्वनि को तब तक बाँधे रक्खा, रोके रक्खा जब तक की अपनी बात पूरी करके नलकूबर और मणिग्रीव वहाँ से चले नहीं गये अन्यथा वृक्षों के गिरने की आवाज से लोग एकत्रित हो जाते और नारद का अनुग्रह अधूरा रह जाता इसलिये योगमाया ने वृक्ष-भङ्ग की ध्वनि को तब तक के लिये बाँधे रक्खा, रोके रक्खा जब तक कि नलकूबर-मणिग्रीव का उद्धार नहीं हो गया।

भक्त-परम्परा के अनुसार आगे चल कर नलकूबर और मणिग्रीव गोलोक धाम में ‘स्निग्ध’ और ‘मधुकण्ठ’ बने। वे दोनों वहाँ कृष्ण-लीला में नित्य कीर्तन किया करते हैं।

यशोदा ने कहैया को बाँधा क्या, उन्होंने उन्हें एक नया नाम ही दे डाला—दामोदर। दाम माने रस्सी है बाँधी उदर=कमर में जिसके वह है—दामोदर। यह नाम कृष्ण की भक्ति-वश्यता को प्रदर्शित करता है। भक्त-मण्डली में भगवान् का यह नाम अतिशय प्रिय है ॥१०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

१. सीयराममय सब जग जानी। करऊँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥ —॥ श्रीरामचरितमानस ॥



## ग्यारहवाँ अध्याय

( गोकुल से वृन्दावन-गमन, फलविक्रयिणी पर अनुग्रह और वत्सासुर तथा बकासुर का उद्धार )

वृक्षों के गिरने से बड़ा भयङ्कर शब्द हुआ। उसे सुन कर नन्द आदि गोप वज्रपात की आशङ्का से दौड़कर वहाँ आ पहुँचे—

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् । तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निघातभयशङ्किताः ।।

१०/११/१

उन लोगों ने देखा कि अर्जुन के दोनों विशाल वृक्ष धराशायी हो गये हैं। उनके गिरने का कारण रस्सी से बँधे उलूखल को खींचता हुआ बालक, यद्यपि उनके सामने ही था। किन्तु वे उसे न जान कर भ्रम में पड़ गये। वे परस्पर आशङ्का व्यक्त करते हुए कहने लगे—यह किसका कार्य है, ऐसी आश्चर्यजनक दुर्घटना कैसे घट गई ? यह उत्पात कैसे हुआ ? वहीं कुछ बालक खेल रहे थे। उन्होंने कहा—अरे, यह काम तो इसी कन्हैया का है। यह दोनों वृक्षों के बीच में से होकर निकल रहा था। ऊखल तिरछा हो जाने पर दूसरी ओर से इसने उसे खींचा और वृक्ष गिर पड़े। हम लोगों ने तो इनमें से निकलते हुए दो पुरुषों को भी देखा है। परन्तु गोपों ने बालकों की बात न मानी। वे कहने लगे—एक नन्हा-सा बालक इतने विशाल वृक्षों को उखाड़ डाले, यह कभी सम्भव नहीं है। किसी-किसी के चित्त में श्रीकृष्ण की पहले की लीलाओं का स्मरण करके सन्देह भी हो आया। नन्दबाबा ने देखा उनका प्राणप्रिय कन्हैया रस्सी से बँधा हुआ ऊखल घसीटता जा रहा है। उसे देखकर वे हँसने लगे और जल्दी से जाकर रस्सी की गाँठ खोल दी।

हृदय—नन्द बाबा के हँसने का कारण यह है कि कन्हैया कहीं यह सोचकर डर न जाय कि जब माँ ने बाँध दिया, तब पिताजी आकर पीटने न लगे। हँस कर नन्द ने लाला को निर्भय बना दिया। माता ने बाँधा और पिता ने छोड़ा। भगवान् श्रीकृष्ण की लीला से यह बात सिद्ध हुई कि उनके स्वरूप में बन्धन और मुक्त की कल्पना करनेवाले दूसरे ही हैं। वे स्वयं न बद्ध हैं, न मुक्त हैं।

आज नन्द बाबा को अवसर मिला। वे लाला से कहने लगे—देख, लाला, मैया ने बाँधा था और मैंने तुझे खोल दिया। अब बता तू किसका बेटा है ? लाला—बाबा, अब तक तो मैं मैया का बेटा था किन्तु आज से मैं आपका बेटा हूँ।

इसके पूर्व जब कभी नन्द बाबा पूछते थे तो कन्हैया का उत्तर होता था—मैं मैया का बेटा हूँ। किन्तु आज नन्द बाबा की इच्छा पूरी हो गई।

नन्द बाबा यशोदा को डाँटने लगे—लाला भले ही गलती करे, किन्तु इसे तू ने बाँधा ही क्यों ? बाँधते समय तुझे दया भी न आई ?

यशोदा ने सोचा आज सभी उसे दोषी बतला रहे हैं। सभी डाँट रहे हैं। उसे चोरी की आदत पड़ती जा रही है। उसे छुड़ाने के लिये ही मैंने स्नेहवश उसे बाँधा था।

बार-बार बुलाने पर भी आज लाला मैया के पास नहीं जा रहा है। वह कह रहा है कि मैं तेरा बेटा नहीं, बाबा का बेटा हूँ। बेटे की बात को सुन कर यशोदा ने सोचा कि गोपियों और बालकों ने रो-रोकर मना किया था फिर भी निष्ठुर बन कर मैंने लाला को बाँध दिया अतः वह रूठ गया है। वे रोने लगीं कि लाला कब मेरी गोद में आयेगा ? मैया का रोना कन्हैया को बर्दास्त न हुआ। वह बाबा के कन्धे से उतर कर धीरे-से गोपियों के बीच से होता हुआ मैया की गोद में आ गया और अपने पीताम्बर की छोर से मैया की आँखों से आँसू पोछने लगा।



यशोदा ने सोचा—मेरा कन्हैया कितना सयाना है ! वे विनती के स्वर में कहने लगीं—लाला, मैंने तुझे बाँध कर अच्छा नहीं किया था । इसे तुम अपने मन में मत रखना । मेरे लाला, इस प्रसङ्ग को तुम भुला देना ।

कन्हैया ने माता के आँचल को खींचते हुए कहा—मेरी प्यारी-प्यारी मैया, मैं सब कुछ भूल सकता हूँ किन्तु तेरा प्यार कभी नहीं भूल पाऊँगा । मैया, मैं यह कैसे विस्मृत कर पाऊँगा कि कभी तूने मुझे अपने प्यार के बन्धन में बाँधा था ।

यह तो गोकुल की एक मुख्य लीला है, जिसने कृष्ण को भक्त-मण्डली में 'दामोदर' इस नाम से प्रसिद्ध कर दिया । ज्ञानी ज्ञान के बल पर ईश्वर का साक्षात्कार तो कर सकता है, किन्तु उसके ज्ञान में यह शक्ति नहीं कि वह ईश्वर को बाँध सके । ईश्वर को बाँधने की शक्ति तो एकमात्र भक्ति में ही है अतः भक्ति ज्ञान से बढ़ कर है\* ।

कई बार गोपियाँ यशोदा के घर आकर कन्हैया से प्रेमभरी विनती करतीं—कान्हा, तू हमारे घर चलेगा ? कन्हैया कहते कि—हाँ-हाँ चलूँगा । पर तुम मुझे क्या दोगी ? गोपी कहती अच्छा तो बतला तू क्या लेगा ? कन्हैया कहता—माखन । गोपी हँस कर पूछती—कितना माखन लेगा ? कन्हैया दोनों हाथ फैला कर कहता—इतना । इस पर गोपी ठहाका लगाकर कहती—अरे मेरे लाला, इतना माखन तू क्या करेगा ? कन्हैया कहता—मैं अपने साथियों को भी खिलाऊँगा । गोपी कहती—अच्छा चल लाला । कन्हैया गोपी की उँगली पकड़ कर चल देते ।

घर जाकर गोपी सोचती कि—यदि कन्हैया के हाथ पर माखन रख दूँगी तो यह चला जायेगा अतः इसे कुछ देर फँसाए रखने के लिये वह कहता—लाला, जरा नाच तो दिखला दे तो तुझे माखन दूँ । लाला गोपियों की प्रसन्नता के लिये उनके आँगन में मटक-मटक कर ता-ता थैया, ता-ता थैया नाचने लगते । यह देखकर गोपियाँ चुटकी बजातीं, ताली बजातीं और हा-हा कर हँसती थीं, इसी दृश्य पर किसी पूज्य कवि ने कहा—“ब्रह्म नाचि रह्यो चुटकिन पै ब्रज में” । कन्हैया के पैर में बँधे घुँघुरू इस नृत्य में वाद्य का कार्य करते थे । नाचते-नाचते जब कन्हैया थक जाता तो गोपी उसे गोद में उठाकर हिलोरे लेने लगती ।

कन्हैया ने कहा—अच्छा गोपी अब तो माखन दे दो । गोपी ने कहा हाँ-हाँ, दे रही हूँ । तब तक लाला जरा मेरा वह पीढ़ा तो लाकर यहाँ रख दो । उस पर कन्हैया दौड़कर जाते और जैसे-तैसे जोर लगा कर उसके पीढ़े को लाकर रख देते । कभी तौल के बटखरे को लाते । कभी खड़ाऊँ लाते, तो कभी अपने प्रेमी भक्तों को आनन्दित करने के लिये ताल ठोंकते । इस प्रकार 'विधि हरि शंभु नचावनि हारे' भगवान् श्रीकृष्ण नित्य गोपियों को आह्लादित करते थे । गोपियों के इसी सौभाग्य को देखकर किसी कवि ने कहा है—

यदपि यशोदा नन्द अरु ग्वाल-बाल सब धन्य । पै या जग में प्रेम की गोपी भई अनन्य ॥

एक दिन एक गोपी ने यशोदा मैया से कुछ टोकरी गोबर माँगा । मैया ने कहा—हाँ-हाँ लेजा जितना ले जाना चाहो । गोपी ने गोबर से टोकरी भरकर कन्हैया से कहा—लाला जरा टोकरी उठवा दो । जितनी टोकरी उठवाओगे उतना माखन का लोंदा तुम्हें दूँगी । कन्हैया ने कहा कि—कहीं ऐसा न हो कि तुम ज्यादा टोकरियाँ उठवाओ और कम लोंदा दो । ग्वालिन ने कहा—नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होगा । याद रखने के लिये लाओ तुम्हारे माथे पर गोबर का टीका लगाती जाऊँगी । किन्तु कन्हैया की बाँकी झाँकी पर न्योछावर हुई गोपी सुध-बुध भूल गई और कृष्ण के सारे मुख-मण्डल पर गोबर के टीके-ही-टीके लग गये—“गोमय-मण्डित-भाल-कपोलम्” ।

१. जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई । सो मम भगति भगत सुखदाई ॥

सो सुतन्त्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ज्ञान-विज्ञाना ॥ रामचरितमानस ॥



इस प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् अपनी मधुर-मधुर बाल-लीलाओं से ब्रजवासियों को आनन्दित करते और संसार को यह दिखलाते कि मैं अपने भक्तों के कितना वश में हूँ—

दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम् । ब्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः ॥

१०/११/९

सुखिया मालिन की कथा—ब्रज में एक मालिन रहती थी । उसका नाम था सुखिया । सुखिया की प्रबल इच्छा थी कि वह कन्हैया को फल दे । इसलिए वह नन्द बाबा के घर के सामने चक्कर काटती हुई रोज बोलती थी—फल ले लो, फल ले लो । मन से कृष्ण का चिन्तन कहती हुई वह फल बेचने की बात कहती थी । चिन्तन की प्रगाढ़ अवस्था में वह कभी-कभी बोलने लगती थी—कृष्ण ले लो, कन्हैया ले लो । प्रतिदिन की यही उसकी आदत थी । दिन बीते, महीने बीते । उसकी साधना पूरी हुई । एक दिन जब सुखिया नन्द बाबा के द्वार पर आवाज लगा रही थी तभी कन्हैया घर के भीतर से हाथ पसारे दौड़ा आया—दे दो मालिन हम को फल । छोटा-सा सुन्दर साँवला-सा बालक । शरीर पर पीताम्बर शोभित था । कमर नीली काछनी से कसी थी । शिर पर मयूर पिच्छ लहरा रहा था । आँखों में काजल और पावों में पैजनी । उन अशेष-शेखर को मैया ने इस प्रकार सजाया था मानों वसन्त में बहार आ गई हो । सुखिया ने कन्हैया को देखा तो उगी-सी देखती ही रह गई । यशोदा मैया ने इस दृश्य को देखा । उन्होंने कहा—देखना मालिन, कहीं हमारे लाला को नजर मत लगा देना ।

कन्हैया मालिन के सामने हाथ पसारे खड़ा था । मालिन कुछ और क्षणों तक कृष्ण की बाँकी झाँकी का आनन्द लेना चाहती थी अतः उसने लाला को बातों में फँसाये रक्खा रहा अतः बोली—लाला, मैं फल देने नहीं, बेचने आई हूँ । मुझे अनाज दो तो मैं तुम्हें फल दूँगी । मालिन की बात सुनकर कन्हैया दौड़कर भीतर गया । अँजुली में अनाज भरा और फिर दौड़ा मालिन की ओर । अँजुली से सारा धान्य इधर-उधर छिटक कर गिर गया । जो पाँच-दस दाने बचे थे उन्हें मालिन की टोकरी में डालते हुए कन्हैया ने कहा—दो मालिन, अब फल । मालिन ने बड़े दुलार से कृष्ण को गोद में बैठाया और फिर फलों से भरने लगी लाला की अँजुली को । महान् आश्चर्य ! टोकरी का सारा फल कन्हैया की अँजुली में समा गया । सुखिया सुखी हो गई । कन्हैया भाग कर घर के भीतर गया । धन्य-धन्य मालिन टोकरी शिर पर रखकर अपने घर की ओर चली । आज सुखिया के भाग्य की सराहना ब्रह्मा आदि देवता कर रहे थे । जो अखिल ब्रह्माण्ड के फल का दाता है, उसे आज एक साधारण-सी मालिन फल दे रही है ।

घर पहुँच कर मालिन ने टोकरी नीचे उतारी । कपड़ा हटाकर देखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा । पूरी टोकरी बहुमूल्य रत्नों से खचाखच भरी थी । धन्य धन्य हो गई सुखिया मालिन । आज उसकी जन्म-जन्मान्तर की दरिद्रता का समूल उन्मूलन हो गया । उसने अपने जीवन में कृष्ण-दर्शन और कृष्णकीर्तन का अखण्ड व्रत धारण कर लिया—

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम् । फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ॥१०/११/११

हृदय—मालिन जीव का प्रतीक है । फल सत्कर्मों के फल हैं । टोकरी बुद्धि का प्रतीक है । रत्न ब्रह्मज्ञान है । जो जीव अपने सत्कर्मों का फल भगवान् को अर्पित करता है, उसकी बुद्धिरूपी टोकरी को भगवान् ब्रह्म-विद्यारूपी रत्नों से ब्रह्म-ज्ञानरूपी रत्नों से भर देते हैं । दो श्लोकों में वर्णित इस कथा का यही हृदय है, अभिप्राय है । भगवद्गीता में कहा गया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥११/२७

फलविक्रयिणी को कृतार्थ कर कृष्ण-बलदाऊँ और ग्वालबालों के साथ यमुना के सुकोमल तट पर खेलने चले



गये। भोजन की बेला हो गई थी। नन्द बाबा भोजन करने चौंके पर बैठ गये थे। उन्होंने कहा—कृष्ण और बलराम को बुलाओ साथ ही भोजन करेंगे। रोहिणी जी बुलाने गई किन्तु दोनों बालक गोपबालकों के साथ इस प्रकार क्रीडा-मग्न थे कि बार-बार बुलाने पर भी नहीं आये। निराश होकर रोहिणी जी लौट आई। उन्होंने यशोदा को भेजा। यशोदा के बुलाने पर दोनों भैया हाथ पकड़े हुए मैया के पास दौड़ आये। यशोदा दोनों बालकों का हाथ पकड़ कर घर ले आई। स्नान कराया। अलङ्कृत किया। जन्मदिन था अतः गोदान करवाया फिर भोजन कराकर शय्या पर सुला दिया।

॥ भगवान् की गोकुल-लीला यहाँ आकर पूरी हुई ॥

॥ वे पाँच वर्ष तक गोकुल में रह कर लीला किये ॥

॥ आगे वृन्दावन-लीला प्रारम्भ होने जा रही है ॥

गोकुल में, महावन में रह-रह कर बड़े-बड़े उत्पात होने लगे। सारा गोकुल कृष्ण को प्राणों से भी अधिक प्यार करता था अतः एक बार गोकुल के बड़े-बूढ़ों के मन में यह विचार आया कि यहाँ बड़े-बड़े अनर्थकारी उत्पात हो रहे हैं। इस स्थिति में क्या करना चाहिये? वे सभी एकत्रित हुए और परस्पर विचार-विमर्श करने लगे। उनमें उपनन्द जी वय और ज्ञान में सबसे बड़े थे। कहीं-कहीं आता है कि उपनन्द जी नन्द के छोटे भाई थे। वे देश-काल एवं प्रयोजन को भली-भाँति समझते थे। उन्होंने भी सभा में खड़े होकर कहा कि—अब गोकुल में हमारे बालकों का रहना निरापद नहीं है। इसलिये हमें इस स्थान का परित्याग कर कहीं और चलना चाहिये। देखिये हमारा कन्हैया पूतना से बच गया, छकड़ा के नीचे दबने से बच गया, बवण्डर से बच गया, और अब पेड़ों के बीच में आकर भी, उनके गिरने पर, घायल होने से बच गया। भगवान् की हम लोगों पर यह बड़ी भारी कृपा है कि नन्दराय का छोरा बराबर सकुशल बचता चला आया किन्तु अब दूसरा उत्पात आने के पहले ही हमें गोकुल छोड़ देना चाहिये। दूसरी बात यह है कि यहाँ से थोड़ी ही दूर पर 'वृन्दावन' नाम का एक वन है। उसमें छोटे-छोटे और भी बहुत-से नये-नये हरे-भरे वन हैं। वहाँ बड़ा-ही पवित्र पर्वत, घास और हरी भरी लता-वनस्पतियाँ हैं। हमारे पशुओं के लिये तो वह बहुत-ही हितकारी है। गोप, गोपी और गायों के लिये सुख-सुविधा की सारी वस्तुएँ वहाँ प्राप्त हैं—

वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम्<sup>१</sup>। गोप-गोपी-गवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥

१०/११/२८

बालकों के खेलने के लिये भी वहाँ बहुत-से अवान्तर वन हैं। तो हमारा यह प्रस्ताव यदि आप लोगों को रुचिकर प्रतीत हो तो आज ही हम लोग वहाँ के लिये प्रस्थान कर दें। विलम्ब न करें, गाड़ी-छकड़े जोतें और पहले गायों को, जो हमारी एकमात्र सम्पत्ति हैं, वहाँ भेज दें।

उपनन्द की बात सुन कर सभी ने एक स्वर से “बहुत ठीक है, बहुत ठीक है” कह कर उनके प्रस्ताव का समर्थन किया। इसके बाद सब लोगों ने अपनी झुण्ड-की-झुण्ड गाँयें इकट्ठी कीं और छकड़ों पर घर की सारी सामग्री लाद कर वृन्दावन<sup>२</sup> की यात्रा की। परीक्षित, ग्वालों ने वृद्धों, बालकों, स्त्रियों और सब सामग्रियों को छकड़ों पर चढ़ा

१. नवकाननम्—(क) नवानि नूतनानि काननानि अवान्तरवनानि यस्मिन् तत्। जिसमें और कई नये-नये अवान्तर वन हैं। (ख) नूयते स्तूयते इति नवं स्तुतं कं जलं यस्या सा नवका कालिन्दी आनने अग्रे यस्य तत्। जिसके अग्रभाग में पवित्र जलवाली यमुना विराजमान है। (ग) कः ककारः आनने मुखे आदौ येषां ते काननाः कदम्बकरील-केशरादयो वृक्षाः, नवा नित्यनूतना यस्मिन् तत्।

२. महाराज केदार की बेटी वृन्दा ने भगवान् को प्रसन्न करने के लिये कभी यहाँ बहुत बड़ी तपस्या की थी। तभी से यह वन वृन्दावन नाम से विख्यात हो गया।



दिया। फिर वे धनुष-बाण लेकर बड़ी सावधानी से उनके पीछे-पीछे चले। सुखकर वृन्दावन में पहुँच कर पहले ग्वाल्लों ने अस्थायी रूप से रहने के लिये अपने छकड़ों को अर्धचन्द्राकार मण्डल बाँध कर खड़ा कर दिया और अपनी गायों के लिये योग्य स्थान बना लिया। बाद में सुन्दर भवनों का निर्माण कराकर वे सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे। वृन्दावन, गोवर्धन और यमुना के आकर्षक तटों को देखकर बलराम और कृष्ण को बड़ी प्रसन्नता हुई—

वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती रामकेशवयोर्युतम् ॥१०/११/३६

राम और श्याम दोनों ही अपनी तोतली बोली और अत्यन्त मधुर बालोचित लीलाओं से गोकुल की तरह, वृन्दावन में भी व्रजवासियों को आनन्दित करते रहे। थोड़े ही दिनों में समय आने पर वे दोनों भाई, ग्वाल-बालों के साथ बछड़े चराने आस-पास के जंगलों में जाने लगे—“वत्सपालौ बभूवतुः” ॥३७॥ कृष्ण ग्यारहवें अध्याय से १४वें अध्याय तक वत्सपाल हैं और आगे गोपाल। साथियों के साथ बछड़े चराते हुए वे कहीं बाँसुरी बजावें, कहीं ढपली बजावें, कहीं पाँव के नूपुरों से रुनझुन रुन-झुन ध्वनि करें और कहीं साँड़ बन कर हँकड़ते हुए आपस में भिड़ने लगे। कहीं पक्षियों की आवाज में बोलें, तो कहीं बन्दरों की नकल करें। इस प्रकार उनका समय बड़े आनन्द से बीतने लगा।

वत्सासुर का उन्धार—एक दिन की घटना है। श्याम और बलराम अपने साथी ग्वालबालों के साथ यमुना के तट पर बछड़े चरा रहे थे। उसी समय उनको मारने की नीयत से एक दैत्य आया। यह बछड़े का रूप धारण कर बछड़ों में जा मिला। कृष्ण तो भगवान् ठहरे। वे सब के मन की बात जाननेवाले हैं। बछड़े के रूप में दैत्य के आने की बात उनसे छिपी न रही। उन्होंने आँखों से ही बलराम को संकेत किया फिर वे धीरे-धीरे उसके पास पहुँच गये। उस समय ऐसा प्रतीत होता था, मानो वे दैत्य को तो पहचानते ही नहीं और उस स्वस्थ सुन्दर बछड़े पर मुग्ध हो गये हैं। पीठ पर हाथ रख कर सहलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने पूँछ के साथ उसके दोनों पिछड़े पैरों को पकड़ कर ऊपर उठा लिया और आकाश में घुमाना शुरू किया। वे उसे आकाश में तब तक घुमाते रहे जब तक वह निष्पाण न हो गया। निष्पाण हो जाने पर उन्होंने उसे पास में स्थित कैथ के पेड़ पर दे मारा। उसके भारी भरकम शरीर के धक्के से एक साथ कई वृक्ष धराशायी हो गये। यह देखकर ग्वालबालों के आश्चर्य की सीमा न रही। वे “वाह-वाह” कह के अपने प्रिय कन्हैया की प्रशंसा करने लगे। देव-मण्डली भी आनन्द-मग्न हो कृष्ण पर फूलों की वर्षा करने लगी।

वत्सासुर को मार कर भगवान् श्रीकृष्ण ने वृन्दावन की भूमि पर असुरसंहार का श्रीगणेश किया।

हृदय—वत्स = बच्चा = वत्सासुर अज्ञान का प्रतीक है। अज्ञान ब्रह्म को भी तिरस्कृत करने की, मारने की चेष्टा करता है। अज्ञान ब्रह्म को, ज्ञान को ढकना चाहता है किन्तु ब्रह्म के सामने, ज्ञान के सामने टिक नहीं पाता, वह स्वयं विनष्ट हो जाता है। यही रहस्य है वत्सासुर के आने और मारे जाने का।

वत्सासुर का पूर्वजन्म—वत्सासुर अपने पूर्व जन्म में एक भयङ्कर दैत्य था। इसके बाप का नाम था—मुर और इसका नाम था प्रमील। घूमते-घूमते एक दिन प्रमील महर्षि वसिष्ठ जी के आश्रम में जा पहुँचा। वहाँ उसने महर्षि की गाय नन्दिनी को देखा। झट-पट उसने ब्राह्मण का रूप धारण कर वसिष्ठ जी से नन्दिनी की याचना की। बनावटी ब्राह्मण की बात सुनकर सर्वज्ञ वसिष्ठ चुप रहे। उन्होंने कुछ कहा नहीं किन्तु नन्दिनी से न रहा गया। उसने मनुष्य

१. इससे भगवान् ने यह प्रदर्शित किया कि जो हमारे साथ कपट करते हैं, मैं भी उनके साथ कपट करता हूँ। गीता में स्वयं उनका वचन भी है—“ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥४/११॥



की वाणी में कहा—अरे दुष्ट, तू दैत्य है और ब्राह्मण का वेश धारण कर गाय लेने आया है इसलिये जा तू गो-वत्स ही हो जा । गाय का वछड़ा बन जा । बाद में क्षमा मांगने पर गिड़-गिड़ाने पर नन्दिनी ने कहा कृष्ण के हाथों से तुम्हारा उद्धार हो जायेगा ॥

**बकासुर का उद्धार**—शुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, सारे ब्रह्माण्ड के एकमात्र नियन्ता श्याम और बलराम वृन्दावन में आकर वत्सपाल बने हुए हैं । वे तड़के ही उठ कर नहाते-धोते और कलेवे की सामग्री को लेकर बछड़ों को चराते हुए एक वन से दूसरे वन में घूमा करते थे । एक दिन की बात है सब ग्वालबाल अपने झुण्ड-के-झुण्ड बछड़ों को पानी पिलाने के लिये यमुना के तट पर गये । वहाँ उन लोगों ने बछड़ों को जल पिलाया और स्वयं भी पिया । ग्वालबालों ने फिर वहाँ देखा कि एक विशालकाय श्वेत पक्षी बैठा हुआ है । वे उसे देखकर डर गये । वह एक बड़ा भयङ्कर असुर था । उस का नाम था—बक । वह बगुले के रूप में रहता था । उसकी चोंच वज्र-सी कठोर और तीखी थी । वह स्वयं भी महान् बलवान् था । ग्वालबालों के सामने आने पर उसने झपट कर श्रीकृष्ण को निगल लिया । यह देखकर बलराम-सहित सारे ग्वालबाल घबड़ा कर अचेत हो गये किन्तु श्रीकृष्ण अन्दर जाकर अग्नि के समान उष्ण बन गये । इससे उसका तालुमूल जलने लगा । जब उसे सहन नहीं हुआ, तब उसने कृष्ण को उगल दिया । जब कृष्ण बाहर आ गये तब चोंच से प्रहार करने के लिये वह उन पर झपट पड़ा । नटनागर भगवान् कृष्ण ने पैतरा बदल कर झटसे उसकी ऊपर नीचे की दोनों चोंचों को पकड़ कर के वैसे ही फाड़ डाला, जैसे कोई सींक फाड़ता है । निष्पाण दैत्य धड़ाम से भूतल पर गिर कर मर गया । बकासुर के मरते ही आकाश में स्थित देवों ने जय-जयकार करते हुए फूलों की वर्षा की । सारे गोप-बालक यह लीला देखकर आश्चर्य से चकित रह गये ।

शाम को जब सब ब्रज-बालक बछड़ों को लेकर ब्रज में आये तब वहाँ उन्होंने घर के लोगों से सारी घटना कह सुनाई । बकासुर के वध की घटना सुन कर सब-के-सब गोपी-गोप आश्चर्य से चकित हो गये । उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो कन्हैया मृत्यु के मुख में जाकर लौटा हो । वे सभी कृष्ण को निहारते हुए अघाते नहीं थे । वे आपस में कहने लगे—यह बालक कई बार मृत्यु के मुख में जाकर वापस आया है । जो इसका अहित करने के लिये आया उसीका अनिष्ट हुआ ।

इस प्रकार बाल-लीलाओं द्वारा भगवान् की कौमारावस्था क्रमशः व्यतीत हो गई । नन्दबाबा और गोप-गण श्रीकृष्ण और बलराम की इन मधुर लीलाओं की चर्चा करते हुए संसार के विविध कष्टों को भूल गये थे—

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा । कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ॥

१०/११/५८

**हृदय**—बकासुर दम्भ का प्रतीक है । बक तालाब में मछली मारने के लिये किस प्रकार एक पैर उठा कर ध्यान लगाता है, इस दृश्य को लोगों ने बहुशः देखा होगा । दम्भ करनेवाला व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों को भले ही ठग ले, किन्तु भगवान् के सामने उसकी एक भी नहीं चलती । इसी भाव को तुलसीदास जी ने मानस में इस प्रकार व्यक्त किया है—

उधरे अन्त न होंहि निबाहू । कालनेमि जिमि रावन राहू ॥

यमुना मैया भक्ति का प्रतीक है । भक्ति के किनारे दो बाधाएँ उपस्थित होती हैं । एक है वत्सासुर (अज्ञान, अन्धश्रद्धा) और दूसरी है बकासुर (दम्भ) । बगुला दम्भ का प्रतीक है । बकभगत अर्थात् दम्भी । भक्ति के किनारे दम्भ आ विराजता है अतः उसकी घात में नहीं फँसना चाहिये । अन्य पापों का तो प्रायश्चित्त है, किन्तु दम्भ का नहीं । बगुले की चोंच है—लोभ । वह बड़ी लम्बी है । लोभ बढ़ते ही दम्भ आ जाता है । कीर्ति और धन का लोभ अपने



साथ दम्भ भी लाता है। यमुना अर्थात् भक्ति के किनारे बक अर्थात् दम्भ के आते ही सारा खेल विगड़ जाता है।

बकासुर का पूर्वजन्म-बकासुर पूर्व जन्म में हयग्रीव का पुत्र था। इसका नाम था—उत्कल। यह महान् पराक्रमी था। घूमते हुए एक दिन यह सिन्धु-सागर-संगम पर जाजलि मुनि के आश्रम के पास जा पहुँचा। वहाँ वह जल में से वंशी लगाकर मछलियों को खींच-खींच कर खाने लगा। मुनि ने उसे रोका किन्तु वह न माना। इस पर क्रुद्ध होकर मुनि ने शाप दे दिया—रे नीच, बक की भाँति तू मछलियों को मार-मारकर खा रहा है अतः जा तू बक ही बन जा। शाप सुनकर घबड़ाये हुए दैत्य ने प्रार्थना कर जब मुनि को प्रसन्न किया तब उन्होंने कहा—अच्छा, द्वापर की समाप्ति पर भगवान् श्रीकृष्ण के हाथों ही तुम्हारा उद्धार होगा ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## बारहवाँ अध्याय

### (अघासुर का मोक्ष)

हृदय-अज्ञान और दम्भ के पीछे-पीछे अघ चलता है। यही कारण है कि वत्सासुर और बकासुर के बाद यमुना तट पर अघासुर आया। यह बकासुर और पूतना का लघु बन्धु था।

प्रतिदिन ग्वालबाल तैयार होकर अपने-अपने बछड़ों के साथ नन्दबाबा के द्वार पर आ विराजते थे। वे कन्हैया की प्रतीक्षा करते थे। मैया यशोदा अपने लाला श्यामसुन्दर को नहलाती, वस्त्र पहनाती, बाल सँवारती, चन्दन लगाती, दूध पिलाती, साथ ले जाने के लिये रोटी, माखन और मिश्री देती, तब कन्हैया घर से बाहर निकलता था। किन्तु आज का दिन प्रतिदिन से भिन्न था। आज के लिये योजना बनी थी कि वन में ही कलेवा किया जायेगा अतः श्रीकृष्ण सब से पहले तैयार हुए। वे शृङ्ग-रव से घूम-घूम कर सोते हुए ग्वाल-बालों को जगाये। सब ग्वाल-बाल तैयार होकर एकत्रित हुए। वे सब अपने-अपने बछड़ों को आगे करके भगवान् के साथ व्रज-मण्डल से वन के लिये निकल पड़े—

क्वचिद् वनाशाय मनो दधत् व्रजात् प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ।

प्रबोधयञ्छुङ्करवेण चारुणा विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥१०/१२/१

प्रत्येक ग्वाल-बालों के बछड़े हजार से कम न थे, किन्तु श्रीकृष्ण के बछड़े असंख्य थे। ग्वाल-बालों ने अपने-अपने बछड़ों को श्रीकृष्ण के बछड़ों से मिला दिया था। प्रत्येक ग्वाल-बाल छींका, बेंत, वेणु और शृंगी बाजा लिये हुए थे। मार्ग में चलते हुए बालक भाँति-भाँति के हँसी-मजाक करते जाते थे। वे एक दूसरे के छींके, बेंत, बाँसुरी आदि चुरा लेते और ज्ञात हो जाने पर धीरे से पहला दूसरे के पास, दूसरा तीसरे के और तीसरा चौथे के पास पहुँचा देता फिर हँसते हुए जो वस्तु जिसकी होती वह उसे लौटा दी जाती थी।

कभी-कभी श्रीकृष्ण अकेले वन की शोभा निरखते हुए आगे निकल जाते तो उनके पास पहुँचने और उन्हें छूने के लिये ग्वाल-बालों में “पहले मैं, पहले मैं” की होड़ लग जाती और सभी उनकी ओर दौड़ पड़ते थे—“अहं पूर्वमहं पूर्वम्” ॥६॥ ऐसी ही भाँति-भाँति की लीलायें करते हुए सब ग्वाल-बाल विचर रहे थे। कोई बाँसुरी बजाता, कोई सींग बजाता, कोई भौरों के साथ गुनगुनाता, कोई कोयलों के स्वर में स्वर मिला कर “कुहू-कुहू” करता, कोई पक्षियों की छाया के पीछे दौड़ता, कोई मेढकों के साथ कूदता और कोई बन्दरों के साथ खींखीं करते हुए पेड़



पर चढ़ जाता। इसी प्रकार की विविध क्रीड़ाएँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ करके सब को परमानन्द प्रदान कर रहे थे। जिनके चरण-कमलों की धूलि, जन्म-जन्मान्तर तक कठिन साधना करनेवाले योगियों के लिये भी दुर्लभ है, वे ही भगवान् जिनकी आँखों के सामने स्वयं नाच रहे हैं, जिनका हाथ पकड़ कर खेल रहे हैं उन ब्रजवासियों के भाग्य का वर्णन भला कौन कर सकता है—

यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो

धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।

स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो ब्रजौकसाम् ।।१०/१२/१२

परीक्षित, इसी समय कंस के द्वारा भेजा गया अघासुर नाम का महान् दैत्य आ धमका। वह श्रीकृष्ण और ग्वालबालों की आनन्द दायिनी क्रीड़ा को देख नहीं सकता था। बालकों की क्रीड़ा को देखकर वह जल-भुन उठा। अमृत पान कर अमर हुए देवता भी भयवश उसके मरण की प्रतीक्षा किया करते थे। वह पूतना और बकासुर का लघु बन्धु था। कृष्ण को देखकर वह सोच रहा था कि इसी ने मेरे भाई-बहन को मारा है अतः आज मैं इसे ग्वालबालों के साथ—सबलं<sup>१</sup> मार कर बदला चुकाऊँगा। इससे मेरे बन्धुओं को तिलाञ्जलि मिल जायेगी, उन्हें बड़ी शान्ति मिलेगी। ऐसा विचार कर वह दुष्ट दैत्य अजगर<sup>२</sup> का रूप धारण कर कृष्ण के मार्ग में लेट गया। साथियों के सहित कृष्ण को निगल जाने की इच्छा से वह विशाल कन्दरा की भाँति अपना मुँह फैलाये हुए था। उसका नीचे का ओठ पृथ्वी से और ऊपर का ओठ बादलों से सटा हुआ था। उसकी दाढ़ें पर्वत के शिखर-सी प्रतीत होती थीं। मुँख के भीतर घोर अन्धकार था। जीभ एक चौड़ी लाल सड़क-सी मालूम पड़ती थी। साँस आँधी के समान थी और आँखें दावानल की भाँति दहक रही थीं।

हृदय—अघासुर का एक ओठ बादलों को छू रहा था और दूसरा पृथिवी से सटा हुआ था। यह एक उपलक्षण है। वस्तुतः अघ = पाप के मुख में सकल ब्रह्माण्ड ही समाया रहता है। ब्रह्मा से लेकर तृण-पर्यन्त सभी उसके मुख में आ जाते हैं।।

अघासुर का ऐसा रूप देखकर बालकों ने समझा कि यह भी वृन्दावन की कोई दर्शनीय गुफा है। फिर वे नाना प्रकार की कल्पना करते हुए उसकी तुलना अजगर के मुख से करने लगे। किसी ने कहा यदि हम लोग इसके मुँह में घुस जायँ, तो क्या यह हमें निगल जायेगा? यदि निगलने की इसने हिम्मत की तो इसकी भी वही दशा होगी जो बकासुर की हुई है। बकासुर की भाँति यह भी क्षणभर में मारा जायेगा। हमारा कन्हैया इसे छोड़ेगा थोड़े ही। इस प्रकार कहते हुए वे ग्वाल-बाल श्रीकृष्ण का सुन्दर मुख देखते और ताली बजा-बजा कर हँसते हुए अघासुर के मुख में घुस गये—

अस्मान् किमत्र प्रसिता निविष्टानयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति ।

१. यहाँ बल का अर्थ बलराम नहीं, साथियों का समूह समझना चाहिये। क्योंकि भागवत में जब-जब किसी सर्प के साथ श्रीकृष्ण की भिड़न्त होती है, तब तब उनके साथ बलराम नहीं हुआ करते। बलराम शेष, सर्पराज के अवतार हैं। उनके सामने किसी का साहस नहीं हो सकता कि वह उनकी जाति-बिरादरी वाले का वध करे। कृष्ण के सामने लड़ने के लिये किसी सर्प के आने पर बलराम जी स्वयं भी उसे डाटकर भगा देंगे अथवा श्रीकृष्ण से कह देंगे कि यह अपना स्वजन है, इसे मत मारो। इसलिये भगवान् जब अजगर के रूप में आये अघासुर का वध करते हैं या कालिय नाग का दमन करते हैं तब बलराम जी को ब्रज में ही छोड़कर आते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि उस दिन बलराम का जन्मदिन था अतः मैया यशोदा ने उन्हें ब्रज में ही रोक लिया था।
२. अजगर-अजा गये गले यस्यासौ। जो बकरी को भी निगल कर अपने गले में धारण कर लेता है, उसे अजगर कहते हैं।



क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥१०/१२/२४

भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि अनजान बालक सर्प के मुख में चले जा रहे हैं। उन्होंने बालकों को रोकने का प्रयास किया किन्तु तब तक सब के सब बालक और बछड़े अघासुर के पेट में प्रवेश कर चुके थे। कृष्ण की प्रतीक्षा में अभी भी अघासुर अपना मुख खोले हुए था। वह सोच रहा था कि हमारी बहन और भाई का हन्ता कृष्ण जब हमारे मुख में आ जाय तब बन्द करूँ। कृपा और करुणा के सागर भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि सारे बालक अघासुर के मुख में प्रवेश कर चुके हैं तो वे भी उसके मुख में प्रवेश कर गये। वे यह सोच रहे थे कि बालकों की रक्षा भी हो जाय और यह दुष्ट दैत्य समाप्त भी हो जाय।

भगवान् के अघासुर के मुख में प्रवेश करते ही बादलों में छिपे हुए देवता भयवश 'हाय-हाय' कह कर चिल्ला उठे और अघासुर के हितैषी कंस आदि राक्षस प्रसन्नतावश नाचने लगे। सबको निगलने की इच्छा से सब को चबा जाने की भावना से जैसे ही अघासुर अपना मुख बन्द करना चाहा वैसे ही श्रीकृष्ण ने अपना शरीर इतना बढ़ा दिया कि उसका गला ही अवरुद्ध हो गया, उसकी श्वास-क्रिया बन्द हो गई, आँखें उलट गईं, वह छटपटाने लगा। बाहर न निकल पाने के कारण उसका प्राण-वायु ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर कर बाहर निकला। उसी के साथ अघासुर के शरीर से एक महान् दिव्य ज्योति निकली जो आकाश में स्थित होकर कृष्ण के बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगी—

प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ॥१०/१२/३३

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी अमृतमयी दृष्टि से अघासुर के पेट में मरे हुए बछड़ों और ग्वालबालों को जिला दिया और उन सब को साथ लेकर वे अघासुर के मुँह से बाहर निकल आये।

भगवान् श्रीकृष्ण के बाहर आते ही अघासुर के शरीर से निकली आकाश में स्थित वह ज्योति सब देवताओं के देखते-देखते उन्हीं में समा गई। भगवान् के सारे अवतार पापियों को, अधियों को तारते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण साक्षात् अघ का ही उद्धार कर देते हैं। यह विशेषता केवल भगवान् श्रीकृष्ण में ही देखने को मिलती है, अन्यत्र नहीं।

अघासुर की मृत्यु और बछड़ों एवं बालकों के सहित श्रीकृष्ण को सकुशल बाहर आया देख कर आकाश से देव-मण्डली फूलों की वर्षा करने लगी, अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। ऋषि-मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि जय-जयकार करते हुए उनकी स्तुति करने लगे। चतुर्दिक् हर्षोल्लास का वातावरण व्याप्त हो गया। आनन्दोत्सव की मङ्गल ध्वनि ब्रह्म-लोक तक पहुँच गई। ब्रह्मा को प्रतीत हुआ की यह मङ्गल-ध्वनि कहीं हमारे लोक में ही हो रही है अतः वे उसे देखने के लिये अपने नगर से बाहर निकले। वे ब्रह्मलोक में बाहर आये तो मालूम हुआ कि स्वर्ग में कुछ हो रहा है। स्वर्ग में आये तो ऐसा लगा कि मर्त्य-लोक में कुछ हो रहा है। मर्त्य-लोक में आये तो मालूम हुआ कि व्रज में वृन्दावन में कुछ हो रहा है फिर वृन्दावन में वे जब आये तो यहाँ श्रीकृष्ण की अद्भुत महिमा देखकर दंग रह गये। उन्होंने कहा कि पाप की मुक्ति हमारी सृष्टि में तो होती नहीं अतः श्रीकृष्ण ने अघ की, पाप की, मुक्ति कर सृष्टि की मर्यादा भंग की है।

परीक्षित, जब वृन्दावन में अजगर का यह चाम सूख गया तब यह व्रजवासियों के लिये बहुत दिनों तक खेलने की एक अद्भुत गुफा-सी बना रहा। अघासुर के मोक्ष की यह लीला भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी कुमारावस्था में अर्थात् पाँचवें वर्ष में ही की थी। किन्तु बालकों ने इसकी चर्चा व्रज में पौगण्ड अवस्था अर्थात् छठे वर्ष में, एक वर्ष बाद की।



अघासुर मूर्तिमान् अघ (पाप) ही था। भगवान् के स्पर्श से उसके सारे पाप धुल गये और उसे सारूप्य मुक्ति की प्राप्ति हुई। भगवान् श्रीकृष्ण के किसी एक अङ्ग की भावनिर्मित प्रतिमा, यदि ध्यान के द्वारा एक बार भी हृदय में धारण कर ली जाय तो वह सालोक्य, सामीप्य, आदि का दान करती है। ऐसी स्थिति में वे ही स्वयं जिस अघासुर के शरीर में प्रविष्ट हो गये तो उसकी मुक्ति में क्या सन्देह हो सकता है ?

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।

स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमाथोऽन्तर्गतो हि किं पुनः ॥ १०/१२/३९

श्री शुकदेव जी की बात को सुनकर राजा परीक्षित ने कहा—भगवन्, सारे ग्वालबाल एक वर्ष तक कहाँ रहे ? जो कि उन लोगों ने अघासुर के मोक्ष की लीला ब्रज में एक वर्ष बाद जाकर कही। इसमें अवश्य ही कुछ-न-कुछ रहस्य है। आप कृपा कर इसका कारण हमें बतलावें। इस रहस्य को जानने के लिये मेरे मन में बड़ी उत्कण्ठा हो रही है।

सूत जी ने कहा—शौनक, जब परीक्षित ने इस प्रकार प्रश्न किया तो शुकदेव जी भगवान् की लीला का स्मरण कर समाधिस्थ हो गये फिर बड़ी कठिनता से जल छिड़क कर घड़ी-घण्टा बजाकर उन्हें बाह्य जगत् में लाया गया। इसके बाद भागवतशिरोमणि श्री शुकदेव जी ने कहना प्रारम्भ किया।

### अघासुर का पूर्वजन्म

अघासुर पूर्व जन्म में शङ्खासुर का बेटा था। इसका रूप अतिशय सुन्दर था। एक बार इसने अष्टावक्र मुनि को देखा। उनकी टेढ़ी-मेढ़ी गति को देखकर इसने उनकी हँसी उड़ाई फलतः मुनि क्रुद्ध हो गये। उन्होंने शाप दिया—अरे दुर्मते, जा तू टेढ़ी-मेढ़ी चाल वाला अजगर हो जा। बाद में प्रार्थना करने पर मुनि ने कहा—द्वारपर की समाप्ति पर जब भगवान् श्रीकृष्ण तेरे उदर में प्रवेश करेंगे तब तेरी सर्प-योनि से मुक्ति हो जायेगी। गर्ग सं०, वृ० ख० ६/१५

हृदय—यह सारा संसार अघासुर है। जब भगवान् के भक्त इस संसार रूपी अघासुर के पेट में चले जाते हैं, तब भगवान् भी अपने धाम से उतर कर संसार के पेट में आ जाते हैं, अवतार लेकर अपने भक्तों का उद्धार करते हैं। भगवान् के अघासुर के पेट में जाने का यही रहस्य है ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

### तेरहवाँ अध्याय

( ब्रह्माजी के द्वारा बछड़ों और ग्वालबालों का अपहरण एवं कृष्ण की, उनका रूप धारण कर वर्षपर्यन्त, क्रीडा )

हृदय—भगवान् का नाम 'रस' भी है—“रसो वै सः”। “रस एव रासः” रस को ही रास कहते हैं। रसस्वरूप भगवान् से मिलने का अर्थ है—रास। भागवत में चार प्रकार के रास का वर्णन है। गोरारस, वयस्क गोपी-रास, ब्राह्मणीरास और तरुणगोपीरास। अन्तिम रास ही महारास है। श्रीमद्भागवत में इसी का प्रमुखरूप से वर्णन है।

गोकुल की गायों की अभिलाषा थी कि वे प्रभु के साथ एक बनें। उनकी कामना थी कि हमारे बछड़ों की भाँति कृष्ण भी हमारा दूध पियें। प्रभु ने उनकी यह इच्छा उनके बछड़े बन कर पूर्ण की अतः इस अध्याय में गायरास का वर्णन है।



गोकुल की वयस्क गोपियों की उत्कण्ठा थी कि कन्हैया को हम छाती से लगाकर, बाहुओं में भर कर, उन्हें उबटन लगाकर, स्नान करा और साथ में सुलाकर अपनत्व का अनुभव करें। भगवान् ने उनकी यह इच्छा गोप-बालक बन कर पूरी की। ब्राह्मणियों के साथ और तरुण गोपी-रास आगे यथावसर वर्णित हैं ॥

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन, आप ने बड़ा ही उत्तम प्रश्न किया है। वस्तुतः आप भगवान् के भक्तों में सर्वश्रेष्ठ हैं। भगवद्भक्तों का यह स्वभाव ही है कि वे भगवान् की कथा सुनने के समय विविध प्रश्नों के द्वारा उसे नित नवीनता प्रदान करते रहते हैं सारग्राही सन्तों का यही स्वभाव है कि वे अपने कान, अपनी वाणी और अपने चित्त को भगवान् में लगा देते हैं और प्रतिक्षण नवीन-नवीन के समान उनकी कथा सुनते हैं जैसे लौकिक रसिक लोग इकट्ठे होकर बड़े प्रेम से स्त्रियों की चर्चा करते हैं, वैसे ही साधु लोग भगवान् की चर्चा करते हैं—

सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।

प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता ॥१०/१३/२

परीक्षित् आप एकाग्र चित्त से श्रवण करें। यद्यपि भगवान् की यह लीला रहस्यों से भरी हुई है, फिर भी मैं आप को सुना रहा हूँ—मृत्यु-स्वरूप अघासुर के मुख में से अपने साथी ग्वालबालों को निकाल कर भगवान् उन्हें यमुना जी के पुलिन पर लाये और बोले—मित्रों, देखो तो सही कि यमुना जी का यह तट कितना मनोरम है। यहाँ की बालू मखमल की तरह कोमल और अत्यन्त स्वच्छ है। यहाँ खेल खेलने में बड़ा आनन्द आयेगा। यहाँ खेल की सारी सामग्री एक साथ एकत्र विराजमान है। देखो, एक तरफ रंग-विरंगे कमल विकसित हैं। उनकी सुगन्ध से आकृष्ट होकर झुण्ड-के-झुण्ड भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं; तो दूसरी ओर सुन्दर-सुन्दर पक्षी बड़ा ही मनोहर कलरव कर रहे हैं, जिसकी प्रतिध्वनि से सुशोभित वृक्ष इस स्थान की शोभा बढ़ा रहे हैं—

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छबालुकम् ।

स्फुटत्सरोगन्धहृतालपित्रिकध्वनिप्रतिध्वानलसदद्भुमाकुलम् ॥ १०/१३/५

अतः मेरा विचार है कि आज हम लोग यहीं भोजन करें। दिन बहुत चढ़ आया है और हम लोगों को भूख भी लग गई है। बछड़े पानी पीकर पास में ही हरी-हरी घास चरते रहेंगे। कृष्ण की बात सुनकर सभी बालकों ने उनका अनुमोदन किया। बछड़ों को पानी पिला कर हरी-भरी घासों से भरे मैदान में छोड़ दिया और अपने-अपने छींके खोलकर भगवान् के साथ बड़े आनन्द से भोजन करने लगे। सब के बीच में भगवान् श्रीकृष्ण बैठ गये। उनके चारों ओर बालकों ने बहुत-सी मण्डलाकार पंक्तियाँ बना लीं और एक-से-एक सटकर बैठ गये। सब की आंखें आनन्द से खिली थीं। वन-भोजन के समय श्रीकृष्ण के साथ बैठे हुए ग्वालबाल ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानों कमल की कर्णिका के चारों ओर पंखुडियाँ सुशोभित हो रही हों। आठों दिशाओं में श्रीकृष्ण का मुख था। सभी बालक यही सोच रहे थे कि कन्हैया हमें ही निहार रहे हैं। हम ही उनके सब से सन्निकट बैठे हैं। दूसरे बालक दूर हैं। यह भगवान् की अचिन्त्य लीला-शक्ति का प्रभाव था। कोई पुष्प तो कोई पत्ते और कोई पल्लव, अङ्कुर, फल, छींके, छाल और पत्थरों को पात्र बना कर भोजन करने लगे। तात्पर्य यह कि जिसको जो मिला, वह पात्र लेकर और उसमें सामग्री रखकर भोजन करने बैठ गया—“बुभुजुः कृतभाजनाः” ॥१॥

भोजन करने के समय सभी ग्वालबाल अपनी-अपनी रुचि का प्रदर्शन कर रहे थे। कह रहे थे कि हमें यह प्रिय है, वह प्रिय है। इस प्रकार सभी हँसते थे, और भोजन करते थे। भोजन सर्वदा हँसते हुए ही करना चाहिये। प्रसन्न मन से किया गया भोजन बुद्धि और बल का विकास करता है।



श्री शुकदेव जी ग्वालबालों के मध्य भोजन करने बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण की वेशभूषा का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि—उन्होंने मुरली तो कमर के फेंटे में आगे की ओर खोंस लिया था। सींग और बेंत बगल में दबा लिये थे। बायें हाथ में बड़ा ही मधुर घृत-मिश्रित दही-भात का ग्रास था। अँगुलियों में अदरक, नीबू आदि के अचार मुरब्बे दबा रक्खे थे। ग्वाल-बाल उनको चारों ओर से घेर कर बैठे थे और वे स्वयं सबके मध्य में बैठकर अपनी विनोदभरी बातों से साथी ग्वालबालों को हँसाते जा रहे थे। जो सारे यज्ञों के एकमात्र भोक्ता हैं, वे ही भगवान् ग्वाल-बालों के साथ बैठ कर इस प्रकार बाल-लीला करते हुए भोजन कर रहे थे और स्वर्ग के देवता आश्चर्य-चकित होकर यह अद्भुत लीला देख रहे थे—

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।  
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्माभिः स्वैः, स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः ॥

१०/१३/११

कैसा है, यह अद्भुत दृश्य ! भक्त-गण इसका ध्यान कर अपना कल्याण कर सकते हैं। इस प्रकार इधर भोजन का क्रम चल रहा था और उधर हरी-हरी कोमल घासों के लोभवश बछड़े दूर जङ्गल में निकल गये। बछड़ों को पास में न देखकर ग्वाल-बाल चिन्तित हो उठे। अब तक भगवान् में लगा हुआ उनका मन चंचल हो उठा। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा—मेरे प्यारे मित्रों, तुम लोग भोजन करना बन्द मत करो। मैं अभी बछड़ों को लेकर आता हूँ—

तान् दृष्ट्वा भयसंन्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम् । मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्टे वत्सकानहम् ॥

१०/१३/१३

हृदय-बछड़े तृण के लोभ से कृष्ण से दूर निकल गये। ग्वालबालों का मन भी कृष्ण से हट कर बछड़ों पर चला गया। इसका मतलब है कि कोई-न-कोई विपत्ति आनेवाली है। संसार के प्राणी जब भगवान् का स्मरण-चिन्तन छोड़ कर संसारी विषयों में उलझ जाते हैं, तब समझ लेना चाहिये कि कोई-न-कोई विपत्ति उन पर शीघ्र आयेगी ॥

मित्रों को आश्वस्त कर भगवान् हाथ में दही-भात का कौर लिये ही पहाड़ों, गुफाओं, कुञ्जों तथा बनों में बछड़ों को ढूँढने चल दिये।

परीक्षित, ब्रह्मा जी पहले से ही आकाश में स्थित होकर भगवान् की लीला का अवलोकन कर रहे थे। अघासुर के मोक्ष को देखकर उन्हें महान् आश्चर्य हुआ था अतः वे भगवान् की कुछ और मनोहर लीलाओं को देखना चाहते थे। इसलिये उन्होंने पहले तो बछड़ों को और भगवान् श्रीकृष्ण के चले जाने पर ग्वालबालों को भी अन्यत्र ले जाकर रख दिया और उन्हें अपनी माया से सुला कर स्वयं अन्तर्हित हो गये। क्यों न करें ऐसा, जो उनकी तीन पीढ़ी ठहरी जड़। जल जड़ है। 'डलयोरभेदः' के अनुसार इ और ल में अभेद है। जल कहिये या जड़ एक ही वस्तु है। तो जल है जड़। उससे उत्पन्न कमल है जड़ तो फिर ब्रह्मा में जड़ता का अंश क्यों न आवे। यदि ऐसा न होता तो वे अपने बाप भगवान् से ही खिलवाड़ करने की क्यों सोचते ?

जब चारों ओर खोजने पर भी बछड़े न मिले तो भगवान् उसी स्थान पर लौट आये जहाँ कुछ देर पहले साथियों के साथ भोजन कर रहे थे। वहाँ आने पर देखा कि ग्वाल-बाल भी गायब हैं फिर उन्होंने ग्वाल-बालों को भी चारों ओर खोजा किन्तु वे भी कहीं नहीं मिले। तब सर्वज्ञ भगवान् ने तुरन्त जान लिया कि यह सब करतूत ब्रह्मा जी की ही है—

क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित् । सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥

१०/१३/१७



अब भगवान् श्रीकृष्ण ने बछड़ों और ग्वालबालों की माताओं को, अर्थात् गायों एवं प्रौढ गोपियों को भी आनन्दित करने के लिये अपने आप को ही बछड़ों और ग्वालबालों—दोनों के रूप में बना लिया। उनके लिये यह कोई बड़ी बात न थी। वस्तुतः वे ही सारे विश्व के निर्माता सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं<sup>१</sup>। परीक्षित, वे बाल और बछड़े संख्या में जितने थे, जितने छोटे-छोटे उनके शरीर थे; उनके हाथ-पैर जैसे-जैसे थे, उनके पास जितनी और जैसी छड़ियाँ थीं, छींके थे, जैसे वस्त्राभूषण थे; शील, स्वभाव और अवस्थाएँ जैसी थी, ठीक वैसे ही और उतने ही रूपों में भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। सर्वात्मा भगवान् स्वयं ही बछड़े ग्वालबाल और सब कुछ बन गये। सायंकाल होने पर अपने-अपने बछड़ों को हाँकते हुए सारे ग्वालबाल अपने-अपने पृथक्-पृथक् गोष्ठ में, खरिका में, ले आये।

आज सारी गायों को और सारी गोपियों को अपने-अपने बछड़ों और बालकों को छूने में छाती लगाने में, दूध पिलाने में, चाटने में, नहलाने, कपड़ा पहनाने में जो अपूर्व आनन्द आ रहा था, वह अवर्णनीय था। ऐसा क्यों हो रहा था, यह किसी की समझ में न आ रहा था। कन्हैया को दुलार करने में जो आनन्द और जैसी अनुभूति यशोदा को होती थी, वही अनुभूति सारी माताओं को अपने बालकों की सेवा में संस्पर्श में हो रही थी। उन्हें क्या मालूम कि यह हमारा बछड़ा या बालक साक्षात् कन्हैया ही है। सायंकाल होने पर गायें और माताएँ अपने बछड़ों और बालकों से मिलने के लिये विकल होकर दौड़ पड़ती थीं। आनन्द और स्नेह की यह धारा पूरे व्रज में पूरे एक वर्ष तक निरन्तर बहती रही किन्तु प्रेम की इस अधिकता का रहस्य किसी को कुछ मालूम न था।

श्रीकृष्ण स्वयं चरवाहे और स्वयं चराये जानेवाले बछड़ों के रूप में वर्ष भर लीला करते रहे<sup>२</sup>। एक ही परब्रह्म परमात्मा वर्षभर न केवल ग्वालबालों और बछड़ों के रूप में बल्कि छींकों के रूप में, छड़ियों के रूप में, वस्त्राभूषण आदि के रूप में प्रतिष्ठित होकर खेल खेलता रहा। स्वरूप अनेक, पर उनमें एक के रूप में भगवान् क्रीड़ा कर रहे थे। अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त का सारा स्वरूप यहाँ एकत्रित हो गया था। “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” का मूर्तिमान् उदाहरण यहाँ प्रस्तुत था।

एक दिन की घटना है। प्रौढ ग्वाले गोवर्धन पर्वत पर गायों को चरा रहे थे। इन गायों के दूसरे बछड़े भी पैदा हो गये थे। दूसरे बछड़ों के पैदा होने पर गाएँ पहलेवाले बछड़ों को प्यार नहीं करती हैं—यह एक प्राकृतिक नियम है। अभी एक वर्ष पूरा होने में पाँच-छः रातें अवशिष्ट थीं। भगवान् श्रीकृष्ण बलराम आदि के साथ वृन्दावन में बछड़ों को चरा रहे थे। गोवर्धन पर्वत की चोटी पर से जब गायों ने अपने बछड़ों को वृन्दावन की ओर चरते हुए देखा, तो वे अपने आप को भूलकर उन बछड़ों की ओर बेतहाशा भागीं। यद्यपि बड़े-बूढ़े ग्वाले उन्हें रोकने का भरपूर प्रयास कर रहे थे; किन्तु वे एक न मानीं। कृष्णरूपी बछड़ों के पास आकर गायें उन्हें चाटने एवं दूध पिलाने लगीं। ग्वाले भी गायों के पीछे-पीछे दौड़कर आये। उन्हें अपनी गायों पर बहुत क्रोध आया किन्तु जब उन्हें अपने बच्चे दिखलाई पड़े तो उनके हृदय में भी प्रेम का सागर उमड़ पड़ा। वे भी अपने-अपने कृष्णरूपी बालकों को छाती से लगाकर कर उन्हें चूमने लगे, दुलारने लगे। बलराम जी ने इस दृश्य को देखा। उन्हें महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने ध्यान लगा कर देखा तो उन्हें विदित हुआ कि ये बछड़े और ग्वाल-बाल सब कृष्ण ही हैं। बलराम जी ने इसका कारण श्रीकृष्ण से पूछा। भगवान् ने संक्षेप में इसका सारा रहस्य बतला दिया।

१. भगवान् सर्वसमर्थ हैं। वे ब्रह्मा द्वारा चुराये गये ग्वालबालों और बछड़ों को ला सकते थे किन्तु इस से ब्रह्मा जी का मोह भङ्ग न होता और न वे भगवान् की दिव्य माया का ऐश्वर्य ही देख सकते। भगवान् की इस माया ने ही ब्रह्मा के विश्वकर्ता होने के अभिमान को नष्ट किया है। इसलिये भगवान् उन्हीं ग्वालबाल और बछड़ों को न लाकर स्वयं ही वैसे ही एवं उतने ही ग्वालबाल और बछड़े बन गये।

२. आपन खेल आप करि लेखै, खेल संकोचे तब नानक एकै ॥नानक॥



अब आइये ब्रह्मा की ओर देखें। उनकी क्या स्थिति है। बछड़ों और ग्वालबालों को चुराकर, छिपा कर, ब्रह्मा जी ने एक त्रुटि<sup>१</sup> बीतने पर, पुनः वृन्दावन पर, गोकुल पर दृष्टि डाली। तब तक भूतल पर एक वर्ष बीत चुका था। उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण ग्वालबालों और बछड़ों के साथ एक साल से पहले की ही भाँति क्रीड़ा कर रहे हैं। वे सोचने लगे—गोकुल में जितने भी ग्वालबाल और बछड़े थे, उन्हें तो मैंने अपनी माया से अचेत कर पर्वत की गुफा में सुला दिया था। वे तभी से अचेत पड़े हुए हैं। तब मेरी माया से मोहित ग्वालबाल और बछड़ों के अतिरिक्त ये उतने ही, ठीक वैसे ही, दूसरे बालक तथा बछड़े कहाँ से आ गये, जो एक साल से भगवान् के साथ खेल रहे हैं। ब्रह्मा जी ने दोनों स्थानों पर दोनों को बार-बार देखा, ध्यान से देखा। उनकी समझ में कुछ आ नहीं रहा था। कौन पहले के हैं और कौन बाद के हैं? कौन सच्चे हैं और कौन नकली हैं—इस बात को वे समझ ही नहीं पा रहे थे—“सत्या के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन” ॥४३॥ ब्रह्मा जी चले थे कृष्ण को मोहित करने, किन्तु अपनी ही माया से वे स्वयं ही मोहित हो गये। स्वयं ही अपने बिछाये जाल में फँस गये—

स्वयैव माययाऽजोऽपि स्वयमेव विमोहितः ॥१०/१३/४४

जैसे अन्धकारभरी अमावस्या की रात्रि में कुहासे का पता नहीं चलता और प्रचण्ड चण्डांशु की प्रभा में जुगनु की रोशनी का पता नहीं चलता वैसे ही महान् शक्ति के समक्ष छोटे मनुष्य की माया का, बुद्धि-बल का पता नहीं चलता।

ब्रह्मा जी विचार कर ही रहे थे कि उनके देखते-देखते उसी क्षण सभी—ग्वालबाल और बछड़े साक्षात् श्रीकृष्ण के रूप में दिखलाई पड़ने लगे। सब-के-सब सजल जलधर के समान श्यामवर्ण, पीतवसन, वनमाली, शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म से युक्त चतुर्भुज तथा नाना प्रकार के आभूषणों से विभूषित थे। अणिमादि सिद्धियाँ भूर्तिमती होकर उनकी उपासना कर रही थीं। माया विद्या आदि विभूतियाँ तथा महत्तत्त्व आदि चौबीसों तत्त्व उन्हें घेरे हुए थे। ब्रह्मा जी ने यह भी देखा कि वे सभी भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के द्वारा सीमित नहीं हैं, त्रिकालाबाधित सत्य हैं। वे सब-के-सब स्वप्रकाश और अनन्त आनन्द स्वरूप हैं। वे सब-के-सब एकरस हैं। यहाँ तक कि उपनिषद्दर्शी तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि भी उनकी अनन्त महिमा का स्पर्श नहीं कर सकती—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः । अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥१०/१३/५४

इस प्रकार ब्रह्मा जी ने एक साथ ही देखा कि वे सब-के-सब उन परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण के ही स्वरूप हैं, जिनके प्रकाश से यह सारा चराचर जगत् प्राकाशित हो रहा है। यह सब देखकर ब्रह्मा कठपुतली की भाँति स्तब्ध से खड़े रह गये। उनकी ग्यारहों इन्द्रियाँ व्याकुल हो गईं। भगवान् का अद्भुत ऐश्वर्य देखना उनके वश का न रहा। ब्रह्मा की यह दुर्दशा देखकर भगवान् को दया आ गई। उन्होंने अपना माया का पर्दा झट से हटा दिया। तब जाकर ब्रह्मा किसी-किसी प्रकार कुछ स्वस्थ हुए। एक वर्ष पहले की स्थिति उनके सामने आ गई। उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण हाथ में पहले की भाँति दही-भात का कौर हथेली पर रखे अभी तक बछड़ों को ढूँढ़ ही रहे हैं। भगवान् को देखते ही ब्रह्मा जी अपने वाहन हंस पर से कूद पड़े और अपने चारों मुकुटों के अग्रभाग से उनके चरणों का स्पर्श करते हुए दण्डवत् प्रणाम की मुद्रा में लेट गये। ब्रह्मा जी चारों ओर से लोट-पोट करके कृष्ण के चरणों के अग्र भाग पर अपना मुकुट रगड़ने लगे। उनकी आँखों से प्रसन्नता की अश्रुधारा बह रही थी। उससे भगवान् के चरण नहा उठे थे। ब्रह्मा की दशा यह हो गई थी कि वे बार-बार भगवान् के चरणों पर गिरते और गिरकर उठते। यह क्रम घण्टों चला फिर वे धीरे-धीरे उठे। नेत्रों का आँसू पोछे, हाथ जोड़े, कन्धा झुकाये। ध्यान लगाकर गद्गद वाणी से भगवान् की स्तुति करने लगे—

१. ‘सूच्या भित्रे पद्मपत्रे त्रुटिरित्यभिधीयते’। सुई से एक कमल-पत्र में छेद करने में जो समय लगता है, उसे त्रुटि कहते हैं। ब्रह्मा की एक त्रुटि भूतल पर एक वर्ष के बराबर होती है।



शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्रीक्ष्य विनम्रकन्धरः ।

कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुराद्गदयैलतेलया ॥ १०/१३/६८

विशेष-वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य एवं उनके अनुयायी बड़े-बड़े आचार्य कहते हैं कि ब्रह्मा के मोह से सम्बन्ध रखनेवाले तीन अध्याय, १२, १३ और १४, भागवत के अन्तर्गत नहीं आते, प्रक्षिप्त हैं। किन्तु शाङ्कर सम्प्रदाय के श्रीधरस्वामी, श्रीमन्मध्व गौडेश्वर सम्प्रदाय के आचार्य श्रीजीव गोस्वामी, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी और श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के बड़े-बड़े महापुरुष इन तीनों अध्यायों को भागवत के अन्तर्गत ही मानते हैं।

श्री वल्लभाचार्य जी ने यद्यपि इन तीन अध्यायों को भागवत के अन्तर्गत नहीं माना है। किन्तु इन्हें अतिप्राचीनकाल से ही चले आते हुए मान कर इन पर टीका लिखी है। मतभेद के होते हुए भी सभी सम्प्रदाय के आचार्यों ने इनकी व्याख्या की है।

श्रीमद्भागवत में १२ स्कन्ध एवं अठारह सहस्र श्लोक सर्वमान्य हैं। यदि प्रक्षिप्त मान कर इन तीन अध्यायों के १६९ श्लोकों को निकाल दिया जायेगा तो अठारह सहस्र की पूर्ति कैसे होगी ? कदाचित् आचार्यों ने इस तथ्य पर ध्यान न देते हुए ही इन्हें भागवत से बहिष्कृत मान लिया।

दूसरी बात यह है कि भागवत के वक्ता शुकदेव महाराज कथा-प्रसङ्ग उपस्थित होने पर भागवत में दो स्थानों पर समाधिस्थ हो जाते हैं। एक प्रसङ्ग है—अघासुर का मोक्ष और दूसरा प्रसङ्ग है—सुदामा की कथा। यदि ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग को हम भागवत से बहिष्कृत कर देंगे तो क्या यह न्याय होगा। विद्वानों को निर्णय की बेला में इस तथ्य पर भी ध्यान देना होगा।

तीसरी बात यह है कि शङ्कराचार्य (सप्तम शतक) के दादा गुरु गौडपादाचार्य ने उत्तरगीता की टीका में 'श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो' (भाग० १०/१४/१४) को भागवत के नाम से उद्धृत किया है। गौडपाद का काल आधुनिक गणना के अनुसार भी षष्ठ शतक से अर्वाचीन नहीं हो सकता। उस समय भी उक्त तीनों अध्याय निर्विवाद रूप से भागवत के अंग के रूप में मान्य थे अन्यथा गौडपाद जैसे मान्य आचार्य उसको उद्धृत कैसे करते ? जो भी कुछ हो वल्लभाचार्य और रामानुजाचार्य महान् विद्वान् अवश्य थे किन्तु इतना निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि उन्हें न इतिहास का ज्ञान था और न पाठ-निर्धारित करने का बोध ही। मैं साधिकार साभिमान यह कह सकता हूँ कि उक्त तीनों अध्याय भागवत के जन्मकाल से ही अविभाज्य अङ्ग हैं, न प्रक्षिप्त हैं, न आगन्तुक ही ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

## चौदहवाँ अध्याय

( ब्रह्मा जी के द्वारा भगवान् की स्तुति और अपहरण किये गये बालकों और बछड़ों का व्रज में पुनः आना )

प्रभो, मैं आप की महिमा को ठीक-ठीक नहीं जानता था अतः माया का प्रयोग कर मैंने आप के प्रति महान् अपराध किया है। कृपा कर आप मुझे क्षमा करें। मैं आप की स्तुति कर रहा हूँ। देव, एकमात्र आप ही स्तुति करने के योग्य हैं। मैं आप के चरणों में प्रणाम करता हूँ। आप का यह शरीर वर्षाकालीन मेघ के समान श्याम है, इस



पर बिजली की भाँति झिलमिल-झिलमिल करता पीताम्बर शोभायमान हो रहा है, आप के गले में घुँघची की माला, कानों में मकराकृति कुण्डल तथा शिर पर मोरपंखों का मुकुट है, इन सबकी कान्ति से आप के मुख पर अनोखी छटा छिटक रही है। वक्षःस्थल पर लटकती हुई वनमाला और नन्हीं-सी हथेली पर दही-भात का कौर है। बगल में बेंत और सींग तथा कमर की फेंट में आप की पहचान बतानेवाली बाँसुरी शोभा पा रही है। पत्थर को भी पिघला देनेवाले कमल-से भी कोमल आप के सुकुमार चरण हैं। मैं मोहित था अतः यह न जान सका कि मेरे आराध्य देव ही आज नन्द-नन्दन के रूप में ब्रज में विराजमान हैं—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।

वन्यस्त्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय<sup>१</sup> ॥१०/१४/१

प्रभो, आप ने अपना यह श्रीविग्रह हमारे ऊपर अनुग्रह करने के लिये अपनी इच्छा से धारण किया है। यह पञ्चभूतों से बना हुआ नहीं है। विशुद्ध चिन्मयस्वरूप है। इसकी महिमा को कोई भी व्यक्ति अपने अन्तःकरण से, समाधि से भी नहीं जान सकता है तो फिर आप के ब्रह्मस्वरूप की महिमा को जानना तो दूर रहा।

भगवन्, आप की भक्ति सारे कल्याणों की जड़ है, उद्गम-स्थल है। जो उसे छोड़ कर केवल ज्ञान-प्राप्ति का प्रयास करते हैं वे क्लेश के तथा दुःख के ही भागीदार बनते हैं। उनके हाथ उसी प्रकार और कुछ नहीं लगता जैसे थोड़ी भूसी कूटनेवाले को केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं—

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥१०/१४/४

हे अच्युत, इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुत से योगी योग-साधना में सफल न होने पर आप की कथा के श्रवण से प्राप्त भक्ति का आश्रय लेकर ही बड़ी सुगमता से परमपद के भागीदार बने। देव, इस संसार में पृथिवी के धूल-कण, आकाश में स्थित ओस की बूँदें और उसमें चमकनेवाले तारे भले ही कथञ्चित् गिन लिये जाँय, किन्तु आपके इस सगुण स्वरूप के अनन्त गुणों को गिनना संभव नहीं है। इसलिये हे मेरे स्वामी, जो पुरुष प्रतीक्षण आप की कृपा का बड़ी उत्सुकता के साथ भली-भाँति अनुभव करता रहता है; प्रारब्धवश जो कुछ भी सुख-दुःख मिल जाय उसे निर्विकार मन से भोग लेता है एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्गद वाणी और पुलकित शरीर से आप को सर्वदा प्रणाम करता रहता है, वह आपके परमपद का अधिकारी अनायास उसी प्रकार बन जाता है जैसे पुत्र अपने बाप की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो जाता है—

१.(क) पशून् पातीति पशुपो नन्दस्तस्याङ्गाज्जातः पशुपाङ्गजस्तस्मै पशुपाङ्गजाय नन्दनन्दनायेत्यर्थः । अर्थात् पशुपालक नन्द के अङ्ग से उत्पन्न होने के कारण कृष्ण पशुपाङ्गज हैं। 'पशुपाङ्गजाय' यह चतुर्थी के एक वचन का रूप है।

(ख) पशुपो नन्दस्तस्य अङ्गं मित्रं वसुदेवः, पशुपाङ्गात् वसुदेवात् जातः पशुपाङ्गजः तस्मै वसुदेवपुत्राय इत्यर्थः । अङ्गं मित्र शरीरयोरिति कोशात् । अर्थात् पशुपालकनन्द के जो मित्र वसुदेव हैं, उनके शरीर से उत्पन्न होनेवाले वसुदेवनन्दन को मैं प्रणाम कर रहा हूँ।

(ग) पशून् नन्दिनं पातीति पशुपो महादेवः अङ्गजो यस्य तस्मै । शिव के हृदय विष्णु हैं और विष्णु के हृदय शिव हैं—शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिव इत्युक्तेः अर्थात् पशु नन्दी को पालनेवाले पशुप हैं शङ्कर जी। शङ्कर हैं अङ्ग से पैदा जिसके वह हैं पशुपाङ्गज, उन्हें प्रणाम है।

(घ) पशून् पापिनः पाति पापात् रक्षति इति पशुपा गङ्गा अङ्गजा अङ्गुष्ठजा यस्य तस्मै पशुपाङ्गजाय इति । अर्थात् पापियों को पाप से बचानेवाली गङ्गा हैं—पशुपा। वह हैं उत्पन्न जिसके अङ्ग से उस विष्णु को मैं प्रणाम कर रहा हूँ। इस प्रकार इस पद के सैकड़ों अर्थ किये जा सकते हैं।



तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।

हृद्वाग्वपुर्विर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥१०/१४/८

हे प्रभो, मेरी दुर्जनता तो देखिये कि मैं अपनी माया का विस्तार कर आप की महिमा जानने का प्रयास कर रहा था । मेरे देव, मैं आप के सामने उसी प्रकार नगण्य हूँ, जैसे उठती हुई आग की लपटों के सामने चिनगारी । आप मुझे अपना भृत्य समझते हुए मेरे अपराध को क्षमा करें । जब बच्चा माँ के गर्भ में रहता है, तब वह अज्ञानवश अपना हाथ-पैर चलाता रहता है किन्तु माता उस पर कभी क्रुद्ध नहीं होती । ऐसे ही ब्रह्माण्ड की कोई वस्तु है क्या, जो आप की कुक्षि से बाहर हो ? मैं भी आप की कुक्षि के भीतर का एक प्राणी हूँ अतः मेरे अपराध को क्षमा करें ।

श्रुतियाँ कहती हैं कि जिस समय तीनों लोक प्रलयकालीन जल में विलीन थे, उस समय उस जल में स्थित नारायण के नाभि-कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ था । उनका यह कथन कथमपि मिथ्या नहीं हो सकता । तब आप ही बतलाइये, प्रभो, क्या मैं आप का पुत्र नहीं हूँ ? आप मेरा अपराध क्षमा करें । सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—ये त्रिदेव आप के ही स्वरूप हैं । भक्तों की रक्षा और दुष्टों के संहार के लिये आप युग-युग अवतरित होते रहते हैं । आप की लीलाओं से पार पाना किसी भी व्यक्ति के लिये संभव नहीं है । यह संसार स्वप्न की भाँति मिथ्या है किन्तु अधिष्ठानरूप आप की सत्ता के कारण सत्य-सा प्रतीत होता है । सत्य तो केवल इसमें एकमात्र आत्मा ही है । जो गुरु-कृपा से इस रहस्य को समझ जाते हैं, वे इस मिथ्या संसार-सागर को पार कर जाते हैं—

गुर्वकलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥१०/१४/२४

जिन्हें ज्ञान नहीं हुआ, जो रहस्य से वञ्चित रह गये, उनके लिये ही यह जीवन-मरणरूप संसार जैसे-का तैसा बना रहता है । सच तो यह है कि संसार-सम्बन्धी बन्धन और मोक्ष—ये दोनों ही नाम अज्ञान से कल्पित हैं । वास्तव में ये अज्ञान के ही दो नाम हैं । सत्य और ज्ञानरूप परमात्मा से इनका भिन्न अस्तित्व नहीं है जैसे सूर्य में दिन और रात का भेद नहीं है, उसी प्रकार आत्मा में भी बन्धन-मोक्ष नहीं है । भगवन्, महान् आश्चर्य की बात है कि आप हैं अपने आत्मा पर लोग आप को पराया मानते हैं और शरीर आदि हैं पराए किन्तु आपको आत्मा मान बैठते हैं और इसके बाद आप को कहीं बाहर ढूँढ़ने लगते हैं । अज्ञ जनों की यह अज्ञानता तो देखिये ! प्रभो, सत्य तो यह है कि जिन पर आप के चरण-कमल की कृपा होती है, वे ही आपकी महिमा के तत्त्व को समझते हैं । दूसरे लोग साधन करते-करते थक जाते हैं, किन्तु आप की महिमा का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते ।

ब्रह्मा जी आगे प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि—भगवन्, मुझे इस जन्म में, किसी दूसरे जन्म में अथवा किसी पशु-पक्षी आदि के जन्म में कुछ ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आप के दासों में कोई एक दास बन जाऊँ और फिर आप के चरण-कमलों की सेवा कर सकूँ । ये ब्रजवासी गायें और गोपियाँ धन्य हैं, जिनके स्तन को वत्स और बालक बन कर आपने अपने मुख से पिया है अन्यथा बड़े-बड़े यज्ञ भी आज तक आप को तृप्त न कर सके । अहो, नन्दबाबा के ब्रज में निवास करनेवाले गोपों का भाग्य कितना आश्चर्यजनक है ! दुनियाँ में देखा यह जाता है कि लोग भगवान् की भक्ति करते हैं, उनके सखा बनते हैं, उनके प्रति मधुरभाव धारण करते हैं, परन्तु इस ब्रज में तो इसका उल्टा ही है । आप ही उनके सखा बनने का सम्बन्धी होने का प्रयास करते देखे जाते हैं—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् । यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥१०/१४/३२

ब्रह्मा जी कहते हैं कि ऐसे ब्रजवासियों के सौभाग्य की महिमा का क्या कहना ! किन्तु मन आदि ग्यारह इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता के रूप में निवास करनेवाले महादेव आदि हम लोग भी बड़े ही भाग्यवान् हैं क्योंकि इन



ब्रजवासियों की मन आदि ग्यारह इन्द्रियों को प्याला बना कर हम आपके चरण-कमलों का, अमृत से भी मधुर, मदिरा से भी मादक और आसव से भी अधिक सर्व-रोग-निवारक, मधुर मकरन्द रस का पान करते रहते हैं—

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।

एतदधुषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्गुदजमध्वमृतासवं ते ॥ १०/१४/३३

प्रभो, आप से मेरी एक विशेष प्रार्थना है—नाथ, यदि मेरा जन्म कभी इस भूतल पर हो तो आप की क्रीडा-भूमि वृन्दावन में हो । उसमें भी यदि गोकुल में हो जाय तब तो मेरे भाग्य की सीमा ही नहीं है । नाथ, मेरी इच्छा है कि यहाँ मैं कोई घास बन जाऊँ, कोई लता या तृण बन जाऊँ, जिससे कि गोकुलवासियों की चरणधूलि उड़-उड़ कर मेरे ऊपर पड़ती रहे । इससे मैं कृतार्थ हो जाऊँगा । इसका कारण यह है कि श्रुतियाँ भी अनादि काल से आप के चरणों की धूलि को खोज रही हैं और आज तक प्राप्त न कर सकीं । ऐसी महिमा से मण्डित आप गोकुल निवासी गोपों के जीवन-धन होकर उनके साथ क्रीडा कर रहे हैं । धन्य-धन्य हैं ब्रज के गोप और गायेँ—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।

यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥ १०/१४/३४

नाथ, मेरी एक जिज्ञासा है । कृपया आप उसका समाधान करें । श्रीकृष्ण ने कहा—हाँ, हाँ, पूछ लीजिये । ब्रह्मा ने कहा—देवों के भी आराध्य प्रभो ! इन ब्रजवासियों को, इनकी सेवा के बदले, आप क्या देंगे, सम्पूर्ण फलों के भी फल—परमफल तो आप ही हैं । आप से बढ़ कर और कोई फल तो है ही नहीं, यह सोच कर मेरा मन मोहित हो रहा है । आप उन्हें अपने आप को देकर भी तो उन्नत नहीं हो सकते क्योंकि आप के स्वरूप को तो अघासुर, बकासुर आदि अपने कुल कुटुम्ब सहित पूतना ने भी प्राप्त कर लिया । उस पूतना ने जिसका कि केवल वेश ही साध्वी स्त्री का था, परन्तु जो हृदय से महान् कुटिल थी, दुष्टा थी फिर जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन सब आप के श्रीचरणों में ही समर्पित कर दिया है, जिनका सब कुछ आप के लिये ही है, उन ब्रजवासियों को भी यही फल देकर आप भला कैसे उन्नत हो सकते हैं ?—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति नश्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति ।

सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता यन्नामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥

१०/१४/३५

प्रभो, जो फल आप ने पूतना को दिया वही फल गोपियों को देंगे, यशोदा मैया को देंगे—यह आप का कथन कुछ जमा नहीं । यह तो 'अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' वाली बात हुई । 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' वाली कथा प्रसिद्ध ही है—एक राजा था । उसका नाम था—चौपट । गुरु-चेला विचरण करते हुए उसी राज्य में पहुँचे । चेला जी ने कहा—“गुरु जी, यहीं रहना चाहिये । यहाँ तो टके सेर भाजी और टके सेर खाजा है । यहीं मौज से रहेंगे” ॥

गुरु जी ने कहा—भाई खतरा है यहाँ रहना ।

चेला ने कहा—अब कुछ भी हो, जो होगा देखा जायेगा । खतरा भी देख लेंगे, टका सेर खाजा लेकर खायेंगे, आनन्द से रहेंगे ।

संयोग से वहाँ एक चोर पकड़ा गया । मुकदमा हुआ तो चोर ने उजुर्दारी की—साहब, इनकी दीवार कमजोर थी । न जाने कैसी बनाई थी, सेंध काटते समय दीवार गिर पड़ी, हमारे पैर में चोट आ गई । इनको दण्ड मिलना चाहिये, मुझे क्यों दण्ड मिलना चाहिये ?

न्यायाधीश ने कहा—हाँ, ठीक कहते हो । जिसने मकान बनाया उसी को दण्ड मिलना चाहिये । उसे फाँसी की सजा मिली ।



पता लगाया गया तो पता चला—यह बहुत दुर्बल हैं, फाँसी का फन्दा बड़ा है। मोटा गरदन मांगता है अतः यह फाँसी पर चढ़ने योग्य नहीं है।

साहब ने कहा—किसी मोटे आदमी को पकड़ लाओ। फाँसी देना ही है, किसी मोटे को पकड़ लाओ।

बस गुरु-चेला खाजा खा-खा कर खूब मोटे हुए थे। वे ही पकड़ कर ले जाये जाने लगे। चेला जी ने कहा—गुरु जी, यह तो खतरा हो गया।

गुरु जी ने कहा—हाँ, भाई खतरा तो हो गया। मैंने तो पहले ही कहा था—अन्धेर नगरी में मत रहो।

चेला जी ने कहा—अब क्या करेंगे ?

गुरुजी ने कहा—जब फाँसी होने लगे तो तुम कहना—मैं फाँसी पर चढ़ूँगा, मैं कहूँगा कि—मैं फाँसी पर चढ़ूँगा।

सचमुच में हुआ ऐसा ही। गुरु-शिष्य—हम फाँसी पर चढ़ेंगे, हम फाँसी पर चढ़ेंगे। यह कहकर झगड़ने लगे। दोनों को बुलाया गया। राजा के सामने पेश किया गया। राजा ने पूछा—क्या बात है भाई, फाँसी तो खराब होती है, तुम दोनों फाँसी के लिये क्यों झगड़ते हो ?

गुरु-शिष्य ने कहा—महाराज, आज जो फाँसी पर चढ़ेगा, बस उसी को अखण्ड भू-मण्डल का राज्य प्राप्त होगा।

राजा ने कहा—तुम दोनों हटो, हम फाँसी पर चढ़ेंगे।

यह है 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' की बात। तो महाराज, पूतना को भी आत्मसमर्पण और इन भक्तों को जिन्होंने अपना सर्वस्व आप के चरणों में अर्पण कर रक्खा है, उनको भी वही आत्मसमर्पण। यह तो अनुचित है।

तब भगवान् ने कहा—ब्रह्मा जी, इन ब्रजवासियों से मैं कभी भी, कुछ भी देकर उन्मत्त नहीं हो सकता। इनका ऋण सर्वदा मेरे ऊपर बना ही रहेगा।

आगे ब्रह्मा जी ने कहा—प्रभो, तभी तक राग आदि चोर परेशान करते हैं, तभी तक घर कारागार के समान है और मोहरूपी बेणी तभी तक बाँधती हैं जब तक लोग आप के चरणों में समर्पित नहीं हो जाते। मेरे स्वामिन्, बहुत कहने की आवश्यकता नहीं—जो लोग आप की महिमा जानते हैं, वे जानते रहें; किन्तु आप का ऐश्वर्य मेरे शरीर, मन और वाणी से परे है। मेरे स्वामी, आप सब के साक्षी हैं अतः आप सब कुछ जानते हैं। आप समस्त जगत् के मालिक हैं। यह सारा प्रपञ्च आप में ही विराजमान है। आप से मैं और क्या कहूँ ? अब आप मुझे स्वीकार कीजिये। मुझे अपने लोक में जाने की आज्ञा दीजिये। श्यामसुन्दर, आप यदुवंशरूपी कमल को विकसित करनेवाले सूर्य हैं। प्रभो, पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और पशुरूप सागर की वृद्धि करनेवाले चन्द्रमा भी आप ही हैं। आप ही सूर्य-चन्द्ररूप से अधर्मरूपी अन्धकार का नाश करते हैं। आप राक्षसों के द्रोही हैं। हम सूर्यपर्यन्त और कल्पपर्यन्त आप को नमस्कार करते हैं। आप जो आभूषण पहने हुए हैं, उनको भी हम नमस्कार करते हैं। अब मैं कल्प के अन्त में ही आप का दर्शन कर सकूँगा अतः मैं आज आप को कल्पभर का पुनः पुनः प्रणाम कर रहा हूँ।

यतः ब्रह्मा जी ने भगवान् के प्रिय बछड़ों और बालकों को उनसे वियुक्त कर दिया था अतः वे उनसे कुछ बोले नहीं। मौनद्वारा ही ब्रह्मा को जाने की आज्ञा दे दी। ब्रह्मा जी ने भगवान् की परिक्रमा की और पुनः प्रणाम कर उनकी महिमा का स्मरण करते हुए अपने लोक चले गये। उन्होंने बालकों और बछड़ों को पहले ही यथास्थान पहुँचा दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा जी को विदा कर बछड़ों को लेकर यमुना जी के पुलिन पर आये। वहीं वे पहले अपने मित्र ग्वालबालों को छोड़कर गये थे। यद्यपि भगवान् से बिछुड़े उन्हें पूरा एक वर्ष बीत गया था, तथापि उन ग्वालबालों को वह समय आधे क्षण के समान जान पड़ा। यह भगवान् की विश्वमोहिनी माया का प्रभाव था। इस दुनियाँ में भगवान् की लीला ऐसी है कि सभी अपने आप को भूले हुए ही हैं। श्रीकृष्ण को देखकर ग्वालबालों ने कहा—आओ, कन्हैया,



आओ कन्हैया ! अभी तो हमने एक ग्रास भी नहीं खाया है, हमारे साथ भोजन करो । बालकों की बात सुनकर भगवान् ने हँसते हुए उनके साथ बैठ कर भोजन किया और उन्हें अघासुर के शरीर का ढाँचा दिखाते हुए वे वन से व्रज में लौट आये । वहाँ लौटकर बालकों ने अपने-अपने घर में कहा—आज कन्हैया ने वन में एक बड़ा भारी अजगर मार डाला है और उससे हम लोगो की रक्षा की है ।

राजा परीक्षित ने पूछा—महाराज, श्रीकृष्ण तो पराये बालक थे, अपने पुत्र नहीं थे फिर व्रजवासियों का उनके प्रति इतना प्रबल प्रेम कैसे हुआ ?

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—राजन्, संसार के सभी प्राणी अपने आत्मा से ही सबसे बढ़कर प्रेम करते हैं । पुत्र, धन आदि से जो प्रेम होता है, वह तो इसलिये होता है कि वे वस्तुएँ आत्मा को प्रिय लगती हैं । कृष्ण को आप सकलजगत् की आत्मा समझें । वे आत्मा के भी आत्मा हैं, कारणों के भी कारण हैं । इसीलिये मनुष्य स्वभावतः सब से अधिक भगवान् से प्रेम करता है । कृष्ण के प्रति व्रजवासियों के प्रेम का मूल कारण यही था । जो लोग भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द का आश्रय लेते हैं, उनके लिये यह दुस्तर संसार-सागर बछड़े के खुर के गड्ढे के समान सरलता से सन्तरणीय हो जाता है—“भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं” ॥५८॥

राजन्, आप ने पूछा था कि कुमारावस्था में किये गये अघासुर के वध की चर्चा बालकों ने पौगण्डावस्था में अपने माँ-बाप से क्यों की ? इसके उत्तर में मैंने ये सारी बातें आप से प्रकट कर दी । उसका कारण बतला दिया । जो लोग इस लीला को प्रेम से कहते हैं और सुनते हैं, उनके चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध का यह चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१४॥

## पन्द्रहवाँ अध्याय

( धेनुकासुर का उद्धार और ग्वालबालों को कालिय नाग के विष से बचाना )

भगवान् श्रीकृष्ण पाँच वर्ष पूरे कर छठे वर्ष में प्रविष्ट हुए । छठे वर्ष के कार्तिक शुक्ल अष्टमी को श्रीकृष्ण की गोचारण-लीला प्रारम्भ हुई । इसीलिये उसे गोपाष्टमी कहते हैं ।

छठे वर्ष में प्रवेश करने पर एक दिन कन्हैया ने यशुमति से कहा—मैया, देखो अब मैं बड़ा हो गया हूँ अतः गायों को चराने जाऊँगा ।

यशोदा—मेरे लाला, अभी तो तू छोटा ही है । जरा और बड़ा हो जा फिर अच्छा-सा मुहूर्त दिखलाकर मैं तुझे गोपाल बनाऊँगी ।

इसी बीच पुरोहित शाण्डिल्य ऋषि का आगमन हुआ । यशोदा ने उन्हें कन्हैया का जन्माक्षर देते हुए गोपाल बनाने का मुहूर्त पूछा । इस पर ऋषि ने कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी का मुहूर्त दिया । कन्हैया उस दिन गोपाल बनने वाले थे । उन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि उनकी नींद भी गायब हो गई । उन्होंने कहा—मैया, मुझे गायों से बड़ा प्रेम है । मैं इनकी पूजा करूँगा ।

प्रातःकाल हुआ । कन्हैया स्नान आदि से निवृत्त हुए ही थे कि शाण्डिल्य ऋषि आ गये । कन्हैया ने गायों की



पूजा की। उनको फूल-माला पहना कर उन्हें मिठाई खिलाई। गायों ने आशीष दिया—हमारे लाला की जय-जयकार हो। शाण्डिल्य ऋषि को दक्षिणा देकर कन्हैया ने पैर छूकर आशीर्वाद लिया।

यशोदा मैया ने कन्हैया को अङ्ग-वस्त्र और पादत्राण पहनाना चाहा तो उन्होंने कहा—मैया, मैं गोपाल हूँ, गायों का सेवक हूँ, गायें नंगे पैर रहें और गायों का सेवक जूते पहने, क्या यह शोभा देगा ? मैया ने कहा—बेटा, गायें तो पशु हैं। इनकी बात कुछ और है। इस पर कन्हैया ने कहा—मैया, ऐसा कभी मत कहना। गायों में सारे देवों का वास है अतः वे मेरी पूज्य गैया मैया हैं। मैं तो गायों का सेवक हूँ।

कृष्ण जब तक गोकुल में रहे तब तक उन्होंने बड़ी दृढता से चार नियमों का पालन किया—(१) उन्होंने गोकुल में सिले हुए कपड़े कभी नहीं पहने; क्योंकि उनके साथी ग्वाल-बाल बड़े गरीब थे। (२) अस्त्र-शस्त्र नहीं धारण किये। (३) शिर के बाल कभी नहीं उतरवाये और (४) कभी जूते नहीं पहने।

बलराम और गोपबालों के साथ गायों को आगे करके भगवान् श्रीकृष्ण ने वृन्दावन में प्रवेश किया। नग्न पद से विचरण करते हुए उन्होंने वृन्दावन को परमपावन बना दिया। गोपबालक उनके पीछे-पीछे उनका यशोगान करते हुए चल रहे थे। वृन्दावन हरी-हरी घासों एवं रङ्ग-विरङ्गे फूलों से अलङ्कृत था। उसे देखकर भगवान् ने मन-ही-मन उस में विहार करने का सङ्कल्प किया। उन्होंने देखा कि बड़े-बड़े वृक्ष फल और फूलों के भार से झुक कर उनके चरणों का स्पर्श कर रहे हैं, तब उन्होंने आनन्दित होकर मुस्कराते हुए अपने अग्रज बलराम जी से कहा—मैया, वृन्दावन के ये बड़े-बड़े वृक्ष फलों और फूलों का उपहार लेकर आप के चरणों में झुक कर प्रणाम कर रहे हैं। ये सभी कभी बड़े-बड़े भक्त थे, सन्त थे, अब अपनी इच्छा से वृन्दावन के वृक्ष बन गये हैं। गाय, बछड़े एवं हरिण आदि होने की अपेक्षा उन्होंने वृक्ष बनना अधिक अच्छा समझा क्योंकि गायों को कभी-कभी दान देकर नन्द बाबा उन्हें वृन्दावन से बाहर भेज देते हैं अतः उन लोगों ने निश्चल वृक्ष बनना अधिक समीचीन समझा—“तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्” (५)—व्रज से बाहर जाना ही तम है। उसके नाश के लिये ही इन सन्तों ने व्रज के वृक्ष बनना पसन्द किया। इधर देखिये भ्रमरों का झुण्ड आप की मंगलमयी कीर्ति का गान करते हुए आपके पीछे-पीछे भ्रमण कर रहा है। आप छिप कर मानवयोनि में आये तो आपके ये भक्त भी आप का यशोगान करने के लिये अपने को बदल कर भ्रमररूप में आये हैं। नृत्य करके मयूर, कटाक्षपातद्वारा हरिणियाँ और मधुर-मधुर स्वरों से कोकिलाएँ आप का स्वागत कर रही हैं। आप के चरण-स्पर्श से वृन्दावन का भूतल, तृण तथा कर स्पर्श से वृक्ष-लताएँ भी धन्य-धन्य बन रही हैं। अपने घर आये हुए आप का ये सब स्वागत कर रहे हैं। वस्तुतः सत्पुरुषों का यही स्वभाव है कि वे अपने यहाँ पधारे हुए की अपनी शक्तिभर सेवा करें—“इयान् हि सतां निसर्गः” ॥७॥

परीक्षित, इस प्रकार परम सुहावन वृन्दावन को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण बहुत ही आनन्दित हुए। वे अपने सखा ग्वालबालों के साथ गोवर्धन की तलहटी में, यमुना के तट पर गायों को चराते हुए विविध लीलायें करने लगे। वे कभी ग्वालबालों के साथ भ्रमरों के स्वर में स्वर मिलाकर गुनगुनायें, कभी कलहंसों के साथ कूजन करें, कभी मयूरों के साथ नाचें। कभी मेघ-गम्भीर ध्वनि से गायों को बुलावें, कभी पक्षी और पशुओं की ध्वनियों की नकल करें। जब कभी बलराम जी किसी गोप-साथी की गोद में शिर रखकर लेट जाँय तो वे उनके चरणों को दबावें—

“स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः” ॥१४॥

हृदय-त्रेता में कृष्ण थे राम और बलराम थे लक्ष्मण। लक्ष्मण राम का पैर दबा कर उनकी सेवा करते थे।



इस अवतार में, उस सेवा का बदला चुकाने के लिये ही, कृष्ण छोटे बने हैं और शेषावतार बलराम को अपने से बड़ा बनाया है। श्रीकृष्ण अब उसी सेवा का बदला चुका रहे हैं—

राम और श्याम कभी ग्वालबालों की क्रीड़ा देखकर हँसें और कभी उनकी प्रशंसा करें। कभी-कभी कृष्ण स्वयं भी उनके साथ कुश्ती लड़ते। थक जाने पर कोमल पल्लवों की शैया बनाकर वृक्ष के नीचे लेट जाते थे। उस समय कोई उनका शिर अपनी गोद में रख लेता। कोई उनका पैर दबाता और कोई उनको हवा डुलाता था। लक्ष्मी जिनकी चरण-सेवा के लिये ललायित रहती हैं, वे ही भगवान् यहाँ ग्रामीण बालकों के साथ बड़े प्रेम से ग्रामीण खेल खेल रहे थे। किन्तु ऐसा होने पर भी कभी-कभी उनकी ऐश्वर्यमयी लीलाएँ भी प्रकट हो जाया करती थीं।

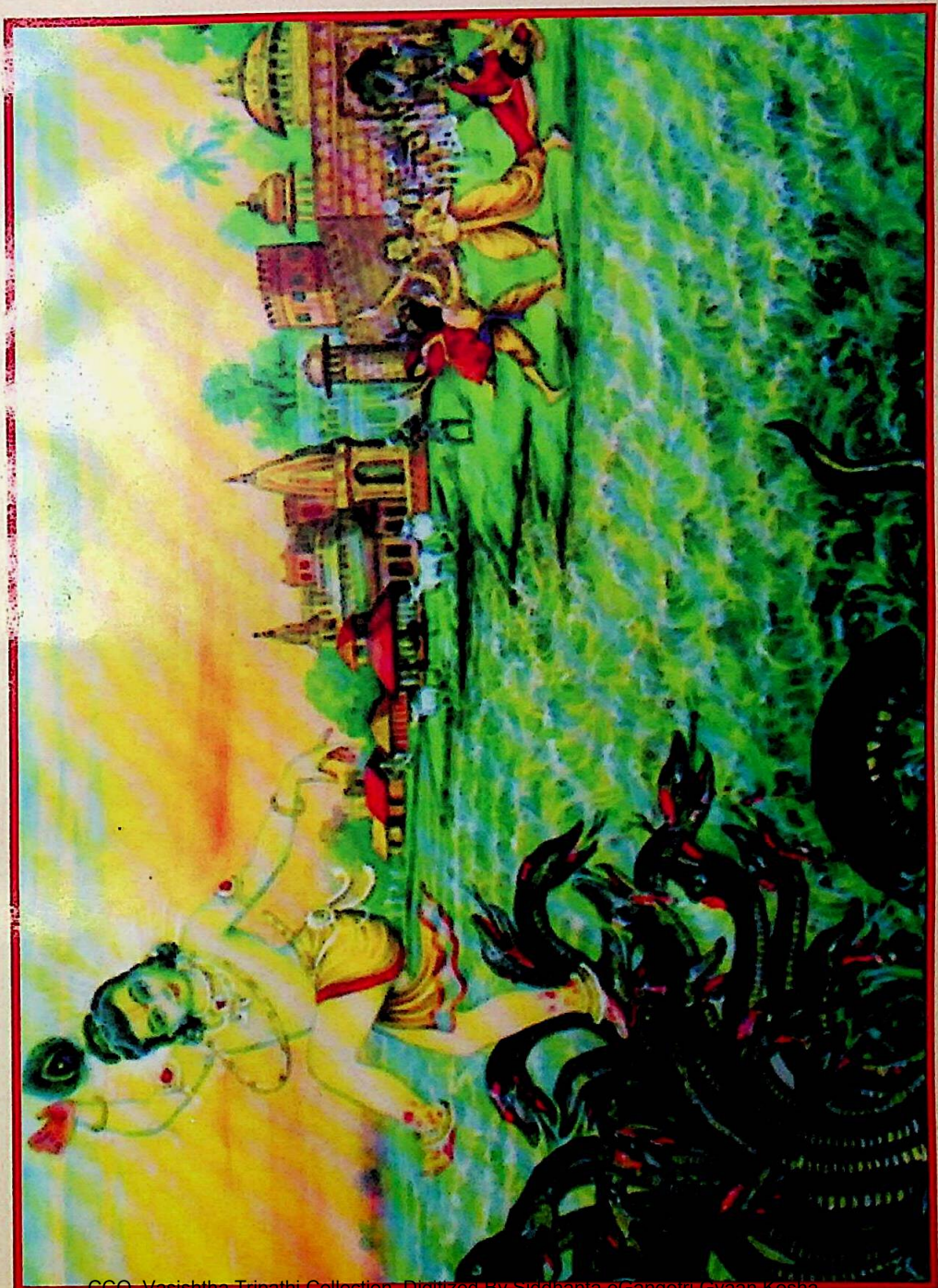
धेनुकासुर का वध—श्रीदामा, सुदामा आदि नाम भगवान् को बहुत प्रिय हैं। बलराम और श्रीकृष्ण के बहुत-से मित्र थे। उनमें श्रीदामा नाम का गोप बालक प्रधान था। एक दिन उन्होंने तथा सुबल और स्तोककृष्ण (छोटे कृष्ण) आदि ग्वालबालों ने श्याम और राम से बड़े प्रेम से कहा—यहाँ से थोड़ी दूर पर ताल नाम का एक सुन्दर वन है। वहाँ बहुत-से ताल के विशाल वृक्ष हैं। सब पके-पके फलों से लदे हुए हैं। फल बहुत ही सुन्दर और स्वादिष्ट हैं। उनकी सुगन्ध यहाँ तक आ रही है। बहुत-से फल वहाँ गिरे हैं और सर्वदा टपकते भी रहते हैं। उनको खाने की हमारी बड़ी इच्छा हो रही है। इस पर भगवान् ने कहा तो जाकर लाओ। इस पर गोपों ने कहा—अरे भैया, वहाँ धेनुक नाम का एक दुष्ट दैत्य रहता है। उसने उन फलों पर रोक लगा रखी है। अब तक उसने अनगिनत मनुष्यों को मार कर खा लिया है अतः कोई भी व्यक्ति उसके भय से वहाँ नहीं जाता है। उसका डर इतना महान् है कि पशु-पक्षी भी उस जंगल में नहीं जाते। बलदाऊ और भैया कृष्ण, यदि आप उचित समझें तो उन फलों को आज हमें अवश्य खिलावें।

ग्वालबालों की बात पर राम-श्याम को हँसी आ गई और फिर उन सबको लेकर वे उस वन में चले गये। वहाँ पहुँचते ही महाबली बलराम ने वृक्षों को पकड़कर जोर से झकझोर दिया जिससे बहुत से फल तड़ातड़ भूतल पर गिर पड़े। फलों के गिरने की आवाज सुनते ही क्रुद्ध होकर धेनुकासुर बलराम को मारने के लिये दौड़ा। उसने बड़े जोर से रेंकते हुए बलराम की छाती पर दुलत्ती से प्रहार किया। जब फिर दुबारा दुलत्ती से उन पर प्रहार करने का प्रयास किया तो बलराम जी ने अपने दाँये हाथ से उसके दोनों पैरों को पकड़ कर आकाश में धुमाना शुरू किया और तब तक घुमाते रहे जब तक कि उसके प्राण-पखेरू उड़ नहीं गये। निर्जीव हो जाने पर उन्होंने उसे ताड़ के पेड़ पर दे मारा। उसके धक्के से बहुत-से वृक्ष धराशायी हो गये। वन की भूमि तालों, ताल के फलों से पट गई। यह देखकर धेनुक के अनुयायी बलराम और कृष्ण पर टूट पड़े। राम और कृष्ण ने पास में आये हुए दैत्यों का पैर पकड़ कर सब को वृक्षों पर दे मारा। अब जिधर देखिये उधर फल, वृक्ष और मरे हुए दैत्य ही दिखलाई पड़ते थे।

इस दृश्य को देखकर देवता लोग राम और श्याम पर आकाश से फूलों की वर्षा करने लगे। बलराम और कृष्ण की कृपा से बालकों ने छककर तालफलों का आस्वाद लिया। जिस दिन धेनुकासुर मरा उस दिन से लोग निर्भय होकर उस वन के ताल-फल खाने लगे तथा पशु भी स्वच्छन्दता के साथ वहाँ की घास चरने लगे—

अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः । तृणं च पशवश्चेरुहृतधेनुककानने ॥१०/१५/४०











धेनुक-कानन में विचरण करके सायंकाल भगवान् कृष्ण बड़े भाई बलराम जी और ग्वालबालों के साथ ब्रज में आये। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण की घुँघराली अलकों पर गायों के खुरों से उड़-उड़ कर धूलि पड़ी हुई थी, शिर पर मोर-पंख का मुकुट शोभा पा रहा था और बालों में सुन्दर-सुन्दर जंगली पुष्प गुँथे हुए थे। उनके नेत्र मधुर-मधुर चितवन और मुख मनोहर मुसकान से सब का मन हर रहे थे। वे चित्ताकर्षक मुरली बजा रहे थे और साथी ग्वाल-बाल उनकी ललित कीर्ति का गान कर रहे थे। वंशी की ध्वनि सुनकर झुण्ड-की-झुण्ड गोपियाँ ब्रज से बाहर निकल पड़ीं। उनकी आँखें न जाने कब से कृष्ण-दर्शन के लिये तरस रही थीं—

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्प्रसूनरुचिरैक्षणचारुहासम् ।

वेणुं क्वणन्तमनुरगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ॥१०/१५/४२

ब्रज की गोपियाँ कृष्ण के दर्शन के बिना दिन भर सन्तप्त होती रहीं। अब सायंकाल वे निर्निमेषनयनों से कृष्ण को निहार-निहार कर अपने नेत्रों को शीतल बना रही थीं। भगवान् ने भी उनकी प्रेमभरी तिरछी चितवन का सत्कार स्वीकार करते हुए गोकुल में प्रवेश किया। पुत्रवत्सला यशोदा और रोहिणी ने अपने-अपने लाला को उबटन लगाया, स्नान कराया, सुन्दर वस्त्रों और रुचिर मालाओं से अलङ्कृत कर स्वादिष्ट भोजन कराया। भोजन करके दोनों भाई सुन्दर सुकोमल शय्या पर शयन किये।

**हृदय—धेनुकासुर**—वल्लभाचार्य महाराज ने धेनुकासुर को देहाध्यास बतलाया है—“देहाध्यासो हि धेनुकः”। अध्यास कहते हैं—अज्ञान को। अध्यास कई प्रकार का होता है—देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास और अन्तःकरणाध्यास। जो लोग शरीर को ही आत्मा मानकर सन्तुष्ट हो उसका लालन-पालन करते हैं, वे देहाध्यासी हैं। ऐसे लोग अपने शरीर के लिये संसार का अपमान करने से हिचकते नहीं हैं। धेनुकासुर देहाध्यासी था। भगवान् अथवा भगवान् का अंश ही देहाध्यास से छुटकारा दिला सकता है।

धेनुकासुर ब्रह्माद का वंशज था। कृष्ण ने ब्रह्माद से कहा था—“न मे वध्यस्तवान्वयः” अर्थात् तुम्हारे वंश में उत्पन्न किसी भी व्यक्ति का वध मेरे हाथों से नहीं होगा। यही कारण था कि धेनुक का वध कृष्ण ने नहीं किन्तु बलराम ने किया था।

**धेनुकासुर का पूर्वजन्म**—धेनुकासुर अपने पूर्व जन्म में बलि का बेटा ‘साहसिक’ था। एक बार यह गन्धमादन पर्वत पर तिलोत्तमा अप्सरा के साथ उद्दाम संभोग में संलिप्त था। इसे यह भी ध्यान न था कि पास में ही महर्षि दुर्वासा ध्यानस्थ हो तप कर रहे हैं। साहसिक और तिलोत्तमा की क्रीडा से ऋषि का तप भङ्ग हुआ। उन्होंने क्रोध में आकर शाप दिया—जा तू असुर योनि में जाकर गधा बनेगा और बलराम के हाथों मारे जाने पर तेरा उद्धार होगा। यह तिलोत्तमा भारतवर्ष में बाणासुर की बेटा बन कर जन्मेगी। श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के आलिङ्गन-पाश को प्राप्त कर यह शाप से मुक्त होगी।

**ग्वालबालों को कालिय नाग के विष से बचाना**—एक दिन की घटना है। कन्हैया अपने सखा ग्वालबालों के साथ यमुना-तट पर गये। उस दिन उन लोगों के साथ बलराम नहीं गये थे। ज्येष्ठ का महीना था। गर्मी भीषण थी। गायें और ग्वालबाल प्यास से व्याकुल हो रहे थे इसलिये उन लोगों ने यमुना का विषैला जल पी लिया। उसे



पीते ही गाएँ और ग्वाल-बाल अचेत होकर यमुना जी के तट पर गिर पड़े। उनकी यह अवस्था देखकर कृष्ण को दया आ गई। उन्होंने अमृत बरसानेवाली अपनी दृष्टि से देखकर सबको जीवित कर दिया। चेतना आने पर वे सब यमुना जी के तट पर उठ खड़े हुए और आश्चर्य से चकित होकर एक-दूसरे को देखने लगे। अन्त में उन लोगों ने यही निश्चय किया कि—विषैले जल के प्रभाव से हम लोग मर चुके थे। परन्तु हमारे कन्हैया ने अपनी अनुग्रहभरी दृष्टि से देखकर हम लोगों को जीवित कर दिया ॥१५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध का यह पन्त्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥

## सोलहवाँ अध्याय

### ( कालिय नाग का दमन )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—यमुना के विषैले जल को पीकर गाएँ और गोप-बालक विगत-प्राण हो गये थे अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि यमुना का जल कालिय नाग के विष से अत्यन्त विषैला हो गया है। तब यमुना जी को शुद्ध करने के विचार से उन्होंने कालिय को वहाँ से निकाल बाहर किया।

इसे सुन कर राजा परीक्षित ने पूछा—ब्रह्मन्, कृपा कर यह बतलायें कि भगवान् श्रीकृष्ण ने यमुना जी के अगाध जल में कैसे उस सर्प का दमन किया ? और यह बतलायें कि जलचर जीव न होते हुए भी वह नाग युगों से उस जल में क्यों और कैसे रहा ?

राजा के प्रश्नों को सुनकर श्री शुकदेव जी ने कहना प्रारम्भ किया—परीक्षित, यमुना जी में कालिय नाग का एक विशाल कुण्ड था<sup>१</sup>। उसका जल विष की गर्मी से खौलता रहता था। उस के प्रभाव से कुण्ड के ऊपर उड़नेवाले पक्षी भी झुलस कर उसमें गिर जाया करते थे—

कालिन्धां कालियस्यासीद्भद्रदः कश्चित् विषाग्निना । श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥

१०/१६/४

कुण्ड के तरङ्गों के स्पर्श से और वायुद्वारा लाये गये उस के जल-कणों के सम्पर्क से तट के पेड़-पौधे सभी जलकर विनष्ट हो गये थे। वहाँ तट पर एक कदम्ब का वृक्ष था। वही एकमात्र हराभरा था। उसका कारण यह था कि स्वर्ग से अमृत का घट लाते समय कभी उस पर गरुडजी बैठे थे, जिससे अमृत की कुछ बूँदे छलक कर उस वृक्ष पर आ पड़ी थीं। भगवान् कृष्ण ने दुष्टों का दमन करने के लिये ही अवतार धारण किया है। उन्होंने देखा कि उस नाग का विष अत्यन्त भयङ्कर है, यह विष ही उसका बल है, उससे ही यह यमुना दूषित है, अतः उन्होंने यमुना को निर्विष बनाने का निश्चय किया। फलतः अपने दुपट्टे से कमर कस ली ताल ठोंका फिर उस ऊँचे कदम्ब की डाल पर चढ़कर धड़ाम से कूद पड़े उस यमुना-कुण्ड के जल में—

१. कुछ लोगों ने हरिवंश पुराण को उद्धृत करते हुए लिखा है कि—“यमुना के प्रवाह से कुण्ड का स्पर्श नहीं होता था। अन्यथा यमुना का जल मथुरवासियों के व्यवहार में नहीं आ सकता था।” किन्तु यह कहना भागवत-हृदय के अनुकूल नहीं है। वस्तुतः हृदय यमुना के मध्य में था। परन्तु यमुना के प्रवाह में जब उसका जल बहता था तब निर्विष हो जाता था। यह यमुना के जल का प्रताप था। ऐसा ही सामर्थ्य गंगा जी के जल में भी है।



तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः ।

कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्गमास्फोट्य गाढरसनो न्यपतद् विषोदे ॥१०/१६/६

भगवान् के कूदने से यमुना-हृद का जल उछल कर चार सौ हाथ की दूरी तक फैल गया। कुण्ड को ही हृद कहते हैं। भगवान् ने अपनी भुजाओं से उस कुण्ड के जल को इस प्रकार मथ डाला कि उससे बड़े जोर-जोर का शब्द होने लगा। कालिय नाग को यह सहन न हुआ कि कोई उसके स्थान का तिरस्कार करे अतः वह क्रुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्ण के सामने वेग से सरकता हुआ आ गया। एक क्षण के लिये उसकी आँखें भगवान् के सौन्दर्य को निरख कर निहाल हो गई। इतना सुन्दर, सुकुमार बालक उसने अपने जीवन में कभी देखा ही नहीं था। इतना आकर्षक रूप होने पर भी जब कालिय नाग ने देखा कि बालक तनिक भी भयभीत नहीं हो रहा है तो उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने श्रीकृष्ण के मर्मस्थलों में डँसने के बाद उन्हें चारों ओर से लपेट कर जकड़ लिया—“सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद” ॥९॥

नाग के द्वारा कस कर लपेटे जाने पर एक क्षण के लिये भगवान् श्रीकृष्ण निश्चेष्ट हो गये। यह देखकर उनके प्रिय मित्र सारे ग्वालबाल अत्यन्त भयभीत होकर चिल्ला उठे। उनमें तो कितने मूर्च्छित होकर भूतल पर गिर पड़े। गाय, बैल, बछिया और बछड़े भी जोरों से रंभाते हुए हृद के तट पर आ गये और रोते हुए एक टक श्रीकृष्ण को ही निहारने लगे—

गावो वृषा वत्सतर्धः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः । कृष्णो न्यस्ते क्षणा भीता रुदत्य इव तस्थिरे ॥

१०/१६/११

इधर व्रज में पृथ्वी, आकाश और शरीरों में बड़े भयङ्कर-भयङ्कर उत्पात और अपशकुन होने लगे। इन्हें देख कर व्रजवासी नन्द आदि गोप और गोपियाँ सभी भयभीत हो उठे। आज बलराम के बिना ही कृष्ण गायों को चराने गये थे अतः लोग सोचने लगे कि कहीं कृष्ण का कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया। कृष्ण के अनिष्ट की आशङ्का से वे भय-विह्वल हो उठे। बालक, वृद्ध, वनिता तथा तरुण सब-के-सब कृष्ण को देखने की लालसा से व्रज से निकल पड़े। उन्हें इस प्रकार विकल जानकर बलराम जी को कुछ हँसी आ गई। वे अपने लघुबन्धु के बल-पराक्रम को जानते थे अतः वे न तो चिन्तित ही हुए और न कुछ बोले ही। सभी आबाल-वृद्ध गोप-गोपी-गण भूमि पर पड़े श्रीकृष्ण के चरण-चिह्नों को देखते हुए यमुना के तट पर कालिय हृद के पास पहुँचे। वहाँ श्रीकृष्ण की दशा देखकर सब को बड़ी व्याकुलता हुई। गोपियों को तो श्रीकृष्ण के बिना सारा जगत् सूना-सा प्रतीत होने लगा। माता यशोदा और नन्द बाबा अपने लाड़ले लाल की यह दशा देखकर दुःख से कातर होकर हृद में कूदने जा रहे थे कि बलराम जी ने उन्हें समझा-बुझाकर रोक लिया। भगवान् ने देखा कि सारे व्रजवासी उनके लिये व्यथित हो रहे हैं, निष्प्राण हो रहे हैं तो एक मुहूर्त तक सर्प के बन्धन में रह कर वे बाहर निकल आये। भगवान् श्रीकृष्ण ने उस समय अपना शरीर फुला कर खूब मोटा कर लिया। इससे साँप का शरीर टूटने लगा। वह अपना नागपाश छोड़कर अलग खड़ा हो गया। उस समय उसके फण ऊपर उठे हुए थे। आँखे क्रोध के मारे लाल-लाल थीं। वह जोर-जोर से फुत्कार रहा था। भगवान् श्रीकृष्ण और वह सर्प एक दूसरे को पकड़ने की इच्छा से पैतरा बदल-बदल कर चक्कर काटने लगे। चक्कर काटते-काटते नागराज अत्यन्त श्रान्त हो गया। उसके शरीर पर पसीने की बूँदें उभर आईं। श्रीकृष्ण ने देखा नागराज थक गया है, बलहीन बन गया है, तो उन्होंने उसके विशाल फण को झुका कर उसके ऊपर चढ़ गये। फिर क्या



था, भगवान् उसके सारे फणों पर कूद-कूद कर नाचने लगे, पैरों के तलवों से पटक कर उसके फणों को कूटने लगे—“अखिलकलादिगुरुर्ननती” ॥२६॥ कालिय नाग के फण-पटल पर नृत्याचार्य श्रीकृष्ण को नृत्य करते देखकर सारी देव-मण्डली बाजा बजाने लगी, नाचने लगी और फूलों की वर्षा करने लगी। कालिय नाग के एक सौ एक शिर थे। उसके जो-जो फण नहीं झुक रहे थे, उसी को प्रचण्ड दण्डधारी भगवान् अपने पैरों की चोट से कुचल डालते थे। फल यह हुआ कि नागराज मृतप्राण हो गया। उसके मुखों और नासिका-छिद्रों से रक्त की धाराएँ प्रवाहित होने लगीं। अन्त में स्थिति यह आई कि वह बेहोश हो गया। होश आने पर उसने मन-ही-मन जगन्नियन्ता नारायण की शरण ग्रहण की—

स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं, नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥१०/१६/३०

अपने पति की यह दुर्दशा देखकर नागराज की पत्नियाँ अपने बालकों को आगे करके भगवान् की शरण में आईं। भय के मारे उनके वस्त्राभूषण अस्त-व्यस्त हो रहे थे। केश की चोटियाँ बिखर रही थीं। वे भगवान् के चरणों पर गिर पड़ीं और पति को छुड़ाने की इच्छा से उन्होंने उनकी शरण ग्रहण की। फिर हाथ जोड़ कर उन्होंने भगवान् की स्तुति प्रारम्भ की। उनकी स्तुति के तीन भाग हैं। प्रथम भाग में छः श्लोकों से उन्होंने नागराज को दण्डित करने का अनुमोदन किया है। दूसरे भाग में दस श्लोकों से भगवान् के चरणों में प्रणाम निवेदित किया है और तीसरे भाग में पाँच श्लोकों से पति के अपराध की क्षमा-याचनापूर्वक उसे मुक्त करने की प्रार्थना की है। उनकी प्रार्थना का सारभाग इस प्रकार है—

प्रभो, आप दुष्टों का दमन करने के लिये ही अवतार धारण करते हैं अतः अपराध करनेवाले नागराज को दण्डित करना आप के लिये उचित ही है। आप की दृष्टि शत्रु और सुत पर समान रहती है। आप व्यक्ति के कल्याण के लिये ही उसका दमन करते हैं—

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिंस्तवावतारः खलनिग्रहाय ।

रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥ १०/१६/३३

आपने हम लोगों पर बड़ा ही अनुग्रह किया है। यह तो आप का कृपाप्रसाद ही है क्योंकि आप तो दुष्टों को दण्ड देते हैं, उससे उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। नागराज अवश्य ही अपराधी हैं। तभी तो इन्हें सर्प की योनि मिली है इसलिये हम सच्चे हृदय से आप के इस क्रोध को भी आप का अनुग्रह ही समझ रही हैं—“क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः” ॥३४॥ मेरे स्वामी, हमें नहीं मालूम कि नागराज के किस पुण्य का यह प्रताप है, जो इन्हें आप की चरण-धूलि के स्पर्श का अधिकार प्राप्त हुआ है। आप के चरणों की रज इतनी दुर्लभ है कि उसके लिये आप की अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी जी को भी बहुत दिनों तक समस्त भोगों का त्याग करके नियमों का पालन करते हुए चिर काल तक तपस्या करनी पड़ी थी—

प्रभो, जो आपके चरणों की धूलि भी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे भक्त-जन स्वर्ग का राज्य अथवा भूतल की बादशाही भी नहीं चाहते। न वे रसातल का ही राज्य चाहते हैं और न ब्रह्मा के पद की ही उन्हें कामना होती है। उन्हें अणिमा आदि योग-सिद्धियों की भी अभिलाषा नहीं होती। यहाँ तक कि जन्म-मृत्यु से छुटकारा देनेवाले कैवल्य मोक्ष की भी लालसा उन्हें कभी भी आकृष्ट नहीं करती—



न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः ॥ १०/१६/३७

मेरे प्रभो, यह नागराज तमोगुणी योनि में उत्पन्न हुए हैं। अत्यन्त क्रोध करना इनका स्वभाव है फिर भी इन्हें आप की यह परम पवित्र चरणरज प्राप्त हुई। यह दूसरों के लिये अत्यन्त दुर्लभ है। आप की चरण-रज पाने की इच्छा मात्र से ही अष्टसिद्धियों की बात तो दूर रही, मुक्ति भी सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती है। इतना कह कर वे भगवान् के विभिन्न रूपों को प्रणाम करती हुई प्रार्थना करती हैं—प्रभो, स्वामी को अपनी प्रजा का अपराध एक बार क्षमा कर देना चाहिये, ये मूढ़ हैं, आप को पहचानते नहीं हैं इसलिये इन्हें क्षमा कर दीजिये। ईश, नागराज अब मरने ही वाले हैं अतः इन पर कृपा कीजिये। साधु पुरुष सदा से ही हम अबलाओं पर दया करते आये हैं अतः आप हमें हमारे प्राणस्वरूप पतिदेव को दे दीजिये—

अनुगृहीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः । स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥

१०/१६/५२

प्रभो, हम आप की दासी हैं। हमें आप आज्ञा दीजिये कि हम आप की क्या सेवा करें ? आप की सेवा करनेवाला प्राणी सारे भयों से छूट कर निःशङ्क हो जाता है।

नागपत्नियों की प्रार्थना से प्रसन्न हुए भगवान् ने नागराज को छोड़ दिया। चरण-प्रहार छोड़कर वे उसके फणामण्डल से नीचे उतर आये। नागराज मूर्च्छित हो गया था। उसके सारे फण फट गये थे। धीरे-धीरे उसे चेतना आई। बड़ी कठिनता से श्वास लेते हुए हाथ जोड़ कर उसने भगवान् से कहा—नाथ, हम जन्म से ही दुष्ट, तमोगुणी और महान् क्रोधी हैं। प्राणियों के लिये अपना स्वभाव छोड़ना अति कठिन है। इसी दुस्त्यज स्वभाव के कारण संसारी प्राणी नाना प्रकार के दुराग्रहों में फँस जाते हैं। आप जगत् के मालिक हैं। सब कुछ करने में समर्थ हैं। आप की जैसी इच्छा हो, हमें दण्ड दें, छोड़ दें अथवा मार डालें।

नागराज के दैन्यभरे वचनों को सुनकर भगवान् ने कहा—नागराज, अब आप को यहाँ नहीं रहना है। आप अभी समुद्र के लिये प्रस्थान कीजिये। इस नदी का जल मानव, पशु और पक्षियों द्वारा सेवित है अतः इसका विषैला होना ठीक नहीं है। जो व्यक्ति नाग-दमन लीला का सायं-प्रातः स्मरण करते हैं, उन्हें सर्प का भय समाप्त हो जाता है। जो इस हृद में स्नान कर तर्पण करते हैं वे सारे पापों से छूट जाते हैं। तुम गरुड के भय से रमणकद्वीप छोड़कर यहाँ आकर छिपे थे किन्तु अब गरुड तुम्हारे फणों पर मेरे चरण-चिह्नों को देखकर तुम्हें नहीं मारेगा—

द्वीपं रमणकं हित्वा हृदमेतमुपाश्रितः । यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम् ॥

१०/१६/६३

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, भगवान् के यह कहने पर नागराज ने अपनी पत्नियों के साथ, विविध अलङ्कारणों से तथा विशाल कमल की माला से भगवान् की पूजा की, उनकी परिक्रमा की, प्रणाम किया और फिर प्रसन्न हो वहाँ से रमणक द्वीप में सपरिवार चला गया। तभी से निर्विष हुआ यमुना के हृद का जल, निर्विष होकर, अमृत के समान सबके पीने योग्य बन गया।

हृदय-वल्लभाचार्य महाराज ने कहा है कि—हमारी इन्द्रियाँ ही कालिय नाग हैं। उनके विषय ही विष हैं—“कालियमिन्द्रियाण्याहुर्विषयास्तद्विषं स्मृतम्”। इन्द्रियाँ जब विषयोन्मुख होकर भोगपरायण बनें तो उनका दमन करना चाहिये। भगवान् ने अन्य दुष्टों का वध किया है किन्तु कालिय नाग का दमन किया है। इन्द्रियों का दमन होता है—यही उसका हृदय है। भगवान् ने नागराज के सारे विष को निचोड़ कर उसे रमणक द्वीप में भेज दिया।



इन्द्रियाँ जब विषयों के लिये विकल बनें तो उनका दमन कर, उन्हें विषयों से दूर कर, रमणक द्वीप अर्थात् सत्सङ्ग-स्थल में लगा देना चाहिये ।

### कालिय नाग का पूर्वजन्म

घटना स्वायम्भुव मन्वन्तर की है । वेदशिरा नाम के एक मुनि थे । विन्ध्याचल पर्वत उनकी तपःस्थली थी । एक समय अश्वशिरा नाम के मुनि भी वेदशिरा के आश्रम के पास ही तप करने के लिये गये । वेदशिरा ने इसे अपने तप में विघ्न समझ कर अश्वशिरा को वहाँ से चले जाने के लिये कहा । इस पर अश्वशिरा क्रुद्ध हो उठे । उन्होंने शाप देते हुए कहा—यह तो भगवान् की भूमि है । यहाँ न जाने कितने लोगों ने तप किया होगा । तुम व्यर्थ में सर्प के समान फुफकारते हुए क्रोध कर रहे हो अतः तुम सर्प-योनि में चले जाओ और गरुड से तुम्हें सर्वदा भय बना रहे ।

शाप को सुनकर वेदशिरा ने कहा—तुम्हारा अन्तःकरण बड़ा दूषित है । सामान्य-सी बात पर क्रुध होकर तुमने मुझे इतना कठोर शाप दे डाला । कौए की तरह काँव-काँव करते हुए तुम अपना कार्य सिद्ध करना चाहते हो अतः कौआ बन जाओ । परस्पर एक दूसरे को शाप देने के बाद शान्तचित्त होने पर वे दोनों दुःखी हो रहे थे । उसी समय भगवान् ने वेदशिरा से कहा—मुनिवर, सर्प होने पर भी तुम्हारे फण पर मेरा चरणचिह्न बना रहेगा । इससे तुम्हें गरुड का भय नहीं होगा ।

वेदशिरा को शान्तवना देने के बाद भगवान् ने अश्वशिरा मुनि से कहा—मुने, कौआ होने पर भी तुम्हें त्रैकालिक निर्मल ज्ञान बना रहेगा । यही वेदशिरा अगले जन्म में काकभुशुण्डि हुए जो राम-कथा के स्तम्भ माने जाते हैं ॥ (गर्गसंहिता, वृ०ख०, अ० १०॥)

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध का यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

•

### सत्रहवाँ अध्याय

( कालियनाग के यमुना के हृद में आने की कथा तथा भगवान् का  
ब्रजवासियों को दावानल से बचाना )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्, कालिय नाग ने नागों के निवास-स्थान रमणक द्वीप को क्यों छोड़ा था ? उसने भला गरुण का अकेले ही कौन-सा अपराध किया था जिससे उसे अपना प्रिय आवास त्यागने के लिये बाध्य होना पड़ा ?—

नागालयं रमणकं कस्मात्तत्याज कालियः । कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम् ॥

१०/१७/१

श्री शुकदेव जी ने कहा—पूर्वकाल की बात है । गरुड जी एक-दो सर्पों को खा जाते थे और बहुतों को मार कर फेंक देते थे । इससे व्याकुल होकर सर्प ब्रह्मा जी की शरण में गये । ब्रह्मा जी ने यह नियम बना दिया कि प्रत्येक अमावस्या को, एक निर्धारित वट-वृक्ष की नीचे, प्रत्येक सर्प-परिवार बारी-बारी से गरुड जी को एक सर्प की बलि दिया करे । गरुड जी उसी को खाकर सन्तुष्ट हो जायेंगे । इस नियम के अनुसार निश्चित तिथि को निर्धारित स्थान



पर सारे सर्प अपनी रक्षा के लिये महात्मा गरुड जी को अपना-अपना भाग देते रहते थे। उन सर्पों में एक सर्प कालिय भी था। यह कद्रू का बेटा था। इसे अपने बल का बड़ा अभिमान था। इसने गरुड जी का तिरस्कार करके स्वयं तो बलि देना दूर रहा—दूसरे साँप जो गरुड जी को बलि देते उसे भी खा लेता था<sup>१</sup>। यह सुनकर गरुड जी को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कालिय नाग को मार डालने के विचार से बड़े वेग से उस पर आक्रमण किया। कालिय भी अपने एक सौ एक फणों को फैला कर डसने के लिये गरुड पर दूट पड़ा। उसने अपने दाँतों से उन्हें डँस भी लिया। उसका यह दुःसाहस देखकर गरुड जी ने उस पर अपने बायें पंख से प्रहार किया। प्रहार से घायल होकर कालिय वहाँ से भागा और आकर यमुना जी के हृद में निवास करने लगा। वह हृद गरुड जी के लिये अगम्य था। उसकी गहराई इतनी विशाल थी कि दूसरे लोग भी वहाँ नहीं जा सकते थे—

सुपर्णपक्षाभिहतः कालीयोऽतीव विह्वलः । हृदं विवेश कालिन्ध्यास्तदगम्यं दुरासदम् ॥

१०/१७/८

यमुना जी के जल में खड़े होकर सौभरि ऋषि तप में रत थे। एक दिन भूख से विकल गरुड जी वहाँ पहुँचे। उन्होंने एक बड़े मत्स्य को मार कर खा लिया। फलतः मत्स्य-परिवार दुःखी हो उठा। सौभरि को यह देखकर बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने गरुड जी को शाप देते हुए कहा—मैं सच-सच कह रहा हूँ। आज के बाद यदि गरुड यहाँ जल में प्रवेश कर मछलियों को मार कर खायेगा तो उनकी मृत्यु हो जायेगी—

अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति । सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम् ॥

१०/१७/११

इस बात को केवल कालिय भर जानता था। दूसरे नाग इस बात से अनभिज्ञ थे इसलिये वह गरुड के भय से वहाँ रहने लगा था। भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे निर्भय करके वहाँ से रमणक द्वीप भेज दिया। सौभरि के शाप के कारण गरुड जी ने वहाँ जाना छोड़ दिया था।

जब कालिय नाग को यमुना जी से उद्वासित कर कृष्ण बाहर निकले तब नन्द आदि गोप उनका आलिङ्गन कर बड़े प्रसन्न हुए। सारे गोप, गोपी, बालक, बालिकाएँ, गाथें और बछड़े—सब-के-सब कृष्ण को पाकर परम प्रसन्न हो उठे। बलराम अपने लघु बन्धु को छाती से लगाकर हँसने लगे। वे उनके प्रभाव को बखूबी जानते थे।

ब्राह्मण लोग नन्द बाबा के पास आये। ब्राह्मणियाँ भी उनके साथ थीं। उन लोगों ने नन्द बाबा से कहा—बाबा, आप का कन्हैया कालिय नाग से छूट कर सकुशल वापस आ गया अतः हम ब्राह्मणों को दान दीजिये। उनकी बातों को सुनकर नन्द ने प्रसन्न मन से उन्हें गाथों और सुवर्ण का दान दिया—

देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे । नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत् ॥

१०/१७/१८

यशोदा के प्रेम का तो ठिकाना ही न था। उसने कृष्ण को अपनी गोद में बैठा कर प्रेमाश्रुओं से उनको नहला डाला।

उस दिन सारे ब्रजवासी दिन भर के भूखे-प्यासे और थके-माँदे थे अतः बिना कुछ खाये-पिये कालिय दह के पास ही रात में सो गये। रात्रि में अग्नि देव ने विचार किया कि प्रातः काल उठने पर ब्रजवासी कुछ फल-फूल खाने लगेंगे। गाये भी घास चरने लगेंगी। कालिय के प्रभाव से यहाँ सब कुछ विषैला है अतः गोपों और गाथों का अनिष्ट

१. हृदय-प्रसन्न को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक सर्प-परिवार गरुड जी को खाने के लिये बलि के रूप में कुछ सुन्दर भोज्य पदार्थ तथा एक सर्प भेंट करता था। उसे खाकर गरुड जी सन्तुष्ट हो जाया करते थे।



हो सकता है। ऐसा सोच कर अग्निदेव ने बचे-खुचे वृक्षों, लताओं और घासों को जलाना शुरू कर दिया। यह दैत्याग्नि नहीं देवाग्नि थी। अग्नि से घिर जाने पर सब लोग भगवान् की शरण में गये और बोले—हे महान् तेजस्वी कृष्ण, हे अमित बलशाली बलराम; हम वनाग्नि से जल रहे हैं। हमारी रक्षा करें, हमारी रक्षा करें। हम आप के चरण की शरण छोड़कर जीवित नहीं रहना चाहते।

भगवान् अनन्त हैं। वे अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं। ऐसे जगन्नियन्ता भगवान् श्रीकृष्ण ने जब देखा कि मेरे स्वजन इस प्रकार विकल हो रहे हैं, तब वे उस भयङ्कर आग को पी गये—

इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः । तमग्निमपिबत्तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥

१०/१७/२५

हृदय-दर्शनशास्त्र के अनुसार सारे कार्य अपने कारण में लीन हुआ करते हैं। अग्नि का प्रादुर्भाव भगवान् के मुख से हुआ है—“मुखादग्निरजायत” (यजु०, माध्यन्दिन शाखा, ३१.१२) अतः अग्निरूप कार्य को भगवान् ने अपने मुखरूप कारण में विलीन कर लिया।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध का यह सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

## अठारहवाँ अध्याय

( प्रलम्बासुर का उद्धार )

श्री शुकदेव जी ने कहा—यमुना के तट पर श्रीकृष्ण के द्वारा देवाग्नि का पान कर लेने पर सभी स्वजन सम्बन्धी प्रसन्न हो उठे। वे श्रीकृष्ण की कीर्ति का गान करने लगे। भगवान् सब को साथ लेकर पुनः व्रज में लौट आये—

अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदितात्मभिः । अनुगीयमानो न्यविशद् व्रजं गोकुलमण्डितम् ॥

१०/१८/१

इस प्रकार अपनी योगमाया से ग्वाल का वेष धारण कर राम और श्याम व्रज में क्रीड़ा कर रहे थे। उसी समय ग्रीष्म ऋतु का आगमन हुआ। यह ऋतु प्राणियों को अतिशय प्रिय नहीं है किन्तु वृन्दावन के स्वाभाविक गुणों के कारण वहाँ वसन्त ऋतु की सी छटा छिटक रही थी। इसका कारण था भगवान् श्यामसुन्दर का वहाँ निवास। वृन्दावन में यत्र-तत्र झंझर करते हुए निर्झर बह रहे थे। उनके जल-कणों से सिकत होकर वहाँ की भूमि चतुर्दिक् श्याम तृणों से हरित थी। विविध प्रकार के विकसित कमलों की भीनी-भीनी गन्ध के साथ शीतल मन्द वायु बह रही थी। यही कारण था कि सूर्य की अत्यन्त उग्र तथा तीखी किरणें भी वहाँ कष्टकर नहीं थीं। पूरा वन कुसुमित था। कहीं रङ्ग-विरङ्गे पक्षी चहक रहे थे तो कहीं प्रसन्न भ्रमरावली गुञ्जायमान थी। मोर नाच रहे थे। कोकिलमण्डली कूक रही थी। बड़ा ही मनोरम वातावरण था।

ऐसे ही मनोहर वातावरण में क्रीड़ा की इच्छा से वेणु बजाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण बलराम और गोपों के साथ गायों को आगे-आगे करके वन में प्रविष्ट हुए। वहाँ कोई नाचता, कोई युद्ध करता, कोई कुश्ती लड़ता, कोई गाना गाता, कोई ताली बजाता और कोई हँसता। इस आनन्द में देवता लोग भी गोपवेश धारण कर सम्मिलित हो भगवान् की लीला का दर्शन करके प्रफुल्लित होते। श्याम और राम एक दूसरे का हाथ पकड़ कर कभी घुमरी-परेता खेलते, कभी लम्बी छलांग लगाते, कभी ढेलवाँस में कङ्कण-पत्थर रखकर घुमा कर फेंकते, कभी ताल बजाते, कभी आपस



में खींचा-खींची करते और कभी कुश्ती लड़ते—“चिक्रीडतुर्निधुब्देन” ॥१२॥ जब दूसरे ग्वालबाल गाना गाते तो राम-श्याम ताली बजाकर उनका उत्साहवर्धन करते और ‘वाह-वाह’ कह कर उनकी प्रशंसा भी करने लगते ।

बड़ा ही आनन्द का वातावरण था । खेल के प्रसङ्ग में राम और श्याम कहीं विल्व से, कहीं कुम्भ से, कहीं आँवले से खेल-खेलते । कहीं आँख-मिचौली करते, कहीं मेढ़कों की तरह उछलते, कहीं हँसी-मजाक करते, कहीं झूला झूलते । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण बलराम जी के साथ वृन्दावन के पर्वत, नदी, द्रोणी, कुञ्ज, कानन तथा सरोवर आदि स्थानों में लोक-प्रसिद्ध क्रीडा करते हुए विचरण कर रहे थे—

एवं तौ लोकसिन्धाभिः क्रीडाभिश्चैरतुर्वने । नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरस्सु च ॥

१०/१८/१६

सभी बालक क्रीडा में निमग्न थे । इसी समय प्रलम्ब नाम का एक असुर गोप-बालक का रूप धारण कर कृष्ण और बलराम को हरण करने की इच्छा से वहाँ आया । उसने सोच रक्खा था कि पहले मैं इनके खेल में सम्मिलित हो जाऊँ, फिर बाद में इन लोगों को उठा ले जाऊँगा । भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे देखा । वे देखते ही जान गये कि यह असुर हैं परन्तु उन्होंने उसे प्रकट नहीं किया । उन्होंने उसके साथ मैत्री कर ली । वे उसके वध की बात सोच रहे थे । उन्होंने सारे बालकों को दो दल में विभक्त कर दिया । एक दल के नेता थे श्रीकृष्ण और दूसरे दल के नायक थे बलराम । दोनों दलों में भाँति-भाँति की क्रीडाएँ होने लगीं । क्रीडा में शर्त यह थी कि जो जीत जायेंगे वे हारनेवाले को घोड़ा बना कर उस पर सवारी करेंगे । हारनेवाला जीतने वाले को ढोवेगा । यह क्रीडा भाण्डीर-बट के आस-पास हो रही थी अतः पीठ पर बैठा कर भाण्डीर-बट तक ले जाने की बात निश्चित हो गई थी ।

खेल प्रारम्भ हुआ । खेल में बलराम के दल की जीत हुई । श्रीकृष्ण का दल हार गया । शर्त के अनुसार पराजित दल को विजेताओं को अपनी पीठ पर बैठा कर भाण्डीर-बट तक ले जाना था अतः हारा हुआ दल विजयी दल को अपनी पीठ पर बैठा कर लक्ष्य की ओर बढ़ा । भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को, भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्बासुर ने बलराम को अपनी पीठ पर चढ़ाया था—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः<sup>१</sup> । वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥

१०/१८/१४

प्रलम्बासुर बलराम को लेकर बड़े वेग से दौड़ा और उतारने के स्थान भाण्डीरबट को लाँच कर आगे निकल गया फिर उन्हें लेकर आकाश में उड़ने की कोशिश की किन्तु बलराम पर्वत की भाँति वजनी थे अतः प्रलम्ब की गति शीघ्र ही धीमी पड़ गई । आकाश में पहुँच कर प्रलम्ब ने अपना भयानक असुर रूप धारण कर लिया । उसके अप्रत्याशित असुर रूप को देखकर एक क्षण के लिये तो बलराम कुछ डर-से गये—“हलधर ईषदत्रसत्” ॥१७॥ किन्तु जब बलराम ने जाना कि अरे यह तो असुर है । यह मेरा हरण करना चाहता है तो उन्हें क्रोध आ गया । उन्होंने वज्र के समान अपनी सुदृढ मुष्टि से उसके शिर पर ऐसा प्रहार किया कि उसका शिर फट गया । मुख से रक्त की धारा बहने लगी और फिर चिल्लाता हुआ वह पृथिवी पर गिर कर मर गया ।

१. साधारणतया पराजित का अर्थ होता है—हारा हुआ किन्तु संस्कृत भाषा की महिमा तो देखिये कि पराजित का अर्थ यह भी होता है—जो कभी हारे ही नहीं । हारकर भी जो जीता ही रहे=परश्चासौ अजितश्चेति पराजितः । पराजित होकर भी भगवान् भक्त को सर्वदा के लिये अपना बना लेते हैं । हुई न यह उनकी जीत ?



गोप-गण इस अद्भुत दृश्य को देखकर आश्चर्य चकित हो उठे फिर उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—वाह भैया वाह ! आपने बहुत अच्छा कार्य किया है । बलराम के पराक्रम को देखकर ग्वालबालों का चित्त प्रसन्न हो उठा । प्रलम्बासुर के मारे जाने पर देवों की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । वे बलराम पर पुष्प-वृष्टि कर उनकी प्रशंसा करने लगे—

पापे प्रलम्बे निहते देवा परमनिर्वृताः । अभ्यवर्षन् बलं माल्यैः शशंसुः साधु साध्विति ॥

१०/१८/३२

हृदय—प्रलम्बासुर प्राणी की बड़ी-बड़ी वासनायें हैं । ये आसानी से मरती नहीं हैं । भगवान् की कृपा होने पर ही वासनाओं का विनाश होता है । कई जन्मों के कर्मों के सञ्चित संस्कार ही वासना कहे जाते हैं अतः वासनाएँ विशाल और प्रबल होती हैं ।

### प्रलम्बासुर का पूर्वजन्म

कुबेर शिव-भक्त थे । उन्होंने शिव की पूजा के लिये विशाल पुष्पोद्यान लगा रक्खा था । उनका कहना था कि—जो व्यक्ति इस उद्यान का पुष्प तोड़ेगा वह असुर बन जायेगा । हूहू गन्धर्व का बेटा था—विजय । उसे कुबेर के कथन की बात ज्ञात न थी अतः एक दिन उसने उस उद्यान से कुछ फूल तोड़ लिया । पुष्प तोड़ते ही वह सद्यः असुर हो गया । उसके क्षमा-याचना करने पर कुबेर ने कहा—अच्छा, द्वापर की समाप्ति पर बलदेव के हाथों से तुम्हारा उद्धार हो जायेगा ॥गर्ग सं०मा०खं० २०/२३-२४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥

•

### उन्नीसवाँ अध्याय

( गायों और गोपों की दावानल से रक्षा )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, उस समय जब सभी ग्वालबाल श्रीकृष्ण और बलराम जी के साथ खेलने में मग्न थे, तब उनकी गायें बेरोकटोक चरती हुई बहुत दूर निकल गईं और हरी-हरी घास के लोभ से एक गहन वन में घुस गईं । उनकी बकरियाँ, गायें और भैंसें एक वन से दूसरे वन में होती हुई आगे बढ़ गईं तथा गर्मी के ताप से व्याकुल हो गईं । वे बेसुध-सी होकर अन्त में चिल्लाती हुई मुञ्जाटवी (मूँज के वन) में घुस गईं—

अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम् । इषीकाटवीं निर्विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः ॥

१०/१९/२

हृदय—भगवान् श्रीकृष्ण गोपाल थे । वे गायों को चराते थे किन्तु इस श्लोक में बतलाया गया है कि उनकी गायों के साथ बकरियाँ और भैंसे भी थीं । वे केवल गायों को ही नहीं, बकरियों और भैंसों को भी चराते थे । इस पर आचार्यों का कथन है कि भगवान् केवल गायों को ही चराते थे, बकरियों और भैंसों को नहीं फिर इस श्लोक की सङ्गति कैसे बैठेगी ? इस पर उनका समाधान है कि—अजा कहते हैं बिना बिआई हुई गाय को एवं एक बार बिआई हुई गाय को गाय कहते हैं—“सकृत्प्रसूता गौः” और बहुत बार बिआई हुई गाय को महिषी कहते हैं—“बहुप्रसूता गावो महिष्यः” इस प्रकार वे गाय ही चराते थे । भैंस और बकरी नहीं चराते थे । इस प्रकार के श्लोक व्यास-वाणी की विशेषता है ।



जब श्रीकृष्ण, बलराम आदि ग्वालबालों ने देखा कि हमारे पशुओं का कहीं पता ही नहीं है, तब वे क्रीड़ा छोड़कर उनकी खोज करने लगे किन्तु उनका कहीं भी पता न चला। तब वे बड़े व्याकुल होकर उनके खुरों के चिह्नों और चरी गई घासों के सहारे आगे बढ़े। वहाँ उन्होंने देखा कि उनकी गाएँ मुझाटवी में मार्ग भूलकर चिल्ला रही हैं। उनको नाम ले-लेकर भगवान् बुलावें तो वे उनकी आवाज का उत्तर तो हुंकार करके दें, किन्तु मार्ग भूलने के कारण आ न सकें। इसी बीच मुझाटवी में आग लग गई। यह सामान्य अग्नि नहीं असुराग्नि थी। उससे गायें और सब ग्वालबाल घिर गये। जोर से बहनेवाली आँधी ने आग को बढ़ाने का काम किया। ग्वाल-बाल घबड़ा कर श्रीकृष्ण और बलराम जी की शरण में जाकर रक्षा करने की प्रार्थना करने लगे।

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, अपने सखा ग्वालबालों के दीनता भरे वचनों को सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—‘डरो मत, तुम लोग अपनी आँखें बन्द कर लो।’ भगवान् की आज्ञा सुनकर ग्वालबालों ने कहा—‘बहुत अच्छा’ फिर उन लोगों ने अपनी आँखें बन्द कर ली। तब योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने उस भयङ्कर अग्नि को अपने मुख से पी लिया—

वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः । निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥  
तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम् । पीत्वा मुखेन तान् कृच्छाद् योगाधीशो व्यमोचयत् ॥

१०/१९/११-१२

कुछ देर के बाद ग्वालबालों ने जब अपनी आँखें खोलीं तो देखा कि गायों के साथ वे भाण्डीरबट के पास स्थित हैं। यह देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे अपने आप को और गायों को इस भीषण सङ्कट से मुक्त पाकर अत्यन्त विस्मित थे। इस कार्य से वे श्रीकृष्ण को साधारण गोप बालक नहीं, देवता समझने लगे।

सायंकाल की बेला आने पर बलराम जी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण गायों को लेकर वंशी बजाते हुए व्रज को लौटे। गोप-बालक प्रशंसा करते हुए उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। इधर व्रज में गोपियाँ श्रीकृष्ण के वियोग से व्यथित थीं। श्रीकृष्ण के बिना उनके लिये एक-एक क्षण भी सौ-सौ युग के समान व्यतीत हो रहा था। श्रीकृष्ण को देखकर वे आनन्द के सागर में निमग्न हो गई—

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददशनि । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥१०/१९/१६  
भागवत-हृदय-भगवान् के द्वारा दावाग्नि के पान का रहस्य यह है—यह सारा संसार वन है। इसमें सर्वदा दुःखरूपी आग लगी हुई है। सारे संसारी प्राणी इस दावाग्नि से झुलस रहे हैं। भगवान् का निर्देश है कि जब तुम दुःखों से घिर जाओ तब रोओ मत, घबड़ाओ मत। हाय-हाय भी मत करो। विपत्तियों के जंजाल में फँसने पर, दुःखाग्नि की लपटों से घिरने पर आँख बन्द कर मेरा ध्यान करो, मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हारी सारी दुःखाग्नि को पी जाऊँगा।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## बीसवाँ अध्याय

(वर्षा और शरद् ऋतु का वर्णन)

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, ग्वालबाल जब घर पहुँचे तो उन लोगों ने अपनी माँ, बहिन आदि स्त्रियों से बलराम के द्वारा प्रलम्ब वध और श्याम के द्वारा वनाग्नि का पान कर अपनी रक्षा की बात बतलाई। इन



घटनाओं को सुनकर गोपियों और गोपवृद्धों को महान् विस्मय हुआ। उन लोगों ने सोचा कि राम और श्याम के वेश में कोई बहुत बड़े देवता ही ब्रज में पधारे हैं।

इसके बाद वर्षा ऋतु का शुभागमन हुआ। आकाश-मण्डल काले-काले बादलों से भर गया। रह-रह कर मेघ-गर्जन होने लगा। चारों दिशाओं में बिजली चमकने लगी। सूर्य, चन्द्र और तारों की चमक आच्छादित हो उठी। मेघाच्छन्न आकाश, गुणों से संयुक्त ब्रह्म की तरह प्रतीत होता था। जैसे राजा पहले कर के रूप में प्रजा से धन संग्रह करता है और बाद में सूखा आदि संकट के समय उसे प्रजा में वितरित कर देता है, वैसे ही सूर्य ने अपनी किरणों के द्वारा पृथिवी से जिस जल का संग्रह किया था उसे वह उसके सन्तप्त होने पर अपनी कर रूपी किरणों से उड़ेलना प्रारम्भ कर दिया। बिजली की चमक से शोभायमान बादल तेज हवा की प्रेरणा से प्राणियों के कल्याण के लिये अपने जीवनरूप जल को उसी प्रकार बरसाने लगे जैसे दयालु व्यक्ति दया के परवश हो, प्राणियों की भलाई के लिये, अपने प्राणों को न्योछावर कर देते हैं। ग्रीष्म के सन्ताप से पृथिवी सूख गई थी। अब वह वर्षा के जल से सिक्त होकर उसी प्रकार हरी-भरी हो गई जैसे किसी कामना से तप करनेवाले व्यक्ति का कृश शरीर तप का फल प्राप्त हो जाने पर प्रफुल्लित हो जाता है, हरा-भरा बन जाता है। सायंकाल की बेला में, चतुर्दिक् अन्धकार व्याप्त हो जाने पर तारों का प्रकाश तो नहीं दिखलाई पड़ता, किन्तु जुगनू उसी प्रकार चमकने लगते हैं, जैसे कलियुग में पापों की प्रबलता के कारण पाखण्ड चतुर्दिक् दिखलाई पड़ता है, और वैदिकमत प्रायः विलुप्त-से हो जाते हैं। भूमि के नीचे चुपचाप सोये पड़े हुए मेढक बादलों के गर्जन को सुनकर टर्-टर् करने लगे जैसे नित्य-नियम से निवृत्त होने पर ब्रह्मचारी लोग वेद-पाठ करने लगते हैं—

यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ।। श्रुत्वा पर्जन्यनिनन्दं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ।

तूष्णीं श्यानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्पथे<sup>१</sup> ।। १०/२०/८-९

छोटी-छोटी नदियाँ, जो ज्येष्ठ-आषाढ में शुष्कप्राय हो गई थीं, वे वर्षा ऋतु में तटों को लांघकर उफनाकर बहने लगती हैं, जैसे इन्द्रियों के दास विषयी जनों की सम्पत्तियाँ अमर्यादित रूप से व्यय होने लगती हैं<sup>२</sup>—

आसन्नोत्पथगामिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः । पुंसो यथा स्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ।। १०/२०/१०

सारी दिशाएँ हरी-हरी घासों से भर गई। भूमि ग्वालिनों (गोपबधूतियों) की लालिमा से व्याप्त हो गई। धरती राजलक्ष्मी के समान छत्रांकों (धवल कुकुरमुत्तों) से सुशोभित हो गई। सब खेत लहलहाते हुए धानों से भरे-पूरे थे। उन्हें देखकर किसान तो प्रसन्न हो रहे थे, किन्तु महाजन-(कर्जदाता सूदखोर)-जनों के मन में जलन हो रही थी। जल, स्थल और नभ निवासी सभी नवीन जल की वृष्टि से सन्तृप्त हो सुहावने प्रतीत हो रहे थे। मूसलाधार वर्षा से आहत होने पर भी पर्वतों को उसी प्रकार कोई व्यथा नहीं होती थी जैसे भगवान् का आश्रय लिये हुए व्यक्तियों को दुःखों की मार व्यथित नहीं करती। मयूर सुप्रसन्न हो नाचते हुए नृत्य कर रहे थे। खजूर-जामुन आदि के वृक्ष पके हुए फलों से लदे हुए थे। वन में चतुर्दिक् अपूर्व सौन्दर्य विराजमान था।

भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन का अनुपम सौन्दर्य देखकर क्रीड़ा करने के लिये गायों, गोपालों और बलराम के साथ वहाँ पहुँचे—

एवं वनं तद् वर्षिष्ठं पक्वखर्जूरजम्बुमत् । गो-गोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्भरिः ।।

१०/२०/२५

१. गोस्वामी तुलसीदास जी अपने वर्षा और शरद के वर्णन के लिये भागवत के ऋणी हैं। मिलान कीजिये—दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। वेद पढ़ैं जिमि बटु समुदाई॥ रामचरितमानस॥
२. तुलना कीजिये—छुद्र नदीं भरि चलीं तोराई। जस थोरैहुँ धन खल इतराई॥वही॥ ऐसे उदाहरण वर्षा-वर्णन के प्रसङ्ग में बहुधा देखे जा सकते हैं।



गायें विशाल स्तनों के भार से धीरे-धीरे चल रही थीं। जब भगवान् श्रीकृष्ण उनका नाम लेकर पुकारते, तब वे प्रेम परवश हो जल्दी-जल्दी दौड़ने लगतीं। उस समय उनके थनों से दुग्ध की धार प्रवहमान होने लगती थी। जब वर्षा होने लगती थी तब भगवान् श्रीकृष्ण वृक्ष के मूल में आश्रय लेते। कभी कन्द-मूल-फल खाकर ग्वालबालों के साथ क्रीडा करते। कभी जलाशय के तट पर धुली हुई स्वच्छ शिलाओं पर दही-भात रखकर, श्रीदामा आदि साथियों के साथ, खाते थे।

वर्षा ऋतु में बैल, बछड़े और थनों के भार से श्रान्त गायें सभी थोड़ी ही देर में भरपेट हरी-हरी घास चरने के बाद बैठकर जुगाली करते थे। इस प्रकार वर्षा ऋतु की सुन्दरता अपार थी। सारे प्राणियों के लिये वह सुखप्रद थी। निःसन्देह वर्षा, ग्वाल-बाल और गायें—सब-के-सब श्रीकृष्ण की लीला के विलास थे फिर भी उन्हें देखकर भगवान् बहुत प्रसन्न होते और बार-बार उनकी प्रशंसा करते थे—

प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतमुदावहाम्। भगवान् पूजयाञ्जके आत्मशक्त्युपबृंहिताम्।

१०/२०/३१

इस प्रकार श्याम और बलराम बड़े आनन्द से व्रज में विलास कर रहे थे। इसी समय वर्षा के विदा होने पर शरद् ऋतु का आगमन हुआ। आकाश बादल-विहीन हो गये। जैसे योग-ग्रष्ट पुरुषों का चित्त पुनः योग का सेवन करने से मल-विहीन बन जाता है, वैसे ही शरद् ऋतु के आगमन से नदियों के जल निर्मल बन गये। वायु का वेग भी समाप्त हो गया। इस ऋतु में निर्मल जलाशय विकसित कमलों से भर गये जैसे भगवान् की भक्ति सारे आश्रम-वासियों के समस्त सन्तापों को समाप्त कर देती है, वैसे ही शरद् ऋतु ने गगन के बादल, वर्षाकाल में बढ़े हुए जीव, पृथिवी के कीचड़ और जल की मलिनता को नष्ट कर दिया। मेघ अपना सर्वस्वरूप जल त्याग कर शुभ्र बन गये, जैसे कि मुनि-गण कामनाओं का परित्याग कर निर्मल एवं शान्त हो जाते हैं।

शरद् ऋतु में सागर का जल वैसे ही स्थिर, गम्भीर और शान्त हो गया, जैसे योगिजन शब्दाडम्बर का परित्याग कर अपने परमार्थ रूप में स्थित हो जाते हैं। मेघ-विहीन आकाश-मण्डल चमकते हुए नक्षत्रों एवं ताराओं से शोभा-सम्पन्न बन गया। परीक्षित, जैसे भूतल पर यदुवंशियों के मध्य भगवान् श्रीकृष्ण की शोभा होती है, वैसे ही आकाश में तारों के बीच पूर्णचन्द्र सुशोभित होने लगा। उसकी दुग्ध जैसी चन्द्रिका भूतल पर दूध की सरिता-सी बहाने लगी। नवीन अन्न के आ जाने से लोग नवान्न-प्राशन का उत्सव मनाने लगे। खेतों में धान पक कर लटक गये। पृथिवी भी श्रीकृष्ण और बलराम की उपस्थिति से शोभायमान हो उठी। वर्षा के कारण अवरुद्ध कार्य प्रारम्भ हो गये। सभी लोग अपने-अपने कार्यों में जुटे गये ॥२०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२०॥

## इक्कीसवाँ अध्याय

( वेणुगीत<sup>१</sup> )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, शरद् ऋतु के कारण वृन्दावन की अपूर्व शोभा हो रही थी। सरिता-सरोवरों के जल निर्मल थे। जलाशयों में विकसित कमल-कमलिनी, कुमुद, कुमुदिनी आदि पुष्पों की सुगन्ध से भरपूर वायु मन्द-मन्द बह रही थी। उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण ने गायों और ग्वालबालों के साथ वृन्दावन में प्रवेश किया—

१. कृष्ण की वंशी के सामने ब्रह्मानन्द और विषयानन्द—दोनों ही तुच्छ हो जाते हैं। अतः उसे वेणु कहते हैं—  
वञ्च = ब्रह्मानन्दश्च, इश्च = विषयानन्दश्चेति वे = ब्रह्मानन्द-विषयानन्दौ, तौ अणू यस्मादसौ वेणुः।



इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना<sup>१</sup> । न्यविशद्<sup>२</sup> वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः ॥

१०/२१/१

सुन्दर-सुन्दर पुष्पों से परिपूर्ण हरी-हरी वृक्ष-पंक्तियों पर मतवाले भ्रमर गुनगुना रहे थे और भौंति-भौंति के पक्षी कलरव कर रहे थे, जिससे उस वन के सरोवर, नदियों और पर्वत-सब के-सब गूँज रहे थे। इससे प्रतीत होता था कि सारा-का-सारा वृन्दावन भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति-गान कर रहा है। मधुपति<sup>३</sup> भगवान् श्रीकृष्ण ने बलराम जी और ग्वालबालों के साथ गायों को लिए हुए वृन्दावन में प्रवेश किया। वहाँ गायों को चराते हुए उन्होंने अपनी वंशी पर मधुर तान छोड़ दी। यद्यपि ब्रज की देवियाँ, ब्रज की गोपियाँ उस समय ब्रज में थीं और वंशी-कूजन करनेवाले श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ वन में थे। तथापि गोपियों को, आसक्ति के बल पर, ऐसा प्रतीत होता था कि मानो श्रीकृष्ण उनकी आँखों के सामने खड़े होकर वंशी<sup>४</sup> बजा रहे हैं। दूसरे लोगों ने वेणु-कूजन सुना और गोपियों ने वेणुगीत को सुना। कूजन ध्वनिमात्र होता है और गीत में एक प्रकार का सन्देश रहता है। मानो वेणुगीत के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों को रमण का सन्देश भेज रहे हैं। वेणुगीत को सुन कर ब्रजगोपियों को स्मरोदय हुआ—“तद् ब्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्” ॥३॥ उत्कण्ठापूर्वक स्मरण ही स्मर है अर्थात् वेणुगीत को सुनकर गोपियों को श्रीकृष्ण का उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण हुआ। कुछ ब्रजाङ्गनाओं के मन में वस्तुतः काम का भी उदय हुआ। वे एकान्त में अपनी सखियों से उनके रूप, गुण और वंशी ध्वनि के प्रभाव का वर्णन करने लगीं। किन्तु उसका वर्णन करने में स्मरवेगवश वे समर्थ न हो सकीं। मन से एक समय एक ही कार्य हो सकता है, या तो वे अनुभव करें, या स्मरण करें। परन्तु अनुभव या स्मरण के साथ-साथ वर्णन नहीं हो सकता। वेणुगीत ने गोपियों का मन विक्षिप्त कर दिया था, उसे श्रीकृष्ण के पास पहुँचा दिया था अतः वे वर्णन न कर सकीं। परन्तु भगवान् गोपियों से वर्णन कराकर स्वयं

१. पद्माकर-सुगन्धिना-पद्मा अर्थात् लक्ष्मी के पति भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं अतः उन्होंने वृन्दावन के एक-एक पुष्प को एक-एक पत्ती को छूकर स्पर्श कर सजा-सँवार दिया है, उसमें सुगन्धि भर दी है। वही सुगन्धि वायु के द्वारा चतुर्दिक् प्रसारित की जा रही है।
२. न्यविशत्-नितराम् अविशत्। भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन के कण-कण में प्रवेश किये अतः वृन्दावन कृष्णमय बन गया। यही भाव “न्यविशत्” इस पद से सूचित किया गया है। वल्लभाचार्य का कहना है कि—श्रीकृष्ण का वृन्दावन धाम में निवेश सरित्-सरोवर वनतरु में स्थित आधिदैविकी शक्तियों के साथ रमण है। भगवान् से मिलने के लिये केवल ब्रज-वनिताएँ ही नहीं, अपितु परा-अपरा प्रकृति सब लालायित हैं। वृन्दावनधाम के तरु, लता, गुल्म, सरसी आदि सभी भगवत्सम्मिलन के लिये लालायित हैं। बात ठीक भी है, क्योंकि अप्राकृत भगवान् की लीला प्राकृत पदार्थों से नहीं हो सकती, इसलिये निखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण ने वृन्दावन स्थित सकल तत्त्वों में अन्तरङ्गतया निविष्ट होकर उन्हें रसमय, अप्राकृत बना लिया। अब श्रीकृष्ण की उनसे क्रीडा ठीक-ठीक तरह से हो सकेगी।
३. यहाँ श्री कृष्ण के लिये मधुपति पद का प्रयोग किया गया है। मधु अर्थात् वसन्त के पति मधुपति हैं। वनों को वसन्त ही महिमा-मण्डित कर देता है। अब जब मधुपति ही वृन्दावन में प्रविष्ट को गये तो फिर उसके सौन्दर्य-माधुर्य सौगन्ध्य के बारे में कहना ही क्या है फिर तो वृन्दावन को अपूर्व होना ही है।
४. वंशी-यहाँ एक बात बड़े महत्त्व की है, जैसे ब्रजाङ्गनाओं ने पहले श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये कात्यायनी के व्रत का अनुष्ठान किया था, वैसे ही गोपबालाओं की प्राप्ति के लिये श्रीकृष्ण ने वंशी की आराधना की थी। वंशी साधारण बाँस नहीं, यह साक्षात् रुद्र है—“रुद्रस्तु भगवान् वंशः”। शिव की आराधना के बिना प्राणी को अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती।



अपनी अधर-सुधा का पान करना चाहते थे<sup>१</sup> अतः न चाहते हुए भी, अशक्ति में भी, श्रीकृष्ण के स्वरूप आदि के प्रतिपादक अग्रिम श्लोक गोपियों के मुख से अपने आप छलक कर निकल पड़े। ये ही गोपियों के उद्गार हैं—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।

रन्मान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः<sup>२</sup> ॥१०/२१/५

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र नट-वर वपु को धारण किये हुए, मोर के पंख का मुकुट धारण किये हुए, वैजयन्ती माला<sup>३</sup> को पहने हुए, कानों में कर्णिकार धारण किये हुए, पीताम्बर को पहने हुए, अधर-सुधा से वेणु-छिद्रों को पूरित करते हुए, गोपवृन्दों के संग विलसित होते हुए श्रीमद् वृन्दावन धाम में पधारे ।

बर्हापीडं बिभ्रत्-बर्हमय आपीड को धारण किये हुए, आपीड कहते हैं शिरोभूषण को । मयूर-पिच्छ से निर्मित अद्भुत मुकुट को धारण किये हुए । नाचते हुए मयूर से ही जो पिच्छ गिरता है, उसे बर्ह करते हैं, उसी से यह बना । मयूर को जब आनन्दोल्लास होता है तब वह नृत्य करता है । श्रीकृष्ण ने जिस पिच्छ को धारण कर रक्खा था वह राधाके प्रिय मयूर का था—“राधाप्रियमयूरस्य पत्रं मूर्ध्ना बिभर्त्यजः” । श्रीकृष्ण के अङ्ग के समान उस मयूर के कण्ठ की श्यामलता थी । इसीलिये श्रीकृष्ण का स्मारक होने के कारण, श्रीराधारानी उस मयूर को अपने पास रखती हैं उसी का पिच्छ भगवान् धारण करते हैं । एक कारण यह हुआ । दूसरा कारण यह है कि मयूर के पिच्छ पर अङ्कित चिह्न को देखकर राधारानी के आँखों के सौन्दर्य का स्मरण होता है, क्योंकि वह राधा की आँख के सामन मनोहारी है—“राधाप्रियमयूरस्य पत्रं राधेक्षणम्” अतः श्रीकृष्ण ने उसे अपने शिर पर धारण कर रक्खा है । तीसरी बात यह है कि—प्रिय की वस्तु को, भक्त की वस्तु को भगवान् शिर पर धारण करते हैं । यह उनकी भृत्यवत्सलता है अतः श्रीकृष्ण ने उसे शिर पर धारण कर रक्खा है ।

हृदय-बर्हस्तबक धारण से तमोगुण सूचित किया है । यह अवष्टम्भात्मक है । अवष्टम्भ का अर्थ है रुकावट । इससे आसक्ति सूचित होती है । आसक्ति तमोगुण का कार्य है । जैसे कोई दुराग्रही विषय-सेवन से हटाये नहीं हटता, यह आसक्ति का स्वरूप है । मयूरपिच्छ के धारण से भगवान् ने राधाविषयिणी आसक्ति व्यक्त की है ॥

नटवरवपुः बिभ्रत्-नटवत् वरवच्च वपुर्यस्य—नट की तरह, अभिनेता की तरह और वर अर्थात् दूल्हा की तरह वपु अर्थात् शरीर को धारण किये हुए, अभिनेता और वर की तरह सजे-धजे रूप को धारण किये हुए । नट होता है वियोग-शृंगार का प्रतिनिधित्व करनेवाला, और वर=दूल्हा होता है संयोग-शृङ्गार का प्रतिनिधित्व करनेवाला । इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण द्विविध शृङ्गार-स्वरूप हैं । शृङ्गार-सार-सर्वस्व हैं अथवा ‘नटेभ्यो वरः नटवरस्तस्येव वपुर्यस्य’ अर्थात् सर्वश्रेष्ठ नट की तरह रूप धारण किये हुए ।

हृदय-क-वस्तुतः नट का तात्पर्य द्विभुजत्व में है । ब्रजलीला का प्राण तो द्विभुजत्व ही है इसलिये

१. भगवान् की अधर-सुधा के तीन भेद हैं—देवभोग्या, भगवद्भोग्या और सर्वभोग्या । वेणु द्वारा निर्गत भगवान् के अधर की सुधा कर्णरन्ध्रों के द्वारा गोपियों के हृदय में प्रविष्ट होकर जब भगवान् के वर्णन के रूप में निकलती है, तब उसका आस्वादन भगवान् करते हैं । यही है अधरसुधा का भगवद्भोग्या होना । देवभोग्या अधरसुधा का पान पशु, पक्षी एवं वृक्ष वन सभी ऋषि, मुनि एवं देव करते हैं । सर्वभोग्या का पान गोपिकाएँ और अन्य गोप करते हैं ।
२. यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि इस श्लोक और इसके अर्थ-दोनों में अभेद है । नाम-नामी, शब्द-अर्थ में अभेद होता है ।
३. श्वेत, पीत, रक्त, हरित, नील वर्ण के सुगन्धित पुष्पों से गुंथी हुई माला वैजयन्ती माला कही जाती है—  
श्वेतैः पीतैस्तथा रक्तैर्हरितैर्नीलवर्णकैः । पुष्पैरभिः सुगन्धैश्च वैजयन्त्यस्ति मालिका ॥—भक्तिसुधारण



“नटवरवपुः” हैं। यदि भगवान् चार भुजाधारी होकर आते तो ब्रजवासियों को वह आनन्द न मिलता जो दो भुजाधारी कृष्ण से मिलता है। द्विभुजधारी कृष्ण का सा सख्य चतुर्भुजधारी विष्णु से न मिलता। ब्रजवासी उन्हें भगवान् मानते, अपने समाज का सदस्य नहीं।

**ख-वपुः**—‘वम् अमृतबीजं पुष्पाति इति वपुः’। जो देखनेवाले, छूनेवाले और श्रद्धा के साथ बात करनेवाले को अमरत्व प्रदान करता है, वह वपु है। प्राणियों का विग्रह शरीर और भगवान् का विग्रह वपु कहलाता है।

**कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रत्**—दोनों कानों में कर्णिकार धारण किये हुए हैं। कर्णिकार अमलतास के लम्बे-लम्बे लटकते हुए फूल को कहते हैं। कान तो दो हैं, पर कर्णिकार एक ही है। इसका अभिप्राय यह है कि—संयोगात्मक शृंगार दिखलाने के लिये एक कान के साथ कर्णिकार का सम्बन्ध है और दूसरे के साथ वियोग शृंगार की लीला है। कोई-कोई कर्णिकार में भी द्वित्व की कल्पना कर लेते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् के दोनों कानों में दो कर्णिकार लटक रहे हैं। कोई ऐसा भी कहते हैं—कर्णिका का अर्थ कनेर नहीं है, अमलतास नहीं है, अपितु पीतवर्ण का सूर्यमुखी पुष्प है। इसका स्वभाव है, सूर्य की ओर मुख करना। कर्णिकार के इस स्वभाव को जान कर, उसको श्रीकृष्ण ने धारण किया कि हमारे प्रेमी जिधर मुँह करते हैं, उधर ही मैं भी अभिमुख होता हूँ।

**बिभ्रद्भासः कनककपिशं**—अग्नि में तपकर चमचमाते हुए सुवर्ण की भाँति पीताम्बर धारण किये हुए। श्रीकृष्ण शृंगार रसस्वरूप हैं। रस आवृत ही शोभायमान होता है। निरावरण रस रस नहीं रसाभास हो जाता है। पीताम्बर आच्छादक होने के साथ-साथ विमोहक भी है। योगमाया राधा रानी के स्वरूप में विमोहकता और प्रावरकता है। वही श्रीकृष्ण के शरीर से पीताम्बर बन कर लिपटी हुई है।

**रन्मन्यं वेणोरधरसुधया पूरयन्**—अपने अधर पर रखकर वंशी बजाते हुए। अपने अधरामृत को वंशी के छिद्रों में उड़ेलते हुए। भावकों का यह भी कथन है कि—सम्पूर्ण षड्भग (ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) सम्पन्न भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। वेणु में सात छिद्र हैं अतः षट् छिद्रों द्वारा एक-एक भग-धर्म एवं सातवें छिद्र द्वारा षड्धर्म सहित भगवान् अधर-सुधा द्वारा वंशी में प्रवेश कर, उसके द्वारा श्री ब्रजाङ्गनाओं के हृदय में प्रवेश करते हैं।

**हृदय**—जैसा पीछे निर्देश किया गया है कि बाँस की वंशी साक्षात् विश्वनाथ हैं—“वंशस्तु भगवान् रुद्रः”। “शृंगमिन्द्रः सगोसुरः” (कृष्णोपनिषद्)। वंशी साक्षात् रुद्र ही है। राधा को पाने के लिये कृष्ण ने तप किया। रुद्र प्रसन्न होकर बोले “वरं ब्रूहि” वर माँगो। कृष्ण ने कहा वर दीजिये कि राधा मुझे मिल जाय। शंकर ने कहा मैं बाँस बन कर नन्दबाबा के घर के सामने उगूँगा। तुम उसे कटवा कर वंशी बना लेना और बजाना। वंशी की ध्वनि को सुनकर राधा ही नहीं सकल ब्रह्माण्ड मोहित होकर तुम्हारे पास दौड़ा चला आयेगा।

**वृन्दारण्यं स्वपदरमणम्**—यत्र-तत्र अपने चरण-चिह्नों से अलङ्कृत वृन्दावन धाम में गोपबालों के साथ पधारे। वृन्दावन कैसा यत्र ? ‘स्वपदरमणम्’ है—‘स्वपदं वैकुण्ठधाम तस्मादपि रमणम्’। वृन्दावन वैकुण्ठ धाम से भी अधिक रमणीय है अथवा—‘स्वपदयोः रमणं रमणजनकमिति स्वपदरमणम्’। वृन्दावन भगवान् के चरणारविन्दों को भी आनन्द देनेवाला है अथवा—‘स्वस्याः स्वप्रियायाः राधायाः पदैः पदसञ्चरणैः रमणम्’। कृष्ण की प्रियतमा राधारानी के चरणचिह्नों के कारण सुशोभित वृन्दावन में भगवान् पधारे। गोपबाल उनके पीछे-पीछे उनकी कीर्ति का गान करते हुए चल रहे थे ॥५॥

**हृदय**—वस्तुतः वेणुछिद्रों में प्रविष्ट होकर भगवान् की अधरसुधा ही “बर्हापीड” इस श्लोक के रूप में व्यक्त हुई। इसमें उदबुद्ध उभयविध शृङ्गार रस है।



शुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, यह वंशीध्वनि जड़, चेतन-समस्त भूतों का मन चुरा लेती है। गोपियों ने उसे सुना और सुनकर उसका वर्णन करने लगीं। वर्णन करते-करते वे तन्मय हो गईं और मन-ही-मन उनका आलिङ्गन करने लगीं। पुनः स्मरण होने पर एक ने कहा—

अरी सखियों, वस्तुतः नेत्र पाने का यही प्रधान फल है कि वन में पशुओं के पीछे-पीछे जाते हुए, नन्द के दुलारे श्याम और राम के मुख-चन्द्र को हम देख रही हैं। वंशी बजाते हुए वे अपने कृपा-पात्र ग्वालबालों को कैसे मधुर मनोहर कृपा-कटाक्ष से देख रहें हैं।

हृदय—यहाँ बल्लभाचार्य का यह कहना है कि—जिन्हें भगवान् ने आधिदैविक देह अर्थात् इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि प्रदान किया है, उनके लिये यही परम फल है कि श्री कृष्णचन्द्र के सौन्दर्य आदि का आस्वादन करें।

दूसरी ने कहा—सखि, नन्द के दोनों लाडले लाल जब विविध रंग-विरंगें पुष्पों और पतियों से सुसज्जित हो सुन्दर पीत एवं नील वस्त्र धारण कर गोपबालों की मण्डली के मध्य बैठकर मधुर सङ्गीत की तान छेड़ देते हैं, उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो दो चतुर नट रङ्गमञ्च पर अभिनय कर रहे हों। मैं क्या कहूँ? उस समय की उनकी शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता। तीसरी कहती है—अरी सखि, देखो तो सही, इस वंशी ने पता नहीं कौन-सा पुण्य किया है, जिसके फलस्वरूप यह अकेली ही अतृप्त होकर भगवान् की अधर-सुधा का पान कर रही है। अरे जरा ध्यान तो दो, जिन नदियों के जल से यह सींची गई है, उन्हें भी खिले हुए कमलों के बहाने रोमाञ्च हो रहा है। इसकी जाति के वृक्षों से मधुधारा के व्याज से आनन्दाश्रु झर रहे हैं—

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।

भुंक्ते स्वयं यदवशिष्टरसं हृदिन्यो हृष्यत्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः ।।१०/२१/९

चौथी ने कहा—हे सखि, यह वृन्दावन अखिल भू-मण्डल की कीर्ति का विस्तार कर रहा है, क्योंकि देवकीनन्दन<sup>१</sup> श्रीकृष्ण के चरणकमलों के, कमल, अङ्गुश आदि चिह्नों से यह अङ्कित है। देखो-देखो, श्रीकृष्ण की वंशी की धुन पर मोर नाच रहे हैं। पक्षी चुपचाप शान्त होकर वृक्ष की डालियों पर आँखें बन्द कर आनन्द में निमग्न हो रहे हैं।

पाँचवीं ने कहा—देख री सखि, ये हरिणियाँ भी धन्य-धन्य हैं। वंशी की धुनि सुनकर ये अपने पतियों के साथ कृष्ण के पास चली आती हैं और सुन्दरवेशधारी श्रीकृष्ण की अपने प्रेमभरी चितवन से पूजा करती हैं।

छठी ने कहा—अरे, जरा ऊपर की ओर देखो। आकाश में विमान पर आरूढ स्वर्ग की देवियाँ, कामिनियाँ के मन को आकृष्ट करनेवाले श्रीकृष्ण के विचित्ररूप को देखकर और मुरली की ध्वनि को सुनकर सुध-बुध खो बैठती हैं। देखो-देखो उनके केशों के पुष्प और कटि की साड़ी खिसक कर नीचे गिर रही है।

१. गायमानी—गाते हुए। गायन मानः सत्कारः ययोस्तौ। गान सुनकर गायक का लोग सम्मान करते हैं, पर सर्वस्व नहीं देते। यहाँ प्रभु के लोकोत्तर गायन पर ग्वालबाल अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। अथवा—गायेन मानः अहङ्कारः ययोस्तौ। प्रभु कहते हैं, आओ, तुममें है कोई ऐसा गायन करनेवाला? अथवा—गाये गाने मानौ उपमानभूतौ। गान-विद्या में निदर्शन, उदाहरण।
२. दामोदर—गोपियाँ तो पहले मर्यादा की रक्षा के लिये श्याम के साथ राम को भी अपने वक्तव्य का विषय बना रही थीं। किन्तु जब वे अपनी सुध-बुध खो बैठतीं तब उन लोगों के वक्तव्य के एकमात्र लक्ष्य कृष्ण ही थे, दामोदर ही थे। वैसे भी राम यहाँ अभीप्सित नहीं थे।
३. पुराणान्तर के अनुसार यशोदा का एक नाम देवकी भी था—“द्वे नामनी नन्दजायाया यशोदा देवक्यपि।” अतः गोपियों ने यशोदानन्दन न कहकर ‘देवकीनन्दन’ कहा।



सातवीं ने कहा—अरि सखियों, वंशी के प्रभाव को तो देखो—जिस समय श्यामसुन्दर वंशी बजाते हैं, गाये भी अपने कान खड़े करके घास चरना छोड़ देती हैं और उनके बच्चे दूध पीना बन्द कर देते हैं। वे अपने मुख का दूध न उगल पाते हैं तथा न निगल पाते हैं। उनकी आँखों में प्रेम के आँसू और हृदय में गोविन्द का स्पर्श होता है—

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतपीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।  
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥

१०/२१/१३

आठवीं गोपी ने कहा—अरे, जरा वृन्दावन के पक्षियों की ओर तो देखो। सचमुच इन्हें पक्षी कहना ही गलत है। सत्य तो यह है कि उनमें से अधिकांश बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हैं। ये वृन्दावन के वृक्षों की डालियों पर बैठ कर निर्निमेष नयनों से कृष्ण की रूप-माधुरी का पान करते हुए तन्मय होकर वंशीनिनाद को सुनते रहते हैं। धन्य-धन्य है इनका जीवन।

नौवीं ने कहा—गोपियों, चेतन की बात छोड़ो। अब जरा इन अचेतन नदियों की ओर दृष्टिपात करो। देखो, ये वंशी की ध्वनि को सुनकर अपने जल-तरङ्गों की हलचल के व्याज से श्यामसुन्दर से मिलन की आकांक्षा व्यक्त कर रही हैं। लहरीरूपी हाथों से कमल का उपहार चढ़ा कर मानों कृष्ण की पूजा कर रही हैं।

दशवीं ने कहा—श्याम वर्ण का होने के कारण श्रीकृष्ण मेघों के भी सखा हैं। अतः गायों को चराते हुए जिधर-जिधर श्रीकृष्ण जाते हैं उधर-उधर मेघ उनके ऊपर अपने शरीररूपी छाते को फैला कर उनके आतप का निवारण करते हैं। जलबिन्दु बरसाकर मानों उनके ऊपर फूलों की वर्षा कर रहे हैं।

ग्यारहवीं ने कहा—देखो, ये सौभाग्यवती भीलिनियाँ, वनचरी स्त्रियाँ घासों पर लगे भगवान् के चरण-कुंकुम को अपने स्तन और कपोलों पर पोत कर हृदय की प्रेम-पीडा मिटाती हैं।

बारहवीं ने कहा—जरा, इन हरिदास शिरोमणि गिरिराज की ओर तो देखो। इन्हें प्रतिदिन भगवान् के चरणारविन्द के स्पर्श का परमानन्द प्राप्त होता है। ये सैकड़ों उपचारों के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं। 'पानीय-सूयवस-कन्दर-कन्द-मूलैः' ॥१८॥ वे झरने का सुमधुर जल देते हैं, हरी-हरी कोमल घास देते हैं, विश्राम के लिये कन्दरा देते हैं, खाने के लिये कन्द और मूल देते हैं—

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।

मानं तनोति सहगोगणयोस्तथोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥ १०/२१/१८

हृदय-भागवत में उद्धव और युधिष्ठिर को हरिदास कहा गया है। किन्तु गिरिराज गोवर्धन को 'हरिदासवर्य' की संज्ञा से मण्डित किया गया है। कन्द भून कर खाया जाता है और मूल कच्चा ही ॥

तेरहवीं ने कहा—अरी सखियों, जब श्रीकृष्ण गायों को साथ लेकर मधुर-मधुर स्वर से वंशी की तान छेड़ते हुए चलते हैं, तब चलने-फिरनेवाले चर प्राणी अचल हो जाते हैं और अचल चल हो जाते हैं, झूम उठते हैं। परमात्मा

१. तुलना कीजिये—जहाँ जहाँ जाहिँ राम रघुराया। तहाँ तहाँ मेघ करहिँ नभ छाया ॥ रामचरितमानस ॥

२. इस पर वल्लभाचार्य ने जो कहा वह अनर्गल है और विश्वनाथ चक्रवर्ती ने जो कहा वह दूर की कौड़ी लाना है। वस्तुतः गोपाङ्गनाओं ने प्रेमविवश हो भगवान् के सुकोमल चरणों को अपने कुंकुम-मण्डित वक्षःस्थल पर रक्खा। उनका कुंकुम भगवान् के श्रीचरणों में लगा। वही कुंकुम वृन्दावन में भगवान् के सञ्चरण की बेला में घासों पर लगा। उसे ही पोछ-पोछकर भीलिनियाँ अपने आनन और कुचकुम्भों पर मलकर हृदय की जलन मिटा रही हैं।



होकर भी जब ये बाल-क्रीडा करते हुए अपने शिर पर नोवना (दुहने के समय गाय का पैर बाँधने की रस्सी) लपेट कर और कन्धों पर फन्दा (भागनेवाली गायों को पकड़ने की रस्सी) रखकर एक वन से दूसरे वन में, गायों के पीछे-पीछे, जाते हैं उस समय इनकी शोभा न्यारी होती है।

परीक्षित, वृन्दावन विहारी श्रीकृष्ण की इस प्रकार विविध लीलायें हैं। गोपियाँ प्रतिदिन उनका वर्णन करती हुई कृष्ण में तन्मय हो जाती थीं।

हृदय—यहाँ गोपियों ने तेरह श्लोकों में श्रीकृष्ण के प्रति अपने हृदय-स्थित भावों को अभिव्यक्त किया है। एक-एक गोपी एक-एक झुण्ड का प्रतिनिधित्व करती है। अथवा एकत्रित गोपियों के समूह में त्रयोदश गोपियाँ ही प्रमुखरूप से मुखर थीं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, चित्त, अहङ्कार और बुद्धि—ये चौदह इन्द्रियाँ हैं। श्री कृष्ण के प्रति गोपियों ने अपने अभिमान का परित्याग कर दिया था। इस प्रकार अपनी तेरह इन्द्रियों को भगवान् में स्थिर कर गोपियों ने अपने हृदगत भावों को अभिव्यक्त किया है। यही है अभिप्राय इन तेरह श्लोकों की संख्या का ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२१॥

## बाईसवाँ अध्याय

( चौरहरण-लीला )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, अब हेमन्त ऋतु का आगमन हुआ। उसके प्रथम माह मार्गशीर्ष में नन्दबाबा के ब्रज की कुमारियों\* ने कात्यायनी देवी के पूजन का नियम आरम्भ कर दिया। दुर्गा को कात्यायनी कहते हैं। उन दिनों वे हविष्यान्न ही खाती थीं—

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दब्रजकुमारिकाः । चेरुहविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥१०/२२/१

वे कुमारियाँ पूर्व दिशा का क्षितिज लाल होते-होते यमुना के पावन जल में स्नान कर लेतीं और तट पर ही देवी की बालुकामयी मूर्ति बनाकर सुगन्धित चन्दन, पुष्पमाला, भाँति-भाँति के नैवेद्य, धूप-दीप, छोटी-बड़ी भेंट की सामग्री, पल्लव, फल और चावल आदि से उनकी पूजा किया करती थीं। प्रेमाधिक्य के कारण कभी-कभी पूजा का क्रम विस्मृत भी हो जाता था। आराधना की बेला में वे बोलती थीं—हे कात्यायनी, हे महामाये, हे महायोगिनी, हे सब की एकमात्र स्वामिनी, आप नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को हमारा पति बना दीजिये। देवि, हम आप के चरणों में प्रणाम करती हैं—इसी मन्त्र का जप करती हुई वे कुमारियाँ देवी की आराधना करती थीं—

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि । नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ॥

इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥१०/२२/४

नन्दनन्दन श्रीकृष्ण हमारे पति हों—इस कामना से उन लोगों ने पूरे महीने भर व्रत-नियम का पालन करते हुए भद्रकाली की पूजा की। उनका मन पूर्ण श्रीकृष्ण के रंग में रंग गया था। महानुभावों का कथन है कि ब्रजकुमारिकाओं के अङ्गों में अनङ्ग का सञ्चार तो अवस्था-क्रम से ही हुआ, परन्तु साङ्ग श्रीकृष्ण तो बहुत पहले ही उनके अङ्ग ही क्या, अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियों एवं रोम-रोम में प्रविष्ट हो गये थे।

इस प्रकार नन्द के ब्रज की कुमारिकाएँ श्री कृष्ण में आसक्त मन होकर भगवती भद्रकाली की अर्चना किया

१. यहाँ कुमारी शब्द से यौवनप्राप्त कन्याओं का ग्रहण किया गया है—“कुमारी कन्यकानारी” इति धरणिः ।



- करती थीं। उनका प्रतिदिन का नियम था कि उषा-काल में ही उठकर अपने-अपने वर्गों से आहूत होकर, एक-दूसरी के गले में हाथ डाले हुई, उच्च स्वर से कृष्ण की कीर्ति का गान करती हुई, कालिन्दी नहाने जाया करती थीं। मार्गशीर्ष की पूर्णिमा आई। व्रत-नियम की समाप्ति का यह अन्तिम दिन था। नित्य की भाँति आज भी वे तीर पर आकर, पूर्ववत् वस्त्रों को खोलकर<sup>१</sup>, श्रीकृष्ण के मङ्गलमय यश का गान करती हुई प्रसन्नता से यमुना-जल में विहार करने लगीं। व्रत की पूर्ति का दिन था। तन-मन विस्मृत कर श्रीकृष्ण-यश गाती हुई विहार करने लगीं। भावुकों का कहना है कि यमुना-जल में स्नान करने मात्र से भी प्राणी को श्रीकृष्ण सम्मिलन की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ब्रजाङ्गनाओं के व्रत का अभिप्राय जान कर, उनके कर्म की सिद्धि के लिये ही, अपने दाम, सुदाम, वसुदाम, किङ्किणी, गन्ध और पुष्कर आदि परम अन्तरङ्ग सखाओं से परिवृत होकर वहाँ गये। ये सखा श्रीकृष्ण के साक्षात् अन्तःकरण ही हैं—

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः । वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्ध्ये ॥१०/२२/८

यहाँ यह ध्यान रखना है कि चीरहरण की लीला अलौकिक एवं अप्राकृत है, यही बात प्रतिपादित करने के लिये इस श्लोक में श्रीकृष्ण के लिये भगवान् और योगेश्वरेश्वर इत्यादि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं अर्थात् भगवान् ब्रजकुमारियों की शुद्धभावना से की गई आराधना से सन्तुष्ट होकर, उनकी कर्म-सिद्धि के लिये पधारें हैं, गोपियों के नग्न अङ्ग देखने के लिये नहीं। यह गोपाङ्गनाओं का अहोभाग्य है कि भगवान् उनके साथ रमण करने के लिये उत्सुक हैं। यह केवल विशुद्ध प्रेम की ही महिमा है कि उनके कर्म सिद्ध करने के लिये सखाओं से घिरे हुए भगवान् पधारें। वे बड़ी शीघ्रता से उनके वस्त्रों को लेकर कदम्ब पर चढ़ गये और हँसते हुए बालकों के साथ परिहास करते हुए कहने लगे—अरी बालाओं, क्यों शीतल जल में कम्पित हो रही हो? निकल कर शुष्क वस्त्र धारण करो। अरी ब्रजकुमारियों, बतलाओ तो सही कि इस कदम्ब की शाखा में इतने वस्त्रों को किसने लाकर बाँधा है? क्या आप सब जानती हैं? मैं तो दूर से ही यह देखकर कि मेरे कदम्ब में आज रंग-विरंगे वस्त्रों के ही फल-फूल लगे हैं, अभी इस पर चढ़ा हूँ। यदि आप लोग यह कहें कि यह हमारे वस्त्र हैं, तो यह तो सम्भव नहीं। तुम्हारे वस्त्र इतने ऊँचे कैसे चढ़ सकते थे?

कन्याओं ने कहा—लाला तुमने ही चुपके से उठा कर उतने ऊँचे रख दिया है।

श्रीकृष्ण—क्या यह भी कहने का साहस करोगी? क्या नन्दराय का पुत्र मैं, चोर हूँ? क्या तुम लोग इस अभियोग को लेकर राजा कंस के पास मथुरा जाना चाहती हो?

कन्याएँ—लाला, नाराज मत होओ। वस्त्र ही देखो-पहचानो, ये स्त्रियों के वस्त्र हैं, पुरुषों के नहीं।

श्रीकृष्ण—ठीक है। ये स्त्रियों के वस्त्र हैं। परन्तु क्या इस संसार में तुम्हीं स्त्री हो? और कहीं स्त्रियाँ नहीं हैं?

कन्याएँ—नहीं, नहीं; स्त्रियाँ तो बहुत हैं। किन्तु इस निर्जन वन में हम ब्रजबालाओं को छोड़कर और कौन स्त्री आ सकती है?

१. प्रतीत होता है पूज्य व्यास जी से यहाँ कुछ गड़बड़ी हो गई। भागवत के इस स्थल को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारियाँ जिन वस्त्रों को पहनकर आती थीं, नंगी होकर स्नान करने के बाद फिर उन्हीं को पहन कर दुर्गा की पूजा करती थीं। बासी वस्त्र पहन कर पूजा करना कथमपि धर्म के अनुकूल नहीं है। इस पर सुधीजन स्वयं विचार कर सकते हैं।
२. यहाँ मर्यादा की रक्षा के लिये श्रीकृष्ण बड़े पैया बलराम को साथ नहीं ले गये हैं। चीरहरण-लीला की बेला में बलराम नहीं थे।



श्रीकृष्ण-अये, रहःसञ्चारिणी ब्रजबालाओं, क्या आप ही लोग रहस्यक्रीडा करती हैं ?

कन्याएँ-कन्हैया, आप अन्यथा न समझें। हम लोग यहाँ खेलने नहीं आतीं, किन्तु कदम्ब-देवता श्रीदुर्गा की पूजा करने आती हैं।

श्रीकृष्ण-तो क्या दुनियाँ में तुम्हीं लोग दुर्गा की पूजा करती हो ? अरी मुग्धाओं, यहाँ तो प्रत्येक अर्धरात्रि में स्वर्ग की देवियाँ विमान पर आरूढ़ होकर आती हैं और दुर्गा की पूजा करती हैं।

कन्याएँ-ठीक है, किन्तु वे अपना वस्त्र छोड़कर क्यों जायेंगी ?

श्रीकृष्ण-बालाओं, तुम इस तत्त्व को नहीं जानती। आज पुनः पूजा के लिये वे वस्त्र छोड़ गई हैं।

कन्याएँ-हे कृष्ण, आप ही इस रहस्य को नहीं जानते, यह वस्त्र हमारे ही हैं।

श्रीकृष्ण-ब्रज बालाओं, यदि सचमुच यह तुम्हारे ही वस्त्र हों तो आओ, अपना-अपना वस्त्र पहचान कर विश्वास के लिये शपथ करके ले लो। चाहे सब लोग साथ ही आओ, चाहे दो-तीन मिलकर, अथवा एक-एक ही आओ। मिलकर आने में, भीड़ में, कोई लोभवश अधिक वस्त्र भी ले सकती है। यदि नहीं आओगी तो वस्त्र नहीं मिलेंगे। यदि समझती हो कि मैं कपटी हूँ, मुझ पर विश्वास नहीं है, तो मैं शपथ पूर्वक सत्य कहता हूँ आप लोग व्रतों से कर्षित (दुर्बल) हैं। मैं परिहास नहीं करता हूँ। आप तपस्विनियों पर दया, भक्ति एवं धर्म का भी भय है, यदि मुझे मिथ्यावादी समझकर अविश्वास करती हो तो भी ठीक नहीं क्योंकि मैंने कभी भी इस जन्म में इतनी अवस्था तक झूठ नहीं बोला है। इस बात को ये सब बालक जानते हैं।

बालाएँ-दूर से ही इस जल में वस्त्रों को फेंक दें या बालकों के द्वारा भेज दें। हम ले लेंगी।

श्रीकृष्ण-यह तो ठीक नहीं है क्योंकि ये वस्त्र तुम्हारे हैं या और के, हमें क्या पता। धार्मिक व्यक्ति दूसरों के वस्त्रों को नखाग्र से भी नहीं छूते हैं अतः तुम्हीं लोग आकर अपने-अपने वस्त्र पहचान कर ले लो। हम दूसरे की वस्तु को न लेते हैं, न देते हैं और न छूते ही हैं।

बालाएँ-कन्हैया, हम कुल कुमारियाँ हैं। तुम्हारे पास आने में डरती हैं।

श्रीकृष्ण-अच्छ ठीक है। तो परीक्षण के लिये तुममें से कोई एक साधारण बाला आये, फिर देख लेना यदि उसके साथ कोई छेड़-छाड़ हो तो न आना अथवा यदि तुम सब मिलकर आओगी तब तो कोई डर ही नहीं है। अये सुमध्यमाओं, तुम्हें आने में क्यों सङ्कोच हो रहा है ? ब्रजाङ्गनाओं, आप लोग जो कहती हैं कि हम राजा से जाकर कहेंगी, तो यह सब निरर्थक है; क्योंकि अभी तो आप लोग नग्न हैं, ऐसी अवस्था में न कंस के पास जा सकती हैं, न नन्दराय के पास ही जा सकती हैं।<sup>१</sup>

भगवान् की यह हँसी-मसखरी देखकर गोपियों का हृदय प्रेम से सराबोर हो गया। वे तनिक सकुचा कर एक दूसरी की ओर देखने और मुस्कराने लगीं, किन्तु जल से बाहर नहीं निकलीं। यद्यपि वे शीतल जल में थर-थर काँप रही थीं फिर अनुनय करती हुई बालाओं ने कहा—कन्हैया, अन्याय मत करो। हम जानती हैं आप महात्मा नन्दराय के प्रिय पुत्र हैं। आप की ब्रज में बड़ी महिमा है। हम काँप रही हैं। हमारे वस्त्र दे दो। श्यामसुन्दर, हम आप की दासी हैं। आप की आज्ञा का पालन करेंगी। आप धर्म के मर्म को जाननेवाले हैं, वस्त्र दे दो नहीं तो हम राजा नन्दराय से तुम्हारी शिकायत करेंगी—

श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम् । देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद् राज्ञे ब्रुवामहे ।। १०/२२/१५

१. पूज्य स्वामी करपात्री जी के ग्रन्थ से।



श्रीकृष्ण ने कहा—कुमारियों, यदि तुम हमारी दासियाँ हो और हमारा कहना मानोगी तो यहाँ आकर अपना-अपना वस्त्र ले लो। कृष्ण की बात सुनकर ठण्ड से काँपती हुई कुमारियाँ अपने दोनों हाथों से गुप्त अङ्गों को छिपाकर यमुना के जल से बाहर निकलीं। उस समय ठण्ड उन्हें बहुत सता रही थी।

गोपकुमारियों के इस शुद्ध भाव को देखकर भगवान् प्रसन्न हो उठे। उनको अपने पास आई देखकर उन्होंने गोपियों के वस्त्र अपने कन्धे पर रख लिये और बड़ी प्रसन्नता से मुस्कराते हुए बोले—अरी गोपियों, तुमने जो व्रत लिया था, उसे निःसन्देह अच्छी तरह निभाया है किन्तु व्रत की अवस्था में तुम लोगों ने जो निर्वस्त्र होकर स्नान किया है, उससे जल के देवता वरुण और यमुना जी का अपमान हुआ है<sup>१</sup> अतः अब इस दोष की शान्ति के लिये तुम अपने हाथ जोड़ कर शिर से लगाओ और उन्हें झुक कर प्रणाम करो अर्थात् अञ्जलि बाँधकर प्रणाम करो। फिर अपने-अपने वस्त्र ले जाओ—

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यग्राहतैतत्तदु देवहेलनम्।

बद्धवाञ्जलिं मूर्ध्यपनुतयेऽहसः कृत्वा नमोऽद्यो वसनं प्रगृह्यताम्॥१०/२२/१९

जब श्रीकृष्ण ने अञ्जलि बाँधने के लिये कहा, तो ब्रजाङ्गनाओं ने नीचे ही अञ्जलि बन्धन किया। इस पर श्री कृष्ण ने कहा कि शिर पर अञ्जलि बाँध कर रखना ही प्रणाम है। जब उन्होंने एक हाथ से अपनी योनियों को आच्छादित करके एक हाथ द्वारा शिर से प्रणाम किया, तब श्रीकृष्ण ने कहा— एक हाथ का प्रणाम भी अशास्त्रीय है फिर उन लोगों ने निश्चल एवं निष्कपट भाव से श्रीकृष्ण को सर्वान्तरात्मा और सर्वेश्वर समझकर व्रत की पूर्ति के लिये प्रणाम किया—

इत्यच्युतेनाभिहिता ब्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम्।

तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः॥१०/२२/२०

हृदय-वस्तुतः जीव भगवान् के सम्मुख निरावरण और निष्कपट होने में अनेक तरह से आनाकानी करता है परन्तु जब भगवान् जिस पर अनुकम्पा करते हैं, तब किसी-न-किसी तरह उसे अपने सामने कर ही लेते हैं। यह प्रभु की विचित्र लीला है, बड़े-बड़े मुनीन्द्रगण इसलिये लालायित रहते हैं कि प्रभु मुझे अपने सम्मुख कर लें, उनमें मेरा मन आसक्त हो। परन्तु जिस पर प्रभु की कृपा होती है, उसकी चाहे इच्छा न भी हो, तो भी उसके शतधा आनाकानी करने पर भी भगवान् उसको खींच लेते हैं। इसीलिये प्रेमियों ने कृष्णावेश को ग्रहावेश कहा है। बलि ने भी कहा है कि—नाथ, आप हम सब के परोक्ष गुरु हैं। हम लोगों की इच्छा न होने पर भी बलात् सम्मुख कर लेते हैं क्योंकि विना सर्वव्यवधानशून्य निरावरण हुए जीव की कृतकृत्यता नहीं होती<sup>१</sup>।

अस्तु, इस तरह अवनत ब्रजाङ्गनाओं को देखकर, परम करुण भगवान् ने उनके शुद्ध भाव से प्रसन्न होकर उन्हें वस्त्र दे दिया। वस्त्र के साथ अद्भुत 'ब्राह्मसंस्पर्श' को प्रदान किया या अपने आप को ही समर्पित कर दिया। अहो ! उनका कितना दृढ प्रलम्भ किया गया, उनसे छलभरी बातों की गई, उन्हें लज्जाविहीन किया गया, उन्हें क्रीडनक (खिलौना) सा बनाया गया, उनका वस्त्र अपहरण किया गया फिर भी उन्होंने श्रीकृष्ण में दोष बुद्धि नहीं की; किन्तु प्रियतम मनमोहन के संग परम प्रसन्न हुईं।

वस्त्र प्राप्तकर वे ब्रजबालाएँ भगवान् के चरण-स्पर्श की अभिलाषा से उनके समागम के लिये सज कर उन्हीं

१. स्मृतियों में नग्न होकर स्नान करना धर्म के विरुद्ध बतलाया गया है।

२. मानस में भगवान् श्रीराम का कथन ही है कि—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अष नासहिं तबहीं॥ रामचरितमानस॥



की ओर लज्जाभरी चितवन से निहारती रहीं। उनकी कामना को समझकर भगवान् ने उनसे कहा—मेरी परम प्रेयसी कुमारियों, मैंने तुम्हारी अभिलाषा जान ली है। मैं इसका अनुमोदन करता हूँ। तुम्हारा संकल्प मैं अवश्य पूरा करूँगा। सम्प्रति तुम लोग व्रज में लौट जाओ। आगे आनेवाली शरद् ऋतु की इन रात्रियों में तुम लोग मेरे साथ रमण करोगी। मेरे साथ रमण करने की अभिलाषा से ही तुम लोगों ने यह व्रत और कात्यायनी देवी की अर्चना की है—

याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा<sup>१</sup> रंस्यथ क्षपाः। यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥१०/२२/२६

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—राजन, व्रजबालाओं की इच्छा पूरी हो गई। भगवान् के आदेश से, वहाँ से जाने की अनिच्छा होते हुए भी भगवान् का चिन्तन करती हुई वे बड़े कष्ट से व्रज में लौट गईं।

व्रजकुमारियों के चले जाने के बाद बलराम जी अन्य ग्वाल बालों के साथ गायों को लिये हुए वहाँ पहुँचे<sup>२</sup> फिर भगवान् कृष्ण बड़े भैया बलराम के साथ ग्वालबालों से घिरे हुए गायों को चराते-चराते वृन्दावन से बहुत दूर आगे निकल गये—

अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः। वृन्दावनाद् गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः॥

१०/२२/२९

मध्याह्न की तीव्र बेला हो चली थी। छत्र के समान वृक्ष शिर पर छाया किये हुए थे। इस दृश्य को देखकर भगवान् ने कहा—अहो ! इन वृक्षों का जीवन दूसरों को सुख प्रदान करने के लिये समर्पित है। वे स्वयं तो हवा के झोंके, वर्षा, धूप और पाला सब कुछ सहते हैं, परन्तु हम लोगों की उनसे रक्षा करते हैं—

पश्यैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवितान्। वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः॥

१०/२२/३२

अहो ! मेरा कथन है कि इन्हीं का जीवन सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इनके द्वारा सब प्राणियों को सहारा मिलता है। उनका जीवन-निर्वाह होता है जैसे किसी सज्जन पुरुष के घर से कोई याचक खाली हाथ नहीं लौटता, वैसे ही इन वृक्षों से भी सभी को कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है। मेरे प्यारे मित्रों, संसार में प्राणी तो बहुत हैं; परन्तु उनके जीवन की सफलता इतने में ही है कि जहाँ तक हो सके अपने धन से, विवेक-विचार से, वाणी से और प्राणों से भी ऐसे ही कर्म किये जाँय, जिनसे दूसरों की भलाई हो—

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु। प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा॥१०/२२/३५

यह कहते हुए भगवान् पत्र, पुष्प और फलों के भार से झुके वृक्षों के झुरमुट से होते हुए यमुना के तट पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने गायों को मधुर जल पिलाकर साथियों के साथ स्वयं भी जल पिया फिर कुछ देर बाद गायों को चराते हुए गोपों ने, भूख से व्याकुल होकर, भगवान् श्री कृष्ण और बलराम के पास जाकर इस प्रकार कहा—

१. “इमाः क्षपाः” इस पद के प्रयोग से प्रतीत होता है कि वे रात्रियाँ प्रत्यक्ष हैं। भगवान् अँगुली से निर्देश करते हुए कहते हैं कि इन रात्रियों में आप लोग मेरे सङ्ग रमण करना। यद्यपि भविष्य की रात्रियों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है, तथापि मालूम होता है कि जैसे राजा की दान रुचि समझ कर राजा का अमात्य देय वस्तु को उसी क्षण उपस्थित कर देता है, उसी तरह श्रीकृष्ण की दानरुचि जान कर ही योगमाया ने उन रात्रियों की अभिमानिनी शक्तियों को उपस्थित कर दिया। उन्हीं की ओर अङ्गुलि से निर्देश करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि आप लोग इन रात्रियों में मेरे साथ रमण करोगी।

२. यहाँ ऐसी ही कल्पना समीचीन है, प्रासङ्गिक है। भगवान् अपने अन्तरङ्ग सखाओं के साथ ही चौर-हरण करने गये थे। वहाँ बलराम का निर्देश नहीं है। गोपियों के चले जाने के बाद ही बलराम की चर्चा यहाँ की गई है। बालाओं के स्नान का समय अति प्रातः है। उस समय गाएँ गोष्ठ से छूटती भी नहीं हैं। सूर्योदय के बाद ही गाएँ जंगल के लिये चलती हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर उक्त बात कही गई है।



कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्ता इदमब्रुवन् ॥ १०/२२/३८

### चीरहरण का अभिप्राय

हृदय-रासलीला के प्रसङ्ग को सुनकर कुछ अविवेकी लोग कहा करते हैं कि—अरे, यह कैसा भगवान् है, जो स्त्रियों के पेटीकोट, बाड़ी और ब्लाउज की चोरी करता है, जल से उन्हें बाहर बुलाकर उनके यौवन और योनि को देखने का प्रयास करता है।

किन्तु ऐसे लोग यह नहीं जानते कि भागवत रहस्य-भाषा में लिखा गया ग्रन्थ है। इसके रहस्य को समझने के लिये अध्यात्म-ज्ञान के साथ विवेक, निर्मल बुद्धि और श्रद्धा की भी अपेक्षा है। भगवान् की लीला-सम्बन्धिनी मति तर्क से नहीं प्राप्त होती—“नैषा तर्केण मतिरापनेया” (श्रुतिः)। आस्तिकता के साथ विचार करने से विदित होता है कि जिन लीलाओं के वक्ता अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र भगवान् श्रीशुक हैं, जिन्हें भगवत्कथा-रसामृत के अतिरिक्त कुछ सुहाता ही नहीं, जिनके लिये यह दृश्यमान जगत् असत्कल्प हो चुका है, और श्रोता राजर्षि परीक्षित हैं, जो साम्राज्य-सिंहासन का परित्याग कर गंगातट पर निर्जल व्रत धारण किए, कुशासन पर बैठे हुए, आत्मकल्याण के लिये व्यग्र हैं, जिनके जीवन की अवधि कुल सात दिन की ही है; जिस समाज में महा-महा ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवर्षि विराजमान हैं, वहाँ किसी भी ग्राम्यकथा का, अश्लील लीला का सञ्चार कैसे हो सकता है ?

दूसरी बात यह है कि चीरहरण-लीला के समय भगवान् श्रीकृष्ण की वयः प्रायः नौ वर्ष की थी। क्या नौ वर्ष का बालक स्त्रियों के सम्पूर्ण अङ्गों के रहस्यों और उपयोगों की बात जानता है ? क्या वह रति-रङ्ग में पारङ्गत होता है ? यदि नहीं तो श्रीकृष्ण पर अनुचित हरकतों का दोष कैसे मढ़ा जा सकता है ? यहाँ हम संक्षेप में कुछ बातें उपस्थित कर रहे हैं, जिनको सामने रखने पर चीरहरण का रहस्य समझने में सहायता मिलेगी। गोपबालाएँ जीव हैं। वस्त्र प्रावरण होने के कारण अविद्या है। लज्जा और अहङ्कार अविद्या के कार्य हैं। श्रीकृष्ण भगवान् हैं और गोपाङ्गनाओं का नियम-पूजन तपस्या है।

प्राणी को भगवान् की प्राप्ति में अविद्या, लज्जा और अहङ्कार आदि ही व्यवधान हैं। अपने को भगवान् से भिन्न समझ कर उनसे अपने को छिपाने और आवृत रखने का प्रयास किया जाता है। भगवान् जब साधक की साधना से पूर्ण सन्तुष्ट हो जाते हैं तो वे कृपा करके अविद्यारूपी चीर का, आवरण का स्वयं बढ़ कर हरण कर लेते हैं। वस्त्ररूप अविद्या के छिन जाने पर बालाएँ अहङ्कार और लज्जा से अपने को छिपाना चाहती थीं, किन्तु सर्वव्यापक भगवान् ने यह भी अनुचित समझा और सर्वथा निरावरण निश्छल होने का अनुरोध किया। भगवान् के संकल्प से ब्रजाङ्गनाओं ने वैसा ही किया। आवरण-भङ्ग के बिना ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है।

भगवान् ने गोपियों के सभी आवरणों को लौटा दिया। किन्तु अब वे सब भगवत्प्रसाद बन गये थे। कृष्ण ने वस्त्रों को अपने कन्धे पर रखने के बाद लौटाये थे। इस प्रकार उन्होंने वस्त्र के साथ अद्भुत ब्राह्म-सम्बन्ध प्रदान किया या अपने आप को ही समर्पण कर दिया—“वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्”। (२२/२१)। इससे ब्रजाङ्गनाओं में कृष्ण-रमण की योग्यता का सञ्चार हुआ। जब तक ब्रजाङ्गनाएँ रसात्मक श्रीकृष्णमय न हो जाँय तब तक वे श्रीकृष्ण के रमण योग्य नहीं बन सकतीं। श्रीकृष्णाङ्गसंस्पृष्ट वस्त्रों के संसर्ग से ब्रजाङ्गनाओं के प्राकृतभाव की निवृत्ति एवं कृष्णभाव की प्राप्ति होती है।

रसात्मक श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से सभी वस्तु रसात्मक श्री कृष्णमय बन जाती हैं अतः श्रीकृष्ण से संस्पृष्ट वस्त्रों को धारण करने से बालाओं में भी रसात्मकता आ गई। यहाँ यह ध्यान रखना है कि जब से प्राणी भगवान् का अर्चन



स्मरण प्रारम्भ करता है, तभी से प्राणी का प्राकृतभाव नष्ट होने लगता है और भगवत्स्वरूपभूत रसात्मकता आ जाती है ।

चीर कहते हैं सूक्ष्म रेशमी वस्त्र को । भक्तजीव जब साधना करते करते अपनी अविद्यारूपी मोटे मैले चादर को धोते-धोते उसे अत्यन्त क्षीण कर देता है, तब भगवान् भी उस पर करुणा करके उसके माया के पर्दा का अपहरण कर उसे अपने सामने कर अपनी छाती से लगा लेते हैं, अपने में मिला लेते हैं । यही है चीरहरण का सूक्ष्म रहस्य ।

कुछ आचार्यों का यह कथन भी माननीय है कि—इस संसार में तीन प्रकार के प्राणी हैं—विषयी, साधक और सिद्ध । इसी को गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—“बिषयी साधक सिद्ध सयाने । त्रिविध जीव जग बेद बखाने” ॥मानसा॥ विषयी वे हैं जो संसार के विषयों में रचे-पचे हैं । साधक वे हैं जो मुक्त होने की साधना में लग गये हैं और सिद्ध वे हैं जो जीवन्मुक्त हो चुके हैं । भागवत की कथा इन तीनों प्रकार के प्राणियों के कल्याण के लिये लिखी गई है । विषयी प्राणियों के चित्त का आकर्षण शृंगार के वर्णन द्वारा ही हो सकता है अतः व्यास जी ने बड़ी ही सावधानी से शृंगार-रस के वर्णन से, चीरहरण के द्वारा उनके मन को तत्त्वज्ञान की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है । भगवान् का यह नियम है कि जो जिस भाव से उनका भजन करता है वे उससे उसी भाव से मिलते हैं—“ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्” ॥भगवती गीता॥ श्रीमद्भागवत का स्वयं कथन है कि—गोपियाँ काम से, कंस भय से, शिशुपाल आदि राजा द्वेष से, यदुवंशी सम्बन्ध से, पाण्डव स्नेह से और नारद आदि भक्ति से भगवान् को प्राप्त किये अतः जैसे भी हो अपना मन भगवान् में लगाना चाहिये—

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।

संबन्धाद् वृष्णायः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ॥

तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥ ७/१/३०-३१

यह भी सिद्धान्त माननीय हो सकता है । गोपियों के अनुराग भरे जीवन का यह आख्यान इसी तथ्य की ओर सङ्केत करता है अतः अपने उद्धार के लिये जैसे हो सके वैसे कृष्ण में अपने मन को सन्निविष्ट करना चाहिये ॥२२॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२२॥

## तेईसवाँ अध्याय

( भोजन माँगने के बहाने यज्ञपत्नियों पर भगवान् की कृपा )

हृदय-ब्रह्मा के द्वारा गोपबालकों और बछड़ों का हरण कर लिया गया था । उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ही गोप-बालक और बछड़े बन कर पूरे वर्ष भर गायों और वृद्ध गोपियों से संयुक्त रहे । यह गो-रास और वृद्धा गोपी रास की रचना थी । अब इस अध्याय में यज्ञ-पत्नियों ब्राह्मणियों के साथ रास का वर्णन है । रास-पञ्चाध्यायी के महारास का वर्णन तो आगे २९ अध्याय से ३३ अध्याय तक किया गया है ।

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—राजन्, पिछले अध्याय में यह कहा जा चुका है कि भूख से व्याकुल ग्वालबाल भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में आये । ये प्रतिदिन भोजन की सामग्री साथ में लाते थे किन्तु उस दिन गोप-कन्याओं को छकाने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण के कहने से बिना भोजन लिये बहुत सबरे ही चले आये थे अतः भूख के लगने पर उन लोगों ने बलराम और श्रीकृष्ण से इस प्रकार प्रार्थना की—



गोप-बालकों ने कहा—महान् बलशाली बलराम जी और दुष्टों का दलन करनेवाले कृष्ण जी, भूख हम लोगों को अतिशय पीड़ित कर रही है अतः आप दोनों इसे दूर करने का उपाय करें—

राम राम महावीर्यं कृष्णदृष्टनिर्बर्हण । एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथः ॥१०/२३/१

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—परीक्षित, जब ग्वालबालों ने देवकीनन्दन<sup>१</sup> भगवान् श्रीकृष्ण से इस प्रकार प्रार्थना की तब उन्होंने मथुरा निवासिनी अपनी भक्त ब्राह्मण-पत्नियों पर कृपा करने के लिये यह बात कही—

इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान् देवकीसुतः । भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥१०/२३/२

मेरे प्रिय मित्रों, यहाँ से थोड़ी दूर पर वेदवादी ब्राह्मण स्वर्ग की कामना से आङ्गिरस नाम का यज्ञ कर रहे हैं । तुम लोग उनके पास जाओ । वहाँ बड़े भैया बलदाऊ जी का और मेरा नाम लेकर उनसे भोजन मांग लाओ । भगवान् की आज्ञा मिलते ही ग्वालबाल यज्ञशाला में ब्राह्मणों के पास जा पहुँचे । उन लोगों ने विनम्र हो ब्राह्मणों से कहा—भूदेवों, यहाँ से थोड़ी दूर पर बलराम और श्रीकृष्ण गायेँ चरा रहे हैं । उन्हें भूख लगी हुई है । उन लोगों ने भोजन मांगने के लिये हम लोगों को भेजा है अतः यदि आप लोगों की श्रद्धा हो तो उन्हें भात तथा अन्य भोजन-सामग्री प्रदान करने की कृपा करें । परीक्षित, इस प्रकार भगवान् के भोजन मांगने की बात सुन कर भी वे ब्राह्मण चुप ही रहे, कुछ बोले नहीं । वे अपने को महान् कर्मकाण्डी समझ कर यज्ञ के कर्मकाण्ड में उलझे हुए थे । थे तो वे अल्पज्ञानी, किन्तु अपने को महान् ज्ञानी मानते थे । उन्हें यह पता नहीं था कि यज्ञ, यज्ञ की सारी सामग्री, यज्ञमान और पुरोहित आदि सब कुछ भगवान् श्रीकृष्ण के ही स्वरूप हैं । वे पञ्चह, साक्षात् नारायण स्वरूप श्रीकृष्ण को मनुष्य-दृष्टि से देखते थे अतः उन लोगों ने न हाँ कहा और न ना ही । न स्वीकार किया, न इन्कार किया । निराश होकर गोप-बालक भगवान् के पास लौट आये और उन्हें सब कुछ बतला दिया । उनकी बात सुन कर भगवान् को हँसी आ गई । उन्होंने बालकों से पुनः कहा—अच्छा, अब तुम लोग एक बार फिर जाओ । अब की बार ब्राह्मणों से नहीं, उनकी पत्नियों से भोजन मांगो । वे तुम्हें अवश्य भोजन प्रदान करेंगी । उनके मन में मेरे लिये बड़ी श्रद्धा है ।

भगवान् की आज्ञा होने पर ग्वालबाल ब्राह्मण-पत्नियों के पास पहुँचे । उन्हें प्रणाम किया । विनम्रता से भगवान् का आदेश उन्हें सुना दिया । ब्राह्मण-पत्नियाँ तो श्रीकृष्ण का दर्शन चाहती ही थीं । उनके आने का समाचार सुन कर वे उनसे मिलने के लिये उत्कण्ठित हो उठीं—“तत्कथाक्षिप्तमनसः” ॥१८॥ वे नाना प्रकार की भोजन-सामग्री चाँदी की थालियों में भर कर भगवान् की ओर दौड़ पड़ीं । यद्यपि भगवत्सम्मिलन के लिये जाती हुई उनके पतियों परिवारजनों ने उन्हें रोका था किन्तु कृष्ण के सौन्दर्य आदि गुणों को सुन-सुन कर उन लोगों ने अपना सर्वस्व श्रीकृष्ण पर न्योछावर कर दिया था अतः रोकने पर भी न रुकीं । जब वे यमुना के तट पर पहुँची तो देखा कि अशोक वृक्षों के झुरमुट में भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम गोपबालों के साथ गायाँ को चरा रहे हैं । श्रीकृष्ण के श्याम शरीर पर सुनहला पीताम्बर झिलमिला रहा था । गले में वनमाला लटक रही थी । मस्तक पर मोर-पंख का मुकुट था । अङ्ग-अङ्ग में रङ्ग-रङ्ग की चित्रकारी बनी हुई थी । उन्होंने नवीन कोपलों के गुच्छे शरीर पर लगाकर नट-सा वेष बना रक्खा था । एक हाथ प्रियमित्र ग्वालबाल के स्कन्ध पर था और दूसरे हाथ से कमल का पुष्प नचा रहे थे । कानों में कमल के कुण्डल थे, कपोलों पर बुँधराली अलकें लटक रही थीं । मुख मन्द-मन्द मुस्कान की रेखा से प्रफुल्लित हो रहा था—

१. अभी तक सारी दुनियाँ यही जानती थी कि श्रीकृष्ण यशोदानन्दन हैं किन्तु बार-बार उन्हें इस अवधि में देवकीनन्दन कहना ग्रन्थकार की भूल है ? अथवा यह भी कह सकते हैं कि यशोदा का दूसरा नाम देवकी भी था अतः श्रीकृष्ण को देवकीनन्दन कहना युक्तियुक्त ही है, अनुचित नहीं ।



श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रबालनटवेधमनुव्रतांसे ।

विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥१०/२३/२२

कहते हैं, इस श्लोक को सुनकर चैतन्य महाप्रभु भगवान् की लीला का स्मरण करते हुए भाव-समाधि में निमग्न हो जाया करते थे ।

भगवान् के सौन्दर्य को देखकर यज्ञपत्नियाँ सुध-बुध खो बैठीं । उनका हृदय भगवान् के ध्यान में निमग्न हो गया । उनके जन्म-जन्मान्तर के सारे पाप-ताप धुल गये । भगवान् के सामने पकवानों से भरी थालियों को रखकर वे एक टक श्रीकृष्ण की मुखमाधुरी को निरखने लगीं । सकल संसार के प्राणियों के भावों को जाननेवाले श्रीकृष्ण ने मुस्कराकर कहा—भाग्यशालिनी देवियों, आपका स्वागत है । आइये । बैठिये । बतलाइये हम आपके लिये क्या करें ? आप लोग हमारे दर्शन की इच्छा से यहाँ आई हैं, यह आप जैसे प्रेमियों के लिये उचित ही है । स्वार्थ-परमार्थ के ज्ञाता जन वैसे ही मेरी अहैतुकी भक्ति करते हैं, जैसे कोई अपने स्वजनों के साथ करता है । ऐसा कह कर भगवान् ने उनका अन्न ग्रहण किया और ब्राह्मण-पत्नियों से कहा—देवियों, मैं आप लोगों के प्रेम का अभिनन्दन करता हूँ । आप ने मेरा दर्शन किया, भोजन दिया । अब अपनी यज्ञशाला में लौट जाओ । तुम्हारे पति ब्राह्मण गृहस्थ हैं । वे तुम्हें बगल में बैठाकर ही अपना यज्ञपूर्ण कर सकेंगे ।

भगवान् की बात सुनकर यज्ञपत्नियों ने विकल होकर निवेदन किया अन्तर्यामी श्याम सुन्दर, ऐसा कठोर वचन न कहें । आप अपनी उस वेदवाणी को सत्य करके दिखलाइये, जिसमें कहा गया है कि जो भगवान् के पास आ जाता है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती—‘न स पुनरावर्तते’<sup>१</sup> । आप अपनी इस वेद-वाणी को सत्य कीजिये—“सत्यं कुरुष्व निगमं”<sup>(२९)</sup> । अब हम आप के चरण की शरण में आ गई हैं । हमने अपने सारे भाई-बन्धुओं का परित्याग कर दिया है । अब आप के चरणों पर चढ़ी और फिर गिरी हुई तुलसी की माला को अपने बालों में धारण कर साधु बनकर घूमेंगी । मेरे स्वामी, अब हमारे पति-पुत्र, माता-पिता, भाई-बन्धु और स्वजन-सम्बन्धी हमें स्वीकार नहीं करेंगे; फिर दूसरों की तो बात ही क्या है ? वीरशिरोमणे, अब हम आप के चरणों की शरण में आकर गिर गई हैं । आप के अतिरिक्त हमें और किसी का सहारा नहीं है अतः कृपा कर अब हमें दूसरों के पास मत भेजिये ।

यज्ञपत्नियों की बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—देवियों, पति-पुत्र, भाई-बन्धु आदि कोई भी आप लोगों का तिरस्कार नहीं करेंगे । उनकी तो बात ही क्या, सारा संसार आप लोगों का सम्मान करेगा । इसका कारण है अब आप लोग मेरी बन गई हैं, मुझसे युक्त हो गई हैं । देखिये न, ये देवता भी मेरी बात का अनुमोदन कर रहे हैं । देवियों, इस संसार में मेरा सान्निध्यमात्र मेरे प्रति अनुराग का कारण नहीं है इसलिये आप लोग जाइये, अपना मन मुझ में लगाये रखियेगा । इससे आप लोगों को शीघ्र ही मेरी प्राप्ति हो जायेगी—

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह । तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥

१०/२३/३२

भगवान् का आदेश प्राप्त होने पर ब्राह्मण-पत्नियाँ लौट कर यज्ञशाला में गईं । ब्राह्मणों ने उनके साथ किसी प्रकार की दोष-दृष्टि नहीं की । उन्हें प्रेम-पूर्वक अपने बगल में बैठा कर यज्ञ का कार्य पूर्ण किया । जब स्त्रियाँ श्रीकृष्ण के लिये भोजन लेकर जाने के लिये तत्पर हुईं, यज्ञ-मण्डप में एक स्त्री को उसके पति ने हठपूर्वक उसे रोक लिया था । जाने नहीं दिया था । उस समय उस ब्राह्मण पत्नी ने भगवान् के वैसे ही स्वरूप का ध्यान किया, जैसा कि बहुत



दिनों से उसने सुन रक्खा था। प्रगाढ ध्यान के बल पर उसने मन से भगवान् का आलिङ्गन कर अपने त्रिगुणात्मक शरीर का परित्याग कर दिया और भगवान् के रूप में ही जाकर मिल गई। उसके सारे कर्म-बन्धन समाप्त हो गये।

यज्ञ-पत्नियों के चले जाने पर भगवान् ने यज्ञपत्नियों द्वारा प्रदत्त अन्न से गोपों को यथेच्छ भोजन कराया और स्वयं भी भोजन किया। यज्ञ करनेवाले ब्रह्म ब्राह्मणों को जब विदित हुआ कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, तो उन्हें महान् पश्चात्ताप हुआ। वे सोचने लगे कि संसार के नियन्ता श्रीकृष्ण और बलराम की याचना को अस्वीकार कर हमने महान् अनर्थ किया है। श्रीकृष्ण तो मानवलीला करते हुए परमेश्वर ही हैं। जब उन्होंने देखा कि हमारी पत्नियों के हृदय में भगवान् के प्रति अलौकिक प्रेम है और हम लोग उससे रहित हैं, तब वे पछता-पछता कर अपने में हीन-भावना का अनुभव करने लगे। वे कहने लगे— भगवान् से विमुख व्यक्तियों के त्रिविध जन्मको<sup>१</sup>, विद्या को, व्रत को बहुज्ञता को, कुल को, चातुर्य को और वैभव आदि—सब को धिक्कार है, धिक्कार है। हमने भगवान् की आज्ञा अस्वीकृत कर दी। वस्तुतः हम बड़े अज्ञानी और अभागे हैं—

धिग् जन्म नस्त्रिविद्विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम् ।

धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वद्योक्षजे ॥१०/२३/३९

इन स्त्रियों के सौभाग्य को तो देखो। श्रीकृष्ण के प्रति अगाध प्रेम के कारण इन लोगों ने गृहस्थीरूपी अपने दुरन्त बन्धन को समाप्त कर डाला। इनमें विद्या तप आदि कुछ भी नहीं है फिर भी ये हम अभिमानी विद्वानों से बहुत आगे हैं, बहुत ऊपर हैं। इनकी श्रीकृष्ण में जैसी दृढ भक्ति है, वैसी हमारी नहीं है। भगवान् ने हम लोगों पर बड़ी कृपा करके गोपों के द्वारा हमें अपना स्मरण भी कराया था, फिर भी हमारा अभिमान तो देखिये कि हम उन्हें पहचान ही न सके। इतना होने पर भी हम धन्य-धन्य हैं, जिन्हें कृष्ण-भक्त स्त्रियाँ मिली हैं। इन्हीं के कारण भगवान् श्रीकृष्ण में हमारी भी निर्मल निश्चल बुद्धि लग गई है। हे भगवन्, हम आप की माया से मोहित हैं अतः आप हमारे अपराध को क्षमा करें। हम आप के शरणागत हैं।

परीक्षित्, उन ब्राह्मणों ने श्रीकृष्ण का तिरस्कार किया था अतः उन्हें अपने अपराध की स्मृति से बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उनके हृदय में श्रीकृष्ण-बलराम के दर्शन की बड़ी इच्छा भी हुई। परन्तु कंस के भय के मारे वे उनका दर्शन करने न जा सके—

इति स्वाधमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः । दिदृक्षवोऽप्यच्युतयोः कंसाद् भीता न चाचलन् ॥

१०/२३/५२

### यज्ञपत्नियों का पूर्वजन्म

एक समय की घटना है। अग्निदेव सप्तर्षियों की पत्नियों के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठे। पता चलने पर सप्तर्षियों ने अग्नि को सर्वभक्षी होने का और अपनी पत्नियों को मानव-योन में जन्म लेने का शाप दिया। पत्नियों के अनुनय-विनय करने पर सप्तर्षियों ने कहा—द्वापर के अन्त में श्रीकृष्ण के रूप में भगवान् का अवतार होगा। उस समय उन्हें अन्न प्रदान कर तुम लोग वैकुण्ठ की अधिकारिणी बनोगी। (बहवैवर्तपुराण)

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वाद्धि का यह तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२३॥

•

१. द्विजों का तीन प्रकार से जन्म होता है—१. शुद्ध माता-पिता से, २. उपनयन से और ३. दीक्षा से।



## चौबीसवाँ अध्याय

### ( इन्द्रयज्ञ का निवारण<sup>१</sup> )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित भगवान् श्रीकृष्ण बलराम जी के साथ वृन्दावन में निवास करते हुए भाँति-भाँति की लीलाएँ कर रहे थे। उन्होंने एक दिन देखा कि वहाँ के सब गोप इन्द्र-याग की तैयारी कर रहे हैं। यद्यपि भगवान् सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ हैं। उन्हें सब के अन्तःकरण की बातें विदित हैं फिर भी उन्होंने अनजान-से बनकर नन्दबाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपों से पूछा—पिता जी, आप लोगों के सामने यह कौन-सा बड़ा भारी कार्य, कौन-सा उत्सव आ पहुँचा ? इसका फल क्या है ? किस उद्देश्य से, कौन लोग, किन साधनों के द्वारा यह यज्ञ किया करते हैं ? पिता जी, कृपा कर आप हमारी जिज्ञासाओं का समाधान करें—

कथ्यतां मे पितः कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः । किं फलं कस्य चोद्देशः केन वा साध्यते मखः ॥

१०/२४/३

आप यह भी बतलावें कि जिस क्रिया को सम्पन्न करने के लिये आप लोग उद्योग कर रहे हैं, वह शास्त्रीय है अथवा परम्परा से प्राप्त लौकिक है ? यह स्पष्ट रूप से हमें समझा कर बतलाइये।

श्रीकृष्ण के प्रश्नों को सुनकर नन्द बाबा ने कहा—बेटा, भगवान् इन्द्र वर्षा करनेवाले मेघों के स्वामी हैं। ये मेघ इन्हीं के अपने रूप हैं। वे ही प्राणियों को जीवन प्रदान करनेवाले जल को बरसाते हैं। वर्षा से कृषि होती है। कृषि से अन्न उत्पन्न होता है। उसी से हम इन्द्र का यज्ञ करते हैं। बचे हुए अन्न को हम लोग खाकर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं और धर्म, अर्थ तथा काम रूप त्रिवर्ग सिद्ध करते हैं अतः हम सभी परम्परा से चले आ रहे इस इन्द्रयाग को प्रतिवर्ष बिना किसी व्यवधान के किया करते हैं। यही हमारा धर्म है। जो लोग किसी कारण से इस परम्परा का पालन नहीं करते हैं, वे दुःख के भागी बनते हैं।

श्री शुकदेव जी ने कहा राजन्, भगवान् कृष्ण ने नन्द आदि बड़े-बूढ़े लोगों की बातें सुनी और फिर इन्द्र को क्रुद्ध करने के लिये अपने पिता नन्दबाबा से कहा—प्राणी अपने कर्म के अनुसार ही पैदा होता और कर्म से ही मर जाता है। कर्म के अनुसार ही उसे सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। व्यक्ति के मङ्गल या अमङ्गल में कर्म ही कारण है।

यदि आप कहिये कि फलदाता कोई और ही है, तो बतलाइये कि फलदाता कर्म-कर्ता को फल देता है अथवा कर्म के अकर्ता को ? स्पष्ट है, कर्म के कर्ता को ही फल मिलता है। ऐसी दशा में कर्म करनेवालों को इन्द्र से क्या लेना देना ? जब वे कर्म के फल को बदल ही नहीं सकते—तब उनसे क्या प्रयोजन ? मनुष्य अपने स्वभाव (पूर्वसंस्कारों) के अधीन है। वह उसी का अनुसरण करता है। सारा जगत् स्वभाव में ही स्थित है। कर्म से ही ऊँची-नीची योनियाँ मिलती हैं। कर्म से ही शत्रु मित्र बनते बिगड़ते हैं। कर्म ही गुरु है, कर्म ही ईश्वर है अतः मनुष्य को कर्म का ही आदर करना चाहिये, जिसके द्वारा मनुष्य की जीविका सुगमता से चलती है, वही उसका इष्टदेव है—

१. श्रीकृष्ण कोई सामान्य देव नहीं, साक्षात् परमात्मा हैं। उन्होंने अपनी लीलाओं के द्वारा सभी देवों का पराभव किया। वत्सलीला में ब्रह्मा का गर्व दूर किया। संकल्पमात्र से बालकों बछड़ों की रचना कर डाली। अग्निपान लीला में अग्नि का अभिमान विनष्ट किया। अब गोवर्धन लीला में इन्द्र का अहङ्कार उतारने जा रहे हैं और आगे रासलीला के पूर्व अट्टाडिसर्वे अध्याय में वरुण को पराजित कर उनका गर्व दूर किया। रासलीला तो काम-पराभव की लीला ही ठहरी।



देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा । शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥१०/२४/१७  
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥१०/२४/१८

उसी की पूजा करनी चाहिये । एक का आश्रय लेने के बाद दूसरे का आश्रय नहीं लेना चाहिये । ऐसा करना व्यभिचार है । ब्राह्मण को वेद के द्वारा, राजा को पृथिवी-पालन के द्वारा, वैश्य को व्यापार के द्वारा और शूद्र को ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य की सेवा के द्वारा अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये । हम लोग तो केवल गायों से ही अपनी जीविका चलानेवाले हैं—“वयं गोवृत्तयोऽनिशम्” ॥२१॥ संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारण सत्त्व, रज और तम हैं । रजोगुण के कारण ही विविध प्रकार की सृष्टि होती है, रजोगुण से ही प्रेरित होकर मेघ सर्वत्र जल की वर्षा किया करते हैं । प्रजा की उसी से भलाई होती है । ऐसी स्थिति में इन्द्र हमारा क्या कर सकते हैं—“महेन्द्रः किं करिष्यति” ॥२३॥

पिता जी, हमारा न कोई जनपद है, न कोई ग्राम है, न कोई घर है । हम वन में निवास करते हैं । पर्वतों पर रहते हैं । वन और पहाड़ ही हमारे घर हैं । इसलिये हमलोग गायों, ब्राह्मणों और गिरिराज गोवर्धन पर्वत के यजन की तैयारी करें । इन्द्र-यज्ञ के लिये जो सामग्रियाँ एकत्रित की गई हैं, उन्हीं से इस यज्ञ का अनुष्ठान होने दें । अनेकों प्रकार के खीर, पूड़ी, पकवान तैयार कर ब्रज का सारा दूध एकत्रित किया जाय । वेदवादी ब्राह्मणों से खूब हवन करवाया जाय । उन्हें अन्न, गाय और द्रव्य की दक्षिणा दी जाय । चाण्डाल, पतित और कुतों तक को यथायोग्य वस्तुएँ प्रदान कर गिरिराज की पूजा की जाय, उन्हें भोग लगाया जाय । इसके बाद खूब खा-पीकर, सज-धज कर गिरिराज महाराज की परिक्रमा की जाय । ऐसा यज्ञ गौ, ब्राह्मण और गिरिराज को तो प्रिय होगा ही; मुझे भी अतिशय प्रिय है । पिता जी, मेरा तो यही अभिमत है । इस पर आप लोग जैसा सोचें वैसा करें ।

श्री शुकदेव जी ने कहा—कन्हैया का यह प्रस्ताव सुन कर नन्द आदि सभी गोपों ने बहुत अच्छा, बहुत बढ़ियाँ कह कर हृदय से उसका समर्थन किया । भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार यज्ञ करने को कहा था, वैसा ही यज्ञ उन लोगों ने प्रारम्भ किया । पहले ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करवा कर उसी सामग्री से गिरिराज और ब्राह्मणों को सादर भेंट अर्पित की । गायों को हरी-हरी घास खिलाई । इसके बाद नन्द बाबा आदि गोपों ने गायों को आगे-आगे करके गिरिराज की प्रदक्षिणा की । प्रदक्षिणा की बेला में गोप-गोपी छकड़ों पर सवार होकर श्रीकृष्ण के बलवीर्य का कीर्तन करते हुए चल रहे थे ।

इधर सब को विश्वास दिलाने के लिये स्वयं श्रीकृष्ण ही गिरिराज के ऊपर एक दूसरा विशाल शरीर धारण करके प्रकट हो गये और बोले कि—मैं गिरिराज हूँ—“शैलोऽस्मि” ॥३५॥ इस प्रकार कह कर वे पूजा में भेंट की गई सारी सामग्री खाने लगे । गोप-बालक यह देखकर चिल्लाने लगे—देखो-देखो, गिरिराज सारा-का-सारा पकवान खाते जा रहे हैं । हम लोगों को प्रसाद के लिये कुछ नहीं छोड़ रहे हैं । इस पर श्रीकृष्ण ने उन्हें आश्वासन दिया, गिरिराज अवश्य ही हम लोगों को प्रसाद के लिये कुछ-न-कुछ छोड़ेंगे ही । इस पर गिरिराज ने सब में वितरण के लिये प्रसाद छोड़ दिया ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने उस स्वरूप को दूसरे ब्रजवासियों के साथ स्वयं भी प्रणाम किया और कहा—देखो, कैसा आश्चर्य है, गिरिराज ने साक्षात् प्रकट होकर हम पर कृपा की है । हमारा लगाया भोग खाया है । ये इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं । जो वनवासी गिरिराज महाराज का निरादर करते हैं, उन्हें ये नष्ट कर देते हैं । आओ, अपने और गायों के कल्याण के लिये हम इन्हें प्रणाम करें ।



इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेरणा से नन्द बाबा आदि बड़े-बूढ़े गोपों ने गिरिराज, गायों और ब्राह्मणों का विधिपूर्वक पूजन किया फिर सब श्रीकृष्ण के साथ व्रज में लौट आये ॥२४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२४॥

## पचीसवाँ अध्याय

( गोकुल पर मूसलाधार वर्षा और श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, इन्द्र को जब पता लगा कि मेरी पूजा बन्द कर दी गई है, तब वे नन्दबाबा आदि गोपों पर बहुत क्रोधित हुए किन्तु उनके क्रोध करने से होता क्या है ? उन गोपों के रक्षक तो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण थे । इन्द्र अपने आप को भगवान् समझते थे अतः क्रुद्ध होकर उन्होंने प्रलयकारी मेघों के संवर्तक नामक गणों को व्रज में प्रलय मचाने की आज्ञा देते हुए कहा—देखो तो सही, इन जङ्गली गोपों को धन का मद हो गया है । इन लोगों ने एक साधारण मानव-बालक श्रीकृष्ण के कहने पर मेरी पूजा बन्द कर मेरा महान् अपमान किया है । कृष्ण बकवादी, नासमझ, अभिमानी और मूर्ख होने पर भी अपने आप को महान् ज्ञानी समझता है । वह स्वयं मृत्यु का ग्रास है, मरणधर्मा है फिर भी उसी के बल पर इन अहीरों ने मेरी महान् अवहेलना की है—

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् । कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम् ॥

१०/२५/३

वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम् । कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ॥

१०/२५/५

प्राणी अभिमान के कारण ईश्वर-परमेश्वर सब को भूल जाता है । जिन श्रीकृष्ण से अवतार ग्रहण करने की प्रार्थना करने के लिये अन्य देवताओं के साथ इन्द्र भी क्षीर-सागर के तट पर गये थे और गर्भस्तुति की बेला में मथुरा भी आये थे; उन्हीं को वे अब अपशब्द कह रहे हैं । उनकी पिछली लीलाओं के अवसरों पर तो इन्द्र फूलों की वर्षा करते रहे हैं, किन्तु स्वार्थ का अपघात होने पर वे आज उन्हीं श्रीकृष्ण को गाली बक रहे हैं ।

इन्द्र ने आगे कहा—एक तो ये यों ही धन के मद से चूर हो रहे थे; दूसरे श्रीकृष्ण ने इन्हें और फुला दिया है, बढ़ावा दे दिया है । अब तुम लोग जाकर इनके इस धन के घमण्ड और हेकड़ी को धूल में मिला दो तथा उनके पशुओं को नष्ट कर डालो—“धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत संक्षयम्” ॥६॥ मैं भी ऐरावत हाथी पर चढ़ कर तुम्हारे पीछे-पीछे नन्द-गोकुल के विनाश के लिये मरुद्गणों को साथ लेकर आ रहा हूँ ।

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, इन्द्र की आज्ञा मिलते ही मेघ व्रज पर चढ़ आये । मूसल की तरह मोटी-मोटी जल की धाराएँ गिरने लगीं । सारा व्रज-मण्डल बेहाल हो गया । बादल तड़पते, बिजलियाँ चमकतीं, तीव्र वायु के झकोरे उठने लगे । चतुर्दिक् त्राहि-त्राहि मच गई । अपने नन्हें-मुन्नों को छाती से चिपकाये काँपते हुए गोप और गोपियाँ कन्हैया की शरण में पहुँचे । त्राहि-त्राहि कहते हुए उनसे बचाने की प्रार्थना करने लगे । गायें भी रँभाती हुई कृष्ण के चारों ओर खड़ी हो गई—

अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः । गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥

१०/२५/११



शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः । वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः ॥१०/२५/१२  
गोप-गोपी-गण प्रार्थना करते हुए कहने लगे—प्यारे कन्हैया, आप ही हमारे रक्षक हैं, त्राता हैं । क्रुद्ध इन्द्र से आप हमारी रक्षा करें । ब्रजवासियों की आर्त-वाणी सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा कि घबराओ नहीं, यह इन्द्र का काम है । वे क्रोध में ऐसा अनर्थ कर रहे हैं । साधु व्यक्ति में अभिमान नहीं होना चाहिये, किन्तु इन्द्र अभिमानी हो गये हैं । मैं इनके अभिमान को तोड़ कर छोड़ूँगा ।

यह कहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी योग-शक्ति से गोकुल की रक्षा के लिये गोवर्धन पर्वत को अपने एक हाथ से उखाड़कर उठा लिया—ठीक वैसे ही, जैसे बालक छत्रक (कुकुरमुत्ता) को उखाड़ लेते हैं—“छत्रकमिव बालकः” ॥११॥ इसके बाद भगवान् ने गोपों से कहा—माता जी, पिता जी और ब्रजवासियों, तुम लोग अपनी गायों और सभी सामग्रियों के साथ इस पर्वत के गड्ढे में आकर आराम से विराजमान हो जाओ । पर्वत गिरने की शङ्का मत करना । निःशङ्क होकर इस गर्त में बैठ जाओ । तुम लोगों की रक्षा के लिये ही मैंने यह उपाय रचा है । यहाँ इन्द्र का भय नहीं है । वे अब कुछ बिगाड़ नहीं सकते ।

भगवान् का आश्वासन मिलते ही सारे ब्रजवासी गायों और सामग्रियों के साथ उस पर्वत के नीचे आ घुसे । बीच में बायें हाथ की कानी उँगली पर गिरिराज को धारण किये हुए श्रीकृष्ण थे और उनके चतुर्दिक् सारे ब्रजवासी । यह ब्रजवासियों के साथ कृष्ण का रास था । भगवान् ने सात दिनों तक पर्वत को कानी उँगली पर धारण किये रक्खा, एक कदम भी वहाँ से हिले-डुले नहीं । उन्हें उस अवधि में न भूख लगी, न प्यास लगी और न किसी प्रकार की थकावट ही लगी ।

गोवर्धन के विशाल गड्ढे में छिपे हुए ग्वाल-बालों में बड़ी प्रसन्नता थी, बड़ा भारी उत्साह था । वृषभानु बाबा भी वहीं थे, कीर्तिदा भी वहीं थीं, राधारानी भी वहीं थीं, उनकी ललिता आदि सखियाँ भी वहीं थीं, जिनका चौरहरण किया गया था, वे कुमारियाँ भी वहीं थीं । बरसाने, नन्दगाँव आदि समस्त चौरासीकोस के गाँवों के लोग उस छोटे-से पहाड़ के नीचे छिपे थे । यह सब योगमाया का प्रभाव था । किसी को किसी प्रकार का कष्ट न था । किसी को भूख-प्यास भी न सता रही थी । निद्रा-तन्द्रा किसी को कुछ नहीं थी ।

भगवान् श्रीकृष्ण बायें हाथ की सब से छोटी उँगली पर, त्रिभङ्गललित मुद्रा में, जरा कमर टेढ़ी करके, एक ही पाँव पर अपने ओठ पर बाँसुरी लगाये गोवर्धन धारण किये थे । सारे ब्रजवासी गोवर्धनधारी की जय-जयकार कर रहे थे । अपूर्व उत्साह था उन लोगों में ।

ब्रजबालायें प्रसन्न थीं अपने प्रियतम के शौर्य को, पराक्रम को देखकर । उनमें परस्पर हँसी-मजाक भी चल रहा था । इसी बीच एक ब्रजबाला ने सब सखियों को सावधान करते हुए कहा—

सखियों! तुम खूब सचेत रहो, हँसि खेल की बेला है आज नहीं ।

दिन सात तो आज समाप्त हुआ, पर शान्त हुआ सुरराज नहीं ।।

वृषभानु-सुता को बचा रखना, लखले न कहीं ब्रजराज उसे ।

करकझ न काँप उठे उसका, गिरिजाय कहीं गिरिराज नहीं ।।

इतने में राधारानी अपने प्राण-वल्लभ की एक झाँकी लेने के लिये वहाँ आ ही गई । कृष्ण ने उन्हें देखा । देखते ही सारे शरीर में रोमाञ्च हो आया । शरीर सिहरन के कारण किञ्चित् काँप उठा । पर्वत डगमगाने लगा । यह देखकर सभी ब्रजवासी बेचैन हो उठे । बलराम ने कन्हैया की ओर देखा । कन्हैया ने लजाकर अपनी आँखें नीची कर ली । सब ठीक हो गया—इसी भाव को व्यक्त करते हुए कविवर विहारी लाल जी कह रहे हैं—











डिगत पानि डिगुआत गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल ।  
कम्प किशोरी दरस ते खरे लजाने लाल ॥

ग्वालबालों ने आपस में कहा कि—कन्हैया तो हमसे कुश्ती लड़ने में हार जाता है । यह हारने पर हमें स्कन्धे पर चढ़ा कर दौड़ता है । यह इतनी देर तक पहाड़ उठा रखेगा तो इसका हाथ दुःखने लगेगा अतः हमें इसकी सहायता करनी चाहिये । ऐसा विचार कर साथी पहुँचे कृष्ण के पास और उनसे बोले— कन्हैया, तुम्हें सात दिन खड़े-खड़े बीत गये । इस बीच तुमने नींद भी नहीं ली है । मित्र, तुम थक गये हो । थोड़ी देर के लिये यह पहाड़ श्रीदामा के हाथ पर रखकर जरा विश्राम कर लो । यदि तुम पहाड़ किसी दूसरे के हाथ पर देना पसन्द नहीं करते तो इसे दाहिने हाथ पर ले लो । हम तुम्हारे हाथ को कुछ देर तक दबा देते हैं, सहला देते हैं—

उन्निरस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्तक्षपास्तिष्ठतो  
हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे श्रीदामपाणी गिरिम् ।  
आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किं वा क्षणं दक्षिणे,  
दोष्णास्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम् ॥

किन्तु कृष्ण ने मुस्कराकर उनकी बात टाल दी । तब साथियों ने अपनी-अपनी लाठियों को पहाड़ में लगा कर कहा—कान्हा, हम अपनी लाठियों पर कुछ देर पहाड़ को उठाये रहेंगे । तुम अपना हाथ थोड़ी देर के लिये हटा लो । ऐसा कह कर बालकों ने पहाड़ में अपनी-अपनी लाठियाँ टिका दी । जोर लगाया, गाल फुलाया । कृष्ण ने अपना हाथ जरा-सा ढीला किया । ग्वालबाल चिल्लाने लगे—कन्हैया, पहाड़ गिरा, गिरा । भैया, इसे तुम्हीं सँभालो । उनकी बातों को सुन कर कृष्ण ने अपना हाथ कड़ा कर दिया । पहाड़ ज्यों-का-त्यों टिका रहा । उसका डगमगाना बन्द हुआ । श्रीकृष्ण की योगमाया का यह प्रभाव देखकर इन्द्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । अपना संकल्प पूरा न होने पर उनकी सारी हेकड़ी समाप्त हो गई । गर्व चूर-चूर हो गया । वे भौंचक्के-से रह गये । इसके बाद उन्होंने मेधों को वर्षा करने से रोक दिया—

कृष्णयोगानुभावं तं निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मितः । निःस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान् मेघान् संन्यवारयत् ॥

१०/२५/२४

पानी बरसना बन्द हो गया । सूर्य बादलों से बाहर निकल कर चमकने लगे । उसके बाद श्रीकृष्ण के कहने पर सभी गोपी-गोप अपने-अपने छकड़े, सामान और परिवार को लेकर बाहर निकले । भगवान् ने जरा-सा पीछे हट कर गोवर्धन को धीरे से नीचे उतारा । बड़े आदर, प्रेम तथा शान्ति के साथ धरती पर यथास्थान रख दिया । अपना हाथ बाहर खींच लिया ।

आज सारे ब्रजवासियों का हृदय श्रीकृष्ण के इस अदभुत पराक्रम को देखकर प्रेम-श्रद्धा से भर गया । पर्वत को रखते ही वे भगवान् श्रीकृष्ण के पास दौड़ आये । कोई उन्हें हृदय से लगाने लगा । कोई उन्हें चूमने लगा । सब ने उनका सत्कार-सम्मान किया । बड़ी-बूढ़ी गोपियों ने बड़े आनन्द और स्नेह से दही, चावल, जल आदि से उनको मङ्गल-तिलक किया और खुले हृदय से शुभ आशीर्वाद दिया—

तं प्रेमवेगान्निभृता ब्रजौकसो यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः ।

गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन् मुदा दध्यक्षताद्भिर्युजुः सदाशिषः ॥ १०/२५/२९

यशोदारानी, रोहिणी जी, नन्दबाबा और महाबली बलराम जी ने स्नेहातुर होकर श्रीकृष्ण को हृदय से लगा लिया तथा आशीष प्रदान किये । यह देखकर आकाश में स्थित देव-मण्डली गाना गाने लगी, बाजा बजाने लगी,



स्तुति करने लगी और करने लगी फूलों की अपार वर्षा भी । चतुर्दिक् आनन्द का ही साम्राज्य था । नन्दनन्दन गायों और गोपों के साथ पुनः ब्रज में लौट आये । उनके साथ ही प्रेममयी गोपियाँ भी भगवान् की गोवर्धनधारण आदि लीलाओं का गान करती हुई बड़े आनन्द से ब्रज में वापस आ गई । बोलो गोवर्धनधारी भगवान् की जय ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह पचीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

•

## छब्बीसवाँ अध्याय

( नन्द बाबा से गोपों की कृष्ण के प्रभाव के विषय में बातचीत )

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—परीक्षित, श्रीकृष्ण सात वर्ष के थे । उन्होंने सात दिनों तक गोवर्धन पर्वत को बायें हाथ की सब से छोटी उँगली पर उठाये रक्खा, न खाया, न पिया और न सोया । ब्रजवासियों ने इस दृश्य को देखा । उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा । गाँव में सर्वत्र कृष्ण के इस अलौकिक कर्म की चर्चा होने लगी । ब्रजवासियों को तो भगवान् की अनन्त शक्ति का पता था नहीं अतः वे एकत्रित होकर पहुँचे नन्द बाबा के पास और उनसे कहा—नन्द बाबा, इस बालक के कर्म बड़े अलौकिक हैं । हम जैसे ग्रामीणों में इसका जन्म लेना इसके लिये बड़ी निन्दा की बात है, इसके अनुरूप नहीं है । जैसे कोई गजराज कमल को उखाड़ ले और उसे अनायास ऊपर धारण किये रहे, वैसे ही इस नन्हें-से सात वर्ष के बालक ने एक ही हाथ से गोवर्धन को उखाड़ लिया और खेल-खेल में सात दिनों तक उसे उठाये रक्खा । यह साधारण मानव के लिये भला कैसे सम्भव है ? जब यह नन्हा-सा बच्चा था तब दूध पीते-पीते इसने क्रूर भयङ्कर राक्षसी पूतना को मार डाला । शकट में प्रविष्ट शकटासुर की पैर के धक्के से शकट को उलटकर इहलीला समाप्त कर दी । गला दबा कर तृणवर्त को आकाश से भूतल पर पटक कर मार डाला । यमलार्जुन जैसे विशाल वृक्षों को एक धक्के में जड़ से उखाड़ कर गिरा दिया । बकासुर की लम्बी चोंच को पकड़ कर बीच से चीर डाला । वत्सासुर, धेनुकासुर और प्रलम्बासुर<sup>१</sup> को तो खेल-खेल में मार डाला । गायों और ग्वालबालों की वनाग्नि से रक्षा की । महान् विषैले कालिय नाग का दमन कर उसे यमुना के हृद से निकाल दिया । अभी यह केवल सात वर्ष का ही है फिर भी देखो, इसने इतना विशाल गोवर्धन पर्वत उठा लिया । बाबा नन्द जी, आपके इस साँवले सलोने बालक पर हम ब्रजवासियों की स्वाभाविक प्रीति है और यह भी हम लोगों पर स्वाभाविक स्नेह रखता है । तो बाबा, क्या आप बतला सकते हैं कि इसका कारण क्या है ? भला, कहाँ तो यह सात वर्ष का नन्हा-सा बालक और कहाँ इतने बड़े गिरिराज को सात दिनों तक उठाये रखना ! ब्रजराज, इसी से तो तुम्हारे लाला के सम्बन्ध में हमें बड़ी शङ्का हो रही है—

क्व सप्तहायनो बालो क्व महाद्रिविधारणम् । ततो नो जायते शङ्का ब्रजनाथ तवात्मजे ॥

१०/२६/१४

बाबा, सच-सच बतलाओ यह तुम्हारा बेटा है या नहीं ? इसके सम्बन्ध में हमें जो शङ्का हो रही है, इसका निवारण आप करें ।

१. श्रीकृष्ण की प्रेरणा से बलवान् बलराम ने धेनुकासुर और प्रलम्बासुर को मारा था अतः उसके वध में कृष्ण को ही कारण माना जा रहा है ।



नन्द बाबा ने कहा—गोपों, तुम लोग सावधान होकर मेरी बात सुनो। इससे मेरे बालक के विषय में तुम लोगों की शङ्का दूर हो जायेगी। इसके नामकरण की बेला में गर्गाचार्य जी ने जो कहा था, वह सब अब सत्य हो रहा है। उन्होंने कहा था—नन्द, तुम्हारा यह बेटा साक्षात् नारायण के समान है। इसमें सन्देह नहीं। यह बड़ी-बड़ी विपत्तियों से आप लोगों की रक्षा करेगा। अपने पिछले जन्मों में भी इसने दुष्टों का विनाश कर सज्जनों की रक्षा की है। मैं आप के लाला का महत्व क्या बतलाऊँ ? जो व्यक्ति इससे प्रेम करते हैं, उन्हें शत्रु पीडित नहीं कर सकते, जैसे विष्णु का आश्रय लेनेवाले देवों को असुर पराजित नहीं कर पाते—

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः । नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥

१०/२६/२१

अतः आचार्य गर्ग की बात का विश्वास कर मैं इसे नारायण का अंश मानता हूँ। नन्द की बात सुनकर सारे ब्रजवासी आनन्द में भर कर नन्दबाबा और श्रीकृष्ण की भूरि-भूरि प्रशंसा किये। उनकी सारी उत्कण्ठाएँ समाप्त हो गई। नन्दबाबा के साथ सारे ब्रजवासियों की श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम, स्नेह के साथ ही श्रद्धा का भी सागर उमड़ पड़ा ॥२६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६॥

## सत्ताईसवाँ अध्याय

( इन्द्र के द्वारा श्रीकृष्ण का अभिषेक )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, जब भगवान् श्रीकृष्ण ने गिरिराज गोवर्धनको धारण करके मूसलधार वर्षा से ब्रज को बचा लिया, तब उनके पास गोलोक से कामधेनु (बधाई देने के लिये) और स्वर्ग से देवराज इन्द्र (अपने अपराध को क्षमा कराने के लिये) आये—

गोवर्धने धृते शैल आसाराद् रक्षिते ब्रजे । गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥

१०/२७/१

भगवान् श्रीकृष्ण की अवहेलना करने के कारण लज्जित इन्द्र ने एकान्त में उनके पास जाकर अपने सूर्य के समान चमचमाते हुए मुकुट से उनके चरणों का स्पर्श करते हुए प्रणाम किया। परम तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण का प्रभाव देख-सुन कर इन्द्र का घमण्ड चूर-चूर हो चुका था। उन्होंने बड़ी विनम्रता से दोनों हाथ जोड़ कर भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा—भगवन्, आप का स्वरूप विशुद्ध अप्रकृत सत्त्वमय एवं ज्ञानघन है। गुणों के प्रवाह से बना हुआ यह संसार रूप प्रपञ्च मायानिर्मित है। आप के स्वरूप को ठीक-ठीक न जानने के कारण ही आप में इसकी प्रतीति होती है। यह तो 'तेऽग्रहणानुबन्धः' ते=तव अग्रहणेन=अज्ञानेन अनुबद्ध्यते=प्रतीयते इति अनुबन्धः—जो परमात्मा को नहीं जानते, उनके लिये प्रपञ्च है किन्तु जो परमात्मा को जानते हैं, उनके लिये यह प्रपञ्च नहीं है—

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं, तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।

मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो, न विद्यते ते ग्रहणानुबन्धः ॥१०/२७/४

आप के उस रूप में काम, क्रोध और लोभ आदि भावों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रभो, दोषों का



होना तो अज्ञान का लक्षण है फिर भी आप धर्म की रक्षा और दुष्टों का दमन करने के लिये कभी-कभी दण्ड को धारण करते हैं।

तथापि दण्डं भगवान् बिभर्ति, धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥१०/२७/५  
प्रभो, आप अपने भक्तों की लालसा पूर्ण करने के लिये स्वेच्छा से लीला-शरीर धारण करते हैं। इस प्रकार लीला करते हुए आप हमारे जैसे अभिमानियों के अभिमान का मर्दन भी किया करते हैं। मैं ऐश्वर्य से मदोन्मत्त था। अपने आप को त्रिलोकी का शासक मानता था अतः आप को ठीक-ठीक पहचान न सका। मैं आप से क्षमा-याचना करता हूँ। मेरे अपराध को क्षमा करें और मेरे ऊपर ऐसी कृपा करें जिससे मुझमें कभी ऐसी दुर्बुद्धि उत्पन्न ही न हो—  
“मैवं पुनर्भूमतिरीश मेऽसती” ॥८॥ स्वामिन्, आप का अवतार भूतल के भारभूत विधर्मियों के विनाश और भक्तों के कल्याण के लिये समय-समय पर हुआ करता है। मैं आप को बार-बार प्रणाम कर रहा हूँ। आप ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की है। मेरा प्रयास ब्रज-विनाश के लिये था। उसे विफल कर आप ने मेरा महान् कल्याण किया है अतः मैं आप की शरण में आया हूँ। आप मेरा अपराध क्षमा करें।

भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्द्र की स्तुति सुन कर मेघ-सदृश गंभीरवाणी में कहा—इन्द्र, तुम धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हो गये थे इसलिये तुम पर अनुग्रह करके ही मैंने तुम्हारा यह यज्ञ-भङ्ग किया है। यह इसलिये कि अब तुम मुझे नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहो। जो ऐश्वर्य और धन-सम्पत्ति के मद से अन्धा हो जाता है, वह काल-स्वरूप मुझे नहीं देख पाता अतः मैं जिस पर अनुग्रह करना चाहता हूँ, उसे ऐश्वर्य से भ्रष्ट कर देता हूँ—

यामैश्वर्यश्रीमदान्यो दण्डपाणिं न पश्यति। तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् ॥

१०/२७/१६

अतः इन्द्र, तुम्हारा मङ्गल हो। अब तुम अपनी राजधानी अमरावती लौट जाओ। घमण्ड का परित्याग कर अपने कर्तव्य का पालन करो। सर्वदा मेरा स्मरण करते हुए उचित रीति से मर्यादा का पालन करना।

परीक्षित, भगवान् इन्द्र को इस प्रकार आज्ञा दे ही रहे थे कि उसी समय मनस्विनी कामधेनु भी अपनी सन्तानों के साथ वहाँ आई और श्रीकृष्ण को प्रणाम करके बोली—प्रभो, आप लोकनाथ हैं। आज आप ने मुझे सनाथ कर दिया। आज से मेरे इष्ट देव और इन्द्र भी आप ही हैं। यदि आप ने हमारी सन्तानों की रक्षा न की होती तो इन्द्र ने हमारा सर्वनाश ही कर दिया था। अब तो आप ही हमारे स्वामी हैं। अब हम इन्द्र को अपना स्वामी माननेवाली नहीं हैं। प्रभो, आप ही गाय, ब्राह्मण और देवता—इन सबके इन्द्र बनकर इनका पालन कीजिये। अब हम गायें ब्रह्मा जी की प्रेरणा से आप को अपना इन्द्र मानकर अपने दुग्ध से अभिषेक करेंगी। स्वामिन्, पृथिवी का भार उतारने के लिये ही आपने अवतार धारण किया है ऐसा कहकर कामधेनु अपनी दुग्ध-धाराओं से श्रीकृष्ण का अभिषेक करने लगी। यह देखकर इन्द्र को अपनी कमी मालूम पड़ी। उन्होंने भी तुरन्त आकाशगंगा का जल मँगवाया और देवताओं तथा ऋषियों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण का अभिषेक किया और उनका नाम गोविन्द<sup>१</sup> रक्खा—

इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो देवमातृभिः। अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् ॥

१०/२७/२३

१. गोविन्दः—‘गाः पशून् विन्दते इति गोविन्दः’, जो गायों की रक्षा करता है, वह गोविन्द है; ‘गां स्वर्गम् इन्द्रत्वेन विन्दते इति गोविन्दः’, जो इन्द्र, बन कर देवताओं की रक्षा करता है, वह गोविन्द है। ‘गाः सर्वाणि इन्द्रियणि विन्दते इति गोविन्दः’, जो इन्द्रियों की रक्षा करता है, उनको आकृष्ट करता है, वह गोविन्द है।



जिस समय श्रीकृष्ण का अभिषेक हुआ, उस समय देवता-गण आकाश से पुष्प-वृष्टि करने लगे, नदियों में नाना प्रकार के रस प्रवाहित होने लगे, वृक्ष मधु-धारा बहाने लगे और पृथिवी बिना जोते-बोये विविध औषधियाँ उत्पन्न करने लगी, पर्वतों में छिपे हुए रत्न प्रकट हो गये और सारे प्राणी निर्भय बन गये ।

इस प्रकार गोविन्द पद पर भगवान् श्रीकृष्ण का अभिषेक करने के अनन्तर देवराज इन्द्र उनसे अनुमति लेकर स्वर्ग चले गये—

इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः । अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥

१०/२७/२८

विशेष—गर्गसंहिता, गिरिराज खण्ड के अनुसार श्रीकृष्ण का अभिषेक होने पर गिरिराज गोवर्धन प्रसन्नता से फूल उठा । उसमें द्रवता आ गई । भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर उसके ऊपर अपना कर-कमल रखवा । कहते हैं, उसका चिह्न अब भी दिखलाई पड़ता है ।

इन्द्र ने आकाश-गंगा के जल से श्रीकृष्ण का अभिषेक किया था । उससे वहाँ मानसी गङ्गा का प्रादुर्भाव हुआ । कामधेनु ने अपने दूध से अभिषेक किया था । उससे वहाँ एक कुण्ड बन गया । उसको लोग गोविन्द कुण्ड कहते हैं । इसमें स्नान करनेवाले व्यक्ति के महापातकों का विनाश हो जाता है । भक्तों का कहना है कि इसमें श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति को आज भी कभी-कभी दूध का स्वाद प्रतीत होता है ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २७ ॥



## अष्टाईसवाँ अध्याय

( वरुणलोक से नन्द जी को छुड़ा कर लाना और गोपों को वैकुण्ठधाम का दर्शन कराना )

ब्रह्मा और इन्द्र का पराभव हो जाने के बाद अब वरुण के पराभव की बारी आई । वरुण इन्द्र के बाद दूसरे नम्बर के देवता हैं ।

नन्द-यशोदा को लाला हो—ऐसा विचार कर ब्रज-मण्डल के सारे गोपी-गोप एकादशी का व्रत करते थे । नारायण को प्रसन्न करने के लिये एकादशी सर्वोत्तम व्रत है । घर में लाला के आ जाने के बाद भी नन्द का एकादशी व्रत विधि-विधान के साथ चलता रहा ।

श्री शुक्रदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, नन्द बाबा ने कार्तिक शुक्ल एकादशी का उपवास किया और भगवान् की पूजा अर्चना की । एकादशी व्रत का प्राण है द्वादशी तिथि में पारण करना । दूसरे दिन अतिप्रातः काल द्वादशी समाप्त हो रही थी अतः नन्द बाबा ने आधीरात के बीतने पर स्नान करने के लिये यमुना जी के जल में प्रवेश किया । उन्हें यह मालूम नहीं था कि यह आसुरी बेला है । आसुरी बेला में जल में प्रवेश वर्जित है । जल में प्रवेश करते ही वरुण के एक सेवक असुर ने उन्हें पकड़ लिया और उन्हें अपने स्वामी के पास ले गया ।

हृदय—एकादशी उपवास का अर्थ है—एकादशी=ग्यारहवीं इन्द्रिय मन का उप यानी भगवान् के पास में वास=वास कराना । निराहार रहने से, अन्न न ग्रहण करने से सभी इन्द्रियाँ सात्विक होकर शान्त हो जाती हैं । उस अवस्था में उन्हें भगवदुन्मुख करना सरल होता है । एकादशी व्रत तभी सफल होता है, जब द्वादशी में पारण कर लिया जाय । त्रयोदशी तिथि में पारण करने से व्रत का फल समाप्त हो जाता है—“व्येति कन्दर्पपारणात्” । यदि रात्रि में आसुरी बेला में ही द्वादशी समाप्त हो रही हो तो उसमें भी स्नान कर लेना शास्त्र-विरुद्ध नहीं है अतः नन्द बाबा



का आसुरी बेला में यमुना-जल में प्रवेश धर्म-विरुद्ध नहीं था किन्तु वरुण के दूत को यह धर्म का मर्म मालूम नहीं था अतः वह नन्दबाबा को पकड़ कर वरुण के पास ले गया।

जब नन्द बाबा यमुना के जल से बाहर नहीं निकले तो साथ में गये हुए गोपों ने समझा कि वे डूब गये अतः वे कन्हैया, बलदाऊ, बाबा को बचाओ-बचाओ—ऐसा कह कर चिल्लाने लगे। भक्त-भयहारी—“स्वानामभयदः” श्रीकृष्ण ने जब उनकी चिल्लाहट को सुना तो उन्हें यह समझते देर न लगी कि वरुण ने बाबा का अपहरण करा लिया है। फलतः वे जल में कूद पड़े और वरुण लोक में वरुण के पास जा पहुँचे। वरुण ने हृषीकेश को अपने पास देखा। बड़ी विनम्रता से हाथ जोड़े वे सिंहासन से उतर गये। कृष्ण की अगवानी की और बड़ी श्रद्धा से उनकी पूजा की। उस समय प्रसन्नतावश वरुण का रोम-रोम खिल उठा फिर तो उन्होंने भगवान् से निवेदन किया—

वरुण ने कहा—प्रभो, आज मेरा शरीर धारण करना सफल हो गया। आज मुझे सम्पूर्ण पुरुषार्थ प्राप्त हो गये क्योंकि आज मुझे आप के चरण के अर्चन का अवसर अधिगत हुआ है। भगवन्, जिन्हें भी आप के चरण-सेवन का अवसर मिलता है, वे संसार-सागर से पार हो जाते हैं—

अद्य मे निभूतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो। त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः॥

१०/२८/५

प्रभो, मेरे दूत ने अज्ञानतावश आप के पिता को पकड़ा और उन्हें यहाँ लाया। यह उसने अपराध किया। आप उसे क्षमा करें और मेरे ऊपर भी अनुग्रह करें। सेवक का अपराध स्वामी का अपराध माना जाता है। इस प्रकार मुख्य अपराधी तो मैं ही हुआ अतः आप मुझे क्षमा करें। मैं आपका सेवक हूँ। गोविन्द, मैं जानता हूँ कि आप अपने पिता के प्रति अत्यन्त आदर का भाव रखते हैं। यह आपके पिता हैं। आप इन्हें ले जाइये—“नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल” ॥८॥ ऐसा कह कर वरुण ने नन्दबाबा को श्रीकृष्ण के सामने लाकर खड़ा कर दिया।

कन्हैया अपने पिता जी को सादर घर लाये। नन्द को आया देखकर सारे गोप-गोपी प्रसन्न हो उठे। नन्द बाबा ने वरुण लोक में वरुण के ऐश्वर्य, ठाट-बाट और सुख-सम्पत्ति को देखा तथा यह भी देखा कि वरुण अपने सेवकों के साथ उनके लाला के चरण का वन्दन कर रहे हैं। यह सब देख-सुन कर उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने गोकुल में पहुँच कर गोपों के सामने सारी घटना का यथावत वर्णन कर दिया। इसे सुनकर गोप कन्हैया को साक्षात् ईश्वर समझने लगे और कहने लगे कि क्या कन्हैया कभी हम लोगों को अपने दिव्य वैकुण्ठ धाम का दर्शन करावेगा? श्रीकृष्ण तो घट-घटवासी ठहरे। उन्हें गोपों का अभिप्राय समझने में देर न लगी अतः विचार किया कि अपने कर्मवश नाना योनियों में भटकनेवाले इस जीव को मेरे स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान होना कठिन है। इसलिये कृपा-परवश कन्हैया ने गोपों को मायारूपी अन्धकार से परे अपना परम धाम वैकुण्ठलोक दिखला दिया—

इति सञ्छिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः। दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तपसः परम्॥

१०/२८/१४

भगवान् के धाम का स्वरूप भी भगवान् की ही तरह है। वह भी सत्य, ज्ञान, अनन्त, सनातन और ज्योतिः स्वरूप है। समाधिनिष्ठ गुणातीत पुरुष ही उसे देख पाते हैं। गोपों के अभिप्राय को समझ कर सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस जलाशय में अक्रूर को अपना स्वरूप दिखलाया था<sup>१</sup>, उसी ब्रह्मस्वरूप ब्रह्महृद में उन गोपों को ले गये। वहाँ उन लोगों ने डुबकी लगाई। वे ब्रह्महृद में प्रवेश कर गये। तब भगवान् ने उसमें से उनको निकाल कर

१. कंस के आमन्त्रण पर श्रीकृष्ण को वृन्दावन से मथुरा ले जाने की बेला में अक्रूर ब्रह्महृद में डुबकी लगायेंगे। देखिये आगे अध्याय ३९-४०। किन्तु यहाँ उस घटना का भूतकाल में निर्देश करना चिन्त्य है। पूज्य व्यास की यह काल-कृत गड़बड़ी है ॥



अपने परम धाम का दर्शन कराया। उस दिव्य भगवत्स्वरूप लोक को देखकर नन्द आदि गोप परमानन्द में निमग्न हो गये। वहाँ उन्होंने देखा कि सारे वेद मूर्तिमान् होकर भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति कर रहे हैं। यह देखकर सभी का अन्तःकरण विस्मय से भर गया। नन्दलाल अपने परमधाम का दर्शन करा लेने के बाद गोपों को पुन ब्रज में लौटा लाये—।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २८ ॥

## रास पञ्चाध्यायी प्रारम्भ

( रासभूमि के मैदान पर विश्वविजेता काम का खुला मल्ल-युद्ध )

## उन्तीसवाँ अध्याय

( वंशी बजाकर गोपियों का आह्वान और उनके साथ रास-विहार का आरम्भ )

हृदय-रासलीला कामलीला नहीं है। यह तो कामविजयलीला है। लौकिकता का आभास होने पर भी यह क्रिया काम-विकार-रहित है। भागवत के महान् टीकाकार श्रीधरस्वामी भी इसे कामविजय-लीला ही कहते हैं—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्प-कन्दर्प-दर्पहा। जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः ॥

काम ने ब्रह्मा आदि देवों को जीत लिया। इससे उसका अभिमान आकाश छूने लगा। फलतः उसे श्रीकृष्ण पर विजय प्राप्त करने की इच्छा हुई। किन्तु श्रीकृष्ण कोई सामान्य देवता तो हैं नहीं। वे साक्षात् परमात्मा हैं। उन्होंने अपनी मधुर मनोहर लीलाओं द्वारा सभी प्रमुख देवों का पराभव किया है। ब्रह्मा को अपनी सृष्टि का अभिमान था अतः उन्होंने ब्रह्मा से कहा—आप पञ्च महाभूतों के सहारे जगत् का निर्माण करते हैं। मैं संकल्पमात्र से जगत् की सृष्टि करता हूँ। भगवान् को सृष्टि-रचना के लिये किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं है। सङ्कल्पमात्र से ही उन्होंने गोप-बालकों और बछड़ों का निर्माण कर दिया था<sup>१</sup>। वह सब रूप उन्होंने स्वयं ही धारण किया था। दो बार अग्नि का पान कर उसका भी अभिमान विनष्ट किया था। इन्द्र का अभिमान गोवर्धन-लीला में उतारा गया है। वरुण देव के पराभव की कथा अभी पीछे बतलाई गई है<sup>२</sup>।

एक दिन अभिमानी काम कृष्ण के पास पहुँचा। वह अपने आप को सर्व-विजयी मान रहा था। उसने कृष्ण के सामने मल्लयुद्ध का प्रस्ताव रक्खा। कृष्ण ने कहा—कामदेव कभी भगवान् शङ्कर ने तुझे भस्म कर दिया था, क्या तू इस घटना को भूल गया। यह तो उनकी कृपा थी कि तुझे पुनः यह शरीर प्राप्त हो गया।

कामदेव—हाँ, आपका कथन सत्य है। उस समय मुझसे कुछ गड़बड़ी हो गई थी। शिवजी समाधिस्थ थे। वे तेजोमय ब्रह्म का चिन्तन कर रहे थे। उस समय मैं उनसे लड़ने गया। यह मेरी बड़ी भूल थी। परिणाम यह हुआ कि उनकी क्रोधाग्नि में मैं भस्म हो गया। यह कोई विशेष बात नहीं है।

श्रीकृष्ण—रामावतार में भी तो तू हार गया था। क्या उसे भी विस्मृत कर दिया ?

१. देखिये—श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध, पूर्वार्द्ध, अध्याय १४-१६।

२. देखिये—पीछे २८वाँ अध्याय।



कामदेव—आपने रामावतार में मर्यादा का अतिशय पालन किया था अतः मुझे हारना पड़ा। उस अवतार में आप एक पत्नी-व्रत का पालन कर रहे थे इसलिये वहाँ भी मेरी दाल नहीं गली।

श्रीकृष्ण—तो अब तू क्या चाहता है ?

कामदेव—आप इस कृष्णावतार में किसी मर्यादा का पालन तो करते नहीं। गोकुल की तरुणियों के साथ सर्वदा छेड़-छाड़ करते रहते हैं। मैं चाहता हूँ की आप पर पुष्प-वाणों की वर्षा करूँ। उस अवस्था में यदि आप निर्विकारी बने रहें तो विजय आपकी होगी और यदि आपके मन में विकार की तरङ्गें उठने लगे तो विजय मेरी मानी जायेगी। निर्विकारी बने रहने पर ईश्वर आप माने जायेंगे और यदि कामाधीन हो गये तो मैं ईश्वर बन जाऊँगा। शरद्- पूर्णिमा आ रही है। उस समय वृन्दावन के पावन मनभावन अञ्चल में आप तरुणियों के साथ हास-परिहास करें। उस समय मैं आप पर बाण चलाऊँ। जो जीतेगा वह ईश्वर कहलायेगा।

श्रीकृष्ण—अच्छा जैसी तेरी इच्छा है, वैसा ही होगा। हमारा तुम्हारा युद्ध शरद् की शुभ रात्रियों में उन्मुक्त आकाश के खुले मैदान में होगा।

नीरव वन में किसी वृक्ष के नीचे समाधि लगाकर काम को जीतना कोई बड़ी बात नहीं है किन्तु श्रीकृष्ण ने अगणित तरुणियों के मध्य में रह कर काम को पराजित किया था। जब काम ने देखा कि कृष्ण के ऊपर मेरा तिनके भर का भी प्रभाव नहीं पड़ रहा है, तो उसने अपना धनुष-वाण फेंक दिया और जाकर गिर पड़ा श्रीकृष्ण के श्रीचरणों पर। तभी से श्रीकृष्ण का एक नाम मदनमोहन पड़ गया अतः रासलीला काम-पराभव की लीला है। इस रहस्य को विद्वद्भ्रज समझता है ॥

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, शरद् ऋतु थी। पूर्णिमा की रात्रि थी। चतुर्दिक् बेला, चमेली आदि सुगन्धित पुष्प खिलकर महँ-महँ महँ रहे थे। भगवान् ने चौर-हरण की बेला में गोपियों को जिन रात्रियों का सङ्केत किया था<sup>१</sup>, वे सबकी-सब पुञ्जीभूत होकर एक ही रात्रि के रूप में उल्लसित हो रही थीं। भगवान् ने उन्हें देखा, दिव्य बनाया। गोपियाँ तो चाहती ही थीं कि हम श्यामसुन्दर के साथ विहार करें, अब योगमाया<sup>२</sup> के सहारे भगवान् के मन में भी गोपियों के साथ विहार करने की इच्छा प्रादुर्भूत हुई—

भगवान् अपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः । वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

१०/२९/१

भगवान् के सङ्कल्प करते ही चन्द्रदेव ने प्राची-नायिका के मुख-मण्डल पर अपने शीतल किरणरूपी करकमलों से मानो लालिमा की रोलीकेशर मल दी, जैसे बहुत दिनों के बाद अपनी प्राण-प्रिया पत्नी के पास आकर उसके प्रियतम पति ने उसे आनन्दित करने के लिये उसके मुख पर अबीर-गुलाल मला हो अर्थात् भगवान् की रमण करने की इच्छा होते ही पूरब दिशा में पूर्ण चन्द्र का उदय हुआ। उनकी दुधिया चाँदनी से सारा वृन्दावन जगमगा उठा।

जब भगवान् श्यामसुन्दर ने देखा कि—चन्द्रमा ने अपनी किरणों से सारे वन को रँग दिया है, तब उन्होंने बिना किसी गोपी का नाम लिये ही बाँसुरी की तान छेड़ दी—“जगौ कलं वामदशाम्” ॥३॥ परन्तु प्रत्येक गोपी को यही प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्ण वंशी में उसी का नाम लेकर बुला रहे हैं। ‘कलं’ का अर्थ होता है—अत्यन्त मधुर और अस्पष्ट। कहते हैं कि ‘कलं’ यह काम बीज है—‘क्लीं’ है। श्रीकृष्ण ने ऐसा काम बीज बजाया कि उसे सुनते ही गोपियों का मन छटपटा उठा, विकल हो गया और वे न केवल घरद्वार, बल्कि सब कुछ छोड़कर दौड़ पड़ीं।

१. याताबला ब्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ॥१०/२२/२७॥

२. योगमाया का अर्थ होता है—जीवों को अपने साथ मिला लेने के लिये भगवान् की कृपा, योगमाया=राधा और मुरलिका। कृपा, राधा और मुरलिका—ये तीनों ही अर्थ योगमाया के होते हैं।





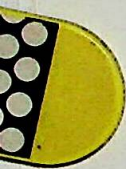














उन्होंने अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष छोड़ दिया। दोहन भी छोड़ दिया। आग पर चढ़ा हुआ दूध छोड़ दिया। कड़ाही में पकते हलवे को छोड़ दिया। खिलाते हुए पति को बीच में ही परोसना छोड़ दिया। जो छोटे-छोटे बच्चों को दूध पिला रही थीं वे दूध पिलाना छोड़ कर, जो पतियों की सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर और जो स्वयं भोजन कर रही थीं वे भोजन करना छोड़कर श्रीकृष्ण की ओर बेतहासा भागीं। उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहा कि हम सज-सँवर रही थीं और मेरा सजना-सँवरना भी अधूरा है। किसी ने कर्णाभूषण एक कान में पहना है तो किसी ने आँजन एक ही आँख में लगा रक्खा है। उनके वस्त्राभूषण भी उल्टे-सीधे धारण किये गये हैं। उनके पिता, पतियों ने, भाई और जाति-बन्धुओं ने उन्हें रोकने का प्रयास किया। परन्तु वे इतनी मोहित हो गई थीं कि रोकने पर भी न रुकीं, न रुक सकीं। वे रुकती भी कैसे? विश्वविमोहन श्रीकृष्ण ने उनके प्राण, मन और आत्मा सब कुछ का अपहरण जो कर लिया था। उनके हृदय में एकमात्र कन्हैया की रूपमाधुरी ही क्रीड़ा कर रही थी।

कुछ गोपियाँ घर से निकल न सकीं थीं। उनके पतियों ने उन्हें घर के भीतर ही बन्द कर दिया था। उन्हें घर से निकलने का मार्ग न मिल सका—“अलब्धविनिर्गमाः” ॥९॥ वे घर के भीतर ही बैठकर प्रियतम श्रीकृष्ण का ध्यान करने लगीं। उन्हें अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के विरह-जन्य तीव्र ताप से इतना अपार दुःख हुआ कि उनके यत्किञ्चिदवशिष्ट समस्त, दुःखदायी निमित्त समाप्त हो गये। उनको ध्यान में श्रीकृष्ण की प्राप्ति हुई। श्रीकृष्ण ने उनका आलिङ्गन किया। उससे उन्हें ऐसा महान् सुख हुआ कि उनके सारे-के-सारे पुण्य-संस्कार एक साथ ही क्षीण हो गये—

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापश्रुताशुभाः । ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥१०/२९/१०

फिर तो वे गुणमय भौतिक शरीर का परित्याग कर श्रीकृष्ण में जा मिलीं, गोपियाँ भले ही श्रीकृष्ण के प्रति जारभाव रखती थीं किन्तु उन्हें प्राप्ति तो श्रीकृष्ण की ही हुई। सत्य वस्तु भाव की अपेक्षा नहीं रखती। आग पर जिस भी भाव से हाथ रक्खोगे, वह तो जलायेगी ही। गरल को जो कुछ भी समझकर पियोगे, वह तो अपना काम करेगा। इस प्रकार जारबुद्धि से भगवान् के पास जाने पर भी उन्हें भगवान् की ही प्राप्ति हुई। वे क्षीण-बन्धन हो गईं। राजा ने पूछा—भगवान्, गोपियाँ तो भगवान् श्रीकृष्ण को केवल अपना परम प्रिय ही मानती थीं। उनका उनमें ब्रह्मभाव नहीं था फिर उन्होंने इस गुणमय संसार को कैसे छोड़ दिया, कैसे श्रीकृष्ण में जा मिलीं?

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, हम पहले ही यह बतला चुके हैं कि शिशुपाल श्रीकृष्ण का महान् द्वेषी था। उन्हें वह गालियों की बौछार लगा देता था किन्तु अन्त में वह भगवान् में ही जा मिला, मुक्त हो गया फिर ये गोपियाँ तो भगवान् की नित्यसिद्धा पत्नियाँ थीं। इनका श्रीकृष्ण में अनन्य प्रेम था फिर इनकी मुक्ति में सन्देह का अवसर कहाँ? काम, क्रोध, भय, स्नेह, नातेदारी और मित्रता आदि किसी भी भाव से भगवान् के साथ अपनी चित्त-वृत्तियाँ जोड़नेवाले प्राणी निश्चित ही भगवत्स्वरूप बन जाते हैं, बन्धन से मुक्त हो जाते हैं—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च । नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

१०/२९/१५

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि ब्रज की अनुपम विभूतियाँ गोपियाँ हमारे पास आ गई हैं, तब उन्होंने अपनी विनोद भरी वाक्चातुरी से उन्हें मोहित करते हुए कहा—अत्यन्त सौभाग्यशालिनी गोपियों, तुम्हारा स्वागत है। बतलाओ, तुम्हारी प्रसन्नता के लिये मैं कौन-सा कार्य करूँ? ब्रज में तो सब कुशल-मङ्गल है न? कहो, इस समय यहाँ आने की क्या आवश्यकता पड़ गई?—



स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः । व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ॥

१०/२९/१८

गोपियों, इस समय रात की बेला है। यह स्वयं ही बड़ी डरावनी होती है और इसमें बड़े-बड़े भयानक जीव-जन्तु इतस्ततः भ्रमण करते रहते हैं अतः तुम लोग शीघ्रातिशीघ्र व्रज में लौट जाओ। रात के समय स्त्रियों को जङ्गल में नहीं रुकना चाहिये।

हृदय—उपर्युक्त कथन में यद्यपि भगवान् स्थूल रूप से गोपियों को लौट जाने की बात कहते हैं। किन्तु चीरहरण की बेला में भगवान् ने उन्हें इन रात्रियों में रमण करने का वरदान दिया था अतः वे सूक्ष्मरूप से उन्हें रुकने की ही आज्ञा दे रहे हैं। उस स्थिति में अर्थ इस प्रकार होगा—एषा रजनी अघोररूपा=यह रात्रि अत्यन्त सुहावनी है, अघोरसत्त्विनिषेविता=अहिंसक प्राणियों से युक्त है; इस रात्रि में यहाँ के जंगली जानवर हिंसक नहीं, निर्वैर हैं; प्रतियात व्रजं न = अतः लौटकर व्रज में जाने की आवश्यकता नहीं है; हे सुमध्याः। स्त्रीभिः इह स्थेयम् = हे पतली कमरवाली स्त्रियों, आ गई तो तुम्हें अब यहाँ रुकना चाहिये ॥

तुम्हें न देखकर तुम्हारे माँ-बाप, पति-पुत्र और भाई-बन्धु ढूँढ रहे होंगे अतः उन्हें संकट में न डालो। रंग-विरङ्गे पुष्पों से मण्डित, चन्द्र की चाँदनी से अलङ्कृत और यमुना की ओर से आते हुए अनिल से झूमते हुए तरुपल्लवों से सुशोभित वन देख लिया। अब विलम्ब मत करो। शीघ्रातिशीघ्र व्रज में लौट जाओ। तुम लोग कुलीन स्त्री हो और स्वयं भी सती हो; जाओ अपने पतियों की और सतियों की सेवा-सुश्रूषा करो। देखो, तुम्हारे घर के बच्चे रो रहे हैं, गायों के बछड़े रँभा रहे हैं। बच्चों को दूध पिलाओ और गायों को दुहो।

हृदय—भगवान् के इस कथन में भी एक प्रकार का व्यङ्ग्य है। उन्होंने कहा कि—“पतीन् सतीः”—देखो गोपियों, यदि तुम्हें बहुत पति पाने की इच्छा है, जन्म-जन्म पति पाने की अभिलाषा है, तो जो लौकिक पति हैं, उनकी सेवा करो और सर्वदा के लिये एक पति की कामना हो तो मुझसे प्रेम करो, मैं तुम्हें प्राप्त हो जाऊँगा ॥

भगवान् ने आगे कहा—गोपियों, तुम लोग हमारे प्रेम में आबद्ध होकर मुझे देखने के लिये दौड़ी चली आई, तो यह भी ठीक ही है। संसार के सारे प्राणी मुझसे स्वभावतः प्रेम करते हैं। निष्कपट भाव से पति की सुश्रूषा करना स्त्रियों का परम धर्म है। पति के भाई-बन्धुओं की सेवा भी स्त्रियों के लिये उचित है। पति चाहे कुरूप हो, कोढ़ी हो, धनी हो, निर्धन हो—प्रत्येक स्थिति में उसका साथ निभाना स्त्री का सर्वोच्च कर्तव्य है। जार-पति का सेवन सर्वत्र कुत्सित माना गया है।

दूसरी बात यह है कि मेरी लीला और गुणों के श्रवण से, रूप के दर्शन से, उन सब के कीर्तन और ध्यान से मेरे प्रति जैसी अनन्य प्रीति होती है, वैसी पास रहने से नहीं होती अतः तुम लोग अपने-अपने घर लौट जाओ—

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् । न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥

१०/२९/२७

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, भगवान् श्रीकृष्ण का यह अग्रिय भाषण सुन कर गोपियाँ उदास हो गईं। उनका मन खिन्न हो गया। वे मुख नीचा करके आँगुठे से धरती कुरेदने लगीं। उस समय उनकी आँखों से काजल-मिश्रित आँसुओं की धारा बह चली। उससे उनके कुचों पर लगा कुङ्कुम धुल गया। उनका हृदय अगाध दुःख से भर गया। वे कुछ भी बोल न सकीं। कुछ समय बीतने पर अपनी स्थिति को सँभालती हुई गोपियों ने गद्गद वाणी में कहा—प्यारे श्रीकृष्ण, आप इस प्रकार के कठोर वचनों का प्रयोग न करें। संसार के सारे विषयों का परित्याग कर हम आपके चरण के तले आई हैं। हम आप की भक्त हैं। हठीले, अब आप हमारा परित्याग न करें। भगवान् नारायण कृपा करके जैसे अपने मुमुक्षु भक्तों को स्वीकार कर लेते हैं, वैसे ही आप भी हमें अङ्गीकार कर लें—



मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।

भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥१०/२९/३१

प्यारे श्यामसुन्दर, आप ने हमें पति-परिवार की सेवा-सुश्रूषा का उपदेश दिया है। यही स्त्रियों का धर्म बतलाया है। हम आप का कथन स्वीकार करती हैं। किन्तु हमारे ये-सारे भाव तो आप में ही सन्निहित हैं। आप ही हमारे पति हैं, आराध्य हैं। क्षणिक सुखदाता पति-पुत्र आदि को लेकर हम क्या करेंगी ? दूसरी बात यह है कि—अब तक हमारा मन घर के काम-धन्धों में लगता था। इसी से हमारे हाथ भी उसमें रमे हुए थे। परन्तु हमारे देखते-ही-देखते आपने अपनी वंशी बजा कर हमारा चित्त खींच लिया। इससे हमारे पैर अब आप के सन्निधान को छोड़कर एक पग भी कहीं जाने में समर्थ नहीं हैं। फिर हम ब्रज में कैसे जाँय ? और यदि किसी-किसी प्रकार जाँय भी तो वहाँ करें क्या ? अब हमारे हाथ किसी गृह-कार्य के लिये उठते ही नहीं हैं—

चित्तं सुखेन भवतापहतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् यामः कथं ब्रजमथो करवाम किं वा ॥१०/२९/३४

प्राणवल्लभ, आप के हास-परिहास से, बाँकी चितवन से और वंशी के मधुर मनोहर गान से हमारे हृदय में प्रेम और मिलन की आग भड़क उठी है, कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी है। अब आप ही अपने अधरामृत की वर्षा से उसका उपशमन कीजिये। यदि आप अपने अधरामृत के पान से हमारी हृदयाग्नि शान्त नहीं करते तो सुन लीजिये, हम सब सोलह सहस्र गोपियाँ आप की विरहाग्नि से जल मरेंगी और ध्यान के द्वारा आप के चरण-कमलों को प्राप्त कर लेंगी—“ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते” ॥३५॥

हृदय—इस कथन के द्वारा गोपियो ने श्रीकृष्ण को धमकी दी है कि यदि हम आप की विरहाग्नि में आप का ध्यान करती हुई जल मरेंगी तो हम सब बनेंगी श्रीकृष्ण। और हमारे न रहने पर आप भी हमारा ध्यान करते हुए अपना शरीर छोड़ने के लिये विवश होंगे। तब हम बनेंगी कृष्ण और आप बनेंगे गोपी। फिर तो हम भी आप को खूब छकायेंगी ॥

प्यारे कमलनयन, आप वनवासियों के प्यारे हो और वे भी आप से बहुत प्रेम करते हैं। इससे आप प्रायः उन्हीं के पास रहते हो। यहाँ तक कि आपके जिन चरणकमलों की सेवा का अवसर स्वयं लक्ष्मी जी को भी कभी-कभी ही मिलता है, उन्हीं चरणों का स्पर्श हमें प्राप्त हुआ। चरणों के स्पर्श का सौभाग्य जिस दिन हमें मिला उस दिन से संसार का कोई भी व्यक्ति हमें सुहाता नहीं है। लक्ष्मी जी आप के वक्षःस्थल पर विराजती हैं। एक दिन उन्होंने आप से प्रार्थना की—प्राणनाथ, मैं आप के चरणों में निवास करूँगी। इस पर आपने कहा—लक्ष्मी जी, वहाँ तो आप की सौत तुलसी निवास करती है। तुम सौत के साथ कैसे रहोगी ? दूसरी बात यह है कि वहाँ निरन्तर भक्तों की भीड़ भी लगी रहती है। हमेशा धक्का-मुक्की रहती है—“भृत्यजुष्टम्” ॥३७॥ इस पर लक्ष्मी जी ने कहा—प्रभो, सौत के साथ रह लूँगी। भीड़-भाड़ में भी रह लूँगी। किन्तु रहूँगी आपके चरणों में ही। प्राणनाथ, लक्ष्मी जी के समान हम लोग भी आप के चरण की शरण में आई हैं। शरण में लेकर आप हम पर कृपा कीजिये। हम सब अपना घर-द्वार, सारा संसार त्याग कर आप के चरणों में आई हैं। आप के चरणों की उपासना ही हमारा ध्येय है—“वसतीः विसृज्य त्वदुपासनाशाः” ॥३८॥ अथवा आप की उपासना का नाश करनेवाली वस्ती का परित्याग करके आई हैं। प्यारे, हम आप से अधिक क्या कहें ? हम आप की मधुर मुस्कान और मनोहर चितवन के कारण तीव्र काम से सन्तप्त हैं। अतः अब आप हमें दासी बना लीजिये—“त्वत्सुन्दरस्मितनिरिक्षणतीव्रकामपतात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्” ॥३८॥



गोपियाँ आगे कहती हैं—प्रियतम, घुँघराली लटकती हुई अलकों से अलङ्कृत आपके मुखकमल, सुन्दर कुण्डलों से सुशोभित आप के कमनीय कपोल, अमृत को भी लज्जित करनेवाली सुधा से लबालब भरे हुए आप के अधर, मन्द-मन्द मुस्कान से उल्लसित आपकी नयन-मनोहारी चितवन, शरणागतों को अभय प्रदान करने में निपुण आप की दोनों भुजाओं और लक्ष्मी जी की क्रीडास्थली आपके वक्षःस्थल को निरख कर हम सब आप की दासी बन गई हैं—

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।

दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥ १०/२९/३९

प्यारे श्यामसुन्दर, त्रिलोकी में कौन ऐसी स्त्री है, जो आप के इस रूप को देखकर और आप की वंशी की ध्वनि को सुनकर मोहित न हो जाय ? आर्यचरित से विचलित न हो जाय ? जब गाय, पक्षी, वृक्ष और हरिण-हरिणियों के झुण्ड आपके वंशी-निनाद को सुनकर तथा आप के भुवन-मोहक सौन्दर्य को निरख कर मुग्ध हो जाते हैं, तब हमारा अनुरक्त होना कोई विलक्षण बात नहीं है । संसार के कष्ट का निवारण करने के लिये ही आप का प्रादुर्भाव हुआ है इसलिये आप हमारे दुःखों का निवारण कर हमें स्वीकार करें । प्रियतम, हम सब दुःखकी मारी हैं । आप के मिलन की आकांक्षा की आग से हमारा वक्षःस्थल धधक रहा है । आप अपनी इन दासियों के वक्षःस्थल और शिर पर अपने कोमल करकमल रखकर हमें अपना लीजिये, जीवनदान दे दीजिये—

तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥ १०/२९/४१

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, जब भगवान् योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण ने गोपियों की विकलता एवं आतुरता देखी तो वे हँस पड़े । उनका हृदय दया से भर गया । आत्माराम होते हुए भी उन्होंने गोपियों के साथ विहार प्रारम्भ किया । आत्माराम का विहार दूसरों को आनन्दित करने के लिये हुआ करता है । भगवान् की प्रेमभरी चितवन और उनके दर्शन के आनन्द से गोपियों का मुखकमल खिल गया । वे श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गई । उस समय उनकी ऐसी शोभा हुई मानो अपनी पत्नी तारिकाओं से घिरे हुए चन्द्रमा हों । गोपियों के साथ श्रीकृष्ण ने वन-विहार प्रारम्भ किया । गोपियाँ श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का गान करती थीं तो श्रीकृष्ण उनके सौन्दर्य के गीत गाते थे । वन का सौन्दर्य देखते-देखते श्रीकृष्ण गोपियों को लिये हुए यमुना के बालुकामय पावन पुलिन पर पदार्पण किये । उस समय यमुना का पुलिन तरल तरङ्गों के स्पर्श से शीतल और कुमुदिनी की सहज सुगन्ध से सुवासित था । शीतल मन्द सुगन्ध वायु वातावरण में चार चाँद लगा रहा था । उस आनन्दप्रद पुलिन पर भगवान् ने गोपियों के साथ क्रीडा प्रारम्भ की—

नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमबालुकम् । रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना ॥ १०/२९/४५

हाथ फैलाना, कस कर आलिङ्गन करना, हाथ मिलाना, गोपियों की चोटी, जाँघ, नीवी और स्तन आदि का स्पर्श करना, विनोद करना, नखश्चत करना, तिरछी चितवन से देखना और मुस्काना—इन क्रियाओं के द्वारा गोपियों के दिव्य कामरस को, परमोज्ज्वल प्रेमभाव को, उत्तेजित करते हुए श्रीकृष्ण उन्हें आनन्दित करने लगे । गोपियों के अन्तःकरण में विराजमान कामदेव को तो उन्होंने न केवल परमानन्दित किया, अपि तु आश्चर्य से चकित कर दिया—  
“उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार” ॥ ४६ ॥

परम कृपालु भगवान् श्रीकृष्ण ने जब इस प्रकार गोपियों का मान किया, सम्मान किया, तब उनके मन में ऐसा भाव आया कि संसार की समस्त स्त्रियों में हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं, सर्वाधिक सुन्दरी हैं, हमारे समान और कोई नहीं है, तभी तो श्रीकृष्ण हमारे पीछे-पीछे नाचते हैं, गाते हैं और हमें मनाते हैं—यह सोचकर वे कुछ मानवती हो गई । उनके



मन में मान आ गया। वे सोचने लगीं कि श्रीकृष्ण की गरज होगी तो हमें मनायेंगे, दुलारेगें, पुचकारेंगें। जब भगवान् नें देखा कि गोपियों के हृदय में अपने सौन्दर्य का अभिमान हो गया है, वे अब मान भी करने लगीं हैं, तब वे उनका मान समाप्त कर उन्हें प्रसन्न करने के लिये—वहीं उनके बीच में अन्तर्धान हो गये—

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः । आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥  
तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः । प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥

१०/२९/४७-४८

हृदय-प्रशमाय प्रसादाय—जब श्रीकृष्ण गोपियों के साथ खुलकर विहार कर रहे थे, तब गोपियों को अपने सौन्दर्य का अभिमान हुआ, राधारानी ने जब इस दृश्य को देखा तो प्रणय-कोप कर वे क्रीडा से बाहर खड़ी हो गई और श्रीकृष्ण को क्रोधभरी तिरछी निगाह से देखने लगीं। श्रीकृष्ण दूसरी सुन्दरियों के पीछे पड़ जाँय, रम जाँय, यह उन्हें सह्य नहीं। भगवान् तो अन्तर्यामी ठहरे। उन्होंने इस स्थिति को देखा तो गोपियों का मान तोड़ने के लिये और राधारानी को मनाकर प्रसन्न करने के लिये राधा के साथ वहाँ से गायब हो गये।

जब-जब यशोदा मैया की, गोपियों की दृष्टि श्रीकृष्ण से हट कर दूसरी ओर चली जाती हैं, तब तब दुःख उपस्थित हो जाता है। गोपियों की दृष्टि कृष्ण पर से हट कर अपने ऊपर गई। फिर क्या था ? श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये। संयोग का रस समाप्त। वियोग का रस उपस्थित।

भगवान् श्रीकृष्ण संयोग शृंगार और विप्रयोग शृङ्गार उभयरूप हैं। इसे “बर्हापीड” (१०/२१/५) के व्याख्यान के अवसर पर सविधि व्यक्त किया गया है। श्रीकृष्ण संयोग शृङ्गार एवं वियोग शृङ्गार के महासागर हैं। संभोग शृङ्गार को पुष्ट करने के लिये विप्रयोग शृङ्गार आवश्यक है—“न बिना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते ।” भूख के बिना भोजन का मजा नहीं मिलता। यही कारण था कि भगवान् गोपियों का अन्तः हित करने के लिये अन्तर्हित हो गये ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २१ ॥



## तीसवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों का वन-वन में भटकना )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भगवान् गोपियों के साथ क्रीडा करते-करते सहसा अन्तर्धान हो गये। उन्हें न देखकर गोपियाँ वैसे ही व्याकुल हो उठीं जैसे गजराज के गायब हो जाने पर हथिनियाँ विह्वल हो जाती हैं। उनका हृदय विरह की ज्वाला से सन्तप्त हो उठा—

अन्तर्हिते भगवति सहसैव ब्रजाङ्गनाः । अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १०/३०/१

भगवान् श्रीकृष्ण की मदमत्त गजराज की-सी चाल, प्रेमभरी मुस्कान, विलासभरी चितवन, मनोहारी प्रेमालाप, विभिन्न लीलाओं तथा शृङ्गार-रस की भावभङ्गियों ने उनके चित्त को चुप लिया था। वे प्रेम की मतवाली गोपियाँ श्रीकृष्णमय हो गईं और फिर श्रीकृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं का अनुकरण करने लगीं। श्रीकृष्ण की चाल-ढाल, हास-विलास और चितवन-बोलन का अनुकरण करती हुई, देह-भान भूल कर वे कहने लगीं—देखो, मैं श्रीकृष्ण ही हूँ, मेरी ओर देखो, आओ मेरी छाती से लिपट जाओ। वे सारी गोपियाँ ऊँचे स्वर से भगवान् श्रीकृष्ण का गान करती हुई पागलों की भाँति एक वन से दूसरे वन में जाकर उन्हें ढूँढ़ने लगीं। यद्यपि भगवान् सारे प्राणियों में आकाश के



समान विद्यमान हैं, फिर भी वे वनस्पतियों के पास जाकर पूछने लगीं—हे पीपल, पाकर और बरगद, नन्दनन्दन श्रीकृष्ण हमारा मन चुरा कर चले गये हैं। क्या तुम लोगों ने उन्हें देखा है ? कुरबक, अशोक, नागकेसर, पुत्राग और चम्पा, कन्हैया अपनी मनोहर मुस्कान से हमारा मानमर्दन कर चले गये हैं। क्या वे इधर आये थे ?

जब बड़े-बड़े पुरुषजाति के वृक्ष कुछ भी नहीं बोले तब स्त्री जाति के वृक्षों से उन्होंने पूछना प्रारम्भ किया—बहन तुलसी, तुम स्त्रीजाति की हो। तुम्हारा हृदय बड़ा कोमल है। तुम भगवान् के श्रीचरणों में नित्य निवास करती हो। तुम उनकी प्राण-प्रिया हो। वे भी तुम्हें बहुत प्यार करते हैं। बतलाओ, क्या तुम नें अपने परमप्रियतम श्यामसुन्दर को देखा है ? मालती, मल्लिका (बेला), जाती और यूथिका क्या तुम लोगों ने कृष्ण को देखा है ? अवश्य ही वे माधव अपने हाथों से तुम लोगों का स्पर्श करते हुए इधर से गये हैं, तभी तो तुम लोग प्रसन्नता से खिल उठी हो।

रसाल, प्रियाल, कटहल, पीतशाल, कचनार, जामुन, आक, बेल, मौलसिरी, आम, कदम्ब, नीम और यमुना के तट पर उगनेवाले अन्य वृक्षों, आप लोगों का जन्म तो दूसरों की भलाई करने के लिये ही हुआ है अतः हमें कृष्ण का कुछ पता बतलाइये। अरी पृथिवी, तुमने कौन-सा पुण्यकर्म किया है, जिससे भगवान् के चरण के स्पर्श का सौभाग्य तुम्हें मिला है। उनके चरण के स्पर्श के कारण ही इस समय तुम रोमाञ्चित हो रही हो। ये वृक्ष, लता आदि तो तुम्हारे रोमाञ्च ही हैं। तुम्हारा यह उल्लास-विलास श्रीकृष्ण के चरण-स्पर्श का फल है अथवा तुम्हारे उद्धार की बेला में वाराह भगवान् के अङ्ग के सङ्ग के कारण तुम्हारी यह दशा तो नहीं हो रही है ? अरी हरिणियों, तुम लोग कहाँ बेतहाशा भागती जा रही हो ? क्या श्रीकृष्ण तुम लोगों का भी परित्याग करके चले गये हैं ? इधर से तो उनके गले में पड़ी कुन्दमाला की मत्त करनेवाली सुगन्ध आ रही है। कहीं वे इधर ही तो नहीं चले गये हैं ? अरे वृक्षों, हमारे श्यामसुन्दर इधर से ही गये होंगे, तभी तो उनको प्रणाम करने के लिये तुम लोग झुके हो।

इस प्रकार कहीं से, किसी से भी कुछ उत्तर न मिलने पर कृष्ण-प्रेम में व्याकुल गोपियाँ उनकी विभिन्न लीलाओं का अभिनय करने लगीं। कोई गोपी कृष्ण बन कर पूतना बनी हुई गोपी का स्तन-पान करने लगी। किसी ने बालक कृष्ण बन कर शकटासुर बनी गोपी को लेटे-लेटे पैर से मारा। कोई तृणावर्त बनी तो कोई कृष्ण बन गई। कोई वत्सासुर की नकल करती, तो कोई बकासुर का अभिनय करती, तो कोई अघासुर का अनुकरण करती। इस प्रकार कन्हैया की नकल करती हुई, सबसे पूछती-पूछती गोपियाँ वन के उस भाग में पहुँची जहाँ उन्हें भगवान् के चरण-चिह्न दिखलाई पड़े फिर तो वे एक-दूसरी से कहने लगीं—देखो, देखो, ये कन्हैया के चरण-चिह्न हैं और यह देखों उनके कंधे पर हाथ रखकर गलबौहियाँ डाल कर जाती हुई किसी सौभाग्यशालिनी स्त्री के भी बीच-बीच में ये चरण-चिह्न हैं उन्हें देखकर हमारे हृदय में ईर्ष्या की आग भड़क उठी है—

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः । बध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ।।

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना । अंशान्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ।।

१०/३०/२६-२७

अवश्य ही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण की यह “आराधिका” (आराधना करनेवाली) होगी। इसलिये इस पर प्रसन्न होकर हमारे प्राणप्रिय श्यामसुन्दर हमें छोड़कर इसके साथ एकान्त में चले गये हैं—

१. ‘राधिका’ और ‘आराधिका’ का समान अर्थ होता है। भगवान् जिस गोपी को लेकर अन्तर्हित हुए हैं, वह राधिका ही है। इसी बात को सूचित करने के लिये यहाँ ‘आराधितः’ पद का प्रयोग किया गया है। जिससे भगवान् आराधित होते हैं, वह आराधिका है। यतः राधा शुकदेव जी की गुरु थीं अतः उन्होंने डायरेक्ट, उनका नाम कहीं नहीं लिया है।



अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः । यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥

१०/३०/२८

प्यारी सखियों, भगवान् श्रीकृष्ण अपने चरण-कमल से जिस धूलिकण का स्पर्श कर देते हैं, वह धन्य-धन्य हो जाती है । ब्रह्मा, शङ्कर और लक्ष्मी जैसी महान् विभूतियाँ भी अपने अशुभ को नष्ट करने के लिये उसे अपने शिर पर धारण करती हैं । अरी प्यारी सखी, चाहे कुछ भी हो—हमारे प्राण-धन के साथ एकान्त में जाकर उनकी अधर-सुधा का पान करनेवाली इस गोपी के ये उभरे हुए चरण-चिह्न तो हमारे हृदय में शूल उत्पन्न कर रहे हैं । देखो, यहाँ उस गोपी के चरण-चिह्न नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं । प्रतीत होता है कि जब उसके कोमल चरणों में कुश-काश के तृण-अङ्कुर आदि गड़ने लगे तो श्याम सुन्दर ने उसे अपनी गोद में उठा लिया होगा । तभी तो भार उठाने के कारण कामी कन्हैया के पैर इधर अधिक गहरे हुए हैं, नीचे धँसे हुए हैं । मालूम पड़ता है, उन महात्मा ने फूल चुनने के लिये अपनी उस प्रियतमा को यहाँ नीचे उतारा है । यहाँ उन्होंने पैर के पंजे के बल ऊपर उठकर ऊँचे स्थान के फूलों को चुना है । तभी तो पैर के पूरे-पूरे चिह्न नहीं दिखलाई पड़ते हैं । ऐसा लगता है, परम प्रेमी श्रीकृष्ण ने अपनी कामिनी का केश-पाश सँवारने के लिये, उसके जूड़े में फूल गूँथने के लिये यहाँ अवश्य बैठे रहे होंगे । यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, पूर्णकाम हैं फिर भी उन्होंने कामियों की दीनता-स्त्रीपरवशता और स्त्रियों की कुटिलता प्रदर्शित करने के लिये यहाँ उस गोपी के साथ एकान्त में जमकर काम-क्रीडा की है ।

इस प्रकार गोपियाँ मतवाली-सी होकर वन-वन में भगवान् को खोजती हुई भटक रही थीं । इधर श्रीकृष्ण सारी गोपियों को छोड़ कर जिस गोपी को लेकर एकान्त में गये थे, उसने समझा कि—भगवान्, सारी गोपियों को छोड़कर हमें ही एकान्त में लेकर आये हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि मैं सारी गोपियों से अधिक सुन्दरी हूँ इसीलिये यह मुझे मानते हैं । गोपी का ध्यान भगवान् पर से हटकर अपने शरीर पर, सौन्दर्य पर चला गया, यह एक गड़बड़ी हुई ।—ऐसा सोचकर वह गोपी वन में जाकर अपने प्रेम और सौभाग्य के मद से मतवाली होकर श्रीकृष्ण से कहने लगी—प्यारे, मुझसे और अधिक चला नहीं जाता । मेरे सुकुमार पाँव थक गये हैं । अब तुम जहाँ चलना चाहो, वहाँ मुझे अपने कन्धे पर बैठा कर ले चलो—

ततो गत्वा वनोद्देशं दृष्ट्वा केशवमब्रवीत् । न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥ १०/३०/३८  
भगवान् ने गोपी की बात सुनी । मन-ही-मन मुस्कराये और कहा—ठीक है मेरे कन्धे पर बैठ जाओ । ऐसा कहकर वे बैठ गये । गोपी ने अपना एक पैर उठाया और चढ़ने का प्रयास किया । इसी बीच भगवान् गायब हो गये, अन्तर्धान हो गये । गोपी धड़ाम से नीचे गिर पड़ी । कृष्ण को न पाकर वह सन्तप्त हो उठी । विलाप कर कहने लगी—हा नाथ, हा रमण, हा प्राणप्रिय, कहाँ हो ? अपना मुखचन्द्र तो हमें दिखलाओ ।

श्रीकृष्ण को ढूँढती हुई गोपियाँ जब वहाँ पहुँचीं तो देखा कि अत्यन्त सन्तप्त गोपी विलाप कर रही है, रह-रह कर वह मूर्च्छित हो जा रही है । पूछने पर उस गोपी ने किसी-किसी तरह सारी घटना का वर्णन कर दिया । उसने यह भी बतलाया कि भगवान् ने उसे कैसा प्यार किया, कैसा सम्मान दिया और जब मैंने कुटिलतावश उनका अपमान किया । तो वे अन्तर्हित हो गये । इन बातों को कह कर वह गोपी मूर्च्छित हो गई । उसकी इस चिन्तनीय दशा को देखकर गोपियों ने कहा—राधा यदि जीवित रहेंगी तो हम जीवित रहेंगी और यदि यह कृष्ण के वियोग में मर गई तो हम सभी नन्दबाबा के द्वार पर जाकर विष-पान कर आत्म-हत्या कर लेगीं—

“राधिका जी हैं तो जी हैं सबै, न तो पी हैं हलाहल नन्द के द्वारे” । यदि राधा होश में नहीं आई तो इनके माता-पिता को महान् कष्ट होगा । इस स्थिति में हम सारी गोपियाँ भी इस अहीर के दरवाजे पर जाकर हीरा की कनी चाट कर अपने प्राणों को छोड़ देंगीं—



चेतैं न जो वृषभानुसुता दुःख है हैं बड़ो इहि के सजनीन को ।

जाय के खाय परैंगी सबै या अहीर के द्वार पर हीर कनीन को<sup>१</sup> ।।

फिर वे गोपियाँ जहाँ तक चन्द्र की चाँदनी छिटक रही थी, वहाँ तक अपने प्राण-प्रिय को खोजीं किन्तु उनके न मिलने पर वे सारी-की-सारी गोपियाँ तन्मयता के साथ कृष्ण का गान करती हुई यमुना के उसी पुलिन पर आईं जहाँ की नन्दननन्दन अन्तर्धान हुए थे । वहाँ सभी एक साथ मिलकर श्रीकृष्ण के गुणों का गान कर उनके आने की प्रतीक्षा करने लगीं—

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्धाः कृष्णभावनाः । समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकांक्षिताः ।।

१०/३०/४५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३०॥

•

## इकतीसवाँ अध्याय

( गोपी-गीत<sup>२</sup> )

गोपियों ने कहा—हे श्यामसुन्दर यहाँ आप के जन्म लेने से ब्रज की महिमा वैकुण्ठ आदि लोकों से भी बढ़ गई है । तभी तो सौन्दर्य और माधुर्य की देवी श्रीलक्ष्मी जी अपना निवास-स्थान वैकुण्ठधाम छोड़कर नित्य निरन्तर यहीं निवास करने लगी हैं, इसकी सेवा करने लगी हैं । परन्तु प्रियतम, देखो तो सही आप को ही अपना सर्वस्व समझनेवाली, आप को ही अपना प्राण समर्पित करनेवाली हम गोपियाँ वन-वन में भटक कर आप को ढूँढ़ रही हैं—

जयति तेऽधिकं जन्मना ब्रजः, श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।

दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ।। १०/३१/१

हृदय—‘जयति तेऽधिकं जन्मना ब्रजः’ इस उक्ति से गीत का आरम्भ होता है । ‘जयति’ शब्द द्वारा गोपाङ्गनाएँ अभीष्ट-प्राप्ति एवं विघ्न-निवारण हेतु मङ्गलाचरण करती हैं । उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त ‘अधिकं’ शब्द सापेक्ष अर्थ का द्योतक है । अतः इस कथन का तात्पर्य है कि—भगवान् श्रीकृष्ण के आविर्भाव के कारण ब्रजधाम<sup>३</sup> पहले की अपेक्षा, सबकी अपेक्षा और वैकुण्ठ की अपेक्षा भी अधिक उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है अथवा ‘अधि का अर्थ है—चारों ओर, क का अर्थ है—सुख अर्थात्, ‘अधि सर्वतः के सुखं यथा स्यात्तथा जयति’ तात्पर्य है—सर्वाधिक सुख ब्रजधाम में ही हो रहा है अतः ब्रजधाम विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो रहा है ।

१. रसखान—ग्रन्थावली

२. हृदय—गोपी गीत कनक-मञ्जरी छन्द में लिखा गया है । कनक का अर्थ सुवर्ण और धतूर—दोनों ही होता है । दोनों ही मादक होते हैं । प्रत्येक श्लोक का अर्थ स्वतः में पूर्ण है । यहाँ परस्पर सम्बद्धता नहीं है ।

३. श्रीमन्नारायण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के निरावरण चरणारविन्द के संस्पर्श का सौभाग्य वृन्दावन धाम को ही प्राप्त हुआ । गोवर्धन पर्वत के चतुर्दिक् विस्तृत विशाल भू-भाग ही वृन्दावन धाम है—‘मध्ये गोवर्धनं तत्र’ । यह वृन्दावन धाम भी ब्रजधाम से चारों ओर घिरा हुआ है । भावकों ने ‘ब्रजे वने निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्’ जैसी कल्पना की है । तदनुसार ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण, वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र एवं नित्य निकुञ्जमन्दिराधीश्वर श्रीकृष्णचन्द में उत्तरोत्तर पूर्ण, पूर्णतर एवं पूर्णतम माने गये हैं ।



हमारे प्रेम भरे हृदय के स्वामी, हम आप की बिना मोल की दासी हैं। आप शरद्वृत्त में विकसित कमल की शोभा को चुरानेवाले अपने नेत्रों से हमें घायल कर चले गये हैं। मेरे मालिक, क्या नेत्रों से मारना वध नहीं है ? अस्त्रों से हत्या करना ही वध है ? नाथ, कहीं ऐसा न हो कि हमारे प्राण निकल जाँय और आप को स्त्री-वध का पातक लगे। पुरुषशिरोमणे, आप ने विविध विपत्तियों से हम लोगों की बार-बार रक्षा की है। यमुना के विषैले जल से<sup>१</sup>, अघासुर से, कुपित इन्द्र की भीषण वर्षा से, तूफान से, वज्रपात से, दावानल से, वृषभासुर<sup>२</sup> आदि से आप नें हमें बचाया है। क्या आज बेमौत हमें मारने के लिये ही आप ने उन-उन विपत्तियों से हमारी रक्षा की थी ?

हे सखे, आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं, समस्त शरीर-धारियों के हृदय के, अन्तरात्मा के साक्षी हैं अतः ब्रह्मा जी की प्रार्थना पर संसार की रक्षा के लिये आप ने यदुकुल में जन्म ग्रहण किया है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवान्, अखिलदेहिनामन्तरात्मदक् ।

विखनसार्थितो विश्वगुप्तये, सख उदेयिवान् सात्त्वतां कुले ॥१०/३१/४

अब आप ही उत्तर दीजिये कि क्या हम विश्व के बाहर हैं, जो आप हमें अपनी विरहाग्नि में जला-जलाकर मार रहे हैं। इस श्लोक का व्यङ्ग्यपरक अर्थ भी किया जाता है। उसके अनुसार गोपियाँ कह रही हैं—

आप दया की मूर्ति यशोदा मैया के बेटे नहीं हैं, अन्यथा इतने कठोर हृदय कैसे होते ? आप सारे प्राणियों के अन्तरात्मा के द्रष्टा नहीं हैं। यदि होते तो हमारे हृदय की व्यथा अवश्य जानते। ब्रह्मा ने संसार की रक्षा के लिये आप से प्रार्थना नहीं की थी। यदि की होती तो हमारी भी रक्षा आप जरूर करते। आप करुणा-शिरोमणि यादवों के वंश में भी नहीं उदित हुये हो अन्यथा इतने अकरुण कैसे हो जाते ? वस्तुतः आप आकाश से टपक कर भूतल पर आये हो—“स ख उदेयिवान्” इसीलिये आप में असङ्गता और उदासीनता—ये दो अवगुण घर कर गये हैं, नहीं तो आप हमें इस प्रकार अनाथ की दशा में छोड़कर गायब न हो जाते।

हे यदुवंशशिरोमणे, संसार-चक्र से भय-भीत हो जो जन, आप के चरण-कमलों की शरण में आते हैं, उनको आपके हस्तारविन्द अभय प्रदान करते हैं। हे कान्त, सम्पूर्ण अभिलाषाओं की पूर्ति करनेवाले, वासनाओं को विनष्ट करनेवाले तथा लक्ष्मी का पाणि-ग्रहण करनेवाले कर-सरोरुहों को आप हमारे शिर पर रखने की अनुकम्पा करें। आपके वियोग में कामाग्नि हमारे शिर पर ताण्डव कर रही है। आप का कर-कमल उसे शान्त करनेवाला है—‘कामदम्’<sup>३</sup>। ५। अथवा हे कान्त, अपने हस्तारविन्द को हमारे शिर पर रखकर हमें अभयदान दें। आप के हस्तारविन्द नखरूप चन्द्र को धारण करनेवाले पञ्चमुखी शङ्कर हैं। भगवान् शङ्कर ने अपने दृष्टिपातमात्र से ही काम को भस्म कर दिया था। अस्तु, भगवान् शङ्कररूप आपके हस्तारविन्द हमारे शिर पर विन्यस्त होकर हमारे काम-ज्वर का उपशमन कर देंगे। नाथ, आप सकल ब्रजवासियों की पीडा दूर करनेवाले हैं। अपनी मधुर-मधुर मुस्कान से अपने जनों के अभिमान को विनष्ट करनेवाले हैं अतः प्रभो, आप हमें अपना मुस्कान-युक्त मुख दिखला कर हमारे भी अभिमान को दूर करें, हम आप की बिना मूल्य की खरीदी गई दासियाँ हैं।

१. यद्यपि श्रीकृष्ण ने उक्त विपत्तियों से गोप-बालकों, गोपों और गायों की रक्षा की थी। किन्तु उनकी रक्षा से अपनी रक्षा भी समझती हुई गोपियाँ उक्त वचनों को कह रही हैं। उनके मर जाने से गोपियों का जीवित रहना भी संदिग्ध था।
२. वृषभासुर का वध आगे ३६वें अध्याय में किया गया है। अतः यहाँ पहले ही उसका उल्लेख या तो ग्रन्थकार की अनवधानता है अथवा यह कहना पड़ेगा कि गोपियाँ कृष्ण-चिन्तन के कारण भविष्य-द्रष्ट्री बन गई थीं।
३. कामदम्—कामं मदनं घति खण्डयति इति कामदम्। आप का हस्तारविन्द काम-वासना-जाल को छिन्न-भिन्न करनेवाला है।



हे नाथ, आप की मन्द मधुर मनोहर मुस्कान, चित्त चुरानेवाली चितवन, विविध लीलाएँ और हास-परिहास का स्मरण कर हमारा मन क्षुभित हो रहा है। हे कान्त, आप के चरणारविन्द शरणागत की आर्ति का अशेष उन्मूलन करनेवाले हैं; वे समस्त सौन्दर्य एवं माधुर्य के कोष तथा श्रीदेवी के निकेतन हैं। इन निरावण चरणारविन्दों से आप हमारे गाय-बछड़ों को चराते हुए वृन्दावन में भ्रमण करते हैं; हमारी रक्षाहेतु आप ने अपने चरणारविन्दों को कालिय नाग के फणों पर भी विराजमान किया; हमारा हृदय आप के विप्रयोगजन्य ताप से अत्यन्त सन्तप्त है, अतः हमारी आर्ति-हनन हेतु आप अपने चरण-कमलों को हमारे वक्षःस्थल पर पधराने का अनुग्रह करें।

हे नाथ, आप की कथा अमृत है। वह त्रिविध तापों से सन्तप्त प्राणियों का जीवन है। उसके श्रवणमात्र से सारे पाप-ताप विगलित हो जाते हैं। वह परम मङ्गलकारिणी है। इसीलिये बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओं—भक्त कवियों ने वर्णन कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जो आप की लीला-कथा का भूतल पर घूम-घूम कर गान करते हैं, वे विपुल पुण्यशाली और महान् दानी हैं—

तव कथामृतं तप्तजीवनं, कविभिरिडितं कल्मषापहम् ।

श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥१०/३१/९

हृदय—इस श्लोक का एक दूसरा व्यङ्ग्यार्थ भी है। वह इस प्रकार से है—आप की कथा ही मृत है, मार डालनेवाली है—“तव कथा एव मृतं मरणं, मारकमित्यर्थः”। जैसे खौलते तेल में शीतल जल-बिन्दु छत्र से उड़ जाता है, वैसे ही आप की कथा का स्मरण करके हमारा जीवन-प्राण खौल उठता है। कविजन स्वभावतः उसका वर्णन कर देते हैं, उनके वर्णन का कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। आप की कथा कर्म की कालिमा का विनाश करती होगी। तो जिनके कर्म की कालिमा है, पाप है, वे सुनें। उससे हमारा क्या लेना-देना। वह सुनने में अच्छी हो सकती होगी। किन्तु परिणामतः वह सुखकारिणी नहीं है। श्रीमदान्धों ने, धनिकों ने, प्राणियों को मारने के लिये ही कवियों को धन देकर उसका प्रचार-प्रसार करवा दिया है। आप की कथा घूम-घूम कर जो चारों ओर सुनते हैं, उन्होंने लोगों का घर छुड़ाया, उन्हें याचक बनाया, पागल बनाया और आप के लिये तड़पा-तड़पा कर उन्हें मार डाला। ऐसे लोग प्राणि-घातक हैं।

हे सखे, आप का हास-परिहास, प्रेमभरी चितवन तथा आप के विविध विहारों का चिन्तन कर हम कभी ध्यान में डूब जाया करती थीं। उनका ध्यान भी परम मङ्गलदायक है। उसके फलस्वरूप आप हमें मिले। हमें दुलारा और पुचकारा। किन्तु ओ कपटी, आज वे सारी बातें हमें क्षुभित कर रही हैं। आपके जिन कोमल चरणों को हम अपने कठोर कर्कश वक्षःस्थलों पर रखने में सज्जोच करती हैं, वे ही निरावरण चरण जङ्गल के कंकण-पत्थरों से क्या व्यथित नहीं होते होंगे—इन बातों को सोच-सोचकर हमारा मन व्यथित हो उठता है। मेरे स्वामी, आपके चरण-कमल शरणागत भक्तों की समस्त कामनाओं को पूरा करनेवाले हैं। स्वयं लक्ष्मी जी उन चरणों की सेवा करती हैं। आप के ये चरण ही पृथिवी के अलङ्कार हैं। आप अपने ऐसे चरणों को हमारे स्तनों के ऊपर रखकर हमारे सारे मनस्तापों को विनष्ट कर दीजिये—“रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्” ॥१३॥ जब आप वन में गायों को चराने जाते हैं, तब आप को देखे बिना क्षण भी युग के समान व्यतीत होता है। सायङ्काल जब आप घर लौट कर आते हैं तब आप को निरखने की बेला में न जाने कैसे ये अभागिन पलकें गिर जाती हैं। हम क्या कहकर कोसें उस बुद्धि-विहीन विधाता को, जिसने नेत्रों के ऊपर पलकें लगा दी। ये हतभागिनी पलकें आप की रूपमाधुरी की पान-बेला में बाधा डाल देती हैं। दर्शन के बिना हमारी व्यथा बढ़ती जा रही है। अतः अति शीघ्र प्रकट होकर दर्शन देने की कृपा करें ॥३१॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह इकतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३१॥



## वत्तीसवाँ अध्याय

( भगवान् का प्रकट होकर गोपियों को सान्त्वना प्रदान करना )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित् भगवान् की प्रिय गोपियाँ विरह के आवेश में इस प्रकार भाँति-भाँति से गाने और प्रलाप करने लगीं । अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के दर्शन की लालसा से वे अपने को रोक न सकीं, करुणाजनक सुमधुर स्वर से फूट-फूट कर रोने लगीं—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रया । रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥

१०/३२/१

भगवान् ने गोपियों का विलाप सुना, उनसे रहा न गया, सहा न गया अतः ठीक उसी समय उनके मध्य में ही भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये । उनका मुख-कमल मन्द-मन्द मुसकान से खिला हुआ था । गले में वनमाला विराज रही थी । पीताम्बर धारण किये हुए थे । उनका सौन्दर्यातिशायी यह रूप साक्षात् काम के मन को भी मथ डालने वाला था—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः । पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

१०/३२/२

हृदय—यहाँ “पीताम्बरः” पद के प्रयोग से ही—पीतम् अम्बरं यस्यासौ— इस बहुव्रीहि समास से ही—निर्वाह हो जाता, ‘धरः’ कहने की आवश्यकता नहीं थी । इसलिये महापुरुष जन “पीताम्बरधरः” की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—श्रीकृष्ण पीताम्बर को अपने हाथ में लिये हुए प्रकट हुए—“पीताम्बरं धरति इति पीताम्बरधरः” जैसे कोई ऋणी व्यक्ति अपने ऋणदाता के सम्मुख जाता है और कहता है कि मुझे क्षमा करें, मैं आपका ऋण नहीं चुका सका । इसी प्रकार श्रीकृष्ण हाथ में दुपट्टा धारण कर गोपियों के सामने आये । उन्होंने हाथ जोड़कर कहा कि मुझसे त्रुटि हो गई, मैं आप लोगों को छोड़कर चला गया अतः मुझे क्षमा करें ।

किसी का कथन है कि—जिस समय श्रीकृष्ण ने गोपियों को देखा, उनकी दशा देखी, उस समय उनको अपने वस्त्र की सुधि नहीं रही । ‘उनका दुपट्टा खिसक कर भूतल पर जा गिरा’—“पीताम्बरं धरायां यस्यासौ पीताम्बरधरः” ।

एक अन्य महानुभाव का कहना है कि—जब श्रीकृष्ण एकान्त में श्रीराधारानी को लेकर चले गये थे तब वहाँ उनका दुपट्टा बदल गया था । उन्होंने राधा की ओढ़नी ले ली थी और राधा ने उनका दुपट्टा ओढ़ लिया था—“पीतायाः पीतवर्णायाः श्रीराधाया अम्बरं धरति इति पीताम्बरधरः” ।

अन्य महानुभाव की धारणा है कि—“पीताम्बरधरः” का अर्थ है—जिसके अधरामृत का श्रीकृष्ण ने बार-बार पान किया है, उसकी ओढ़नी को लिये हुए चले आये है—“पीतायाः पुनः पुनः पीतायाः, परिपीताया इत्यर्थः, अम्बरं धरतीति” ।

एक पौराणिक विद्वान् का कथन है कि—महारास की बेला में काम ने श्रीकृष्ण पर सरलता से विजय प्राप्त करने के लिये शरद् ऋतु में वसन्त ऋतु प्रकट कर दी थी । वह श्रीकृष्ण के पीताम्बर में जा छिपी । भगवान् ने बड़ी प्रसन्नता से उसे स्वीकार कर लिया और उसी से गोपियों के आँसुओं को पोंछा । मनमोहन का अलौकिक सौन्दर्य देखकर काम का भी मन चञ्चल हो उठा, सिंहासन डोल गया । वह अपने रूप में न रह सका । झटपट अपना रूप परिवर्तित कर वह गोपियों के मनरूपी दुर्ग में जा विराज । इससे वे अधिक विकल हो गईं । अब मदन ने अपनी गोपीरूपी विशाल सेना से मनमोहन पर धावा बोल दिया । काम की सेना का सामना करने के लिए वे भी अनेक बन गये ।



गोपियों ने अपने प्रिय श्रीकृष्ण को देखा । वे झटपट उठ खड़ी हुई । मानो शरीर में प्राण आ गया हो । पद्मपुराण में प्रसंगवश आठ गोपियों का वर्णन हुआ है । विष्णुपुराण में भी आठ हैं । किन्तु यहाँ सात हैं ।

गोपियाँ झपट कर झुकीं श्रीकृष्ण की ओर । किसी ने भगवान् श्रीकृष्ण का कर-कमल अपने हाथ में धारण कर लिया । किसी ने उनके चन्दन चर्चित भुज-दण्ड को अपने कन्धे पर रख लिया । किसी ने भगवान् का चबाया हुआ पान अपने हाथों में ले लिया । किसी ने उनके चरण-कमल को अपनी जलती हुई छाती पर रख लिया । किसी ने प्रणय-कोप वश भाँहे चढ़ाकर, दाँतों से होठ दबाकर, अपने कटाक्ष-बाणों से प्रहार करती हुई उनकी ओर धूर कर देखना प्रारम्भ किया । महात्माओं का कथन है कि यही राधारानी हैं । कोई गोपी, योगियों की भाँति, नेत्रों द्वारा भगवान् को अपने हृदय में पधरा कर आलिंगन करने लगी । कोई भगवान् का ध्यान करते हुए समाधिस्थ हो गई ।

भगवान् के दर्शन और स्पर्श से गोपियों की प्रसन्नता का पारावार न रहा । वे आनन्द-सिन्धु में गोते लगाने लगीं । उनकी विरहाग्नि शान्त हो गई । उनका सारा ताप जाता रहा । उस समय भगवान् अपनी सारी शक्तियों से सम्पन्न थे । वे गोपियों को साथ-साथ लेकर यमुना के पुलिन पर गये । चाँदी-सी चाँदनी चारों ओर चमक रही थी । फूलों की बहार से सारा वातावरण मँहक रहा था । मखमल-सी कोमल यमुना की बालुकाराशि थी । वहाँ पहुँच कर गोपियों ने अपनी-अपनी ओढ़नी बिछाई । उनमें उनके कुच-कुम्भों में पुता हुआ कुंकुम लगा हुआ था । उन लोगों ने हाथ पकड़कर सादर श्यामसुन्दर को पधरा दिया और स्वयं भी उनसे सट कर बैठ गईं ।

बड़े-बड़े योगेश्वर अपनी साधना से पवित्र हृदय में जिनको बैठाने का सायास प्रयास करते हैं, फिर भी उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता कभी-कभी ही मिल पाती है, वही सर्वशक्ति-सम्पन्न भगवान् यमुना जी की रेती में गोपियों की ओढ़नी पर विराजमान हो गये । फिर गोपियाँ भगवान् के कर-कमलों को, कोमल चरणों को अपनी गोद में रखकर उन्हें सहलाती-दबाती हुई प्रणय-कोप के आवेश में बोलीं—

इस संसार में तीन प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं । नाथ, कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालों से प्रेम करते हैं । कुछ ऐसे होते हैं, जो प्रेम न करनेवालों से भी प्रेम करते हैं । कोई-कोई ऐसे होते हैं, जो दोनों से ही प्रेम नहीं करते—न तो प्रेम करनेवाले से और न प्रेम न करनेवाले से । मेरे स्वामी, अब आप ही बतलाइये कि इनमें से अच्छा कौन है ?

भजतोऽनुभजन्त्यक एक एतद्विपर्ययम् । नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥

१०/३२/१६

गोपियों के प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् ने कहा—गोपियों, सुनो, जो प्रेम करनेवाले से प्रेम करते हैं, वे संसारी हैं । प्रेम करनेवाले से प्रेम करना स्वार्थ है—“स्वार्थकान्तोद्यमा हि ते” ॥१७॥ उनमें न सौहार्द है, न धर्म है, न सुख है, वहाँ तो केवल स्वार्थ-ही-स्वार्थ है । जो प्रेम न करने पर भी प्रेम करते हैं, उनके सम्बन्ध में दो ही दृष्टान्त दिये जा सकते हैं—जैसे अकारण करुणा करनेवाले सत्पुरुष और माता-पिता । इनमें बिना किसी स्वार्थ के धर्म और सौहार्द है । जो दोनों में किसी का भी आश्रय नहीं लेते अर्थात् प्रेम करनेवाले और प्रेम न करनेवाले—दोनों प्रकार के प्राणियों से प्रेम नहीं करते वे चार प्रकार के होते हैं—(१) आत्माराम—आत्माराम अपने आप में ही मग्न होते हैं । इनकी बाह्य जगत् में दृष्टि नहीं होती । (२) पूर्णकाम—जो भोग सामग्रियों के रहने पर भी उनकी इच्छा नहीं करते, सर्वदा कृतकृत्य ही रहते हैं । (३) कृतघ्न—जो किये हुए उपकार को भी नहीं मानते । ये जानते ही नहीं कि हमसे कौन प्रेम करता है । (४) चौथे वे हैं, जो गुरुद्रुह हैं । यहाँ “गुरुद्रुहः” शब्द का अर्थ गुरु-द्रोही नहीं है । ‘गुरु यथा स्यात्तथा द्रुहन्ति’—जो भयङ्कर और अपराधी हैं । ऐसे लोग भी प्रेम करनेवाले से प्रेम नहीं करते ।



गोपियों, मैं तो प्रेम करनेवालों से भी प्रेम का वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये। ऐसा व्यवहार मैं केवल इसलिये करता हूँ, ताकि उनकी चित्तवृत्ति निरन्तर मुझ में लगी रहे और दिनानुदिन दृढ होती रहे। जैसे निर्धन प्राणी अचानक प्राप्त धन के खोजने पर निरन्तर उसी की चिन्ता में डूबा रहता है, वैसे ही मैं भी मिल-मिल कर छिप जाया करता हूँ। दूसरी बात यह है कि परोक्ष में भी तुम लोगों का भाव मेरे प्रति कैसा है ? यह देखने और तुम्हारे प्रेमालाप को सुनने के लिये ही मैं अन्तर्हित हो गया था इसलिये तुम लोग मेरे प्रेम में दोष-दृष्टि मत रक्खो, दोषानुसन्धान मत करो। तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम लोगों का प्यारा हूँ—“मासूयितुं माहृथ तत् प्रियं प्रियाः” ॥२१॥

देवियों, तुम लोगों ने मेरे लिये घर छोड़ा। परिवार की ममता त्यागी। बड़े-बड़े योगियों के लिये भी घर-परिवार की जिस प्रेम-शृङ्खला को तोड़ना अतिकठिन है, उसे तुम लोगों ने मेरे लिये तृण की भाँति तोड़ दिया। यदि मैं तुम्हारे इस बलिदान का बदला चुकाना चाहूँ तो देवताओं की आयु पाकर भी नहीं चुका सकता। वस्तुतः मैं सर्वदा के लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम चाहो तो मेरे ऊपर दया करके मुझे इस ऋण से उन्मृष्ट कर सकती हो, मुक्त कर सकती हो, अन्यथा दूसरा कोई उपाय नहीं है, मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।

या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

१०/३२/२२

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह तैत्तिरीयौ अध्याय समाप्त हुआ ॥३१॥

## तैत्तिरीयौ अध्याय

( महारास अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ मल्ल-युद्ध में काम की पराजय )

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन, भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर रसभरी बातें सुनकर गोपियों का विरहजन्य सन्ताप समाप्त हो गया। उमड़ते हुए प्रेम के उल्लास से उनका हृदय भर गया। भगवान् के श्री अङ्गों से लिपट कर वे अपनी ज्ञानेन्द्रियों से उनके सौरस्य का, माधुर्य का अतृप्ति भावना से पान करने लगीं। उनके सारे मनोरथ पूरे हो गये—

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः। जहृर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः॥१०/३३/१

भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेयसी और उपासिकायें गोपियाँ एक-दूसरे की बाँह में—बाँह डाले खड़ी थीं। उन सुन्दरी-शिरोमणियों के साथ यमुना जी के पावन पुलिन पर भगवान् ने अपनी रसमयी रास-क्रीडा प्रारम्भ की—

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः। स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः॥१०/३३/२

सम्पूर्ण योगों के एकमात्र स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण दो-दो गोपियों के मध्य में प्रकट हो गये और उनके गले में अपना हाथ डाल दिया। इस प्रकार एक गोपी और एक श्रीकृष्ण, यही क्रम रहा—

रासोत्सवः<sup>१</sup> सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः। योगेध्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।

प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥१०/३३/३

१. उपनिषदों में भगवान् को 'रस' कहा गया है—“रसो वै सः”। रस को ही रास कहते हैं। रासेन सह उत्सवो रासोत्सवः है। जीव का भगवान् के साथ क्रीडा करना, एकाकार होना ही रास है। यहाँ नृत्य और गीत भगवान् से एकाकार होने के अद्भुत साधन हैं। वस्तुतः ब्रह्म के साथ जीव का मिलन ही रास है।



इसी भाव को श्रीकृष्णकर्णामृत में भी इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गनाः ।

इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः सङ्गौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥

हृदय-रास-मण्डल में भगवान् के खड़े होने के विषय में तीन प्रकार हैं—प्रत्येक गोपी के साथ एक कृष्ण, दो गोपियों के बीच में एक श्रीकृष्ण और सहस्रों गोपियों के मध्य में एक श्रीकृष्ण । तीनों मतों के बीच इस अध्याय में उपलब्ध हैं । बल्लभाचार्य महाराज ने दो गोपी एक कृष्ण—इस क्रम को प्रधान माना है । विश्वनाथ चक्रवर्ती आदि ने एक गोपी एक श्रीकृष्ण—इस क्रम को स्वीकार कर व्याख्या की है । नाट्याचार्यों का अभिमत है कि एक ही श्रीकृष्ण सहस्राधिक गोपियों के साथ इतनी तीव्रता से नृत्य कर रहे हैं कि सब को यही प्रतीत हो रहा है कि श्रीकृष्ण हमारे ही साथ नृत्य में प्रवृत्त हैं ।

इधर श्रीकृष्ण ने रास-क्रीडा प्रारम्भ की और उधर इसकी एक झाँकी लेने के लिये आकाशमण्डल शत-शत विमानों से भर गया । विमानों में बैठे देवों और देव-पत्नियों के मन अपहृत हो गये । पुष्प-वर्षा होने लगी । गन्धर्व गान करने लगे । वलय, नूपुर और किंकिणी आदि के शब्द झड़कृत होने लगे । गोरी-गोरी गोपियों के मध्य श्याम श्रीकृष्ण ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो सुवर्णमणियों के बीच में कोई महामरकत मणि हो—“मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा” ॥७॥

नृत्य की बेला में गोपियाँ तरह-तरह से ठुमक-ठुमक कर अपने पाँव कभी आगे बढ़ातीं और कभी पीछे हटा लेतीं । कभी गति के अनुसार धीरे-धीरे पाँव रखती, तो कभी बड़े वेगसे; कभी चाक की तरह घूम जातीं, कभी अपने हाथ उठा-उठा कर, मटका-मटका कर भाव बताती, तो कभी विभिन्न प्रकार से उन्हें चमकातीं । कभी बड़े कलापूर्ण ढङ्ग से मुक्कटातीं, तो कभी भौंहें मटकातीं । कभी मोटे-मोटे स्तन उछालतीं, तो कभी गोल-मटोल नितम्ब नचातीं । नाचते-नाचते उन की पतली कमर ऐसे लचक जाती, मानो टूट गई हो । झुकने, बैठने, उठने और चलने की फुर्ती से उनके स्तन नाच रहे थे तथा वस्त्र रह-रह कर खिसकते जा रहे थे । नृत्य के परिश्रम से उनके मुँह पर पसीने की बूँदें ऐसे झलक रही थीं, मानों पीत-कमल-कोष पर ओस-कण झूल रहे हों । केशों में बँधी चोटियाँ कुछ शिथिल पड़ गई थीं । नीवी की गाँठें खुली जा रही थीं । इस प्रकार नटवर नन्दलाल की परम प्रेयसी गोपियाँ उनके साथ गा-गाकर नाच रही थीं । परीक्षित, उस समय ऐसा प्रतीत होता था, मानो विशाल श्याम मेघ-मण्डल में रह-रहकर बिजलियाँ कौंध रही हों । उस समय गोपियों की शोभा असीम थी—

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रुविलासैर्भज्यन्मध्येश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।

स्विद्यन्मुख्यः कबररसनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥

१०/३३/८

श्रीकृष्ण में रति करना ही गोपियों का जीवन है । कृष्ण-रति ही उनके जीवन का सर्वस्व है । वे श्रीकृष्ण के अङ्ग से सट कर नाचते-नाचते उच्च स्वर से मधुर गान कर रही थीं । श्रीकृष्ण के प्रत्येक स्पर्श पर उनके आनन्द का उल्लास आकाश का स्पर्श कर रहा था । उनकी राग-रागिनियों से भरे गान से सारा जगत् अब भी गूँज रहा है । कोई गोपी भगवान् के स्वर में स्वर मिलाकर गा रही थी । वह श्रीकृष्ण के स्वर की अपेक्षा और भी उच्च स्वर से राग अलापने लगी । उसके स्वर की उत्तमता पर प्रसन्न होकर भगवान् भी उसकी प्रशंसा करने लगे । उसी राग को एक दूसरी सखी ने ध्रुपद में गाया, उसका भी भगवान् ने बहुत सम्मान किया । एक दूसरी गोपी नृत्य करते-करते थक गई तो उसने श्यामसुन्दर के कन्धे को अपनी कोमल बाँह से कस कर पकड़ लिया । कोई मनमोहन का हाथ पकड़ कर अपने मोटे-मोटे वक्षःस्थलों पर रखती । कोई लेट कर उनका चरण अपनी छाती पर रखकर उसकी जलन



बुझाती, तो कोई उनके शीतल सुगन्धित चन्दन चर्चित बाहु को ही पकड़ कर चूमने लगती। एक गोपी नृत्य में निमग्न थी। नाचने के कारण उसके कानों के कुण्डल झूम रहे थे। मानों उन्हें भी आनन्द आ रहा हो। उसने श्रीकृष्ण के गालों से अपने गाल को सटा दिया। जब वह भगवान् का ओठ चूमने लगी तो उन्होंने उसके गुँह में अपना चबाया हुआ पान दे दिया।

इस प्रकार श्रीकृष्ण के साथ लड़ने आये कामदेव ने अपनी पत्नी रति के साथ सम्पूर्ण गोपियों के हृदय में तूफान भर दिया। नन्दनन्दन के साथ गान करती हुई वे विविध प्रकार से विहार करने लगीं। परीक्षित, जैसे नन्हा-सा शिशु, निर्विकारभाव से, अपनी परछाई के साथ खेलता है, वैसे ही रमारमण भगवान् श्रीकृष्ण कभी उन्हें अपनी छाती से सटा लेते, कभी उनके कामोद्दीपक अङ्गों पर हाथ फेरते, कभी प्रेमभरी तिरछी चितवन से उनके ऊपर कटाक्ष-पात करते तो कभी लीलापूर्वक उन्मुक्त हँसी हँसने लगते। इस प्रकार उन्होंने ब्रजसुन्दरियों के साथ क्रीडा की, विहार किया—

एवं परिष्वङ्गराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।

रमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथार्थकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥ १०/३३/१७

राजन, भगवान् के श्रीअङ्गों का संस्पर्श प्राप्त करके गोपियों की इन्द्रियाँ प्रेम और आनन्द से विह्वल हो गईं। उनके केश बिखर गये। फूलों के हार टूट गये और आभूषण अस्त-व्यस्त हो गये। वे अपने केश, वस्त्र और कञ्चुकी को भी पूर्णतया सभालने में असमर्थ हो गईं। उनके कुचकुम्भ भी उछल-उछल कर, मल्ल की भाँति, कृष्ण से टकराने लगे—

तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।

नाङ्गः प्रतिव्योदुमलं ब्रजस्त्रियो विस्त्रस्तमालाभरणाः कुरुद्वह ॥ १०/३३/१८

कृष्ण के विहार को देखकर आकाशचारिणी देवाङ्गनाएँ काम से पीडित होकर मुच्छित हो गईं। ताराधिपति चन्द्रमा भी अपने गणों के साथ विस्मित होकर ठहर गये। परीक्षित, यद्यपि भगवान् आत्माराम हैं—उन्हें अपने अतिरिक्त और किसी की भी आवश्यकता नहीं है—फिर भी उन्होंने जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही रूप धारण किये और खेल-खेल में उनके साथ लोक-विस्मयकारी विहार किया। अति विहार के कारण गोपियाँ श्रान्त हो गई थीं। उनके मुख-मण्डल पर पसीने की बूँदें उभर आई थीं। भगवान् ने उन्हें अपने सुखकारी हाथों से पोंछा, कामदेव गोपियों को माध्यम बनाकर श्रीकृष्ण से लड़ता रहा, उन्हें पछाड़ने का सबल प्रयास करता रहा किन्तु जब उसे सफलता न मिली तो वह स्वयं गोपी बन कर श्यामसुन्दर को पछाड़ने का प्रयत्न करने लगा।

स्थल-रास का श्रम दूर करने के लिये भगवान् ने गोपियों के साथ जल-विहार हेतु यमुना-जल में प्रवेश किया। वहाँ वे गोपियों के साथ वैसे ही क्रीडा करने लगे जैसे गजराज हथिनियों के साथ जल-क्रीडा किया करता है। हँस-हँस कर कटाक्षपात करती हुई गोपियाँ अञ्जलि में जल भर-भर कर भगवान् पर फेंकने लगीं। आकण्ठ जल में निमग्न गोपियाँ भगवान् के शरीर से लिपट कर विविध भाँति से सौरत-क्रीडा करने लगीं। इतना हाव-भाव, अङ्ग-स्पर्श और विलास-विहार होने पर भी काम भगवान् के मन में रञ्जमात्र भी विकार उत्पन्न करने में समर्थ न हो सका। उसका सारा अहङ्कार समाप्त हो गया फिर भी उसने अभी पराजय नहीं मानी थी। इन दृश्यों को देखकर देव-मण्डली आकाश से फूलों की वर्षा करने लगी।

जल-क्रीडा समाप्त कर श्यामसुन्दर वृन्दावन के अति सुगन्धित वातावरण में प्रविष्ट हुए। उस समय सभी ऋतुओं के विविध पुष्पों के विकास से सारा वृन्दावन सुवासित हो रहा था। नन्दन कानन भी उसके सामने तुच्छ था। वहाँ अगणित भवन बनें थे। उनमें विलास की सारी सामग्रियाँ भरी थीं। इन्द्र-भवन भी उनके सामने नगण्य था।



भगवान् नें पृथक्-पृथक् भवनों में एक-एक गोपी के साथ विलास के लिये प्रवेश किया। यह अन्तिम अवसर था अतः काम ने भगवान् को पराजित करने के लिये अपनी पूरी ताकत झोंक दी। फलतः गोपसुन्दरियाँ श्यामसुन्दर के शरीर से इस प्रकार लिपट गई कि वे उनसे एक क्षण भी अलग होने के लिये तैयार न थीं। काम स्वयं गोपी बनकर श्यामसुन्दर को पराजित करने की चेष्टा कर रहा था। वह डर रहा था कि कहीं रात्रि ही न बीत जाये और श्रीकृष्ण पराजित न हो सकें। उसकी इस चिन्ता को समझ कर भगवान् ने काल की गति रोक दी। चन्द्रमा अब भी आकाश के मध्य में अपनी पूरी कलाओं के साथ चमक रहे थे। काम इस तथ्य से अपरिचित रहा। भगवान् ने काम को पूरा-पूरा अवसर प्रदान करने के लिये शरद् ऋतु की उस एक ही रात्रि में अनेक रात्रियाँ पुञ्जीभूत कर दी थी। उस रात्रि में अनन्त ब्राह्मीरात्रियाँ समाहित थीं। इसीलिये 'सर्वाः निशाः' कहकर बहुवचन का प्रयोग किया गया है।<sup>१</sup> इस प्रकार चिरकाल तक पूरी सेना और शक्ति के साथ काम लड़ते-लड़ते थक गया, श्रान्त हो गया किन्तु श्रीकृष्ण को पराजित करने में जब समर्थ नहीं हुआ तो वह हार स्वीकार करते हुए भगवान् को 'मदन-मोहन' इस नाम से भी पुकारा जाने लगा। काम के लाख प्रयास के बाद भी भगवान् अपने स्वरूप से च्युत न हुए। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान् सत्यसङ्कल्प हैं। यह सब उनके चिन्मय सङ्कल्प की ही चिन्मयी लीला है। भगवान् ने इस लीला में कामभाव को, उसकी चेष्टाओं को तथा उसकी क्रियाओं को सर्वथा अपने अधीन कर रक्खा था, उन्हें अपने-आप में कैद कर रक्खा था—“सिषेव आत्मन्यवरुद्ध-सौरतः” ॥२६॥ भागवत के महान् व्याख्याकार श्रीधर महाराज इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—‘सौरतश्चरमधातुः। आत्मन्येव अवरुद्धः सौरतो न तु स्वखलितो यस्येति कामजयोक्तिः’। वंशीधरमहाराज का कथन है कि—‘सौरतो वीर्यं निरुद्ध्य सुखं करोतीत्यर्थः। अयमेव कामजयः’।

इस लीला के श्रवण के अनन्तर राजा परीक्षित के मन में कुछ शङ्का उत्पन्न हुई अतः उन्होंने पूछा—भगवन्, भगवान् का अवतार धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश के लिये हुआ था। वे धर्म-मर्यादा के ज्ञाता, उपदेष्टा और रक्षक थे। परस्त्री का स्पर्श भी धर्म-वर्जित है। ऐसी अवस्था में उन्होंने रासलीला में पराई स्त्री का आलिङ्गन, चुम्बन और मर्दन कैसे किया। मैं मानता हूँ, कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णकाम थे, उन्हें किसी भी वस्तु की कामना न थी, फिर भी उन्होंने किस अभिप्राय से यह गर्हणीय कर्म किया? आप मेरे इस सन्देह को मिटाइये।

शुकदेव महाराज ने कहा—राजन्, समर्थ, तेजस्वी व्यक्ति कभी-कभी ऐसा साहसपूर्ण कार्य करते हुए देखे जाते हैं, जो धर्म के विपरीत है फिर भी उन्हें दोष नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिये कहा जा सकता है कि—सर्वत्र की गन्दगी अपने में समेटने पर गङ्गा गन्दी नहीं होती। अपनी किरणों से स्पृश्य अस्पृश्य सब को छूने पर भी सूर्य अपवित्र नहीं होते और गाय, ब्राह्मण तथा बालक आदि का शरीर जलाने पर भी अग्नि को गो-हत्या, ब्रह्म-हत्या आदि पाप नहीं लगता<sup>२</sup>। किन्तु जिन लोगों में ऐसा सामर्थ्य नहीं है, उन्हें उनकी नकल करते हुए इस प्रकार का कार्य नहीं करना चाहिये। यदि मूर्खतावश ऐसा कार्य कर बैठें तो उनका नाश ही हो जाता है। भगवान् शङ्कर ने हलाहल विष पी लिया था, उसे कण्ठ में ही धारण भी किया था किन्तु इतने उत्प्लवण विष की एक बूँद भी यदि कोई पी ले तो उसकी मृत्यु ही हो जायेगी—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥

१०/३३/३१

१. देखिये—१०/३३/२६।

२. समर्थ के नहीं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाई। रामचरितमानस॥



अतः इस प्रकार की जो महान् शक्तियाँ हैं, अभूतपूर्व विभूतियाँ हैं, उनके वचन को ही, सत्य मानना और अपने-अपने अधिकार के अनुसार उसी के अनुसार आचरण करना चाहिये। उनके आचरण का अनुकरण तो कहीं-कहीं ही किया जा सकता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि उनका जो आचरण उनके उपदेश के अनुकूल हो, उसी को अपने जीवन में उतारें—

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् । तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ॥

१०/३३/३२

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि—जो व्यक्ति देहाभिमान, इन्द्रियाभिमान आदि से रहित हैं, उनके कर्म पाप-पुण्य रूप फल नहीं प्रदान करते। वे भूने हुए धान की भाँति अङ्कुर पैदा करने में समर्थ नहीं होते। उनके लौकिक कर्म प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति भर के लिये हुआ करते हैं। जिनके चरण-पङ्कज-पराग की सेवा से सन्तुष्ट ज्ञानी मुनिजन त्रिलोकी में निर्भय होकर विचरण करते हैं। फिर वही महापुरुष जब प्रकट हुआ है, तो उसके पाप-पुण्य, बन्धन और मोक्ष का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है—

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता

योगप्रभावविद्युताखिलकर्मबन्धाः ।

स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥१०/३३/३५

जो सब के हृदय में अध्यक्ष हैं, गोपियों और उनके पतियों के और चराचर शरीर-धारियों के अन्तःकरणों में जो आत्मारूप से विराजमान हैं, जो सब के साक्षी और परमपति हैं, वही तो प्रकट होकर यह लीला कर रहे हैं फिर उनके लिये पुण्य-पाप की आशङ्का कैसी ? भगवान् प्राणियों पर कृपा करने के लिये ही विग्रह धारण करते हैं और ऐसी लीलाएँ किया करते हैं, जिनसे संसार के विषयी व्यक्ति भी उनकी ओर आकृष्ट हो सकें। यह भगवान् की माया का ही कार्य था कि गोपियों के पति यही समझ रहे थे कि उनकी पत्नियाँ उन्हीं के पास हैं, उन्हीं के घर में हैं। यही कारण है कि उन लोगों ने कभी भी कृष्ण के स्वरूप में दोष-बुद्धि नहीं की।

ब्रह्मा की रात्रि<sup>१</sup> के बराबर वह रात्रि व्यतीत हो गई। ब्राह्ममुहूर्त आया। यद्यपि गोपियों की इच्छा अपने घर लौटने की नहीं थी। वे अपनी प्रत्येक चेष्टा से, प्रत्येक सङ्कल्प से केवल भगवान् को ही प्रसन्न करना चाहती थीं अतः उनकी जाने की इच्छा नहीं थी। फिर भी भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा से वे अपने-अपने घर चली गईं।

राजन, जो धीर पुरुष ब्रजयुवतियों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के इस चिन्मय रास-विलास का श्रद्धा के साथ बार-बार श्रवण और वर्णन करता है, उसे भगवान् के चरणों में पराभक्ति की प्राप्ति होती है और वह बहुत ही शीघ्र हृदय के रोग—कामविकार से, हार्ट अटैक से, मुक्ति प्राप्त कर लेता है। उसका काम-भाव सर्वदा के लिये समाप्त हो जाता है।

हृदय-रसस्वरूप भगवान् की अलौकिक लीला ही रास है। यह रासलीला गोलोक धाम में नित्य-निरन्तर चलती रहती है। कभी-कभी भगवान् के साथ ही यह लीला भी भू-मण्डल पर अवतरित होती है<sup>२</sup>। भगवान् और उनकी लीला—दोनों ही अप्रकृत हैं, प्रकृति से परे हैं, ऊपर हैं अतः उनके विषय में तर्क-कुतर्क नहीं करना चाहिये—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् । प्रकृतिभ्यः परं यन्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

भागवत के महान् व्याख्याकार विश्वनाथ चक्रवर्ती का मानना है कि—अचिन्त्य तत्त्वों के विषय में तर्कानुसन्धान करनेवाले प्राणी पाप के भागीदार बनते हैं। यहाँ निम्न लिखित बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है—

१. ब्रह्मा की एक रात्रि में चतुर्युगी एक सहस्र बार व्यतीत होती है।

२. जहाँ राम तहाँ अवध निवासू। जहाँ दिवस तहाँ भानु प्रकासू। रामचरितमानस॥



- (१) मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने जो कुछ किया और कहा—वह सब अनुकरणीय है ।
- (२) पुष्टिपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने जो कुछ किया और कहा—वह सब मननीय है, चिन्तनीय है, ध्येय है और कोई-कोई ही अनुकरणीय है । यदि कोई भगवान् की रासलीला का अनुकरण करने का प्रयास करे तो उसे कालिय नाग के फणों पर नृत्य भी करना चाहिये और गोवर्धन पर्वत भी उठाना चाहिये । वनाग्नि का पान भी करना चाहिये । क्या कोई संसारी प्राणी इन अद्भुत कृत्यों को करने की कल्पना कर सकता है ? यदि नहीं तो उसे न तो रासलीला की अनुकृति का प्रयास करना चाहिये और न उस पर कुछ आक्षेप करने का ही अधिकार होना चाहिये ।
- (३) सबसे अहम् बात यह है कि जब ब्रह्मा ने ग्वाल-बालों का और उनके बछड़ों का अपहरण कर लिया था, उस समय श्रीकृष्ण ने ही सारे ग्वाल बालों का रूप धारण किया था । वे पूरे एक वर्ष तक उन रूपों में भी विराजमान रहे । इस रहस्य को यादवों के पुरोहित शाण्डिल्य ऋषि जानते थे अतः उन्होंने सारे ब्रजवासियों को बुलाकर कहा कि—इस वर्ष विवाह का सर्वोत्तम मुहूर्त आया है अतः सारे ब्रजवासी अपनी-अपनी बेटियों का विवाह ग्वालबालों से कर दें । उनकी सलाह-स्वीकार कर सारे गोपों ने अपनी बेटियों का विवाह ग्वालबालों से कर दिया । एक वर्ष के बाद ब्रह्मा के द्वारा ग्वालबालों के लौटा देने पर भगवान् ने अपना रूप समेट लिया । पहले वाले ग्वालबाल सही सलामत अपनी जगह पर आ गये । परन्तु गोपस्त्रियाँ तो वही थीं, जिनका विवाह ग्वालबालरूपधारी श्रीकृष्ण के साथ हुआ था । अब आज भगवान् के रास में वे ही गोपियाँ सम्मिलित हैं, जिनका वस्तुतः विवाह श्रीकृष्ण के साथ हुआ था । ऐसी स्थिति में आप ही बतलाइये कि रासलीला की बेला में श्रीकृष्ण को परस्त्रीस्पर्श का दोष कैसे लगाया जा सकता है ?
- (४) रासलीला के समय श्रीकृष्ण केवल नव वर्ष के ही थे अतः उनमें काम का प्रभाव प्रदर्शित करना युक्ति-युक्त न होगा इसीलिये पीछे कहा गया है कि श्रीकृष्ण गोपियों से वैसे ही विहार कर रहे हैं, जैसे बालक अपनी परछाई से खेलता है ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह तैत्तिरीयौ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

## चौत्तीसवाँ अध्याय

### ( शङ्खचूड एवं सुदर्शन का उद्धार )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, शिवरात्रि का अवसर था । अतः नन्द बाबा आदि सारे गोप-गण बैलगाड़ियों पर सवार होकर अम्बिकावन के लिये प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान किये । वहाँ पहुँच कर उन लोगों ने सरस्वती नदी में स्नान किया फिर नाना प्रकार की सामग्रियों से भक्तिपूर्वक भगवान् शङ्कर एवं जगदम्बा दुर्गा की पूजा आराधना की—

तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं विभुम् । आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम् ॥

१०/३४/२

वहाँ उन्होंने देवाधिदेव भगवान् शङ्कर की प्रसन्नता के लिये ब्राह्मणों को सादर मधुर भोजन करा कर उन्हें गाये, सुवर्ण और वस्त्र आदि प्रदान किया । सारे गोप शिवरात्रि का व्रत कर रहे थे अतः वे लोग जल पीकर रात्रि की बेला में सरस्वती नदी के तट पर ही निःशङ्क सो गये । वहाँ एक विशालकाय अजगर निवास करता था । उस दिन वह



भूखा भी बहुत था। दैवात् वह उधर ही आ निकला और सोये हुए बाबानन्द को पकड़कर उन्हें निगलना शुरू किया। नन्द चिल्लाने लगे—बेटा, कन्हैया मैं तुम्हारी शरण में हूँ, मुझे अजगर निगल रहा है अतः बचाओ, बचाओ। यह सुनकर गोप-गण दौड़ पड़े और जलती लकड़ियों से उस पर प्रहार करने लगे किन्तु इसका प्रभाव अजगर पर कुछ भी न हुआ उसने नन्द को नहीं छोड़ा। इसी समय भक्त-भय-हारी भगवान् श्रीकृष्ण ने वहाँ पहुँचकर अपने चरणों से उस अजगर को छू दिया, भगवान् के चरण का स्पर्श पाते ही उसने अजगर के शरीर को छोड़कर दिव्य विद्याधर शरीर को धारण कर लिया—

तमस्पृशत् पदाभ्येत्य भगवान् सात्त्वतां पतिः ॥ स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः ।

भजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥ १०/३४/८-९

विद्याधर के दिव्य रूप को धारण कर उसने हाथ जोड़ कर सादर भगवान् को प्रणाम किया। भगवान् ने उससे पूछा—आप कौन हैं ? आप को यह निन्दनीय सर्प-योनि कैसे प्राप्त हुई ? यद्यपि भगवान् को सब कुछ विदित था फिर भी संसार को सुनवाने के लिये उन्होंने इस प्रकार का प्रश्न किया।

भगवान् के प्रश्न को सुनकर अजगर के शरीर से निर्गत पुरुष ने कहा—प्रभो, मैं पहले एक विद्याधर था मेरा नाम था—सुदर्शन। मैं विमान पर आरूढ़ होकर चतुर्दिक् विचरण किया करता था। एक दिन मैंने अङ्गिरा गोत्र के कुरूप ऋषियों को देखा। अपने सौन्दर्य के अभिमान में चूर मैंने उनकी हँसी उड़ाई। मेरे इस अपराध पर कुपित होकर उन लोगों ने मुझे अजगर-योनि में जाने का शाप दे दिया। यह मेरे पापों का ही फल था किन्तु स्वामिन, यह उनका शाप नहीं, मेरे ऊपर अनुग्रह था। उसी के फलस्वरूप अति दुर्लभ आप के चरण के स्पर्श का सौभाग्य आज मुझे मिला। आप सारे लोकों के स्वामी हैं। अब मुझे जाने की आज्ञा दीजिये। अच्युत, आपके दर्शनमात्र से ही मैं ब्राह्मणों के शाप से मुक्त हो गया। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि जो पुरुष आप के नामों का उच्चारण करता है, वह अपने-आप को और समाज के श्रोताओं को भी तत्काल पावन बना देता है फिर मुझे तो आपने स्वयं अपने चरण-कमलों से स्पर्श किया है—

यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतृनात्मानमेव च । सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते ॥

१०/३४/१७

यह कह कर वह भगवान् को प्रणाम कर स्वर्ग चला गया। इस दृश्य को देखकर सभी गोप आश्चर्य से चकित हो गये। नन्दका प्राण-सङ्कट समाप्त हुआ। सभी ब्रजवासी प्रसन्नतापूर्वक कृष्ण का गुण-गान करते हुए ब्रज को लौट गये।

### शङ्खचूड का उद्धार

वसन्त ऋतु की चाँदनी रात थी। दुग्ध-धवल चन्द्रिका चतुर्दिक् छिटक रही थी। भगवान् श्रीकृष्ण और महान् बलशाली बलराम वन में अपने-अपने दल की गोपियों के साथ विहार कर रहे थे। नृत्य करते हुए वे सुमधुर शब्दों में गाना भी गा रहे थे। उस समय वृन्दावन में नृत्य और गीत की गङ्गा बह रही थी। उसी समय कुबेर का एक अनुचर वहाँ आ पहुँचा। उसका नाम था—शङ्खचूड। परीक्षित, दोनों भाइयों के देखते-देखते वह कुछ गोपियों को पकड़ कर उत्तर दिशा की ओर भाग चला। कृष्ण और बलराम ने इसे देखा। गोपियाँ कृष्ण और बलराम का नाम ले-ले कर बचाने के लिये चिल्ला रही थीं। अपनी गोपियों की चिल्लाहट सुन कर दोनों भाई—डरो मत, डरो-मत, ऐसा कहकर विशाल शाल वृक्षों को उखाड़ कर बड़े वेग से उसके पीछे दौड़े। कृष्ण और बलराम को अपनी ओर आता देखकर शङ्खचूड गोपियों को छोड़ कर अपना प्राण बचाने के लिये दूसरी ओर भाग चला। श्रीकृष्ण ने स्त्रियों की रक्षा के लिये



बलराम को छोड़कर उसका पीछा किया। कुछ ही दूर जाने पर भगवान् ने उसे पकड़ लिया और उस दुष्ट के शिर पर कस कर एक घूँसा जमाया जिससे उसका शिर टूट कर अलग जा गिरा। भगवान् ने उसके शिर की मणि लाकर गोपियों के सामने ही बड़े भाई बलराम को प्रदान कर दी।

### शङ्खचूड का पूर्वजन्म

शङ्खचूड गोलोक में भगवान् श्रीकृष्ण का श्रीदामा नामका गोप था। एक समय लीला-विकास के लिये भगवान् विरजा नामक गोपी के साथ विहार कर रहे थे। राधा को यह सह्य नहीं हुआ। वे कोप कर बैठीं। भगवान् ने अनुनय-विनय कर किसी-किसी तरह राधा को मनाने का प्रयास किया। वे प्रसन्न हो ही रही थीं—कि श्रीदामा ने कुछ कह दिया। इस पर कुपित होकर राधा ने उसे शाप दिया—दुष्ट बुद्धिवाले व्यक्ति, तू गो-लोक से चला जा और राक्षस बन जा। राधा के इसी शाप के कारण श्रीदामा अलकापुरी में सुधन की पत्नी से पैदा होकर कुबेर का अनुचर बना। (गर्गसंहिता, वृ०ख०, २/४३॥)

हृदय—किन्तु गर्ग-संहिता की यह भ्रान्ति है। इसका कारण है 'शङ्खचूड'—यह नाम-साम्य। राधा के शाप से श्रीदामा जो शङ्खचूड दानव के रूप में जन्मा था वह तुलसी का, वृन्दा का पति था और उसकी पुराणों में अलग ही विस्तृत कथा वर्णित है। शङ्खचूड का वध शङ्कर के त्रिशूल से हुआ था। उस कथा में तुलसी को अङ्गीकार किया था भगवान् श्रीविष्णु ने।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३४ ॥

## पैंतीसवा अध्याय

### ( युगल-गीत )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण दिन में गायों को चराने वृन्दावन में चले जाते थे। उनके वियोग में गोपियों का दिन बड़े कष्ट से व्यतीत होता था। उनका चित्त श्रीकृष्ण में ही लगा रहता था। वे स्वागता छन्द से उनकी लीलाओं का गान करती रहती थीं। वे आपस में कहा करती थीं—

अरी सखी, श्यामसुन्दर नटनागर जब अपने बायें कपोल को बायें कन्धे की ओर लटका कर भौंहें नचाते हुए अधरोष्ठ पर रखी हुई वंशी के छिद्रों पर अपनी सुकुमार अँगुलियों को फेर कर मधुर तान छेड़ते हैं, उस समय अपने पतियों के साथ विमान पर बैठी हुई देवाङ्गनाएँ आश्चर्य से चकित होकर उसे तन्मय हो सुनने लगती हैं। पहले तो वे अपने पतियों के साथ रहने के कारण चित्त की यह दशा देखकर लज्जित-सी हो जाती हैं। उस समय उन्हें यह पता भी नहीं रहता कि उनके अङ्गों से वस्त्र खिसक गये हैं और उनकी नीवी भी खुल गई है—

वामबाहुकृतवामकपोलो

वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।

कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं

गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥

व्योमयानवनिताः

सहसिद्धैर्विस्मितास्तदुपधायं

सलज्जाः ।

काममार्गणसमर्पितचिताः

कश्मलं

ययुरपस्मृतनीव्यः ॥ १०/३५/२-३

देवाङ्गनाओं की ही क्या कहें, जब वे वंशी की तान छेड़ते हैं तब ब्रज के झुण्ड-के-झुण्ड बैल, गायें और हरिण



उनके पास दौड़कर चले आते हैं, उन्हें अपलक निरखने लगते हैं। दाँतों से चबाया हुआ घास का ग्रास उनके मुँह में ज्यों-का-त्यों पड़ा रह जाता है, वे उसे न निगल पाते और न उगल ही पाते हैं। वे दोनों कानों को खड़े किये हुए इस प्रकार निश्चेष्ट होकर खड़े रह जाते हैं, मानो सो गये हों अथवा भीत पर लिखे हुए चित्र हों—

दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥ १०/३५/५

उस समय नदियों का बहना बन्द हो जाता है। वन के लता-वृक्ष रोमाञ्चित हो उठते हैं। तरुओं से मधु-धार प्रवाहित होने लगती है। अरी सखि, भगवान् का तिलक तो देखो, वह कितना मनोहर है। वे अपनी दोनों भौहों के मध्य में ललाट पर केसर की ऐसी लाइन खींचते हैं, जो देखते ही बनती है। दर्शनीय तिलक का अर्थ 'दर्शनीयः तिलको यस्य' तो है ही, कोई-कोई कहते हैं कि इसका अर्थ 'दर्शनीयानां तिलकः' भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में जितने भी दर्शनीय पदार्थ हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ही हैं। वे वनमाला धारण किये हुए हैं, इसलिये उसकी सुगन्ध चतुर्दिक् उड़ रही है। तुलसी की गन्ध से मतवाले होकर भ्रमर कन्हैया के पीछे-पीछे गुञ्जार करते हुए भ्रमण कर रहे हैं—

दर्शनीयतिलको

वनमालादिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।

अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन्

यर्हि

सन्धितवेणुः ॥ १०/३५/१०

देखो, देखो; मेघ-माला भी भगवान् के ऊपर जल-बिन्दुरूपी पुष्पों की वर्षा कर स्निग्ध छाया का विस्तार कर रही है। इन्द्र आदि देवता भी वेणु-रव के रहस्य को न समझ कर आश्चर्य से चकित हो जाते हैं। जिस समय श्यामसुन्दर सखा के कन्धे पर हाथ रखकर बाँसुरी बजाते हैं, उस समय कृष्ण-मृग की पत्नियाँ हरिणियाँ भी अपना सब कुछ विस्मृत कर उनके पीछे-पीछे चलने लगती हैं। सायङ्कालकी बेला में जब हमारे प्राणाधार कन्हैया गायों के पीछे-पीछे घर को लौटने लगते हैं, तब ब्रह्मा शङ्कर आदि देव-गण मार्ग में रोक कर उनकी स्तुति करने लगते हैं। उस समय बड़ी कठिनाई से, गायों के चरणों से उठी हुई धूलि से धूसरित अलकों से आच्छन्न उनके मुख-चन्द्र का दुर्लभ दर्शन हमें मिल पाता है। कन्हैया का मुखचन्द्र देखकर हमारा दिन भर का सारा सन्ताप समाप्त हो जाता है।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं—राजन, इस प्रकार गोपियों का मन दिन भर कृष्ण में ही लगा रहता था। वे श्रीकृष्णमय हो गई थीं। प्रेम के प्रताप से ब्रज की लीलाओं का गान करती हुई उन्हीं में रम जाती थीं। इस प्रकार उनके दिन व्यतीत हो जाते थे ॥२५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३५॥

## छत्तीसवाँ अध्याय

( अरिष्टासुर का उद्धार और कंस का अक्रूरजी को ब्रज जाने का आदेश देना )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित एक दिन की घटना है। सायंकाल की बेला थी। कृष्ण के दर्शन की प्रतीक्षा में सारा ब्रज-मण्डल उत्सव मना रहा था। उसी समय अरिष्ट नाम का एक असुर विशाल साँड़ का रूप धारण कर ब्रज में पहुँचा। उसकी डील बड़ी विशाल थी। उसका शरीर छोटे-मोटे पहाड़ जैसा था। उसके खुर्चों के रखने से धरती काँपती हुई-सी प्रतीत हो रही थी। वह बड़े जोर से गर्जन कर रहा था। उसकी पूँछ खड़ी थी। सींगों से मिट्टी उछाल-उछाल कर फेंक रहा था—



अथ तर्ह्यगतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः । महीं महाककुत्थायः कम्पयन् खुरविक्षताम् ॥  
रम्भमाणः खरंतरं पदां च विलिखन् महीम् । उद्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्नेण चोद्धरन् ॥

१०/३६/१-२

वह रह-रह कर मृतता और गोबर छोड़ता जाता था । आँखें फाड़-फाड़ कर इधर-उधर दौड़ रहा था । उसके जोर-जोर से हँकारने से भयवश गावों और स्त्रियों के गर्भ-गिर जा रहे थे । मेघ भी पर्वत की शङ्का से उसकी विशाल डील कर आकर बैठ जाते थे । उसकी अति तीखी सींगों को देखकर सारे ब्रजवासी भयभीत हो काँपने लगे । राजन्, पशु तो ब्रज छोड़कर भाग खड़े हुए । उस समय सभी ब्रजवासी श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण हमें इस भय से बचाओ-बचाओ— ऐसा कहते हुए उनकी शरण में आये । भगवान् ने सब को आश्वस्त किया और ललकारते हुए कहा—अरे दुष्ट, तू इन निर्दोष व्यक्तियों को क्यों डरा रहा है । देख, तुझ जैसे दुरात्मा दुष्टों के बल का धमण्ड चूर-चूर करनेवाला मैं यह हूँ । यह कह कर भगवान् ने जोर से ताल ठोंकी और अपने एक सखा के कन्धे पर हाथ रखकर खड़े हो गये । सांड ने क्रोधभरी तिरछी आँखों से कन्हैया को देखकर उनकी ओर झपटा । कन्हैया ने बड़ी फुर्ती से उसकी दोनों सींगों को पकड़ लिया और उसे ढकेलते हुए १८ पग पीछे ले गये । वह धड़ाम से भूतल पर गिर पड़ा । पसीने से लथपथ होकर वह काँपने लगा फिर क्रोध में भर कर वह भगवान् पर प्रहार करने के लिये उनपर झपटा । भगवान् ने उसकी दोनों सींगों को पकड़कर पृथिवी पर पटक दिया और एक पैर से दबा कर गीले कपड़े की भाँति उसे निचोड़ डाला फिर उसकी एक सींग उखाड़ ली और उसी से उसे पीट-पीट कर मार डाला—

तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले ।

निष्पीडयामास यथाऽऽर्द्रमम्बरं कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् ॥१०/३६/१३

उस समय उसके मुख से रक्त का प्रवाह बह रहा था । रह-रह कर गोबर और मृत बाहर निकल रहे थे । पैर पटक रहा था और उसकी आँखें बाहर निकल आई थीं । उसने बड़े कष्ट के साथ अपने प्राणों का परित्याग किया । देव-मण्डली भगवान् के ऊपर फूलों की वर्षा करती हुई स्तुति करने लगी । इस प्रकार अरिष्टासुर का वध कर भगवान् अपने साथी ग्वाल-बालों के साथ ब्रज में प्रवेश किये । उस समय उन को देखकर गोपियों की आँखें खिल उठीं ।

अरिष्टासुर के मारे जाने के बाद एक दिन देवर्षि नारद मथुरा में कंस के पास पहुँचे । उन्होंने उससे कहा—कंस, जो कन्या तुम्हारे हाथ से छूट कर आकाश में चली गई, वह तो यशोदा की पुत्री थी और ब्रज में जो श्रीकृष्ण हैं, वे देवकी के पुत्र हैं । वहाँ जो बलराम जी हैं, वे रोहिणी के सुत हैं । वसुदेव जी ने तुम से डर कर अपने मित्रनन्द के पास उन दोनों को रख दिया है । उन्होंने ही तुम्हारे अनुचर दैत्यों का वध किया है । नारद जी की बात सुन कर कंस का शरीर क्रोध से भभक उठा । उसने हाथ में तलवार ली और वसुदेव को मारने दौड़ा । नारद जी ने उसे समझाते हुए कहा कि—कंस ऐसा मत करो, अन्यथा यह सुनते ही कृष्ण और बलराम कहीं अज्ञात स्थान में भाग जायेंगे । कंस ने नारद जी की बात मान ली । तलवार म्यान में रख ली किन्तु उसने देवकी के साथ वसुदेव को हथकड़ी और बेणी से जकड़कर पुनः जेल में डाल दिया फिर उसने कृष्ण और बलराम को मथुरा में बुला कर मरवा डालने की योजना बनानी प्रारम्भ की ।

अपना काम कर नारद जी के चले जाने पर कंस ने केशी को बुलाकर कहा—तुम ब्रज में जाकर बलराम और कृष्ण को मार डालो । आदेश मिलते ही वह अपना कार्य करने के लिये चला गया । इसके बाद कंस ने मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशल आदि पहलवानों, मन्त्रियों और महावतों को बुलाकर कहा—अरे वीरों, वसुदेव के दो पुत्र बलराम और कृष्ण नन्द के ब्रज में निवास करते हैं । उन्हीं के हाथों से मेरी मृत्यु का विधान है अतः जब वे यहाँ आवें तो कुशती



लड़ने-लड़ाने के बहाने तुम लोग उन्हें मार डालना । मञ्च का निर्माण करवाओं और उसके चतुर्दिक् लोगों के बैठने का प्रबन्ध करो, जिससे सभी इस स्वच्छन्द दङ्गल को देख सकें । महावत की ओर सङ्केत करते हुए कंस ने कहा— देखो भाई, तुम दंगल के घेरे के फाटक पर ही कुवलयापीड हाथी को रखना और जब मेरे शत्रु उधर से निकलें, तब उसी के द्वारा उन्हें मरवा डालना । इसी चतुर्दशी को विधिपूर्वक धनुष-यज्ञ प्रारम्भ कर दो और उसकी सफलता के लिये वरदानी भूतनाथ भैरव को बहुत से पवित्र पशुओं की बलि अर्पित करो—

आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि । विशसन्तु पशून् मेध्यान् भूतराजाय मीढुषे ॥

१०/३६/२६

परीक्षित, कंस तो केवल स्वार्थ-साधन का सिद्धान्त जानता था इसलिये उसने मन्त्री, मल्ल और महावत को इस प्रकार आज्ञा देकर श्रेष्ठ यदुवंशी अक्रूर जी को बुलवाया और उनका हाथ अपने हाथ में लेकर बोला—अक्रूर जी, आप तो दानपति हैं । इसका अभिप्राय यह है कि जब हम निष्कण्टक राज्य प्राप्त कर लेंगे तो आप ही दानाध्यक्ष की गद्दी पर विराजमान होंगे । आप हमारे साथ मित्रता का व्यवहार करें । आप से बढ़कर हमारा कोई दूसरा हितैषी नहीं है । जैसे इन्द्र विष्णु का आश्रय लेते हैं वैसे ही मैंने आप का आश्रय ले रक्खा है । आप नन्द के व्रज में जाइये । वहाँ वसुदेव के दोनों पुत्र रहते हैं । उन्हें मेरे इसी रथ पर बैठाकर ले आइये । इस कार्य में विलम्ब नहीं होना चाहिये । सुनते हैं देवताओं ने उन दोनों को मेरी मृत्यु का कारण निश्चित किया है अतः उनको तो लाइये ही, नन्द आदि गोपों को भी बड़ी-बड़ी भेंटों के साथ ले आइये । यहाँ आने पर मैं उन्हें काल के समान अपने हाथी से मरवा डालूँगा । यदि कदाचित् वे उससे बच गये तो बिजली के समान फुर्तीले अपने मल्लों से मरवा डालूँगा । उनके मार दिये जाने पर उनके जो भी पक्षधर हैं, उनका भी सफाया करवा दूँगा । मेरा पिता उग्रसेन यद्यपि वृद्ध हो गया है, फिर भी उसकी राज्य-लिप्सा बनी हुई है । उसे तथा उसके भाई देवक आदि को तलवार के घाट उतार दूँगा फिर तो सारी पृथिवी मेरे लिये निष्कण्टक बन जायेगी । जरासन्ध आदि बड़े-बड़े राजा हमारे मित्र हैं फिर कैसी चिन्ता ? आप शीघ्र जाकर राम-कृष्ण को यहाँ लाइये । अभी तो वे बालक ही हैं । उनको मार डालने में क्या लगता है ? उनसे बस इतना ही कहियेगा कि महाराज कंस ने आप लोगों को धनुषयज्ञ और मथुरा की शोभा देखने के लिये बुलाया है—

एतज्ज्ञात्वाऽऽनय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्षकौ । धनुर्मखनिरीक्षार्थं ब्रह्मं यदुपुराग्रियम् ॥१०/३६/३७

कंस की बात सुन कर अक्रूर जी ने कहा—राजन्, आप का सङ्कल्प तो ठीक ही है । सम्भव है, इससे आप की मृत्यु टल जाय किन्तु सफलता और असफलता के विषय में समभाव से कार्य करना चाहिये । फल तो दैव के अधीन है फिर भी मैं आप की आज्ञा का पालन करता हूँ ।

श्रीशुकदेव महाराज कहते हैं कि—राजन्, कंस मन्त्रियों और अक्रूर जी को इस प्रकार की आज्ञा देकर अपने महल में चला गया और अक्रूर भी अपने घर लौट आये ॥४०॥

### अरिष्टासुर का पूर्वजन्म

अरिष्टासुर अपने पूर्व जन्म में वृहस्पति का शिष्य था । इसका नाम था—वरतन्तु । एक दिन यह अपने गुरु के पास पढ़ने गया और पैर फैला कर उनके सामने बैठ गया । इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने शाप दिया—दुष्ट, तू वृषभ की तरह पैर फैला कर बैठता है अतः जा बैल होगा । उसी के फलस्वरूप यह वृषभ हुआ ।—१० सं०, म० खण्ड, अध्याय २४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥



## सैंतीसवाँ अध्याय

( केशी और व्योमासुर का उद्धार तथा नारद द्वारा भगवान् की स्तुति )

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, कंस के द्वारा प्रेषित केशी घोड़े का विशालरूप धारण कर दौड़ता हुआ नन्द के ब्रज में आया। वह अपनी टापों से धरती खोदता आ रहा था। उसके गर्दन के उठे हुए बालों से टकराकर मेघ-मालाएँ और विमानावलियाँ तितर-वितर हो रही थीं। उसकी हिनहिनाहट इतनी भयानक थी कि उसे सुनकर सभी थर रहे थे—

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं, महाहयो निर्जरयन् मनोजवः ।

सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं, कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखिलः ॥१०/३७/१

कंस का हित-साधन करने के लिये वह कृष्ण को खोज ही रहा था कि भगवान् ने आगे बढ़कर उसे ललकारा। इस पर उसने उनके ऊपर अपने पीछे के पैरों से दुलत्ती चलाई। भगवान् ने अवज्ञापूर्वक उसके पैरों को पकड़ कर सौ धनुष (अर्थात् चार सौ हाथ) की दूरी पर उसे फेंक दिया। जब उसे होश हुआ तो उसने पुनः उन पर आक्रमण कर दिया। इस बार भगवान् ने मुष्काते हुए अपना हाथ ही उसके मुँह में घुसेड़ दिया। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कोई सर्प बिल में घुस गया हो। भगवान् का हाथ केशी को गरम-गरम लोहे के समान लगा और वह उसके मुँह में वैसे ही बढ़ता गया, जैसे कोई रोग उपेक्षा करने पर बढ़ जाता है। उसके सारे दाँत खटाखट टूट गये और प्राणवायु रुक गयी। वह बेचैन होकर अपने पाँव पटकने लगा। उसका सारा शरीर पसीने से तर-बतर हो गया। उसकी आँखें उलट गईं। लीद भी निकल आई। भूतल पर गिर कर उसने अपने प्राणों का परित्याग कर दिया—

समेधमानेन स कृष्णबाहुना, निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् ।

प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः, पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः ॥१०/३७/८

उसका सारा शरीर पकी फटी ककड़ी के समान हो गया था फिर तो भगवान् ने अपनी भुजा उसके मुँह में से निकाल ली। इस प्रकार भगवान् ने बिना विशेष प्रयास के ही उसे मार डाला। इस दृश्य को देखकर प्रसन्न हुई देव-मण्डली ने भगवान् पर पुष्पों की वर्षा कर उनकी स्तुति करने लगी।

परीक्षित्, देवर्षि नारद जी भगवान् के परम प्रेमी और समस्त जीवों के सच्चे हितकर्ता हैं। कंस के पास से लौटकर वे कृष्ण के पास में आये और एकान्त में उनसे कहने लगे—प्रभो, आप का स्वरूप मन और वाणी का विषय नहीं है। आप योगेश्वर और सकल जगत् के नियन्ता हैं। सारे जगत् में आप का निवास है और सारा जगत् आपके हृदय में निवास करता है। केशी का वध कर आपने संसार का महान् कल्याण किया है। इसके भय से देवता-गण भी भयभीत रहा करते थे। अब तो समय आ गया है—परसों सारा संसार चाणूर, मुष्टिक, कुवलयपीड हाथी और कंस को मारा हुआ देखेगा। उसके बाद शङ्खासुर, कालयवन, मुर और नरकासुर का वध देखूँगा। इसके बाद भविष्य में पारिजातहरण आदि आप की विविध लीलाओं को देखने का अवसर उपस्थित होगा। आप साक्षात् चिद्धन हैं, ज्ञान स्वरूप और माया से परे हैं। मैं आपको बार-बार सादर प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार सारी भावी घटनाओं का वर्णन कर प्रसन्नमन नारद जी भगवान् से आज्ञा लेकर ब्रह्मलोक चले गये—

एवं यदुपतिं कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः । प्रणिपत्याभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः ॥१०/३७/२५

व्योमासुर का वध

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण सारे ग्वालबालों के साथ गोवर्धन की तलहटी में लुका-छिपी का खेल (निलायन



क्रीडा) खेल रहे थे। कोई भेंड़ बने थे, कोई रक्षक बने थे और कोई राजा बना था। रक्षक चोर को पकड़ कर लाते थे और राजा उसे दण्ड देता था।

इसी बीच में भगवान् के सखा ग्वाल-बालों का वेश धारण करके महामायावी मय दानव का पुत्र—व्योमासुर वहाँ आया—और बालको के झुण्ड में मिल गया। खेल में वह प्रायः चोर ही बनता था तथा भेंड़ बने बहुत-से बालकों को चुरा कर छिपा आता था—

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक् । मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून् ॥१०/३७/२९  
वह महान् असुर बार-बार उन्हें ले जाकर एक पहाड़ की गुफा में डाल देता और उसका दरवाजा एक बड़ी चट्टान से ढक देता। इस प्रकार ग्वाल बालों में चार-पाँच बालक ही बच रहे। भगवान् से यह बात छिपी न रही। जब वह एक बालक को लेकर भाग रहा था तो उन्होंने उसे उसी प्रकार धर दबोचा जैसे सिंह भेंड़ों को दबोच लेता है। व्योमासुर बड़ा बली और विशाल था। पकड़े जाने पर वह अपने असली रूप में आ गया। परन्तु भगवान् ने उसे भूमि पर गिरा दिया और पशु की भाँति उसका गला घोट कर मार डाला—“पशुमारममारयत्” ॥३३॥ फिर बालकों को पहाड़ की गुफा से बाहर निकाला। भगवान् के इस अद्भुत कार्य को देखकर देवता लोग आकाश से फूलों की वर्षा कर उनकी स्तुति करने लगे। ग्वाल-बाल भी भगवान् की कीर्ति का गान कर रहे थे। तदनन्तर बालकों और गायों को लेकर भगवान् व्रज में लौट आये।

भगवान् की यह अन्तिम वृन्दावन-लीला थी।

### व्योमासुर का पूर्वजन्म

काशी में भीमरथ नाम के एक राजा थे। वे विष्णु के महान् भक्त थे। समय आने पर पुत्र को राज्य देकर वे मलय पर्वत पर तप करने के लिये चले गये। एक दिन शिष्य-मण्डली के साथ महर्षि पुलस्त्य उनके आश्रम पर पधारे। अपनी तपस्या के अभिमान में चूर राजा ने उनकी न अगवानी की और न प्रणाम आदि ही किया। इस पर क्रुद्ध होकर महर्षि ने शाप दिया—दुर्बुद्धे, जा तू दैत्य हो जा। राजा के अनुनय करने पर प्रसन्न हो महर्षि ने कहा—द्वापर के अन्त में भगवान् के हाथों से मारे जाने पर तेरी मुक्ति होगी—ग०सं०, मा०ख०, अ०२४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३७॥

## अड़तीसवाँ अध्याय

( अक्रूर जी का गोकुल-गमन )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परिक्षित्, महामति अक्रूर जी वह रात्रि मथुरापुरी में ही बिताकर प्रातःकाल होते ही रथ पर सवार होकर नन्दबाबा के गोकुल के लिये चल पड़े—

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः । उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥

१०/३८/१

मार्ग में जाते हुए अक्रूर जी के हृदय में प्रेमलक्षणा भक्ति का उदय हो गया। वे सोचने लगे—मैंने पूर्वजन्म में कौन-सा शुभ कर्म किया है, ऐसी कौन-सी श्रेष्ठ तपस्या की है अथवा किसी सत्पात्र को ऐसा कौन-सा महत्त्वपूर्ण दान दिया है, जिसके फलस्वरूप आज मैं भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन करूँगा—



किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः । किं वाथाप्यर्हति दत्तं यद् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम् ॥

१०/३८/३

जैसे शूद्र के लिये वेदों का कीर्तन दुर्लभ है, वैसे ही मेरे जैसे संसारी के लिये भगवान् का दर्शन दुर्लभ है । किन्तु यह मेरा सौभाग्य है कि आज मुझे भगवान् के दर्शन होंगे ही । आज मेरा जन्म लेना सफल हो गया क्योंकि मैं आज योगियों के भी ध्येय भगवान् के श्रीचरणों में प्रणाम करूँगा । योगीजन जिनका ध्यान ही करते रह जाते हैं, कदाचित् ही उनका दर्शन करने में सफल होते हैं । उन्हीं को मैं साक्षात् देखूँगा । कंस का मेरे ऊपर यह महान् अनुग्रह था, जो उसने मुझे यह कार्य सौंपा है । आज मेरे सामने शुभ शकुन घटित हो रहे हैं । देखिये, हरिण हमारी दाईं ओर से निकल रहे हैं । इससे यह निश्चित सूचना मिलती है कि आज मैं भगवान् के उस मुख-कमल का दर्शन करूँगा जो घुंघराली अलकों से अलङ्कृत है, कमल से कोमल रतनारे लोचनों से सुशोभित है, जिस पर मन्द-मन्द मुस्कान बिखर रही है, जो नुकीली नासिका से सुशोभित है—

द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं, स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम् ।

मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं, प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वै मृगाः ॥१०/३८/९

देखो, आज मुझे शुभ शकुन हो रहे हैं । भगवान् पृथिवी का भार उतारने के लिये आये हैं । आज वे मुझे अपनी छाती से लिपटा लेंगे और मुझे अपनी आँखों का फल मिल जायेगा । जिन भगवान् के नाम, रूप और गुणों का कीर्तन करने से व्यक्ति के सारे पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं और वह जगत् को पवित्र करने की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है । भगवान् के गुणानुवाद से रहित यह वाणी मुर्दे की शोभा बढ़ानेवाली है, अर्थात् निरर्थक है । जिन भगवान् के गुण-गान का इतना माहात्म्य है, वही प्रभु यदुवंश में प्रकट हुए हैं, हम लोगों का यश बढ़ा रहे हैं और देवता-जन भी उनका गुण-गान कर रहे हैं ।

जब मैं उन्हें देखूँगा तब सर्वश्रेष्ठ पुरुष बलराम तथा श्रीकृष्ण के चरणों में प्रणाम करने के लिये तुरन्त रथ से कूद पड़ूँगा । उनके चरण पकड़ लूँगा । ओह ! उनके चरण कितने दुर्लभ हैं ! बड़े-बड़े योगी-यति आत्म-साक्षात्कार के लिये मन-ही-मन अपने हृदय में उनके चरणों की धारणा करते हैं और मैं उन्हें प्रत्यक्ष पा जाऊँगा तथा लोट जाऊँगा उन पर । उन दोनों के साथ ही उनके वनवासी सखा एक-एक ग्वाल-बाल के चरणों में भी वन्दना करूँगा—

अथावरूढः सपदीशयो रथात्, प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये ।

धिषा धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं, नमस्य आभ्यां च सखीन् वनीकसः ॥१०/३८/१५

जब मैं भगवान् के चरणों में गिरूँगा, तब वे मेरे शिर पर अपना अभय प्रदान करनेवाला हाथ फेरेंगे । उनके वे कर-कमल उन लोगों को सदा के लिये अभय दान दे चुके हैं, जो कालरूपी साँप के भय से अत्यन्त घबड़ा कर उनकी शरण चाहते और शरण में आ जाते हैं । मैं कंस का दूत हूँ । उसी के भेजेने से उनके पास जा रहा हूँ । कहीं वे मुझे अपना शत्रु तो न समझ बैठेंगे ? राम, राम ! वे ऐसा कदापि नहीं समझ सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, सबके हृदय के साक्षी हैं, द्रष्टा हैं । जब वे मुझे अपने चरणों पर से उठाकर, विशाल भुजाओं में लपेट कर मेरा आलिङ्गन करेंगे, तब मेरा अन्तःकरण पवित्र हो जायेगा और मेरे सारे बन्धन सर्वदा के लिये समाप्त हो जायेंगे—

दोर्ध्या बृहदभ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम् । आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे ।

बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः ॥ १०/३८/२०

जब वे मेरा आलिङ्गन कर चुकेंगे और मैं हाथ जोड़ कर शिर झुका कर उनके सामने खड़ा हो जाऊँगा तब वे मुझे 'चाचा अक्रूर ! इस प्रकार कह कर सम्बोधन करेंगे ! क्यों न हो, ऐसे ही मधुर यश का विस्तार करने के



लिये वे लीला कर रहे हैं। तब मेरा जीवन सफल हो जायेगा। जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना नहीं बनाया उसके जीवन को धिक्कार है। यद्यपि भगवान् का न कोई प्रिय है और न अप्रिय ही। न कोई उनका मित्र है और न शत्रु ही जैसे कल्पवृक्ष अपने नीचे आये हुए व्यक्ति की कामनाओं को पूर्ण करता है, वैसे ही वे भी अपनी शरण में आये हुए प्राणी का सारा मनोरथ पूरा करते हैं। वे बड़े प्रेम से मेरा हाथ पकड़कर अपने घर ले जायेंगे। वहाँ भोजन आदि सामग्री से मेरा सत्कार करेंगे। इसके बाद मुझसे पूछेंगे कि—कंस हमारे घरवालों के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है ?

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, श्वफल्क के पुत्र अक्रूर जी मार्ग में इसी प्रकार का चिन्तन करते हुए, सायङ्काल की बेला में, जब सूर्य नारायण अस्ताचल पर गये, नन्दगाँव पहुँच गये—

इति सञ्चिन्तयन् कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि । रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं गतः ॥  
१०/३८/२४

वहाँ भूतल पर भगवान् के चरण-चिह्नों को देखकर वे भावावेश में रथ से तुरन्त उतर पड़े और विचार करने लगे—जिनके चरण-कमल की रज को सभी लोकपाल अपने किरीटों के द्वारा सेवन करते हैं, वे ही कमल, यव, अङ्गुश आदि असाधारण चिह्नों से सुशोभित ये भगवान् के चरण-चिह्न हैं। इनसे पृथिवी की शोभा बढ़ रही है। यह बड़े सौभाग्यशालियों को ही प्राप्त होते हैं। यह कहकर वे उन्हीं पर लोटने लगे। उनका शरीर रोमाञ्च से भर गया। आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। किसी-किसी प्रकार उठकर वे आगे बढ़े ही थे कि उन्होंने अपने सामने बलराम और श्रीकृष्ण को देखा। उन्हें देखते ही अक्रूर जी प्रेमावेग से अधीर होकर रथ से कूद पड़े और भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलराम के चरणों के पास साष्टाङ्ग लोट गये। उनकी आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये। कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वे कुछ बोल न सके। भगवान् ने अपने कर-कमलों से उठाकर उन्हें छाती से लगा लिया। जब वे परम विनीत भाव से खड़े हो गये तो बलराम जी ने उन्हें अपने गले से लगा लिया। इसके बाद उनका एक हाथ श्रीकृष्ण ने पकड़ा तथा दूसरा बलराम जी ने। दोनों भाई उन्हें सादर घर ले गये।

घर पर पहुँचकर भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें उत्तम आसन पर बैठाया। उनसे कुशल-मङ्गल पूछा। उनके चरण धोकर मधुपर्क आदि पूजन की सामग्री अर्पित की फिर उनका पैर दबा कर उनकी थकावट दूर की। तदनन्तर उन्हें परम स्वादिष्ट भोजन कराया। बलराम जी ने उन्हें माला पहनाकर सुगन्धित पान खिलाया। स्वागत-सम्मान हो जाने के बाद नन्द बाबा उनके पास पहुँचे। उनका समाचार पूछा और कहा—अक्रूर जी, आप लोग निर्दयी कंस के जीते-जी किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जिस पापी ने अपनी बिलखती हुई बहन के नन्हें-नन्हें बच्चों को मार डाला, आप लोग उसकी प्रजा हैं फिर आप सुखी हैं, यह अनुमान कैसे किया जा सकता है ? यहाँ आने में आप को कष्ट तो अवश्य हुआ होगा। बतलाइये हम आप की क्या सेवा करें ? नन्द जी की इस प्रकार प्रेमभरी मधुरवाणी सुनकर अक्रूर जी का रहा-सहा सारा मार्ग-श्रम दूर हो गया—

इत्थं सुनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः । अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥१०/३८/४३  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह अइतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३८॥

१. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥गीता, ४/११॥

अर्थ—जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ ॥



## उनतालीसवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण और बलराम का मथुरा के लिये प्रस्थान और गोपियों का विलाप )

श्री शुकदेव जी ने कहा—भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम जी ने अक्रूर जी का भलीभाँति सम्मान किया। वे आराम से पलंग पर बैठ गये। उन्होंने मार्ग में जो-जो अभिलाषाएँ की थीं, वे सब पूरी हो गई—

सुखोपविष्टः पर्यङ्गे रामकृष्णोरुमानितः । लेभे मनोरथान् सर्वान् पथि यान् स चकार ह ॥

१०/३९/१

परीक्षित, लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसन्न हो जाने पर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो प्राप्त न हो जाय फिर भी भगवान् के परमप्रेमी भक्तजन किसी भी वस्तु की कामना नहीं करते—

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने । तथापि तत्परा राजन्न वाञ्छन्ति किञ्चन ॥१०/३९/२

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ने सायङ्काल का भोजन करने के बाद अक्रूर जी के पास जाकर अपने स्वजन-सम्बन्धियों के साथ कंस के व्यवहार और उसके अगले कार्य-क्रम के बारे में पूछा—चाचा जी, आप निश्छल हृदय के व्यक्ति हैं। आप को यात्रा में कोई कष्ट तो नहीं हुआ ? आपका भूरि-भूरि स्वागत है। मैं आपकी मङ्गल-कामना करता हूँ। मथुरा के हमारे आत्मीय सुहृद्, कुटुम्बी तथा अन्य सम्बन्धी सकुशल और स्वस्थ हैं न ? हमारे कारण माता-पिता को अनेकों प्रकार की यातनाएँ झेलनी पड़ीं—तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़े। मेरे ही कारण उन्हें हथकड़ी-बेणी में जकड़ कर जेल में डाल दिया गया। मेरे ही कारण उनके कई बच्चे मार डाले गये। कहाँ तक कष्टों का वर्णन करूँ ? आज आप के दर्शन से हमें महान् शान्ति मिली है। अच्छा, बतलाइये, आपके आने का कारण क्या है ? आपने हमें दर्शन देने की कैसे कृपा की ?

श्री शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण के पूछने पर अक्रूर जी ने आदि से अन्त तक की सारी घटनाओं को कह सुनाया। उन्होंने यादवों के साथ कंस के वैर और वसुदेव के वध के प्रयास की भी चर्चा की। अक्रूर जी ने कंस का सन्देश कह सुनाया। उन्होंने यह भी बतला दिया कि आप लोगों को आमन्त्रित करने के पीछे कंस की क्या योजना है। इसके बाद दोनों भाइयों ने नन्द जी को कंस का वास्तविक अभिप्राय तो बतलाया नहीं, केवल यही कहा कि मथुरा में बड़ा भारी उत्सव हो रहा है। उसे देखने के लिये वहाँ चलना है। कंस मामा ने उसी के लिये आमन्त्रण भेजा है।

कंस के आमन्त्रण को सुनकर नन्दबाबा प्रसन्न हो उठे। उन्होंने ब्रज में ढिंढोरा पिटवाकर यह सूचना दे दी कि कल मथुरापुरी में राजा कंस के यहाँ धनुष-यज्ञ के महोत्सव में चलना है। गाँव का सारा दूध-दही और भेंट की सामग्रियाँ ले लो। अपनी-अपनी बैलगाड़ियाँ जोत कर तैयार रखो। कल प्रातःकाल प्रस्थान करना है।

नन्दबाबा यह देखकर प्रसन्न हैं कि महाराज कंस ने हमारे लाला के लिये अपना स्वर्ण-मण्डित रथ भेजा है। वे बेचारे क्या जानें कि विश्वास उत्पन्न करने के लिये ही कंस ने अपना सोने का रथ भेजा है। गाँव के बालकों ने जब यह बात जानी तो वे भी साथ चलने के लिये तैयार हो गये। वे कहते थे कि यदि हम साथ नहीं चलेंगे तो कन्हैया की देख-भाल कौन करेगा ? उनका मानना था कि बेचारे कन्हैया को वे ही सँभालते हैं। सकल ब्रह्माण्ड के रक्षक की रक्षा आज ग्वाल-बाल करने चले हैं। नन्दबाबा ने सभी बालकों को साथ चलने की अनुमति प्रदान कर दी।

परीक्षित, जब गोपियों ने सुना कि बलराम और श्रीकृष्ण को मथुरा ले जाने के लिये अक्रूर जी ब्रज में आये हैं, तब उनके हृदय में बड़ी व्यथा हुई। वे विरह की कल्पना से व्याकुल हो गईं। उन्हें मूर्च्छा आ गई। उनके मुख-



कमल कुम्हला गये। वे रो-रोकर विधाता को कोसने लगीं। उन लोगों ने कहा—अरे विधाता तू कितना क्रूर है। क्या तुम्हारे हृदय में रज्जुमात्र भी दया का सञ्चार नहीं है ? तू पहले तो प्राणियों को प्रेम से एक-दूसरे को जोड़ देते हो, उन्हें आपस में एक कर देते हो और फिर बीच में ही उन्हें परस्पर विमुक्त कर देते हो। तुम्हारा यह खेल अज्ञानी बालकों के खेल जैसा बड़ा विचित्र है—

अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।

इक्ष्यकृतार्थान् वियुनइक्ष्यपार्थकं विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥१०/३९/१९

तू मनमोहन का अपूर्व सुन्दर मुखचन्द्र हमें दिखलाकर उसे हमारी आँखों से ओझल कर रहे हो। तुम्हारा यह कार्य अत्यन्त अनुचित है, असाधु है। वस्तुतः तुम महान् क्रूर हो जो अक्रूर के द्वारा हमारी आँखों का ही हरण कर ले रहे हो। हम अपना सर्वस्व न्योछावर कर जिस श्यामसुन्दर की दासी बनीं, वे भी आज हमारी ओर देख तक नहीं रहे हैं। वस्तुतः उन्हें नई-नई स्त्रियों से स्नेह करने की आदत पड़ गई है। आज मथुरा की स्त्रियों का परम सौभाग्य है कि वे श्यामसुन्दर के मुस्कराते सुन्दर मुख को देखेंगी। मथुरा की नागरी स्त्रियों के चक्कर में पड़कर भला कन्हैया हम गाँवों की ग्वालिनों को क्यों कर याद करने लगे ? अरे ! इस क्रूर का नाम अक्रूर किसने रख दिया ? यह तो हमें कुछ सान्त्वना भी न देकर हमारे प्राणधन को छीन कर हमसे दूर लेकर चला जा रहा है—

नैतद्विधस्याकरुणस्य नाम भूदक्रूर इत्येतदतीव दारुणः ।

योऽसावनाश्वस्य सुदुःखितं जनं प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥१०/३९/२६

क्या कहें ? आज भाग्य ही हमारे विपरीत हो गया है। देखो, आज कन्हैया कितना निष्ठुर हो गया है कि हमसे बिना कुछ कहे ही रथ पर जा बैठा है। ये गोप, बालक और बूढ़े कितने अज्ञ हैं कि ये रथ को जल्दी चलाने की प्रेरणा कर रहे हैं। चलो, हम स्वयं ही चलकर अपने प्राण-धन श्यामसुन्दर को रथ के सामने खड़ी होकर रोकेँगी। कुल के बड़े-बूढ़े हमारा क्या कर लेंगे ?—ऐसा कहकर वे गोपियाँ लज्जा छोड़कर गोविन्द, दामोदर, माधव कहती हुई जोर-जोर से रोने लगीं। उनका मन सर्वात्मना कृष्णमय हो गया था।

नन्द-भवन में अक्रूर के पहुँचने पर मैया यशोदा उनके भोजन आदि की तैयारी कर रही थीं अतः विशेष ध्यान नहीं दिया था। अब जब वे सबको खिला-पिलाकर खाली हो गईं तब नन्द के पास बरामदे में आ गईं और उनसे पूछा—यह अक्रूर जी किसलिये आये हैं ? नन्द ने प्रसन्नता के साथ कहा—कंस महाराज धनुष-यज्ञ का आयोजन किये हैं। वहाँ सभी आमन्त्रित हैं। उन्होंने हमारे लाला के लिये अपना स्वर्ण-मण्डित रथ भेजा है। हम सब कल वहीं जायेंगे। ये बातें सुनकर मैया का तो दिल ही बैठ गया। उनकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। थोड़ी देर के बाद फिर सँभल कर उन्होंने कहा—यह अक्रूर नहीं, क्रूर हैं। मेरे लाला को मत जाने दो। उसके चले जाने से गोकुल उजड़ जायेगा। उसके न रहने पर गायें भी खाना-पीना छोड़ देंगी। यदि आप को मथुरा जाना हो तो जाओ किन्तु लाला को मत ले जाओ। वहाँ उसकी देख-भाल कौन करेगा ? वह बड़ा सङ्कोची है। भूखा रहने पर भी कुछ माँगता नहीं है। उसे मना-मना कर कौन खिलायेगा ?

नन्दबाबा ने यशोदा को समझाते हुए कहा—कन्हैया ग्यारह वर्ष का हो गया है। अब कितने दिनों तक तू उसे अपने घर में रक्खोगी ? उसे बाहरी दुनियाँ भी देखनी चाहिये। हम दो-चार दिन मथुरा में रहकर कन्हैया के साथ वापस आ जायेंगे। तू चिन्ता मत कर।

रात हुई। सभी सो गये। किन्तु मैया की आँखों में आज नींद का नाम नहीं है। न जाने कल क्या होगा ? कन्हैया चला जायेगा। उसके बिना मैं कैसे जीवित रहूँगी ? वह शैय्या से उठकर बाहर आँगन में सिसकियाँ भरने



लगी। कन्हैया की आँखे अचानक खुल गई। उसने देखा कि मैया शैय्या पर नहीं है। उसने देखा तो माता आँगन में बैठी रो रही थी। वह मैया की गोद में बैठ गया और उसके गले में बाँहें डालकर आँसू पोछते हुए रोने का कारण पूछने लगा। मैया, तू क्यों रोती है। तेरे रोने से मुझे महान् कष्ट होता है।

कन्हैया का प्रश्न सुनकर मैया ने कहा—लाला, तू कल जा रहा है। यह मुझे सद्बन्ध नहीं है। बरबस मेरी आँखें बार-बार बरस पड़ रही हैं। मुझे छोड़कर लाला तू कहीं मत जाना। मैं तेरे ही सहारे तो जीवित हूँ। कन्हैया ने कहा—मैया, तू काहे को परेशान होती हो। मैं जरूर आ जाऊँगा। अपने लाला की बात का विश्वास कर मैया सन्तुष्ट हो गई। उसने कन्हैया को बाँहों में भर कर कहा—अच्छा, चलो अब हम लोग सो जाँय। मैया और कन्हैया दोनों एक ही शैय्या पर सो गये। आज श्रीकृष्ण ने यशोदा के हृदय में प्रवेश किया। अब कन्हैया मैया को बाहर नहीं, भीतर ही दिखालाई पड़ेगा। आज माँ बेटे—दोनों के एक साथ सोने की यह अन्तिम रात थी।

प्रातःकाल हुआ। मङ्गल स्नान समाप्त हुआ तो माता कन्हैया का शृङ्गार करने लगी। वह कन्हैया का मुख देख-देख कर भावविभोर और अधीर हो रही थी। उसने बड़े प्रेम से अपने हाथों भोजन पकाकर कन्हैया को खिलाया। माखन, मिश्री और रोटी एक कपड़े में बाँधकर नन्द को पकड़ा दिया और कहा—भूख लगने पर इसे लाला को खिला दीजियेगा।

इतने में अकूर जी सन्ध्या-वन्दन से निवृत्त होकर रथ पर सवार हुए और उसे हाँक ले चले। आरती की थाल हाँथ में लिये यशोदा रथ की ओर बढ़ी। कन्हैया ने मैया को देखा तो रथ रोकवा दिया। माता ने बेटे की नजर उतारी, आरती की। चिरञ्जीवी होने का आशीष दिया फिर आँखें पोछती हुई यशोदा ने कहा—कान्हा, मैं आज एक रहस्य खोल रही हूँ। तू मुझे मैया कहता है और मैं तुझे बेटा कहती हूँ। किन्तु तू मेरा पुत्र नहीं है। तू तो देवकी का पुत्र है। मैं तो तेरी पालन करनेवाली माता हूँ, तेरा लालन-पालन करनेवाली दासी हूँ।

कृष्ण—अरी मेरी मैया, यह तू क्या कह रही है? लोग चाहे जो कहें, किन्तु मैं तो सारे संसार से यही कहूँगा कि मैं मैया यशोदा का बेटा हूँ।

यशोदा—लाला, मेरी एक प्रार्थना है।

कृष्ण—हाँ-हाँ, माँ, बोलो क्या कहना चाहती हो।

यशोदा—आँखों में आँसू भर कर, मेरे कलेजे के टुकड़े, मथुरा में तुम यह भूल जाना कि कभी मैंने तुझे ओखली में रस्सी से बाँधा था।

कृष्ण—माँ, मैं सब कुछ भूल सकता हूँ किन्तु मैं तेरे बन्धन को कभी नहीं भूल सकता। मैया, तेरे अतिरिक्त और किसी के हाथ से मैं आज तक बँधा ही नहीं। मैं राधा को भूल सकता हूँ, वसुदेव-देवकी को भूल सकता हूँ, मथुरा-द्वारका को भूल सकता हूँ, रुक्मिणी और प्रद्युम्न आदि को भूल सकता हूँ किन्तु मेरी मैया, मैं तुम्हारे बन्धन को कभी नहीं भुला सकता। तूने रस्सी नहीं, प्रेम की रज्जु से मुझे बाँधा है माँ।

मैया ने लाला को पुनः चिरञ्जीवी और सुखी होने का आशीष दिया।<sup>१</sup>

रथ आगे बढ़ने लगा। गोपियाँ सामने आ गईं। उनमें राधा जी भी थीं। उनकी दशा अवर्णनीय थी। वे मूर्च्छित होकर भूतल पर गिर पड़ीं। कृष्ण ने राधा जी को मूर्च्छित देखा तो वे उनके पास जाकर कान में कहने लगे—मेरी

१. कृष्ण की विदाई की बेला में शुकदेव महाराज ने यशोदा मैया की, उनकी दशा की, चर्चा नहीं की है। वे जानबूझकर मैया की ओर से अपना ध्यान हटा ले रहे थे। अन्यथा शुकदेव जी भाव-विभोर हो जाते और कथा का क्रम अवरुद्ध हो जाता।



प्यारी राधे, पृथिवी का भार उतारने के लिये हमारा अवतार हुआ है। तुम मेरी आह्लादिनी शक्ति हो। अब तक मैं तुम्हारे पीछे नाचता रहा, जगत् को रिझाता रहा। किन्तु अब संसार को नचाने जा रहा हूँ। तू धीरज रख। तेरे साथ मेरा वियोग हो ही नहीं सकता। यह ले मेरी निशानी वंशी। ऐसा कहकर कृष्ण ने राधा के हाथ में अपनी वंशी पकड़ा दी। वंशी राधा में विलीन हो गई।

हृदय-बाँस की बंशी साक्षात् विश्वनाथ है। 'वंशस्तु भगवान् रुद्रः' (रुद्रतापनीयोपनिषद्) बंशी साक्षात् रुद्र ही है। श्रीकृष्ण को भगवान् रुद्र की उपासना की जरूरत पड़ी। जैसे गोपियों को कृष्ण-प्राप्ति के लिये कात्यायनी भगवती की आराधना करनी पड़ी, ऐसे ही श्रीकृष्णचन्द्र को श्रीराधारानी को प्राप्त करने के लिये भगवान् रुद्र की उपासना करनी पड़ी।

इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिअ न कोटि जोग जप साथें ॥

॥ रामचरितमानस १/६९/८॥

शिव की आराधना के बिना इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्माण्ड पुराण (४२/४६-४८) के अनुसार गोरी राधा कर्पूरगौर शङ्कर का अवतार थीं। राधा रुद्र ही थीं। कृष्णवर्णा पार्वती कृष्ण के रूप में अवतरित थीं। ऐसी स्थिति में राधा भी रुद्र, वंशी भी रुद्र। दोनों एक तत्त्व थे अतः वंशी राधारानी में विलीन हो गई अन्यथा कोई माई का लाल बतलावे कि कृष्ण के मथुरागमन के बाद बंशी क्या हुई? कहाँ गई? ॥

अब रथ आगे बढ़ा। नन्द बाबा आदि गोपों ने भी दूध, दही, मक्खन, घी आदि भरे मटके और भेंट की बहुतासी सामग्रियाँ ले ली तथा छकड़ों पर उनके पीछे-पीछे चले। भगवान् ने अपने वियोग में व्याकुल गोपियों को जब अपने पीछे खड़ी देखा तो उन्होंने दूत के द्वारा 'मैं आऊँगा' यह प्रेम-सन्देश भेजकर उन्हें धीरज बँधाया अथवा 'सप्रेमैः दौत्यकैः आयास्ये' प्रेमभरे दूतके, उद्धव के, वचनों द्वारा आऊँगा—यह कहा। गोपियाँ चित्रलिखित-सी तब तक खड़ी-खड़ी देखती रहीं जब तक कि रथ की ध्वजा और पहिये से उड़ती हुई धूल दीखती रही। गोपियाँ ब्रज में लौटी तो अवश्य, किन्तु उन्होंने अपना मन मनमोहन के साथ मथुरा भेज दिया था। वे भगवान् की लीलाओं का गान करती हुई किसी-किसी तरह अपना दिन बिताती थीं।

परीक्षित, इधर भगवान् श्रीकृष्ण भी बलराम और अक्रूर जी के साथ, वायु के समान वेग वाले रथ पर सवार होकर पापनाशिनी यमुना जी के किनारे जा पहुँचे। यह दिन की मध्याह्न बेला थी। वहाँ उन लोगों ने हाथ-मुँह धोकर यमुना जी के स्वादिष्ट जल का पान किया। इसके बाद बलराम जी के साथ भगवान् वृक्षों के झुरमुट में खड़े रथ पर सवार हो गये। दोनों भाइयों को रथ पर बैठा कर अक्रूर जी उनकी आज्ञा लेकर यमुना जी में स्नान करने चले गये। वहाँ सविधि स्नानकर जल में डुबकी लगाकर वे गायत्री का जप करने लगे। उसी समय जल के भीतर अक्रूर जी ने देखा कि श्रीकृष्ण और बलराम—दोनों भाई—एक साथ बैठे हुए हैं। उन्होंने सोचा कि वसुदेव जी के पुत्रों को तो मैं रथ पर बैठा कर आया हूँ फिर वे जल के भीतर कैसे आ गये? शायद रथ पर न हों—ऐसा सोचकर उन्होंने शिर बाहर निकाल कर देखा। वे दोनों रथ पर पूर्ववत् बैठे हुए थे पुनः जल में डुबकी लगाने पर देखा कि मणि-मण्डित अनन्त शिरों से विभूषित शेष जी की गोद में, श्याम मेघ के समान चतुर्भुज घनश्याम विराजमान हैं। सिद्ध, गन्धर्व और विद्याधर आदि शेष भगवान् की स्तुति कर रहे थे।

भगवान् की यह झाँकी निरख कर अक्रूर जी का हृदय आनन्द के सागर में निमग्न हो गया। उन्हें परम भक्ति



प्राप्त हो गई। उनका सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा। आँखों से आनन्द के अश्रु प्रवाहित होने लगे। वे जल के भीतर डुबकी लगाये ही भगवान् की स्तुति करने लगे।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह उन्तालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥३९॥

## चालीसवाँ अध्याय

( अक्रूर जी के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति )

अक्रूर जी ने कहा—प्रभो, आप प्रकृति आदि समस्त कारणों के परम कारण हैं। आप ही अविनाशी पुरुषोत्तम नारायण हैं। चराचर जगत् के सृष्टिकर्ता ब्रह्मा आप के ही नाभि-कमल से उत्पन्न हुए हैं। मैं बड़ी श्रद्धा के साथ आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ—

नतोऽस्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं, नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।

यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद्, ब्रह्माविरासीद् यत् एष लोकः ॥ १०/४०/१

योगी-जन महापुरुष के रूप में आप का ही ध्यान करते हैं। कई लोग वेदत्रयी के द्वारा यज्ञानुष्ठान करके आप की ही आराधना करते हैं। जब वे 'इन्द्राय स्वाहा, अग्नये स्वाहा' कहते हैं, तब आपका ही नाम लेते हैं। कोई-कोई सब कर्मों का संन्यास करके केवल ज्ञान-यज्ञ से आपकी ही आराधना करते हैं। निवृत्तिपरायण ऐसे ही लोग आप का ध्यान करते हैं। कोई-कोई पाञ्चरात्र की रीति से बहुमूर्ति के रूप में आप की ही आराधना करते हैं और कोई शिव के रूप में आपकी ही अर्चना करते हैं जैसे सारी नदियों का जल जाकर सागर में ही समाहित हो जाता है, वैसे ही सारे देवता, सारे कर्म, सारे सद्धर्म आप में ही जाकर समाहित हो जाते हैं। जो दूसरों के भक्त हैं, दूसरों का यजन करते हैं। वस्तुतः वे सब आपका ही भजन और यजन करते हैं—

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् । येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो । विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥

१०/४०/८-९

जैसे नदी पर्वत से प्रकट होती हैं, वर्षा के जल से भर जाती है तथा समुद्र में जाकर विलीन हो जाती है, वैसे ही जितनी भी गतियाँ हैं, जितने भी सम्प्रदाय हैं, जितने भी पन्थ हैं, ये सब के सब अन्त में जाकर आप में ही समाहित होते हैं। अन्त में अक्रूर जी ने भगवान् से प्रार्थना की—प्रभो, मुझे अविनाशी अक्षर वस्तु का ज्ञान नहीं है इसीलिये मेरा मन सर्वदा चंचल रहता है। उसे वश में रखना मेरे वश में नहीं है। मैं अनधिकारी हूँ। आपकी अहेतुकी कृपा के कारण ही आज मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। प्रभो, आप ही वासुदेव हैं, आप ही समस्त जीवों के आकर्षण

१. येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ भगवद्गीता ९/२३॥

हे अर्जुन, यद्यपि श्रद्धा से युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है ॥



(सङ्कर्षण) हैं। आप ही बुद्धि और मन के अधिष्ठातृदेवता हृषीकेश (प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) हैं। मैं आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ। प्रभो, आप मुझ शरणागत की रक्षा कीजिये—

नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च । हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥१०/४०/३०

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह चालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४०॥

## इकतालीसवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण का मथुरा में प्रवेश, रजकवध, दर्जी और माली पर अनुग्रह )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, अक्रूर जी इस प्रकार स्तुति कर ही रहे थे कि भगवान् ने उन्हें जल में अपना अद्भुत रूप दिखाकर फिर छिपा लिया। भगवान् का यह कार्य वैसे ही था, जैसे नट नाटक में कोई रूप दिखा कर फिर उसे परदे की आड़ में छिपा देता है। जब अक्रूर जी ने देखा कि भगवान् का वह दिव्य रूप अन्तर्धान हो गया, तब वे जल से बाहर निकल आये और फिर जल्दी-जल्दी सन्ध्या-वन्दनादि कार्य समाप्त कर रथ पर जा विराजे। उस समय उनके मुख-मण्डल पर विस्मय की छटा छिटक रही थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा—चाचा जी, आप ने पृथिवी, आकाश अथवा जल में कोई अद्भुत वस्तु देखी है क्या ? क्योंकि आप की आकृति देखने से ऐसा ही प्रतीत होता है—

तमपृच्छदृषीकेशः किं ते दृष्टमिहान्धुतम् । भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥

१०/४१/३

अक्रूर जी ने कहा—भगवान्, आप में सकल अद्भुत पदार्थ निवास करते हैं क्योंकि आप विश्वरूप हैं। ऐसी स्थिति में जब मैं आप को ही देख रहा हूँ तब ऐसी कौन-सी अद्भुत वस्तु रह जाती है, जो मैंने न देखी हो ! इतना कहकर अक्रूर जी ने रथ हाँक दिया और दिन ढलते-ढलते मथुरापुरी जा पहुँचे। मथुरावासी बलराम और श्रीकृष्ण के सौन्दर्य को देखकर निर्निमेष नयनों से निरखने लगे। उन्हें तृप्ति ही न होती थी। ब्रजवासी नन्द आदि गोप मथुरा पहले ही पहुँच गये थे। उन लोगों ने वहाँ उपवन में डेरा डाल रक्खा था। वहाँ पहुँच कर भगवान् श्रीकृष्ण ने अक्रूर जी का हाथ अपने हाथ में लेकर मुस्कराते हुए कहा—चाचा जी, आप रथ लेकर पहले मथुरापुरी में प्रवेश कीजिये और अपने घर जाइये। हम लोग पहले यहाँ उतर कर फिर नगर का अवलोकन करके आयेँगे—

भवान् प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम् । वयं त्विहावमुच्याथ ततो द्रक्ष्यामहे पुरीम् ॥

१०/४१/१०

हृदय-ब्रजवासी भावुक भक्तों का कथन है कि—पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का जन्म नन्दभवन में ही हुआ, मथुरा में तो देवकीनन्दन कृष्ण का जन्म हुआ था। देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ईश्वर थे। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि पीताम्बर, कौस्तुभमणि, वनमाला, शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए श्रीमन्नारायण विष्णु ही कंस के कारागृह में अवतरित हुए। उनके इस स्वरूप के दर्शन से चकित एवं भयभीत देवकी, भगवान् से शिशुरूप धारण करने की प्रार्थना करने लगी। अपनी वैष्णवी माया द्वारा श्रीमन्नारायण विष्णु प्राकृत बालक बन कर रोने लगे। भगवत्प्रेरणा से ही वसुदेव इस शिशु को सूय में विराजमान करा कर मथुरा से नन्द के गोकुल के लिये चल पड़े। भगवान् की



मोहिनी माया के कारण मथुरावासी द्वारपाल आदि सभी मोहनिद्रा में निमग्न हो गये। कारागृह के ताले और द्वार सब स्वतः खुल गये। इसी समय ब्रजधाम में 'नन्दगोपगृहे जाता यशोदागर्भसंभवा । 'ततस्ती नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी' ॥ यशोदा के गर्भ से श्रीकृष्ण एवं उनकी सहोदरा योगमाया का प्रादुर्भाव हुआ। योगमाया के प्रभाव से ही इस रहस्य को कोई नहीं समझ पाया। बालक श्रीकृष्ण के दर्शन किसी के लिये भी संभव न हुए। यही कारण है कि कृष्णजन्माष्टमी की रात्रि 'मोहरात्रि' कहलाती है। 'कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा' (दुर्गासप्तशती) जिस रात्रि में सब मोह को प्राप्त हुए वही 'मोहरात्रि' है। ब्रजधाम में नन्द-गृह में यशोदा के गर्भ से आविर्भूत पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही नन्द-आत्मज हैं। 'नन्दस्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः' १०/५/१ इस कथन से स्पष्ट ही श्रीकृष्ण को नन्दात्मज ही कहा गया है।

'आत्मजः—औरसः न तु यत्र क्वचित् निक्षिप्तः' औरस पुत्र ही आत्मज होता है, दत्तक अथवा क्रीत-पुत्र आत्मज नहीं कहा जाता। जिस समय वसुदेव जी देवकीनन्दन वासुदेवस्वरूप शिशुस्वरूप को लेकर नन्दगृह में यशोदा के समीप पहुँचे, देवकीनन्दन वासुदेवस्वरूप श्रीकृष्ण नन्दात्मज पूर्णतम पुरुषोत्तमस्वरूप श्रीकृष्ण में अन्तर्भूत हो गये जैसे अन्य सम्पूर्ण तेज महातेज में अन्तर्लीन हो जाते हैं। परमानन्दकन्द पूर्णतम भगवान् श्रीकृष्ण 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति' वृन्दावन को त्याग कर एक पग भी अन्यत्र नहीं जाते।

अक्रूर जी के द्वारा 'भगवान् को जल में और पुनः उन्हें ही रथ पर बैठे हुए देखना यह सिद्ध करता है कि परमानन्द पूर्णतम पुरुषोत्तम स्वरूप यशोदानन्दन नन्दनन्दन श्री कृष्ण वृन्दावनधाम में रह गये और शङ्ख-चक्रगदा-पद्मधारी श्रीमन्नारायण, विष्णु ईश्वरस्वरूप देवकीनन्दन वासुदेव श्रीकृष्ण मथुरा पधारे। अस्तु, ब्रजवासी कहते हैं—'विपिनराज सीमा के बाहर हरिहू को न निहार। रे मन! वृन्दाविपिन निहार'।

यद्यपि यशोदानन्दन श्रीकृष्ण और देवकीनन्दन श्रीकृष्ण एक ही हैं, फिर भी विशेषण-भेद से विशिष्ट में भी तारतम्य स्वीकृत हो जाता है। जैसे, एक ही स्वाती-बिन्दु बाँस-कोटर में वंशलोचन, गोकर्ण में गोरोचन एवं गजमस्तक में गज-मुक्ता आदि विभिन्न रूपों में प्रकट होता है, किंवा जैसे सूर्य की रश्मियाँ सूर्यकान्तमणि पर अग्निरूप में प्रस्फुटित हो जाती हैं परन्तु सामान्य काष्ठ पर अग्रकट ही रह जाती हैं, वैसे ही अधिष्ठान भेद से, आश्रयभेद से प्रकाश्य-भेद के कारण स्वभावतः तारताम्य बन जाता है।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक आनन्दकन्द परमानन्द प्रभु का ब्रजधाम में यशोदानन्दन वासुदेव श्रीकृष्ण-स्वरूप में प्राकट्य विशेष चमत्कृतियुक्त है। एक कथा है—भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा पधारे। गोपाङ्गनाएँ उनके विरहजन्य तीव्र ताप में दग्ध होने लगीं। किसी भक्त ने उनसे कहा! गोपाङ्गनाओं, इतना दुःखी क्यों हो रही हो? मथुरा कौन दूर है? चलो हमारे सङ्ग। हम उनका दर्शन करा लाएँ।' अत्यन्त तीव्र उत्कण्ठावश कुछ गोपाङ्गनाएँ मथुरा जाने को तैयार हो गईं। मथुरा जाने पर उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण राजसभा में दिव्य सिंहासन पर विराजमान हैं अतः वे वहाँ से तुरन्त लौट आईं। उन्होंने कहा कि—यह तो हमारे मदनमोहन श्यामसुन्दर नहीं, कालीकमली वाले गोपाल श्रीकृष्ण नहीं, अपितु कोई अतुलित ऐश्वर्यधारी राजराजेश्वर श्रीकृष्ण हैं।

अब तक के कथन का परम निष्कर्ष यह है कि वृन्दावन की सीमा से ही यशोदानन्द श्रीकृष्ण वृन्दावन लौट गये और श्रीमन्नारायण देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा की सीमा में प्रवेशकर मथुरा गये ॥

अक्रूर ने कहा—प्रभो, आप दोनों के बिना मैं मथुरा में नहीं जा सकता। स्वामिन्, मैं आप का भक्त हूँ। भक्तवत्सल प्रभो, आप मुझे मत छोड़िये। चलिये अपनी चरण-धूलि से हमारे घर को पवित्र कीजिये। वहाँ मैं आप के चरणों को धोऊँगा। आप के चरण को पखारने के कारण ही बलि की महिमा बढ़ गई थी और उसे एकान्त ऐश्वर्य की प्राप्ति हुई। आप के चरणारविन्द के धोवन का जल त्रिलोकी को पवित्र करता है। उससे अगणित प्राणी पवित्र



हुये हैं। यह आप के चरण-जल का ही प्रताप था कि सगर के पुत्र तर कर स्वर्ग चले गये। प्रभो, मैं आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ।

भगवान् ने कहा—चाचा जी, मैं दाऊ भैया के साथ आपके घर अवश्य आऊँगा किन्तु सब से पहले मैं यदुवंशियों के द्रोही इस कंस का वध करूँगा, फिर अपने सभी सुहृज्जनों से मिलकर उनका प्रिय करूँगा। अक्रूर जी भगवान् के इस प्रकार के वचन को सुनकर कुछ अनमने-से हो गये। उन्होंने पुरी में प्रवेश करके कंस से श्रीकृष्ण और बलराम के आने का समाचार कहा और पुनः अपने घर चले गये।

इधर दिवस के अवसान के समीप होने पर मथुरापुरी की शोभा को देखने की इच्छा से भगवान् श्रीकृष्ण ने बड़े भैया बलराम और साथी गोपों के साथ नगरी में प्रवेश किया। मथुरापुरी की सजावट अद्भुत थी। बड़े-बड़े भवन स्कटिक मणियों से बने थे। उनमें सोने की किवाड़े लगी थीं। पुरी के चतुर्दिक् खाई खोदी गई थी। नगर के उद्यान भाँति-भाँति के रङ्ग-विरङ्गे फूलों से अलङ्कृत थे। उनकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। नगरी के चतुष्पथ इस प्रकार सुसज्जित थे कि देखनेवालों का मन मुग्ध हो जाता था। प्रत्येक गृह के प्रवेश द्वार पर दधि, अक्षत, पुष्प और चन्दन से चर्चित जल भरे घट दोनों ओर रक्खे हुए थे। केले के स्तम्भ, सुपारी के वृक्ष और वन्दनवारों से उनकी अद्भुत शोभा हो रही थी। सायङ्काल समीप था अतः भवनों के द्वार प्रज्वलित दीप-मालाओं से जगमगा रहे थे। राम और कृष्ण राजमार्ग से मथुरा में प्रवेश कर रहे हैं—यह समाचार बिजली की तरह चारों ओर फैल गया। उन्हें देखने की लालसा से नगरी की स्त्रियाँ अटारियों पर चढ़ गईं और झरोखों से देखने लगीं। घर के कार्यों को छोड़कर जो जिस अवस्था में थी वह उसी अवस्था में दौड़ पड़ी मदन-मोहन की छबि निहारने के लिये। उस समय वे इतनी शीघ्रता में थीं कि उन्हें अपने वस्त्राभूषणों के सम्यक् विन्यास की भी सुध न रही। किसी के एक कान में ही कर्णाभूषण था, किसी के एक पैर में ही नूपुर था और किसी ने एक ही आँख में काजल लगा रक्खा था। ऊपर का वस्त्र नीचे और नीचे का वस्त्र ऊपर था। सब के मन में एक ही धुन थी—भगवान् को निरखने की। जिस समय उनकी निगाहें भगवान् पर पड़ीं उसी समय उन लोगों ने अपना मन भगवान् पर न्योछावन कर दिया। वे भुवन-मोहन श्यामसुन्दर की अनुपम रूपमाधुरी को नेत्रों के द्वारा हृदय में लाकर उनका आलिङ्गन करने लगीं। उनका शरीर पुलकित हो उठा। उनकी चिरसञ्चित मनोव्यथा सर्वदा के लिये समाप्त हो गई—

आनन्दमूर्तिमुपगुह्य दृशाऽऽत्मलब्धं हृष्यत्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाधिम् ॥१०/४१/२८

श्रीकृष्ण और बलराम राजमार्ग से आगे बढ़ रहे थे। स्त्रियाँ उन पर फूलों की वर्षा कर रही थीं। नागरिक सर्वत्र गन्ध, धूप, दीप आदि समर्पित कर उनका सम्मान कर रहे थे। भगवान् को देखकर सभी पुरवासी परस्पर कह रहे थे कि—गोपियों ने ऐसी कौन-सी तपस्या की है, जिसके कारण वे निरन्तर इन दोनों भाइयों के सौन्दर्य का पान करती रहती हैं। आगे बढ़ने पर भगवान् ने देखा कि एक धोबी आ रहा है। कंस का वह धोबी था। कपड़ों को रंगने का भी कार्य करता था। उसके धुले-रंगे कपड़े कंस को बहुत प्रिय थे। भगवान् श्रीकृष्ण उस धोबी के पास पहुँचे और बोले—रजक महोदय, आप बड़े अच्छे-अच्छे कपड़े लिये हो। उनमें से जो कपड़े हमारे शरीर पर पूरे-पूरे आ जाँय, ठीक-ठीक फिट हो जाँय उन्हें हमें दे दीजिये। इससे आप का महान् कल्याण होगा। भगवान् की याचना को सुनकर कंस के उस दुर्वृत्त धोबी ने क्रुद्ध होकर फटकारते हुए कहा—तुम लोग रहते हो सदा पहाड़ और जङ्गलों में। क्या वहाँ ऐसे ही वस्त्र पहनते हो ? तुम लोग बड़े उदण्ड हो गये हो। तभी तो बढ़-बढ़ कर ऐसी बातें कर रहे हो और राजा का धन लूटना चाहते हो। जल्दी भाग जाओ यहाँ से फिर कभी इस प्रकार की बात मत करना अन्यथा राजा के सिपाही तुम्हें कैद कर लेंगे—



ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः । परिधत्त किमुद्वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥  
याताशु बालिशामैवं प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा । बध्नन्ति घ्नन्ति तुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै ॥

१०/४१/३५-३६

उन्मत्त धोबी की तिरस्कारभरी वाणी को सुनकर देवकीपुत्र<sup>१</sup> श्रीकृष्ण क्रुद्ध हो उठे । उन्होंने उसे एक ऐसा तमाचा मारा जिससे उसका शिर घड़ाम से धड़ से नीचे जा गिरा । यह देखकर उस धोबी के अधीन काम करनेवाले सब-के-सब कपड़ों के गड्ढर वहीं छोड़कर इधर-उधर भाग खड़े हुए । भगवान् ने उन वस्त्रों को ले लिया । बलराम और श्रीकृष्ण—दोनों भाइयों ने अपने अनुकूल नीले-पीले वस्त्र लेकर पहन लिये और कुछ अपने साथियों में बाँट दिये । शेष वस्त्रों को वहीं जमीन पर ही छोड़कर चल दिये । ग्वाल-वाल राजसी वस्त्र पहन कर बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—अब तो हम विवाह करने के योग्य बन-ठन गये हैं ।

भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम जब कुछ आगे बढ़े, तब संयोग से उन्हें एक दर्जी मिला । उसने भगवान् को प्रणाम करते हुए बड़ी विनम्रता से कहा—प्रभो, यदि आदेश हो तो इन वस्त्रों को मैं क्षणभर में फिट कर दूँ, ठीक-ठीक कर दूँ । भगवान् ने कहा—हाँ, हाँ, वायक, इन्हें ठीक कर दो । वह दर्जी कपड़ा फिट करने में इतना निपुण था कि क्षण भर में ही दोनों भाइयों के वस्त्रों को इस तरह से सिलकर उन्हें पहना दिया कि वे सब देखने में अत्यन्त सुन्दर लगने लगे, फबने लगे । उसकी इस भक्ति और निपुणता को देखकर भगवान् प्रसन्न हो उठे और उन्होंने कहा—वायक, मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ । जाओ, तुम इस संसार में भरपूर धन-सम्पत्ति, बल-ऐश्वर्य, स्मरण-शक्ति और स्वास्थ्य प्राप्त करोगे । मरने के बाद तुम्हें सारूप्य मुक्ति का लाभ होगा ।

भगवान् के जीवन का यह पहला अवसर था जब उन्होंने सिले हुए कपड़े पहने ।

सुन्दर कपड़ों से सुसज्जित होकर भगवान् श्रीकृष्ण सुदामा नामक माली<sup>२</sup> के घर गये । दोनों भाइयों को देखते ही सुदामा ललक कर दौड़ा और उनके चरणों पर जा गिरा फिर उन्हें सादर आसन पर बैठाकर चरण धोया, हाथ धुलाया और सबको सुगन्धित फूलों का हार पहनाकर पान, चन्दन आदि सामग्रियों से भरपूर सम्मान किया । तदनन्तर उसने प्रार्थना की—प्रभो, आप दोनों के शुभागमन से आज हमारा जन्म सफल हो गया । हमारा कुल पवित्र हो गया । आज हम पितृ-ऋषि और देव ऋण से मुक्त हो गये । देव, आपकी कृपा का वर्णन करने की शक्ति हमारी वाणी में नहीं है । मैं आप का दास हूँ । आज्ञा दीजिये आपकी क्या सेवा करूँ ? भगवान् का अभिप्राय समझकर उसने भगवान् और उनके सभी साथियों को फूलों का उत्तमोत्तम हार पहनाया फिर हाथ जोड़कर भगवान् से उसने प्रार्थना की—प्रभो, आपके चरणों में मेरी अविचल भक्ति हो, आप के भक्तों से मेरी मैत्री हो और सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति मेरे हृदय में अहैतुकी दया का भाव हो । भगवान् श्रीकृष्ण ने सुदामा को उसके माँगे हुए वर तो दिये ही—ऐसी लक्ष्मी भी दी,

१. अब तक कृष्ण का देवकीपुत्र होना प्रसिद्ध हो चुका था अतः देवकी—पुत्र का प्रयोग यहाँ किया गया है । दूसरी बात यह है कि श्रीकृष्ण अब मथुरा में आ चुके हैं । देवकी के पास आ गये हैं अतः उनके लिये देवकीपुत्र का प्रयोग अवसरोचित है, प्रसंग के अनुकूल है ।
२. भगवान् श्रीकृष्ण को सुदामा नामधारी व्यक्ति अतिशय प्रिय है । सुदामा को कहीं-कहीं श्रीदामा भी लिखा गया है । गोलोकधाम में भी भगवान् का एक प्रिय सखा था—सुदामा । राधा के शाप से इसे शङ्खचूड़ दानव बनना पड़ा था । वृन्दान्वन में कृष्ण का प्रिय सखा श्रीदामा था खेल में हारने पर भगवान् ने उसे कन्धे पर ढोया था—“उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ।” १०/१८/२४॥ यह माली भी सुदामा ही है और एक सुदामा मित्र सान्दीपनि मुनि के गुरुकुल उज्जयिनी में मिलेंगे ।



जो वंश के साथ निरन्तर बढ़ती ही जाय और साथ ही बल, आयु, कीर्ति तथा कान्ति का भी वरदान दिया। इसके बाद भगवान् उसके घर से सानन्द प्रस्थान किये।

### रजक के पूर्वजन्म का वृत्तान्त

राम रावण का वध कर लङ्का से लौट आये थे। अयोध्या की राजगद्दी पर उनका अभिषेक भी हो चुका था। जनता की मनोभावना को जानने के लिये उनके गुप्तचर चारों ओर घूमा करते थे। एक दिन रात्रि की बेला में एक धोबी अपनी स्त्री को पीटते हुए कह रहा था—तू दुष्टा है। दूसरे के घर में रहकर आई है इसलिये मैं तुझे नहीं रखूँगा। स्त्री के लोभी राजा राम भले ही सीता को रख लें, किन्तु मैं तुझे नहीं स्वीकार करूँगा। इस लोक-लाञ्छन को सुनकर भगवान् श्रीराम ने सीता का परित्याग कर दिया था। उन्हें जंगल में निकाल दिया था। यद्यपि वे उस धोबी को दण्डित कर सकते थे, किन्तु ऐसा किया नहीं था। बाद में वही मथुरा में कंस का धोबी बना। भगवान् दयालु हैं अतः उसका वध अपने हाथ से करके उसे मुक्त कर दिये अन्यथा उसे नरक की भयङ्कर यातनाएँ भोगनी पड़तीं।

॥मथुरायां द्वापरान्ते रजकः स बभूव ह॥ गर्ग सं०, मथुरा खं० १०/७॥

### दर्जी के पूर्वजन्म का वृत्तान्त

अपने पूर्व जन्म में यह मिथिला का प्रसिद्ध एवं भगवद्भक्त दर्जी था। राजा सीरध्वज ने अपनी बेटी का विवाह श्रीराम से किया था। विवाह की बेला में इसी दर्जी ने श्रीराम और लक्ष्मण के लिये कपड़े सिले थे। उस समय इसके मन में आया था कि कब ऐसा अवसर सुलभ होगा जब मैं अपने हाथों से इन सुन्दर राजकुमारों को वस्त्र पहनाऊँगा। भगवान् सबके हृदय की बात जाननेवाले हैं अतः मन-ही-मन उन्होंने उसे वरदान दिया कि द्वापर के अन्त में हम दोनों भाई बलराम और कृष्ण के रूप में जन्म ग्रहण करेंगे। उस समय तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा। वही दर्जी द्वापर में मथुरा का दर्जी हुआ और बलराम तथा श्रीकृष्ण को कपड़ा पहना कर उसने अपना चिरसञ्चित मनोरथ पूरा किया। भगवान् ने उसे भी सारूप्य मुक्ति प्रदान की—

श्रीरामस्य वरात्सोऽयं मथुरायां बभूव ह। तयोर्वेषं कारयित्वा तत्सारूप्यं जगाम ह॥  
गर्ग सं., म०ख, १०/१६

### सुदामा माली के पूर्वजन्म का वृत्तान्त

सुदामा अपने पूर्व जन्म में कुबेर के चैत्ररथ नामक उद्यान का माली था। वह प्रतिदिन भगवान् शंकर के सामने तीन सौ कमल-पुष्पों को रखकर प्रणाम किया करता था। एकदिन प्रसन्न हुए भगवान् शङ्कर ने उससे वर मांगने के लिये कहा। उसने भगवान् शङ्कर से वर मांगा—आप मुझे यह वरदान दें कि कभी पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण मेरे घर पर पधारें और मैं उन्हें माला पहना कर अपने नेत्रों से भरपूर उनका दर्शन करूँ। भगवान् शङ्कर ने कहा—द्वापर के अन्त में भारतवर्ष की मथुरापुरी में तुम्हारा यह मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। भगवान् शङ्कर के वर-प्रभाव से वही हेममाली मथुरा में सुदामा नाम का माली हुआ था—

महेश्वरवरेणासौ हेममाली महामनाः। मालाकारो द्वापरान्ते सुदामा संबभूव ह॥  
गर्ग सं०, म०ख०, १०/२५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह इकतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४१॥



## बयालीसवाँ अध्याय

( कुब्जा पर भगवान की कृपा, धनुष-भङ्ग तथा दुःस्वप्न-दर्शन से कंस का भयभीत होना )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मण्डली के साथ आगे बढ़े । मार्ग में उन्हें एक तरुणी स्त्री मिली । उसका मुख तो सुन्दर था, परन्तु वह शरीर से कुबड़ी थी । इसी कारण लोग उसे 'कुब्जा' कहते थे । उसका शरीर तीन जगह टेढ़ा था अतः उसे 'त्रिवक्रा' भी कहा जाता था किन्तु उसका असली नाम था—सैरन्ध्री । वह अपने हाथ में चन्दन, केसर आदि से मिश्रित अङ्गराग का पात्र लिये हुए जा रही थी । भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमरस का दान करनेवाले हैं । उन्होंने कुब्जा पर कृपा करने के लिये हँसते हुए उससे पूछा—

अथ ब्रजन् राजपथेन माधवः स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम् ।

विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां प्रपच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः ॥ १०/४२/१

सुन्दरी, तुम कौन हो ? यह अङ्गराग किसके लिये ले जा रही हो ? कल्याणी, सारी बात हमें सच-सच बतला दो । यह उत्तम चन्दनमिश्रित अङ्गराग क्या हमें भी दोगी ? यदि हमें दोगी तो इस दान से शीघ्र ही तुम्हारा महान् कल्याण होगा—

का त्वं वरोर्वेतदु हानुलेपनं कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः ।

देहावयोरङ्गविलेपमुत्तमं श्रेयस्ततस्ते न चिराद् भविष्यति ॥ १०/४२/२

सैरन्ध्री ने कहा— परम सुन्दर, मैं कंस की प्रियदासी हूँ । महाराज मुझे बहुत मानते हैं । मेरा नाम 'त्रिवक्रा' (कुब्जा) है । मैं उनके लिये अङ्गराग तैयार करती हूँ । मेरे द्वारा तैयार अङ्गराग महाराज कंस बहुत पसन्द करते हैं परन्तु आप दोनों से बढ़कर इसका और कोई उत्तम पात्र नहीं है । इसे आपको देने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी—

दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससंमता त्रिवक्रनामा हानुलेपकर्मणि ।

मद्भावितां भोजपतेरतिप्रियं विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥ १०/४२/३

मदनमोहन के सौन्दर्य, सुकुमारता, रसिकता, मन्द-मन्द मुस्कान, प्रेमालाप और चारु चितवन से कुब्जा का मन हाथ से निकल गया । उसने अपना हृदय भगवान् पर न्योछावर कर दिया । साथ ही उसने दोनों भाइयों को वह गाढ़ा अङ्गराग भी दे दिया । भगवान् और बलराम ने उस अङ्गराग को अपने शरीर पर लगा लिया । उससे वे दोनों अत्यन्त सुशोभित होने लगे । कुब्जा के व्यवहार से भगवान् श्रीकृष्ण उस पर अतिशय प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने दर्शन का प्रत्यक्ष फल दिखलाने के लिये तीन जगह से टेढ़ी कुब्जा को सीधा करने का विचार किया । भगवान् ने अपने चरणों से कुब्जा के पैर के दोनों पंजे दबा लिये और हाथ की दो अँगुलियों से उसकी टुड्डी ऊपर की ओर उठाकर उचका दिया । उचकाते ही उसके सारे अङ्ग सीधे और समान हो गये । मुकुन्द के स्पर्श के मिलते ही वह तत्काल परम सुन्दरी देवी बन गई । उसके बड़े-बड़े गोल-मटोल नितम्ब हो गये । उसकी छाती पर बड़े-बड़े मोटे पयोधर ऐसे प्रतीत होते थे मानों कृष्ण को हृदय-भवन में ले जाने के लिये द्वार पर दो मङ्गल कलश रक्खे गये हों । भगवान् का स्पर्श पाते ही कुब्जा रूप, गुण और उदारता से सम्पन्न हो गई । उसके मन में कामदेव ने उथल-पुथल मचा दी । वह भगवान् की छाती से लिपट जाने के लिये व्यग्र हो उठी अतः मुस्कराती हुई, नयनों का बाण चलाती हुई वह उनके दुपट्टे का छोर पकड़ कर बोली—वीरशिरोमणे, आइये, आप हमारे साथ घर चलिये । अब मैं आप को छोड़ने वाली नहीं हूँ । आपने मेरे मन को मथ डाला है । पुरुषोत्तम, मैं आप की दासी हूँ । आप मेरे ऊपर कृपा कीजिये ।

भगवान् ने देखा कि बलदाक और ग्वालबालों के सामने भी सैरन्ध्री को लज्जा की अनुभूति नहीं हो रही है



अतः उन्होंने हाव-भाव और प्रेम के साथ कहा—प्रिये, घबराओ नहीं। मैं अपना कार्यपूरा कर तुम्हारे घर अवश्य आऊँगा और तुम्हारी इच्छा को पूरी करूँगा। इस प्रकार मीठी-मीठी बातें करके भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे विदा कर दिया। इसके बाद भगवान् पहुँचे व्यापारियों के बाजार में। वहाँ उन लोगों ने विभिन्न भेंट और उपहारों से भगवान् का पूजन किया। इसी से व्यापारियों के घर में लक्ष्मी स्थायी रूप से निवास करती हैं। ब्राह्मण अपने ब्राह्मणत्व के अभिमान में अकड़े दूर ही खड़े रहे। फलतः लक्ष्मी भी उनके घर से दूर ही रहती हैं। मार्ग में जाते हुए भगवान् को देखकर वणिक्-स्त्रियों के हृदय में प्रेम का आवेग, मिलन की आकांक्षा जाग उठी। यहाँ तक कि उन्हें अपने अस्त-व्यस्त खिसके वस्त्रों का भी ध्यान न रहा। वे चित्र-लिखित मूर्तियों के समान ज्यों-की-त्यों ठगी-सी खड़ी रह गईं।

कुब्जा का पूर्वजन्म—माथुर हरिवंश की कथा को श्रीजीव गोस्वामी ने अपनी टीका में इस प्रकार उद्धृत किया है—कुब्जा पूर्वजन्म में एक राजकुमारी थी। नारद उसके पिता को भगवान् की कथा सुनाया करते थे। विवाहयोग्य होने पर उसने कहा—“मैं भगवान् के साथ ही विवाह करूँगी”। इस पर नारद ने उसे तपस्या करने का उपदेश दिया। तप पूर्ण होने पर आकाशवाणी ने कहा—दूसरे जन्म में जिसके स्पर्श से तुम्हारा कूबड़ ठीक हो जाय, उसीको अपना पुरुष समझ कर वरण कर लेना। वही मथुरा में कुब्जा हुई है।

ब्रह्मवैवर्त, कृष्ण-जन्म-खण्ड, के अनुसार सूर्यपणखा ने राम को शाप दिया था—‘हृतभार्यो भविष्यसि’—तुम्हारी भार्या का हरण होगा फिर वह रावण को सूचना देकर पुष्कर तीर्थ में तप करने चली गई। तप पूर्ण होने पर ब्रह्मा ने उसे वरदान दिया—तुम अपने अगले जन्म में रामरूप कृष्ण को पति के रूप में प्राप्त करोगी। इसके बाद उसने अपना शरीर अग्नि में भस्म कर दूसरे जन्म में मथुरा में कुब्जा बनी।

गर्गसंहिता, माथुर खण्ड, अध्याय ११ में भी इसी से मिलती जुलती कथा दी गई है।

हृदय—जैसा पीछे बतलाया जा चुका है—शरीर और मथुरा समान अर्थ के वाचक हैं। मथुरा का शासक कंस अभिमान है। जब बुद्धि अभिमान की सेवा में लगी रहती है तब वह काम, क्रोध और लोभ से वक्र (कुटिल) बन जाती है। यही रहस्य है कुब्जा के त्रिवक्रा होने का, तीन स्थान पर टेढ़ी होने का, प्रभु की आराधना से ही बुद्धि के ये तीनों दोष दूर होते हैं। फिर तो बुद्धि शुद्ध होकर सरल बन जाती है। भगवान् जिस बुद्धि का स्पर्श करते हैं, वह दोष-रहित होकर शुद्ध, सरल, सीधी बन जाती है यही है कुब्जा के सीधी, कूबड़-रहित होने का कारण। एक बार भगवान् का आनन्द मिल जाने पर बुद्धि फिर भगवान् का सान्निध्य छोड़ने के लिये तैयार नहीं होती। कुब्जा के द्वारा भगवान् का दुपट्टा पकड़ने और घर चलने का आग्रह करने रहस्य हृदय का यही है।

तदनन्तर भगवान् नागरिकों से धनुष का स्थान पूछते-पूछते वहाँ पहुँचे जहाँ चबूतरे पर वह धनुष रक्खा हुआ था। वह धनुष इन्द्र के धनुष की तरह अतिविशाल था। उसकी रक्षा में बहुत-से सैनिक शस्त्र-सज्ज हो खड़े थे। भगवान् वहाँ पहुँचते ही धनुष के पास चले गये।

रक्षकों के मना करने पर भी उन्होंने जबर्दस्ती धनुष को बाँए हाथ से उठा लिया। उस पर डोरी चढ़ाई। उसे खींचा और बीचोबीच उसे वैसे ही तोड़ दिया जैसे मतवाला गजराज ईख के दण्ड को अनायास तोड़ डालता है। इतना सब करने में उन्हें एक क्षण से अधिक नहीं लगा। धनुष टूटने की भयङ्कर ध्वनि से आकाश, पाताल, अन्तरिक्ष और सभी दिशाएँ गूँज उठीं। उसे सुनकर कंस का कलेजा काँप उठा—“कंसस्त्रासमुपागमत्” ॥१८॥

१. जनकपुरी में राम ने भी इसी प्रकार शिव-धनुष को तोड़ा था—“लेत चढ़ावत खँचत गाढ़े। काहुँ न लखा देख सब ठाढ़े ॥ रामचरितमानस ॥



धनुष की रक्षा में नियुक्त सैनिक—पकड़ो, मारो, बाँधो, जाने न पावे—ऐसा कहते हुए कृष्ण की ओर दौड़े। बलराम और कृष्ण ने टूटे हुए धनुष के टुकड़ों को उठाया और उसी से पीट-पीट कर चौदह सहस्र सैनिकों को मार डाला। बचे-खुचे सैनिक अपना प्राण बचाने के लिये वहाँ से भाग निकले। कंस ने जो सेना रक्षकों की सहायता के लिये भेजी थी उसकी भी दोनों भाइयों ने वही दुर्दशा की जो रक्षकों की की थी।

इसके बाद वे यज्ञशाला के प्रधान द्वार से निकल कर मथुरापुरी की शोभा निरखते हुए विचरने लगे। जब नागरिकों ने दोनों भाइयों के इस अद्भुत पराक्रम की बात सुनी और उनके तेज, साहस और अनुपम सौन्दर्य को देखा तो वे उन्हें देवता मानने लगे। कृष्ण और राम के पुरी-भ्रमण की बेला में ही सूर्य अस्ताचल के शिखर पर जा पहुँचे अतः दोनों भाई साथी गोपों के साथ नगर के बाहर जहाँ छकड़े रुके थे वहाँ चले आये—“शकटमीयतुः” ॥२३॥

हृदय-धनुष-यज्ञ का कल पाँचवाँ और अन्तिम दिन था। यदि आज चौथे दिन धनुष भङ्ग न होता तो फिर कंस का वध संभव ही न था। इसी रहस्य को ध्यान में रखते हुए कृष्ण ने नगर-भ्रमण की योजना बनाई थी और धनुष का काम तमाम किया था ॥

वहाँ जाकर उन लोगों ने नन्द बाबा को प्रणाम किया। बाबा ने पूछा—कन्हैया, नगर-भ्रमण के समय तुमने कुछ गड़बड़ तो नहीं की? कन्हैया ने कहा—बाबा, हम लोग धीरे से नगर भ्रमण कर फिर चुपचाप सीधे वापस आ गये। फिर हाथ-पैर धोकर श्रीकृष्ण और बलराम जी ने दूध से बने हुए खीर आदि पदार्थों का भोजन किया। आने की बेला में मैया यशोदा ने इन भोज्य सामग्रियों को नन्द के साथ भेजा था। भोजन के बाद गुप्तरूप से उन लोगों ने कंस की भावी योजनाओं का पता लगा कर उस रात को वहाँ आराम से सो गये।

इधर धनुष के भङ्ग और सैनिकों के वध को सुनकर कंस भयभीत हो उठा। रात में उसकी नींद ही उड़ गई। उसे बहुत-से दुःस्वप्न और अपशकुन दिखलाई पड़ने लगे। शीशे के सामने खड़े होने पर उसे अपना शिर नहीं दिखलाई पड़ता था। छत पर भ्रमण की बेला में उसे दो चन्द्र दिखलाई पड़े। अपनी परछाई में उसे छिद्र दिखलाई पड़ने लगे। कान ढँक कर सुनने पर भी उसे प्राण-सञ्चार की ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती थी। वृक्षों के हरित पत्र उसे पीत दिखलाई पड़ते थे। झपकी लगने पर वह देखता था कि प्रेत उसका आलिंगन कर रहे हैं, वह गधे पर सवार होकर दक्षिण दिशा की यात्रा कर रहा है। उस समय उसका शरीर नंगा है और उसने तेल लगा रक्खा है। इस प्रकार के दुःस्वप्न और अपशकुन प्राणी के शीघ्र मृत्यु के सूचक हैं। इन दुर्निमित्तों के कारण कंस को बड़ी चिन्ता हुई। वह मरण की कल्पना से भयभीत हो उठा और उसे नींद नहीं आई।

प्रातःकाल होते ही कंस ने मल्ल-क्रीडा (दंगल) का महोत्सव प्रारम्भ करवाया। उस दिन चतुर्दशी थी। मल्ल-क्रीडा के लिये बड़े-बड़े पहलवान बुलाये गये। रङ्गभूमि की खूब सजावट हुई। तूर्य, भेरी, मृदङ्ग आदि विविध वाद्य बजने लगे। कुश्ती देखने के लिये लोग सब ओर यथायोग्य आसनों पर जा बैठे। स्वयं कंस भी भीतर से दुःखी रोते हुए भी बाहर से प्रसन्न होने का नाटक करता हुआ, एक अति विशाल ऊँचे सिंहासन पर जा बैठा। चाणूर, मुष्टिक, शल, तोशल आदि मल्ल अखाड़ों में उतर कर ताल ठोकने लगे। उनके ताल ठोकने की गड़गड़ाहट बहुत दूर तक सुनाई पड़ती थी। बाहर से आये हुए बहुत-से प्रसिद्ध पहलवान भी अपने गुरुओं के साथ आंकर अखाड़े के चारों ओर बैठ गये। इसी समय भोजराज कंस ने नन्द आदि गोपों को बुलवाया। उन लोगों ने जाकर महाराज को भौंति-भौंति के भेंट और उपहार दिये। फिर जाकर वे मञ्च पर एक तरफ बैठ गये—

१. यहाँ शकट का अर्थ है—जहाँ शकट खड़े थे, वह स्थान। शकटाः सन्ति अत्रेति शकटम्। यहाँ अशादिगण में पठित होने के कारण मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ है।



नन्दगोपादयो गोपा भोजराजसमाहुताः । निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन् मञ्च आविशन् ॥

१०/४२/३८

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह बयालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४२॥

## तैतालीसवाँ अध्याय

( कुवलयपीड का उद्धार कर कृष्ण और बलराम का अखाड़े में प्रवेश )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, प्रातःकाल हुआ । कृष्ण और बलराम ने स्नान आदि नित्य-कर्म सम्पन्न किया । इसी समय उत्सव-स्थल में दुन्दुभि बजने लगी । उसे सुनकर दोनों भाई रङ्गभूमि देखने के लिये चल पड़े । जब वे रङ्गद्वार पर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वहाँ विशालकाय हाथी कुवलयपीड<sup>१</sup> खड़ा है । महावत की प्रेरणा से वह इधर-उधर चहलकदमी कर रहा है । उसे देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी कमर दुपट्टे से कस कर बाँध ली तथा अपनी घुँघराली अलकें समेट ली फिर उन्होंने मेघ के समान गम्भीर वाणी से महावत को डपटते हुए कहा—महावतओ महावत, हम दोनों को भीतर जाने का रास्ता दे दो । हमारे मार्ग से हट जाओ । अरे तू सुनता नहीं । देर मत कर नहीं तो मैं हाथी के साथ तुझे मार कर अभी यमराज के घर भेजता हूँ—

अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नौ देह्यपक्रम मा चिरम् । नो चेत् सकुञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम्<sup>२</sup>

१०/४३/४

भगवान् के द्वारा इस प्रकार तिरस्कारपूर्वक कहे जाने पर महावत क्रोध से तिलमिला उठा और उसने मृत्यु के समान अत्यन्त भयङ्कर कुवलयपीड को अङ्कुश की मार से क्रुद्ध करके श्रीकृष्ण की ओर दौड़ा दिया । श्रीकृष्ण तो पहले से ही इसके लिये तैयार थे । कुवलयपीड ने झपटकर भगवान् को अपनी सूँड़ में लपेट लिया परन्तु भगवान् सूँड़ की लपेट से बाहर सरक आये और उसे एक घूँसा जमाकर उसके पैरों के बीच में जा छिपे । उन्हें अपने सामने न देखकर कुवलयपीड को बड़ा क्रोध हुआ । एक तो वह मदोन्मत्त था । दूसरे उसे शराब पिलाकर पागल बना दिया गया था । वह कृष्ण को चक्कर काटकर खोजने लगा । उन्हें पकड़ भी लिया किन्तु उन्होंने बलपूर्वक अपने को छुड़ा लिया । ऐसा खेल कई बार हुआ, अन्त में भगवान् ने पैतरा बदलकर गजराज की पूँछ पकड़ ली और उसे दो सौ गज की दूरी तक खींचकर ले गये फिर तुरन्त सामने आकर उसे वज्र जैसा एक घूँसा मारा । इस मार से हाथी तिलमिला उठा । वह जोर से श्रीकृष्ण पर झपटा । भगवान् ने उसके एक दाँत को उखाड़ लिया और उसी से पीट-पीट कर महावत के सहित उसे मार डाला । दूसरा दाँत बलराम ने उखाड़ लिया । इसके बाद मृतक हाथी को द्वार पर छोड़कर दोनों भाई हाथी का एक-एक दाँत डण्डे की भाँति अपने कन्धे पर रखे हुए रङ्गभूमि में प्रविष्ट हुए । उस समय उनके

१. हाथी का कुवलयपीड नाम सार्थक था । उसके चलने पर धमक से पृथ्वी डोलती-सी प्रतीत होती थी । 'कु' कहते हैं पृथ्वी को । वलय कहते हैं मण्डल को, उसको जो पीडित करे वह है कुवलयपीड—कुवलयं भूमण्डलम् आपीडयतीति कुवलयपीडः ।

२. यमसादनम्—'यमसादन' होना चाहिये 'यमसादन' नहीं । किन्तु सदन लिखने पर छन्दोभङ्ग होगा अतः यहाँ स्वार्थ में अण् प्रत्यय करके आदि वृद्धि के द्वारा 'सादनम्' सिद्ध किया जाता है । ऐसी स्थिति में 'सादन' का अर्थ 'सदन' ही होगा किन्तु वंशीधर जैसे विद्वान् टीकाकार का कथन है कि—वस्तुतस्तु यमेन=मनोनिरोधेन साधते आसाधते प्राप्यते इति यमसादनं मोक्षः । योग की प्रक्रिया यम अर्थात् मनोनिग्रह करके जो प्राप्त किया जाय वह यमसादन अर्थात् मोक्ष है । भगवान् के हाथों से मरने पर प्राणी यमपुरी नहीं, वैकुण्ठपुरी जाते हैं । यही उचित है ।



मुख-मण्डल पर पसीने की बूँदें छलछला आई थीं। उस समय नवरसों के आश्रय भगवान् एक रस से और अधिक होकर वहाँ उपस्थित लोगों को दशरूपों में प्रतीत हुए।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी के साथ रङ्गभूमि में पधारे, उस समय वे पहलवानों को वज्र की तरह कठोर शरीरवाले, साधारण मनुष्यों को नर-रत्न, स्त्रियों को मूर्तिमान् कामदेव, गोपों को स्वजन, दुष्ट राजाओं को दण्ड देनेवाले शासक, माता-पिता के समान बड़े-बूढ़ों को शिशु, कंस को मृत्यु, अज्ञानियों को विराट्, योगियों को परम तत्त्व और भक्तशिरोमणि वृष्णिवंशियों को अपने इष्टदेव के रूप में प्रतीत हुए—

मल्लानामशनिर्नुणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्, गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।  
मृत्युर्भोजपतेर्विराड्विदुषां तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साप्रजः ॥

१०/४३/१७

राजन्, वैसे तो कंस बड़ा धीर-वीर था फिर भी जब उसने देखा कि इन दोनों ने कुवलयापीड को मार डाला, तब उसकी समझ में यह बात आ गई कि इनको जीतना तो बहुत कठिन है। उस समय वह बहुत घबरा गया।

परीक्षित, मंचस्थ जन, मथुरा के नागरिक और राष्ट्र के एकत्रित जन-समूह श्रीकृष्ण और बलराम के सौन्दर्य को देखकर प्रसन्नता से खिल उठे। उनके नयन विकसित हो गये। दोनों बन्धुओं के मुख-सौन्दर्य को निरख-निरख कर लोगों की आखें तृप्त ही न होती थीं—“यपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम्” ॥२०॥ वे उन्हें इस प्रकार से देख रहे थे मानो नेत्रों से पी रहे हों, जिह्वा से चाट रहे हों, नासिका से सूँघ रहे हों और भुजाओं से पकड़ कर हृदय से सटा रहे हों। वे परस्पर भगवान् की मधुर लीलाओं की चर्चा करते हुए कह रहे थे—वसुदेव के घर में अवतीर्ण हुए ये दोनों साक्षात् भगवान् नारायण के अंश हैं। गुप्तरूप से नन्द के घर में निवास करते हुए इन्होंने पूतना, तृणावर्त, केशी तथा धेनुक आदि कतिपय दैत्यों का काम तमाम किया है, कालिय नाग का दमन किया है और इन्द्र का मान-मर्दन करने के लिये सप्ताह भर गिरिराज गोवर्धन को उठाकर आँधी-पानी आदि से व्रज की रक्षा की है। गोपियाँ इनके मुख-कमल को निहार-निहार कर प्रसन्न रहती हुई अनायास ही सारे सन्तानों से मुक्त हो जाया करती थीं। मेघ की तरह श्यामवर्ण वाले श्रीकृष्ण हैं और दूसरे गौरवर्ण वाले इनके बड़े भाई बलराम जी हैं। सुना जाता है कि इन्होंने ही प्रलम्बासुर, वत्सासुर और बकासुर का वध किया है। इस प्रकार की चर्चाएँ लोगों में चल रही थीं। इधर युद्ध के बाजे बज रहे थे। उसी समय प्रधानतम मल्ल चाणूर ने भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम को सम्बोधन करके यह बात कही—अरे, हमारे महाराज ने यह सुना है कि तुम दोनों कुशती लड़ने में अतिशय निपुण हो अतः उन्होंने तुम्हारा कौशल देखने के लिये तुम्हें यहाँ बुलाया है। राजा की इच्छा का अनुवर्तन करनेवाली प्रजा का कल्याण होता है और उनके मन के विपरीत कार्य करनेवालों को हानि का सामना करना पड़ता है। हम सब राजा की प्रजा हैं, अतः राजा का प्रिय कार्य करना हमारा कर्तव्य है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने चाणूर की बात सुनी। उन्हें उन सब के साथ मल्ल युद्ध करना अभीष्ट भी था अतः उसकी बात का अभिनन्दन करते हुए उन्होंने देश और काल के अनुसार कहना प्रारम्भ किया—चाणूर, तुम ठीक कह रहे हो। हम वनवासी भी भोजराज कंस की प्रजा हैं। हमें इन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिये। इसी में हमारा कल्याण है किन्तु चाणूर, हम लोग अभी बालक हैं अतः हम अपने समान वयवाले बालकों के साथ कुशती लड़ने का खेल खेलेंगे। बेजोड़ लोगों की कुशती देखने से दर्शक पाप के भागीदार बनते हैं।

कृष्ण की बात सुनकर चाणूर ने कहा—तुम और बलराम न बालक हो और न किशोर ही। तुम दोनों बलवानों में श्रेष्ठ हो। तुमने अभी-अभी सहस्र हथियों के बल से सम्पन्न कुवलयापीड को खेल-ही-खेल में मार डाला है अतः



हम लोगों के साथ तुम दोनों का मल्ल युद्ध धर्म-विरुद्ध नहीं है इसलिये श्रीकृष्ण, तुम मुझपर अपना जोर आजमाओ और बलराम के साथ मुष्टिक भिड़ेगा—

तस्माद् भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नानयोऽत्र वै । मयि विक्रम वाष्ण्येय बलेन सह मुष्टिकः ॥

१०/४३/४०

### कुवल्यापीड के पूर्वजन्म का वृत्तान्त

बलि का एक बेटा था। उसका नाम था मन्दगति। उसका शरीर विशाल था। लाख हाथियों के समान वह बलशाली था। एक समय रङ्गजी की यात्रा में वह लोगों को धकियाते हुए बड़ी तेजी से जा रहा था। एक स्थान पर उसके धक्के से वृद्ध 'त्रित' मुनि गिर पड़े। इस पर उन्होंने शाप देते हुए कहा—अरे दुष्ट, इस यात्रा में भी तू उन्मत्त हाथी की भाँति लोगों का मर्दन करते हुए चल रहे हो अतः जा तू हाथी ही हो जा। बाद में उसकी प्रार्थना पर मुनिवर ने कहा—द्वापर के अन्त में मथुरा में श्रीकृष्ण के हाथ से मारे जाने पर तुम्हारी मुक्ति हो जायेगी। यह देव-दुर्लभ वरदान मैं तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ।

वही मन्दगति दैत्य विन्ध्यपर्वत पर कुवल्यापीड नाम का हाथी बना। उसमें एक हजार हाथियों का बल भरा हुआ था—उसे पकड़वाकर जरासन्ध ने अपनी सेना में रख लिया था। बाद में उसने उसे अपने दामाद कंस को दहेज में दे दिया था। (गर्गसंहिता, मथुराखण्ड, अ० ११, श्लोक १२-२६)

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४३॥

## चौवालीसवाँ अध्याय

### (चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लों के साथ कंस का उद्धार)

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण ने मन-ही-मन चाणूर आदि के वध का सङ्कल्प कर लिया था। जोड़ बद दिये जाने पर श्रीकृष्ण चाणूर से और बलराम जी मुष्टिक से जाकर भिड़ गये—

एवं चर्चितसङ्कल्पो भगवान् मधुसूदनः । आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः ॥१०/४४/१

वे लोग एक दूसरे को जीतने की इच्छा से हाँथ से हाँथ पकड़कर और पैरों से पैर में लंगी मार कर बलपूर्वक अपनी-अपनी ओर खींचने लगे। वे पंजों से पंजे, घुटनों से घुटने, माथों से माथा और छाती से छाती भिड़ाकर एक-दूसरे पर चोट करने लगे। इस प्रकार दाँव-पेंच करते-करते अपने-अपने जोड़ीदार को पकड़ कर इधर-उधर घुमाते, दूर बकेल देते, जोर से जकड़ लेते, लिपट जाते, उठा कर पटक देते, छटक कर निकल भागते और कभी छोड़ कर पीछे हट जाते। इस प्रकार एक-दूसरे को रोकते, प्रहार करते और अपने-अपने जोड़ीदार को पछाड़ देने की चेष्टा करते। कभी कोई नीचे गिर जाता, तो दूसरा उसे घुटनों और पैरों से दबा कर उठा लेता। हाथों से पकड़ कर ऊपर ले जाता। गले में लिपट जाने पर बकेल देता और आवश्यक होने पर हाथ-पाँव इकट्ठे करके गाँठ-बाँध देता।

परीक्षित, इस दंगल को देखने के लिये नगर की बहुत-सी स्त्रियाँ भी आई हुई थीं। उन्होंने जब देखा कि बड़े-बड़े दिग्गज पहलवानों के साथ ये छोटे-छोटे बलहीन बालक लड़ाये जा रहे हैं, तब वे परस्पर इस प्रकार बात करने लगीं—यहाँ राजा कंस के सभासद बड़ा अन्याय और अधर्म कर रहे हैं। यह बड़े खेद की बात है कि ये लोग मौन होकर इस प्रकार की बेजोड़ कुशितियों को देख रहे हैं और उसका अनुमोदन भी कर रहे हैं। कहीं वज्रकाय पर्वताकार



ये मल्ल और कहाँ सुकुमार शरीरवाले ये दोनों किशोर बालक । देखो, देखो, श्रीकृष्ण शत्रु के चारों ओर पैतरा बदल रहे हैं । कमल पर ओस कण की भाँति उनके मुख पर पसीने की बूँदें छलछला आई हैं । मुष्टिक के प्रति बलराम का मुख भी क्रोध से आरक्त हो उठा है । इस समय उनके मुख पर क्रोध-युक्त हास्य विराजमान है ।

भगवान् तो सर्वान्तर्यामी हैं । उन्होंने देखा कि नगर की स्त्रियों का हृदय विकल हो रहा है, तो माया के द्वारा प्रेरित कर उनका मन वृन्दावन में पहुँचा दिया । अब वे कहने लगीं ।—सखी, सच पूछो तो ब्रजभूमि ही परम पवित्र और धन्य है क्योंकि वहाँ ये पुरुषोत्तम गोपवेश में छिपकर रहते हैं । स्वयं भगवान् शङ्कर और लक्ष्मी जी जिनके चरणों की आराधना करती हैं, वे ही प्रभु वहाँ रंग-विरंगे जङ्गली फूलों की माला धारण करते हैं तथा बलराम जी के साथ बंशी बजाते, गौएँ चराते और भाँति-भाँति की क्रीडा करते हुए आनन्द से विचरण करते हैं । सखी, पता नहीं, गोपियों ने कौन-सी तपस्या की थी, जो दोनों नेत्रों से नित्य-निरन्तर इनकी रूप-माधुरी का पान करती रहती हैं । इनका रूप लक्ष्मी तथा ऐश्वर्य का एकान्त भाजन और प्रतिक्षण नवीन-सा प्रतीत होनेवाला है ।

सखी, ब्रजाङ्गनाएँ धन्य-धन्य हैं । वे दूध दुहते, दधि मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकों को झूला झूलाते, रोते हुए बालकों को चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरों को झाड़ते-बुहारते—कहाँ तक कहें सारे कामकाज करते समय श्रीकृष्ण की लीलाओं के गान में ही मस्त रहती हैं । उनकी आँखों में आँसू छलछला आते हैं और कभी-कभी उनका गला भी अवरुद्ध हो जाता है—

या दोहनेऽवहने मथनोपलेपप्रेङ्खेक्षुनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठो धन्या ब्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥१०/४४/१५

गोपियों के भाग्य की सराहना करना किसी के वश की बात नहीं है । प्रातःकाल गायों को चराने के लिये ले जाते समय और सायंकाल उन्हें लेकर ब्रज में लौटते समय ये श्रीकृष्ण बड़े ही मधुर स्वर से वंशी बजाते हैं । उसे सुनकर गोपियाँ घर का सारा कामकाज छोड़कर झटपट रास्ते में दौड़कर आ जाती हैं । उस समय वे श्रीकृष्ण का मन्द-मन्द मुस्कान एवं कृपाभरी चितवन से युक्त मुखकमल निहार-निहार कर निहाल हो जाती हैं । वस्तुतः इस संसार में गोपियाँ ही परम भाग्यशालिनी हैं ।

राजन्, जिस समय पुरवासिनी स्त्रियाँ इस प्रकार की बातें कर रही थीं, उस समय योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने मन-ही-मन शत्रु को मार डालने का निश्चय किया । स्त्रियों की ये बातें माता-पिता देवकी और वसुदेव भी सुन रहे थे । उनका हृदय भय से काँप रहा था, क्योंकि वे अपने पुत्रों के अमित पराक्रम को नहीं समझते थे—

सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा पुत्रस्नेहशुचाऽऽतुरौ । पितरावन्वतप्येतां पुत्रयोरबुधौ बलम् ॥

१०/४४/१८

भगवान् ने सोचा कि देरी होने पर माता-पिता को कष्ट होगा अतः कुछ पैतरे बदलने और दाँव-पेंच दिखाने के बाद भगवान् ने चाणूर को ऐसा हाथ मारा कि वह तिलमिला उठा । भगवान् के अङ्गों की रगड़ से चाणूर का रंग-रंग टूट रहा था—“चाणूरो भज्यमानाङ्गः” ॥१२०॥ फिर भी एक बार जोर लगा कर वह बड़े वेग से श्रीकृष्ण पर झपटा और उनकी छाती में घूँसे से जोरदार प्रहार किया किन्तु उसका असर भगवान् पर कुछ भी न हुआ । इसके बाद भगवान् ने उसके दोनों हाथों को कसकर पकड़ लिया और उसे अन्तरिक्ष में कई बार घुमाकर पृथ्वी पर दे मारा ।

१. कंस ने वसुदेव और देवकी को मल्लशाला के बगल में ही कैद कर रक्खा था । वह चाहता था कि वसुदेव-देवकी ने मेरे साथ छल किया है अतः आज अपनी आँखों से पुत्रों के मरण को देखें ।



मुख से रक्त बहाता हुआ, मथुरा ही नहीं अपितु भारत का वह बेजोड़ मल्ल बिदा हो गया इस संसार से। इसी प्रकार मुष्टिक ने भी बलराम पर धूँसे से प्रहार किया। इस पर महाबली बलराम जी ने उसे एक जोरदार तमाचा जड़ दिया। तमाचा लगने से वह काँप उठा और आँधी से उखड़े हुए वृक्ष के समान अत्यन्त व्यथित होकर भूतल पर गिर पड़ा। अन्त में खून उगलता हुआ वह भी इस संसार से विदा हो गया।

बड़े भाइयों चाणूर और मुष्टिक के मारे जाने के बाद कूट बलराम के सामने आया। उसे उन्होंने बाएँ हाथ के धूँसे से अवज्ञापूर्वक मार डाला। उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण ने पैर की ठोकर से शल का शिर धड़ से अलग कर दिया और तोसल को तिनके की तरह चीर कर दो टुकड़े कर दिये। इस प्रकार ये भी दोनों धराशायी हो गये। चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशक—इन पाँचों पहलवानों के मार दिये जाने पर शेष अपना प्राण बचाने के लिये वहाँ से भाग खड़े हुए—

चाणूरे मुष्टिके कूटे शले तोशलके हते । शेषाः प्रदुद्बुर्मुल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥१०/४४/२८

सारे मल्लों के अखाड़ा छोड़कर भाग जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम ने अपने साथी ग्वाल-बालों को खींच कर उनके साथ मल्लयुद्ध करने लगे। उस समय बज रही मेरी-ध्वनि के साथ उनके नूपुरों की झंकार बड़ी ही मनोहर प्रतीत हो रही थी। राम और कृष्ण के इस अद्भुत शौर्य-लीला को देखकर कंस के अतिरिक्त वहाँ उपस्थित सारे लोग आनन्दित हो उठे। श्रेष्ठ ब्राह्मण और साधु-पुरुष वाह-वाह, शाबाश-शाबाश, कहने लगे। यह सब देखकर कंस क्षुब्ध हो उठा। उसने क्रोधपूर्वक डाटते हुए कहा—अरे, बन्द करो गाजा-बाजा। वसुदेव के इन दुश्चरित्र लड़कों को नगर से बाहर निकाल दो। गोपों का सारा धन छीन लो और दुर्बुद्धि नन्द को कैद कर लो। दुष्ट वसुदेव का शीघ्र वध कर डालो, यद्यपि उग्रसेन मेरे पिता हैं, किन्तु वे शत्रुओं से मिले हुए हैं, अतः उन्हें भी मार डालो। कंस के यह कहते ही भगवान् रोष से भर उठे। वे क्रुद्ध कर कंस के विशाल ऊँचे मञ्च पर चढ़ गये। यह देखकर कंस घबरा उठा। उसने अपनी ढाल तलवार लेकर बचाव के लिये इधर-उधर पैतरा बदलना प्रारम्भ कर दिया। आकाश में उड़ते हुए बाज के समान वह कभी दाईं ओर जाता तो कभी बाईं ओर परन्तु भगवान् का प्रचण्ड तेज अत्यन्त दुःसह है। जैसे गरुड साँप को पकड़ लेता है, वैसे ही भगवान् ने जबर्दस्ती उसे पकड़ लिया। इसी समय कंस का मुकुट शिर से गिर पड़ा। श्रीकृष्ण ने उसका केश पकड़ कर मञ्च से नीचे फेंक दिया और फिर स्वयं सकल ब्रह्माण्ड का बोझ लेकर उसके ऊपर क्रुद्ध पड़े। इससे कंस का शरीर चकनाचूर हो गया—

प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात् ।

तस्योपरिष्ठात् स्वयमब्जनाभः पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः ॥१०/४४/३६

जिस कंस के भय से सारा ब्रज-मण्डल थर्राता था, वह क्षणभर में इस संसार से विदा हो गया। निष्पाण कंस के केश को पकड़कर बहुत देर तक भगवान् उसे पृथिवी पर घसीटते रहे। चतुर्दिक् हा-हाकार मच गया। कंस चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते सर्वदा श्रीकृष्ण का ही चिन्तन करता रहता था। इस प्रगाढ़ नित्य चिन्तन के फलस्वरूप कंस को सारूप्य मुक्ति की प्राप्ति हुई। वह कृष्ण का रूप धारण कर गोलोक धाम में चला गया। इस प्रकार की मुक्ति बड़े-बड़े योगियों को बड़ी मुश्किल से प्राप्त होती है।

कंस के कंक, न्यग्रोध आदि आठ भाई थे। वे अपने भाई की मौत का बदला लेने के लिये कृष्ण और बलराम पर एक साथ झपट पड़े किन्तु महाबली बलराम ने लौहदण्ड से पीट-पीट कर उनको भी इस संसार से विदा कर दिया। उस समय आकाश में दुन्दभियाँ बजने लगीं। शंकर, ब्रह्मा आदि देवगण कृष्ण के ऊपर पुष्पों की वर्षा कर उनकी स्तुति करने लगे। अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। कंस आदि वीरों की स्त्रियाँ छाती पीट-पीट कर विलाप करने



लगीं। वे अपने मृत पतियों के शरीर से लिपट-लिपट कर मूर्च्छित हो जाया करती थीं। भगवान् ने उन सबको ढाढस बँधाया, सान्त्वना प्रदान की। फिर लोक-रीति के अनुसार उनका क्रिया-कर्म करवाया। फिर श्रीकृष्ण और बलराम बड़ी शीघ्रता से जेल में निरुद्ध अपने माता-पिता देवकी और वसुदेव को छुड़ाकर उनके चरणों पर अपना मस्तक रखकर प्रणाम किये किन्तु अपने पुत्रों के प्रणाम करने पर भी देवकी और वसुदेव ने उन्हें जगदीश्वर समझकर अपने हृदय से नहीं लगाया। उन्हें शङ्का हो गई थी कि हम जगदीश्वर को अपना बेटा कैसे मानें ? ॥४४॥

### कंस और चाणूर आदि प्रमुख पाँच मल्लों का पूर्व जन्म

कंस—कंस अपने पूर्व जन्म में 'कालनेमि' नाम का असुर था। समुद्र-मन्थन की बेला में यह विष्णु के हाथों मारा गया था इसीलिये योगमाया ने कंस से कहा था—तेरे पूर्वजन्म का शत्रु तुझे मारने के लिये किसी स्थान पर पैदा हो चुका है—“यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृथा” ॥१०/४/१२॥ मार दिये जाने पर भी उसे शुक्राचार्य ने अपनी सञ्जीविनी विद्या के प्रताप से जीवित कर दिया था। विष्णु से युद्ध करने की उसकी इच्छा बनी ही रही अतः मन्दराचल की तलहटी में दूर्वास का पान करके उसने दिव्य सौ वर्षों तक तप किया। उसके तप से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने वर मांगने को कहा। कालनेमि ने कहा—सारे देवताओं के मूल भगवान् विष्णु हैं अतः उन देवताओं के हाथ से मेरी मृत्यु न हो। इस पर ब्रह्मा जी ने कहा—दैत्यराज, तूने यह बड़ा दुर्लभ वर माँगा है फिर भी यह किसी दूसरे जन्म में तुम्हें प्राप्त हो सकता है। मेरी वाणी कभी मिथ्या नहीं हुआ करती। द्वापर में वही कालनेमि उग्रसेन की पत्नी पद्मावती के गर्भ से उत्पन्न हुआ। कुमारवस्था में ही वह बड़े-बड़े दिग्गज पहलवानों से मल्ल-युद्ध किया करता था। एक समय की घटना है। मगधराज जरासन्ध दिग्विजय के लिये निकला था। यमुना जी के पास उसका डेरा पड़ा था। उसके पास हजार हाथियों के बल से सम्पन्न एक हाथी था। हाथी का नाम था 'कुवलयापीड'। एक दिन वह अपने बन्धन को तोड़कर भाग निकला। चारों ओर खलबली मच गई। किसी की हिम्मत उसे पकड़ने की नहीं होती थी। मथुरा में कंस के पास जब यह हाथी पहुँचा तो उसने उसकी सूँड़ पकड़ कर चारों ओर घुमाया और फिर उसे जरासंध की सेना में फेंक दिया। जरासंध ने कंस की इस उद्धृत वीरता से प्रभावित होकर अपनी 'अस्ति' और 'प्राप्ति' नामक दो बेटियों का विवाह उससे करके दहेज में उसे कुवलयापीड हाथी प्रदान कर दिया।

कालान्तर में कंस दिग्विजय के लिये निकला। दशम स्कन्ध में तृणार्वात आदि जो-जो दैत्य मारे गये हैं, उन सबको युद्ध में हरा कर वह अपनी राजधानी में लाया और उन्हें अपना दास बनाकर रख लिया।

एक बार की घटना है। कंस भगवान् परशुराम की तपःस्थली महेन्द्र पर्वत पर पहुँचा। वहाँ उसने उस पर्वत को ही उखाड़ लिया। यह देखकर परशुराम जी क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने डाँटते हुए कंस से कहा—अरे कीड़े, बन्दरी के बच्चे; तू मच्छर के समान है। इधर देखो, क्षत्रियों के विशाल समुदाय का विनाशक यह मेरा धनुष है। यदि तू इसे न चढ़ा सका तो मैं तेरा बल नष्ट कर दूँगा। कंस ने वह धनुष चढ़ा दिया और उनके चरणों पर गिरकर अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना की। परशुराम ने प्रसन्न होकर वह धनुष कंस को प्रदान कर दिया और कहा—जो इस धनुष को तोड़ेगा, उसी के हाथों तेरी मृत्यु होगी। तदनुसार भगवान् ने उस धनुष को तोड़कर कंस का वध किया—  
यत्कोदण्डं वैष्णवं तद्येन भंगीभविष्यति। परिपूर्णतमो देव स वै त्वां घातयिष्यति॥

॥ गार्ग० सं० गोलो० ख० ६/४३ ॥

### चाणूर आदि पाँच मल्ल

कंस द्वन्द्वयुद्ध का महान् प्रेमी था। प्रचण्ड पराक्रमी कंस एक बार माहिषतीपुरी में गया। माहिषती नरेश के



पाँच पुत्र थे। वे सभी प्रख्यात मल्ल थे। उनके नाम थे—चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल। कंस ने उनसे प्रेमपूर्वक कहा—हमारे साथ तुम लोगों का मल्ल युद्ध हो। यदि मैं हारूँगा तो आजीवन तुम लोगों की सेवा करूँगा और यदि तुम लोग हारोगे तो मैं तुम सब को अपना सेवक बना लूँगा। कंस की शर्त उन लोगों ने स्वीकार कर ली। फलतः मल्लयुद्ध प्रारम्भ हुआ। कंस ने बिना किसी परिश्रम के ही सबको हराकर अपने अधीन कर लिया और उन्हें मथुरा लाया।

### चाणूर आदि का पूर्वजन्म

उत्तथ्य मुनि अमरावती में निवास करते थे। उनके अति सुन्दर पाँच पुत्र थे। वे अध्ययन छोड़कर बलि से कुशती-कला सीखते थे। यह देखकर एक दिन मुनि ने क्रुद्ध होकर कहा—अरे मूर्खों, तुम लोग ब्राह्मण-कुमार होकर भी यह क्षत्रिय का कर्म सीखते हो अतः तुम लोग भारत में जाकर मल्ल ही हो जाओ। मुनि के इसी शाप के कारण वे भूतल पर चाणूर आदि मल्ल हुए थे—

तस्माद् भवन्तो भूयासुर्मल्ला वै भारताजिरे । चाणूरो मुष्टिकः कूटः शलस्तोशल एव च ॥  
गर्ग०सं० मथुरा खं०, १२/९

### कंस के कङ्क आदि आठ भाइयों का पूर्वजन्म

घटना अतिप्राचीन काल की है। अलकापुरी में एक महान् शिव-भक्त रहते थे। उनका नाम था—देवयक्ष। उनके आठ पुत्र थे। एकबार देवयक्ष ने अपने पुत्रों से कहा—शिव-पूजन के लिये मानसरोवर से एक सहस्र कमल पुष्प लाओ। पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर वे मानसरोवर गये। वहाँ से एक सहस्र कमल पुष्प लेकर आने लगे किन्तु गड़बड़ी यह हुई कि मार्ग में पुष्पों की सुगन्ध से आकृष्ट होकर उन लोगों ने उन्हें सूँघ लिया और फिर पिता को लाकर दे दिया। सूँघ लेने के कारण पुष्प उच्छिष्ट हो गये। इस अपराध के कारण वे तीन जन्मों तक असुर हुए—

उच्छीष्टीकृतदोषेण शिवपूजा तिरस्कृता । आसुरीं योनिमापन्ना मूढास्ते जन्मभिस्त्रिभिः ॥  
गर्ग०सं०, मथु०खं०, १२/१७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह चौवालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४४॥

## पैतालीसवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण और बलराम का यज्ञोपवीत-संस्कार और उनका गुरुकुल में विद्याध्ययन )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि माता-पिता को मेरे ऐश्वर्य का, मेरे भगवद्भाव का ज्ञान हो गया है। ये लोग हमें भगवान् समझने लग गये हैं। परन्तु ऐसा ज्ञान होना ठीक नहीं है। इससे तो हमारी नाट्य-लीला ही समाप्त हो जायेगी। ऐसा सोचकर उन्होंने उन पर अपनी योगमाया फैला दी, जो उनके स्वजनों को मुग्ध रखकर उनकी लीला में सहायक सिद्ध होती है। यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण अपने बड़े भाई बलराम जी के साथ माता-पिता देवकी-वसुदेव के चरणों पर अपना मस्तक रखकर बड़ी विनम्रता के साथ बोले—पिता जी, माता जी, हम आपके पुत्र हैं। आप हमारे लिये सर्वदा उत्कण्ठित रहते हैं फिर भी आप लोग हमारी बाल्य, पौगण्ड और किशोर अवस्था का सुख नहीं पा सके। चारों प्रकार के पुरुषार्थ का साधक यह शरीर माता-पिता के द्वारा ही दिया



गया है अतः यदि कोई मनुष्य सौ वर्ष की पूरी आयु पाकर भी माता और पिता की सेवा करता रहे तो भी वह उनके उपकार से उन्मत्त नहीं हो सकता। जो पुत्र समर्थ होते हुए भी अपने माँ-बाप की शरीर और धन से सेवा नहीं करता, उसके मरने पर यमदूत उसे उसके अपने शरीर का मांस नोंच-नोंच कर खिलाते हैं—

सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः । न तथोर्थाति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥

यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च । वृत्तिं न दद्यात् प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ॥

१०/४५/५-६

जो पुरुष समर्थ होकर भी वृद्ध माता-पिता, सती पत्नी, बालक, सन्तान, गुरु, ब्राह्मण और शरणागत का भरण-पोषण नहीं करता—वह जीते जी मुर्दे के समान है। आप की सेवा के बिना हमारे इतने दिन व्यर्थ व्यतीत हो गये। हम कंस के भय से आप से दूर ही रहे। मेरी माँ और मेरे पिता जी, आप दोनों हमें क्षमा करें। दुष्ट कंस ने आप लोगों को महान् कष्ट दिया किन्तु परतन्त्र रहने के कारण हम आप की कोई सेवा-शुश्रूषा न कर सके।

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, बालकों की इतनी प्रेमभरी बाते सुनकर वसुदेव और देवकी ने उन्हें उठाकर अपनी गोद में बिठा लिया और छाती से लगाकर परमानन्द के महासागर में डूब गये। उनकी आँखों से बहने वाली अश्रुधारा से कृष्ण और बलराम का शिर भीग गया। गला रुँध जाने से वे कुछ बोल भी न सके।

इस प्रकार माता-पिता को आश्वासन देकर श्रीकृष्ण ने अपने नाना और कंस के बाप उग्रसेन को राजगद्दी पर बैठा कर कहा—महाराज, आप हम लोगों पर शासन कीजिये। हम सब आप की प्रजा हैं। राजा ययाति के शाप के कारण यदुवंशी राजसिंहासन पर नहीं बैठ सकते किन्तु हमारे कहने के कारण आप को किसी प्रकार का दोष नहीं लगेगा। जब मैं आप की बगल में खड़ा रहकर आप की सेवा करता रहूँगा तो देवता भी आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते, फिर मानव की क्या बिसात जो वह आप का तिरस्कार कर सके।

इसके बाद भगवान् ने यदुवंशियों को, जो कंस के भय से भागकर, जहाँ-तहाँ बसे हुए थे, बुलवाया और उन्हें पर्याप्त धन और सम्मान देकर, यथास्थान बसाया। अब मथुरावासी निर्भय हो गये और भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द का दर्शन कर-करके बड़े ही आनन्दित होने लगे।

तदनन्तर दोनों भाई बाबानन्द के पास पहुँचे। नन्द अपने डेरे पर ग्वाल्लों और ग्वालबालों के साथ कृष्ण और बलराम की प्रतीक्षा कर रहे थे। बड़ी ही विनम्रता से उन लोगों ने कहा—पिता जी, अब आप लोग ब्रज वापस जाइये। हमें यहाँ छोड़कर जाने में आप लोगों को अवश्य महान् क्लेश होगा किन्तु हमें यहाँ कुछ दिनों तक ठहरना है। यहाँ के सुहृद्-सम्बन्धियों को सुखी करके फिर हम आप लोगों से मिलने आयेंगे। श्रीकृष्ण ने बड़े आदर के साथ नन्दबाबा और ब्रजवासियों को इस प्रकार समझा-बुझाकर वस्त्र, आभूषण और विविध धातुओं से निर्मित बर्तन देकर उनका सत्कार किया। भगवान् की बात सुनकर नन्दबाबा को महान् कष्ट हुआ। पर वे करते क्या ? उन्होंने प्रेमाक्षी अधीर होकर दोनों भाइयों को गले से लगा लिया और फिर नेत्रों में आँसू भर कर गोपों के साथ सिसकियाँ लेते हुए ब्रज के लिये किसी-किसी तरह प्रस्थान किया।

नन्दबाबा आदि के ब्रज में पहुँचने पर क्या हुआ, यह बात तो श्रीशुकदेव महाराज जी ने नहीं सुनाई किन्तु महात्माओं के अनुसार जब नन्दबाबा ब्रज में पहुँचे तो श्रीकृष्ण को न देखकर पूरा गाँव-का-गाँव सन्न रह गया, निष्पाण हो उठा। यशोदा मैया के मुख से अचानक निकल पड़ा—महर, तुम हमारे दिल के टुकड़े को छोड़कर अकेले चले आये। इससे तो अच्छा होता कि तुम भी वहीं मर जाते, लौटकर यहाँ नहीं आते।

कहते हैं कि तभी से यशोदा मैया अतिप्रातः माखन-मिश्री और रोटी तैयार कर यावज्जीवन दरवाजे पर बैठकर



अपने कन्हैया की प्रतीक्षा किया करती थीं। उन्हें ऐसा लगता था कि—आज मेरा कन्हैया हम लोगों से मिलने अवश्य आयेगा—“आशा बलवती राजन्”।

नन्द आदि के ब्रज वापस चले जाने पर वसुदेव ने अपने पुत्रों का यज्ञोपवीत संस्कार करवाने का निश्चय किया। फलतः उन्होंने अपने पुरोहित गर्गाचार्य को बुलवाया। शुभ मुहूर्त निकलवाया और बालकों का यज्ञोपवीत संस्कार करवा कर उन्हें द्विज बना दिया<sup>१</sup>। उन्होंने ब्राह्मणों को भरपूर दान-दक्षिणा प्रदान की। श्रीकृष्ण के जन्म के समय, कंस के कारागार में, वसुदेव जी ने मन-ही-मन दस सहस्र गोदान करने का संकल्प किया था। आज उन्होंने अपने उस संकल्प को भी पूरा किया। अब दोनों भाइयों को द्विजत्व की प्राप्ति हो गई।

यज्ञोपवीत की बेला में गर्गाचार्य ने राम-कृष्ण को गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया था। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम जी सर्वज्ञ थे। उन्हें कहीं किसी से कुछ पढ़ने की आवश्यकता न थी फिर भी उन्होंने परम्परा का निर्वाह करने के लिये उज्जयिनी निवासी सान्दीपनि ऋषि के पास विद्याध्ययन के लिये यात्रा की। उज्जयिनी-निवासी सान्दीपनि ऋषि थे तो काशी के, किन्तु उन्होंने अपना विद्यालम्ब स्थापित किया था क्षिप्रा के तट पर उज्जयिनी में। वहाँ उन लोगों ने गुरु की भरपूर सेवा करते हुए ६४ दिनों में विद्या की ६४ कलाएँ सीख ली। यद्यपि कृष्ण और बलराम समस्त विद्याओं के प्रवर्तक हैं फिर भी ‘आचार्यवान् पुरुषो वेद’ इस श्रुति-वचन को चरितार्थ करने के लिये उन्होंने गुरु से विद्याएँ पढ़ीं। वे लोग गुरु के उच्चारणमात्र से प्रतिदिन विद्या की एक-एक कलाएँ सीख लेते थे। सान्दीपनि ऋषि के इसी आश्रम में विप्र सुदामा भी पढ़ते थे। वे अतिशय गरीब थे। वे स्वल्पभाषी, मृदुभाषी और एकान्तवासी भी थे अतः श्रीकृष्ण ने उन्हें अपना सखा बना लिया था। वे उनके भोजन-वसन का सानुनय प्रबन्ध भी करते थे।

अध्ययन की समाप्ति के बाद श्रीकृष्ण और बलराम नें सान्दीपनि ऋषि से विद्याध्ययन के बदले में गुरुदक्षिणा की प्रार्थना की। गुरु ने उनकी अद्भुत महिमा और अलौकिक बुद्धि को देख लिया था अतः उन्होंने अपनी पत्नी से सलाह करके अपने मृतपुत्र को मांगा, जो प्रभास क्षेत्र में शंखासुर के निगलने से समुद्र में डूब कर मरा था—

द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम्।

सम्मन्य पत्न्या स महार्णवे मृतं बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह॥ १०/४५/३७

गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर श्रीकृष्ण और बलराम पहुँचे प्रभासक्षेत्र में सागर के तट पर। वहाँ वे आसन लगाकर बैठ गये। सागर ने उनका आदर सम्मान किया। अर्घ्य, पाद्य आदि देकर उनका पूजन किया। भगवान् ने समुद्र से कहा—सागर, तुम यहाँ अपनी बड़ी-बड़ी लहरियों से हमारे जिस गुरु-पुत्र को बहा ले गये थे, उसे लाकर अतिशीघ्र हमें प्रदान करो।

समुद्र ने कहा—प्रभो, मैंने आपके गुरुपुत्र का हरण नहीं किया है। मेरे जल में एक अतिभयङ्कर पञ्चजन नाम का एक असुर रहता है। उसका आकार शङ्ख जैसा है। सम्भव है, उसी ने उस बालक का अपहरण किया हो। सागर की बात सुनकर श्रीकृष्ण जल में प्रविष्ट हुए और उसे मार डाला किन्तु बालक उसके पेट में नहीं मिला। तब उसके

१. द्विज माने दो बार जन्म लेने वाला। दाँत इसलिये द्विज कहा जाता है क्योंकि वह दो बार निकलता है। चिड़िया का बच्चा एक बार माँ के गर्भ से अण्डे के रूप में निकलता है और दूसरी बार अण्डे से अतः वह भी द्विज है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का एक बार जन्म माँ के गर्भ से होता है और दूसरी बार यज्ञोपवीत संस्कार से अतः ये भी द्विज कहे जाते हैं।



शरीर का शङ्ख लेकर भगवान् रथ पर आकर आरूढ हुए। पञ्चजन के शरीर का शङ्ख ही पाञ्चजन्य कहा जाता है, जो भगवान् के हाथ की शोभा बढ़ाता है।

समुद्र से विदा होकर बलराम के साथ भगवान् श्रीकृष्ण पहुँचे यमराज की पुरी संयमनी नगरी। यमराज ने उनका खूब स्वागत सत्कार किया और पूछा कि—मेरे स्वामी, मैं आप लोगों की क्या सेवा करूँ ?

यमराज की प्रार्थना सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—यमराज, यहाँ अपने कर्म-बन्धन के अनुसार मेरा गुरुपुत्र लाया गया है। आप मेरी आज्ञा स्वीकार कर उसके कर्म पर ध्यान न देते हुए उसे मुझे वापस कर दीजिये। यमराज ने भगवान् के आदेश को स्वीकार किया। उन्होंने गुरुपुत्र को लाकर भगवान् को वापस कर दिया। सर्वसमर्थ भगवान् ने उसे उसका पूर्व शरीर प्रदान किया फिर दोनों भाई उसे लाकर उज्जयिनी में गुरु जी को प्रदान कर कहे—पूज्य गुरुदेव, आप और जो कुछ चाहें, माँग लें।

गुरुजी ने कहा—बेटा, तुम दोनों ने बहुत बड़ी गुरुदक्षिणा प्रदान की है। मेरे मृत पुत्र को लाकर आप लोगों ने असंभव को संभव करके दिखा दिया है। आजतक ऐसे कार्य को किसी ने भी नहीं किया है। जिसके आप जैसे शिष्य हों उसका भला कौन-सा मनोरथ अपूर्ण रह सकता है ? बेटा, मेरा आशीर्वाद है—आप लोगों के द्वारा पढ़ी गई विद्या अयातयाम हो। सारे शास्त्र करामलकवत् ही सदा आप दोनों को उपस्थित रहें। वीरों, अब तुम दोनों अपने घर जाओ। तुम्हें लोकों को पवित्र करनेवाली कीर्ति प्राप्त हो।

गुरु का आशीष मिल जाने के बाद दोनों भाई गुरु और गुरु पत्नी का चरण छुए, साथियों से मिले। भगवान् श्रीकृष्ण ने आश्रम के अपने प्रिय सखा सुदामा को गले लगा लिया। सुदामा भगवान् के अद्भुत कर्म को देखकर उनसे मिलने में संझोच कर रहा था। भगवान् ने उसका हाथ पकड़ा और कहा—सुदामा फिर कभी मिलने के लिये मेरे पास आना।

आश्रम से विदा हो श्रीकृष्ण और बलराम—दोनों भाई वायु के समान वेगवाले रथ पर आरूढ होकर मथुरा पहुँचे। मथुरावासी स्त्री-पुरुष सभी भगवान् के दर्शन के लिये तरस रहे थे, तड़प रहे थे। अब उनका दर्शन हो जाने पर सब-के-सब परमानन्द में निमग्न हो गये, मानो खोया हुआ धन उन्हें मिल गया हो—

समनन्दन् प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ। अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव ॥

१०/४५/५०

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह पैतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४५॥

## छियालीसवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर उद्धव जी की व्रज-यात्रा )

भगवान् श्रीकृष्ण अब मथुरानाथ हैं। गोकुलनाथ पीछे छूट गये। मथुरानाथ की मथुरा लीला में बलाधिक्य है। इस अध्याय में उद्धव सन्देश का वर्णन है। रीतिकालीन कवियों में उद्धव-सन्देश की बाढ़-सी आ गई है। सूरदास, नन्ददास और हरिचन्द आदि बहुत-से कवियों ने उद्धव-सन्देश लिखने में अपने बुद्धि-वैभवभर कल्पना की उड़ानभरी है। सब का मूल श्रीमद्भागवत ही है। यहाँ मूलानुसारी कवि-कल्पना का यत्र-तत्र दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया जायेगा—



एक कवि ने लिखा है कि एक दिन की घटना है। दिवस का अवसान समीप था। गगन कुछ लोहित हो चला था। भगवान् श्रीकृष्ण यमुना जी के तट पर बैठे हुए जल की लहरियों को निर्निमेष नयनों से निहार रहे थे। उसी समय एक सुवर्ण वर्ण का कमल बहता हुआ उनके पास पहुँचा। उन्होंने बड़ी ललक से उस पुष्प को उठाकर सूँघा। उसमें उन्हें श्री राधारानी के अङ्गों-की-सी सुगन्ध आई फिर तो वे राधा रानी की स्मृति में अपनी स्थिति को भी विस्मृत कर बैठे। बेचैनी ने भगवान् के विकसित मुख-कमल को किञ्चित् म्लान बना दिया। वे यमुना के तट से उठे। अपने राज-प्रासाद की उत्तर दिशा में आये और व्रज की ओर मुख करके बैठ गये। उस समय आँखों से अश्रु-बिन्दु टपक कर उनके श्याम कपोलों पर आ गिरे। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो नील-कमल-कोश पर ओस-कण झूल रहे हों। सायंकाल होने पर अट्टालिका पर बैठकर व्रजवासियों की याद में आँसू बहाना भगवान् का नियम-सा हो गया था। वे गोपियों को याद करते, गायों को याद करते और माता यशोदा को भी याद करते थे। वे सोचते थे—मेरे वियोग में बिलखती हुई मैया को कौन धीरज बँधायेगा ? व्याकुल गायों को कौन खिलायेगा ? सभी को याद कर-करके उनका हृदय भर आता था।

उद्धव जी ने जब भगवान् की दशा को जाना तो वे शोक-निमग्न हो गये, उन्होंने विचार किया—सुवर्ण-मण्डित राज-प्रासाद, सेवा-शुश्रूषा के लिये अनेक दास-दासियाँ, छप्पन भोग की सामग्री, इतना विशाल ऐश्वर्य ! फिर भी भगवान् की उदासी का कारण क्या है ? क्या हम लोगों की सेवा में कुछ कमी रह जाती है क्या ? उद्धव जी ने सोचा कि प्रभु से उनके दुःख का कारण पूछना हमारा धर्म है। वे अट्टालिका पर वहाँ गये जहाँ श्रीकृष्ण आसन जमाये वृन्दावन की ओर टकटकी लगाये विराजमान थे। उद्धव को अपनी ओर आते हुए देखकर भगवान् ने अपने दुःख के आवेग को वश में करके स्वस्थ होने का प्रयास किया। उद्धव जी भगवान् को सादर सविनय प्रणाम कर उनके पास बैठे गये।

श्रीशुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, उद्धवजी<sup>१</sup> वृष्णि-वंशियों में एक प्रधान पुरुष थे। वे साक्षात् वृहस्पति के शिष्य और परम बुद्धिमान् थे। वे भगवान् श्रीकृष्ण के प्रिय सखा और श्रेष्ठ मन्त्री थे—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा । शिष्यो वृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥

१०/४६/१

उद्धव जी में सारी योग्यताएँ तो थीं, किन्तु उनमें जैसा भगवत्प्रेम होना चाहिये था, वैसा नहीं था। वैसे तो वे भगवान् के अतिशय प्यारे थे—“दयितः सखा”॥१॥ परन्तु उनको भगवान् उतने प्यारे नहीं थे, जितने कि गोपियों के थे। भगवान् ने सोचा यही उचित अवसर है, जब ज्ञान के अभिमानी उद्धव जी को गोपियों से प्रेम सीखने के लिये वृन्दावन भेजना चाहिये। वस्तुतः ज्ञान की तभी शोभा होती है, जब उसके मस्तक पर भक्ति का मुकुटमणि लगा हो।

उद्धव जी ने कहा—प्रभो, मैं और अन्य सेवकजन निरन्तर आप की सेवा में यथाशक्ति तथा यथामति लगे रहते हैं फिर भी आप प्रसन्न नहीं दिखलाई पड़ते। भोजन की बेला में भी आप का हृदय भर आता है। कल की बात है। आप शयन कर रहे थे और मैं चरण दबा रहा था। उस समय स्वप्नावस्था में आप ‘राधे-राधे’ पुकार रहे थे। कौन है यह राधा जो आप के हृदय-सिंहासन पर विराजमान होकर आप को सताती रहती है ? आप का दुःख मुझसे देखा नहीं जाता।

श्रीकृष्ण ने कहा—उद्धव, सारी मथुरा में मेरा दुःख पूछने वाले एक तुम्ही निकले। क्या बताऊँ मैं तुमसे ?

१. हरिवंशपुराण के अनुसार उद्धव जी वसुदेव के भाई देवभाग के भाग्यशाली पुत्र थे—“उद्धवो देवभागस्य महाभागः सुतोऽभवत् ।” इन्हें महान् ज्ञानी बतलाया गया है अतः यह कृष्ण के चचेरे भाई भी हैं।



यह ठीक है कि मेरे सच्चे माता-पिता तो देवकी और वसुदेव हैं किन्तु गोकुल में रहनेवाले यशोदा और नन्द भी तो मेरे माता-पिता हैं। मैया यशोदा मुझे कितने दुलार से खिलाती-पिलाती थी। उसका स्मरण कर मेरा हृदय व्यथित हो उठता है। मुझे अपनी सखियाँ, अपने मित्र और अपनी गायें भी याद आती रहती हैं। सभी ग्वालबाल मुझे अपने-अपने घरों से लाई गई भोजन-सामग्री बड़े प्रेम से हट करके खिलाते थे। कोमल-पत्ता की शय्या बनाकर सुलाते थे और मेरी गायों की रखवाली करते थे। मैं अपने माता-पिता, मित्रों, सखियों को कैसे भुला दूँ? कविप्रवर सूरदास जी कहते हैं कि—जिनका स्मरण कर प्रभु सुखी होते हैं, वे ब्रजवासी धन्य-धन्य हैं—

उधो मोहि ब्रज विसरत नाहीं ।

वृन्दावन गोकुल वन उपवन सघन कुञ्ज की छाँही ॥

प्रातः समय माता जसुमति अरु नन्द देखि सुख पावत ॥

माखन रोटी दही सजायो, अतिहित साथ खवावत ॥

गो गोपाल बाल संग खेलत, सब दिन हँसत सिरात ॥

सूरदास धनि-धनि ब्रजवासी, जिन सों हित यदुतात ॥

उद्धव—प्रभो, यदि ऐसी बात है तो ब्रजवासियों को पत्र लिखकर भेज दीजिये इससे उन्हें सन्तवना मिल जायेगी।

श्रीकृष्ण—उद्धव, प्रेम का सन्देश पत्र से पूर्णतः कैसे पहुँचाया जा सकता है?—“प्रेम का संदेश उधो पाति ना पठाये”।

उद्धव, तुम मेरे सखा हो, तुमसे क्या छिपायें? मुझसे प्रेम करने वाली गोपियाँ मेरे विरह में अतिशय व्याकुल हैं इसलिये तुम ब्रज में जाओ। वहाँ जाकर मेरे माता-पिता को प्रीति दो, सुख दो और गोपियों को मेरे वियोग से जो पीड़ा हो रही है, उससे उनको मेरा सन्देश सुनाकर मुक्त करो। वस्तुतः गोपियों का मन मैं ही हूँ—“अहमेव मनो यासां ताः मन्मनस्काः”। मैं ही उनका प्राण हूँ, उनकी साँस हूँ—‘मत्प्राणाः’। उन्होंने मेरे लिये अपने शरीर के सारे व्यवहार छोड़ दिये हैं। वे लोकधर्म का पालन नहीं करतीं। उनका भरण-पोषण मेरे अधीन है। मैं उनसे इतना प्यार करता हूँ कि वे मेरे दूर हो जाने पर भी मेरा ही स्मरण करती हैं। वे विरह की उत्कण्ठा से विह्वल हो रही हैं और उनके प्राण कण्ठ में लगे हुए हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः । मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।

ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥१०/४६/४

मेरी गोपियाँ, मेरी प्रेयसियाँ इस समय बड़े ही कष्ट से अपने प्राणों को धारण कर रही हैं। मैंने उनसे कहा था कि मैं आऊँगा। मेरा यह कथन ही उनके जीवन का आधार है। सचमुच मैं उनकी आत्मा हूँ। वे सर्वदा मुझ में ही तन्मय रहती हैं।

हृदय—श्रीकृष्ण का चिन्तन करते-करते वस्तुतः गोपियों का मन पूर्णतः कृष्णमय बन गया था। वे अपना लौकिक कार्य नहीं कर पाती थीं अतः कुछ देर के लिये वे कृष्ण को अपने हृदय से निकालने का प्रयास करती थीं। एक बार नारद जा रहे थे। उन्होंने देखा कि गोकुल की एक गोपी ध्यान लगाये बैठी है। पूछने पर पता चला कि वह अपने हृदय से कुछ देर के लिये श्रीकृष्ण को बाहर निकालना चाहती है ताकि निर्विघ्नरूप से गृहस्थी का कार्य कर सके। यह सुन कर नारद अपना माथा पीटकर कहने लगे—बड़े-बड़े ऋषि-मुनि प्रत्याहार के द्वारा अपने मन से विषयों को निकालकर क्षणभर के लिये उसे जिस भगवान् में लगाने का प्रयास करते हैं उसी भगवान् को अपने



हृदय से निकाल कर यह बाला अपने मन को सांसारिक कार्यों में लगाना चाहती है। महान् योगीजन अपने हृदय में जिसकी क्षणभर की झलक पाने के लिये उत्कण्ठित रहते हैं, देखो-देखो, यह भोली-भाली बाला उसे अपने हृदय से निकालना चाहती है। धन्य है यह गोपी, धन्य है—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्ननो धित्सते  
बालाऽसौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः ।  
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते  
मुग्धेयं बत पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षते ॥

वस्तुतः जब तक कृष्ण ब्रज में रहे तबतक गोपियों का मन निरन्तर उनमें ही लगा रहता था किन्तु उन के मथुरा चले जाने पर कृष्ण और गोपियों का मन चीनी-पानी की तरह मिलकर एक हो गया। कृष्ण गोपियों के मन में समाहित हो गये। तभी तो गोपी उद्धव से कहती है—

मोहि-मोहि मोहनमयो री मन मेरो भयो हरिचन्द भेद न परत पहिचानि है ।

कान्ह भये प्राणमय प्राण भये कान्हमय हिय में न जानि परै कान्ह है कि प्राण है ॥

गोपियाँ भगवान् का स्मरण करके विमोहित हो रही हैं। प्रेम-वैचित्त्य हो रहा है। भगवान् तो चले गये मथुरा किन्तु गोपियों को प्रतीत होता है कि यह रहे, वह रहे—‘जित देखो तित श्याममयी है’ उनको तो ऐसा लगता है कि श्याम तो मेरे संग लगा रहता है, चलता-फिरता है।

भगवान् श्रीकृष्ण की लीला दो विभिन्न प्रकार की मान्य है। एक प्रकट और दूसरी अप्रकट। अप्रकट लीलान्तर्गत मान्यता है कि वे ब्रजधाम छोड़कर ‘पादमेकं न गच्छति’ एक पग भी नहीं जाते। प्रकट लीलानुसार ही उनका मथुरा-गमन मान्य है तात्पर्य यह कि भगवान् श्रीकृष्ण सदा ही ब्रजधाम में विराजमान हैं। अन्तर्मुख होने पर उनका दर्शन सम्भव होता है।

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने हृदय की बात कही, तब उद्धव जी बड़े आदर से अपने स्वामी का सन्देश लेकर रथ पर सवार हुए और नन्द गाँव के लिये चल पड़े। उद्धव का भी रङ्ग श्याम था। वे भगवान् का उतारा हुआ पीताम्बर धारण करते थे अतः दूर से उन्हें देखकर कृष्ण के होने का भ्रम होता था। परमसुन्दर उद्धव जी सूर्यास्त की बेला में नन्द बाबा के ब्रज में पहुँचे। गायें जंगल से चर कर लौट आई थीं। ऋतुमती गायों के लिये साँड़ आपस में भिड़ रहे थे। गायें इधर-उधर दौड़ रही थीं। उनके दूध से भरे बड़े-बड़े थन इधर-से-उधर हिल रहे थे। हुँकारती हुई वे बछड़ों की ओर दौड़ रही थीं। कहीं गायों के दुहने की घर-घर ध्वनि हो रही थी, तो कहीं बाँसुरी की मधुर तान ब्रज की शोभा बढ़ा रही थी। सुन्दर सजी-धजी गोपियाँ बलराम और कृष्ण के मधुर चरित का गान कर रही थीं। कहीं हवन हो रहा था। कहीं गायों, विप्रों, अतिथियों और देवताओं का अर्चन-पूजन चल रहा था। प्रत्येक द्वार धूप, दीप और पुष्पमाला से अलङ्कृत थे। विकसित वृन्दावन अपूर्व सुन्दर लग रहा था।

नन्द बाबा ने उद्धव को देखा। वे प्रसन्नता से खिल उठे। उन्हें ऐसा लगा मानो कन्हैया ही आ गया है। वे उन्हें छाती से लगा लिये। घर लाये। अर्घ्य-पाद्य आदि से पूजन किये। अति मधुर खीर-पूड़ी का भोजन कराये और सुन्दर शय्या पर सुला कर उनका पैर दबाये फिर उन्होंने मथुरा का हाल-चाल पूछना शुरू किया—‘भैया उद्धव, हमारे मित्र वसुदेव अपने पुरजन, परिजन और परिवारजन के साथ सकुशल तो हैं ? बड़ा ही अच्छा हुआ पापी कंस मारा गया। वह सज्जन यदुवंशियों से सर्वदा द्वेष करता था। अच्छा उद्धव जी, श्रीकृष्ण कभी हम लोगों की भी चर्चा करता है ? क्या अपनी माँ इस यशोदा को याद करता है ? क्या वह कभी गोपियों की, गायों की, अपने सखाओं की,



वृन्दावन और गोवर्धन की चर्चा करता है ? जब कभी कहैया अपने स्वजनों को देखने के लिये आयेगा तो मुस्कराहट से भरे उसके सुन्दर मुख-कमल को हम निहारेंगे। उसने बड़ी-बड़ी विपत्तियों से ब्रज-जनों की रक्षा की है। वायु से, वर्षा से, दावानल से तथा विकराल दैत्यों से हम लोगों को बचाया है। उसका वियोग अब हम लोगों के लिये असह्य हो रहा है। यदि एक बार भी उसका मुख-कमल देखने को मिल जाता तो हमें बड़ी शान्ति मिलती। इस प्रकार नन्द और यशोदा दोनों ही भगवान् के जगत्पावन मङ्गलमय चरितों का स्मरण करके रोने लगे। आँसुओं की धाराएँ बह चलीं। कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वाणी बोलना बन्द कर दी।

यह तो रही नन्दबाबा की दशा। अब आइये देखते हैं मैया यशोदा को। नन्द और उद्धव की बात-चीत चल रही थी। मैया वहीं बगल में बैठकर केवल रो रही थी, रोती जा रही थी। उसके मुख से एक शब्द भी नहीं निकल सका। स्नेह से उसका हृदय भर गया था। उसके स्तनों से दुग्ध की बूँदें टपकने लगीं—

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च । शृण्वन्त्यश्रूण्यवासाक्षीत् स्नेहस्तुतपयोधरा ॥

१०/४६/२८

यही तो माता का असली स्वरूप है। उसके स्तन में दूध की धारा होती है और आँखों में आँसू का सागर लहराता है—आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

उद्धव ने नन्द और यशोदा का जगदीश्वर में अगाध प्रेम देखा। वे पहले तो सन्न रह गये। किन्तु बाद में उन्हें महान् प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—बलराम और श्रीकृष्ण पुराण पुरुष हैं। वे सकल जगत् के उपादान कारण और निमित्त कारण भी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण पुरुष हैं तो बलराम जी प्रधान (प्रकृति)। ये ही दोनों समस्त शरीरों में प्रविष्ट होकर उन्हें जीवन-दान देते हैं और उनमें उनसे अत्यन्त विलक्षण जो ज्ञानरूप जीव है, उसका नियमन करते हैं। जो जीव मरण की बेला में अपने शुद्ध मन को एक क्षण के लिये भी उनमें लगा देता है, वह कर्म की समस्त वासनाओं को धोकर शीघ्र ही सूर्य के समान प्रकाशित होता हुआ ब्रह्ममय परमगति का अधिकारी बनता है—

यस्मिन्ननः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।

निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥१०/४६/३२

कृष्ण और राम निखिल प्रपञ्च के आदि कारण हैं। साक्षात् नारायण हैं। उन्होंने पृथिवी का भार उतारने के लिये ही यह मानव शरीर धारण कर रखा है। उनके प्रति आप लोगों का इतना सुदृढ वात्सल्यभाव है, तो बतलाइये कि अब कौन-सा शुभ कार्य आप लोगों के लिये बाकी रह जाता है ?—

तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।

भावं विद्यतां नितरां महात्मन् किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥१०/४६/३३

आप लोग दुःखी मत हों। उन्होंने जो कुछ कहा है, वह सब झूठा नहीं होगा। वे अवश्य यहाँ आयेंगे। आप शीघ्र ही उनको अपने पास देखेंगे। आप आँख बन्द कर अपने हृदय में उनका ध्यान करने का प्रयास करें जैसे काठ में अग्नि विद्यमान है, वैसे ही वे भी सकल प्रपञ्च में पिरोये हुए हैं। उनका न कोई प्रिय है, न अप्रिय है, न माता है, न पिता है, न भाई है और न बन्धु है। वे सबके लिये समान हैं। उनका जन्म-कर्म भी कुछ नहीं है। वे लीला से शरीर धारण कर अभिनय करते रहते हैं। उनकी लीलाओं के रहस्य को समझ पाना सबके लिये संभव नहीं है। संसार की तुच्छातितुच्छ वस्तु भी उनसे पृथक् नहीं है। आप लोग सर्वत्र उन्हीं को देखने का प्रयास करें। ऐसा करने से उनके वियोग का दुःख आप लोगों को पीडित नहीं करेगा।

परीक्षित, इस प्रकार नन्द और उद्धव के परस्पर कृष्ण-विषयक चर्चा करते हुए ही सारी रात बीत गई। प्रातः



हुआ, गोपियाँ उठीं। दीपक जलाकर देहली का पूजन किया और फिर कृष्ण-लीला का गान करती हुई दधि मथने लगीं—

एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।

गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान् वास्तून् समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ॥१०/४६/४४

दधि-मथन की ध्वनि और श्रीकृष्णलीला गान के मिश्रित शब्द से सारी दिशाओं के अमङ्गल विनष्ट हो जाते थे।

दधि-मथन से खाली होकर गोपियाँ घर से बाहर निकलीं। तबतक सूर्य की रश्मियाँ चतुर्दिक् फैल चुकी थीं। उन्होंने नन्द के द्वार पर सुवर्ण-मण्डित रथ खड़ा देखा फिर वे एक-दूसरी से पूछने लगीं—यह किसका रथ है ? कंस का प्रयोजन सिद्ध करनेवाला अक्रूर ही तो कहीं फिर नहीं आ गया है ? यह क्रूर अक्रूर ही हमारे प्राण-धन को यहाँ से मथुरा ले गया था। अब वह हमें ले जाकर अपने मरे हुए स्वामी कंस का पिण्डदान करेगा ? अब यहाँ उसके आने का और क्या प्रयोजन हो सकता है ? ब्रजवासिनी स्त्रियाँ इसी प्रकार आपस में बातचीत कर रही थीं कि उसी समय नित्यकर्म से निवृत्त होकर उद्धव जी आ पहुँचे—

इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात् कृताह्निकः ॥१०/४६/४९

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह छियालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४६॥

## सैंतालीसवाँ अध्याय

( उद्धव तथा गोपियों का वार्तालाप और भ्रमरगीत<sup>१</sup> )

श्री शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित, गोपियों ने देखा कि श्रीकृष्ण के सेवक उद्धव जी की आकृति और वेशभूषा श्रीकृष्ण से मिलती-जुलती है। घुटनों तक लम्बी-लम्बी भुजाएँ हैं, नूतन कमलदल के समान कोमल विशाल नेत्र हैं, शरीर पर पीताम्बर धारण किये हुए हैं, गले में कमल-पुष्पों की माला है, कानों में मणिजटित कुण्डल झलक रहे हैं और मुखारविन्द अत्यन्त प्रफुल्लित है—

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं ब्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् ।

पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ॥ १०/४७/१

हृदय-उद्धव जी श्रीकृष्ण के समान ही पीताम्बर और अलङ्कार धारण किये हुए हैं, क्योंकि वे उन्हें प्रसादरूप में मिले हैं। अनन्य भक्तों का यह स्वभाव ही है कि उन्हें भगवत्प्रसाद ग्रहण करने से प्रसन्नता होती है। उद्धव को ब्रज में आये एक रात्रि बीत चुकी है। परन्तु उनकी माला आज भी अम्लान है; क्योंकि वह श्रीकृष्ण परमात्मा का संस्पर्श प्राप्त कर चुकी है। श्रीकृष्ण ने अपनी धारण की हुई माला ही प्रसादरूप में उद्धव को प्रदान की है ॥

पवित्र मुस्कानवाली गोपियाँ आपस में बात करने लगीं—यह पुरुष देखने में तो बहुत सुन्दर है। परन्तु यह है कौन ? कहाँ से आया है ? किसका दूत है ? इसने श्रीकृष्ण—जैसी वेश-भूषा क्यों धारण कर रखी है ? सब-की-सब गोपियाँ उनका परिचय पाने के लिये उत्सुक हो गईं और उनमें से बहुत-सी श्रीकृष्ण के सेवक-सखा उद्धव

१. श्रीमद्भागवत में जितने भी गीत हैं उनमें गोपीगीत और भ्रमरगीत भाव तथा कल्पना की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हैं। सूरदास, नन्ददास आदि रीतिकालीन कवियों ने बड़े संरम्भ के साथ इनका वर्णन किया है। इसके वर्णन में उन लोगों ने अपनी कवित्वशक्ति का सर्वस्व समर्पित कर दिया है। इसे ही कहते हैं कलमतोड़ लिखना।



जी को चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गई। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि उद्धव रमापति भगवान् श्रीकृष्ण के अनुचर हैं और उनका सन्देश लेकर आये हैं तब उन्होंने अत्यन्त विनयपूर्वक सलज्ज हास्य, चितवन और मधुर वाणी से उनका अत्यन्त सत्कार किया और एकान्त में आसन पर बैठकर उनसे कहने लगीं—

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सत्रीडहासेक्षणसुनृतादिभिः ।

रहस्यपृच्छन्पविष्टमासने विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ॥१०/४७/३

उद्धव जी, हम जानती है कि आप यदुनाथ के पार्षद हैं। उन्हीं का सन्देश लेकर यहाँ पधारे हैं। आपके स्वामी ने अपने माता-पिता को सुख देने के लिये आप को यहाँ भेजा है अन्यथा इस गोकुल में उनके स्मरण करने लायक और कोई दूसरा है कौन ? माता-पिता आदि सगे सम्बन्धियों का स्नेह-बन्धन तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी बड़ी कठिनाई से छोड़ पाते हैं—“स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः” ॥५॥ उनकी मैत्री तो भ्रमरों के समान होती है, जो रस लेकर पुष्पों को छोड़ देते हैं। इसी प्रकार कामी पुरुष भी पहले तो स्त्रियों को प्राणाधिक मानते हैं और फिर काम पूरा होने पर उन्हें छोड़कर चले जाते हैं। इस संसार में देखा भी जाता है कि—वेश्या निर्धन पुरुष को, प्रजा राज्य से भ्रष्ट असमर्थ राजा को, अध्ययन समाप्त हो जाने पर शिष्य गुरु को, ऋत्विक् दक्षिणा लेकर यजमान को, पक्षी फल-विहीन हो जाने पर वृक्ष को, अतिथि भोजन कर घर को, मृग दावाग्नि से दग्ध जङ्गल को तथा जार पुरुष अनुरक्त स्त्री को छोड़ देते हैं। यही दुनियाँ की चाल है इसीलिये श्रीकृष्ण हम को छोड़ कर चले गये। इतना कहते-कहते गोपियाँ लज्जा छोड़ कर रोने लगीं। उस समय वे कृष्ण की बाल्य एवं किशोर लीलाओं का गान कर-कर प्रेमावेश में भाव-विह्वल हो गई। उन्हें न संसार का ध्यान रहा और न शरीर का। उनके आँखें निरवच्छिन्न अश्रुधार बहा रही थीं।

वे परस्पर कह रही हैं—हे सखी, यदि बन्धु-बान्धव हमारा त्याग करना चाहते हैं तो कर दें, यदि साधुजन हम पर हँसते हैं तो हँस लें, यदि स्वयं माधव भी हमारा हनन करना चाहते हैं तो हनन कर दें, परन्तु मैं तो अब प्रियतम प्यारे माधव को स्वीकार कर चुकी; अब उनसे मुझे कोई छुड़ा नहीं सकता—

बान्धवो यदि जहाति हीयतां साधवो यदि हसन्ति हस्यताम् ।

माधवो यदि निहन्ति हन्यतां माधवः स्वयमुरीकृतो मया ॥

एक गोपी को उस समय स्मरण हो रहा था भगवान् श्रीकृष्ण की सङ्गम-लीला का। उस समय उसे प्रतीत हो रहा था कि श्रीकृष्ण उससे कह रहे हैं—बोल राधा, बोल गोपी सङ्गम होगा कि नहीं ? यह गोपी और कोई नहीं साक्षात् राधारानी ही थीं। उस समय वे श्रीकृष्ण की सम्मिलन-लीलाओं की स्मृति में ही तल्लीन थीं। ऐसे ही समय वहाँ एक भ्रमर<sup>१</sup> कहीं से आकार गुन-गुनाने लगा। वह कभी राधारानी के कान के पास गुन-गुनाता, मानों वह कोई गोपनीय

१. हृदय—वस्तुतः यह भ्रमर साधारण भ्रमर नहीं था; अपितु श्रीकृष्ण ही भ्रमर का रूप धारण कर राधा के भाव-सर्वस्व का आस्वादन करने के लिये पधारे थे अन्यथा भ्रमर के प्रसङ्ग का यहाँ कोई प्रबल दूसरा कारण नहीं है। वल्लभाचार्य का भी अभिप्राय यही है कि राधारानी के चित्र-जल्प के रसास्वादन हेतु स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही मधुप-स्वरूप में पधारते हैं। प्रेमोन्माद-निमग्न प्रणय-कोपयुक्त असूया, मद, ईर्ष्या, घृणा और अकौशलपूर्ण उद्गार ही चित्रजल्प हैं। एक अन्य मान्यता यह भी है कि श्रीकृष्ण ने उद्धव की कल्याण-कामना से ही ‘मधुप’ को वहाँ भेजा। यदा-कदा अन्य को निमित्त बनाकर अन्य के प्रति किया गया उपदेश ही प्रभावोत्पादक होता है। गोपाङ्गनाओं ने श्रीकृष्ण के दूत उद्धव के प्रति मधुकर के व्याज से ही अपने उत्कट प्रेमोन्माद को व्यक्त किया है। ये सम्पूर्ण उक्तियाँ उद्धव पर भी घटित होती हैं। वे भी मधुपुर निवासी हैं। यदुपति श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त एवं प्रिय सखा हैं। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसादरूप में प्राप्त उनका ही पीताम्बर एवं वनमाला धारण कर रक्खा है। उस वनमाला में लगे कुङ्कुम के कारण ही उनके श्मश्रु लाल हो रहे हैं।



बात कर रहा हो और कभी उनके रतिसर्वस्व अधर से सट कर उसका पान करने का प्रयास करता । भ्रमर को देखकर राधारानी को ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उनके प्रियतम श्रीकृष्ण ने ही रूठी हुई जानकर उनको मनाने के लिये भ्रमररूपी दूत को भेजा है—

<sup>१</sup>काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् । प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥

१०/४७/११

गोपी ने कहा—हे मधुप, तू कपटी का बन्धु है अतः तू भी बड़ा कपटी है । तू मेरे चरणों को मत छूना; झूठा प्रणाम कर अनुनय-विनय मत करना । मैं देख रही हूँ कि उस माला का कुङ्कुम तेरी मूछों में लगा है जो श्रीकृष्ण के गले में पड़ी हुई है और मेरी सपत्नियों के वक्षःस्थल से मसली गई है । तू स्वयं भी तो किसी के प्रेम में स्थिर नहीं होता, एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर मँडराता रहता है जैसे तेरे स्वामी हैं, वैसा ही तू भी है । जा तू जा और मधुपति श्रीकृष्ण की मथुरा-निवासिनी मानिनी नायिकाओं को ही मनाकर; उनका ही कृष्ण-प्रसादरूप कुङ्कुम, जो यदुवंशियों की सभा में उपहासास्पद हो रहा है, अपने ही पास रख—

मधुपकितवबन्धो मा स्पृशाद्ग्रिं सपत्न्याः कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।

वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥१०/४७/१२

जैसे तू काला है, वैसे ही वे भी काले हैं । तू भी पुष्पों का रस लेकर उड़ जाता है, वैसे ही वे भी स्त्रियों का रस लेकर उन्हें छोड़ देते हैं । एक बार अपनी अधर-सुधा का पान कराकर, भ्रमर की तरह त्याग देते हैं । आश्चर्य है लक्ष्मी उनके चरण-कमलों की कैसे उपासना करती है ? संभव है, वह उनकी मीठी-मीठी बातों में फँस कर सेवा में संलग्न हों । भ्रमर, तू हम लोगों के सम्मुख यदुवंश-शिरोमणि यदुपति का बारम्बार गुण-गान मत कर । वे हमारे अत्यन्त परिचित हैं । हम उन्हें भली-भाँति जानती हैं । मथुरा में उनकी सखियों के पास ही चले जाओ । उन्हीं का गुणगान करो । संभव है, क्षपित-कुचरुज वे सखियाँ ही प्रसन्न होकर तुम्हें कुछ पुरस्कार दे देंगी ।

हे भ्रमर, वे हमारे लिये व्याकुल हो रहे हैं, ऐसा तू क्यों कह रहा है ? उनकी कपटभरी मुस्कान और भौंहों के सङ्केत से वशीभूत होकर कौन स्त्री उनके पास बरबस खिंची चली नहीं आती ! औरों की तो बात ही क्या, स्वयं चञ्चला लक्ष्मी भी उनके चरणारविन्दों में चञ्चलता छोड़कर निवास करती है फिर भी तू उनके पास जाकर कहना कि 'उत्तमश्लोक' नाम से ही तुम्हारी प्रसिद्धि है; इस प्रसिद्धि की सार्थकता तो इसी में है कि अब तुम हम दीनों पर दया करो; अन्यथा तुम्हारी यह प्रसिद्धि ही गलत सिद्ध हो जायेगी । वस्तुतः अब हमें उस कपटी की चर्चा भी नहीं सुहाती

१. इस श्लोक में राधा रानी का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं हुआ है अतः इस का समुचित अर्थ लगाने के लिये 'काचिद् गोपाङ्गना' पद जोड़ लेना अनिवार्य है । 'सा काचित्', 'के प्रेमात्मके सुखे आ समन्तात् चित् ज्ञानं यस्याः सा काचित् गोपी' अर्थात् प्रेमात्मक सुखसम्बन्धी सम्यक् ज्ञान है जिसको, वही 'काचित् गोपी' अथवा 'के प्रेमात्मकं सुखं भक्तजनेषु क्षणे-क्षणे आचिनोति अभिवर्धयति इति काचित्', जो भक्तजनों में क्षण-क्षण प्रतिक्षण प्रेमोत्कर्षरूपी सुख को उद्भूत करती हो वह 'काचित्' । राधारानी प्रेम की देवता हैं; भगवान् के चरणारविन्दों के प्रेम की अनुभूति राधारानी के कृपा-प्रसाद से ही सम्भव है ।

भ्रमर-गीत विजल्प है । गूढमानपूर्वक प्रसक्त असूया के द्वारा सपत्नीजनों के प्रति कटाक्षकी विविध उक्तियाँ जिसमें हों वही विजल्प है । वृषभानुनन्दिनी, राधारानी ने मधुप (भ्रमर) के व्याज से श्रीकृष्ण के प्रति अपने गूढ-मान और सपत्नीजनों के प्रति कटाक्ष को अभिव्यक्त करते हुए असूया की अभिव्यंजना की है । सामान्य दृष्टि से यह अत्यन्त लौकिक है, परन्तु गम्भीर विचारपूर्वक दृष्टि से सम्पूर्ण अभिव्यंजना सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, परात्पर, परब्रह्म में पूर्ण घटित हो जाती है, अतः इसका लोकोत्तर महत्व है ।



है। अब उनके साथ हम लोगों का किसी भी प्रकार का समझौता सम्भव नहीं है। जाओ, हमारी ओर से उनसे कह देना कि जिनके लिये हमने पति-पुत्र, भाई-बन्धु, घर-परिवार, नातेदार-रिश्तेदार—सब कुछ छोड़ा, फिर भी वे निष्ठुरतापूर्वक हमारा त्याग कर चले गये फिर ऐसे कृतघ्न के साथ कैसी सन्धि?—“व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन्” ॥१६॥

यह तुम्हारे श्रीकृष्ण इसी जन्म के कपटी हों, धोखेबाज हों, ऐसा नहीं है। इनकी यह आदत तो बहुत पुरानी है, पुराने जन्मों की है। उसे भी जरा सुनो—

वे अपने आपको बड़ा भारी समदर्शी घोषित करते हैं—“समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः” ॥गीता॥ किन्तु जरा उनकी इस समदर्शिता पर दृष्टिपात करो—अपने रामावतार में उन्होंने बाली को व्याध की भाँति छिप कर मारा। शूर्पणखा उनके पास कामासक्त होकर आई थी किन्तु उन्होंने अपनी स्त्री के वशीभूत होकर उसका नाक-कान काट डाला और उसे विरूप बना दिया।<sup>१</sup> ब्राह्मण के घर में वामन के रूप में जन्म लेकर उन्होंने क्या किया? बलि ने तो उनकी पूजा की, उनकी मुँहमाँगी वस्तु दी, किन्तु उन्होंने उसकी पूजा ग्रहण करके भी उसे वरुणपाश से बाँधकर पाताल में डाल दिया। ठीक वैसे ही, जैसे कौआ बलि खाकर भी बलि देनेवाले को अपने अन्य साथियों के साथ मिलकर घेर लेता है और परेशान करता है। अच्छा, तो अब जाने दो; हमें कृष्ण से क्या लेना-देना। किसी भी काली वस्तु के साथ मित्रता से कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु यदि तू कहे कि—जब ऐसा है, तब तुम लोग उनकी चर्चा क्यों करती हो? तो भ्रमर, हम सत्य कहती हैं, एक बार जिसे उसका चसका लग जाता है, वह उसे छोड़ नहीं सकता। ऐसी दशा में हम चाहने पर भी उनकी चर्चा छोड़ नहीं सकतीं—

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।  
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् यस्तदलमसितसखैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥

१०/४७/१७

उस काले की चर्चा जिसने एक बार भी सुन ली वह घर-बार छोड़कर दर-दर का भिखारी बन जाता है, जहाँ-तहाँ ठोकरे खाता फिरता है। वह पक्षियों की तरह चुन-चुन कर—भीख माँग कर अपना पेट भरता है। दीन-दुनियाँ से जाता रहता है फिर भी श्रीकृष्ण की लीला-कथा छोड़ नहीं पाता। वास्तव में उसका रस, उसका चसका ऐसा ही है। यही दशा हमारी हो रही है।

जैसे भोली-भाली हरिणी व्याध के सुमधुर सङ्गीत को सुनकर उसके कपट-जाल में फँसकर मारी जाती है, वैसे ही हम उस कपटी छलिया कृष्ण की मीठी-मीठी बातों में फँसकर आज मर रही हैं, तड़प रही हैं। प्रिय भौरे, तुम तो अभी यहाँ से चले गये थे न? तो फिर लौटकर हमारे पास क्यों आये? बोलो-बोलो, तुम्हारा अभिप्राय क्या है? क्या हमें कृष्ण के पास ले चलना चाहते हो? किन्तु वहाँ तो उन्होंने अपनी प्राणप्यारी लक्ष्मी जी को छाती पर बैठा रक्खा है अतः वहाँ हमारा निर्वाह कैसे होगा? अच्छा छोड़ो इस प्रसङ्ग को, यह तो बतलाओ कि हमारे प्रियतम मथुरा में कैसे हैं? वे सकुशल, सानन्द तो हैं न? कभी वे अपने कुटुम्बीजनों की, सखा ग्वालबालों की चर्चा करते हैं? कभी प्रसङ्गवश वे हम दासियों की भी चर्चा करते हैं कि नहीं? प्यारे भ्रमर, हमें यह भी बतलाओ कि कभी वे अपनी

१. अटति भवानबला-कवलाय वनेषु किमत्र विचित्रम् ।

कथयति पूतनिकैव वधू-वध-निर्दय-बाल-चरित्रम् ॥गीतगोविन्द॥

इन्होंने अत्यन्त बाल्यावस्था में पूतना-वध किया। वस्तुतः अबलाओं के वध से ही इनके चरित्र का श्रीगणेश होता है।



अगुरु के समान दिव्य सुगन्ध से युक्त अपनी भुजा हमारे शिरो पर रखेंगे ? क्या ऐसी सुखद अनुभूति कभी हमें मिलेगी ?—“भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु” ॥२१॥

उद्धव जी ने कृष्ण के दर्शन की लालसा से व्यग्र गोपियों की बातें सुनीं। उनकी ऐसी बलवती लालसा देखकर उद्धव ने उनको श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाकर सान्त्वना देते हुए कहा—गोपियों, आप लोग कृतकृत्य हैं, धन्य-धन्य हैं, जो भगवान् में इस प्रकार आप लोगों का मन नित्य-निरन्तर रमा हुआ है। दुनियाँ के लोग बड़े-बड़े सत्कर्मों के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति ही प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। सचमुच यह कितने सौभाग्य की बात है कि आप लोगों ने पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति सर्वोत्तम भक्ति प्राप्त की है और उसी का आदर्श स्थापित किया है जो बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों के लिये सुदुर्लभ है। वस्तुतः आप लोग भक्ति-रस की प्रवर्तिका हैं, आचार्या हैं—

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा । भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥१०/४७/२५  
देवियों, आप लोगों ने परिवार, संसार का परित्याग कर जो भगवान् का वरण किया है; यह सर्वोत्तम कार्य है। इसकी तुलना नहीं की जा सकती। आप लोगों के विरह-प्रसंग में जो मुझे आप लोगों का दर्शन प्राप्त हुआ, यह मेरे ऊपर आप लोगों का महान् अनुग्रह है। अच्छा, अब आप लोग अपने प्रियतम का सन्देश सुनें; जिसे आप लोगों के लिये लेकर मैं आया हूँ—

श्री भगवान् ने कहा—मेरी प्यारी गोपियों, मेरे साथ तुम्हारा कभी वियोग हो ही नहीं सकता, क्योंकि मैं सबकी प्रिय आत्मा हूँ और सबके अन्तःकरण में सदा-सर्वदा निवास करता हूँ जैसे सकल प्रपञ्च में क्षिति, जल और पावक आदि पञ्च महाभूत स्थित हैं, 'वैसे ही मैं भी तुम्हारी बुद्धि, मन तथा अन्तःकरण का आश्रय लेकर विराजमान हूँ। मैं ही अपनी माया के द्वारा इस संसार का निमित्त और उपादान—दोनों ही कारण हूँ। इसका पालन कर्ता और संहारकर्ता भी मैं ही हूँ। संसार मेरी क्रीडा-स्थली है। मेरी और तुम्हारी आत्मा में भेद नहीं है फिर मेरे साथ तुम लोगों का कैसा वियोग ? मन के द्वारा तो तुम सर्वदा मिलती ही रहती हो। मैं भी तुम्हें देखता रहता हूँ। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस समय मैं तुम्हारी आँखों के सामने नहीं हूँ। इससे तुम लोगों का विरहोत्कण्ठित मन सर्वदा मेरे में ही डूबा रहेगा। पास में रहने पर इस प्रकार मन नहीं संयुक्त होता। सम्पूर्ण वृत्तियों से शून्य मन मुझ में लगाकर जब तुम लोग मेरा अनुस्मरण करोगी, तब शीघ्र ही सदा के लिये मुझे प्राप्त हो जाओगी—

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् । अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥

१०/४७/३६

हे राजन्, भगवान् का ऐसा मार्मिक संक्षिप्त सन्देश सुनकर गोपियों का सन्ताप कुछ देर के लिये शान्त हो गया। वे भगवान् के विषय में ही विविध चर्चाएँ करने लगीं किन्तु भगवान् की विविध लीलाओं का स्मरण कर वे पुनः सन्तप्त हो उठीं। विलाप करके वे कहने लगीं—हे नाथ, हे रमानाथ, हे ब्रजनाथ, तुम्हारा यह सारा ब्रज तुम्हारे वियोग के अथाह सागर में डूब रहा है। आओ, दौड़ो, इसे बचाओ—

हे नाथ हे रमानाथ ब्रजनाथार्तिनाशन । मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥१०/४७/५२  
गोपियों की इतनी भाव-विह्वल दशा देखकर स्वयं उद्धव भी भाव-विभोर हो उठे, अपने आप को कृतार्थ मानने लगे। गोपियों के अथाह प्रेम-सागर में ज्ञानाभिमानी उद्धव की ज्ञान-गठरी बह कर न जाने कहाँ चली गई। वे गोपियों को सादर प्रणाम कर मन-ही-मन उनकी प्रशंसा करने लगे।

१. इस प्रकार मालिनी छन्द में दस श्लोकों द्वारा राधारानी ने अपने प्रणय-कोप की अभिव्यञ्जना की है। विद्वानों का कथन है कि—दश की संख्या से विरह की दशवीं दशा भी सूचित की गई है। विरह की दशवीं दशा है—मरण।



श्री शुकदेव महाराज कहते हैं—प्रिय परीक्षित, भगवान् के प्रेम भरे सन्देश को सुनकर गोपियों की विरहव्यथा कुछ शान्त हो गई। अब वे श्रीकृष्ण को आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित समझ चुकी थीं। अब वे बड़े प्रेम और आदर से उद्धव जी का सत्कार करने लगीं। उद्धव जी गोपियों की विरह-व्यथा मिटाने के लिये कई महीने तक वहीं रहे। वे भगवान् श्रीकृष्ण की अनेकों लीलाएँ और बातें सुना-सुना कर ब्रजवासियों को आनन्दित करते रहते थे। जितने दिनों तक उद्धव ब्रज में रह कर कृष्ण की कथा कहते रहे, उतने दिनों तक, ब्रजवासियों के लिये दिन और रात क्षण के समान व्यतीत हो रहे थे।

उद्धव जी ने ब्रज में रहकर गोपियों की इस प्रकार की प्रेम-विकलता तथा अन्य बहुत-सी प्रेम-चेष्टाएँ देखीं। उनकी कृष्ण में अद्भुत तन्मयता देखकर वे प्रेम और आनन्द से भर गये। अब उनके ज्ञान के सिंहासन पर भक्ति महारानी का अधिकार था। वे गोपियों को नमस्कार कर इस प्रकार गान करने लगे—इस भू-मण्डल पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के परम प्रेममय दिव्य महाभाव में स्थित हो गई हैं। प्रेम की यह सर्वोच्च स्थिति संसार के भय से भीत मुमुक्षु जनों के लिये ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े मुनियों—मुक्त पुरुषों तथा हम भक्त-जनों के लिये भी स्पृहणीय है, वाञ्छनीय है। हमें इसकी प्राप्ति अभी तक दुर्लभ ही बनी हुई है। सत्य है, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-कथा के रस का चसका लग गया है, भगवान् की लीला का चिन्तन जिनके जीवन का व्यसन बन गया है, उन्हें कुलीनता की, द्विजाति-समुचित-संस्कार की और बड़े-बड़े यज्ञयागों में दीक्षित होने की क्या आवश्यकता है? अथवा यदि भगवान् की कथा का रस नहीं मिला, उसमें रुचि नहीं हुई, तो अनेक महाकल्पों तक बार-बार ब्रह्मा होने से ही क्या लाभ?—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।

वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥१०/४७/५८

उद्धव जी ने सोचा—कहाँ तो ये वन में रहनेवाली, जातिहीन, आचारविहीन, ज्ञानहीन स्त्रियाँ और कहाँ भगवान् में इनका अनन्य भाव! इससे तो यही सिद्ध होता है कि यदि कोई भगवान् के स्वरूप और रहस्य को न जानकर भी उनसे प्रेम करे, उनका भजन करे, तो वे स्वयं अपनी कृपा-शक्ति से, अपने अनुग्रह से उसका परम कल्याण कर देते हैं; ठीक वैसे ही, जैसे कोई अनजान में भी अमृत पी ले तो वह अमर बन जाता है। श्रीकृष्ण ने गोपियों पर रास-लीला की बेला में जो कृपा की, वह न तो कभी किसी देवी-देवता पर हुई और न अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मी जी पर ही हुई—“नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः” ॥६०॥ फिर वे गोपियों को मन-ही-मन प्रणाम कर भगवान् से प्रार्थना करने लगे—मेरे इष्टदेव, आपकी मेरे ऊपर यह बहुत बड़ी कृपा होगी यदि मैं इस वृन्दावन में कोई झाड़ी, लता, औषधि अथवा तृण आदि कुछ बन जाऊँ। यदि भाग्यवश ऐसा हो गया तो इन ब्रजाङ्गनाओं की चरण-धूलि मेरे ऊपर पड़ती रहेगी, जिससे मैं कृतार्थ हो जाऊँगा, तर जाऊँगा। इन गोपियों ने इस संसार में वह कार्य कर दिखलाया है, जिसे आज तक कोई न कर सका। इन्होंने भगवान् को पाने के लिये, भगवान् में तन्मय होने के लिये, अत्यन्त दुस्त्यज लोक-वेद की आर्य-मर्यादा का परित्याग कर दिया है। संसार छोड़ दिया है, सर्वस्व त्याग दिया है। औरों की तो बात ही क्या—भगवद्वाणी, उनकी निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी अब तक भगवान् के परम प्रेममय स्वरूप को ढूँढती ही रहती हैं, किन्तु आज तक प्राप्त न कर सकीं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ १०/४७/६१



वेद-वृक्ष की सारी शाखाओं में ढूँढ़ लिया, किन्तु ब्रह्म कहीं नहीं मिला, मिला तो कहाँ मिला ? गोपी के आँचल में छिपा हुआ मिला—

वेदतरोः प्रतिशाखं मृगितं मिलितं न तद् ब्रह्म । मिलितं मिलितमिदानीं गोयवधूटीपटाञ्जले नन्दम् ॥  
उपनिषदों के अर्थ को ब्रजवासिनी सीमन्तिनी ने ऊखल में बाँध लिया—“उपनिषदर्थम् उलूखले निबद्धम्” ॥

आगे उद्धवजी ने श्रद्धा से अभिभूत होकर कहा—नन्दबाबा के ब्रज में रहनेवाली इन ब्रजाङ्गनाओं की चरण-धूलि की मैं बारम्बार वन्दना करता हूँ—उसे शिर पर चढ़ाता हूँ। अहा ! इन गोपियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-कथा का जो गान किया है, वह त्रिलोकी को पवित्र कर रहा है और सदा-सर्वदा पवित्र करता रहेगा—

वन्दे नन्दब्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः । यासां हरिकथोद्गीतं पुनातिभुवनत्रयम् ॥१०/४७/६३  
श्री शुकदेव महाराज कहते हैं कि—परीक्षित, कई महीने वृन्दावन में बिता कर उद्धव जी मथुरा जाने के लिये तैयार हुए। उन्होंने सर्वप्रथम गोपियों से आज्ञा ली, यशोदा से विदा होने की प्रार्थना की, नन्दबाबा से आदेश लिया और अन्त में गोपों से आर्डर लेकर रथ पर आरूढ़ हुए<sup>१</sup>। ब्रजवासियों ने विभिन्न प्रकार की भेंट-सामग्रियाँ लाकर दीं फिर आँखों में आँसूभर, हाथ जोड़ कर कहा कि—उद्धव जी, अब हम यही चाहते हैं कि हमारे मन की प्रत्येक वृत्ति, एक-एक सङ्कल्प श्रीकृष्ण के चरणकमलों में ही लगी रहे। हमारी वाणी नित्य-निरन्तर उन्हीं के नामों का उच्चारण करती रहे और शरीर उन्हीं को प्रणाम करने में, उन्हीं की आज्ञा के पालन में और उन्हीं की सेवा में लगा रहे। हमने जन्म-जन्म में जो कुछ यज्ञ, दान और पुण्य किया है, उसके फलस्वरूप हमें श्रीकृष्ण के चरणों में अनन्य रति प्राप्त होती रहे—“रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे” ॥६७॥

नन्द बाबा आदि के द्वारा सादर अभिनन्दित, अभिवन्दित और विदा होकर उद्धव जी श्रीकृष्ण के द्वारा सुरक्षित मथुरापुरी में लौट आये। वहाँ पहुँच कर वे कृष्ण के चरणों पर लोट गये और ब्रजवासियों की भक्तिमयी गठरी उनके चरणों पर रख दी। गोपियों और ब्रजवासियों की भक्ति और दशा का विह्वल होकर वर्णन किया। श्रीकृष्ण जी ने देखा कि उद्धव के ज्ञान पर अब भक्ति का मुलम्मा चढ़ चुका था। अब ज्ञानी, उद्धव भक्त उद्धव बन गये थे। वृहस्पति उनके गुरु थे और गोपियाँ परमगुरु।

इसके बाद ब्रज से उन्हें जो भेंट की सामग्री मिली थी उसे श्रीकृष्ण और वसुदेव को बलराम जी और राजा उग्रसेन को प्रदान कर दी।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४७॥

## अड़तालीसवाँ अध्याय

( भगवान् का कुब्जा और अक्रूर जी के घर जाना और अक्रूर जी को हस्तिनापुर-गमन का आदेश )

श्री शुकदेव जी कहते हैं—परीक्षित, कुब्जा ने भगवान् को अङ्गराग समर्पित किया था। फलस्वरूप भगवान् ने उसके शरीर को सीधा और सर्वाङ्ग-सुन्दर बना दिया था। कुब्जा अब कुब्जा नहीं विश्वसुन्दरी थी। उसकी शरीर-लतिका को देखकर रति भी लजाती थी। अङ्गराग लगाकर मुस्काराती हुई सैरन्त्री ने भगवान् का दुपट्टा पकड़कर

१. यहाँ पर महत्त्व के अनुसार आदेश लेकर विदा होने की बात कही गई है। कृष्णभक्ति के प्रसङ्ग में महत्त्व का क्रम इस प्रकार है—गोपियाँ, यशोदा मैया, नन्दबाबा और अन्त में गोप।



अपने घर चलने का आग्रह किया था। उस समय भगवान् उससे यही कहे थे कि समय पर तुम्हारे घर आकर तुम्हारा मनोरथ पूरा करूँगा। उसी समय से काम-सन्तप्त कुब्जा भगवान् की प्रतीक्षा किया करती थी। उसने अपने महल को कामशास्त्र में बतलाये गये कामिनी के भवन की भाँति सजा कर रक्खा था। चारों ओर सुगन्धित मालाओं की झालरें झूल रही थीं। नाना प्रकार के धूप-दीप और इत्रों की सुगन्ध चतुर्दिक् छिटक रही थी। अपने शरीर को भी उसने खूब सजा रक्खा था। आखों में काजल की पतली रेखा, बालों में नागिन-सी चोटी, अङ्गों में मणिजटित आभूषण और शरीर पर दिव्य साड़ी शोभायमान थी। मुख में चर्वित ताम्बूल अधर की शोभा द्विगुणित कर रहा था। नित्य सज-धज कर वह भगवान् की राह निहारती रहती थी।

भगवान् ने उद्धव<sup>१</sup> को साथ लिया। वे चल पड़े कुब्जा के घर की ओर। उसने भगवान् को आते देखा। प्रसन्नता से उसका मुख-कमल खिल उठा। वह सखियों के साथ अगवानी के लिये आगे बढ़ी। लपककर भगवान् का हाथ पकड़ा और दुग्ध-धवल पलङ्ग पर लाकर बैठा दिया। कुब्जा ने उद्धव जी को आसन देकर उनका सम्मान किया। परन्तु उद्धव जी उसके सम्मान के लिए आसन छूकर धरती पर ही बैठ गये।

सजी-धजी, लजाती, बलखाती, मुस्कराती हुई कुब्जा भगवान् के पलङ्ग की ओर बढ़ी। भगवान् ने उसका हाथ पकड़ कर पलङ्ग पर बैठा लिया। हास-परिहास किया। रात्रि हुई। भोजन कर सभी निर्धारित कक्षों में शयन करने गये। भगवान् ने कुब्जा के साथ शयन किया। भगवान् और कुब्जा ने वे सारी काम-क्रीड़ाएँ कीं जो हनीमून की शुभ रात्रि में नवविवाहित दम्पति करते हैं। भगवान् के दृढ परिरम्भ को पाकर काम से सन्तप्त कुब्जा का शरीर सुखी हो उठा। उसका दीर्घकालीन सन्ताप जाता रहा। कुब्जा के लिये यह रात्रि देव-रात्रि हो गई थी। परीक्षित, कुब्जा ने केवल अङ्गराग समर्पित किया था। उतने से ही उसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। भगवान् मोक्षदाता हैं, अति दुर्लभ हैं। किन्तु सैरन्त्री ने उन्हें प्राप्त कर प्रार्थना की—मेरे प्रियतम, आप कुछ दिनों तक मेरे साथ यहीं निवास कर मेरे शरीर की जलन शान्त करें। इस पर शुकदेव महाराज अप्रसन्न होकर उसे अभागिन कह बैठे—“दुर्भगेदमयाचत” ॥६॥ इस पर भगवान् ने उसे पुनर्मिलन का आश्वासन दिया और उद्धव के साथ अपने सर्वसम्मानित घर पर लौट आये।

श्री शुकदेव महाराज सैरन्त्री को ‘दुर्भगा’ मात्र कहकर ही नहीं शान्त हुए। उन्होंने आगे भी कहा—भगवान् ब्रह्मा आदि ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। उनको प्रसन्न कर लेना दुःसाध्य है। किन्तु यथाकथञ्चित् उनके प्रसन्न हो जाने पर उनसे जो विषय-सुख की कामना करता है, वह निश्चय ही दुर्बुद्धि है। विषय-सुख तो क्षणिक है। इनसे मानव का क्या कल्याण हो सकता है ?—

यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ ॥१०/४८/११

गोपियाँ भगवान् को सुख देना चाहती थीं। उनका सर्वस्व भगवान् के लिये था। किन्तु कुब्जा भगवान् के संयोग से अपने शरीर को सुखी करना चाहती थी। इसी महान् अन्तर के कारण गोपियाँ जगद्वन्द्य बनीं और सैरन्त्री तिरस्कार का भाजन हुई।<sup>१</sup>

### भगवान् का अक्रूर-गृह-गमन

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण बलराम और उद्धव जी के साथ अक्रूर जी की अभिलाषा पूरी करने और उनसे कुछ काम लेने के लिये उनके घर गये। वृन्दावन से आने के समय अक्रूर जी ने भगवान् से प्रार्थना की थी अपने घर चलने

१. उद्धव को साथ लेकर भगवान् के जाने का रहस्य यह है कि जब मैं इस सैरन्त्री को नहीं छोड़ सकता, तब भला गोपियों को कैसे छोड़ सकता हूँ ?
२. कुब्जा के पूर्वजन्म का वृत्तान्त पीछे दिया जा चुका है। इसे वहीं देखें।



के लिये। उस समय भगवान् ने कहा था—चाचा जी, बाद में कभी आपके घर आऊँगा। अपने वचन की पूर्ति के लिये आज भगवान् अक्रूर जी के घर गये। उन लोगों को आता देखकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अक्रूर जी उठकर अगवानी के लिये आगे बढ़े। उनका अभिनन्दन किया। उन्हें छाती से लगाकर उनका स्वागत-सम्मान किया। परस्पर प्रणाम आशीर्वाद के बाद अक्रूर जी लाकर उन लोगों को यथोचित आसन पर बैठा दिये। फिर उन्होंने भगवान् के चरण को धोकर उसे अपने शिर-माथे से लगाया, उन्हें विविध विध पूजा सामग्री अर्पित की। आसन पर पधराकर अक्रूर जी ने भगवान् के चरणों को अपनी गोद में रक्खा और उन्हें धीरे-धीरे दबाने लगे। उसी समय उन्होंने विनयावनत होकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम जी से कहा—महाराज, पापी कंस का वध कर आप ने बड़ा अच्छा कार्य किया है। इस संसार में आप के अतिरिक्त और कुछ तो है नहीं। यह सारी सृष्टि आपने ही रची है। इसका पालन और संहार भी आप ही करते हैं। आप ज्ञानस्वरूप हैं अतः आप को किसी प्रकार का बन्धन और मोक्ष भी सम्भव नहीं है। आप में किसी प्रकार का अविवेक भी नहीं है—

अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः, स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥१०/४८/२२

जब-जब पाण्डव के द्वारा आप का वेद-पथ बाधित होता है, तब-तब आप उसकी रक्षा के लिये शुद्ध सत्त्वमय शरीर धारण करते हैं। आज आपके चरण पड़ने से मेरा घर पवित्र हो गया। अब आप कृपाकर देह-गेह में मेरी अहन्ता और ममता छुड़ाकर मुझे अपनी शरण में ले लीजिये। अक्रूर जी की इस स्तुति से भगवान् प्रसन्न हो उठे। मुस्कराते हुए उन्होंने कहा—तात, आप हमारे गुरु—हितोपदेशक और चाचा हैं। हमारे वंश में अत्यन्त प्रशंसनीय और हमारे सदा हितैषी हैं। हम तो आप के बालक हैं और सदा ही आप की रक्षा, पालन और कृपा के पात्र हैं। हम पोष्य हैं और आप पोषक। संसार को आप जैसे सन्तों की पूजा करनी चाहिये। आप जैसे सन्त देवताओं से बढ़कर और दुर्लभ हैं। केवल जल के तीर्थ (नदी, सरोवर आदि) ही तीर्थ नहीं हैं, केवल मृत्तिका और शिला आदि की बनी हुई मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं। चाचा जी, उनकी तो बहुत दिनों तक श्रद्धा से सेवा की जाय, तब कहीं जाकर वे पवित्र करते हैं, फल देते हैं। परन्तु सत्पुरुष तो अपने दर्शनमात्र से लोगों को पवित्र कर देते हैं—

न ह्यम्भयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥

१०/४८/३१

चाचा जी, आज हम आप के पास एक प्रयोजन से भी आये हैं। आप हमारे हितैषी सुहृदों में सर्वश्रेष्ठ हैं इसलिये आप पाण्डवों का समाचार लाने के लिये हस्तिनापुर चले जाँय। हमने सुना है कि पाण्डु के मर जाने पर दुःखप्रस्त युधिष्ठिर आदि को, कुन्ती के सहित, धृतराष्ट्र ने अपने पास बुला लिया है। उनका पुत्र दुर्योधन बड़ा दुष्ट है। उसके कारण वे अपने पुत्रों जैसा व्यवहार उनके साथ नहीं कर पाते। आप वहाँ जाकर उनका ठीक-ठीक समाचार लाइये फिर हम ऐसा आवश्यक उपाय करेंगे जिससे उनको सुख मिल सके।

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण अक्रूर जी को इस प्रकार आदेश देकर बलराम जी और उद्धव जी के साथ अपने घर लौट गये—

इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान् हरिरीश्वरः। सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ॥

१०/४८/३६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह अङ्गतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४८॥



## उनचासवाँ अध्याय

( अक्रूर का हस्तिनापुर गमन और वहाँ से लौटकर भगवान् को पाण्डवों का समाचार देना )

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, भगवान् का आदेश मिलते ही अक्रूर जी हस्तिनापुर गये। वह पुरुवंशी राजाओं के यश का प्रतीक था। वहाँ वे धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कुन्ती, बाह्लीक और सोमदत्त आदि से मिले—

स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रयशोऽङ्कितम् । ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम् ॥ १०/४९/१

अक्रूर जी धृतराष्ट्र और दुष्ट दुर्योधन का, पाण्डवों के प्रति किये गये व्यवहार का सही-सही आकलन करने के लिये वहाँ कई महीने रहे—“उवास कतिचिन्मासान् राज्ञो वृत्तविवित्सया” ॥४॥ जब अक्रूर जी कुन्ती के घर गये तो वह बड़ी प्रसन्न हुई। कुन्ती की जन्म-भूमि तो मथुरा ही थी। वह वसुदेव की बहन थी। कुन्तिभोज ने उसे गोद लिया था और उसका विवाह पाण्डु के साथ हुआ था। अक्रूर भी उसके भाई ही लगते थे।

कुन्ती ने कहा—भैया, आप लोग कभी हमें याद नहीं करते हो ! हम लोग महान् कष्ट में जीवन जी रहे हैं। मैंने सुना है कि भगवान् बड़े भक्त-वत्सल हैं। क्या वे कभी हमारे पुत्रों का भी स्मरण करते हैं ? इतना कहते-कहते कुन्ती भावविह्वल हो गई। उसे यह याद ही न रहा कि वह अक्रूर जी से बात कर रही है। उसे तो सामने श्रीकृष्ण ही दिखलाई पड़ने लगे अतः उसने बिलख कर कहा—हे कृष्ण, हे विश्वरक्षक, मैं अपने बालकों के साथ, भेड़ियों के बीच घिरी हरिणी की तरह अपार कष्ट भोग रही हूँ। आपके अतिरिक्त और कोई मेरी रक्षा करनेवाला नहीं है। आप शुद्ध हैं, बुद्ध हैं, ब्रह्म हैं। मैं आप की शरण में आई हूँ। मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। राजन् परीक्षित, इस प्रकार आप की परदादी कुन्ती भगवान् श्रीकृष्ण का आर्तभाव से स्मरण कर विकल हो फूट-फूट कर रोने लगी—

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन । प्रपञ्चं पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम् ॥

नान्यत्तव पदाम्भोजात् पश्यामि शरणं नृणाम् ॥ १०/४९/११-१२

प्ररुदद् दुःखिता राजन् भवतां प्रपितामही ॥ १०/४९/१४

अक्रूर और विदुर ने कुन्ती को समझाया और बतलाया कि तुम्हारे बेटे तो पृथिवी का भार दूर करने के लिये देवांश से पैदा हुए हैं अतः उनके लिये सन्ताप मत करो। इसके बाद कुन्ती और विदुर ने दुर्योधन के द्वारा विषमिश्रित लड्डू खिलाना, लाक्षागृहदाह आदि सारे कुकृत्यों का और उसकी क्रूर भावी योजनाओं का सविस्तृत वर्णन किया।

इसके बाद अक्रूर जी धृतराष्ट्र के पास गये और उनको समझाते हुए कहा कि पाण्डु के इस संसार से विदा हो जाने के बाद आप अपने भतीजों के साथ जो द्वेष का व्यवहार कर रहे हैं, इससे संसार में आप का अपयश ही फैलेगा। आप धर्मपूर्वक पृथिवी का पालन कीजिये। अपने सद्ब्यवहार से प्रजा को प्रसन्न रखिये और अपने स्वजनों के साथ समान बताव कीजिये। ऐसा करने से ही आप को लोक में यश और परलोक में सद्गति प्राप्त होगी—

धर्मेण पालयन्नुर्वी प्रजाः शीलेन रञ्जयन् । वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि ॥

१०/४९/१८

यह संसार नश्वर है। यहाँ किसी का भी सर्वदा आवास असम्भव है। आदमी अकेला जनमता है, अकेला ही मरता है। अकेला ही अपने धर्म-अधर्म का फल भोगता है। जाया-पुत्र आदि कोई भी किसी के सहायक नहीं होते—



एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते । एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥

१०/४९/२१

यह मूर्ख जीव जिन्हें अपना मानकर अधर्म करके भी पालता-पोसता है, वे ही प्राण, धन और पुत्र इस जीव को असन्तुष्ट ही छोड़ कर चले जाते हैं । अधर्म-कर्ता प्राणी अपने पापों की गठरी शिर पर लाद कर स्वयं घोर नरक का भागीदार बनता है अतः मन स्थिर कर सब में समभाव रखते हुए राज्य का पालन कीजिये । ममतावश पक्षपात मत कीजिये । किसी के साथ अन्याय मत कीजिये । इसी में सब प्रकार से आप का कल्याण है ।

धृतराष्ट्र ने कहा—दानियों के शिरोमणि अक्रूर जी, आप हमारे कल्याण की कामना से इस प्रकार की बात कह रहे हैं । आपकी कल्याणमयी वाणी सुन कर मुझे उसी प्रकार तृप्ति नहीं हो रही है, जैसे मरणासन्न व्यक्ति अमृत के पान से तृप्त नहीं होता । आप हमारे हित की बात कह रहे हैं किन्तु आप का यह हितकर उपदेश मेरे मन में एक क्षण के लिये भी नहीं ठहरता, क्योंकि मेरा हृदय पुत्रों की ममता के कारण विकृत हो गया है, बिगड़ गया है । अक्रूर जी, मैंने सुना कि पृथिवी का भार उतारने के लिये भगवान् ने यदुकुल में अवतार लिया है । उनके विधान में उलट-फेर करना किसी के वश की बात नहीं है । उनकी जैसी इच्छा होगी, वैसा ही होगा । भगवान् की माया बड़ी प्रबल है । उसी के कारण मुझे अन्याय न्याय के रूप में और न्याय अन्याय के रूप में प्रतीत हो रहा है । यही ईश्वरीय विधान प्रतीत होता है । इस संसार-चक्र की बेरोक-टोक चाल में उनकी अचिन्त्य लीला-शक्ति के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है । मैं उन प्रभु के सामने नतमस्तक हूँ ।

इस प्रकार अक्रूर जी महाराज धृतराष्ट्र का अभिप्राय जानकर और कुरुवंशी स्वजन-सम्बन्धियों से प्रेमपूर्वक अनुमति लेकर मथुरा लौट आये । उन्होंने हस्तिनापुर का सारा वृत्तान्त और धृतराष्ट्र की, पाण्डवों के प्रति, सारी करतूत बलराम और श्रीकृष्ण को कह सुनाई, आखिर, उन्हें इसीलिये तो मथुरा भेजा गया था—

शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् । पाण्डवान् प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम् ॥

१०/४९/३१

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का यह उनचासवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥४९॥

॥ दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध समाप्त ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥



१. किसी ने कहा भी है—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने ।

देहक्षितायां परलोकमार्गे कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥

अर्थात्—मरण की बेला में धन जमीन के अन्दर गड़ा रह जाता है, पशु गोशाला में ही बँधे रह जाते हैं, पत्नी घर के दरवाजे तक जाती है, भाई-बन्धु श्मशान तक ही साथ देते हैं, शरीर चिता तक ही साथ देता है । परलोक के मार्ग में प्राणी के अच्छे या बुरे कर्म ही साथ देते हैं, और कोई नहीं ।



## दशम-स्कन्ध

### (उत्तरार्द्ध)

### पचासवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण का जरासन्ध से भीषण युद्ध और दुर्ग के रूप में द्वारकापुरी का निर्माण )

हृदय—जैसा पीछे निर्देश किया जा चुका है—मथुरा (मथुरा) का अर्थ होता है—मधु की तरह मीठा विषय-भोग प्रदान करनेवाला शरीर। मथुरा में, शरीर में बैठा हुआ अभिमान ही कंस है। “हिंसक एव कंसः कथ्यते” जो हिंसा करे वह कंस है। अभिमान निःसीम आत्म-तत्त्व को, मैं को, अहम् को चारों ओर से घेर कर देश, काल की सीमा में परिमित कर देता है, घर परिवार तक घेर कर रख देता है, यही उसका हिंसक होना है, हिंसा करना है। चारों ओर जो घेर कर रख दे, उसे, अभि=चारों ओर से मान=घेर कर रख देने वाला, अभिमान कहते हैं। यह अभिमान् महान् हिंसक होता है।

मथुरा (शरीर) पर जरासन्ध (जरा, वृद्धावस्था) का आक्रमण दशम स्कन्ध के पचासवें अध्याय में होता है। इसका भी एक विलक्षण रहस्य है। जब मनुष्य पचास वर्ष की अवस्था का हो जाता है तब उसपर उसके शरीर मथुरा पर जरासन्ध का (वृद्धावस्था का) आक्रमण प्रारम्भ हो जाता है। जरा का यह आक्रमण तब तक होता रहता है, जब तक कि कालयवन (मृत्यु) मथुरा को कस कर घेर नहीं लेता। यह कालयवन के आक्रमण का ही फल है कि भगवान् द्वारा भी रक्षित मथुरा उजड़ जाती है। भगवान् को सागर में दुर्ग के रूप में द्वारिका—द्वारि=प्रवेशमार्गें कं=ब्रह्मसुखं यस्याः सा, जिसके द्वार-द्वार पर ब्रह्मसुखःलटक रहा हो वह द्वारिका है—का निर्माण करवाना पड़ा। द्वारिका कहते हैं—ब्राह्मविद्या को। काल कहते हैं—मौत को। काल को योगियों के द्वारा मरवाने की शक्ति केवल भगवान् में है। इसे हम आगे देखेंगे।

कंस की दो प्रधान पत्नियाँ थीं—अस्ति और प्राप्ति। ये दोनों जरासन्ध की बेटियाँ थीं। ‘अस्ति’ का अर्थ होता है—जो हमारे पास है, वह हमेशा बरकरार रहे और ‘प्राप्ति’ का अर्थ है, जो हमारे पास नहीं है, वह हमें मिल जाय। प्रत्येक अभिमानी जीव ‘अस्ति’ और ‘प्राप्ति’ के चक्कर में सर्वदा पड़ा रहता है। गीता में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या है—प्राणी यह सोचता है कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथ को प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर इसे भी प्राप्त कर लूँगा। आज मैंने इस शत्रु को मारा है और कल दूसरों को भी मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ। मैं सब सिद्धियों से युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥

१६/१३-१४

अस्ति-प्राप्ति : तार जरा से जुड़ा है और जरा का कनेक्शन काल से, मृत्यु से है। इस प्रकार अस्ति-प्राप्ति के चक्कर में पड़ा हुआ प्राणी शीघ्र जरा और काल के कोप का भाजन बनता है अतः पचासवें वर्ष में प्रवेश करते ही अस्ति-प्राप्ति का चक्कर छोड़कर भगवान् की शरण में प्राणी को चले जाना चाहिये। यही है, इस अध्याय का हृदय, रहस्य ॥

अब आइये भागवत के मूल प्रसङ्ग पर चलते हैं—

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—राजन् अस्ति और प्राप्ति नामक कंस की दो पटरानियाँ थीं। ये दोनों मगधदेश के अधिपति महाबलशाली जरासन्ध की प्रिय पुत्रियाँ थीं। कंस के मारे जाने पर दुःखी होकर विलाप करती हुई वे पिता की राजधानी में गई—



अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ । मृते भर्तरि दुःखति ईयतुःस्म पितुर्गृहान् ॥ १०/५०/१  
 वहाँ उन्होंने पिता जी से अपने वैधव्य का कारण बतलाया । उसे सुनकर जरासन्ध शोक और क्रोध से सन्तप्त हो उठा । उसने निश्चय किया कि इस भूमण्डल को यादवों से विहीन कर दूँगा । फलतः उसनें तेईस अक्षौहिणी की विशाल सेना लेकर मथुरा को जा घेरा । भगवान् श्रीकृष्ण ने उमड़ते हुए सागर की भाँति जरासन्ध की सेना से मथुरा को चारों ओर से घिरा देखा । उस समय मथुरावासी भय से सन्नस्त हो उठे थे । भगवान् ने सोचा—मेरा अवतार भू-मण्डल के भार को उतारने के लिये हुआ है । धर्म और साधुओं की रक्षा ही यहाँ मेरा प्रमुख प्रयोजन है इसके लिये यह बड़ा ही अच्छा अवसर है । जरासन्ध के द्वारा लाई गई भू-भार-भूत विशाल सेना का मैं नाश करूँगा किन्तु अभी जरासन्ध का वध नहीं करूँगा ताकि वह जीवित रहने पर बार-बार असुर सेना के साथ मथुरा पर आक्रमण करता रहे । इस तरह अनायास ही मुझे दुष्ट-दलन का अवसर प्राप्त होता रहेगा ।

भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार सोच ही रहे थे कि आकाश से सूर्य के समान चमकते हुए दो रथ उनके सामने आ पहुँचे । उनमें युद्ध की सारी सामग्रियाँ भरी हुई थीं । दो सारथी उनका सञ्चालन कर रहे थे । इसी समय भगवान् के दिव्य और सनातन आयुध भी वहाँ आकर उपस्थित हो गये । उन्हें देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने बड़े भाई बलराम जी से कहा—भैया, जरासन्ध के आक्रमण के कारण इस समय मथुरा पर बड़ी भारी विपत्ति आ गई है । मथुरावासी आपको ही अपना स्वामी और रक्षक मानते हैं अतः उनकी रक्षा हम लोगों का कर्तव्य है । यह रथ और आपके आयुध हल और मूसल भी यहाँ उपस्थित हो गये हैं अतः आयुध लेकर, रथ पर सवार होकर, आप शत्रुसेना का संहार कर स्वजनों की रक्षा कीजिये ।

भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम इस प्रकार परस्पर सलाह कर युद्ध के लिये सन्नद्ध हो रथ पर आरूढ़ हुए और थोड़ी-सी सेना के साथ मथुरा से निकल पड़े । श्रीकृष्ण का रथ हाँक रहा था—दारुक । पुरी से बाहर निकल कर भगवान् ने अपना पाञ्चजन्य शंख बजाया । पाञ्चजन्य की ध्वनि सुनकर शत्रु-सेना के वीरों का हृदय भय से काँप उठा । जरासन्ध ने दोनों भाइयों को देखा । उसने श्रीकृष्ण से कहा—भाग जा मेरे सामने से । तू निरा बच्चा है अतः तेरे साथ युद्ध करने में मुझे लज्जा की अनुभूति हो रही है । तू अपने मामा का हत्यारा है । भय के मारे अब तक पता नहीं कहाँ-कहाँ छिपता-फिरता था । भाग जा तू मेरे सामने से । फिर उसने बलराम से कहा—बलराम, यदि तुम्हारी युद्ध में श्रद्धा है, तो आ मेरे सामने । मैं तुझे बाणों से बीध कर स्वर्ग भेज दूँ अथवा यदि तुझमें शक्ति हो तो मुझे ही मार डाल ।

बलराम से इस प्रकार कहकर जरासन्ध आगे बढ़ा । उसने बाणों की विशाल वृष्टि से श्रीकृष्ण और बलराम के रथों को वैसे ही ढँक दिया जैसे कि वायु बादलों के द्वारा सूर्य को आच्छादित कर देता है । एक क्षण के लिये कृष्ण और बलराम के रथ दिखलाई नहीं पड़े । इससे अट्टालिकाओं पर चढ़कर युद्ध देखती हुई मथुरा की स्त्रियाँ शोक से व्याकुल हो उठीं । भगवान् ने देखा शत्रुओं के प्रहार से हमारी सेना पीड़ित हो रही है अतः उन्होंने अपना शार्ङ्ग धनुष उठाया और तीक्ष्ण बाणों की वर्षा से शत्रु-सेना को तहस-नहस कर दिया । चारों ओर रक्त की नदियाँ बह चलीं । उनमें कटी हुई भुजाएँ सर्प के समान, खोपड़ियाँ कच्छपों के समान, हाथी छोटे-छोटे द्वीपों के समान एवं घोड़ों के रुण्ड-मुण्ड घड़ियालों की तरह दिखलाई पड़ते थे ।

दोनों भाइयों ने शत्रु की समूची सेना का विनाश कर डाला, जरासन्ध के रथ-सारथी सब नष्ट हो चुके थे । भगवान् बलराम ने झपटकर जरासन्ध को धर दबोचा । वे उसका वध करना ही चाहते थे कि भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें यह सोचकर रोक दिया कि यदि यह जीवित रहेगा तो बार-बार सेना एकत्रित कर आयेगा और मैं उसका संहार करता रहूँगा । इस प्रकार भूमि का बहुत-कुछ भार हल्का हो जायेगा ।



भगवान् के द्वारा छोड़ दिये जाने पर लज्जित जरासन्ध ने तप करने की इच्छा से जङ्गल की राह पकड़ी किन्तु मार्ग में राजाओं ने उसे समझा-बुझा कर जङ्गल जाने से रोका। भगवान् बलराम ने उपेक्षापूर्वक उसे छोड़ दिया था। इससे वह बहुत उदास होकर अपने देश मगध को चला गया फिर वह दूसरी बार मथुरा पर आक्रमण की तैयारी करने में संलग्न हो गया। भगवान् जिस अपनी सेना के रक्षक थे, उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ। उसे लेकर भगवान् ने मथुरापुरी में प्रवेश किया। उस समय देव-मण्डली उनके ऊपर नन्दन-वन के फूलों की वर्षा कर रही थी। भगवान् श्रीकृष्ण रणभूमि से अपार धन और वीरों के आभूषण ले आये थे वह सब उन्होंने यदुवंशियों के राजा उग्रसेन के पास प्रेषित कर दिया।

भगवान् श्रीकृष्ण और विजयी बलराम के मथुरा में प्रवेश करते ही वहाँ की जनता प्रसन्न हो उठी। नाना प्रकार के बाजे बजाये जाने लगे। पूरा-का-पूरा नगर दुल्हन की तरह सज-धज गया। किन्तु जरासन्ध के साथ युद्ध अभी पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ था।

राजन, इस प्रकार सत्रह बार तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करके मगधराज जरासन्ध ने मथुरा पर आक्रमण किया किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रत्येक बार उसकी सारी सेना नष्ट कर दी। जब सारी सेना नष्ट हो जाती, तब यदुवंशियों के उपेक्षापूर्वक छोड़ देने पर जरासन्ध अपनी राजधानी में लौट जाता। जिस समय अठारहवाँ संग्राम छिड़नेवाला ही था, उसी समय नारद जी के द्वारा भेजा हुआ वीर कालयवन दिखलाई पड़ा। उसने नारद से सुन लिया था कि भू-मण्डल पर यादव ही उसके समान बेजोड़ योद्धा हैं। तीन करोड़ म्लेच्छों की सेना लेकर उसने मथुरा को चारों ओर से घेर लिया।

कालयवन का यह असमय आक्रमण देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने बलराम से विचार-विमर्श किया—अहो ! इस समय तो मथुरा के ऊपर एक साथ दो सङ्कट आ पड़े हैं। इधर कालयवन ने मथुरा को घेर रक्खा है और उधर जरासन्ध अठारहवीं बार पुनः आक्रमण करनेवाला है। वह भी महान् बलवान् है। यदि हम दोनों बन्धु कालयवन के साथ लड़ने में लग जायेंगे तो समाचार प्राप्त होते ही उसी समय जरासन्ध भी आ पहुँचेगा। वह हमारे बन्धुओं को मार डालेगा अथवा बन्दी बनाकर उन्हें अपनी राजधानी ले जायेगा इसलिये हम लोग एक ऐसा दुर्ग—ऐसा किला बनायेंगे, जिसमें मानव का प्रवेश अति कठिन होगा। अपने लोगों को उसी दुर्ग में सुरक्षित पहुँचाकर फिर कालयवन के विनाश का प्रयास करेंगे।

बलराम जी से इस प्रकार सलाह करके श्रीकृष्ण ने देवताओं के प्रधान इंजीनियर त्वष्टा (विश्वकर्मा) को बुलाकर सागर के भीतर एक ऐसा दुर्गम दुर्ग बनवाया, जिसमें सभी वस्तुएँ अद्भुत थीं। उस नगर की लम्बाई, चौड़ाई अड़तालीस कोस की थी। उसका कुछ भाग जल के भीतर था और कुछ जल के बाहर। उसके निर्माण में वास्तुकला और शिल्पकला की अद्भुत निपुणता दिखलाई पड़ रही थी। उसमें गली चौराहे, वन, उपवन आदि बड़े सुन्दर रूप से विन्यस्त किये गये थे। भवनों के शिखर चमचमाते हुए सोने के बने थे। द्वार पर भाँति-भाँति की बहुमूल्य मणियाँ जड़ी गई थीं। वहाँ चारों वणों के निवास की यथोचित व्यवस्था थी। सबके मध्य में यदुवंशियों के प्रधान उग्रसेन जी, वसुदेव जी, बलराम जी तथा भगवान् श्रीकृष्ण के महल जगमगा रहे थे। उस नगरी का नाम रक्खा गया—द्वारिका। परीक्षित, द्वारिका नगरी को सजाने के लिये उस समय देवराज इन्द्र ने भगवान् श्रीकृष्ण के लिये पारिजात वृक्ष<sup>१</sup>

१. भागवत में आगे अध्याय ५९ में कहा गया है कि स्वर्ग से लौटते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने सत्यभामा जी की प्रेरणा से (पारिजात) उखाड़कर गरुड पर रख लिया। देवताओं के सहित इन्द्र को जीतकर वे उसे द्वारिका लाये—चोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति। आरोग्य सेन्द्रान् विबुधान् निर्जितोपानयत् पुरम् :। १०/५९/३९॥ इन दोनों स्थलों में संगति नहीं बैठती।



और सुधर्मा सभा को भेज दिया। वह सभा ऐसी दिव्य थी कि उसमें बैठे हुए लोगों को भूख-प्यास आदि मर्त्यलोक के धर्म प्रभावित नहीं करते थे। द्वारिका का निर्माण हो जाने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने समस्त स्वजन-सम्बन्धियों को रात्रि की शयन-बेला में ही अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमाया के द्वारा द्वारिका में पहुँचा दिया। केवल युद्ध करने के लिये थोड़ी-सी सेना मथुरा के उन-उन मोर्चों पर नियुक्त कर दी। मथुरा की सेना की सुरक्षा में बलराम जी को नियुक्त कर और उनसे कुछ गुप्त सलाह कर<sup>१</sup> गले में कमलों की माला पहने, बिना कोई अस्त्र-शस्त्र लिये, स्वयं भगवान् नगर के बड़े दरवाजे से बाहर निकल आये—

प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः । निर्जगाम पुरद्वारात् पद्ममाली निरायुधः ॥१०/५०/५८

रहस्य—मथुरा में यादवों की सभा बैठी थी। महर्षि गार्ग्य और उनके साले भी उसमें थे। गार्ग्य स्त्री-सम्भोग में दुर्बल थे। गार्ग्य की स्त्री ने अपने दुःख को भाभी से कहा। भाभी ने इसकी चर्चा अपने पति से की अतः गार्ग्य के साले ने हँसी-हँसी में अपने जीजा को नपुंसक कह दिया। इस पर सभी यादव बड़े जोरों से हँस पड़े। गार्ग्य अपमानित और क्रुद्ध होकर दक्षिण सागर के तट पर चले गये। वहाँ उन्होंने यादवों के द्वारा अवध्य और उन्हें भय-प्रद पुत्र की कामना से तपस्या प्रारम्भ की। तपस्या की बेला में वे लौहचूर्ण खाते थे। बारह वर्ष बीत जाने पर भगवान् शङ्कर ने प्रसन्न हो उन्हें अभीष्ट वर प्रदान किया। उसी समय की बात है। वहाँ एक यवन राजा था। उसकी स्त्री सुन्दरी और मदमाती थी। उसे कोई पुत्र न था। यवनराज की पत्नी अपने पति की आज्ञा से गार्ग्य की सेवा करती थी। गार्ग्य उसके यौवन पर मुग्ध हो गये। उन्होंने सम्भोग कर उसे गर्भवती बना दिया। उससे जो बेटा पैदा हुआ वही कालयवन कहलाया। वह महान् बलशाली था। वह किसी को भी अपने से बड़ा वीर नहीं मानता था। एक दिन संयोग से उसकी भेंट नारद जी से हो गई। उसने युद्ध की कामना से उनसे बलशाली राजाओं की नामावली पूछी। नारद ने कहा— इस समय भू-मण्डल पर यादवों से बढ़ कर कोई बलशाली नहीं है। यह सुनकर वह प्रसन्न हो उठा और मथुरा को जाकर घेर लिया। अत्यन्त कृष्णवर्ण का होने के कारण उसे कालयवन कहा जाता था।

हरिवंश पुराण के अनुसार यवनराज की स्त्री के स्थान पर यवनराज के द्वारा अपने संरक्षण में रक्खी गई ग्वालिन से गार्ग्य ने पुत्र उत्पन्न किया था। यह अन्तर है।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह हुआ पचासवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५०॥



१. वरदान के अनुसार यदुवंशी कालयवन को नहीं मार सकते अतः मैं यहाँ से भागकर प्रवर्षण पर्वत की गुफा में सोते हुए मुचुकुन्द के द्वारा इसका वध करवाऊँगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने बलराम के कान में धीरे से यही कहा। मुचुकुन्द मान्धाता के पराक्रमी योगी पुत्र थे। इन्होंने देवासुर-संग्राम में असुरों का संहार किया था। श्रान्त हो जाने पर देवताओं से गाढ़ी निद्रा का वरदान लेकर वे पर्वत की गुफा में शयन कर रहे थे। देवताओं ने उन्हें यह भी वरदान दिया था कि जो तुम्हें निन्द्रा से जगायेगा, वह तुम्हारे दृष्टिपात से जलकर भस्म हो जायेगा। श्रीकृष्ण भागते हुए उसी गुफा में गये जहाँ मुचुकुन्द सो रहे थे। भगवान् ने उन्हें अपना पीताम्बर ओढ़ा दिया और पेड़ की आड़ में छिप गये। पीछे-पीछे दौड़ता हुआ कालयवन वहाँ पहुँचा। मुचुकुन्द को देखकर उसने सोचा कि श्रीकृष्ण ही यहाँ पीताम्बर ओढ़कर सो गये हैं अतः उसने कसकर उन पर पैर से प्रहार किया। मुचुकुन्द की गाढ़ी निद्रा टूटी। उन्होंने क्रोध कर उसकी ओर निहारा। फलतः कालयवन जलकर राख बन गया।

रहस्य—इसका हृदय यह है कि काल को मारने की शक्ति केवल योगी में ही होती है। योगी ही काल को मार सकता है ॥



## इक्यावनवाँ अध्याय

( मुचुकुन्द के देखने से कालयवन का भस्म होना और उनके द्वारा भगवान् की स्तुति )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—राजन्, निकलते हुए पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह श्रीकृष्णचन्द्र को कालयवन ने देखा। उन्हें देखकर उसकी आँखें अघाती न थीं। उनका वर्ण श्याम था। वे पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनके वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न सुशोभित था। गले में कौस्तुभ-मणि जगमगा रही थी। नारद ने पहले ही कालयवन को भगवान् के सारे लक्षण बतला दिये थे अतः मथुरा से निकल कर दक्षिण दिशा की ओर भागते हुए भगवान् को देखकर कालयवन ने समझ लिया कि यही श्रीकृष्ण हैं। उसने देखा कि यह अस्त्र-शस्त्र नहीं लिये हैं और पैदल ही चल रहे हैं अतः मैं भी इनके साथ बिना अस्त्र-शस्त्र के ही पैदल लड़ूँगा। ऐसा निश्चय कर वह भगवान् को पकड़ने के लिये उनकी ओर बढ़ा जब भगवान् ने देखा कि कालयवन उनकी ओर आ रहा है, तो वे जोर से भागने लगे। कालयवन उनको पकड़ने के लिये उनके पीछे दौड़ा। बड़े-बड़े योगियों का मन भी जिनका स्पर्श करने में समर्थ नहीं है, उन्हें पकड़ने के लिये कालयवन दौड़ रहा है। रणछोड़ भगवान् लीला करते हुए भाग रहे थे। कालयवन पग-पग पर यही समझता था कि अब पकड़ा, तब पकड़ा। इस प्रकार दौड़ते हुए भगवान् उसे बहुत दूर एक पर्वत की गुफा में ले गये। वहाँ मुचुकुन्द सो रहे थे। भगवान् ने उनके ऊपर अपना पीताम्बर ओढ़ा दिया और वृक्ष की आड़ में छिप गये। कालयवन ने वहाँ पीताम्बर ओढ़ कर एक सोते हुए पुरुष को देखा। उसने सोचा कि यह श्रीकृष्ण ही हैं अतः कस कर एक लात मारा। पादप्रहार के होते ही सोया हुआ पुरुष घबरा कर उठ बैठा। उसने अपनी कोपभरी दृष्टि चारों ओर दौड़ाई तो उसे अपने समीप ही खड़ा हुआ कालयवन दिखलाई पड़ा। उस व्यक्ति की दृष्टि पड़ते ही कालयवन के शरीर में आग लग गई। क्षणभर में ही वह भू-तल पर गिरकर राख हो गया—

स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत । देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभवत् क्षणात् ॥ १०/५१/१२

इस प्रसङ्ग को सुनकर राजा परीक्षित ने पूछा—भगवान्, कालयवन को भस्म करनेवाला पुरुष कौन था ? पर्वत की गुफा में क्यों सो रहा था ? आदि बातें कृपाकर हमें बतलाइये।

राजा की जिज्ञासा को देखकर श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, वह इक्ष्वाकुवंशी महाराजा मान्धाता के पुत्र राजा मुचुकुन्द थे। वे सारे सदगुणों की खान थे। देवों की प्रार्थना पर उन्होंने बहुत दिनों तक देवों की रक्षा करते हुए असुरों से युद्ध किया था। देवताओं ने प्रसन्न होकर उन्हें इच्छानुसार निद्रा का वरदान दिया था और यह भी कहा था कि जो मूर्ख व्यक्ति आप की निद्रा को भंग करेगा वह आप की दृष्टि पड़ते ही जल कर राख बन जायेगा। बस, इसी कारण उनकी दृष्टि पड़ते ही कालयवन जलकर भस्म बन गया था ॥

हृदय-विद्वानों का कथन है कि जिस पर्वत की गुफा में मुचुकुन्द शयन कर रहे थे उसका नाम था—प्रवर्षण पर्वत। जब काल पीछा करे तो प्राणी को प्रवर्षण पर्वत की शरण लेनी चाहिये। प्रवर्षण का अर्थ है—जहाँ भगवच्चर्चा, भगवत्कथा और भगवद्भजान निरन्तर चलता रहता है, वह प्रवर्षण पर्वत है। जहाँ भगवदमृत की वर्षा होती रहती है, वह प्रवर्षण पर्वत है। यह पर्वत मथुरा-मण्डल की दक्षिणी सीमा पर स्थित धवलपुर में था।

कालयवन के भस्म हो जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण महाराज मुचुकुन्द के सामने आये। उनको देखकर मुचुकुन्द चकित हो गये। उन्होंने देखा—वर्ण मेघ की तरह श्याम है, शरीर पर पीताम्बर झिलमिला रहा है, वक्षःस्थल श्रीवत्स से अङ्कित है, गले में कौस्तुभ मणि सुशोभित है, भुजाएँ चार हैं, ग्रीवा में वैजयन्ती माला लटक रही है, और मुख-मण्डल विकसित कमल की भाँति सुन्दर है। उन्हें देखकर मुचुकुन्द ने सादर प्रणाम किया, अपना परिचय दिया और उनका परिचय पूछा।



भगवान् ने कहा—प्रिय मुचुकुन्द, मेरे जन्म, कर्म और नाम अनन्त हैं। इसलिये मैं भी उनकी गणना नहीं कर सकता। मैं अनन्त और मेरे जन्म, कर्म तथा नाम भी अनन्त हैं। यह सम्भव है कि कोई पुरुष अपने अनेक जन्मों में पृथ्वी के छोटे-छोटे धूलि-कणों की गिनती कर ले; परन्तु मेरे जन्म, गुण, कर्म और नाम कभी नहीं गिने जा सकते—

क्वचिद् रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः । गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित् ॥

१०/५१/३८

फिर भी मेरे वर्तमान जन्म-कर्म और नाम के बारे में सुनो—पृथिवी दुष्ट राजाओं के भार से आक्रान्त थी। उसका भार उतारने के लिये ब्रह्मा ने मुझसे प्रार्थना की। फलतः मैं यदुकुल में वसुदेव के पुत्र के रूप में जन्मा हूँ अतः लोग मुझे वासुदेव भी कहते हैं। मैंने कंस, प्रलम्ब आदि बहुत-से असुरों का विनाश किया है और अभी-अभी आप की नेत्राग्नि से कालयवन को भी भस्म करवा देनेवाला मैं ही हूँ। वही मैं आप पर महान् अनुग्रह करने के लिये इस गुफा में आया हूँ। आप ने अपने पूर्वजन्म में मेरी प्रचुर आराधना की है अतः मैं प्रसन्न होकर आप को मनोवाञ्छित वर देने के लिये आया हूँ। माँग लो जो आप की इच्छा हो। जो पुरुष मेरी शरण में आ जाता है, उसके लिये मेरे पास फिर कुछ अदेय नहीं रह जाता—

मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ॥१०/५१/४४

भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार कहने पर मुचुकुन्द के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने वृद्ध गर्ग के उस वचन का स्मरण हो आया जिसमें उन्होंने कहा था कि—यदुवंश में भगवान् अवतीर्ण होनेवाले हैं। उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया और फिर तेरह श्लोकों से उनकी स्तुति करते हुए कहा—प्रभो, संसार के सभी प्राणी आप की माया के द्वारा मोहित हो रहे हैं। वे आप से विमुख होकर अनर्थ में ही फँसे रहते हैं और आप का भजन नहीं करते। वे सुख के लिये दुःखपूर्ण घर गृहस्थी के झंझटों में फँस जाते हैं। प्रभो, भारतभूमि कर्मभूमि है, अत्यन्त पवित्र है। इसमें मानव जन्म पाना अति दुर्लभ है। मानवजीवन भगवद्भजन के लिये सब से अनुकूल जीवन है। प्रभु-कृपा से और अपने पुण्यों के प्रताप से उसे प्राप्त कर जो मूर्ख अपना जीवन असत् संसार में लगा देते हैं, व्यतीत कर देते हैं, वे दुर्भाग हैं और उस पशु के समान हैं, जो तृण के लोभ से जलविहीन कुएँ में गिरकर मर जाता है। मानव-जीवन का एकमात्र उद्देश्य है—भगवान् का भजन। स्वामिन्, मेरा भी सारा जीवन, सारा समय परिवार के ही भरण-पोषण में समाप्त हो गया है। कच्चे घट और भित्ति के समान इस नश्वर शरीर को मैंने अपनी आत्मा मान कर मैं 'नरदेव' हूँ इसी अभिमान में फूला फिरता रहा और कभी भी आप की ओर दृष्टि नहीं दौड़ाई। कालरूप आप की ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। जो प्राणी सर्वदा गृहसम्बन्धी चिन्ताओं में निमग्न रहता है, विषयों में ही जिसका मन रमा हुआ है, उसे आप सहसा कालरूप से उसी प्रकार पकड़ लेते हैं, जैसे भूख से व्याकुल जीभ लपलपाता हुआ सर्प असावधान चूहे को पकड़कर अपना ग्रास बना लेता है। जो पहले सुवर्ण-मण्डित रथ पर आरूढ़ होकर चलता था, अथवा बड़े-बड़े गजराजों की सवारी करता था, जिसे नरदेव कहा जाता था, वही शरीर एकदिन आपके तेज अबाध काल का ग्रास बन जाने पर तीन प्रकार के परिणामों को प्राप्त होता है। बाहर फेंक देने पर सियार, पक्षी आदि उसे खाकर विष्टा बना देते हैं। धरती के भीतर गाड़ देने पर सड़कर कीड़ा बन जाता है अथवा अग्नि में जला देने पर राख की ढेरी बन जाता है—

पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन् मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।

स एव कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥१०/५१/५१



सारे संसार पर विजय का डङ्का पीटनेवाला, बड़े-बड़े राजाओं से अपनी पूजा करवानेवाला व्यक्ति जब विषय के वशीभूत हो स्त्रियों के पास जाता है, तो वे उसे अपनी इच्छा के अनुसार बन्दर-नाच नचाती हैं—“क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते” ॥५२॥ वह नाना प्रकार की भोग-वासनाओं में संलिप्त रहता है। भोगों को निरन्तर भोगने पर भी उसकी लालसा, तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। प्रभो, यह जीव अनादिकाल से ही इस संसार-सागर में भटकता फिरता है। यदि भाग्यवश, आप की कृपा से कभी उसे सत्सङ्ग प्राप्त हो जाता है, तभी उसकी मति आप के चरणों में लग जाती है, आप में उसकी दृढ भक्ति हो जाती है—“परावरेषे त्वयि जायते मतिः” ॥५४॥ मेरे अन्तर्यामी स्वामी, आप से क्या छिपा है ? मैं आप के चरणों की सेवा के अतिरिक्त और कोई भी वर नहीं चाहता। सर्वस्व त्याग कर आप का भजन करनेवाले प्राणी भी तो आप की सेवा की ही प्रार्थना किया करते हैं। भगवन्, भला बतलाइये तो सही—मोक्ष देनेवाले आपकी आराधना करके ऐसा कौन बुद्धिमान् व्यक्ति होगा, जो बन्धन में डालनेवाले सांसारिक विषयों का आप से वर माँगे—

न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिञ्चनप्रार्थितमाद् वरं विभो।

आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥१०/५१/५६

इसलिये प्रभो, सारी कामनाओं का परित्याग कर मैं आप की शरण में आया हूँ। सारे संसार के एकमात्र स्वामी, परमात्मन्, आप मुझ शरणागत की रक्षा करने की कृपा करें।

भगवान् मुचुकुन्द की स्तुति सुनकर प्रसन्न हो उठे। उन्होंने कहा—चक्रवर्ती नरेश, तुम्हारी बुद्धि बड़ी निर्मल है, तुम्हारा निश्चय अति महान् है क्योंकि मेरे बार-बार वर का प्रलोभन देने पर भी वह विचलित नहीं हुई, कामनाओं की ओर आकृष्ट नहीं हुई। वस्तुतः हमारे जो एकान्त भक्त हैं, उनकी बुद्धि प्रलोभनों से विचलित नहीं होती। राजन्, तुम अपनी बुद्धि मुझ में लगा कर सारे संसार में भ्रमण करो। मेरे आशीष से तुम्हारी दृढ भक्ति सर्वदा मुझमें बनी रहेगी। क्षत्रिय होने के नाते शिकार आदि के प्रसङ्ग में तुमने प्राणियों की हिंसा की है। तपस्या द्वारा उसके पापों को धो डालो फिर अगले जन्म में तुम ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न होकर प्राणियों के सच्चे हितकर्ता बनोगे फिर आयु-समाप्त होने पर मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा को प्राप्त करोगे—

भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥१०/५१/६४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त यह हुआ ॥५१॥

## बावनवाँ अध्याय

( भगवान् का द्वारकागमन, श्री बलराम जी का विवाह तथा श्रीकृष्ण के पास रुक्मिणी का सन्देश लेकर ब्राह्मण का आगमन )

श्री शुकदेवजी ने कहा—प्यारे परीक्षित, इस प्रकार भगवान् का अनुग्रह प्राप्त कर राजा मुचुकुन्द ने भगवान् की परिक्रमा की, उन्हें प्रणाम किया और फिर गुफा से बाहर निकले। उन्होंने देखा कि पेड़-पौधे, पशु और मानव सभी छोटे-छोटे आकार के हो गये हैं। इससे उन्होंने अन्दाज लगा लिया कि कलियुग आ गया है। वे उत्तर दिशा की ओर चले गये। जाते-जाते वे गन्धमादन पर्वत पर बदरिकाश्रम में पहुँचे, जो नर-नारायण की तपःस्थली है। वहाँ श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए वे कठोर तप में प्रवृत्त हो गये।

१. द्वारिका और द्वारका— ये दोनों ही नाम सही हैं।



विशेष—महात्माओं का कथन है कि मुचुकुन्द ही दूसरे जन्म में नरसिंह मेहता के रूप में जन्म ग्रहण किये ।  
उन्हें श्रीकृष्ण अतिशय प्रिय थे ॥

भगवान् ने मुचुकुन्द को आशीष देकर विदा किया फिर वे मथुरा लौटे । यवन-सेना मथुरा को घेरे हुए थी । भगवान् ने उसका संहार किया । उसकी लूटी गई सारी सम्पत्ति लेकर द्वारिका भेज दी । इसी समय तेईस अक्षौहिणी की विशाल सेना लेकर जरासन्ध ने मथुरा पर आक्रमण किया । उसने मथुरा पर यह अठारहवीं बार आक्रमण किया था । शत्रु-सेना का भीषण आक्रमण देखकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम मनुष्यों की-सी लीला करते हुए उसके सामने से बड़ी फूर्ती से भाग निकले । भागते हुए वे प्रवर्षण पर्वत पर जा चढ़े—

विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ । मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन् दुद्रुवतुर्द्वुतम् ॥१०/५२/७  
बलराम-कृष्ण को पैदल ही भागते देखकर बलशाली जरासन्ध ने जोर से अट्टहास लगाकर उनका पीछा किया । बहुत अन्वेषण करने पर भी जब वे दोनों भाई नहीं मिले तो जरासन्ध ने प्रवर्षण पर्वत के चारों ओर सूखी लकड़ियों का ढेर इकट्ठा कर उसमें आग लगवा दी । दोनों भाई अतिशय ऊँचे उस पर्वत से कूद कर द्वारिकापुरी में चले आये । जरासन्ध ने सोचा बलराम और श्रीकृष्ण वनाग्नि में जलकर भस्म हो गये अतः वह प्रसन्नतापूर्वक सेना समेट कर अपनी राजधानी मगध देश को चला गया ।

हे राजन्, यह बात मैं तुमसे पहले ही (नवम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में) बतला चुका हूँ कि ब्रह्मा जी की प्रेरणा से रेवत के पुत्र ककुद्भी ने अपनी कन्या रेवती का विवाह बलराम से कर दिया था ।

परीक्षित्, अब रुक्मिणी के विवाह-मङ्गल की बात सुनो । विदर्भ-देश के राजा थे—भीष्मक । भीष्मक के पाँच बेटे थे—रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली । इनमें रुक्मी सबसे बड़ा था । भीष्मक को एक ही कन्या थी—रुक्मिणी । रुक्मिणी लक्ष्मी जी की अवतार थीं । भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंवर में आये हुए शिशुपाल और उसके पक्षपाती शाल्व आदि नरपतियों को बलपूर्वक हराकर रुक्मिणी जी को हर लाये और उनके साथ विवाह कर लिया ।

राजा परीक्षित् ने कहा—हमने सुना है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी जी का बलपूर्वक हरण करके राक्षसविधि से उनके साथ विवाह कर लिया था । इस प्रसङ्ग को मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ कृपा कर आप बतलावें ।

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—रुक्मिणी की माता का नाम था—शुद्धमति । शुद्धमति ही लक्ष्मी की जननी हो सकती है । जहाँ शुद्धमति होती है, वहीं लक्ष्मी पैदा होती है । शुद्धमति सत्सङ्ग की प्रेमी थी अतः बहुत-से महात्मा आकर उसे भगवत्कथा सुनाया करते थे । इन कथाओं में श्रीकृष्ण की कथा प्रधान थी । रुक्मिणी जी माता के साथ बैठ कर भगवान् की कथा सुना करती थीं । कथा के सन्दर्भ में भगवान् कृष्ण के रूप और गुणों को सुनकर वे उनपर मुग्ध हो गईं । उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि मैं श्रीकृष्ण के ही साथ विवाह करूँगी, दूसरे के साथ नहीं—

सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः । गृहागतैर्गायमानास्तं मेने सदृशं पतिम् ॥१०/५२/२३

इधर भगवान् श्रीकृष्ण ने नारद आदि ऋषियों से रुक्मिणी जी के रूप, गुण, उदारता और शील-स्वभाव को सुनकर उन के साथ विवाह करने का निश्चय किया । रुक्मिणी के माता-पिता, रुक्मी को छोड़कर उसके शेष भाई सभी चाहते थे कि रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण के साथ कर दिया जाय । वे ही रुक्मिणी के योग्य पति हैं किन्तु राजमहल में तो शासन बड़े भाई रुक्मी का ही चलता था । वह कृष्ण का द्वेषी था अतः शिशुपाल के साथ अपनी बहन का विवाह करना चाहता था । रुक्मिणी और शिशुपाल के विवाह की बात पक्की हो गई । जब रुक्मिणी जी ने इस बात को जाना तो वे अतिशय दुःखी हो गईं । उन्होंने बहुत कुछ सोच-विचार कर एक विश्वासपात्र ब्राह्मण को तुरन्त श्रीकृष्ण के पास



भेजा। ब्राह्मण का नाम था—सुदेव। वह राजभवन में शुद्धमति के पास प्रायः आता-जाता था। रुक्मिणी बड़ी श्रद्धा से उसे प्रणाम करती थी। वह उसे बड़े स्नेह से इच्छापूर्ति का आशीष देता था। उसने उसी ब्राह्मण को सात श्लोकों वाला एक गुप्त पत्र देकर कहा—ब्राह्मण-देवता, यह एक गोपनीय पत्र है। आप कृपा करके इसे द्वारका में स्थित श्रीकृष्ण के हाथों में पहुँचा दें। यह आप की मेरे ऊपर बड़ी कृपा होगी।

रुक्मिणी की प्रार्थना को स्वीकार कर सुदेव द्वारिका में श्रीकृष्ण के पास पहुँचा। जब वह द्वारकापुरी में पहुँचा तब द्वारपाल उसे राजमहल के भीतर ले गये। भगवान् के राजप्रासाद में ब्राह्मणों का बे-रोकटोक प्रवेश होता था। वहाँ जाकर ब्राह्मण-देवता ने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण सोने के सिंहासन पर विराजमान हैं। भगवान् उन ब्राह्मण देवता को देखते ही अपने आसन से नीचे उतर गये और उन्हें अपने आसन पर बैठाकर उनकी सादर पूजा की। आदर-सत्कार कुशल-प्रश्न के अनन्तर भगवान् ने उन्हें विधिवत् भोजन कराया, सुन्दर पलङ्ग पर सुलाया और फिर उनका पैर दबाते हुए आगमन का कारण पूछा। जैसे रुक्मिणी भगवान् को प्राप्त करने के लिये व्यग्र थी वैसे ही भगवान् भी उसे प्राप्त करने के लिये भीतर-ही-भीतर व्यग्र थे—

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः। पाणिनाभिमृशन् पादावव्यग्रस्तमपृच्छत्<sup>१</sup> ॥१०/५२/२९

भगवान् के प्रश्न को सुनकर ब्राह्मण सुदेव ने भीष्मक की राजधानी की सारी घटना का वर्णन करके रुक्मिणी का गोपनीय पत्र भगवान् को पकड़ा दिया फिर भगवान् के आदेश से ब्राह्मण सुदेव ही उस पत्र को पढ़ने लगे। उसमें सात श्लोक लिखे थे। दोनों का सप्तपदी-सम्बन्ध शीघ्र ही जुड़ जाना चाहिये ऐसा सूचित करने के लिये ही पत्र में सात श्लोक लिखे गये थे। छः श्लोकों में रुक्मिणी जी ने श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य आदि सदगुणों का वर्णन किया है और अन्तिम सातवें श्लोक में अनन्य शरणागति की भावना व्यक्त की है।

रुक्मिणी के पत्र का प्रथम श्लोक इस प्रकार था—हे भुवनसुन्दर, प्राणियों के अखिल सन्ताप को दूर करनेवाले आपके गुण और सुन्दर रूप का वर्णन सुनकर मेरा मन निर्लज्ज बनकर आप में ही प्रवेश कर रहा है, आप में अनुरक्त हो रहा है। मुझे आशा है कि अब मेरे सारे मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निर्विशय कर्णविवरैर्हर्ततोऽङ्गतापम्।

रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥१०/५२/३७

प्रभो, आपका का नाम 'मुकुन्द' है। आप भक्ति और मुक्ति के दाता हैं। वस्तुतः आप का यह मुकुन्द नाम तभी सार्थक होगा जब आप हमें भी इस विपत्ति-सागर से उबार लेंगे। आप ही बतलाइये—इस संसार में कुल, शील, रूप, विद्या और धन से सम्पन्न कौन-सी स्त्री है, जो आप के रूप आदि पर मुग्ध होकर आपको अपना पति न बनाना चाहे? संसार की सारी स्त्रियाँ आप को अपना पति बनाने के लिये मरती रहती हैं इसलिये प्रियतम, मैंने आप को पतिरूप से वरण किया है। मैं आप को आत्मसमर्पण कर चुकी हूँ। आप अन्तर्यामी हैं। मेरे हृदय की बात आप से छिपी नहीं है। आप यहाँ पधार कर मुझे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करने की कृपा कीजिये। हे वीर, आप हमारे सनातन पति हैं और मैं आप की शाश्वत पत्नी हूँ। सिंह की बलि जैसे शृगाल नहीं छू सकता, वैसे ही शिशुपाल कहीं आकर मेरा स्पर्श न कर पावे<sup>२</sup>। मैंने अपने पूर्वजन्मों में दान-पुण्य के द्वारा, गुरुजनों और ब्राह्मणों की पूजा के द्वारा भगवान् की जो कुछ आराधना की है, उसके फलस्वरूप आप ही आकर मेरा पाणि-ग्रहण करें, शिशुपाल अथवा

१. यहाँ प्रयुक्त 'अव्यग्रः' शब्द ही भगवान् की व्यग्रता को सूचित करता है।

२. रुक्मिणी के इस कथन से यह भी सूचित होता है कि यदि शिशुपाल ने शरीर का स्पर्श किया तो मेरे प्राण निकल जायेंगे। वह इस शरीर का संभोग नहीं कर सकेगा। यह शरीर केवल आपके लिये ही है।



कोई भी दूसरा पुरुष मेरा स्पर्श न कर सके। हे अजित, कल ही मेरे विवाह का समय निर्धारित किया गया है। इसके पहले ही विशाल सेना के साथ आप यहाँ पधरें और शिशुपाल आदि की सेना को ध्वस्त कर मेरा वरण कर लें। यदि आप कहें कि तुम तो अन्तःपुर के अन्दर रहोगी। बड़े-बड़े वीर राजभवन की रक्षा में नियुक्त रहेंगे। ऐसी स्थिति में मैं तुम्हारा हरण कैसे कर सकता हूँ? तो मैं आप को उपाय बतलाती हूँ। सुनें, विवाह के पहले कन्या परम्परा के अनुसार गिरिजा पूजन के लिये बाहर मन्दिर में जाया करती है। आप वहीं से ही मेरा हरण कर लें।

मेरे स्वामिन्, भगवान् शङ्कर के समान बड़े-बड़े महापुरुष भी आत्म-शुद्धि के लिए आप के चरणों की धूलि में स्नान करना चाहते हैं। यदि मैं आप का वह प्रसाद, आप की वह चरण-धूलि न प्राप्त कर सकी तो व्रतों के द्वारा शरीर सुखाकर प्राण छोड़ दूँगी। चाहे उसके लिये सैकड़ों जन्म ही क्यों न लेने पड़ें, कभी-न-कभी तो आप का वह प्रसाद अवश्य ही मिलेगा। आप मुझे अवश्य ही अङ्गीकार करेंगे—

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।

यर्हाम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात्<sup>१</sup> ।।

१०/५२/४३

पत्र सुना देने के बाद ब्राह्मण देवता ने कहा, यदुवंशशिरोमणे, यही हैं रुक्मणी के अत्यन्त गोपनीय संदेश जिन्हें लेकर मैं आपके पास आया हूँ। इसके सम्बन्ध में जो कुछ करना हो, विचार कर लीजिये और अतिशीघ्र उसके अनुसार कार्य कीजिये।

“इत्येते गुह्यसंदेशा यदुदेव मयाऽऽहताः । विमृश्य कर्तुं यच्चात्र, क्रियतां तदनन्तरम्” ।। ६०।५२।४४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह भावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

## तिरपनवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण जी के द्वारा रुक्मिणी जी का हरण )

श्री शुकदेव ने कहा—परीक्षित, रुक्मिणी जी के सन्देश को सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने उन विप्रदेव का हाथ अपने हाथ में लेकर हँसते हुए कहा—

वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः । प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्नदमब्रवीत् ।। १०/५३/१

भगवान् ने कहा—ब्राह्मण देवता, मेरा भी चित्त निरन्तर रुक्मिणी जी में ही लगा रहता है, यहाँ तक कि रात में भी नींद नहीं आती है। मैं इस बात को जानता हूँ कि रुक्मी मुझसे द्वेष करता है। उसने ही मेरे साथ रुक्मिणी जी के विवाह को रोक दिया है। ठीक है, शत्रु-सेना का मंथन करके मैं रुक्मिणी जी का हरण करूँगा।

श्री शुकदेव जी ने कहा—भगवान् श्रीकृष्ण ने यह जानकर कि रुक्मिणी जी के विवाह की लगन परसों रात्रि में ही है; सारथी को आज्ञा दी कि—दारुक, अतिशीघ्र रथ तैयार कर उपस्थित करो। दारुक ने रथ तैयार कर भगवान् के सामने उपस्थित कर दिया। भगवान् ने सायंकाल की बेला में रुक्मिणी का सन्देश सुना था। वे ब्राह्मण-देवता को रथ पर बैठाये और स्वयं रथ पर आरूढ होकर कुण्डिनपुर के लिये चल पड़े। प्रातः होते-होते वे कुण्डिनपुर पहुँच गये।

१. भगवती पार्वती जी ने भी तो ऐसी ही प्रतिज्ञा की थी—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरजँ संभु न त रहजँ कुआरी ।।मानस।।



उधर कुण्डिनपुर नरेश भीष्मक ने अपने बड़े पुत्र रुक्मी के स्नेहवश अपनी कन्या शिशुपाल को देने के लिये विवाह के पूर्व का माङ्गलिक कृत्य प्रारम्भ कर दिया था। नगर के राजमार्ग, चौराहे तथा गली-कूचे सब स्वच्छ कर दिये गये थे उन पर सुगन्धित जल का छिड़काव किया गया था। चारों ओर रङ्ग-विरङ्गी पताकाएँ एवं माङ्गलिक वन्दनवार सुशोभित हो रहे थे। कहीं धूप-अगुरु की सुगन्ध फैल रही थी तो कहीं इत्र का छिड़काव किया गया था। नगरी नई नवेली दुलहन की तरह सजी हुई थी। नगर-निवासी नर-नारी सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो अपने-अपने कार्य में संलग्न थे। महाराज भीष्मक देवों, पितरों एवं ब्राह्मणों की पूजा-अर्चना करके, भोजन आदि से तृप्त किये गये, ब्राह्मणों के द्वारा स्वस्तिवाचन करवाये।

वृद्ध ब्राह्मणियों और कुलदेवियों ने राजकुमारी रुक्मिणी को स्नान करवाया, नवीन वस्त्र पहनाया, आभूषणों से सुसज्जित किया। ब्राह्मणों ने मन्त्र-पाठ करते हुए उनके हाथ में मङ्गल सूत्र बाँधा। शास्त्र-मर्यादा और लोक-मर्यादा के अनुसार, विवाह-पूर्व के सारे कृत्य, क्रमशः सम्पन्न किये गये। ब्राह्मणों को सुवर्ण, रजत तथा वस्त्र आदि प्रदान कर उन्हें सन्तुष्ट किया गया। वे प्रसन्न होकर वर-कन्या के मङ्गल की कामना कर रहे थे।

इसी प्रकार चेदि-देश के राजा दमघोष भी अपने पुत्र शिशुपाल के मङ्गल की कामना से शास्त्रानुसार सारा आभ्युदयिक कृत्य करा कर शूर-वीरों की सेनाओं के साथ कुण्डिनपुर पहुँचे। वर शिशुपाल को आया देखकर महाराज भीष्मक ने उसकी अगवानी की, सम्मान किया और आदर के साथ बारात के लिये निर्मित नवीन जनावासों में सादर ठहरा दिया। शिशुपाल दूल्हे के वेश में उल्लसित हो रहा था। वह अधीर होकर रुक्मिणी के पाणि-ग्रहण की प्रतीक्षा कर रहा था।

शिशुपाल के पक्ष से शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्त्र, विदूरथ तथा पौण्ड्रक आदि बड़े-बड़े वीर आये हुए थे। उन्हें भी भीष्मक ने सजे हुए जनावासों में ठहराया। ये सारे वीर यह सोच कर आये थे कि यदि यादवों की सेना लेकर बलराम और कृष्ण कन्या का हरण करने के लिये आयेंगे तो हम सभी मिलकर उनका प्रतिकार करेंगे। शिशुपाल का हित साधना ही उनका लक्ष्य था।

विपक्षी राजाओं की इस तैयारी का पता भगवान् बलराम जी को लग गया और जब उन्होंने यह सुना कि हमारे लघु बन्धु श्रीकृष्ण अकेले ही राजकुमारी का हरण करने के लिये चले गये हैं, तब उन्हें वहाँ लड़ाई-झगड़े की बड़ी आशङ्का हुई। वे अपने भाई की सहायता करने के लिये यादवों की विशाल चतुरङ्गिणी सेना लेकर कुण्डिनपुर के लिये चल पड़े—

बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः। त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद् गजाश्वरथपत्तिभिः॥

१०/५३/२१

इधर परमसुन्दरी रुक्मिणी जी भगवान् श्रीकृष्ण के शुभागमन की प्रतीक्षा कर रही थीं। उन्होंने देखा श्रीकृष्ण की तो कौन कहे, अभी ब्राह्मण देवता भी नहीं लौटे। वे चिन्तातुर हो सोचने लगीं। मुझ मन्दभागिनी के विवाह में अब केवल एक रात्रि की देरी है। किन्तु मेरे जीवन के आधार श्रीकृष्ण अभी तक नहीं आये। निश्चय ही उन्होंने मुझमें कोई कमी देखी होगी, तभी तो मेरा हाथ पकड़ने के लिये नहीं आ रहे हैं। ठीक है, प्रतीत होता है, विधाता ही मेरे प्रतिकूल हैं, भगवान् शङ्कर और भगवती पार्वती भी मेरे ऊपर प्रसन्न नहीं हैं। इस प्रकार सोचती हुई राजकुमारी के नेत्र आँसुओं से भर गये। उसने उन्हें बन्द कर लिया। इसी समय उनकी बाईं जाँघ, भुजा और नेत्र फड़क उठे, जो प्रियतम के आगमन का सङ्केत व्यक्त कर रहे थे। इतने में ही भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा भेजे हुए वे ब्राह्मण-देवता आ गये। उन्होंने अन्तःपुर में राजकुमारी रुक्मिणी जी को इस प्रकार देखा, मानो कोई ध्यान-मग्न देवी हो। किसी के आगमन की आहट मिली। रुक्मिणी जी ने आँखें खोली। देखा कि प्रसन्न-वदन ब्राह्मण सामने खड़ा है। उसके आकार-प्रकार से ही राजकुमारी को लग गया कि भगवान् आ गये हैं। पृछने पर ब्राह्मण ने कहा—देवि, भगवान्



यहाँ आ गये हैं। उन्होंने आपको ले जाने की सत्य प्रतिज्ञा भी की है। भगवान् के आगमन के समाचार से रुक्मिणी जी का हृदय आनन्द के अथाह सागर से भर गया। उन्होंने ब्राह्मण को दूसरी वस्तु प्रिय न देखकर केवल हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाममात्र कर लिया, कुछ भौतिक सम्पत्ति न दी। यदि लक्ष्मी जी ने उस समय अपने हाथ से उठाकर कुछ दे दिया होता तो वह अन्वयवर्धिनी सम्पत्ति के रूप में अब तक ब्राह्मणों के पास बनी रहती—

न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥१०/५३/३१

कुछ विद्वान् इसका यह भी अर्थ करते हैं कि रुक्मिणी जी ने ब्राह्मण को प्रणाम के व्याज से प्रत्यक्ष कुछ न देते हुए भी परोक्षरूप से सब कुछ दे डाला और उन्हें सादर विदा किया।

महाराज भीष्मक को जब यह पता लगा कि कन्या के विवाहमहोत्सव को देखने के लिये बलराम और श्रीकृष्ण भी पधारे हैं, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने स्वागत-सम्मान करते हुए नवनिर्मित सुन्दर सजेधजे जनवासे में उन लोगों को ठहराया। उनकी सेना भी यथास्थान ठहराई गई। विदर्भवासियों ने कृष्ण के आगमन का समाचार सुना। सभी दौड़ पड़े श्रीकृष्ण की बाँकी झाँकी की एक झलक पाने के लिये। श्याम की रूप-माधुरी को निरख कर लोगों के नेत्र तृप्त होने का नाम न ले रहे थे। वे सभी परस्पर इस प्रकार बात करते थे—रुक्मिणी इन्हीं की अर्द्धाङ्गिनी होने के योग्य है और यही रुक्मिणी के योग्य पति हैं। यदि हमने अपने पूर्वजन्म अथवा इस जन्म में कुछ भी सत्कर्म किया हो, विधाता हम पर प्रसन्न होकर ऐसी कृपा करें कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही राजकुमारी रुक्मिणी जी का पाणिग्रहण करें—

अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा। असावप्यनवद्यात्मा भैष्याः समुचितः पतिः ॥

किञ्चित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत्। अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः ॥

१०/५३/३७-३८

इस प्रकार नगरवासी सकल नर-नारी आपस में बात-चीत कर रहे थे। उसी समय कन्या मौनव्रत धारण कर गिरिजा देवी का पूजन करने के लिये पैदल ही अन्तःपुर से निकली। बड़े-बड़े योद्धा उसकी रक्षा में नियुक्त थे। ब्राह्मण-स्त्रियाँ, माताएँ और सखियाँ राजकुमारी को घेरे हुए थीं। माङ्गलिक बाजे बज रहे थे। दुर्गा-मन्दिर पहुँच कर रुक्मिणी ने हाथ-पैर धोया, कुल्ला किया, आचमन किया और फिर मन्दिर में प्रविष्ट हुई। विधि-विधान जाननेवाली, बहुत-सी बड़ी-बूढ़ी ब्राह्मणियाँ राजकुमारी से दुर्गा माता का पूजन करवा रही थीं। उन्होंने भगवान् शङ्कर की अर्द्धाङ्गिनी भवानी को और भगवान् शङ्कर को भी रुक्मिणी जी से प्रणाम करवाया। पूजन की बेला में रुक्मिणी जी मन-ही-मन मनाती थीं—अम्बिका माता, आपकी गोद में विराजमान, आपके प्रिय पुत्र गणेश जी को तथा आपको मैं बार-बार प्रणाम करती हूँ। आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे पति बनें—

नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवाम्। भूयात् पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम् ॥

१०/५३/४६

वृद्ध ब्राह्मणियों ने विधि-विधान के साथ दुर्गा का पूजन करवाकर रुक्मिणी को प्रसाद की माला अर्पण की। उन्होंने देवी और ब्राह्मणियों को प्रणाम किया। अब उन्होंने अपना मौन-व्रत तोड़ दिया और एक सेविका का हाथ पकड़ कर मन्दिर से बाहर निकलीं। राजकुमारी का सौन्दर्य त्रिलोकी का निदर्शन था—“न अस भयत न होवनि

१. ऐसी ही प्रार्थना रामचरितमानस में राम के सौन्दर्य को देखकर जनकपुरवासियों ने भी की है—

चलत राम सब पुर नर नारी। पुलक पूरि तन भए सुखारी ॥

वदि पितर सुर सुकृत सँभारे। जो कुछ पुन्य प्रभाउ हमारे ॥

तौ सिवधनु मुनाल की नाई। तोरहु राम गनेस गोसाई ॥ बालकाण्ड, दोहा २५४, चौ. ६-८ ॥



हारा"। उसे देखकर जो वीर जहाँ थे, वहीं पके आम की भाँति, मूर्च्छित होकर भूतल पर टपाटप गिर पड़े। राजकुमारी ने बाएँ हाथ की सुकुमार अँगुलियों से अपने मुख पर बिखरे हुए बालों को एक किनारे किया, राजाओं के समूह पर एक दृष्टि डाली। उनकी आँखें भगवान् श्रीकृष्ण को खोज रही थीं उसी समय उन्होंने सामने से आते हुए श्रीकृष्ण को देखा—

उत्सार्थ वामकरजैरलकानपाङ्गैः प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतं सा ॥१०/५३/५४

कृष्ण का रथ रुक्मिणी की ओर बढ़ रहा था। उस समय रुक्मिणी को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो वे स्वयं कूदकर रथ पर चढ़ जाना चाहती हो, रथ रुका, भगवान् आगे बढ़े, रुक्मिणी जी को गोद में उठाया फिर बड़े आराम से रथ पर जा बैठे। दारुक ने रथ द्वारिका की ओर बढ़ाया। कृष्ण निर्भीक थे। वे वैसे ही रुक्मिणी को हर कर ले जा रहे थे मानो सियारों के झुण्ड में से सिंह अपना भाग ले जाता हो—“शृगालमध्यादिव भागहृन्दरिः” ॥५६॥

जब श्रीकृष्ण रुक्मिणी जी को लेकर वहाँ से निकल गये तब शत्रुओं को होश हुआ। शिशुपाल, जरासन्ध आदि कहने लगे—अहो ! हमें धिक्कार है। आज हम लोग धनुष धारण कर खड़े ही रह गये और ये गाँव के गाँवर ग्वाले जैसे सिंह के भाग को सियार ले जाय उसी प्रकार हमारी वीरता के यश को धूलि में मिलाते हुए राजकुमारी को लेकर आराम से चले गये। इस प्रकार अपने आप को धिक्कारते हुए वे सभी मिलकर कृष्ण को पकड़ने की तैयारी करने लगे। शिशुपाल तो रँवासा-सा होकर अवाक् रह गया।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह तिरपनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५३॥

## चौवनवाँ अध्याय

( युद्ध में शिशुपाल के साथी राजाओं की पराजय तथा श्रीकृष्ण-रुक्मिणी-विवाह )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—राजन, इस प्रकार राजा लोग आपस में सलाह कर, शस्त्रसज्ज हो, वाहनों पर आरूढ़ हुए और धनुष की टङ्कार करते हुए श्रीकृष्ण का पीछा किये। उन्हें आक्रमण करते देखकर यादव-सेना-पतियों ने भी अपने धनुषों से बाणों की वर्षा करते हुए उनका सामना किया। दोनों ओर से भीषण संग्राम छिड़ गया। सारी भूमि वीरों की लाशों से पट गई। रक्त की नदी बह चली। कहीं हाथ कटे पड़े हुए थे तो कहीं शिर कट कर तड़फड़ा रहे थे। श्रीकृष्ण की सेना को शत्रुओं के बाणों से आच्छन्न देखकर रुक्मिणी जी घबरा उठीं। उस समय उन्होंने लज्जा के साथ भयभीत नेत्रों से भगवान् श्रीकृष्ण के मुख की ओर देखा। उनकी इस स्थिति को देखकर भगवान् ने हँसकर कहा—सुन्दरी, डरो मत। हमारी यह सेना अभी तुम्हारे शत्रुओं की सेना को नष्ट किये डालती है।

इधर उग्र यादवी सेना ने शत्रु-सेना पर कहर ढहाना शुरू कर दिया। शत्रु-सेना के सैनिक, रथ, घोड़े, और हाथी आदि कट-कट कर भूमि पर गिरने लगे। अन्त में विजय की सच्ची आकांक्षा वाले यदुवंशियों ने शत्रुओं की सेना तहस-नहस कर डाली। जरासन्ध आदि सभी राजा अपने प्राणों की रक्षा के लिये युद्ध में पीट दिखाकर भाग खड़े हुए।

इधर शिशुपाल की विचित्र दशा हो रही थी। वह अपनी काल्पनिक पत्नी के हाथ से निकल जाने पर मरणासन्न-सा हो रहा था। उसके हृदय में न तो उत्साह था और न शरीर पर कान्ति। उसका मुख सूख रहा था। उसे बरबस रुलाई आ रही थी, उसके पास पहुँच कर जरासन्ध ने समझाना शुरू किया— शिशुपाल जी, आप तो एक श्रेष्ठ पुरुष हैं। यह उदासी आप को शोभा नहीं देती। जय और पराजय अपने हाथ की बात नहीं है। यह दैवाधीन है। प्राणी काल के अनुसार कभी जीतता है और कभी पराजय का मुख देखता है उदाहरण के रूप में मैं आपके सामने खड़ा



हूँ। सत्रह बार मुझे कृष्ण के हाथों हारना पड़ा था किन्तु मैंने उत्साह कभी नहीं छोड़ा। फल यह हुआ कि अठारहवीं बार मैंने न केवल मथुरा को उजाड़ दिया, बल्कि श्रीकृष्ण को वहाँ से खदेड़ भी दिया। अठारहवीं बार विजय मेरी हुई और पराजय श्रीकृष्ण की फिर भी इस बात को लेकर मैं न तो कभी शोक करता हूँ और न तो कभी हर्ष; क्योंकि मैं जानता हूँ कि प्रारब्ध के अनुसार काल-भगवान् ही इस चराचर जगत् को झकझोरते रहते हैं—

तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित्। कालेन दैवयुक्तेन जानन् विद्रावितं जगत् ॥

१०/५४/१४

देखिये, हम लोग जगद्विदित बड़े-बड़े योद्धा हैं किन्तु यह काल की ही गति है कि इस समय हम तुच्छ-सी, छोटी-सी यादवी-सेना से पराजित हो गये हैं। इस समय काल की गति हमारे प्रतिकूल है। आगे जब कभी काल हमारे अनुकूल होगा तो हम भी विजयी बनेंगे—“तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः” ॥१६॥ इस प्रकार समझाने के बाद चेदिराज शिशुपाल अनुयायियों के साथ अपनी राजधानी चला गया और उसके मित्र राजा भी अपने-अपने नगरों को चले गये।

किन्तु रुक्मिणी जी का बड़ा भाई रुक्मी भगवान् श्रीकृष्ण से बहुत द्वेष करता था। उसको यह बात बिल्कुल सहन न हुई कि मेरी बहन को श्रीकृष्ण हर ले जाँय और राक्षसरीति से बलपूर्वक उसके साथ विवाह करें। रुक्मी बलशाली तो था ही, उसने एक अक्षौहिणी विशाल सेना लेकर कृष्ण का पीछा किया। उस समय सारे नरपतियों को सुनाकर उसने भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की—यदि मैं युद्ध में श्रीकृष्ण को मार कर अपनी बहन छुड़ा कर न ला सका तो अपनी राजधानी कुण्डिनपुर में प्रवेश न करूँगा—

अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूहा च रुक्मिणीम्। कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि वः ॥

१०/५४/२०

ऐसी प्रतिज्ञा कर रुक्मी श्रीकृष्ण को ललकारते हुए आगे बढ़ा। उसने कहा—अरे, खड़ा रह, खड़ा रह। जैसे कौआ हवन की सामग्री लेकर उड़ जाय, वैसे ही तू मेरी बहन को चुरा कर कहाँ भागा जा रहा है? ठहर, ठहर, मैं बाणों से बाँध कर अभी तुझे भूमि पर सुलाये देता हूँ ऐसा कहकर उसने श्रीकृष्ण पर तीन बाणों से प्रहार किया। भगवान् ने मुस्कराते हुए अपनी ओर आते हुए बाणों को काटकर उसे अपने बाणों से बाँध दिया। उसका धनुष, रथ, सारथी सब भगवान् ने नष्ट कर दिया फिर तो रुक्मी हाथ में तलवार लेकर कृष्ण को मारने दौड़ा। भगवान् ने उसकी तलवार काटकर उसे धर दबोचा। जब वे उसका शिर अपनी तलवार से काटने ही जा रहे थे कि रुक्मिणी जी भय से व्याकुल होकर कृष्ण के चरणों पर गिर पड़ीं और बोलीं—हे नाथ, छोड़ दीजिये। मेरे भाई का वध मत कीजिये। यह मेरे बड़े भाई हैं।

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, उस समय रुक्मिणी जी भय के मारे थर-थर काँप रही थी। शोक के कारण उनका मुख सूख गया था। गला रूँध गया था। विकलता के कारण उनकी सुवर्ण माला भी कण्ठ से गिर पड़ी। प्रियतमा को भयभीत देखकर भगवान् ने सारे रुक्मी के वध का विचार छोड़ दिया—

तथा परित्रासविकम्पिताङ्गया शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया।

कातर्यविक्रान्तितहेममालया गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत ॥ १०/५४/३४

फिर भी रुक्मी उनके अनिष्ट की चेष्टा से विमुख न हुआ। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उसको उसी के दुपट्टे से रथ में ही कस कर बाँध दिया और उसकी दाढ़ी-मूँछ तथा केश कई जगह से मूड़कर उसे कुरूप बना दिया। उसी समय यादव-वीरों ने रुक्मी की सेना को उसी तरह उखाड़ फेंका जैसे गजराज कमलिनी-वन को उजाड़ देता है। भगवान् बलराम ने रुक्मी की यह दीन दशा देखी। इस पर उन्हें दया आ गई। उन्होंने उसे छुड़ा दिया और



श्रीकृष्ण से कहा—मेरे भैया, तुमने यह अच्छा नहीं किया। अपने सगे-सम्बन्धी की दाढ़ी-मूँछ मूँड़ कर उसे कुरूप बना देना, यह तो एक प्रकार का वध ही है। इतना कहकर उन्होंने रुक्मिणी की ओर मुखातिव होकर कहा—साध्वि, तुम अपने भाई के कुरूप बना दिये जाने की चिन्ता मत करो। इस विषय में हम लोगों को भी दोषी मत समझो। प्राणी अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख प्राप्त करता है। देवि, ब्रह्माजी ने क्षत्रियों का धर्म ही ऐसा बना दिया है कि सगा भाई भी अपने भाई को मार डालता है। इसलिये यह क्षात्र-धर्म अत्यन्त घोर है अतः तुम व्यर्थ में शोक मत करो। शोक तो अज्ञान का परिणाम है। यह मन-बुद्धि को भी विचलित कर देता है। आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा तो पद्मपत्र की भाँति निर्लिप्त है, निर्विकार है इसलिये शोक छोड़कर तुम प्रकृतिस्थ बन जाओ। बड़े भाई बलराम जी की बातों को सुन कर रुक्मिणी जी का मनस्ताप समाप्त हो गया। उनकी सारी दुश्चिन्ताएँ समाप्त हो गईं।

बलराम जी के द्वारा छुड़ा दिये जाने के बाद रुक्मी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कुण्डिनपुर नहीं गया। वह विदर्भदेश की सीमा में ही भोजकट नाम का एक विशाल नगर बनवा कर उसी में निवास करने लगा। अभी भी कृष्ण के प्रति उसका क्रोध समाप्त नहीं हुआ था।

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार सारे राजाओं को जीत लिया। वे रुक्मिणी जी को द्वारिका लाये। कुण्डिनपुर निमन्त्रण भेजकर भीष्मक और महारानी सुमति को बुलवाया। पूरे विधि-विधान के साथ कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह हुआ। भीष्मक और सुमति ने विधिपूर्वक कन्या-दान किया। प्रभूत दहेज और दान-दक्षिणा दी फिर वे मुदित मन से कुण्डिनपुर लौट गये।

भगवान् भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान्। पुरमाणीय विधिवदुपयेमे कुरुद्वह ॥१०/५४/५३  
हृदय—इस श्लोक का उपर्युक्त अर्थ श्लोक में आये “भीष्मकसुताम्” इस पद के कारण किया गया है। इस पद के प्रयोग की पूर्ण सार्थकता उक्त अर्थ के करने में ही है।

कुछ लोगों का कहना है कि दुर्वासा के शाप के कारण द्वारका में नहीं, किन्तु माधवपुर में कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह हुआ था। मार्गशीर्ष मास की शुक्ल पक्ष की पञ्चमी को विवाह की तिथि निर्धारित की गई थी। परम्परा के अनुसार इस विवाह में नन्द, यशोदा और गोपियाँ भी आई थीं। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का दर्शन करके, भगवान् का स्मरण करते हुए गोपियों में वहाँ देहोत्सर्ग कर दिया। गोपियों के श्रीअङ्ग की मिट्टी से ही गोपीचन्दन बना। वहाँ गोपीसरोवर भी है। कृष्ण-सम्प्रदाय में गोपी-चन्दन की महिमा न्यायी है ॥

भगवान् श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह के अवसर पर द्वारिकापुरी में घर-घर महान् उत्सव मनाया गया। पूरी पुरी दुलहन की तरह सज-धज गई। सारे घर सजाये गये। सभी दरवाजों पर बन्दनवार बँधे थे। माङ्गलिक घट प्रवेश-मार्ग के दोनों ओर रक्खे गये थे। सारे नर-नारी सजे-धजे थे। पुरी की सजावट देखते ही लोगों के मन मुग्ध हो जाते थे। भगवान् के भवन की शोभा वर्णनातीत थी। रुक्मिणी के हरण को सुनकर सारे राजा और राज-कन्यायें अत्यन्त विस्मित हो गईं। भगवती लक्ष्मी जी को रुक्मिणी जी के रूप में साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण के साथ देखकर द्वारकावासी नर-नारियों को परम प्रमोद हुआ—

रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः। राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्भूशविस्मिताः॥  
द्वारकायामभूद् राजन् महामोदः पुरौकसाम्। रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम्॥

१०/५४/५९-६०

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह चौवनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५४॥

॥ सप्ताह के पाचवें दिन की कथा समाप्त ॥



॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

## सप्ताह के छठवें दिन की कथा का प्रारम्भ

॥ श्री हंसाख्यानपर्यन्तं षष्ठेऽह्नि वाचयेद् ध्रुवम् ॥

### पचपनवाँ अध्याय

( प्रद्युम्न का जन्म और शम्बरासुर का वध )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, कामदेव भगवान् वासुदेव का ही अंश है। इसका कारण यह है कि यह चित्त (मन) में उत्पन्न होता है, मनसिज है और चित्त के अधिष्ठातृ-देवता वासुदेव हैं। काम पहले भगवान् रुद्र के कोपानल से भस्म हो गया था। अशरीरी होकर भी जब उसने मन-ही-मन भगवान् शङ्कर की स्तुति की तब प्रसन्न होकर उन्होंने कहा था—काम, द्वापर के अन्त में अपने अंशी भगवान् कृष्ण के वीर्य से रुक्मिणी द्वारा पुत्ररूप में उत्पन्न होकर तुम शरीर धारण करोगे। वही काम रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न हो भगवान् का पुत्र हुआ था। उसका नाम था—प्रद्युम्न। प्रद्युम्न शारीरिक सौन्दर्य में अपने पिता श्रीकृष्ण से किसी प्रकार कम न थे—

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग् रुद्रमन्युना। देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥

स एव जातो वैदर्भ्या कृष्णवीर्यसमुद्भवः। प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥

१०/५५/१

बालक प्रद्युम्न अभी दश दिन के भी नहीं हुए थे कि कामरूपी शम्बरासुर वेश बदल कर सूतिका-गृह से उन्हें हर ले गया और समुद्र में फेंक कर अपने घर लौट गया। उसे यह बात ज्ञात हो गई कि यह बालक मेरा भावी शत्रु है। उस बालक को एक विशालकाय मत्स्य ने निगल लिया। मल्लाहों ने सागर में जाल डाला और अन्य मछलियों के साथ उसे पकड़ लिया। चूँकि मत्स्य विशाल और बड़ा सुन्दर था, अतः मल्लाहों ने उसे शम्बरासुर को भेंट के रूप में दे दिया। जब शम्बरासुर के रसोइये उसे खण्ड-खण्ड में काटे तो उन्हें उसके पेट में एक बड़ा सुन्दर बालक मिला। यह भगवान् की इच्छा थी कि बालक जीवित और पूर्ण स्वस्थ था। रसोइयों ने वह बालक शम्बरासुर की दासी मायावती को दे दिया। मायावती शम्बरासुर की पाकशाला की अध्यक्ष थी। वस्तुतः वह कामदेव की पत्नी रति ही थी। वह अपने पति कामदेव के शरीर-धारण की प्रतीक्षा कर रही थी। बालक को देखकर मायावती आश्चर्य से चकित हो उठी। उसी समय नारद ने आकर उससे सारा वृत्तान्त बतलाकर कहा—मायावती तुम काम की पत्नी रति हो और यह बालक तुम्हारा पति साक्षात् काम ही है अतः इसे पूर्ण सावधानी के साथ सँभाल कर रक्खो। थोड़े ही दिनों में वह बालक तरुण हो गया। उसका रूप-लावण्य इतना अद्भुत था कि जो स्त्रियाँ उसकी ओर देखतीं, उनके मन में शृङ्गार-रस का उदीपन हो जाता। मायावती हाव-भाव, कटाक्षपात आदि के द्वारा पतिभाव से उसकी सेवा करने लगी—“प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्ग सौरतैः” ॥१०॥ यह देखकर एक दिन प्रद्युम्न ने कहा—तुम पालन-पोषण करनेवाली मेरी जननी हो फिर पत्नी की भाँति व्यवहार करना तुम्हें शोभा नहीं देता। यह मर्यादा और धर्म—दोनों के ही विपरीत है। इस पर मायावती ने सारा रहस्य बतलाते हुए उनसे कहा—आप मेरे पुत्र नहीं, पति हैं और मैं



आपकी पत्नी हूँ। आप कामदेव हैं और मैं रति हूँ। आप श्रीकृष्ण के पुत्र हैं। शम्बरसुर आपको अपना शत्रु समझता है अतः जन्म के नवें दिन सूतिका-गृह से आपका हरण कर उसने समुद्र में फेंक दिया था। वहाँ महामत्स्य ने आप को निगल लिया; उसके पेट से आप यहाँ प्राप्त हुए हैं। यह सारा रहस्य नारद जी ने मुझे एकान्त में समझा दिया है फिर उसने उन्हें मोहिनी नामक महाविद्या का उपदेश देकर कहा कि अब आप इस विद्या के प्रभाव से महामायावी शम्बरसुर की माया को काट कर उसका संहार करें। आप की माता रुक्मिणी इस समय आपके लिये शोक करती हुई बड़े कष्ट में हैं।

मायावती की प्रेरणा से प्रद्युम्न ने जाकर शम्बरसुर को युद्ध के लिये ललकारा। दोनों में घमासान युद्ध छिड़ गया। शम्बरसुर मायावी था अतः उसने युद्ध में भ्राँति-भ्राँति माया का प्रयोग किया। किन्तु प्रद्युम्न ने महाविद्या के प्रभाव से उसकी सारी माया काट डाली और फिर अपनी तीखी तलवार की धार से मुकुट-कुण्डल-सहित उसका शिर काट कर भूतल पर फेंक दिया। यह देखकर आकाश में स्थित देवताओं ने उन पर फूलों की वर्षा की।

इसके बाद मायावती रति, जो आकाश में चलना जानती थी, अपने पति प्रद्युम्न जी को लेकर आकाशमार्ग से द्वारकापुरी के अन्तःपुर में पहुँची। उन्हें देखते ही अन्तःपुर की स्त्रियाँ कृष्ण समझकर इधर-उधर छिपने लगीं, पर्दा करने का प्रयास करने लगीं किन्तु धीरे-धीरे जब उन्हें पता चला कि यह कृष्ण नहीं हैं, तो उनके पास आईं। उन्हें देखते ही रुक्मिणी जी को अपने पुत्र का स्मरण हो आया और वे कहने लगीं—मेरा भी एक नन्हा-सा बालक खो गया था। न जाने कौन उसे सूतिका-गृह से ही उठा ले गया था। यदि वह कहीं जीता-जागता होगा तो उसकी अवस्था तथा रूप भी इसी के समान हुआ होगा। रुक्मिणी, वसुदेव और देवकी इस प्रकार तर्क-वितर्क कर ही रहे थे कि वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण भी आ पहुँचे। यद्यपि भगवान् को सारा रहस्य ज्ञात था परन्तु वे कुछ न बोले चुपचाप खड़े ही रहे, इसी समय वहाँ पहुँचे नारद जी उन्होंने आदि से अन्त तक की सारी घटना कह सुनाई। सब को महान् आश्चर्य हुआ। सब परस्पर कहने लगे रुक्मिणी जी का यह बेटा मर कर भी लौट आया है। इसके बाद आह्लादित होकर सभी बड़े व्यक्तियों ने पुत्र एवं पुत्रवधू का आलिङ्गन कर आशीर्ष दिया—“चिर जीवै जोड़ी युगल”। सारे द्वारकावासी भी प्रद्युम्न के सपत्नीक आगमन को सुन कर प्रसन्न हो उत्सव मनाने लगे ॥५५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह पचपनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५५॥

## छप्पनवाँ अध्याय

( स्यमन्तकमणि की कथा, जाम्बवती और सत्यभामा के साथ श्रीकृष्ण का विवाह )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, सत्राजित ने श्रीकृष्ण को झूठा कलङ्क लगाया था फिर उस अपराध का मार्जन करने के लिये उसने स्वयं प्रयास करके स्यमन्तकमणि के सहित अपनी कन्या सत्यभामा भगवान् श्रीकृष्ण को सौंप दी—



सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः । स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ॥

१०/५६/१

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवान्, सत्राजित ने भगवान् श्रीकृष्ण का कौन-सा अपराध किया था ? उसे स्यमन्तक मणि कहाँ से मिली थी ? और उसने अपनी कन्या उन्हें क्यों दी ? कृपा कर यह प्रसङ्ग विस्तार के साथ सुनाने का कष्ट करें। श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, सत्राजित भगवान् सूर्य का बहुत बड़ा भक्त था। वे उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसके बहुत बड़े मित्र बन गये थे। सूर्य भगवान् ने ही प्रसन्न होकर उसे स्यमन्तक मणि प्रदान की थी। उस मणि को अपने कण्ठ में धारण कर सत्राजित दूसरे सूर्य की भाँति चमकने लगा। जिस समय वह द्वारिका में प्रविष्ट हुआ उस समय उसे देखकर लोगों की आँखें उसके तेज से चौंधिया गईं। लोग उसे पहचान ही न सके। उस समय भगवान् लीला करने हेतु चौरस खेल रहे थे। लोगों ने भगवान् श्रीकृष्ण के पास जाकर कहा—प्रभो, प्रतीत होता है, सूर्यनारायण आप का दर्शन करने के लिये आ रहे हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अनजान पुरुषों की यह बात सुनकर हँसने लगे और कहा—यह सूर्य नहीं, मणि के तेज से चमकता हुआ सत्राजित आ रहा है। सत्राजित ने घर में पहुँच कर अपने आराध्य देव सूर्य के मन्दिर में ब्राह्मणों के मन्त्रोच्चार के बीच वह मणि स्थापित करवा दी। वह उस मणि की प्रतिदिन पूजा किया करता था। उस मणि की विशेषता यह थी कि वह प्रतिदिन ८ भार अर्थात् १०८ तोला सुवर्ण देती थी। शाम को पूजन कर मन्दिर का कपाट बन्द कर दिया जाता था। प्रातःकाल मन्दिर खोलने पर सुवर्ण की उक्त राशि मणि के पास पड़ी रहती थी। मणि की दूसरी विशेषता यह थी कि वह जहाँ रहती थी वहाँ दुर्भिक्ष, महामारी, ग्रहपीडा, सर्पभय, मानसिक और शारीरिक व्यथा तथा मायावियों का कोई उपद्रव आदि अशुभ कार्य नहीं होता था।

एक बार प्रसङ्गवश भगवान् श्रीकृष्ण ने सत्राजित से कहा—सत्राजित, तुम स्यमन्तक मणि महाराज उग्रसेन को दे दो। वे राजा हैं। ऐसी बहुमूल्य वस्तु उन्हीं के पास होनी चाहिये किन्तु सत्राजित ने भगवान् की बात नहीं मानी। वह अर्थकामुक था, धन का लोभी था अतः उसे यह भी ध्यान न रहा कि न देने से भगवान् की आज्ञा का भी उल्लंघन हो रहा है।

सत्राजित का एक छोटा भाई था। उसका नाम था—प्रसेन। एक दिन प्रसेन उस महामणि को अपने कण्ठ में धारणकर अश्व पर सवार हुआ और आखेट के लिये जङ्गल में चला गया। वहाँ किसी बलवान् सिंह ने अश्व के सहित प्रसेन को मार कर मणि छीन ली। वह उसे दाँतों से दबाये अपनी गुफा की ओर जा रहा था। मार्ग में उससे मिला ऋक्षराज जाम्बवान्। उसने सिंह को मार कर मणि उससे छीन ली और अपनी गुफा में आकर अपने पुत्र को खेलने के लिये उसे दे दी।

प्रसेन कई दिनों तक जब जङ्गल से नहीं लौटा तो सत्राजित शोकसन्तप्त हो उठा। वह लोगों से कहा करता था—बहुत सम्भव है, श्रीकृष्ण ने ही मेरे भाई को मार डाला हो क्योंकि वह मणि कण्ठ में धारण कर वन में गया था। श्रीकृष्ण मुझसे मणि मांग रहे थे। मैंने अस्वीकार कर दिया था। सत्राजित की यह बात सुनकर लोग आपस में काना-फूँसी करने लगे। बात धीरे-धीरे भगवान् के पास पहुँची। उन्होंने देखा कि मुझे कलङ्क लग रहा है अतः उसके मार्जन के लिये वे कतिपय सन्ध्य पुरुषों की एक टोली के साथ प्रसेन को खोजने जङ्गल में गये। वहाँ एक स्थान पर उन्होंने देखा कि किसी सिंह के द्वारा अश्व-सहित प्रसेन मारा गया है। फिर वे सिंह के पद-चिह्नों को देखते हुए आगे बढ़े तो देखा कि सिंह की गुफा के बाहर सिंह भी किसी ऋच्छ के द्वारा मारा गया है। थोड़ी ही दूर आगे बढ़ने पर एक अँधेरी गुफा दिखलाई पड़ी। वहाँ नागरिक लोगों को बाहर ठहरा कर भगवान् ने अकेले ही गुफा में प्रवेश किया।



गुफा के भीतर मणि से एक बालक खेल रहा था। उसकी धात्री, धाय, उसके बगल में खड़ी थी। भगवान् उस बालक के पास जाकर खड़े हो गये। बालक के पास अपरिचित पुरुष को देखकर धात्री भयवश चिल्ला उठी—“धात्री चुक्रोश भीतवत्” ॥२१॥ उसे सुनकर महाबलशाली जाम्बवान् दौड़ा और जाकर अज्ञानवश, अपने ही स्वामी से भिड़ गया। वह उन्हें साधारण पुरुष समझ रहा था। शस्त्रों से, पथरों से, वृक्षों से और बाहुओं से उन दोनों का विरामरहित द्वन्द्व युद्ध अट्टाईस दिनों तक चलता रहा। भगवान् के वज्रपात के समान मुष्टिका के प्रहार से जाम्बवान् की शरीर-सन्धियाँ ढीली पड़ गईं। उसका सारा शरीर पसीने से लथपथ हो गया और बल भी समाप्त हो गया। उसे महान् आश्चर्य हुआ। तब उसने श्रीकृष्ण से कहा—मेरे स्वामिन्, मैं जान गया। आप समस्त प्राणियों के प्राण, इन्द्रियबल, मनोबल और शरीरबल सब कुछ हैं। आप सारे जगत् के आधार, रक्षक और विनाशक हैं। रामावतार में आप की भृकुटि के वक्र होते ही सागर में खलबली मच गई थी, उसने आप को मार्ग दे दिया था। तब आपने उस पर सेतु बाँधकर सुन्दर यश की स्थापना की, लङ्का का विध्वंस किया और सपरिवार रावण का विनाश किया था। आज वही राम ही श्रीकृष्ण के रूप में आये हैं। मैंने आप को न पहचान कर महान् अपराध किया है अतः आप मुझे क्षमा करें।

भगवान् ने ऋक्षराज की प्रेमभरी वाणी सुनी। वे प्रसन्न हो उठे। उन्होंने अपने सुकोमल हाथों से जाम्बवान् के शरीर को सहलाया। इससे उसके शरीर का सारा श्रम समाप्त हो गया। भगवान् ने जाम्बवान् से कहा—ऋक्षराज, हम मणि के लिये ही तुम्हारी इस गुफा में आये हैं। इस मणि के द्वारा मैं अपने ऊपर लगे झूठे कलङ्क को मिटाना चाहता हूँ। भगवान् के ऐसा कहने पर जाम्बवान् ने बड़े आनन्द से उनकी पूजा करने के लिये अपनी कन्या कुमारी जाम्बवती को मणि के साथ उनके चरणों में समर्पित कर दी—

इत्युक्तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा। अर्हणार्थं स मणिना कृष्णयोपजहार ह॥

१०/५६/३२

भगवान् गये थे एक रत्न खोजने के लिये किन्तु उन्हें एक साथ दो रत्न मिले—कन्या-रत्न और स्यमन्तक-रत्न। यही सब भाग्य का खेल है।

इधर गुफा के बाहर खड़े लोगों ने बारह दिनों तक श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा की। जब वे गुफा से बाहर नहीं निकले तो दुःखी मन से सभी द्वारका लौट गये। वहाँ उन लोगों ने सारा वृत्तान्त लोगों को कह सुनाया। सुनकर देवकी, वसुदेव और रुक्मिणी आदि सभी दुःखी हो उठे। सभी द्वारकावासी अत्यन्त दुःखित होकर सत्राजित को भला-बुरा कहने लगे और भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये चन्द्रभागानाम्नी महामाया दुर्गादेवी की शरण में गये; उनकी उपासना करने लगे। उनकी उपासना से प्रसन्न दुर्गा ने कृष्ण-प्राप्ति का आशीर्ष दिया। उसी समय एक चमत्कार हुआ। लोगों ने देखा कि उनके बीच में ही मणि और अपनी नव वधू जाम्बवती के साथ मुस्कराते हुए श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। सभी द्वारकावासी सपत्नीक भगवान् को देखकर प्रसन्न हो उठे। उस समय जाम्बवती भगवान् के बगल में खड़ी थीं। उनके कण्ठ में स्यमन्तकमणि लटक रही थी।

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने सत्राजित को राजसभा में, महाराज उग्रसेन के समक्ष, बुलवाया और मणि-प्राप्ति की सारी कथा सुनाकर उन्होंने सबके सामने वह मणि सत्राजित को समर्पित कर दी। उस समय सत्राजित की दशा देखने लायक थी। लज्जा के मारे उसका मुँह लटका हुआ था। वह अपनी गलती पर पश्चात्ताप कर रहा था। उसकी समझ में ही यह बात न आ रही थी कि मैं अपनी गलती के अपराध से कैसे मुक्त होऊँ ? बलवान् श्रीकृष्ण के साथ विग्रह करके मैंने महान् अनुचित किया। अब कौन-सा उपाय करूँ जिससे लोग मुझे कोसे नहीं और भगवान् भी प्रसन्न



हो जाँय । बहुत सोच-विचार के बाद उसने निश्चय किया कि—अब मैं रमणियों में रत्न के समान अपनी कन्या सत्यभामा और यह स्यमन्तक मणि—दोनों ही श्रीकृष्ण को समर्पित कर दूँ । यही उपाय सर्वोत्तम है । इसी से मेरे अपराध का मार्जन हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

इस प्रकार सोच-विचार कर सत्राजित श्रीकृष्ण के पास गया और स्वयं प्रस्ताव कर उसने अपनी कन्या सत्यभामा तथा स्यमन्तकमणि—दोनों ही श्रीकृष्ण को समर्पित कर दी—

एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजित् स्वशुतां शुभाम् । मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह ॥

१०/५६/४३

सत्यभामा शील-स्वभाव, सुन्दरता, उदारता आदि सद्गुणों से सम्पन्न थी । यही कारण था कि बहुत-से लोग उसकी कामना कर रहे थे और उसे उसके पिता से माँगा भी था । सत्यभामा को स्वीकार कर भगवान् ने विधि-विधान पूर्वक उसके साथ विवाह किया । उस समय भगवान् ने सत्राजित से कहा—सत्राजित, हम स्यमन्तक मणि नहीं लेंगे । आप सूर्य के भक्त हैं अतः यह आप के ही पास रहे । हम तो केवल उसके फल के अर्थात् उससे निकले हुए सोने के अधिकारी हैं । वही आप हमें दे दिया करें । ऐसा कहकर भगवान् ने मणि सत्राजित को लौटा दी—

भगवानाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप । तवास्तां देवभक्तस्य वयं च फलभागिनः ॥

१०/५६/४५

भगवान् के इस प्रकार कहने का कारण यह था कि—सत्राजित को कोई पुत्र न था । उसे एकमात्र बेटी थी—सत्यभामा अतः स्वाभाविक रूप से सत्राजित की सम्पत्ति पर बेटी-दामाद का ही अधिकार होता था ॥५६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह छप्पनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५६॥



## सत्तावनवाँ अध्याय

( स्यमन्तक-हरण, शतधन्वा का वध और भागे हुए अक्रूर को पुनः द्वारिका बुलाना )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, जब भगवान् श्रीकृष्ण जी ने सुना कि लाक्षागृह की आग में कुन्ती सहित पाण्डव जल मरे हैं, तब यह जानते हुए भी कि यह केवल अफवाह है । इसमें सच्चाई नहीं है । वे बलराम के साथ, उस समय की कुलपरम्परा का पालन करते हुए हस्तिनापुर गये और वहाँ भीष्म आदि कौरव-अधिपतियों के साथ संवेदना प्रकट करते हुए कहा कि हाय-हाय यह तो बड़े कष्ट की बात है, बड़ा अनर्थ हुआ—

विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान् । कुन्तीं च कुल्यकरणे सहारामो ययौ कुरुन् ॥

भीष्मं कृपं सविदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च । तुल्यदुखौ च सङ्गम्य हा कष्टमिति होचतुः ॥

१०/५७/१-२

भगवान् श्रीकृष्ण के हस्तिनापुर चले जाने से द्वारिका में अक्रूर और कृतवर्मा को अवसर मिल गया । उन लोगों ने शतधन्वा से जाकर कहा—तुम सत्राजित से मणि क्यों नहीं छीन लेते—“मणिः कस्मान्न गृह्यते” ॥३॥ सत्राजित ने अपनी श्रेष्ठ कन्या सत्यभामा का विवाह हमसे करने का वचन दिया था और अब उसने हम लोगों का तिरस्कार करके उसे श्रीकृष्ण के साथ व्याह दिया है । अब सत्राजित भी अपने भाई प्रसेन की तरह क्यों न यमपुरी में जाय ?—

“न सत्राजित् कस्माद् भ्रातरमन्विष्यात्” ॥४॥



हृदय-सत्राजित ने अपनी सुन्दरी बेटी सत्यभामा का विवाह शतधन्वा के साथ तय किया था किन्तु बाद में उसने अपना अपयश मिटाने के लिये उसका विवाह श्रीकृष्ण से कर दिया इसीलिये शतधन्वा का बड़ा भाई कृतवर्मा और अक्रूर जी उसे बहका रहे हैं ॥

शतधन्वा पापी था। उसकी मौत उसके शिर पर नाच रही थी। इसीलिये वह कृतवर्मा और अक्रूर जी के बहकावे में आ गया। एक दिन रात्रि की बेला थी। सत्राजित सो रहा था। शतधन्वा उसके घर में घुसा और कसाई की तरह निर्दयता पूर्वक उसकी हत्या कर दी तथा मणि लेकर भाग गया—

हत्वा पशून् सौनिकवन्मणिमादाय जग्मिवान् ॥ १०/५७/६

हृदय-भगवान् ने सत्राजित से कहा था—यह मणि राजा के पास होनी चाहिये अतः तुम इसे महाराज उग्रसेन को दे दो किन्तु सत्राजित ने भगवान् की आज्ञा नहीं मानी थी। उसने उनका तिरस्कार कर दिया था। उसी का फल यह हुआ कि वह पशु की तरह बेमौत मारा गया ॥

यह देखकर सत्राजित की स्त्रियाँ रोती रह गईं। सत्यभामा भी अपने पिता की गति देखकर बहुत दुःखी हुई। विलाप करती हुई वह मूर्छित भी हो गई। होश आने पर उसने अपने पिता के मृत शरीर को तेल की नैया में रखवा दिया और रथ पर चढ़कर हस्तिनापुर भगवान् श्रीकृष्ण को सूचित करने के लिये चली गई। यद्यपि यह बात भगवान् को पहले से ही विदित थी। सत्यभामा के द्वारा अपने श्वसुर की हत्या की बात सुनकर लोक-लीला का अनुकरण करते हुए वे रोने लगे। बलराम की भी आँखों से आँसू छलक पड़े फिर बलराम और सत्यभामा के साथ श्रीकृष्ण द्वारिका लौट आये। उन्होंने सर्वप्रथम सत्राजित का दाह-संस्कार सम्पन्न किया और फिर शतधन्वा को मारने और उससे मणि छीनने का उद्योग करने लगे।

जब शतधन्वा को श्रीकृष्ण के उद्योग का पता चला तो वह भयभीत हो उठा। उसने कृतवर्मा के पास जाकर सहायता माँगी। कृतवर्मा ने साफ-साफ कह दिया। श्रीकृष्ण सर्वशाक्तिमान् ईश्वर हैं। मैं उनका सामना नहीं कर सकता। भला ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो उनसे वैर बाँध कर इस लोक और परलोक में कल्याण का भागीदार बन सके? कंस को सपरिवार उन्होंने अनायास इस संसार से विदा कर दिया। जरासन्ध जैसे बलशाली को भी उन्होंने अनायास इस संसार से विदा कर दिया। जब कृतवर्मा ने इस प्रकार टका-सा जवाब दे दिया तो शतधन्वा सहायता के लिये अक्रूर के पास गया। उन्होंने भी भगवान् के बल-पौरुष का वर्णन करते हुए कृतवर्मा की भाँति सहायता करने से इन्कार कर दिया। हताश, निराश शतधन्वा अक्रूर के पास मणि रखकर वेगगामी अश्व पर आरूढ़ होकर पूरब दिशा में बड़ी फुर्ती से भागा।

शतधन्वा के भागने की बात जब भगवान् को विदित हुई तो बलराम जी के साथ रथ पर चढ़कर उन्होंने उस का पीछा किया। भागते-भागते शतधन्वा का अश्व मिथिला के उपवन में पहुँच कर श्रान्त हो गिर पड़ा। अश्व छोड़कर शतधन्वा पैदल ही भागा। बलराम जी को रथ पर छोड़ कर श्रीकृष्ण ने पैदल दौड़कर उसका पीछा किया। कुछ दूर जाने पर उन्होंने उसे पकड़ कर उसका शिर तीक्ष्ण चक्र से काट डाला। उसका सारा वस्त्र उलट-पलट कर देखने पर भी श्रीकृष्ण को मणि नहीं मिली अतः उन्होंने लौटकर बड़े भैया बलराम जी से कहा—मैंने व्यर्थ में ही शतधन्वा को मार डाला। मणि उसके पास नहीं है।

बलराम जी ने श्रीकृष्ण की बात सुनकर कहा—हो सकता है, शतधन्वा ने मणि किसी के पास रख दी हो अतः अब तुम द्वारका जाओ और उसका पता लगाओ। मैं यहाँ तक आ गया हूँ अतः विदेहराज से मिलना चाहता हूँ। वे हमारे अतिप्रिय मित्र हैं। यह कहकर वे मिथिला नगरी में चले गये और भगवान् श्रीकृष्ण अकेले ही द्वारका लौटे।



हृदय-बलराम जी ने सोचा मणि तो श्रीकृष्ण को मिल गई है। यह उसे सत्यभामा को देना चाहते हैं अतः मुझसे छिपा रहे हैं। यह सोचकर वे कुछ दुर्मना-सा हो गये और मिथिला जाने का प्रस्ताव कर दिया। यह रहस्य आगे के प्रसङ्ग से स्पष्ट होता है ॥

बलराम को मिथिला में आया देखकर विदेहराज महाराज जनक प्रसन्न हो उठे। उन्होंने उनकी अगवानी की। पूजा की। सम्मान किया। जनक के आग्रह और सम्मान के कारण बलराम जी कई वर्षों तक मिथिला में रहे। उसी समय अवसर पाकर दुर्योधन ने उनसे गदा चलाने की शिक्षा ग्रहण की।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका लौट आये। उन्होंने अपनी प्रियतमा सत्यभामा से कहा कि—शतधन्वा को तो मार दिया किन्तु मणि उसके पास न मिली।

हृदय-भगवान् की बात सुनकर सत्यभामा ने मन-ही-मन सोचा कि भगवान् ने मणि अपने बड़े भाई बलराम जी को दे दी है किन्तु मुझसे छिपाने के लिये मिथ्या भाषण कर रहे हैं ॥

इसके बाद उन्होंने भाई-बन्धुओं के साथ अपने श्वसुर सत्राजित की वे सब और्ध्वदैहिक क्रियाएँ करवाई, जिनसे मृतक प्राणी का परलोक सुधरता है।

अक्रूर और कृतवर्मा ने शतधन्वा को सत्राजित के वध के लिये उत्तेजित किया था इसलिये जब उन लोगों ने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण ने शतधन्वा को मार डाला है, तब वे अत्यन्त भयभीत होकर द्वारका से भाग खड़े हुए। लोग कहते हैं कि अक्रूर के जाने के बाद द्वारका में बड़े-बड़े उत्पात हुए, परन्तु यह बात सत्य नहीं है। जहाँ साक्षात् भगवान् का निवास है, वहाँ भला कहीं उत्पात हो सकता है ? कहते हैं, एक बार काशी-प्रान्त में वर्षा नहीं हुई, सूखा पड़ गया था। उस समय अपने राज्य में आये हुए श्वफल्क को बुलाकर काशिराज ने अपनी बेटी गान्दिनी का विवाह उनके साथ कर दिया। फलतः प्रदेश में खूब वर्षा हुई। अक्रूर भी श्वफल्क के ही पुत्र हैं। इनका प्रभाव भी पिता के समान है। वे जहाँ रहते हैं वहाँ खूब वर्षा होती है और महामारी आदि का प्रभाव भी नहीं होता।

भगवान् ने व्यक्तियों को भेजकर अक्रूर को ढूँढवा कर बुलवाया। आने पर उनसे कहा—हे दानपते, शतधन्वा ने आपके पास ही मणि रक्खी है यह बात हमें विदित है। आप जानते हैं कि सत्राजित को कोई सन्तान नहीं है इसलिये उसकी सम्पत्ति सत्यभामा के पुत्रों को ही मिलनी चाहिये फिर भी वह मणि आपके ही पास रहे क्योंकि आप बड़े व्रतनिष्ठ और पवित्रात्मा हैं तथा दूसरे के लिये वह मणि रखना अत्यन्त कठिन है किन्तु परिस्थिति यह है कि हमारे बड़े भाई बलराम मणि के सम्बन्ध में मेरी बात का पूरा विश्वास नहीं करते अतः आप उसे सबके सामने एक बार दिखला दीजिये, जिससे सब को शान्ति मिले और मेरे प्रति आशङ्का भी समाप्त हो जाय। भगवान् की शान्तिभरी बात सुनकर अक्रूर जी ने वस्त्र में लपेट कर रक्खी हुई वह मणि निकाली और भगवान् के सामने रख दी। वह सूर्य के समान प्रकाशमान थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने वह स्यमन्तक मणि अपने जाति-भाइयों को दिखला कर अपना कलङ्क दूर किया और उसे अपने पास रखने में समर्थ होने पर भी पुनः अक्रूर जी को लौटा दिया—

स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः। विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयत् प्रभुः॥

१०/५७/४१

जो मानव भक्तिपूर्वक इस स्यमन्तक उपाख्यान को सुनता है, पढ़ता है अथवा स्मरण करता है, उसे मिथ्या कलङ्क नहीं लगता, लगा हुआ कलङ्क और पाप मिट जाता है और उसे परम शान्ति की अनुभूति होती है—

आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद् वा, दुष्कीर्तिं दुरतिमपोह्य याति शान्तिम्॥१०/५७/४२

रहस्य-भाद्रपद के शुक्लपक्ष की चौथ को जो चन्द्रमा देखलेता है, उसे मिथ्या कलङ्क लगता है। इस दोष के



मार्जन के लिये दूसरे के घर पर पत्थर, डेला फेंका जाता है। उस घर के लोग उसे गाली देते हैं। गाली सुनने से चन्द्र-दर्शन का दोष मिट जाता है। यह प्रथा आज भी देश के गावों में विद्यमान है।

चन्द्र-दर्शन के दोष के मार्जन का दूसरा उपाय है—स्यमन्तकमणि का उपाख्यान सुनना। उस तिथि को प्रत्यक्ष चन्द्र का दर्शन अथवा जल आदि में उसकी परछाई देखना भी निषिद्ध है।

पूज्य गोस्वामी तुलसीदास ने भी भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को चन्द्र दर्शन निषिद्ध बतलाया है—

सो परनारि लिलार गोसाईं । तजठ चउथि के चंद कि नाई ॥ ॥ मानससुकां ॥

हृदय-अक्रूर भगवान् के परम भक्त थे। उनके वैभव से पूर्ण परिचित थे फिर उन्होंने भगवान् का अहित करने में क्यों हिस्सा लिया ? इस प्रश्न का किसी ने सटीक उत्तर नहीं दिया है। इस विषय में बहुतों की जिज्ञासा ज्यों-कित्नी बनी हुई है इसका सही समाधान यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

सत्ययुग के अन्त में हरिद्वार में 'देवशर्मा' नामक ब्राह्मण रहते थे। उन्हें केवल एक पुत्री थी। उसका नाम था—'गुणवती'। गुणवती का विवाह देवशर्मा ने अपने ही शिष्य 'चन्द्र' के साथ कर दिया था। एक समय देवशर्मा और चन्द्र जब जङ्गल में कुश एवं लकड़ी ले रहे थे, उस समय एक राक्षस ने उन दोनों की हत्या कर दी।

विधवा गुणवती किशोरावस्था से ही एकादशीव्रत एवं कार्तिकव्रत का निष्ठा के साथ पालन करती थी। एक समय व्रत एवं ज्वर की दशा में गङ्गा-स्नान के समय गुणवती के प्राण निकल गये। वह कार्तिक-व्रत के प्रभाव से श्रीकृष्ण के ही पास रहने लगी।

द्वार के अन्त में, पूर्वजन्म के देवशर्मा ही सत्राजित बने। चन्द्र ही अक्रूर के रूप में जन्में और गुणवती ही 'सत्यभामा' बनी। गुणवती ने अपने पूर्व जन्म में विष्णु-मन्दिर के समक्ष जो तुलसी की वाटिका लगाई थी, उसी के फलस्वरूप उसके आँगन में भगवान् ने स्वर्ग से लाकर कल्प-वृक्ष लगाया था ॥ स्कन्द पुराण, वैष्णव खण्ड, कार्तिक माहात्म्य तथा पद्मपुराण उत्तरखण्ड, अ० ८८-९०॥

पूर्वजन्म के अपने सम्बन्ध के कारण ही अक्रूर का हृदय अनजान में ही सत्यभामा की ओर आकृष्ट था। सत्यभामा पर किसी का भी अधिकार उन्हें दुःखद था। यद्यपि इसका कुछ भी कारण अक्रूर को विदित न था। इसी मनोवैज्ञानिक कारण से अक्रूर जी ने शतधन्वा को उकसा कर सत्राजित का वध करवाया था। यह सब साइकोलाजी का ही प्रभाव है।

महाकवि कालिदास ने अपने शाकुन्तल में लिखा है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्, पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ शा० ५/२

अर्थात् मनोहर वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी (अर्थात् प्रिया से युक्त) भी प्राणी जोकि उत्कण्ठित हो उठता है, तब वह अवश्य ही संस्कार के रूप में दृढ रूप से स्थित पूर्वजन्मों के प्रेम-व्यवहारों को, अज्ञानपूर्वक, मन से स्मरण करता है।

महाकवि माघ ने भी अपने शिशुपालवध में लिखा है—

सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥

अर्थात्—जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति का कई जन्मों तक अनुसरण करती है, वैसे व्यक्ति की प्रकृति भी कई-कई जन्मों तक उसका पीछा करती है ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह सत्तावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५७॥



## अष्टावनवाँ अध्याय

( भगवान् कृष्ण का कालिन्दी आदि पाँच कन्याओं से विवाह )

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, अबतक लोगों को पता चल गया था कि पाण्डव लाक्षागृह में जले नहीं हैं इसलिये एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण उनसे मिलने के लिये इन्द्रप्रस्थ पधारे। उनके साथ सात्यकि आदि बहुत-से यदुवंशी भी थे—

एकदा पाण्डवान् द्रष्टुं प्रतीतान् पुरुषोत्तमः । इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् युयुधानादिभिर्वृतः ॥

१०/५८/१

पाण्डव भगवान् को देखते ही सबके सब एक साथ उठ खड़े हुए। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उनमें प्राण का सञ्चार हो गया हो। श्रीकृष्ण के विकसित कमल की भाँति मुख को देखकर पाण्डवों की प्रसन्नता की सीमा न रही। भगवान् ने युधिष्ठिर और भीम का पैर छुआ। अर्जुन को छाती से लगाया और चरण छूनेवाले नकुल और सहदेव को आशीष प्रदान किया फिर पाण्डवों ने भगवान् को सादर आसन पर बैठाया। जब भगवान् आसन पर विराजमान हो गये; तब परमसुन्दरी श्यामवर्णा द्रौपदी, जो नवविवाहिता होने के कारण तनिक लजा रही थी, धीरे-धीरे भगवान् श्रीकृष्ण के पास आई और उन्हें प्रणाम किया। सात्यकि आदि सारे यदुवंशी सत्कृत कर यथायोग्य आसनों पर बैठा दिये गये।

आदर-सत्कार आदि की प्रक्रिया पूरी हो जाने के बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपनी बुआ कुन्ती के पास गये। उनका चरण छूकर आशीर्वाद लिया। कुन्ती ने श्रीकृष्ण से अपने भाई-बन्धुओं की कुशल-क्षेम पूछी। भगवान् ने भी उनसे उनकी पुत्रवधू द्रौपदी और स्वयं उनका कुशल-मङ्गल पूछा।

युधिष्ठिर ने भगवान् से कहा—श्रीकृष्ण, हमें इस बात का पता नहीं है कि हमने अपने पूर्वजन्मों में अथवा इस जन्म में कौन-सा पुण्य किया है, जिससे आप का दर्शन हमें मिल रहा है। आपका दर्शन तो साधना-रत बड़े-बड़े योगियों के लिये भी दुर्लभ है फिर युधिष्ठिर की प्रार्थना पर भगवान् वर्षा के चार महिनों तक वहीं रहकर सब को सुख देते हुए, व्यतीत किये।

एकदिन भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन भ्रमण करने के लिये वन में गये। वहाँ अर्जुन ने व्याघ्र, सूकर आदि जङ्गली जानवरों का शिकार किया। श्रान्त हो जाने पर अर्जुन भगवान् के साथ जल पीने के लिये यमुना के पावन तट पर गये। वहाँ दोनों ने जल पीकर अपनी प्यास शान्त की फिर यमुना के तट पर ही वन की शोभा निरखते हुए दोनों टहलने लगे। उसी समय यमुना के जल में तप करती हुई एक परम सुन्दरी तरुणी पर उनकी दृष्टि पड़ी। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उसका पता लगाने के लिये भेजा। अर्जुन उससे बातचीत कर लौटे और भगवान् से कहे—प्रभो, इस तरुणी का नाम है—कालिन्दी। यह यमुना में रहकर भगवान् विष्णु को अपना पति बनाने के लिये तपकर रही है। उनके अतिरिक्त यह किसी अन्य को पति नहीं बनाना चाहती। भगवान् ने कालिन्दी<sup>१</sup> का निश्चय सुना। वे उसे रथ पर बैठा कर युधिष्ठिर के भवन में लाये।

इन्द्रप्रस्थ के निवास काल में ही भगवान् श्रीकृष्ण ने पाण्डवों की प्रार्थना पर उनके रहने के लिये एक अत्यन्त

१. कलिन्दस्य अपत्यं स्त्री कालिन्दी = कलिन्द पर्वत से निकलने वाली नदी का नाम है—कालिन्दी। कालिन्दी में निवास करनेवाली कन्या भी कालिन्दी कही जाती है।



अद्भुत और विचित्र नगर विश्वकर्मा के द्वारा बनवा दिया। पुनः अर्जुन के सारथी बनकर अग्नि को खाण्डव वन का भोजन करवाया। इससे प्रसन्न होकर अग्निदेव ने अर्जुन को गाण्डीव धनुष, चार श्वेत घोड़ों से जुते हुए एक रथ, अभेद्य कवच और दो अक्षय्य तूणीर प्रदान किया। खाण्डव दाह के समय अर्जुन ने मय दानव को जलने से बचा लिया था इसलिये उसने अर्जुन से मित्रता करके उनके लिये एक परम अद्भुत सभा बना दी थी। उसी सभा में दुर्योधन को जल में स्थल और स्थल में जल का भ्रम हो गया था।

इसके बाद इन्द्रप्रस्थ में सबको आनन्दित कर भगवान् यदुवंशियों के साथ द्वारका लौट आये। वहाँ उन्होंने शुभ मुहूर्त में कालिन्दी के साथ विवाह कर अपनी चौथी पटरानी का दर्जा उन्हें प्रदान किया। श्रीकृष्ण का पाँचवा विवाह मित्रविन्दा से हुआ था। मित्रविन्दा श्रीकृष्ण की बुआ राजाधिदेवी की बेटा थी। मित्रविन्दा के दो भाई थे—विन्द और अनुविन्द। ये दोनों अवन्ती (उज्जैन) के शासक थे। ये दुर्योधन के वशवर्ती थे और अपनी बहन का विवाह उन्हीं से करना चाहते थे। मित्रविन्दा मन से अपना पति श्रीकृष्ण को बना चुकी थी अतः वह स्वयंवर में श्रीकृष्ण के गले में वरमाला डालना चाहती थी किन्तु उसके भाइयों ने उसे रोका। इस पर भगवान् ने बलपूर्वक उसका हरण कर उससे विवाह कर लिया। शिवि देश में उत्पन्न होने के कारण मित्रविन्दा को शैव्या भी कहते हैं।

भगवान् की छठी पत्नी सत्या थी। उसका दूसरा नाम नागिजिती था। नग्नजित् कोशलदेश (अयोध्या) के राजा थे। उनके पास परम क्रोधी सात दुर्धर्ष बैल थे। उनकी प्रतीज्ञा थी कि जो व्यक्ति इन सातों बैलों को एक साथ नाथेगा, उसी के साथ बेटा सत्या का विवाह करूँगा। व्यक्ति के शरीर की गन्ध मिलते ही ये बैल भन्ना जाते थे अतः किसी की हिम्मत उनके पास जाने की नहीं होती थी। भगवान् श्रीकृष्ण ने जब नग्नजित् की प्रतिज्ञा की बात सुनी तो वे अयोध्या पहुँचे। सात रूप धारण कर एक साथ ही सातों बैलों को नाथ दिया। यह देखकर नग्नजित् प्रसन्न होकर अपनी बेटा सत्या का विवाह श्रीकृष्ण के साथ कर दिये। साथ में उन्होंने प्रचुर सामग्री, दास और दासियाँ भी दी।

जब भगवान् श्रीकृष्ण सत्या को लेकर द्वारिका की ओर चले तब उन राजाओं ने, जो इस विवाह और सम्पत्ति से वञ्चित रह गये थे, मिलकर श्रीकृष्ण पर आक्रमण कर दिया। परन्तु वीरवर अर्जुन ने सबको परास्त कर भगा दिया।

हृदय-भागवत के प्रख्यात व्याख्याकार श्रीधर स्वामी ने कोसल देश का अर्थ अयोध्या किया है। परन्तु अयोध्या के विद्वानों और चिन्तकों ने बहुत खोजबीन कर इस बात को काट दिया है। उनका कहना है कि अयोध्या में नग्नजित् नाम का कोई राजा हुआ ही नहीं। यह कोई दक्षिण कोसल का राजा होगा, उत्तर कोसल का नहीं।

अब जरा नग्नजित् के नामार्थ पर विचार किया जाय। नग्न उसे कहते हैं, जो वेद-शास्त्र की मर्यादा को न माने। नग्नजित् ने ऐसे लोगों को जीतकर वेदशास्त्र की मर्यादा की स्थापना की रही होगी इसलिये इन्हें नग्नजित् कहा जाता है। इनका नाम तो कुछ और रहा होगा, लेकिन नग्नजित् इनकी संज्ञा हो गई।

भगवान् श्रीकृष्ण की एक बुआ का नाम था—श्रुतकीर्ति। इनका विवाह केकय देश के नरेश के साथ हुआ था। श्रुतकीर्ति की एक कन्या थी—भद्रा। भगवान् ने भद्रा के साथ भी विवाह किया। इसी प्रकार मद्र देश के राजा बृहत्सेन की कन्या लक्ष्मणा का भी श्रीकृष्ण ने स्वयंवर से हरण कर विवाह किया था। इस प्रकार श्रीकृष्ण की ८ पटरानियाँ थीं। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) रुक्मिणी, (२) जाम्बवती, (३) सत्यभामा, (४) कालिन्दी, (५) मित्रविन्दा (शैव्या), (६) नागिजिती (सत्या), (७) भद्रा और (८) लक्ष्मणा। ये सब भगवान् की परम सेविकाएँ थीं।

हृदय-अष्टधा प्रकृति ही आठ पटरानियाँ हैं। ईश्वर इन सभी प्रकृतियों के स्वामी हैं। ये प्रकृतियाँ परमात्मा की सेवा करती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृतियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—



भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४७८॥  
जीव प्रकृति के अधीन है । ईश्वर प्रकृति के अधीन नहीं हैं । जीव अष्टधा प्रकृतियों के वश में आ जाता है,  
जब कि ईश्वर उनको अपने वश में रखते हैं ॥

परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण की सोलह सहस्र एक सौ और पत्नियाँ थी । ये सभी परम सुन्दरी थीं । भौमासुर  
को मार कर भगवान् ने उसके वन्दीगृह से इनका उद्धार किया था ॥५८॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह अष्टावनवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५८॥

## उनसठवाँ अध्याय

( भौमासुर का वध, सोलह हजार एक सौ राजकन्याओं के साथ भगवान् का विवाह )

राजा परीक्षित, ने पूछा—भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार भौमासुर का वध किया था और भौमासुर ने जिस  
प्रकार राजाओं से छीन-छीन कर उनकी कन्याओं को वन्दी बनाया था—यह सब हमें बतलाने की कृपा करें—  
यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः । निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः ॥

१०/५९/१

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भौमासुर ने वरुण का छत्र, माता अदिति के कुण्डल और मेरुपर्वत पर  
स्थित देवताओं का मणिपर्वत नामक स्थान छीन लिया था । इस पर एक दिन देवराज इन्द्र द्वारिका में भगवान् श्रीकृष्ण  
के पास आये और उसकी एक-एक करतूत उन्हें कह सुनाई ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्द्र के द्वारा भौमासुर के अत्याचार की बात सुनी । उन्होंने उसके वध का संकल्प किया  
फिर वे सत्यभामा के साथ गरुड पर आरूढ़ हो भौमासुर की राजधानी प्रागज्योतिषपुर पहुँचे । प्रागज्योतिषपुर में प्रवेश  
करना बड़ा कठिन था । पहले तो उसके चारों ओर पहाड़ों की किलेबन्दी थी । उसके बाद शस्त्रों का घेरा लगाया गया  
था फिर जलभरी खाई थी, तदनन्तर बिजली की चाहरदीवारी थी, उसके बाद गैसों से भरी हुई पाइप बिछी थी । उसके  
बाद मुरनामक दैत्य के सुदृढ़ फन्दों का जाल बिछा हुआ था । इस प्रकार भौमासुर ने अपनी राजधानी को अत्यन्त  
दुर्गम बना रक्खा था ।

वहाँ पहुँचते ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी गदा के प्रहारों से पहाड़ों को तोड़-फोड़ डाला । शस्त्रों की मोरचेबन्दी  
को बाणों से छिन्न-भिन्न कर दिया । चक्र के द्वारा अग्नि, जल और वायु (गैस) की चाहरदिवारियों को तहस-नहस  
कर दिया और मुरदैत्य के फन्दों को तलवार से काट-कूट कर अलग कर दिया । तदनन्तर गदा के प्रहारों से राजधानी  
का परकोटा तोड़कर वे नगर के भीतर प्रविष्ट हो गये ।

नगर में पहुँचते ही भगवान् ने अपना पाञ्चजन्य शङ्ख फूँका । उसकी भीषण ध्वनि से असुरों के हृदय विदीर्ण  
हो गये । मुरदैत्य पाँच शिरवाला था । वह अपनी सुरक्षा के लिये जल के भीतर शयन कर रहा था । शङ्ख की ध्वनि  
उसके भी कानों में पहुँची । उसने अपना भीषण त्रिशूल लेकर कृष्ण पर आक्रमण कर दिया । श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर  
उसने अपना त्रिशूल चलाकर अपने पाँचों मुखों से भीषण गर्जन किया । उसके गर्जन से सारा ब्रह्माण्ड गूँज उठा ।  
त्रिशूल को अपनी ओर आता देखकर भगवान् ने दो बाणों से उसके तीन टुकड़े कर दिये । फिर उन्होंने बाणों से  
उसके मुखों को भी भर दिया । इस पर मुर बौखला उठा । उसने श्रीकृष्ण पर भीषण गदा से प्रहार किया किन्तु भगवान्



ने उसकी गदा को अपनी गदा के प्रहार से चूर-चूर कर दिया। अब वह अस्त्रहीन हो जाने के कारण अपनी भुजाएँ फैलाकर श्रीकृष्ण की ओर दौड़ा। भगवान् ने मुर की यह स्थिति देखी। उन्होंने अपने चक्र के प्रहार से एक बार में ही उसके पाँचों शिरों को काट कर भूमि पर गिरा दिया। मुर की इहलीला समाप्त हो गई।

मुर दैत्य के सात बेटे थे—“तस्यात्मजाः सप्त” ॥११॥ पिता के मारे जाने पर वे सभी पीठ नामक दैत्य को सेनापति बनाकर भौमासुर के आदेश से भीषण आक्रमण कर दिये। उन लोगों के सारे अस्त्र-शस्त्रों को अपने बाणों के प्रहारों से भगवान् ने विनष्ट कर दिया फिर सेनापति पीठ के सहित मुर के सारे पुत्रों को भी मारकर भगवान् ने यमलोक की राह दिखला दी।

अन्त में महान् हाथी पर सवार, विशाल सेना के साथ, स्वयं भौमासुर भगवान् के साथ लड़ने के लिये युद्ध-भूमि में आ डटा। भौमासुर को नरकासुर भी कहते हैं। नरकासुर भूमि का बेटा था। आते ही उसने भगवान् पर तोप से प्रहार किया। साथ ही उसके सैनिकों ने भी उन पर नाना प्रकार के आयुधों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। भगवान् ने अपने बाणों के प्रहार से शत्रुओं के सारे अस्त्र-शस्त्रों को निष्फल कर दिया। युद्धभूमि में गरुड के पक्षों और नखायुधों के प्रहार से सारी गज-सेना तितर-बितर हो गई। सभी भाग कर नगर में शरण लिये। अब वहाँ अकेला भौमासुर ही लड़ता रहा। गरुड पर उसने शक्ति का प्रहार किया किन्तु गरुड पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। इस पर बौखला कर उसने श्रीकृष्ण का वध करने के लिये एक लपलपाता हुआ त्रिशूल उठाया। सत्यभामा इस दृश्य को देखकर कुपित हो उठीं उन्होंने कहा—प्रभो, अब खिलवाड़ मत कीजिये, वध कीजिये इस नीच नरकासुर का। सत्यभामा का कथन सुनते ही भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र के प्रहार से उसका शिर काट कर भूतल पर गिरा दिया। असुरों में हाय-हाय मच गई। ऋषि-मुनि और देवता वाह-वाह करने लगे। देवताओं ने भगवान् पर पुष्प-वृष्टि की।

सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं बभौ पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत्।

हाहेति साध्वितृषयः सुरेश्वरा माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे ॥ १०/५९/२२

भौमासुर के वध के बाद उसके पुत्र भगदत्त को आगे करके भू-देवी भगवान् के पास आई। उसने उनके गले में वैजयन्तीमाला पहना दी। अदिति के कुण्डल, वरुण का छत्र तथा देवाताओं का क्रीडा-स्थान मन्दर का शिखर भी उसने भगवान् को अर्पित कर दिया फिर उनकी स्तुति करती हुई बोली—शङ्ख-चक्र-गदाधारी देवदेवेश्वर, मैं आप को प्रणाम करती हूँ। प्रभो, आप अपने भक्तों की इच्छा-पूर्ति के लिये नाना रूप धारण करते हैं। मैं आप को प्रणाम करती हूँ। प्रभो, आपकी नाभि से कमल प्रकट हुआ है। आप कमल की माला धारण करते हैं। आपके नेत्र विकसित कमल की भाँति सुन्दर और शान्तिदायक हैं। आपके चरण कमल की भाँति सुकुमार और भक्तजन सुखदायक हैं। मैं आप को बार-बार प्रणाम करती हूँ। प्रभो, आप जगत् के सर्ग, स्थिति और संहार के कारण हैं। आप अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं। आप चराचर जगत् के आधार हैं। भ्रम के कारण ही यह जगत् आप में भासित होता है। स्वामिन्, यह मेरा पौत्र भगदत्त है। भौमासुर का पुत्र है। भयभीत होकर यह आपके चरणों पर पड़ा है। इसकी रक्षा कीजिये और इसके शिर पर अपना हाथ रखकर इसके समस्त पाप-तापों को नष्ट कर दीजिये—

तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः।

तत् पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥ १०/५९/३१

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, पृथ्वी की भक्ति-भरी स्तुति सुनकर भगवान् प्रसन्न हो उठे। उन्होंने भगदत्त के शिर पर अपना हाथ रखकर उसे अभयदान दे दिया फिर वे भौमासुर के समस्त सम्पत्तियों से सम्पन्न महल में प्रवेश किये। वहाँ जाकर भगवान् ने देखा कि भौमासुर ने राजाओं से जबर्दस्ती उनकी सोलह हजार राजकुमारियाँ छीन कर



बन्दिनी बना रक्खा है। कहीं-कहीं कन्याओं की संख्या सोलह सहस्र एक सौ बतलाई गई है। खैर, भगवान् को देखते ही वे सभी उनके सौन्दर्य-माधुर्य पर मुग्ध हो गईं। उन सबने मन-ही-मन भगवान् को अपने परम प्रियतम पति के रूप में वरण कर लिया। सभी ने भावना करके अपना हृदय भगवान् को अर्पित कर दिया।

भगवान् ने उन्हें स्नान करवाया। सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करवाकर, प्रभूत सम्पत्ति के साथ, उन्हें रथ पर बैठा कर द्वारिका भेजवा दिया। इसके बाद सत्यभामा के साथ भगवान् अमरावती में इन्द्र के अतिथि बने। वहाँ उन्होंने देवमाता अदिति के कुण्डल और देवों की वे वस्तुएँ वापस कर दीं, जिनका बलात् हरण भौमासुर ने कर लिया था। देवराज इन्द्र और उनकी पत्नी शची ने भगवान् और सत्यभामा का खूब स्वागत सत्कार किया। विष्णुपुराण की कथा के अनुसार दासियाँ सत्यभामा जी के सत्कार के लिये कल्पवृक्ष का एक फूल लेकर आईं। इसे देखकर इन्द्राणी नें आँख से इशारा कर फूल सत्यभामा को देने से रोक दिया। उनका भाव यह था कि सत्यभामा भूतलनिवासिनी मानव स्त्री हैं। कल्पवृक्ष का पुष्प तो हम देवों के लिये है, भूतल के मानवों के लिये नहीं। स्त्रियों के मन का भाव बहुत जल्दी समझती हैं इसलिये सत्यभामा जी समझ तो गईं, किन्तु कुछ बोली नहीं। उस समय शची स्वयं पारिजात के प्रभूत पुष्पों से अलङ्कृत थीं—“स्वयं पुष्पैलङ्कृता” ॥वि०पु०, ५/३०/२९॥

स्वर्ग से जब श्रीकृष्ण भगवान् चलने लगे तब सत्यभामा के कहने से कल्पवृक्ष का एक वृक्ष उखाड़ कर उन्होंने गरुड पर रख लिया। इन्द्र को यह बात बर्दास्त न हुई। उन्होंने विशाल सेना के साथ, श्रीकृष्ण को घेर लिया और उनसे युद्ध करने लगे। भगवान् ने सबको परास्त कर पारिजात को लाकर सत्यभामा के आँगन में लगा दिया।

कहते हैं कि एक बार विनोदी नारद जी द्वारिका में श्रीकृष्ण के पास पधारे। उन्होंने उन्हें पारिजात का एक पुष्प भेंट किया। श्रीकृष्ण ने वह पुष्प रुक्मिणी जी को दे दिया। अब नारद जी पहुँचे सत्यभामा के महल में, वहाँ उन्होंने कहा—सत्यभामा जी, मैं तो समझता था कि भगवान् आप को ज्यादा प्यार करते हैं किन्तु आज मुझे विदित हुआ कि वे आप की अपेक्षा रुक्मिणी जी को अधिक स्नेह प्रदान करते हैं। मैंने भगवान् को पारिजात का एक पुष्प अर्पित किया था। उन्होंने वह फूल बड़े प्यार से रुक्मिणी जी के बालों में गूँथ दिया। यह कह कर नारद जी चलते बने किन्तु सत्यभामा मानकर बैठ गईं। भगवान् ने उन्हें मनाते हुए कहा—मैंने रुक्मिणी जी को एक पुष्पमात्र प्रदान किया है किन्तु शीघ्र ही तुम्हारे आँगन में पारिजात का एक पेड़ ही लाकर लगा दूँगा। उसी कथन की पूर्ति भगवान् ने सत्यभामा के आँगन में कल्प वृक्ष लगा कर की है।

श्री शुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, जरा इन्द्र को तो देखो, दैत्य-दानव जब धर दबोचते हैं, तब इन्द्र भगवान् के चरणों पर गिर कर—“त्राहि मां, त्राहि माम्” कहते हैं और जब काम निकल जाता है तब एक वृक्ष के लिये भी कृष्ण से युद्ध करने में सज्जोच नहीं करते। यह उनकी आढ्यता का परिणाम है। उनकी इस आढ्यता को धिक्कार है—

सिन्धार्थ एतेन विगृह्यते महानहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् ॥ १०/५९/४१

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जब द्वारिका पहुँचे तो उन्होंने एक ही मुहूर्त में नाना रूप धारण कर, उन राजकन्याओं से विवाह किया जिन्हें वे भौमासुर के कारागार से मुक्त कराकर वहाँ भेजे थे। ये सारी स्त्रियाँ श्री लक्ष्मी जी की ही अंशभूता थीं। भगवान् ने उनके साथ विहार कर उन्हें निरतिशय सुख प्रदान किया। भगवान् को परम प्रिय ये स्त्रियाँ उनकी सेवा स्वयं करने में अपना परम सौभाग्य समझती थीं। यद्यपि वहाँ सैकड़ों दासियाँ थीं, फिर भी जब उनके महल में भगवान् पधारते तब वे स्वयं आगे बढ़कर आदरपूर्वक उन्हें लिवा आतीं, श्रेष्ठ आसन पर बैठातीं, उत्तम सामग्रियों से पूजा करतीं, चरण-कमल पखारतीं, पान लगाकर खिलातीं, पाँव दबा कर थकावट दूर करतीं, पंखा



झलती, सुगन्धित द्रव्य लगातीं, फूलों के हार पहनातीं, केश सँवारती, सुलातीं, स्नान करातीं और अनेक प्रकार के भोजन करा कर अपने ही हाथों भगवान् की सारी सेवा करतीं—

दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥१०/५९/४५

हृदय—भौमासुर भूमि का पुत्र था। भगवान् विष्णु ने वाराह का रूप धारण कर जब पृथिवी का उद्धार किया था, उसी समय उनके स्पर्श से भू-देवी गर्भवती हो गई थीं। समय आने पर बालक की उत्पत्ति हुई। भूमि का पुत्र होने से वह भौम कहा जाने लगा। चूँकि जिस समय भूमि गर्भवती हुई थी, उस समय उसके सामने हिरण्याक्ष था। भूमि उसके भय से काँप रही थी। फलतः विष्णु का अंश होने पर भी बालक असुर हुआ। भू-देवी ने भगवान् से प्रार्थना की थी कि मेरा बालक आपके अलावा दूसरे के हाथों से न मारा जाय और मैं जब कहूँ तभी आप इसका वध करें, अन्यथा नहीं। यही कारण है कि भगवान् सत्यभामा को साथ ले गये थे और उन्हीं के कहने पर उसका वध किये थे। सत्यभामा भू-देवी की अंशभूता थीं।

### सोलह सहस्र का भाव

भौमासुर ने सोलह सहस्र कन्याओं को बन्दी बना रक्खा था। ये सोलह सहस्र कन्याएँ वेदों की ऋचाएँ हैं। वेद के तीन काण्ड और एक लाख मंत्र हैं—

१. कर्मकाण्ड—इसमें अस्सी हजार मन्त्र हैं। यह ब्रह्मचारी के लिये है।
२. उपासना काण्ड—इसमें सोलह हजार मन्त्र हैं। यह गृहस्थों के लिये है।
३. ज्ञानकाण्ड—इसमें चार हजार मन्त्र हैं। यह वानप्रस्थों के लिये है।

ब्रह्म का स्पर्श पाने के लिये वेदों की ऋचाओं ने तपस्या की। किन्तु सफल न होने पर राजकन्याओं के रूप में जन्म लेकर भगवान् के स्पर्श को प्राप्त किया। भौम का अर्थ होता है भूमि का बना हुआ शरीर। जो शारीरिक सुख के लिये वेदमन्त्रों का अपने अनुकूल व्याख्यान करे वह है भौमासुर। भौमासुर का संकल्प था कि मैं एक लाख कन्याओं को जब बन्दिनी बना लूँगा, तब उनके साथ विवाह करूँगा। सोलह सहस्र ऋचाएँ गृहस्थों के लिये हैं। ये ही राजकन्याओं के रूप में आई हैं इसीलिये गृहस्थ श्रीकृष्ण ने इनके साथ विवाह किया है। यह सङ्केतमात्र है ॥५९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह उनसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५९॥

•

### साठवाँ अध्याय

( परिहास से भयभीत एवं कुपित रुक्मिणी जी को भगवान् के द्वारा सान्त्वना प्रदान करना )

हृदय—एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण उमङ्ग में थे। नीरव स्थान था। रात्रि की बेला थी। रुक्मिणी जी उसी समय सज-धज कर, बन-ठनकर इठलाती मुस्कराती उनके सामने आ गईं। भगवान् ने उन्हें अपनी बाँहों में कस कर भर लिया। वे नाहीं—नूकुर कर ही रही थीं कि उन्होंने जमकर उनका अधर पान प्रारम्भ कर दिया। लग रहा था आज रुक्मिणी जी के अधर में अमृत का सागर उमड़ रहा था। भगवान् को पान से तृप्ति ही नहीं हो रही थी। रुक्मिणी जी किसी-किसी तरह अपना अधर छुड़ा कर बोलीं—मेरे प्राणनाथ, ओष्ठ छोड़ दीजिये। मुझे बड़ा भय लग रहा है। आपने पान करके ही पूतना का प्राण ले लिया था। इस पर भगवान् ओष्ठ छोड़ कर उनके गले से लिपट गये फिर रुक्मिणी जी ने कहा—मेरे जीवन के स्वामी, कण्ठ का आलिङ्गन भी छोड़ दीजिये। आपने आलिङ्गन करके



ही यमलार्जुन को धराशायी कर दिया था। भगवान् ने कण्ठाश्लेष ढीला कर दिया और प्रियतमा के गोरे-गोरे गोले-गोले गालों पर तथा उन्नत कठोर स्तनों पर नाखूनों से खरोचने लगे। इस पर फिर महारानी जी ने कहा—मेरे प्यारे, मेरे शरीर पर नख-क्षत भी मत कीजिये। आपने-अपने नखों के ही प्रहार से हिरण्यकशिपु को इस संसार से विदा कर दिया था। इस प्रकार रात्रि-केलिकी बेला में हँसी-हँसी में काम-क्रीडा से रोके गये भगवान् आप सब की रक्षा करें—

ओष्ठं मुञ्च हरे बिभेमि भवता पानैर्हता पूतना, कण्ठाश्लेषममुं जहीहि दलितावालिङ्गनेनार्जुनी ।  
मा देहि छुरितं हिरण्यकशिपुर्नीतो नखैः पञ्चताम्, इत्थं वारितरात्रिकेलिरवताल्लक्ष्म्यापहासाद्धरिः ॥

कृष्णकर्णामृत ।

रुक्मिणी जी की बात सुनकर भगवान् को ऐसा लगा कि इन्हें अपने सौन्दर्य का अभिमान हो गया है। भगवान् सब कुछ सह सकते हैं, किन्तु उन्हें अभिमान बर्दास्त नहीं है—“गुमान गोविन्दहिं भावत नाही” ॥ बस, दूसरे दिन उन्होंने एक लीला रच दी—

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, एक समय की घटना है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने राजमहल में सुन्दर पलङ्ग पर सुखपूर्वक विराजमान थे। सखियों के साथ स्वयं रुक्मिणी जी भगवान् को पंखा झल रही थीं—

कहिंचित् सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम् । पतिं पर्यचरद् भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः ॥

१०/६०/१

भगवान् उनके अङ्ग-कान्ति को निरख-निरख कर पुलकित हो रहे थे। स्त्रियाँ पुरुषों के भाव को पहचानने में बड़ी निपुण होती हैं अतः रुक्मिणी जी कृष्ण को देख-देख कर मुस्कारा रही थीं। भगवान् को रुक्मिणी के सौन्दर्याभिमान को विगलित करने का यह अच्छा अवसर प्रतीत हुआ। फलतः उन्होंने रुक्मिणी जी से परिहास करते हुए कहा—राजकुमारी, विवाह की बेला में बड़े-बड़े रूपवान्, उदार और बलशाली राजा लोग तुम्हें पाने के लिये लालायित थे। तुम राजपुत्री हो। वे लोग राजा थे। धन और ऐश्वर्य में वे तुम्हारे समान थे। ऐसी स्थिति में पता नहीं तुमने मेरा वरण क्यों कर लिया। हमारे और तुम्हारे में कोई समानता भी तो नहीं है। (१) तुम दुलारी राजकुमारी हो और मैं ठहरा गोपाल, गायों का सेवक। (२) तुम मखमली गद्दे पर चलती-फिरती थी और मैं नङ्गे पैर गायों के पीछे-पीछे वन-वन भटकता था। (३) तुम गोरी हो और मैं काला, (५) स्त्रियाँ चाटुकारिता पसन्द करती हैं और मैं उससे दूर रहता हूँ। (६) धनीजन तुम्हारी सेवा करते हैं और निष्किञ्चन जन मुझे भजते हैं। (७) जरासन्ध आदि बड़े-बड़े बलवानों से तुम्हारे बाप-भाई की मित्रता है और मैं उन्हीं के भय से सागररूप दुर्ग में पुरी का निर्माण करकर निवास करता हूँ।

जिनका धन, कुल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य और आय समान होती है, उन्हीं के साथ विवाह और मित्रता का सम्बन्ध करना चाहिये। जो अपने से श्रेष्ठ अथवा अधम हों, उनसे नहीं करना चाहिये—

यथोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्चर्याकृतिर्भवः । तथोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाद्यमयोः क्वचित् ॥

१०/६०/१५

इसलिये राजकुमारी जी, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। सबेरे का भूला हुआ व्यक्ति यदि शाम को घर आ जाय तो वह भूला हुआ नहीं कहलाता है अतः अब भी तुम अपने अनुरूप श्रेष्ठ मनचाहे क्षत्रिय को अपने पति के रूप में वर सकती हो। इससे तुम्हारी सारी अभिलाषाएँ भी पूरी हो जायेंगी। मैं खुशी-खुशी इसका समर्थन करता हूँ—

१. इस अध्याय में वर्णित कथा के रहस्य को खोलने की यह कुञ्जी है। इसके बिना इस अध्याय की कथा की सङ्गति ही नहीं बैठ सकती। कोई भी विचारक विचार कर देख सकता है। आगे का श्लोक (२१) भी इसी बात का समर्थन करता है।



अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम् । येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे ॥

१०/६०/१७

यदि तुम कहो कि यदि मेरा परित्याग ही करना है तो आपने मेरा हरण ही क्यों किया ? तो सुनो—शिशुपाल, शाल्व, जरासन्ध आदि राजा और तुम्हारा भाई रुक्मी मुझसे द्वेष करते हैं। उन दुर्मदान्धों के मद को चकनाचूर करने के लिये ही मैंने तुम्हारा हरण किया था और कोई दूसरी बात नहीं थी—

तेषां वीर्यमदान्यानां दृप्तानां स्मयन्तये । आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहरताऽसताम् ॥

१०/६०/१९

रुक्मिणी जी ने जब यह सब सुना तब थर-थर काँपने लगीं। उनका हृदय धड़कने लगा। आँसुओं की धाराओं से उनके उन्नत उरोज भींग गये। वे चिन्ता के अगाध सागर में डूबने-उतराने लगीं। नीचे मुँह करके वे पैर के अँगूठे से धरती खोदने लगीं। उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वे कुछ बोल न सकीं। उनके हाथ से छूट कर पंखा गिर पड़ा। दुःख के आवेग के कारण वे मूर्च्छित होकर भूतल पर गिर पड़ीं। भगवान् ने उनकी यह स्थिति देखी तो घबरा गये। चार भुजाएँ धारण कर वे पलंग से कूद पड़े और रुक्मिणी जी को उठाकर छाती से लगा लिया। भगवान् ने अपने एक हाथ से उनके केशों को सर्वांग, दूसरे से उनकी आँखों के आँसू पोंछे, मुख को पोंछा और फिर समझाना प्रारम्भ किया—विदर्भराजकुमारी, तुम मुझसे बुरा मत मानना। मुझसे रूठना नहीं। मैं जानता हूँ कि तुम एकमात्र मेरे ही परायण हो। अरी पगली, मैं तो हँसी कर रहा था। तुमने क्या इसे सच मान लिया ? अभी तक मैंने तुम्हारा प्रसन्न मुख ही देखा था। आज इच्छा हुई कि जरा कोप से कुटिल भ्रुकुटिवाले तुम्हारे मुख की शोभा तो देखूँ। बस, इसीलिये मैंने छेड़-छाड़ की है, क्ष्वेलि की है। तुम कितनी भोली हो ? हँसी-मजाक का तरीका भी तुम्हें नहीं मालूम है। यदि मेरे वचनों से तुम्हें कष्ट पहुँचा है, तो क्षमा करो देवि, क्षमा करो !

गृहस्थ पुरुष के गार्हस्थ्य जीवन का यह सबसे बड़ा लाभ है, जोकि व्यक्ति अपनी प्रिया से हँसी-मजाक करता हुआ दिन का प्रत्येक प्रहर व्यतीत करता है। वस्तुतः इसके बिना तो पूरा जीवन ही नीरस हो जाता है—

अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् । यन्नर्मेर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनी ॥

१०/६०/३१

सचमुच, क्या मैं कभी तुम्हें छोड़ने का विचार कर सकता हूँ ? नहीं, असम्भव, सर्वथा असम्भव।

राजन्, भगवान् के इस प्रकार के वचनों को सुनकर रुक्मिणी जी की चिन्ता दूर हुई, प्रणय-कोप शान्त हुआ। वे लज्जापूर्ण कटाक्षों से भगवान् को निरखती हुई बोलतीं—कमलनयन, आप का यह कथन पूर्णतः सही है कि हमारी और आप की जोड़ी ठीक नहीं है। आप की समानता मैं किसी प्रकार नहीं कर सकती। अपने स्वरूप में ही रमण करनेवाले, त्रिलोकी के अधिपति कहाँ आप और कहाँ त्रिगुणमयी अज्ञ प्रकृति मैं। इस संसार में त्रिगुणों के परिणामभूत शब्द आदि विषयों का ही आधिपत्य है। वे ही इस संसार के शासक हैं, राजा हैं। उनसे भक्तों को भय होना ही मानो आपको भय होना है। उसी से आप भक्तों के अगाध हृदय-सागर में निवास करते हैं। इसमें भौतिक राजाओं से डर कर आपके समुद्र में शरण लेनी की बात ही कहाँ उठती है ? आप के अनुयायी भक्त बड़े-बड़े चक्रवर्ती नरेश समय आने पर राज्य को ठुकरा कर, आप की आराधना के लिये, जंगल में चले जाते हैं, फिर यदि आप ने राज्य छोड़ दिया है, तो इसमें कौन-सा आश्चर्य है। आप ने अपने को अकिञ्चन और अकिञ्चन-जन प्रिय कहा है; परन्तु आपकी अकिञ्चनता दरिद्रता नहीं है। उसका अर्थ यह है कि आपके अतिरिक्त इस संसार में कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं—  
“नास्ति किञ्चन यस्मादसौ अकिञ्चनः”। जिसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। वह अकिञ्चन है। जो धनार्थी हैं, जो धनाभिमानी हैं ऐसे अविवेकी जन ही मेरी आराधना करते हैं। ज्ञानी अकिञ्चन, सर्वस्व त्यागी आपकी



शरण लेते हैं। शिशुपाल आदि भूपाल इन्द्रियों के अधीन हैं, वशवर्ती हैं और आप गोपाल हैं, इन्द्रियों के रक्षक हैं। ऐसे आपको छोड़कर भला कौन-सी कुल-शीलवती कन्या दूसरे स्त्री-लम्पट पुरुष का वरण कर सकती है ? जैसे काशिराज की कन्या अम्बा राजा शात्व को चाहती थी, वैसे ही मेरा स्वाभाविक प्रेम आप में ही है।

रुक्मिणी जी की बात सुनकर भगवान् ने कहा—साध्वी, इन्हीं बातों को सुनने के लिये ही तो मैंने तुमसे छेड़छाड़ की है, हँसी मजाक किया है। तुम ने मेरे वचनों की जो व्याख्या की है, वह पूर्णतः सत्य है। वस्तुतः तुम्हारी जैसी गृहिणी का मिलना बड़े सौभाग्य की बात है। तुमने मुझे कभी देखा नहीं था। महात्माओं की कथाओं में ही मेरे बारे में सुन रक्खा था किन्तु विवाह की बेला में विवाहार्थ आये हुए राजाओं की उपेक्षा करके ब्राह्मण के द्वारा मेरे पास गुप्त सन्देश भेजा था। भला, ऐसी पत्नी के परित्याग की कल्पना कौन कर सकता है ?—

न त्वाद्दृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले ।  
प्राप्तान् नृपानवगणय्य रहोहरो मे प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य ॥१०/६०/५५  
तुम्हारा हरण करते समय मैंने तुम्हारे भाई को युद्ध में जीत कर उसे विरूप कर दिया था और अनिरुद्ध के विवाह के असर पर चौसर खेलते समय मेरे बड़े भैया बलराम जी ने तो उसका वध ही कर दिया\*। किन्तु मुझसे वियोग हो जाने की आशङ्का से तुमने एक शब्द भी नहीं कहा, चुपचाप सारा दुःख सह लिया। मुझसे एक बात भी नहीं कही। विवाह के अवसर पर मेरे पहुँचने में विलम्ब होने पर तुमने शरीर-त्याग का भी संकल्प कर लिया था। तुम्हारे इन गुणों से मैं तुम्हारे वश में हो गया हूँ—“तेन वयं जितास्ते” ॥५६॥ हम इसका बदला नहीं चुका सकते। तुम्हारे इस सर्वोच्च प्रेम-भाव का हृदय से हम अभिनन्दन करते हैं—“वयं प्रतिनन्दयामः” ॥५७॥

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, भगवान् आत्माराम हैं किन्तु मानव-लोक में आकर वे मानवोचित लीला किया करते हैं। उस समय वे दाम्पत्य-प्रेम को बढ़ानेवाले विनोदभरे वार्तालाप भी करते हैं। इस प्रकार उन्होंने प्रेमपूर्वक लक्ष्मी जी (रुक्मिणी जी) के साथ विहार करते हुए जीवन को सरस बनाकर जिया। वे इसी प्रकार दूसरी पत्नियों के महलों में भी गृहस्थों के समान रहकर मनोविनोदभरी बातें किया करते थे।

हृदय-भगवान् के पुत्र, पौत्र आदि सब हो चुके थे फिर भी वे अपनी पत्नी से छेड़छाड़, हँसी-मजाक करने से नहीं चूकते थे। इससे वे संसारी मानवों को वार्धक्य में भी सरस जीवन जीने की कला का उपदेश देते हैं। वस्तुतः जीवन को सरस बनाकर जीना ही दाम्पत्य-सुख है ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह साठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥६०॥

## इकसठवाँ अध्याय

( भगवान् की सन्ततियों का वर्णन तथा अनिरुद्ध के विवाह में रुक्मी का वध )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण की प्रत्येक पत्नी के गर्भ से दस-दस पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी रूप बल आदि गुणों में अपने पिता भगवान् श्रीकृष्ण के ही समान थे—

१. रुक्मी के वध की कथा अगले अध्याय में आ रही है अतः उसका पहले उल्लेख करना समीचीन नहीं है। घटना-क्रम के उल्लेख में गड़बड़ी करना व्यास महाराज की असावधानी मानी जायेगी।



एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान् दश दशाबलाः । अजीजनन्नवमान् पितुः सर्वात्मसम्पदा ॥

१०/६१/१

परीक्षित, गृहस्थी में रहते हुए भी भगवान् का ऐश्वर्य कभी बाधित नहीं होता था । उनकी सारी पत्नियाँ यही समझती थीं कि भगवान् की मैं ही सर्वाधिक प्यारी पत्नी हूँ, तभी तो वे मेरा घर छोड़कर क्षण भर के लिये भी बाहर नहीं जाते । वस्तुतः वे भगवान् के यथार्थ स्वरूप को पहचानती ही न थीं । स्त्रियों में ललामभूत भगवान् की षोडशसहस्राधिक वे प्यारी पत्नियाँ काम-कला में पूर्ण थीं । वे अपनी मन्द-मन्द मुसकान और तिरछे कटाक्षपातों से भगवान् के ऊपर काम के बाण चलाती थीं, किन्तु वे अपने महान् प्रयास के बाद भी उनके मन में स्वल्प भी विक्षोभ पैदा करने में समर्थ नहीं होती थीं—

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारिभूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डेः ।

पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शुकुः ॥१०/६१/४

भगवान् की सभी पत्नियों के महलों में सैकड़ों दासियाँ रहती थीं फिर भी जब उनके भवन में भगवान् पधारते तब वे स्वयं आगे बढ़कर सादर उन्हें लिवा आतीं, श्रेष्ठ आसन पर बैठातीं, उत्तम सामग्रियों से उनकी पूजा करतीं, चरणकमल पखारतीं, पान लगाकर खिलातीं, पैर दबा कर थकावट दूर करतीं, पंखा झलतीं, इत्र, चन्दन आदि लगातीं, फूलों के हार पहनातीं, केश सँवारीं, सुलातीं, स्नान करातीं और विविध प्रकार के पकवान बनाकर खिलातीं तथा भाँति-भाँति से भगवान् की स्वयं सेवा किया करती थीं । ऐसा करने में वे अपना परम सौभाग्य समझती थीं—

दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥१०/६१/६

राजन्, मैंने पहले ही बतला दिया है कि भगवान् की प्रत्येक पत्नी को दस-दस पुत्र थे । अब भगवान् की आठों पटरानियों के पुत्रों का वर्णन कर रहा हूँ । सावधान होकर सुनो—सर्वप्रथम विवाहित होकर आई रुक्मिणी जी के प्रद्युम्न, चारुदेष्ण आदि दस पुत्र हुए, (२) जाम्बवती के साम्ब, सुमित्र आदि दस (३) सत्यभामा के भानु, सुभानु आदि दस (४) कालिन्दी के श्रुत, कवि आदि दस (५) मित्रविन्दा (शैव्या) के वृक, हर्ष आदि दस (६) नाग्नजिती (सत्या) के वीर, चन्द्र आदि दस (७) भद्रा के संग्रामजित्, बृहत्सेन आदि दस तथा (८) लक्ष्मणा के प्रघोष, गात्रवान् आदि दस पुत्र हुए । इन पटरानियों के अतिरिक्त भगवान् की रोहिणी आदि सोलह हजार एक सौ और भी पत्नियाँ थीं । उसके दीप्तिमान् और ताम्रतप्त आदि दस-दस पुत्र हुए ।

रुक्मिणी के पुत्र थे प्रद्युम्न । प्रद्युम्न का विवाह अपने मामा रुक्मी की बेटी रुक्मवती से हुआ था । रुक्मी कृष्ण से हार जाने के बाद अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भोजकट नगर में बस गया था । इस प्रकार कृष्ण के पुत्र-पौत्रों की बहुत बड़ी संख्या हो गई थी ।

राजा ने कहा—परम ज्ञानी मुनिवर, रुक्मी भगवान् श्रीकृष्ण से द्वेष करता था । वह इसी ताक में रहता था कि अपनी हार का बदला श्रीकृष्ण से कब ले लूँ ?—“कृष्णेन परिभूतस्तं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते” ॥२०॥ ऐसी स्थिति में दो शत्रुओं में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ ? आप त्रिकालज्ञ पुरुष हैं । आप से कोई बात छिपी नहीं है ।

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, प्रद्युम्न जी काम के अवतार थे । परमसुन्दर थे । उनके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर रुक्मवती ने स्वयंवर में उन्हीं का वरण किया था । प्रद्युम्न जी ने वहाँ स्वयंवर में एकत्रित राजाओं को हराकर रुक्मवती का हरण किया था । अपनी बहन रुक्मिणी की प्रसन्नता के लिये रुक्मी ने भी अपनी बेटी प्रद्युम्न को ब्याह



दी थी। इस प्रकार के व्याह का प्रचलन उस समय था। रुक्मिणी जी की एक अति सुन्दरी कन्या भी थी। उसका नाम था—चारुमती। कृतवर्मा के पुत्र बली ने उसके साथ विवाह किया था।

कुछ समय और बीतने के बाद, सम्बन्ध को और मधुरता प्रदान करने के लिये रुक्मी ने अपनी बहन रुक्मिणी को और अधिक प्रसन्न करने के लिये अपनी पौत्री रोचना का विवाह भी अपने दौहित्र अनिरुद्ध के साथ कर दिया—यह जानते हुए भी कि इस प्रकार का विवाह धर्मशास्त्र के अनुकूल नहीं है।

रोचना और अनिरुद्ध के विवाह में द्वारका से बलराम जी, श्रीकृष्ण तथा और बहुत से यदुवंशी भोजकट गये थे। विवाह सानन्द समाप्त हो गया। उस समय कन्यापक्ष से आये कलिङ्ग नरेश आदि अभिमानी राजाओं ने रुक्मी से कहा—युद्ध में बलराम जी को हम लोग हरा तो सकते नहीं अतः आओ उन्हें जुए में ही हराया जाय। रुक्मी ने यह बात स्वीकार करके बलराम जी के सामने जुआ खेलने का प्रस्ताव रख दिया। इस प्रकार बदले की भावना से उन लोगों ने चौसर खेलने का आयोजन किया। उसमें विजय तो बलराम जी की होती थी, किन्तु वे सब कपट पूर्वक कहा करते थे कि हमने जीता है। विजय हमारी हुई है। बलराम जी के जीतने के सम्बन्ध में आकाशवाणी भी हुई—  
“तदाब्रवीतिन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः” ॥३३॥ लेकिन तब भी वे नहीं माने और बलराम जी की हँसी उड़ाते हुए कहने लगे कि—बलराम जी द्यूत-क्रीडा राजाओं का खेल है, आप जैसे गाँव के ग्वाले भला इस राजसी खेल को क्या जानें ?

इस पर बलराम जी को क्रोध आ गया। उन्होंने पास में पड़े एक परिध, ब्योंड़ा को उठाया और उसके प्रहार से मार डाला रुक्मी को। देखिये, समय की बात। रुक्मिणी जी के हरण की बेला में बलराम जी ने श्रीकृष्ण को रुक्मी के वध से रोका था किन्तु आज वे अपना क्रोध न सभाल सके और रुक्मी का वध कर दिये। भागते हुए उपहासकर्ता कलिङ्ग-नरेश को पकड़ा और उनके दाँतों को मार-मार कर तोड़ दिया। सारा रङ्गभङ्ग हो गया। इस प्रकार रुक्मी (साले) के मारे जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कुछ नहीं कहा। वे चुप ही रह गये। रुक्मिणी अथवा बलराम जी को वे नाराज नहीं करना चाहते थे अतः किसी के पक्ष से भी कुछ नहीं बोले।

तदनन्तर, वर-वधू को रथ पर बैठा कर भगवान् श्रीकृष्ण बलराम आदि यदुवंशियों के साथ भोजकट से द्वारका लौट आये और वहाँ बड़ा आनन्द-मङ्गल मनाया गया ॥६१॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह इकसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥६१॥

## बासठवाँ अध्याय

### (ऊषा-अनिरुद्ध-मिलन)

राजा परीक्षित ने पूछा—मुनीश्वर, मैंने सुना है कि श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध ने बाणासुर की बेटी ऊषा से विवाह किया था। उस विवाह के अवसर पर श्रीकृष्ण और शङ्कर जी का बहुत बड़ा घमासान युद्ध हुआ था। आप कृपा कर इस प्रसङ्ग को विस्तार से सुनाइये—

बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूतमः। तत्र युद्धमभूद्योरं हरिशङ्करयोर्महत्।

एतत् सर्वं महायोगिन् समाख्यातुं त्वमर्हसि ॥१०/६२/१



श्री शुकदेव महाराज ने कहा—राजन्, महान् दानी बलि के सौ पुत्र थे। उनमें बाण सबसे बड़ा था। उसने देखा कि भगवान् विष्णु देवों के पक्षधर हैं। उन्होंने मेरे पिता से दान लेकर भी उन से छल किया था अतः मैं भगवान् शिव की समाराधना कर उन्हें प्रसन्न करूँगा। बाणासुर की राजधानी शोणितपुर में थी। शिव का महान् आराधक होने के साथ ही वह महान् दानी भी था। उसकी वीरता जगद्विदित थी। भगवान् शिव के वरदान से अमर-गण उसके किङ्कर बन गये थे। उनकी ही कृपा से उसे एक सहस्र भुजाएँ भी प्राप्त थीं। एक दिन भगवान् शङ्कर ताण्डव नृत्य कर रहे थे। बाण ने उस अवसर पर अपनी सहस्र भुजाओं से अनेक प्रकार के बाजे बजाकर शङ्कर को प्रसन्न कर लिया। प्रसन्न शङ्कर ने कहा—बाण, मैं प्रसन्न हूँ तुम्हारे वाद्यकौशल से। माँग लो मुझसे जो वरदान माँगना हो। उसने कहा—प्रभो, यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरे नगर के सार्वकालिक रक्षक बन जाँय। शङ्कर ने तथास्तु कहकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

एक दिन अपने बल-पौरुष के घमण्ड में चूर बाणासुर ने शङ्कर को प्रणाम कर कहा—प्रभो, आपने मुझे एक सहस्र भुजाएँ दी हैं। परन्तु ये मेरे लिये केवल भाररूप ही हैं क्योंकि त्रिलोकी में आप को छोड़कर मुझे अपनी बराबरी का कोई योद्धा ही लड़ने को नहीं मिलता।

दोःसहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत् । त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लभे त्वदृते समम् ॥

१०/६२/८

एक दिन युद्ध की कामना से मैं पर्वतों को चूर्ण करता हुआ दिग्गजों के पास पहुँचा किन्तु वे भी भयभीत होकर भाग खड़े हुए—“भीतास्तेऽपि प्रदुद्भुः” ॥९॥

शङ्कर जी ने देखा कि बाण उन्मत्त हो गया है। यह मुझे ही प्रकारान्तर से लड़ने के लिये ललकार रहा है अतः उन्हें क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—मूढ, तू घबड़ा नहीं। तेरे राजभवन के ऊपर लगी ध्वजा जब अकारण गिर जायेगी तब तू समझना कि मेरे समान कोई वीर योद्धा से तेरा युद्ध होगा और वह तुम्हारे दर्प को धूलि में मिला देगा। यह सुन कर बाण बहुत प्रसन्न हुआ और राजमहल में पहुँचकर ध्वजा गिरने की प्रतीक्षा करने लगा। एक दिन अकस्मात् ध्वजा गिर गई। यह देखकर बाण बहुत प्रसन्न हुआ।

ऊषा असुर बाण की बेटा थी। बाण के महामात्य का नाम था—कुम्भाण्ड। उसकी एक पुत्री थी। उसका नाम था—‘चित्रलेखा’। चित्रलेखा योगिनी थी, योग-विद्या-विशारद थी। उसकी योगविद्या के गुरु थे—मुनिवर दुर्वासा। ऊषा और चित्रलेखा सखियाँ थीं।

ऊषा के शरीर पर नव यौवन ने अधिकार जमा रक्खा था। वह अनुपम सुन्दरी थी। वैशाख शुक्ल पक्ष की द्वादशी की रात्रि में ऊषा सखियों के साथ शयन कर रही थी। उस ने स्वप्न में कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ रमण किया। यद्यपि उसने कभी अनिरुद्ध को देखा-सुना नहीं था फिर भी स्वप्न ने दोनों का समागम करा दिया। अभी तरुणी ऊषा तृप्त नहीं हुई थी कि स्वप्न में अनिरुद्ध अदृश्य हो गये। वह विकल होकर उठ बैठी। चित्रलेखा ने उसकी विकलता विह्वलता का कारण पूछा। ऊषा ने उसे स्वप्न की सारी अनुभूति यथावत् सुना दी।

चित्रलेखा ने ऊषा को सान्त्वना देते हुए कहा—सखि, यदि तुम्हारा चित्तचोर त्रिलोकी में कहीं भी होगा, और तुम उसे पहचान सकोगी, तो मैं तुम्हारी विरह-वेदना अवश्य शान्त कर दूँगी। मैं चित्र बनाती हूँ। तुम अपने चित्तचोर प्राण-वल्लभ को पहचान कर बतला दो फिर तो वह चाहे जहाँ भी होगा, मैं उसे तुम्हारे पास लाकर उपस्थित कर दूँगी। ऐसा कह कर चित्रलेखा ने त्रिलोकी के चित्र को ऊषा के सामने उपस्थित कर दिया। उसने चित्र में अपने चित्तचोर अनिरुद्ध को देखा, पहचाना और फिर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए कहा—मेरा वह प्राणवल्लभ यही है, यही है।



चित्रलेखा योगिनी थी। वह जान गई कि यह भगवान् श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध हैं अतः वह रात्रि में ही आकाशमार्ग से श्रीकृष्ण के द्वारा सुरक्षित द्वारिका में जा पहुँची। उस समय अनिरुद्ध पर्यङ्क पर शयन कर रहे थे। चित्रलेखा, योगसिद्धि के प्रभाव से, उन्हें पलङ्ग सहित उठाकर शोणितपुर ले आई और उसने अपनी सखी ऊषा को उसके प्रियतम का दर्शन करा दिया।

ऊषा और अनिरुद्ध दोनों अनुपम सुन्दर थे। एक से बढ़कर एक थे। दोनों ही नव यौवन के जोश से भरे थे। कोई किसी से कम नहीं। वस्तुतः यह जोड़ी अनुपम थी। वे एक दूसरे को पाकर धन्य-धन्य थे। अनिरुद्ध को अपने अन्तःपुर में देखकर ऊषा के आनन्द-सागर की सीमा न थी। वह अनिरुद्ध के साथ अपने प्रासाद में ही अदम्य विहार में प्रवृत्त हुई। उसका प्रेम शुक्ल पक्ष के चन्द्र की भाँति नित्य बढ़ता ही जा रहा था। वह बड़ी तन्मयता और तल्लीनता से अनिरुद्ध की स्वयं सेवा करती और उन्हें नित्य प्रसन्न रखने की सतत सावधान सतर्कता बरतती। ऊषा के अपने सद्व्यवहार से अनिरुद्ध जी उस कन्या के अन्तःपुर में प्रच्छन्न रहकर अपने-आप को भूल गये। उन्हें इस बात का भी पता न चला कि उन्हें वहाँ गये कितने दिन व्यतीत हो गये।

अनिरुद्ध ने ऊषा का कौमार-हरण किया। रति-रङ्गमर्दन ने असुर राजकुमारी के शरीर का रङ्ग ही बदल दिया। ऊषा का शरीर विकसित हुआ, चमकीला बना। उसके सौन्दर्य में चार चाँद लग गये। वह चहकती चिड़िया की तरह फुदकती फिरती थी। इस पर अन्तःपुर रक्षकों को कुछ आशङ्का हुई। उन लोगों ने इसकी सूचना राजाधिराज बाण को दी। अपने कुछ योद्धाओं के साथ बाण पहुँचे ऊषा के राजभवन में। वहाँ उन्होंने देखा एक श्यामसुन्दर तरुण राजकुमारी के साथ छूत खेल रहा है। वहाँ स्वल्प-कालिक युद्ध के बाद बाण ने उसे नागपाश में बाँध लिया और कारागार में डाल दिया। इस पर ऊषा विह्वल हो रोने लगी किन्तु बाण पर इसका कुछ भी प्राभाव न पड़ा—

ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौदिषीत् ॥ १०/६२/३५

हृदय—पूर्व प्रसङ्ग—ऋषि दुर्वासा तप में रत थे। बलि का बेटा 'साहसिक' देवसुन्दरी तिलोत्तमा के साथ उद्दाम भोग में संलग्न था। उसने दुर्वासा की परवाह नहीं की। इस पर ऋषि क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने उन दोनों को शाप दिया— 'साहसिक, तुम गर्दभ योनि में जाओ। तिलोत्तमे, तू भी दानव-योनि में जन्म ग्रहण करो। दोनों ने अनुनय कर जब ऋषि को प्रसन्न किया तो उन्होंने कहा—तिलोत्तमे, भूतल पर तू बाणासुर की बेटी बनोगी। श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का आलिङ्गन प्राप्त कर शुद्ध होओगी। साहसिक, श्रीकृष्ण के हाथ से मारे जाने पर तू अवश्य मुक्ति प्राप्त करेगा।' तिलोत्तमा का अवतार होने से ही ऊषा अपने समय की अनिन्द्य सुन्दरी थी। तभी तो अनिरुद्ध माता-पिता और द्वारका को भी भुलाकर उसके सौन्दर्य के समाराधक बन गये थे ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह बासठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६२ ॥

## तिरसठवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण का शोणितपुर पर आक्रमण और बाणासुर के साथ युद्ध )

इधर द्वारका में वर्षा के चार मास व्यतीत हो गये किन्तु अनिरुद्ध का कुछ भी पता न चला। उनके बन्धु-बान्धव, उनके न दिखलाई पड़ने से, चिन्तित थे—



अपश्यतां चानिरुद्धं तद्वन्धूनां च भारत । चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम् ॥१०/६३/१॥  
 एक दिन नारद जी ने अनिरुद्ध के शोणितपुर में बाण के कारागार में बद्ध होने की बात बतलाई । इस सूचना के मिलते ही कृष्ण और बलराम के नेतृत्व में यदुवंशी वीरों ने शोणितपुर पर आक्रमण कर दिया । पूरा नगर चारों ओर से घेर लिया गया । बाणासुर भी एक विशाल सेना लेकर युद्ध-स्थल में आ डटा । भगवान् शङ्कर अपने परिवार के साथ शोणितपुर की रक्षा करते थे अतः बाण की तरफ से शङ्कर ने कृष्ण के साथ भयङ्कर संग्राम किया । उस महायुद्ध में श्रीकृष्ण का रुद्र से, प्रद्युम्न का कार्तिकेय से, कुम्भाण्ड का बलराम से और बाण का सात्यकि से सामना हो रहा था । इस अद्भुत युद्ध को देखने के लिये ब्रह्मा आदि देवता विमानों पर आरूढ़ होकर आकाश में आ विराजे ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से शङ्कर की सारी सेना को युद्ध-स्थल से खदेड़ दिया । पिनाकपाणि शङ्कर जी ने भगवान् श्रीकृष्ण पर भाँति-भाँति के अगणित अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने बिना किसी प्रकार के विस्मय के उन्हें विरोधी शस्त्रास्त्रों से शान्त कर दिया अन्त में श्रीकृष्ण ने शङ्कर को जृम्भणास्त्र से, निद्रोत्पादक अस्त्र से, मोहित कर बाण की विशाल सेना का मर्दन प्रारम्भ कर दिया । बाणासुर सात्यकि के साथ युद्ध कर रहा था । जब उसने अपनी सेना की दुर्दशा देखी तो वह सात्यकि को छोड़ कर श्रीकृष्ण के सामने आ डटा । उसने एक सहस्र भुजाओं में पाँच सौ धनुष लेकर उन पर दो-दो बाण चढ़ाया । परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने एक साथ ही उसके सारे धनुष काट डाले और सारथी, रथ तथा घोड़ों को भी धराशायी कर विजय-शङ्ख बजाई ।

उसी समय बाण की धर्म-माता कोटरा, उसके प्राणों की रक्षा के लिये बाल बिखेर कर नंग-धड़ंग भगवान् श्रीकृष्ण के सामने आकर खड़ी हो गई । इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया । अवसर मिलते ही बाणासुर अपने नगर में चला गया ।

इधर जब भगवान् शङ्कर के गण युद्ध छोड़कर भाग गये तब उनके द्वारा छोड़ा हुआ तीन शिर और तीन पैर वाला ज्वर सारी दिशाओं को जलाता हुआ श्रीकृष्ण की ओर दौड़ा । उसके प्रतिकार के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना वैष्णव शीत-ज्वर छोड़ा । दोनों परस्पर भिड़ गये परन्तु प्रबल वैष्णव ज्वर के समक्ष माहेश्वर ज्वर टिक न सका । पीड़ित होकर उसने भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ली और अपने प्राणों की रक्षा की प्रार्थना की । श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर उससे कहा—

त्रिशिरा, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ । अब हमारे ज्वर से तुम्हारा भय दूर हो जायेगा । जो व्यक्ति हमारे साथ हुए तुम्हारे इस संवाद का स्मरण करेगा अथवा सुनेगा, उसे कभी तुमसे भय न होगा । भगवान् के इस प्रकार कहने पर माहेश्वर ज्वर उन्हें प्रणाम करके चला गया—

त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽस्मि व्येतु ते मञ्ज्वराद् भयम् । यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद् भयम् ॥

१०/६३/२९

इत्युक्तोऽच्युतमानस्य गतो माहेश्वरो ज्वरः ॥१०/६३/३०॥

इधर बाणासुर पूरी तैयारी के साथ युद्ध-भूमि में भगवान् श्रीकृष्ण के सामने पुनः आ डटा । उसने अपनी हजार भुजाओं से विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा भगवान् श्रीकृष्ण पर की थी किन्तु भगवान् ने अपने तीक्ष्ण धार वाले सुदर्शन चक्र से उसके अस्त्र-शस्त्रों को काटकर उसकी नौ सौ छानबे भुजाओं को काट गिराया । केवल चार भुजायें ही अवशिष्ट रह गई । इसी समय जृम्भणास्त्र के प्रभाव से विमुक्त होकर शङ्कर ने कृष्ण से बाण का वध न करने की प्रार्थना की । श्रीकृष्ण ने उनकी अभ्यर्थना स्वीकार कर बाण का वध नहीं किया । श्रीकृष्ण का कथन था कि मैंने भी प्रह्लाद को वर दिया था कि मैं तुम्हारे वंश में उत्पन्न होनेवाले किसी भी दैत्य का वध नहीं करूँगा—



अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनिसुतोऽसुरः । प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः ॥

१०/६३/४७

इसके दर्प का दलन करने के लिये ही मैंने इसकी भुजाओं को काटा है । इसकी विशाल वाहिनी भूतल के लिये भारभूत थी इसीलिये उसका भी संहार किया है । इसकी बची हुई चार भुजाएँ अजर, अमर बनी रहेंगी । यह बाणासुर आपके पार्षदों में प्रमुख होगा । अब इसको किसी से भी किसी प्रकार का भय न होगा ।

इस प्रकार श्रीकृष्ण से अभय का दान प्राप्त कर बाणासुर ने उनके चरणों पर अपना शिर रखकर प्रणाम किया फिर वह अपनी बेटी ऊषा के साथ अनिरुद्ध को रथ पर बैठाकर भगवान् के पास ले आया । वर-वधू ऊषा-अनिरुद्ध ने उनके और बलराम के चरणों पर अपना मस्तक रखकर सादर सविनय प्रणाम किया । भगवान् ने ऊषा को सदा सुहागिन बने रहने का सस्नेह आशीष दिया । इसके अनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने महादेव जी की सम्मति से, वस्त्रालङ्कार से विभूषित ऊषा और अनिरुद्ध जी को आगे करके, द्वारका के लिये प्रस्थान किया । वर-वधू के द्वारका आगमन पर वहाँ बड़ा भारी उत्सव मनाया गया ।

परीक्षित, जो पुरुष शङ्कर जी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के युद्ध और उनकी विजय की कथा का प्रातःकाल उठकर स्मरण करता है, उसकी कभी पराजय नहीं होती—

य एवं कृष्णविजयं शङ्करेण च संयुगम् । संस्मरेत् प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात् पराजयः ॥

१०/६३/५३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह तिरसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥६३॥

## चौसठवाँ अध्याय

( भ्रमवश ब्राह्मण का धन ग्रहण करने से राजा नृग को गिरगिट योनि की प्राप्ति और पुनः उनका उद्धार )

श्री शुक्रदेव जी ने कहा—राजन, एक दिन यदुवंशी राजकुमार साम्ब, प्रद्युम्न आदि भ्रमण करने के लिये उपवन में गये । खेलते-खेलते उन्हें प्यास लगी । जल का अन्वेषण करते हुए वे एक कूप पर पहुँचे । झाँक कर देखा । उसमें जल तो था नहीं, किन्तु उसमें पड़ा हुआ अतिविशालकाय एक गिरगिट उन्हें दिखलाई पड़ा । उनके मन में दया का सञ्चार हुआ । वे चर्म और तन्तुओं से बनी रस्सियों से उसे निकालने का प्रयास करने लगे । परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली । उन लोगों ने जाकर इसकी चर्चा भगवान् श्रीकृष्ण से की । भगवान् वहाँ पहुँचे । उन्होंने उसे बाँये हाथ से पकड़कर बाहर निकाल दिया । अद्भुत, अति अद्भुत ! भगवान् के हाथ का स्पर्श पाते ही गिरगिट नारकीय योनि से मुक्त होकर अलङ्कृत देवरूप में प्रकट हो गया । उसका रङ्ग तपाये हुए सुवर्ण की भाँति-चमक रहा था—

स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो विहाय सद्यः कृकलासरूपम् ।

सन्तप्तचामीकरचारुवर्णः

स्वर्ग्यद्भुतालङ्करणाम्बररत्नम् ॥ १०/६४/६

यद्यपि भगवान् को सब कुछ विदित था फिर भी लोगों की जानकारी के लिये अनजान-सा होकर पूछा—महाभाग, अत्यन्त सुन्दर स्वरूपवाले आप कौन हो ? किस कर्म के कारण आप की यह गति हुई है ? हमें जानने की बड़ी उत्सुकता हो रही है । यदि उचित समझो तो हमें भी इसका कारण बतलाओ ।



श्री शुकदेव जी ने कहा राजन्, भगवान् के इस प्रकार पूछने पर उस दिव्य पुरुष ने उत्तर दिया—प्रभो, मैं महाराज इक्ष्वाकु का बेटा हूँ। मेरा नाम है—नृग। दानियों की चर्चा चलने पर हो सकता है, मेरा नाम आपके कानों में पड़ा हो—

नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो। दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥

१०/६४/१०

प्रभो, आप को कुछ भी अविदित नहीं है फिर भी यदि आप ने पूछा है, तो मैं बतला रहा हूँ, सुनें—भूमि में जितने धूलि के कण हैं, आकाश में जितने तारे हैं और वर्षा में भूतल पर जितनी जल की धाराएँ गिरती हैं, उतनी गायों को मैंने सुयोग्य ब्राह्मणों को दान में दिया है। यह एक अतिशयोक्तिपूर्ण कहने की विधा है। इसका अभिप्राय यही है कि मैंने बिना गणना किये बहुत-सी गायों का दान किया है।

गोदान करने की बेला में मैं दो बातों पर विशेष ध्यान रखता था—दान की वस्तु और आदाता। मेरे द्वारा दान की गई गायें दुधारू, तरुण, सीधी, सुन्दर, सुलक्षणा और कपिला थीं। वे मेरे द्वारा न्याय के धन से अर्जित की गई थीं। सब-की-सब सवत्सा थीं। उनकी सींगों में स्वर्ण तथा खुरों में रजत मढ़ा था। उन्हें वस्त्र, हार और आभूषणों से सजा दिया जाता था। जिन ब्राह्मणों को मैंने गायें दी वे युवावस्था से सम्पन्न, सत्कुलोत्पन्न, सदगुणी, शीलसम्पन्न, कष्ट में पड़े हुए कुटुम्बवाले, निरभिमानी, तपस्वी, विद्यादाता और सच्चरित्र थे। उन्हें भी वस्त्राभूषण से अलङ्कृत कर गौओं का दान करता था—

स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः सीदत्कुटुम्हेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ।

तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥ १०/६४/१४

हृदय—दान लेनेवाले ब्राह्मणों और दान में दी जानेवाली गायों का जो लक्षण ऊपर बतलाया गया है, उससे सिद्ध होता है कि इन गुणों से हीन ब्राह्मणों को दान देने में कोई फल नहीं है और न उक्त लक्षण-विहीन गायों के दान से विशेष फल की प्राप्ति होती है। दान के प्रसङ्ग में वस्तु और आदाता का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है ॥

गायों के अतिरिक्त सुवर्ण, भूमि, वस्त्र, आभूषण, कन्या, दासियाँ और शय्या आदि का दान भी मैंने प्रभूत किया है। दैव-योग बड़ा विचित्र होता है। एक दिन किसी अप्रतिग्रही (दान न लेनेवाले), तपस्वी ब्राह्मण की एक गाय बिछुड़कर मेरी गायों में आ मिली। मुझे इस बात का बिल्कुल पता न चला इसलिये मैंने अनजान में उसे किसी दूसरे ब्राह्मण को दान कर दिया। वह ब्राह्मण गाय अपने घर ले जा रहा था। उसी समय अप्रतिग्रही ब्राह्मण अपनी गाय खोजते हुए उसे मार्ग में मिला। उसने गाय ले जाते हुए ब्राह्मण से कहा यह गाय तो मेरी है। प्रतिग्रही ब्राह्मण ने कहा—यह गाय तो मुझे राजा नृग ने दान में दी है। दोनों विवाद करते हुए मेरे पास पहुँचे। इन दोनों ब्राह्मणों की बात सुनकर मेरा चित्त भ्रमित हो उठा। एक कह रहा था कि यह गाय आपने मुझे दान में दी है। दूसरा कह रहा था कि यदि ऐसी बात है, तो आप ने मेरी गाय चुरा ली है—

विप्रौ विवदमानी मामूचतुः स्वार्थसाधकौ। भवान् दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद् भ्रमः ॥

१०/६४/१८

मैंने दोनों ब्राह्मणों के चरणों में प्रणाम कर प्रार्थना की—महाराज, आप लोग इस गाय को छोड़ दें। मैं आप लोगों को इसके बदले में एक लाख दुधारू गायें दूँगा। आप लोग मेरे ऊपर कृपा कर मुझे इस कष्ट से और नरक में गिरने से बचा लें किन्तु वे दोनों ब्राह्मण निलोभी थे अतः मेरी बात न मानकर गाय छोड़कर चले गये। समय आया। मेरी आयु पूरी हुई। यमराज के दूत मुझे यमराज के पास ले गये। यमराज ने मुझसे पूछा—राजन्, आपके पुण्य अनन्त



हैं। उनके फलस्वरूप आप को महान् तेजस्वी लोक प्राप्त होनेवाला है किन्तु आप का एक पाप भी है। उसके फलस्वरूप आप को नारकीय यातना भी भोगनी पड़ेगी। अब आप बतलाइये कि पहले पाप का फल भोगेंगे अथवा पुण्य का। मैंने कहा—पहले पाप का फल भोगूँ। यह सुन कर यमराज ने कहा—तुम गिर जाओ। उनके ऐसा कहते ही मैं गिरगिट बन कर गिर पड़ा। आपकी कृपा से ही मुझे अपने पूर्वजन्म की स्मृति बनी हुई है। प्रभो, बड़े-बड़े योगेश्वर आप का ध्यान करते-करते थक जाते हैं किन्तु आप उनके ध्यान में नहीं आते हैं। परन्तु आप मुझे गिरगिट की योनि से छुड़ाने के लिये मेरी आँखों के सामने आये। हे देव-देव, हे पुरुषोत्तम, हे जगन्नाथ, हे गोविन्द, हे नारायण, हे हृषीकेश, हे पुण्यश्लोक, हे अच्युत, हे अव्यय, मैं जहाँ भी कहीं रहूँ, वहाँ मेरा मन आपके चरणों में ही लगा रहे। मैं आप को बार-बार प्रणाम कर रहा हूँ।

इस प्रकार कहकर राजा नृग ने भगवान् को प्रणाम किया, उनकी परिक्रमा की और फिर श्रेष्ठ विमान पर चढ़ कर भगवान् के धाम में चले गये।

राजा नृग के चले जाने पर धर्मरक्षक, ब्राह्मण-भक्त भगवान् ने क्षत्रियों को शिक्षा देने के लिये वहाँ उपस्थित अपने कुटुम्ब के लोगों से कहा—अत्यन्त तेजस्वी लोग भी ब्राह्मणों का स्वल्प धन नहीं पचा सकते, फिर तो अभिमानी राजाओं की क्या बात है। जो व्यक्ति अपनी या दूसरों की दी हुई ब्राह्मणों की वृत्ति, उनकी जीविका के साधन छीन लेते हैं, वे साठ सहस्र वर्ष तक विष्टा के कीड़े होते हैं—

स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः । षष्टिवर्षसहस्राणि विष्टायां जायते कृमिः ॥१०/६४/३९

मैं हलाहल विषको विष नहीं मानता, क्योंकि उसकी चिकित्सा हो सकती है। वस्तुतः ब्राह्मणों का धन ही परमविष है, क्योंकि उसको पचा लेने के लिये भूतलभर में कोई औषध नहीं है, कोई उपाय नहीं है। आग भी पानी से शान्त की जा सकती है ? किन्तु ब्राह्मण की धनरूपी अरणि से जो आग पैदा होती है, वह सारे कुल को समूल जला डालती है। ब्राह्मण का हरण किया गया धन अपहर्ता के कुल के आगे और पीछे की कई पीढ़ियों का विनाश कर डालता है।

इसलिये यदि ब्राह्मण अपराधी हो तो भी उससे तुम लोगों को द्रोह नहीं करना चाहिये। ब्राह्मण यदि तुम्हें गाली दे, मारे, शाप दे तो भी तुम लोग उसे प्रणाम ही करना। जिस प्रकार मैं बड़ी सावधानी से त्रिकाल ब्राह्मणों को प्रणाम करता हूँ, वैसे ही तुम लोग भी किया करो। जो मेरी इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा, उसे मैं अवश्य दण्ड दूँगा। देखो, राजा नृग ने भूल कर ब्राह्मण का धन ले लिया था तो उनकी इतनी बड़ी दुर्गति हुई। इस प्रकार द्वाकावासियों को उपदेश देकर भगवान् श्रीकृष्ण अपने राजप्रासाद में चले गये।

हृदय—राजा नृग विवाद करनेवाले ब्राह्मणों की बात सुनने की बेला में अपना शिर हिला रहे थे अतः एक ब्राह्मण ने कहा कि—राजन, आप सही निर्णय न देकर गिरगिट की तरह अपना शिर हिला रहे हो अतः गिरगिट होओगे ॥

राजा नृग का यह प्रसङ्ग संसार के लोगों को उपदेश देने के लिये ही यहाँ उपनिबद्ध किया गया है अन्यथा भागवत में इसकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह चौसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥६४॥



## पैंसठवाँ अध्याय

( श्रीबलराम जी का व्रज-गमन और क्रीडार्थ यमुना का आकर्षण )

श्री शुकदेव जी ने कहा—हे राजन्, एक बार बलराम जी को व्रज के नन्दबाबा आदि स्वजनों से मिलने की प्रबल उत्कण्ठा हुई अतः वे रथ पर आरूढ होकर द्वारका से नन्दबाबा के व्रज में आये—

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः । सुहृद्दिक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ १०/६५/१

इधर व्रजवासी गोप और गोपियाँ भी बहुत दिनों से उनके लिये उत्कण्ठित थीं । उन्हें अपने बीच में प्राप्त कर सभी बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें बड़े प्रेम से गले लगाया । बलराम जी ने बड़ी श्रद्धा से माता-पिता नन्द और यशोदा के चरणों में प्रणाम किया । उन लोगों ने भी उन्हें आशीष देकर उनका अभिनन्दन किया । बलराम को गोद में बैठा कर उन लोगों ने प्रेमाश्रुओं की धारा से उन्हें नहला दिया और कहा—बलराम जी, तुम जगदीश्वर हो, अपने लघुबन्धु श्रीकृष्ण के साथ बहुत दिनों तक हमारी रक्षा करते रहो—

चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः । इत्यारोप्याङ्गमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलैः ॥ १०/६५/३

आश्चस्त होकर बैठ जाने पर कुशल-मङ्गल का आदान-प्रदान हुआ । गोप-गोपियों ने जब सुना कि बलराम जी आये हैं, तो सभी लोग दौड़कर उनसे मिलने आये । हँस-हँस कर बातें प्रारम्भ हुई । वे कभी हाथ मिलावें और कभी छाती लगावें । सब का मन तो श्रीकृष्ण में लगा हुआ था । ग्वालों ने पूछा—बलराम जी, अब तो आप लोगों का परिवार बहुत बड़ा हो गया है । क्या कभी हम लोगों को भी याद करते हैं ? यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आप लोग हमारे शत्रु कंस आदि को मारकर अब बहुत बड़े सुदृढ दुर्ग में निवास कर रहे हैं ।

इसके बाद गोपियाँ हँसती हुई बलराम के पास आईं । बलराम की प्रेमभरी बातों से, उनके सस्नेह अवलोकन से निहाल हो गई गोपियाँ ! फिर उन्होंने हँस-हँस कर पूछा—क्यों बलराम जी, श्रीकृष्ण प्रसन्न तो हैं ? हम तो गाँव की गवारिन गोपियाँ थीं । अब तो वे नगर-निवासिनी नारियों के साथ में होंगे ? अब उनकी मौज-मस्ती का क्या पूछना ? अच्छा, बतलाइये—क्या कभी वे अपने माता-पिता की सेवाओं का स्मरण करते हैं ? क्या कभी माता यशोदा से मिलने यहाँ आवेंगे ? क्या कभी हम दासियों की शुश्रूषा उन्हें याद आती है ? आप जानते हैं, स्वजन-सम्बन्धियों को छोड़ना बड़ा कठिन है फिर भी हमने उनके लिये माँ-बाप, भाई बन्धु, पति-पुत्र और बहिन-बेटियों को भी छोड़ दिया । किन्तु क्या कहें, वे क्षणभर में तिनके की भाँति हम लोगों से नाता तोड़कर परदेश जा बसे । हम लोगों को इस प्रकार छोड़ दिया मानों हमसे कभी का सम्बन्ध रहा ही न हो । वे बड़े निर्दय निकले । बड़ा आश्चर्य है । नगर की स्त्रियाँ तो अति चतुर होती हैं फिर वे ऐसे धोखेबाज का विश्वास कैसे करती हैं ? इस पर दूसरी गोपी ने कहा—अरे, सुनो मेरी बात । श्रीकृष्ण आँखें मटका कर, मुस्कराकर ऐसी-ऐसी मीठी-मीठी बातें करने में तो परम निपुण ठहरे अतः पुरवासिनी स्त्रियाँ आसानी से उनके जाल में फँस जाती होंगी—

कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः ।

गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दरस्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरानुराः ॥ १०/६५/१३

तीसरी गोपी ने प्रणय-कोप से युक्त ईर्ष्याभरी यह बात कही—अरी गोपियों, हम लोगों को उनकी बातों से क्या प्रयोजन है ? समय ही काटना है, तो दूसरी बात करो । यदि उस निष्ठुर का समय हमारे बिना बीत जाता है तो हमारा भी समय उसी की तरह, भले ही दुःख क्यों न हो, कट ही जायेगा । ऐसा कह कर श्रीकृष्ण की सारी क्रियाओं का स्मरण कर गोपियाँ भाव-विह्वल हो रोने लगीं ।



बलराम जी भी बात करने में, स्त्रियों को मनाने में बड़े निपुण हैं। उन्होंने स्त्रियों की दशा देखकर कहा— गोपियों, तुम लोग दुःख मत करो। निरन्तर भगवान् का स्मरण करती रहो। अवश्य ही वे कभी-न-कभी तुम लोगों से मिलने आवेंगे। उनकी बात सुनकर गोपियों को बड़ी सान्त्वना मिली। श्रीकृष्ण का सन्देश उन्हें सुनाया। इस पर विश्वास कर वे आश्वस्त हो गईं।

बलराम जी चैत्र और वैशाख—दो महीनें वहाँ रहे। वे रात्रि की बेला में गोपियों में रहकर उनके प्रेमानन्द की अभिवृद्धि करते रहे। वे चन्द्रमा की दिव्य कान्ति से उज्ज्वल, भीनी-भीनी सुगन्ध से सुवासित यमुना के निकुञ्जों में अपने ग्रुप की गोपियों के साथ विहार किया करते थे—

पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना। यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः॥१०/६५/१८

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्रज की गोपियों के दो ग्रुप थे—एक कृष्ण का और दूसरा बलराम का। इसका समर्थन दशम स्कन्ध के चौतीसवें अध्याय से होता है।

बलराम जी को मदिरा पीने की आदत थी अतः उनको प्रसन्न करने के लिये वरुण देवता ने वारुणी को आदेश दिया। उसके अनुसार वह वृक्ष के कोटर से प्रवाहित होने लगी। उसकी गन्ध से सारा वन सुवासित हो उठा। सुगन्ध से आकृष्ट होकर बलराम जी, गोपियों को साथ लेकर वहाँ पहुँचे जहाँ वारुणी बह रही थी। उन्होंने प्रेयसियों के साथ छक कर उसका पान किया। वारुणी के प्रभावी होने पर बलराम जी ने जलक्रीडा के लिये यमुना का आवाहन किया किन्तु वे उन्हें मदिरा से मत्त जानकर आई नहीं। उनकी यह धृष्टता देखकर बलराम जी कुपित हो उठे। उन्होंने अपना हल उठाया और यमुना जी को, हल के अग्र भाग से, अपनी ओर खींचना प्रारम्भ किया। यमुना घबरा गई। उन्होंने अपनी त्रुटि के लिये बलराम जी से क्षमा-याचना की। बलराम जी ने क्षमा कर उन्हें छोड़ दिया।

फिर तो बलराम जी गोपियों के साथ यमुना-जल में उसी प्रकार विहार करने लगे जैसे मत्त गजराज हथिनियों के साथ जल-क्रीडा करता है। चैत्र और वैशाख की दो मास की रात्रियों में इसी प्रकार निरन्तर जल-विहार चलता रहा। बलराम जी का चित्त ब्रजवासिनी गोपियों के माधुर्य से इस प्रकार मुग्ध हो गया कि उन्हें समय का कुछ ध्यान ही न रहा, बहुत-सी रात्रियाँ एक रात के समान व्यतीत हो गईं।

राजन्, हल की नोक में फँसा कर खींची जाने के कारण वक्र होकर बहती हुई यमुना बलराम के प्रभूत बल-प्रभाव को सूचित करती हुई आज भी उसी मार्ग से प्रवाहित होती हैं। इस प्रकार दो मास तक ब्रज में निवास कर बलराम जी द्वारका लौट गये ॥६५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह पैंसठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥६५॥



## छाछठवाँ अध्याय

( पौण्ड्रक-वध, कृत्या से सुदक्षिण का नाश और सुदर्शन चक्र से काशीपुरी का दहन )

श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन्, बलराम जी के ब्रज से चले जाने के बाद एक दिन करुषदेश (कान्ति, मीरजापुर) के अधिपति अज्ञानी राजा पौण्ड्रक ने श्रीकृष्ण के पास द्वारिका में यह कहने के लिये एक दूत भेजा कि असली वासुदेव मैं हूँ, आप नहीं—



नन्दव्रजं गते रामे करुणाधिपतिर्नृप । वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥१०/६६/१  
 मुखौ ने उसे यह कहकर बहका दिया था कि वस्तुतः संसार की रक्षा के लिये आप ही वासुदेव के रूप में अवतार लिये हैं । मुखौ के बहकावे में आकर वह अपने को 'अच्युत' समझने लगा था । उसने द्वारका में एक दूत भेजकर कृष्ण के लिये यह सन्देश भेजा कि—एकमात्र मैं ही वासुदेव हूँ । दूसरा कोई वासुदेव नहीं है । प्राणियों पर कृपा करने के लिये मैंने ही अवतार ग्रहण किया है अतः तुम बनावटी वासुदेव हो इसलिये अब यह नाम छोड़ दो—

वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः । भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ॥

१०/६६/५

यदुवंशी कृष्ण तुमने मुखतावश मेरे शंख, चक्र आदि चिह्न धारण कर रक्खा है । उन्हें छोड़ दो और मेरी शरण में आ जाओ । यदि तुम्हें मेरी बात मान्य न हो तो मुझसे युद्ध करो ।

श्रीशुकदेव जी ने कहा कि—दूत ने द्वारिका पहुँच कर सभा में बैठें श्रीकृष्ण को पौण्ड्रक का सन्देश सुना दिया । अल्पज्ञ पौण्ड्रक की बात सुनकर सभा में बैठे हुए उग्रसेन आदि जोर से हँसने लगे । हास-परिहास समाप्त होने के बाद भगवान् ने कहा—दूत, जाकर तुम अपने राजा से कह दो कि—मूढ, मैं अपने चक्र आदि चिह्न तो नहीं छोड़ूँगा, किन्तु इन्हें तुझ पर छोड़ूँगा, प्रयुक्त करूँगा । केवल तुम्हारे ही ऊपर नहीं, तुम्हारे सारे पक्षधरों पर भी इन्हें छोड़ूँगा और तू शीघ्र ही संग्राम-भूमि में गिरकर कुत्तों और गीधों का भोजन बनेगा—“भविता शरणं शुनाम्” ॥१॥

दूत द्वारिका से लौटा । अपने स्वामी पौण्ड्रक के पास पहुँचा और उन्हें श्री कृष्ण का आक्षेप पूर्ण सारा सन्देश कह सुनाया । इधर भगवान् श्रीकृष्ण ने भी रथ पर आरूढ़ होकर काशी के समीप स्थित करुष देश पर चढ़ाई कर दी । पौण्ड्रक भी श्रीकृष्ण का नकली रूप धारण करके मैदान में आ डटा । महारथी पौण्ड्रक के साथ दो अक्षौहिणी सेना थी । काशी का राजा उसका मित्र था अतः वह भी अपनी तीन अक्षौहिणी सेना लिये हुए पौण्ड्रक की सहायता के लिये पीछे से आ धमका ।

पौण्ड्रक ने श्रीकृष्ण का जो नकली रूप बनाया था, वह सब लकड़ी का था । उसने लकड़ी के दो हाथ बनवा लिये थे, लकड़ी का ही गरुड बनवा लिया था और शङ्ख, चक्र, गदा तथा कमल भी लकड़ी के ही बनवाये थे । उसने नकली कौस्तुभमणि, वनमाला और पीले रेशमी वस्त्र पहन रक्खा था । उसके रथ की ध्वजा पर भी गरुड का चिह्न बना हुआ था । भगवान् श्रीकृष्ण अपने समान पौण्ड्रक का नकली वेश देख कर बड़े जोर से हँसे । उसी समय शत्रुओं ने श्रीकृष्ण पर नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा प्रारम्भ कर दी । भगवान् ने शत्रुओं के उद्योग को देखकर अपना सुदर्शन चक्र उठाया और चला दिया उसे शत्रु-सेना पर । सुदर्शन ने क्षण भर में कहर मचा दिया । सारा-का-सारा शत्रु-सैन्य भू-लुण्ठित हो गया । पृथिवी लाशों से पट गई । इसके बाद भगवान् ने पौण्ड्रक से कहा—पौण्ड्रक, सावधान । अब मैं तुम्हारे कथन के अनुसार अपना अस्त्र-शस्त्र तुम्हारे ऊपर छोड़ रहा हूँ । ऐसा कहकर उन्होंने बाणों के प्रहार से उठे रथ-विहीन बनाकर चक्र से उसका शिर काट डाला । इसके साथ ही उन्होंने काशिराज का भी शिर बाणों से काट दिया । वह काशिराज के द्वार पर जा गिरा । यह देखकर वहाँ की जनता हा-हाकार कर उठी । रानियाँ छाती पीट-पीट कर विलाप करने लगीं ।

काशिराज का बेटा था—सुदक्षिण । उसने अपने पिता का दाहसंस्कार आदि करके संझलप किया कि मैं अपने पिता के वध का बदला अवश्य चुकाऊँगा । उसने तपस्या कर शङ्कर को सन्तुष्ट किया । सन्तुष्ट शङ्कर ने उसे सलाह दी दक्षिणाग्रि में मारण-प्रयोग करने की । सुदक्षिण ने श्रीकृष्ण को मारने के उद्देश्य से दक्षिणाग्रि में हवन करते हुए मारण-क्रिया का अभिचार प्रारम्भ किया । अग्निकुण्ड से लपलपाती हुई एक कृत्या पैदा हुई । वह आँखों से अङ्गारे



उगलती हुई हाथ में त्रिशूल लेकर द्वारका की ओर दौड़ी। द्वारकावासी उसे देखकर भयभीत हो उठे। वे रक्षा के लिये श्रीकृष्ण की शरण में गये। भगवान् ने सबको आश्वस्त किया और सुदर्शन चक्र को आदेश दिया काशी से चली हुई कृत्या के विनाश के लिये। सुदर्शन के तेज से क्षत-विक्षत कृत्या वहाँ से भागी। वापस काशी आकर उसने ऋत्विजों के सहित सुदक्षिण को जलाकर मार डाला। कृत्या का पीछा करते हुए सुदर्शन चक्र पहुँचा वाराणसी। वहाँ उसने कृत्या को भस्म कर अभिचार से दूषित काशी को जलाकर शुद्ध कर दिया। इसके बाद वह द्वारका भगवान् श्रीकृष्ण के पास लौट गया—

दग्ध्वा वाराणसीं सर्वा विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम् । भूयः पार्श्वमुदातिष्ठत् कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः ॥

१०/६६/४२

जो मानव भगवान् श्रीकृष्ण के इस चरित्र को एकाग्रता के साथ सुनता अथवा सुनाता है, वह सारे पापों से विनिर्मुक्त हो जाता है ॥६६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह छाछठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥६६॥

## सङ्गसठवाँ अध्याय

( बलराम जी के द्वारा द्विविद वानर का वध )

राजा परीक्षित ने कहा—बलराम जी के द्वारा यमुनाकर्षण का वृत्तान्त बड़ा अद्भुत रहा। अब उनके दूसरे कृत्यों को भी सुनाने की कृपा करें। इस पर श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, द्विविद नाम का एक महाबलशाली वानर था। उसमें दश सहस्र हाथियों का बल था। वह भौमासुर का घनिष्ठ मित्र था। रामावतार में वह सुग्रीव का मन्त्री एवं मैन्द का भाई था—

नरकस्य सखा कश्चिद् द्विविदो नाम वानरः । सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥

१०/६७/२१

वह रात्रि की बेला में धीरे-से लङ्का में जाकर सोई हुई राक्षसियों की योनि निरखा करता था। पता चलने पर श्रीराम ने उसे अपनी सेना से निकाल दिया। क्षमा-प्रार्थना करने पर श्रीराम ने कहा—द्वार पर मैं बलराम जी के द्वारा मारे जाने पर तू स्वर्ग चला जायेगा। वही द्विविद वानर अपने मित्र नरकासुर की मृत्यु का बदला चुकाने के लिये द्वारका के आस-पास उत्पात मचाने लगा। वह गावों में आग लगा देता था। सागर का जल उलीचकर गावों को जलमग्न कर देता था। उन पर बड़ी-बड़ी शिलाएँ वर्षा कर उन्हें चूर-चूर कर देता था। कभी-कभी वह ऋषियों-मुनियों के आश्रमों में उपद्रव करता, उनके अग्रिकुण्डों को मल-मूत्र से दूषित कर देता था।

एक दिन बलराम जी रैवतक पर्वत पर स्त्रियों के मध्य में बैठकर सङ्गीत का आनन्द ले रहे थे। भरा वारुणी-घट उनके बगल में रक्खा हुआ था। सङ्गीत की ध्वनि सुनकर द्विविद जा पहुँचा रैवतक पर्वत पर। वहाँ उसने स्त्रियों को भयभीत करना प्रारम्भ किया। बलराम जी ने एक पत्थर उठाकर उसकी ओर फेंका। उसने पत्थर का वार बचाकर मदिरा का घट उठा लिया। उसे पटक कर फोड़ डाला। स्त्रियों का वस्त्र फाड़ डाला। इस पर बलराम जी क्रोध हो उठे—

निर्भिद्य कलशं दुष्टो वासांस्यास्फालयद् बलम् । कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः ॥

१०/६७/१५-१६



उन्होंने उसे मारने के लिये अपना हल-मूशल उठाया। यह देखकर द्विविद ने वृक्षों को उखाड़-उखाड़ कर बलराम पर फेंकना प्रारम्भ किया। वृक्षों के समाप्त हो जाने पर उसने बलराम जी पर शिलाओं की वर्षा शुरू की। बलशाली बलराम जी ने अपने मूशल से मारकर सबकुछ चूर्ण कर दिया। फिर तो द्विविद ने दोनों हाथ की मुट्ठी बाँध कर बलराम जी की छाती पर प्रहार किया। इस पर बलराम जी ने हल-मूशल रख दिया। अपने महान् बली हाथों से पकड़ कर उसकी पसलियों को दबाकर तोड़ दिया। फलतः मुख से रक्त की नदी बहाता हुआ वह वानर इस संसार से बिदा हो गया। यह देखकर देवतागण प्रसन्न हो उनके ऊपर फूलों की वर्षा करने लगे। चतुर्दिक् जय-जयकार होने लगा। सब से प्रशंसित और स्तुत होकर बलराम जी अपनी पुरी में लौट आये ॥६७॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह सङ्गठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥६७॥

## अङ्गठवाँ अध्याय

( कौरवों पर बलराम जी का कोप और साम्ब का विवाह )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—दुर्योधन की एक बेटी थी। उसका नाम था—लक्ष्मणा। दुर्योधन ने उसके स्वयंवर का आयोजन किया। जाम्बवती-पुत्र महाबली साम्ब भी उसमें पहुँचे। उन्होंने बलपूर्वक लक्ष्मणा का हरण कर लिया। इस पर कौरव कुपित हो उठे। उन्होंने कहा—यह बालक बड़ा दुर्वीनीत है। इसने हम लोगों को तिरस्कृत करके कन्या का हरण कर लिया है। वह कन्या उसे चाहती भी नहीं है—

दुर्योधनसुतां राजन् लक्ष्मणां समितिञ्जयः । स्वयंवरस्थामहरत् साम्बो जाम्बवतीसुतः ॥

कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्वीनीतोऽयमर्भकः । कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद् बलात् ॥

१०/६८/१-२

अतः इस दुर्वीनीत बालक को पकड़कर बाँध लो। यादव लोग हमारा क्या बिगाड़ लेंगे। वे हमारी ही कृपा से हमारी ही दी हुई पृथिवी का उपयोग कर रहे हैं। यदि इसे बाँधा हुआ जानकर वे हमसे लड़ने के लिये आयेंगे तो हम उनका अभिमान चूर-चूर कर देंगे। ऐसा विचार करके कर्ण, शाल्व, भूरिश्रवा, यज्ञकेतु और दुर्योधन आदि वीरों ने कुरुवंश के बड़े-बूढ़ों की अनुमति लेकर साम्ब को पकड़ने की तैयारी की।

साम्ब ने देखा कौरव मुझे पकड़ने के लिये आक्रमण कर रहे हैं। उन्होंने अपना धनुष उठाया और बाणों की वर्षा से उन्हें सन्नस्त कर दिया। साम्ब की निर्भय वीरता देखकर वे लोग उन की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। जब कौरव साम्ब को जीत न पाये तो उन लोगों ने अधर्म युद्ध का सहारा लिया। छः वीरों ने एक साथ मिलकर साम्ब को रथहीन कर दिया। किसी ने उनके सारथी को मार डाला तो किसी ने उनका धनुष ही काट दिया। इस प्रकार कौरवों ने अधर्म युद्ध के द्वारा जीतकर साम्ब को बाँध लिया फिर तो वे साम्ब और लक्ष्मणा के साथ हस्तिनापुर लौट आये।

नारद जी द्वारिका पहुँचे। उन्होंने बतलाया कि साम्ब को कौरवों ने बाँध रक्खा है। यह सुनकर यदुवंशी कुपित हो उठे। वे महाराज उग्रसेन की आज्ञा से कौरवों पर चढ़ाई करने की तैयारी करने लगे। बलराम जी ने इस बात को सुना। दुर्योधन उनका प्रिय शिष्य था अतः वे यादवों और कौरवों की लड़ाई को उचित न समझे। वे यदुवंशियों को शान्त कर स्वयं रथ पर सवार होकर हस्तिनापुर पहुँचे। उनके साथ कुछ बड़े-बूढ़े ब्राह्मण, कुल-वृद्ध और उद्भव



जी भी थे। हस्तिनापुर पहुँच कर उन्होंने नगर के बाहर एक उपवन में डेरा डाला। तदनन्तर बुद्धिमान् बलराम जी ने कौरवों का अभिप्राय जानने के लिये नीति-निपुण उद्धव जी को धृतराष्ट्र के पास प्रेषित किया। उन्होंने कौरवों को सभा में जाकर धृतराष्ट्र, भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य, बाह्लीक और दुर्योधन की विधिपूर्वक अभ्यर्थना-वन्दना की और निवेदन किया कि 'बलराम जी पधारे हैं'।

बलराम जी के आगमन की बात सुनकर कौरव प्रसन्न हो उठे। उन लोगों ने उद्धव जी का आदर-सत्कार किया फिर भेंट-पूजा लेकर बलराम जी की अगवानी की। कुशल-मङ्गल हुआ। उसके बाद बलराम जी ने कौरवों से बड़ी शान से बात की। उनकी बात में स्वल्प की दीनता का भाव न था। उन्होंने कहा—राजराजेश्वर श्रीमान् उग्रसेन ने आप लोगों के लिये जो आज्ञा दी है, उसे आप लोग सावधान होकर सुनें और अविलम्ब उसका पालन करें—'कुरुष्वं माविलम्बितम्' ॥२१॥ आपलोगों में-से बहुतों ने एक साथ मिलकर अधर्मपूर्वक युद्ध करके हमारे बालक साम्ब को बाँध लिया है। इस बात को हम लोगों ने इसलिये सहन किया है कि हमलोगों में मैत्री बनी रहे, बिगाड़ न हो अतः साम्ब को तत्काल छोड़ दो, अन्यथा तुम लोगों का कल्याण नहीं है। यह सुनते ही कौरव कुपित होकर बोले—अहो, यह तो बड़े आश्चर्य की बात है! सचमुच काल की चाल बड़ी विचित्र होती है, उसे कोई टाल नहीं सकता। तभी तो आज पैर का जूता मुकुट-मण्डित शिर पर चढ़ना चाहता है—

अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया। आरुरुक्षत्युपानद् वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥

१०/६८/२४

ये यदुवंशी हमारी बराबरी के नहीं हैं फिर भी हम लोगों ने इनके साथ विवाह-सम्बन्ध कर लिया। ये हमारे साथ सोने-बैठने और एक पंक्ति में बैठकर खाने लगे। हम लोगों ने ही इन्हें राजसिंहासन देकर राजा बनाया और अपने बराबर बना लिया। ये राज-चिह्नों का उपयोग उपभोग इसलिये कर रहे हैं कि हमने जानबूझ कर इसकी उपेक्षा कर रखी है। अब इनकी निर्लज्जता तो देखो कि आज ये हम पर ही आज्ञा चलाने लगे हैं। हमारी इच्छा के बिना देवराज इन्द्र भी किसी वस्तु का उपभोग नहीं कर सकते फिर तो इन यादवों की क्या बात है, ये किस खेत की मूली हैं?

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, कुरुवंशी अपनी श्रेष्ठ कुलीनता, बन्धु-बान्धवों के बल और धन-सम्पत्ति के घमण्ड में चूर हो रहे थे। उन्होंने साधारण शिष्टाचार की भी परवाह नहीं की और वे असभ्यतापूर्वक भगवान् बलराम जी को इस प्रकार दुर्वचन कहकर अपने नगर में लौट आये।

बलराम जी ने कौरवों की दुष्टता-अशिष्टता देखी और उनके दुर्वचन भी सुने। अब उनका चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। वे जोर-जोर से हँसकर कहने लगे—वस्तुतः नाना प्रकार के मदों से उन्मत्त ये दुष्ट शान्ति से मानने वाले नहीं! ये जड़ हैं। विनय का इनके सामने कोई मूल्य नहीं है। भय के बिना प्रेम नहीं होता—'भय बिनु होइ न प्रीति'। पशु बिना लाठी के प्रहार के नहीं माननेवाले हैं—

नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः। तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो यथा ॥

१०/६८/३१

शान्ति की इच्छा से मैंने कुपित यदुवंशियों को शान्त किया। शान्ति की इच्छा से मैं इनके पास आया किन्तु ये मूर्ख और घमण्डी हैं। इन लोगों ने मेरा तिरस्कार करते हुए दुर्वचनों का प्रयोग किया। आश्चर्य है! कृपापूर्वक इनकी दी हुई पृथिवी का हम लोग उपभोग करते हैं। हम पैर के जूती हैं और ये मुकुट-मण्डित शिर। कौन समर्थ व्यक्ति इन अहङ्कारियों के ऐसे रूक्ष वचन सहन कर सकेगा? ठीक है, आज मैं इन्हें ठिकाने लगाता हूँ। अब मैं



भूतल को कौरव-विहीन कर डालूँगा। ऐसा कहकर बलराम जी अपना हल लेकर उठ खड़े हुए। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि वे अपने कोपानल से त्रिलोकी को भस्म कर डालेंगे। उन्होंने हल की नोक से बार-बार चोट करके हस्तिनापुर को उखाड़ लिया और उसे डुबोने के लिये बड़े क्रोध से गङ्गाजी की ओर खींचने लगे—

लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्वीदार्य गङ्गाह्वयम्। विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥१०/६८/४१

उनके ऐसा करने पर सारा हस्तिनापुर नैया की तरह डगमगाने लगा। यह देखकर कौरव घबरा उठे। उनके भय का ठिकाना न रहा फिर वे लक्ष्मणा के साथ साम्ब को आगे कर अपने प्राणों की रक्षा के लिये, कुटुम्ब के साथ, हाथ जोड़कर, त्राहि-त्राहि कहते हुए भगवान् बलराम जी की शरण में गये। उनके चरणों पर जा गिरे। उनकी इस दीन दशा को देखकर प्रसन्न होकर बलराम जी ने उन्हें अभय-दान देकर छोड़ दिया।

तदनन्तर दुर्योधन ने लक्ष्मणा का विवाह साम्ब से कर दिया, बहुत-सा दान-दहेज देकर सप्रेम उसे बिदा किया। भगवान् बलराम वर-वधू को लेकर द्वारका लौटे। वहाँ राज-सभा में उन्होंने कौरवों के व्यवहार की सारी बातें बतलाई।

परीक्षित, हस्तिनापुर आज भी बलराम का पराक्रम सूचित करता हुआ, लाक्षागिरि ग्राम के पास, गङ्गा की ओर झुका हुआ-सा प्रतीत होता है।

अद्यापि च पुरं ह्येतत् सूचयद् रामविक्रमम्। समुन्नतं दक्षिणातो गङ्गायामनुदृश्यते ॥१०/६८/५४  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह अड़सठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥६८॥



## उनहत्तरवाँ अध्याय

### ( देवर्षि नारद जी का भगवान् की गृहचर्या देखना )

प्रसङ्ग—नारद जी एक बार पृथ्वी पर भ्रमण कर रहे थे। एक स्थान पर उन्होंने देखा—एक साहब की दो पत्नियाँ थीं, दोनों सुन्दर और तरुण थीं। साहब को पकड़कर अपने-अपने कक्ष में ले जाने के लिये उन्हें खींच रही थीं। दो बिल्लियों के बीच में फंसे हुए चूहे की सी उनकी दयनीय दशा थी। नारद ने इस दृश्य को देखा तो सोचा—जब दो पत्नियों के बीच में इन साहब की यह दशा है, तो सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियों को रखनेवाले श्रीकृष्ण की क्या दशा होगी ? चलकर देखना चाहिये। यह सोचकर नारद जी पहुँचे श्रीकृष्ण के राजमहल द्वारिका में।

श्रीशुकदेव महाराज जी ने कहा—नारद ने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण ने नरकासुर (भौमासुर) को मारकर, उसके द्वारा बन्दिनी बनाई गई सोलह सहस्र एक सौ राजकुमारियों से एक ही क्षण में, एक साथ, विवाह किया है अतः उनकी गृहचर्या को देखना चाहिये कि वे कैसे इसका निर्वाह कर रहे हैं। ऐसा सोचकर नारद जी पहुँचे द्वारिका। वे प्रायः द्वारिका आते-जाते ही रहते थे, किन्तु इस बार उनको यह नगरी अति सुन्दर लगी। वहाँ उनको विश्वकर्मा का सारा कौशल दिखलाई पड़ा। खूब साफ-स्वच्छ चौड़ी-चौड़ी सड़कें थीं। पैदल चलने वालों के लिये अलग व्यवस्था थी और रथवालों के लिये अलग। बीच-बीच में सुन्दर चत्वर बने हुए थे, उद्यान थे, उपवन थे। सर्वत्र जल से सींचने की व्यवस्थित व्यवस्था थी।

द्वारका में भगवान् का भव्य भवन था। उनके अन्तःपुर में सैकड़ों महल जगमगा रहे थे। नारद जी सबसे पहले रुक्मिणी जी के महल में गये। उसकी शोभा अवर्णनीय थी। शताधिक दास-दासियाँ थीं फिर भी रुक्मिणी जी अपने



हाथ में व्यजन लेकर भगवान् को डुला रही थीं। भगवान् ने नारद को देखा तो वे झट से पलङ्ग से उठ खड़े हुए और आगे बढ़कर सोत्साह उनका स्वागत किया, पलङ्ग पर बैठाया, उनका चरण धोकर अपने शिर पर छिड़का। जिनके चरण का धोवन गङ्गा जी सकल तीर्थों को तारने वाली हैं, वे ही भगवान् ब्राह्मण को अपना देवता मानते हैं— इस बात को प्रदर्शित करने के लिये आज वे ब्राह्मण के चरण-धोवन को अपने ऊपर छिड़क रहे थे—

तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना विभ्रज्जगदगुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि ।

ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम् ॥१०/६९/१५

चरण धो लेने के बाद बड़ी ही मधुर वाणी में भगवान् ने कहा—प्रभो, आप तो त्याग, तपस्या और ज्ञान आदि ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं फिर भी मैं आपकी क्या सेवा करूँ? आज्ञा कीजिये। नारद जी ने कहा—स्वामिन्, आज मैं आपके चरणों का दर्शन कर निहाल हो गया। आप मुझे यही वरदान दीजिये कि संसार में भ्रमण करते हुए मैं निरन्तर आपके चरणों का चिन्तन करता रहूँ।

फिर नारद जी वहाँ से उठे और पहुँचे सत्यभामा के भवन में। वहाँ भगवान् पत्नी और उद्धव के साथ हँस-हँस कर चौसर खेल रहे थे। भगवान् ने वहाँ जब नारद जी को देखा तो वे उठकर खड़े हो गये। उनका स्वागत सम्मान किया और अनजान की तरह पूछा—आप कब यहाँ आये? आप सब तरह से पूर्ण हैं और हम हैं अपूर्ण, फिर भी बतलायें मैं आप की कौन-सी सेवा करूँ? सेवा का अवसर देकर हमारे जन्म को सफल बनाइये।

पृष्ठश्चाविदुषेवासौ कदाऽऽयातो भवानिति । क्रियते किन्तु पूर्णानामपूर्वरस्मदादिभिः ॥

१०/६९/२१

नारद जी यह सब देख-सुनकर चकित और विस्मित हो रहे थे। वे वहाँ से चुपचाप उठकर एक-एक करके सब रानियों के महलों में गये। उन सब में भगवान् कहीं बालक का दुलार कर रहे थे, कहीं स्नान कर रहे थे, कहीं हवन कर रहे थे, कहीं पञ्च महायज्ञ कर रहे थे, कहीं ब्राह्मण को भोजन करा रहे थे, कहीं स्वयं प्रसाद ग्रहण कर रहे थे, कहीं सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे, कहीं जप कर रहे थे, और कहीं हाथ में ढाल-तलवार लेकर पैतरे बदल रहे थे, कहीं अर्थ-काम का सेवन कर रहे थे, कहीं धर्म का सम्पादन कर रहे थे, कहीं ध्यान कर रहे थे, कहीं बड़ों का आदर-सम्मान कर रहे थे, कहीं युद्ध-कौशल की चर्चा कर रहे थे, कहीं सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर रहे थे, कहीं कन्या का विवाह कर रहे थे, कहीं उसकी विदाई कर रहे थे और कहीं बाहर निकलने के लिये तैयारी कर रहे थे।

जब नारद जी ने इस प्रकार भगवान् की लीलाओं को देखा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे विस्मित होकर बोले—प्रभो, आज मैंने आप की अनिर्वचनीय माया का प्रभाव देखा है। आपके यथार्थ रूप का ज्ञान मेरी बुद्धि से परे है, बुद्धि-सामर्थ्य के बाहर है। मेरे लिये तो सब से अच्छा यही है कि मैं आप की लीला का गान करता हुआ विचरण करूँ। अब कृपा कर मुझे जाने की आज्ञा प्रदान करें। भगवान् ने कहा—

ब्रह्मन्, मैं धर्म का उपदेश करता हूँ, स्वयं उसका आचरण भी करता हूँ और अवसर उपस्थित होने पर उसका अनुमोदन भी करता हूँ। संसार को ग्राह्य धर्म की शिक्षा देने के लिये ही मैंने इस गृहस्थी को अङ्गीकार किया है। आप मुझे पुत्र के समान प्रिय हैं अतः किसी बात पर क्षोभ न करें। अपने मन में मोह अथवा भ्रम का पालन न करें—

ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता । तच्छिक्षयैल्लोकमिममास्थितः पुत्र माखिदः ॥

१०/६९/४०

यह कहकर भगवान् ने नारद पर अनुग्रह किया। जिसके फलरूप मुनिवर ने सारे भवनों में एक ही भगवान्



का दर्शन किया—“तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह” ॥४१॥ इसके बाद भगवान् ने आदर-सम्मान कर नारद को विदा किया। नारद जी भी भगवान् का गुणगान करते हुए वहाँ से चले गये।

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण ने जो-जो लीलाएँ की हैं, उन्हें कोई दूसरा नहीं कर सकता। वे विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण हैं। जो उनकी लीलाओं का गान, श्रवण और अनुमोदन करता है, उसे मोक्ष के कारणभूत भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में अविचल भक्ति प्राप्त हो जाती है।

हृदय—नारद जी भगवान् श्रीकृष्ण के राज-भवन में सबेरे प्रवेश किये थे। एक महल से दूसरे महल में घूमते हुए उन्हें पूरा दिन बीत गया। उन्हें आज न कुछ खाने को मिला और न कुछ पीने को ही। वे हैरान-परेशान थे भगवान् की माया को देखकर ॥

इस अध्याय में यह शिक्षा दी गई है कि संन्यासी को गृहस्थ की गृहस्थी में झाँक कर नहीं देखना चाहिये।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥६९॥

●

## सत्तरवाँ अध्याय

( भगवान् श्रीकृष्ण की दैनिक-चर्या, उनके पास जरासन्ध द्वारा कैदी राजाओं के दूत तथा युधिष्ठिर के सन्देश को लेकर नारद का आना )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, लौकिक क्रीडा में निरत भगवान् श्रीकृष्ण पत्नियों के साथ रात्रि-शयन करते थे। पत्नियाँ श्रीकृष्ण की बाँहों में सिमट कर, छाती से सटकर, गाल पर गाल रखकर शयन करती थीं। उनका सौभाग्य और आनन्द वर्णनातीत था। सबेरा होने को होता, ब्राह्म-मुहूर्त आने को होता तो मुर्गे बोलने लगते, चिड़ियाँ चहकने लगतीं, शय्या त्यागकर श्रीकृष्ण के उठने का समय आता, तो उनके विछोह की आशङ्का से वे व्याकुल हो जातीं, उन मुर्गों को कोसने लगतीं। रुक्मिणी जी अपने प्रियतम के भुजपाश से बँधी रहने पर भी आलिङ्गन छूट जाने की आशङ्का से अत्यन्त सुहावने और पवित्र ब्राह्ममुहूर्त को भी असह्य समझने लगती थीं—

अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्। गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माथिव्यो विरहातुराः ॥

१०/७०/१

वयांस्यरुरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः। मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम् ॥

१०/७०/२-३

पावन ब्रह्म मुहूर्त की बेला में भगवान् श्रीकृष्ण शय्या त्यागकर उठते, हाँथ-मुँह धोते और फिर प्रकृति से परे अपने निर्मल स्वरूप के ध्यान में प्रवृत्त हो जाया करते थे। तदनन्तर भगवान् स्वच्छ जल से स्नान कर धौत-वस्त्र धारण कर गायत्री का जप करते, अग्नि-होत्र करते, उदित होते हुए सूर्य को अर्घ्य देकर उपस्थापन करते तथा देव, ऋषि और पितरों का तर्पण करते थे। फिर ब्राह्मणों का पूजन कर, उन्हें वस्त्राभूषण से अलङ्कृत कर बहुत-सी अलङ्कृत गायों का दान करते थे गोदान करने में उनकी बड़ी रुचि थी। उससे ब्राह्मण लोग प्रसन्न होते हैं। गाय, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध सब की भक्ति करते। मङ्गल वस्तु देखते। अपना शृङ्गार करते। इसके बाद घृत-पात्र में अपना मुख देखकर उसका दान करते। शीशे में भी अपने को देखते। सबकी इच्छा पूरी करते। पहले दूसरों को खिलाकर फिर स्वयं खाते।



भगवान् पुष्पमाला, ताम्बूल, अङ्गराग आदि पहले ब्राह्मणों को देते, उसके बाद मित्रों को देते, उसके बाद प्रजा को देते, उसके बाद पत्नियों को देते, उसके बाद फिर अपने लिये रखते। भोजन में भी वे यही क्रम रखते। सबको सप्रेम सस्नेह खिलाने के बाद तब स्वयं खाया करते थे—

संविभज्याग्रतो विग्रान् स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः । सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम् ॥

१०/७०/१३

भोजन-क्रिया सम्पन्न कर ताम्बूल चबाते हुए भगवान् सानन्द बैठ जाते। उसी समय दारुक नामक सारथी रथ लेकर उनके सामने खड़ा हो जाता था। भगवान् हँसते, मुस्कराते तथा पत्नियों का सम्मान करते हुए उसका हाथ पकड़कर उद्धव और सात्यकि के साथ रथ पर जाकर आरूढ होकर यादवों से भरी हुई सुधर्मा-सभा में पधारते। सुधर्मा-सभा ऐसी सभा है जिसमें स्थित व्यक्तियों को भूख-प्यास, शोक-मोह, और जरा-मरण—ये छः ऊर्मियाँ नहीं सतातीं।

सुधर्माख्यां सभां सवैर्वृष्णिभिः परिवारितः । प्राविशद् यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षडूर्ध्वयः ॥

१०/७०/१७

सुधर्मा-सभा में सर्वदा गम्भीर चर्चाएँ भर ही नहीं हुआ करती थीं। उसमें मनोरञ्जन की पूरी-पूरी व्यवस्था थी। हास-परिहास भी चलता था, नटी और नटों का नृत्य तथा गान भी चलता था और ब्राह्मणों के द्वारा व्याख्यात इतिहास-पुराण की कथाएँ भी हुआ करती थीं।

एक दिन भगवान् सुधर्मा-सभा में विराजमान थे। उसी समय एक अपरिचित दूत आया। द्वारपालों ने उसे भगवान् के सामने उपस्थित किया। दूत ने भगवान् को प्रणाम कर कहा—प्रभो, महाबली जरासन्ध ने दिग्विजय की बेल में अपनी अधीनता स्वीकार न करनेवाले जिन राजाओं को गिरिज के दुर्ग में (चुनार के किले में) लाकर बन्दी बना दिया है, उनके द्वारा प्रेषित मैं दूत हूँ। उन लोगों ने प्रणाम पूर्वक आपसे अपनी मुक्ति की प्रार्थना की है। दूत बन्दी-राजाओं के दुःख का अभी निवेदन ही कर रहा था कि देवर्षि नारद भी सुधर्मा सभा में आ पधारे। भगवान् ने सभासदों के साथ उनका अभिनन्दन किया और सादर बैठा लेने के बाद कहा—मुनिवर, आप तीनों लोकों में भ्रमण करते रहते हैं अतः त्रिलोकी का कुशल-मङ्गल बतलाने की कृपा करें। त्रिलोकी का ऐसा कोई समाचार नहीं है, जो आप को ज्ञात न हो। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आप के द्वारा समय-समय पर समाचार मिलता रहता है। इस समय युधिष्ठिर आदि पाण्डव क्या कर रहे हैं और क्या करना चाहते हैं, यह भी आप बतलावें—

न हि तेऽविदितं किञ्चित्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु । अत पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥

१०/७०/३६

भगवान् की बात को सुनकर नारदजी ने कहा—प्रभो, मैं सारी दुनियाँ में आप की माया को देखता हुआ भ्रमण करता रहता हूँ। उसे ठीक-ठीक समझने की शक्ति सब में नहीं है। आप अपनी शक्तियों के द्वारा इस संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार करते रहते हैं। त्रिकाल की ऐसी कोई बात नहीं, जो आप को ज्ञात न हो फिर भी आप मुझसे पूछ रहे हैं, तो सुने—युधिष्ठिर राधाधिराज होने की इच्छा से इस समय राजसूय यज्ञ के द्वारा आप की आराधना करना चाहते हैं। उसमें सब राजा और ऋषि-मुनि एकत्रित होंगे। आप इसका समर्थन करें और उसमें पधारने की भी कृपा करें—

यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः । पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद् भवाननुमोदताम् ॥

१०/७०/४१



आप के श्रवण, कीर्तन और ध्यान से अन्त्यज भी पवित्र हो जाते हैं। किन्तु जब आप का साक्षात् दर्शन प्राप्त हो जाय तो कहना ही क्या है? आप का यश त्रिलोकी में प्रसिद्ध है। आप का चरणामृत तीन प्रकार की गङ्गा के रूप में तीनों लोकों को पवित्र करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण के सामने यहाँ दो बातें उपस्थित हो गई— जरासन्ध के द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओं को छुड़ाना और युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उपस्थित होना। वीर यदुवंशी उत्साहित थे जरासन्ध पर आक्रमण करने के लिये। भगवान् ने इसे बड़ी चतुराई से टाला। उन्होंने मुस्कराते हुए उद्धवजी से कहा—उद्धव, तुम्हीं हमारे उत्तम नेत्र हो, सुहृद् हो और मन्त्र-दाता हो, इसलिये इस समय क्या करना चाहिये? यह हमें बतलाओ।

जब उद्धव जी ने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ होने पर भी अनजान की तरह मुझसे सलाह ले रहे हैं, तब वे उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर बोलने के लिये उद्यत हुए।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह सत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७०॥

## इकहत्तरवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण भगवान् का इन्द्रप्रस्थ पधारना )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण, नारद जी और नीतिनिपुण सभासदों के मत को जानकर, पूछकर महामति उद्धव जी ने कहना प्रारम्भ किया—

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत् । सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ॥१०/७१/१

भगवान् देवर्षि नारद जी ने आप को यह सलाह दी है कि फुफेरे भाई युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होकर उनकी सहायता करनी चाहिये। उनका यह कथन ठीक ही है और इसके साथ यह भी ठीक है कि शरणागत बन्दी राजाओं की रक्षा भी परमावश्यक है। राजसूय-यज्ञ दिग्विजय के बिना किया नहीं जा सकता। इसलिये युधिष्ठिर के दिग्विजय अभियान में ही जरासन्ध को जीतना, राजाओं को छुड़वाना और फिर युधिष्ठिर का यज्ञ सम्पन्न करवाना चाहिये। इसलिये मेरा अभिमत यही है कि पहले युधिष्ठिर के यहाँ चला जाय और फिर वहीं से दोनों कार्य सिद्ध हो जायेंगे। जरासन्ध को पराजित करवा करके बन्दी राजाओं के छुड़वाने से आप का महान् सुयश फैलेगा—“यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बन्धान् विमुञ्चतः ॥४॥

जरासन्ध महान् बलवान् है। उसमें दश सहस्र हाथियों का बल है। भीमसेन ही उसके समान बलशाली हैं। वह उनके बिना दूसरे से नहीं जीता जा सकता। द्वन्द्व युद्ध में ही उसे पराजित करना ठीक है। मेरा मत है कि ब्राह्मण का वेश धारण कर भीम उसके पास जाँय और उससे युद्ध की शिक्षा मांगे। जरासन्ध बहुत बड़ा ब्राह्मण-भक्त है। वह कभी किसी ब्राह्मण को निराश नहीं करता। आपकी उपस्थिति में यदि भीमसेन उससे द्वन्द्व-युद्ध करें तो वे उसे निःसन्देह मार डालेंगे। वस्तुतः सब कुछ करनेवाले तो आप ही हैं। भीम तो केवल निमित्तमात्र बनेंगे। इसलिये प्रभो, जरासन्ध का वध स्वयं ही बहुत-से प्रयोजन सिद्ध कर देगा। बन्दी राजाओं के पुण्य-परिणाम से अथवा जरासन्ध के पाप-परिणाम से आप भी इस समय युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का होना ही पसन्द करेंगे।

उद्धव की सलाह सुनकर सभी प्रसन्न हो वाह-वाह ! करने लगे। नारद और स्वयं भगवान् ने भी उनके कथन का अभिनन्दन किया। उद्धव जी के कथन को स्वीकार कर भगवान् श्रीकृष्ण ने आज्ञा दे दी कि सारी सेना, सभी



स्त्रियाँ, सारे सगे-सम्बन्धी, यहाँ तक कि नगर की वाराङ्गनाएँ भी इन्द्रप्रस्थ के लिये प्रस्थान करें। भगवान् की आज्ञा को शिरोधार्य कर सभी तैयार होकर इन्द्रप्रस्थ के लिये चल पड़े। श्रीकृष्ण ने नारद जी का पूजन किया, सत्कार किया। मुनिवर नारद जी ने भगवान् को प्रणाम किया और फिर आकाश-मार्ग से चले गये। इसके बाद भगवान् ने दूत को मधुरवाणी में आश्वासन देते हुए कहा—दूत, तुम अपने राजाओं से जाकर कह दो कि वे डरें नहीं। मैं शीघ्र ही जरासन्ध का वध करवाकर उन्हें मुक्त करूँगा—

राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा । मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥

१०/७१/१९

भगवान् की आज्ञा को पाकर दूत चला गया। उसने राजाओं से भगवान् की कही हुई बात बतला दी। वे राजा भी कारागार से छूटने के लिये शीघ्र-से-शीघ्र भगवान् के शुभ दर्शन की बाट जोहने लगे।

इधर भगवान् भी द्वारका से प्रस्थान कर मार्ग में पड़ने वाले बहुत-से देशों, नदियों और पर्वतों को पार करते हुए इन्द्रप्रस्थ जा पहुँचे। युधिष्ठिर ने सुना भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ आगये हैं। उन्होंने नगर की सीमा पर गाजे-बाजे के साथ उनकी अगवानी की। भगवान् ने उन्हें प्रणाम किया। युधिष्ठिर भगवान् को छाती से लगा कर भाव-विभोर हो गये। क्षण भर के लिये उन्हें संसार भूल गया। उनकी आँखों से प्रेमाश्रुओं की धारा बह चली। फिर वे भगवान् को सादर अपने राज-प्रासाद में लाये। मार्ग में खड़ी हुई जनता ने भगवान् को रोक कर उन्हें फूल-मालाओं से लाद दिया। भगवान् को अपने मध्य पाकर पाण्डवों के आनन्द की सीमा न रही। सब के नेत्र प्रेमाश्रुओं से भर गये। भीम ने भगवान् को छाती से लगाया, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने भगवान् की चरण-धूलि को अपने भाल पर धारण किया।

कुन्ती तो वृद्धा हो गई थीं। वे पलंग पर बैठी थीं किन्तु जब उन्होंने श्रीकृष्ण को देखा तब उनका हृदय प्रीति से पूर्ण हो गया। वे पलंग छोड़कर उठ खड़ी हुई—‘प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्’ ॥३९॥ पुत्रवधू द्रौपदी के साथ आगे बढ़ीं तथा श्रीकृष्ण को अपने हृदय से लगा लिया। श्रीकृष्ण का क्या और कैसा सत्कार करना चाहिये—यह किसी को सुझाई न पड़े। द्रौपदी, सुभद्रा आदि स्त्रियाँ श्रीकृष्ण से मिलीं। द्रौपदी आदि ने श्रीकृष्ण की पत्नियों का भरपूर आदर-सत्कार किया। सबलोग बड़े आनन्द से यथास्थान ठहर गये। राजा युधिष्ठिर को आनन्द प्रदान करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण कई महीनों तक इन्द्रप्रस्थ में ही रहे। वे कभी-कभी वीरवर अर्जुन के साथ रथ पर आरूढ़ होकर विहार करने के लिये इधर-उधर जाया करते थे। उस समय एक विशाल सेना भी उनकी सेवा में लगी रहती थी—

उवास कतिचिन्मासान् राज्ञः प्रियचिकीर्षया । विहरन् रथमारूढ्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ॥

१०/७१/४६

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह इकहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७१॥

## बहत्तरवाँ अध्याय

( पाण्डवों की दिग्विजय के प्रसङ्ग में भीम द्वारा मगधाधिप जरासन्ध का वध )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, एक समय की बात है। महाराज युधिष्ठिर राजसिंहासन पर विराजमान थे। उनकी सभा में बड़े-बूढ़े, विद्वान् ब्राह्मण और सभी भाई बैठे हुए थे। सभी के सामने उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण



से बड़ी विनम्रता के साथ कहा—गोविन्द, मैं सर्वश्रेष्ठ राजसूय यज्ञ के द्वारा आपका और आपके परम पावन विभूति-स्वरूप देवताओं का यजन करना चाहता हूँ। प्रभो, आप कृपा कर मेरा यह संकल्प पूरा कीजिये—

**क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः । यक्ष्मे विभूतीर्भवतस्तत् सम्पादय नः प्रभो ॥**

१०/७२/३

कमलनाभ, आपके चरण-कमलों की पादुकाएँ समस्त अमङ्गलों को विनष्ट करनेवाली हैं। जो लोग निरन्तर उनकी सेवा करते हैं, ध्यान और स्तुति करते हैं, वस्तुतः वे ही पवित्रात्मा हैं। वे जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं और यदि उनके मन में सांसारिक वस्तुओं की अभिलाषा है, तो वे भी उन्हें प्राप्त हो जाती हैं। किन्तु जो लोग आपके चरण की शरण नहीं लेते उन्हें मुक्ति तो मिलती नहीं, सांसारिक भोगों से भी वे वञ्चित रह जाते हैं—

**त्वत्पादुके अविरतां परितं ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गुणन्ति ।**

**विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्गमाशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥१०/७२/४**

देवाधिदेव, मेरी हार्दिक कामना है कि संसारी लोग आप के चरण-कमलों की आराधना का प्रभाव देखें। मेरे स्वामी, इस संसार में दो प्रकार के लोग हैं, एक तो वे हैं जो आप की आराधना पूजा करते हैं और दूसरे वे हैं जो उससे दूर रहते हैं। उनका अन्तर सब के सामने स्पष्ट हो जाना चाहिये वैसे तो आप समदर्शी हैं, सर्वात्मा हैं, आप में अपने पराये का भेद नहीं है परन्तु फिर भी जो लोग आप की सेवा-भक्ति करते हैं, उनके ऊपर आप का विशेष प्रसाद होता है। कल्पवृक्ष की भाँति आप में परापर का भेद न होते हुए भी सेवा के अनुरूप फल की प्राप्ति तो होती ही है—

**संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥१०/७२/६**

महाराज युधिष्ठिर की बात को सुनकर भगवान् ने कहा—शत्रु-विजयी धर्मराज, आप का निश्चय अत्युत्तम है। राजसूय यज्ञ करने से त्रिलोकी में आपकी मंगलमयी कीर्ति का विस्तार होगा। आपका यह क्रतुराट् समस्त प्राणियों को अभीष्ट है। राजन्, आप भूतल के समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त करके यज्ञ की सारी सामग्री एकत्रित करें। आपके ये भाई इन्द्र आदि लोक-पालों के अंश से प्रादुर्भूत हुए हैं। सभी बड़े वीर हैं। आप ने अपने सद्गुणों से मुझे अपने वश में कर रक्खा है। संसार की कोई भी शक्ति मेरे भक्त का तिरस्कार नहीं कर सकती फिर कोई राजा उसका तिरस्कार कर दे, इसकी तो सम्भावना ही नहीं की जा सकती।

श्रीशुकदेव जी ने कहा—भगवान् के वचन को सुनकर युधिष्ठिर प्रफुल्लित हो उठे। उन्होंने भगवान् के तेज के सञ्चार से बड़े हुए प्रभाववाले अपने भाइयों को दिग्विजय के लिये आदेश दिया—

**भ्रातृन् दिग्विजयेऽयुद्धं विष्णुतेजोपबृंहितान् ॥१०/७२/१२**

उन्होंने दक्षिण दिशा में सहदेव, पश्चिम में नकुल, उत्तर में अर्जुन और पूर्व दिशा में भीम को भेजा। इन लोगों के साथ वीरों की विशाल सेनाएँ भी थीं। सभी भाइयों ने राजाओं को जीत कर प्रभूत धन लाकर युधिष्ठिर को समर्पित किया। सभी राजा तो जीते जा चुके थे किन्तु जरासन्ध अभी तक अविजित ही रहा इस बात को जानकर महाराज युधिष्ठिर को बड़ी चिन्ता हुई। तब भगवान् ने उन्हें उद्धव के द्वारा उपदिष्ट उपाय बतलाया। तदनुसार भीम, अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मण का वेश धारण कर गिरिज गये। गिरिज ही जरासन्ध की राजधानी थी। जरासन्ध ब्राह्मणों का भक्त था। वह गृहस्थोचित धर्म का पालन अपना परम कर्तव्य समझता था। भगवान्, भीम और अर्जुन तीनों ब्राह्मण का वेश धारण कर—अतिथि-अभ्यागतों के सत्कार के समय दोपहर की बेला में जरासन्ध के राजभवन



में जाकर, उससे बोलें—राजन, हम आपके अतिथि हैं। बहुत दूर से आये हैं। हम आपसे कुछ पाने की कामना से आये हैं। आप का कल्याण हो। आप हमारी इच्छा पूर्ण करें। तितिक्षु पुरुष क्या नहीं सह सकते। उदार पुन्ध्र क्या नहीं दे सकते। दुष्ट पुरुष क्या बुरा नहीं कर सकते। जो व्यक्ति समर्थ होकर भी इस नश्वर शरीर से अनन्तर यश का संग्रह नहीं करता, वह शोक करने योग्य है, शोच्य है, निन्दनीय है। हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव आदि नरेशों ने दान के प्रभाव से ही, विपुल यश और दिव्य गति प्राप्त की थी। शरीर-दान की महिमा के कारण ही व्याध और कपोत इस संसार में सादर स्मरण किये जाते हैं।

जरासन्ध ने उनकी बात सुनी। उनके स्वयं से उनकी आकृतियों से तथा धनुष की डोरी के घर्षण से उनकी कलाई में उभरे घट्टों से वह जान गया कि ये ब्राह्मण नहीं क्षत्रिय हैं। अब वह सोचने लगा कि मैंने इन्हें कहीं-न-कहीं अवश्य देखा है। यद्यपि ये ब्राह्मण-वेशधारी क्षत्रिय हैं किन्तु ये जो कुछ माँगेंगे वह अवश्य दूँगा, यदि ये अत्यन्त प्रिय और दुस्त्यज मेरा शरीर भी माँगेंगे तो मुझे देने में हिचकिचाहट न होगी। बलि ने कपट पूर्वक ब्राह्मण-वटु बने हुए भगवान् विष्णु को अपना सम्पूर्ण राज्य और यहाँ तक कि अपना शरीर भी समर्पित कर दिया था। उन्होंने उस समय रोकनेवाले अपने गुरु शुक्राचार्य की बात भी नहीं सुनी थी। इसका फल यह हुआ कि उनका शुभ्र यश त्रिलोकी में फैल गया। यह शरीर नश्वर है। जीवितावस्था में यदि इससे ब्राह्मण की इच्छा न पूरी की गई तो यह व्यर्थ है। ऐसा सोच कर उसने कहा—ब्राह्मणों, आपलोग मनचाही वस्तु मुझसे माँग लें यदि आपलोग चाहेंगे तो मैं अपना शिर भी दे सकता हूँ—

इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान्। हे विप्रा न्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः ॥

१०/७२/२७

भगवान् ने जरासन्ध की बात सुनी फिर उन्होंने कहा—राजेन्द्र, यदि आप मनचाही वस्तु देना चाहते हैं, तो हमें द्वन्द्व-युद्ध प्रदान करें। हम अन्न के इच्छुक ब्राह्मण नहीं हैं, क्षत्रिय हैं। युद्ध के लिये आये हैं। देखो, ये पाण्डु पुत्र भीमसेन हैं और ये इनके भाई अर्जुन हैं मैं इन दोनों का ममेरा भाई तथा आपका पुराना शत्रु कृष्ण हूँ—

युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे। युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नात्रकाक्षिणः ॥

असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्रातार्जुनो ह्ययम्। अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥

१०/७२/२८-२९

कृष्ण के द्वारा ऐसा कहने पर मगधाधिप जरासन्ध बड़े जोर से हँसा फिर चिढ़कर बोला—अरे मूर्खों, यदि ऐसी बात है तो मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर द्वन्द्व युद्ध के लिये तैयार हूँ। परन्तु कृष्ण, तुम तो बड़े डरपोक हो। युद्ध में तुम घबर जाते हो। मेरे डर से तुमने अपनी जन्मभूमि मथुरा नगरी छोड़ दी और समुद्र की शरण में जा बसे इसलिये तुम्हारे साथ नहीं लड़ूँगा। यह अर्जुन भी कोई योद्धा नहीं है। एक तो अवस्था में यह मुझसे छोटा है और दूसरे कोई खास बलवान् भी नहीं है अतः यह भी मेरे जोड़ का वीर नहीं है, मैं इसके साथ भी नहीं लड़ूँगा। अब बचे भीम, ये अवश्य ही मेरे समान बलवान् और मेरे जोड़ के हैं। जरासन्ध ने यह कह कर भीमसेन को एक विशाल गदा दे दी और स्वयं दूसरी गदा लेकर नगर के बाहर निकल आया।

नगर के बाहर एक विशाल अखाड़े में जरासन्ध और भीमसेन एकदूसरे से भिड़ गये। दोनों बलशाली और रणोन्मत्त थे। एक-दूसरे पर वज्र-तुल्य गदा का प्रहार करने लगे। जब दायें, बायें पैतरा बदल-बदल कर दोनों वीर लड़ रहे थे उस समय देखते ही बनता था। गदाओं की टकराहट से वज्रपात के समान चटचटा शब्द हो रहा था। एक बार दोनों वीरों ने पूरी शक्ति लगाकर गदा फेंकी, वे गदाएँ परस्पर टकराकर चकनाचूर हो गईं फिर दूसरी गदा



उठाकर उन लोगों ने एक दूसरे के अङ्गों पर प्रहार किया। वज्रसदृश उनके अङ्गों से टकराकर स्वयं गदाएँ ही चूर-चूर हो गईं फिर वे घूसों से एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। उनके घूँसे भी वज्र की तरह आवाज करते थे। गदा चलाने में, मुष्टि-प्रहार करने में, कुशती लड़ने में कोई किसी से कम न था। दोनों की फुर्ती एक जैसी थी। दोनों तुल्यबल थे इसलिये किसी का बल कम न होता था। इस प्रकार लगातार लड़ने पर भी किसी की जीत या हार न होती थी। दोनों वीर रात्रि के समय मित्र के समान रहते थे। जरासन्ध के अतिथि बनकर एक साथ खाते और सोते थे फिर दिन होने पर गदा लेकर एक-दूसरे पर प्रहार करते, लड़ते तथा परस्पर जान लेने पर उतारू हो जाते थे। इस प्रकार लड़ते-लड़ते सत्ताईस दिन बीत गये—

एवं तयोर्महाराज युध्यतोः सप्तविंशतिः। दिनानि निरगंस्तत्र सुहृदवन्निशि तिष्ठतोः॥

१०/७२/४०

अट्ठाईसवें दिन भीमसेन ने अपने ममेरे भाई श्रीकृष्ण से कहा—श्रीकृष्ण, मैं युद्ध में जरासन्ध को जीत नहीं सकता। भगवान् श्रीकृष्ण जरासन्ध के जन्म और मृत्यु का रहस्य जानते थे। उन्हें यह बात विदित थी कि जरासन्ध दो टुकड़ों में पैदा हुआ था और लेडी सर्जन जरा ने दोनों टुकड़ों को जोड़कर उसे जीवनदान दिया था अतः उन्होंने भीम के शरीर पर अपना सुकोमल हाथ फेरते हुए उसे दिव्य तेज से भर दिया और कहा—भैया भीम, आज जरासन्ध का वध अवश्य करोगे। हाँ, उससे लड़ते हुए कभी-कभी हमारी ओर भी निहार लिया करो<sup>१</sup>। जाइये लड़िये आज आप की विजय होगी।

अट्ठाईसवें दिन का युद्ध प्रारम्भ हुआ, निराश हताश भीम भगवान् की कृपा से दिव्य तेज से सम्पन्न होकर अखाड़े में उतरे। लड़ते-लड़ते भगवान् की बात उन्हें याद आई। उन्होंने भगवान् की ओर निहारा। भगवान् ने वृक्ष की एक छोटी टहनी तोड़ी। इशारे से उसे भीम को दिखलाते हुए बीचोबीच चीरकर फेंक दिया। भीमसेन भगवान् के इशारे को समझ गये। उन्होंने पूरी शक्ति लगाकर जरासन्ध का पैर पकड़कर उसे भूमि पर गिरा दिया फिर बिजली की सी फुर्ती से उसका एक पैर अपने पैर से दबाकर तथा दूसरा पैर दोनों हाथों से ऊपर उठाकर बीचोबीच चीर डाला, विश्व को अपने पराक्रम से दहला देनेवाला जरासन्ध विदा हो गया इस संसार से। अब उसका निर्जीव शरीर भूमि पर पड़ा था। उसके मरते ही सारी प्रजा में हाहाकार मच गया। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दौड़कर भीम को छाती से लगा कर उनका सत्कार किया—“पूजयामासतुभीमं परिरभ्य जयाच्युतौ” ॥४७॥ उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के पुत्र सहदेव को उसके स्थान पर अभिषिक्त कर दिया। अब सहदेव मगध का अधिपति बन गया। इसके बाद भगवान् ने जरासन्ध के द्वारा कैदी बनाये गये राजाओं को उसकी जेल से मुक्त करवा दिया—

मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये॥१०/७२/४८

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७२॥

१. हृदय-भगवान् के कहने का रहस्य यह है कि मानव को चाहिये कि वह संसार में रहते हुए कार्य अवश्य करे किन्तु बीच-बीच में मेरी ओर भी दृष्टिपात कर ले। ऐसा करने से सफलता उसका अवश्य वरण करती है। इसलिये कर्मरत मानव को भगवान् की ओर उन्मुख रहना चाहिये, विमुख नहीं ॥



## तिहत्तरवाँ अध्याय

( जरासन्ध की जेल से मुक्त हुए राजाओं की विदाई और भगवान् का इन्द्रप्रस्थ लौट आना )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, जरासन्ध ने अनायास ही बीस सहस्र आठ सौ राजाओं को जीतकर पहाड़ी की घाटी में (अर्थात् चुनार में) एक किले के भीतर बन्दी बनाकर रक्खा था। भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा मुक्त करा देने पर जब वे वहाँ से निकले उस समय उनके शरीर पर मैल की परत जमी थी। उनके वस्त्र मैले-कुचैले थे। वे भूख के मारे दुर्बल हो गये थे। उनके मुख सूख गये थे। जेल में बन्द रहने के कारण उनके शरीर का एक-एक अङ्ग ढीला पड़ गया था। निकलने पर उन लोगों ने पीताम्बर धारी, चतुर्बाहु, घनश्याम श्रीकृष्ण को अपने सामने देखा—

अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः । ते निर्गता गिरिद्रोण्या मलिना मलवाससः ॥

क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्षिताः । ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥

१०/७३/१-२

भगवान् को देखते ही वे राजा उनके चरणों में गिर पड़े। अपने मस्तक को भगवान् के चरण पर रखकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उनके दर्शन से राजाओं की प्रसन्नता की सीमा न रही। उस समय उन्हें कैद रहने का क्लेश समाप्त हो गया। फिर हाथ जोड़कर भगवान् की स्तुति करते हुए वे बोले—प्रभो, हम आपके चरणों में पड़े हुए हैं। हम घोर-संसार-सागर से खिन्न हो गये हैं। आप हमारी रक्षा करें। हम जरासन्ध को दोष नहीं देते। यदि उसने राज्य से च्युत कर हमें बन्दी न बनाया होता तो आज हमें न तो आप का अनुग्रह प्राप्त होता और न दर्शन ही। राज्य के ऐश्वर्य से मदान्ध राजाओं को आप का दर्शन संभव नहीं है। वे आप की माया से मोहित होकर अनित्य सम्पत्तियों को ही अचल मान बैठते हैं। श्रीमद के कारण हमारी दृष्टि नष्ट हो गई थी। हम एक-दूसरे को जीतने का प्रयास कर रहे थे। हम इतने उन्मत्त हो गये थे कि प्रजा को पीड़ित करने में हमें जरा भी दया न आती थी, न तो सामने खड़ी मृत्यु को ही हम देख पाते थे। राज्यलक्ष्मी से च्युत कर दिये जाने के कारण आज हमारा सारा मद विगलित हो गया है। अब आप ऐसी कृपा करें जिससे हमें निरन्तर आपके चरणों का चिन्तन होता रहे। हम शिर पर अञ्जलि बाँधकर बारम्बार आपको प्रणाम कर रहे हैं—

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने । प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१०/७३/१६

भगवान् उनकी स्तुति से प्रसन्न हो उठे। उन्होंने तथास्तु कहकर उन्हें अपनी अविचल भक्ति प्रदान की। फिर भगवान् ने बहुत-सी दास-दासियों को नियुक्त कर उनके शरीर पर उबटन आदि से मालिश करवाया। उन्हें दिव्य स्नान करवाया, निर्मल वस्त्र पहनने के लिये प्रदान किया, सुन्दर-सुन्दर अलङ्कार भी धारण कराया। पुनः सुन्दर-सुन्दर भोजन कराकर ताम्बूल खाने के लिये दिया। तदनन्तर भगवान् की प्रेरणा से जरासन्ध के पुत्र सहदेव ने उन राजाओं को मणि-काञ्चन-मण्डित रथ पर बैठाकर सादर बिदा किया।

इस प्रकार उदार शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण ने उन राजाओं को महान् कष्ट से मुक्त किया। अब वे जगती-पति भगवान् श्रीकृष्ण के रूप, गुण और लीलाओं का चिन्तन करते हुए अपनी-अपनी राजधानी को चले गये। वहाँ पहुँचकर उन लोगों ने अपनी-अपनी प्रजा से भगवान् श्रीकृष्ण की अद्भुत कृपा और लीला का वर्णन किया फिर वे भगवान् के वचनों का स्मरण करते हुए बड़ी सावधानी से अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भीमसेन के द्वारा जरासन्ध का वध करवाकर भीमसेन और अर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ के



लिये प्रस्थान किया। चलने की बेला में जरासन्ध के पुत्र सहदेव ने उनका बड़ा आदर-सम्मान किया। युधिष्ठिर की राजधानी इन्द्रप्रस्थ के पास पहुँचकर भगवान् ने अपना पाञ्चन्य शङ्ख बजाया। यह शङ्ख-ध्वनि विजय की सूचक थी। उसे सुनकर अपने मित्र, भाई और बन्धु हर्षित हो उठे। उन लोगों ने समझ लिया कि जरासन्ध मारा गया है। भीमसेन, अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण ने राजा युधिष्ठिर की वन्दना की और वह सब कृत्य कह सुनाया, जो उन्हें जरासन्ध वध के लिये करना पड़ा था। धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण के परम अनुग्रह की बात सुनकर प्रेम से भर गये, उनके नेत्रों से आनन्द के अश्रु टपकने लगे और वे कुछ भी कह न सके—

निशम्य धर्मराजस्तत् केशवानुकम्पितम्। आनन्दाश्रुकलां मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चन ॥

१०/७३/३५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह तिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७३॥

## चौहत्तरवाँ अध्याय

( भगवान् की अग्र पूजा और शिशुपाल का वध )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजा युधिष्ठिर ने जरासन्ध का वध और भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा सुनी। वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने भगवान् से कहा—महाराज त्रिलोकी के गुरु ब्रह्मा, शङ्कर आदि सभी आपके आदेश को दुर्लभ मानकर बड़ी श्रद्धा से शिर झुका कर ग्रहण करते हैं। कमलनयन, हम लोग हैं तो अत्यन्त दीन, परन्तु मानते हैं अपने को भूपति और नरपति। वस्तुतः हैं तो हमलोग दण्ड के पात्र, फिर भी आप हम लोगों की आज्ञा का पालन करते हैं। यह अत्यन्त विडम्बना की बात है। यह केवल आपकी लीला है—

ये स्युर्लोकगुरवः सर्वे लोकमहेश्वराः। वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम् ॥

स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम्। दत्तेऽनुशासनं भूमस्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥

१०/७४/२-३

जो आपके उपासक ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उनमें भी वृद्धि अथवा ह्रास नहीं होता तो फिर ब्रह्मस्वरूप आपमें वृद्धि और ह्रास की बात करना व्यर्थ है। आप के भक्तों में मैं और मेरा, तूँ और तेरा-यह भाव नहीं होता। इस प्रकार की भेद-बुद्धि तो पशुओं की है—

“त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता ॥५॥

राजन्, इस प्रकार कहकर राजा युधिष्ठिर ने भगवान् श्रीकृष्ण की अनुमति से यज्ञ के योग्य समय आने पर, यज्ञ की क्रिया में निपुण जिन वेदवादी ब्राह्मणों को सादर आमन्त्रित कर ऋत्विक्, आचार्य आदि के रूप में वरण किया, उनके नाम इस प्रकार हैं—व्यास, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन, अथर्व, कश्यप, धौम्य, परशुराम, भार्गव, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन तथा अकृतव्रण। युधिष्ठिर ने यथायोग्य इनका वरण किया।

युधिष्ठिर के बुलाने पर धृतराष्ट्र, दुर्योधन आदि आये, विदुर आये। चारों वणों और आश्रमों के लोग आये। स्वर्ण के हल से जोत कर पृथिवी का शोधन किया गया फिर युधिष्ठिर ने विधि-विधान के साथ दीक्षा-संस्कार ग्रहण किया। वरुण के राजसूय यज्ञ के समान इस यज्ञ में भी सब यज्ञीय पात्र सुवर्ण के ही बने हुए थे। यज्ञ में भाग-ग्रहण



करने के लिये इन्द्र आदि लोकपाल, सिद्ध-गन्धर्व, राजा-गण और राज-पत्नियाँ सब-के-सब आये। फिर विधिवत् यज्ञ का आरम्भ हुआ। समय पर सोमवल्ली से रस निकाल कर पान किया गया।

सब के आ जाने पर, सब कुछ ठीक-ठीक हो जाने पर, प्रश्न यह उठा कि सर्वप्रथम पूजा किसकी की जाय ? अग्रपूजा का अधिकारी कौन है ? वहाँ बड़े-बड़े योग्य महानुभाव उपस्थित थे अतः निर्णय नहीं हो पा रहा था। अन्त में नीतिनिपुण बुद्धिमान सहदेव ने कहा—भगवान् श्रीकृष्ण ही अग्रपूजा के यथार्थ अधिकारी हैं क्योंकि यह समस्त देवता, देश, काल और धन आदि हैं। श्रीकृष्ण ही जगत् का उपादान कारण होने से सम्पूर्ण विश्व हैं। वही क्रतु हैं, वही यज्ञ हैं। अग्नि, आहुति, मन्त्र, सांख्य, योग—सब इन्हीं के लिये हैं। यही संसार के कारण और निखिल संसार हैं। भगवान् श्रीकृष्ण एकरस अद्वितीय ब्रह्म हैं। इनमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नाम मात्र का भी नहीं है। यह अपने संकल्प मात्र से संसार की सृष्टि, पालन एवं संहार करते हैं इसलिये अग्रपूजा इन्हीं की ही होनी चाहिये। इनके रहते दूसरे की अग्रपूजा का प्रश्न ही नहीं उठता। इनकी पूजा करने से समस्त प्राणियों की और अपनी भी पूजा सम्पन्न हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण को समर्पित करने से दान अनन्त गुना होकर फलदायी होता है—

तस्मात् कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम्। एवं चेत् सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत्॥

देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्थानन्त्यमिच्छता ॥१०/७४/२३-२४

इस प्रकार युक्तियों से भरपूर अपना वचन कहकर सहदेव चुप हो गये। इस वचन को सुनकर सभी सभासद 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर सहदेव के वचन का समर्थन किये। धर्मराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों की आज्ञा सुनकर तथा सभासदों का अभिप्राय जानकर बड़े आनन्द से प्रेमोद्रेक से विह्वल होकर भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा की। उन्होंने पत्नी और भाइयों के साथ श्रीकृष्ण के चरण को पखार कर जल अपने मस्तक पर धारण किया। महाराज युधिष्ठिर भगवान् को पीताम्बर तथा बहुमूल्य आभूषणों से अलङ्कृत कर प्रेमविह्वल हो गये। उनकी आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये। उस समय वह भगवान् को भलीभाँति देख भी नहीं सकते थे। सभी लोग भगवान् की जय-जयकार करने लगे। देवों ने आकाश से उन के ऊपर पुष्प-वृष्टि की।

राजन, अपने आसन पर बैठा हुआ शिशुपाल यह सब देख-सुन रहा था। भगवान् श्रीकृष्ण की प्रशंसा सुनकर उसे क्रोध आगया। वह अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और भरी सभा में हाथ उठाकर बड़ी असहिष्णुता किन्तु निर्भयता के साथ भगवान् को सुना-सुनाकर अत्यन्त कठोर वचन बोलने लगा—

इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठादुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः।

उत्क्षिप्य बाहुभिदमाह सदस्यमर्षी संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः ॥१०/७४/३०

सभासदों, श्रुतियों का यह कथन सर्वथा सत्य है कि काल ही ईश्वर है। लाख प्रयास करने पर भी वह अपना काम कर ही लेता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि इस समय यहाँ इस मूर्ख सहदेव के वचनों से वृद्धों तक की बुद्धि मारी गई है। बड़े-बड़े ज्ञानी महात्माओं के रहते हुए भी इस समय कृष्ण का पूजन हो रहा है। यह गाँव का ग्वाला है। गायों का चरवाहा है। कुलकलङ्की है। वर्ण, आश्रम और कुल से हीन है। सारे धर्मों से बहिष्कृत है। स्वेच्छाचारी है। गुणों से हीन है। ऐसी स्थिति में यह अग्रपूजा का अधिकारी भला कैसे हो सकता है ? "स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्या कथमर्हति" ॥३४॥ क्या कौआ यज्ञ के पुरोडाश का अधिकारी होता है ? राजा ययाति ने इसके वंश को शाप दे रक्खा है इसलिये सत्पुरुषों ने इसके वंश का ही बहिष्कार कर रक्खा है। यह डरके मारे पवित्र देश का परित्याग

१. शिशुपाल बचपन से ही कृष्ण से द्वेष करता था। किन्तु जब भगवान् ने उसकी मंगेतर रुक्मिणी जी का हरण किया, तब से तो वह उनके प्रति अत्यन्त असहिष्णु हो उठा था। उसका हृदय कृष्ण के प्रति नित्य जलता रहता था।



कर समुद्र में किला बना कर रह रहा है। वस्तुतः यह लोग समुद्री डाकू हैं। वहाँ से निकलनेवाली प्रजा को सतत कष्ट दिया करते हैं। यह कथमपि अग्रपूजा का अधिकारी नहीं है। इसे और इसके अनुयायियों को धिक्कार है, बारम्बार धिक्कार है।

शिशुपाल का मङ्गल नष्ट हो चुका था। इसलिये उसने इसी प्रकार के बहुत से दुर्वचनों को कृष्ण के लिये कह डाला। जैसे सिंह कभी सियार की “हुआँ-हुआँ” पर ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार भगवान् भी चुप रहे। उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिये। सभासदों में से बहुत लोग अपने कानों को बन्द कर, शिशुपाल को बुरा-भला कहते हुए, वहाँ से बाहर चले गये। राजन्, जो भगवान् या भगवान् के भक्तों की निन्दा सुनकर वहाँ से हट नहीं जाता उसके मङ्गल विनष्ट हो जाते हैं और वह अधोगति का भागी बनता है।

उस समय शिशुपाल को मार डालने के लिये पाण्डव, मत्स्य, केकय और सृञ्जयवंशी नरपति क्रोधित होकर हाथ में हथियार लेकर उठ खड़े हुए। परन्तु शिशुपाल यह देख कर भी भयभीत नहीं हुआ। उसने म्यान से तलवार निकाली ढाल उठाया और कृष्ण के पक्ष के योद्धाओं को ललकारने लगा। यह देखकर भगवान् उठ खड़े हुए और अपने पक्षपाती राजाओं को शान्त किये। उस समय शिशुपाल कृष्ण की ओर झपटा। भगवान् ने अपना अत्यन्त तीक्ष्ण सुदर्शन चक्र चलाकर उसका शिर काट लिया। शिशुपाल के मारे जाने पर उसके पक्षपाती राजा भाग कर अपने प्राणों की रक्षा किये। शिशुपाल के शरीर से एक ज्योति निकली जो सबके देखते ही भगवान् में समा गई, जैसे आकाश से गिरा हुआ लूक जमीन में समा जाता है—

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्। पश्यतां सर्वभूतानामुत्केव भुवि खाच्च्युता ॥

१०/७४/४५

राजन्, सनकादि ऋषियों के शाप के कारण भगवान् के पार्षद जय-विजय ही दैत्य-योनि में अवतीर्ण हुए थे। मुनियों का शाप तीन जन्म के लिये था अतः तीन जन्म की समाप्ति पर वे मुक्त होकर पुनः भगवान् के पार्षद ही हो गये। शिशुपाल के अन्तःकरण में लगातार तीन जन्मों से भगवान् के प्रति वैरभाव की अभिवृद्धि हो रही थी। इस प्रकार वैरभाव से ही सही, ध्यान करते-करते वह तन्मय हो गया—पार्षद बन गया। वस्तुतः मृत्यु के बाद प्राप्त होनेवाली गति के विषय में भाव ही मुख्य कारण हुआ करता है—

जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया। ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ॥१०/७४/४६

इसके बाद शान्ति स्थापित हो गई। राजा युधिष्ठिर ने यज्ञ पूरा कर ऋत्विजों को विपुल दक्षिणा से सन्तुष्ट कर यज्ञान्त स्नान किया। यज्ञ पूरा हो जाने पर भी पाण्डवों के आग्रह से भगवान् कई महीनों तक इन्द्रप्रस्थ में रहे फिर किसी-किसी तरह युधिष्ठिर से आदेश लेकर भगवान् अपने लोगों के साथ द्वारका लौट गये। यज्ञान्त स्नान से महाराज युधिष्ठिर की शोभा बढ़ गई। वे देवराज इन्द्र की तरह प्रतीत होने लगे। यज्ञ की अलौकिक समृद्धि तथा भगवान् के दर्शन की प्रशंसा करते हुए सभी राजा अपने-अपने देश को चले गये। युधिष्ठिर के यज्ञ को देखकर भू-मण्डल के सारे राजा प्रसन्न हुए। एक दुर्योधन ही ऐसा था जिसे युधिष्ठिर का ऐश्वर्य सहन न हुआ।

परीक्षित, जो पुरुष श्रीकृष्ण की इस लीला का—शिशुपाल-वध, जरासन्ध-वध, बन्दी राजाओं की मुक्ति और यज्ञानुष्ठान का कीर्तन करेगा, वह समस्त पापों से छूट जायेगा—

य इदं कीर्तयेद् विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम्। राजमोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१०/७४/५४  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह चौहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७४॥



## पचहत्तरवाँ अध्याय

( राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर युधिष्ठिर का अवभृथ स्नान और दुर्योधन का अपमान )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवान्, महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जो राजा, ऋषि, मुनि आदि आये थे वे सभी यज्ञ महोत्सव को देख कर बड़े प्रसन्न हुए । अकेला दुर्योधन ही ऐसा था जिसे प्रसन्नता नहीं हुई । यह बात मैंने आप के मुख से सुनी है । देव, आप कृपा करके इसका कारण बतलाइये ।

श्री शुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, तुम्हारे दादा युधिष्ठिर बड़े महात्मा थे । उनके प्रेम-बन्धन से बँध कर सभी बन्धु-बान्धवों ने राजसूय यज्ञ में विभिन्न सेवाकार्य स्वीकार किया था । भीमसेन भोजनालय के अध्यक्ष थे । दुर्योधन कोषाध्यक्ष थे । सहदेव अतिथिओं के स्वागत में नियुक्त थे और नकुल आवश्यक सारी सामग्री जुटाने का काम देखते थे । गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा का भार अर्जुन के कन्धों पर था । भोजन परोसने की जिम्मेदारी द्रौपदी के हाथ में थी । भगवान् श्रीकृष्ण अतिथियों का पाँव पखारने का काम करते थे— “कृष्णः पादावनेजने” ॥५॥ उदार शिरोमणि कर्ण खुले हाथों दान किया करते थे । इसके अतिरिक्त सात्यकि, विकर्ण आदि अनेकों जन यज्ञ के विभिन्न कर्मों के सम्पादन में नियुक्त थे, जिससे महाराज युधिष्ठिर का प्रिय और हित हो ।

हृदय—दुर्योधन के हाथ में धनवर्धिनी रेखा थी । उसके कर-स्पर्श से धन अक्षय्य बना रहता था । द्रौपदी के हाथ लगाने से भोजन समाप्त नहीं होता था । कर्ण महान् उदार था । वह दोनों हाथों से धन प्रदान करता था । यज्ञ में कृपणता वर्जित है । ब्राह्मणों के चरण की धूलि में भगवान् नारायण का निवास है अतः श्री कृष्ण ने चरण धोने का भार अपने जिम्मे रक्खा । नकुल सामग्री के चयन में अतिशय निपुण थे । उनकी पसन्द बड़ी उत्तम थी । ये ही कारण थे कि जो जिस कार्य में अतिशय कुशल थे, उनकी नियुक्ति उस कार्य के सम्पादन में हुई थी ॥

जब युधिष्ठिर ने दान-दक्षिणा और मान-सम्मान से ऋत्विज प्रभृति सब का पूजन सम्पन्न कर लिया तथा शिशुपाल का तेज भक्तवत्सल भगवान् के चरणों में समाहित हो गया, तब धर्मराज युधिष्ठिर गङ्गा में यज्ञान्त स्नान करने गये । मार्ग में सुमधुर विभिन्न वाद्य बजाये जा रहे थे । नट और नर्तकियाँ हाव-भाव के साथ नृत्य की छटा बिखेरती चल रही थीं । वैदिक ब्राह्मण वेद-घोष से वातावरण को मङ्गलमय बना रहे थे । विभिन्न देशों के सजे-धजे राजा यजमान युधिष्ठिर को आगे करके चल रहे थे । देवता आदि आकाश से फूलों की वर्षा कर रहे थे । वाराङ्गनाओं की सौन्दर्य-छटा निराली थी । वे तरुणों पर सुगन्धित द्रव्य का लेप रह-रहकर कर दिया करती थीं । तरुण मण्डली भी कहाँ पीछे रहनेवाली थी । वह भी वारवनिताओं के गोरे-गोरे गालों में मक्खन, केसर आदि मल रही थी । भावज आदि देवियाँ अपने देवों पर रङ्गभरी पिचकारी चलाकर वातावरण को सरस बना रही थीं । देवर भी कैसे पीछे रहते ? वे भी भाभियों के शरीर को रंगों से भिगे रहे थे । स्त्रियों के हाव-भाव और विलासों में सर्वत्र कामदेव का साम्राज्य था । स्त्रियों की झीनी-झीनी साड़ियाँ भीग कर उनके अङ्गों से सट गई थीं । फलतः उनके उभरे हुए वक्षःस्थल, गोल गोरी जाँघें, क्षीण कटि और विशाल नितम्ब झलक रहे थे । इस प्रकार धर्म-सरिता के साथ काम-रस की नदी भी प्रवाहित हो रही थी । आकाश में अपने पतियों से सटकर बैठी हुई देवाङ्गनायें भी इस दृश्य का आनन्द लूट रही थीं । पत्नी के साथ यथारूढ महाराज युधिष्ठिर की अपूर्व शोभा हो रही थी । स्नान कर उन्होंने सब का सत्कार किया । छोटे-बड़े सभी यथायोग्य सत्कृत हुए । कोई शूद्र अथवा अन्त्यज भी बिना सत्कार के खाली हाथों नहीं लौटा । राजा ने सब की पूजा की, सब लोग प्रसन्न हो राजा से आज्ञा लेकर उनकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने स्थानों को लौट गये । राजा युधिष्ठिर के शील-स्वभाव की प्रशंसा करते हुए लोग अघाते नहीं थे । राजा युधिष्ठिर भगवान् के विछोह से आशंकित होकर आज-कल करते हुए उन्हें द्वारका जाने नहीं देते थे फिर भी भगवान् ने साम्ब आदि कुछ यदुवंशी-वीरों को द्वारका भेज ही दिया ।



राजसूय यज्ञ के बाद महाराज युधिष्ठिर के अन्तःपुर की शोभा वर्णनातीत हो गई थी। राजरानी द्रौपदी अपने पतियों की सेवा तन-मन से करती थीं। यह सब देख कर दुर्योधन का हृदय जलता था।

इसी समय एक दिन और एक घटना घटी। महाराज युधिष्ठिर मय दानव द्वारा निर्मित राजसभा में सुवर्ण के सिंहासन पर विराजमान थे। भगवान् थे। सभी भाई-बन्धु थे। बन्दीजन विरुदावलियाँ गा रहे थे। इसी समय महाभिमानी दुर्योधन हाथ में तलवार लिये हुए द्वारपालों को डाटता-फटकारता हुआ सभा में प्रविष्ट हुआ। सभा की फर्श ऐसी बनी थी कि स्थल की जगह जल और जल की जगह स्थल प्रतीत होता था इसलिये दुर्योधन को भ्रम हो गया। उसने स्थल की जगह जल समझकर अपनी धोती ऊपर उठा ली और जहाँ जल था, वहाँ स्थल समझ कर कपड़े पहने ही गिर पड़ा, भींग गया। उसकी यह दशा देखकर सभी लोग हँस पड़े। भीमसेन समेत जितनी भी स्त्रियाँ थीं, सब ताली पीट-पीट कर हँसने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण शिर हिलाकर और मुस्कराकर इसका अनुमोदन कर रहे थे किन्तु युधिष्ठिर हाथ के इशारे से सबको शान्त कर रहे थे। इस पर दुर्योधन बड़ा शर्मिन्दा हुआ। वह जलभुन कर राजसभा से निकला और हस्तिनापुर चला गया। इस घटना को देखकर सत्पुरुषों में हाहाकार मच गया। इससे युधिष्ठिर बड़े दुःखी हुए—

सन्नीहितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन् निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।

हाहेति शब्दः सुमहानभूत् सतामजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ॥१०/७५/३९

परीक्षित, भगवान् के मौन अनुमोदन का रहस्य यह था कि वे चाहते थे कि महाभारत का युद्ध हो और उसके द्वारा भूतल का महान् भार उतर जाय। राजन्, युधिष्ठिर के राजसूय के समय दुर्योधन की अप्रसन्नता के ये ही सब कारण थे, तुमने जैसा पूछा, वैसा मैंने बतला दिया—

एतत्तेऽभिहितं राजन् यत् पृष्ठोऽहमिह त्वया । सुयोधनस्य दौरात्यं राजसूये महाक्रतौ ॥

१०/७५/४०

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह पचहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७५॥

## छिहत्तरवाँ अध्याय

( शाल्व के साथ यादववीरों का युद्ध )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, अब लीला करने के लिये मानव-शरीर धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण का एक और अद्भुत चरित्र सुनो जिसमें उन्होंने सौभ नामक विमान के अधिपति शाल्व को युद्ध-भूमि में पछाड़कर मारा था—

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप । क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हितः ॥१०/७६/१

शाल्व शिशुपाल का मित्र था। यह रुक्मिणी के विवाह में शिशुपाल के पक्ष से आया था। उस समय जरासन्ध आदि राजाओं के साथ इसे भी यदुवंशियों ने युद्ध में पराजित किया था। उस दिन सब राजाओं के सामने शाल्व ने यह प्रतिज्ञा की थी कि—मैं भूतल पर से यदुवंशियों का नामोनिशान मिटा कर दम लूँगा। उस समय आप लोग मेरे पराक्रम को देखियेगा—

शाल्वः प्रतिज्ञामकरोत् शृण्वतां सर्वभूभुजाम् । अयादवीं क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥

१०/७६/३



उस मूर्ख ने ऐसी प्रतिज्ञा कर के भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करने के लिये कठिन तपस्या प्रारम्भ कर दी। तप की बेला में भूख लगने पर वह एक मुट्ठी धूल फाँक कर रह जाता था। एक वर्ष पूरा होने पर भगवान् उमापति ने प्रसन्न होकर शाल्व से कहा—मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। वर माँगो। उस समय शाल्व ने यह वर माँगा कि—मुझे आप एक ऐसा विमान प्रदान कीजिये जो देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और राक्षसों से तोड़ा न जा सके; जहाँ इच्छा हो, वहीं चला जाय और यदुर्विशियों के लिये अत्यन्त भयङ्कर हो—

अभेद्यं कामगं वत्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥ १०/७६/६

उसकी प्रार्थना सुनकर भगवान् शङ्कर ने 'तथास्तु' कहा और मय असुर से बनवाकर उसे एक लोहे का ऐसा विमान दिया जो शाल्व की इच्छा के अनुसार चला करता था। पूर्व वैर का स्मरण कर शाल्व ने उस विमान पर आरूढ़ होकर द्वारका पर आक्रमण कर दिया। उस समय कृष्ण युधिष्ठिर के अतिथि बनकर इन्द्रप्रस्थ में थे। शाल्व ने विशाल सेना लेकर द्वारका को घेर लिया, वहाँ उसने उपवन को उजाड़ डाला। नगर के विशाल दरवाजों, अटारियों तथा आराम गृहों को क्षत-विक्षत कर दिया। विमान पर आरूढ़ शाल्व उस समय नगर पर अस्त्र-शस्त्र, शिला, वृक्ष, सर्प और धूलि आदि की वर्षा करने लगा। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई। उस समय नगर में प्रद्युम्न जी थे उन्होंने प्रजा को आश्वासन दिया और रथ पर आरूढ़ होकर शाल्व का सामना करने के लिये दौड़ पड़े। उनके साथ सात्यकि, चारुदेष्ण और साम्ब आदि भी थे। प्रद्युम्न के पीछे यादवों की विशाल चतुरङ्गिणी सेना चल रही थी। शाल्व और प्रद्युम्न में बड़ा भीषण संग्राम हुआ। प्रद्युम्न के तीक्ष्ण बाण-प्रहारों से शाल्व का विमान छिन्न-भिन्न होने लगा। उस समय प्रद्युम्न का हस्तलाघव देख कर पक्ष-विपक्ष के सभी योद्धा उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। शाल्व विमान से चारों ओर घूम-घूम कर आक्रमण कर रहा था। मय के शिल्प-कौशल का निदर्शक वह विमान भी अद्भुत था। उसके अनेक रंग थे। वह कभी एक जैसा दिखलाई पड़ता था और कभी अनेक जैसा। कभी-कभी वह अदृश्य भी हो जाया करता था। पता ही न चले कि है कहाँ ? कभी धरती पर, कभी आकाश में, कभी पहाड़ पर, कभी जल में चक्कर काटता हुआ वह विचरण करता था। बड़ा कठिन था उसको बाणों का लक्ष्य बनाना परन्तु यादवी सेना बड़ी निपुणता और तत्परता से उसे बाणों का निशाना बना रही थी। दोनों पक्षों के वीरों में कोई भी पीछे हटने के लिये तैयार न था। इसी बीच प्रद्युम्न के सामने विशाल गदा लेकर आ धमका शाल्व का मन्त्री द्युमान्। द्युमान् को गदा प्रहार से मूर्च्छित कर दिया प्रद्युम्न ने। होश आने पर द्युमान् ने भी प्रद्युम्न की छाती पर गदा से जोरदार प्रहार किया। प्रद्युम्न कुछ क्षणों के लिये मूर्च्छित होकर रथ पर गिर पड़े यह देखकर सारथि ने झटपट प्रद्युम्न को युद्ध से हटा लिया। मूर्च्छा दूर होने पर उन्होंने अपने सारथी से कहा—सारथे, तुमने रण-भूमि से हटाकर बहुत अनुचित कार्य किया। अब हम घर में कौन-सा मुँह दिखलायेंगे ? लोग मुझे नपुंसक समझेंगे। भाभियाँ पूछेंगी—कहो वीर, कहाँ चली गई तुम्हारी वीरता ऐसा कहकर वे हमारा मजाक उड़ायेंगी। सारथी ने कहा—प्रभो, मैंने धर्म के अनुसार ही अपना यह कार्य किया है। यह अनुचित नहीं उचित और धर्मानुकूल है। युद्ध का यही धर्म है कि संकट पड़ने पर सारथी रथी की रक्षा कर ले और रथी सारथी की—

१. हृदय-अकारो वासुदेवः स्यात् । अ का अर्थ होता है—वासुदेव । अः = वासुदेवः तेन भेद्यम् । इस का अर्थ हो गया कृष्ण के द्वारा भेद्य । ऐसा अर्थ करने पर आगे किसी प्रकार का विरोध नहीं होगा क्योंकि कृष्ण के गदा प्रहार से विमान के विनाश की बात अगले अध्याय में वर्णित है ।



धर्मं विजानताऽऽयुष्मन् कृतमेतन्मया विभो । सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद् रथिनं सारथिं रथी ॥

१०/७६/३२

अतः आप मुझे क्षमा करें ॥७६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह छिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७६॥

•

## सतहत्तरवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण द्वारा मायावी शाल्व का वध )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, इसके बाद प्रद्युम्न जी ने हाथ-मुँह धोकर, कवच और धनुष-बाण धारण कर अपने सारथी से कहा—सारथे, जहाँ द्युमान् है, वहीं मुझे ले चलो । वहाँ पहुँच कर प्रद्युम्न जी ने ऐसे-ऐसे बाणों से प्रहार किया कि द्युमान् अपने घोड़ों, रथ और सारथी के साथ इस संसार से सर्वदा के लिये विदा हो गया । दूसरी ओर साम्ब, सात्यकी आदि यदुवंशी वीर शाल्व की सेना का भीषण संहार कर रहे थे । उनके बाणों के प्रहार से शाल्व के वीर विमान से मर-मर कर सागर में टपाटप गिर रहे थे । इस प्रकार यदुवंशी वीरों के साथ शाल्व का सत्ताईस दिनों तक अनवरत भीषण युद्ध चलता रहा—

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् । युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्वणम् ॥१०/७७/५

उस समय भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ में थे । वहाँ उन्हें नाना प्रकार के अपशकुन होने लगे अतः वे सब से आज्ञा लेकर विदा होकर द्वारका के लिये चल पड़े । वहाँ पहुँच कर उन्होंने देखा कि सचमुच उनकी द्वारका विपत्तिग्रस्त हो गई है । उन्होंने बलराम जी को द्वारका की रक्षा में नियुक्त कर अपने सारथी दारुक से कहा—दारुक, अति शीघ्र मेरा रथ शाल्व के सामने ले चलो किन्तु यह ध्यान रखना कि वह महामायावी है ।

इधर शाल्व ने देखा कि श्रीकृष्ण का रथ उसकी ओर बढ़ रहा है । उनको देखकर शाल्व ने एक अति भीषण शक्ति श्रीकृष्ण के सारथी को लक्ष्य करके चला दी किन्तु भगवान् ने अति वेग से उसे बीच में ही काटकर गिरा दिया । इसके बाद दोनों में बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ । एक बार तो शाल्व ने ऐसी करामात कर दिखलाई कि उसके बाण-प्रहार से भगवान् के वाम बाहु में विराजमान शार्ङ्ग-धनुष ही गिर पड़ा । यह देखकर चतुर्दिक् हाहाकार मच गया । यह एक अद्भुत घटना थी ।

इसके बाद शाल्व ने गरजकर भगवान् श्रीकृष्ण से कहा—मूढ़, तू ने हम लोगों के देखते-देखते हमारे भाई और सखा शिशुपाल की पत्नी को हर लिया तथा भरी सभा में मेरे मित्र को तूने मार भी डाला । आज तुम्हारा पाला मुझसे पड़ा है यदि तू युद्ध से भाग न गया तो तुझे यमपुरी पहुँचाये बिना नहीं छोड़ूँगा ।

शाल्व की बात सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—रे अधम, तू व्यर्थ में बड़बड़ा रहा है । वीर व्यक्ति पौरुष का प्रदर्शन करते हैं, बकवास नहीं । मौत तेरे शिर पर सवार है, जिसे तू नहीं देख रहा है—

वृथा त्वं कथसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् । पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ॥

१०/७७/१९

ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने क्रोधित हो अपनी गदा से बड़े वेग के साथ शाल्व के जनुस्थान (गले के नीचे की हँसली) पर प्रहार किया । गदा की चोट से वह काँप उठा और मुख से खून फेंकता हुआ अन्तर्धान हो गया ।



इसके एक क्षण बाद एक पुरुष आया। उसने शिर झुकाकर भगवान् को प्रणाम किया और कहा—मुझे आप की माता देवकी ने भेजा है। उन्होंने आप के पास सन्देश कहलाया है कि—शाल्व आप के पिता वसुदेव को बलात् बाँधकर ले गया है। यह सुन मानव लीला का अनुसरण करते हुए भगवान् कुछ क्षणों के लिये उदास हो गये फिर उन्होंने कहा—ओह! महान् बलशाली भैया बलराम के रहते ही शाल्व पिताजी का अपहरण करने में कैसे समर्थ हो गया वे इतना कहे ही थे कि वसुदेव को रस्सियों से बाँधे ही शाल्व युद्ध-भूमि में प्रकट हो गया और श्रीकृष्ण से बोला—देख लो, यही हैं न तुम्हारे पिताजी ? तुम्हारे सामने ही इनकी गर्दन काट रहा हूँ। यदि तुममें शक्ति हो तो इन्हें बचालो। इतना कहकर शाल्व ने म्यान से तलवार निकाली। वसुदेव का गला काटा और विमान पर आरूढ़ हो गया।

यह देखकर भगवान् थोड़ी देर के लिये मूर्च्छित से हो गये किन्तु जिन भगवान् के चरणों की सेवा से अविद्या-माया का विनाश होता है, मोक्ष की प्राप्ति होती है, उनमें शोक-मोह कैसे संभव हो सकते हैं ? उन्होंने तत्काल समझ लिया कि यह सब शाल्व की आसुरी माया है। यह माया मय दानव ने उसे बतलाई है फिर तो सचेत होकर भगवान् ने देखा—न वहाँ दूत है और न पिता का वह शरीर। स्वप्न की भाँति सब कुछ विलुप्त हो गया। उधर देखा तो शाल्व विमान पर चढ़कर आकाश में विचर रहा है फिर तो वह उसका वध करने के लिये उद्यत हो गये—

न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।

स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥ १०/७७/२९

उन्होंने सुतीक्ष्ण बाणों के प्रहार से शाल्व के कवच और धनुष को काट डाला फिर भगवान् ने अपनी विशाल गदा के प्रहार से सौभ विमान को चूर-चूर कर सागर के जल में गिरा दिया। शाल्व भूमि पर कूद पड़ा और गदा उठाकर भगवान् पर प्रहार करने के लिये दौड़ा। उसे अपनी ओर झपटते हुए देखकर उन्होंने भाले से उसका हाथ काट डाला और चक्र चलाकर कुण्डल सहित उसका शिर धड़ से अलग कर दिया, यह देख कर शत्रु-दल में हाहाकार मच गया। देवताओं ने आकाश में दुन्दुभि बजाकर भगवान् पर पुष्प-वृष्टि की। ठीक इसी समय दन्तवक्त्र अपने मित्र शिशुपाल आदि का बदला चुकाने के लिए अत्यन्त क्रोधित होकर युद्ध-भूमि में आ धमका।

सखीनामपचितिं कुर्वन् दन्तवक्त्रो रुषाभ्यगात् ॥ १०/७७/३७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह सतहत्तरवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७७॥

## अठहत्तरवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण द्वारा दन्तवक्त्र और विदूरथ का वध तथा तीर्थयात्रा के लिये निकले बलराम जी के हाथ से सूत जी का वध )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, शिशुपाल, शाल्व और पौण्ड्रक के मारे जाने पर उनकी मित्रता का ऋण चुकाने के लिये मूर्ख दन्तवक्त्र अकेला ही पैदल युद्ध-भूमि में आ धमका। वह क्रोध के मारे आगबबूला हो रहा था। वह विशाल गदा हाथ में लिये हुए था। उसके चलने से पृथ्वी धमक-सी रही थी—

शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः । परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम् ॥

एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन् । पद्भ्यामिमां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत ॥

१०/७८/१-२



भगवान् श्रीकृष्ण ने जब उसे आते हुए देखा तो गदा हाथ में लेकर बड़ी फुर्ती से रथ से कूद पड़े और उस को आगे बढ़ने से रोका । दन्तवक्त्र घमण्ड के नशे में चूर था । उसने श्रीकृष्ण पर गदा तानकर कहा—बड़ा अच्छा हुआ कृष्ण तुम मेरी आँखों के सामने आगये । देखो तुम मेरे मामा के लड़के हो इसलिये तुमको मैं मारना नहीं चाहता था किन्तु तुमने मेरे मित्रों को मार डाला है और अब मुझे मारना चाहते हो अतः आज मैं तुझे अपनी गदा के प्रहारों से चूर-चूर कर डालूँगा । आज मैं तुझे मारकर अपने मित्रों के ऋण से उन्मूढ हो जाऊँगा । ऐसा कहकर दन्तवक्त्र भगवान् के शिर पर बड़े वेग से गदा मारकर गरजने लगा । गदा लगने पर भी भगवान् टस-से-मस न हुए । उन्होंने भी जगद्विदित अपनी कौमोदकी गदा से दन्तवक्त्र की छाती पर प्रहार किया । गदा की मार से उसकी छाती फट गई । वह मुख से रक्त उगलता हुआ भूतल पर गिरकर मर गया । उसके शरीर से एक ज्योति निकली जो सब के देखते-ही-देखते भगवान् श्रीकृष्ण में विलीन हो गई ।

**विशेष—** महाभारत के अनुसार दन्तवक्त्र की मृत्यु शिशुपाल के साथ ही हुई थी । दोनों के शरीर से निकला तेज भी एक साथ ही श्री कृष्ण में विलीन हुआ था किन्तु श्रीमद्भागवत में दोनों की मृत्यु अलग-अलग वर्णित है ॥

दन्तवक्त्र की मृत्यु के बाद उसका भाई हाथ में ढाल तलवार लेकर भगवान् को मारने दौड़ा । भगवान् ने अपना सुदर्शन चक्र चलाकर मुकुट-कुण्डल-सहित उसका शिर काटकर भूतल पर गिरा दिया । विदूरथ भी इस संसार से विदा होकर चला गया । यह देखकर देवताओं, सिद्धों और गन्धर्वों ने आकाश से भगवान् पर फूलों की वर्षा कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की ।

**विशेष—** भगवान् ने पूतना से दुष्टों का संहार प्रारम्भ किया था और आज वह विदूरथ के संहार के साथ अपना यह अभियान समाप्त कर दिया । विदूरथ के वध के अनन्तर भगवान् द्वारकापुरी में लौट आये ।

शिशुपाल और दन्तवक्त्र के वध के साथ ही सनत्कुमार आदि के शाप का प्रभाव समाप्त हो गया । वे मुक्त होकर पुनः वैकुण्ठलोक में जाकर भगवान् के द्वार-पाल बन गये ॥

इसके बाद बलराम जी ने सुना कि कौरवों और पाण्डवों में महासंग्राम छिड़ने की तैयारी हो रही है फिर वे उदासीन होकर तीर्थयात्रा पर निकल पड़े । वहाँ उन्होंने स्नान कर पितरों का तर्पण किया फिर वे सरस्वती नदी के तट पर पहुँचे और वह जिधर से आरही थी, उधर चल पड़े । मार्ग में पड़ने वाले पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप और सुदर्शन आदि तीर्थों में भ्रमण करते हुए, गङ्गा-यमुना के तटवर्ती तीर्थों में स्नान, तर्पण आदि कृत्य सम्पादित करके नैमिषारण्य में पहुँचे, वहाँ बलरामजी को आया हुआ देखकर ऋषियों ने उनका बड़ा स्वागत-सम्मान किया ।

फिर बलराम जी की दृष्टि व्यासासन की ओर-गई । उन्होंने देखा कि वहाँ रोमहर्षण नामक सूत ऋषियों-मुनियों को पुराणों की कथा सुना रहे हैं । वे बलराम जी को देखकर न तो खड़े ही हुए थे और न उन्हें प्रणाम ही किया था । शास्त्र का विधान है कि व्यास गद्दी पर बैठा हुआ आचार्य न किसी की आगवानी करे और न किसी को प्रणाम ही करे इसीलिये सूत ने बलराम जी को प्रणामादि नहीं किया, इस पर बलराम जी क्रुद्ध हो गये ।

**विशेष—** रोमहर्षण सूत की जाति छोटी मानी गई है । यद्यपि रोमहर्षण योनिज नहीं अयोनिज थे । अग्निकुण्ड से पैदा हुए थे । वृहस्पति और इन्द्र के चरु के मिश्रण से इनका जन्म हुआ था अतः यह प्रतिलोम कहलाये ॥

बलरामजी ने कहा—यह रोमहर्षण प्रतिलोम जाति का होने पर भी इन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से तथा धर्म के रक्षक हम लोगों से ऊपर बैठा हुआ है इसलिये यह दुर्बुद्धि मृत्यु-दण्ड का पात्र है । व्यास जी का शिष्य होकर इसने इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि बहुत-से शास्त्रों का अध्ययन भी किया है; परन्तु अभी इसका अपने मन पर संयम नहीं है । यह विनीत नहीं, उद्दण्ड है अतः वध का पात्र है । ऐसा कहकर उन्होंने अपने हाथ में स्थित कुश की नोक से उन



पर प्रहार कर दिया। भावीवश वे तुरन्त मर गये। सभी हा-हाकार कर उठे। ऋषियों ने कहा—बलराम जी, आपने सूत का वध कर बड़ा अधर्म किया—

भावित्वात्तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत् प्रभुः। हाहेति वादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः॥

ऊचुः सङ्कर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभो॥१०/७८/२८-२९

यदुवंश-चन्द्र, सूतजी को हम लोगों ने ही ब्राह्मणोचित आसन पर बैठाया था और जब तक हमारा यह सत्र समाप्त न हो, तब तक के लिये उन्हें शारीरिक कष्ट से रहित आयु भी दे दी थी। आप ने अनजान में यह काम कर दिया, जो ब्रह्महत्या के समान है अतः लोक-शिक्षण के लिये आप को इसका प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये। यदि आप ऐसा नहीं करते तो लोक-मर्यादा समाप्त हो जायेगी फिर तो महापाप करके भी कोई प्रायश्चित्त नहीं करेगा।

ऋषियों के वचन को सुनकर बलराम जी ने कहा—लोकमर्यादा की रक्षा के लिये तथा लोगों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये मैं इसका प्रायश्चित्त अवश्य करूँगा अतः इसके लिये प्रथम श्रेणी का जो प्रायश्चित्त हो, आप लोग उसी का विधान कीजिये। यदि आप लोग सूत जी को लंबी आयु, इन्द्रिय-शक्ति आदि प्रदान करना चाहते हैं, तो उसे मुझे बतला दें। मैं अपने योग-बल से सब कुछ सम्पन्न कर दूँगा।

ऋषियों ने कहा—भगवन्, आप का अस्त्र, पराक्रम, इनकी मृत्यु और हमारा वचन—ये चारों बातें जिस प्रकार सत्य बनी रहें, वैसा ही आप करें। ऋषियों के वचन को सुनकर बलराम जी ने कहा—ऋषियों, वेदों के अनुसार आत्मा ही पुत्र के रूप में जन्म लेता है। इसलिये रोमहर्षण के स्थान पर उनके पुत्र उग्रश्रवा ही आज से पुराण-वक्ता होंगे और आप लोगों के वचन के अनुसार यह आयु आदि सारे गुणों से सम्पन्न होंगे। इस प्रकार रोमहर्षण के स्वयं जीवित न होने पर अस्त्रवीर्य और मृत्यु की सत्यता तथा आयु आदि से परिपूर्ण होने के कारण आप लोगों के वचन की सत्यता भी रह गई। अब आगे आप लोग उग्रश्रवा सूत से ही पुराण-श्रवण करें और मुझे भी सही तथा श्रेष्ठ प्रायश्चित्त बतलाने की कृपा करें।

ऋषियों ने कहा कि—इत्थल का पुत्र बल्लल एक भयङ्कर दानव है। वह प्रत्येक पर्व के दिन—अमावास्या और पूर्णिमा के दिन यहाँ आ पहुँचता है। वह हमारे इस सत्र को दूषित कर देता है। वह यहाँ आकर अपवित्र वस्तुओं की वर्षा कर इस स्थान को अपवित्र बना डालता है। आप उस पापी का वध कर दीजिये। यह हम लोगों की महान् सेवा होगी। इसके बाद आप एकाग्रचित्त से तीर्थों में स्नान करते हुए, बारह महीनों तक भारतवर्ष की परिक्रमा करते हुए विचरण कीजिये। इससे आप की शुद्धि हो जायेगी। यही आपके लिये प्रायश्चित्त है—

ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः। चरित्वा द्वादशमासांस्तीर्थस्नायी विशुद्ध्यसे॥१०/७८/४०

हृदय—यहाँ बलराम जी के हाथों से सूत जी के वध की योजना कर संसार को यह सन्देश दिया गया है कि शास्त्र-मर्यादा सब से बड़ी है। उसे भगवान् को भी स्वीकार करना चाहिये। बड़े लोग जैसा आचरण करते हैं, छोटे जन उसी का अनुसरण किया करते हैं। भगवती भगवद्गीता का भी यही सन्देश है—

“यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते”॥३/२१

जिस दिन रोमहर्षण सूत की मृत्यु हुई थी, उस दिन अषाढ़ शुक्ल द्वादशी थी। तभी से पौराणिक लोग द्वादशी के दिन पुराण-पाठ नहीं किया करते। उस तिथि को ‘सूत-सूतक’ मनाया जाता है—‘सूतसूतकसंभवात्’। किन्तु यह नियम सप्ताह-पारायण में नहीं लागू होता॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह अठहत्तरवीं अध्याय समाप्त हुआ ॥७८॥



## उनासीवाँ अध्याय

( बल्लव का वध और बलराम जी का तीर्थाटन )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित्, ऋषियों की प्रार्थना सुनकर बलराम जी वहाँ ठहर गये। पर्व का दिन आने पर बल्लव दैत्य उत्पात मचाने वहाँ आ पहुँचा। उसके आते ही यज्ञ-स्थान में भयङ्कर अंधड़ चलने लगा। पीब की दुर्गन्ध के साथ चारों-ओर धूल की वर्षा होने लगी।

ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांसुवर्षणः । भीमो वायुरभूद् राजन् पूयगन्धस्तु सर्वशः ॥

१०/७९/१

तदनन्तर यज्ञशाला में बल्लव दानव ने मल-मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं की वर्षा की। कुछ देर के बाद हाथ में त्रिशूल लिये वह स्वयं दिखलाई भी पड़ा। उसका शरीर आँजन के पहाड़ की तरह विशाल था, आकृति अतिभयङ्कर थी। उसे देखकर बलराम जी ने अपने अमोघ अस्त्र हल और मूशल का स्मरण किया। स्मरण करते ही वे दोनों उनके हाथ में आ विराजे। बलराम जी ने हल से खींचकर उस दैत्य के शिर पर मूशल से इतना जबर्दस्त प्रहार किया कि वह मुख से रक्त वमन करता हुआ भूतल पर धड़ाम से गिर पड़ा और मर गया।

बल्लव दानव के मारे जाने पर नैमिषारण्य-निवासी ऋषियों ने बलराम के ऊपर आशीर्वाद की झड़ी लगा दी। उनका सम्मान और पूजन किया। उन्हें वैजयन्ती माला पहनाई और उनका अभिषेक किया फिर उनकी स्तुति कर विभिन्न वस्त्राभूषणों से उन्हें अलङ्कृत कर दिया। तदनन्तर ऋषियों से विदा लेकर बलराम जी ब्राह्मणों के साथ कौशिकी नदी के तट पर गये। वे वहाँ स्नान-दान कर उस सरोवर पर गये, जहाँ से सरयू नदी निकलती है। वहाँ से सरयू नदी के किनारे-किनारे चलते हुए प्रयाग पहुँचे। वहाँ धार्मिक कृत्यों का सम्पादन किया। वहाँ से पुलहाश्रम गये फिर गण्डकी, गोमती, विपाशा एवं शोण नदी में स्नान कर गया जी गये। वहाँ पितरों का यजन-पूजन किया। वहाँ से वे गङ्गासागर गये फिर महेन्द्र पर्वत पर परशुराम जी का दर्शन कर दक्षिण दिशा की ओर चले गये। वहाँ वे वेणा, पम्पा, भीमरथी, श्रीशैल, वेङ्कटेश्वर, कामकोष्णी, काञ्चीपुरी, श्रीरङ्ग, ऋषभाद्रि, दक्षिण-मथुरा तथा रामेश्वर आदि गये। इन स्थानों पर स्नान कर गोदान किया। कुलाचल जाकर अगस्त्यजी का दर्शन किया। अनन्तपुर की यात्रा की फिर पञ्चसरस तीर्थ में स्नान किया। केरल, त्रिगर्त आदि देशों में भी गये। उसके बाद शूर्पारक क्षेत्र में पहुँचे। बाद में रेवा, माहिष्मती आदि तीर्थों में भी स्नान-पूजन किया। इस प्रकार वे भारत के सारे तीर्थों की यात्रा समाप्त कर पुनः प्रभास क्षेत्र लौट आये। वहाँ उन्होंने महाभारत युद्ध में समस्त राजाओं के निधन की बात सुनी सुनकर सोचा कि—चलो अब भूतल का भार हल्का हो गया है। इसके बाद वे कुरुक्षेत्र गये। वहाँ उस समय भीम और दुर्योधन का गदा-युद्ध चल रहा था। उन्हें आया देखकर युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण और अर्जुन ने उनकी वन्दना की। उनके सामने सब-के-सब भयभीत थे कि ये न जाने क्या कहेंगे ?

भीम और दुर्योधन के गदायुद्ध को देखकर बलराम जी ने दोनों को रोका और समझाते हुए कहा—देखो दुर्योधन, तुम तो गदा-युद्ध की शिक्षा में निपुण हो और भीमसेन तुम बल में अधिक हो अतः व्यर्थ मैं युद्ध मत करो। क्यों निरर्थक मरना चाहते हो ? इस युद्ध को अब यहीं रोक दो किन्तु वे दोनों इतने जोश में थे कि उनकी बात न मानी।

इस पर बलराम जी उन दोनों पर अप्रसन्न हो वहाँ से चले गये। वे द्वारका होते हुए फिर नैमिषारण्य क्षेत्र में आये। वहाँ ऋषियों ने उनसे विधि-विधान के साथ यज्ञ कराया। भगवान् बलराम जी ने दक्षिणा के रूप में उनको विशुद्ध ज्ञान का उपदेश दिया, जिससे वे लोग इस सम्पूर्ण विश्व का अपने-आप में और अपने आपको सारे विश्व में अनुभव करने लगे—



तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद् विभुः । येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥

१०/७९/३१

कुछ दिन वहाँ रहकर वे फिर अपने स्थान पर लौट कर आगये ।

जो मानव श्रद्धा-भक्ति के साथ बलराम जी के इन पावन चरित्रों का सायं-प्रातः स्मरण करता है, सुनता है और कहता है, वह भगवान् की कृपा का भाजन बन जाता है—

योऽनुस्मरेत् रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः । सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ॥

१०/७९/३४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह उनासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७९॥

## अस्सीवाँ अध्याय

( श्रीकृष्ण के द्वारा सखा सुदामा जी का स्वागत )

राजा परीक्षित ने कहा—भगवान्, प्रेम और मुक्ति के देवता भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति अनन्त है अतः उनकी माधुर्य और ऐश्वर्य से भरी लीलाएँ भी अनन्त हैं । अब हम भगवान् की अन्य लीलाएँ भी सुनना चाहते हैं । भगवान् की लीलाओं के श्रवण से मुझे तृप्ति नहीं हो रही है । संसार में ऐसा कौन-सा रसिक-रस का विशेषज्ञ पुरुष होगा, जो बार-बार पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण की मङ्गलमयी लीलाओं का श्रवण करके भी उनसे विमुख होना चाहेगा ? वस्तुतः जो वाणी भगवान् के गुणों का गान करती है, वही सच्ची वाणी है । वे ही हाथ सच्चे हाथ हैं, जो भगवान् की सेवा के लिये काम करते हैं । वही मन सच्चा मन है, जो चराचर प्राणियों के निवास करनेवाले भगवान् का स्मरण करता है और वे ही कान यथार्थ कान हैं, जो भगवान् की पुण्यमयी कथाओं का श्रवण करते हैं । वही शिर शिर है, जो चराचर जगत् को भगवान् की चल-अचल प्रतिमा समझकर प्रणाम करता है । सर्वत्र भगवान् के स्वरूप को देखनेवाले नेत्र ही वस्तुतः नेत्र हैं । शरीर के जो अङ्ग भगवान् और उनके भक्तों के चरणोदक का सेवन करते हैं, वे ही अङ्ग वास्तव में अङ्ग हैं । वस्तुतः उन्हीं का अङ्ग होना सफल है—

सा वाग् यथा तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरी मनश्च ।

स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥

शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेतदेव यत् पश्यति तद्धि चक्षुः ।

अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥

१०/८०/३-४

इसलिये आप भगवान् के और चरित्रों का वर्णन करने की कृपा करें । सूत जी ने शौनक आदि ऋषियों से कहा—महानुभावों, जब राजा परीक्षित ने शुकदेवजी से इस प्रकार कहा, तब भावी कथानक का स्मरण कर शुकदेवजी का मन श्रीकृष्ण में तल्लीन हो गया । वे ध्यान की अवस्था में चले गये फिर घण्टा-घड़ी बजाकर, उनके ऊपर गङ्गाजल छिड़क कर, उन्हें व्यवहार-जगत् में लाया गया । तदनन्तर उन्होंने परीक्षित से इस प्रकार कहा—परीक्षित, कृष्ण के एक सखा थे । उनका नाम सुदामा था । जो कृष्ण को प्रेम की डोर से बाँधता है, उसे सुदामा कहते हैं । सखा उसको कहते हैं, जिसका नाम साथ-ही-साथ प्रयोग में आजाय । एक का नाम लेते ही मन में जिस दूसरे का नाम आजाय



उसे सखा कहते हैं। सखा माने समान ख्याति वाला 'सह ख्यायते इति सखा', 'समाना ख्यातिर्यस्यासौ सखा'। जैसे—राम-लक्ष्मण, कृष्ण-अर्जुन। इसी प्रकार कृष्ण-सुदामा की जोड़ी भी संसार में विदित है।

सुदामा ब्राह्मण थे, वेद के बेजोड़ विद्वान् थे और थे साथ-ही-साथ विषयों से विरक्त भी। वे शान्तचित्त और जितेन्द्रिय भी थे—

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः । विरक्त इन्द्रियाथेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥

१०/८०/६

वे गृहस्थ थे। आकाश-वृत्ति से उनका निर्वाह होता था। हरि-इच्छा से जो मिल जाय उसे ही खाकर वे सन्तुष्ट रहते थे। फटे मैले पुराने कपड़े पहनते थे। उनके पास न खाने के लिये अन्न था और न तन पर वस्त्र। उनकी पत्नी सुशीला की भी ठीक यही दशा थी। भोजन के अभाव में दोनों ही अस्थि-पञ्जरमात्र रह गये थे फिर भी उनकी पत्नी एक नम्बर की पतिव्रता थी। वह भूख से व्याकुल थी। उसका मुख सूख गया था। निर्बल शरीर काँप रहा था फिर भी न उसने अपना धैर्य छोड़ा और न धर्म ही।

एक दिन काँपते हुए उसने अपने पतिदेव से सादर हाथ जोड़कर कहा—भगवन्, आप तो कहा करते हैं कि 'श्रीकृष्ण हमारे सखा हैं। मुझसे बहुत प्रेम करते हैं।' यदि साक्षात् लक्ष्मी-पति श्रीकृष्ण आप के सखा हैं, तो भक्त के मनोरथ को पूर्ण करनेवाले वे साधु-सन्तों के, सत्पुरुषों के, एकमात्र आश्रय भी हैं। आप उनके पास जाइये। जब वे जानेंगे कि आप कुटुम्बी हैं और अन्न के अभाव में दुःखी हो रहे हैं, तो वे आप को बहुत-सा धन देकर आपकी सहायता करेंगे। इस समय वे द्वारका में निवास भी कर रहे हैं। सुना है उनकी उदारता अवर्णनीय है। प्रसन्न होने पर दूसरे लोग वस्तुओं का दान करते हैं, किन्तु वे तो अपने आप को ही समर्पित कर देते हैं—

स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ॥१०/८०/११

फिर तो सांसारिक पदार्थों की क्या बात है। किन्तु संयम और सन्तोष के महान् आराधक सुदामा जी पत्नी के कहने पर तनिक भी अपने अयाचक व्रत से डिगे नहीं। किन्तु अत्यन्त मृदुता के साथ जब पत्नी ने बार-बार निवेदन किया तो उनके मन में विचार आया कि चलो इसी बहाने भगवान् के दर्शन भी हो जायेंगे और इस पतिव्रता की बात भी रह जायेगी।

फिर उन्होंने पत्नी से कहा—भगवान् महान् हैं। उनके पास खाली हाथ जाना उचित नहीं है अतः उन्हें भेंट करने के लिये घर में कुछ हो तो लाकर दो। घर में फूटा दाना भी न था फिर वह बेचारी लाकर क्या देती ? किन्तु उसने पड़ोस के चार आश्रमों से चार मुट्ठी पृथुक तण्डुल (चिउड़ा) माँगा। घर में कोई साबूत, साफ-सुथरा कपड़ा नहीं था अतः वह उन्हें फटे-पुराने चिथड़े में बाँधकर एक पोटली बनाकर पतिदेव के हाथों में पकड़ा दिया। सुशीला की निःस्पृहता भी सराहनीय थी। भूख से वह मर रही थी किन्तु भगवान् को भेंट के नाम पर जो कुछ मिला था, उसे उसने पूरा-का-पूरा सुदामा जी को दे दिया। धन्य है, ऐसा धैर्य! वस्तुतः चावल की इस फटी-पुरानी पोटली में सुदामा की गरीबी का सारा इतिहास लिखा हुआ था।

सुदामा पौष शुक्ल सप्तमी के दिन द्वारका के लिये प्रस्थान किये थे। अतिशय ठण्ड के कारण उनका दुर्बल शरीर काँप रहा था। दो-चार किलो मीटर चलने में ही वे श्रान्त होकर एक स्थान पर बैठ गये। वे सोच रहे थे कि द्वारकानाथ के दर्शन होंगे भी या नहीं। फिर उठकर चले। किन्तु रह-रह कर उन्हें मूर्च्छा आजाती थी।

उधर द्वारकाधीश को पता लग गया कि मेरा सुदामा बहुत दिनों के बाद मुझसे मिलने आ रहा है। उन्होंने सोचा कि ऐसे निष्ठावान् सदाचारी, अयाचक, दुर्बल, तपस्वी को पैदल चलाना मुझे शोभा नहीं देता है। उन्होंने सुदामा जी को लाने के लिये गरुड जी को भेजा। गरुड जी सुदामा जी को मूर्च्छा की अवस्था में ही लाकर द्वारका के पास



में उतार दिये और स्वयं चले गये। आँख खुली तो सुदामा जी ने सामने एक विशाल नगरी देखी। पूछने पर पता चला कि यह द्वारकापुरी है। उन्होंने सोचा कि द्वारका वैसे बहुत दूर नहीं है। प्रातःकाल आश्रम से चला था और शाम को यहाँ आ भी गया। वे बेचारे क्या जानते थे कि भगवान् की कृपा ने उन्हें वहाँ पहुँचा दिया था।

पूछते हुए सुदामा जी भगवान् के राजमहल के सामने जा पहुँचे। ब्राह्मण बे-रोक-टोक कृष्ण के महल में प्रवेश कर सकते थे अतः सब फाटक पार कर सुदामा जी वहाँ पहुँच गये जहाँ श्रीकृष्ण जी अपनी प्रिया रुक्मिणी जी के साथ पलङ्ग पर सानन्द विराजमान थे—“प्रियापर्यङ्गमास्थितः” ॥१८॥ जब श्री कृष्ण की दृष्टि सुदामा पर पड़ी तो उन्हें अपने गुरुकुल के इस पुराने साथी को पहचानने में देर न लगी। वे झटके से उठे। प्रिया को एक ओर हटाया और पागल की तरह दौड़ पड़े उस फटे-पुराने कपड़े पहने ब्राह्मण की ओर। वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं से सुदामा को पकड़कर अपनी छाती से लिपटा लिया। मित्र से लिपट कर भगवान् को महान् आनन्द मिला। उनके कमल-नयनों से प्रेम के आँसू बहने लगे। सुदामा भी प्रेम से विह्वल हो रो पड़े।

हिन्दी के एक कवि हैं—नरोत्तमदास। उन्होंने इस प्रसङ्ग का बड़ा ही अद्भुत वर्णन किया है। उनके ही शब्दों में यहाँ कुछ पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं—द्वारपाल ने श्रीकृष्ण से कहा—प्रभो, एक दुर्बल ब्राह्मण द्वार पर खड़ा है। उसके शिर न तो पगड़ी है और न शरीर पर कुर्ता है। न जाने किस गाँव का रहनेवाला है। उसकी धोती फटी है। उसका दुपट्टा भी लटा-फटा है। उसके पाँवों में जूते का निशान भी नहीं है। वह धरती के सौन्दर्य आपके नयनाभिराम भवन को भी चक्का हो देख रहा है। स्वामिन्, वह आप का धाम पूछ रहा है। पूछने पर वह अपना नाम ‘सुदामा’ बतला रहा है—

शीश पगा न झगा तन पै प्रभु जाने को आहि बसै केहिं गामा,  
धोती फटी सिलटी दुपटी अरु पाँय उपनाह की नहि सामा।

द्वार खड़यो द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सों वसुधा अभिरामा,  
पूछत दीनदयालु को धाम बतावत आपन नाम सुदामा॥

इसी भाव को किसी और कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है— उसके शिर पर पगड़ी और पाँवों में पनही तक नहीं है। वह बराबर कन्हैया-कन्हैया की रट लगाये जा रहा है—

न शिर पर है पगड़ी, न पाँवों में पनही कन्हैया कन्हैया कहे जा रहा है।

परीक्षित, दोनों अद्भुत मित्र कुछ क्षणों तक एक-दूसरे से लिपटे रहे फिर भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें गोद में उठाए हुए ही ले जाकर अपनी पलंग पर बैठा दिया और दौड़कर पूजन की सामग्री लाये तथा सविधि उन की पूजा की। उनके चरणों को रगड़-रगड़कर धोया, पानी से नहीं अपनी आँसुओं से धोया—

देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिके करुनानिधि रोये।

पानी परात को हाथ छुअे नहिं नैनन के जल से पग धोये।

पाँव पखार कर जगत्पावन भगवान् ने जल को अपने शिर पर छिड़का—

अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवौल्लोकपावनः ॥१०/८०/२१

फिर उनके मस्तक और शरीर पर चन्दन पोता। धूप दिया। नैवेद्य दिया। ताम्बूल दिया। इस प्रकार षोडशोपचार पूजा सम्पन्न कर ‘मित्र, भले पथारे’—ऐसा कहकर उनका स्वागत किया—‘स्वागतम ब्रवीत्’ ॥२२॥

ब्राह्मण देवता फटे पुराने कपड़े पहने थे। उनका शरीर उत्पन्न मलिन और दुर्बल था। देह की सारी नसें दिखलाई पड़ती थीं फिर भी भगवान् उनकी सेवा स्वयं कर रहे थे। उनकी प्रेरणा से साक्षात् लक्ष्मी रुक्मिणी जी उस मैले-कुचैल ब्राह्मण को चँवर डुला रही थी। अन्तःपुर की स्त्रियाँ यह देखकर अत्यन्त विस्मित हो रही थीं कि पवित्र कीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण अतिशय प्रेम से इस मैले-कुचैले अवधूत ब्राह्मण की पूजा कर रहे हैं—



“देखि सकल तिय श्यामसुंदर गुन पट दै ओट-सबै मुस्क्याती”<sup>१</sup> ।

कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम् । देवी पर्यचरत् साक्षाच्चामरव्यजनेन वै ॥  
अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना । विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ॥

१०/८०/२३-२४

सभी आश्चर्य से चकित होकर सोच रहे थे कि इस अवधूत भिक्षु ने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है, जिससे कि त्रिलोकीनाथ श्रीनिवास ने अपनी पत्नी रूक्मिणी जी को पलंग पर छोड़कर इसे बड़े भैया की तरह हृदय से लगा लिया है ?

स्वागत-सत्कार कर लेने के बाद पलंग पर एक ओर श्यामसुन्दर बैठे थे और दूसरी ओर सुदामा । एक ओर श्रीपति थे तो दूसरी ओर रंकाधिपति । अद्भुत जोड़ी थी यह । भगवान् ने सुदामा का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा— सुदामा जी, गुरु जी को दक्षिणा देकर गुरुकुल से लौटने के बाद आप को अपने अनुरूप भार्या मिली या नहीं ? घर-गृहस्थी में तो आपका मन रमता न था, फिर भी कई लोग निष्काम भाव से भी गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन करते हैं । अच्छा मित्र, यह बतलाओ कि गुरुकुल की कुछ बातें आपको कभी-कभी याद आती हैं कि नहीं ? क्या आप को उस दिन की घटना याद है कि नहीं, जब गुरुपत्नी ने हम दोनों को लकड़ी लाने के लिये वन में भेजा था । वहाँ जाने पर बड़ी भयङ्कर वर्षा हुई । खूब तेज आँधी भी चलने लगी । अँधेरी रात थी । उस समय हम लोग जङ्गल में भटक गये । कुछ सुझाई न पड़ने के कारण हमलोग वहीं पेड़ के नीचे शरण लिये । लौटकर आश्रम में न आसके । जब प्रातःकाल हुआ तब गुरु जी महाराज हमें ढूँढ़ते हुए आये । हम लोगों को पानी से भीगकर काँपते हुए देखा तो बोले— बेटा, तुम लोगों ने हमारे लिये बड़ा कष्ट उठाया । सत् शिष्यों का गुरु के प्रति यही कर्तव्य है कि वे अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपनी शरीर भी उनकी सेवा में समर्पित कर दें । यही गुरु के प्रति सबसे बड़ी निष्कृति होगी—

एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतिम् । यद् वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मारपणं गुरौ ॥

१०/८०/४१

द्विजशिरोमणियों, मैं तुम लोगों पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ । तुम्हारे सारे मनोरथ, सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हों । तुम लोगों ने हम से जो वेदाध्ययन किया है, वह तुम्हें सर्वदा याद रहे तथा इस लोक एवं पर लोक में निष्फल न हो । गुरुजी के ऐसा आशीष देकर चुप हो जाने पर हमलोग शिर पर लकड़ी उठाये और उन्हीं के साथ आश्रम लौट आये । गुरुपत्नी ने भी बहुत-सा आशीर्वाद प्रदान किया । गुरुकुल में निवास-काल की इस प्रकार की और बहुत-सी घटनाएँ हैं । जो कभी-कभी मस्तिष्क में कौंध जाया करती हैं । इसमें सन्देह नहीं कि गुरुदेव जी की कृपा से ही मनुष्य शान्ति का अधिकारी होता है और पूर्णता को प्राप्त करता है—

गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये ॥१०/८०/४३

सुदामा जी ने कहा—भगवन्, आप स्वयं जगत् के गुरु हैं । आपका श्रीविग्रह वेदमय है । वस्तुतः संसार के सामने उदाहरण रखने के लिये ही आप गुरुकुल में अध्ययन की लीला किया करते हैं अन्यथा आप को अध्ययन की क्या आवश्यकता ? जब मैंने आपके साथ गुरुकुल निवास कर लिया तो अब बाकी क्या रह गया ? उसीसे हमने जो प्राप्तव्य था, सब प्राप्त कर लिया ॥८०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह अस्सीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८०॥



## इक्यासीवाँ अध्याय

( सुदामा जी को ऐश्वर्य की प्राप्ति )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—प्रिय परीक्षित, भगवान् इस प्रकार रात्रि में बहुत देर तक मित्र सुदामा से बातें करते रहे। वे सबके मन की बात जाननेवाले हैं। सुदामा भगवान् के अतुल वैभव को देखकर, उनके द्वारा अकल्पनीय आदर पाकर, बहुत सङ्कुचित हो रहे थे। वे बड़े यत्न के साथ चार मुट्ठी चिउड़ा की पोटली काँख में दबाये हुए थे कि कहीं भगवान् देख न लें। वे लज्जा के मारे भगवान् को पत्नी के द्वारा भेजा हुआ उपायन देना नहीं चाहते थे। भगवान् यह सब देख रहे थे। सब कुछ जान रहे थे। सुदामा की स्थिति देखकर, उनकी मनोदशा जानकर भगवान् बातें करते हुए मुस्करा रहे थे। वे बीच-बीच में दृष्टि गड़ा कर पोटली की ओर देखकर जोर से हँस पड़ते थे। वे सोच रहे थे कि कितना निःस्पृह है यह ब्राह्मण! इसने कभी कुछ पाने के लिये मुझे कुछ दिया नहीं है। धन्य है, इसकी निःस्पृहता! जब भगवान् ने देखा कि यह ब्राह्मण मुझे ऐसे नहीं देगा, इससे मुझे ही लेना पड़ेगा, तब कहा—मित्र, तुम मेरे लिये घर से क्या उपायन लाये हो ? भाभी ने मुझे अवश्य कुछ भेजा होगा। देखो, मेरे प्रेमी भक्त जब प्रेम से थोड़ी-सी वस्तु भी मुझे अर्पण करते हैं, तो वह मेरे लिये बहुत हो जाती है परन्तु यदि अभक्त-जन मुझे प्रभूत सम्पत्ति भी भेंट में देते हैं, तो मैं उससे सन्तुष्ट नहीं होता। मैं क्या कहूँ, जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक मुझे पत्र-पुष्प, फल-जल आदि कुछ भी समर्पित करता है, तो मैं उसे बड़े प्रेम से भोग लगाता हूँ—

अण्वप्युपाहतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् । भूर्यप्यभक्तोपहतं न मे तोषाय कल्पते ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति<sup>१</sup> । तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

१०/८१/३-४

इतना कहने पर भी उस ब्राह्मण ने लज्जा के मारे लक्ष्मी-पति भगवान् को चार मुट्ठी चिउड़ा की पोटली नहीं समर्पित की। लक्ष्मी-पति को इतनी तुच्छ भेंट कैसे दूँ—यह सोचकर सुदामा का मुख लटक गया। परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियों के हृदय का एक-एक भाव जाननेवाले हैं। उन्होंने ब्राह्मण के आने का कारण, उनके हृदय की बात जान ली। अब वे विचार करने लगे कि—एक तो यह मेरा प्यारा सखा है, दूसरे इसने पहले कभी किसी कामना से मेरा भजन नहीं किया है। सम्प्रति यह पत्नी के आग्रह से यहाँ आया है अतः अब मैं इसे देव-दुर्लभ सम्पत्ति प्रदान करके ही छोड़ूँगा। ऐसा निश्चय करके भगवान् ने ब्राह्मण की काँख में दबी हुई पोटली छीनने के लिये हाथ बढ़ाया और कहा यह क्या है ? भला इसे देखूँ तो सही। अब तो सुदामा जी उसे छिपावें और भगवान् उसे छीनने का प्रयास करें। झीना-झपटी में पुराना चीथड़ा फट गया और उसमें से चिउड़ा निकल आया। भगवान् ने उसे देखकर कहा—प्यारे मित्र, यह तो तुम मेरे लिये परमप्रिय भेंट लाये हो। ये चिउड़े न केवल मुझे, अपितु सारे संसार को तृप्त करने के लिये पर्याप्त हैं—ऐसा कहकर उन्होंने उसमें से एक मुट्ठी चिउड़ा निकाल कर बड़े प्रेम से मुख में डाल लिया और खाते हुए कहने लगे—वाह-वाह, क्या गजब का स्वाद है इसमें। फिर खाने के लिये भगवान् ने ज्योंही इसकी दूसरी मुट्ठी उठाई, त्यों ही लक्ष्मी रुक्मिणी जी ने उनका हाथ पकड़ कर कहा<sup>२</sup>—नाथ, आप ने एक मुट्ठी चिउड़ा खाकर ही इन्हें विश्व की सारी सम्पत्ति प्रदान कर दी है। अब क्या दूसरी मुट्ठी चिउड़ा खाकर आप मुझे भी इनके हवाले कर देना चाहते हैं, मुझे भी इन्हें प्रदान कर देना चाहते हैं ?—

१. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ भगवद्गीता, ९/२६॥

२. हाथ गहो प्रभु कौ कमला कछो नाथ कहा तुमने चित धारी ।

रंकहैं आपु समान कियो और आपुहिं चाहत होत भिखारी ॥सूरदास॥



इति मुष्टिं सकृज्जगध्वा द्वितीयां जग्धुमाददे । तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥  
एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसम्पत्समृद्धये । अस्मिंल्लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥

१०/८१/१०-११

लक्ष्मी जी के निवेदन को सुनकर भगवान् रुक गये । परीक्षित, सुदामा जी ने अमृतोपम नाना प्रकार का भोजन कर चाँदनी-सी चमकती सुकोमल शय्या पर रातभर विश्राम किया । सबेरा हुआ । सुदामा जी नित्यकृत्य को सम्पन्न कर जाने के लिये तैयार हुए । भगवान् उन्हें कुछ दूर तक पहुँचाने चले । वे बार-बार घुमा-फिरा कर पूछ रहे थे— सुदामा जी, कैसे काम चलता है ? लड़के-बच्चे क्या खाते-पीते हैं ? वे चाहते थे कि सुदामा कुछ मांगे किन्तु दाता से बढ़कर आदाता निकला । सुदामा जी भगवान् के सारे प्रश्नों का एक ही उत्तर देते थे—प्रभो, काम चल जाता है । उन्होंने कुछ भी माँगा नहीं । भगवान् ने सुदामा को रोका भी नहीं, क्योंकि वहाँ सुदामा की पत्नी बिना कुछ खाये-पिये पतिदेव की प्रतीक्षा कर रही थी ।

सुदामा जी चले जा रहे थे, रास्ते में और सोचते भी जा रहे थे—अहो, कितने आश्चर्य और आनन्द की बात है ! धन्य-धन्य हे, भगवान् श्रीकृष्ण की ब्राह्मणभक्ति ! उन्होंने अपनी बराबरी में मुझे उस शय्या पर विराजमान कराया जिस पर लक्ष्मीजी शयन करती थीं । साक्षात् लक्ष्मीरूप रुक्मिणी जी से पंखा झुलवाया । अपने हाथों से मेरा पैर दबाते रहे । धन्य है भगवान् की यह भक्त-वत्सलता । क्या अद्भुत कृपा है भगवान् की मेरे ऊपर ! उन्होंने सोचा कि सुदामा धन पाकर कहीं मुझे भूल न जाय, इसलिये मुझे धन नहीं प्रदान किया । यह बहुत ही अच्छा हुआ । कुछ दूर जाने के बाद वह शान्त होकर बैठ गये । उन्हें झपकी-सी आगई । भगवान् की प्रेरणा से गरुड ने उन्हें उनके आश्रम के समीप पहुँचा दिया । जब आँख खुली तो देखा कि वे अपने आश्रम के पास के स्थान पर तो आ गये हैं किन्तु उनकी टूटी-फूटी कुटिया नहीं दिखलाई पड़ रही है । उसके स्थान पर तो चन्द्र-सूर्य-सा चमकता हुआ एक गगन-चुम्बी दिव्य महल खड़ा है । महल के चतुर्दिक् वन-उपवन की दिव्य प्रभा बिखर रही है । भौरे गुञ्जार कर रहे हैं । चिड़ियाँ चहचहा रही हैं । स्वर्गीय वातावरण सर्वत्र व्याप्त है । बहुत-सी दास-दासियाँ घूम-घूम कर देख-भाल कर रही हैं । उनका वेष-भूषा अनुपम है ।

सुदामा जी इस प्रकार के उधेड़-बुन में लगे ही थे कि दास-दासियों का समूह गाते-बजाते उनकी अगवानी के लिये आ पहुँचा । पत्नी को जब पता लगा तो वह पतिदेव को लेने के लिये महल से निकल पड़ी । उस समय वह साक्षात् लक्ष्मी जैसी प्रतीत हो रही थी । पतिदेव को सामने देख कर पत्नी सुशीला के नेत्रों में आँसू छल-छला आये । उसने अपने नेत्र बन्द कर लिये फिर उसने बड़े प्रेमभाव से उनका पैर छुआ और मन-ही-मन आलिंगन भी किया । पत्नी का अतिदिव्य रूप देखकर सुदामा आश्चर्यचकित हो उठे । दासियों के साथ सुशीला अपने पतिदेव को सादर महल के भीतर ले गई वहाँ सुदामा ने देखा कि भवन में मणियों के शताधिक स्तम्भ लगे हैं । कमरों में दुग्धफेन की तरह धवल शय्याएँ बिछी हैं । चौकियाँ सोने और चाँदी की थीं । उन पर अति सुकोमल मखमली गद्दियाँ बिछी हैं । चारों ओर मोती की मालाएँ लटक रही हैं । भवन के भीतर, देवराज इन्द्र के भवन की तरह सारी भोग-सामग्रियाँ भरी पड़ी हैं । यह अकल्पनीय दृश्य देखकर सुदामा ने मन-ही-मन कहा—मैं जन्म से ही भाग्यहीन और दरिद्र हूँ फिर मेरी इस अतुलनीय समृद्धि का कारण क्या है ? अवश्य ही परमैश्वर्यशाली यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण के कृपा-कटाक्ष के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं हो सकता । मुझ भाग्यहीन को यह सब उन्होंने ही कृपा करके प्रदान किया है—



नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य, शश्वदरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।  
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो नैवोपपद्येत यदुत्तमस्य ॥ १०/८१/३३

भगवान् ने मुझे बिना माँगे ही यह सब प्रदान कर दिया। उनकी विशेषता यह है कि वे बहुत कुछ दे देते हैं, किन्तु कहते कुछ भी नहीं हैं। भक्त द्वारा समर्पित स्वल्प वस्तु को भी वे बहुत अधिक समझते हैं और अपने द्वारा प्रदान की गई महान् विभूति को भी वे अति स्वल्प मानते हैं। देखो तो सही ! मैंने उन्हें केवल एक मुट्ठी चिउड़ा भेंट किया था, किन्तु उनकी उदारता यह कि उसे उन्होंने बड़े प्रेम से खाया। मेरी कामना है कि जन्म-जन्मान्तरों में भी मेरा सख्य, मेरी मैत्री उन्हीं के साथ बनी रहे। मैं सर्वदा उनका दास बना रहूँ—“दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्” ॥३६॥ भक्त को धन और ऐश्वर्य का मद न हो जाय, इसलिये वे माँगने पर भी उसे सम्पत्ति नहीं प्रदान करते। यह तो उनकी महती कृपा है कि उन्होंने मुझे यह सब दे डाला। परीक्षित, ऐसा सोच-विचार कर ब्राह्मण देवता अपनी पत्नी के साथ, अनासक्त भाव से जीवन-यात्रा-निर्वाहार्थ भगवान् का प्रसाद समझकर विषयों को ग्रहण करने लगे और भगवद्भजन में पहले की अपेक्षा द्विगुणित तन्मयता से लग गये। कुछ समय के बाद प्रारब्ध कर्म के फलस्वरूप शरीर के समाप्त होने पर सुशीला और सुदामा—दोनों पति-पत्नी भगवान् के धाम में पधारे।

परीक्षित, ब्राह्मणों को अपना आराध्य समझनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण की इस ब्राह्मण-भक्ति को जो सुनता है, वह भगवान् की अविचल भक्ति प्राप्त कर कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥८१॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह इक्यासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८१॥

## बयासीवाँ अध्याय

( सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम से गोप-गोपियों की भेंट )

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम द्वारा का में निवास कर रहे थे, उस समय एक बार ‘सर्वज्ञास सूर्य-ग्रहण’ लगा। यह सूर्य-ग्रहण वैसा ही था जैसा कि प्रलय की बेला में लगा करता है—

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः । सूर्योपरागः सुमहानासीत् कल्पक्षये यथा ॥

१०/८२/११

विशेष— भारतीय धर्म-मर्यादा के अनुसार चन्द्रग्रहण का स्नान काशी में और सूर्य-ग्रहण का स्नान कुरुक्षेत्र में करना चाहिये।

मनुष्यों को ज्योतिषियों के द्वारा उस ग्रहण का पता पहले से ही चल गया था इसलिये सबलोग अपने-अपने कल्याण की कामना से पुण्य उपार्जन करने के लिये कुरुक्षेत्र के समन्त-पञ्चक<sup>१</sup> क्षेत्र में आये।

विशेष— परशुराम जी ने विधर्मी क्षत्रियों का विनाश करके कुरुक्षेत्र में पाँच तालाबों को बनाकर उन्हें रक्त से भर दिया था फिर भगवान् की आराधना भी की थी और लोगों को प्रायश्चित्त का मार्ग दिखाने के लिए प्रायश्चित्त भी किया था ॥

१. समन्त-पञ्चक शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जाती है—

पञ्चानां परशुरामकृतानां पञ्चानां हृदानां समूहः पञ्चकं तस्य समन्ते समीपे वर्तमानो देशः समन्तपञ्चकः ।



ग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में भारतवर्ष के सब प्रान्तों से धार्मिक प्रजा एकत्रित हुई थी। वृष्णिवंशी, अक्रूर, वसुदेव, उग्रसेन, गद, प्रद्युम्न, साम्ब आदि सभी वीर स्नान करने के लिये रथ पर आरूढ होकर वहाँ पहुँचे थे। अनिरुद्ध और सेनापति कृतवर्मा ये दो वीर द्वारका की रक्षा कर रहे थे। यदुवंशियों ने कुरुक्षेत्र में पहुँच कर स्नान-दान किया और ग्रहण के समय में निश्चित समय तक उपवास किया। फिर लोगों ने रामहृद में स्नान कर, राम-कृष्ण के चरणों में हमारी भक्ति हो इस संकल्प के साथ ब्राह्मणों को सोना-चाँदी आदि विविध वस्तुओं का प्रभूत दान किया। गायें प्रदान कीं और सुस्वाद भोजन भी कराया। तदनन्तर उनसे आज्ञा लेकर उन्होंने वृक्षों की छाया में बैठकर सानन्द यथेच्छ भोजन कर विश्राम किया।

उस समय कुरुक्षेत्र में मत्स्य, उशीनर, कोसल, विदर्भ, कुरु, सुञ्जय आदि देशों के नरेश और प्रजा-जन पधारे थे। एक दूसरे से मिलकर सबको बड़ा आनन्द आया। स्त्रियाँ भी परस्पर मिलीं। यदुवंशी भी सबसे मिले और कृष्ण की चर्चा चलने लगी। कुन्ती भी अपने भाई-बहनों से मिलीं। उन्होंने उलाहना देते हुए वसुदेव से कहा कि—मैया, आप लोगों ने तो विपत्ति में पड़े हुए हम लोगों को भुला ही दिया है। वसुदेव ने कहा—बहन, पहले तो हम लोग ही बड़ी विपत्ति में पड़े थे किन्तु अब जब राज्य-सम्पत्ति मिल गई तो अवश्य हम लोगों से कुछ भूल हो गई।

कुरुक्षेत्र में यदुवंशियों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम जी आये थे। वहाँ जितने भी राजा अथवा अन्य लोग थे सब-के-सब श्रीकृष्ण का दर्शन कर कृतार्थ हो गये। भीष्म, द्रोण, विराट्, भीष्मक, पुरुजित्, द्रुपद, शल्य, काशिराज आदि सभी श्रीकृष्ण की झाँकी पाकर आनन्द में निमग्न हो गये। वे लोग उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे कि—वेदों ने बड़े आदर के साथ श्रीकृष्ण की कीर्ति का गान किया है। इनके चरणधोवन का जल गङ्गाजल, इनकी वाणी—शास्त्र और इनकी कीर्ति सारे संसार को पवित्र कर रही है।

कुरुक्षेत्र में अन्य लोगों की भाँति नन्दबाबा भी यशोदा मैया और अन्य गोप-गोपियों के साथ आये थे। उनका प्रधान लक्ष्य था श्रीकृष्ण और बलराम से मिलना। यदुवंशी नन्दबाबा आदि से मिल कर बहुत प्रसन्न हुए। वे लोग एक दूसरे से मिलने के लिये बहुत दिनों से आतुर हो रहे थे—

नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान् ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान् । तत्रागमद् द्यूतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया ॥

तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः । परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥

१०/८२/३२-३३

देखते ही वे परस्पर एक-दूसरे से लिपट गये। वसुदेव जी ने अत्यन्त प्रेम और आनन्द से विह्वल होकर नन्द जी को हृदय से लगा लिया। उस समय उन्हें एक-एक करके सारी बातें याद आने लगीं—कंस किस प्रकार उन्हें कष्ट देता था और किस प्रकार उन्होंने अपने पुत्र को गोकुल में ले जाकर नन्द जी के घर रख दिया था।

परीक्षित, जिस समय कृष्ण और बलराम मैया यशोदा और बाबानन्द से मिले उस समय की स्थिति अवर्णनीय है। नन्द और यशोदा एक साथ बैठे थे। कृष्ण और बलराम ने उन्हें देखा। देखते ही भाव-विह्वल हो उठे। दोनों भाइयों में मानो पुनः बचपन आ गया हो। वे दौड़ पड़े मैया और बाबा की ओर। जाकर शिशु की भाँति लिपट गये अपने पालक माता-पिता से और उनके चरणों पर अपना मस्तक रखकर प्रणाम किया। उस समय प्रेम के उद्रेक से दोनों भाइयों का गला रूँध गया। वे कुछ भी बोल न सके। महाभाग्यशालिनी यशोदा मैया और बाबा नन्द ने दोनों पुत्रों को अपनी गोद में बैठा लिया। उँगलियों से उनका शिर सहलाने लगे। इससे कुछ क्षणों के लिये उनका चिरवियोगजन्य दुःख जाता रहा।

रोहिणी और देवकी जब यशोदा के सामने आईं तो उस समय का दृश्य बहुत ही कारुणिक था। रोहिणी अपने



बालक बलराम के साथ यशोदा मैया के संरक्षण में उसी प्रकार सुख पूर्वक रहीं जैसे बिटिया माता के पास रहती है । उस समय यशोदा के द्वारा किया गया मृदु आत्मीय व्यवहार आज रोहिणी के मन में करुण बनकर उमड़ रहा था । देवकी तो अपने आपको यशोदा की चिरऋणी समझ रही थी । यदि आँख की पुतली की तरह कन्हैया को मैया ने न पाला होता तो आज उन्हें अपना बेटा कहाँ मिलता ? अतः रोहिणी और देवकी जी ने ब्रजरानी यशोदा को अपनी अँकवार में भर लिया । यशोदा जी ने उन दोनों के साथ जो व्यवहार किया था, उसका स्मरण करके दोनों का कण्ठ अवरुद्ध हो गया था । वे किसी-किसी प्रकार अपने को सँभाल कर यशोदा से कहने लगीं—नन्दरानी जी, आपके और आपके पति बाबानन्द के उपकारों का बदला हम इन्द्र का ऐश्वर्य पाकर भी नहीं चुका सकतीं । ब्रजेश्वरी जी, भला ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो आप के उस उपकार को भूल सके ?—

स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः । का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां ब्रजेश्वरि ॥

अवाप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥ १०/८२/३६-३८

देवि, जिस समय बलराम और श्रीकृष्ण ने अपने माँ-बाप को देखा तक न था और इनके पिता ने धरोहर के रूप में इन्हें आप दोनों के पास रख छोड़ा था, उस समय आपने इन दोनों की इस प्रकार रक्षा की, जैसे पलकें पुतलियों की रक्षा करती हैं तथा आप लोगों ने ही इन्हें खिलाया-पिलाया, दुलार किया और रिझाया, इनके मंगल के लिये विविध उत्सव मनाये । सच तो यह है कि इनके माँ-बाप आप ही लोग हैं । आपके शीतल आँचल की छाया में इन्हें किसी प्रकार की आँच तक न लगी, ये सर्वथा निर्भय रहे । ऐसा करना आप लोगों के अनुरूप ही था क्योंकि सत्पुरुषों की दृष्टि में अपने-पराये का भेद-भाव नहीं रहता । नन्दरानी जी, वस्तुतः आप लोग परम सन्त हैं—“न सतां परः स्वः” ॥३९॥

गोपियों ने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण आये हुए हैं, तो उनका मन उनसे मिलने के लिये मचलने लगा । इसी समय रुक्मिणी जी को परिहास सूझा । वे भगवान् कृष्ण के पास जाकर ईर्ष्या के साथ कहने लगीं—प्राण-बल्लभ, इन गोपियों में आप के बचपन की सखी राधारानी कौन है ? उसने ही तो स्वल्प अवस्था में आप को परम चतुर बना दिया था, आपको चोरी की सारी कलाएँ सिखला दी थी । आप का हृदय उसके गुणों की माला निरन्तर जपता रहता है । आप उसी का मन में स्मरण करते हैं, उसी के रूप का ध्यान करते हैं और उसकी प्रतिकृति को निर्निमेष नयनों से निहार करते हैं ।

रुक्मिणी के प्रश्न को सुनकर कृष्ण ने कहा—रुक्मिणी जी, वह देखिये, भोरी-भारी सुकुमारी राजदुलारी राधारानी खड़ी हैं । उनका गोरा-गोरा, भोरा-भोरा शरीर है । उनके तनपर नीले रङ्ग की साड़ी शोभायमान है । जब वे जरा नजर टेढ़ी कर मेरी ओर देखती हैं, तो मेरे मन का हरण कर लेती हैं । मेरा मन दास की भाँति उनका अनुवर्तन करने लगता है—

बुझति हैं रुकुमिनि इन मैं कौ बृषभानु किशोरी,  
नैकु हमें दिखरावहु अपने बालापन की जोरी ।  
परम चतुर जिन कीन्हें मोहन, अल्प बैस ही शोरी ।  
बारे तैं जिहिं यहाँ पढ़ायौ, बुधि कलविधि चोरी ॥  
जाके गुन गनि ग्रंथितमाला, कबहुँ न उरतैं छोरी ।  
मनसा सुमिरन, रूप ध्यान उर, दीठि न इत उत फेरी ।  
वह लखि जुवति वृंद में ठाढ़ी, नीलवसन तन गोरी ।

सूरदास मेरी मनु हाकीं जितवनि बंक हार्यो श्री ।—सूरसागर



फिर भगवान् श्रीकृष्ण एकान्त में जाकर गोपियों से मिलें। सान्त्वना प्रदान की और उन्हें गले लगाया तथा हँसकर उनका कुशल-समाचार पूछा। उन्हें शान्त्वना प्रदान की और ज्ञान का उपदेश दिया। जिसे सुनकर उनका वियोगजन्य ताप दूर हो गया। अन्त में, सारी गोपियों ने हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना की कि—हे नाथ, आप हम लोगों पर ऐसा अनुग्रह करें जिससे गृहस्थी में रहते हुए भी हमारा मन सदा-सर्वदा आपके ही श्रीचरणों में लगा रहे। महान् ज्ञानी बड़े-बड़े योगेश्वर भी अपने हृदय-कमल में उसीका निरन्तर चिन्तन किया करते हैं। संसार रूपी कूप में पड़े हुए लोगों को उबारनेवाले एकमात्र आपके ये चरण कमल ही हैं—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।

संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥ १०/८२/४९  
भगवान् ने “तथास्तु” कहकर उनका मनोरथ पूरा किया ॥८२॥

हृदय—भागवतकार भगवान् व्यास ने कुरुक्षेत्र का प्रसङ्ग उपस्थित कर यह प्रतिपादित किया है कि वृन्दावन से आगमन के बाद गोपियों से, गोपों से और नन्द-यशोदा से यह उनकी प्रथम भेंट थी तथा यही उनकी अन्तिम भेंट भी है। इसके विपरीत जो बीच में मिलन दिखलाने का प्रयास करते हैं, वे भ्रान्त हैं ॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह बयासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८२॥

## तिरासीवाँ अध्याय

( भगवान् की पटरानियों के द्वारा द्रौपदी से अपने-अपने विवाह की घटना का वर्णन )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भगवान् ने इस प्रकार गोपियों पर अनुग्रह की वृष्टि कर धर्मराज युधिष्ठिर तथा अन्य समस्त सम्बन्धियों से कुशल-मङ्गल पूछा। भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का दर्शन हो जाने से ही उनके सारे अशुभ नष्ट हो चुके थे अतः परमानन्द में निमग्न होकर उन लोगों ने कहा—भगवन्, जब तक आप की मङ्गलकारिणी कथा सुनने को मिलती है, आपके दिव्य चरित्र सुनने को मिलते हैं, तब तक हमारे अमङ्गल की सम्भावना ही कैसे की जा सकती है ? आप तो परमानन्दस्वरूप अकुण्ठशक्ति हैं। हम आपको बारम्बार प्रणाम करते हैं।

परीक्षित, जब सभी लोग इस प्रकार भगवान् के गुणों का वर्णन कर रहे थे, उसी समय यादव और कौरवकुल की स्त्रियाँ एकत्र होकर परस्पर भगवान् की त्रिभुवन-मोहिनी लीलाओं का वर्णन कर रही थीं। अब मैं तुम्हें उन्हीं की बातें सुनाता हूँ। सावधान होकर सुनो—

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जनेष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः ।

समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगुणंस्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥ १०/८३/५१

सबके केन्द्र में बैठी थी द्रौपदी। द्रौपदी ने कृष्ण की पटरानियों से और अन्य स्त्रियों से पूछा—मेरी प्यारी भगवान् की दुलारी भाभियों, अब आप लोग अपने-अपने विवाह का प्रसङ्ग क्रमशः हमको सुनाओ। भैया ने जिस प्रकार आप लोगों से विवाह किया, वह प्रसङ्ग मैं सुनना चाहती हूँ।

रुक्मिणी जी ने कहा—सभी लोग मेरा विवाह शिशुपाल से करना चाहते थे। वीर-राजाओं की विशाल वाहिनी उसकी सहायता के लिये मेरे नगर में सन्नद्ध होकर डटी थी किन्तु भगवान् ने सबके बीच में से, उसी प्रकार उठाकर



मेरा हरण कर लिया, जैसे भेंड़-बकरियों के मध्य से सिंह दहाड़ते हुए अपना भाग हर लेता है। मेरी कामना है कि सकल सौन्दर्यों के आश्रय भगवान् के चरण-कमल जन्म-जन्म मुझे आराधना करने के लिये प्राप्त होते रहें, मैं उन्हीं की सेवा में सर्वदा संलग्न रहूँ।

सत्यभामा ने कहा—मेरे पिता सत्राजित् थे। वे अपने लघु बन्धु प्रसेन की मृत्यु से बहुत दुःखी हो रहे थे अतः उन्होंने उनके वध का कलङ्क भगवान् पर ही लगाया। उस कलङ्क को दूर करने के लिये भगवान् ने ऋक्षराज जाम्बवान् पर विजय प्राप्त की और वह रत्न लाकर सबके सामने मेरे पिताजी को दे दिया। इस पर भयभीत और लज्जित होकर मेरे पिता सत्राजित् ने रत्न के साथ, मुझे भगवान् के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया।

जाम्बवती ने कहा—मैं ऋक्षराज जाम्बवान् की बेटी हूँ। उन्होंने भगवान् के साथ सत्ताईस दिनों तक युद्ध किया था। उन्हें यह नहीं विदित था कि पूर्व अवतार में यही मेरे स्वामी श्रीराम थे। जब उन्हें इसका बोध हुआ, तब इनके चरण-कमल पकड़कर स्यमन्तकमणि के साथ उपहार के रूप में मुझे समर्पित कर दिया। मैं यही चाहती हूँ कि जन्म-जन्म इन्हीं की दासी बनी रहूँ—

ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्शनं मां पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी॥१०/८३/१०

कालिन्दी ने कहा—अपने चरण-कमल की उपासना के लिये यमुना के जल में खड़ी होकर तप करती हुई जानकर भगवान् ने अपने सखा अर्जुन के साथ वहाँ पहुँच कर मुझे स्वीकार कर लिया। मेरी कामना यही है कि मैं उनका घर बुहारनेवाली दासी बनी रहूँ।

मित्रविन्दा (शैव्या) ने कहा—मेरे पिता नग्नजित् ने मेरे स्वयंवर में यह शर्त रखी थी कि जो मेरे अदम्य सात बैलों को पकड़कर एक साथ नाथेगा उसके साथ मैं अपनी बेटी का विवाह करूँगा। जब कोई वीर इस कार्य को न कर सका तब भगवान् ने सातों बैलों को एक साथ नाथ कर मेरे साथ विवाह किया।

भद्रा ने कहा—द्रौपदी जी, भगवान् मेरे मामा के पुत्र हैं। इनके प्रथम दर्शन की बेला में ही मैंने अपना मन, तन और यौवन सब कुछ इन्हीं पर न्योछावर कर दिया था अतः मेरे पिता जी ने स्वयं इन्हें बुलाकर मेरा हाथ इनके हाथों में पकड़ा दिया। मेरी मनीषा है कि मुझे जन्म-जन्म इनके चरण ही सेवा करने के लिये प्राप्त होते रहें।

लक्ष्मणा ने कहा—देवी, मैंने नारद जी के द्वारा इनका गुण-वर्णन सुनकर अपने हृदय में निश्चय कर लिया था कि—मैं अपना विवाह भगवान् श्रीकृष्ण से ही करूँगी। इस बात को जानकर मेरे पिता बृहत्सेन ने एक उपाय रचा। उन्होंने मत्स्य-वेध की योजना बनाई। जैसे पाण्डव वीर अर्जुन की प्राप्ति के लिये आप के पिता ने स्वयंवर में मत्स्यवेध का आयोजन किया था, उसी प्रकार मेरे पिता ने भी किया। आपके स्वयंवर की अपेक्षा मेरे यहाँ यह विशेषता थी कि मत्स्य बाहर से ढका हुआ था, केवल जल में ही उसकी परछाई दिखलाई पड़ती थी। जल में देखकर नीची दृष्टि किये हुए ही ऊपर लक्ष्य का भेदन करना था। जब कोई भी वीर इस अतिदुष्कर कार्य को न कर सका, यहाँ तक कि वीरवर अर्जुन भी फेल हो गये, तब भगवान् ने लक्ष्य-भेदकर मुझे प्राप्त किया और द्वारका में लाकर मेरे साथ विवाह किया। अवश्य हमलोगों का कोई पूर्व पुण्य प्रभावी था, तभी तो हम इस जन्म में भगवान् की गृहदासियाँ बन सकी हैं।

सोलह हजार पत्नियों की ओर से रोहिणी जी ने कहा—देवि, भूमि का पुत्र था—भौमासुर। उसने दिग्विजय के समय बहुत-से राजाओं को जीतकर उनकी कन्या हमलोगों को अपने महल में बन्दी बना रक्खा था। हम सभी भगवान् श्रीकृष्ण को अपना पति बनाना चाहती थीं अतः उन्होंने संग्राम में भौमासुर का वध कर डाला और हमलोगों को वहाँ से मुक्त कर अपनी दासी बना लिया। वे हमलोगों को द्वारका लाये। वहाँ सब के साथ सविधि विवाह किया।



हमलोग भगवान् के चरण-रज को सर्वदा शिर से धारण करती रहें—यही हमारी कामना है। भगवान् के चरण की धूलि के अतिरिक्त हमें साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य, यहाँ तक कि सायुज्य मुक्ति की भी कामना नहीं है। आप हमें आशीर्वाद दें कि हम लोग उनकी दासी बनकर सर्वदा उनके चरण-कमल की सेवा करती रहें।

इस प्रकार श्रीकृष्ण की सभी पत्नियों ने अपने-अपने विवाह की संक्षिप्त कथा सुनाई और यह प्रकट किया कि उनके पति उनसे ही अधिक प्रेम करते हैं ॥८३॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह तिरासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८३॥

## चौरासीवाँ अध्याय

( वसुदेव जी का यज्ञ-महोत्सव )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, समागत राजाओं की स्त्रियाँ और आई हुई व्रज की गोपियाँ श्रीकृष्ण की पत्नियों का उनके ऊपर अलौकिक प्रेम देखकर मुग्ध हो उठीं। सब के नेत्रों में प्रेम के आँसू छलछला आये। इस प्रकार के प्रेम के लिये उन लोगों ने कृष्ण की स्त्रियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

उसी समय कृष्ण और बलराम का दर्शन करने के लिये व्यास, नारद, देवल, असित और विश्वामित्र आदि महान् ऋषि-मुनि वहाँ पधारे। उन्हें आया हुआ देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने वहाँ उपस्थित अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ उठकर उनकी अगवानी की, प्रणाम किया और अर्घ्य-पाद्य समर्पित कर उनका सविधि पूजन किया। ऋषियों के स्वस्थ होकर बैठ जाने पर भगवान् ने, हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रता के साथ, कहा—महात्माओं, आज आप लोगों का देव-दुर्लभ दर्शन प्राप्त कर हम लोगों का जन्म सफल होगया। जिनके पुण्य स्वल्प हैं, जो मूर्ति-विशेष में ही देव-दर्शन के आदी हैं, ऐसे व्यक्तियों को आप लोगों के दर्शन-पूजन का अवसर कहाँ मिलता है ? केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं कहलाते और केवल मिट्टी या पत्थर की प्रतिमाएँ ही देवता नहीं होती; वस्तुतः सन्त-महात्मा ही सच्चे तीर्थ और देवता हैं। तीर्थ तो चिरकाल तक सेवन करने पर फलदायक होते हैं, परन्तु सन्त पुरुष तो अपने दर्शनमात्र से ही कृतार्थ कर देते हैं—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥

१०/८४/११

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारा, पृथिवी और जल चाहे मूर्ति के रूप में हों, और चाहे तत्त्व के रूप में हों, इनकी उपासना करने से भेद-बुद्धि बढ़ती है। परन्तु सत्पुरुषों की, विपश्चितों की, दो घड़ी की सेवा से भी कल्याण हो जाता है—“विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया” ॥१२॥

जो लोग वात, पित्त और कफ—इन त्रिधातुओं से बने हुए शवतुल्य इस शरीर को आत्मा मानते हैं, स्त्री-पुरुष आदि में आत्मीय बुद्धि रखते हैं, मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव विकारों को ही इष्टदेव समझते हैं तथा जो केवल जल को ही तीर्थ समझते हैं, किन्तु ज्ञानी महात्माओं में ऐसी बुद्धि नहीं रखते, उन्हें विद्वानों ने भार ढोने वाला, मनुष्य रूप में वर्तमान, गधा कहा है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।

यतीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥१०/८४/१३



परीक्षित, भगवान् के इन गूढ़ वचनों को सुनकर महात्मा लोग चुप रह गये। उनकी बुद्धि चकरा गई। वे परस्पर कहने लगे कि भगवान् के वचनों का अभिप्राय समझना बड़ा कठिन है—‘वचो दुरन्ध्रं विप्राः’ ॥१४॥ उन्होंने बहुत देर तक सोच-विचार कर कहा—भगवान् लोकसंग्रह के लिये ही ऐसा कह रहे हैं। जिससे संसार के जन महात्माओं का आदर-सत्कार करें। इसके बाद मुनियों ने भगवान् की बड़ी दिव्य स्तुति की फिर वे भगवान् से आज्ञा लेकर अपने-अपने आश्रमों को जाने के लिये तैयार हुए। उसी समय वहाँ वसुदेवजी पहुँचे। उन्होंने महात्माओं का चरण-वन्दन कर कहा—ऋषियों, आप लोग सर्वदेवमय हैं। सारे देवता आप के श्रीविग्रह में निवास करते हैं। मैं आप लोगों को बार-बार प्रणाम करता हूँ। मेरी एक जिज्ञासा है कृपया आपलोग उसका उत्तर दें—प्राणी किस प्रकार के कर्म द्वारा कर्म-बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर सकता है ?—

नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ । कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥

१०/८४/२९

वसुदेव के प्रश्न का अभिप्राय यह है कि—केवल कर्म के द्वारा कर्म की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जब कर्म होगा, तब कर्तापन बना रहेगा। कर्म-वासना भी बनी रहेगी और कर्म का फल भी मिलेगा फिर कर्म से कर्म-बन्धन की समाप्ति कैसे होगी ?

महर्षियों के समूह में नारद जी भी थे। उन्होंने कहा—महात्माओं, वसुदेव का जिज्ञासा के रूप में किया गया प्रश्न ठीक ही है। इनके प्रश्न को सुनकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। भगवान् कृष्ण के साथ रहते हुए यह उन्हें अपना बालक ही समझते हैं। मनुष्यों का सार्वकालिक सान्निध्य उनके अवमूल्यन का कारण बनता है। गङ्गा के पावन-तट-वासी लोग सोचते हैं कि हम पुष्कर, कुरुक्षेत्र आदि सरोवरों में स्नान कर पवित्र हो जायेंगे परन्तु इस भूतल पर गङ्गा जी से बढ़कर दूसरा तीर्थ है ही नहीं। शास्त्रों के अनुसार दूसरे तीर्थों में स्नान करते समय यह भावना करनी चाहिये कि हम गंगाजी में स्नान कर रहे हैं किन्तु यदि गंगा में स्नान कर रहे हों तो किसी नदी या सरोवर का स्मरण न करें, सीधे गंगा की भावना से ही गंगा में स्नान करना चाहिये—

सन्निकर्षो हि मर्त्यानामनादरकरणकारणम् । गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्ध्ये ॥

१०/८४/३१

परीक्षित, इसके बाद ऋषियों ने श्रीकृष्ण और बलराम के सामने ही कहा—वसुदेव जी, हम आप को कर्म से कर्मनिर्हार का उपाय बतला रहे हैं। सावधान होकर सुनें—उपाय यह है कि आपके पास शुद्ध कमाई का जो धन है उससे श्रद्धापूर्वक यज्ञ करके यज्ञपति भगवान् की आराधना करें। निष्काम भाव से यज्ञ करते हुए फल भगवान् को अर्पित कर दें। कभी भी फल की इच्छा न करें। ऐसा करने से कर्मों का समूल नाश हो जाता है फिर वे कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। यही है कर्म से कर्म का निर्हार। मनुष्य जन्म के साथ ही तीन ऋण लेकर आता है—ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और देव-ऋण। यज्ञों से देव-ऋण, वेदाध्ययन से ऋषि-ऋण और पुत्रोत्पादन से पितृ-ऋण से मुक्ति मिलती है। इन ऋणों से मुक्त होने के बाद ही संन्यास लेने का विधान है। वसुदेव, आपको क्या करना है ? साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्ण ही आप के पुत्र हैं। आप श्रद्धा और भक्ति के साथ इन्हीं का यजन करें, पूजन करें। इससे निःसन्देह आप की सकल कामनाएँ पूरी हो जायेंगी—

वसुदेव भवान् नूनं भक्त्या परमया हरिम् । जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद् वां पुत्रतां गतः ॥

१०/८४/४१

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, वसुदेव जी ने ऋषियों की यह बात सुनकर, उनके चरणों में शिर रख कर



प्रणाम किया, उन्हें प्रसन्न किया और यज्ञ के लिये, ऋत्विजों के रूप में, उनका वरण कर लिया। बड़ा भारी महोत्सव मनाया गया। बाजे बजने लगे। नट-नर्तक नाचने लगे। सूत, माधग, बन्दी स्तुति करने लगे। गन्धर्व गान करने लगे। ऋत्विजों ने वसुदेव को दीक्षा देकर उनका विधिपूर्वक यज्ञ आरम्भ कराया। उस समय, जैसे चन्द्रमा के साथ ताराएँ होती हैं, वैसे ही वसुदेव के साथ उनकी अट्टारह पत्नियाँ विराजमान थीं। बड़े विधि-विधान के साथ यज्ञ सम्पन्न किया गया। वसुदेव ने यज्ञ में समागत अपने बन्धु-बान्धवों का समुचित सत्कार किया, ऋत्विजों को विपुल दक्षिणा देकर उनका पूजन किया। यज्ञ की सारी क्रियाओं के पूरी हो जाने पर ऋषियों, मुनियों ने वसुदेव को आशीष दिया और उनसे विदा होकर अपने-अपने आश्रमों पर चले गये। तदनन्तर सारे सगे-सम्बन्धी और राजा लोग सम्मान के साथ विदा होकर अपने स्थानों के लिये प्रस्थान किये।

वसुदेव जी का महान् मनोरथ पूरा हुआ। उनके आनन्द की सीमा न थी। उस समय उन्होंने नन्दबाबा का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—भैया नन्द जी, आपने हमारा महान् उपकार किया है। हम उस उपकार का बदला सौ जन्मों में भी नहीं चुका सकते। भविष्य में भी आप ऐसी ही कृपा बनाये रखें—यह हमारी विनती है। ऐसा कहकर वसुदेव जी नन्दबाबा की मित्रता और उपकार का स्मरण कर रो पड़े। नन्द जी अपने सखा वसुदेव जी को प्रसन्न करने के लिये एवं भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम जी के प्रेम-पाश में बँधकर आज-कल करते-करते तीन महीने तक वहीं रह गये। यदुवंशियों ने जी भर कर उनका सम्मान किया। वसुदेव जी, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलराम, उद्धव आदि यदुवंशियों ने प्रस्थान की बेला में अलग-अलग उन्हें विविध भेंट प्रदान की। नन्द आदि गोप और गोपियों का मन भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में इस प्रकार रम गया था कि वह वहाँ से अलग ही नहीं हो रहा था। किसी-किसी प्रकार वे लोग वहाँ से मथुरा के लिये प्रस्थान किये—

नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे । मनं क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः ॥

१०/८४/६९

सबके चले जाने के अनन्तर, वर्षा ऋतु को आसन्न देखकर, यदुवंशी भी द्वारका चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने सब लोगों से वसुदेव जी के यज्ञमहोत्सव, भाई-बन्धुओं के दर्शन-मिलन आदि की बातें बड़े प्रेम से सुनाई ॥८४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह चौरासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८४॥

## पचासीवाँ अध्याय

( श्रीभगवान् के द्वारा वसुदेव जी को ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश तथा देवकी के छः मृत पुत्रों को लौटा लाना )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—कुरुक्षेत्र में ऋषियों ने श्रीकृष्ण की अद्भुत शक्ति का प्रतिपादन किया था। उसे सुनकर वसुदेव जी की श्रीकृष्ण और बलराम जी में ईश्वरबुद्धि दृढ़ हो गई थी। वे उन्हें ईश्वर मानने लगे थे। श्रीकृष्ण और बलराम का यह प्रतिदिन का नियम था कि वे प्रातःकाल माता-पिता का चरण छू कर प्रणाम करते थे।

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम जी प्रातःकाल का प्रणाम करने के लिये माता-पिता के पास गये। प्रणाम कर लेने पर वसुदेव जी बड़े प्रेम से दोनों भाइयों का अभिनन्दन करके कहने लगे—बलराम और कृष्ण! मैं जानता हूँ—जगत् के कारण जो प्रकृति-पुरुष हैं, आप उनके भी नियामक हो, कारण हो। इस जगत् के आधार, निर्माता



और उपादान कारण, अर्थात् निर्माण-सामग्री भी आप ही हो। आप दोनों सारे संसार के स्वामी हो। यह संसार आप की क्रीडा के लिये ही निर्मित है। यह जिस समय, जिस रूप में, जो कुछ रहता है, होता है—वह सब आप ही हो। इस जगत् में प्रकृतिरूप से भोग्य और पुरुषरूप से भोक्ता तथा दोनों के ऊपर, दोनों के नियामक साक्षात् भगवान् भी आप ही हो—

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा । स्यादित्दं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ॥

१०/८५/४

महादादि तत्त्वों में जो शक्ति है, वह भी आप ही हैं। चन्द्र की कान्ति, अग्नि का तेज और सूर्य की प्रभा भी आप ही हैं। आप के ही कारण विद्युत् में स्फुरण होता है। पृथ्वी में गन्ध, जल में रस, अग्नि में तेज, वायु में स्पर्श और आकाश में शब्दरूप जो गुण हैं, वह भी आप ही हैं। दिशाएँ और उनके अवकाश भी आप ही हैं। आकाश और उसका आश्रयभूत स्फोट-शब्दतन्मात्रा या परावाणी, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी—ये चारों प्रकार की वाणी और शब्द, पद आदि स्फोट, त्रिविध अहंकार और तीनों गुण भी आप ही हैं। सच तो यह है कि ये सब भी आप के स्वरूप हैं ही नहीं। अज्ञानी जन ही इनकी कल्पना आपके स्वरूप में किया करते हैं। यह सब आप में कल्पित हैं। आप की विलक्षणता वाणी का विषय नहीं है। जगत् आप से पृथक् नहीं, किन्तु आप जगत् से पृथक् हैं। तत्त्वतः आपके स्वरूप को न जानने के कारण ही प्राणी विविध योनियों में भटकता रहता है। जिस दिन उसे आप के रूप का ज्ञान हो जाता है, उसी दिन से उसकी संसृति समाप्त हो जाती है, वह मुक्त होकर आपके परम धाम में चला जाता है। मेरी भी यही गति है। आप की परम कृपा से मुझे अति दुर्लभ यह मानव शरीर प्राप्त हुआ किन्तु असावधानी के कारण मेरी सारी आयु यों ही बीत गई। मैं कुछ अपना कल्याण न कर सका। अद्भुत है आपकी माया जिसने स्नेहरूपी बन्धन से सारे जगत् को बाँध रक्खा है। मैं जानता हूँ कि आप दोनों मेरे पुत्र नहीं, सम्पूर्ण प्रकृति और जीवों के स्वामी हैं। पृथिवी के भारभूत राजाओं का विनाश करने के लिये ही आप लोगों ने यह अवतार धारण किया है—

युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ । भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथाऽऽत्थ ह ॥

१०/८५/१८

इसलिये मैं आज आपके चरण-कमलों की शरण ग्रहण करता हूँ। आप दीनबन्धु हैं अतः आप मेरे 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं', रूप संसार-चक्र का विनाश कीजिये। आप की माया अपारणीय है। उसका मर्म वही समझ सकता है जिसने आप की शरण-ग्रहण की हो, आप का अनुग्रह प्राप्त किया हो। दूसरा इसे नहीं समझ सकता।

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन, पिता के ज्ञान-गर्भित वचन को सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा—पिताजी, हम तो आप के पुत्र ही हैं। हमें लक्ष्य करके आपने यह ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश दिया है। हम आप की एक-एक बात युक्ति-युक्त मान रहे हैं। इससे अधिक हम क्या कह सकते हैं ? एकमात्र मेरा कथन इतना ही है कि आत्मा तो एक ही है। वही नानारूपों में भासित हो रहा है। मैं ब्रह्म हूँ। आप भी ब्रह्म हैं। भैया बलराम जी भी ब्रह्म हैं। सारे द्वारकावासी भी ब्रह्म हैं और समस्त चराचर सृष्टि भी ब्रह्म है। एक ही ज्योति विभिन्न रूपों में प्रकट हो रही है—

आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः । आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥

१०/८५/२४

ब्रह्म का आविर्भाव जन्म और उसका तिरोभाव मरण कहा जाता है। सच तो यह है कि ब्रह्म का न जन्म होता है और न मरण ही। वह इन दोनों से रहित है। आप प्रत्येक क्षण उसी का अनुसन्धान किया करें। इससे आपको संसार की सत्ता स्तीर्ण हो न होमी।



भगवान् के वचनों को सुनकर वसुदेव जी को लगा कि उनकी नानात्व बुद्धि विनष्ट हो गई। वे प्रसन्न हो गये। उनका संकल्प-विकल्प समाप्त हो गया। उनका अज्ञान जाता रहा। वे सर्वत्र भगवान् की सत्ता का ही अनुभव करने लगे।

इसके बाद देवकी ने भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम से कहा—महाबलशाली बलराम और योगेश्वर श्रीकृष्ण, मैंने सुन रक्खा है कि आप लोगों ने वर्षों पहले मेरे हुए गुरुपुत्र को लाकर गुरुदक्षिणा के रूप में समर्पित किया था। आपलोग साक्षात् ईश्वर हैं। भूमि के भार को हरण करने के लिये ही भूतल पर अवतीर्ण हुए हैं। आप योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं इसलिये आज मेरी भी अभिलाषा पूरी कीजिये। मैं चाहती हूँ कि आप दोनों मेरे उन पुत्रों को, जिन्हें कंस ने मार डाला था, ला दीजिये उन्हें मैं भर आँख देख लूँ—

तथा मे कुरुत कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ । भोजराजहतान् पुत्रान् कामये ब्रह्ममाह्वतान् ॥१०/८५/३३

ममतामयी माता की स्नेहभरी वाणी सुनकर बलराम और श्रीकृष्ण ने कहा—माँ, तुम चिन्ता मत करो। शीघ्र ही तुम्हारे उन पुत्रों को लाकर यहाँ उपस्थित कर दूँगा। इस प्रकार जननी को आश्वासन देकर श्रीकृष्ण और बलराम—दोनों ही—पहुँचे बलि के सुतल लोक में। भगवान् को आया देखकर बलि धन्य-धन्य हो उठे। उन्होंने अर्घ्य-पाद्य समर्पित कर उनका स्वागत किया। उनके चरणों को मल-मलकर धोया और चरणोदक को सपरिवार अपने शिर पर धारण किया। परीक्षित, भगवान् के चरणों का जल ब्रह्मलोक पर्यन्त सारे जगत् को पवित्र कर देता है। पूजन के बाद बलि ने भगवान् की दिव्य स्तुति करते हुए कहा—प्रभो, आप आज्ञा करें। आपकी कौन-सी सेवा करूँ ?

इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—दैत्यराज, मैं माता देवकी के उन पुत्रों को लेने के लिये आया हूँ, जिन्हें जन्म लेते ही कंस ने मार डाला था। वे इस समय आप के पास बैठे हुए हैं। उनके नाम हैं—स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, क्षुद्रभृत्, और घृणी। स्मर का ही नाम कीर्तिमान् भी है। माता देवकी अपने उन पुत्रों के लिये शोकातुर हो रही हैं। भगवान् ने बलि को यह भी बतला दिया की ये छहों पहले मरीचि के पुत्र थे। जिस समय ब्रह्मा जी अपनी बेटी के यौवन पर मुग्ध हुए थे, उस समय इन लोगों ने उनका उपहास किया था। फलतः क्रुद्ध होकर उन्होंने शाप दिया था—तुमलोग असुर-योनि में जन्म ग्रहण करो। उसीके फलस्वरूप ये हिरण्यकशिपु के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। फिर ये योग-माया के द्वारा देवकी के गर्भ में आये। वहाँ इनको जन्म लेते ही कंस ने मार डाला। मर कर ये आपके पास आये। अब हम लोग इन्हें देवकी के पास ले जायेंगे। वहाँ इनका कल्याण हो जायेगा।

इसके बाद बलराम और कृष्ण उन पुत्रों को लेकर द्वारका में देवकी के पास आये। उनको देखकर देवकी का वात्सल्य उमड़ आया। उनकी छाती से दुग्ध की धारा बहने लगी। उन्होंने अपना स्तन उन बालकों के मुख में डाल दिया। उन लोगों ने जननी के उस स्तन का पान किया जिसे कभी श्रीकृष्ण पी चुके थे इसलिये उनको भगवान् का प्रसाद मिल गया। वे निहाल हो गये।

तदनन्तर, छहों पुत्र देवकी, वसुदेव, बलराम और भगवान् को प्रणाम कर देवलोक में चले गये। देवकी भगवान् के इस अद्भुत वैभव को देखकर आश्चर्य-चकित हो उठी। उसने इसे भगवान् श्रीकृष्ण की लीला का ही विलास माना।

सूत जी ने शौनक आदि ऋषियों से कहा—मुनियों, भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार के अनन्त चरित हैं, जो

१. हरिवंशपुराण के अनुसार ब्रह्मा के शाप के कारण वे छहों हिरण्यकशिपु के पुत्र कालनेमि के पुत्र बनकर उत्पन्न हुए थे।



व्यक्ति श्रद्धा और भक्ति के साथ भगवान् के इस चरित को पढ़ता है, सुनता है अथवा सुनाता है, वह उनके मङ्गलमय धाम में निवास करता है ॥८५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह पचासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८५॥

## छियासीवाँ अध्याय

( अर्जुन के द्वारा सुभद्रा का हरण तथा भगवान् का जनकपुरी में राजा जनक और श्रुतदेव ब्राह्मण के घर एक ही साथ जाना )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्, मेरे दादा अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम जी की बहन सुभद्रा से जो मेरी दादी थीं, किस प्रकार विवाह किया था ? इस बात को जानने की बड़ी जिज्ञासा है । कृपया इस प्रसङ्ग को सुनावें—

ब्रह्मन् वेदितुमिच्छामः स्वसारं रामकृष्णयोः । यथोपयेमे विजयो या ममासीत् पितामही ॥

१०/८६/१

विशेष—द्रौपदी पाँच पाण्डवों की पत्नी थी । जब वह पाण्डवों में से किसी एक के पास रहती थी तो वहाँ दूसरा नहीं जाता था । यदि किसी कारण से चला जाय तो उसे बारह वर्ष की तीर्थयात्रा करनी पड़ती थी । दैवयोग से एक दिन एक ब्राह्मण के धन की रक्षा के लिये अर्जुन अपना धनुष लेने युधिष्ठिर के घर में पहुँचे । उस समय द्रौपदी वहीं रह रही थी अतः प्रतिज्ञा और नियम के अनुसार अर्जुन को बारह वर्ष की तीर्थ-यात्रा पर जाना पड़ा था । यह प्रसङ्ग महाभारत में है ॥

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, एक बार महाबली अर्जुन तीर्थ-यात्रा के प्रसङ्ग से भूतल पर विचरण करते हुए प्रभास क्षेत्र में पहुँचे । वहाँ उन्होंने सुना कि बलराम जी बहन सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से करना चाहते हैं । सुभद्रा देवकी की सबसे छोटी बेटी थी । श्रीकृष्ण के बाद उसका जन्म हुआ था<sup>१</sup> किन्तु वसुदेव, देवकी और स्वयं श्रीकृष्ण सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से करने के पक्ष में नहीं थे ।

अर्जुन स्वयं सुभद्रा से विवाह करना चाहते थे । इसके दो कारण थे । पहला यह कि अर्जुन सुभद्रा के उभरते हुए यौवन और सौन्दर्य पर स्वयं मुग्ध थे । वे स्वयं सुभद्रा से विवाह कर श्रीकृष्ण के साथ अपना सम्बन्ध प्रगाढ़ बनाना चाहते थे । दूसरा यह कि श्रीकृष्ण और दुर्योधन में प्रगाढ़ सम्बन्ध उन्हें अभीप्सित नहीं था अतः सुभद्रा को प्राप्त करने की लालसा से भीतर-ही-भीतर एक योजना बनी । उसके अनुसार अर्जुन त्रिदण्डी यति के रूप में द्वारका पहुँचे । नगर के बाहर डेरा डाला । वे वहाँ वर्षाकाल का चातुर्मास्य व्यतीत करने लगे । प्रतिदिन सत्सङ्ग होता । सभी पुरवासी और बलराम जी उस यति का बड़ा स्वागत-सम्मान करते थे । वे लोग यह नहीं जानते थे कि यह अर्जुन हैं ।

एक दिन बलराम जी ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ त्रिदण्डी को अपने घर भोजन के लिये बुलाया । सुभद्रा

१. वसुदेवार्च्य देवक्यां..... ।

ततो बलस्ततः कृष्णः सुभद्रा मद्रभाषिणी ॥ अग्निपुराण, अ. २६५ ॥

२. यहाँ त्रिदण्डी का अर्थ है—शिखा, सूत्र और एक दण्ड धारण करनेवाला । शिखासूत्रधारी यति यदि चाहे तो बाद में विवाह कर गृहस्थ बन सकता है ।



भोजन परोस रही थी। अर्जुन बड़े प्रेम से भोजन कर रहे थे। भोजन का स्वाद अवर्णनीय था। एक तो उत्तम पदार्थ और दूसरे अनिन्द्य-सुन्दरी के पाणि-पल्लव का स्पर्श। प्रत्येक ग्रास अमृत प्रतीत होता था। इसी समय दोनों की आँखें चार हुई। एक ने दूसरे को अपना दिल धीरे से थमा दिया, समर्पित कर दिया। शरीर मचलने लगे परस्पर लिपट जाने के लिये। अर्जुन का श्याम, सुगठित यौवन भरा शरीर किस तरुणी के मन को कामातुर नहीं बना देता ? यही हालत सुभद्रा के अनुपम उभार भरे यौवन की थी। फलतः दोनों ने मन-ही-मन निश्चय किया परिणय-सूत्र में आबद्ध होने के लिये।

भगवान् श्रीकृष्ण ने इस दृश्य को देखा। वे समझ गये दोनों की मनःस्थिति को। भोजन सम्पन्न कर यति के चले जाने पर श्रीकृष्ण ने सुभद्रा से कहा—सुभद्रे, कैसा लगा तुम्हें यह यति ? भैया के प्रश्न को सुनकर सुभद्रा नीचे मुख कर आँगूठे से भूमि कुदेने लगी पुनः श्रीकृष्ण ने कहा—बोल सुभद्रा यदि तुम्हारा विवाह इस त्रिदण्डी से कर दूँ तो कैसा रहेगा ? सुभद्रा ने लजाते-सकुचाते हुए शिर हिला कर अपनी सहमति जता दी फिर वह भागकर निकल गई घर में। शाम को सत्संग समाप्त हुआ। सभी अपने-अपने घर चले गये। अवसर देखकर श्रीकृष्ण ने कहा—कहो यति, भोजन परोसनेवाली सुभद्रा तुम्हें कैसी लगी ? अर्जुन ने श्रीकृष्ण को तिरछे नयनों से निहार कर मुस्करा दिया। बस, भगवान् ने धीरे से उन्हें सारी भावी योजना समझा दी।

एक दिन की घटना है। सुभद्रा देव-दर्शन के लिये रथ पर सवार होकर द्वारका-दुर्ग से बाहर निकली। उसी समय महारथी अर्जुन ने देवकी, वसुदेव और श्रीकृष्ण की अनुमति से सुभद्रा का हरण कर लिया। अवरोध करने के लिये आये हुए रक्षक वीरों को उन्होंने मार कर भगा दिया। रथ इन्द्रप्रस्थ की ओर बढ़ने लगा। सुभद्रा के हरण का समाचार जब बलराम जी को मिला तो वे क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने कहा पाण्डवों पर चढ़ाई कर दो। श्रीकृष्ण ने उनका अनुनय-विनय करके कहा—भैया, लड़की तो किसी-न-किसी को देनी ही है फिर संसार में अर्जुन से बढ़िया वर सुभद्रा को और कौन मिलेगा ? अन्य लोगों ने भी बलराम जी को समझाया। तब कहीं वे जाकर शान्त हुए फिर उन्होंने वर-वधू को बहुत-सारी सामग्री देकर प्रेमपूर्वक भिजवा दिया—

तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः। गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चान्वशाम्यत ॥

प्राहिणोत् पारिबर्हणि वरवध्वोर्मुदा बलः ॥१०/८६/११-१२

श्रीशुकदेव जी ने कहा परीक्षित अब मैं भगवान् की भक्तवत्सलता की कथा सुना रहा हूँ। सावधान होकर सुनो—विदेह की राजधानी मिथिला में एक गृहस्थ ब्राह्मण थे। उनका नाम था—श्रुतदेव। वे भगवान् श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। वे महान् ज्ञानी और विरक्त थे। गृहस्थ होते हुए भी अयाचक वृत्ति के थे। बिना मांगे जो कुछ मिल जाता था, उसीसे वे निर्वाह करते हुए प्रसन्न रहते थे। उन्हें अधिक की कामना न थी। प्रभु-कृपा से जीवन-निर्वाह भर के लिये जो कुछ मिल जाता था, उसी से वे अपनी सारी क्रियाएँ, अपने सारे कर्तव्य पूरा कर लेते थे—

यात्रामात्रं त्वहरहर्दैवाहुपनमत्युत। नाधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्रक्रे यथोचिताः ॥१०/८६/१५

उसी समय उस नगरी के शासक थे—बहुलाश्व। वे मैथिलवंश के अवतंस थे। बहुलाश्व में नाममात्र का भी अहङ्कार न था। ब्राह्मण श्रुतदेव के समान राजा बहुलाश्व भी भगवान् श्रीकृष्ण के प्यारे भक्त थे। राज्य-सञ्चालन करते हुए वे सर्वदा कृष्ण-भक्ति को आगे रखते थे।

एक बार भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रुतदेव और बहुलाश्व पर प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन देने के लिये विदेह-देश की यात्रा की। उनके साथ नारद, वामदेव, अत्रि, वेदव्यास, परशुराम, असित, आरुणि, वृहस्पति, कण्व, मैत्रेय, और च्यवन थे। उनके साथ मैं भी था। मार्ग में सर्वत्र जनता ने भगवान् की और हम लोगों की जमकर पूजा की, आदर-



सत्कार किया। इससे उसे महान् आनन्द की अनुभूति हुई। मिलने वालों को अपने स्निग्धावलोकन से अभयदान देते हुए भगवान् महात्माओं के साथ मिथिला नगरी में पहुँचे। वहाँ की भावुक जनता भगवान् के सत्कार के लिये दौड़ पड़ी, उमड़ पड़ी। बड़े उत्साह के साथ लोगों ने मुनि-मण्डली के सहित भगवान् का स्वागत-सत्कार किया, पूजन किया। भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्य का अवलोकन कर, पान कर, लोगों को अपार हर्ष हो रहा था।

भगवान् मिथिला नगरी में आये हैं—यह समाचार मिलते ही श्रुतदेव और बहुलाश्व—दोनों ही उमड़ कर दौड़ पड़े। भगवान् के सामने आते ही वे उनके चरणों पर दण्ड की भाँति गिर पड़े। भगवान् ने बड़े स्नेह के साथ उन लोगों को उठाया फिर श्रुतदेव और बहुलाश्व—दोनों ने एक साथ हाथ जोड़कर मुनियों के साथ भगवान् से आतिथ्य ग्रहण करने की प्रार्थना की, अपने घर पर पधारने की विनती की। भगवान् ने कृपा पूर्वक दोनों के आमन्त्रण को एक साथ स्वीकार कर लिया फिर उन्होंने दोनों से अलक्षित रहते हुए दो रूप धारण किया और उनके घर गये। उन्होंने केवल स्वयं ही अपना दो रूप नहीं धारण किया, अपितु उनके साथ जो भी थे सबके दो रूप हो गये। सभी वस्तुएं भी दो-दो बन गईं, जैसे ब्रह्मा द्वारा गोवत्स-हरण के समय भगवान् विभिन्न रूप हो गये थे, वैसे ही उन्होंने विदेह की नगरी में दो-दो रूप धारण कर लिये। इतना होने पर भी भगवान् के अतिरिक्त इस रहस्य को कोई भी जान न सका। यह भगवान् की माया थी।

राजा बहुलाश्व ने घर आने पर मुनियों के सहित भगवान् का राजोचित रीति से पूजन और सम्मान किया। उन्होंने भगवान् के चरण को रगड़-रगड़ कर धोया। प्रक्षालित जल को अपने परिवार के साथ मस्तक पर धारण किया। ऋषियों का भी सविधि अतिथि-सत्कार कर लेने के बाद राजा बहुलाश्व भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों को अपनी गोद में लेकर बैठ गये और बड़े आनन्द से धीरे-धीरे उन्हें सहलाते हुए, बड़ी मधुर वाणी से भगवान् की स्तुति करते हुए उन्होंने कहा—प्रभो, आप समस्त प्राणियों के आत्मा, साक्षी एवं स्वयं प्रकाश हैं। हम सदा-सर्वदा आप के चरण कमलों का स्मरण करते रहते हैं, इसीसे आप ने दर्शन देकर हमें कृतार्थ किया है। भगवान्, आपके वचन हैं कि मेरा अनन्य प्रेमी भक्त मुझे अपने स्वरूप बलराम जी, अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मी और पुत्र ब्रह्मा से भी बढ़कर प्रिय है। आप अपने इन वचनों को सत्य करने के लिये ही हमें दर्शन प्रदान किये हैं—

स्ववचस्तदतं कर्तुमस्मद्गोचरो भवान्। यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ॥

१०/८६/३२

आगे उन्होंने प्रभु से निवेदन किया—मेरे स्वामी, आप कुछ दिनों तक मुनि-मण्डली के साथ हमारे यहाँ निवास कीजिये और अपने चरणों की धूलि से इस निमि-वंश को पवित्र कीजिये। भगवान् ने उनकी प्रार्थना अङ्गीकार की। वे मिथिला के नर-नारियों का कल्याण करते हुए वहाँ कुछ दिनों तक निवास किये।

प्रिय परीक्षित, भगवान् जिस समय राजा बहुलाश्व के घर गये उसी समय वे ब्राह्मण श्रुतदेव के भी घर पहुँचे। जैसे राजा बहुलाश्व भगवान् श्रीकृष्ण और मुनि-मण्डली के पधारने पर आनन्द मग्न हो गये थे, वैसे ही श्रुतदेव ब्राह्मण भी भगवान् श्रीकृष्ण और मुनियों को अपने घर आया देखकर अपने वस्त्र का पल्ला उछाल-उछाल कर नाचने लगे—  
“धुन्वन् वासो ननर्त ह” ॥३८॥ फिर विनम्रता की मूर्ति उस ब्राह्मण ने सबको सादर आसन पर बैठा कर पत्नी के साथ सबका चरण धोया। धोवन के जल को पूरे परिवार ने शिर पर धारण किया। उसी से स्नान किया फिर उनके घर में जो कुछ फल, गन्ध, खस से सुवासित निर्मल जल और साँवा आदि खाद्यान्न था वह समर्पित किया, खिलाया-पिलाया। फल, जल, भोजन दे लेने के बाद श्रुतदेव अपने स्त्री-पुत्र तथा अन्य सम्बन्धियों के साथ उनकी सेवा में



उपस्थित हुए। वे भगवान् के चरण-कमलों को दबाते हुए कहने लगे—प्रभो, मेरा परम सौभाग्य है कि आप का आगमन मेरे घर हुआ है। आपके दर्शन से ही सारे पाप-ताप समाप्त हो जाते हैं।

श्रुतदेव के वचनों को सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने हाथ से उनका हाथ पकड़कर मुस्कराते हुए कहा—श्रुतदेव जी, ये बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आप पर अनुग्रह करने के लिये ही यहाँ पधारे हैं। ये अपने चरणों की धूलि से लोगों और लोकों को पवित्र करने के लिये ही मेरे साथ विचरण कर रहे हैं। मुझे अपना यह चतुर्भुज रूप भी ब्राह्मणों की अपेक्षा प्रिय नहीं है क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय हैं और मैं सर्वदेवमय हूँ। आप इन्हीं ब्राह्मणों में मेरे स्वरूप का ध्यान करते हुए इनका पूजन कीजिये। दुर्बुद्धि मनुष्य इस बात को न जान कर केवल मूर्ति आदि में ही पूज्य-बुद्धि रखते हैं और इनका तिरस्कार करते हैं। इनकी प्रसन्नता में ही मेरी प्रसन्नता है। इनकी पूजा करने पर अनायास ही मेरी पूजा सम्पन्न हो जाती है; नहीं तो भूरि सामग्रियों से भी मेरी पूजा नहीं हो सकती।

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, भगवान् के उपदेश को सुनकर ब्राह्मण श्रुतदेव और राजा बहुलाश्व ब्राह्मण-महात्माओं की भगवद्भाव से श्रद्धा-भक्ति के साथ सेवा करने लगे। अन्त में उसी से वे दोनों भगवत्स्वरूप को प्राप्त हो गये।

प्रिय परीक्षित, जैसे भक्त भगवान् की भक्ति करते हैं, वैसे ही भगवान् भी भक्तों की भक्ति करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने दोनों भक्तों को प्रसन्न करने के लिये कुछ दिनों तक मिथिलापुरी में रहे और उन्हें आत्म-ज्ञान का उपदेश कर पुनः वे द्वारका लौट गये—

एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्त-भक्तिमान्। उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारिवतीमगात् ॥

१०/८६/५९

विशेष—भागवत में केवल इसी एक स्थान पर भगवान् को “भक्त-भक्तिमान्” कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् अपने भक्तों की भक्ति करते हैं।

यहाँ यह भी कहा गया है कि भगवान् बहुलाश्व के घर अट्ठाईस दिनों तक रहे और श्रुतदेव के यहाँ एक दिन। श्रुतदेव का एक दिन बहुलाश्व के अट्ठाईस दिनों के बराबर था। वस्तुतः भगवान् की माया ने गरीब श्रुतदेव के घर में उस समय रात-दिन का भेद ही मिटा दिया था इसलिये उनके भोजन-पानी की व्यवस्था एक दिन के लिये ही करनी पड़ी ॥८६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह छियासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८६॥

## सत्तासीवाँ अध्याय

( वेद-स्तुति, वेदों के द्वारा ब्रह्म श्रीकृष्ण की स्तुति )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्, ब्रह्म शब्दों के द्वारा निर्देश का विषय नहीं है। वह निर्गुण है, कार्य-कारण से परे है। दूसरी ओर समस्त श्रुतियों का विषय गुण ही है। वे जिस विषय का वर्णन करती हैं, उसके गुण, रूप, जाति अथवा क्रिया का ही निर्देश करती हैं। ऐसी स्थिति में श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किस प्रकार करती हैं ? क्योंकि निर्गुण वस्तु का स्वरूप तो उनकी पहुँच के परे है अतः श्रुतियाँ शब्दातीत ब्रह्म का प्रतिपादन कैसे कर सकती हैं ?—



ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः । कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे ॥१०/८७/१  
श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—परीक्षित, भगवान् सर्वशक्तिमान् और गुणों के निधान हैं । श्रुतियाँ स्पष्टतः सगुण का ही निरूपण करती हैं । परन्तु विचार करने पर उनका तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादन में ही रहता है । विचार करने के लिये ही भगवान् ने जीवों के लिये बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणों की सृष्टि की है । इनके द्वारा वे स्वच्छ से अर्थ, धर्म, काम अथवा मोक्ष का अर्जन कर सकते हैं अतः यही कहना ठीक है कि श्रुतियाँ सगुण का प्रतिपादन करने पर भी वस्तुतः निर्गुण का ही निर्देश करती हैं । सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर भी तात्पर्य वृत्ति से निर्गुण ब्रह्म का भी प्रतिपादन हो जाता है । निर्गुण-सगुण के एक होने के कारण यह प्रतिपादन असङ्गत नहीं कहा जा सकता है ।

श्रुतियों में २८ श्लोकों के द्वारा भगवान् की स्तुति की है । ये श्लोक “ब्राह्मी उपनिषद्” के नाम से जाने जाते हैं । आप के प्रश्न के उत्तर को और स्पष्ट करने के लिये मैं यहाँ एक गाथा सुनाता हूँ । इस गाथा में भगवान् नारायण और नारद का संवाद है ।

एक समय देवर्षि नारद बदरिकाश्रम में नारायण के पास पहुँचे । नारायण लोक-कल्याण के लिये वहाँ अनादि काल से तपस्या करते थे । नारायण को सादर प्रणाम कर नारद ने उनसे यही प्रश्न पूछा जो आप मुझसे पूछ रहे हैं । भगवान् नारायण ने नारद के प्रश्न को सुनकर कहा—देवर्षे, जनलोक में एक समय सनकादि ऋषियों का ब्रह्म-सत्र हुआ था । उस ब्रह्म-सत्र में भी यही प्रश्न उठा था, जो आप मुझसे पूछ रहे हैं । समानज्ञानवान् होने पर भी सनक आदि श्रोता थे और सनन्दन उस सत्र में वक्ता थे । उस समय आप मेरी ही मूर्ति अनिरुद्ध का दर्शन करने के लिये श्वेतद्वीप गये हुए थे ।

सनन्दन ने कहा—प्रातःकाल की बेला में वन्दीजन सम्राट् को जगाने के लिये उनके गुणों का गान करने लगते हैं । इसी प्रकार जब परमात्मा अपने बनाये हुये सम्पूर्ण जगत् को अपने में लीन करके, अपनी शक्तियों के सहित, सोये रहते हैं, तब प्रलय के अन्त में श्रुतियाँ उनका प्रतिपादन करनेवाले वचनों से उन्हें इस प्रकार जगाती हैं—उनकी स्तुति करती हैं । इससे श्रुतियों की ब्रह्मपरता सिद्ध होती है । श्रुतियाँ कहती हैं—अजित, आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं । आप पर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता । आप की जय हो, जय हो । प्रभो, आप स्वभावतः सारे गुणों से पूर्ण हैं अतः संसार को मोह में डालने वाली माया का विनाश कर दीजिये । प्राणियों के स्वाभाविक आनन्द आदि गुणों पर पर्दा डालने के लिये ही इसने सत्त्वादि गुणों को ग्रहण किया है । नाथ, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियों को उद्बुद्ध करने वाले आप ही हैं इसलिये आप के मिटाने बिना यह माया मिट नहीं सकती । इसमें आप की श्वासभूता हम श्रुतियाँ ही प्रमाण हैं । यद्यपि आपका स्वरूप वर्णनातीत है फिर भी जब कभी आप माया के द्वारा जगत् की सृष्टि करके सगुण बन जाते हैं या उसका निषेध करके स्वरूप में स्थित हो जाते हैं अथवा लीला करने के लिये अपना श्रीविग्रह प्रकट करते हैं, तभी हम यत्किञ्चित् आप का वर्णन करने में समर्थ होती हैं—

जय जय जह्मजामजित दोषगृभीतगुणां, त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।

अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते, क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निरामः ॥

१०/८७/१४

आप सकल जगत्स्वरूप हैं । सारे देवगण आप की ही मूर्तियाँ हैं फिर भी आप अजन्मा हैं । अखिल पाप-ताप-नाशक आपकी लीला-कथा के अमृत-सागर में गोते लगाकर सारे ऋषि-मुनि भव-सागर को पार कर जाते हैं । सारे



दोषों को दूर करने के लिये दो ही उपाय हैं—एक तो आप की कथा का श्रवण और दूसरे आप के स्वरूप का चिन्तन। आप के भक्त की भक्ति मानव के सकल कल्याण को सम्पन्न कर देती है। उसके लिये मन का निग्रह परमावश्यक है। आप की भक्ति सद्गुरुओं की शरण में जाने से प्राप्त होती है।

नारायण ने कहा—नारद जी, इस प्रकार ब्रह्म-विषयक श्रुतियों के वचनों को सुनकर सनकादि महर्षि कृत-कृत्य हो गये अन्त में उन लोगों ने सनन्दन की सविधि पूजा की, उनका सत्कार किया। सनन्दन का उपदेश समस्त वेद, पुराण और उपनिषदों का सार-सर्वस्व है। मुनिवर, आप भी श्रद्धा के साथ इस ब्रह्म-विद्या को धारण करें और निर्भय होकर संसार में विचरण करें। यह विद्या मनुष्यों के समस्त वासनाओं को भस्म कर देने वाली है।

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन, नारायण के मुख से यह उपदेश सुनकर मुनि नारद विचरण करते हुए मेरे पिता व्यास जी के आश्रम पर पहुँचे और उन्हें यह सुनाया। परीक्षित, आपकी आशंका का समाधान मैंने पहले संक्षेप में और बाद में नारद-नारायण के संवाद के रूप में विस्तार से कर दिया है। भगवान् का निरन्तर चिन्तन करने के कारण मानव अनायास ही माया को पार कर जाता है अतः भगवान् का निरन्तर चिन्तन कल्याण-कामी को सर्वदा करते रहना चाहिये—“ध्यायेदजस्रं हरिम्” ॥८७॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह सत्तासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८७॥

•

## अष्टासीवाँ अध्याय

### ( शिवजी का सङ्कट-मोचन, भस्मासुर की कथा )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्, भगवान् शङ्कर ने समस्त भोगों का परित्याग कर रक्खा है। वे अमङ्गल वेशधारी भी हैं परन्तु देखा यह जाता है कि जो लोग उनकी उपासना करते हैं, वे प्रायः धनी और भोग-सम्पन्न हो जाते हैं और भगवान् विष्णु लक्ष्मी के पति हैं, परन्तु उनकी उपासना करने वाले प्रायः धनी और भोग-सम्पन्न नहीं होते। होना तो यह चाहिये कि शङ्कर के उपासक निर्धन हों और विष्णु के धनी। किन्तु होता उल्टा है। इसकी विषमता का कारण क्या है ?

देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम्। प्रायस्ते धनिनो भोजान् न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥

१०/८८/१

राजा का यह प्रश्न सुनकर शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, एक ही तत्त्व शिव और विष्णु—इन दो रूपों में विभक्त हैं। शिवजी सर्वदा अपनी शक्ति से युक्त रहते हैं। वे सत्त्व आदि गुणों से युक्त और अहङ्कार के अधिष्ठाता देव हैं। अहङ्कार वैकारिक, तैजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। त्रिविध अहङ्कार से सोलह विकार हुए—दश इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और एक मन अतः इन सब के अधिष्ठाता-देवताओं में से किसी एक की उपासना करने पर समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति हो जाती है। पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु तो निर्गुण हैं, त्रिगुणातीत हैं। जो उनका भजन करता है, वह स्वयं गुणातीत हो जाता है। यथार्थ तो यह है कि शिव और विष्णु दोनों ही निर्गुण और सगुण हैं। एक व्यवस्था के अनुसार कभी विष्णु सगुण रूप धारण करते हैं तो शिव निर्गुण हो जाते हैं। इसी व्यवस्था के अनुसार बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी चलती है। ऐसा नहीं है कि शिव मोक्ष नहीं दे सकते और विष्णु भोग नहीं प्रदान कर सकते। भक्त जिस देव से जो चाहता है, मांगता है, उसे वह मिल जाता है। सारा पुराण-वाङ्मय शिव और विष्णु की एक रूपता का, अभिन्नता का, प्रतिपादन करता है।



राजन्, जैसा प्रश्न आपने मुझसे पूछा है, वैसा ही प्रश्न राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर आपके पितामह महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा था, उस समय भगवान् ने उत्तर दिया था—राजन्, जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसका सब धन धीरे-धीरे छीन लेता हूँ। निर्धन हो जाने पर उसे अपने लोग भी छोड़ देते हैं फिर धनार्जन के लिये वह प्रयास करता है। मैं उसके इस प्रयत्न को भी निष्फल कर देता हूँ। अन्त में सब से विरक्त हो कर वह मेरे भक्तों का आश्रय लेकर मेरी शरण में आता है। उस समय मैं उस पर अहैतुकी कृपा करके उसे परमपद की प्रप्ति करा देता हूँ। किन्तु मेरी आराधना है कठिन इसलिये लोग मुझे छोड़कर दूसरे देवों की आराधना करके मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु इस प्रकार के लोग धन आदि के प्राप्त हो जाने पर उन्मत्त होकर दाता को ही विस्मृत कर बैठते हैं, उनका भी तिरस्कार करने लगते हैं।

श्रीशुकदेव महाराज कहते हैं—परीक्षित, वैसे तो शाप और प्रसाद ब्रह्मा, विष्णु और महेश—ये तीनों ही देते हैं। परन्तु शङ्कर और ब्रह्मा जी अतिशीघ्र क्रुद्ध होकर शाप देते हैं और प्रसन्न होकर अनुग्रह भी करते हैं। किन्तु भगवान् विष्णु न जल्दी क्रुद्ध होकर शाप ही देते हैं और न शीघ्र प्रसन्न होकर अनुग्रह ही करते हैं।

इस विषय में मैं आप को एक इतिहास सुनाता हूँ। ध्यान देकर सुनें—शकुनि असुर का बेटा था—वृक। एक दिन नारद जी उससे मार्ग में मिल गये। उसने उन्हें प्रणाम कर पूछा—भगवान्, त्रिदेवों में अतिशीघ्र प्रसन्न होनेवाला देवता कौन है ? नारद जी ने कहा—वृकासुर, आशुतोष भगवान् शङ्कर ही सबसे जल्दी प्रसन्न होनेवाले देव हैं। रावण और बाणासुर की समृद्धि शङ्कर की कृपा का ही फल है। नारद के इस कथन को सुनकर वृकासुर पहुँचा केदार क्षेत्र में। वहाँ उसने शङ्कर को सन्तुष्ट करने के लिये तपस्या प्रारम्भ की। वह अपने अङ्गों से मांस काट-काट कर शिव के निमित्त, अग्नि में हवन करता था। लगातार उसकी यह क्रिया छःदिनों तक चलती रही किन्तु भगवान् शिव उस पर प्रसन्न नहीं हुए। तब अपना शिर ही काट कर हवन करने के लिये उसने तलवार उठाई। उसके इस दृढ निश्चय को देख कर भगवान् शङ्कर अग्रिकुण्ड से प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिये। शङ्कर के स्पर्श को प्राप्त कर उसके सब अङ्ग पहले की भाँति ठीक हो गये—“तत्स्पर्शनाद् भूय उपस्कृताकृतिः” ॥१९॥

भगवान् शङ्कर ने वृकासुर से कहा—अरे दानवराज, बस करो, बस करो; बहुत हो गया। मैं तुम्हें वर देने के लिये उपस्थित हूँ। मन चाहा वर माँग लो। अरे भाई, मैं तो अपने शरणागत भक्तों पर केवल जल चढ़ाने मात्र से प्रसन्न हो जाया करता हूँ। भला, तुम झूठमूठ अपने शरीर को क्यों पीडा दे रहे हो ?—

तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे, यथाभिकामं वितरामि ते वरम्।

प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यतामहो त्वयाऽऽत्मा भृशमद्यति वृथा ॥१०/८८/२०

वृक असुर था, दुष्ट था, पापी था अतः उसने वर माँगा प्रभो, मुझे यह वर दीजिये कि जिसके-जिसके शिर पर मैं अपना हाथ रखूँ वह जल कर भस्म हो जाय। उसकी बात सुन कर शङ्करजी कुछ खिन्न हो गये फिर हँसते हुए उन्होंने कहा—ठीक है, ऐसा ही होगा। मनोऽभिलषित वर देकर शङ्कर के शान्त होते ही वृकासुर की दृष्टि पड़ी जगदम्बा पार्वती पर। उसके मन में यह लालसा उभर आई कि क्यों न शङ्करजी को ही भस्म कर मैं पार्वती का हरण कर लूँ—“गौरीहरणलालसः” ॥२३॥ इससे वर की परीक्षा भी हो जायेगी और मेरा मनोरथ भी सिद्ध हो जायेगा।

शङ्करजी के वरदान देने के बाद ही वृकासुर का नाम पड़ गया—“भस्मासुर”। ‘भस्मासुर’ यह उसका औपाधिक नाम था।



उक्त बातें सोच कर वृकासुर अपना हाथ उठाए हुए शङ्करजी की ओर बढ़ा। यह देखकर शङ्करजी अपने दिये हुए वरदान से ही भयभीत होकर भाग खड़े हुए। आगे-आगे शङ्कर भाग रहे हैं और उनके पीछे-पीछे वृकासुर दौड़ रहा है। ब्रह्मा आदि देवगण इसका प्रतिकार न जानकर चुपचाप खड़े-खड़े देखते रहे। चतुर्दिक् भागते-भागते शङ्करजी वैकुण्ठ जा पहुँचे। भगवान् विष्णु ने शङ्करजी का यह सङ्कट देखा। वे झटपट ब्रह्मचारी का वेष धारण कर, हाथ में दण्ड-कमण्डलु लिये जा पहुँचे वृकासुर के सामने। वृकासुर हाँफता हुआ दौड़ता चला आ रहा था। भगवान् ने मुस्कराते हुए प्रेमभरी वाणी में वृकासुर से पूछा—शकुनिनन्दन वृकासुरजी, आप स्पष्ट ही बहुत श्रान्त-से प्रतीत हो रहे हैं। आज आप बहुत दूर से आ रहे हैं क्या ? तनिक विश्राम तो कर लीजिये। शरीर सारे सुखों का कारण है। अतः इसे अधिक कष्ट देना कथमपि उचित नहीं है। आप तो सब प्रकार से समर्थ हैं। बतलाइये आप सम्प्रति क्या करना चाहते हैं ? क्या मैं आप की कोई सहायता कर सकता हूँ ?

श्रीशुकदेव महाराज ने कहा—भगवान् की वाणी अमृत से सनी हुई थी। उससे वृकासुर की थकावट दूर-सी हो गई। उसने आदि से लेकर अन्त तक की सारी घटना क्रमशः भगवान् को कह सुनाई। उसका मन्तव्य क्या था, यह भी उसने बतला दिया।

भगवान् ने कहा—अच्छा, ऐसी बात है ? तब तो भाई, हम उनकी बात का विश्वास नहीं करते। आपको नहीं मालूम है क्या ? शङ्कर तो प्रजापति दक्ष के शाप के कारण पिशाचभाव को प्राप्त हो गये हैं। आजकल वे ही प्रेतों और पिशाचों के अधिपति हैं। वृकासुर (आप जैसे), बुद्धिमान् व्यक्ति कैसे उनकी बात पर विश्वास कर लेते हैं ? उनकी बात कथमपि विश्वसनीय नहीं है। यदि मेरी बात पर आप को विश्वास न हो तो झटपट अपने ही शिर पर हाथ रख परीक्षा कर लीजिये—

यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ । तर्हङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ॥

१०/८८/३३

दानवशिरोमणे, यदि उनका वचन असत्य निकले तो असत्यवक्ता शङ्कर का आप वध कर दीजिये जिससे वे फिर कभी झूठ न बोल सकें। हे राजन्, भगवान् के ऐसे मोहक और भ्रामक वचनों को सुनकर वृकासुर का मन भ्रान्त हो गया। उस समय उसे अपने हित-अनहित का कुछ भी ध्यान न रहा। उसने अपना हाथ उठाकर अपने ही शिर पर रख लिया फलतः वह पापी क्षण भर में ही जलकर राख की ढेर बन गया।

यह देख कर जय-जयकार करती हुई देवमण्डली आकाश से फूलों की वर्षा करने लगी। अब भगवान् विष्णु शङ्करजी के पास जाकर बोले—यह पापी तो अपने ही पाप से मारा गया है। भला, ऐसा कौन-सा प्राणी है जो महापुरुषों का अपकार करके कुशल से रह सके ? फिर आप तो जगद्गुरु हैं, विश्वेश्वर हैं। आप का अपराध करके तो कोई सकुशल रह ही कैसे सकता है ?

भगवान् विष्णु प्रकृति से परे स्वयं परमात्मा हैं। उनकी शङ्करजी को सङ्कट से छुड़ाने की यह लीला जो कोई कहता है या सुनता है, वह संसार के बन्धनों और शत्रुओं के भय से मुक्त हो जाता है—

गिरित्रिमोक्षं कथयेच्छृणोति वा विमुच्यते संसृतिभिस्तथारिभिः ॥१०/८८/४०

हृदय—यह कथानक भगवान् शङ्कर की अतिशय दयालुता, कृपालुता, तामसीजनों की अप्रतिम कृतघ्नता और भगवान् विष्णु की महान् शक्तिमत्ता एवं बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करने के लिये ही श्रीमद्भागवत में उपनिबद्ध है अन्यथा इसकी यहाँ कोई प्रासङ्गिकता नहीं है ॥८८॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्ध का यह अष्टासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८८॥



## नवासीवाँ अध्याय

( महर्षि भृगु के द्वारा त्रिदेवों की परीक्षा तथा भगवान् का मरे हुए

ब्राह्मण-बालकों को वापस लाना )

श्रीशुकदेवजी ने कहा—परीक्षित, एक समय सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों का ज्ञान-सत्र चल रहा था। ज्ञान-चर्चा के प्रसङ्ग में ही ऋषियों में एक दिन जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु और महेश—में सबसे बड़ा कौन है ?

सरस्वत्यास्तटे राजऋषयः सत्रमासत । वितर्कः समभूतेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥१०/८९/१  
इस जिज्ञासा के समाधान के लिये उन लोगों ने भृगु को नियुक्त किया। भृगु ब्रह्माजी के मानस-पुत्र हैं। “भर्जनाद् भृगुः” जो सबको भून डालने की शक्ति रखते हैं, उन्हें भृगु कहते हैं। भृगु की बड़ी महत्ता है। गीता में भगवान् ने कहा है कि—मैं महर्षियों में भृगु हूँ—“महर्षीणां भृगुरहं”<sup>१</sup>। अब भृगुजी चले त्रिदेवों की परीक्षा के लिये। सबसे पहले वे पहुँचे ब्रह्मा की सभा में। वहाँ पहुँच कर उन्होंने ब्रह्माजी को न तो प्रणाम किया और न उनकी स्तुति ही की। इस पर ब्रह्मा क्रुद्ध हो उठे। उनका चेहरा क्रोध से तमतमा उठा किन्तु उन्होंने अपने क्रोध को विवेक द्वारा शान्त किया। यह देख कर भृगुजी वहाँ से चुपचाप उठे और पहुँच गये कैलाश। भृगु शङ्कर के छोटे भाई होते हैं। शङ्करजी भाई को अपने यहाँ आया हुआ देखकर उनके आलिंगन के लिये हाथ फैलाये आगे बढ़े। इस पर भृगु ने उनसे कहा—तुम लोक और वेद की मर्यादा का उल्लंघन करते हो अतः मैं तुम्हारा स्पर्श नहीं करता। यह सुन कर शङ्करजी क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने अपना त्रिशूल उठाया भृगु को मारने के लिये किन्तु पार्वतीजी ने पैर पकड़कर पतिदेव को मना लिया।

इसके बाद महर्षि जी पहुँचे भगवान् विष्णु के वैकुण्ठ। उस समय भगवान् विष्णु लक्ष्मीजी की गोद में पैर रखकर सो रहे थे। भृगु ने जाकर उनकी छाती में एक लात मारा—“शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्यताडयत्”<sup>२</sup> ॥८॥ छाती में पैर के लगते ही भगवान् लक्ष्मी सहित उठ खड़े हुए। उन्होंने शिर झुका कर मुनि को प्रणाम किया और कहा—ब्राह्मण देव, आपका स्वागत है। आइये थोड़ी देर तक इस आसन पर बैठ कर विश्राम कीजिये। मैं आप के आगमन की बात नहीं जानता था इसीलिये उठकर आपकी अगवानी नहीं की। मेरा अपराध क्षमा करें। कृपा कर बैठ जाँय। मेरी छाती कठोर है। आपके चरण सुकोमल हैं अतः आपको चोट अवश्य लग गई होगी। ऐसा कहकर भगवान् ऋषि के चरण को अपने हाथ से सहलाने लगे फिर उन्होंने कहा—महाराज आज मेरा अहो भाग्य है, जो आपका दर्शन हुआ। अपना थोड़ा-सा चरणोदक देकर लोकसहित मुझे पवित्र कर दें। आपके चरण के जल तीर्थों के भी तीर्थ हैं—

पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मदगतान् । पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥

१०।८९।११

भगवान्, आपके चरण-कमलों के स्पर्श से मेरे सारे पाप धुल गये। आज मैं लक्ष्मी का एकमात्र आश्रय बन गया। अब आपके चरण से चिह्नित मेरे वक्षःस्थल पर लक्ष्मी सदा-सर्वदा निवास करेंगी। भगवान् के इस प्रकार के वचनों को सुनकर भृगुजी परम सुखी और तृप्त हो गये। भक्ति के उद्रेक से उनका गला भर आया, आँखों में आँसू

१. श्रीमद्भगवद्गीता-१०।२५।

२. एक तो भगवान् शयन कर रहे थे, दूसरे वे लक्ष्मीजी की गोद में थे, तीसरे मर्मस्थान वक्षःस्थल पर प्रहार किया और चौथे पैर से मारा, न कि हाथ आदि से। इस प्रकार यहाँ अपराध की पराकाष्ठा दिखलाई गई है।



छलछला आये और वे चुप हो गये। वहाँ से उठे और भगवान् की सहनशीलता और ब्रह्मण्यता की सराहना करते हुए वहाँ आ गये जहाँ ऋषियों का सत्र चल रहा था। ऋषियों के मध्य पहुँच कर उन्होंने सारी घटनाओं का ज्यों-का-त्यों वर्णन कर दिया।

भृगु की बात सुन कर सभी ऋषि-मुनियों को बड़ा विस्मय हुआ। त्रिदेवों में श्रेष्ठता-विषयक उनका संशय समाप्त हो गया। विष्णु के प्रति उन लोगों की श्रद्धा-भक्ति और बढ़ गई। तब से वे भगवान् विष्णु को ही सर्वश्रेष्ठ देव मानने लगे। उन्होंने निश्चय किया कि शान्त, समचित्त, अकिञ्चन और सबको अभय देनेवाले साधु-मुनियों की वे ही एकमात्र परम गति हैं—यही सारे शास्त्रों का निचोड़ है। इनकी प्रिय मूर्ति सत्त्व है। ब्राह्मण इनके इष्ट देवता हैं। निष्काम लोग इनका भजन करते हैं।

श्री शुक्रदेवजी कहते हैं—परीक्षित, सरस्वती—तट के ऋषियों ने अपने लिये नहीं, सारे मनुष्यों का संशय मिटाने के लिये ही ऐसी युक्ति रची थी। पुरुषोत्तम भगवान् के चरण-कमलों की सेवा करके उन्होंने उनका परमपद प्राप्त किया।

शुक्रदेवजी ने आगे कहा—राजन्, भगवान् की महिमा का प्रतिपादक एक दूसरा आख्यान भी अब आप सुनें—एक समय की बात है। द्वारकापुरी में एक ब्राह्मण की पत्नी का बालक उत्पन्न होते ही मर गया। ब्राह्मण अपने बालक का मृत शरीर लेकर राजमहल के द्वार पर पहुँचा और वहाँ उसे रखकर विलाप करते हुए कहने लगा—निश्चय ही ब्राह्मण-द्रोही, धूर्त, कृपण और विषयी राजा के कर्मदोष से ही मेरे बालक की मृत्यु हुई है। जो राजा हिंसक, दुःशील तथा अजितेन्द्रिय होता है, उस राजा की प्रजा दरिद्र और सङ्कट-ग्रस्त हुआ करती है। इस प्रकार उस ब्राह्मण के आठ बालक मर गये। नवें बालक के मरने पर जब वह राजद्वार पर मृत बालक का शव रखकर उक्त बातें कह रहा था, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण के पास अर्जुन भी उपस्थित थे। उन्होंने ब्राह्मण के विलापभरे वचन सुनकर उससे कहा—ब्राह्मणदेवता, क्या यहाँ द्वारिका में कोई वीर धनुर्धर योद्धा नहीं है, जो आपके बालक की रक्षा कर सके? प्रतीत होता है, ये यदुवंशी सच्चे क्षत्रिय नहीं, यज्ञ में दीक्षा लेकर बैठे ब्राह्मण हैं। जिनके राज्य में ब्राह्मण दुःखी होते हैं, वे क्षत्रिय नहीं, क्षत्रिय-वेष में पेट पालनेवाले नट हैं। इनका जीवन ही निरर्थक है। अच्छा ठीक है, अब मैं आपकी भावी सन्तान की रक्षा करूँगा और यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सका, तो आग में कूद कर जल मरूँगा।

अर्जुन की बात सुनकर ब्राह्मण ने कहा—यहाँ बड़े-बड़े धनुर्धर वीर हैं। बलराम, भगवान् श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये सभी बेजोड़ योद्धा और धनुर्धर हैं। ये लोग जिस कार्य को नहीं कर सकते हैं, उसे तुम करके दिखलाना चाहते हो। वस्तुतः यह तुम्हारी मूर्खता है। हम तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं कर सकते।

अर्जुन ने साभिमान कहा—ब्रह्मन्, ऐसा मत कहिये। मैं बलराम, कृष्ण और प्रद्युम्न आदि नहीं हूँ। मेरा नाम है—अर्जुन। मेरा धनुष है—गाण्डीव। देवता, संग्राम में शङ्कर को भी सन्तुष्ट करनेवाले मेरे पराक्रम का तिरस्कार मत कीजिये। युद्ध में यमराज को भी हराकर मैं आप के पुत्र को लाकर आपके सामने उपस्थित कर दूँगा—

नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन् न कृष्णः कार्ष्णिरेव च। अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः॥

मावमंस्था मम ब्रह्मन् वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम्। मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभो॥

१०/८९/३३-३४

ब्राह्मण-देवता अर्जुन के वचन पर विश्वास करके घर लौट गये। मार्ग में उनसे जो मिलता उससे वे अर्जुन के पराक्रम और प्रतिज्ञा की चर्चा भी करते जाते थे।



**विशेष**—अर्जुन शब्द की निष्पत्ति अर्ज धातु से होती है। 'अर्जनाद् अर्जुनः'—जो ज्ञानार्जन करे, धनार्जन करे, वह अर्जुन है। किन्तु महाभारत के प्रसिद्ध व्याख्याकार नीलकण्ठ ने 'अर्जुन' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'ऋजुत्वाद् अर्जुनः'। जिसका शीलस्वभाव बड़ा सरल है, ऋजु है, उसका नाम अर्जुन है। अर्जुन के धनुष का नाम था—गाण्डीव। 'गाण्डी' कहते हैं, ग्रन्थि को, गाँठ को। गाण्डीव में इतनी गाँठें बनी हुई थीं कि अर्जुन जहाँ से चाहें वहीं से, जिस कोण पर चाहें, उसी कोण पर उसे मोड़कर लक्ष्य-वेध कर सकते थे। यही कारण है कि उनके धनुष का नाम गाण्डीव था। इसकी भी व्युत्पत्ति नीलकण्ठजी ने महाभारत में की है ॥

जब दसवें प्रसव का निश्चित काल उपस्थित हुआ, तब ब्राह्मण ने बड़े आर्तभाव से अर्जुन की शरण ग्रहण की। अर्जुन ने आचमन किया, भगवान् शङ्कर को प्रणाम किया और दिव्यास्त्रों को धनुष पर रखकर उन्हें चलाना शुरू किया। इस प्रकार सारा का सारा प्रसूतिका-गृह उन्होंने बाणों से ढँक कर उसे पिंजरा सदृश बना दिया, जिससे परिन्दा भी पर न मार सके किन्तु इस बार की घटना अति विलक्षण हुई। पैदा होते ही बालक सशरीर गायब हो गया। केवल उसका रुदनमात्र सुनाई पड़ा। इस पर विलाप करता हुआ ब्राह्मण पहुँचा अर्जुन के पास। अर्जुन उस समय श्रीकृष्ण के पास बैठे थे। उन्हें सुनाकर ब्राह्मण ने कहा—मेरी मूर्खता तो देखिये, मैंने इस नपुंसक की डींगभरी बातों पर विश्वास कर लिया। जिस कार्य को यहाँ के बड़े-बड़े शूरमा न कर सके उसे यह करना चाहता है। भला, आज तक मेरे हुए बालक को किसी ने लौटाया है ?

ब्राह्मण की बात सुनकर अर्जुन ने अपना गाण्डीव धनुष उठाया और योगबल से जा पहुँचे यमराज की संयमनी पुरी। वहाँ बालक नहीं मिला फिर वे इन्द्र, वरुण आदि की पुरियों में, अतल, सुतल आदि नीचे के लोकों में गये किन्तु उन्हें बालक कहीं भी नहीं मिला। विफलमनोरथ अर्जुन लौट आये द्वारकापुरी और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अग्नि में प्रवेश करने की तैयारी करने लगे। इसी समय भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास पहुँचे और उनका हाथ पकड़ कर बोले—अर्जुन, तुम अपने आप अपना तिरस्कार मत करो। आओ, मैं तुम्हें ब्राह्मण के बालकों को दिखलाता हूँ। ऐसा कह कर भगवान् अर्जुन के साथ दिव्यरथ पर सवार होकर पश्चिम दिशा की ओर चल पड़े। चलता हुआ उनका रथ सात द्वीप, सात समुद्र, सात पर्वत और लोकालोक पर्वत को लांघ कर घोर अन्धकार में प्रविष्ट हुआ। अन्धकार में घोड़ों की गति समाप्त हो गई फिर तो भगवान् ने अपने सुदर्शनचक्र को आगे कर दिया। वह अन्धकार को विदीर्ण करता हुआ आगे बढ़ने लगा। उसके पीछे-पीछे रथ चलने लगा। अन्धकार समाप्त हुआ। आलोक का प्रदेश आया। रथ फिर जल में प्रविष्ट हुआ। वहाँ भगवान् और अर्जुन ने दिव्य भवन के मध्य शेष की शय्या पर लेटे हुए अष्ट भुजाधारी भगवान् महाविष्णु को देखा। भगवान् ने अर्जुन के साथ अपने उस अनादि रूप को सादर सविनय प्रणाम किया।

**हृदय**—यहाँ श्रीमद्भागवत में महाविष्णु के जो भी विशेषण, रूप, रङ्ग आदि बतलाये गये हैं, वे सब भगवान् श्रीकृष्ण से पूर्ण मेल रखते हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रीकृष्ण द्विभुजधारी हैं। वे कभी-कभी चतुर्भुज बनते हैं किन्तु महाविष्णु अष्टभुजधारी हैं। साम्य के कारण महाविष्णु के साथ श्रीकृष्ण की एकरूपता सिद्ध होती है। इसी बात को—  
“ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतः” ॥५८॥ कहकर भागवतकार ने सिद्ध किया है ॥

अर्जुन और कृष्ण के प्रणाम कर लेने के बाद महाविष्णु ने कहा—बहुत दिन बीत गये अतः आप दोनों को देखने की इच्छा हुई। इसी प्रयोजन से मैंने ब्राह्मण के बालकों का अपहरण कराके यहाँ मंगवाया है। अब आप लोग



शीघ्र ही अवशिष्ट असुरों का संहार कर मेरे पास चले आना । महाविष्णु के आदेश के मिलते ही श्रीकृष्ण ब्राह्मण के बालकों को लेकर द्वारका लौट आये । ब्राह्मण के बालक अपनी आयु के अनुसार बड़े-बड़े हो गये थे । उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन ने उनके पिता को सौंप दिया । भगवान् के परम धाम को देखकर अर्जुन के आश्चर्य की सीमा न रही । उन्होंने यह मान लिया कि इस संसार में जो कुछ है, वह सब श्रीकृष्ण की लीला का विलासमात्र है ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्, भगवान् श्रीकृष्ण की ऐसी-ऐसी अनेकों महान् लीलाएँ हैं । सांसारिक व्यक्तियों की भाँति गृहस्थी में निवास करते हुए उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञों को भी सम्पन्न किया । उन्होंने समस्त प्रजाओं के सारे मनोरथ पूर्ण किये । बहुत-से विधर्मी राजा स्वयं उनके हाथों मारे गये और बहुत-से अर्जुन आदि के द्वारा मरवा डाले गये ।

इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर आदि धार्मिक राजाओं से, भगवान् श्रीकृष्ण ने, अनायास ही सारी पृथिवी में धर्ममर्यादा की स्थापना करा दी । यही तो उनके अवतार का प्रधान प्रयोजन है । जो व्यक्ति उनके इन चरित्रों का श्रवण-मनन करता है, वह अनायास ही संसार-सागर को पार कर जाता है ॥८९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्ध का यह नवासीवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८९॥

## नब्बेवाँ अध्याय

( द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण के लीला-विहार का वर्णन )

श्रीशुकदेवजी ने कहा—परिषित्, द्वारका नगरी सम्पूर्ण सम्पत्तियों से परिपूर्ण थी । जहाँ साक्षात् लक्ष्मीपति निवास करते हों वहाँ की समृद्धि और शोभा-सम्पत्ति का क्या कहना ? वह बड़े-बड़े यादव-वीरों से भरी थी । जिस समय तरुणाई से आँगड़ाई लेती हुई, उत्तम वेष से सुसज्जित तरुणियाँ प्रासाद के छतों पर कन्दुक-क्रीडा करती थीं, उस समय द्वारका सजी हुई दुल्हन-सी प्रतीत होती थी । उसके उस सौन्दर्य का वर्णन भला कौन कर सकता है ? हरे-भरे उद्यान और वृक्ष उसकी धानी साड़ी जैसे प्रतीत होते थे । रंग-विरंगे फूलों से लदे हुए वृक्ष उसके सौन्दर्य में चार-चाँद लगा रहे थे । वस्तुतः द्वारका ऊपर से च्युत स्वर्ग का एक खण्ड-सी प्रतीत हो रही थी ।

ऐसी द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण अपनी षोडश सहस्र पत्नियों के साथ नाना रूप धारण कर उनके ऐश्वर्य से सम्पन्न भवनों में प्राकृत-सा प्रतीत होनेवाला अप्राकृत विहार किया करते थे—

रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः । तावद्विचित्ररूपोऽसौ तद्गृहेषु महर्द्धिषु ॥१०/९०/५

भगवान् श्रीकृष्ण राजप्रासाद के विशाल जलाशय में अपनी पत्नियों के साथ जलक्रीडा किया करते थे । भगवान् के साथ विहार करनेवाली पत्नियाँ जब उन्हें अपने भुज-पाश में बाँध कर निर्दय आलिङ्गन करती थीं, उस समय उनके विशाल उरोजों पर लिप्त केसर-कुंकुम भगवान् के श्रीअङ्गों पर लग जाती थी । यह दृश्य देखकर गन्धर्व उनके यश का गान करने लगते, मागध और वन्दीजन सानन्द बोल, मृदङ्ग तथा वीणा आदि बजाकर उनका स्वागत करने लगते थे । अद्भुत था काम-केलि का यह दृश्य ।

भगवान् की पत्नियाँ कभी उन पर नयन-बाण चलातीं, कभी मनोहर मुस्कान से उनके चित्त को आकृष्ट करने



का प्रयास करतीं और कभी रंगभरी पिचकारियों से उन्हें भिगो देतीं। भगवान् भी उनका जबाब देने में पीछे न रहते। वे भी हँस कर उन्हें गले लगा लेते, गालों पर थपथपाते और कभी बाँहों में भर कर छाती से कस कर चिपका लेते फिर पिचकारी हाथ में लेकर भगवान् उन्हें इस प्रकार रंग से सराबोर कर देते कि उनके उन्नत उरोज, केले के स्तम्भ जैसी गोल-गोल चिकनी जाँघें तथा गोल-गोल बृहद् नितम्ब ऐसे झलकने लगते मानो उन पर वस्त्र ही न हों। उस समय ऐसा लगता मानो यक्षराज कुबेर यक्षिणियों के साथ विहार कर रहे हों।

वे स्त्रियाँ कभी कामोन्माद में भगवान् से पिचकारी छीनने का प्रयास करतीं। इसी बहाने वे भगवान् से लिपट कर उनकी बाँहों में लीन हो जाती। प्रसन्नता के मारे उनके मुख-कमल खिल जाते। इससे उनकी शोभा और बढ़ जाती।

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः ।

कान्तं स्म रेचकजिहीरषयोपगुह्य जातस्मरोत्सवलसद्बदना विरेजुः ॥ १०/१०/१०

उस समय इधर से उधर घूमनेवाली उनकी काली-काली बालों की चोटियाँ सरकती हुई काली नागिन-सी प्रतीत होती थीं। जल-विहार के बाद भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी पत्नियाँ उन नर्तकों को अपने-अपने वस्त्र और अलंकार बाँट दिया करते थे, जिनकी जीविका गीत-वाद्य आदि होती।

कभी-कभी उनका भावावेश बढ़कर प्रेमवैचित्त्य की अवस्था में पहुँच जाता। प्रेमवैचित्त्य उस अवस्था को कहते हैं जब भगवान् रहें तो बिल्कुल पास में, किन्तु प्रेमिका को प्रतीत हो कि उसका भगवान् से विरह हो गया है। राधासुधानिधि में इसका बड़ा बढ़िया वर्णन किया गया है—भगवान् श्रीकृष्ण तो लेटे हैं राधारानी की गोद में, किन्तु वे वियोग की मधुर अनुभूति कर कह बैठती हैं—प्राणाधार मनमोहन कहाँ गये आप—

अङ्गस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात् ॥

इस अवस्था में पहुँच कर वे भगवान् से वियोग की अनुभूति करती हुई कहने लगतीं—अरी कुररी, अब तक बड़ी रात बीत चुकी है। संसार में सब ओर सन्नाटा छा गया है। देखो, इस समय भगवान् प्रगाढ निद्रा में शयन कर रहे हैं और तुझे नींद ही नहीं आती ? तू इस तरह रात भर जग कर विलाप क्यों कर रही है ? बता तो सखि, कहीं कमलनयन भगवान् के मधुर-मधुर मुस्कान और लीलाभरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी ही तरह घायल तो नहीं हो गया है—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः ।

वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्भिन्नचेता नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥ १०/१०/१५

अरी चक्रवाकि, तूनें रात्रि की बेला में अपने नयन क्यों बन्द कर लिये हैं ? क्या तेरे पतिदेव कहीं विदेश चले गये हैं कि तू इस प्रकार करुण स्वर से पुकार रही है ? हाय-हाय ! तब तो तू बड़ी दुःखिनी है। कहीं तेरे हृदय में भी हमारे ही समान भगवान् की दासी होने का भाव जग तो नहीं गया है ? क्या अब तू उनके चरणों पर चढ़ाई हुई पुष्प-माला चोटी में धारण करना चाहती है ?

नेत्रेनिमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धुस्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि ।

दास्यं गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां किं वा स्रजं स्पृहयसे कबरेण बोद्धुम् ॥ १०/१०/१६

अरे समुद्र, तुम भी दिन-रात चिल्लाते रहते हो, क्या तुम सोते नहीं हो ? क्या भगवान् ने तुम्हारा भी कुछ



हरण कर लिया है ? अरे श्यामघन, तुम तो भगवान् के बड़े दयित हो, तुम्हारा भी स्निग्ध श्याम वर्ण उन्हीं के समान है। क्या तुम्हारा भी उनसे वियोग हो गया है, जो गर्ज-गर्ज कर जलधार के रूप में अश्रुधार बहा रहे हो। बन्द करो रुदन। क्या बताऊँ, उनके संग का परिणाम बड़ा ही दुःखदाई हुआ करता है—“दुःखदस्तत्रसङ्गः” ॥२०॥ अरी कोकिले, तेरी कूक भगवान् की अमृतवर्षिणी, मृतसञ्जीवनी वाणी की भाँति अतिशय मनोहर है। तू ही बता इस समय हम तेरा क्या प्रिय करें—“करवाणि किमद्य ते प्रियं” ॥२१॥

ओ प्रिय पर्वत, क्या तू निश्चल होकर भगवान् का ध्यान कर रहे हो। प्रतीत होता है कि तुम भी भगवान् के चरण-चिह्नों को अपने शिखरों पर धारण करना चाहते हो, जैसे हम उसे अपने विशाल स्तनों की जलन मिटाने के लिये अपने वक्षःस्थल पर धारण करना चाहती हैं।

हंस, आओ, आओ। भले आये। स्वागत है। आसन पर बैठो; लो दूध पियो। बतलाओ श्यामसुन्दर का समाचार। क्या वे अब भी हमारी याद करते हैं ? वस्तुतः वे बड़े चल-हृदय हैं। उनकी बात का कोई भरोसा नहीं है।

परीक्षित, श्रीकृष्ण की प्रिय पत्नियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति ऐसा ही अनन्य प्रेम-भाव रखती थीं। इसी से उन्होंने परम पद प्राप्त किया—

इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे । क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम् ॥१०/१०/२५

भगवान् श्रीकृष्ण केवल श्रवण करने मात्र से ही मन को हर लेते हैं, आकृष्ट कर लेते हैं फिर जो उनको देखे, उनके सम्पर्क में रहे, उनका सेवन करे, उसकी गति का तो कहना ही क्या है ? इस प्रकार हम देखते हैं कि उन स्त्रियों ने जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा के बल पर परम गति प्राप्त की।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने गार्हस्थ्य जीवन में रहकर, वेदोक्त धर्मों का पालन करते हुए, संसार के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनकी सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियाँ थीं। उन्होंने उनमें से प्रत्येक के दस-दस पुत्र उत्पन्न किये। सबसे बड़े थे रुक्मिणी-नन्दन प्रद्युम्नजी। वे सभी गुणों में अपने पिता के ही समान थे। रुक्मी की कन्या से इनका विवाह हुआ था। उससे अनिरुद्ध जी पैदा हुए थे। अनिरुद्ध जी ने अपने नाना की पोती से विवाह किया। उसके गर्भ से वज्र का जन्म हुआ। ब्राह्मणों के शाप से यदुवंश के विनाश हो जाने पर एक मात्र वज्र ही बचे थे। इनके पुत्र थे प्रतिबाहु, प्रतिबाहु के सुबाहु, सुबाहु के शान्तसेन और शान्तसेन के शतसेन।

इस वंश में ऐसा कोई भी पुरुष नहीं हुआ जो अल्प सन्तानवाला हो। इनमें कोई भी निर्धन, अल्पायु और अबहण्य नहीं था। इनकी संख्या अति विशाल है। उनकी गणना असंभव-सी है।

कहा जाता है कि यदुकुमारों को शिक्षा देने के लिये नियुक्त आचार्यों की संख्या तीन करोड़ अट्ठासी सहस्र एक सौ थी—

तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च । आसन् यदुकुलाचार्याः कुमारानामिति श्रुतम् ॥

१०/१०/४१

जब यदुकुमारों को पढ़ाने वाले आचार्यों की संख्या इतनी विशाल है तो फिर यादवों की संख्या क्या रही होगी ? इनकी गणना असम्भव है। वस्तुतः देवतालोग ही यदुकुल में अवतीर्ण हुए थे। यह बात दशम स्कन्ध के प्रारम्भ में ही बतला दी गई है। उनके मध्य उनके स्वामी के रूप में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आविर्भूत हुए थे किन्तु इसे भगवान्



की कृपा समझें अथवा उनकी लीला कहें कि वे श्रीकृष्ण के साथ शय्या, आसन, अटन, आलाप, क्रीडा और स्नान आदि में सर्वदा साथ रहने पर भी उनको पहचान न सके—‘न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णायः कृष्णदेवताः’ ॥४६॥

परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण ने यदुकुल में अवतार लेकर अपनी विमल कीर्ति का विस्तार किया। उनके इस कीर्तिरूपी तीर्थ ने देवनदी गंगा रूपी तीर्थ को लघु बना दिया। भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त, मित्र, शत्रु सभी उनको आश्रय बनाकर समान भाव से मुक्ति के पात्र बनें। सभी थोक के भाव में मुक्त हुए। जिस लक्ष्मी के कृपा-कटाक्ष की लालसा से ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देव कठोर तप किया करते हैं, वह लक्ष्मी उनको प्रसन्न करने के लिये अनवरत उनकी सेवा में निरत रहा करती है। भगवान् कृष्ण का यह दो अक्षर वाला नाम श्रवणकर्ता एवं वक्ता की अविद्याजनित अशेष पापराशि को समूल भस्म कर डालता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने विभिन्न गोत्रों में समुत्पन्न ऋषियों के वंश में धर्म का प्रचार एवं प्रसार कर उसे चतुष्पाद बनाकर पूर्णता प्रदान कर दी। जो इतने महान् कार्यों के सम्पादक हैं, उन कालरूप चक्रधारी श्रीकृष्ण के लिये पृथिवी का भार उतार देना कौन-सी बड़ी बात है? पृथिवी का भार उतारना तो श्रीकृष्ण के भृकुटि-विलासमात्र का कार्य है।

अन्त में, श्रीशुकदेवजी महाराज दशम स्कन्ध का उपसंहार करते हुए मङ्गलाचरण करते हैं—भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त जीवों के आश्रय स्थान हैं। यद्यपि वे सदा-सर्वदा सर्वत्र उपस्थित ही रहते हैं, फिर भी कहने के लिये उन्होंने देवकीजी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया है, यादव-वीर पार्श्वों के रूप में उनकी सेवा-सुश्रूषा करते रहते हैं। उन्होंने अपने बाहु-बल से अधर्म का उन्मूलन कर दिया है। परीक्षित, भगवान् अपने स्वभाव से ही चराचर जगत् का दुःख मिटाने वाले हैं। उनका मधुर स्मित से अलङ्कृत मुखकमल ब्रज-स्त्रियों और पुरुषों के हृदय में प्रेम की गंगा प्रवाहित करता रहता है। वस्तुतः सारे जगत् पर वही विजयी हैं। उन्हीं की जय हो, विजय हो—

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपर्वत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।

स्थिरचरवृजिन्धनः सुस्मितश्रीमुखेन ब्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ॥१०/९०/४८

जो व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की सेवा का अधिकार प्राप्त करना चाहे, उसे उनकी विभिन्न लीलाओं का ही श्रवण करना चाहिये। श्रीकृष्ण की लीला के श्रवण से प्राणी के सारे कर्मबन्धन कट जाते हैं, शिथिल पड़ जाते हैं। भगवान् की मनोहारिणी लीलाओं के श्रवण, कीर्तन एवं चिन्तन से समृद्ध भक्ति व्यक्ति को उठाकर भगवद्धाम में बैठा देती है। भगवान् के उसी धाम-प्राप्ति की लालसा से बड़े-बड़े सम्राटों ने अपना समृद्ध साम्राज्य त्याग कर चतुर्थ अवस्था में तपस्या करने के उद्देश्य से जंगल की यात्रा की है। इसलिये मानव का यह परम धर्म है कि वह उन्हीं की लीलाकथाओं का श्रवण करे ॥९०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध का यह नब्बेवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥९०॥

॥ दशम स्कन्ध समाप्त ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु



## एकादश स्कन्धः

### पहला अध्याय

#### ( यदुवंश को ऋषियों का शाप )

बादरायणनन्दन श्रीशुकदेवजी ने कहा—परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण ने बलरामजी तथा अन्य यदुवंशियों के साथ मिलकर बहुत-से दैत्यों का संहार किया तथा कौरवों और पाण्डवों में भी महाविनाशकारी कलह करवाकर भूतल का महान् भार उतार दिया—

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः । भुवोऽवतारयद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम् ॥

११/१/१

कौरवों ने कपटपूर्ण जुए से, भाँति-भाँति के अपमानों से तथा द्रौपदी के केश खींचने आदि अत्याचारों से पाण्डवों को अत्यन्त कुपित कर दिया था । उन्होंने पाण्डवों को निमित्त बनाकर भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों पक्षों में एकत्र हुए राजाओं को मरवाकर पृथ्वी का भार हल्का कर दिया । कुछ अन्य अवशिष्ट दुष्ट राजाओं का वध भगवान् ने यदुवंशियों के द्वारा करवा दिया फिर भी उन्हें सन्तोष न हुआ, क्योंकि भगवान् की अपनी बाहुओं से सुरक्षित अतः देवों के लिये भी अजेय यदुवंशियों का भार तो अभी भी भूतलपर बना हुआ था । इसलिये उन्होंने सोचा कि जैसे बाँस आपस में टकराकर वनाग्नि पैदाकर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार ये यदुवंशी भी आपस में टकराकर लड़ मरें तो अच्छा है । इस कार्य को सम्पन्न करने के बाद ही मैं अपने नित्य धाम में जाऊँगा—

अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणुस्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥११/१/४

भगवान् सत्यसङ्कल्प हैं । उनके निश्चय को कोई टाल नहीं सकता । ऐसा सोचकर उन्होंने ब्राह्मणों के शाप के बहाने से अपने कुल का संहार करवा दिया । सकल संसार के सम्मिलित सौन्दर्य को पराभूत करनेवाली अपनी मूर्ति से सारे प्राणियों के लोचनों को अपनी ओर आकृष्ट कर; अपनी मधुरातिमधुर वाणी के द्वारा उसे स्मरण करनेवाले लोगों के चित्त को चुरा कर; भूतल पर पड़े हुए अपने चरण-चिह्नों को देखनेवालों के अन्य क्रिया-कलापों को छीन कर और मेरी कीर्ति का श्रवण और गान कर लोग अज्ञानरूपी सागर से पार हो जायेंगे—ऐसा विचार कर भगवान् भूतल पर अपनी कीर्ति का विस्तार कर अपने परम धाम में चले गये—

स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् । गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदेस्तानीक्षतां क्रियाः ॥

आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ । तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदमीश्वरः ॥

११/१/६-७

राजा परीक्षित ने कहा—महाराज, आप कृपा कर यह बतलावें कि यदुवंशी तो बेजोड़ ब्राह्मण-भक्त थे, वृद्धों की सेवा करनेवाले थे, उनका मन सदा श्रीकृष्ण में लगा रहता था, फिर क्या कारण था कि ब्राह्मणों ने उन्हें शाप दिया ? सर्वत्र भगद्दृष्टि रखनेवाले ऋषियों में भेद-दृष्टि कैसे पैदा हुई ?

श्रीशुकदेवजी ने कहा—भगवान् आप्तकाम हैं । उन्हें किसी वस्तु की न तो आवश्यकता है और न इच्छा है ।

१. इस स्कन्ध में ३१ अध्याय हैं । इसमें पुराण के नवम लक्षण “मुक्ति” का निरूपण किया गया है ।



उनका श्रीविग्रह सारी सुन्दरताओं का एकमात्र आश्रय था। वे भूतल पर जन-कल्याण-कारिणी लीलाओं का सम्पादन करते हुए द्वारका में निवास कर रहे थे। एक दिन उन्होंने सोचा कि मुझे जो कुछ करना था, वह सब कर लिया। अब केवल अपने कुल का संहारमात्र बाकी रह गया है अर्थात् पृथ्वी का भार उतारने में इतना ही कार्य अवशिष्ट रह गया है।

**बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं कर्माचिरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ।**

**आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः संहर्तुमैच्छत् कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥**

११/१/१०

भगवान् ने ऐसी-ऐसी लीलाएँ की जिनके गान से जगत् के सारे कलमल समाप्त हो जाते हैं। अब वे यदुवंश में कालरूप बन कर ही निवास कर रहे थे। उस समय भगवान् की प्रेरणा से, उनसे विदा होकर विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ और नारद आदि बड़े-बड़े ऋषि द्वारका के पास ही पिण्डारक क्षेत्र में जाकर निवास करने लगे।

एक दिन की घटना है, यदुवंश के कुछ उद्दण्ड कुमार खेलते-खेलते उन महात्माओं के पास पहुँचे। उन्हें कुछ शरारत सूझी अतः उन लोगों ने बिना दाढ़ी-मूछवाले जाम्बवतीनन्दन साम्ब के पेट पर कपड़ा आदि बाँध कर, प्रणाम कर प्रश्न किया—महात्माओं, आप भविष्यद्रष्टा हैं। यह तरुणी गर्भवती है। पूछने में लजा रही है। आपलोग कृपा करके बतायें कि यह लड़का पैदा करेगी अथवा लड़की? मुनि-जन उनकी शरारत देखकर क्रुद्ध हो उठे और कहे—मूर्खों, यह एक ऐसा मुशल पैदा करेगी, जो तुम्हारे कुल का विनाशक होगा। मुनियों की यह बात सुनकर वे बालक बहुत ही भयभीत हो गये। उन्होंने तुरन्त साम्ब का पेट खोलकर देखा तो सचमुच उससे एक लोहे का मुसल निकला। अब उन्हें पश्चात्ताप होने लगा कि— हम अभागों ने यह क्या किया। परिवार के लोग जब सुनेंगे तो हमें क्या कहेंगे? यह तो अनर्थ हो गया फिर वे उस मुसल को लेकर महाराज उग्रसेन की सभा में गये और उन्हें सारा वृत्तान्त स्पष्ट रूप से कह सुनाया। ब्राह्मणों के अमोघ शाप को सुनकर सभी यादव-गण भयभीत हो उठे। यदुराज उग्रसेन ने उस मुसल को कूट कर चूरा-चूरा करा डाला और उस चूरे तथा लोहे के एक बचे हुए छोटे टुकड़े को समुद्र में फेंकवा दिया। इसके सम्बन्ध में उन्होंने भगवान् से कोई सलाह न ली; ऐसी उनकी प्रेरणा थी।

उस लोहे के टुकड़े को एक मछली निगल गई। चूरा तरङ्गों के साथ बह-बह कर समुद्र के किनारे आ लगा। वह थोड़े दिनों में एरक (बिना गाँठ की एक घास) के रूप में उग आया। लोहे के टुकड़े को निगलनेवाली मछली को मछुआरों ने जाल में फँसाया। जब उसे चीरा तो उसके पेट से एक लोहे का टुकड़ा निकला। जरा नामक व्याध ने लोहे के उस टुकड़े को अपने बाण की नोक में लगा लिया।

भगवान् सब कुछ जानते थे। वे इस शाप को उलट भी सकते थे फिर भी उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा। कालरूपधारी भगवान् ने ब्राह्मणों के शाप का अनुमोदन ही किया। आखिर, यह सब तो उन्हीं की प्रेरणा से हो रहा था—

**भगवाञ्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा । कर्तुं नैच्छद् विप्रश्रापं कालरूप्यन्वमोदत ॥११/१/१४**

**॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥**



## दूसरा अध्याय

( वासुदेवजी के पास नारद का आगमन और राजा जनक तथा नौ योगीश्वरों का संवाद सुनाना )

श्रीशुकदेवजी ने कहा—कुरुनन्दन, देवर्षि नारद भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना की लालसा से प्रायः द्वारका में ही रहा करते थे। द्वारका भगवान् की भुजाओं से संरक्षित थी। वहाँ दक्ष का शाप भी प्रभावी नहीं था—

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह । अवासीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥११/२/१

भगवान् श्रीकृष्ण के चरण की उपासना ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देव भी किया करते हैं। प्राणी तो सर्वदा मृत्यु से घिरा हुआ है। ऐसी स्थिति में ऐसा कौन-सा इन्द्रियधारी प्राणी है, जो उनका भजन-चिन्तन न करना चाहे ? इन्द्रियों का यथार्थ फल तो भगवच्चिन्तन-पूजन ही है अन्यथा वे निरर्थक ही रह जायेंगी इसलिये भगवान् के बार-बार बिदा करने पर भी वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे।

एक समय नारदजी वसुदेव के राज-भवन में पधारे। वसुदेवजी ने बड़े आदर से उनकी पूजा की। आसन पर बैठाया और प्रणाम करके कहा—भगवन्, जैसे माता-पिता का आगमन पुत्रों के कल्याण के लिये हुआ करता है, ऐसे ही भगवान् की ओर अग्रसर होनेवाले साधु-सन्तों का पादार्पण संसारी दीन-दुःखियों के मङ्गल के लिये हुआ करता है फिर तो आप भगवत्स्वरूप ही हैं अतः लोक-कल्याण के लिये ही आप संसार में विचरण किया करते हैं। देवों के चरित्र भी कभी प्राणियों के लिये सुखदायी होते हैं और कभी दुःखदायी किन्तु महात्माओं की प्रत्येक चेष्टा प्राणियों के कल्याण के लिये ही हुआ करती है। जो लोग देवताओं का जिस प्रकार भजन करते हैं, देवता भी परछाई के समान उसी प्रकार उन्हें फल दिया करते हैं। किन्तु सत्पुरुष दीनवत्सल होते हैं अतः मैं आप से भागवत धर्म के विषय में कुछ पूछना चाहता हूँ, श्रद्धा-भक्ति के साथ जिसके श्रवण से प्राणी संसार के भय से मुक्त हो जाता है। इसलिये आप मुझे ऐसा उपदेश दें जिससे मैं इस जन्म-मृत्युरूप भयावह संसार से अनायास ही पार हो जाऊँ।

श्रीशुकदेवजी ने कहा—वसुदेव की यह प्रार्थना सुनकर नारदजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें भगवान् के गुणों का स्मरण हो आया—“हरेः संस्मारितो गुणैः” ॥१०॥

नारदजी ने कहा—यदुवंशशिरोमणे, आपका यह निश्चय बड़ा ही उत्तम है। भागवत-धर्म सारे संसार को पवित्र करनेवाला है। इसके श्रवण, वर्णन, चिन्तन और समर्थन से विश्वद्रोही भी पवित्र हो जाता है। वसुदेवजी, आप बड़े भाग्यशाली हैं। यह प्रश्न कर आपने आज मुझे अपने आराध्यदेव नारायण का स्मरण करा दिया—“स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम” ॥१३॥

विशेष—नारदजी के परमाराध्य देव नारायण ही हैं। वह उन्हीं का भजन करते हुए भ्रमण करते हैं किन्तु जब वे द्वारका में पहुँचते हैं, श्रीकृष्ण का सौन्दर्य, माधुर्य देखते हैं, तब उन्हें अपने आराध्य देव नारायण भी भूल जाते हैं। आज जब उन्होंने वसुदेव के प्रश्न को सुना तब उन्हें अपने भूले हुए नारायण की याद आ गई ॥

अब मैं आप को एक पुराना इतिहास सुना रहा हूँ। उसमें ऋषभदेव के पुत्र नव योगीश्वरों और महात्मा विदेह (जनक) का संवाद है। आप सुन ही चुके हैं कि स्वायम्भुव मनु के पुत्र थे प्रियव्रत। उनके पुत्र हुए आग्नीध्र, नागनीध्र से नाभि हुए और नाभि से ऋषभ हुए। ऋषभ के सौ पुत्र थे। उनमें भरत सबसे बड़े थे। उन्हीं के नाम पर इस देश का नाम पड़ा—भारत। भरत नारायण के महान् भक्त थे। उन्होंने तीसरे जन्म में भगवान् को प्राप्त कर लिया था।

ऋषभ के शेष निन्यानबे पुत्रों में नव नव द्वीपों के राजा हो गये। इक्यासी कर्मकाण्ड के विस्तारक ब्राह्मण बन गये। बाकी बचे नौ मुनि हो गये। उन्होंने तप कर सिद्धि प्राप्त की थी। वे योगविद्या-विशारद थे और दिगम्बर वेष



में रहते थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन। इनका अनुभव था कि यह सारा संसार भगवान् का रूप है। सब कुछ भगवान् से अभिन्न है। इस अनुभव से सम्पन्न वे नवयोगीश्वर सर्वत्र और सबमें भगवान् का दर्शन करते हुए विचरण करते थे—“पश्यन्तो व्यचरन् महीम्” ॥२२॥ एक बार धूमते-धामते वे महाराज निमि के सत्र में पहुँचे। वहाँ बड़े-बड़े ऋषि-मुनि विराजमान थे। सबने उठकर उनकी अगवानी की, स्वागत-सत्कार किया। महाराज विदेह ने उनको नारायण-परायण जानकर बड़े आनन्द के साथ उन्हें सुयोग्य आसनों पर सादर बैठाया। वहाँ उनकी बड़ी शोभा हुई।

विदेह ने कहा—भगवन्, मेरी दृष्टि में आप लोग भगवान् मधुसूदन के साक्षात् पार्षद ही हैं। भगवान् के पार्षद संसार के लोगों को पवित्र करने के लिये यत्र-तत्र सर्वत्र विचरण किया करते हैं—

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः। विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥

११/२/२८

यह मानव शरीर दुर्लभ होते हुए भी क्षण-भङ्गुर है। उसमें भी आप जैसे महात्माओं का दर्शन तो अत्यन्त ही दुर्लभ है—

दुर्लभो मानुषो देहो, देहिनां क्षणभङ्गुरः। तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥११/२/२९

इसलिये मैं मानव के परम कल्याण की बात आप लोगों से पूछ रहा हूँ। इस संसार में आधे क्षण का सत्सङ्ग भी मनुष्यों के लिये सबसे बड़ी निधि है, बेजोड़ खजाना है। आपका बड़ा आभार मानूँगा, यदि आप यह बतलाने की कृपा करें कि—इस संसार में परम कल्याण (मोक्ष) क्या है और उसका साधनभूत भागवत धर्म क्या है? क्योंकि भागवत धर्मों का आचरण करने पर प्रसन्न होकर भगवान् शरणागत भक्तों को अपने आप को भी दान कर डालते हैं, अपने-आप को भी समर्पित कर देते हैं।

श्री नारदजी ने कहा—वसुदेवजी, महाराज निमि के प्रश्न को सुनकर योगीश्वर प्रसन्न हो उठे। उन लोगों ने राजा और राजा के प्रश्न की प्रशंसा की फिर उनमें से एक कवि ने कहा—राजन, भक्तजनों के हृदय से कभी दूर न होनेवाले अच्युत भगवान् के चरणों की नित्य निरन्तर उपासना ही इस संसार में परमकल्याण (मोक्ष) का साधन है। इस साधन में किसी प्रकार का भय नहीं है। संसार में अहन्ता एवं ममता के कारण जिनकी चित्तवृत्ति उद्विग्न हो रही है, उनका भय भी इस उपासना का अनुष्ठान करने पर पूर्णरूप से निवृत्त हो जाता है। भगवान् ने अपनी प्राप्ति के लिये जिन उपायों को बतलाया है, वे सब भागवत धर्म हैं। अल्पज्ञ व्यक्ति भी उनके सहारे आसानी से संसार-सागर पार कर जाते हैं। उनमें से कुछ धर्मों का वर्णन मैं आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ—

शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, अहङ्कार से और अपने प्रकृतिजात स्वभाव के कारण मानव जो-जो कर्म करे, उसे भगवान् को अर्पण करता चले। ऐसा करने से सारे कर्म भागवत-धर्म बन जाते हैं फिर वे बन्धन के कारण नहीं होते—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।

करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥ ११/२/३६

ईश्वर से विमुख पुरुष को उनकी माया से स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। इस विस्मृति से व्यक्ति अपने स्वरूप को भूल जाता है। इससे वह देह में अहङ्कार कर बैठता है। इससे द्वितीय वस्तु की कल्पना द्वारा, मृत्यु-भय उपस्थित

१. कं सुखं वाति विस्तारतीति कविः। जो सर्वत्र सुख का विस्तार करे, उसे कवि कहते हैं।



हो जाता है अतः माया की निवृत्ति के लिये गुरु में 'देवताबुद्धि' रखकर भक्तिपूर्वक ईश्वर का भजन करना चाहिये। यह सारा द्वैत प्रपञ्च, स्वप्न और मनःकल्पना की भाँति, नश्वर है—ऐसा निश्चय करके मनुष्य मन का निग्रह करे—ऐसा करने से उसे अभय पद की, परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। मन के निग्रह का सबसे सरल उपाय यह है कि व्यक्ति प्रतिदिन भगवान् के जन्म और लीलाओं का श्रवण करे, कीर्तन करे तथा लज्जा-सङ्कोच छोड़कर, आसक्ति-रहित हो, उनका गान करते हुए विचरण करे—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।

गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ ११/२/३९

ऐसा करने से साधक का चित्त द्रवित हो जाता है। फिर तो जैसे पिघले हुए लाक्षा से उसमें डाला गया रङ्ग अलग नहीं किया जा सकता, वैसे ही उसके चित्त से भगवान्, उनके नाम और कर्म कभी पृथक् नहीं हो सकते। इस स्थिति में पहुँचा हुआ मनुष्य भगवान् की लीलाओं का स्मरण कर कभी रोता है, कभी गाता है और कभी पागल बाबा बनकर नाचने लगता है। उस समय उसे सांसारिक मर्यादाओं का भान नहीं होता है। उसे सर्वत्र सबमें भगवान् का ही दर्शन होता है और भगवद्बुद्धि से सबको वह प्रणाम करता चलता है<sup>१</sup>।

जैसे भोजन करनेवाले भूखे व्यक्ति को प्रत्येक ग्रास में तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा की निवृत्ति की अनुभूति होती है, वैसे ही श्रद्धा और भक्ति से भगवान् का भजन करनेवाले शरणागत व्यक्ति को भगवान् में भक्ति, संसार से विरक्ति और ईश्वर की अनुभूति—ये तीनों बातें एक साथ होती हैं—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।

प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुधासम् ॥ ११/२/४२

इस प्रकार श्रद्धा-भक्ति के साथ भगवान् का भजन-सेवन करनेवाले व्यक्ति को भगवान् के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसार के प्रति वैराग्य और अपने प्रियतम भगवान् के स्वरूप की स्फूर्ति होने लगती है फिर तो वह परम भागवत बनकर असीम शान्ति की अनुभूति करता है।

अन्त में, योगेश्वर 'कवि' ने कहा—राजन, यह मैंने संक्षेप में आप को भागवत धर्म बतलाया है। इसके पालन से व्यक्ति निर्भय होकर परमानन्द की प्राप्ति करता है। कवि के तथ्यपूर्ण वचनों को सुनकर राजा निमि ने पुनः पूछा—योगीश्वर, अब आप कृपा करके भगवान् के भक्त का लक्षण बतलाइये। उसके साथ ही भक्त के धर्म, स्वभाव, आचरण, व्यवहार आदि का भी निरूपण कीजिये।

राजा के प्रश्न को सुन कर दूसरे योगीश्वर 'हरि'जी ने कहा—भक्त तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम भक्त, मध्यम भक्त और अवर भक्त। जो सब में भगवान् और भगवान् में सब, भगवान् में आत्मा और आत्मा में भगवान् का दर्शन करता है, वही श्रेष्ठ भक्त है, वही उत्तम भागवत = भगवद्भक्त है। जो भगवान् से प्रेम, उनके भक्तों से मित्रता, दुःखी और अज्ञानियों पर कृपा, तथा भगवान् से द्वेष करनेवालों की उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटि का भक्त है। जो भगवान् के अर्चा-विग्रह—मूर्ति आदि की पूजा तो श्रद्धा से करता है, परन्तु भगवान् के भक्तों या दूसरे लोगों की विशेष सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, वह अवर श्रेणी का, साधारण श्रेणी का भक्त है—

१. सीयराममय सब जग जानी । करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी ॥ रामचरितमानस ॥

२. हरतीति हरिः । हरति पापानीति हरिः—जो संसर्ग में आगत व्यक्ति के पापों का हरण करले, उसका नाम हरि है। हरति भक्तचेतांसीति हरिः—जो अपने उपदेश से भक्त के चित्त को आकर्षित करे, उसका नाम हरि है। हरति वासनामिति हरिः—जो समक्ष स्थित व्यक्ति की वासना का हरण करले उसे हरि कहते हैं।



अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते । न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥११/२/४७  
जो इस विशाल सृष्टि को देखकर भी इसमें फँसता नहीं, सब कुछ अपने भगवान् की माया समझता है । जो न किसी से राग करता है और न द्वेष ही । ऐसा भक्त श्रेष्ठ भागवत है । संसार में जब तक शरीर है, तब तक इसका जन्म होता है, इसकी मृत्यु होती है, इसको भूख, भय, प्यास, तृष्णा लगती रहती है फिर भी जो इनसे प्रभावित नहीं होता, मोहित नहीं होता, वह उत्तम भागवत है । जिसके मन में विषय-भोग की इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति और कर्मों के बीज वासनाओं का उदय नहीं होता और जो एकमात्र भगवान् में ही निवास करता है, उनके ही चिन्तन में निमग्न रहता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है ।

अब तक निर्गुण निराकार ईश्वर के भक्त का लक्षण बतलाकर, सम्प्रति सगुण-साकार भगवान् के भक्त का लक्षण बतलाते हुए हरिजी कहते हैं कि—जो त्रिलोकी के विभव के लिये भी भगवान् की स्मृति नहीं छोड़ता तथा भगवान् के जिस चरण-कमल के लिये बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि व्याकुल रहते हैं, उससे एक लव के लिये, एक निमिषार्ध के लिये भी जो विचलित नहीं होता, उसे श्रेष्ठ वैष्णव कहते हैं—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।

न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥११/२/५३

विषयतावश भी नामोच्चारण करने मात्र से सम्पूर्ण पाप-राशि को दग्ध कर देनेवाले स्वयं भगवान् श्रीहरि क्षण भर के लिये भी जिसके हृदय को नहीं छोड़ते क्योंकि उसने प्रेम की डोर से उनके चरण-कमलों को बाँध रक्खा है, वास्तव में ऐसा पुरुष ही भगवान् के भक्तों में प्रधान है—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्भरिवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।

प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिप्रपन्नः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥११/२/५५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

## तीसरा अध्याय

( माया, माया से पार होने के उपाय तथा ब्रह्म और कर्म-योग का निरूपण )

राजा निमि ने पूछा—भगवान् विष्णु की माया बड़े-बड़े मायाविदों को भी मोहित करनेवाली है अतः मैं उसका स्वरूप जानना चाहता हूँ । आपलोग कृपा करके बतलाइये—

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् । मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥

११/३/१

अन्तरिक्ष<sup>१</sup> ने कहा—राजन्, भगवान् की माया रूपरहित पदार्थ है । अनिर्वचनीय है अतः उसके कार्यों द्वारा ही उसका निरूपण होता है, स्वरूपतः नहीं । भगवान् जिस अपनी शक्ति के द्वारा सकल प्रपञ्च का निर्माण करते हैं, उसी को 'माया' कहते हैं । यह सारा जगत्-प्रपञ्च माया का ही कार्य है । माया से मोहित जीव संसार के पदार्थों में आसक्त होकर अपने कर्म के अनुसार नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ सुख-दुःख का अनुभव करता रहता है और जन्म-मरण के चक्कर में फँसकर भटकता रहता है । माया माने जादू का खेल, जिसे जादूगर दिखलाते हैं । 'मीयते जगत्

१. अन्तरिक्षः—अन्तर्हिदयाकाशे ईक्षा ईक्षणं यस्यासौ अन्तरिक्षः । जो अपने हृदयाकाश में भगवान् के स्वरूप को सर्वदा निहारते रहते हैं, उनका नाम अन्तरिक्ष है ।



अनया इति माया'—जिससे चीज तो दीखे, परन्तु है नहीं, वह माया है। संसार की सृष्टि, संसार की स्थिति और संसार का प्रलय—यह सब भगवान् की माया है—

एषा भगवतः माया सर्गस्थित्यन्तकारिणी ॥११/३/१६

फिर राजा ने कहा—महर्षिजी, स्थूल बुद्धिवाले जन इस वैष्णवी माया को सरलता से नहीं पार कर सकते। वे लोग आसानी से इसे जिस प्रकार पार कर सकें, वह उपाय मुझे बतलाइये। माया को पार करने का सरल उपाय क्या है ? यह मुझसे कहिये।

इस पर चौथे योगीश्वर प्रबुद्धजी ने कहना प्रारम्भ किया—राजन्, इस संसार में लोग सुख प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े कर्म किया करते हैं किन्तु उन्हें सुख के स्थान पर दुःख ही मिलता है। उदाहरण के लिये कहा जा सकता है कि लोग धनार्जन को सारे सुखों की जड़ मानते हैं किन्तु धन के साथ दुःख-ही-दुःख है। धन का अर्जन दुःखप्रद। धन का रक्षण दुःखप्रद और धन का विनाश दुःखप्रद। यही स्थिति परलोक की भी है। परलोक-प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े व्रत-उपवास करना, कष्ट उठाकर यज्ञ-याग करना। स्वर्ग में भी ईर्ष्या-द्वेष है। वह भी नश्वर है—“क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति”। गीता। इसलिये इन सब नाशवान् वस्तुओं में न फँस कर, सही मार्ग प्राप्त करने के लिये सद्गुरु के पास जाना चाहिये। गुरु पहुँचा हुआ होना चाहिये। उसे शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म-दोनों में निष्णात होना चाहिये। उसे शास्त्र का पूर्ण ज्ञान हो और परब्रह्म की अनुभूति भी हो। गुरु का आश्रय लेते समय कुछ बातों का ध्यान रखना परमावश्यक है। गुरु को अतिशान्त चित्रवृत्ति का होना चाहिये—

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥११/३/२१

जिज्ञासु को चाहिये वह गुरु को अपनी परमप्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने। निष्कपट भाव से उनकी सेवा करे और भागवतधर्म की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। गुरुसेवी साधक पर भगवान् अतिशीघ्र प्रसन्न होते हैं। परिजन-परिवार में अनासक्ति, सन्तों से प्रेम, भक्तों से अनुराग, प्राणियों के प्रति दया, मैत्री और विनय आदि बातों की निश्छल भाव से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। पवित्रता, तपस्या, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय, आर्जव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सदीर्घ-गमी की सहनशीलता—यह सब सद्गुरु से सीखना चाहिये।

साधक को चाहिये कि वह भगवान् का सतत स्मरण-चिन्तन करता रहे और दूसरों को भी भगवान् की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता रहे। दूसरों को भी भगवान् का स्मरण कराते रहना चाहिये। भगवत्स्मरण से भक्ति होती है, भक्ति से सारे प्रतिबन्ध समाप्त हो जाते हैं और फिर सहज भक्ति का उदय हो जाता है। सहज भक्ति से सम्पन्न भक्त कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी गाते हैं, कभी बजाते हैं और कभी परमानन्द में निमग्न हो जाते हैं। कभी अलौकिक भाव में स्थित होकर भगवान् से बात-चीत करने लग जाते हैं—

क्वचिद् रुदन्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्यलौकिकाः।

नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥११/३/३२

राजन्, इस प्रकार कृपालु गुरु की शिक्षा से भागवत धर्म को सीखता हुआ, सर्वात्मना नारायण को ही समर्पित भक्त, उन धर्मों के आचरण से उत्पन्न प्रेमलक्षणा भक्ति के द्वारा अनायास ही माया को पार कर जाता है—

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया। नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥

११/३/३३

१. प्रबुद्ध माने जागा हुआ। जो माया की निद्रा से जाग गया है, उसे प्रबुद्ध कहते हैं। प्रकृष्टो बुद्धः प्रबुद्धः अथवा प्रकर्षेण बुद्धः प्रबुद्धः।



राजा ने कहा—माया नारायण की जादुई शक्ति है—यह आपने बतलाया। तो अब कृपा करके बतलाइये कि नारायण का स्वरूप क्या है ?

पिप्पलायन<sup>१</sup> ने कहा—राजन्, नारायण ही इस प्रपञ्च की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय के कारण हैं। नारायण का कोई कारण नहीं है—“अहेतुरस्य” ॥३५॥ वे सब के मूल हैं, कारण हैं। वे स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में साक्षी के रूप में विद्यमान रहते हैं। उन्हीं की सत्ता से ही सत्तावान् होकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं। वे ही परम सत्य व वस्तु हैं। उन्हीं को आप नारायण समझिये—“तदवेहि परं नरेन्द्र” ॥३५॥ मन, वाणी और इन्द्रियाँ उनका स्पर्श नहीं कर पातीं। वेद भी ‘नेति नेति’ कह कर निषेध करता हुआ अपने में मूल प्रमाणभूत ब्रह्म को अर्थतः कहता है, शब्दतः नहीं। ‘यस्य बोधकं किमपि नास्ति तद् ब्रह्म’ कह कर वह उसका बोध कराता है। वह शब्दतः ‘इदं तत्’ कह कर उसका साक्षात् निर्देश नहीं करता। निषेध की सिद्धि कारण ब्रह्म के रहने पर ही हो सकती है। यदि ब्रह्म हो ही नहीं तो फिर निषेध किसका ? अतः यह निषेध ही यह सिद्ध करता है कि ब्रह्म की सत्ता है—

शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूलमर्थोक्तमाह यदुते न निषेधसिद्धिः ॥११/३/३६

इस जगत् में कार्य-कारण रूप से जो कुछ भासित हो रहा है वह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म कार्य-कारण रूप होकर भी उससे परे है—“ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्” ॥३७॥ ब्रह्म में जन्म-मरण आदि छः भावविकार भी नहीं होते। देखो राजन्, ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव भी हुआ करता है। जब सुषुप्ति की अवस्था में इन्द्रियाँ अहङ्कार के सहित लीन हो जाती हैं तब बिना आशय के, बिना अन्तःकरण के और बिना उपाधि के उस कूटस्थ आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है—“कूटस्थ आश्रयमृते तदनुस्मृतिर्नः” ॥३९॥ गहरी निद्रा के बाद जब हम उठते हैं, तो कहते हैं—आज मैं खूब आनन्द के साथ सोया। उस स्थिति में मुझे कुछ भी मालूम नहीं हुआ—“सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्”। स्मृति अनुभूत वस्तु की होती है, अननुभूत की नहीं। गहरी निद्रा में उपाधि के बिना जिस कूटस्थ आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, निद्रा त्याग कर जागने पर हमें उसी आत्मा की स्मृति होती है। इससे स्पष्ट है कि सुषुप्ति में आत्मा का अनुभव होता है। ब्रह्म को ही आत्मा कहते हैं। आत्मा प्रत्येक चेतन प्राणी के अन्तःकरण में विराजमान है जैसे नेत्रों के निर्विकार होने पर ही सूर्य के प्रकाश की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है, वैसे ही जब निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से भगवान् के श्रीचरणों में तीव्र भक्ति उत्पन्न हो जाती है, तो उससे चित्त की मैल, गुण-कर्म की वासनाएँ, समूल धुल जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं। अन्तःकरण के निर्मल होते ही उसमें चेतन आत्मा की साक्षात् अनुभूति होती है जैसे बादलों के फटते ही निर्मल गगन-मण्डल में सूर्य चमक उठता है, वैसे ही मल का आवरण हटते ही शुद्ध चित्त में परमात्मा प्रकाशित हो उठता है—

यद्ब्रह्मनाभचरणैषणयोभक्त्या चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।

तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥११/३/४०

राजा निमि ने आगे पूछा—योगीश्वरों, आप कर्मयोग का वर्णन कीजिये, जिससे अन्तःकरण निष्कलुष होता है। एक बार यही प्रश्न मैंने अपने पिता इक्ष्वाकु के समक्ष सनकादि महर्षियों से पूछा था किन्तु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। इसका कारण क्या है ? यह भी बतलाने की कृपा करें।

१. ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। गीता-१५।१॥ के अनुसार ब्रह्म ही अश्वत्थ-पिप्पल है। पिप्पले ब्रह्मणि अयनं वासो यस्य सः पिप्पलायनः। जो ब्रह्म में सर्वदा निवास करता है, वह पिप्पलायन है।



इस पर आविर्होत्र<sup>१</sup> ने कहा—वेद में कर्म तीन प्रकार का बतलाया गया है—कर्म, अकर्म और विकर्म। कर्म कहते हैं—शास्त्र-विहित सन्ध्यावन्दनादि को। अकर्म कहते हैं—अप्रशस्त कर्म को, निषिद्ध कर्म को जैसे सुरापान आदि को विकर्म कहते हैं—विहित का उल्लंघन। जैसे विहित सन्ध्या-वन्दन आदि का न करना। इनकी व्यवस्था लौकिक रीति से नहीं होती। वेद अपौरुषेय हैं—ईश्वररूप हैं, इसलिये उनके तात्पर्य का निश्चय करना बहुत कठिन है इसीलिये बड़े-बड़े विद्वान् भी उनके अभिप्राय का निर्णय करने में भूल कर बैठते हैं—

**कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः । वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥११/३/४३**

इसी से आपके बचपन की ओर देख कर—आपको अनधिकारी समझकर सनकादि ऋषियों ने आपके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया था।

वेद परोक्षवादी हैं, जिसमें शब्दार्थ कुछ और मालूम पड़े और तात्पर्यार्थ कुछ और हो—उसे परोक्षवाद कहते हैं। वेद-वचन परोक्षवाद है। यह कर्मों की निवृत्ति के लिये कर्म का विधान करता है। जैसे बालक को मिठाई आदि की लालच देकर औषध खिलाते हैं, वैसे ही यह अल्पज्ञों को स्वर्ग आदि का प्रलोभन देकर श्रेष्ठ कर्म में प्रवृत्त करता है—

**परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् । कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥११/३/४४**

जो व्यक्ति अज्ञ है, अजितेन्द्रिय है, वह यदि मनमाने ढङ्ग से वेदोक्त कर्मों का परित्याग कर देता है, तो वह विहित कर्मों का आचरण न करने के कारण विकर्मरूप अधर्म ही करता है इसलिये वह बार-बार जन्मता-मरता रहता है। इसलिये फल की अभिलाषा छोड़कर, कर्म-फल भगवान् को समर्पित कर, जो वेदविहित कर्म का अनुष्ठान करता है, उसे कर्मों की निवृत्ति से प्राप्त होनेवाली ज्ञानरूप सिद्धि स्वयं प्राप्त हो जाती है। जो वेदों में यज्ञों-कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग आदि का वर्णन है, उसका तात्पर्य फल की प्राप्ति या सत्यता में नहीं है, यह प्रलोभन तो कर्मों में रुचि उत्पन्न करते के लिये है—“रोचनार्था फलश्रुतिः” ॥४६॥

जो व्यक्ति अभिमानरूप हृदय की गाँठ को काट कर परमात्मा का दर्शन करना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही पद्धतियों से भगवान् की आराधना करे। आराधना के लिये गुरु का अनुग्रह बहुत अपेक्षित है। गुरु ही आराधना की पद्धति बतलाता है। शिष्य की श्रद्धा और गुरु का अनुग्रह—इन दोनों के मिलन को दीक्षा कहते हैं। इसी को शक्तिपात भी बोलते हैं।

भगवान् की आराधना के लिये प्रारम्भ में आधार अत्यावश्यक है। आधार के बिना भगवान् की आराधना हो ही नहीं सकती। आधार को ही मूर्ति कहते हैं। यह आधार ही शक्ति है। जो व्यक्ति अग्नि में, सूर्य में, जल में, अतिथि में अथवा अपने हृदय में आत्मस्वरूप श्रीहरि की पञ्चोपचार अथवा षोडशोपचार विधि से पूजा करता है, वह “भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते” इस वचन के अनुसार भक्तिसहित ज्ञान को प्राप्त कर अतिशीघ्र संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है—“अचिरान्मुच्यते हि सः” ॥५॥

**॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥**

१. आविः प्रकटं सुज्ञातमित्यर्थः, होत्रम् अग्निहोत्रोपलक्षणं कर्म यस्य स आविर्होत्रः । जिसे अग्निहोत्रादि कर्मों का सम्यग् ज्ञान है, उसे आविर्होत्र कहते हैं। ऐसा ही व्यक्ति राजा निमि के प्रस्तुत प्रश्न का समीचीन उत्तर दे सकता है।



## चौथा अध्याय

### ( भगवान् के कतिपय मनोरम अवतारों का वर्णन )

राजा निमि ने पूछा—योगीश्वरों, भगवान् अपने भक्तों की भक्ति के वश में होकर स्वच्छन्दरूप से विविध अवतार धारण करते हैं और अनेकों लीलाएँ करते हैं। आप लोग भगवान् की उन लीलाओं का वर्णन कीजिये, जो अब तक वे कर चुके हैं, कर रहे हैं अथवा आगे करेंगे—

यानि यानीह कर्माणि धैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः । चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥

११/४/१

राजा के प्रश्न को सुनकर सातवें योगीश्वर द्रुमिल<sup>१</sup> ने कहा—राजन्, भगवान् अनन्त हैं। उनके गुण और कर्म भी अनन्त हैं। अनन्त के अनन्त गुण कर्मों की गणना करने की इच्छावाला व्यक्ति अज्ञ है, बालक है। हो सकता है, कोई धूल के कणों को कथञ्चित् गिन ले, किन्तु अनन्त शक्तियों के आश्रय भगवान् के गुणों की गणना कथमपि संभव नहीं है—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ताननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।

रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित् कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥११/४/२

इसलिये मैं भगवान् के कुछ गिने-चुने अवतारों का ही वर्णन कर रहा हूँ—भगवान् ने सब से पहले पञ्चमहाभूतों से ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। उसमें वे अन्तर्यामी रूप से लीलाविस्तार के लिये प्रवेश किये। यही नारायण का प्रथम पुरुष अवतार है। उन्हीं के रोम-रोम में ब्रह्माण्डों का समूह समाया हुआ है। उन्हीं से गुणानुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उत्पत्ति होती है, जो जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार के कारण बनते हैं। उन्हीं आदि पुरुष ने धर्म की पत्नी मूर्ति में नर-नारायण के रूप से अवतार लेकर ज्ञानमार्ग का प्रचार-विस्तार किया है। वे लोकशिक्षार्थ बदरिकाश्रम में स्वयं तप भी करते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनके चरणों की उपासना किया करते हैं। एक समय देवराज इन्द्र के मन में भय हुआ कि कहीं ये दोनों तपकर मेरा सिंहासन न छीन लें अतः उन्होंने उनके तप को भङ्ग करने के लिये कामदेव को उनके आश्रम पर भेजा। कामदेव ने वसन्त, मलयानिल और अप्सराओं की विशाल सेना के साथ नर-नारायण पर आक्रमण किया किन्तु लाख प्रयास के बाद भी वह उनके मन में न विकार उत्पन्न कर सका और न क्रोध ही। यह देख कर काम थर-थर काँपने लगा। भगवान् ने इन्द्र का अपराध जानकर भयभीत काम आदि से हँसकर कहा—कामदेव, मलयमारुत और देवाङ्गनाओं तुम लोग भयभीत मत होओ, हमारे आश्रम पर आये हो तो आतिथ्य स्वीकार करो। अब तुम लोग सर्वदा यहीं ठहरो। हमारा आश्रम सूना मत करो—

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान् ।

मा भैष्ट भो मदन मारुत देववध्वो गृहीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥ ११/४/८

भगवान् के इस प्रकार के स्नेहपूर्ण वचनों को सुनकर कामदेव का शिर लज्जा के मारे झुक गया। उसने हाथ जोड़ कर विनती करते हुए कहा—प्रभो, आपके विषय में यह सब आश्चर्य की बात नहीं है। आप के आश्रय से भक्तजन विघ्नराजों के मस्तक पर भी पैर रखकर ऊपर चले जाते हैं। बहुत से लोग तो ऐसे होते हैं जो भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी एवं आँधी-पानी के कष्टों को तथा इन्द्रियों के वेगों को, जो अपार सागर के समान हैं, सह लेते हैं—पार कर

१. द्रुमिलः—द्रु द्रुतं झटित्तीत्यर्थः स्मृतिप्राप्तैरवतारैर्मलतीति द्रुमिलः। प्रश्न सुनते ही जिनकी स्मृति में अवतारों की तस्वीरें दौड़ने लगें वे द्रुमिल हैं।



जाते हैं। परन्तु गाय के खुर के समान क्रोधरूपी गड्ढे में गिर कर व्यर्थ में ही अपनी चिर-सञ्चित तपस्या को खो बैठते हैं। आपने इस प्रबल क्रोध को जीतकर पूर्णरूप से अपने वश में कर लिया है। वस्तुतः आप के लिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भगवन्, आप हमारे ऊपर कृपा करें। इस प्रकार स्तुति कर शान्त हो जाने पर कामदेव तथा उसके अनुचरों को भगवान् ने उन सुन्दर स्त्रियों का समूह दिखलाया, जो आश्रम की सेवा में निरत रहती थीं। उनके अद्भुत सौन्दर्य को निरख कर काम-सहित काम-सेना मूर्च्छित हो गई। उनकी कान्ति फीकी पड़ गई फिर भगवान् नारायण ने कृपापूर्वक उन्हें उद्बुद्ध कर कहा—देखो, जब जा ही रहे हो तो हमारे यहाँ से भी इन्द्र के लिये कुछ भेंट लेते जाओ। ऐसा कहकर उन्होंने अपनी जाँघ पर हाथ रखकर मल दिया। उससे अद्भुत सौन्दर्य-सम्पन्न स्त्री-रत्न प्रकट हुआ। उसे भगवान् ने उर्वशी कहकर पुकारा और कहा—कामदेव, ले जाओ इन्द्र के लिये यह मेरी तरफ से उपहार है। काम ने ले जाकर नारायण का वह उपहार इन्द्र को प्रदान किया—

उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥११/४/१५

इन्द्र आँख फाड़-फाड़ कर उस सौन्दर्य-सागर को देखते रहे और फिर उसे अपने स्वर्ग का अलङ्करण बना लिया।

इसी प्रकार भगवान् के और भी बहुत से अवतार हैं। उन्हें भी संक्षेप में सुनो। भगवान् नारायण ने हंस, दत्तात्रेय, सनकादि तथा ऋषभ देव के रूप में अवतार धारण कर ज्ञान-मार्ग का उपदेश दिया है। हयग्रीवावतार धारण कर भगवान् ने मधु नामक दैत्य का वध कर वेदों का उद्धार किया था—“तेनाहता मधुभिदा श्रुतयो ह्यस्ये” ॥१७॥ इसके बाद भगवान् के मत्स्यावतार, कूर्मावतार, गजराज का उद्धारक हरि अवतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, परशुरामावतार और रामावतार आदि अवतार हुए हैं। रामावतार के बाद भगवान् ने कृष्णावतार धारण कर ऐसे दिव्य कर्म किये हैं, जिनका सम्पादन ब्रह्माण्ड में किसी के लिये भी सम्भव नहीं है। आगे बुद्धावतार और कल्कि अवतार भी धारण कर भगवान् जगत् का कल्याण करेंगे।

हे राजन्, भगवान् के इस प्रकार के अनन्त जन्म और कर्म हैं। महात्माओं ने जन-कल्याण के लिये उनका वर्णन किया है—

एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः । भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥११/४/२३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

## पाँचवाँ अध्याय

( भक्तिहीन पुरुषों की गति और भगवान् की पूजा-विधि का वर्णन )

राजा निमि ने पूछा—योगीश्वरों, आप लोग तो श्रेष्ठ आत्मज्ञानी हैं। कृपा करके यह बतलाइये कि जिनकी कामनाएँ शान्त नहीं हुई हैं, जिनकी मन और इन्द्रियाँ भी वश में नहीं हैं तथा जो प्रायः भगवान् का भजन भी नहीं करते, ऐसे लोगों की अन्त में क्या गति होती है ?

इस पर आठवें योगीश्वर श्री चमस<sup>१</sup> ने कहा—राजन् चारों आश्रमों के सहित चारों वर्ण भगवान् के श्रीअङ्गों से

१. इन अवतारों का विस्तार से वर्णन दशम स्कन्ध के पूर्व आ चुका है।

२. यज्ञ में प्रयुक्त एक पात्र का नाम है—चमस। कुपात्रों की गति का निरूपण कोई सुपात्र ही कर सकता है—इसलिये चमस ने उत्तर देना प्रारम्भ किया।



प्रकट हुए हैं। वर्णों और चारों आश्रमों के जन्मदाता स्वयं भगवान् ही हैं। वही इनके स्वामी, नियन्ता और आत्मा भी हैं इसलिये इन वर्ण और आश्रम में रहनेवाला जो मनुष्य भगवान् का भजन नहीं करता, उनकी आराधना नहीं करता, उल्टे उनका अनादर करता है, वह अपने स्थान, वर्ण, आश्रम यहाँ तक कि मानव-योनि से भी च्युत होकर नरकगामी बन जाता है—

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् । न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥

११/५/३१

बहुत-सी स्त्रियाँ और शूद्र आदि भगवान् की कथा और उनके नाम-कीर्तन आदि से वञ्चित हैं। वे आप की दया के पात्र हैं। आपलोग भगवान् का कथा-कीर्तन सुनाकर उनका भी उद्धार करें। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यज्ञोपवीत और वेदाध्ययन के अधिकारी हैं। वे अपने संस्कारों के द्वारा भगवान् के चरणों के सन्निकट तक पहुँच चुके हैं फिर भी वे वेदों का सही तात्पर्य न समझकर अर्थवाद के चक्कर में फँस कर मोहित हो जाते हैं, दिग्भ्रमित हो जाते हैं। उन्हें कर्म का रहस्य ज्ञात ही नहीं है। वे अपने को पण्डित मानकर व्यर्थ में अकड़े रहते हैं। ऐसे लोग भगवान् के प्रिय भक्तों की हँसी उड़ाया करते हैं। इस प्रकार के लोग स्त्री-भक्त होते हैं। जब कभी ये इकट्ठे होते हैं तो स्त्रियों की और विषय-वासनाओं की ही बड़े प्रेम से चर्चा किया करते हैं। इनकी दृष्टि में संसार का सबसे बड़ा सुख स्त्री-सहवास ही है, ऐसे व्यक्ति प्रदर्शन के लिये यज्ञ करते हैं किन्तु उसमें न अन्नदान करते हैं और न ब्राह्मणों को समुचित दक्षिणा ही देते हैं। अपनी जीभ के स्वाद के लिये कर्मकाण्ड के विधि-विधान से भी इनका कोई मतलब नहीं होता। अपना पेट भरने के लिए ये मूर्ख यज्ञों में पशुओं की हत्या करते हैं और उसे वेदसम्मत बतलाते हैं। वेद के यथार्थ रहस्य को ये रज्जुमात्र भी नहीं जानते—

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।

यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं वृत्तै परं ध्वन्ति पशूनतद्विदः ॥११/५/८

ऐसे ही खल व्यक्ति अभिमान के वशीभूत होकर भगवान् के प्रिय भक्तों की खिल्ली उड़ाया करते हैं। सारे वेद-पुराणों का बार-बार यह कथन है कि—संसार के समस्त जीव-धारियों में भगवान् का निवास है। भगवान् सर्वव्यापक हैं। वह आकाश के समान सब में अवस्थित हैं फिर भी हिंसापरायण ये मूर्ख उनकी बातों पर ध्यान न देकर मनमाने ढङ्ग से यज्ञों में, बलि के नाम पर, पशुओं की हिंसा कर, प्रसाद के नाम पर उनके मांस को बड़ी रुचि के साथ खाते हैं। विषय-वासनाओं से वासित ये भोग के कीड़े निवृत्तिपरक वेद को प्रवृत्तिपरक बतलाते हैं।

देखो राजन्, वेद में जो मांस-भक्षण और मद्य-सेवा आदि की विधि है, वह अपूर्व विधि नहीं, परिसंख्या विधि है। अप्राप्त की प्राप्ति का नाम अपूर्व विधि है। “विधिरत्यन्तमप्राप्तौ”। अपूर्वविधि अप्राप्ति में प्राप्ति का विधान करती है और प्राप्ति से हटाने का नाम परिसंख्या है। परिसंख्या विधि जो उसमें संलग्न हैं, उनकी वृत्ति को परिसीमित करके उधर से हटाने के लिये है किन्तु मूर्ख लोग इसका अभिप्राय न समझकर उसके विपरीत आचरण करते हैं। वेद विधि के रूप में ऐसे ही कर्मों को करने की आज्ञा देता है, जिनमें मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। संसार में देखा जाता है कि मैथुन, मांस और मद्य की ओर प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। किसी प्राणी को मैथुन की ट्रेनिंग किसी स्कूल में नहीं दी जाती। व्यक्ति इन दुष्प्रवृत्तियों में रम न जाँय, इसी अभिप्राय से नियन्त्रण करने के लिये ही शास्त्रों में विवाह आदि का विधान किया गया है। व्यक्ति पशुओं की तरह, जहाँ-तहाँ, जिस-किसी के साथ मैथुन में रम न जाएँ, इसी उद्देश्य से विवाह का विधान किया गया है। यदि मैथुन की भावना उमड़े तो व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ ही मैथुन करे। विवाह के बाद लोग भैंसों की तरह मैथुन में रम न जाँय, इसलिये शास्त्रों ने मासिक-



निवृत्ति के बाद माह में एक बार स्त्री-सङ्गम का विधान किया है। इसी तरह मांस-भक्षण का विधान भी यज्ञ के प्रसाद के रूप में ही किया गया है। यदि सुरा-पान करना है तो केवल सौत्रामणि-यज्ञ में ही करे, सर्वदा नहीं। इस प्रकार आदत को नियन्त्रित करते-करते उसे पूर्ण रूप से छुड़ा देने में ही शास्त्रों का तात्पर्य है—

लोके व्यवयामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना ।

व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहेरासु निवृत्तिरिष्टा ॥ ११/५/११

धन का फल है— धर्म। धर्म से ही—धर्मानुष्ठान से ही ज्ञान, विज्ञान और शान्ति की प्राप्ति होती है। ऐसे धन को मूर्ख लोग अपने घर-गृहस्थी के काम में लगा देते हैं और अपनी मृत्यु पर ध्यान नहीं देते—

धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति ।

गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥ ११/५/१२

वेद में जहाँ मद्य, मांस आदि की विधि कही गई है, उसका भी अभिप्राय कुछ दूसरा ही है। उसे समझने का प्रयास करना चाहिये। सौत्रामणी यज्ञ में सुरा को सूँघने का ही विधान है, पीने का नहीं। यज्ञ में पशु का आलभन (स्पर्शमात्र) ही विहित है, हिंसा नहीं। इसी प्रकार अपनी धर्म पत्नी के साथ मैथुन की आज्ञा भी विषय-भोग के लिये नहीं, केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही है—परन्तु जो लोग अर्थवाद के वचनों में फँसे हैं, विषयी हैं, वे अपने इस विशुद्ध धर्म को नहीं जानते—

यद् प्राणमक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।

एवं व्यवयः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥ ११/५/१३१

मारे गये पशु मरने के बाद उन्हें नोच-नोच कर खाते हैं, पीड़ा पहुँचाते हैं। स्वल्पकालिक, नश्वर सांसारिक सुख के लिये जो व्यक्ति भगवान् वासुदेव से विमुख हो जाते हैं, उन्हें मरने के बाद नरक की घोर यातना भोगनी पड़ती है। उनके सारे मनोरथ काल के द्वारा धूलि में मिला दिये जाते हैं—

सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः ॥ ११/५/१७

पुनः आगे राजा निमि ने पूछा—ऋषियों, भगवान् किस समय कैसा रूप धारण करते हैं ? तथा किस नाम और किस विधि से उनकी आराधना करनी चाहिए ?

इस पर नवें योगीश्वर करभाजन<sup>१</sup> महाराज ने कहा—राजन्, चार युग हैं—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। इन सभी युगों में भगवान् के अवतार होते हैं। इन अवतारों में भगवान् के भिन्न-भिन्न नाम, वर्ण और आकार हुआ करते हैं। प्रत्येक युग में अलग-अलग विधियों से भगवान् की पूजा होती है—

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः । नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥ ११/५/२०

सतयुग में भगवान् के श्रीविग्रह का रङ्ग श्वेत होता है। उनकी चार भुजाएँ होती हैं। वे शिर पर जटा धारण करते हैं। वे वल्कल का ही वस्त्र पहनते हैं। कृष्ण मृग का चर्म, यज्ञोपवीत, रुद्राक्ष की माला, दण्ड और कमण्डलु धारण करते हैं। कहने का भाव यह है कि वे ब्रह्मचारी के वेश में रहते हैं। सतयुग के मनुष्य बड़े शान्त, निर्वैर, सबके हितैषी और समदर्शी होते हैं। वे लोग इन्द्रियों और मन को वश में रख कर ध्यानरूप तपस्या के द्वारा सबके प्रकाशक परमात्मा की आराधना करते हैं। वे लोग हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, ईश्वर और पुरुष आदि नामों से भगवान् के गुण, लीला आदि का गान करते हैं।

त्रेता में भगवान् के श्रीविग्रह का रङ्ग होता है—लाल। उनकी चार भुजाएँ होती हैं। वे कटिभाग में तीन मेखला

१. करपात्र को करभाजन कहते हैं। जो अपने करों को भाजन बनाकर सारा सत्कर्म करते हैं। वे करभाजन हैं।

करावेव भाजनं पात्रं यस्याऽसौ करभाजनः ।



धारण करते हैं। उनके केश सुनहरे होते हैं। वे वेदप्रतिपादित यज्ञ के रूप में रहकर सुक्, श्रुवा आदि यज्ञ के पात्रों को धारण किया करते हैं। विष्णु, यज्ञ आदि उनके नाम होते हैं। ब्रह्मवादी धार्मिक लोग त्रयी-विद्या के द्वारा उनका यजन करते हैं।

द्वापर में भगवान् श्याम होते हैं। पीतवसन, चक्रादिधारी और श्रीवत्सादि चिन्हों से उपलक्षित होते हैं। उस समय के लोग वैदिक एवं तान्त्रिक विधियों से उनका पूजन करते हैं। वासुदेव, श्रीकृष्ण आदि उनके नाम होते हैं।

कलियुग में भगवान् का श्रीविग्रह होता है—कृष्णवर्ण, काले रङ्ग का। नीलमणि के समान उनके अङ्गों से आभा निकलती रहती है। उस समय के लोग सङ्कीर्तन प्रधान यज्ञों द्वारा उनकी आराधना करते हैं और इस प्रकार स्तुति करते हैं—हे महापुरुष, मैं आपके चरण-कमल की वन्दना करता हूँ—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरञ्जितं शरण्यम् ।

भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

त्यक्तत्वा सुदुस्त्वजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।

मायामृगं दधितयेप्सितमन्त्रधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

११/५/३३-३४

पहला श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति में है और दूसरा भगवान् श्रीराम की। राजन्, इस प्रकार विभिन्न युगों के लोग अपने-अपने युग के अनुरूप नाम एवं रूपों के द्वारा विभिन्न प्रकार से भगवान् की आराधना करते हैं।

कलियुग में केवल नाम-सङ्कीर्तन से ही सारे स्वार्थ और परमार्थ सिद्ध हो जाते हैं। भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त हो जाती है इसलिये युगों का गुण जाननेवाले सारग्राही श्रेष्ठ पुरुष कलियुग की बड़ी प्रशंसा करते हैं। इस युग में केवल भगवान् के नाम के सहारे ही भक्तजन भवसागर को पार कर जाते हैं। यही कारण है कि अन्य युगों के लोग भी कलियुग में अपना जन्म चाहते हैं—

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञा सारभागिनः ।<sup>१</sup> यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥

११/५/३६॥

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम् ॥ ११/५/३८

नाम-सङ्कीर्तन और गङ्गा, काबेरी तथा महानदी आदि पवित्र नदियों के सेवनमात्र से मनुष्य भगवान् वासुदेव के भक्त बन जाते हैं। जो व्यक्ति अहङ्कार का परित्याग कर सर्वात्मना भगवान् मुकुन्द के चरणों की शरण में चला जाता है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियों के ऋण से उच्छ्रेय हो जाता है फिर वह किसी के भी, किसी प्रकार के भी अधीन नहीं रह जाता है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां, न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं, गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥ ११/५/४१

१. कलियुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा ॥

कलियुग जोग न जय्य न ग्याना। एक आधार राम गुन गाना ॥

सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥

कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहि नहिं पापा ॥

कलियुग सम जुग आन नहिं जौ नर कर विश्वास।

गाइ राम गुन गन विमल भव तर बिनहि प्रयास ॥ रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड १०३॥



और सबसे बड़ी बात यह है कि भगवान् की शरण में गये हुए व्यक्ति से कोई पापकर्म होते ही नहीं। यदि कथञ्चित् हो भी गया तो भगवान् श्रीहरि उसके हृदय में बैठकर उसका समूल नाशकर डालते हैं। उसके हृदय को निष्कलुष बना डालते हैं इसलिये राजन्, आप सर्वात्मना भगवान् की शरण ग्रहण करो। इससे आप का सकल मनोरथ पूरा हो जायेगा।

आगे नारद जी कहते हैं कि—वसुदेव जी, मिथिलाधिपति राजा निमि नव योगीश्वरों से भागवत-धर्मों का वर्णन सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए। बड़ी श्रद्धा और भक्तिपूर्वक उपाध्यायों के साथ उनकी पूजा की। पूजा सम्पन्न हो जाने के बाद सबके देखते-ही-देखते योगीश्वर-जन अन्तर्हित हो गये—“ततोऽन्तर्दधिरे सिन्ध्वाः सर्वलोकस्य पश्यतः” ॥४४॥ विदेहराज निमि ने योगीश्वरों से सुने हुए भागवत धर्मों का आचरण किया और अन्त में परमगति के अधिकारी बने।

वसुदेव जी, आप यह निश्चित समझिये कि पृथिवी का भार उतारने के लिये साक्षात् नारायण ही आप दोनों के पुत्ररूप में अवतार ग्रहण किये हैं। इससे आप दोनों के यज्ञ से सारा जगत् पूर्ण हो गया है। भगवान् श्रीकृष्ण आपके पुत्र बन गये। उनके सतत दर्शन, आलिङ्गन, आलाप, सुलाने, बैठाने और खिलाने आदि के द्वारा वात्सल्य स्नेह करके आप लोगों ने अपना हृदय पवित्र बना डाला है। भगवान् श्रीकृष्ण तो ऐसे हैं कि शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि जिन्होंने उनसे वैर किया, वे भी वृत्ति के तदाकार होने से मुक्त हो गये, उनको प्राप्त हो गये फिर भगवान् में ही सतत अनुरक्त बुद्धि रखनेवाले आप लोगों के भाग्य का क्या कहना ?—

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्रशाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्वैः।

ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥११५/४८८

वसुदेव जी, आप भगवान् श्रीकृष्ण को केवल अपना साधारण पुत्र मात्र न समझो। पृथिवी का भार उतारने के लिये आये हुए ये साक्षात् नारायण हैं और इसी से जगत् में उनकी कीर्ति भी गाई जाती है।

श्रीशुकदेव जी ने कहा—प्रिय परीक्षित, नारद जी के मुख से यह सब सुनकर परम भाग्यशाली वसुदेव जी और परम भाग्यवती देवकी जी को बड़ा विस्मय हुआ। उनमें जो कुछ माया-मोह था, वह भी सब समाप्त हो गया। राजन्, यह इतिहास परम पवित्र है। जो व्यक्ति एकाग्रचित्त से इसे सुनता है और हृदय से धारण करता है, वह अपना सारा शोक-मोह छोड़ करके परम पद को प्राप्त होता है ॥५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

## छठा अध्याय

( देवताओं की भगवान् से स्वधाम सिधारने के लिये प्रार्थना तथा यादवों को प्रभास क्षेत्र जाने की तैयारी करते देखकर उद्धव का भगवान् के पास आना )

विशेष— दुष्ट राजाओं के भार से भूमि के आक्रान्त होने पर ब्रह्मादि देवों ने भगवान् नारायण से अवतार लेकर उसका भार उतारने की प्रार्थना की थी। अब जब भगवान् ने स्वयं दुष्ट राजाओं का वध कर दिया और अर्जुन आदि को निमित्त बनाकर शेष अधार्मिक राजाओं का संहार करवा दिया है, तब ब्रह्मादि उनके पास पुनः आये हैं स्वधाम पधारने की प्रार्थना करने।

श्रीशुकदेव जी ने कहा—जब देवर्षि नारद वसुदेव को उपदेश देकर चले गये, तब अपने पुत्र सनकादिकों, देवताओं और प्रजापतियों के साथ ब्रह्मा जी, भूतगणों के साथ सर्वेश्वर महादेव जी और मरुद्गों के साथ देवराज इन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन करने द्वारका में आये—



अथ ब्रह्मात्मजैर्देवैः प्रजेः शैरावृतोऽभ्यगात् । भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः ॥११/६/११  
उनके साथ स्वर्ग के बहुत-से और लोग आये थे । सबका उद्देश्य था भगवान् श्रीकृष्ण के मनमोहक श्रीविग्रह का दर्शन करना । भगवान् ने अपने मनमोहक श्रीविग्रह को प्रकट कर ऐसी पवित्र कीर्ति का विस्तार किया है, जो समस्त लोकों के पाप-ताप को सदा के लिये मिटा देती है । द्वारका सारी ऋद्धियों-सिद्धियों से भरी हुई थी । वहाँ आकर उन लोगों ने अलौकिक छबि को धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन किये । भगवान् की रूप-माधुरी का निर्निमेष नयनों से पान करने पर भी उनकी तृप्ति नहीं हो रही थी । उन लोगों ने स्वर्ग के दिव्य पुष्पों से भगवान् श्रीकृष्ण को ढक दिया और चित्र-विचित्र पदावली से युक्त वाणी के द्वारा स्तुति करते हुए कहा—मुमुक्षु लोग अपने कर्ममय भयङ्कर पाश को काटने के लिये अपने हृदय में जिनका ध्यान किया करते हैं हम आपके उन्हीं चरणों पर साष्टाङ्ग प्रणाम अर्पित कर रहे हैं । आप अपनी त्रिगुणमयी माया के द्वारा इस संसार की सृष्टि, पालन एवं संहार करते हैं । यह सब करते हुए भी इन कर्मों से आप कभी लिप्त नहीं होते हैं, क्योंकि आप अपने स्वरूप में विराजमान रहते हैं ।

आपके मङ्गलमय चरित्र के श्रवण से मनुष्य के अन्तःकरण की जैसी शुद्धि होती है, वैसी वेदाध्ययन, तप और दान आदि से नहीं होती । प्रभो, बड़े-बड़े साधकों के ध्येय और ज्ञेय आपके चरण-कमल हमारी अशुभ वासनाओं को भस्म करने के लिये अग्निस्वरूप हों । वे अग्नि के समान हमारे पाप-तापों को भस्म कर दें—

स्यान्नस्तवाग्निशुभाशयधूमकेतुः ॥११/६/१०

लीलाहेतु परस्पर संघर्ष करनेवाले, ब्रह्मा आदि जितने भी शरीरधारी हैं, वे सभी नाथे गये बैल के समान आपकी आज्ञा का वहन करते हैं । प्रभो, आप प्रकृति और पुरुष से परे पुरुषोत्तम हैं । आपके चरण-कमल हम लोगों का कल्याण करें—

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्धमानाः ।

कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥११/६/१४

प्रभो, आपकी महिमा का हम क्या वर्णन करें ? सोलह सहस्र रानियाँ आपके साथ रहती हैं । वे सब अपनी मन्द-मन्द मुस्कान, हाव-भाव, और कटाक्षपात रूप काम-बाण आप पर चलाती हैं । किन्तु क्या मजाल कि आप के मन में स्वल्प भी काम-विकार उत्पन्न हो । उनका सारा प्रयास आपके ऊपर निष्फल है—

स्मायावलोकलवदरितिभावहारिभूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशीण्डैः ।

पत्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्यः ॥११/६/१८

मेरे स्वामी, आप ने त्रिलोकी की पाप-राशि धो डालने के लिये दो प्रकार की पवित्र नदियाँ बहा रखी हैं— एक तो आप की अमृतमयी लीला से भरी कथा-नदी और दूसरी आपके चरण की धोवन गङ्गा जी । अतः विवेकीजन कानों के द्वारा आपकी कथा-नदी में और शरीर के द्वारा गङ्गा जी में गोता लगाकर दोनों ही तीर्थों का सेवन करते हैं और अपने पाप-ताप मिटा देते हैं—“तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति” ॥११॥

श्रीशुकदेव जी ने कहा—देवमण्डली के साथ इस प्रकार स्तुति करके ब्रह्मा जी ने भगवान् को प्रणाम किया और फिर आकाश में जाकर भगवान् के सामने खड़े होकर निवेदन किया—“प्रणम्याम्बरमाश्रितः” ॥२०॥

ब्रह्मा ने कहा—प्रभो, मेरी प्रार्थना पर आपने पृथिवी का भार उतार दिया । सर्वत्र धर्म की स्थापना कर अपनी अमल कीर्ति का विस्तार किया । अब यहाँ का कोई कार्य बाकी नहीं है । कलियुग के साधु-स्वभाव प्राणी आपके चरित

१. हृदय—आकाश में जाकर देवताओं के निवेदन का कारण यह है कि—यदि सभा में बैठ कर कहेंगे तो यदुवंशी कुन्ध होकर हमसे मारपीट करने लगेंगे । अतः देवों ने आकाश में पहले अपने को सुरक्षित कर लिया, फिर कहना शुरू किया ।



का श्रवण और गान करते हुए सुगमता से इस अज्ञानरूप अन्धकार को पार कर जायेंगे। यदुवंश में अवतार लिये हुए आपके १२५ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं—

यदुवंशोऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम । शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशधिकं प्रभो ॥११/६/२५

अखिलाधार, आपने सारा देव-कार्य सम्पन्न कर दिया है। यादव-कुल भी ब्राह्मणों के शाप से एक प्रकार से नष्ट ही हो चुका है अतः यदि आप उचित समझें तो अपने परमधाम में पधारिये तथा अपने सेवक हमलोगों का पालन कीजिये।

श्रीभगवान् ने कहा—ब्रह्मा जी, आप का कथन ठीक है। अवश्य ही अन्य सब कार्य पूरे हो चुके हैं। लेकिन अभी यदुवंशी बाकी हैं। जब तक ये नष्ट नहीं हो जाते तब तक मैं यहीं रुकूँगा। इनके नाश के बाद ही मैं यहाँ से प्रस्थान करूँगा। भगवान् के वचन को सुनकर सभी देवता अपने-अपने लोक में चले गये।

यद्यपि द्वारिका में शाप का प्रभाव नहीं होता था। नारद जी स्वयं कई शापों से ग्रस्त थे। उन्हें एक स्थान पर न ठहरने का दक्ष ने शाप दिया था इसीलिये नारद निरन्तर भ्रमण करते रहते थे। किन्तु द्वारिका में जब वे आते तो उन पर शाप प्रभावी नहीं होता था और वे छः-छः महीने वहीं डेरा डाले रहते थे।

किन्तु भगवान् की यह लीला थी कि ब्राह्मणों का शाप द्वारिका पर प्रभावी हुआ। वहाँ बड़े-बड़े उत्पात होने लगे, अपशकुन होने लगे। यह देखकर भगवान् ने यदुवृद्धों को बुलाकर कहा—देखिये, यहाँ बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं। यदुवंश के विनाश के लिये ब्राह्मणों का शाप भी हो चुका है, उसका निवारण संभव नहीं है। मेरा ऐसा विचार है कि यदि हम लोग जीवित रहना चाहते हैं, तो हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये। अब विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं है। हमलोग आज ही परम पवित्र प्रभास क्षेत्र के लिये निकल पड़ें। वहाँ पहुँच कर हम लोग स्नान करें, पूजन और ध्यान करें तथा संकट के निवारणार्थ ब्राह्मणों को नाना प्रकार का भोजन और दान दें।

भगवान् का आदेश मिलते ही सभी यदुवंशी प्रभास क्षेत्र जाने के लिये तैयार हो गये। यह देख-सुनकर उद्धव जी एकान्त में भगवान् के पास आये। उनके चरणों पर अपना मस्तक रखकर प्रणाम किया और फिर बोले—प्रभो, आप चाहते तो ब्राह्मणों के शाप को मिटा सकते थे परन्तु आपने वैसा किया नहीं। इससे मैं यह समझ गया कि आप यदुवंश का संहार करके, अब अपने लोक जाना चाहते हैं। परन्तु मेरे स्वामी, मैं क्षणभर के लिये भी आपके चरण-कमलों के त्याग की कल्पना कर भी नहीं सकता अतः आप मुझे भी अपने साथ अपने धाम ले चलिये—

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव । त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥११/६/४३

आपकी क्रीडा-लीला संसार का परम मङ्गल करती है। आपके कथामृत का पान करनेवाले व्यक्ति सांसारिक इच्छाओं का त्याग कर देते हैं। अब तक मैं सर्वदा आप का अनुगमन, अनुवर्तन करता रहा फिर मैं आप को छोड़कर कैसे रह सकता हूँ? हमने आप की उतारी हुई माला पहनी, आपके लगाये हुए चन्दन लगाये, आपके उतारे हुए वस्त्र पहने और आपके धारण किये हुए गहनों से अपने को अलङ्कृत करते रहे। हम आप की जूठन खानेवाले सेवक हैं अतः आप मुझे अपने साथ अवश्य ले चलें।

हे राजन्, जब उद्धव ने भगवान् से इस प्रकार प्रार्थना की तब भगवान् ने अपने प्रिय भक्त एवं सेवक सखा उद्धव जी से कहा ॥६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥



## सातवाँ अध्याय

( अवधूतोपाख्यान—पृथिवी से लेकर कबूतर तक आठ गुरुओं की कथा )

श्रीभगवान् ने कहा—उद्धव जी, तुमने मुझ से जो कुछ कहा है, मैं वही करना चाहता हूँ। ब्रह्मा, शङ्कर और इन्द्रादि लोकपाल भी अब यही चाहते हैं कि मैं उनके लोकों से होकर अपने धाम को चला जाऊँ—

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे । ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः ॥

११/७/१

मैंने यहाँ देवताओं का सारा कार्य पूरा कर दिया है। इसी कार्य के लिये मैंने बलराम जी के साथ अवतार ग्रहण किया था। मेरा कुल भी ब्राह्मणों के शाप से दग्धप्राय हो चुका है। यह पारस्परिक फूट और युद्ध से नष्ट हो जायेगा। आज से सातवें दिन इस पुरी को सागर जल से डुबो देगा। जिस क्षण मैं इस भू-मण्डल का परित्याग करूँगा, उसीक्षण इसके सारे मङ्गल विनष्ट हो जायेंगे फिर तो कलियुग इसे आक्रान्त कर लेगा। जब मैं इस पृथिवी का त्याग कर दूँगा, तब तुम इस पर मत रहना क्योंकि कलियुग के प्रभाव से प्रायः प्राणी अधार्मिक रुचि के हो जायेंगे। तुम सब कुछ छोड़कर, अपने स्वजनों और भाई-बन्धुओं के प्रति स्नेह का परित्याग कर, मुझ में अनन्य प्रेम से मन लगाकर, समदृष्टि रखते हुए भूतल पर विचरण करो। इस संसार के इन्द्रिय-ग्राह्य सारे पदार्थ नश्वर हैं। स्वप्न की तरह मन के विलास हैं इसलिये मायामात्र हैं, मिथ्या हैं—ऐसा मन में निश्चय कर लो। इसलिये इन्द्रिय-समूह को संयत कर, चित्त को वश में करके ऐसा अनुभव करो कि यह सारा जगत् अपनी आत्मा में ही फैला हुआ है और आत्मा इन्द्रियातीत ब्रह्म से अभिन्न है। इस प्रकार ध्यान करने से सांसारिक विपत्तियाँ और मेरा वियोग तुम्हें कष्ट नहीं पहुँचायेगा। सारे संसार को मेरा ही रूप समझनेवाले व्यक्ति को जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा मिल जाता है—

पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥११/७/१२

श्रीशुकदेवजी ने कहा—भगवान् के इस प्रकार उपदेश देने पर उद्धव जी की तत्त्व-जिज्ञासा और बढ़ गई फिर उन्होंने हाथ जोड़कर भगवान् से कहा—प्रभो, आत्मा के परम कल्याण के लिये आपने संन्यास लक्षणवाले महान् त्याग की बात बतलाई है। इतना महान् त्याग मेरे जैसे संसारी विषयी लोगों के लिये अत्यन्त कठिन है। जिनकी बुद्धि स्त्री-पुत्र आदि में आसक्त है, जो भोगी हैं, वे इतना बड़ा त्याग नहीं कर सकते अतः आप मुझे तो ऐसा कोई सरल साधन बतलायें जिसे मैं आसानी से कर सकूँ। प्रभो, आपके अतिरिक्त मुझे देवताओं में भी कोई आत्मतत्त्व का उपदेश करने वाला नहीं दिखलाई पड़ता। इसका कारण यह है कि—ये बड़े-बड़े देवता भी आत्माभिमानी होने के कारण आप की माया से मोहित हो रहे हैं। इनकी दृष्टि में तो बाह्य पदार्थ सत्य हैं। इसलिये मुझे तो आप ही उपदेश दीजिये—

सर्वे विमोहितधियस्तव मायये मे । ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥११/७/१७

आप सर्वज्ञ, ईश्वर और वैकुण्ठ के अधिपति हैं। मैं आपका चरण सेवक हूँ। चरणों की शरण में आया हुआ हूँ अतः आप कृपा कर परम निःश्रेय का साधन मुझे बतलावें।

उद्धव की प्रार्थना को सुनकर श्रीभगवान् ने कहा—उद्धव, जो लोकतत्त्व-विलक्षण पुरुष होते हैं, वे स्वयं ही अपने आप को वासनामय अन्तःकरण से निकाल लेते हैं। मनुष्य अपना गुरु स्वयं है। वह स्वयं अपने से अपना उद्धार कर सकता है। यदि कोई अपना उद्धार स्वयं न करना चाहे तो दूसरे लोग कहाँ तक उसका उद्धार कर सकते हैं ?—



समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् । आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ॥११/७/१९-२०

सांख्य-योग के विशारद पुरुष सारी इन्द्रियों के आश्रय एवं प्रेरक मेरा प्रत्यक्ष अनुभव कर लेते हैं। इस संसार में मैंने बहुत प्रकार के शरीरों का निर्माण किया है। उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्य का ही शरीर है—“तासां मे पौरुषी प्रिया” ॥२२॥ इस मनुष्य शरीर में एकाग्रचित्त तीक्ष्णबुद्धि पुरुष मुझ परमेश्वर का साक्षात् अनुभव करते हैं। इस विषय में एक प्राचीन आख्यान—इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास अवधूत दत्तात्रेय और राजा यदु के संवाद के रूप में है। एक बार धर्म के मर्मज्ञ राजा यदु ने देखा कि एक त्रिकालदर्शी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय विचर रहे हैं। तब उन्होंने उनसे यह प्रश्न किया।

**हृदय**—वस्तुतः एक बार महाराज यदु अपने राज-प्रासाद की अट्टालिका पर टहल रहे थे। उसी समय उनके महल के बगल से अवधूत दत्तात्रेय जी निकले। राजा ने उन्हें देखा। अवधूत के शरीर की हवा राजा को लगी। उसके लगते ही राजा के मन में जिज्ञासा की तरङ्गिणी तरङ्गायमान हो उठी। वे महल से उतरे और पैदल ही अवधूत के पीछे भागे। मिलने पर राजा ने चरण पकड़ कर उनसे प्रार्थना पूर्वक विनम्रता से पूछा ॥

राजा यदु ने पूछा—ब्रह्मन्, आप कर्म तो करते नहीं, फिर आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँ से प्राप्त हुई ? जिसका आश्रय लेकर आप परम विद्वान् होने पर भी बालक के समान निःस्पृहभाव से संसार में विचरते हैं—

**कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा । यामासाद्य भवौल्लोके विद्वान्श्रति बालवत् ॥११/७/२६**  
लोग तो प्रायः किसी कामना से ही कर्म में प्रवृत्त होते हैं। आप तो समर्थ हैं, कवि हैं, दक्ष हैं, सुभग हैं और अमृतभाषी हैं फिर भी कुछ करते धरते नहीं। दुनियाँ के लोग दुःख के सागर में डूब रहे हैं; कष्ट की आग में जल रहे हैं और आप गङ्गा के शीतल जल में प्रविष्ट हाथी की तरह प्रसन्न हो रहे हैं। कृपा करके बतलाइये कि आप को यह आनन्दानुभूति कहाँ से प्राप्त होती है ? कैसे होती है ?

ब्राह्मण ने कहा—राजन्, मैंने अपनी बुद्धि से बहुत-से गुरुओं का आश्रय लिया है। उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत् में मुक्तभाव से स्वच्छन्द विचरण करता हूँ। तुम उन गुरुओं के नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो। मेरे गुरुओं के नाम हैं—(१) पृथिवी, (२) वायु, (३) आकाश, (४) जल, (५) अग्नि, (६) चन्द्रमा, (७) सूर्य, (८) कबूतर, (९) अजगर, (१०) समुद्र, (११) पतंग (फतिङ्गा), (१२) भ्रमर (मधुमक्खी), (१३) हाथी, (१४) शहदनिवालनेवाला, (१५) हरिण, (१६) मछली, (१७) पिङ्गला वेश्या, (१८) कुरुर पक्षी, (१९) बालक, (२०) कुमारी कन्या, (२१) बाण बनानेवाला, (२२) सर्प, (२३) मकड़ी और (२४) भृङ्गी कीट। ये ही मुझे शिक्षा प्रदान करनेवाले २४ गुरु हैं—

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः । कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः ॥

मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुरुरोऽर्धकः । कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥

एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः ॥११/७/३३-३५

इन्हीं के आचरण से इस लोक में मैंने अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है। राजन्, मैंने इनके आचरण से जो कुछ शिक्षा ग्रहण की है, उसे सुनो—

**हृदय**—यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इनसे एक अवधूत ने शिक्षा ग्रहण की है। गृहस्थ को इनमें से वही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, जो गृहस्थाश्रम के अनुकूल पड़ती हो। अन्धानुकरण करने से अनर्थ की संभावना रहती है। पृथिवी शब्द से पर्वत और वृक्षों का भी ग्रहण होता है अतः दत्तात्रेय जी कहते हैं कि मैंने पृथिवी से सहनशीलता और परोपकारिता—ये दो बातें सीखी हैं। वायु से (प्राण वायु से) केवल जीवन चलाने भर के लिये आहार ग्रहण



करना, इन्द्रिय-लालन के लिये नहीं, यह शिक्षाग्रहण की और वाह्य वायु से (पवन से) निर्लिप्तता अर्थात् कहीं भी आसक्त न होना सीखा। आकाश से असङ्गभाव, जल से स्वच्छता, स्निग्धता और मधुरता और अग्नि से सर्वभक्षी होकर भी किसी के गुण-दोष से प्रभावित न होना सीखा। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं, सब शरीर की हैं आत्मा का उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह चन्द्रमा से सीखा है जैसे चन्द्रमा की कलाओं का नाश होता है, स्वयं चन्द्रमा का नहीं। इसी प्रकार इस शरीर का नाश होता है, आत्मा का नहीं। जैसे जल आदि उपाधियों से एक ही सूर्य अनेक प्रकार का भासित होता है, वैसे ही आत्मा के एक होते हुए भी शरीर आदि अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। अब मैंने जो कबूतर से शिक्षा ग्रहण की है, उसे सुनो—राजन्, कहीं किसी के साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति नहीं करनी चाहिये, अन्यथा वह कबूतर के समान स्नेह में फँसकर क्लेश पाता है और अन्त में मारा जाता है—

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् । कुर्वन् विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः ।।

११/७/५२

यह शिक्षा मैंने कबूतर से ग्रहण की है। पूरा प्रसङ्ग इस प्रकार है—किसी जंगल में एक कपोत रहता था। उसने एक पेड़ पर अपना घोंसला बना रक्खा था। अपनी स्त्री कपोती के साथ वह कई वर्षों तक सानन्द उस घोंसले में रहा। दोनों का हृदय स्नेहरूपी रस्सी से बँधा हुआ था। वस्तुतः वे दो शरीर और एक प्राण थे। उनका सोना-जागना, घूमना-फिरना, क्रीडा और भोजनादि साथ-साथ हुआ करता था। वे विश्वासपूर्वक साथ-साथ एक वन से दूसरे वन में घूमा करते थे। कपोत कपोती पर इस प्रकार आसक्त था कि कपोती जो कुछ मांगती उसे कपोत अपने प्राणों की बाजी भी लगा कर लाकर देता था।

समय आया। कपोती गर्भवती हुई। काल पूरा होने पर उसने घोंसले में अपने पति के पास ही अण्डों को पैदा किया फिर समय पर उन अण्डों से कोमल-कोमल बच्चे निकले। बच्चों के प्रति दोनों का प्रगाढ़ प्रेम था। वे बड़े प्रेम से उनका पालन-पोषण करते थे। उनके मनोहर चूँ-चूँ शब्दों से, उनकी चेष्टाओं से, फुदक-फुदक कर अगवानी करने से कपोत-कपोती-दोनों ही आनन्दमग्न हो जाते थे। इस प्रकार उन दोनों का दिन बड़े मजे से बीतता रहा।

एक दिन कपोत और कपोती बच्चों का चारा लेने के लिये सुदूर जंगल में चले गये। इधर एक बहेलिया घूमता-घूमता उनके घोंसले की ओर आ निकला। उसने देखा कि घोंसले के आस-पास कबूतर के बच्चे फुदक रहे हैं। उसने जाल फैला कर उन्हें पकड़ लिया। थोड़ी देर के बाद कपोत और कपोती बच्चों के लिये चारा लेकर लौटे। माता-पिता को देखकर बच्चे चूँ-चूँ कर उछलने लगे किन्तु जाल में फँसे होने के कारण वे विवश थे। कपोती ने जब अपने बच्चों की यह दीन दशा देखी तो उसके दुःख का पारावार न रहा। वह रोती-चिल्लाती हुई, मृत्यु से बेपरवाह होकर बच्चों के ऊपर कूद पड़ी। बच्चे उसके हृदय के टुकड़े थे, जीवन के प्राण थे, सर्वस्व थे। उनके बिना संसार उसके लिये सूना था। फल यह हुआ कि वह भी जाल में फँस गई। कपोत ने देखा कि उसका सारा संसार उसकी आँखों के सामने ही उजड़ने जा रहा है। वह विलाप करता हुआ इधर-उधर फड़-फड़ाने लगा। उसने सोचा मैं अभाग्य हूँ, दुर्मति हूँ। हाय-हाय मेरा तो सत्यानाश हो गया। हाय मेरी प्राण-प्यारी पत्नी मुझे ही अपना सर्वस्व समझती थी, प्राण समझती थी, जीवन समझती थी। आज वह मुझे सूने घर में छोड़कर स्वर्ग सिधार रही है। मेरे बच्चे मर गये। मेरी पत्नी जाती रही। मेरा अब संसार में क्या काम है? ऐसा सोचकर वह भी बेहोश होकर जाल में गिर कर बँध गया। बहेलिया अब तक उसी की प्रतीक्षा कर रहा था। कपोत के जाल में फँसते ही वह प्रसन्न होकर सब को लपेट कर घर की ओर चल पड़ा।



राजन्, जो संसार में परमासक्त होकर कुटुम्ब के भरण-पोषण में ही सर्वदा व्यग्र रहते हैं, उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल सकती। वे उसी कपोत के समान अपने कुटुम्ब के साथ कष्ट पाते हैं और नष्ट हो जाते हैं। यह मानव-शरीर मुक्ति का खुला हुआ द्वार है। भगवत्कृपा से इसे पाकर भी जो कपोत की तरह अपनी घर-गृहस्थी में ही फँसा हुआ है, वह मुक्ति के द्वार तक पहुँच कर भी नीचे गिर रहा है—ऐसा समझना चाहिये। शास्त्र की भाषा में उसे 'आरूढच्युत' कहते हैं—

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् । गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥११/७/७४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

## आठवाँ अध्याय

( अवधूतोपाख्यान—अजगर से लेकर पिङ्गलातक नौ गुरुओं की कथा )

अवधूत ब्राह्मण ने कहा—राजन्, जैसे दुःख मिलता है, वैसे ही सुख भी मिलेगा ही। हम स्वर्ग में रहें या नरक में वास करें। सुख-दुःख हमें निर्धारित समय पर मिलेंगे ही इसलिये हमें न सुख की इच्छा करनी चाहिये और न उसके लिये प्रयत्न ही—

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गं नरक एव च । देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥

११/६/१

इसलिये अवधूत को चाहिये कि बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही अनायास जो कुछ मिल जाय—वह चाहे रुखा-सूखा हो, चाहे बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अधिक हो या थोड़ा उसे ही खाकर जीवन-निर्वाह करले और उदासीन रहे। यदि भोजन न मिले तो भी बिना कुछ चेष्टा किये अजगर के समान पड़ा रहे और सन्तोष का अनुभव करे। इसी को हिन्दी के एक कवि ने इन शब्दों में कहा है—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम । दास मलूका कहि गये, सबके दाता राम ॥

यह शिक्षा मैंने अजगर से ग्रहण की है। समुद्र से मैंने गंभीरता सीखी है। वह न तो वर्षाकाल में नदियों की बाढ़ से बढ़ता है और न गर्मियों में घटता है, सूखता है। महात्मा को इसी प्रकार रहना चाहिये। न सुख में नाचे और न दुःख में रोवे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

सुख हरषहिं नहिं दुःख बिलखाहीं । दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं ॥

राजन्, मैंने फतिंगे से यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह रूप पर मोहित होकर आग में कूद पड़ता है और जल भरता है, वैसे ही अजितेन्द्रिय पुरुष स्त्री के हाव-भाव तथा सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपना सर्वनाश कर लेता है।

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः । प्रलोभितः प्रतत्यन्धे तमस्याग्नौ पतङ्गवत् ॥११/८/७

स्त्री, सुवर्ण, आभूषण और वस्त्र आदि मायिक द्रव्यों में आसक्त व्यक्ति विवेकहीन होकर फतिंगे के समान नष्ट हो जाता है।

राजन्, संन्यासी को चाहिये कि वह गृहस्थों को किसी प्रकार का कष्ट न देकर भौरे की तरह अपना जीवन-निर्वाह करें। वह अपने शरीर के लिये रोटी के कुछ टुकड़े कई घरों से मांग ले जैसे भ्रमर फूलों से सार ग्रहण करता



है, ऐसे ही विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह छोटे-बड़े सभी शास्त्रों का सार, उनका रस निचोड़ ले। यह मैंने भ्रमर से सीखा है।

राजन्, मैंने मधुमक्खी से यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासी को सार्यकाल अथवा दूसरे दिन के लिये भिक्षा का संग्रह नहीं करना चाहिये। उसे करपात्री अथवा उदरपात्री मात्र होना चाहिये। संग्रह करने पर उसका जीवन मधुमक्खियों के समान कष्टकर हो सकता है। मैंने हाथी से यह सीखा कि संन्यासी को कभी पैर से भी, काठ से बनी हुई स्त्री का भी स्पर्श नहीं करना चाहिये यदि वह ऐसा करता है तो जैसे हथिनी के अङ्ग के संग से हाथी बँध जाता है, वैसे ही वह भी बँध जायेगा।

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि। स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥

११/८/१३

विवेकी पुरुष कभी भी भोग्य के रूप में स्त्री को स्वीकार न करे। यदि वह स्वीकार करेगा तो हाथियों से हाथी की तरह अधिक बलवान् अन्य पुरुषों के द्वारा मारा जायेगा। धन-संग्रह करनेवाला कंजूस व्यक्ति कमा-कमाकर धन इकट्ठा करता है। वह न स्वयं यथेच्छ खाता है और न किसी को दान ही करता है। लुटेरे उसका धन लूटकर ले जाते हैं—यह शिक्षा मैंने मधुमक्खी से सीखी है। मधुमक्खी का श्रमपूर्वक सञ्चित मधु मधु निकालनेवाला निचोड़कर निकाल ले जाता है।

व्याध वंशी के गीत पर मुग्ध हरिण को अपने बाण का निशाना बना लेता है। यह ग्राम्य-गीत का दुष्प्रभाव है अतः संन्यासी को चाहिये कि वह भगवान् के कीर्तन-भजन के अतिरिक्त विलासी गीतों का श्रवण न करे। मुनि ऋष्यशृङ्ग विलासिनियों के हाव-भाव-भरे गीतों को सुनकर उनके हाथ की कठपुतली बन गये थे, यह शिक्षा मैंने हरिण से सीखी है। जिह्वा की लोलुपता से सदा परहेज करना चाहिये अन्यथा मनुष्य वैसे ही मारा जाता है, जैसे वंशी के कांटे में लगे हुए मांस के टुकड़े को खाने का प्रयास करनेवाली मछली मारी जाती है, यह मैंने मछली से सीखा।

व्यक्ति को चाहिये कि वह किसी से किसी प्रकार की आशा न करे अन्यथा उसे महान् क्लेश का सामना करना पड़ता है। यह मैंने पिङ्गला<sup>१</sup> नामक वेश्या से सीखा है। इस सम्बन्ध में एक छोटा-सा इतिहास है, उसे सुनो—विदेहराज जनक की नगरी मिथिला में एक सर्वाङ्ग-सुन्दरी वेश्या रहती थी। उसका नाम था—पिङ्गला। पिङ्गला के मन में धन की लालसा प्रबल थी। एक दिन वह खूब बन-ठन कर, सज-धज कर अपने दरवाजे पर जाकर खड़ी हो गई। धन की लालसा उसके मन में इस प्रकार दृढमूल हो गई थी कि वह किसी भी पुरुष को उधर से आते-जाते देखकर यही सोचती कि यह धनी भी मालूम पड़ता है और तरुण भी है। यह अपने धन के बल पर मेरे मक्खन जैसे कोमल शरीर और यौवन का उपभोग करने के लिये आ रहा है अवश्य ही यह मुझे प्रभूत धन देकर जायेगा। जब आने-जाने वाले आगे बढ़ जाते, तब फिर वह सङ्केतजीविनी वेश्या यही सोचती कि अवश्य ही अब की बार कोई ऐसा धनी मेरे पास आयेगा जो मुझे मालामाल कर देगा। उसके चित्त की यह दुराशा बढ़ती ही जाती थी। वह दरवाजे पर बहुत देर तक टँगी-सी रही। उसकी नींद भी जाती रही। वह कभी बाहर आती, तो कभी भीतर जाती। इस प्रकार आधी रात बीत गई। न आराम मिला और न पैसा ही—

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती। निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत॥११/८/२६

१. पिङ्गं पिङ्गवर्णं सुवर्णं लाति गृह्णाति स्वदेहार्पणेन इति पिङ्गला—जो यौवन से मदमाता शरीर पुरुषों को आर्पित कर सुवर्ण कमाती है, उसे पिङ्गला कहते हैं। फिर वैराग्य हो जाने पर जो—“पिङ्गं पीताम्बरं श्रीकृष्णं लातीति पिङ्गला” जो अपने वैराग्य के बल पर पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लेती है—वह पिङ्गला है।



राजन्, सचमुच आशा और वह भी धन की आशा—बहुत बुरी होती है। धनी की राह देखते-देखते उसका कमल-सा मुख मुझा गया। उसमें दुःख-बुद्धि हो गई। उसके इस वैराग्य के मूल में चिन्ता ही कारण थी परन्तु ऐसा वैराग्य भी तो है सुख का ही हेतु। प्रत्येक प्राणी आशा की फाँसी पर लटक रहा है। इसको तलवार की तरह काटने वाली यदि कोई वस्तु है तो वह केवल वैराग्य ही है। विरक्त अतः खिन्नमनवाली पिङ्गला मन-ही-मन कहने लगी।

पिङ्गला ने कहा—इन्द्रियों और चित्त के पराधीन रहनेवाली मेरी मूर्खता तो देखो कि मैं इन अस्तित्वहीन पुरुषों से अपनी इच्छा की पूर्ति चाहती हूँ। देखो तो सही, अति सन्निकट अर्थात् मेरे हृदय में ही मेरे सच्चे स्वामी भगवान् विराजमान हैं। वे स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही देनेवाले हैं। जगत् के पुरुष अनित्य हैं और वे नित्य हैं। मैंने यह बहुत बड़ी गड़बड़ी की कि सर्वदा सन्निहित रहनेवाले अपने परमात्मारूपी पति को छोड़ कर इन अनित्य, दुःखदायी जार पुरुषों से सुख की कामना करने लगी—

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय ।

अकामदं दुःखभयादिशोकमोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥११/९/३१

ओह! यह मेरी वृत्ति (जीविका) ही बड़ी निन्दनीय है। इन लम्पट, लोभी और निन्दनीय पुरुषों ने मेरे इस शरीर को खरीद लिया है। इस बिके हुए शरीर से मैं सुख की आशा करती हूँ। धिक्कार है मुझे। वस्तुतः यह शरीर रूपी घर ही अतिशय घृणित है। इसमें दिन-रात मलवाही नौ पनारे बहा करते हैं। यह विष्ठा से, मूत्र से, कफ और पीब आदि से भरा हुआ है। यह दुर्गन्ध से भरा हुआ है। मैं कितनी नासमझ हूँ जो इससे प्रेम करती हूँ, इससे सुख की अभिलाषा करती हूँ। मुझे बार-बार धिक्कार है। अब आगे मैं अपने हृदय में विराजमान प्रभु को यह अपना जीवन समर्पित कर इन्हीं के साथ वैसे ही विहार करूँगी जैसे लक्ष्मी जी करती हैं। निश्चय ही अब भगवान्, मेरे किसी पूर्व कर्म के कारण मेरे ऊपर प्रसन्न हैं। इसी के फलस्वरूप दुराशा से मुझे इस प्रकार वैराग्य हुआ है।

ब्राह्मण दत्तात्रेय कहते हैं—राजन्, पिङ्गला वेश्या ने ऐसा निश्चय करके अपने प्रिय धनी व्यक्तियों की दुराशा, उनसे संभोग और धन मिलने की लालसा का परित्याग कर दिया और शान्तिपूर्वक जाकर वह अपनी सेज पर सुखपूर्वक सो गई अतः मैंने पिङ्गला से यह शिक्षा ग्रहण की कि संसार में किसी से किसी प्रकार की आशा करना ही दुःख का मूल कारण है, दुःख है। वस्तुतः इस संसार में नैराश्य, किसी से कुछ आशा न रखना ही सुख का मूल मंत्र है, जैसे पिङ्गला वेश्या ने कान्त की आशा का परित्याग कर एकमात्र भगवान् के आश्रय से सुखपूर्वक सोई और शान्ति की अनुभूति की—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् । यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुध्वाप पिङ्गला ॥

११/८/४४

हृदय—इस प्रसङ्ग में यह बात कही जाती है कि जब दत्तात्रेय जी विदेह-नगरी में विचरण कर रहे थे, तब वे थोड़ी देर के लिये पिङ्गला के घर के सामने एक वट-वृक्ष के नीचे बैठ गये। जब उधर से हवा चली तब दत्तात्रेय जी के शरीर की हवा लगते ही पिङ्गला को वैराग्य हो गया ॥८॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥



## नवाँ अध्याय

( अवधूतोपाख्यान—कुरर से लेकर भृंगी तक सात गुरुओं की कथा )

ब्राह्मण दत्तात्रेय जी ने कहा—राजन्, इस संसार में प्रिय वस्तुओं का संग्रह ही दुःख का कारण है। इस रहस्य को समझनेवाला जो व्यक्ति संग्रह-परिग्रह से रहित अकिञ्चन है, वह अपार सुख का भागी बनता है—

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत् प्रियतरं नृणाम् ।

अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः ॥ ११/९/१॥

यह शिक्षा मैंने कुरर पक्षी से ग्रहण की है। एक कुरर पक्षी अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिये हुए था। यह देखकर दूसरे बलवान् पक्षी, उसे घेरे और मार-मार कर मांस छीनने का प्रयास करने लगे। जब तक कुरर के मुख में मांस था, तब तक उस पर पक्षियों का प्रहार होता रहा किन्तु जब वह उसे छोड़ दिया तो वे सब उसका पीछा छोड़कर मांस के टुकड़े की ओर चले गये इसलिये किसी भी प्रिय वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिये।

मान-अपमान तथा चिन्ता का परित्याग करना मैंने बालक से सीखा है। संन्यासी को संसार में अकेले ही विचरण करना चाहिये। यह शिक्षा मैंने एक कुमारी-कन्या से सीखी है। इस सन्दर्भ में एक आख्यान है, उसे मैं सुना रहा हूँ, ध्यान से सुनो—कन्या के विवाह का प्रसङ्ग चल रहा था। इसी सन्दर्भ में एकदिन उसका वरण करने के लिये कुछ लोग उसके घर आये। कन्या के घर के लोग कार्यवश बाहर गये हुए थे। वह घर में अकेली थी। चावल थे नहीं। उसने सोचा कि धान कूटकर चावल निकाल लें। चावल कूटने के समय उसके हाथ की चूड़ियाँ खन-खनाने लगीं। यह देखकर उसने सोचा कि आवाज सुनकर वे लोग जान जायेंगे कि मैं धान कूट रही हूँ इसलिये हाथों में दो-दो चूड़ियों को छोड़कर बाकी उसने तोड़ दी फिर भी आवाज होने लगी। तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाईयों में केवल एक-एक चूड़ी रह गई तब आवाज का होना बन्द हो गया—“एकस्मान्नाभवद् ध्वनिः” ॥८॥

इससे मैंने यह सीखा कि—बहुत-से लोगों के एक साथ रहने पर कलह होता है। दो व्यक्तियों के एक साथ रहने पर गपशप की संभावना रहती है इसलिये संन्यासी को चाहिये कि वह कुमारी के कङ्कण की तरह अकेला ही विचरण करे—

वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि ।

एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः ॥ ११/९/१०॥

चित्त की एकाग्रता मैंने बाण बनानेवाले से सीखी है। एक समय वह बाण की नोक को तीखी बनाने में दत्तचित्त था। उसी समय उसके सामने से एक राजा पूरी तामझाम के साथ निकल गया किन्तु उसे कुछ भी पता न चला। हृदय—वास्तविकता यह थी कि दत्तात्रेय महाराज उस रास्ते से जा रहे थे। उन्होंने लोहार को बाण बनाते देखा तो खड़े हो गये। उनके शरीर की हवा लगते ही बढ़ई को समाधि-सी लग गई अतः राजा के उधर से गुजरने का पता उसे लगा ही नहीं ॥

सर्प अकेला ही रहता है। वह अपना घर न बनाकर चूहों की बिल में सानन्द निवास करता है। इससे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासी को न मठ बनाना चाहिये और न किसी के साथ रहना ही चाहिये। उसे एकाकी सानन्द विचरण करना चाहिये। भगवान् संसार की सृष्टि करने में इसके पालन और संहार में स्वतन्त्र रहते हैं। वही



स्वयं सृष्टि के उपादान एवं निमित्त-दोनों ही कारण हैं। यह शिक्षा मैंने मकड़ी से ग्रहण की। वह अपने मुख से तन्तुजाल निकालती है, उससे जाल बुनती है, उसमें विहार करती है और फिर अन्त में वह इसे मुख में समेट भी लेती है।

भगवान् का निरन्तर ध्यान करनेवाला भक्त भगवान् की सारूप्य मुक्ति का भाजन बनता है। यह मैंने भृङ्गी कीट से सीखा है। भृङ्गी कीट किसी विजातीय कीट को पकड़कर अपने घर में बन्द कर देता है और उसके ऊपर भनभनाता रहता है अतः अन्दर बन्द कीट आवाज सुनता हुआ भृङ्गी कीट का निरन्तर ध्यान करता रहता है। फल यह होता है कि ध्यान के बल से वह विजातीय कीट भृङ्गी कीट बन जाता है।

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः । याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन् ॥

११/९/२३

राजन्, इस प्रकार मैंने इन चौबीस गुरुओं से ये शिक्षाएँ ग्रहण कीं। यह अपना शरीर भी मेरा गुरु है क्योंकि यही विरक्ति, विवेक और तत्त्व-ज्ञान का प्रधान साधन है फिर भी यह अन्त में कुत्तों एवं शृगालों का भक्ष्य बनता है। ऐसा समझकर मैं इसके प्रति सर्वदा विरक्त ही रहकर विचरण करता रहता हूँ—

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतुर्बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्तुदर्कम् ।

तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि पारव्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥११/९/२५

जीव इस शरीर का पालन-पोषण करने में निरन्तर संलग्न रहता है। इसे खिलाता है पिलाता है और नित्य मल-मल कर नहलाता है किन्तु अन्त में यह भी छोड़कर चला जाता है। किन्तु जाते-जाते यह कर्म-वासना के कारण अगले जन्म के शरीर के लिये बीज छोड़ जाता है, जैसे एक वृक्ष दूसरे वृक्ष के लिये बीज बो देता है। इस प्रकार यह शरीर अनन्तानन्त शरीरों का कारण है इसीसे जीव आवागमन के चक्कर से छूट नहीं पाता। इस शरीर की प्रत्येक इन्द्रियाँ भी प्राणी को अपनी-अपनी विषय-वृत्तियों की ओर खींचकर उसी प्रकार परेशान करती रहती हैं जैसे एक पुरुष की कई स्त्रियाँ होने पर उसे अपनी-अपनी ओर खींच कर अशान्त करती रहती हैं।

फिर भी यह शरीर है बहुमूल्य। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा जी ने अपनी माया-शक्ति से, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि अनेक शरीरों की सृष्टि की किन्तु उन्हें सन्तोष न हुआ, अन्त में उन्होंने जब मानव शरीर की रचना की तो उन्हें महान् आनन्द की अनुभूति हुई, क्योंकि यह ऐसी बुद्धि से युक्त है, जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकती है। प्राणी मानव-शरीर से ब्रह्म का साक्षात्कार कर मुक्ति का भागी बन सकता है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या, वृक्षान् शरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान् ।

तैस्तैरनुग्रहदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥११/९/२८

यह मानव-शरीर अतिदुर्लभ है। अनेक जन्मों के अनन्तर यह मिलता है। इसकी प्राप्ति भगवान् की कृपा से ही होती है। यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थों का साक्षात् साधन है फिर भी यह अनित्य है अतः इसे प्राप्त कर व्यक्ति को शीघ्र ही मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। विषय तो सभी योनियों में बिना प्रयास के ही मिल जाते हैं—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥११/९/२९

राजन् यही सोच-विचार कर मुझे जगत् से वैराग्य हो गया। मेरे हृदय में ज्ञान-विज्ञान की ज्योति सर्वदा जगमगाती रहती है। न तो कहीं मेरी आसक्ति है और न कहीं अहङ्कार ही। अब मैं स्वच्छन्द रूप से पृथिवी में विचरण करता रहता हूँ। राजन्, एक गुरु से ही यथेष्ट और सुदृढ बोध नहीं होता इसलिये मैंने (२४) चौबीस गुरु बनाये हैं।



भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—प्यारे उद्धव, अवधूत दत्तात्रेय ने इस प्रकार राजा यदु को उपदेश दिया । राजा ने उनकी पूजा और वन्दना की । तदनन्तर दत्तात्रेय जी उनसे अनुमति लेकर अपनी इच्छा के अनुसार चले गये । हमारे पूर्वजों के भी पूर्वज राजा यदु अवधूत दत्तात्रेय जी की यह बात सुनकर समस्त आसक्तियों से छुटकारा पाकर समदर्शी बन गये—

अवधूतवचःश्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः । सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह ॥११/९/३३  
इसी प्रकार उद्धव जी तुम्हें भी समस्त आसक्तियों का परित्याग करके समदर्शी हो जाना चाहिये ॥९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

## दसवाँ अध्याय

( लौकिक तथा पारलौकिक भोगों की असारता का निरूपण )

श्रीभगवान् ने कहा—प्यारे उद्धव, साधक को चाहिये कि वह सर्वथा और सर्वदा मेरी शरण में रहे, गीता आदि में मैंने जिन धर्मों का प्रतिपादन किया है, उनका सतत सावधान रहकर पालन करे और निष्काम भाव से अपने वर्ण, आश्रम और कुल के आचार का आचरण करे—

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः । वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥११/१०/१  
निष्काम भाव से कर्म करने का उपाय यह है कि स्वधर्मों के पालन से चित्त शुद्ध होता है । प्राणी शुद्ध चित्त से यह विचार करे कि शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों को सत्य समझकर उनकी प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसका उद्देश्य होता है कि हमें सुख मिले परन्तु मिलता है दुःख । सुख के लिये किये गये कर्म से सुख ही मिले, इसकी कोई गारण्टी नहीं है । विषय को सत्य समझ कर जो आरम्भ किया जाता है, उसे झूठा समझना चाहिये जैसे स्वप्नावस्था के विषय-दर्शन और जाग्रत् के मनोरथ विफल होते हैं वैसे ही बाहर में जो नानात्व बुद्धि है वह एकदम मिथ्या है—

सुप्तस्य, विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः । नानात्मकत्वाद्विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणीः ॥

११/१०/३

मीमांसको पर प्रबल प्रहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि—जो पुरुष मेरी शरण में आगया हो, उसे फल की इच्छा से रहित निष्काम कर्म अथवा सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य कर्म ही करने चाहिये । उसे उन कर्मों का बिल्कुल परित्याग कर देना चाहिये जो बहिर्मुख बनानेवाले अथवा सकाम हैं । जब आत्म-ज्ञान की उत्कट इच्छा जाग उठे तो कर्म-सम्बन्धी विधि-विधानों का भी आदर नहीं करना चाहिये । अहिंसा, सत्य आदि १२ यमों का तथा शौच-जप आदि १२ नियमों का<sup>१</sup> शक्ति के अनुसार पालन करना चाहिये । जिज्ञासु पुरुष को चाहिये कि वह गुरु की शरण में जाकर उनकी शुश्रूषा को परमावश्यक समझे । प्रसन्न योग्य गुरु ही शिष्य को परमात्मा की ओर बढ़ने का मार्ग निर्दिष्ट करता है । शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह अभिमान न करे और न किसी से ईर्ष्या, द्वेष ही रखे । जीवन को गङ्गा-जल की तरह पवित्र एवं निर्मल बनावे, सांसारिक व्यक्तियों और पदार्थों से ममत्व न रखे । उसे सतत यह विचार

१. पातञ्जल योग में ५ यम और ५ नियम बतलाये गये हैं—“अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥”

“शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः” ॥



करना चाहिये कि जैसे अग्नि दाह्य एवं प्रकाश्य काष्ठ से अलग सत्तावाला है, वैसे ही आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म-द्विविध शरीरों से भिन्न है। वह शरीर नहीं, शरीर का सञ्चालक है। गोली लकड़ी को जलाने वाली अग्नि गोली प्रतीत होती है। लम्बी लकड़ी में जलती आग लम्बी ज्ञात होती है। ऐसे ही आत्मा ऊँची-नीची योनियों में, देहों के अनुसार नानारूप से भासित होता है। वस्तुतः उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं होता। ईश्वर के द्वारा सञ्चालित माया के गुणों ने ही स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों का निर्माण किया है। जीव को शरीर और शरीर को जीव समझ लेने के कारण प्राणी जन्म-मृत्यु और आवागमन के चक्कर में फँसता है। इसी भ्रम अथवा अध्यास के कारण ही जीव को जन्म-मृत्युरूप संसार की प्राप्ति होती है। जब ज्ञान के द्वारा इस भ्रम की निवृत्ति हो जाती है, तब जीव मुक्त हो जाता है अतः प्राणी अपने अन्तःकरण के मध्य में विराजमान परमात्मा में मन लगा कर शरीरों के प्रति अहंभाव का परित्याग कर दे। यज्ञ के प्रारम्भ में अग्नि उत्पन्न करने के लिये अरणिमन्थन किया जाता है। एक लकड़ी ऊपर होती है, एक लकड़ी नीचे होती है और बीच में कीलनुमा एक काष्ठ होता है। उसे ही चलाकर अग्नि पैदा की जाती है। इसी प्रकार आचार्य नीचे की आधारभूत अरणि है और शिष्य ऊपर की अरणि है। दोनों के बीच में चलने वाला प्रवचन, उपदेश ही बीच का मन्थन काष्ठ है। उपदेशरूपी मन्थन से बार-बार के उपदेश के करने से उत्पन्न ज्ञान ही अग्नि है, जो अज्ञान को जलाकर, अविद्या को नष्ट कर, जीव को परमानन्द में निमग्न कर देता है, मुक्त कर देता है—

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्त्युत्तरारणिः । तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः ॥

११/१०/१२

गुरु के उपदेश से प्राप्त ज्ञान माया को, गुणों को और गुणों से निर्मित संसार को भस्म कर डालता है। मीमांसक लोग कर्मकाण्ड को, यज्ञ-याग आदि को ही सब कुछ समझते हैं। उनकी दृष्टि में कर्म-काण्ड के द्वारा प्राप्तव्य स्वर्ग-सुख ही सब कुछ है। ज्ञान की चर्चा उन्हें अच्छी ही नहीं लगती। वे कर्म की ही प्रबलता सिद्ध करने में लगे रहते हैं। फल यह होता है कि ऐसे लोगों से जन्म-मरण का चक्कर छूटता ही नहीं। कर्मकाण्ड के सम्पादन में यदि थोड़ी भी गड़बड़ी हो गई हो तो पुण्य के स्थान पर पाप ही भोगने को मिलता है। यज्ञ की बेला में यदि पुरोहित ने मन्त्रोच्चारण में अशुद्धि कर दी, होता ने होम करते समय बाँए घुटने को नीचे करने के स्थान पर दाँये घुटने को नीचे गिरा दिया तो यजमान की हानि-ही-हानि होती है इसलिये पहले तो कर्म का निर्विघ्न होना ही कठिन है। यदि यज्ञ कथञ्चित् निर्विघ्न सम्पन्न हो भी जाय और यज्ञकर्ता स्वर्ग में पहुँच भी जाँय तो वहाँ भी मृत्यु-भय उनके शिर पर नङ्गी तलवार की तरह लटकता रहता है जैसे फाँसी पर लटकाने के लिये वध-स्थान पर ले जाये जाते हुए पुरुष को फूल-चन्दन-स्त्री आदि पदार्थ सन्तुष्ट नहीं कर सकते उसी प्रकार यज्ञकर्ता देवताओं की कृपा से स्वर्ग में पहुँच कर वहाँ का सुख तो भोगता है, किन्तु पुण्य के क्षीण हो जाने पर वहाँ से उसका पतन हो जाता है। उसे स्वर्ग से पतन का यह भय भी स्वर्ग का यथेच्छ आनन्द नहीं भोगने देता। मृत्यु का भय सर्वदा उसके शिर पर मडारता रहता है—

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते । क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥

११/१०/२६

कहाँ गया उन कर्मकाण्डियों का कर्म जब व्यक्ति स्वर्ग से नीचे ढकेला जाता है। क्यों नहीं उस समय कर्म उनकी सहायता करता ? फिर यदि पाप किया होता है तो नरक अथवा पशु-पक्षी आदि नारकी योनियों में जाना पड़ता है इसलिये कर्मकाण्ड को कर्मकाण्ड से सदा सुख-ही-सुख मिले-ऐसा दावा नहीं किया जा सकता।

मृत्यु का भय संसार के सभी प्राणियों को सारे लोक और लोकपालों को परेशान करता है। ब्रह्मा को भी अपनी थोड़ी आयु का भय है। कर्मकाण्ड के बल पर सर्वदा सुख की कामना करनेवाले कर्मकाण्डियों के सारे मनोरथ



कालरूपी ईश्वर के द्वारा विनष्ट कर दिये जाते हैं अन्त में फिर उनके हाथों पश्चात्ताप ही हाथ लगता है अतः जब तक शरीर आदि में मैं और मेरेपन का अभिमान है, तब तक आत्मा के नानात्व का भ्रम बना रहता है। जब तक नानात्व है, तब तक पारतन्त्र्य है और जब तक पारतन्त्र्य है, तब तक अवश्य ही कालरूपी ईश्वर से भय है। जिनकी दृष्टि में कर्म, यज्ञीय कर्म और उनसे प्राप्त स्वर्गादि का भोग ही प्रधान है, वे कर्म-फल की समाप्ति पर स्वर्ग से गिरते हुए निश्चय ही शोक से व्याकुल हो जाते हैं। ऐसे लोगों की आत्मा को कभी सुख-शान्ति की अनुभूति नहीं होती। इसलिये निवृत्तिमार्ग ही, निष्काम कर्म का सम्पादन ही, मुक्ति का कल्याणकारी साधन है। आत्मा एक है, सर्वाश्रय है, सर्वव्यापी है। उसमें नानात्व की अनुभूति उपाधियों के कारण ही हुआ करती है। यही भ्रम ही उसके बन्धन का कारण है अतः आत्मा के यथार्थ स्वरूप-ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती, यह अकाट्य सिद्धान्त है। सृष्टि के समय इस एक ही परमात्मा के अनेक नाम व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं। वास्तव में काल, आत्मा, आगम, लोक, स्वभाव, धर्म—ये सब परमात्मा के ही नाम हैं।

अन्त में उद्धव जी ने पूछा—भगवन्, जीव देह आदि रूप गुणों में रह रहा है फिर यह देह से होनेवाले कर्मों और सुख-दुःखरूप उसके फलों में क्यों नहीं बँधता है ? यदि यह आत्मा गुणों से निर्लिप्त है, देह आदि के सम्पर्क से, “पद्मपत्रमिवाम्भसा” की तरह निर्लिप्त है तो इसे बन्धन की प्राप्ति कैसे होती है ? बद्ध या मुक्त पुरुष कैसा बर्ताव करता है, कैसे विहार करता है, या वह किन लक्षणों से पहचाना जाता है ? कैसे संसार का सारा व्यवहार करता है ? प्रभो! आप से बढ़कर प्रश्नों के मर्म को समझने वाला दूसरा कोई नहीं है अतः कृपा करके इनका उत्तर दें। आप बतलावें कि एक ही आत्मा अनादि गुणों के संसर्ग से नित्य बद्ध भी मालूम पड़ता है और असङ्ग होने के कारण नित्यमुक्त भी। इस विषय में मुझे महान् भ्रम है—

एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर । नित्यमुक्तो नित्यबद्ध एक एवेति मे भ्रमः ॥११/१०/३७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥



## ग्यारहवाँ अध्याय

( बद्ध, मुक्त और भक्त-जनों के लक्षण )

श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव, आत्मा बद्ध है अथवा मुक्त है, इस प्रकार की व्याख्या सत्त्वादि गुणों की उपाधि के कारण होती है। यह वास्तविक नहीं है, तात्त्विक नहीं है। सभी गुण मायामूलक हैं, इन्द्रजाल हैं, जादू के खेल के समान हैं इसलिये न मेरा मोक्ष होता है और न बन्धन ही—

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः । गुणस्य मायामूलत्वाच्च मे मोक्षो न बन्धनम् ॥

११/११/१

जीवात्मा भी मेरा स्वरूप है, मेरा अंश है अतः उसका भी बन्धन और मोक्ष काल्पनिक ही है। देह में अभिमान करने से ही माया अथवा अविद्या के कारण शोक, मोह, सुख, दुःख आदि हुआ करते हैं। यह संसृति—संसार का बखेड़ा वास्तविक नहीं है—“संसृतिर्न तु वास्तवी” ॥२॥ यह तो केवल प्रातीतिक है। इसे दीर्घकालिक स्वप्न कहते हैं। उद्धव, शरीरधारियों को मुक्ति का अनुभव करानेवाली विद्या और बन्धन का अनुभव करानेवाली अविद्या—ये दोनों ही मेरी अनादि शक्तियाँ हैं। मेरी माया से ही इनकी रचना हुई। इनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है—



विद्याविद्ये मम तनू विन्दुबुद्धव शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥

११/११/३

जीवात्मा एक है । वस्तुतः यह मेरा स्वरूप ही है । आत्मज्ञान से सम्पन्न होने पर इसे मुक्त कहते हैं और आत्मा का ज्ञान न होने पर यह बद्ध कहा जाता है । अज्ञान अनादि है अतः बन्धन भी अनादि मानते हैं । आत्मारूप धर्मों के एक होने पर भी शोक और आनन्द रूप विरुद्ध धर्म धारण करने के कारण बद्ध और मुक्त जीव की विलक्षणतायें सुनो । जीव और ईश्वर बद्ध और मुक्त के भेद से भिन्न-भिन्न होने पर भी एक ही शरीर में नियम्य और नियामक रूप से स्थित हैं । जीव नियम्य है और ईश्वर नियामक । इसे इस प्रकार समझो कि शरीर एक वृक्ष है । इसमें हृदय रूप घोंसला बनाकर जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी निवास करते हैं । ये दोनों चेतन होने के कारण समान हैं और कभी न बिछुड़ने के कारण सखा हैं । इनके निवास करने का कारण केवल लीला ही है । इतनी समानता होने पर भी जीव तो शरीर रूपी वृक्ष के फल सुख-दुःख आदि को भोगता है, परन्तु ईश्वर उन्हें न भोग कर कर्म-फल सुख-दुःख आदि से असङ्ग रहकर उनका साक्षीमात्र है । अभोक्ता होने पर भी ईश्वर की यह विलक्षणता है कि यह ज्ञान, ऐश्वर्य आदि में जीव से बड़ कर है—

सुपर्णावितौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।

एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरञ्जोऽपि बलेन भूयान् ॥ ११/११/६

इसके साथ ही दोनों में एक और विलक्षणता है । अभोक्ता ईश्वर अपने स्वरूप के साथ जगत् के रूप को भी ठीक-ठीक समझता है परन्तु भोक्ता जीव न अपने वास्तविक स्वरूप को जानता है और न जगत् के । जीव अविद्या से युक्त होने के कारण नित्य बद्ध है और ईश्वर विद्यामय, ज्ञानमय होने के कारण नित्य मुक्त है । स्वप्न में देखे गये शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रखता वैसे ही ज्ञानी पुरुष स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में रहने पर भी उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता । परन्तु अज्ञानी पुरुष वास्तव में शरीर से कोई सम्बन्ध न रखने पर भी अज्ञान के कारण शरीर में ही स्थित रहता है, शरीर से ममता कर बैठता है जैसे स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न देखते समय स्वाप्रिक शरीर में बँध जाता है ।

जो मुक्त हैं, ज्ञानी हैं, वे इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होने पर भी मैं इनका ग्रहण-कर्ता हूँ—ऐसा नहीं मानते । जो अज्ञानी हैं, वे इन्द्रियों के विषय-ग्रहण करने पर मैं इनका ग्रहण-कर्ता हूँ—ऐसा अभिमान कर बैठते हैं और इस प्रकार दूसरे के कर्म को अपना मानकर उसमें बँध जाते हैं इसलिये विद्वान् को सोच-समझ कर विषयों से विरक्त हो जाना चाहिये । उसका शरीर चाहे सोवे, चाहे जागे, चाहे चले, चाहे बैठे, जो भी कुछ करे किन्तु उसे उससे बद्ध न होकर वायु के समान असंग ही कहना चाहिये । उसे देह में रहकर देह के गुणों से मुक्त रहना चाहिये । संसारीजन चाहे उसे पीडा पहुँचावें, चाहे चन्दन लगावें, इससे उसमें अन्तर नहीं पड़ना चाहिये, कोई विकार नहीं आना चाहिये—  
“न व्यतिक्रियते बुधः” ॥१५॥ महात्मा को ऐसी ही वृत्ति धारण करके विचरण करना चाहिये । उसे न हर्ष होना चाहिये और न शोक ही । निन्दा-स्तुति के प्रभाव से भी वह अछूता रहता है । विद्वान् होते हुए भी जड़ के समान वह विचरण करता रहता है ।

उद्धवजी, मुमुक्षु पुरुष के ये ही सब असाधारण लक्षण बतलाये गये हैं । प्रिय उद्धव जी, वेद-शास्त्र का पारगामी विद्वान् होकर भी जो व्यक्ति परब्रह्म के ज्ञान से शून्य है, उसका परिश्रम उसी प्रकार निष्फल है जैसे दुग्ध-विहीन-बन्ध्या गौ का सेवन । दूध न देनेवाली गाय, व्यभिचारिणी स्त्री, पराधीन शरीर, दुष्ट पुत्र, सत्पात्र के मिलने पर भी दान न किया हुआ धन और मेरे गुणों के कीर्तन से रहित वाणी व्यर्थ है । इन वस्तुओं की रखवाली करनेवाला मनुष्य दुःख-पर-दुःख ही भोगता रहता है—



गां दुग्धदोहामसतीं च भार्या देहं पराधीनमसत्प्रजां च ।

वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥११/११/१९

जो जिह्वा भगवान् के लोकपावन लीला का वर्णन न करे और लोकप्रिय राम-कृष्ण आदि अवतारों का यशोगान न करे, वह बन्ध्या है । बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह उस वाणी का श्रवण न करे जिसमें भगवान् के चरित्र का, लीला का वर्णन न हो । भगवान् के लीला वर्णन से रहित जिह्वा निष्फल है, बन्ध्या है, अतः धारणयोग्य नहीं है । ऐसा विचार कर विचारवान् पुरुष देहाध्यास का परित्याग कर हमारे स्वरूप में मन को स्थिर करे । यदि कदाचित् मन मुझ परमात्मा में स्थिर न हो सके तो सब कार्य निष्काम भाव से करना चाहिये । जो कुछ करे, जो कुछ खाये, जो यज्ञ-यागादि करे वह सब भगवान् को अर्पित करता चले । मेरी कथाओं को श्रद्धा के साथ सुने । मेरी लीलाओं का बार-बार गान, स्मरण और अभिनय करे । मेरा आश्रय ग्रहण कर मेरे लिये ही धर्म, काम और अर्थ का सेवन करे ऐसा करने से व्यक्ति मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति को अनायास ही प्राप्त कर लेता है—

मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः । लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥११/११/२४

भक्ति की प्राप्ति सत्सङ्ग से होती है । भक्त मेरी उपासना में संलग्न रहता है । इस प्रकार शनैःशनैः उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है फिर सन्तों के उपदेशों के अनुसार आचरण करता हुआ प्राणी सहज में ही मेरे परम पद को प्राप्त कर लेता है—

सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता । स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥

११/११/२५

उद्धव ने कहा—प्रभो, आप कृपा करके यह बतलाइये कि सन्त का, भक्त का लक्षण क्या है ? आप की भक्ति कैसी होती है ? जिसका सन्त लोग आदर करते हैं ।

श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव, मेरा भक्त कृपा की मूर्ति होता है । वह किसी भी प्राणी से वैरभाव नहीं रखता । वह घोर-से-घोर भी विपत्ति प्रसन्नतापूर्वक सह लेता है । सत्य उसके जीवन का सार है । उसके मन में पाप-वासना कभी नहीं आती । वह समदर्शी और सबका भला करनेवाला होता है । उसकी बुद्धि कामनाओं से कलुषित नहीं होती । किसी भी वस्तु के लिये वह चेष्टा नहीं करता । जो परिमित भोजन करता है, शान्त और स्थिर रहकर मेरी शरण ग्रहण करता है, स्वयं अमानी रहकर दूसरों को सम्मान देता है—“अमानी मानदः” ॥३१॥ और सर्वदा मेरा भजन करता है, वह परम सन्त है, उत्तम कोटि का भक्त है ।

जो दास के समान निष्कपट भाव से मेरी शुश्रूषा करता है, अमानी है, दम्भ-वर्जित है, कृत कार्य का ढिंढोरा नहीं पीटता वह मेरा उत्तम भक्त है । मेरा भक्त मेरे चढ़ावे की वस्तु का उपयोग अपने लिये नहीं करता । यहाँ तक कि मुझे समर्पित दीपक के प्रकाश से भी वह दूसरा काम नहीं लेता । मेरे भक्त को चाहिये कि वह किसी दूसरे देवता की चढ़ाई हुई वस्तु मुझे न चढ़ावे । संसार में जो वस्तु अपने को सर्वाधिक प्रिय हो, वह मुझे समर्पित कर दे । ऐसा करने से वह वस्तु अनन्त फलदाई बन जाती है—

यद् यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः । तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥११/११/४१

१. यत्करोषि यददर्शसि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्पस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ भगवद्गीता ॥९/२७॥

अर्थात्—हे अर्जुन, तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर ।



भद्र ! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सब मेरी पूजा के स्थान हैं। इनमें जहाँ जिसकी मौज हो वहाँ मेरी पूजा कर ले। सूर्य में त्रयी विद्या से, अग्नि में हविष्य से, ब्राह्मण में आतिथ्य से, गाय में हरी-हरी घास से, वैष्णव में बन्धुत्व की भावना से, हृदयाकाश में ध्यान से, वायु में मुख्य बुद्धि से, जल में अच्छे-अच्छे पदार्थों से और वेदी में मन्त्र द्वारा हवन से, उपयुक्त भोगों द्वारा आत्मा में और समदृष्टि द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों में मेरी पूजा करनी चाहिये।

पूजा के समय शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी मेरे चतुर्भुज रूप का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार जो मेरी पूजा-आराधना करता है, उसे मेरी श्रेष्ठ भक्ति प्राप्त होती है और सन्त पुरुषों की सेवा करने से मेरे स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है। प्रिय उद्धव, मेरा ऐसा निश्चय है कि सत्सङ्ग और भक्तियोग—इन दो साधनों का एक साथ ही अनुष्ठान करते रहना चाहिये। संसार-सागर को पार करने के लिये इससे उत्तम कोई दूसरा उपाय नहीं है। तुम मेरे प्रिय सेवक हो अतः मैं तुम्हें कुछ और रहस्य की बातें बतलाता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥११॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥



## बारहवाँ अध्याय

### ( सत्सङ्ग की महिमा और कर्म तथा कर्मत्याग की विधि )

श्रीभगवान् ने कहा—उद्धव जी, सत्सङ्ग जगत्-सम्बन्धिनी सारी आसक्तियों को समाप्त कर देनेवाला है अतः जितनी सरलता से मैं सत्सङ्ग से वश में हो जाता हूँ उतनी सरलता से योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त<sup>१</sup>, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, छन्द, तीर्थ, नियम, यम आदि से वश में नहीं होता। मुझे शीघ्र वश में करने का उपाय केवल सत्सङ्ग है—“यथावरुन्धे सत्सङ्गः” ॥२॥

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥

११/१२/१-२

सत्संग से नीच-से-नीच दैत्य, राक्षस, मृग, खग, गन्धर्व, अप्सरा, विद्याधर और मनुष्य—सभी तर जाते हैं। सत्सङ्ग अन्त्यज के लिये भी वर्जित नहीं है। अन्त्यजों ने भिन्न-भिन्न युगों में सत्सङ्ग किया है और वे उससे परमात्मा को प्राप्त हुए हैं। रजोगुणी और तमोगुणी भी सत्सङ्ग के सहारे परमात्मा के प्यारे बन गये हैं। वृत्रासुर, वृषपर्वा, प्रह्लाद, बलि, बाण, मय, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गज, गौध, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजगोपी, यज्ञ-पत्नियाँ आदि सबने सत्सङ्ग के ही प्रभाव से मुझे प्राप्त किया है। वे पढ़े-लिखे नहीं थे। उन लोगों ने वेदाध्ययन नहीं किया था। व्रत, तपस्या आदि कुछ नहीं की थी। बस, केवल सत्सङ्ग के प्रभाव से ही वे मुझे प्राप्त कर लिये—“सत्सङ्गान्मामुपागताः” ॥७॥ भक्तिभाव मिलता है सत्सङ्ग से। इसी भक्ति-भाव के कारण ही गेपियों ने, गायों ने, वृक्ष, पर्वत आदि ने मुझे प्राप्त कर लिया था। ये लोग साधन-साध्य आदि के विषय में सर्वथा ही मूढबुद्धि थे।

१. इष्टापूर्तम्—इष्ट कहते हैं—अग्निहोत्र आदि को और पूर्त हैं—वावली, कूप, तालाब आदि बनवाना तथा अन्नदान आदि करना—

वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च। अन्नप्रदानमरामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥



जब अक्रूर जी बलराम के साथ मुझे मथुरा ले गये थे, उस समय मेरे प्रति प्रबल भाव होने के कारण गोपियाँ मेरे वियोग में विक्षिप्त-सी हो गई थीं। उस समय संसार के सारे पदार्थ उन्हें सुखी करने में असमर्थ थे—

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते, श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचिन्ताः ।

विगाढभावेन न मे वियोगतीव्राधयोऽन्यं ददशुः सुखाय ॥११/१२/१०

गोपियों की व्याकुलता का वर्णन क्या करूँ ? मेरे सान्निध्य में जो रास-रात्रियाँ उन्होंने क्षणभर के समान व्यतीत की थीं, वे ही मेरे बिना उन्हें कल्प के समान प्रतीत होने लगीं। उनका मन मुझ में इस प्रकार रम गया कि वे सब कुछ भूल गईं। मुनि-जन हजारों वर्षों की योग-साधना से जिस सिद्धि को प्राप्त करते हैं, वहीं सिद्धि गोपियों को केवल प्रेम से प्राप्त हो गई। उद्धव, कुछ गोपियाँ तो मेरे यथार्थ स्वरूप को नहीं जानती थीं। वे मुझे भगवान् न जानकर केवल प्रियतम ही समझती थीं और जारभाव<sup>१</sup> से मुझसे मिलने की आकांक्षा किया करती थी। उन साधन-ही अबलाओं ने केवल तत्सङ्ग के ही प्रभाव से मुझ पर ब्रह्म को प्राप्त कर लिया था—

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः । ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥

११/१२/१३

इसलिये उद्धव, तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति और जो पहले सुना हुआ है तथा जो आगे सुनोगे—यह सब छोड़कर पूर्णरूप से मेरी शरण में आजाओ। मैं सम्पूर्ण शरीर-धारियों की आत्मा हूँ। मेरी शरण में आजाने से तुम सर्वथा निर्भय बन जाओगे—

तस्मात्त्वमुद्भवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् । प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वं देहिनाम् । याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः<sup>२</sup> ॥

११/१३/१४-१५

उद्धव ने कहा—प्रभो, आप की बात सुनकर मैं द्विविधा में पड़ गया हूँ। पीछे (१०/१२) आपने मुझे कर्म करने की प्रेरणा दी है और अब सब-कर्तव्य-अकर्तव्य छोड़कर मेरी शरण में चले आओ—यह कह रहे हैं। पहले आप ने कर्म करने की प्रेरणा दी है और अब सब त्यागने की बात बतला रहे हैं। अब मैं संशय में पड़ गया हूँ। मेरे संशय का निवारण करने की कृपा करें।

इस पर भगवान् ने कहा—उद्धव, ईश्वर ही माया से प्रपञ्च के रूप में भास रहा है। अविद्या के सम्पर्क में आने से जीव अपने को कर्ता-भोक्ता मानने लगता है। कर्ता-भोक्ता मान लेने से ही जीव विधि-निषेध का अधिकारी हो जाता है। इसी अवस्था में शास्त्र चित्त शुद्धि के लिये कर्म का विधान करते हैं परन्तु जब चित्तशुद्ध हो जाय तो कर्म का परित्याग कर भगवान् का भजन करना चाहिये। देहाभिमान न रहने के कारण कर्म स्वयं छूट जाते हैं। उन्हें छोड़ना नहीं पड़ता।

ईश्वर से प्रपञ्च के उद्गम की बात बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि—प्रिय उद्धव, जिस परमात्मा का परोक्षरूप में वर्णन किया जाता है, वे साक्षात् अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ही हैं। उन्हीं की सत्ता से सकल संसार का सञ्चालन होता है। उनकी इच्छा के बिना प्रकृति का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। ईश्वर के प्रकट होने का क्रम यह है—शरीर के पृष्ठ-भाग में मेरुदण्ड है। उसके भीतर सुषुम्ना नाडी रहती है। सुषुम्ना नाडी में छः चक्र बने हैं। इनके नाम क्रमशः

१. जारः—जारयति धर्ममिति जारः । जो धर्म को जीर्ण कर दे, जला दे, उसे जार कहते हैं। भाषा में जार ही यार बन गया है। सम्प्रति व्यवहार में इसी को 'व्वाय-फ्रेण्ड' बोलते हैं।

२. तुलना कीजिये—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

भागवद्गीता—१८/६६॥



इस प्रकार हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र । क्रमशः इनका स्थान है—गुदामूल, लिङ्गमूल, नाभि, हृदय, कण्ठ और ध्रुव-मध्य । सबके ऊपर ब्रह्म-रन्ध्र है । आधार आदि इन चक्रों में ही वाणी-रूप से ईश्वर प्रविष्ट होकर अभिव्यक्त होता है । वाणी शब्द स्वरूप है । शब्द के दो भेद हैं—नाद और वर्ण । नाद अव्यक्त शब्द को कहते हैं, जैसे ओम् का उच्चारण करने पर शब्द होता है । वर्ण मात्रा, स्वर और ककारादि अक्षररूप है । यह शब्द का स्थूल रूप है—“मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः” ॥१७॥ नाद को ही परा वाणी कहते हैं । नाद का सञ्चार प्राण के साथ ही होता है । प्राण भी ईश्वर का ही रूप है । नादवान् प्राण अर्थात् परावाणी के साथ भगवान् आधार-चक्र में प्रविष्ट होते हैं । ऊपर की ओर उठती हुई जब यह परावाणी नाभि-स्थान में स्थित मणिपूरक चक्र में प्रवेश करती है, तब इसकी ‘मध्यमा’ संज्ञा होती है । इसे ईश्वर का मनोमय सूक्ष्म रूप कहते हैं फिर बिन्दु चक्र में प्रविष्ट होकर जब यह वाणी मुख में आती है, तब इसे वैखरी कहते हैं । वैखरी वाणी में ही ह्रस्व-दीर्घ मात्राएँ और ककारादि वर्ण स्फुट होकर प्रतीत होते हैं । यह वाणी वेद-पुराण आदि के रूप में विस्तार को प्राप्त होती है ।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि परब्रह्म ही सुषुम्णा नाडी में प्रविष्ट होकर शब्द-ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है । योगीजन इसी शब्द-ब्रह्म के सहारे परब्रह्म तक पहुँचने का प्रयास करते हैं जैसे आग आकाश में अदृश्य रूप से व्याप्त रहती है परन्तु जब काष्ठ में मन्थन किया जाता है, तब पहले उसका सूक्ष्म रूप कण आता है फिर वही वायु और घृत के संयोग से बढ़कर लपट आदि का रूप धारण कर लेती है । इसी प्रकार वाणी रूप से मेरा भी विस्तार हो जाता है—

यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।

अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ॥११/१२/१८

यह सारा संसार त्रिगुण से लेकर महाभूत-पर्यन्त मेरी ही अभिव्यक्ति है जैसे खेत में पड़ा हुआ बीज विविध रूपों में उत्पन्न होता है वैसे ही एकाकी मैं, माया के सहारे विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो रहा हूँ, प्रकाशित हो रहा हूँ । मैं ही संसार-वृक्ष के रूप में प्रकट हुआ हूँ । इस संसाररूपी वृक्ष के पाप और पुण्यरूप दो बीज हैं । अगणित वासनाएँ ही इसका मूल हैं । तीन गुण—सत्त्व, रज और तम-इसके अङ्कुर हैं । पञ्च महाभूत स्कन्ध हैं । ग्यारह इन्द्रियाँ इसकी शाखाएँ हैं । सुख और दुःख इसके दो फल हैं । इस पर जीव और ईश्वर दो पक्षी बैठें हुए हैं । विषयासक्त जीव इसका दुःखरूपी फल खाते हैं और विरक्त संन्यासी इसके सुखरूप फल का उपभोग करते हैं । संसार रूपी यह वृक्ष सूर्य-मण्डल तक फैला हुआ है । सूर्य-मण्डल का भेदन कर ऊपर जानेवाला व्यक्ति ही इससे छुटकारा पा सकता है, अन्यथा नहीं ।

इस प्रकार एक ही परमात्मा अपनी माया-शक्ति के द्वारा नाना रूपों में अभिव्यक्त हुआ है । उपासना के द्वारा प्रसन्न हुए गुरु से प्राप्त ज्ञानरूपी कुल्हाड़ी के द्वारा जीवाशय को काट कर प्राणी-परमात्मा से मिल सकता है । यही वेदों का वास्तविक रूप है । उद्धव, तुम इस प्रकार गुरुदेव की उपासनारूप अनन्य भक्ति के द्वारा अपनी ज्ञानरूपी कुल्हाड़ी को तीखी करके उससे अपने जीव-भाव को काट डालो फिर परमात्मभाव को प्राप्त कर पुनः सभी साधनों का भी परित्याग कर दो और अपने अखण्डरूप में ही स्थित हो जाओ—

विवृक्ष्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजाम् ॥११/१२/२४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥



## तेरहवाँ अध्याय

( हंसरूप से सनकादि को दिये हुए उपदेश का वर्णन )

भगवान् श्रीकृष्ण जी ने कहा—प्रिय उद्धव, सत्त्व, रज और तम ये तीनों बुद्धि । (अर्थात् प्रकृति) के गुण हैं, आत्मा के नहीं । सत्त्व को बढ़ाकर रज और तम को दबा देना चाहिये । तदनन्तर सत्त्वगुण की शान्तवृत्ति के द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियों को भी शान्त कर देना चाहिये—

सत्त्वं रजस्तम अति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः । सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥

११/१३/१

जब सत्त्व-गुण की वृद्धि होती है, तभी जीव को मेरे भक्तिरूप स्वधर्म की उपलब्धि होती है । निरन्तर सात्त्विक वस्तुओं का सेवन करने से सत्त्वगुण की वृद्धि होती है । तभी मेरी भक्ति में प्राणी का मन रमता है । जिस धर्म के पालन से सत्त्व-गुण की वृद्धि होती है, वही सबसे श्रेष्ठ धर्म है । वह धर्म रजोगुण और तमोगुण को नष्टकर देता है । उन दोनों के नष्ट होते ही अधर्म स्वतः विनष्ट हो जाता है ।

शास्त्र, जल, प्रजा, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दश वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुण की, राजसिक हों तो रजोगुण की, और तामसिक हों तो तमोगुण की वृद्धि करती हैं । इनमें से शास्त्रज्ञ महात्मा जिनकी प्रशंसा करते हैं, वे सात्त्विक हैं, जिन की निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं, वे वस्तुएँ राजसिक हैं—

तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते । निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम् ॥

११/१३/५

जब तक आत्मसाक्षात्कार तथा स्थूल, सूक्ष्म एवं उनके कारण तीनों गुणों की निवृत्ति न हो जाय, तब तक सत्त्व-वृद्धि के लिये सात्त्विक वस्तुओं का सेवन करते रहना चाहिये । उससे धर्म की वृद्धि होती है । धर्म वृद्धि से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर ही आत्म-तत्त्व का ज्ञान होता है जैसे वनाग्नि वन को भस्म कर शान्त हो जाती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि त्रिविध शरीरों और गुणों को भस्म करके स्वयं भी शान्त हो जाती है । उद्धव जी ने पूछा—संसार के व्यक्ति यह जानते हैं कि विषय विपत्तियों के घर हैं फिर भी वह इन्हीं का दिन-रात सेवन करते रहते हैं । इसका क्या कारण है ।

भगवान् ने कहा—विवेक-विहीन प्राणी के हृदय में जब 'अहम्'—मैं और मेरेपन का उदय होता है, उस समय सात्त्विक मन रजोगुण से भर जाता है । उस स्थिति में प्राणी के अन्तःकरण में कर्तव्याकर्तव्य का विवेक समाप्त हो जाता है । इस अवस्था में विषयों का चिन्तन करनेवाला मन भौति-भौति के सङ्कल्पों-विकल्पों में लीन हो जाता है फिर तो प्राणी न चाहते हुए भी बलात् पाप कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है । उससे उसकी निवृत्ति अति कठिन हो जाती है अतः मन के वेग के शान्त हो जाने पर सत्संग के द्वारा शनैःशनैः विषयों में दोष-दृष्टि रखकर मन का निग्रह करना चाहिये । इससे विषयों में उसकी आसक्ति नहीं होती । मन को विषयों से हटाने का सरलतम उपाय यह है कि व्यक्ति मेरी लीला-कथाओं का नियमित श्रवण करे, इससे मन विषयों से हटकर मुझमें लग जाता है । साधक को आसन-प्राणायाम आदि का भी अभ्यास करके अपने मन को मेरे रूप में लगाना चाहिये । पहले कभी मैंने अपने शिष्य सनकादिकों को योग का यही सार बतलाया है कि अपने मन को चारों ओर से खींच कर मुझ में लगा दो—

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिद्यैः सनकादिभिः । सर्वतो मन आकृष्य मय्यन्धाऽऽवेशयते यथा ॥

११/१३/१४



उद्धव जी ने कहा—प्रभो, आपने जिस समय, जिस रूप में सनकादि महर्षियों को जिस योग का उपदेश दिया था, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव, सनकादि महर्षि ब्रह्मा जी के मानस पुत्र हैं। उन लोगों ने अपने पिता ब्रह्मा जी से पूछा—चित्त और गुण, मन और विषय परस्पर मिले रहते हैं फिर मन को विषयों से अलग कैसे करें ?

श्रीभगवान् ने कहा—ब्रह्माजी की बुद्धि सृष्टि-कार्य में लगी हुई थी अतः ध्यान करने पर भी वे इस प्रश्न का समुचित उत्तर न दे सके—

**ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥११/१३/१८**

तब ब्रह्मा जी ने मेरा चिन्तन किया। मैं हंस का रूप धारण कर ब्रह्मा जी के पास पहुँचा। वह मेरा हंसावतार था। मुझे देखकर महर्षियों ने बड़ी विनम्रता के साथ प्रणाम किया और ब्रह्मा जी को आगे करके मुझसे पूछा कि—“आप कौन हैं”? “पप्रच्छुः को भवानिति” ॥२०॥

उद्धव, उनके इस प्रकार पूछने पर मैंने उन्हें जो उत्तर दिया, उसे तुम सुनो। मैंने कहा—ऋषियों, आपने जो यह प्रश्न किया है, वह आत्मा के सम्बन्ध में है कि शरीर के ? कारण की दृष्टि से है कि कार्य की दृष्टि से ? यदि यह प्रश्न आत्मा की दृष्टि से किया गया है, तो निरर्थक है क्योंकि आत्मा तो एक ही है। वह सर्वव्यापक है। उसमें नानात्व का व्यवहार संभव ही नहीं है। यदि शरीर की दृष्टि से किया गया है, तो भी निरर्थक है क्योंकि सभी शरीर पाञ्चभौतिक और जड़ हैं अतः इस दृष्टि से सभी समान हैं, एक हैं। इसलिये अब तुम्हीं लोग बतलाओ कि मैं किस प्रश्न को लक्ष्य कर उत्तर दूँ? सच तो यह है कि इसीलिये “आप कौन हैं” आप लोगों का यह प्रश्न केवल वाणी का व्यवहार है। विचारपूर्वक नहीं है अतः निरर्थक है—

**पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः । को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः<sup>१</sup> ॥**

११/१३/२३

मन, वाणी, बुद्धि और अन्य इन्द्रियों से जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब कुछ मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है यह सिद्धान्त आप लोग तत्त्व विचार के द्वारा समझ लीजिये। यह चित्त निरन्तर चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्त में प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीव के देह हैं—उपाधि हैं। अर्थात् आत्मा का चित्त और विषय के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है—इसलिये निरन्तर विषयों के सेवन से चित्त विषयों में आसक्त होकर तद्रूपता को प्राप्त कर लेता है। विषय भी चित्त में प्रविष्ट हो जाते हैं। मुझ परमात्मा से अपने आप को अभिन्न मानकर इन दोनों का परित्याग कर देना चाहिये—

**गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया । गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥**

११/१३/२६

मुझ आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं इसलिये अनात्म वस्तुओं के कारण जो भेद की प्रतीति होती है वह सब स्वप्न की तरह मिथ्या है। जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धि की वृत्तियाँ हैं और गुणों के अनुसार हुआ करती हैं। आत्मा इनका साक्षी है, द्रष्टा है। उनसे इसका कुछ लेना-देना नहीं है। देहाभिमान के कारण उसे इसका ज्ञान नहीं हो पाता। परन्तु जब व्यक्ति योगसाधना के द्वारा अथवा भक्ति-मार्ग का अवलम्बन

१. “वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्” ॥ (छान्दोग्य उप. ६/१/४॥



कर उक्त तीनों अवस्थाओं को छोड़कर मुझ निर्गुण तुरीय अवस्था में स्थित हो जाता है, तब उसे देह का कुछ भी भान नहीं रहता। उस समय विषय और चित्त-दोनों-का युगपत् त्याग हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्राणी देह से अनासक्त होकर प्रारब्ध कर्म के फलों का भोग करता हुआ इधर से उधर भ्रमण करता रहता है। वह एकमात्र अपने ही स्वरूप में स्थित रहता है। उस समय उसे संसार की सत्ता की अनुभूति ही नहीं होती।

ऋषियों, यह मैंने आप लोगों के समक्ष सांख्ययोग के गूढ रहस्य को संक्षिप्त रूप से प्रकट किया है। मैं साक्षात् विष्णु हूँ और हंस का रूप धारण कर आप लोगों के प्रश्न का समाधान करने के लिये ही यहाँ आया हूँ। उद्धव जी, मेरे उत्तर से सनकादि महर्षियों का सन्देह समाप्त हो गया। वे प्रसन्नता से खिल उठे। उन लोगों ने परम भक्ति के साथ मेरी पूजा और स्तुति की फिर मैं सब के साथ ब्रह्मा जी के देखते-ही-देखते अपने धाम को चला गया।

तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः। प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः॥

११/१३/४२

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥

॥ सप्ताह के छठे दिन की कथा समाप्त ॥





॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

## सप्ताह के सातवें दिन की कथा का प्रारम्भ

॥ सप्तमें दिवसे कुर्याच्छ्रीभागवतपूराणम् ॥

### चौदहवाँ अध्याय

( भक्तियोग की महिमा तथा ध्यान-विधि का वर्णन )

उद्धव जी ने कहा—ब्रह्मवादी महात्मा आत्म-कल्याण के अनेकों साधन बतलाते हैं। उनमें अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार सभी श्रेष्ठ हैं अथवा किसी एक की प्रधानता है—

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः। तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥

११/१४/१

मेरे स्वामी, आप ने तो अभी-अभी भक्तियोग को ही निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र साधन बतलाया है; क्योंकि इसी से सब ओर से आसक्ति छोड़कर मन आप में ही तन्मय हो जाता है—

भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः। निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्नमनः ॥

११/१४/२

भगवान् ने कहा प्रिय उद्धव, यह वेद-वाणी प्रलय की बेला में विलुप्त हो गई थी। पुनः सृष्टि की बेला आने पर मैंने मन से ही इसका उपदेश ब्रह्मा जी को दिया था। ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनु को उपदेश किया। मनु से भृगु, अङ्गिरा और मरीचि आदि महर्षियों ने ग्रहण किया। उनसे देव, दानव, पितर तथा मनुष्य आदि प्राणियों ने वेद-विद्या को पढ़ा। ये सभी त्रिगुणात्मक प्रकृति के थे अतः सब ने अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार वेद-वाणी की भिन्न-भिन्न व्याख्या की। अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्या करने से ही कुछ लोग तो बिना किसी विचार के वेद-विरुद्ध पाखण्डमत का अवलम्बन करनेवाले बन जाते हैं। माया से मोहित मतिवाले ये विभिन्न व्याख्याकार यम, नियम आदि साधनों से स्वर्ग आदि विभिन्न फलों की प्राप्ति बतलाते हैं किन्तु स्वर्ग आदि स्थान दुःखमय और अनित्य हैं। इनसे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो सुख प्राणियों को मेरी भक्ति से मिलता है, वह अन्य साधनों से सुदुर्लभ है। जो सब प्रकार के संग्रह-परिग्रह से रहित—अकिञ्चन हैं। जो इन्द्रियों को वश में करके समदर्शी हो गये हैं, जो मेरी प्राप्ति से ही पूर्ण सन्तुष्ट रहते हैं, उनके लिये संसार की सारी दिशाएँ आनन्द से भरी हुई हैं—

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः। मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥

११/१४/३

जिसने अपने-आप को मेरे चरणों में समर्पित कर दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है और न देवराज इन्द्र का। उसके मन में न तो सार्वभौम सम्राट् बनने की इच्छा होती है, न वह स्वर्ग से भी श्रेष्ठ रसातल का ही स्वामी होना चाहता है। योग की बड़ी-बड़ी सिद्धियों, यहाँ तक कि मोक्ष तक की भी अभिलाषा वह नहीं करता—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।

न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥११/१४/१४॥



उद्धव, मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय न ब्रह्मा हैं, न शङ्कर हैं, न बलराम हैं, न लक्ष्मी हैं यहाँ तक कि मेरा शरीर भी उतना प्रिय नहीं है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः । न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥

जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, जो संसार को अपने चित्त से बाहर निकाल कर सर्वदा मेरा ही चिन्तन करता रहता है । राग-द्वेष जिसके चित्त को छू नहीं पाते । ऐसे महात्मा के पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोच कर घूमता रहता हूँ कि उसके चरण की धूल उड़कर यदि मेरे ऊपर पड़ जाय तो मैं पवित्र हो जाऊँ । जो संग्रह-परिग्रह से परे हैं; जिनका चित्त मेरे ही प्रेम के रंग में रंग गया है, जो संसार की वासनाओं से उपरत हो चुके हैं, जो सारे प्राणियों पर अकारण प्रेम की वर्षा करते रहते हैं, किसी प्रकार की भी कामना जिनकी बुद्धि का स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्दस्वरूप का अनुभव होता है, उसे और कोई नहीं जान सकता क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षता से ही प्राप्त हो सकता है— “तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम” ॥१७॥

उद्धव जी, भक्ति के प्रभाव के कारण मेरे भक्त को संसार के विषय पराजित नहीं कर पाते हैं । मेरी भक्ति भक्त के सारे पापों को उसी प्रकार भस्म कर देती है, जैसे धधकती आग ईंधन को शीघ्र जला डालती है । संसार के अन्य साधनों से मैं उतनी सरलता से वशीभूत नहीं होता जितनी सरलता से भक्ति से होता हूँ । सत्य तो यह है कि मैं एकमात्र अनन्य भक्ति से ही पकड़ में आता हूँ । मेरी भक्ति चाण्डालों तक को पवित्र कर डालती है । सत्य और दया से युक्त धर्म तथा तपस्या से युक्त विद्या भी भक्ति-विहीन प्राणी को पवित्र नहीं कर सकती । जब तक सारा शरीर रोमाञ्चित नहीं हो जाता, चित्त पिघल कर गद्गद नहीं हो जाता, आनन्द के आँसू आँखों से छलकने नहीं लगते तथा अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भक्ति की बाढ़ में चित्त डूबने-उतराने नहीं लगता तब तक प्राणी के अन्तःकरण का मल धुल नहीं सकता—यह अटल सत्य है—

कथं विना रोम हर्षं द्रवता चेतसा विना । विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुब्दे भक्त्या विनाऽऽशयः ॥

११/१४/२३

मेरी मङ्गलमयी कथाओं के श्रवण से जिसकी वाणी प्रेम से गद्गद हो जाती है, चित्त पिघल कर मेरी ओर बहने लगता है, भक्ति के आवेश में आकर जो कभी रोता है, कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी लाज छोड़कर उच्च स्वर से गाता है और कभी नाचने लगता है—ऐसा मेरा भक्त सकल भुवन को पवित्र कर देता है—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च, मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥११/१४/२४

उद्धव जी, जैसे निरन्तर अञ्जन लगाने से आँखों का दोष मिटने पर उनमें सूक्ष्म वस्तुओं को देखने की शक्ति आने लगती है, वैसे ही मेरी परमपावन लीला-कथा के श्रवण-कीर्तन से ज्यों-ज्यों चित्त का मल धुलता जाता है, त्यों-त्यों प्राणी को सूक्ष्म वस्तु के वास्तविक दर्शन होने लगते हैं ।

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ, मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।

तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं, चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ ११/१४/२६

विषयों का ध्यान करने से चित्त विषयों में विलीन होता है और मेरा चिन्तन करने से वह मुझमें तल्लीन हो जाता है । विषयों का ध्यान करने से चित्त विषयाकार और मेरा ध्यान करने से मेरे आकारवाला बन जाता है । भक्त को चाहिये कि वह स्त्रियों और स्त्री-भक्तों का सङ्ग छोड़कर एकान्त में स्थित होकर मेरा ध्यान करे, मेरा चिन्तन करे । इससे वह जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं को लौंघकर तुरीय अवस्था में स्थित होकर परमानन्द की अनुभूति इसी जन्म में करने लगता है । भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति मेरी सच्ची भक्ति का आश्रय कर इसी जन्म में मेरा साक्षात्कार कर अपने जीवन को सफल बना सकता है ।



उद्धव जी ने पूछा—कमलनयन श्यामसुन्दर, मोक्ष की इच्छावाले व्यक्ति किस प्रकार आप के स्वरूप का ध्यान करें ? कृपाकर के इसकी प्रक्रिया बतलावें ।

इस पर श्रीभगवान् ने इस प्रकार कहा—उद्धव, साधक को चाहिये कि वह समतल भूमि पर आरामदायक आसन बिछाकर सुखपूर्वक उसपर बैठ जाय । पीठ को सीधी रखे । दोनों हाथों को गोद में रख लें और दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करे—

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् । हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥

११/१४/३२

इसके बाद पूरक, कुम्भक और रेचक तथा रेचक, कुम्भक और पूरक इन प्राणायामों के द्वारा नाड़ियों का शोधन करे । प्राणायाम की अवधि को धीरे-धीरे बढ़ाकर इन्द्रियों को वश में करे । प्राणायाम की बेल में ओंकार का भीतर-ही-भीतर उच्चारण करे, ऐसा करने से कुछ दिनों में ही प्राणवायु वश में हो जाती है । इसके बाद हृदय में ऊर्ध्वमुख कमल का ध्यान करें । कमल अष्टदल होना चाहिये । उसकी पीली-पीली सुकुमार कर्णिका (गद्दी) पर क्रमशः सूर्य, चन्द्र और अग्नि का न्यास करे फिर अग्नि के भीतर मेरे सुन्दर चतुर्भुज रूप का ध्यान करे । चरण से प्रारम्भ कर क्रमशः ऊपर-ऊपर के अङ्गों का ध्यान करते हुए मुख-कमल तक पहुँच जाय । तब मन्द-मन्द मुस्कान से सुशोभित मेरे मुख-कमल का ही अखण्ड ध्यान करता रहे—“सुस्मितं भावयेन्मुखम्” ॥४३॥

इस प्रकार ध्यान का अभ्यास करते-करते योगी के ध्याता ध्यान और ध्येय रूप त्रिपुटी का शीघ्र नाश हो जाता है फिर तो वह परम शान्ति का भागीदार बन जाता है ।

विशेष—ऊपर ध्यान की जो पद्धति बतलाई गई है, वह योगियों के लिये है । साधारण व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार किसी भी मूर्ति का हृदय में ध्यान करने का अभ्यास कर सकते हैं ।

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## पन्द्रहवाँ अध्याय

( भिन्न-भिन्न सिद्धियों का वर्णन )

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—प्रिय उद्धव, जब साधक अपने इन्द्रिय, प्राण और मन को वश में करके अपना चित्त मुझमें लगाने लगता है, मेरी धारणा करने लगता है, तब उसके सामने बहुत-सी सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः । मयि धारयतश्चेत् उपतिष्ठन्ति सियः ॥११/१५/१

इस पर उद्धव जी ने पूछा—भगवान्, किस धारणा से कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और वे धारणाएँ और सिद्धियाँ कितनी हैं ? आप ही सिद्धियों के दाता हैं अतः कृपाकर इस विषय का विवेचन कीजिये ।

तब भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—प्रिय उद्धव, धारणा-योग के प्रवीण विद्वानों ने अट्टारह प्रकार की सिद्धियाँ बतलाई हैं । उनमें आठ प्रधान हैं और दश गौण हैं । आठ प्रधान सिद्धियाँ प्रधान रूप से मुझमें ही रहती हैं । शेष दश सिद्धियाँ सत्त्वगुण के विकास से भी मिल जाती हैं । अब नामग्रहण पूर्वक उन सिद्धियों के स्वरूप को सुनो—

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः । प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ॥

गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति । एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः ॥

११/१५/४-५



इनमें देह से सम्बन्ध रखनेवाली तीन सिद्धियाँ हैं—अणिमा, महिमा और लघिमा। 'अणिमा' से सूक्ष्मातिसूक्ष्म बन जाने की क्षमता आ जाती है। इससे योगी पत्थर में भी प्रवेश कर जाता है। 'लघिमा' से योगी तूल की तरह हल्का हो जाता है। उस अवस्था में वह सूर्य की किरण को पकड़ कर सूर्य-लोक तक चला जाता है। 'महिमा' नामक सिद्धि से वह सर्वव्यापक बन जाता है। 'प्राप्ति' नामक सिद्धि से अङ्गुलि के अग्रभाग से चन्द्रतल का भी स्पर्श संभव हो जाता है। 'ईशिता' सिद्धि से सब की शक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार सञ्चालित करता है। 'वशिता' से विषयों के भोग के प्रति निर्लिप्तता और 'कामावसायिता' से अभीप्सित वस्तु को प्राप्त करने की क्षमता आ जाती है। ये आठों सिद्धियाँ मुझमें स्वभाव से ही रहती हैं और जिन्हें मैं देता हूँ उन्हीं को अंशतः प्राप्त होती हैं।

इनके अतिरिक्त और भी कई सिद्धियाँ हैं जैसे—(१) षडुर्मियों से रहित होना अर्थात् भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा और मृत्यु का प्रभाव न पड़ना, (२) बहुत दूर की वस्तु को देख लेना, (३) बहुत दूर में हो रही बात को सुन लेना, (४) मन के साथ-साथ देह की भी गति, (५) अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण कर लेना, (६) दूसरे के शरीर में प्रवेश करना, (७) इच्छानुसार शरीर छोड़ना, (८) अप्सराओं के विहार का दर्शन, (९) संकल्प की सिद्धि और (१०) अप्रतिहत आज्ञा।

इनके अतिरिक्त और भी कई सिद्धियाँ हैं जैसे—(१) भूत, वर्तमान और भविष्य की घटनाओं के ज्ञान की क्षमता, (२) द्वन्द्वसहिष्णुता—सुख-दुःख, भूख-प्यास, जय-पराजय, हानि-लाभ, मान-अपमान, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों को सहने की शक्ति, (३) दूसरे के मन की बात जान लेने की क्षमता, (४) अग्नि, सूर्य, जल आदि को स्तम्भित कर देने की योग्यता और (५) किसी से भी पराजित न होने का सामर्थ्य। इस प्रकार कुल सिद्धियों की संख्या तेईस बतलाई गई है किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि ये सिद्धियाँ धारणा के द्वारा प्राप्त होती हैं और ये साधक की साधना में विघ्नरूप बतलाई गई हैं।

अतः इनके लिये समय और शक्ति का अपव्यय न करके सम्पूर्ण सिद्धियों के दाता एवं समग्र प्राणियों में निवास करनेवाले सबके स्वामी एकमात्र मुझे ही प्राप्त करने के लिये तीव्र साधना करनी चाहिये क्योंकि अन्तर्यामी के रूप में मैं ही सर्वत्र विराजमान रहता हूँ अतः सारे सुखों और सिद्धियों का मूल मुझे ही समझकर मेरी उपासना करनी चाहिये—

सर्वासामपि सिद्धिनां हेतुः पतिरहं प्रभुः ॥ ११/१५/३५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१५॥



## सोलहवाँ अध्याय

### ( भगवान् की दिव्य विभूतियों का वर्णन )

उद्धव जी ने कहा—आप साक्षात् परब्रह्म हैं। आप आदि-अन्त-विहीन आवरणशून्य अद्वितीय तत्त्व हैं। आप सकल प्राणियों की अन्तरात्मा हैं। परन्तु अजितेन्द्रिय लोगों के लिये आप दुर्ज्ञेय हैं। आप की उपासना ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही करते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि आपके जिन रूपों और विभूतियों की उपासना से सिद्धि प्राप्त करते हैं, कृपया आप उनका वर्णन कीजिये मैं आपके चरणों की बार-बार वन्दना कर रहा हूँ—“नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम्” ॥५॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—उद्धव, कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में अर्जुन ने भी मेरी विभूतियों के बारे में मुझसे पूछा था। तुम्हें यह मालूम ही है कि उस समय अर्जुन की यह प्राकृत बुद्धि हो गई थी कि 'मैं मारने वाला हूँ और ये सब मरने वाले हैं'।



अच्छा, तो उद्धव जी, तुम भी मेरी विभूतियों के विषय में सुनो—मैं समस्त प्राणियों की आत्मा, हितैषी, सुहृद् और ईश्वर हूँ। मैं ही इन समस्त प्राणियों और पदार्थों के रूप में हूँ और इनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का कारण भी मैं ही हूँ। इस दृष्टि से मेरी उपासना करनी चाहिये। गतिशील पदार्थों में मैं गति हूँ, अपने अधीन करनेवालों में काल हूँ। सूक्ष्मों में मैं जीव हूँ। दुर्ज्यों में मैं मन हूँ, मन्त्रों में प्रणव हूँ, छन्दों में गायत्री हूँ, देवों में इन्द्र हूँ, अदिति के पुत्र आदित्यों में मैं विष्णु अर्थात् वामन हूँ, रुद्रों में नीलकण्ठ सदाशिव हूँ, ब्रह्मर्षियों में भृगु हूँ, राजर्षियों में मनु हूँ, देवर्षियों में नारद हूँ, धेनुओं में कामधेनु हूँ—

ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः । देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु ॥ ११/१६/१४  
सिद्धेश्वरों में कपिल हूँ, पक्षियों में गरुड हूँ, प्रजापतियों में दक्ष हूँ, पितरों में अर्यमा हूँ, दैत्यों में प्रह्लाद हूँ, नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ, यक्षों में कुबेर हूँ, गजराजों में ऐरावत हूँ, घोड़ों में उच्चैःश्रवा हूँ, तीर्थों में गङ्गा हूँ, धातुओं में सुवर्ण हूँ, तपने और चमकने वालों में सूर्य हूँ, मनुष्यों में राजा हूँ, दण्डधारियों में यम हूँ, सर्पों में वासुकि और नागों में शेषनाग हूँ, जंगली जानवरों में सिंह, आश्रमों में संन्यास और वर्णों में ब्रह्माण हूँ, जलाशयों में समुद्र और धनुर्धरों में त्रिपुरारिशङ्कर हूँ।

उद्धवजी, यह संभव है कि पृथिवी के परमाणुओं की गणना कभी-न-कभी पूरी कर ली जाय, किन्तु मेरी विभूतियों की गणना कभी भी संभव नहीं है। अधिक क्या कहूँ ? तुम ऐसा समझो कि जिसमें भी तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पराक्रम, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों, उसे मेरी ही विभूति समझना, उसे मेरा ही अंश समझना चाहियो।

तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः । वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स में ऽशकः ॥

११/१६/४०

उद्धव जी, मैंने तुम्हारे प्रश्न के अनुसार संक्षेप से विभूतियों का वर्णन किया है। ये सब परमार्थ वस्तु नहीं हैं। मनोविकारमात्र हैं, क्योंकि मन से सोची और वाणी से कही हुई कोई भी वस्तु परमार्थ (वास्तविक) नहीं हुआ करती। उसकी एक कल्पनामात्र की जाती है। इसलिये तुम वाणी से स्वच्छन्द भाषण रोको, मन के सङ्कल्प-विकल्प बन्द करो, प्राणों का संयमन करो, इन्द्रियों का दमन करो और स्वस्थ चित्त से चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते सर्वदा मेरा ही चिन्तन करते रहो। ऐसा करने पर फिर तुम्हारे लिये कुछ कर्तव्य बाकी नहीं रह जाता। ऐसा आचरण करनेवाला व्यक्ति कृतकृत्य हो जाता है।

मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते ॥ ११/१६/४४

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

## सत्रहवाँ अध्याय

( वर्ण-आश्रम-धर्म का निरूपण )

उद्धव ने कहा—कमलनयन श्रीकृष्ण, आपने पहले वर्णाश्रम-धर्म का पालन करनेवालों के लिये उस धर्म का उपदेश किया था, जिससे आपकी भक्ति प्राप्त होती है। अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि मनुष्य किस प्रकार से अपने धर्म का अनुष्ठान करे, जिससे आपके चरणों में उसे भक्ति प्राप्त हो जाय—

१. तुलना—यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ॥ भगवद्गीता-१०/४१॥



यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्धक्तिलक्षणः । वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥  
यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् । स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तत् समाख्यातुमर्हसि ॥

११/१७/१-२

भक्ति ही सब से महान् धर्म है । भक्ति के बिना सारे धर्मों के अनुष्ठान व्यर्थ हो जाते हैं । आपने बहुत पहले हंसरूप से अवतार ग्रहण कर ब्रह्मा जी को परम धर्म का उपदेश किया था । काल के महान् व्यवधान होने के कारण इस समय आप का वह उपदेश प्रायः भूल-सा गया है । दूसरी बात यह है कि आपके अतिरिक्त दूसरा कोई उसका वक्ता नहीं है ।

उद्धव के इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान् ने प्रशंसा करते हुए कहा—उद्धव, तुमने बहुत बढ़िया प्रश्न किया है । तुम्हारा यह प्रश्न लोगों का महान् कल्याण करनेवाला है । सावधान होकर इसका उत्तर सुनो । जिस समय इस कल्प का प्रारम्भ हुआ था, उस समय प्रथम सत्ययुग में सभी मनुष्यों का ‘हंस’ नामक एक ही वर्ण था । उस युग में सब लोग जन्म से ही कृतकृत्य होते थे इसलिये उसका एक नाम कृतयुग भी है । उस समय केवल प्रणव ही वेद था । तपस्या, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणों से युक्त मैं ही वृषरूप धारी धर्म था । उस समय भक्तजन मुझ हंस रूप शुद्ध परमात्मा की उपासना किया करते थे । सत्ययुग के बाद त्रेता युग आया उस समय मेरे हृदय से श्वास-प्रश्वास के द्वारा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद रूप त्रयी विद्या का प्रादुर्भाव हुआ । इसी त्रयी-विद्या से होता, अध्वर्यु और उद्गाता के कर्मरूप तीन भेदों वाला यज्ञ प्रकट हुआ । यज्ञ मेरा ही स्वरूप है—“यज्ञो वै विष्णुः” इति श्रुतेः । तदनन्तर मुझ विराटरूप पुरुष के मुख, बाहु, ऊरु और पाद से क्रमशः चारो वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए । उनकी पहचान उनके स्वभावानुसार और आचरण से होती है । इसी के साथ मुझ विराट् पुरुष के ही ऊरुस्थल से गृहस्थाश्रम, हृदय से ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थल से वानप्रस्थाश्रम और मस्तक से संन्यास आश्रम की उत्पत्ति हुई । इन वर्ण और आश्रमों के पुरुषों के स्वभाव भी जन्म-स्थानों के अनुसार ही उत्तम, मध्यम और अधम हो गये । शम, दम, सन्तोष आदि ब्राह्मणों का, शौर्य, तेज, धैर्य और ब्रह्मण्यता आदि क्षत्रियों का, आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मण-सेवा और धन-सञ्चय आदि वैश्यों का, त्रिवर्णों की सेवा, यथालाभ सन्तोष आदि शूद्रों का स्वभाव बन गया । अशौच, असत्य, चौर्य और अकारण कलह, काम, क्रोध आदि चाण्डालों की प्रकृति बनी । चाण्डाल चारों वर्णों के अतिरिक्त पञ्चम वर्ण के रूप में स्वीकृत हैं । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम, क्रोध और लोभ का परित्याग, प्राणियों के प्रिय तथा हित की कामना—यह सभी वर्णों का सामान्य धर्म है—

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता । भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥ ११/१७/२१

ब्रह्मचर्याश्रम—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उपनयन संस्कार के अधिकारी हैं । उपनयन संस्कार इनका दूसरा जन्म कहा गया है अतः ये द्विज कहे जाते हैं । उपनयन संस्कार से संस्कृत ब्रह्मचारी अपनी आयु के २५ वर्ष तक गुरुकुल में निवास कर वेदाध्ययन करे, ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं—एक उपकुर्वाण और दूसरा नैष्ठिक । उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वह है जो विवाह पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करता है । नैष्ठिक ब्रह्मचारी आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करता है । ब्रह्मचारी का यह कर्तव्य है कि वह गुरुकुल में निवास करते हुए तन, मन से गुरु-सेवा कर वेदाध्ययन करे । मेखला, मृग-चर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु और अक्षमाला<sup>१</sup> धारण करे । शिर पर जटा रखे और कुश लिये रहे ।

१. रुद्राक्ष की माला अक्षमाला कही जाती है । गौतमीतन्त्र में ‘अ’ से लेकर ‘क्ष’ पर्यन्त वर्णों की माला को अक्षमाला कहा गया है । सभी कर्मों में पचास मणियों की माला पर जप का विधान किया गया है ।—

पञ्चाशन्मणिर्माला विहिता सर्वकर्मसु । अकारादिक्षकारन्ता मणिमाला प्रकीर्तिता ॥ गौतमीतन्त्र ॥



ब्रह्मचारी को चाहिये कि वह स्नान, भोजन, हवन और जप की बेला में मौन रहे, नख-रोम न काटे, जान-बूझकर वीर्यपात न करे, यदि कभी ऐसा हो जाय तो स्नान कर गायत्री मन्त्र का जप करे। पवित्रता से रहे। नित्य सन्ध्या-वन्दन करे अपने गुरु को ईश्वर का रूप समझे। क्योंकि गुरु को सर्वदेवमय बतलाया गया है—‘सर्वदेवमयों गुरुः’ ॥२७॥ कभी गुरु का अपमान न करे। गुरु को मनुष्य समझकर उनके गुणों में कभी दोष न निकाले। उनसे किसी प्रकार की मांग न करे। भिक्षान्न गुरु को समर्पित कर दे फिर उनकी आज्ञा से भोजन करे। सर्वदा छोटे की तरह आचरण करे। विद्यासमाप्ति-पर्यन्त उनकी सेवा करे।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी का धर्म यह है कि यदि उसे वेदों के निवास-स्थान ब्रह्मलोक में जाने की इच्छा हो तो वह गुरु को दक्षिणा के रूप में अपना शरीर ही अर्पित कर दे। गुरु में, आत्मा में और सब में मुझ परमात्मा को ही देखे—‘अपृथग्धीरूपासीत’ ॥३२॥ नैष्ठिक ब्रह्मचारी को चाहिये कि वह स्त्रियों से सर्वदा दूर रहे, उनसे बातचीत, हँसी-मजाक न करे, स्त्रियों के सङ्गी कामी पुरुषों से भी बात न करे, पवित्रता का सर्वदा ध्यान रखे। सारे प्राणियों में मेरी धारणा करे। इस प्रकार जीवन निर्वाह करते हुए नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपने-आप ही मेरा भक्त बन जायेगा। तीव्र तपस्या के कारण उसके कर्म संस्कार भस्म हो जाते हैं और वह मेरा भक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेता है।

गृहस्थाश्रम—प्रिय उद्धव, यदि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य ग्रहण करने की इच्छा न हो और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता हो, तो सविधि वेदाध्यायन समाप्त करके आचार्य को दक्षिणा देकर उनकी अनुमति लेकर समावर्तन संस्कार करावे—स्नातक बनकर ब्रह्मचर्याश्रम छोड़ दे फिर चाहे वह संन्यास ग्रहण करे अथवा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

हृदय—‘प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तमः’ ॥३८॥ यहाँ ‘द्विजोत्तमः’ पद से यह सूचित किया गया है कि—संन्यास लेने का अधिकार एकमात्र ब्राह्मण को ही है, क्षत्रिय अथवा वैश्य को नहीं।

समावर्तन के अनन्तर ब्रह्मचारी गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर अपने अनुरूप शास्त्रोक्त लक्षणों से सम्पन्न कुलीन कन्या से विवाह करे। कन्या समान वर्ण की हो और अवस्था में छोटी हो। यज्ञ-यागादि, अध्ययन और दान करने का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को समानरूप से है परन्तु दान लेने, पढ़ाने और यज्ञकराने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही है। क्षत्रिय आपत्काल में भी दान नहीं ले सकता। दान लेना अवरुद्ध है अतः ब्राह्मण अध्यापन और यज्ञ कराने के द्वारा ही अपना जीवन-निर्वाह करे यदि इन दो वृत्तियों में भी उसे दोष दिखलाई पड़े तो शिलोच्छ्वृत्ति से अपना निर्वाह करे। ब्राह्मण आपत्काल में क्षत्रिय और वैश्य की वृत्ति को ग्रहण कर सकता है किन्तु नीच-सेवा कभी न करे—‘न श्ववृत्त्या कथञ्चन’ ॥४७॥

पुत्र की भाँति प्रजा की रक्षा करनेवाला क्षत्रिय राजा स्वर्ग में इन्द्र के साथ सुख भोगता है। क्षत्रिय आपत्ति-काल में वैश्य-वृत्ति को स्वीकार कर सकता है, किन्तु नीच की सेवा न करे। आपत्तिकाल में वैश्य शूद्र की वृत्ति सेवा-धर्म को ग्रहण कर सकता है और शूद्र चटाई आदि बुनकर अपनी जीविका चला सकता है। परन्तु ये सारी बातें आपत्तिकाल के लिये ही हैं। गृहस्थ व्यक्ति का यह परम धर्म है कि वह यथा समय यथाशक्ति देवता, ऋषि और पितरों का श्राद्ध तथा पूजन करता रहे, अतिथियों का स्वागत करे, भोजन की बेला में समागत अतिथि को भोजन कराना गृहस्थ का परम धर्म है।

गृहस्थ व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने आश्रितों का, परिवारजनों का भरण-पोषण अवश्य करे किन्तु ऐसा करते हुए उसे सर्वदा यह ध्यान रखना चाहिये कि परिवारजनों का यह सङ्गम वैसा ही है, जैसा किसी प्याऊँ पर कुछ यात्रीजनों का होता है जो बाद में अपने अलग-अलग रास्ते से चले जाते हैं अतः अनासक्त भाव से ही घर-परिवार के साथ व्यवहार करना चाहिये। गृह में अतिथि-भाव से ही निवास करे। घर-परिवार में ममता न करे—

इत्थं परिमृशन् मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन् । न गृहेरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः ॥११/१७/५४



जो व्यक्ति गृहस्थी में अहन्ता और ममता के साथ निवास करता है, भोगों तथा परिवार में आसक्त रहता है, वह अशान्त रहकर जीवन व्यतीत करता है और मरकर घोर नरक में जाता है—“मृतोऽन्यं विशते तमः” ॥५८॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

## अठारहवाँ अध्याय

( वानप्रस्थ और संन्यासी के धर्म )

वानप्रस्थ आश्रम—भगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव, यदि गृहस्थ मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम में जाना चाहे, तो अपनी पत्नी को पुत्रों के हाथों सौंप दे अथवा अपने साथ ही ले ले और फिर शान्तचित्त से अपनी आयु का तीसरा भाग<sup>१</sup> वन में ही रहकर व्यतीत करे—

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्या न्यस्य सहैव वा । वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥११/१८/९

वानप्रस्थ संन्यास आश्रम से भी कठिन है। वानप्रस्थ आश्रम वन में व्यतीत किया जाता है। वानप्रस्थी को चाहिये कि वह वन में रहकर वहाँ उत्पन्न कन्दमूल<sup>२</sup> और फल से अपनी जीविका का निर्वाह करे। वस्त्र की जगह वृक्षों की छाल पहिने अथवा घास-पात और मृगछाला से ही अपने गुप्ताङ्गों को ढक ले—

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मध्येर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् । वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च ॥ ११/१८/२

केश, नख, रोम, दाढ़ी-मूछ आदि न कटावे। दाँतों को भी रगड़कर अधिक चमकावे नहीं। शरीर-प्रसाधन से दूर रहे। त्रिकाल स्नान करे। पृथ्वी पर शयन करे। ग्रीष्म में पश्चाग्नि तापे। वर्षा में मूसलाधार वर्षा को सहन करे। जाड़े में आकण्ठ जल में खड़े होकर तप करे। इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए जीवन व्यतीत करे। कन्द आदि को आग में भूनकर खा ले अथवा समयानुसार पके हुए फल आदि के द्वारा ही काम चला ले। उन्हें कूटने की आवश्यकता पड़े तो ओखली में या सिल पर कूट ले अथवा दाँतों से ही चबा-चबाकर खा ले। जीवन-निर्वाह के लिये स्वयं ही कन्द-फल आदि का आहरण करना चाहिये। नीरोग अवस्था में दूसरे के लाये हुए पदार्थों का सेवन न करे। अग्निहोत्र आदि नियमों का गृहस्थ की ही भाँति विधि-विधान से यथासमय पालन करना चाहिये। वानप्रस्थी जब अपने आश्रमोचित नियमों का पालन करने में असमर्थ हो जाय, वृद्धावस्था के कारण उसका शरीर काँपने लगे तब यज्ञाग्नियों को भावना के द्वारा अपने अन्तःकरण में आरोपित करके और अपना मन मुझमें लगाकर अग्नि में प्रवेश कर जाय। अग्निप्रवेश का यह विधान उनके लिये है, जो संसार से विरक्त नहीं हुए हैं।

संन्यासाश्रम—यदि वानप्रस्थी का मन इहलोक और परलोक-दोनों के भोगों से पूर्ण विरक्त हो जाय तो उसे संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिये अन्यथा नहीं। इस समय के प्राणियों के लिये संन्यास अति कठिन साधन है। अतः सबको इसे नहीं ग्रहण करना चाहिये। सब कुछ परित्याग कर संन्यास लेने का विधान है। जब ब्राह्मण संन्यास लेने लगता है तब देवतालोग स्त्री-पुत्रादि सगे सम्बन्धियों का रूप धारण करके संन्यास-ग्रहण करने में विघ्न डालते

१. मनुष्य की आयु की कल्पना सौ वर्ष की की गई है—“जीवेम शतम्” अतः २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम, २५ वर्ष तक गृहस्थाश्रम, ५१ से ७५ तक वानप्रस्थ और ७६ से १०० वर्ष तक संन्यास की अवधि समझनी चाहिये।

२. ‘भर्जनसापेक्षः कन्दः’ जो भूनकर खाया जाय उसे कन्द कहते हैं, जैसे— शकरकन्द और सूरण, आलू आदि और जो बिना भूने खाया जाय उसे मूल कहते हैं, जैसे—मूली आदि।



हैं। वे लोग सोचते हैं कि—अरे, यह तो हम लोगों को लाँघकर परमात्मा को प्राप्त होने जा रहा है। अतः सावधान होकर ही संन्यास लेने का निश्चय करना चाहिये।

संन्यास की अवस्था में व्यक्ति कौपीन एवं दण्ड-कमण्डलु के अतिरिक्त अपने पास दूसरी वस्तु न रखे। यह नियम आपत्तिकाल को छोड़कर सर्वदा के लिये है। उसे चाहिये कि वह नेत्रों से देखकर ही धरती पर पैर रखे, वस्त्र से छानकर ही जल पिये, सत्य-वचन ही बोले और सोच-विचार कर ही मन को पवित्र रखते हुए कार्य करे—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् । सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥११/१८/१६  
वाणी के लिये मौन, शरीर के लिये निश्चेष्ट स्थिति और मन के लिये प्राणायाम दण्ड है। प्रिय उद्धव, जिसके पास ये तीनों दण्ड नहीं हैं, वह बाँस के दण्ड धारण करने से दण्डी स्वामी नहीं हो जाता है—

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् । न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः ॥

११/१८/१७

संन्यासी को चाहिये कि जातिच्युत और गोघाती आदि पतितों को छोड़कर शेष चारों वर्णों से भिक्षा मांगकर खाये। पहले से अनिश्चित सात घरों से भिक्षा में जो कुछ मिल जाय उसे लेकर बस्ती से बाहर जाकर, गो-ग्रास आदि निकाल कर जो बचे उसे मौन होकर आनन्द से खा ले।

हृदय—श्रीधर स्वामी ने इस स्थल की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ब्राह्मणों में ही जो चार वर्ण के लोग हैं, उन्हीं के घर से दण्डी संन्यासी भिक्षा ग्रहण करे, न कि चारों वर्णों से। किन्तु श्लोक की प्रासङ्गिकता से ऐसा भाव अभिव्यक्त नहीं होता ॥

संन्यासी को चाहिये कि वह आसक्ति से रहित होकर इन्द्रियों को वश में करके अकेले ही विचरण करे। एकान्त में निवास करे। अन्तःकरण में परमात्मा का चिन्तन करे। जगत् को स्वप्न की तरह समझ कर उसमें आसक्ति न करे। ज्ञानी, इह लोक और परलोक के सुखों से विरक्त मुमुक्षु, वस्तुतः मोक्ष की अभिलाषा से भी रहित, मेरा भक्त किसी आश्रम की मर्यादा से बद्ध नहीं है। वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिह्नों को छोड़-छाड़कर, वेद-शास्त्र के विधि-निषेधों से परे होकर, स्वच्छन्द विचरण करे। वेदों के कर्मकाण्ड की व्याख्या से अपने को दूर रखे, पाखण्ड न करे, तर्क-वितर्क से बचे, वाद-विवाद में किसी का पक्ष न ले, कभी भूलकर भी किसी का अपमान न करे और न किसी से वैर-भाव ही रखे यदि कभी समय पर भोजन न मिले तो दुःखी नहीं होना चाहिये। प्रारब्धवश जो जब जितना मिल जाय उसीसे सन्तोष करना चाहिये।

प्रिय उद्धव जी, जिस संन्यासी ने मन के सहित अपनी पाँचों इन्द्रियों पर विजय नहीं पा ली है, जिसके इन्द्रिय रूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथी बिगड़े हुए हैं, जिसके हृदय में न ज्ञान है और न वैराग्य है, ऐसा व्यक्ति त्रिदण्डी का वेश धारण कर अपना पेट पालता है और संसार के साथ ही मुझे भी धोखा देता है। इस प्रकार के संन्यासी की वासनाएँ अभी क्षीण नहीं हुई हैं अतः वह इह लोक और परलोक दोनों से ही च्युत हो जाता है—

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः । ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥

सुरानात्मानमात्मस्थं निहुते मां च धर्महा । अविपक्वकषायोऽस्मादमुस्माच्च विहीयते ॥

११/१८/४०-४१

संन्यासी का मुख्य धर्म है—शान्ति और अहिंसा। वानप्रस्थी का मुख्य धर्म है—तपस्या और भगवद्भाव। गृहस्थ का मुख्य धर्म है—प्राणियों की रक्षा और यज्ञ-याग तथा ब्रह्मचारी का मुख्य धर्म है आचार्य की सेवा।

इस प्रकार जो धर्मपूर्वक मेरी आराधना करता है, उसके हृदय में मेरी भक्ति-लता दिनानुदिन बढ़ती रहती है। मेरी भक्ति ज्ञान-वैराग्य की जननी है। इन तीनों की साधना से व्यक्ति अतिशीघ्र मुझे प्राप्त कर लेता है। उद्धव जी,



आपने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया और यह बतला दिया कि स्वधर्म का पालन-कर्ता भक्त मुझ परब्रह्म को किस प्रकार प्राप्त कर लेता है—

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम् । यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परम् ॥ ११/१८/४८

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

## उन्नीसवाँ अध्याय

(भक्ति, ज्ञान और यम-नियमादि साधनों का संक्षिप्त वर्णन)

ज्ञानयोग—श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव जी, जो विद्या और अध्ययन से सम्पन्न हैं, वे सम्पूर्ण प्रपञ्च को, द्वैत को, मायामात्र तथा मेरी शक्ति का विलास समझ कर अपने सम्पूर्ण ज्ञान को भी मुझ में ही विलीन कर देते हैं—  
“मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत्” ॥ १॥ ज्ञानी व्यक्ति का परमप्रिय पदार्थ मैं ही हूँ। उसका साधन, साध्य, स्वर्ग, अपवर्ग और नरक—सब कुछ मैं ही हूँ। मेरे अतिरिक्त वह किसी भी पदार्थ से प्रेम नहीं करता—

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः । स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मद्गते प्रियः ॥ ११/१९/२  
जो ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न सिद्ध पुरुष हैं, वे ही मेरे वास्तविक रूप को ठीक-ठीक जानते हैं इसीलिये ज्ञानी व्यक्ति मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान के द्वारा निरन्तर मुझे अपने अन्तःकरण में धारण करता है। ज्ञानी अपने ज्ञान से मुझ परमात्मा का भरण-पोषण करता है—

ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनाऽसौ बिभर्ति माम् ॥ ११/१९/३

तत्त्व-ज्ञान के लेशमात्र से जो सिद्धि प्राप्त होती है वह तपस्या, तीर्थ, जप, दान, अथवा अन्तःकरण शुद्धि आदि से भी नहीं मिलती है। इसलिये प्रिय उद्धव, तुम ज्ञान के सहित अपने आत्मस्वरूप को जान लो और फिर ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न होकर भक्तिभाव से मेरा भजन करो। ज्ञान-विज्ञान के द्वारा ही बड़े-बड़े मुनि-जन मुझे प्राप्त कर चुके हैं। उद्धव जी, विकार, प्रपञ्च तो माया का खेल है। जो वस्तु न आदि में होती है और न अन्त में, वह मध्य में भी नहीं होती है लेकिन जो वस्तु आदि में भी है, अन्त में भी है, वह मध्य में भी रहती है—जैसे आत्मा। इस तथ्य को इस प्रकार भी समझ सकते हैं—जैसे घड़े के आदि—अन्त में मिट्टी है, वैसे ही बीच में भी मिट्टी ही है और यदि आदि-अन्त में घड़ा नहीं है, तो वह बीच में भी नहीं है। वह एकदम मिट्टी ही है। प्रपञ्च की प्रतीति भ्रम के कारण होती है, जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम। इसी को विवर्त के नाम से जाना जाता है।

उद्धव जी ने कहा—मेरे स्वामिन्, मैं इस संसार में त्रितापों से सन्तप्त हो रहा हूँ अतः आप अपने भक्ति से परिपूर्ण अमृत वचनों के द्वारा मेरा सन्तर्पण करें, मुझे तृप्त करें।

उद्धव की प्रार्थना को सुनकर भगवान् ने कहा—उद्धव जी, महाभारत के अवसान पर युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से ऐसा ही प्रश्न पूछा था। भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर के प्रश्नों का जो उत्तर दिया था, वहीं मैं तुम्हें सुना रहा हूँ—  
“तानहं तेऽभिधास्यामि” ॥ १३॥ इस में ज्ञान-वैराग्य आदि की सारे बातें समाहित हैं।

उद्धव जी, पितामह ने बतलाया था कि प्रकृति आदि अट्ठाईस तत्त्वों में जो कारण तत्त्व है, वह कार्य में अनुगत रहता है। इन सब तत्त्वों में जो एक अनुगत तत्त्व होता है, उसी का नाम ज्ञान है। उसके बिना दूसरी वस्तु नहीं होती। इस बात को जान लेने का नाम ही विज्ञान है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि—पहले हम देखते थे कि संसार के सारे पदार्थ एक से अनुगत हैं, परन्तु जब हम समझने लगते हैं कि ज्ञाप्य और ज्ञापक का भेद नहीं है,



सब कुछ एक ही परमात्मा ब्रह्म है, तब उसी का नाम विज्ञान हो जाता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि आत्मा 'सत्' है और जगत् 'असत्' है। यही बात श्रुति, प्रमाण-चतुष्टय, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य और अनुमान से भी सिद्ध होती है अतः विवेकी व्यक्ति इस प्रपञ्च से ही विरक्त हो जाता है। इसमें आसक्त नहीं होता—

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्। प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते ॥

११/१९/१७

इस लोक की भाँति ब्रह्मलोकपर्यन्त सारे लोक और उनके भोग नश्वर हैं, दुःखस्वरूप हैं, ऐसा दृढ निश्चय करके विवेकी व्यक्ति विविध कल्पनामय अथवा शब्दमात्र प्रपञ्च से विरक्त हो जाता है। वह आनन्द के सुधा-सागर परमात्मा को ही प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

**भक्तियोग—उद्धव,** भक्तियोग का वर्णन मैंने तुम्हें पहले ही सुना दिया है किन्तु यहाँ मैं तुम्हें भक्ति प्राप्त होने का श्रेष्ठ साधन बतला रहा हूँ। कल्याणकारी व्यक्ति को चाहिये कि वह सर्वप्रथम मेरी मङ्गलकारिणी कथा सुनने का दृढ अभ्यास करे। मन्दिर में जाकर मेरी मूर्ति की आराधना करे, उसके सामने लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे, मेरे भक्तों की पूजा मुझसे बढ़कर करे—“मद्भक्तपूजाभ्यधिका” ॥२१॥ सब प्राणियों में मुझ परमेश्वर का ही दर्शन करे। मेरे नामों का सादर सङ्कीर्तन करे। अपना सब मुझे, यहाँ तक की अपना शरीर भी मुझे समर्पित कर दे। उद्धव, मेरे निमित्त किया गया पाप धर्म हो जाता है और मेरा अनादर कर किया गया धर्म भी अधर्म बन जाता है<sup>१</sup>। जो मनुष्य धर्मों का पालन करते हुए मेरे प्रति आत्म-निवेदन कर देते हैं, उनके हृदय में मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय होता है। भक्ति के प्राप्त हो जाने पर फिर कोई प्राप्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता।

आगे अपने वक्तव्य का सार प्रस्तुत करते हुए भगवान् कहते हैं—उद्धव, जिससे मेरी भक्ति हो, वही धर्म है; जिससे ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार हो, वही ज्ञान है; विषयों में अनासक्ति ही वैराग्य है और अणिमा आदि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं—

धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्। गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादिकम् ॥

११/१९/२७

**कर्मयोग—**इसके बाद उद्धव जी ने छब्बीस प्रश्नों को एक साथ ही पूछ दिया, जिनका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—उद्धव जी, अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), असङ्गता, लज्जा, असञ्चय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य (धर्म में स्थिरता), क्षमा और अभय—ये बारह ‘यम’ हैं। बाह्य आभ्यन्तर दो प्रकार का शौच, जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, मेरी पूजा, तीर्थ-यात्रा, परोपकार, सन्तोष और गुरु-सेवा—ये बारह नियम हैं। यम-नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति भोग और मोक्ष—दोनों का अधिकारी होता है। बुद्धि का मुझ में लगजाना ही शम है। इन्द्रियों के संयम का नाम ‘दम’ है। दुःख सहन करना तितिक्षा है। जिह्वा और जननेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना ‘धैर्य’ है। किसी से द्रोह न करना, सब को अभय देना ‘दान’ है। कामनाओं का त्याग ही ‘तप’ है। वासना-विजय ही शौर्य है। सर्वत्र परमात्माका दर्शन ही ‘सत्य’ है। सत्य और मधुर वचन ही ‘ऋत’ है। कामों में अनासक्ति ही ‘शौच’ है। कामनाओं का त्याग ही सच्चा ‘संन्यास’ है। धर्म ही ‘धन’ है। परमेश्वर ही ‘यज्ञ’ है। ज्ञान का उपदेश ही ‘दक्षिणा’ है। प्राणायाम ही श्रेष्ठ ‘बल’ है। मेरा ऐश्वर्य ही ‘भग’ है। मेरी भक्ति ही उत्तम ‘लाभ’ है। भेद-निवृत्ति ‘विद्या’ है। पाप में प्रवृत्ति का न होना ही ‘ही’ (लज्जा) है। निरपेक्षादि गुण ही ‘ही’ हैं। दुःख-सुख का अभाव ही

१. साष्टाङ्ग प्रणाम की विधि—

दोर्ध्या पदाभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा। मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग इरितः ॥

२. देखिये इस स्थल की वंशीधरी टीका—

मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्मय जायते। मामनादृत्य धर्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः ॥



‘परम सुख’ है। विषयों की अभिलाषा करना ‘दुःख’ है। बन्ध-मोक्ष का ज्ञाता ‘पण्डित’ है। देह में अहंबुद्धि रखनेवाला ‘मूर्ख’ है। निवृत्ति-मार्ग ही ‘सुमार्ग’ है। चित्त की बहिर्मुखता का नाम ‘कुमार्ग’ है। सत्त्वगुण की वृद्धि ‘स्वर्ग’ और तमोगुण की वृद्धि ‘नरक’ है। मैं ही सब का गुरु और सच्चा ‘भाई-बन्धु’ हूँ। मानव-शरीर ही सच्चा ‘घर’ है। सद्गुणी ही सच्चा ‘धनी’ है। असन्तुष्ट दरिद्र है। अजितेन्द्रिय ‘कृपण’ है। विषयों में अनासक्त ही समर्थ, स्वतन्त्र और ‘ईश्वर’ है। विषयासक्त ही ‘अनीश्वर’ (परतन्त्र) है।

प्रिय उद्धव, तुमने जिन प्रश्नों को किया था, उनका मैंने उत्तर दे दिया। ये सब मोक्ष-मार्ग के सहायक हैं। अधिक कहने से क्या लाभ ? गुण-दोष का अति संक्षिप्त उत्तर यह है कि—किसी के गुणों और दोषों पर दृष्टि रखना ही ‘दोष’ है और इन पर दृष्टि का न जाना ही ‘गुण’ है—

किं वणितिन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः । गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥११/११/४५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## बीसवाँ अध्याय

( ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग )

उद्धव ने कहा—प्रभो, वेद आप की वाणी है। वेद विधि-निषेधमय है। वे कुछ कर्मों का विधान करते हैं और कुछ का निषेध करते हैं। सारे वर्णों और आश्रमों के विभाग, उनके धर्म और स्वर्ग, नरक आदि का बोध भी वेदों से ही होता है। प्रभो, आप की वाणी वेद ही सब के मार्ग-दर्शक हैं। स्वर्ग, मोक्ष आदि अदृष्ट वस्तुओं का ज्ञान वेद से ही होता है। गुण और दोषों में भेद-दृष्टि आप की वाणी वेद से ही प्राप्त होती है परन्तु प्रश्न तो यह है कि आपकी वाणी ही भेद का निषेध भी करती है। यह विरोध देखकर भ्रम हो रहा है। एक ही शास्त्र भेद-दृष्टि का प्रतिपादन करे और वही उसका निषेध भी करे—यह बात तो तर्क-संगत नहीं प्रतीत होती। आप कृपाकर मेरे इस संशय का निवारण करें। श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव, मानव की कल्याण-कामना से, अधिकारी के भेद से मैंने ही तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है। ये तीनों योग हैं—ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग। मानव के परम कल्याण के साधन केवल ये ही तीन साधन हैं। इनके अतिरिक्त और कोई उपाय और कहीं नहीं है।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

११/२०/६

उद्धव जी, जो लोग कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञान-योग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, कर्मों में दुःख-बुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्म-योग के अधिकारी हैं। जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त ही हैं तथा पूर्वजन्म के किसी शुभ कर्मवश मेरी लीला-कथा आदि में उनकी श्रद्धा हो गई है, वे भक्ति-योग के अधिकारी हैं। उन्हें भक्ति-योग के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार विरक्त का ज्ञान में अधिकार, पूर्णतः संसार में आसक्त का कर्म में अधिकार और जो न पूर्ण विरक्त हैं और न पूर्ण आसक्त ही हैं, ऐसे व्यक्ति का भक्ति-योग में अधिकार है। इन त्रिविध अधिकारियों में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है।



प्राणी को कर्म तो तभी तक करना चाहिये जब तक उसे कर्ममय जगत् और कर्म के फलों से विरक्ति न हो जाय अथवा जब तक मेरी लीला-कथा के श्रवण-कीर्तन आदि में श्रद्धा न हो जाय—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

१२/२०/९

काम्य एवं निषिद्ध कर्मों से नित्य बचना चाहिये । अपने धर्म का आचरण करनेवाला व्यक्ति निष्काम-भाव से कर्म करता हुआ न स्वर्ग जाता है और न नरक ही । स्व-धर्म के प्रभाव से शनैः शनैः वह विशुद्ध ज्ञान अथवा मेरी विशुद्ध भक्ति का अधिकारी बन जाता है—“ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्धक्तिं वा यदृच्छया” ॥११॥

मानव शरीर अति दुर्लभ है । एकमात्र यह शरीर ही ज्ञान और भक्ति का साधन है । स्वर्ग अथवा नरक इसके लक्ष्य नहीं हैं । ऐसा सोच कर मृत्यु के पहले ही सावधान होकर मुक्ति के लिये प्रयास करना चाहिये । यह शरीर एक वृक्ष है । इसमें रहनेवाला जीव ही पक्षी है । यमराज के दूत प्रतिक्षण इस शरीर को काट रहे हैं । जैसे कटते हुए वृक्ष को देखकर उस पर निवास करनेवाले पक्षी उड़ जाते हैं, वैसे ही देहाभिमान का परित्याग कर मुक्ति के प्रयत्न में जुट जाना चाहिये । भगवान् के भजन में लग जाना चाहिये । मनुष्य को जो शरीर मिला है, वह एक नैया है । भगवान् की कृपा से ही इसकी प्राप्ति होती है । सद्गुरु ही इसका कर्णधार है । स्मरणमात्र से ही मैं अनुकूल वायु के रूप में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूँ । इस अतिदुर्लभ शरीर को पाकर भी जिसने संसाररूपी सागर को नहीं पार किया, वह आत्मघाती है, अपना ही विनाशक है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥ ११/२०/१७

मन अति चञ्चल है । मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है अतः अष्टाङ्ग योग के सहारे एवम् अध्यात्म-चिन्तन के द्वारा शनैः शनैः मन को वश में करने का प्रयास करना चाहिये । मन जब धीरे-धीरे वश में आ जाय तब उसे मेरी अर्चना-पूजा में लगा देना चाहिए ऐसा करने से साधक का देहाभिमान छूट जाता है और वह मृत्यु के भय से पार पा जाता है । अपने-अपने अधिकार में जो निष्ठा है, वही गुण कहा गया है जैसे भक्त का भक्ति में और योगी का योग में स्वतः अधिकार है । यही निष्ठा है यही गुण है । अपने अधिकार से बाहर जो प्रयास है, चेष्टा है, शास्त्रों के अनुसार वही दोष है ।

भगवान् का कथन है कि जब भक्त मेरी लीला-कथा आदि के श्रवण से मुझे अपने हृदय में धारण कर लेता है, तब उसके हृदय की सारी वासनाएँ, अपने संस्कारों के साथ, सर्वदा के लिये समाप्त हो जाती हैं । जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ काम नहीं रहते और जहाँ काम रहते हैं वहाँ मैं नहीं रहता—जैसे रवि और रजनी एक साथ नहीं रह सकते<sup>१</sup> । जिस साधक के हृदय में आकर मैं बैठ जाता हूँ, उसके हृदय की गाँठ छूट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और वासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं फिर उसे आत्म-साक्षात्कार करने में विलम्ब नहीं लगता—

भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥

११/२०/३०

भक्ति की विलक्षण महिमा—जो भक्त मुझ भगवान् के चिन्तन में निमग्न रहता है, उसके लिये ज्ञान अथवा वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती, उसका पूर्ण कल्याण मेरी भक्ति से ही सम्पन्न हो जाता है । कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म, और दूसरे साधनों से जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोग के प्रभाव से ही, यदि चाहे तो, अनायास प्राप्त कर लेता है । किन्तु वह तो मेरी सेवा के अतिरिक्त कुछ चाहता ही नहीं । यहाँ तक कि उसे मोक्ष की भी कामना नहीं होती—“कैवल्यमपुनर्भवम्” ॥३४॥

१. जहाँ राम तहाँ काम नहीं, जहाँ काम नहीं राम । तुलसी दोउ नहीं रहि सकाहीं, रवि रजनी इक ठाम ॥ रामचरितमानस ॥



प्रकृति से परे मुझ परमात्मा को प्राप्त हुआ मेरा भक्त वेदों के विधि-निषेध से भी ऊपर उठ जाता है। अतः उसे पाप-पुण्य का भी भय नहीं रहता। प्रिय उद्धव, इस प्रकार जो लोग मेरे बतलाये हुए इन ज्ञान, भक्ति और कर्म-मार्गों का आश्रय लेते हैं, वे मेरे परम कल्याण-स्वरूप धाम को प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे परमतत्त्व को जान लेते हैं—

एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः । क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः ॥

११/२०/३७

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२०॥

## इक्कीसवाँ अध्याय

( देश, काल आदि के अनुसार कामी पुरुषों के गुण-दोषों का विवेचन )

श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव, मेरी प्राप्ति के तीन मार्ग हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। जो इन्हें छोड़कर चञ्चल इन्द्रियों के द्वारा क्षुद्र भोग भोगने में ही लीन रहते हैं, वे बार-बार जन्मते और मरते रहते हैं—

य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् । क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥

११/२१/१

अपने-अपने अधिकार के अनुसार धर्म में दृढ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना दोष है। कहने का भाव यह है कि गुण और दोष दोनों की व्यवस्था अधिकार के अनुसार की जाती है, किसी वस्तु के अनुसार नहीं। काल, स्थान आदि के अनुसार वस्तु के गुण-दोष परिवर्तित होते रहते हैं—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः । विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥

११/२१/२

वस्तुओं के समान होने पर भी शुद्धि-अशुद्धि, गुण-दोष और शुभ-अशुभ आदि का जो विधान किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ का ठीक-ठीक निरीक्षण-परीक्षण हो सके और उसमें सन्देह उत्पन्न करके कि यह योग्य है कि अयोग्य, अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को नियन्त्रित—सङ्कुचित किया जा सकता है।

धर्म के लिये शुद्धि-अशुद्धि है, व्यवहार के लिये गुण-दोष है और जीवन-यात्रा के लिये शुभाशुभ है। वेद और धर्मशास्त्र प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति-स्वेच्छाचारिता को नियन्त्रित कर उसे सन्मार्ग पर लाने के लिये हैं। सकल ब्रह्माण्ड के प्राणियों का शरीर पञ्च महाभूतों से बना हुआ है। सब में एक ही परमेश्वर का निवास भी है। इस दृष्टि से सारे प्राणी, सकल पदार्थ समान हैं फिर भी वेद-शास्त्रों ने इन्हें वर्ण और आश्रम आदि विभागों में इसलिये विभक्त कर दिया है कि वे अपनी वासनामूलक प्रवृत्तियों को नियन्त्रित कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध कर सकें। देश, काल, फल, निमित्त, अधिकारी और धान्य आदि वस्तुओं के गुण-दोष का विधान उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिये ही है। शास्त्र उन्मुक्त हो भागनेवाली प्रवृत्तियों को, इन्द्रियों को नियन्त्रित करने का काम करते हैं।

वेद सम में भी विषम की कल्पना कर देता है। वैसे स्थान तो सब समान ही हैं परन्तु कृष्ण मृग जहाँ विचरण करता है। जहाँ सन्त-महात्मा निवास करते हैं; वह देश शुचि माना गया है। इनसे रहित अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग आदि कीकट देश असंस्कृत तथा ऊसर देश अशुद्ध माने गये हैं। पूर्वाह्न का काल पवित्र गुणवान् माना गया है किन्तु जननाशौच और मरणाशौच का समय अपवित्र कहा गया है। पात्र अपवित्र मूत्र के संसर्ग से अशुद्ध और जल, गङ्गाजल



से प्रक्षालित होने पर शुद्ध कहा गया है। जहाँ अशुद्धि होने की शङ्का हो वहाँ ब्राह्मणों के वचनों से शुद्धि हो जाती है अन्यथा अशुद्धि ही रहती है। पुष्पादि जल छिड़कने से शुद्ध और सूँघने से अशुद्ध माने जाते हैं। गङ्गाजल, तुलसी और बिल्वपत्र ये बासी होने पर भी अपवित्र नहीं होते। अपवित्र वस्तुएँ भी मुझ श्रीहरि का स्मरण करके जल छिड़कने से पवित्र बन जाती हैं। स्वल्प जल चाण्डाल आदि के स्पर्श से अपवित्र हो जाता है किन्तु बहता जल तथा विशाल जलाशय का जल अपवित्र नहीं होता।

अनाज, लकड़ी, हाथी दाँत आदि हड्डी, सूत, मधु, नमक, तेल, घी आदि रस, सोना-पारा आदि तैजस पदार्थ, चाम और घड़ा आदि मिट्टी के पदार्थ समय पर अपने आप हवा लगने से शुद्ध हो जाते हैं। जल, मिट्टी आदि से भी इनकी शुद्धि की जाती है। मन्त्र, कुश, ब्राह्मण और अग्नि—ये अशुद्ध नहीं माने जाते। स्नान, दान, तपस्या, वय, सामर्थ्य, संस्कार, कर्म और मेरे स्मरण से चित्त की शुद्धि होती है। इनके द्वाप शुद्ध होकर ब्राह्मणादि विहित कर्मों के आचरण का अधिकारी बन जाता है—

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः । मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्मचरेद्विजः ॥

११/२१/१४

संक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि देश, काल, पदार्थ, कर्ता, मन्त्र और कर्म—इन छहों के शुद्ध होने से धर्म और अशुद्ध होने से अधर्म होते हैं। कहीं-कहीं शास्त्र-विधि से गुण दोष हो जाता है और दोष गुण। जैसे ब्राह्मण के लिये सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-जप आदि गुण हैं, परन्तु शुद्ध के लिये दोष है। दूध आदि का व्यापार वैश्य के लिये विहित है, परन्तु ब्राह्मण के लिये अत्यन्त निषिद्ध है।

गुरु के मुख से सुनकर हृदयङ्गम करने से मन्त्र की और भगवदर्पण करने से कर्म की शुद्धि होती है। प्रवृत्ति-कर्म बन्धन का हेतु है और निवृत्ति-कर्म सुख का साधन है। ईश्वरार्पण बुद्धि से किया गया कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता अतः शास्त्रों में निवृत्ति-कर्म की बड़ी प्रशंसा की गई है। “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन” ॥ २/४७ ॥ कहकर गीता भी निवृत्तिपरक कर्म का ही गुण-गान गाती है अतः कल्याणकारी होने से इसे सर्वश्रेष्ठ साधन कहा गया है। वेद यज्ञों में पशु-हिंसा का जो विधान करते हैं, उसका तात्पर्य हिंसा के विधान में नहीं, सङ्कोच में है। वेद प्रवृत्तिपरक नहीं निवृत्तिपरक हैं। जो कर्मकाण्डी स्वर्ग आदि के प्रलोभन में यज्ञ का सम्पादन ही अपना परम कर्तव्य मानते हैं, वे मेरे यथार्थ अभिप्राय को नहीं समझते। वे दुष्टतावश अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिये वध किये हुए पशुओं के मांस से यज्ञ करके देवता, पितर तथा भूतपतियों के यजन का ढोंग करते हैं। ऐसे व्यक्ति मेरी आराधना से वञ्चित ही रह जाते हैं—

उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम् ॥ ११/२१/३२

स्वर्ग की लुभावनी बातों के लिये जिनका मन व्यग्र रहता है, ऐसे मीमांसकों को मेरी कथा-वार्ता बिल्कुल अच्छी नहीं लगती—“मद्वाताऽपि न रोचते” ॥ ३४ ॥ वेद में तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन तीनों काण्डों का प्रतिपाद्य विषय है—ब्रह्म और आत्मा की एकता। मन्त्र-द्रष्टा ऋषि-गण इस रहस्य को परोक्षरूप से प्रतिपादित करते हैं और परोक्ष ही मुझे प्रिय भी है—

वेदो ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे । परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥

११/२१/३५

वेदों का नाम है—शब्द-ब्रह्म। वे मेरी मूर्ति हैं इसीसे उनका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है यथार्थ तो यह है कि मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई उनका भाव ठीक-ठीक समझता ही नहीं। वेद सामान्य जनों के लिये सागर के समान अनन्तपार, गम्भीर और दुर्विगाह्य हैं। यह वेद-वाणी कर्मकाण्ड में क्या विधान करती है, उपासनाकाण्ड में किन



देवताओं का वर्णन करती है और ज्ञानकाण्ड में निषेध द्वारा किस तत्त्व का प्रतिपादन करती हैं—इस रहस्य को एकमात्र मैं ही जानता हूँ, और कोई दूसरा नहीं—

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् । इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन ॥

११/२१/४२

प्रिय उद्धव, मैं तुम्हे स्पष्ट बतला दे रहा हूँ कि सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्ड में मेरा ही विधान करती हैं । उपसनाकाण्ड में उपास्य देवता के रूप में मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्ड में अतद्व्यावृत्ति द्वारा निषेधपूर्वक, मेरा ही प्रतिपादन करती हैं । सम्पूर्ण श्रुतियों का बस इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेद का आरोप करती हैं और अन्त में सबका निषेध कर मुझ में ही शान्त हो जाती हैं फिर तो अधिष्ठान, आश्रय रूप से केवल मैं ही शेष रह जाता हूँ अतः वेदवेद्य, वेदप्रतिपाद्य मेरा आश्रय लेना ही सारे वेदों का सार है, रहस्य है ॥२१॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२१॥

## बाईसवाँ अध्याय

( तत्त्वों की संख्याओं का विरोध-परिहार और प्रकृति-पुरुष-विवेक )

तत्त्वों की संख्या—उद्धव ने कहा—प्रभो, ऋषियों ने तत्त्वों की संख्या कितनी बतलाई है आपने अभी उन्नीसवें अध्याय में नौ, ग्यारह, पाँच और तीन अर्थात् कुल अट्ठाईस तत्त्व गिनाये हैं । यह तो हम सुन ही चुके हैं—

कति तत्त्वानि विधेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो । नवैकादश पञ्चीत्रीण्यात् त्वमिह शशुम ॥

११/२२/१

किन्तु कुछ लोग छब्बीस तत्त्व बतलाते हैं तो कुछ पच्चीस; कोई सात, नौ अथवा छः स्वीकार करते हैं, कोई चार बतलाते हैं तो कोई ग्यारह । इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं के मत में उनकी संख्या सत्रह है, कोई सोलह और कोई तेरह बतलाते हैं । इस प्रकार तत्त्वों की भिन्न-भिन्न संख्या बतलाने में आचार्यों का क्या अभिप्राय है । कृपा करके इस रहस्य को आप हमें समझाइये ।

— श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव, आचार्यों ने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है । उनके कथन के पीछे कोई-न-कोई युक्ति अवश्य है । वे निराधार नहीं बोलते अतः सभी मत सत्य हैं । सबमें सत्यता है । जब कार्य का अन्तर्भाव कारण में करके बोलते हैं, तब तत्त्वों की संख्या कम हो जाती है और जब ऐसा नहीं करते तब संख्या बढ़ जाती है । उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि जब जीव और ईश्वर में भेद करके बोलते हैं तब उनकी संख्या २६ हो जाती है और जब अभेद करके कहते हैं तब तत्त्व संख्या २५ हो जाती है—

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ॥ ११/२२/११

प्रकृति और प्रकृति के ३ गुणों को अलग करके गिनने से तत्त्व-संख्या स्वभावतः २८ हो जाती है । इसी प्रकार अन्य मतों के विषय में भी समझ लेना चाहिये । अतः किसी भी पक्ष में गुण-दोष की दृष्टि नहीं करनी चाहिये । आचार्य तत्त्वों को जैसे समझाना चाहते हैं, वैसे ही समझना चाहिये सभी पक्ष युक्ति-युक्त हैं और ग्राह्य हैं । इनमें कुछ भी असत्यता नहीं है । जो लोग तत्त्व-ज्ञानी हैं, उन्हें किसी भी मत में बुराई नहीं दिखलाई पड़ती । उनके लिये तो सब कुछ ठीक ही है—

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् । सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम् ॥

११/२२/२५



**प्रकृति-पुरुष-विवेक**—उद्धव जी ने कहा—श्यामसुन्दर, यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों स्वभावतः एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं फिर भी परस्पर इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि साधारणतः उनमें भेद नहीं दिखलाई पड़ता। प्रकृति और पुरुष अभिन्न-से प्रतीत होते हैं जैसे प्रकृति में अर्थात् प्रकृति के कार्य देह में आत्मा और आत्मा में प्रकृति प्रतीत होती है अतः इनके भेद और अभेद के विषय में मेरा मन संशयग्रस्त है। प्रभो, आप अपने युक्ति-युक्त वचनों से मेरे इस संशय का निवारण कीजिये—

प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथाऽऽत्मनि । एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि ।

छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैः पुनैः ॥ ११/२२/२७

उद्धव के प्रश्न को सुनकर श्रीभगवान् ने कहा—प्रकृति दृश्य है, पुरुष द्रष्टा है। प्रकृति विषय है। पुरुष विषयी अर्थात् भोक्ता है। प्रकृति अनित्य है। पुरुष नित्य है। प्रकृति जड है। पुरुष चेतन है। प्रकृति सज्जी है और पुरुष असज्ज है। असज्ज पुरुष परमात्मा से मिला हुआ है। वही वास्तविक है, यथार्थ है और सब अयथार्थ। वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य को पृथक् किये बिना पुरुष को परमात्मा के रूप में जाना नहीं जा सकता। प्रकृति प्रधान रूप से रूपों में—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूपों में—अभिव्यक्त होती है, प्रकट होती है। उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं—आँख के गोलक में चक्षु इन्द्रिय अध्यात्म है, इस का विषय रूप अधिभूत है और सूर्य इसके अधिदैव है। जो शरीर के भीतर दिखे, वह अध्यात्म है और जो बाहर दिखे, पञ्चभूतों में दिखे, वह अधिभूत है—‘आत्मनि शरीरे इति अध्यात्मम्’ ‘भूते इति अधिभूतम्’।

नेत्र में जो अधिदैव का, सूर्याश का प्रवेश है उसीसे ये तीनों अलग-अलग सिद्ध होते हैं। तीनों में से एक न रहे तो किसी की सिद्धि न हो। आत्मा इन तीनों से विलक्षण है, अलग है। आत्मा में अस्ति नास्ति का भेद नहीं है किन्तु जो लोग विषयी हैं, परमात्मा से मुख मोड़े हुए हैं, वे इसीमें लगे रहते हैं कि क्या द्रष्टा है और क्या दृश्य है ? वे इससे विलग नहीं होते किन्तु पुरुष प्रकाशस्वरूप होने से वह इन तीनों से अलग है, भिन्न है। इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय में भी तीन-तीन भेद समझना चाहिये। इस प्रकार यह सारा भौतिक प्रपञ्च त्रिविध माना गया है। इसका मूल है त्रिविध अहङ्कार। यह सारा संसार-आत्मा के अज्ञानवश ही भासित होता है अतः आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होते ही यह प्रपञ्च रूप विकल्प स्वतः समाप्त हो जाता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसका संसार के पदार्थों से न तो कोई सम्बन्ध है और न परमात्मा के अस्तित्व के बारे में कोई निवाद ही है। अस्ति-नास्ति, सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव, सत्य-मिथ्या आदि रूप से जितने भी वाद-विवाद हैं; सब का मूल-कारण भेद-दृष्टि है और भेद-दृष्टि माया का कार्य है। यह सब व्यर्थ है जो मुझ से विमुख हैं, वे ही व्यक्ति इस प्रकार के विवाद से विमुक्त नहीं हो पाते—

आत्मा परिज्ञानमयो विवादो ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।

व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥ ११/२२/३३

**जन्म-मृत्यु का प्रकार**—उद्धव जी ने कहा—प्रभो, आप से विमुख प्राणी किस प्रकार शरीरों का ग्रहण और परित्याग करते हैं ? उनके जन्मने मरने की प्रक्रिया क्या है ? कृपया इसका वर्णन कीजिये।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—उद्धव, सूक्ष्म शरीर १७ तत्त्वों से बना हुआ है। सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर भी कहते हैं। बुद्धि, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, १ मन और ५ सूक्ष्म भूत (पञ्च तन्मात्राएँ)—ये ही सत्रह तत्त्व मिलकर लिङ्गशरीर कहलाते हैं<sup>१</sup>। यह शरीर मनः प्रधान है। मनुष्यों का मन कर्म-संस्कारों का पुञ्ज है। उन संस्कारों के अनुसार

१. देखिये—सप्तदशैकं लिङ्गम् । सांख्य-सूत्र, ३/९ यहाँ अहङ्कार की गणना अलग से नहीं की गई है। उसका अन्तर्भाव बुद्धि में ही मान लिया जाता है।



भोग प्राप्त करने के लिये उसके साथ ५ इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं। यह लिङ्ग शरीर ही कर्मों के अनुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में और एक लोक से दूसरे लोक में भ्रमण करता रहता है। आत्मा इस लिङ्ग-शरीर से सर्वथा पृथक् है। उसका आना-जाना नहीं होता; परन्तु जब वह अपने को लिङ्ग शरीर ही समझ लेता है, उसी में अहङ्कार कर लेता है, तब उसे भी अपना आना-जाना प्रतीत होने लगता है—

मनः कर्ममयं नृणाभिन्द्रियैः पञ्चमिर्युतम् । लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥

११/२२/३६

मन कर्मों के अधीन है। वह देखे अथवा सुने हुए विषयों का चिन्तन करने लगता है और क्षणभर में ही उनसे तदाकार हो जाता है तथा उन्हीं पूर्वचिन्तित विषयों में लीन हो जाता है। धीरे-धीरे उसकी स्मृति, पूर्वापरका अनुसन्धान भी नष्ट हो जाता है। स्थूल शरीर को धारण करना ही आत्मा का जन्म और उसका नाश ही इसकी मृत्यु है। सत्य तो यह है कि आत्मा जन्म मृत्यु से रहित है। न वह जन्मता है और न मरता ही है। भ्रम के कारण ही वह जन्मता और मरता है। प्रिय उद्धव, काल की गति अति सूक्ष्म है। उसे साधारणतः देखा नहीं जा सकता। उसके द्वारा प्रतिक्षण शरीर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं किन्तु यह प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म है कि इसे कोई देख नहीं सकता।

उद्धव जी, गर्भाधान, गर्भवृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमारवस्था, जवानी, अर्धेष्ट अवस्था, बुढ़ापा और मृत्यु—ये नौ अवस्थाएँ शरीर की ही हैं। जीव शरीर से भिन्न है। यह शरीर का द्रष्टा और साक्षी है। पिता को पुत्र के जन्म से और पुत्र को पिता की मृत्यु से अपने-अपने जन्म-मरण का अनुमान कर लेना चाहिये। जन्म-मृत्यु से युक्त देहों का द्रष्टा जन्म-मृत्यु से युक्त शरीर नहीं हो सकता। जैसे बोई जानेवाली और काटी जानेवाली फसल से उसका द्रष्टा भिन्न है, वैसे ही शरीर के जन्म और मरण का द्रष्टा शरीर से भिन्न है, अलग है। किन्तु अज्ञानी पुरुष इस प्रकार प्रकृति और शरीर से आत्मा का विवेचन नहीं कर पाते। यही कारण है कि विषयों में उन्हें सच्चे सुख की अनुभूति होती है। ऐसे ही भोगी व्यक्ति गुणों के अनुसार देव, असुर, भूत, प्रेत, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावर योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। प्रपञ्च के सत्य न होने पर भी, विषयों के मृषा होने पर भी, जीव विषयों का ही चिन्तन करता रहता है, उसका यह जन्म-मृत्यु रूप संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं होता, जैसे स्वप्न में प्राप्त अनर्थ-परम्परा जागे बिना निवृत्त नहीं होती—

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते । ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥

११/२२/५५

अतः उद्धव, तुम जाग जाओ। प्रकृति के कार्य संसार-प्रपञ्च से अपने आत्मा को अलग समझ कर सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाओ। चाहे कोई तुम्हारा मान करे, चाहे अपमान करे, उससे तुम प्रभावित मत होओ। तुम अपने को अकर्ता और अभोक्ता समझकर उसे शान्त चित्त से बर्दास्त कर लो। आत्म-दृष्टि ही समस्त विपत्तियों से बचने का एकमात्र साधन है—“श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मानऽऽत्मानमुद्धरेत्” ॥५८॥

उद्धव जी ने कहा—प्रभो, दुर्जनों के द्वारा किये गये अपमान को, तिरस्कार को सहन कर लेना अति कठिन है। आपके चरणों की शरण को ग्रहण करनेवाले शान्त पुरुषों के अतिरिक्त बड़े-बड़े विद्वानों के लिये भी दुष्टों के द्वारा किया गया तिरस्कार सह लेना अत्यन्त कठिन है क्योंकि प्रकृति अतिशय बलवती होती है।

अतः आप कृपा कर कुछ ऐसे उपाय बतलाइये जिनको अपने जीवन में उतारकर मैं आपके अमूल्य उपदेशों का अनुसरण करने में समर्थ बन सकूँ ॥२२॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२२॥



## तेईसवाँ अध्याय

( अपमान सहन करने में एक सहनशील ब्राह्मण का इतिहास )

श्रीशुकदेव जी ने कहा कि उद्धव के वचन को सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले बृहस्पति के शिष्य उद्धव जी, इस संसार में ऐसे पुरुष दुर्लभ हैं, जिनका हृदय दुर्बलों के दुर्वचनों से विद्ध न हो जाय, बिंध न जाय। मनुष्य का हृदय मर्मभेदी बाणों से बिंधने पर भी उतनी पीड़ा का अनुभव नहीं करता, जितनी पीड़ा उसे दुर्जनों के मर्मान्तक एवं कठोर वचन-बाण पहुँचाते हैं—

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनरितैः । दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥  
न तथा तप्यते बिद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः । यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेष्ववः ॥

११/२३/२-३

इस विषय में मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुना रहा हूँ। ध्यान से सुनो—उज्जयिनी नगरी में एक ब्राह्मण था। उसके पास प्रभूत सम्पत्ति थी। वह बहुत ही कृपण, काफ़ी लोभी और क्रोधी था। उसने कभी अपने भाई-बन्धुओं का सत्कार नहीं किया, अतिथियों को सप्रेम खिलाया-पिलाया नहीं। धर्म-कर्म में तो उसकी कानी कौड़ी भी खर्च नहीं होती थी। धन से सम्मान करना तो दूर रहा, उसने प्रिय वचनों से भी कभी किसी को प्रसन्न नहीं किया। अभिमान तो मानो उसके स्वभाव में घुल-मिल गया था। वह कृपण तो इतना बड़ा था कि अपने तन के लिये भी धन व्यय करना भी उसे सद्म न था। वह लोक-परलोक-दोनों से च्युत हो चुका था। बस, यक्ष के समान धन की रखवाली में ही निरत रहता था। उसकी इस कृपणता से यज्ञ के भागी पञ्च देवता, पितर, ऋषि—सभी कुपित हो उठे। इससे उसका धन उसके देखते-ही-देखते विनाश को प्राप्त हो गया। बचाखुचा कुछ धन परिवार जनों ने छीन लिया। कुछ चोर-डाकू उठा ले गये। कुछ शासन के व्यक्ति झपट ले गये।

धन के नष्ट होते ही स्वजनों ने भी उसका परित्याग कर दिया। दिन-रात चिन्ता में ही बीतते थे। रोते-रोते उसका कण्ठ सूख गया था। आँखें सूज आई थीं किन्तु इसका अच्छा फल यह हुआ कि संसार से उसे वितृष्णा हो गई। उसके हृदय में तीव्र वैराग्य ने जन्म लिया। अब वह दुःखी ब्राह्मण मन-ही-मन कहने लगा—हाय! हाय!!! बड़े खेद की बात है, जिस धन को कमाने और सँभालने में मैंने इतना कष्ट उठाया; जिसे न धर्म में खर्च किया और न अपने सुख-भोग में ही। वह इस प्रकार विनष्ट हो गया—

स चाहेदमहो कष्टं वृथाऽऽत्मा मेऽनुतापितः । न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः ॥

११/२३/१४

प्रायः देखने में आता है कि कृपणजनों को कभी धन से सुख नहीं मिलता। इस लोक में वे इसे इकट्ठा करने में ही जी तोड़ परिश्रम करते रहते हैं और दान न करने के कारण मर कर नरकगामी होते हैं। जैसे स्वल्प भी कोढ़ अत्यन्त सुन्दर रूप को विकृत कर देता है, ऐसे थोड़ा-सा भी लोभ गुणी व्यक्ति के गुणों और कीर्ति को बिगाड़ देता है—

लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रं रूपमिवेप्सितम् ॥ ११/२३/१६

१. दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।

यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

नीतिशतक ॥

अर्थ—धन की तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग तथा नाश जो व्यक्ति न तो दान करता है न खाता है। उसके धन की तीसरी गति होती है।



धन के पन्द्रह अनर्थ कहे गये हैं। कल्याणकारी व्यक्ति को इनसे बचने का प्रयास करना चाहिये। ये पन्द्रह दोष इस प्रकार हैं—

चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ<sup>१</sup>, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पृहा, लम्पटता, और जुआ-शराब रूप व्यसन—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः । भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥

एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् । तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥

११/२३/१८-१९

इनमें प्रारम्भिक छः अनर्थ धन-सञ्चय करने में होते हैं। धन प्राप्त हो जाने पर फिर क्रम से ९ अनर्थ संभावित रहते हैं। इनसे प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य को बचने का प्रयास करना चाहिये। भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो कभी स्नेह के वशीभूत होकर एक सूत्र में बँधे रहते थे—वे सभी कौड़ी के कारण, द्रव्य के कारण एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं, प्राणघाती हो जाते हैं। धन प्राप्त कर जो व्यक्ति बाँट कर नहीं खाता वह नरकगामी बनता है। सच तो यह है कि मृत्यु से ग्रस्त प्राणी को धन और धनवानों से क्या प्रयोजन ? धन का यह लोभ अवश्य ही माया का परिणाम है, फल है। निःसन्देह आज भगवान् श्रीहरि मुझ पर प्रसन्न हैं, जिससे मेरे हृदय में यह वैराग्य उत्पन्न हुआ है। वस्तुतः संसार-सागर को पार करने के लिये वैराग्य नैया के समान हैं—“निर्वेदश्चात्मनः प्लवः” ॥२८॥ अब मैं अपना बाकी जीवन भगवान् की प्राप्ति के लिये तपस्या में संलग्न कर दूँगा। तीनों लोकों के स्वामी देवगण मेरे इस संकल्प का अनुमोदन करें, मेरी सहायता करें। यद्यपि मैं वृद्ध हो चुका हूँ फिर भी निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। सुना है राजा खट्वाङ्ग ने दो घड़ी में ही, अपना सब कुछ भगवान् को अर्पित कर, वैकुण्ठ लोक को प्राप्त कर लिया था—

मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत् ॥११/२३/३०

श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव, उज्जयिनी के उस ब्राह्मण ने ऐसानिश्चय करके, ‘अहन्ता’ और ‘ममता’ का परित्याग कर मौनी संन्यासी बन गया। वह मौन रहता। उसकी इन्द्रियाँ उसके पूर्णवश में थीं। मन और प्राण संयमित थे। वह शान्तचित्त हो एकाकी ही भू-मण्डल पर विचरण किया करता था। एक दिन वह अति बूढ़ा भिक्षुक अपने स्वरूप को छिपाकर भिक्षा के लिये नगर के समीप किसी ग्राम में गया—

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः । भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत् ॥

११/२३/३२

वहाँ उस अति बूढ़े अवधूत को देखकर कुछ दुष्ट व्यक्तियों ने उसका भाँति-भाँति से तिरस्कार करना प्रारम्भ कर दिया। वे उसके पीछे पड़ गये। किसी ने उसका कमण्डलु ले लिया, किसी ने माला छीन ली तो किसी ने उसकी कन्था ही फाड़ डाली। जब वह नदी के तट पर बैठकर भोजन कर रहा था, तब उन पातकियों ने उसके ऊपर लघुशङ्का कर दी, किसी ने खखार कर उसके शिर पर ही थूक दिया। इतना होने पर भी उसने अपना मौन भङ्ग नहीं किया। तब उन दुष्टों ने उसके ऊपर दण्ड-प्रहार प्रारम्भ किया। कोई चोर कहकर उसे दुत्कारता तो कोई उसे दम्भी, धर्म-ध्वजी कहता। इस प्रकार के असत्य दुर्वचनों को कहते हुए वे उस अवधूत को नाना प्रकार की यातनाएँ देने लगे फिर भी उसने न अपना मौन तोड़ा और न धैर्य ही त्यागा। उद्धव जी, उस अवधूत ने इन यातनाओं के मध्य, संसार

१. दूसरे को ठगने के लिये ढोंग रचने का नाम दम्भ है। काम कहते हैं दूसरे के धन की इच्छा करना। संस्पर्धा है—

दूसरे के उत्कर्ष को सहन न करना ।



को उपदेश देने के लिये, जिस अमृतमयी गाथा का गान किया था, वह भिक्षु-गीता के नाम से जानी जाती है। गाथा का प्रथम और प्रधान श्लोक यह है—मेरे सुख अथवा दुःख का कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है, और न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं। यह मन ही सुख-दुःख का प्रधान कारण है। यही व्यक्ति को संसार-सागर में भटकता रहता है—

नायं जनो मे सुख-दुःखहेतुर्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः ।

मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ॥ ११/२३/४३

मन की राजस, तामस और घोर वृत्तियों के कारण ही प्राणी विविध कर्मों को करता है और विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है। आत्मा तो असङ्ग है। अध्यास के कारण, भ्रम के कारण ही आत्मा मन के सुख-दुःख को अपना समझकर सुखी और दुःखी होता रहता है। मन महान् भयङ्कर है। दुर्जय है। इसे वश में करना बड़ा कठिन है। दान, स्वधर्म आदि जितने भी साधन हैं, सबका एक ही लक्ष्य है—मन को वश में करना। सब से बड़ा योग है—मन को समाहित करना—“परो हि योगो मनसः समाधिः” ॥४६॥ जिस का मन शान्त और समाहित है, उसे दान आदि समस्त सत्कर्मों का फल मानो मिल गया है और जिसका मन असंयत है, उसके समस्त सत्कर्म निष्फल हैं। मन को वश में कर लेनेवाला व्यक्ति साक्षात् देव-देव है, महादेव है। मन महान् शत्रु है। यह सर्वदा हृदय को सङ्कल्प-विकल्परूपी बाणों से बीधता रहता है। इसको बिना जीते बाह्य शत्रुओं को जीतना कुछ माने नहीं रखता। जो लोग मन को बिना जीते दूसरों को जीतने के लिये जाते हैं, वे संसार में मित्र, उदासीन, शत्रु बनाकर व्यर्थ में विमूढ होते हैं—

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगमरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित् ।

कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यैर्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः ॥ ११/२३/४९

यह शरीर तो मन की कल्पना है। इसको मैं अर्थात् आत्मा मानकर लोग संसार में भटकते रहते हैं। मनःप्रधान सूक्ष्म शरीर में आत्मबुद्धि करने के कारण ही जीव को सुख-दुःख की अनुभूति होती है। इस अहंबुद्धि के समाप्त होने का एकमात्र कारण है—विवेक ज्ञान। सुख-दुःख दूर करने का सर्वाधिक सरल साधन है—भगवान् की भक्ति। जो भगवान् के भक्त हैं। जिनकी भगवान् में अटल निष्ठा है। वे सब कुछ भगवान् पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाते हैं। इसी परमात्मनिष्ठा का आश्रय ग्रहण कर बड़े-बड़े महापुरुष भवसागर को पार कर चुके हैं। मैं भी इसी का आश्रय ग्रहण कर अज्ञान-सागर को अनायास ही पार कर लूँगा—

अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥ ११/२३/५८

भगवान् का आश्रय ग्रहण करने पर दुःख मेरा स्पर्श भी नहीं कर सकेगा ऐसा सोचकर वह अवधूत इस ज्ञानपूर्ण गाथा द्वारा सारे दुःखों से मुक्त हो गया। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—उद्धव जी, उस ब्राह्मण का धन क्या नष्ट हुआ, उसका सारा दुःख ही दूर हो गया। संसार से विरक्त होकर वह पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण किया करता था। दुष्टों के बारम्बार सताने पर भी वह अपनी निष्ठा से डिगता नहीं था। वह मौन रहता और इस गाथा का गान करता था—‘अकम्पितोऽमूं मुनिराह गाथाम्’ ॥५९॥

इसलिये उद्धव जी, सुख-दुःख का दाता मन के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है। यह तो प्राणी के मन का भ्रममात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रु के भेद अज्ञान कल्पित हैं इसलिये तुम अपनी सारी शक्ति लगाकर मन को वश में कर लो और फिर मुझमें ही नित्ययुक्त होकर स्थित हो जाओ। बस, सारे योगसाधन का इतना ही सार है। जो व्यक्ति एकाग्रचित्त से इस भिक्षु-गीता को सुनता, सुनाता और धारण करता है, उसे सुख-दुःख कभी व्यथित नहीं करते। वह द्वन्द्वों से निर्मुक्त हो जाता है—



य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः । धारयच्छ्रावयच्छृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥

११/२३/६२

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

## चौबीसवाँ अध्याय

( मनोभ्रम का सांख्य-योग द्वारा निवारण )

श्रीभगवान् ने कहा—अब मैं तुम्हें सांख्य-शास्त्र का अभिमत सुनाता हूँ । कपिल आदि पूर्वाचार्यों ने सांख्य का उपदेश किया है । इसके ज्ञान से व्यक्ति का वैकल्पिक भ्रम दूर हो जाता है । उसके सुख-दुःख, शोक-मोह और शत्रु-मित्र आदि भाव समाप्त हो जाते हैं—

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् । यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम् ॥ ११/२४/१

सर्वप्रथम प्रलयकाल की बेला में द्वैत-रहित एकमात्र ज्ञान ही था । इसे 'ब्रह्म' कहते हैं । उस समय द्रष्टा-दृश्य अलग-अलग नहीं थे । कुछ काल के अनन्तर वही 'ब्रह्म' दो रूपों में विभक्त हो गया । एक का नाम पड़ा पुरुष और दूसरे का प्रकृति । एक ज्ञान हुआ और दूसरा ज्ञेय हुआ । ज्ञान का नाम पुरुष है और ज्ञेय का नाम प्रकृति है । यहाँ इतना ध्यान देना है कि सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है । पुरुष के सम्पर्क में आते ही प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है फिर तो सृष्टि का कार्य प्रचलित हो जाता है । प्रकृति से सर्वप्रथम त्रिगुण उत्पन्न होते हैं । उनसे क्रियाशक्ति प्रधान महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ । महत्तत्त्व से सात्त्विक, रजस और तामस भेद वाला अहङ्कार उत्पन्न हुआ । यह अहङ्कार ही जीवों की अहन्ता और ममता का प्रधान कारण माना जाता है । तामस अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न हुई । तन्मात्राओं से पञ्च महाभूत पैदा हुए । रजस अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियाँ और सात्त्विक अहङ्कार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता और मन प्रादुर्भूत हुए । कुल मिलाकर ये ही प्रकृति से प्रादुर्भूत चौबीस तत्त्व गिनाये गये हैं ।

ये २४ तत्त्व मिलकर अण्डाकार में परिणत हो गये । यह अण्ड ही मेरे रहने का स्थान बना । यह बहुत दिनों तक जल में ही पड़ा रहा फिर उसी से नारायणमूर्ति धारण कर मैं प्रकट हुआ । इसी कारण मुझे लोग जलशायी नारायण कहते हैं । मेरी नाभि से एक कमल प्रादुर्भूत हुआ । यह जगत् का आदिकारण कहा जाता है । कमल पर सारे संसार के स्रष्टा ब्रह्मा उत्पन्न हुए । उन्होंने ही लोकपालों के सहित त्रिलोकी की सृष्टि की है । त्रिलोकी में ही चौदह भुवनों की कल्पना की गई है । अपने गुण और कर्म के अनुसार सारे जीव इन्हीं लोकों में भ्रमण करते रहते हैं । सारा संसार प्रकृति पुरुषमय ही है । संसार का कोई भी पदार्थ प्रकृति-पुरुष से पृथक् नहीं है । सृष्टि के आदि में ब्रह्म है । सृष्टि के मध्य में ब्रह्म है और सृष्टि के अन्त में ब्रह्म ही शेष रह जाता है इसलिये सारी सृष्टि ब्रह्ममय ही मानी जाती है\* । जिस प्रकार सुवर्ण और मृत्तिका में जो कङ्कण, घर आदि विकार हैं, वे सब व्यवहार के लिये हैं । वस्तुतः आदि, मध्य और अन्त में सब सुवर्ण और मृत्तिका ही है—

विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसमपार्थिवाः ॥ ११/२४/१७

इसी प्रकार जिस तत्त्व को लेकर यह सृष्टि चलती रहती है, उसी अवाधित तत्त्व को सत्य कहते हैं, ब्रह्म कहते

१. देखिये—श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, अध्याय २६, श्लोक ११ ॥



हैं। बनने-बिगड़नेवाले विकार कहे जाते हैं। प्रलय की बेला में सारी सृष्टि प्रकृति में और प्रकृति ब्रह्म में विलीन हो जाती है। जब सबका आधार ब्रह्म ही है, सब कुछ ब्रह्म ही है; ब्रह्म के कार्य को ब्रह्म ही समझना चाहिये। तब इसमें सुख-दुःख की कैसी कल्पना। सब के अन्त में अवशिष्ट ब्रह्म अकारण है अतः इसका लय किसी और में नहीं होता। ब्रह्म ही सबकी आत्मा है—

**आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ॥११/२४/२७**

उद्धव जी, व्यक्ति को सृष्टि में कहीं भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिये क्योंकि वह एक में से ही निकली है, एक में ही रहती है और अन्त में उस एकमें ही विलीन हो जाती है अतः सब एक ही है फिर तो “केहिं सन करहिं बिरोध”। सांख्य की इस पद्धति से, प्रतिलोम और अनुलोम की प्रक्रिया से, विचार करनेवाले साधक के हृदय से मानसिक भ्रमरूपी अज्ञानान्धकार वैसे ही दूर हो जाता है, जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार मिट जाता है—

**एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः । मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवाकौदये तमः ॥**

११/२४/२८

प्रिय उद्धवजी, मैं कार्य और कारण—दोनों का ही साक्षी हूँ। मैंने तुम्हें सृष्टि से प्रलय और प्रलय से सृष्टि तक की सांख्यविधि बतला दी। इससे संशय की सारी ग्रन्थियों का विभेदन हो जाता है और पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है—

**एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः । प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया ॥**

११/२४/२९

**॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२४॥**

## पच्चीसवाँ अध्याय

**( तीनों गुणों की वृत्तियों पर विजय के उपाय )**

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—पुरुषश्रेष्ठ उद्धव जी, गुणों का प्रकाश प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होता है। उनके कारण प्राणियों के स्वभाव में भी भेद हो जाता है। अब मैं बतला रहा हूँ कि किस गुण से कैसा स्वभाव बनता है। तुम सावधान होकर सुनो—

**गुणानामसमिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत् । तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः ॥११/२५/१**

सत्त्वगुण की वृत्तियाँ हैं—शम (मन-संयम), दम (इन्द्रिय-निग्रह), तितिक्षा (सहिष्णुता), विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति, सन्तोष, त्याग, अस्पृहा, श्रद्धा, लज्जा, आत्मरति, दान, विनय और सरलता आदि। रजोगुण की वृत्तियाँ हैं—इच्छा, प्रयत्न, घमण्ड, तृष्णा, अकड़न, देवों से धन आदि की याचना, भेद-बुद्धि, विषय-भोग, मद, हास्य, पराक्रम और उद्योग आदि। तमोगुण की वृत्तियाँ हैं—क्रोध, लोभ, असत्य-भाषण, हिंसा, याचना, पाषण्ड, श्रम, कलह, मोह, विषाद, दीनता, निद्रा, आशा, भय और अकर्मण्यता आदि। यह हुआ गुणों की अलग-अलग वृत्तियों का वर्णन। गुणों की मिश्रित वृत्तियों को सन्निपात कहते हैं। “यह मैं हूँ”, “यह मेरा है”—इस प्रकार की भेद बुद्धि को सन्निपात कहते हैं। “मैं शान्त हूँ”, “मैं कामी हूँ”, मैं क्रोधी हूँ” तथा “मेरा बेटा शान्त है”, “वह क्रोधी है”—इस प्रकार के तीनों भाव समय-समय पर उदित होते रहते हैं इसलिये मन, तन्मात्रा और इन्द्रियों के



सात्त्विक, राजस और तामस होने से, व्यवहार के अहन्ता-ममता पूर्वक होने के कारण, इन वृत्तियों से मिला हुआ संसार का सारा व्यवहार सन्निपात (गुणों की मिश्रित वृत्तियाँ) कहलाता है। सकाम कर्म और स्वधर्माचरण भी तीनों गुणों के मेल का ही परिणाम है।

मानसिक शान्ति और जितेन्द्रियता आदि गुणों से सत्त्वगुणी पुरुष की, कामना आदि से रजोगुणी पुरुष की और क्रोध-हिंसा आदि से तमोगुणी पुरुष की पहचान होती है—

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः । कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥११/२५/९

पुरुष हो, चाहे स्त्री—जब वह निष्काम भाव से अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मों द्वारा मेरी आराधना करे, तब उसे सत्त्वगुणी समझना चाहिये। किसी को मारने आदि के सङ्कल्प से भजन-पूजन करनेवाला तामस, बिना किसी अपेक्षा के भजन करने वाला सात्त्विक और कामना की पूर्ति के लिये आराधना करनेवाला व्यक्ति राजस कहा गया है। तीनों गुण रहते हैं साथ-साथ। जब किसी व्यक्ति में रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्व प्रबल हो जाता है, तब वह सात्त्विक कहा जाता है। जब रजोगुण सत्त्व और तम को दबाकर प्रबल बन बैठता है, तब व्यक्ति रजोगुणी कहलाता है और जब तमोगुण प्रबल होकर सत्त्व रज को दबा देता है, तब प्राणी तमोगुणी कहा गया है। सत्त्वगुणी धर्म आदि उत्तम कार्यों में संलग्न रहता है इसलिये सुखी होता है। रजोगुणी नाना प्रकार के कर्मों में आसक्त होकर दुःखी होता है और तमोगुणी शोक, मोह और भय आदि से आक्रान्त रहता है। सत्त्वगुण के बढ़ने पर देवताओं का, रजोगुण के बढ़ने पर असुरों का और तमोगुण की वृद्धि से राक्षसों का बल बढ़ता है।

सत्त्वगुण से जाग्रदवस्था, रजोगुण से स्वप्नावस्था और तमोगुण से सुषुप्ति अवस्था होती है। तुरीयावस्था इन तीनों से परे और इनको व्याप्त करनेवाली कही गई है। वही शुद्ध एकरस आत्मा है—

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत् । प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु सन्ततम् ॥

११/२५/२०

सत्त्वगुणी व्यक्ति उत्तरोत्तर ऊपर के लोकों में जाते हैं। तमोगुणी वृक्ष आदि अधोगति को प्राप्त होते हैं और रजोगुण से मानव-शरीर की उपलब्धि होती है। द्रव्य (वस्तु), देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्ता, श्रद्धा, अवस्था, देव-मानव-तिर्यगादि शरीर और निष्ठा-ये सबके सब त्रिगुणात्मक हैं। उद्धव, त्रिगुणातीत व्यक्ति को मेरी गति प्राप्त होती है। त्रिगुणों पर विजेता व्यक्ति ही मेरी स्वाभाविक भक्ति का अधिकारी होता है। मेरी कृपा से जिसके हृदय में भक्ति का अङ्कुर प्रस्फुटित होकर पल्लवित, पुष्पित और फलित होता हुआ पराकाष्ठा को पहुँचता है, तब चित्तवृत्तियों का विजेता व्यक्ति बड़ी सरलता से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है—

येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः । भक्तियोगेन मन्त्रिष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥

११/२५/३२

उद्धव, यह मानव-शरीर अति दुर्लभ है। इसी शरीर से ज्ञान और विज्ञान की उपलब्धि होती है इसलिये इसे पाकर बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह गुणों की विषयों की आसक्ति हटाकर मेरा भजन करे—

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञान-विज्ञान-संभवम् । गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥

११/२५/३३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह पञ्चीसर्वा अध्याय समाप्त हुआ ॥२५॥



## छब्बीसवाँ अध्याय

### ( पुरुरवा की वैराग्यपूर्ण उक्ति (ऐल-गीत) )

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—प्रिय उद्धव, मानव-शरीर सुदुर्लभ है। मेरी प्राप्ति का यह एकमात्र साधन है। इसे पाकर जो मनुष्य सच्चे प्रेम से मेरी भक्ति करता है, उसका अन्तःकरण आनन्द से भर जाता है। यह परमानन्द मेरा स्वरूप है—

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः । आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥

११/२६/१

जीवों की सारी योनियाँ त्रिगुणमयी हैं। जीव ज्ञान के सहारे उनसे सदा के लिये छुटकारा पा जाता है। तीनों गुण माया के विलास हैं। ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति त्रिगुणमय संसार में रहने पर भी उनसे बँधता नहीं है। इसका कारण यह है कि त्रिगुणों की वास्तविक सत्ता ही नहीं है। इसी स्थिति में पहुँचते हुए प्राणी को जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त प्राणी को चाहिये कि वह विषयों में आसक्त, उदरपूर्ति में लगे रहनेवाले, असज्जन व्यक्तियों की सज्जति से पूर्णतः दूर रहे; क्योंकि उनका अनुगमन करनेवाले पुरुषों की वैसी ही दुर्दशा होती है, जैसे अन्धे के सहारे चलनेवाले अन्धे की होती है। उसे तो घोर अन्धकार में भटकना पड़ता है—

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् । तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥ ११/२६/३

इस विषय में मैं तुम्हें चक्रवर्ती सम्राट् ऐल की गाथा को सुना रहा हूँ। ध्यान से सुनो। इला का बेटा होने के कारण पुरुरवा को ऐल भी कहते हैं। उद्धव इलानन्दन पुरुरवा देवसुन्दरी उर्वशी के शारीरिक संभोग में इस प्रकार तल्लीन हो गये थे कि उन्हें आते-जाते यात्रियों का कुछ ध्यान ही न रहा। जब उर्वशी उन्हें छोड़कर स्वर्ग जाने लगी, तब वे घोर अन्धकार में पूर्ण निर्वृत्त होकर उसके पीछे-पीछे यह कहते हुए दौड़ रहे थे कि—उर्वशी, सुनो-सुनो। रुको-रुको। तुम्हारे सौन्दर्य को भोगने में अभी हमारी तृप्ति नहीं हुई है। मुझे इस प्रकार अतृप्त छोड़कर मत जाओ, मत जाओ किन्तु उर्वशी रुकी नहीं। उर्वशी के विरह में व्याकुल पुरुरवा साधना करके उसीके लोक में चले गये। अन्त में भगवान् की कृपा से उन्हें वैराग्य हुआ। तब वे अत्यन्त दुःखी होकर कहने लगे—मेरी मूर्खता तो देखो। मैंने अपनी आयु का विशाल भाग उर्वशी के आलिङ्गन में बँध कर बिता दिया। कामोपभोग में मैं इस प्रकार तल्लीन रहा कि कितने दिन और कितनी रात्रियाँ बीतीं—इसका मुझे कुछ पता ही न चला। मैं उर्वशी को अपने प्राणों से भी अधिक चाहता था किन्तु वह निष्ठुरतापूर्वक मुझे छोड़ कर चली गई। मुझकर मेरी ओर देखा तक नहीं। मैं नरदेव-शिखामणि हूँ। अखण्ड-भूमण्डल का अधिपति हूँ किन्तु विषय-वासना ने मुझे उर्वशी के इशारे पर नाचनेवाला बन्दर बना दिया। मेरी मूर्खता तो उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब मैंने, मुझे तृण की तरह त्याग कर जाती हुई, उर्वशी का नग्न होकर अनुगमन किया फिर भी उसने मेरी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। जिसका मन स्त्रियों ने हरण कर लिया उसका विद्याध्ययन, तीव्र तप, संन्यास, वेदश्रवण, एकान्त सेवन और मौन आदि सब कुछ किसी काम का नहीं। सब व्यर्थ है—

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा । किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥

११/२६/१२

मैं अपने को बहुत बड़ा पण्डित मानता रहा। मुझ मूर्ख को बार-बार धिक्कार है। हाय! हाय! मैं चक्रवर्ती सम्राट् होकर भी गधे और बैल की तरह स्त्री के फन्दे में फँस कर कीड़े की तरह विषय में लीन हो गया। मैं कई वर्षों तक



उर्वशी के अधरामृत का पान करता रहा किन्तु मेरी काम-तृष्णा वैसे ही बढ़ती रही जैसे घी की आहुतियों से आग की लपटे बढ़ती हैं—

सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम् । न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥

११/२६/१४

उस कुलटा ने मेरा चित्त चुरा लिया । सब कुछ करने में समर्थ भगवान् के अतिरिक्त उस फन्दे से निकालने का सामर्थ्य किसी दूसरे में नहीं है । उर्वशी ने अपने सूक्त वचनों द्वारा मुझे समझाने की चेष्टा की कि स्त्रियों की मैत्री कभी स्थिर नहीं हुआ करती किन्तु मेरा महामोह इतना प्रबल था कि मेरी समझ में कुछ नहीं आया । मुझे धिक्कार है । कहाँ तो मैला-कुचैला, दुर्गन्ध से भरा यह अपवित्र शरीर और कहाँ सुकुमारता, पवित्रता, सुगन्ध आदि पुष्पोचित गुण किन्तु मैं अज्ञानतावश असुन्दर में सुन्दर का आरोप करके रमण करता रहा । यह शरीर मल-मूत्र से भरा हुआ अत्यन्त अपवित्र है अन्त में उसे गीध-कौए खाकर विष्टा बना देते हैं, अथवा सड़जाने पर कीड़े खाकर इसे मिट्टी में परिवर्तित कर देते हैं, अथवा आग जलाकर इसे राख का ढेर बना डालती है । यदि मनुष्य इसमें रमता है तो मल-मूत्र के कीड़ों में और उसमें अन्तर ही क्या है ?

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहती । विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥ ११/२६/२१

इन सारी अवस्थाओं पर विचार कर अपनी भलाई चाहनेवाले विवेकी मनुष्य को चाहिये कि वह स्त्रियों और स्त्रीलम्पटों का सङ्ग न करे । विषय और इन्द्रियों के संयोग से ही मन विकृत होता है अन्यथा विकार का कोई अवसर ही नहीं है ।

भगवान् श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि उद्धव जी, इस प्रकार वैराग्य से भरा हुआ उद्गार प्रकट करके राजा पुरुरवा मोह छोड़कर अज्ञान-रहित हो गये फिर वे उर्वशी का लोक त्याग कर ध्यान द्वारा आत्मस्वरूप मेरा साक्षात्कार प्राप्त कर मेरे लोक के अधिकारी बने ।

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः स उर्वशीलोकमथो विहाय ।

आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥ ११/२६/२५

इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि पुरुरवा की भाँति कुसङ्ग छोड़कर सत्पुरुषों का सङ्ग करे । सन्त पुरुष अपने सदुपदेशों से उसके मन की आसक्ति नष्ट कर देते हैं—

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् । सन्त एतस्य च्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥

११/२६/२६

सन्त पुरुषों का लक्षण यह है कि उन्हें कभी किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं हुआ करती । उनका चित्त सर्वदा मुझमें ही निमग्न रहता है । उनके हृदय में शान्ति का अगाध सागर लहराता रहता है । वे सब में भगवान् का ही दर्शन करते रहते हैं । उनमें अहन्ता और ममता का नाम भी नहीं रहता है । वे निर्मम, निर्द्वन्द्व और अपरिग्रही होते हैं । उनके समाज में सर्वदा मेरी कथा की गङ्गा प्रवाहित होती रहती है, जिसका सेवन करने से प्राणी के पाप-ताप शान्त हो जाते हैं । मेरी कथाओं को जो सुनते हैं, जो गाते हैं और जो उनका अनुमोदन करते हैं, वे मेरे परायण हो जाते हैं और मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त कर लेते हैं । भक्ति प्राप्त कर लेने पर उन्हें फिर कोई प्राप्तव्य नहीं रह जाता है । वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है । जो इस संसार-सागर में डूब-उतरा रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता शान्त सन्त ही एकमात्र आश्रय हैं, जैसे जल में डूब रहे लोगों के लिये दृढ़ नौका जैसे अन्न से प्राणियों के प्राण की रक्षा होती है, जैसे मैं दीन-दुःखियों का परम रक्षक हूँ, जैसे परलोक में प्राणियों की एक मात्र पूँजी धर्म है, वैसे ही संसार से भयभीत लोगों के रक्षक केवल सन्त ही हुआ करते हैं—

१. न ज्ञात कामः कामानामुपभोगेन शान्त्यति । हविषा कृष्णवर्त्सेव भूय एवाभिवर्धते ॥ भगद्गीता ॥



अन्नं हि प्राणिनां प्राणः आर्तानां शरणं त्वहम् ।

धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाङ् बिभ्यतोऽरणम् ॥११/२६/३३

इस संसार में सब कुछ सन्त ही हैं। अतः उन्हीं की सङ्गति करनी चाहिये। प्रिय उद्धव, आत्म-साक्षात्कार होते ही पुरुरवा को उर्वशी-लोक की स्मृहा न रही। उनकी सारी आसक्तियाँ समाप्त हो गई और वे आत्माराम होकर स्वच्छन्दरूप से इस पृथिवी पर विचरण करने लगे। अन्त में पुरुरवा को वैराग्य के बल पर मेरे लोक की प्राप्ति हुई ॥२६॥

श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२६॥

## सत्ताईसवाँ अध्याय

( क्रिया-योग का वर्णन )

उद्धव ने कहा—प्रभो, आप अपनी आराधनारूप उस क्रिया-योग का वर्णन कीजिये जिसका आश्रयण कर वैष्णव जन आप की समाराधना करके अपने मनोरथों की सिद्धि किया करते हैं—

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो । यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्त्वतर्षभ ॥

११/२७/१

बड़े बड़े ऋषियों-मुनियों ने आपके आराधनारूप क्रिया-योग की बार-बार बड़ी प्रशंसा की है। इसका वर्णन ब्रह्माजी ने भृगु आदि अपने पुत्रों से और महादेव जी ने देवी पार्वती से किया है। कहते हैं इससे प्राणियों का परम कल्याण होता है—“एतद्वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम्” ॥२॥ इसके सर्वप्रथम उपदेष्टा आप ही हैं। यह क्रियायोग सभी वर्णों और आश्रमों के लिये भी परम कल्याणकारी है। स्त्री-शूद्रादि के लिये भी यही सब से श्रेष्ठ साधना-पद्धति है। इस क्रिया-योग के सभी अधिकारी हैं—“श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्री-शूद्राणां च मानद” ॥४॥

भगवान् ने कहा—उद्धव, कर्मकाण्ड का बड़ा विशाल विस्तार है किन्तु यहाँ मैं उसका संक्षिप्त सारवान् रूप प्रस्तुत कर रहा हूँ। मेरी पूजा की तीन विधियाँ हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित। वैदिक पूजा पुरुषसूक्त के मन्त्रों से, तान्त्रिक पूजा तन्त्रोक्त पद्धति से और मिश्रित पूजा पुराणों, वेदों और तन्त्रों के मन्त्रों द्वारा मिली जुली पूजा है। इनमें से अपनी रुचि के अनुसार किसी एक विधि का अवलम्बन करके मेरी आराधना करनी चाहिये। द्विज को चाहिये कि यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कृत होकर ही मेरी पूजा-आराधना करे। मेरी यह पूजा मूर्ति में, वेदी में, अग्नि में, सूर्य में, जल में, हृदय में अथवा ब्राह्मण में करनी चाहिये। पूजा के इन आधारों में किसी एक का यथेच्छ चयन कर लेना चाहिये। पूजा की विधि अपने गुरु से सीख कर फिर उसी के अनुसार स्नान, सन्ध्या-वन्दन आदि करके सङ्कल्पपूर्वक पूजा करनी चाहिये।

भगवान् कहते हैं कि मेरी प्रतिमाएँ आठ प्रकार की कहीं हैं— पत्थर की, लकड़ी की, धातु की<sup>१</sup>, मिट्टी और चन्दन आदि की, चित्रमयी, बालुकामयी, मनोमयी और मणिमयी—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती । मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥

११/२७/१२

इन प्रतिमाओं में प्राण-प्रतिष्ठा भी चल-अचल दो प्रकार से होती है। अचल प्रतिमा की पूजा में प्रतिदिन आवाहन

१. सुवर्ण, रजत, ताम्र, रीति (पीतल), कांस्य, त्रपु (रांगा), सीसा, काला लोहा—ये आठ प्रकार के लौह कहे गये हैं।



और विसर्जन नहीं करना चाहिये। चल प्रतिमा के सम्बन्ध में विकल्प है। किया भी जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता। बालुकामयी प्रतिमा में प्रतिदिन आवाहन विसर्जन करना चाहिये। मिट्टी और चन्दन की तथा चित्रमयी प्रतिमाओं को स्नान न कराकर केवल उनका मार्जन कर दे; परन्तु और सबको स्नान कराने का विधान है। मेरी पूजा विविध वस्तुओं से भी हो सकती है, जितनी वस्तुएँ अनायास मिलें, उनसे भी हो सकती है और कुछ न मिले तो मानसिक भी हो सकती है—“यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि” ॥१६॥ तुलसी के एक पत्र के समर्पण से भी मैं सन्तुष्ट हो जाता हूँ।

उद्धव जी, मूर्ति के अनुसार पूजा करनी चाहिये यदि शालग्राम आदि की अर्चा में पूजा करनी हो तो स्नान आदि कराना चाहिये। स्थण्डिल (भूमि) में तत्त्व का न्यास करना चाहिये। अग्नि में हवन करना चाहिये। सूर्य में अर्घ्यदान और उपस्थान ही प्रिय है। जल में अर्घ्यादि देना चाहिये यदि कोई मुझे भरी भक्ति के साथ जल भी चढ़ा देता है तो मैं तृप्त हो जाता हूँ। जहाँ भक्तिपूर्वक प्रदत्त अणुमात्र से मैं प्रसन्न हो जाता हूँ, वहीं अभक्तों द्वारा प्रदत्त प्रभूत वस्तु से भी मैं सन्तुष्ट नहीं होता हूँ—

भूर्यप्यभक्तोपहतं न मे तोषाय कल्पते ॥११/२७/१८

पवित्र होकर पवित्र भाव से यथाशक्ति यथोचित सामग्री से मेरी पूजा करनी चाहिये। यहाँ यह ध्यान रखना है कि व्यक्ति को जो वस्तु अधिक प्रिय हो वह मुझे अवश्य समर्पित करे। अग्राह्य न समर्पित करे। उद्धव जी, पूजा प्रारम्भ करने के समय भूत-शुद्धि आदि के द्वारा अपने शरीर को भी शुद्ध कर लेना चाहिये फिर मेरी जीव-कला का अपने हृदय-कमल पर ध्यान करे। जीवकला आत्मस्वरूपिणी है पुनः मेरा ध्यान करते हुए तन्मय हो जाय। मुझ परमात्मा में अपने आप को मिला दे। मेरे आयुधों की, अस्त्रों की, आभूषणों की, पार्षदों की भी पूजा करनी चाहिये। मेरी यह पूजा शास्त्र के विधान के अनुसार ही होनी चाहिये। पूजा के अवसान में हवन और ‘ॐ नमो नारायणाय’ इस महामन्त्र का जप करे—

मूलमन्त्रं जपेद् ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम् ॥११/२७/४२

पूजा की समाप्ति पर मेरी कथा का श्रवण और मेरा ध्यान करना चाहिये। वैदिक, पौराणिक अथवा लोकभाषा के पदों से मेरी स्तुति करके—“भगवन्, मेरे ऊपर प्रसन्न होइये”—ऐसा कहते हुए दण्डवत् प्रणाम करे। जहाँ पूजा होती हो वहाँ मेरी पूजा करनी चाहिये। पूजा के लिये मन्दिर बनवाकर मूर्ति की स्थापना करे और पूजा सर्वदा चलती रहे—एतदर्थ धन की व्यवस्था भी कर देनी चाहिये। ब्राह्मण को प्रदत्त वृत्ति का हरण नहीं करना चाहिये। जो फल कर्ता को, मन्दिर-निर्माता को मिलता है, वह फल सहायक को और प्रेरक को भी प्राप्त होता है। यदि उनका हाथ अधिक रहा तो, फल भी उन्हें अधिक ही मिलता है—

कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च । कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम् ॥११/२७/५५

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह सप्ताईसर्वा अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

## अष्टाईसर्वा अध्याय

( परमार्थ-निरूपण )

यद्यपि ज्ञान-योग का वर्णन पीछे किया जा चुका है। किन्तु ‘द्विबद्धं सुबद्धं’ स्यात् इस न्याय के अनुसार और पुष्टि प्रदान करने के लिये पुनः उसका प्रतिपादन कर रहे हैं।



श्रीभगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव, संसार के सभी स्त्री-पुरुष प्रकृति-पुरुष स्वरूप हैं—ऐसा समझ कर किसी की न तो निन्दा करे और न स्तुति ही—

परस्वभावकर्मणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् । विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥११/२८/१  
जो व्यक्ति किसी की निन्दा अथवा स्तुति करता है, वह द्वैत भाव में फँस कर अद्वैत की भावना से च्युत हो जाता है । अद्वैत की समराधना में द्वैत के लिये स्थान नहीं है । निन्दा और स्तुति द्वैत-भावना उत्पन्न करनेवाले हैं । इस मिथ्या द्वैत जगत् में सब कुछ मिथ्या ही मिथ्या है । ज्ञानेन्द्रियों से हम जिनका अनुभव करते हैं, वह सब स्वप्न की भाँति, असत्य है, मिथ्या है—

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् । वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥११/२८/४  
परछाई, प्रतिध्वनि और सीपी आदि में चाँदी आदि का आभास—ये सब मिथ्या होते हुए भी प्राणी के हृदय में भय-कम्प आदि का सञ्चार करते हैं । इसी प्रकार सभी वस्तुएँ हैं तो सर्वदा मिथ्या हैं, किन्तु जब तक ज्ञान के द्वारा इनकी असत्यता का बोध नहीं हो जाता, तब तक ये भी अज्ञानियों को भयभीत करती रहती हैं । प्रत्यक्ष या परोक्ष जो भी वस्तु है, वह सब आत्मा ही है । वही सर्वशक्तिमान् है । विश्व का निर्माता और रक्षक भी वही है । अपने मुख से जाला उगलकर जाल बुननेवाली मकड़ी की भाँति वही विश्व का निमित्त कारण और उपादान कारण—दोनों ही है । वही विश्व बनाता है और वही बनता भी है, वही रक्षक है और रक्षिता भी वही है । इसका संहार करनेवाला और संहत होनेवाला भी वही है । इस जगत् में आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं । व्यवहार दृष्टि से देखने पर आत्मा इस विश्व से भिन्न प्रतीत होता है; परन्तु आत्मदृष्टि से विचार करने पर उसके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है । सत्त्व, रज और तम के कारण प्रतीत होनेवाली द्रष्टा-दर्शन-दृश्य आदि की त्रिविधता माया का खेल है । अज्ञान का कार्य है, जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है । अँधेरे में रस्सी सर्प प्रतीत होती है । द्रष्टा देखकर भागता है, डरता है किन्तु प्रकाश के होते ही रज्जु में सर्प का भ्रम छूमन्तर हो जाता है । वैसे अज्ञान से प्रतीत होनेवाला यह संसार ज्ञान होते ही गायब हो जाता है अतः साधक को चाहिये कि वह प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति-वचनों से इस संसार को झूठा समझकर किसी की सङ्गति न करे । वह एकाकी ही सर्वत्र विचरण करे—

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा । आद्यन्तवदसञ्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह ॥११/२८/९  
उद्धव जी ने कहा—भगवन्, आत्मा है द्रष्टा और देह है दृश्य । आत्मा स्वयंप्रकाश है और देह है जड । ऐसी स्थिति में जन्म-मृत्यु-रूप संसार न शरीर को हो सकता है और न आत्मा को किन्तु इसका होना भी देखा जाता है । तब यह होता किसे है ? आत्मा अविनाशी, गुण-गण-विहीन, शुद्ध, स्वयं प्रकाश और निरावरण है । शरीर विनाशी, सगुण, अशुद्ध, प्रकाश्य और आवृत है । आत्मा अग्नि की भाँति प्रकाशशील है तो शरीर काष्ठ की भाँति अचेतन फिर यह जन्म-मृत्युरूप संसार है किसे ?

भगवान् ने कहा— उद्धव, सुनो । यद्यपि संसार का वास्तविक अस्तित्व नहीं है, तथापि जब तक देह, इन्द्रिय और प्राणों के साथ आत्मा की सम्बन्ध-प्रान्ति है, तब तक अविवेकी पुरुष को वह सत्य-सा प्रतीत होता है—

यावद् देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम् । संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥

११/२८/१२

जैसे वास्तव में अविद्यमान रहने पर भी स्वप्न में दिखलाई पड़नेवाले मिथ्या पदार्थों से द्रष्टा को दुःख की अनुभूति होती है । यह अनुभूति स्वप्न टूटने तक बनी रहती है । वैसे ही संसार के न होने पर भी उससे संसार-रूप जन्म-मृत्यु की निवृत्ति तब तक नहीं होती जब तक कि ज्ञानरूप सूर्य का उदय न हो जाय । देह, इन्द्रिय, प्राण और मन में स्थित आत्मा ही जब उन्हें अपना स्वरूप मान बैठता है, तब उसकी संज्ञा 'जीव' होती है । वह जीव कहा जाता है । उस



सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा की मूर्ति है—गुणों और कर्मों का बना हुआ 'लिङ्ग शरीर'। उसे ही कहीं 'सूत्रात्मा' कहा जाता है और कहीं महत्तत्त्व। वही कालरूप परमेश्वर की प्रेरणा से इतस्ततः भ्रमण करता रहता है। आत्मा और अनात्मा के स्वरूप को पृथक्-पृथक् भलीभाँति समझलेना ही ज्ञान है, क्योंकि विवेक होते ही द्वैतका भ्रम मिट जाता है। भ्रम मिटते ही विवेकी व्यक्ति को यह बोध हो जाता कि यह संसार पहले नहीं था और अन्त में भी नहीं रहेगा इसलिये मध्य में इसकी अनुभूति भी मिथ्या है, स्वप्नवत् भ्रम है, डरावना है। यथार्थ बात तो यह है कि अविनाशी ब्रह्म ही जगत् के रूप में भासता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है कि— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। जैसे सुवर्ण से निर्मित कटक, कुण्डल और मृत्तिका से बने हुए घट, शराव आदि कार्य सुवर्ण तथा मृत्तिका ही हैं, सुवर्ण और मृत्तिका से भिन्न नहीं वैसे ही अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न यह प्रपञ्च भी ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं।—

ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥११/२८/२२

ब्रह्म विचार के साधन हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और स्वानुभूति। उनमें सहायक हैं आत्मज्ञानी गुरुदेव। इनके द्वारा विचार करके स्पष्टरूप से देह आदि अनात्म पदार्थों का निषेध करके अपने आत्मस्वरूप आनन्द में निमग्न हो जाय फिर उस स्थिति में जगत् की स्थिति भासित नहीं होती। ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने के बाद इन्द्रियाँ संयमित रहें अथवा असंयमित, उससे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि अन्तःकरण और बाह्यकरण—सभी गुणमय हैं इसीलिये गुणातीत आत्मा से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। भला, आकाश में बादलों के छा जाने अथवा तितर-वितर हो जाने से सूर्य का क्या बनता-बिगड़ता है ?—“घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम्” ॥२५॥ उद्धव जी, ऐसा होने पर भी तब तक मायानिर्मित इन गुणों और उनके कार्य विषयों का सङ्ग सर्वथा त्याग देना चाहिये, जब तक मेरे सुदृढ भक्ति-योग द्वारा मन का रजोगुण रूप मल एकदम न निकल जाय। अज्ञानी प्राणी विविध कर्मों को करते हुए बन्धन में पड़ जाते हैं। ज्ञानी पुरुष संसार में रहकर सब कुछ करते हुए भी, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ, ऐसी धारणा करके बन्धन से रहित हो निर्भय विचरण करते हैं। वे मस्तराम की तरह निरन्तर आत्मानन्द में ही निमग्न रहते हैं। संसार में उनकी स्थिति, जल में स्थित कमलिनी-पत्र की भाँति निर्लिप्त ही समझनी चाहिये। ऐसे ही साधक को जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त जनों का मन मुझ परमात्मा में ही सदा रमा रहता है अतः खाते-पीते, जागते-सोते, उठते-बैठते कभी भी उन्हें अपने शरीर का भान नहीं होता।

जैसे प्रभात की बेला में उदित हुआ सूर्य किसी नई वस्तु की रचना नहीं करता, बल्कि आँख के सामने फैले हुए अन्धकार को हटाकर घट-पट आदि पदार्थों को प्रकाशित कर देता है वैसे ही मेरा ज्ञान भी ब्रह्म ज्ञान भी ब्रह्म को, आत्मा को पैदा नहीं करता, इनमें अनेकता का जो अज्ञान है, तम है, उसे मिटा देता है, हटा देता है—

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्यान्न तु सद् विधत्ते।

एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्यात्तमिह पुरुषस्य बुद्धेः ॥११/२८/३४

ज्ञान तो केवल बुद्धि में बैठे हुए अज्ञान को मिटाता है। आत्मा तो स्वयं प्रकाश, अजन्मा, अप्रमेय, महानुभूति, सकलानुभूति, एक और अद्वय है। वहाँ तक वाणी की गति नहीं। एक आत्मा में अनेक का दर्शन ही सबसे बड़ा भ्रम है। देखने वाला प्रपञ्च सर्वथा मिथ्या है। जो लोग इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों को सत्य मानते हैं वे पण्डित नहीं, पण्डितमानी हैं। तत्त्व-वेत्ता उनके मत को स्वीकार नहीं करते। जब इन्द्रियों की पृथक् सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, तो फिर वे किसी को प्रमाणित कैसे करेंगी ?

यदि अभ्यास की अवस्था में विघ्न उपस्थित हो जाँय तो उन्हें योग-धारणा से, तप से, मन्त्र से दूर करना चाहिये। वस्तुतः मेरे ध्यान और नाम-सङ्कीर्तन से सारे विघ्न स्वतः समाप्त हो जाते हैं। योग-सिद्धियाँ भी विघ्न हैं। इनसे भी सतत ध्यान और नाम-सङ्कीर्तन से निवृत्ति होनी चाहिये।



उद्धव जी, जब साधक मेरी शरण ग्रहण करके मेरे भजन में तल्लीन हो जाता है, तब उसे कोई विघ्न-बाधाएँ विचलित नहीं कर सकतीं। उस समय उसकी रक्षा मैं स्वयं करता हूँ— “करउँ सदा तिनकी रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी” ॥ रामचरितमानस। उसकी समस्त विषय-वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह आत्मानन्द में निमग्न हो जाता है—

योगचर्यामिमां योगी विचरन् मदपाश्रयः । नान्तरायैर्विहन्त्येत निस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥११/२८/४४  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह अट्टाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२८॥

## उन्तीसवाँ अध्याय

( भक्ति का पुनः निरूपण और उद्धव का बदरिकाश्रम-गमन )

उद्धव ने कहा—देहाभिमान की व्यक्तियों के लिये चित्त का, मन का, निरोध अतिकठिन है। अतः आप कोई सरल और सुगम साधन बतलाइये, जिससे मनुष्य अनायास ही परम पद प्राप्त कर लेता है, “भव तर बिनहि प्रयास”—

सुदुश्चरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः । यथाञ्जसा पुमान् सिद्ध्यत् तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत ॥११/२९/१

योगी—जन बार-बार प्रयास करने पर भी मन को वश में करने में सफल नहीं हो पाते हैं<sup>१</sup>। जब तक मन की वासनाएँ पूर्णतः क्षीण नहीं हो जाती हैं, तब तक मन पूरा-पूरा वश में नहीं होता। अनिर्मूल वासनाएँ रह-रह कर बार-बार शिर उठाती रहती हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति आपके चरण-कमल का आश्रय लेते हैं, वे सारी कठिनाइयों, असफलताओं से अनायास पार हो जाते हैं। मायापति की कृपामयी गोद में बैठे हुए भक्त की माया या उसके गुण-गण कुछ भी बिगाड़ नहीं पाते हैं। माया स्वयं वहाँ से भाग खड़ी होती है—“माया परैत्यभिमुखे मयि”। प्रभो, आप की दयालुता, कृपालुता अवर्णनीय है। आप अपने सेवकों के भी अधीन हो जाते हैं। ब्रह्मा आदि देवगण अपने दिव्य मुकुटों को प्रणाम की मुद्रा में आपके पाद-पीठ पर रगड़ते रहते हैं फिर भी आप उनकी ओर ध्यान नहीं देते। रामावतार में तो आपने बन्दरों और भालुओं से मित्रता की थी। उन्हें अपने से ऊँचा स्थान दिया था<sup>२</sup>। धन्य है, आप की कृपालुता ! धन्य है, आप की भक्तवत्सलता ! अधिक क्या कहा जाय ? आप बाहर आचर्य रूप से गुरु बन कर, उपदेष्टा बनकर, और भीतर अन्तर्यामीरूप से नियन्ता बनकर विषय-वासना को समाप्त कर दासों के समक्ष अपने आप को प्रकट कर उन्हें तार देते हैं—

योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥११/२९/६

इसीलिये, मैं आपके चरणों की शरण में आया हूँ। भला कौन विचारवान् व्यक्ति आप को छोड़ सकता है ? बस, आपके चरणारज के प्रेमियों की सङ्गति मुझे सुलभ होती रहे। जन्म-जन्मान्तर मैं आप से उन्नत नहीं हो सकता।

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, भगवान् कृष्ण सर्वेश्वर हैं। उद्धव के प्रश्न को सुनकर मुस्कराते हुए उन्होंने कहा—प्रिय उद्धव, अब मैं तुम्हें अपने उस भागवत धर्म को साररूप में सुनाता हूँ, जिसके श्रवण से प्राणी अनायास ही भवसागर को पार कर जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—उद्धव जी, मेरे भक्त को चाहिये कि वह अपने सारे कर्म मेरे लिये ही करे। कर्म

१. चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दुर्बलम् । तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ भगवद्गीता, ६/३४॥

२. प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान । तुलसी कहूँ न राम सम, साहिब सीलनिधान ॥ रामचरितमानस ॥



करते हुए हृदय से मेरा स्मरण भी करता रहे। अपना अन्तःकरण, बाह्यकरण सब कुछ मुझे समर्पित कर दे। मन मुझ मनमोहन में लगा दे। ऐसे पुण्य देश में निवास करे जहाँ सन्तों, महात्माओं की सङ्गति सुलभ हो और मेरी पावनी कथा गङ्गा का प्रवाह निरन्तर बहता हो। सारे प्राणियों में मेरा दर्शन करे। निर्मल बुद्धि उद्धव जी, जो साधक केवल ज्ञान-दृष्टि का आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थों में मेरा दर्शन करता है तथा ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण-भक्त, सूर्य और चिनगारी तथा कृपालु और क्रूर में समदृष्टि रखता है, उसे ही सच्चा ज्ञानी, पण्डित समझना चाहिये—

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽकें स्फुलिङ्गके । अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः ॥

११/२९/१४

जब सारे प्राणियों में मेरी ही भावना की जाती है, तब थोड़े ही दिनों में साधक के चित्त से स्पृहा, ईर्ष्या, तिरस्कार और अहङ्कार आदि सारे दुर्गुण समाप्त हो जाते हैं। साधक जब सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन करता है, तो फिर वह विरोध आदि किससे करेगा—“केहिं सन करहिं विरोध”। सबके सामने मन से दण्डवत् प्रणाम करे। कौन मेरी हँसी उड़ा रहा है और कौन मेरा मजाक कर रहा है, इस पर उसे ध्यान नहीं देना चाहिये—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम् । प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्चाण्डालगोखरम् ॥

११/२९/१६

जब तक सबमें मुझ परमात्मा का दर्शन न हो तब तक इसीप्रकार की उपासना करनी चाहिये फिर तो सब ब्रह्ममय ही हो जाता है। यही ज्ञान की उच्च स्थिति भी है। प्रिय उद्धव जी, मेरी प्राप्ति के जितने साधन हैं, उन सब में यही सबसे सुगम और श्रेष्ठ है कि सभी प्राणियों में मेरी भावना की जाय। इसमें कोई विघ्न भी नहीं है। इसे प्रारम्भ कर देने पर इसका विनाश नहीं होता। साधक द्वारा मुझे समर्पित सारे भाव धर्म बन जाते हैं। इस तरह के आयास निरर्थक नहीं होते, सार्थक होते हैं। बुद्धिमानों की बुद्धि यही है, मनीषियों की मनीषा यही है कि वह मेरा भजन करके मुझे प्राप्त करले, इस नश्वर शरीर के द्वारा मुझ अविनाशी और सत्य तत्त्व को प्राप्त करलें—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् । यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥ ११/२९/२२

उद्धव जी, यह सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या का रहस्य मैंने संक्षेप और विस्तार से तुम्हें सुना दिया है। इस रहस्य को समझना देवों के लिये भी अत्यन्त कठिन है। मैंने जिस सुस्पष्ट और युक्तियुक्त ज्ञान का वर्णन बार-बार किया है, उसके मर्म को जो समझ लेता है, उसके हृदय की संशय-ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और वह मुक्त हो जाता है। मैंने तुम्हारे सारे प्रश्नों का समाधान कर दिया है। इसके रहस्य को जो हृदय से धारण करेगा, वह सनातन ब्रह्मपद का अधिकारी बनेगा। मेरे भक्तों को जो इस ज्ञान का हृदय समझायेगा, उसे मैं अपना स्वरूप प्रदान कर दूँगा। उद्धव, अब तुम बतलाओ कि तुमने ब्रह्म का रहस्य भली-भाँति समझ लिया न ? अब तुम्हारे हृदय का शोक और मोह तो दूर ही हो गया होगा ? इसका उपदेश किसी अपात्र को कभी मत करना। दम्भी, लोभी और हठी प्राणी इस उपदेश के पात्र नहीं हैं। शूद्र और स्त्रियाँ भी इस उपदेश के श्रवण के अधिकारी हैं जैसे दिव्य अमृत का पान कर लेने पर कुछ भी पीना शेष नहीं रहता, वैसे ही यह ज्ञान लेने पर जिज्ञासु के लिये और कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता—

नैतद् विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते । पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥ ११/२९/३२

१. कर ते कर्म करिय विधि नाना । मन राखिय जहँ कृपानिधान ॥ रामचरितमानस ॥

२. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ भगवद्गीता, ५/१८



अन्त में भगवान् ने कहा—प्रिय उद्धव, जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके मेरे सामने अपने आपको समर्पित कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है और मैं उसके जीवभाव को छुड़ा कर उसे अमृतस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करा देता हूँ फिर तो वह मुझसे मिलकर मेरा स्वरूप बन जाता है—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।

तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥११/२९/३४

श्रीशुकदेव जी ने कहा—राजन्, भगवान् की वाणी को सुनकर उद्धव जी प्रेमगद्गद हो उठे। उनके नेत्रों में अश्रु छलछला आये। कण्ठ आँसुओं से अवरुद्ध हो गया। हाथ जोड़कर भगवान् के श्रीचरणों पर मस्तक रखकर उन्होंने कहा—मेरे महाराज, मेरे हृदय का मोहान्धकार समाप्त हो गया। आपके चरणों की शरण ग्रहण करने पर वह सदा के लिये भाग गया। प्रचण्ड मार्तण्ड के सामने पहुँचने पर क्या शीत, अन्धकार और भय प्रभावी होते हैं ? मुझ चरण-सेवक पर अनुकम्पा करके आपने मेरे हाथ पर जो ज्ञान-दीपक रक्खा है, वह समस्त अज्ञानान्धकार को समाप्त करनेवाला है। ऐसा कौन होगा, जो आपके इस कृपा-प्रसाद का अनुभव करके भी आपके चरण-कमलों की शरण छोड़ दे और किसी अन्य का सहारा ले। आपने कृपा करके मेरा स्नेह-पाश काट दिया है। अब आप मुझ पर कृपा करके यह वरदान दें कि मेरे हृदय में आपके चरण-कमल की अनपायिनी भक्ति सदा बनी रहे—

यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥११/२९/४०

आगे भगवान् ने कहा कि उद्धव जी, अब तुम बन्नीनाथ चले जाओ। वहाँ अलकनन्दा में स्नान करना, मेरा भजन करना और फिर यथासमय तुम मेरे पास आ जाओगे। भगवान् का आदेश मिलने पर उद्धव ने भगवान् की परिक्रमा की। उनके चरणों पर अपना मस्तक रक्खा। वे उस समय अत्यन्त करुणार्द्र और भावुक हो उठे। वे भगवान् को छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। भगवान् ने उन्हें अपनी चरण-पादुका दी। उद्धव ने उसे अपने शिर पर रक्खा। किसी-किसी तरह अपने आपको संभाला और चल पड़े बदरिकाश्रम की ओर। जाने की बेला में वे मुड़-मुड़ कर भगवान् को देखते जाते थे। वहाँ पहुँच कर उद्धव ने कठिन तप प्रारम्भ किया। यथासमय भगवान् की सामीप्य मुक्ति प्राप्त कर वे भगद्धाम चले गये।

यह कथा-प्रसङ्ग आनन्द-सागर के मन्थन से निकला हुआ ज्ञानामृत है। इसका सेवन-कर्ता मुक्त हो जाता है। यदि सारा जगत् इसका सेवन करे तो वह भी मुक्त हो जाय अन्त में श्रीशुकदेव महाराज इस कथा-प्रसङ्ग का उपसंहार करते हुए कहते हैं—परीक्षित, जैसे भ्रमर विविध पुष्पों से उसका सार-सार मधु संग्रह कर लेता है, वैसे ही वेदों के प्रकाशक भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्तों को संसार से मुक्त करने के लिये यह ज्ञान और विज्ञान का सार निकाला है। उन्होंने ही जरा-रोगादि भय की निवृत्ति के लिये क्षीर-समुद्र से अमृत भी निकालकर अपने भक्तों को पिलाया था। वे ही पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण सारे जगत् के मूल कारण हैं। मैं उनके चरण-कमलों में प्रणाम कर रहा हूँ—

भवभयमपहन्तुं ज्ञान-विज्ञानसारं निगमकृदुपजह्ये भृङ्गवद् वेदसारम् ।

अमृतमुदधितश्चापायचद् भृत्यवर्गान् पुरुषमृषभम्पाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥११/२९/४९

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥२९॥



## तीसवाँ अध्याय

### ( यदुकुल-संहार )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवान् के महान् भक्त उद्धव के बदरीवन चले जाने पर (सृष्टि, पालन और संहार के कर्ता) भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वारका में क्या किया ?—

ततो महाभागवत उद्धवे निगति वनम् । द्वारवत्यां किमकरोद् भगवान् भूतभावनः ॥११/३०/१  
प्रभो, यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने कुल के ब्रह्म-शाप से ग्रस्त होने पर अपना लोकप्रिय श्रीविग्रह कैसे अन्तर्हित किया ? ऋषि शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, जब भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि आकाश, भूतल और अन्तरिक्ष में बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं, तब उन्होंने सुधर्मा सभा में एकत्रित यदुवंशियों से कहा—द्वारका में अनिष्ट के सूचक बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं। अब हमें यहाँ घड़ी-दो-घड़ी भी नहीं रहना चाहिये। स्त्रियाँ, बच्चे और वृद्धे यहाँ से शङ्खोद्धार<sup>१</sup> क्षेत्र में चले जाँय और हम लोग प्रभास क्षेत्र में चलें।

हमलोग भी प्रभास क्षेत्र में चलेंगे जहाँ पश्चिम वाहिनी सरस्वती बहती है। वहाँ चलकर हमलोग स्नान-ध्यान करेंगे। देवताओं की आराधना करेंगे। ब्राह्मणों को द्रव्य, वस्त्र, गाय और सुवर्ण का दान करेंगे। ऐसा करने से अमङ्गल का विनाश होता है। भगवान् की सलाह मानकर सभी यदुवंशी प्रभास क्षेत्र के लिये प्रस्थान कर दिये। वहाँ पहुँच कर उन लोगों ने अमङ्गल की शान्ति के लिये नाना प्रकार के माङ्गलिक कृत्य किये।

हृदय-द्वारका में शाप आदि प्रभावी नहीं होते थे। तभी तो शाप-ग्रस्त नारद भी वहाँ बहुत दिनों तक निवास करते थे इसलिये भगवान् ने सोचा कि ब्रह्मणों का वचन भी रह जाय और यदुवंशियों का नाश होकर पृथ्वी का भार भी समाप्त हो जाय। यही कारण है, उन्होंने सब को प्रभास क्षेत्र में भेज दिया ॥

माङ्गलिक कार्यों को कर लेने के बाद यदुवंशियों ने भोजन किया और फिर छककर मैरैयक (मदिरा) का पान किया। यही तो ईश्वरेच्छा थी। मैरैयक घास को पीसकर यह मदिरा तैयार की जाती थी। मदिरा का नशा यदुवंशियों पर ऐसा चढ़ा कि उन लोगों ने सारे प्रेम, सौहार्द और सम्बन्धों को भुला दिया और परस्पर दुर्वचन कहते हुए मार-काट करने लगे—

मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भिर्जातीस्त्वहञ्जातय एव मूढाः ॥११/३०/१९

अन्त में जब उनके बाण समाप्त हो गये, धनुष टूट गये और शस्त्रास्त्र नष्ट-भ्रष्ट हो गये तब उन्होंने अपने हाथों से समुद्र के तट पर उगी हुई एरका नामक घास उखाड़ ली जो उनके हाथों में आते ही भगवदिच्छावश तीखी धारवाले वज्र की भाँति कठोर बन गई। यह वही घास थी, जो ऋषियों के शाप के कारण उत्पन्न हुए मुसल के चूरे से पैदा हुई थी। जब बलराम और श्रीकृष्ण उनको समझाने, रोकने का प्रयास किये तब उन यदुवंशियों ने समझा कि ये हमारे विरोधी हैं और वे उन पर भी प्रहार करने लगे। इस पर क्रुद्ध होकर बलराम और श्रीकृष्ण ने भी उनका संहार प्रारम्भ कर दिया—

अथ तावपि संक्रुन्दाबुद्ध्यस्य कुरुनन्दन । एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघनतुर्गुणि ॥११/३०/२३  
थोड़ी ही देर के बाद सारे यदुवंशी आपस में मर-कट कर धराशायी हो गये। यदुवंशियों का संहार हो जाने पर भगवान् ने समझा कि अब पृथिवी का भार पूर्णरूप से उतर गया है। भगवान् बलराम ने सागर के तट पर बैठकर समाधि लगा ली और सशरीर अपने लोक को चले गये।

१. शङ्खोद्धार तीर्थ द्वारका के समीप प्रभास-क्षेत्र में स्थित है। एक समय त्रित मुनि के शाप से मुनि कक्षीवान् शङ्करूप हो गये थे। भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका उद्धार किया था इसीसे उस स्थान को शङ्खोद्धार कहा जाता है जहाँ उनका



**हृदय**—शेष के अवतार बलराम जी अपने स्वरूप से महा बैकुण्ठ गये और अपने अंशरूप से पातालतल गमन किये ऐसा समझना चाहिये ॥

बलराम जी के निर्याण को देखकर श्रीवत्साङ्ग धनश्याम, देवकीनन्दन<sup>१</sup> भगवान् श्रीकृष्ण एक तरुण पिप्पल के नीचे बैठ गये। उस समय भगवान् अपनी दाहिनी जाँघ पर बाँया चरण रखकर बैठे हुए थे। परीक्षित, जरा नामक एक बहेलिया था। उसने मुसल के बचे हुए टुकड़े से अपने बाण की नोंक बना ली थी उसे दूर से भगवान् का लाल-लाल तलवा हरिण के मुख के आकार-सा जान पड़ा। उसने उसे सचमुच हरिण समझकर उसी बाण से बौंध दिया—  
मुसलावशेषायः खण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा। मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगाशङ्कया ॥

११/३०/३३

जब वह पास आया, तब उसने देखा कि 'अरे ये तो चतुर्भुज पुरुष हैं फिर तो भय के मारे कांपते हुए वह भगवान् के चरणों पर गिरकर क्षमा-याचना करते हुए कहने लगा—हे प्रभो, जिसके स्मरण मात्र से प्राणियों का अज्ञानान्धकार समाप्त हो जाता है, उन आप के साथ मैंने महान् अनर्थ कर दिया। मैंने बड़ा पाप किया। आप मुझे दण्ड दें, मुझे मार डालें, जिससे मैं पुनः महापुरुषों के साथ ऐसा दुष्कर्म न कर सकूँ। जरा की प्रार्थना को सुनकर भगवान् ने कहा—जरा, भयभीत मत होओ। उठो। यह तो तुमने मेरा ही कार्य किया है। जाओ। मेरी आज्ञा से तुम उस स्वर्ग में निवास करो जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े पुण्यवानों को ही हुआ करती है। भगवान् के आदेश को सुनकर जरा ने भगवान् की तीन बार परिक्रमा की और चरणों पर मस्तक रख कर प्रणाम किया फिर वह विमान पर आरूढ़ होकर स्वर्ग चला गया।

**हृदय**—भगवान् ने यह दृढ नियम बना रक्खा है कि इस संसार में जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल भी मिलता है। स्वयं भगवान् भी इसके अपवाद नहीं हो सकते। रामावतार में राम ने छिपकर बालि को अपने बाण का निशाना बनाया था। इस अवतार में जब राम कृष्ण बन कर आये हैं, तब वही बालि जरा व्याध बनकर आया है। उसने कृष्ण को अपने बाण का वैसे ही निशाना बनाया है, जैसे राम ने बालि को बनाया था ॥

इधर भगवान् का सारथी दारुक भगवान् को खोजता हुआ, तुलसीमाला की गन्ध के सहारे, वहाँ पहुँचा जहाँ पीपल वृक्ष के नीचे वे विराजमान थे। जैसे ही रथ से उतरकर वह भगवान् के चरणों पर गिरा, वैसे ही ध्वजा और घोड़ों के सहित रथ उड़कर आकाश में चला गया। उसके पीछे-पीछे भगवान् के आयुध भी आकाश में चले गये। यह सब देखकर सारथी आश्चर्यचकित हो उठा भगवान् ने दारुक को आश्वस्त करते हुए कहा—दारुक, तुम द्वारिका में जाकर सब समाचार सुना देना और यह भी कह देना कि वहाँ किसी को रहना नहीं चाहिये। मेरे द्वारा त्यक्त यदुपुरी को समुद्र डुबो देगा इसलिये सब लोग इन्द्रप्रस्थ चले जाँय। यह सब मेरी लीला समझकर तुम किसी प्रकार का शोक-मोह मत करना। भगवान् के ऐसा कहने पर दारुक ने उनकी परिक्रमा की, बार-बार उन्हें प्रणाम किया। उनका चरण-कमल अपने शिर पर रक्खा और उदासमन से द्वारिका के लिये चल पड़ा।

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः। तत्पादौ शीघ्रयुपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम् ॥११/३०/५०  
॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३०॥

१. हृदय-मथुरा में देवकीनन्दन का प्रादुर्भाव हुआ था और अब द्वारका के प्रभास क्षेत्र से देवकीनन्दन ही स्वलोक-गमन कर रहे हैं। यशोदानन्दन तो वृन्दावन में रह ही गये और सर्वदा वहीं रहते हैं। देवकीनन्दन चतुर्भुज आये थे और चतुर्भुज ही गये। यशोदानन्दन सर्वदा द्विभुज ही रहे।



## इकतीसवाँ अध्याय

( भूतल-लीला का संवरण कर भगवान् श्रीकृष्ण का सशरीर गोलोक-गमन )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—दारुक के चले जाने पर ब्रह्मा जी, शिव-पार्वती, इन्द्र आदि लोक-पाल, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि बड़ी उत्कण्ठा के साथ भगवान् के निर्याण (परमधाम-प्रस्थान) को देखने के लिये वहाँ पधारे । वे सभी उस समय भगवान् की विविध लीलाओं का वर्णन कर रहे थे—

अथ तत्रागमद् ब्रह्मा भवान्या च समं भवः । महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः ॥

पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः । चारणाः यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः ॥

द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः । गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च ॥

११/३१-१-३

सब ने झुककर भगवान् के चरणों में प्रणाम किया । उस समय सारा आकाश-मण्डल देवों के विमानों से भर गया था । पुष्प-वृष्टि के साथ भगवान् का जय-जयकार हो रहा था । अप्सराएँ नाच रही थीं । गन्धर्व गानकर रहे थे । भगवान् ने सस्नेह देव-मण्डली को देखा फिर अपने आत्मा को स्वरूप में स्थित किया और कमल के समान नेत्र बन्द कर लिये । भगवान् का श्रीविग्रह उपासकों के ध्यान और धारणा का मङ्गलमय आधार है । समस्त लोकों के लिये रमणीय आश्रय है इसलिये उन्होंने उसे योगाग्नि के द्वारा जलाया नहीं, सशरीर अपने गोलोक धाम चले गये—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् । योगधारणयाऽऽग्रेष्व्याऽऽदग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥

११/३१/६

एक बिजली-सी चमकी और भगवान् अपने धाम चले गये । सब खड़े रह गये किन्तु किसी ने कुछ देखा नहीं । उस समय स्वर्ग के नगाड़े बजने लगे और आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी । भगवान् श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे इस लोक से सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्ति और श्रीदेवी भी चली गई । भगवान् श्रीकृष्ण की गति मन और वाणी से परे हैं; तभी तो जब भगवान् स्वधाम-गमन करने लगे, तब ब्रह्मा आदि देवता भी उन्हें न देख सके । इस घटना से वे बड़े विस्मित थे । इसके बाद सभी देवता भगवान् की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने लोक में चले गये ।

यथार्थ तो यह है कि भगवान् का प्रकट होना और जाना नाटक के नट की तरह है—“मायाविडम्बनमवेहि यथा नरस्य” ॥११॥ जो गुरुपुत्र को यमपुरी से सशरीर लौटा सकते थे, देवकी के मृत बेटों को ला सकते थे, स्वयं तुम्हें गर्भ में ब्रह्मास्त्र से बचा सकते थे, तो क्या वे स्वयं सदा जीवित नहीं रह सकते थे ? अवश्य ही रह सकते थे, पर उन्होंने यह विचार किया कि अन्त में भी एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये—

नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥११/३१/१३

जो व्यक्ति प्रातःकाल उठकर भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधाम-गमन की इस कथा का एकाग्रता और भक्ति के साथ कीर्तन करता है, उसे भगवान् का वही सर्वश्रेष्ठ परमपद प्राप्त होता है ।

इधर दारुक द्वारिका आया । वह रोते-रोते वसुदेव और उग्रसेन के चरणों पर गिर पड़ा । उस समय कृष्ण का वियोग उसे अत्यन्त दुःखी बना रहा था । उन लोगों से उसने यादवों के विनाश की कथा ज्यों-की-त्यों कह सुनाई उसे सुनते ही सब के सब शोक से मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े । कुछ देर के बाद वसुदेव आदि प्रभास-क्षेत्र पहुँचे । कृष्ण के वियोग से वे सभी दुःख-कातर हो रहे थे । उनके साथ देवकी, रोहिणी आदि उनकी स्त्रियाँ भी थीं । देवकी, रोहिणी और वसुदेव अपने प्रिय पुत्र श्रीकृष्ण और बलराम को न देखकर शोकार्त हो बेहोश हो गये । उन्होंने भगवद्गिरह से लटककर वहाँ अपने प्राण छोड़ दिये । स्त्रियों ने अपने-अपने पतियों के शव को पहचान कर उन्हें



हृदय से लगा लिया और उनके साथ चिता पर आरुढ़ होकर भस्म हो गई। बलराम जी की पत्नियाँ उनके शरीर को, वसुदेव की पत्नियाँ उनके शव को और भगवान् की पुत्रवधुएँ अपने पतियों की लाशों को लेकर अग्नि में प्रवेश कर गई। भगवान् श्रीकृष्ण की रुक्मिणी आदि पटरानियाँ उनके ध्यान में मग्न होकर अग्नि में प्रविष्ट हो गई।

अर्जुन उस समय वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने बन्धु-बान्धवों को नाना प्रकार के उपदेशों से धैर्य-धारण करवाया और मृतकों की पारलौकिक क्रिया करवाई। इधर भगवान् के न रहने पर समुद्र ने एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण का निवास-स्थान छोड़कर एक ही क्षण में सारी द्वारिका डुबो दी। भगवान् आज भी वहाँ निवास करते हैं। उस स्थान के स्मरण से भी सारे पाप-ताप भस्म हो जाते हैं—

द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात् । वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम् ॥  
नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः । स्मृत्याऽशेषाऽशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम् ॥

११/३१/२३-२४

इसके बाद अवशिष्ट स्त्री-बाल-वृद्धजनों को लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ चले गये। वहाँ सब को यथायोग्य बसाकर अनिरुद्ध के पुत्र वज्र का शूरसेनादि देशों के पालनार्थ मथुरा में ब्राह्मणों से अभिषेक करवा दिया।

हे राजन्, जब तुम्हारे दादा युधिष्ठिर, भीम आदि को ये बातें, अर्जुन के द्वारा ही, विदित हुईं तो वे अपने वंशधर तुम्हें राज्य-पद पर अभिषिक्त करके हिमालय की ओर उत्तर दिशा में चले गये।

मैंने तुम्हें सर्वाध्य भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-लीला और कर्म-लीला सुनायी। जो मनुष्य इन लीलाओं का गान करता है, वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। उसे परमहंस मुनीन्द्रों के अन्तिम प्राप्तव्य भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में पराभक्ति प्राप्त होती है—

य एतद् देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च । कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

११/३१/२७

भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥ ११/३१/२८

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के एकादश स्कन्ध का यह इकतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३१ ॥

॥ एकादश स्कन्ध समाप्त ॥

## द्वादश स्कन्ध

### पहला अध्याय

( कलियुग के राजाओं का वर्णन )

राजा परीक्षित ने पूछा—भगवन्, यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण के अपने धाम में चले जाने के बाद पृथ्वी पर किस वंश का राज्य चला ? कृपया इसका वर्णन कीजिये—

स्वधामानुगते कृष्णे यदुवंशविभूषणे । कस्य वंशोऽभवत् पृथ्व्यामेतदाचक्ष्व मे मुने ॥ १२/१/१  
श्रीशुकदेव जी ने कहा—प्रिय परीक्षित, मैंने तुम्हें नवम स्कन्ध में यह बात बतलाई थी कि जरामन्ध के पिता बृहद्रथ के वंश में अन्तिम राजा होगा पुरञ्जय अथवा रिपुञ्जय। उसके मन्त्री का नाम होगा शुनक। वह राजा को मारकर अपने पुत्र प्रद्योत को राजगद्दी पर बैठायेगा। उसका पुत्र पालक होगा। पालक का विशाखयुप, विशाखयुप का राजक



और राजक का पुत्र होगा नन्दिवर्धन । प्रद्योतवंश में यही पाँच नरपति होंगे । इनकी संज्ञा होगी—प्रद्योतन । ये एक सौ अड़तीस वर्ष तक पृथ्वी का उपभोग करेंगे ।

इसके पश्चात् शिशुनाग नाम का राजा होगा । इस वंश का अन्तिम दसवाँ राजा होगा महानन्दि । ये सब मिलकर कलियुग में तीन सौ साठ वर्ष तक पृथ्वी पर राज्य करेंगे । महानन्दि की शूद्रा पत्नी के गर्भ से नन्द नाम का पुत्र होगा । यह बड़ा बलवान् होगा । इसीका दूसरा नाम महापद्म भी होगा । यह क्षत्रियों का विनाशकर्ता होगा । तभी से राजा लोग प्रायः शूद्र और अधार्मिक होंगे । नन्द के सुमाल्य आदि ८ पुत्र होंगे । ये एक सौ वर्ष तक पृथ्वी का शासन करेंगे । चाणक्य नामक महान् तेजस्वी ब्राह्मण अपने पर विश्वास करनेवाले नन्द को पुत्रों सहित नष्ट कर मौर्यवंश के प्रथम राजा चन्द्रगुप्त को राजगद्दी प्रदान करेगा । चन्द्रगुप्त का पुत्र होगा वारिसार और वारिसार का अशोकवर्धन । इस वंश के अशोकवर्धन आदि दस राजा १३७ वर्षों तक राज्य करेंगे—

मौर्या ह्येते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम् । समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्भव ॥

१२/१/१५-१६

विशेष—चन्द्रगुप्त मुरा नामक शूद्रा का बेटा था अतः मौर्य कहा जाता है इसीलिये चाणक्य उसे सर्वदा 'वृषल' कहता था । 'वृषल' का अर्थ है—शूद्र ॥

मौर्यवंश का अन्तिम राजा होगा—बृहद्रथ । इसका सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग इसे मार कर स्वयं राजा बन बैठेगा । शुङ्गवंश का प्रथम राजा होगा पुष्यमित्र और अन्तिम होगा—देवहूति । शुङ्गवंश के ये दस राजा ११२ वर्ष तक राज्य करेंगे—

शुङ्गा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्षशताधिकम् ॥ १२/१/१८

विशेष—भागवत के अनुसार शुङ्ग सौ वर्ष से अधिक राज्य करेंगे—यही लिखा है किन्तु विष्णुपुराण में ११२ वर्ष का उल्लेख है ॥

देवहूति विलासी, पर स्त्रीगामी होगा । उसका मन्त्री कण्ववंशीय वसुदेव उसे मार कर स्वयं राजा बन बैठेगा । कण्व-वंश में अन्तिम और चतुर्थ राजा होगा—सुशर्मा । कण्ववंशीय ये चार राजा ३४५ वर्ष तक राज्य करेंगे ।

काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च । शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणां च कलौ युगे ॥

१२/१/२१

सुशर्मा को मारकर उसका भृत्य बली राजा बन बैठेगा । यह शूद्र है । यह स्वल्प अवधि तक राज्य करेगा । इसके बाद इसका भाई कृष्ण राजा बनेगा । इस वंश का अन्तिम राजा होगा—लोमधि । कुल मिलाकर इस वंश के तीस राजा ४५६ वर्ष तक राज्य करेंगे । इसके बाद ७ आभीरसंज्ञक, १० गर्दभी संज्ञक, १६ कङ्कसंज्ञक, ८ यवनसंज्ञक, १० तुरुष्कसंज्ञक और १० गुरुण्डसंज्ञक राजा होंगे । ये सभी मिलाकर १०९९ वर्षों तक राज्य करेंगे । इसके बाद ११ 'मौन' राजा होंगे । ये ३०० वर्ष तक पृथिवी का शासन करेंगे—

एते भोक्षन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च । नवाधिकां च नवतिं मौना एकादश क्षितिम् ॥ १२/१/३१

मौन राजाओं का अन्त हो जाने पर किलकिला नगरी में भूतनन्द आदि ५ राजा होंगे । इनका राज्य-काल १२६ वर्ष का होगा । भूतनन्द आदि नरपतियों के बाह्मीक कहे जानेवाले १३ पुत्र होंगे । तदनन्तर ७ आन्न और ७ कोशल नामक राजा होंगे । इसके बाद मगध देश का राजा होगा—विश्वस्फूर्ति । यह दुष्ट प्रकृति का राजा सभी वर्णों को म्लेच्छ बना डालेगा । इसकी राजधानी होगी—पद्मवती पुरी । इसका राज्य हरिद्वार से लेकर प्रयाग पर्यन्त विस्तृत होगा । यह क्षत्रियों को तो विनष्ट ही कर डालेगा ।



ये राजा के वेष में म्लेच्छ ही होंगे। प्रजा को लूटना-खसोटना ही इनका प्रधान कार्य होगा। प्रजा भी, राजा की भाँति ही धर्म-कर्म-विहीन अत्याचारी और परस्पर विद्वेष करनेवाली होगी। इसका परिणाम होगा—सब का नाश—

तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः । अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः ॥

१२/१/४३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥१॥

## दूसरा अध्याय

( कलियुग के दोषों का वर्णन, भगवान् का कल्कि के रूप में अवतार तथा सत्ययुग का आगमन )

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, काल बड़ा बलवान् है। ज्यों-ज्यों घोर-कलियुग आता जायेगा, त्यों-त्यों क्रमशः धर्म, सत्य, पवित्रता, क्षमा, दया, आयु, बल और स्मरण-शक्ति का हास होता जायेगा—

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया । कालेन बलिना राजन् नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः ॥

१२/२/१

कलियुग में धनवान् व्यक्ति ही कुलीन, सदाचारी और सद्गुणी माना जायेगा अर्थात् जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत चरितार्थ होगी। विवाह-सम्बन्ध युवक-युवती की रुचि पर आधारित होगा अर्थात् लव मैरेज की प्रचलन प्रबल रहेगी। इसमें कुल-गोत्र आदि का विचार नहीं होगा। छली, कपटी और प्रपञ्ची ही व्यवहार-कुशल माने जायेंगे। सच्चाई और ईमानदारी का कोई मूल्य न होगा। स्त्री-पुरुष की श्रेष्ठता 'रति-कौशल' से होगी। कुल और आचार का प्रश्न ही नहीं पैदा होगा। ब्राह्मण की पहचान उसके गुण-स्वभाव से नहीं, यज्ञोपवीत से हुआ करेगी।

आश्रम की पहचान वस्त्र, दण्ड-कमण्डलु आदि से ही होगी, आचार के कारण नहीं। निर्धनों को न्यायालयों से न्याय नहीं मिलेगा। सर्वत्र धूसखोरी की प्रबलता रहेगी। व्यर्थ का बकवास कर्ता ही महा पण्डित माना जायेगा। निर्धनता असाधुता का कारण बनेगी। दम्भ और पाखण्ड ही साधुता के लक्षण होंगे। बाल आदि सँवार कर कपड़े-लत्ते से लैस हो जाना ही स्नान समझा जायेगा। लोग दूर के तालाब को तीर्थ मानेंगे और निकट के तीर्थ गङ्गा-गोमती, माता-पिता आदि की उपेक्षा करेंगे। बड़े-बड़े बाल रखना सौन्दर्य का चिह्न समझा जायेगा। पेट पालना ही लोग परम पुरुषार्थ मानेंगे। धृष्ट ही यथार्थवादी माना जायेगा। परिवार का भरण-पोषण ही चतुरता मानी जायेगी। लोग धार्मिक अनुष्ठान लोकप्रतिष्ठा के लिये करेंगे, परलोक के लिये नहीं—

दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोऽर्थं धर्मसेवनम् ॥१२/२/७

इस प्रकार समस्त भू-मण्डल उच्छृङ्खलता, नीचता और दुष्टता से व्याप्त हो जायेगा। बलवान् ही हठात् शासक बन जायेगा। निर्दयी शासक प्रजा का रक्त चूसने में लग जायेंगे। प्रजा-जन भागकर पर्वतों की शरण ग्रहण करेंगे। फल, शाक, मूल, पत्ते आदि से वे किसी-किसी तरह अपना जीवन निर्वाह करेंगे। कुछ लोग अतिवृष्टि से, कुछ लोग अनावृष्टि से, कुछ लोग भूकम्प आदि आपदाओं से भुखमरी के शिकार होकर मौत के मुख में समा जायेंगे।

कलियुग में लोगों की २०, ३० वर्ष की स्वल्पायु ही परमायु मानी जायेगी प्रायः धीरे-धीरे सभी वर्ण समाप्त



हो जायेंगे। वर्णाश्रम-धर्म नष्ट हो जायेंगे। गायें बकरियों जैसी छोटी और अल्प दूधवाली हो जायेंगी। संन्यासियों के आश्रम भोग-विलास के साधनों से भर जायेंगे। गृहस्थी के साथ उनका अन्तर मिट जायेगा। धर्म पाखण्ड-प्रचुर हो जायेगा। शासक लुटेरे बन जायेंगे। साले और श्वसुर ही मन्त्र-दाता होंगे। औषधियों के गुण घट जायेंगे। बादल चमक-चमक कर रह जायेंगे। वर्षा नहीं होगी। जनसंख्या के घट जाने से घर सूने-सूने लगेंगे। कलियुग का अन्त होते-होते मनुष्यों का स्वभाव गर्धों-जैसा दुःसह बन जायेगा। लोग प्रायः गृहस्थी का भार ढोनेवाले और विषय-लोलुप हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में धर्म की रक्षा करने के लिये सत्त्वगुण स्वीकार करके स्वयं भगवान् अवतार ग्रहण करेंगे—

इत्थं कलौ गतप्राये जने तु खरधर्मिणि । धर्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति ॥११२/२/१६

उसी समय वे भगवान् कल्कि के रूप में धर्म की रक्षा के लिये सम्भलपुर ग्राम में विष्णुयश नामक ब्राह्मण के घर अवतार ग्रहण करेंगे—

शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः । भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति ॥

१२/२/१८

वे देवदत्त नामक अतिवेगशाली अश्व पर सवार होकर सकल भू-मण्डल में भ्रमण करके, राजाओं के वेश में छिपे करोड़ों दस्युओं को अपनी तीक्ष्ण तलवार की धार से काट डालेंगे। भगवान् कल्कि के शरीर की हवा के स्पर्श से बचे-खुचे सारे प्राणियों का अन्तःकरण पवित्र हो जायेगा तभी से प्रजा की सात्त्विक सृष्टि होने लगेगी। जिस समय चन्द्रमा, सूर्य, और बृहस्पति एक ही समय एक ही साथ पुष्य नक्षत्र के प्रथम पल में प्रवेश करते हैं, एक राशि पर आरूढ़ होते हैं, उसी समय सत्ययुग का प्रारम्भ होता है—

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती । एकराशौ समेष्यन्ति तदा भवति तत् कृतम् ॥१२/२/२४

भूतल का त्यागकर भगवान् श्रीकृष्ण के परधाम-गमन की वेला से ही कलियुग का प्रारम्भ हुआ। कलियुग के आते ही लोगों की पाप में प्रवृत्ति हो गई। कलियुग की आयु देवताओं के मान से बारह सौ वर्ष और मनुष्यों के मान से चार लाख वत्तीस हजार वर्ष की मानी गई है। कलियुग के अन्त हो जाने पर शन्तनु के प्राता देवापि और इक्ष्वाकुवंश के राजा मरु पुनः वर्ण और आश्रम धर्म की स्थापना करेंगे। इस समय ये दोनों कलापग्राम में स्थित होकर महान् योग-साधना कर रहे हैं—

देवापिः शन्तनोभ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः । कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥१२/२/३७

विशेष—कलापग्राम वदरिकाश्रम के पास हिमालय-शृङ्खलाओं में स्थित है।

राजन्, मैंने तुमसे जिन राजाओं का वर्णन किया है, वे सब और उनके अतिरिक्त दूसरे राजा भी इस पृथिवी को मेरी हैं, मेरी हैं—ऐसा कहते रहे, परन्तु अन्त में सभी मरकर धूल में मिल गये। सभी काल के कराल गाल में समा गये। अब इनकी कथाओं में ही इनका नाम मात्र अवशिष्ट रह गया है।

कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च ॥१२/२/४४

अतः बुद्धिमान् प्राणी का प्रधान कर्तव्य है कि वह सांसारिक मोह-ममता का परित्याग कर भगवान् की शरण सर्वात्मना ग्रहण कर ले ॥२॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥





## तीसरा अध्याय

( राज्य, युगधर्म और कलियुग के दोषों से बचने का उपाय—नाम-सङ्कीर्तन )

श्री शुकदेव जी ने कहा—अपने को जीतने के लिये आतुर राजाओं को देखकर हँसती हुई पृथिवी कहती है कि—महान् आश्चर्य है ! मृत्यु के हाथ के खिलौने ये राजा लोग मुझे जीतना चाहते हैं—

दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम् ।

अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः ॥१२/३/१

राजाओं से यह बात छिपी नहीं है कि वे एक-न-एक दिन मृत्यु के मुख में चले जायेंगे फिर भी वे पानी के बुल्ले के समान क्षणभङ्गुर अपने शरीर को स्थायी मान बैठते हैं—

येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविश्रम्भिता नृपाः ॥१२/३/२

ये अपने महल में बैठ कर योजना बनाते हैं—हम सर्वप्रथम षट्त्वर्ग को जीतेंगे । फिर शनैः शनैः राज्य-मन्त्रियों, सचिवों, नागरिकों, नेताओं और समस्त सेना को भी वश में करके सारे कण्टकों को दूर कर सागर-पर्यन्त तक की सारी पृथिवी जीत कर सम्राट् बन जायेंगे । इस प्रकार की आशाओं के पाश में आबद्ध ये लोग बगल में खड़ी अपनी मौत को नहीं देख पाते हैं कितने तो सागर में प्रवेश करके द्वीपों तक की विजय करते हैं—

एवं क्रमेण जेष्यामः पृथिवीं सागरमेखलाम् । इत्याशाबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम् ॥

समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा ॥१२/३/४-५

इनका ध्यान अपने भीतर बैठे हुए दुर्जय शत्रु मन की ओर जाता ही नहीं है, जिसको वश में करने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । बड़े-बड़े मनु और उनके वीर पुत्र मुझे ज्यों-की-त्यों छोड़कर जहाँ से आये थे, वहीं खाली हाथ लौट गये, मुझे अपने साथ न ले जा सके । अब ये मूर्ख राजा मुझे युद्ध में जीतकर वश में करना चाहते हैं । बड़े आश्चर्य की बात है—ये अज्ञ जन मेरे लिये, भाई-भाई और पिता-पुत्र भी, आपस में लड़ मरते हैं । इनका कहना है कि यह सारी पृथ्वी हमारी है, तुम्हारी नहीं । पृथु, पुरूरवा, नहुष, भरत, अर्जुन, मान्धाता, सगर, राम, खट्वाङ्ग, रघु, भगीरथ, हिरण्यकशिपु, रावण, हिरण्याक्ष, आदि बड़े-बड़े योद्धा राजा भी काल के ग्रास बन गये । अब उनकी कथामात्र अवशिष्ट है, फिर इन ऐरे-गैरे राजाओं की क्या बात ?

परीक्षित, संसार में बड़े-बड़े प्रतापी और महान् पुरुष हुए हैं । वे लोकों में अपने यश की चाँदनी छिटका कर यहाँ से बिदा हो गये । मैंने तुम्हें ज्ञान और वैराग्य का उपदेश करने के लिये ही उनकी कथा सुनाई है । यह सब वाणी का विलासमात्र है । इसमें पारमार्थिक सत्य कुछ भी नहीं है—

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।

विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतिर्न तु पारमार्थ्यम् ॥१२/३/१४

भगवान् श्रीकृष्ण का गुणानुवाद समस्त अमङ्गलों का विनाशक है । बड़े-बड़े महात्मा उसी का गान करते रहते हैं । जो भगवान् के श्रीचरणों की भक्ति का अभिलाषी है, उसे नित्य-निरन्तर भगवान् के ही गुणानुवाद का श्रवण करते रहना चाहिये—

यस्तूतमश्लोकगुणानुवादः

संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।

तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णोऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥१२/३/१५

राजापरीक्षित ने कहा—भगवन्, आप ऐसा कोई सरल उपाय बतलायें जिससे कलि के दोषों को अनायास ही पार कर लिया जाय । इसके साथ ही युग, युगधर्म, प्रलय, कल्पमान और ईश्वररूप काल की गति पर भी कुछ प्रकाश डालने की कृपा करें ।



श्री शुकदेव जी ने कहा—राजन, सत्ययुग में धर्म अपने चारों पादों—सत्य, दया, तप और दान से संयुक्त रहता है—

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः । सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥१२/३/१८  
सत्ययुग के लोग बड़े सन्तोषी और दयालु होते हैं। वे सबसे मित्रता का व्यवहार करते और शान्त रहते हैं। वे आत्माराम, समदृष्टि और सदगुणों के अभ्यासी होते हैं। त्रेता में धर्म के पादों का एक चतुर्थांश क्षीण हो जाता है। उस युग के लोग यज्ञ, तप आदि क्रियाओं में संलग्न रहते हैं। द्वापर में धर्म के पाद, आधे-आधे विनष्ट हो जाते हैं। द्वापर के लोग स्वाध्याय और अध्ययन में निरत रहते हैं। कलियुग में धर्म के चारों चरण क्षीण होने लगते हैं। उस समय अधर्म अपने हिंसा, असन्तोष, झूठ और द्वेष—इन चारों चरणों के साथ वृद्धि की ओर उन्मुख रहता है। उनके कारण धर्म के चारों चरण क्षीण होते-होते समाप्तप्राय हो जाते हैं। कलियुग के लोग लोभी, दुराचारी और कठोर हृदय होते हैं। वे निष्प्रयोजन बैरी, लालची और तृष्णा-तेरङ्गिणी में विहार करनेवाले हुआ करते हैं। कलियुग में भी चारों युग प्रतिदिन आते जाते रहते हैं। जब सत्य की वृद्धि के कारण मन और इन्द्रियाँ सुप्रसन्न रहती हैं, तब समझना चाहिये कि सत्य युग प्रभावी है। उस समय ज्ञान और तप की ओर लोगों की रुचि हुआ करती है। जब मन में रजोगुण की वृद्धि हो और लोग काम्य-कर्मों में ही लगे रहें, तब समझना चाहिये कि त्रेता है। जब लोभ, असन्तोष आये तब समझिये कि द्वापर है। जब मन में माया, छल, कपट, अनृत, तन्त्रा, निद्रा, हिंसा और विषाद आये, छये तब जानना चाहिये कि कलियुग है। कलियुग बहुत से दोषों से भरा हुआ है। यह तमःप्रधान युग है—

यदा मायाऽनृतं तन्त्रा निद्रा हिंसा विषादनम् । शोको मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः ॥१२/३/३०

इस युग के व्यक्ति भाग्य-विहीन, मन्दमति, क्रोधी, पापपरायण और दीर्घभोगी होते हैं। स्त्रियाँ स्वैरिणी और कुलटा होती हैं। सर्वत्र लुटेरों की प्रधानता हो जाती है। पाखण्डी लोग वेदों का मनमाना अर्थ करते हैं।

परीक्षित, कलियुग में राजा प्रजा को खाने लगते हैं—“प्रजाभक्षः” ॥३२॥ ब्राह्मण शिशुनोदरपरायण होते हैं—“शिशुनोदरपरा द्विजाः” ॥३२॥ ब्रह्मचारियों का कोई व्रत नहीं रह जाता। संन्यासी लोग कुटुम्ब और मठों को सजाने-सँवारने में लग जाते हैं। ठाट-बाट उनका धर्म बन जाता है। कलियुग में अधिकतर शूद्र ही संन्यासी का वेष धारण कर तपस्वी बनने का ढोंग करेंगे। पुत्र अपने माता-पिता से दूर रहने में आनन्द का अनुभव करेंगे। साली-साले ही उनके मन्त्र दाता रहेंगे। शूद्र दान लेंगे। वे तपस्वियों का वेश बनाकर अपना पेट भरेंगे। अधार्मिक लोग व्यासासन पर बैठ कर धर्म का उपदेश करेंगे—

शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः । धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुहोत्तमासनम् ॥१२/३/३८

कलियुग के पाखण्डी मूढ़ व्यक्ति भगवान् की पूजा आराधना से भी विमुख हो जाते हैं। मनुष्य मृत्यु की वेला में यदि विवशतावश भगवान् का एक बार भी नाम ले लेते हैं, तो उनके सारे कर्म-बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, उन्हें सर्वोत्तम लोक की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु हाय रे कलियुग ! इसके प्रभाव से प्रभावित लोग भगवान् से भी मुख मोड़ लेते हैं—“वक्ष्यन्ति न तं कली जनाः” ॥४४॥ कलियुग के जहाँ भी जितने भी दोष हैं, वे सब भगवान् पुरुषोत्तम के हृदय में विराजते ही सद्यः समाप्त हो जाते हैं।

कलि के सकल दोषों के शमनकर्ता एकमात्र भगवान् श्रीहरि ही हैं। विद्या, तप, प्राणायाम, सत्सङ्ग, तीर्थस्नान, व्रत-दान और मन्त्र-जप से भी अन्तःकरण की वैसी शुद्धि नहीं होती जैसी हृदय में भगवान् का ध्यान करने से होती है—

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्रीतीर्थभिषेकव्रतदानजपैः ।

CCO. Vasishta Tripathi Collection. Digitized by eGangotri. १४२/३/४८

नात्यन्तशुद्धि

लभतेऽन्तरात्मा

यथा हृदये

सगुणस्वप्नस्ते



इसलिये राजन्, अब तुम्हारी मृत्यु का समय निकट आ गया है अतः सावधान हो जाओ। पूरी शक्ति से और अन्तःकरण की सारी वृत्तियों से भगवान् श्रीकृष्ण को अपने हृदय-सिंहासन पर विराजमान कर लो। ऐसा करने से अवश्य ही तुम्हें परम गति की प्राप्ति होगी। जो लोग मरणासन्न हैं, उन्हें एकमात्र भगवान् का ही ध्यान करना चाहिये। ऐसा करने से भगवान् ध्यान करनेवाले को अपने स्वरूप में मिला लेते हैं। राजन्, आप के मूल प्रश्न का उत्तर मैंने यहाँ आकर दे दिया।

राजन्, कलियुग दोषों का खजाना है किन्तु इसका एक महान् गुण यह है कि श्रीकृष्ण के नाम का कीर्तन करने मात्र से ही व्यक्ति सङ्ग से मुक्त होकर परमपद का अधिकारी बन जाता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं ब्रजेत् ॥१२/३/५१

सत्य युग में जो फल भगवान् विष्णु के ध्यान से मिलता है, त्रेता में जो फल बड़े-बड़े यज्ञों को करने से प्राप्त होता है और द्वापर में जो फल प्रभु की परिचर्या से उपलब्ध होता है, वही फल कलियुग में केवल भगवान् के नाम के कीर्तन करने मात्र से ही मिल जाता है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥१२/३/५३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥३॥

## चौथा अध्याय

### ( चार प्रकार के प्रलयों का वर्णन )

श्री शुकदेव जी ने कहा—परीक्षित, (तीसरे स्कन्ध में) परमाणु से लेकर द्विपरार्द्ध पर्यन्त काल का स्वरूप और युग-मान मैंने तुम्हें बतला दिया है। अब तुम कल्प की स्थिति और उसके प्रलय का वर्णन भी सुनो। एक सहस्र-चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा का एक दिन एक कल्प होता है। एक कल्प में १४ मनु बीत जाते हैं—

चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते। स कल्पो यन्न मनवश्चतुर्दश विशांपते ॥१२/४/२१

कल्प के अन्त में उतने ही समय तक प्रलय भी रहता है। प्रलय को ही ब्रह्मा की रात भी कहते हैं। उस समय यह त्रिलोकी लीन हो जाती है, उसका प्रलय हो जाता है। यह प्रलय निद्रा के निमित्त से होता है अतः इसका नाम नैमित्तिक प्रलय है। उस समय सारे विश्व को अपने अन्दर समेट कर-लीन कर ब्रह्मा और तदनन्तर ब्रह्मा को अपने में लीन कर शेषशायी नारायण भी शयन करते हैं। नैमित्तिक प्रलय में पञ्च भूतों का प्रलय नहीं होता। केवल प्राणियों का प्रलय होता है।

इसी प्रकार प्राकृतिक प्रलय, आत्यन्तिक प्रलय और नित्य प्रलय ये तीन प्रकार के और प्रलय होते हैं। ये तीनों प्रलय काल की परिधि में होते हैं।

प्राकृतिक प्रलय—ब्रह्मा की आयु द्विपरार्ध की मानी गई है। जब उनकी आयु समाप्त हो जाती है, तब महत्तत्त्व, अहङ्कार, और पञ्च तन्मात्रायेँ इन सातों प्रकृतियों के साथ इनके कार्य रूप ब्रह्माण्ड का लय हो जाता है। इसीसे इसे प्राकृतिक प्रलय कहते हैं। प्राकृतिक प्रलय की बेला में सौ वर्ष तक वर्षा नहीं होती। उस काल में बारहों सूर्य अपने

१. कलियुग सम जुग आन नहिं जौ नर कर बिस्वास।

गाइ गुम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥ रामचरितमानस उत्तरकांड दो १०३॥



सम्पूर्ण तेज के साथ तपते हैं। देह, भूमि और सागर का भी जल सूख जाता है। तदनन्तर पाताल में स्थित शेष जी के मुख से प्रलयकालीन संवर्तक अग्नि प्रकट होती है। वायु के वेग से वह और भी बढ़ जाती है। उसकी ज्वाला-मालाओं से नीचे के तल-अतल आदि सातों लोक भस्म हो जाते हैं। नीचे से आग की करारी लपटें और ऊपर से सूर्य की प्रचण्ड गर्मी ! उस समय जलता हुआ ब्रह्माण्ड जलकर दहकते हुए गोबर के उपल के समान प्रतीत होता है ऐसा प्रतीत होता है, जैसे दहकता हुआ अङ्गार हो—

दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत् ॥१२/४/११

इसके बाद सौ वर्षों तक निरन्तर मूसलाधार वर्षा होती है। उस समय सारा संसार जल-मग्न हो जाता है। चारों तरफ सागर जैसा लहराता जल-ही-जल दृष्टिगोचर होता है। उस समय गन्ध-सहित पृथिवी अपने कारण जल में, रस सहित जल तेज में, रूप सहित तेज वायु में, स्पर्श सहित वायु आकाश में, शब्द सहित आकाश अपने कारण-तामस अहङ्कार में, अपने-अपने कार्यों के सहित त्रिविध अहङ्कार महत्त्व में, महत्त्व गुणों में, गुण प्रकृति में और प्रकृति ब्रह्म में लीन हो जाती है। उस समय एक मात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। वह आदि-अन्त-विहीन और सब कारणों का अकेला कारण है अतः उसका लय कहीं नहीं होता। हे राजन्, यही प्राकृतिक प्रलय कहा गया है। प्राकृतिक प्रलय में, काल की प्रेरणा से, प्रकृति और पुरुष की सत्त्व आदि सारी शक्तियाँ विवश होकर लीन हो जाती है—

लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तोर्यदा । शक्तयः सम्प्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः ॥१२/४/२२

आत्यन्तिक प्रलय—जैसा पीछे निर्देश किया गया है, आत्यन्तिक प्रलय काल की परिधि में नहीं होता। वह काल की धारा में नहीं होता क्योंकि काल की धारा अलग चलती रहती है और यह उससे ऊपर उठकर होता है। जब सूर्य से प्रकट होने वाला मेघ तितर-वितर हो जाता है, तब नेत्र अपने स्वरूप सूर्य का दर्शन करने में समर्थ हो जाते हैं। ठीक वैसे ही, जब जीव के हृदय में जिज्ञासा का उदय होता है, तब आत्मा की उपाधि अहङ्कार नष्ट हो जाता है और उसे अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। जब जीव विवेकरूपी खड्ग से मायामय अहङ्कार का बन्धन काट देता है, तब वह अपने एकरस आत्मस्वरूप के साक्षात्कार में स्थित हो जाता है। आत्मा की यह मायामुक्त स्थिति ही आत्यन्तिक प्रलय कही जाती है—

धनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ।

यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥

यदैवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहङ्कारणात्मबन्धनम् ।

छित्त्वाच्युतात्मानुभावोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग समप्लवम् ॥१२/४/३३-३४

यदि एक वाक्य में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि—जब साधक अपनी तीव्र साधना के द्वारा अपने आपको परं ब्रह्म में विलीन कर संसार के आवागमन से सर्वदा के लिये छूट जाता है, तब यह उसका आत्यन्तिक प्रलय कहलाता है। आत्यन्तिक प्रलय व्यक्तिगत होता है, सामूहिक नहीं। ब्रह्म-ज्ञान ही आत्यन्तिक प्रलय है। ब्रह्मज्ञान से सम्पूर्ण प्रपञ्च का बाध होता है, उसी को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं।

नित्य प्रलय—वस्तु या व्यक्ति का जो नित्य परिवर्तन होता रहता है, वही नित्य प्रलय है। नींद में सो जाना भी नित्य प्रलय है। नित्य-प्रलय को नदी की निरन्तर प्रवहमान धारा और दीपक की नित्य निकलने वाली लौ से भी समझा जा सकता है। ब्रह्मा से लेकर तृण-पर्यन्त सब कुछ इस नित्य प्रलय की लपेट में आता रहता है।

राजन्, तुम इसी को सामान्य रूप से काल की गति समझो। जगन्नियन्ता नारायण की मनोरम लीलाओं का मैंने यह संक्षेप में वर्णन किया है। इसका विस्तार से वर्णन तो ब्रह्मा भी करने में समर्थ नहीं हैं। जो लोग अत्यन्त दुस्तर



संसार-सागर को पार करना चाहते हैं, जो लोग दुःख-दावानल से दग्ध हैं, उनके लिये पुरुषोत्तम भगवान् की लीला-कथाओं के सेवन के अतिरिक्त दूसरा कोई भी दुःख दूर करने का उत्तम साधन नहीं है—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्थोनान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।

लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य ॥१२/४/४०

इसलिये प्रत्येक समझदार प्राणी का यह परम कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन कुछ न कुछ समय निकाल कर भगवान् के मङ्गलमय चरित्र का सादर श्रवण, मनन और चिन्तन करे। यही मानव शरीर का, मानव-जन्म का प्रधान लक्ष्य है ॥४॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

## पाँचवा अध्याय

( श्री शुकदेव जी का अन्तिम हितोपदेश )

श्री शुकदेव जी ने कहा—प्रिय परीक्षित, मैंने तुम्हें जिस श्रीमद्भागवत ग्रन्थ का श्रवण कराया है, उसमें बार-बार विश्वात्मा भगवान् श्रीहरि की लीलाओं का ही वर्णन किया गया है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और संहारकर्ता श्रीरुद्र क्रमशः उन्हीं के प्रसाद (हर्ष) और क्रोध से उत्पन्न हुए हैं। वे दोनों ही इन्हीं के अधीन हैं—

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः । यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥१२/५/१  
राजन्, “मैं मरूँगा”—यह सोचना पशु बुद्धि है। तुम इसका परित्याग कर दो। वास्तविकता तो यह है कि—तुम न कभी पैदा हुए हो और न कभी मरोगे। देह जन्मता है। देह ही मरता है। देह का जन्मना और मरना तुम्हारा जन्मना मरना नहीं है—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि । न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥१२/५/२  
तुम पुत्र-पौत्र आदि के रूप में पुनः उत्पन्न होओगे, यह बात भी नहीं है। क्योंकि आत्मा बीज और अङ्कुर की भाँति नहीं है। जैसे बीज से अङ्कुर और अङ्कुर से बीज उत्पन्न होता है, उस तरह आत्मा पुत्र-पौत्र आदि के रूप में नहीं पैदा होता। लकड़ी में व्याप्त रहने वाला अग्नि जैसे लकड़ी से पृथक् है, वैसे ही शरीर में व्याप्त रहने वाला आत्मा भी शरीर से पृथक् है, अलग है—“यथानलः” ॥३॥ स्वप्नावस्था में ऐसा मालूम होता है कि मेरा शिर कट गया है, मैं मर गया हूँ, मुझे लोग श्मशान में जला रहे हैं, परन्तु ये सब शरीर की अवस्थाएँ दिखलाई पड़ती हैं, आत्मा की नहीं। आत्मा तो यह सब देखनेवाला है। द्रष्टा आत्मा तो इन अवस्थाओं से सर्वदा और सर्वथा परे है। वह जन्म-मृत्यु से रहित है। शुद्ध-बुद्ध है। परम तत्त्व-स्वरूप है—

स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम् । यस्मात् पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः ॥१२/५/४  
जैसे घड़ा के फूट जाने पर महाकाश पहले की ही भाँति अखण्ड और एकरूप रहता है, परन्तु घटाकाशता की निवृत्ति हो जाने से लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि वह (घटाकाश) महाकाश में मिल गया है—वास्तव में तो मिला हुआ था ही, वैसे ही देहपात हो जाने पर ऐसा मालूम पड़ता है मानो जीव ब्रह्म हो गया। वास्तव में तो वह ब्रह्म था ही, उसकी अब्रह्मता तो प्रतीतिमात्र थी—

घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा । एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥१२/५/५  
मन ही आत्मा के लिये शरीर, विषय और कर्मों की कल्पना कर लेता है; और उस मन की सृष्टि करती है—



माया (अविद्या) । वास्तव में माया ही जीव के संसार-चक्र में पड़ने का प्रधान कारण है—

मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः । तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥१२/५/६  
आशय यह है कि—मन वासनाओं का भण्डार है । वासनाओं से सूक्ष्म शरीर की सृष्टि होती है और उसमें “मैं” बुद्धि हो जाने से आत्मा फँस जाता है ।

तेल, बत्ती और दिये का जब तक संयोग रहता है, तभी तक दीपक का प्रकाश है, ठीक इसी प्रकार जब तक यह त्रिगुणजन्य शरीर है, तभी तक यह संसार है । स्वयं प्रकाश आत्मा का स्वयं आना जाना कुछ भी नहीं होता । वह तो आकाश के समान सबका आधार है, अनन्त है—

आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ॥१२/५/८

राजन, तुम अपनी विशुद्ध एवं विवेकवती बुद्धि को परमात्मा के चिन्तन से भरपूर कर लो और स्वयं ही अपने अन्तःकरण में स्थित अपने आत्मस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार करो । शरीर की न तो चिन्ता करो और न इसका चिन्तन ही । फिर तो ब्राह्मण के द्वारा प्रेरित तक्षक अथवा साक्षात् स्वयं मृत्यु ही तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती । तुम इस प्रकार अनुसन्धान करो, चिन्तन करो कि ‘मैं’ ही सब का आधार परब्रह्म हूँ । सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ । तब तुम्हें आत्मा से अलग न शरीर की सत्ता भासित होगी और न संसार की ही । ऐसी स्थिति में काटते हुए तक्षक को तुम देख न सकोगे । उसकी तुम्हें अलग से प्रतीति ही न होगी ।

आत्म-स्वरूप पुत्र परीक्षित, तुमने विश्वात्मा भगवान् की लीला के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने दे दिया । अब और क्या सुनना चाहते हो ? बोलो । जब तक मैं यहाँ बैठा हूँ तब तक तक्षक तुम्हारे शरीर को कुछ भी क्षति नहीं पहुँचा सकता ॥५॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह पाँचवा अध्याय समाप्त हुआ ॥५॥

## छठा अध्याय

( शुकदेव जी का प्रस्थान, राजा परीक्षित की मुक्ति, जनमेजय का सर्प-यज्ञ और वेदों के शाखा-भेद )

नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों को कथा सुनाते हुए सुत ने कहा—शौनक जी, महान् ज्ञानी शुकदेव जी ने राजा परीक्षित से जब इस प्रकार कहा तब वे प्रेम से गद्गद हो गये और हाथ जोड़कर बोले—मुनिवर, आप करुणा के मूर्तिमान् सागर हैं । आपने मेरे ऊपर करुणा का सागर उड़ेलते हुए श्रीहरि के स्वरूप और उनकी लीलाओं का वर्णन किया है । अब मैं आप की कृपा से परम अनुगृहीत और कृतकृत्य हो गया हूँ—

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना । श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः ॥१२/६/२१  
मुनिवर, संसार के तापों से सन्तप्त प्राणियों पर अनुग्रह करना महात्माओं का सहज स्वभाव है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । मैंने आपके मुख-कमल से निःसृत श्रीमद्भागवत-सप्ताह की कथा सविधि सुनी है । इस पुराण में पद-पद पर भगवान् श्रीहरि के उस स्वरूप और लीलाओं का वर्णन हुआ है, जिनके गान में बड़े-बड़े अमलात्मा परमहंस रमण किया करते हैं । भगवन्, आपने मुझे अभयपद का, ब्रह्म और आत्मा की एकता का, साक्षात्कार करा दिया है । अब मैं परम शान्ति स्वरूप ब्रह्म में स्थित हो गया हूँ । इस समय मुझे तक्षक आदि मृत्यु के किसी भी निमित्त से अथवा मृत्यु-समूहों से भी भय नहीं है । अब मैं पूर्ण निर्भय हो गया हूँ—

भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् । प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया ॥१२/६/५



ब्रह्मन्, अब आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं अपनी वाणी बन्द कर लूँ, मौन हो जाऊँ और इसके साथ ही कामनाओं से रहित चित्त को परमात्मा के स्वरूप में विलीन कर अपने प्राणों को छोड़ दूँ। आपके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान-विज्ञान में परिनिष्ठित हो जाने से मेरा अज्ञान सर्वदा के लिये समाप्त हो गया है। आप ने भगवान् के परम कल्याणमय स्वरूप का मुझे साक्षात्कार करा दिया है। सूत जी ने कहा—शौनक जी, राजा परीक्षित ने इस प्रकार कहकर बड़े प्रेम से उनकी पूजा की, उनका सम्मान किया। फिर वे परीक्षित जी से बिदा लेकर, आये हुए त्यागी महात्माओं और भिक्षुओं के साथ वहाँ से चले गये—

**इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान् बादरायणिः । जगाम भिक्षुभिः साकं नरदेवेन पूजितः ॥१२/६/८**

श्री शुकदेव जी के चले जाने पर राजर्षि परीक्षित परम पावनी भगवती श्रीगङ्गा जी के तट पर उत्तर की ओर मुख करके कुश के आसन पर विराजमान हो गये। उन्होंने बिना किसी बाह्य सहायता के स्वयं ही अपने अन्तरात्मा को परमात्मा के चिन्तन में समाहित कर दिया। उस समय उनका शरीर वृक्ष के टूट के समान स्थित था। श्वास-प्रश्वास की गति रुकी हुई थी। उनका संशय, उनकी आसक्ति सब समाप्त हो चुके थे। अब वे ब्रह्म और आत्मा की एकत्तारूप महायोग में स्थित होकर ब्रह्मस्वरूप हो गये थे—

**ब्रह्मभूतो महायोगी निःसङ्गश्छिन्नसंशयः ॥१२/६/१०**

शौनक आदि ऋषियों, उधर क्रुद्ध ब्राह्मण-बालक के द्वारा प्रेरित तक्षक ब्राह्मण का रूप धारण कर राजा परीक्षित को डँसने जा रहा था। उसी समय अपने मन्त्र के प्रभाव से सर्प के विष को निष्प्रभावी बनानेवाले ब्राह्मण कश्यप राजा को जीवित करने के लिये जा रहे थे। वे सर्प-विष को निष्प्रभावी बनाने में परम निपुण थे। सारी दुनियाँ इस बात को जानती थी। दोनों की मार्ग में भेंट हो गई। तक्षक ने बहुत-सा धन देकर कश्यप को वहाँ से लौटा दिया, उन्हें राजा के पास नहीं जाने दिया। तक्षक अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण कर राजा परीक्षित के पास गया और उन्हें डँस लिया। तक्षक के डँसने से पूर्व ही राजा परीक्षित ने अपने प्राणों को ब्रह्म में मिला दिया था। इस संसार में उनका शरीरमात्र था वही तक्षक के विष की आग से सबके देखते-ही-देखते जल कर भस्म हो गया—

**ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहोऽहिगरलाग्निना । बभूव भस्मसात् सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥१२/६/१३**

यह दृश्य देखकर सर्वत्र हाहाकार मच गया। सब-के-सब परम विस्मित हो उठे। आकाश में दुन्दुभियाँ बजने लगीं। गन्धर्व गाने लगे। अप्सराएँ नाचने लगीं। वाह-वाह! कहते हुए देव-मण्डली फूलों की वर्षा करने लगी—

**देवदुन्दुभयो नेदुर्गन्धर्वाप्सरसो जगुः । ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः ॥१२/६/१५**

जनमेजय का सर्प-सत्र—जनमेजय ने तक्षक के द्वारा अपने पिता के डँसे जाने पर बड़ा क्रोध किया। उन्होंने महर्षियों को सादर आमन्त्रित किया और सर्प-सत्र प्रारम्भ कर दिया। इस सत्र में सहस्रों सर्प जलकर भस्म हो गये किन्तु अभी तक तक्षक नहीं आया था। यह देखकर राजा ने उसके न आने का कारण पूछा। ऋषियों ने कहा—राजन्, तक्षक की रक्षा देवराज इन्द्र कर रहे हैं। इस पर जनमेजय ने कहा—यदि यह बात है तो इन्द्र के साथ ही तक्षक को अग्नि में क्यों नहीं गिरा देते? ऋषियों के मन्त्र अमोघ हैं। उनलोगों ने इन्द्रसहित तक्षक का आवाहन किया। उनके आवाहन करते ही इन्द्र का सिंहासन डोलने लगा। तक्षक कसकर सिंहासन के पायदान में लिपटा हुआ था। सिंहासन अग्रिकुण्ड में गिरने ही वाला था कि वृहस्पति ने आकर उन्हें रोक दिया और राजा से कहा—राजन्, बस करो, बस करो। शान्त हो जाओ। जीवन-मरण, सुख-दुःख सब कर्म के परिणाम हैं। इनका दाता कोई दूसरा नहीं है। जो यह समझता है कि सुख-दुःख का दाता कोई और है, तो वह कुबुद्धि है। मैं कर्मों का कर्ता हूँ—यह अभिमान निरर्थक है। सर्प, चोर, अग्नि, विद्युत्, भूख-प्यास तथा रोग आदि से जो प्राणी मरते हैं, वे सब अपने प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही भोगते हैं—

**सर्पचौराग्निविद्युदध्यः क्षुद्रव्याद्यध्यादिभिर्नृपः । पञ्चात्वमृच्छते जन्तुर्भुङ्क्त आरब्धकर्म तत् ॥१२/६/२६**



सूत जी ने कहा—शौनक जी, वृहस्पति के वचन को सुनकर जमनेजय ने आदर करते हुए उनका वचन मान लिया। फिर तो सर्पसत्र बन्द कर दिया गया। तक्षक अग्नि में भस्म होने से बच गया। राजा ने देवगुरु वृहस्पति का सम्मान किया, पूजन किया। वे प्रसन्न मन होकर अपने लोक को चले गये।

शौनक ने पूछा—सूत जी, वेदव्यास जी के शिष्य पैल आदि महर्षि बड़े महात्मा और वेदों के आचार्य थे। उन लोगों ने कितने प्रकार से वेदों का विभाजन किया? यह बात कृपा करके आप हमें बतलाइये। सूत जी ने कहा—शौनक जी, समाधिस्थ ब्रह्मा के हृदयाकाश से सर्वप्रथम नाद की उत्पत्ति हुई। ओङ्कार परमात्मा का साक्षात् वाचक है। यह ओङ्कार ही सम्पूर्ण मन्त्र, उपनिषद् और वेदों का सनातन बीज है। ओङ्कार में तीन वर्ण हैं—अ, उ और म्। ये तीनों वर्ण ३ गुण, ३ वेद, ३ लोक और ३ अवस्थाओं के द्योतक हैं। इन्हीं तीन वर्णों से समग्र अक्षर-समाग्राय, सम्पूर्ण वर्णमाला उत्पन्न हुई। ब्रह्मा जी ने उसी वर्णमाला द्वारा अपने चार मुखों से होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा—इन चार ऋत्विजों के कर्म बतलाने के लिये उँकार और व्याहृतियों के सहित चार वेद प्रकट किये और अपने पुत्र ब्रह्मर्षि मरीचि आदि को पढ़ाया। फिर शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा वेद-विद्या का महान् विस्तार हुआ। पुनः काल के प्रभाव से लोगों की बुद्धि क्षीण हो गई। वे समग्र वेद-राशि को धारण करने में असमर्थ हो गये।

फिर तो इस वैवस्वत मन्वन्तर में भगवान् ने सत्यवती के गर्भ से कृष्ण द्वैपायन व्यास के रूप में अवतार धारण कर वेदराशि का चार विभाग किया—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। व्यास जी के चार प्रधान शिष्य थे—पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु। उन्होंने इन चारों शिष्यों को क्रम से चारों वेदों की शिक्षा दी। इनके और भी बहुत-से शिष्य-प्रशिष्य हुए। इन लोगों ने शाखाओं के रूप में वेदों का विभाजन किया। वैशम्पायन के शिष्यों में एक थे—याज्ञवल्क्य। एक बार वैशम्पायन ने अपने शिष्यों से कहा कि—तुम सब लोग मिलकर हम से जो अनजान में ब्रह्म-हत्या हो गई है, उसका प्रायश्चित्त कर लो। इस पर तेजस्वी याज्ञवल्क्य ने कहा कि महाराज, आप छोटे-मोटे शिष्यों को क्यों ऐसा आदेश दे रहे हैं। इसके लिये तो अकेला मैं ही पर्याप्त हूँ। यह सुनकर वैशम्पायन जी क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने कहा कि तुम ब्राह्मणों का अपमान करते हो। अतः हमारी पढ़ाई हुई विद्या वमन कर दो और निकल जाओ इस आश्रम से—

इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याज्ञलं त्वया। विप्रावमन्ता शिष्येण मदधीतं त्यजाश्रितिः॥१२/६/६३

गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर याज्ञवल्क्य ने गुरु के द्वारा अधीत विद्या का वमन कर दिया। वैशम्पायन के शिष्यों ने बड़ी लोलुपता से वमन वेद को तीतर बनकर अपने मुख में ले लिया। यही कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा कही जाती है।

गुरु की सिखाई विद्या का वमन कर देने के बाद याज्ञवल्क्य ने सोचा कि मैं ऐसी श्रुतियाँ प्राप्त करूँ, जो मेरे गुरु जी के पास भी न हों। इसके लिये उन्होंने सूर्य की घोर उपासना की। उससे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्य ने वाजिरूप से यजुर्वेद के मन्त्रों का उपदेश किया—

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः। यजूंष्यथातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः॥१२/६/७३

इन मन्त्रों का ज्ञान दूसरे किसी को नहीं था। ये ही मन्त्र वाजसनेयी संहिता के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार उक्त शिष्यों के द्वारा चारों वेदों की शाखाओं का विपुल विस्तार संसार में हुआ॥६॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥



## सातवाँ अध्याय

( पुराणों का विभाजन तथा उनके लक्षण )

अथर्ववेद की शाखाओं का वर्णन कर लेने पर सूत जी ने कहा—शौनक जी, अब पौराणिक मुनियों के बारे में सुने—“शृणु पौराणिकान् मुने” ॥४॥ पुराणों के छः आचार्य प्रसिद्ध हैं—त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन और हारीत । व्यास जी ने पहले तीन-तीन पुराणों की एक-एक संहिता बनाकर हमारे पिता रोमहर्षण सूत को पढ़ाया । रोमहर्षण से उक्त छहों आचार्यों ने एक-एक संहिता पढ़ी फिर मैंने उन सभी आचार्यों से सभी संहिताओं का अध्ययन किया । पुराणों के दश लक्षण कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. सर्ग, २. विसर्ग, ३. वृत्ति (स्थान), ४. रक्षा (पोषण), ५. मन्वन्तर, ६. वंश, ७. वंशानुचरित (ईशानुक्ता), ८. संस्था (निरोध एवं मुक्ति), ९. हेतु (ऊति, कर्मवासना), तथा १०. अपाश्रय—

सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ति रक्षान्तराणि च । वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥११/७/९

भागवतमहापुराण में इन लक्षणों की सङ्गति इस प्रकार है—१. सर्ग-कारण सर्ग तृतीय स्कन्ध में । २. विसर्ग-कार्य सृष्टि (चराचर की सृष्टि) चतुर्थ स्कन्ध में । ३. वृत्ति, स्थान, द्वीपों की स्थिति पञ्चम स्कन्ध में । पोषण-षष्ठ स्कन्ध में जहाँ अजामिल की रक्षा की गई है । ५. ऊति-सप्तम स्कन्ध में, जहाँ ब्रह्माद और हिरण्यकशिपु की कर्म-वासनाएँ बतलाई गई हैं । ६. मन्वन्तर-अष्टम स्कन्ध में, ७. वंश, वंशानुचरित-नवम स्कन्ध में । ८. निरोध-दैत्यों का वध दशम में । ९. मुक्ति-एकादश स्कन्ध में और १०. अपाश्रय-ब्रह्म, द्वादश स्कन्ध में । इस श्लोक में इन लक्षणों का कथन एक क्रम से नहीं किया गया है । इन्हें खोजकर बैठाना पड़ता है । जिन पुराणों में ये दशों लक्षण मिलते हैं, वे महापुराण हैं और जिनमें पाँच का ही वर्णन हो उन्हें उपपुराण कहते हैं । महापुराणों की संख्या १८ है—

ब्राह्मं पाद्यं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम् । नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम् ॥

भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम् । वाराहं मातस्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट् ॥१२/७/२३-२४

शौनक जी, व्यास जी की शिष्य-परम्परा में जिस प्रकार वेदसंहिता और पुराण-संहिताओं का अध्ययन-अध्यापन, विभाजन आदि किया गया वह मैंने आप को सुना दिया । यह प्रसङ्ग सुनने और पढ़नेवालों के ब्रह्मतेज की अभिवृद्धि करता है ॥७॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

## आठवाँ अध्याय

( मार्कण्डेय जी की तपस्या और वर-प्राप्ति )

शौनक जी ने कहा—सूत जी, आप चिरञ्जीवी हों । आप वक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं । आप महान् अज्ञान-सागर में डूबते-उतराते प्राणियों को पार लगानेवाले हैं । आप कृपा करके हमारे एक प्रश्न का उत्तर दीजिये । लोगों का कहना है कि मार्कण्डेय जी चिरञ्जीवी हैं । प्रलय ने जिस समय सारे संसार को निगल लिया था, उस समय भी वे सुरक्षित बचे रहे । परन्तु सूत जी, वे तो इसी कल्प में हमारे ही वंश में उत्पन्न हुए एक श्रेष्ठ भृगुवंशी हैं । इस कल्प में प्राणियों का अभी तक कोई प्रलय नहीं हुआ है । ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव है कि प्रलय की बेला में जब वे, सारी पृथिवी के जल-निमग्न हो जाने पर, डूब-उतरा रहे थे, तब उन्होंने अक्षयवट के पत्र पर अत्यन्त अद्भुत बालक बाल मुकुन्द का दर्शन किया ? कृपा कर आप मेरे इस महान् संशय का निवारण करें ।



सूत जी ने कहा—महर्षि शौनक जी, आपने अति सुन्दर प्रश्न किया है। इससे लोगों का भ्रम समाप्त हो जायेगा। और सब से बड़ी बात यह है कि इस कथा में भगवान् नारायण की महिमा है। जो इसका गान करता है, उसके सारे कलिलमल नष्ट हो जाते हैं—

प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं कृतो लोकभ्रमापहः । नारायणकथा यत्र गीता कलिलमलापहा ॥१२/८/६

अब आप सावधान होकर सुनें। मैं मार्कण्डेय जी का प्रसङ्ग सुना रहा हूँ। पिता मूकण्डु ने जब उनका उपनयन-संस्कार सम्पन्न कर दिया तब वे गुरुकुल में निवास कर तप और स्वाध्याय में निरत रहने लगे। ब्रह्मचर्य का पालन और गुरु-शुश्रूषा उनके जीवन के प्रधान कर्तव्य थे। स्वाध्याय और तप उनके जीवन के अभिन्न सङ्गी थे। मन को रोक कर भगवान् की तीव्र आराधना करते-करते उन्हें छः मन्वन्तर व्यतीत हो गये। अति घोर तपस्या से उन्होंने मृत्यु को भी जीत लिया था। इन्द्र ने उनकी तपस्या भङ्ग करने के लिये कामदेव, वसन्त और अप्सराओं को भेजा। उन्होंने वहाँ जाकर ऋषि के तप-भङ्ग के लिये महान् प्रयास किया। गन्धर्वों ने गान किया। अप्सराओं ने अपने पायल की रुन-झुन झङ्कार से आश्रम को आन्दोलित कर दिया। कामदेव ने ऋषि को लक्ष्य कर एक साथ अपने पाँचों पुष्प-बाणों को चला दिया। किन्तु ऋषि का मन न क्षुभित हुआ और न विचलित ही। कामदेव पराजित हुआ, असफल हुआ, और लज्जित होकर लौट गया इन्द्र के पास। समाचार सुनकर इन्द्र आश्चर्य से चकित हो गये—

दृष्ट्वा निस्तेजसं कामं सगणं भगवान् स्वराट् । श्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षेर्विस्मयं समगात् परम् ॥१२/८/३१

ऋषि-प्रवर की ऐसी कठिन तपस्या से प्रसन्न होकर नर-नारायण उनके सामने प्रकट हो गये। उनमें एक श्वेत थे और दूसरे श्याम। उनके नेत्र कमलों की तरह विशाल थे—“तौ शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ” ॥३३॥ दोनों का सौन्दर्य अद्भुत था। मृगचर्म उनकी शरीर पर शोभा पा रहे थे। नर-नारायण को देखकर मार्कण्डेय जी के आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने नर-नारायण को सादर आसन पर बैठाया और उनकी विधिवत् पूजा की फिर भावभरे १० श्लोकों से उनकी स्तुति की।

मार्कण्डेय जी ने कहा—महाराज, मैं आप की महिमा का वर्णन क्या करूँ? आपके ही कारण हमारी वाणी बोलती है, जिह्वा हिलती है और प्राण-वायु चलती है। आपके दर्शन से आपके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। ब्रह्मा आदि देवगण भी आप की महिमा को जानने में असमर्थ हैं फिर मेरे जैसे-लोग आप को जान ही कैसे सकते हैं? प्रभो, मैं आप के चरण-कमलों की बार-बार वन्दना करता हूँ—

वन्दे महापुरुषमात्मनि गूढबोधम् ॥१२/८/४९

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

•

## नवाँ अध्याय

( मार्कण्डेय जी द्वारा माया और मायापति का दर्शन )

सूत जी ने कहा—शौनक जी, मार्कण्डेय जी की स्तुति सुनकर प्रसन्न हुए भगवान् नर-नारायण ने कहा—मुनिवर, मैं आप की स्तुति से प्रसन्न हूँ। आप जो चाहें वह वरदान मुझसे मांग लें। मार्कण्डेय मुनि ने कहा—भगवन्, इस संसार में बड़े-बड़े ब्रह्मादिक देवों और योगियों के लिये भी दुर्लभ आप का साक्षात् दर्शन मुझे मिल गया। अब मुझे क्या चाहिये? फिर भी, यदि आपकी आज्ञा है तो हे कमलनयन, मैं आपकी उस माया को देखना चाहता हूँ, जिससे एक अद्वितीय ब्रह्म में विविध भेद दिखलाई पड़ते हैं—



अथाप्यम्बुजपत्राक्ष पुण्यश्लोकशिखामणे । द्रक्ष्ये मायां यया लोकः सपालो वेद सद्भिदाम् ॥१२/९/६

सूत जी ने कहा—मुनिवर की वाणी सुनकर भगवान् मुस्कराये और कहा ठीक है—ऐसा ही होगा । इसके बाद भगवान् बदरिकाश्रम चले गये । मार्कण्डेय जी तुङ्गभद्रा नदी के तट पर अपने आश्रम में बैठकर भगवान् के ध्यान में निमग्न थे । एक दिन सायंकाल की बेला थी । मुनिवर नदी के तट पर बैठकर सन्ध्या कर रहे थे । उसी समय अचानक आकाश काले-काले बादलों से घिर गया । चारों ओर बिजलियाँ चमकने लगीं । भीषण गड़गड़ाहट से संसार कम्पित हो उठा । आकाश से मुसलाधार वर्षा होने लगी । जोरों की आँधी-चल रही थी, उताल तरङ्गों वाले सागर ने सकल भू-मण्डल को, सारी त्रिलोकी को, जल में डुबो दिया । एकमात्र मार्कण्डेय जी ही बचे थे । वे जल में कभी डूबते थे । कभी उतरते थे । उस समय वे पागल और अन्धे के समान अपने को बचाते भाग रहे थे—

स एक एवोर्वरितो महामुनिर्बभ्राम विक्षिप्य जटा जडान्यवत् ॥१२/९/१५

भूख और प्यास के कारण वे व्याकुल हो गये थे । उन्हें मगर कभी निगलते थे तथा कभी उगलते थे । सागर की बड़ी-बड़ी तरङ्गें उन्हें कभी यहाँ फेंकती थीं और कभी वहाँ । नाना प्रकार की आधियाँ और व्याधियाँ उन्हें पीड़ित कर रही थीं । कभी वे मर जाते थे और कभी जीवित हो जाते थे । इस प्रकार की विपत्तियों को झेलते करोड़ों वर्ष व्यतीत हो गये—ऐसा उन्हें अनुभव हुआ ।

एक दिन मुनिराज ने देखा कि भूतल के एक टीले पर बरगद का एक छोटा-सा सुकोमल वृक्ष है । वह पत्रों और पुष्पों से लदा हुआ है । उस वृक्ष की ईशान कोण की एक डाल के पत्ते पर साँवला-साँवला-सा एक नन्हा शिशु लेटा हुआ है । उसके अङ्गों की कान्ति अद्भुत है । वह पत्ते पर लेटे-लेटे ही अपने नन्हें हाथों की सुन्दर अँगुलियों से चरण के एक अँगूठे को मुख में डालकर चूस रहा है । मार्कण्डेय मुनि इस अद्भुत दृश्य को देख कर विस्मित हो गये—

चार्चुल्लिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम् । मुखे निधाय विप्रेन्द्रो ध्यन्तं वीक्ष्य विस्मितः ॥१२/९/२५

उस दिव्य शिशु को देखते ही मार्कण्डेय मुनि की सारी थकावट दूर हो गई । आनन्द से उनके हृदय-कमल और नेत्रकमल खिल गये । शरीर रोमाञ्चित हो उठा । बालक के इस अद्भुत रूप को देखकर मोहित तथा सशङ्कित मुनिराज उसकी ओर ज्यों ही बढ़ने लगे तभी बालक के श्वास से खिंचकर, मशक के समान, झट उसके उदर में चले गये । वहाँ उन्होंने सकल ब्रह्माण्ड को देखा । अभी आश्चर्यचकित मुनिराज कुछ सोच ही रहे थे कि बालक के निःश्वास द्वारा बाहर निकल कर पुनः जल में आ गिरे फिर उन्होंने बट-पत्र पर लेटे हुए उस बालक को पूर्व की भाँति देखा । अब भी वह बालक मन्द-मन्द मुस्कान के साथ मुनिराज को देख रहा था । मुनि ने उस साँवरी सलोनी मूर्ति को अपने हृदय में सर्वदा के लिये बसा लिया । उनकी इच्छा हुई कि इसे अपनी छाती से सटा लूँ । इसके लिये उन्होंने ज्यों ही अपने हाथों को बढ़ाया कि वह बालक अन्तर्धान हो गया । उसके अन्तर्धान होते ही सारा प्रलयकालीन दृश्य तिरोहित हो गया । न कहीं प्रलय था और न कहीं बट-वृक्ष । मार्कण्डेय मुनि ने देखा कि वे पहले के समान अपने आश्रम में बैठे हुए हैं ॥९॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

१. काराविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् । वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥कृष्णकर्णामृत॥



## दसवाँ अध्याय

( मार्कण्डेय मुनि को भगवान् शङ्कर का वरदान )

सूत जी ने कहा—शौनकादि ऋषियों, मार्कण्डेय मुनि इस प्रकार नारायण की योगमाया के प्रभाव का अनुभव कर करके मन-ही-मन उनकी महिमा का गान करते हुए उनके शरणागत हो गये—

स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम् । वैभवं योगमायायास्तमेव शरणं ययौ ॥१२/१०/१

वे मन-ही-मन भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे थे—हे प्रभो, मैं शरणागतों को अभय प्रदान करनेवाले आपके चरण-कमलों की शरण में हूँ। बड़े-बड़े विद्वान् ज्ञानी-जन भी आपकी माया के समक्ष विवश होकर मोहित हो जाते हैं। प्रभो, मैं यह समझ गया हूँ कि इस माया से पार पाने का एकमात्र उपाय आपकी शरणागति ही है।

इस प्रकार माया के दर्शन से श्रान्त मुनि भगवान् नारायण के चरण का चिन्तन कर रहे थे। उसी समय एक दिन एक घटना घटी। भवानी के साथ भ्रमण करते हुए भगवान् शङ्कर उनके आश्रम पर पधारे। पार्वती जी ने मुनि को समाधि में तल्लीन देखकर कहा—भगवान्, देखिये तो सही, यह मुनि किस प्रकार समाधि में तल्लीन हो रहे हैं। चलिये, इन्हें इच्छित वर प्रदान कर इनकी तपस्या सफल बना दीजिये। भगवान् शङ्कर ने कहा—देवि, यह मुनि मार्कण्डेय जी हैं। यह भगवान् नारायण की प्रेमलक्षणा भक्ति में विलीन हैं। इनकी भक्ति निष्काम भक्ति है। इन्हें न तो अणिमादि सिद्धियों की कामना है और न मोक्ष की इच्छा फिर भी चलो इनके पास। संसार में भक्तों का समागम बड़े सौभाग्य से मिलता है—यह कहकर भवानी के सहित भगवान् भव मुनि की सन्निधि में पहुँचे।

अथापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना । अयं हि परमोलाभो नृणां साधुसमागमः ॥१२/१०/७

मुनि समाधि में स्थित होने से निश्चेष्ट थे। शङ्कर ने उन्हें जगाने का उपाय सोचा। वे झट-पट अपनी माया के सहारे प्राणवायु के द्वारा उनके हृदयाकाश में प्रविष्ट हो गये—

भगवांस्तदभिज्ञाय गिरीशो योगमायया । आविशत्तद्गुहाकाशं वायुश्छिद्रमिवेश्वरः ॥१२/१०/१०

मुनि ने अपने हृदय में जटा, त्रिशूल और डमरूधारी शङ्कर को देखा। वे आश्चर्यचकित हो उठे। उनकी समाधि टूट गई। नेत्र खुल गये। उन्होंने देखा कि उमा-सहित त्रिपुरारि सामने खड़े हैं। हड़बड़ा कर मुनि उठे। प्रलयङ्कर शङ्कर के चरणों पर गिर गये। आँखों से अविर्ल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। बड़ी कठिनाई से वे उठे। सादर आसन पर बैठकर पूजा की। पूजा के बाद हाथ जोड़कर स्तुति करने लग गये—मैं आपके त्रिगुणातीत सदाशिव स्वरूप को और सत्त्वगुण से संवलित शान्त स्वरूप को प्रणाम करता हूँ। मैं आपके रजोगुणयुक्त सर्वप्रवर्तक स्वरूप एवं तमोगुणयुक्त अघोर स्वरूप को नमस्कार करता हूँ—

नमः शिवाय शान्ताय सत्त्वाय प्रमृडाय च । रजोजुषेऽप्यधोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे ॥१२/१०/१७

स्तुति से प्रसन्न हुए शङ्कर जी ने कहा—मुनिवर, मैं आप पर प्रसन्न हूँ। मांग लीजिये आप को जो चाहिये। मेरा दर्शन अमोघ है। आप तो निःसङ्ग सन्त ब्राह्मण हो। निरन्तर मेरी आराधना करनी ही आप की जीवनचर्या है। आप जैसे महात्मा मुझमें, ब्रह्मा में और विष्णु में कोई भेद-भाव नहीं रखते—

न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते ॥१२/१०/२२

इसलिये हमलोग आप जैसे महात्माओं पर प्रसन्न रहते हैं और आपकी अभिलाषा पूरी करना चाहते हैं। देखिये मुनिवर, जड का नाम देवता नहीं होता, पानी का नाम तीर्थ नहीं होता। वे तो बहुत विलम्ब से व्यक्ति को पवित्र करते हैं किन्तु आप जैसे सन्तों के दर्शनमात्र से ही पवित्रता प्राप्त हो जाती है—



न ह्यम्मयानि तीर्थानि, न देवाश्चेतनोज्झिताः । ते पुनन्त्युरुकालेन, यूयं दर्शनमात्रतः ॥१२/१०/२३ समाधि, तप, स्वाध्याय और संयम धारण करनेवाले ब्राह्मण वेदत्रयी-स्वरूप होते हैं अतः हमलोग उन्हें प्रणाम करते हैं । ब्राह्मणों से श्रेष्ठ इस संसार में कोई अन्य देवता नहीं है । ब्राह्मणों के दर्शनमात्र से महापातकी भी शुद्ध हो जाते हैं यदि उनके साथ संभाषण और सत्सङ्ग हो जाय तो फिर कहना ही क्या है ?

मार्कण्डेय जी ने कहा—प्रभो, यह तो आपकी लीला है जो संसार को शिक्षा देने के लिये मुझ सेवक ब्राह्मण की ऐसी प्रशंसा कर रहे हैं । मैं बारम्बार आपके चरण-कमलों पर अपना प्रणाम अर्पित कर रहा हूँ । आपके दर्शनमात्र से व्यक्ति पूर्णकाम, सत्यकाम हो जाता है फिर भी आप की आज्ञा है, तो एक वर माँग लेता हूँ—मुझे भगवान् विष्णु की अनपायिनी अच्युत भक्ति प्राप्त हो । भगवान् के भक्तों की भक्ति मुझे मिले और आपमें भी मेरी भक्ति बनी रहे—

भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि ॥१२/१०/३४

इसके बाद मार्कण्डेय मुनि ने भगवान् की सेवा-पूजा की । प्रसन्न हुए शङ्करजी ने कहा—मुनिवर, ऐसा ही होगा । आप कल्पपर्यन्त इसी प्रकार अजर और अमर बने रहेंगे । आप त्रिकालदर्शी होंगे और पुराणों के कर्ता भी बनेंगे ऐसा कहकर भगवान् शङ्कर अन्तर्धान हो गये । मार्कण्डेय जी को उनकी तप-साधना का परम फल मिल गया । मार्कण्डेय जी का चरित भगवान् के प्रभाव और महिमा से भरपूर है । जो इसको सुनते हैं, समझते हैं और कहते हैं, वे इस संसार के जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाते हैं ॥१०॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१०॥

## ग्यारहवाँ अध्याय

( भगवान् के अङ्ग, उपाङ्ग और आयुधों का रहस्य तथा सूर्य के व्यूह का वर्णन )

शौनक जी ने पूछा—सूत जी, पाञ्चरात्र आदि तन्त्रों की विधि जाननेवाले विद्वान् लक्ष्मीपति भगवान् की आराधना करते समय किन-किन तत्त्वों से उनके चरण आदि अङ्ग, गरुड़ आदि उपाङ्ग, सुदुर्शन आदि आयुध और कौस्तुभ आदि आभूषणों की कल्पना करते हैं ?—

तान्त्रिकपरिचर्यायां केवलस्य श्रियः पतेः । अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथा च यैः ॥१२/११/२ पाञ्चरात्र आदि आगम तन्त्र कहे जाते हैं । उसमें वर्णित भगवान् की आराधना-पद्धति को क्रिया-योग कहते हैं ।

सूत जी ने अपने गुरु को नमस्कार करके कहा—शौनक जी, प्रकृति, सूत्र, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ, ११ इन्द्रियाँ, और ५ महाभूत, इन्हीं २५ तत्त्वों से विराट् पुरुष का विग्रह बना है । इसी में तीनों लोक कल्पित हैं । यह भगवान् का पौरुष-रूप है । इसमें पृथिवी भगवान् का चरण है, स्वर्ग शिर है, नभ नाभि है और सूर्य नेत्र है, वायु नासिका है, दिशाएँ कर्ण हैं, प्रजापति जननेन्द्रिय हैं, मृत्यु पायु है, लोकपाल भुजाएँ हैं, चन्द्रमा मन है, यम ध्रुव है, लज्जा ऊपर का ओष्ठ है, लोभ अधरोष्ठ है, चाँदनी दन्तपंक्ति है, माया हास्य है, वृक्ष रोमावली है और मेघ केशराशि है । इस प्रकार विराट् ही भगवान् का रूप है और यह भी साढ़े तीन हाथ का ही है । इस तरह तत्त्व पदार्थों में भगवान् के तत्तत् अङ्गों की कल्पना कर पूजा करनी चाहिये । भगवान् के आभूषणों में कौस्तुभमणि शुद्ध चैतन्य है । कौस्तुभ की प्रभा ही श्रीवत्स है । माया ही वनमाला है । वेद पीताम्बर हैं और प्रणव यज्ञोपवीत है । सांख्य-योग उनके कुण्डल हैं । ब्रह्मलोक मुकुट है । शेषनाग आसन हैं । सत्त्वगुण पद्म है । प्राण-तत्त्व गदा है और जल-तत्त्व शङ्ख है । तेजस्तत्त्व सुदर्शन चक्र है, आकाश-तत्त्व खड्ग है, तमोमय ढाल है । काल शार्ङ्ग धनुष है । कर्म



तरकस है। इन्द्रियाँ शर और मन रथ है। षड्विध ऐश्वर्य लीला-कमल है। धर्म चँवर है। छत्र वैकुण्ठ है। वेदरूप गरुड वाहन है। भगवान् की शक्ति ही श्री है। पाञ्चरात्र आदि आगम विष्वक्सेन हैं। आठ अणिमादि सिद्धियाँ गुण हैं। नन्द-सुनन्द आदि द्वारपाल हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण आदि उनका चतुर्व्यूह है। उस प्रकार भगवान् का श्रीविग्रह तत्त्वस्वरूप है। वे संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं।

इतना वर्णन करते-करते श्रीसूत जी को भगवान् का स्मरण हो आया अतः वे उनको ही लक्ष्य करके कहने लगे— श्रीकृष्ण, प्रभो, आप के नाम श्रवणमात्र से मङ्गलकारी हैं। हम आपके सेवक हैं, भृत्य हैं। आप हमारी रक्षा करें।

इसके बाद शौनक जी ने प्रश्न किया—सूर्यात्मक हरि के व्यूह का वर्णन भी कृपा करके कीजिये। इस पर सूत जी ने कहा—शौनक जी, भगवान् सूर्य प्रत्येक मास में भिन्न रूप से प्रकट होते हैं। इसी के साथ छः प्राणियों का समूह भी रहता है। यह भी प्रत्येक महीने में भिन्न-भिन्न हुआ करता है। इन्हीं के साथ सूर्य जगत् का व्यवहार चलाने के लिये सर्वत्र विचरण किया करते हैं। उदाहरणार्थ—चैत्र मास को धाता नामक सूर्य, अप्सरा, राक्षस, नाग, यक्ष, ऋषि, गन्धर्व—इन छः गणों के साथ, बिताते हैं। इसी तरह अर्यमा, मित्र, वरुण, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, अंशु, भग, त्वष्टा और विष्णु नामक सूर्य वैशाख आदि महीनों को अपने पृथक्-पृथक् छः गणों के साथ व्यतीत करते हैं। ऋषि सूर्य का यशोगान करते हैं। गन्धर्व उनका गान करते हैं। अप्सराएँ नाचती हुई चलती हैं। नाग रथ को बाँधने का कार्य करते हैं। यक्ष रथ की रखवाली करते हैं। राक्षस पीछे से रथ में धक्का लगाते चलते हैं, ढकेलते हैं। बालखिल्य ऋषि सूर्य की स्तुति करते रहते हैं। इस प्रकार भगवान् हरि ही द्वादश सूर्य के रूप में सर्वदा संसार का संरक्षण करते हैं ॥११॥

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥

## बारहवाँ अध्याय

### ( श्रीमद्भागवत की संक्षिप्त विषय-सूची )

श्री सूतजी ने कहा— मैं भगवद्भक्तिरूप महान् धर्म को, विश्वविधाता भगवान् श्रीकृष्ण को और व्यास आदि ब्राह्मणों को नमस्कार करके श्रीमद्भागवत में कथित सनातन धर्म सम्बन्धी भगवान् के मङ्गलमय चरित्रों का संक्षेप में वर्णन कर रहा हूँ—

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेद्यसे । ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्ये सनातनान् ॥१२/१२/१

ऋषियों, आप लोगों ने भगवान् विष्णु के चरित्र के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मैंने सुना दिया। इस श्रीमद्भागवत महापुराण में सर्वपापहारी स्वयं भगवान् श्रीहरि का वर्णन हुआ है—

अत्र सङ्कीर्तितः साक्षात् सर्वपापहरो हरिः ॥१२/१२/३

इस महापुराण के प्रथम स्कन्ध में भक्तियोग और वैराग्य का वर्णन है। इसके अतिरिक्त परीक्षित का उपाख्यान, नारद का आख्यान, परीक्षित का गङ्गातट पर प्रायोपवेशन आदि वर्णित है। द्वितीय स्कन्ध में भगवान् का विराट् स्वरूप, योगियों की पद्धति के अनुसार सद्योमुक्ति एवं क्रम-मुक्ति, नारायण द्वारा ब्रह्मा को चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश एवं पुराण के दश लक्षण बतलाये गये हैं। तृतीय स्कन्ध में विदुर-उद्धव-सम्वाद, विदुर-मैत्रेय-संवाद, प्राकृत वैकृत आदि सर्ग, वाराहावतार, कर्दम का चरित्र और कपिलावतार वर्णित है। चतुर्थ स्कन्ध में मनु की कन्याओं की वंश-परम्परा, ध्रुव-चरित, पृथु, प्राचीनर्बाहि और नारद आदि का संवाद उल्लिखित है। पञ्चम स्कन्ध में प्रियव्रत की कथा, गृहस्थ-धर्म का वर्णन, नाभि-पुत्र ऋषभ देव का चरित, भरत-रहगुण-संवाद, भवाटवी का कथन, भूगोल,



खगोल और नरक-यातनाओं का उपन्यास है। षष्ठ स्कन्ध में भगवान् के अनुग्रह का वर्णन है। अजामिलोपाख्यान, दक्ष-जन्म, दक्ष-कन्याओं का वंश और वृत्रासुर का प्रसङ्ग भी इसी में कथित है। सातवें स्कन्ध में प्रह्लाद-चरित है। अष्टम स्कन्ध में गजेन्द्र-मोक्ष, समुद्र-मन्थन, वामन और बलिम-चरित्र तथा मत्स्यावतार की पावन कथा है। नवम स्कन्ध में सूर्य-वंश और सोम-वंश का संक्षिप्त कथन है। राम-जन्म, अम्बरीषोपाख्यान और यदुवंश के प्रसङ्ग से संक्षिप्त कृष्णोपाख्यान भी इसी में वर्णित है।

दशम स्कन्ध भागवत का हृदय है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। कृष्ण की शिशु-लीला की बाँकी झाँकी भी इसमें देखने को मिलती है। इस स्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म, पूतना-वध, शकटासुर-वध, तृणावर्त-वध, वत्सासुर-वध, बकासुर-वध, कालिय-दमन, धेनुकासुर-वध, प्रलम्बासुर-वध, दावाग्रि से गोपों की रक्षा, वेणुगीत, चीर-हरण-लीला, गोवर्धन-धारण, इन्द्र-दमन, गोपी-गीत, महारास-लीला, युगल-गीत, शङ्खचूड-वध, अक्रूर के साथ भगवान् का मथुरा-गमन, कुवलयापीड हाथी का वध, मुष्टिक, चाणूर आदि मल्लों का वध, कंस-वध, जरासन्ध-पराजय, कालयवन-विनाश, द्वारका-निर्माण, रुक्मिणी-हरण, प्रद्युम्न-प्रसङ्ग, स्यमन्तकमणि-कथा, कृष्ण-बाणासुर-युद्ध, नृग का उद्धार, पौण्ड्रक-वध, भौमासुर-वध, शिशुपाल-वध, सुदामा-चरित, और वेद-स्तुति आदि वर्णित हैं।

एकादश स्कन्ध में भगवान् और उद्धव का संवाद है। इस संवाद में आत्मविद्या का वर्णन है। इसी में दत्तात्रेय के २४ गुरुओं की चर्चा भी है। स्कन्ध के अन्त में भगवान् के स्वधाम-गमन की कथा है। द्वादश स्कन्ध में भावी राजाओं का, युग-लक्षण का, परीक्षित के देह-त्याग का, वेद-शाखा-विभाग का, मार्कण्डेय की कथा का, महापुरुष के अङ्गोपाङ्गादि का और सौर-गण का वर्णन है।

शौनकादि ऋषियों, आप लोगों ने इस सत्सङ्ग के अवसर पर मुझसे जो कुछ पूछा था, उसका वर्णन मैंने कर दिया। निःसन्देह इस वर्णन के सन्दर्भ में मैंने भगवान् की लीलाओं और उनके अवतार चरित्रों की ही चर्चा की है। उन्हीं के नामों का ही सङ्कीर्तन किया है।

जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय, विवशता से भी, ऊँचे स्वर से बोल उठता है—‘हरये नमः’, ‘हरये नमः’ वह सब पापों से मुक्त हो जाता है—

पतितः स्खलितश्चातः क्षुत्वा वा विवशो ब्रुवन् । हरये नमः इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥१२/१२/४६

नाम-सङ्कीर्तन करने से भगवान् आकर हृदय में खूँटा गाड़कर बैठ जाते हैं। भगवान् के हृदय में विराजमान होते ही प्राणी के सारे पाप-ताप विनष्ट हो जाते हैं। भगवान् का कीर्तन न करनेवाली, भगवान् की कथा न कहने वाली प्राणी की बाणी निरर्थक है। इस संसार में भगवान् का गुणानुवाद ही सत्य है, मङ्गल की खान है, मन को आनन्द के सागर में डुबोने का सरलतम साधन है, शोक-सागर को सुखाने का प्रबलतम कारण है—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं, तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।

तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां, यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥१२/१२/४९

भगवान् के नाम और यश से रहित सुन्दरतिसुन्दर कविता भी फीकी है, अनादरणीय है और भगवान् के नाम एवं यश से अङ्कित टूटी-फूटी कविता भी, मणिमाला की तरह, कण्ठ में धारणीय है। अच्युत के भाव से वर्जित नैष्कर्म्य-ज्ञान की भी पूरी शोभा नहीं होती—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ॥१२/१२/५२

श्रीमद्भागवत की कथा सदा कृष्ण का स्मरण करानेवाली है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमल का नित्य निरन्तर स्मरण व्यक्ति के सारे अमङ्गलों को दूर करके परम शान्ति की अनुभूति कराता है—



**अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयोः क्षिणोत्थभद्राणि शमं तनोति च ॥१२/१२/५४**  
 ब्राह्मणों, आपलोग धन्य-धन्य हो, जो भगवान् की ऐसी अनुपम भक्ति करते हो। आप लोगों ने बार-बार प्रश्न करके मुझसे वासुदेव कथा का वर्णन करवा लिया। भगवान् की यह भागवती कथा वक्ता श्रोता-दोनों का परम कल्याण करती है। प्राणी को जिस फल की प्राप्ति वेदों के पारायण से होती है, वही श्रीमद्भागवत के पाठ से भी मिलती है। इसके पाठ से ब्राह्मण निर्मल बुद्धि, क्षत्रिय भू-पति और वैश्य धनपति बन जाता है। भागवत के श्रवण से शूद्र भी समस्त पातकों से मुक्त हो जाता है—

**विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम् ।**

**वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात् ॥१२/१२/६४**

इसमें आदि से अन्त तक प्रधान रूप से कृष्ण-चरित का ही वर्णन किया गया है अतः मोक्षाभिलाषी व्यक्ति को इसका पाठ स्वयं अपने मुख से श्रद्धा-भक्ति के साथ करना चाहिये।

अन्त में मैं अपनी नव-नव शक्तियों के साथ क्रीडा करनेवाले, देवों के भी आराध्य देव सनातन भगवान् के श्रीचरणों में श्रद्धा के साथ नमस्कार करता हूँ।

श्रीशुकदेव जी महाराज अपने आत्मानन्द में ही निमग्न रहा करते थे। इस अखण्ड अद्वैत दृष्टि से उनकी सारी भेद-दृष्टि समाप्त हो गई थी फिर भी मुरली-मनोहर श्यामसुन्दर की मधुमयी, मङ्गलमयी, मनोहारिणी लीलाओं ने उनकी चित्त वृत्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। यही कारण है कि उन्होंने संसार के प्राणियों पर कृपा करके भगवत्तत्त्व को प्रकाशित करनेवाले इस महापुराण का विस्तार किया है। मैं उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेव जी के चरणों में अपनी प्रणामाञ्जलि निवेदित करता हूँ—

**स्वमुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्णसारस्तदीयम् ।**

**व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥१२/१२/६८**

**॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१२॥**

## तेरहवाँ अध्याय

( विभिन्न पुराणों की श्लोक-संख्या और भागवत-दान की महिमा )

श्री सूत जी ने कहा—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र और मरुद्गण दिव्य स्तुतियों के द्वारा जिनके गुण-गणों के गान में संलग्न रहते हैं; साम-सङ्गीत के मर्मज्ञ ऋषि-मुनि अङ्ग, पद, क्रम एवम् उपनिषदों के सहित वेदों द्वारा जिनका गान करते रहते हैं; योगीजन ध्यान के द्वारा निश्चल एवं तल्लीन मन से जिनका भावभरा दर्शन प्राप्त करते रहते हैं; किन्तु यह सब करते रहने पर भी देवता, दानव और मानव—कोई भी जिनके यथार्थ स्वरूप को पूर्णतया न जान सके उन स्वयं प्रकाश परमात्मा को हम प्रणाम करते हैं—

**यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुवन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।**

**ध्यानावस्थिततद्गतैर् मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥१२/१३/१**

१. सूत जी ने प्रथम स्कन्ध, द्वितीय अध्याय, तृतीय श्लोक में भी अपने गुरु श्रीशुकदेव जी को इन्हीं भावों के साथ प्रणामाञ्जलि निवेदित की है। आदि में भी गुरु को प्रणाम और अन्त में भी गुरु को प्रणाम।



आगे साहित्यशास्त्र की सुन्दर छटा बिखरते हुए सूत महाराज कच्छपस्वरूप भगवान् विष्णु की आशीर्वादपरक स्तुति करते हुए कहते हैं—अमृत के लिये समुद्र-मन्थन चल रहा था। अतिगुरुता के कारण मथानी बना मन्दर अन्दर की ओर धँसा जा रहा था। भगवान् श्रीहरि ने कच्छप का रूप धारण कर मन्दर को अपनी पीठ पर धारण कर लिया। मन्दराचल मथानी बना घूम रहा था। उसके विशाल प्रस्तर-खण्डों की नोक से खुजलाने के कारण कच्छप भगवान् को बड़ा सुख मिला। उन्हें निद्रा-सी आ गई। निद्रा में श्वास-प्रश्वासों की गति जरा तीव्र हो गई। उनसे सागर के जल में धक्का लगा। सागर में उस समय और उस के संस्कारवश आज भी, उसके वेगवश आज भी, दिन-रात ज्वार-भाटा आता रहता है। भगवान् कच्छप की परम प्रभावशाली वही श्वास-वायु आप लोगों की रक्षा करे—

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनाभिद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः ।

यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नद्यापि विश्राम्यति ॥१२/१३/२

श्री सूत जी ने आगे कहा—शौनक जी, अब मैं पुराणों की श्लोक संख्या, श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य और भागवत के दान की महिमा आप लोगों को सुना रहा हूँ—

पहला ब्रह्मपुराण है, इसकी श्लोक-संख्या दस हजार है। दूसरा पद्मपुराण है, इसके श्लोकों की संख्या पचपन हजार है। तीसरा विष्णु पुराण है, इसकी श्लोक-संख्या तेईस हजार है। चौथा शिवपुराण है, इसके श्लोकों की संख्या चौबीस हजार है। पाँचवाँ श्रीमद्भागवत पुराण है, इसकी श्लोक-संख्या अठारह हजार है। छठा नारदपुराण है, इसमें श्लोकों की संख्या पच्चीस हजार है। सातवाँ मार्कण्डेय पुराण है, इसकी श्लोक-संख्या नौ हजार है। आठवाँ अग्निपुराण है, उसमें श्लोकों की संख्या पन्द्रह हजार चार सौ है। नवाँ भविष्य पुराण है, इसकी श्लोक संख्या चौदह हजार पाँचसौ है। दशवाँ ब्रह्म-वैवर्त पुराण है, इसमें अठारह हजार श्लोक हैं। ग्यारहवाँ लिङ्ग-पुराण है, इसमें श्लोकों की संख्या ग्यारह हजार है। बारहवाँ वाराह पुराण में चौबीस हजार श्लोक हैं। तेरहवाँ पुराण है स्कन्द पुराण। इसके श्लोकों की संख्या सबसे अधिक इक्यासी हजार एक सौ है। चौदहवाँ पुराण है—वामन पुराण, इसमें दश हजार श्लोक हैं। पन्द्रहवाँ कूर्मपुराण है, इसमें सत्रह हजार श्लोक हैं। सोलहवाँ मत्स्य पुराण है, उसके श्लोकों की संख्या चौदह हजार है। सत्रहवाँ गरुडपुराण है, इसमें उन्नीस हजार श्लोक हैं और अठारहवाँ ब्रह्माण्ड पुराण है, इसमें बारह हजार श्लोक हैं। इस प्रकार सब मिलाकर पुराणों की श्लोक-संख्या चार लाख है। सारे पुराणों में श्रीमद्भागवत मुकुटमणि है, महिमा में सबसे बढ़कर है। इसे भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात् शब्दात्मक श्रीविग्रह कहा गया है। जो पुरुष भाद्रपद मास की पूर्णिमा के दिन श्रीमद्भागवत को सुवर्ण के सिंहासन पर रखकर उसका दान करता है, वह साक्षात् वैकुण्ठ-पद का अधिकारी बनता है जैसे नदियों में गङ्गा सर्वश्रेष्ठ है जैसे देवों में भगवान् श्रीविष्णु सबसे महान् हैं, वैष्णवों में जैसे शङ्कर सर्वशिरोमणि हैं वैसे ही सारे पुराणों में श्रीमद्भागवत अग्रणी है, बेजोड़ है।

निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा । वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥१२/१३/१६

यह महापुराण ज्ञान, वैराग्य और भक्ति-रस का लहराता, छलकता महासागर है। भागवत के रसास्वादनकर्ता को अन्य सब नीरस-से प्रतीत होते हैं। भागवत के आलोडन से अन्य शास्त्रों के अध्ययन की जिज्ञासा भी शान्त हो जाती है। यही इसकी सर्वातिशायिनी विशेषता है—क्यों न हो ऐसा इसके विषय में ! ठहरा जो यह सारे शास्त्रों का, वेद-वेदाङ्गों का नवनीत सार। यही कारण है कि वैष्णव-जन इसे अपना परम धन मानते हैं। इसके श्रवण, पठन और मनन से भगवान् की प्राप्ति और फिर मुक्ति अति सुलभ हो जाती है—

यच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥१२/१३/१८

श्रीमद्भागवत ज्ञान-प्रदीप है। इसे सर्व प्रथम भगवान् नारायण ने ब्रह्मा जी के लिये प्रकाशित किया था फिर उन्होंने ही ब्रह्मा जी के रूप में देवर्षि नारद को उपदेश दिया और नारद जी के रूप में भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास



को । तदनन्तर उन्होंने ही व्यासरूप से योगीन्द्र श्रीशुकदेव जी को और शुकदेव जी के रूप से अत्यन्त करुणावश राजर्षि परीक्षित को उपदेश किया । वे भगवान् परम शुद्ध एवं माया-मल से रहित हैं । शोक और मोह उनके पास तक नहीं फटक सकते । हम सभी उन्हीं परम सत्यस्वरूप भगवान् नारायण का ध्यान करते हैं—

“विशोकममलं सत्यं परं धीमहि ॥” १९

हृदय—“सत्यं परं धीमहि” से प्रारम्भ होनेवाला श्रीमद्भागवत “सत्यं परं धीमहि” से परिसमाप्त हुआ है उपर्युक्त कथन से एक विलक्षण तथ्य सामने यह आता है कि भागवत का वक्ता और श्रोता—दोनों ही नारायण बन जाते हैं । दूसरा रहस्य यह है कि जब विद्वान् व्यास-गद्दी पर भागवत कहने के लिये बैठता है, तब उसमें नारायणांश प्रवेश कर जाता है क्योंकि नारायण के बिना कोई दूसरा इस समाधि-भाषा के भागवत का हृदय खोल ही नहीं सकता है ॥

अन्त में सूत जी कहते हैं कि हम उन सर्वसाक्षी भगवान् वासुदेव को नमस्कार करते हैं, जिन्होंने कृपा करके मुमुक्षु ब्रह्मा जी को इस श्रीमद्भागवत का उपदेश किया । उस शुकरूप ब्रह्म को भी हम नमस्कार करते हैं, जिन्होंने संसाररूपी सर्प से दष्ट विष्णुरात परीक्षित को छुड़ाया—

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे । य इदं कृपया कस्मै व्याचक्षे मुमुक्षवे ॥

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे । संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममुमुक्षत् ॥ १२/१३/२०-२१  
श्रीमद्भागवत के उपसंहार की बेला में श्री सूतजी को ऐसी अनुभूति हुई कि साक्षात् श्रीकृष्ण उनके सामने खड़े हैं, विराजमान हैं अतः हाथ जोड़कर गद्गद कण्ठ से उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—

मेरे हृदय-सिंहासन के मालिक, आप मेरे स्वामी हैं और मैं आपका दास हूँ । आप मुझे मुक्ति मत दीजिये, मुझे मुक्ति की कामना नहीं है । बस, मेरे ऊपर इतनी कृपा कीजिये कि जब-जब, जहाँ-जहाँ जन्म लूँ, सर्वदा मेरा मन आपके चरण कमलों में लगा रहे । आप की अनपायिनी भक्ति मुझे प्राप्त होती रहे—

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्त वजायते । तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो ॥ १२/१३/२२  
जिसके नाम के सङ्कीर्तनमात्र से पापों के सारे पहाड़ भस्म हो जाते हैं, जिनको किया गया प्रणाम दुःख-राशि का शमन कर देता है, उन अज्ञाननाशक भगवान् श्रीकृष्ण के पाद-पद्मों में हम सभी वक्ता और श्रोता हाथ जोड़कर शिर झुका कर प्रणाम करते हैं । बारम्बार प्रणाम करते हैं—

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् । प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥ १२/१३/२३

॥ श्रीमद्भागवत-हृदय के द्वादश स्कन्ध का यह तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

॥ द्वादश स्कन्ध समाप्त ॥

॥ सप्ताह के सप्तम दिन की कथा समाप्त ॥

॥ मीरजापुर-मण्डल-वास्तव्य, गम्भीरपुरग्रामजन्मा, सरयूपारीण, शाण्डिल्यवंशावतंस, करुणामयी जननी अञ्जना की पवित्र कुक्षि से समुत्पन्न आचार्य डॉ. रमाशङ्कर त्रिपाठी द्वारा समाधि में अनुभूत एवं प्रकाशित भागवत-हृदय, साप्ताहिक-कथा समाप्त ॥

निर्जला एकादशी

वि.सं. २०६६

३ जून २००९

॥ हरिः ओं तत् सत् ॥

॥ श्रीकृष्णः शरणं मम ॥



## श्रीमद्भागवत-हृदय-कर्तुः परिचयः

विन्ध्यक्षेत्रान्तरे रम्ये मीरजापुर मण्डले ।

गम्भीरपुरनामास्ति ग्रामः ख्यातो महीतले ॥१॥

तत्र रामप्रसादाख्यस्त्रिपाठी ब्राह्मणो ह्यभूत् ।

तस्यासीत् प्रबला भक्तिर्विष्णोश्चरणपङ्कजे ॥२॥

अतो नामापरं तस्य रामदासेति विश्रुतम् ।

जातः परमहंसोऽयमन्तिमे समये महान् ॥३॥

चत्वार आत्मजास्तस्य बभूवुः कृतिनां वराः ।

ज्येष्ठो गणपतिस्तेषु सोमदत्तोऽपरस्तथा ॥४॥

तृतीयो देवदत्तश्च कृष्णदत्तश्चतुर्थकः ।

कृष्णदत्तस्य तुर्यस्य द्वौ सुतौ प्रबभूवतुः ॥५॥

दीनान्तः शीतलस्तत्र प्रथमः प्रथितोऽभवत् ।

श्रीमान् रामदयाल्वाख्यो द्वितीयोऽभूत् परः कृती ॥६॥

आद्यः शीतलदीनो यश्चतुरः सुषुवे सुतान् ।

चतुरान् कृतिविद्यांश्च चतुरः सागरानिव ॥७॥

आदित्यरामस्तत्रैकः कर्मकाण्डी महायशः ।

दिवाकरो भास्करश्च प्रभाकर इतीरिताः ॥८॥

आदित्यरामस्यैकोऽभूज्ज्येष्ठः पुत्रः सुधीवरः ।

शिवप्रतापनाम्ना यः प्रसिद्धिं परमां गतः ॥९॥

द्वितीयः शिवसम्पत्तिर्गुणज्ञो गुणवान् मतः ।

शिवप्रतापस्य पुत्रः द्वेषमात्सर्यवर्जितः ॥१०॥

श्रीमान् रामसुमेरुर्हि पुण्यवान् भाग्यवांस्तथा ।

तस्य भार्याऽञ्जनानाम्नी शङ्करस्य सती यथा ॥११॥

प्रासूत चतुरः पुत्रान् प्राणौपम्येन संस्मृतान् ।

येषां ज्येष्ठो रामरूपो दयाधर्मान्वितः सुधीः ॥१२॥

त्रिवेणीशङ्करः ख्यातः पण्डितोऽस्ति द्वितीयकः ।

रमाशङ्करनामाऽहं ग्रन्थकृत् तृतीयकः ॥१३॥

वात्सल्यभाङ्गः सततं चतुर्थो हरिशङ्करः ।



पत्नी शान्तिः सदा भूयात् सौभाग्यबलवधिता ।

यत्सहयोगमाप्नोऽहं विद्याभ्यासे सदा रतः ॥१५॥

पञ्च पुत्रा विराजन्ते सर्वे कृष्णान्तसंज्ञिताः ।

बाल-आनन्द-श्री-राधा-गोपाल इति विश्रुताः ॥

सुखिनः सन्तु सर्वेऽपि विश्वेशनगरे स्थिताः ॥१६॥

पौत्रो नारायणो धीमान् सर्वस्नेहविवर्धितः ।

आह्लादं जनयन् गोहे चिरञ्जीमुदा मम ॥१७॥

पौत्रो वागीशदत्तश्च शिवांशुश्च प्रियंवदः ।

शशाङ्कशेखरस्तुर्यः सर्वज्ञश्चैव पञ्चमः ॥१८॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे दीर्घायुषः सन्तु प्रसादात्परमात्मनः ॥१९॥

पूजा श्रद्धा श्रुतिर्नष्ट्यः शिवाङ्गी चापि बालिकाः ।

तिर्थीकुर्वन्ति सदनं सदा सञ्चरणैः स्वकैः ॥२०॥

सोऽहं सम्प्रार्थये मूलं परमात्मानमीश्वरम् ।

हृदयग्राहिणी भूयात् कृतिः कान्ता विदां मम ॥२१॥

•



## अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थाः

- अशौच निर्णय । हिन्दी व्याख्या सहित । सम्पादक-डा. पद्मनाभ मिश्र । (चौ.सं.भ. 159)
- कातिवेष्टिदीपकः । (दर्शपौर्णमासपद्धतिः) संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित । अनुवादक-डॉ. श्रीदेव मिश्र एवं प्राक्कथन डा. कैलाश चन्द्र दवे । (चौ.सं.भ. 146)
- कृष्णयजुर्वेदीय चाक्षुषोपनिषद् एवं नवग्रह पूजा विधानम् । 'गंगाधरी' हिन्दी टीका सहित । टीकाकार- पं. डॉ. चन्द्रकान्तशास्त्री मुसलगाँवरकर एवं सम्पादक- पं. डा. भूपेन्द्र धारवा । (चौ.सं.भ. 102)
- श्रीदुर्गायागविधिः । महान्यास, दुर्गादेवी का आवाह, आवरण पूजन एवं अन्त में गौरी तिलक मण्डल के देवताओं को आवाह डॉ. कैलाशचन्द्र दवे । (चौ.सं.भ. 153)
- श्रीरामयाग विधिः । राम के परिवार का आवाह, पीठ तथा आवरण देवताओं का स्थापन एवं रामयाग क्रम । डॉ. कैलाशचन्द्र दवे । (चौ.सं.भ. 154)
- त्रिकालसन्ध्योपासनविधिः सामवेदीय कौथुमशाखीय । देवर्षि-पितृ-मनुष्य-तर्पणसहित एवं हिन्दी मन्त्रार्थ युक्त लेखक-श्री चमनलाल मनसुखलाल त्रिवेदी । (चौ.सं.भ. 79)
- तिथि निर्णयः । 'साधारण खण्ड एवं वैष्णव खण्ड' संस्कृत हिन्दी टीका सहित । सम्पादक-आचार्य उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी । (चौ.सं.भ. 136)
- पितृभक्ति । श्री दत्तोपाध्याय कृत । सम्पादक-डॉ. अशोक चटर्जी शास्त्री । (का. 214)
- प्रतिज्ञापरिशिष्टम् । महर्षि कात्यायन प्रणीत । कौबेरीव्याख्याविभूषित- डा. कुबेरनाथ पाठक एवं हिन्दी अनुवादक-डॉ. श्रीदेव मिश्र । (चौ.सं.भ. 121)
- वास्तु शान्तिः । वस्तुशान्ति सामग्री एवं गृहप्रवेश सहित । सम्पादक:-डॉ. श्रीदेव मिश्र एवं प्राक्कथन-कैलाशचन्द्र दवे । (चौ.सं.भ. 137)
- शतचण्डी सहस्रचण्डी विधानम् । पूजन प्रकार एवं यन्त्र सहित । सम्पादक-आचार्य डॉ. पद्मनाभ मिश्र । (चौ.सं.भ. 144)
- श्री सत्यनारायण व्रतकथा पूजा विधान सहित । सम्पादक-डॉ. शोभाकान्त झाँ । (चौ.सं.भ. 104)
- सन्यासग्रहणपद्धतिः । आहिताग्नि महामहोपाध्याय पं. जोषण राम पाण्डेय द्वारा संग्रहीत । सन्यास आश्रम ग्रहण करने की साङ्गोपाङ्ग विधि, हिन्दी व्याख्या सहित । सम्पादक एवं हिन्दी व्याख्याकार- डॉ. बलराम पाण्डेय । (चौ.सं.भ. 103)

प्रकाशक :

## चौखम्भा संस्कृत भवन

संस्कृत, आयुर्वेद एवं इण्डोलॉजिकल पुस्तकों के प्रकाशक एवं वितरक

पोस्ट बाक्स नं. ११६०

चौक, चित्रा सिनेमा के सामने (बैंक ऑफ बड़ौदा बिल्डिंग)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

CCO. Varishtha Tripathi Collection, Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

फोन : +९१-५४२-२४२०४१४ फैक्स : +९१-५४२-२४००७५५

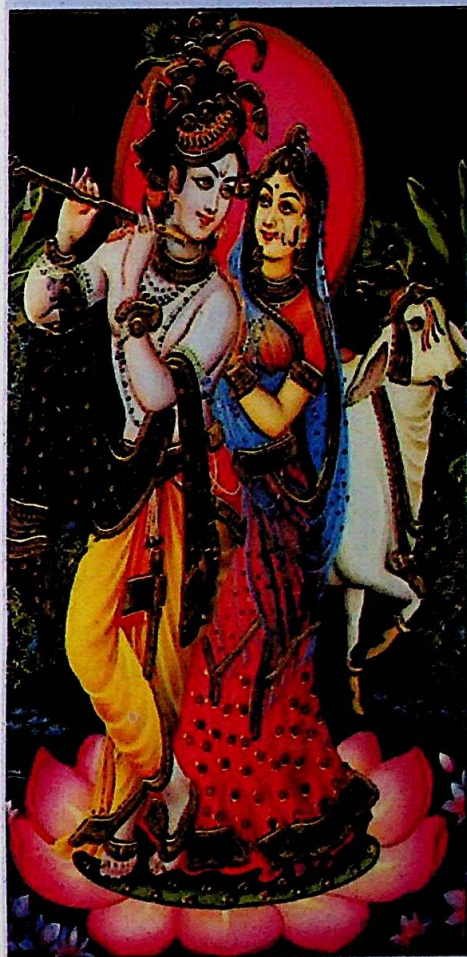












**Printed by : Mittal Offset, Vns**





## ग्रन्थाभिनन्दन

प्रो० डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी किसी परिचय की अपेक्षा नहीं रखते। यह सुप्रसिद्ध लेखक, विशिष्ट इतिहासकार, प्रवीण समालोचक, लोकप्रिय व्याख्याकार एवं मेधावी प्रवचन-कर्ता हैं। दक्षिण के कुछ सुदुराञ्चल को छोड़कर समग्र भारत इनकी मेधाभरी पौराणिक कथाओं और व्याख्याओं का साक्षी है।

डॉ० त्रिपाठी का समग्र जीवन सारस्वत साधना के लिये पूर्णतः समर्पित है। किसी चिन्तक कवि की यह उक्ति— “बाधाएँ कब बाँध सकी हैं, आगे बढ़ने वाले को। विपदाएँ कब मार सकी हैं, मर कर जीने वाले को”— इनके जीवन में समग्र रूप से चरितार्थ होती है। समय-समय पर आई भीषण कठिनाइयाँ भी इनकी लेखनी के सतत प्रवहमान प्रवाह को अवरुद्ध न कर सकीं। यह सब इनके ऊपर कृष्ण-कृपा का ही प्रभाव है, इनकी ईश्वर-साधना का ही फल है।

“श्रीमद्भागवत-हृदय” डॉ० त्रिपाठी की जीवन-व्यापिनी सारस्वत साधना एवं चिन्तन-अनुसंधान का सुपक्व मधुर फल है। श्रीमद्भागवत समाधि-भाषा में लिखा गया पुराण-रत्न है, श्री त्रिपाठी जी समाधि के महासागर में उतर कर अमूल्य रत्नों को निकालने में सक्षम हैं। “श्रीमद्भागवत-हृदय” भागवत की कथाओं के पीछे जो रहस्य छिपा हुआ है, उसे आध्यात्मिकता के अनुसार यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रकाशित करने का सफल प्रयास श्री त्रिपाठी जी की चमकती दमकती लेखनी ने किया है। रामचरितमानस एवं भगवती गीता के द्वारा भी भागवत के भावों को अभिव्यक्त करने का प्रयास प्रशंसनीय है। जिनके हृदय को ईर्ष्या-रूपिणी सर्पिणी ने नहीं डँसा है, ऐसे मनीषी विद्वान् अवश्य ही इस “श्रीमद्भागवत-हृदय” की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करेंगे।

सुमधुर सुगठित भाषा, गम्भीर सुप्रसन्न निर्मल भाव एवं चमत्कृत करने वाले तात्पर्यार्थ से संवलित श्रीमद्भागवत किस सहृदय के हृदय को चमत्कृत नहीं करता, आकृष्ट नहीं करता? उस पर यदि प्रो० त्रिपाठी के द्वारा ‘हृदय’ में भावों को प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया गया हो तो कहना ही क्या है? फिर तो सुवर्ण में सुगन्ध आ गई।

मैंने “श्रीमद्भागवत-हृदय” को आद्यन्त पढ़ा है अतः साधिकार साभिमान यह कह सकता हूँ कि ‘भागवत-हृदय’ के रसज्ञ को इसे पूर्ण पढ़े बिना, आहार भी अच्छा नहीं लगता “भागवत-रसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते”। मैं सकल सुधी-वृन्द से निवेदन करता हूँ कि वे इस ग्रन्थ-रत्न को पढ़कर अपने जीवन को सफल बनावें, धन्य-धन्य करें।

डॉ० बालकृष्ण त्रिपाठी

सदस्य-बनारस बार एसोसिएशन, वाराणसी

## चौखम्भा संस्कृत भवन

संस्कृत, आयुर्वेद एवं इण्डोलॉजिकल पुस्तकों के प्रकाशक एवं वितरक

पोस्ट बाक्स नं. ११६०

चौक, चित्रा सिनेमा के सामने (बैंक ऑफ बड़ौदा बिल्डिंग)

वाराणसी - २२१००१ (भारत)

टेलीफोन : +९१-५४२-२४२०४१४, टेलीफैक्स : +९१-५४२-२४००७५५

E-mail : c\_sktbhawan@yahoo.com

ISBN - 978-81-89986-22-3

Price : Rs. 575.00